भारत का प्राचीन इतिहास

(प्रारम्भ से बारहवीं सदी के अन्त तक)

लेखक

सत्यकेतु विद्यालंकार, डी० लिट् (पेरिस)

(मंगलाप्रसाद पारितोषिक विजेता)

सर्वोदय साहित्य मंदिर,
कोठी, (बसस्टैण्ड,) हैदराबाद द.

प्रकाशक

सरस्वती-सदन

मसूरी

प्रथम संस्करण] अगस्त, १९५३ [मूल्य १०)
दोनों भागों का

प्रारम्भिक शब्द

भारत के प्राचीन इतिहास पर हिन्दी-भाषा में अनेक पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। इनमें से कुछ ऐसी हैं, जिनमें प्राचीन इतिहास-सम्बन्धी नई सामग्री व नये दृष्टिकोण को उपस्थित करने का प्रयत्न किया गया है। कुछ पुस्तकें विद्यार्थियों के उपयोग की दृष्टि से लिखी गई हैं। ये दूसरे प्रकार की पुस्तकें बहुत संक्षिप्त है। इनमे विद्यार्थियों को प्राचीन भारत के इतिहास, संस्कृति और जीवन के सम्बन्ध में पर्याप्त ज्ञान उपलब्ध नहीं होता। आजकल उत्तरी भारत के अनेक कालेजों और विश्वविद्यालयों में हिन्दी को शिक्षा और परीक्षा का माध्यम स्वीकृत कर लिया गया है। मातृ-भाषा के शिक्षा का माध्यम हो जाने के कारण हमारे शिक्षणालयों में शिक्षा के स्तर का ऊंचा होना सर्वथा स्वाभाविक है। अतः एक ऐसी पुस्तक की आवश्यकता थी, जो कालेजों और विश्वविद्यालयों के विद्यार्थियों को प्राचीन भारतीय इतिहास के सम्बन्ध में प्रचुर ज्ञान दे सके। मैंने यह पुस्तक इसी आवश्यकता को पूर्ण करने के लिये लिखी है। अंग्रेजी व अन्य यूरोपियन भाषाओं में भारत के प्राचीन इतिहास के सम्बन्ध में बहुत-सी पुस्तकें विद्यमान है। इस क्षेत्र में प्रति वर्ष नई-नई खोज होती जाती है, और बहुत-सी नई सामग्री हमारे सामने आती जाती है। अब वह समय बीत चुका, जब कि भारत के इतिहास को भगवान् बुद्ध के प्रादुर्भाव के समय से शुरू किया जाता था, और बुद्ध से पहले के काल को 'अन्धकारमय युग' माना जाता था। सिन्धु-घाटी की सभ्यता के अवशेषों के मिल जाने के कारण अब भारत का प्राचीन इतिहास प्राचीन ईजिप्ट और सुमेरिया के इतिहासों जितना ही पुराना हो गया है। प्रस्तर-युग के भी बहुत-से अवशेष अब भारत में उपलब्ध हो चुके हैं, और भारत के इतिहास को अब हम उस काल से शुरू कर सकते है, जब कि इस देश में पुरातन प्रस्तर-युग के लोगों की सत्ता थी।

इस पुस्तक में मैंने भारत के प्राचीन इतिहास को अच्छे विशद रूप में पाठकों के सम्मुख उपस्थित करने का प्रयत्न किया है। मुझे आशा है, कि इससे न केवल विद्यार्थी ही लाभ उठावेंगे, अपितु सर्वसाधारण पाठक भी इसे पढ़कर भारत के प्राचीन इतिहास के सम्बन्ध में बहुतसी- उपयोगी बातें

जान सकेंगे। राजनीतिक घटनाओं के विवरण की अपेक्षा मैंने सभ्यता और संस्कृति के विकास को अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है, और इस पुस्तक को पढ़कर पाठकगण भारतीय इतिहास के प्रस्तर-युग, सिन्धु-घाटी की सभ्यता, प्राचीन सभ्यता और संस्कृति आदि के विषय में जितने विशद रूप से जानकारी प्राप्त कर सकेंगे, वह सम्भवतः हिन्दी की अन्य किसी एक पुस्तक द्वारा सम्भव नहीं है।

भारत के प्राचीन इतिहास की बहुत-सी बातें विवादग्रस्त हैं। विविध राजवंशों व राजाओं के काल के विषय में ऐतिहासिकों में बहुत मतभेद है। सिकन्दर का भारतीय आक्रमण, बैक्ट्रियन पार्थियन शक आदि विदेशी जातियों के शासन आदि विषयों पर जिस ढंग का वर्णन इतिहास की एक पुस्तक में मिलता है, दूसरी मे उससे भिन्न मिलता है। इन विवादग्रस्त व अस्पष्ट विषयों पर जिस प्रकार का विवरण मैंने दिया है, अनेक पुस्तकों में उनसे भिन्न विवरण भी उपलब्ध हो सकता है। अनेक स्थानो पर मैंने दूसरे मतों का भी उल्लेख कर दिया है। पर भारत के प्राचीन इतिहास में विवादग्रस्त व संदिग्ध विषय इतने अधिक हैं, कि सब मतों का प्रदर्शन व विवेचन कर सकना सम्भव नही है। पर इसमें सन्देह नही, कि मेरी इस पुस्तक से जहां प्राचीन भारतीय इतिहास का एक क्रमबद्ध चित्र पाठकों के सम्मुख उपस्थित हो जायगा, वहां साथ ही मुख्य विवादग्रस्त विषयों पर ऐतिहासिकों में जो विभिन्न मत हैं, उनका आभास भी पाठकों को मिल जायगा।

इस पुस्तक में मैंने सहायक ग्रन्थों का तो यथास्थान उल्लेख कर दिया है, पर अनेक बातें जिन प्राचीन पुस्तकों के आधार पर लिखी गई है, उनकी प्रतीकों का उल्लेख नहीं किया। ऐसा करने से पुस्तक का कलेवर बहुत बढ़ जाता। पुस्तक अब भी बहुत बडी हो गई है, और प्रतीकें देने से इसमें और अधिक वृद्धि हो जाती। विद्यार्थियों और सर्वसाधारण पाठको के लिये इनका बहुत उपयोग भी नही है।

प्राचीन भारतीय इतिहास पर मेरी कतिपय अन्य पुस्तकें पहले प्रकाशित हो चुकी हैं। इस पुस्तक में मैंने उनकी सामग्री का यथेष्ट उपयोग किया है। ऐसा करना स्वाभाविक भी था। मुझे आशा है, कि इस एक पुस्तक से पाठकों को भारत के प्राचीन इतिहास के सम्बन्ध में विशद ज्ञान प्राप्त करने में अवश्य सहायता मिलेगी।

—सत्यकेतु विद्यालंकार

विषय-सूची

अपने प्रातःस्मरणीय स्वर्गीय पिता

श्री आशाराम

और

अपनी पूजनीया स्वर्गीया माता

श्रीमती रामरक्खी देवी

की

पुण्य स्मृति में

भारत का प्राचीन इतिहास

पहला अध्याय

भारत और उसके निवासी

(१) भारत भूमि

ब्रिटिश शासन से मुक्त होने पर स्वतंत्रता-प्राप्ति के साथ भारत-भूमि दो भागों में विभक्त हो गई है। ये भाग हैं, भारत और पाकिस्तान। राजनीतिक दृष्टि से ये राज्य अब एक-दूसरे से पृथक् हैं, पर ऐतिहासिक और भौगोलिक दृष्टियों से इनकी एकता से इन्कार नहीं किया जा सकता। इन दोनों राज्यों का अब तक का इतिहास एक है, और इनके बीच की जो सीमा निश्चित की गई है, वह भूगोल की दृष्टि से सर्वथा अस्वाभाविक और अप्राकृतिक है। भविष्य में इन दो राज्यों का विकास चाहे पृथक् रूप से हो, पर विगत काल में इनका विकास एक देश के समान और एक ढंग से हुआ है। अतः इस इतिहास में हम भारत के वर्तमान राजनीतिक विभाग की उपेक्षा कर भारत की उन्हीं सीमाओं को अपनी दृष्टि में रखेंगे, जो कि पाकिस्तान के निर्माण से पूर्व इस देश की थीं। यही नहीं, ब्रिटिश युग के भारत के अतिरिक्त अन्य भी अनेक ऐसे प्रदेश हैं, जिनका प्राचीन काल में भारत के साथ घनिष्ठ संबंध था। संभवतः यह कहना अधिक उपयुक्त होगा, कि प्राचीन काल में ये प्रदेश भारत-भूमि के ही अंग थे। उदाहरणार्थ, वर्तमान अफगानिस्तान के अनेक प्रदेश प्राचीन इतिहास में भारत के उसी प्रकार अंग थे, जैसे कि काश्मीर और बलोचिस्तान। भारत के प्राचीन इतिहास का अध्ययन करते हुए हमें इस बात को ध्यान में रखना चाहिये।

भारत का नाम—इस देश का नाम भारत किस कारण पड़ा, इस संबंध में अनेक मत हैं। जैन-अनुश्रुति के अनुसार भगवान् ऋषभदेव के ज्येष्ठ पुत्र का

नाम भरत था, जो अत्यन्त प्रतापी और श्रेष्ठ राजा था। उसी के नाम पर इस देश का नाम भारत पड़ा। पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार पौरव-वंश के प्रसिद्ध राजा दुष्यन्त का पुत्र भरत था, जो चक्रवर्ती राजा हुआ और जिसने अन्य विविध आर्य-राज्यों को जीतकर अपने अधीन किया। भरत के इस चक्रवर्ती साम्राज्य का उल्लेख ब्राह्मण-ग्रंथों मे भी मिलता है। भरत के कारण उसके वंशज 'भारत' कहाये, और उनके शासन में यह देश चिरकाल तक रहा। यही कारण है, कि इस देश का नाम भी भारत हो गया। पुराणों में ही इस संबंध में एक अन्य महत्त्वपूर्ण अनुश्रुति भी उपलब्ध होती है। 'विष्णु-पुराण में लिखा है, कि "समुद्र के उत्तर और हिमालय के दक्षिण में जो देश है, उसका नाम भारतवर्ष है, क्योंकि यहां भारती-संतति (प्रजा) निवास करती है।" इससे सूचित होता है, कि भारत के निवासियों की एक प्राचीन संज्ञा 'भारती' थी। कुछ विद्वानों ने अनुमान किया है, कि यह भारती जनता (प्रजा) उन लोगों को सूचित करती है, जो आर्यों के इस देश में आने से पूर्व यहां निवास करते थे, और जिनकी सभ्यता के अवशेष सिन्धु-घाटी में (मोहनजोदड़ो और हड़प्पा में) उपलब्ध हुए हैं। पर अन्य विद्वान् इस मत को स्वीकार नहीं करते। उनका विचार है, कि भारती-संतति का अभिप्राय सम्राट् भरत की प्रजा से है, और इससे किसी आर्य-भिन्न जाति का ग्रहण न कर आर्यों की भारत शाखा का ही ग्रहण करना चाहिये।

इस देश का एक अन्य नाम हिन्दुस्तान है। सिन्धु नदी किसी समय में आर्य लोगों का एक महत्त्वपूर्ण केन्द्र थी। प्राचीन ईरानी लोग 'स' का उच्चारण 'ह' करते थे, और वे सिन्धु नदी तथा उसके तटवर्ती प्रदेशों में निवास करनेवाले लोगों को 'हिन्दू' कहते थे। ईरान के सम्पर्क में जो लोग आये, वे भी इस प्रदेश के निवासियों को हिन्दू व इस प्रदेश को हिन्दुस्तान कहने लगे। प्राचीन ग्रीक लोग सिन्धु नदी को इण्डस कहते थे। इसीलिये वे इसके समीपवर्ती प्रदेशों को इंडिया कहने लगे। भारत के इंडिया नाम का यही उद्भव है।

भौगोलिक दशा का इतिहास पर प्रभाव—किसी देश की भौगोलिक दशा का उसके इतिहास पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है। प्राचीन ग्रीस में जो बहुत-से नगर-राज्यों का विकास हुआ, उसका एक कारण यह था कि पर्वत की शृंखलाओं द्वारा ग्रीस अनेक छोटी-छोटी घाटियों में विभक्त था। प्राचीन समय में क्रीट और फिनीशिया जो सामुद्रिक व्यापार व सामुद्रिक

साम्राज्यों की स्थापना में समर्थ हुए, उसका कारण उनकी भौगोलिक स्थिति ही थी। वर्तमान समय में ग्रेटब्रिटेन और जापान ने नाविक क्षेत्र में जो असाधारण उन्नति की, उसका श्रेय भी उनकी भौगोलिक स्थिति को ही दिया जाता है। अनेक विद्वानों का मत है, कि किसी देश की जलवायु व उपज-शक्ति आदि का भी उसके इतिहास पर बहुत प्रभाव पड़ता है। फ्रेंच विद्वान् रूसो के अनुसार ग्रीष्म जलवायुवाले देशों में एकतंत्र व स्वेच्छाचारी शासन का विकास होता है। प्रसिद्ध अंग्रेज विद्वान् बकले ने यह प्रतिपादित किया था, कि किसी देश के मनुष्यों की क्रियाएं उनके अपने विचार व चिंतन पर उतना निर्भर नहीं करतीं, जितना कि प्राकृतिक परिस्थितियों पर। बकले के अनुसार नार्वे और स्वीडन के लोगों में और स्पेन तथा पोर्तुगाल के लोगों में जो भारी अन्तर है, उसका कारण इन देशों की भौगोलिक व प्राकृतिक परिस्थितियां ही हैं। मनुष्य जो भोजन करता है, जिस जलवायु में निवास करता है, और जिन परिस्थितियों में रहता है, उनका उसके शरीर, मन और विचारों पर बहुत असर पड़ता है। इन बाह्य प्रभावों द्वारा न केवल मनुष्यों के वैयक्तिक चरित्र का निर्माण होता है, अपितु साथ ही उनके सामूहिक व राष्ट्रीय चरित्र का भी विकास होता है।

मनुष्यों के विचार, राष्ट्रीय चरित्र व संस्थाओं पर भौगोलिक दशा के प्रभाव को किस अंश तक स्वीकार किया जाय, इस विषय में मतभेद की गुंजाइश है। शासन-व्यवस्था जलवायु व भौगोलिक दशा पर ही निर्भर नहीं होती। जिस समय रूसो यह प्रतिपादित कर रहा था, कि ग्रीष्म जलवायुवाले देशों में एकतंत्र स्वेच्छाचारी शासक होते हैं, तभी फ्रांस, जर्मनी, आस्ट्रिया, इटली आदि यूरोपियन राज्यों में ऐसे निरंकुश राजाओं का शासन था, जो अपनी इच्छा को ही कानून समझते थे। फ्रांस के लुई चौदहवें व स्पेन के फिलिप द्वितीय का शासन जहांगीर व औरंगजेब के शासन से स्वेच्छाचारिता में किसी प्रकार कम नहीं था। पर यह सत्य है, कि भौगोलिक व प्राकृतिक परिस्थितियों का प्रभाव देश के इतिहास पर पड़ता है। जर्मनी और ग्रेटब्रिटेन जो व्यावसायिक क्षेत्र में इतना अधिक आगे बढ़ गये, उसका एक प्रधान कारण वे खनिज पदार्थ हैं, जो वहां बहुतायत से उपलब्ध होते हैं। जिन देशों में अब परमाणुशक्ति को उत्पन्न करने में सहायक यूरेनियम आदि पदार्थ उपलब्ध हो रहे हैं, उनकी भविष्य में बहुत उन्नति होगी, यह बात पूर्ण भरोसे के साथ कही जा सकती है। भारत के इतिहास पर

भी इस देश की भौगोलिक परिस्थितियों का बहुत असर हुआ। अतः यह आवश्यक है, कि हम इस देश की भूमि व अन्य प्राकृतिक दशा का संक्षेप के साथ प्रदर्शन करें।

भारत की सीमा—प्राकृतिक दृष्टि से भारत की सीमायें अत्यन्त सुन्दर व निर्दोष हैं। इसके उत्तर में हिमालय की ऊंची और दुर्गम पर्वत-शृंखलायें है। पूर्व, दक्षिण तथा पश्चिम में यह महासमुद्र द्वारा घिरा हुआ है। इसके उत्तर-पश्चिमी और उत्तर-पूर्वी कोनों पर समुद्र नहीं है, पर उनकी सीमा निर्धारित करने के लिये हिमालय की पश्चिमी और पूर्वी पर्वत-शृंखलायें दक्षिण की ओर मुड़ गई हैं, और समुद्रतट तक चली गई हैं। हिमालय की पश्चिमी पर्वतमाला दक्षिण-पश्चिम की ओर मुड़कर सफेदकोह, सुलेमान और किरथर की पहाड़ियों के रूप में अरब-सागर तक चली गई हैं, और भारत की सिन्धु-घाटी को अफगानिस्तान व बलोचिस्तान से पृथक् करती हैं। उत्तर-पश्चिम की ओर भारत की असली वैज्ञानिक सीमा हिन्दूकुश पर्वत है, जो हिमालय की पर्वत-शृंखला का ही एक अंग है। हिन्दूकुश पर्वत के दोनों ओर का प्रदेश जो अब अफगानिस्तान के अन्तर्गत है, प्राचीन काल में वह भारत का ही अंग था। उत्तर-पूर्व में हिमालय की एक शृंखला दक्षिण की ओर झुकती है, और लुशेई, नागा व पतकोई पहाड़ियों के रूप में बंगाल की खाड़ी तक चली जाती है। प्रकृति ने भारत को एक विशाल दुर्ग के समान बनाया है, जो पर्वत-शृंखलाओं और समुद्र से घिरा हुआ है। जैसी सुन्दर और स्वाभाविक सीमा भारत की है, वैसी शायद ही किसी अन्य देश की हो।

भौगोलिक विभाग—भारत की इस स्वाभाविक सीमा के बीच में इस विशाल देश के चार बड़े प्राकृतिक विभाग स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होते हैं। ये विभाग निम्नलिखित हैं—(१) सीमान्त के पर्वत-प्रधान प्रदेश, (२) उत्तर-भारत का मैदान, (३) विन्ध्य-मेखला और मध्य-भारत का पथार और (४) दक्षिणी भारत। इनमें से प्रत्येक पर संक्षिप्त रूप से विचार करना उपयोगी है।

सीमान्त के पर्वत प्रधान प्रदेश—पश्चिम से पूर्व तक भारत के उत्तरी सीमान्त पर विद्यमान हिमालय की पर्वत-शृंखला लम्बाई में १६०० मील के लगभग व चौड़ाई में १५० मील से २०० मील तक है। हिमालय का यह विस्तृत पार्वत्य-प्रदेश अनेक स्थानों पर आबाद है। इसकी मनोहर

घाटियों में अनेक जातियां प्राचीन काल से बसती आई हैं, और इनके अनेक छोटे-बड़े राज्य भी प्राचीन समय में स्वतंत्र रूप से विद्यमान रहे थे। हिमालय के सबसे अधिक पश्चिमी प्रदेश में प्राचीन काल में उरशा का राज्य था, जो आजकल के हजारा जिले में विद्यमान था। उससे पूर्व में जेहलम (वितस्ता) नदी की घाटी में काश्मीर है, जो प्राचीन समय में भारतीय सभ्यता और संस्कृति का महत्त्वपूर्ण केन्द्र था। काश्मीर में विद्यमान मार्तण्ड-मंदिर के भग्नावशेष व अमरनाथ का मंदिर इस संस्कृति के परिचायक हैं। काश्मीर के उत्तर में सिन्धु नदी की घाटी में दरद देश था, जो अब तक दरदिस्तान कहाता है। काश्मीर-घाटी के दक्षिण में जेहलम और चनाब नदियों के बीच का पार्वत्य-प्रदेश प्राचीन समय में अभिसार देश कहाता था। इस प्रदेश में आजकल पुंच्छ, राजौरी और बिम्भर रियासतें हैं। काश्मीर के दक्षिण में ही रावी और चनाब के बीच का पार्वत्य-प्रदेश प्राचीन समय में दार्वदेश कहा जाता था। इसी में आजकल जम्मू का प्रान्त विद्यमान है।

रावी और व्यास नदियों के बीच का पार्वत्य-प्रदेश अब कांगड़ा कहाता है। प्राचीन समय में यह त्रिगर्त देश के अन्तर्गत था। कांगड़ा के साथ का जो प्रदेश अब कुल्लू कहाता है, उसका प्राचीन नाम कुलूत था। सतलज नदी की घाटी के जिन पार्वत्य प्रदेशों में आजकल बशहर आदि रियासतें (शिमला के समीपवर्ती) हैं, उसको प्राचीन समय में किन्नर-देश कहते थे। यह किन्नर-देश सतलज और यमुना के बीच की पार्वत्य-घाटी तक चला गया है। यमुना के पूर्व का पार्वत्य-प्रदेश गढ़देश (गढ़वाल) है, जिसके और अधिक पूर्व में कूर्मांचल (कमायूं) का क्षेत्र है। कूर्मांचल के पूर्व में क्रमशः नेपाल, सिकिम और भूटान स्थित हैं। भूटान के पूर्व में आसाम का उत्तरी प्रदेश आ जाता है, जिसमें आजकल अका, दफला, मीरी, अबोर और मिश्री जातियों का निवास है। ये विविध जातियां हिमालय के सबसे अधिक पूर्वी प्रदेश में निवास करती हैं। प्राचीन समय में इस क्षेत्र में किसी उन्नत आर्य-राज्य की सत्ता सूचित नहीं होती।

हिमालय के पश्चिमी सीमान्त पर विद्यमान उरशा (हजारा) देश का उल्लेख हमने ऊपर किया है। सिन्धु नदी के पश्चिम में स्वात (सुवास्तु), पंजकोरा (गौरी) और कुनार नदियां काबुल (कुभा) नदी में मिलती हैं, और फिर यह कुभा नदी सिन्ध में आ मिलती है। स्वात, पंजकोरा और कुभा नदियों से सिंचित यह प्रदेश प्राचीन समय का पश्चिमी गान्धार

देश है, जिसकी राजधानी पुष्करावती थी। इस पुष्करावती के खंडहर अब स्वात और काबुल (कुभा) नदियों के संगम पर उपलब्ध हुए हैं। पश्चिमी गान्धार से और आगे पश्चिम की ओर चलने पर हिन्दूकुश पर्वत के साथ का प्रदेश प्राचीन समय में कपिश देश कहाता था। कपिश के पश्चिम-उत्तर में आजकल जो बदख्शां और बल्ख प्रदेश हैं, उन्हीं को प्राचीन समय में कम्बोज और वाल्हीक देश कहते थे। ये विविध प्रदेश अब भारत के अन्तर्गत नहीं हैं। पर प्राचीन समय में ये भारत के ही अंग थे, और इनमें भी भारतीय आर्यों के विविध राज्य विकसित हुए थे। भारत के चक्रवर्ती सम्राटों का यह प्रयत्न रहता था, कि इन सबको जीतकर अपने साम्राज्य में सम्मिलित करें। चन्द्रगुप्त मौर्य और गुप्तवंशी चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य-जैसे प्रतापी सम्राट् अपने इस प्रयत्न में सफल भी हुए थे।

हिमालय की सुविस्तीर्ण पर्वत-शृंखलायें भारत के लिये सन्तरी का काम करती रही हैं। विदेशियों के लिये यह सुगम नहीं है, कि वे इन्हें पार कर भारत पर आक्रमण करें। पर इस दुर्गम पर्वतमाला के होते हुए भी भारत का बाहरी दुनिया से संबंध टूटा नहीं, कारण यह कि इसमें अनेक ऐसे दर्रे हैं, जिनसे जहां अनेक विदेशी जातियां समय-समय पर भारत में प्रवेश करती रहीं, वहां साथ ही भारत के लोग भी अपनी सभ्यता और धर्म का प्रचार करने या उपनिवेश बसाने के लिये बाहर जाते रहे।

उत्तर-भारत का मैदान—हिमालय के पर्वतप्रधान प्रदेशों के नीचे व विन्ध्य-मेखला के उत्तर में जो विस्तृत मैदान है, वह लम्बाई में १६०० मील के लगभग है। इस विशाल मैदान को नदियों के दो जाल सींचते हैं, जिनका उद्गम लगभग एक ही जगह से है। नदियों का एक जाल पंजाब में सिन्धु व उसकी सहायक नदियों का है, और दूसरा गंगा-यमुना व उनकी सहायक नदियों का। पंजाब की नदियां दक्षिण-पश्चिम की ओर बहती हैं, और गंगा-यमुना का प्रवाह दक्षिण-पूर्व की तरफ है। इससे स्पष्ट है, कि यमुना और सतलज के बीच का प्रदेश ऊंचा व जल का विभाजक है। इसी प्रदेश में राजपूताना का रेगिस्तान और अरावली (आड़ावला) की पर्वतमाला फैली हुई है। सतलज और यमुना के बीच का जलविभाजक ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत महत्त्व-पूर्ण है। भारत के उत्तरी मैदान में यही एक ऐसा प्रदेश है, जो शस्य-श्यामल व उपजाऊ नहीं है। इस प्रदेश के उत्तरी भाग में कुरुक्षेत्र का बांगर है, और दक्षिणी भाग में अरावली-पर्वतमाला और राजपूताना का मरुस्थल।

सिन्ध और गंगा के क्षेत्रों के बीच में कुरुक्षेत्र का बांगर ही एक ऐसा तंग रास्ता है जिससे होकर पूर्व से पश्चिम की ओर जानेवाली या पश्चिम से पूर्व की ओर आनेवाली सेनायें गुजर सकती हैं। यही कारण है, कि कुरुक्षेत्र के बांगर-प्रदेश में भारतीय इतिहास की अनेक महत्त्वपूर्ण व भाग्य-निर्णायक लड़ाइयां लड़ी गई थीं।

मानव-सभ्यता का विकास शुरू में नदियों की उपजाऊ घाटियों में ही हुआ था। वहां न केवल जल की सुविधा थी, अपितु उनमें कृषि के लिये उपयुक्त जमीन व पशुपालन के लिये उपयुक्त चरागाह भी सुगमता से प्राप्त हो सकते थे। जिस प्रकार पश्चिमी संसार में दजला और फरात नदियों की घाटी (ईराक) में और नील नदी की घाटी (मिस्र) में मानव-सभ्यता का विकास अति प्राचीन काल में हुआ, वैसे ही भारत में सिन्ध नदी और गंगा की घाटियों में अत्यन्त प्राचीन समय में सभ्यता का विकास हुआ। आर्य-जाति के प्रवेश से पूर्व भी अनेक आर्य-भिन्न जातियों ने इन क्षेत्रों में अपनी विविध बस्तियां बसाई थीं। जब आर्य लोग यहां आकर बसे, तब उन्होंने तो इन प्रदेशों में अपनी सभ्यता का बहुत उन्नत रूप से विकास किया।

भौगोलिक दृष्टि से उत्तर-भारत के इस मैदान को पांच भागों में विभक्त किया जा सकता है, पंजाब, सिन्ध, राजपूताना, गंगा व उसकी सहायक नदियों से सिंचित प्रदेश, गंगा का मुहाना और ब्रह्मपुत्र नदी की घाटी। सिन्ध नदी की घाटी और गंगा की घाटी के बीच के प्रदेश (राजपूताना का मरुस्थल) का इतिहास में बहुत महत्त्व है। प्राचीन समय में इसको पार कर सकना किसी भी सेना के लिये सुगम नहीं था। आठवीं सदी के अरब आक्रान्ता दक्षिणी बलोचिस्तान के मार्ग से भारत में प्रविष्ट हुए थे। सिन्ध का उन्होंने विजय भी कर लिया था, पर राजपूताना की मरुभूमि के कारण उनके लिये यह संभव नहीं हुआ, कि वे सिन्ध से आगे बढ़कर उत्तर-भारत के मैदान को अपने अधीन कर सकें। आगे चलकर जब तुर्क-आक्रान्ताओं ने भारत पर आक्रमण किया, तो वे उत्तरी मार्ग से भारत में प्रविष्ट हुए। विदेशी आक्रमणों से परेशान होकर पंजाब और गंगाघाटी की अनेक जातियों ने राजपूताना के मरुस्थल में जाकर ही अपनी स्वतंत्रता की रक्षा की थी।

उत्तर-भारत के इस सुविस्तृत मैदान में प्राचीन समय में बहुत-से छोटे-बड़े राज्य विद्यमान थे। आर्य जाति ने भारत में प्रविष्ट होने के बाद इसमें अनेक राज्य कायम किये। आर्यों के मानव (ऐक्ष्वाकव) और

ऐल (चन्द्र) वंशों ने बहुत-सी शाखाओं और प्रशाखाओं में विभक्त होकर इस मैदान में अपने बहुत-से राज्य स्थापित किये थे । भारत का प्राचीन इतिहास प्रधानतया इसी मैदान का इतिहास है, क्योंकि इसी में वे चक्रवर्ती सम्राट् उत्पन्न हुए, जिन्होंने सारे भारत को अपने शासन में लाने के अनेक प्रयत्न किये ।

विन्ध्यमेखला—भारत के ठीक बीच में विंध्याचल की पर्वतमाला है, जो पश्चिम में अरावली की पर्वत-शृंखला से शुरू होकर पूर्व में बंगाल की खाड़ी के समीप तक चली गई है । विन्ध्याचल से अनेक नदियां निकलकर उत्तर की ओर चली गई हैं, और आगे चलकर गंगा नदी में मिल गई है । चम्बल, सिन्ध (पंजाब की सिन्ध नदी नहीं), बेतवा, केन और सोन नदियां इनमें मुख्य है । दुर्गम पर्वतों से युक्त विन्ध्याचल का यह प्रदेश उत्तरी भारत को दक्षिणी भारत से पृथक् करता है । आर्यों के लिये यह तो सुगम था, कि वे उत्तरी भारत के मैदान में शीघ्रता से अपना प्रसार कर सकें । पर विंध्यमेखला को पार कर दक्षिणी भारत में प्रवेश कर सकना बहुत अधिक सुगम नहीं था । यही कारण है, कि दक्षिण में आर्य-भिन्न जातियां बड़ी संख्या में निवास करती है, और नस्ल, भाषा आदि की दृष्टि से दक्षिणी भारत और उत्तर-भारत में बहुत भेद है। विन्ध्याचल का क्षेत्र पर्वतप्रधान होने के कारण उतना अधिक आबाद व समृद्ध नहीं है, जितना कि उत्तर-भारत का मैदान है।

भौगोलिक दृष्टि से विन्ध्यमेखला के इस क्षेत्र को अनेक भागों में विभक्त किया जा सकता है । ये विभाग निम्नलिखित हैं—(१) दक्षिणी राजपूताना, जो चम्बल-नदी के पश्चिम में व अरावली पर्वतमाला के समीप का प्रदेश है । (२) मालवा, जिसमें चम्वल और सिन्ध नदियों की घाटी का प्रदेश, नर्मदा नदी की घाटी का मध्यवर्ती प्रदेश और सातपुड़ा-पर्वतमाला का पूर्वी भाग सम्मिलित है। (३) बुन्देलखंड । (४) बघेलखंड । (५) झाड़खंड या छोटा नागपुर । गुजरात के शस्य-श्यामल व उपजाऊ प्रदेश को भी विन्ध्यमेखला के ही अन्तर्गत किया जा सकता है, यद्यपि वह इस पर्वतमाला के एक तरफ बगल में रह जाता है । गुजरात न दक्षिणी भारत में है, और न उत्तर भारत के मैदान में । पर विंध्यमेखला के साथ लगा होने के कारण उसका उल्लेख भी इसी क्षेत्र में किया जाना उचित है।

कृषि की दृष्टि से विंध्यमेखला का क्षेत्र उत्तर-भारत के मैदान का मुकाबला नहीं कर सकता , पर जंगलों और खानों की दृष्टि से वह बहुत समृद्ध है।

प्राचीन काल में यह प्रदेश बड़े-बड़े जंगलों से परिपूर्ण था, और इसमें कृषि की विशेष सुविधा नहीं थी। यही कारण है, कि इस क्षेत्र में उत्तर-भारत के समान समृद्ध राज्यों व नगरों का विकास नहीं हो सका। उत्तर और दक्षिण-भारत में संबंध जोड़नेवाले विविध मार्ग विन्ध्याचल के प्रदेशों में से होकर ही गये हैं, इससे प्राचीन काल में इस क्षेत्र का सामरिक महत्त्व बहुत अधिक था।

दक्षिणी भारत—भारत का दक्षिणी भाग आकार में एक त्रिभुज के समान है, जिसके दो ओर समुद्र और एक ओर विंध्याचल की पर्वतमाला है। विन्ध्याचल की दो भुजायें दक्षिणी भारत के समुद्रतट के साथ-साथ कुछ अन्तर छोड़कर दक्षिण की ओर चली गई हैं, जो क्रमशः पूर्वी घाट या पश्चिमी घाट कहाती हैं। पश्चिमी घाट को सह्याद्रि पर्वत भी कहते हैं। सह्याद्रि पर्वतमाला और समुद्र के बीच में जो समतल मैदान है, वह चौड़ाई में बहुत कम है। इसके उत्तरी भाग को कोंकण और दक्षिणी भाग को केरल या मलाबार कहते हैं। ये दोनों प्रदेश उपज की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। प्राचीन काल से अब तक कोंकण और केरल अपनी उपज-शक्ति और समृद्धि के लिये प्रसिद्ध रहे हैं। दक्षिणी भारत की सब प्रमुख नदियां पश्चिम से पूर्व की ओर बहती हैं। इसका अभिप्राय यह है, कि उसकी जमीन का ढाल पूर्व की ओर है। पश्चिमी घाट की ऊंची पर्वतमालायें पूर्व की ओर ऊंचाई में कम होती जाती हैं, और इनके कारण कोंकण और केरल से पूर्व की तरफ का दक्षिणी भारत एक पथार के समान है, जिसके उत्तरी भाग को महाराष्ट्र और दक्षिणी भाग को कर्णाटक कहते हैं। महाराष्ट्र का प्रदेश पर्वत-प्रधान है, और उसमें खेती की विशेष सुविधा नहीं है। इसीलिये वहां के निवासियों को अपनी आजीविका के लिये विशेष परिश्रम करने की आवश्यकता रही है, और वे स्वभाव से ही परिश्रमी व कष्टसहन की प्रवृत्ति रखनेवाले रहे हैं। कर्णाटक का पथार ऊंचाई में महाराष्ट्र से अधिक है, परन्तु उसके दक्षिणी सिरे पर पहाड़ों का सिलसिला समाप्त होकर मैदान आ जाता है। इस कारण यह प्रदेश बहुत उपजाऊ व समृद्ध है, और प्राचीन समय में यहां भी अनेक उन्नत राज्यों का विकास हुआ था।

पश्चिमी घाट के समान पूर्वी घाट की पर्वतमाला भी समुद्रतट से कुछ हटकर उत्तर से दक्षिण की ओर चली गई है। नदियों के कारण पूर्वी घाट की यह पर्वतशृंखला बीच-बीच में टूट जाती है, और पूर्वी समुद्र में

गिरनेवाली इन नदियों के मुहानों द्वारा पूर्वी समुद्र के साथ-साथ समतल मैदान का एक अच्छा चौड़ा क्षेत्र बन गया है । इस क्षेत्र का सबसे उपरला भाग कलिंग (उड़ीसा), बीच का भाग आन्ध्र देश, और निचला भाग चोलमंडल (कोरोमंडल) कहाता है। ये तीनों प्रदेश बहुत उपजाऊ हैं, और इनमें वर्षा भी प्रचुर मात्रा में होती है। ये प्रदेश न केवल वर्तमान समय में समृद्ध हैं, अपितु प्राचीन काल में भी इनमें अनेक शक्तिशाली और उन्नत राज्यों का विकास हुआ था। कलिंग के राजा मौर्य-युग में अत्यन्त शक्तिशाली माने जाते थे, और एक बार तो कलिंग-राज ने पाटलिपुत्र तक का विजय किया था। आन्ध्र और चोल-राज्यों ने भी एक से अधिक बार उत्तरी भारत पर आक्रमण कर उसे अपने अधीन किया था।

दक्षिणी भारत को जानेवाला एक प्रधान मार्ग बंगाल से कन्याकुमारी तक समुद्रतट के साथ-साथ जाता है। प्राचीन समय में यह मार्ग बहुत अधिक प्रयुक्त होता था, और उत्तरी भारत के अनेक सम्राटों ने इसी का अनुसरण कर दक्षिणी भारत में दिग्विजय की थी ।

लंका या सिंहलद्वीप भी दक्षिण-भारत का ही एक अंग है, जो रामेश्वरम् के आगे सेतुबन्ध की चट्टान-शृंखला द्वारा दक्षिणी भारत से प्रायः जुड़ा हुआ-सा है । प्राचीन भारतीय इतिहास की दृष्टि से सिंहलद्वीप को भी भारत के ही अन्तर्गत रखना उचित होगा ।

समुद्र—ऐतिहासिक दृष्टि से भारत के समुद्र का भी बहुत महत्त्व है । प्राचीन भारतीय लोग समुद्र का जहां व्यापार के लिये उपयोग करते थे, वहां अपनी सभ्यता का विस्तार करने के लिये भी वे समुद्रमार्ग से दूर-दूर तक जाते थे। पूर्वी एशिया में बृहत्तर भारत का जो विकास हुआ, उसका कारण यह समुद्र ही था, जिसे पार करने के लिये भारतीय लोग अनेक प्रकार की नौकाओं और जहाजों का उपयोग करते थे ।

(२) भारत के निवासी

भारत एक अत्यन्त विशाल देश है । इसमें सब प्रकार की जलवायु विद्यमान है। इसमें जहां एक तरफ हिमालय की ऊंची-ऊंची पर्वत-शृंखलायें व घाटियां हैं, जिनमें सदा बरफ जमी रहती है, वहां दूसरी तरफ ऐसे प्रदेश भी हैं, जो उष्ण कटिबन्ध के अन्तर्गत होने के कारण सदा गरम रहते हैं। जलवायु

और प्राकृतिक दशा की भिन्नता के समान इस देश के निवासियों में भी अनेक प्रकार की विभिन्नता पाई जाती है। इस विभिन्नता के आधार नस्ल और भाषा के भेद हैं। मनुष्य के शरीर की आकृति, रचना और रंग के आधार पर नृतत्त्व-शास्त्र के विद्वानों ने मनुष्यों को अनेक नस्लों में विभक्त करने का प्रयत्न किया है। साथ ही, भाषा की भिन्नता के आधार पर भी मनुष्यों में अनेक जातियों की भिन्नता प्रदर्शित की गई है। शरीर की रचना या भाषा के भेद के आधार पर इस प्रकार से मनुष्यों की विभिन्न जातियों की कल्पना करना कहां तक उचित व युक्तिसंगत है, इस विषय पर विचार करने की यहां हमें आवश्यकता नहीं। पर यह स्पष्ट है, कि भारत के वर्तमान निवासियों को दृष्टि में रखकर उन्हें अनेक विभागों या जातियों में बांटा जा सकता है। भाषा के भेद को सम्मुख रखकर भारत-भूमि के निवासियों को जिन मुख्य विभागों में बांटा जाता है, वे निम्नलिखित हैं——

(१) **आर्य**——भारत के निवासियों की बहुसंख्या आर्य जाति की है। भाषा की दृष्टि से भारत में आर्य-भाषाओं को बोलने वालों की संख्या १०० में से ७६.४ हैं। उत्तर भारत की प्रायः सभी भाषायें आर्य-परिवार की हैं। उड़िया, हिन्दी, पंजाबी, पश्तो, काश्मीरी, गुजराती, असामी, बंगला, मराठी, सिन्धी और लहन्दा ये सब आर्य-भाषायें ही हैं। भारत की आर्य-परिवार की भाषाओं में हिन्दी सबसे मुख्य है। इसे बोलने वालों की संख्या चौदह करोड़ के लगभग है। साहित्यिक उपयोग के लिये हिन्दी का जो रूप प्रयुक्त होता है, वह कुरु देश (गंगा-यमुना के द्वाब का उत्तरी भाग) में बोली जानेवाली खड़ी बोली का परिष्कृत रूप है। सर्वसाधारण जनता की बोलचाल में हिन्दी-भाषा के जो विविध रूप प्रयुक्त होते हैं, उनमें प्रमुख ये हैं——खड़ी बोली, ब्रजभाषा, बांगरू, राजस्थानी, पंजाबी, बुन्देली, अवधी, छत्तीसगढ़ी, बघेली, भोजपुरी, मैथिली, मगही, गोरखाली, कुमाउंनी, गढ़वाली और कन्नौजी। पश्चिम में पंजाब (पूर्वी) से शुरू कर पूर्व में बिहार तक और उत्तर में हिमालय से लगाकर दक्षिण में विंध्याचल तक हिन्दी-भाषा का क्षेत्र है। आसाम, बंगाल, उड़ीसा, महाराष्ट्र, सिन्ध, पश्चिमी पंजाब, सीमाप्रान्त और काश्मीर की विविध भाषायें भी आर्य-परिवार की हैं, और इनको बोलनेवाले लोग भी आर्य-जाति के माने जाते हैं। हिन्दी, मराठी और विविध पहाड़ी बोलियां (जिन्हें हिन्दी के ही अन्तर्गत समझना चाहिये) देवनागरी लिपि में लिखी जाती हैं। आर्य-परिवार की अन्य भाषाओं की लिपियां देवनागरी से कुछ भिन्न हैं, पर उनकी वर्णमाला

देवनागरी के समान ही है। केवल पश्तो और सिन्धी ने मुसलिम प्रभाव के कारण अरबी वर्णमाला और लिपि को अपनाया है।

यह कह सकना कठिन है, कि आर्य-भाषाओं को बोलनेवाले सब लोग जातीय दृष्टि से भी आर्य हैं। बंगाल, आसाम आदि पूर्वी भारत के प्रदेशों में जो लोग बसते हैं, उनमें आर्य-भिन्न रक्त भी प्रचुर परिमाण में पाया जाता है। इस प्रकार विन्ध्यमेखला के निवासी आर्य-भाषा-भाषी होते हुए भी नस्ल की दृष्टि से सर्वांश में आर्य नहीं माने जाते। वस्तुतः भारत में रक्त का सम्मिश्रण बहुत हुआ है, और यहां के बहुसंख्यक निवासी नस्ल की दृष्टि से विशुद्ध आर्य जाति के नहीं समझे जाते।

भारत के जिन प्रदेशों में आजकल आर्य-परिवार की विविध भाषायें बोली-जाती हैं, उनमें प्राचीन काल में भी आर्य भाषायें ही प्रचलित थीं। संस्कृत, पाली, प्राकृत व उनके अपभ्रंश विविध समयों में इन प्रदेशों में बोले जाते थे। वस्तुतः भारत की आधुनिक आर्य-भाषायें इन प्राचीन आर्य-भाषाओं से ही विकसित हुई हैं। जिन प्रदेशों में आजकल आर्य भाषाओं का चलन नहीं है, उनकी भाषाओं पर भी प्राचीन आर्य-भाषा संस्कृत का गहरा प्रभाव है। उनमें संस्कृत के शब्द बहुत बड़ी संख्या में विद्यमान हैं, और उन प्रदेशों के विद्वान् संस्कृत का अध्ययन करना अत्यन्त गौरव की बात समझते हैं।

(२) **द्राविड़**—भारत के निवासियों में द्राविड़ लोगों की संख्या १०० में २१.६ है। ये प्रधानतया दक्षिणी भारत में निवास करते हैं। वर्तमान समय की द्राविड़ भाषाओं में मुख्य निम्नलिखित हैं—तेलगू, तामिल, मलयालम और कन्नड। ये क्रमशः आन्ध्र देश, तामिलनाड, केरल और कर्णाटक में बोली जाती हैं। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य भाषायें भी हैं, जिन्हें द्राविड़वर्ग के अन्तर्गत रखा जाता है। इनमें से अन्यतम ब्राहुई उत्तरी भारत के पश्चिमी कोने में सुदूरवर्ती कलात में बोली जाती है। ब्राहुई भाषा को बोलने वालों की संख्या दो लाख के लगभग है। उत्तर भारत में बलोचिस्तान में एक द्राविड़ भाषा की सत्ता से यह अनुमान किया जाता है, कि आर्यों के समान द्राविड़ लोग भी पश्चिम की ओर से भारत में प्रविष्ट हुए थे, और वे भारत के मूलनिवासी नहीं हैं। अन्य द्राविड़ भाषाओं में गोंडी, कुई, कुरूखी और मल्तो बोलियां विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ये बोलिया मध्यभारत के विविध क्षेत्रों में बोली जाती हैं, और भाषा-शास्त्र की दृष्टि से इन्हें द्राविड़-परिवार की भाषायें माना जाता है।

(३) **मुंड या शाबर**—इस शाखा की बोलियां विंध्यमेखला व उसके पड़ोस के प्रदेशों में बोली जाती हैं। इनके बोलनेवालों की कुल संख्या चालीस लाख के लगभग है। मुंड-भाषाभाषी लोग प्रधानतया छोटा नागपुर और संथाल परगनों के जंगलप्रधान प्रदेशों में निवास करते हैं। इनकी भाषा की न कोई लिपि है, न वर्णमाला। इस दशा में इस भाषा का कोई साहित्य तो हो ही नहीं सकता। पड़ोस की अधिक विकसित व सम्पन्न भाषायें धीरे-धीरे इन बोलियों को आत्मसात् करती जाती हैं।

(४) **किरात**—इस शाखा का वास्तविक अभिजन तिब्बत और बरमा है। इस जाति के लोग न केवल तिब्बत और बरमा में अपितु चीन और हिन्दचीन में भी छाये हुए हैं। जहां तक भारत का संबंध है, इस देश में किरात-जाति की तीन शाखायें विद्यमान हैं—(१) तिब्बत-हिमालयी, (२) आसामोत्तरक और (३) आसाम बर्मी या लौहित्य। तिब्बत की सीमा के समीप स्थित भारतीय प्रदेशों में अनेक बोलियां बोली जाती हैं, जो किरात-वर्ग की हैं। इनमें बाल्ती (बाल्तिस्तान की) और लदाखी (लदाख की) बोलियां मुख्य हैं। आसाम के उत्तरी प्रदेशों में निवास करनेवाली अनेक जातियां भी किरात-भाषायें बोलती हैं। इसी प्रकार लौहित्य घाटी में (आसाम में) अनेक ऐसी जातियों का निवास है, जिनकी बोलियों को किरात-वर्ग के अन्तर्गत किया जाता है।

मंड और किरात-परिवार की जिन भाषाओं का उल्लेख हमने इस प्रकरण में किया है, उनके बोलनेवालों की कुल संख्या १०० में ३ के लगभग है। भारत की कुल जनसंख्या को दृष्टि में रखते हुए इनकी सत्ता नगण्य ही समझी जा सकती है। ये भाषायें प्रायः अविकसित दशा में है, और इनमें साहित्य का सर्वथा अभाव है। वह समय दूर नहीं है, जब कि इन भाषाओं को बोलनेवाले लोग अपने पड़ोस में रहनेवाले आर्यों के सांस्कृतिक प्रभाव में आ जावेंगे।

(३) भारत की आधारभूत एकता

इसमे सन्देह नहीं, कि भारत में ऐसे अनेक तत्त्व विद्यमान हैं, जो इस विशाल देश में अनेक प्रकार से विभिन्नताओं को उत्पन्न करते हैं। इस देश की भौगोलिक दशा सर्वत्र एकसदृश नहीं है। इसके विविध प्रदेशों मे कहीं समतल मैदान हैं, तो कहीं पर्वतप्रधान प्रदेश, घाटियां व पथार भी विद्यमान हैं। कहीं अत्यन्त सूखे रेगिस्तान हैं, तो कहीं ऐसे भी प्रदेश हैं, जहां साल में कई

सौ इंच वर्षा पड़ती है। प्राकृतिक दृष्टि से देखने पर पूर्वी बंगाल और राजपूताना में व कूर्माचल और काशी में भारी भेद दृष्टिगोचर होता है। इस देश में अनेक नसलों व जातियों के लोगों का निवास है। आर्य, द्राविड़, मुंड, किरात आदि कितनी ही जातियों के लोग यहां बसते हैं। हिन्दी, गुजराती, मराठी, तेलुगू, तामिल, बंगला आदि कितनी ही भाषायें इस देश में बोली जाती हैं। यहां बारह से अधिक समुन्नत भाषाएं व सैकड़ों की संख्या में बोलियों की सत्ता है। धर्म की दृष्टि से भी इस देश में एकता का अभाव है। हिन्दू, मुसलिम, ईसाई, बौद्ध, जैन, पारसी आदि कितने ही धर्म यहां विद्यमान हैं। विविध धर्मों के अनुयायियों में, विशेषतया हिन्दुओं और मुसलमानों में विरोध की भावना भी इस देश में पर्याप्त प्रबल रही है। देश की विशालता के कारण यहां के निवासियों में भौगोलिक एकता की अनुभूति भी भलीभांति विद्यमान नहीं है। पंजाब के निवासी अपने को पंजाबी समझते हैं, और बंगाल के निवासी बंगाली। ऐतिहासिक दृष्टि से भी भारत अनेक छोटे-बड़े राज्यों में विभक्त रहा है। मौर्य, गुप्त आदि कतिपय प्राचीन राजवंशों और मुगलों के शासन में भारत का बड़ा भाग कुछ समय के लिये चाहे एक शासन के अधीन रहा हो, पर ब्रिटिश शासन से पूर्व हम प्रायः यही देखते हैं, कि इस देश में अनेक राज्य थे, जो प्रायः आपस में संघर्ष करते रहते थे। इस दशा में यदि अनेक विचारक भारत को एक भूखंड मात्र समझें, और उसकी राष्ट्रीय एकता से इनकार करें, तो यह आश्चर्य की बात नहीं है। इसी कारण यह भी बहुत सगम नही रहता, कि सारे भारत का इतिहास एक साथ लिखा जा सके। वस्तुतः, भारत का राजनीतिक इतिहास विविध राजवंशों के पारस्परिक संघर्ष का ही वृत्तान्त है।

पर अधिक गम्भीर दृष्टि से विचार करने पर अनेक विविधताओं के होते हुए भी भारत की आधारभूत एकता को समझने में कठिनाई नहीं होगी। जो तत्त्व भारत में एक प्रकार की आधारभूत एकता को स्थापित करते हैं, उनका यहां संक्षेप से उल्लेख करना उपयोगी है——

(१) **भौगोलिक एकता**——प्रकृति ने भारत को एक अत्यन्त सुन्दर व स्वाभाविक सीमा प्रदान की है, यह पहले लिखा जा चुका है। भारत की भौगोलिक एकता इस देश के लोगों में एक प्रकार की एकानुभूति उत्पन्न करती रही है। भारत के निवासी सदा से अपने देश के प्रति एक विशेष प्रकार की ममता का अनुभव करते रहे हैं। उन्होंने सदा यह माना है, कि यह उनकी

मातभूमि और देवभूमि है। सम्पूर्ण भारत में उन्होंने एक सिरे से दूसरे सिरे तक तीर्थों और देवस्थानों की स्थापना की थी। यहां के निवासी हिन्दू लोग भारत के पर्वतों, जंगलों, नदियों और पुरियों को पवित्र मानते रहे हैं। गंगा, यमुना, गोदावरी, सरस्वती, नर्मदा, सिन्ध और कावेरी—ये सात नदियां भारत के सब हिन्दुओं के लिये पवित्र है। प्रत्येक हिन्दू की यह आकांक्षा रहती है, कि वह इन सात नदियों में स्नान करके अपने जीवन को सफल करे। दक्षिण-भारत के हिन्दू के लिये गंगा भी उतनी ही पवित्र है, जितनी कि कावेरी। यही दशा उत्तर-भारत के हिन्दू की है। महेन्द्र, मलय, सह्य, शुक्तिमान्, ऋक्ष, विन्ध्य और पारियात्र—ये सात पर्वत सब हिन्दुओं के लिय पवित्र है। इसी प्रकार अयोध्या, मथुरा, मायापुरी, काशी, कांची, अवन्तिका और द्वारवती (द्वारिका)—ये सात पुरिया हिन्दुओं की दृष्टि में पवित्र है, और इनमें तीर्थ-यात्रा के लिये जाना सब हिन्दुओं के लिये एक पवित्र कर्तव्य है। दक्षिण में कांची से उत्तर में मायापुरी तक यात्रा करनेवाला हिन्दू इस सारे देश के प्रति एक आदर और पवित्रता की भावना रखता है, इसमें सन्देह नहीं। हिन्दुओं के विविध तीर्थ उत्तर मे अमरनाथ और केदारनाथ से शुरू होकर दक्षिण में रामेश्वरम् तक फैले हुए है। इसी प्रकार मुसलमानों के भी अनेक पीरों और औलियों की स्मृति भारत के विभिन्न स्थानों के साथ जुड़ी हुई है। भारत के बौद्धिक नेताओं ने भी भारत की इस भौगोलिक एकता को स्पष्टरूप से स्वीकार किया था। यही कारण है, कि केरल-देश में उत्पन्न हुए आचार्य शंकराचार्य ने अपने विविध मठों की स्थापना उत्तर, दक्षिण, पूर्व, पश्चिम—सर्वत्र की थी। इस दशा में यदि भारत के विभिन्न निवासी इस देश के प्रति ममता और एकता की भावना रखें, तो यह स्वाभाविक ही है।

(२) **जातीय एकता**—यह ठीक है, कि भारत में अनेक नसलों के लोग निवास करते है, पर इन विविध नसलों में सम्मिश्रण भी खूब हुआ है। इस समय भारत की बहुसंख्यक जनता आर्यों और द्राविड़ों का सम्मिश्रण ही है। इस देश में भाषाओं की भिन्नता अवश्य है, पर यहां की प्रायः सभी भाषाएं एक ही सांचे में ढली हुई हैं। भारत की अनेक द्राविड़ भाषाओं तक ने आर्यों की वर्णमाला को अपना लिया है। आर्यों और द्राविड़ों का भारत के इतिहास में इतना अधिक सामंजस्य हो गया है, कि आज प्रायः सारे भारत की एक वर्णमाला है, और एक वाङ्मय है। न केवल वैदिक और संस्कृत-साहित्य का सारे भारत में समानरूप से आदर है, अपितु मध्यकालीन सन्तों और विचारकों के विचार

भी सारे भारत को एक समान रूप से प्रभावित किये हुए हैं। संस्कृत-साहित्य के ग्रंथ दक्षिण-भारत के द्राविड़-भाषाभाषी लोगों में भी उसी प्रकार आदर के साथ पढ़े जाते हैं, जैसे कि उत्तर-भारत में। नसल और भाषा की विविधता के होते हुए भी प्रायः सम्पूर्ण भारत के निवासी एक प्रकार की सामाजिक रचना रखते हैं। सर्वत्र वर्णाश्रम-व्यवस्था समान रूप से है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र का भेद दक्षिण-भारत में भी वैसा ही है, जैसा कि उत्तर-भारत में। आश्रम-मर्यादा का भी सर्वत्र एक समान रूप से पालन किया जाता है। इस दशा में सारे भारत में एक प्रकार की जातीय एकता उत्पन्न हो गई है, जो नसल और भाषा के भेद को बहुत महत्त्व का नहीं रहने देती।

(३) **संस्कृति की एकता**—सांस्कृतिक एकता भारत की एक भारी विशेषता है। इस देश के न केवल हिन्दू अपितु मुसलमान, पारसी और ईसाई एक ही संस्कृति के रंग में रंगे हुए हैं। यह संस्कृति वैदिक, बौद्ध, जैन, हिन्दू, **मुसलिम** और आधुनिक संस्कृतियों के सम्मिश्रण से बनी है। भारत के मुसलमान अपने विचारों, रीति-रिवाजों व अभ्यासों की दृष्टि से अरब व टर्की के मुसलमानों से बहुत भिन्न हैं। लखनऊ या दिल्ली का मुसलमान कैरो या कोन्स्टन्टिनोपल में जाकर अपने को सर्वथा विदेशी अनुभव करेगा। अरबों व तुर्कों के साथ धार्मिक एकता होते हुए भी वह लखनऊ व दिल्ली के हिन्दू के बहुत समीप है। इसका कारण संस्कृति की एकता है। जो रिवाज व सामाजिक आचार-विचार हिन्दू के हैं, प्राय. वही भारतीय मुसलमान के भी हैं। भारत के बहुसंख्यक मुसलमानों के पूर्वज हिन्दू ही थे। धर्म-परिवर्तन से उनके संस्कारों व परम्परागत विचारों में मौलिक परिवर्तन नहीं हुआ। इसी प्रकार आन्ध्र, तामिलनाड, बंगाल, गुजरात आदि में विभिन्न भाषाभाषी जो जन-समुदाय निवास करते हैं, वे सब एक संस्कृति के ही अनुयायी हैं। राम और कृष्ण के आदर्श, अर्जुन और भीम की वीर-गाथाएं व नानक और तुलसी के उपदेश उन्हें समानरूप से प्रभावित करते हैं। संस्कृति की यह एकता ऐसी है, जो नसल भाषा आदि के भेद की अपेक्षा अधिक महत्त्व की है। इसी के कारण सम्पूर्ण भारतीय अपने को चीनी, ईरानी, अरब, अंग्रेज आदि अन्य राष्ट्रीयताओं से भिन्न समझते हैं, और अपने को एक मानते हैं।

(४) **राजनीतिक एकता**—इसमें सन्देह नहीं, कि प्राचीन भारत में बहुत-से छोटे बड़े राज्य विद्यमान थे। पर साथ ही यह बात भी सत्य है कि बहुत प्राचीन समय से इस देश में यह विचार विद्यमान था, कि यह विशाल देश

एक चक्रवर्ती साम्राज्य का उपयुक्त क्षेत्र है, और इसमें एक ही राजनीतिक शक्ति का शासन होना चाहिये । आचार्य चाणक्य ने कितने सुन्दररूप में यह प्रतिपादित किया था, कि हिमालय से समुद्र-पर्यन्त जो हजार योजन विस्तीर्ण प्रदेश है, वह एक चक्रवर्ती शासन का क्षेत्र है। चाणक्य के इस स्वप्न को उसके शिष्य मौर्य चन्द्रगुप्त ने क्रिया में परिणत किया, और हिमालय से समुद्र तक मागध-साम्राज्य की स्थापना की। पर चन्द्रगुप्त मौर्य से पूर्व भी अनेक सम्राटों ने दिग्विजय द्वारा भारत के विविध आर्य-राज्यों में राजनीतिक एकता को प्रादुर्भूत किया था । मान्धाता, भरत आदि कितने ही राजा वैदिक काल में भी ऐसे हुए, जिनका प्रयत्न सम्पूर्ण आर्यावर्त में एक शासन स्थापित करने का था, और जो राजसूय आदि यज्ञों द्वारा चक्रवर्ती, सार्वभौम व सम्राट्-पद को प्राप्त करने में समर्थ हुए थे। प्राचीन समय में भारत चाहे सदा एक शासन में न रहा हो, पर इस देश में यह अनुभूति प्रबल रूप से विद्यमान थी, कि यह एक देश है, और इसमें जो धार्मिक, साहित्यिक व सांस्कृतिक एकता है, उसे राजनीतिक क्षेत्र में भी अभिव्यक्त होना चाहिये। यही कारण है, कि विविध राज्यों और राजवंशों की सत्ता के होते हुए भी इस देश के इतिहास को एक साथ प्रतिपादित किया जा सकता है ।

भारत बहुत बड़ा देश है । प्राचीन समय में तो ग्रीस, इटली, इंगलैंड जैसे छोटे-छोटे देशों में भी बहुत से राज्य विद्यमान थे। ग्रीस में स्पार्टा, एथन्स, कोरिन्थ आदि के रूप में कितने ही छोटे-छोटे नगर-राज्यों की सत्ता थी। यही बात इटली, इंगलैंड, मिस्र, ईरान आदि देशों के संबंध में भी कही जा सकती है। बहुत-से नगर-राज्यों की सत्ता के होते हुए भी ग्रीस को एक देश समझा जाता था, क्योंकि उसमें संस्कृति की एकता थी, और ग्रीक लोग अपने में एक प्रकार की एकानभूति रखते थे। ठीक यही बात भारत के संबंध में भी है। जिस प्रकार मैसिडोन के नेतृत्व में ग्रीक नगर-राज्य एक राजनीतिक सूत्र में संगठित हुए, वैसे ही मगध के नेतृत्व में आगे चलकर भारत के विविध राज्य एक साम्राज्य के अधीन हुए । यदि केवल विविध राज्यों की सत्ता के कारण भारत की आधारभूत एकता से इनकार किया जाय, तो यह भी मानना होगा, कि ग्रीस, इटली, इंगलैंड आदि सभी देश प्राचीन समय में एकता से शून्य थे । पर किसी देश की एकता के लिये राजनीतिक एकता सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व नहीं होती। धर्म, संस्कृति, भूगोल, परम्परा आदि की एकता ने ही आगे चलकर ग्रीस, इटली, इंगलैंड, जर्मनी आदि को एक संगठन में संगठित

किया। इसी प्रकार भारत भी आगे चलकर राजनीतिक दृष्टि से भी एक हो गया। पर जिन तत्त्वों के कारण उसका एक होना संभव हुआ, वे प्राचीनकाल में भी यहां विद्यमान थे।

इसमें सन्देह नहीं, कि भारत में अनेक प्रकार की विभिन्नतायें विद्यमान हैं। पर इन विभिन्नताओं के होते हुए भी इस देश मे एक आधारभूत एकता की सत्ता है, इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता। वस्तुतः इस देश की स्थिति संघात्मक शासन के लिये बहुत उपयुक्त है। भारत-जैसे विशाल देश को विविध खंडों में विभक्त कर यदि उन्हें एक सघ में सगठित किया जाय, तो यह बात यहां के लिये बहुत उपयोगी होगी। विविध खंडों में इस देश की विभिन्न भाषाओं, साहित्य, पृथक् परम्परा आदि को विकास का पूरा अवसर मिलेगा, और संघ द्वारा वह आधारभूत एकता भलीभांति अभिव्यक्त हो सकेगी, जो भारत को अन्य सब देशों से पृथक् करती है। स्वतंत्र भारत के नये संविधान में इसी सिद्धान्त का अनुसरण किया गया है।

प्राचीन भारत का इतिहास लिखते हुए जहां हम उस धर्म, सभ्यता, संस्कृति, साहित्य और सामाजिक सगठन के विकास का वृत्तान्त लिखते हैं, जो सारे भारत में समान रूप से विकसित हुए, वहा साथ ही हम उस प्रयत्न का भी प्रदर्शन करते हैं, जो इस देश में राजनीतिक एकता की स्थापना के लिये निरन्तर जारी रहा। यही कारण है, कि हम इसका इतिहास एक साथ लिखने में समर्थ होते है।

(४) भौगोलिक दशा का भारतीय इतिहास पर प्रभाव

इसमें सन्देह नहीं, कि भारत की भौगोलिक परिस्थितियों ने इस देश के इतिहास को अनेक प्रकार से प्रभावित किया है। भारत उन अर्थों में एक राष्ट्र व देश नहीं है, जिन अर्थों में फ्रास, जर्मनी व इंगलैंड एक राष्ट्र हैं। यहा के सब निवासियों की भाषा एक नहीं है, और न ही इस देश के सब निवासी एक नसल व एक जाति के हैं। भारत एक इस प्रकार का महादेश है, जिसमें विविध भाषाओं को बोलनेवाली विविध जातियों के लोगों का निवास है। इस स्थिति का प्रधान कारण इस देश की विशालता और विभिन्न भौगोलिक परिस्थितियां ही हैं। भौगोलिक दशा ने इस देश के इतिहास को किस प्रकार प्रभावित किया है, इस बात को हम निम्नलिखित प्रकार से स्पष्ट कर सकते हैं--

(१) **विविध राज्यों की सत्ता**--भारत के सीमान्त के पर्वतप्रधान प्रदेशों में

बहुत-से छोट-छोटे राज्यों की सत्ता रही है, जो अपनी विकट भौगोलिक परिस्थिति के कारण साम्राज्यवादी विजेताओं की विजयों के प्रभाव से प्रायः बचे रहे हैं । मगध के बार्हद्रथ, नन्द, मौर्य, गुप्त आदि राजवंशों के प्रतापी सम्राट् उत्तरी भारत के सुविस्तृत मैदान को अपनी अधीनता में लाने में समर्थ हुए । पर काश्मीर, अभिसार, त्रिगर्त, कुलूत, गढ़देश, कूर्माचल, नेपाल आदि पार्वत्यप्रदेशों को वे स्थिररूप से अपने विशाल साम्राज्यों के अन्तर्गत नहीं कर सके । विध्यमेखला के कारण उनके लिये यह भी संभव नहीं हुआ, कि वे दक्षिणी भारत पर स्थिर रूप से अपना शासन स्थापित कर सकते । अफगान और मुगल-सम्राट् भी जो सारे भारत को अपनी अधीनता में नहीं ला सके, उसका मुख्य कारण भी इस देश की भौगोलिक परिस्थितियां ही थीं । राजनीतिक दृष्टि से दक्षिणी भारत का इतिहास प्रायः उत्तरी भारत के इतिहास से पृथक् रहा, क्योंकि विन्ध्यमेखला भारत के इन दोनों भागों के मध्य मे एक विशाल दीवार का काम करती रही । दक्षिणी भारत मे पश्चिमी घाट और पूर्वी घाट की पर्वतमालाओं के कारण वहां उस ढग के विशाल साम्राज्यों का विकास सभव नही हुआ, जैसा कि उत्तरी भारत के सुविस्तृत मैदान में हुआ था। दक्षिणी भारत अनेक छोटे-बड़े राज्यों मे विभक्त रहा, जो निरन्तर परस्पर के युद्धों में व्यापृत रहे । शक्तिशाली मुगल-सम्राट् भी इस प्रदेश को अविकलरूप से अपनी अधीनता में लाने में असमर्थ रहे। उत्तरी भारत के विस्तृत मैदान में जो शक्तिशाली विशाल साम्राज्यों का विकास संभव हुआ, उसका कारण वहां की भौगोलिक दशा ही थी । इस प्रदेश में कोई ऐसी प्राकृतिक बाधायें नही थीं, जो मगध, कन्नौज व दिल्ली के शक्तिशाली सम्राटों की राजनीतिक महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति में बाधक हो सकतीं । इसीलिये सदियों तक भारत का यह भाग एक शासन की अधीनता में रह सका, और यहां एक ऐसी सभ्यता का विकास हुआ, जो इसके सब निवासियों को सांस्कृतिक दृष्टि से एक सूत्र में बांध रखने में समर्थ हुई ।

(२) **पृथक् सभ्यता का विकास**—भौगोलिक दृष्टि से अनेक भागों में विभक्त होते हुए भी भारत संसार के अन्य भूखण्डों से पृथक् व स्वतंत्र सत्ता रखता है । इस देश को एक ऐसी प्राकृतिक सीमा प्राप्त है, जो अन्य देशों को प्राप्त नहीं है । महासमुद्र और दुर्गम पर्वतशृंखलाओं से घिरा हुआ यह देश एक विशाल दुर्ग के समान है, जिसमें एकता की अनुभूति अत्यन्त

प्राचीन काल से विद्यमान रही है । जहां एक तरफ शक्तिशाली सम्राट् इस देश को राजनीतिक दृष्टि से एक शासन में लाने का प्रयत्न करते रहे, वहां दूसरी तरफ यहां के धर्माचार्य और सन्त-महात्मा इस सम्पूर्ण देश में एक धर्म और एक संस्कृति की स्थापना के लिये तत्पर रहे। यही कारण है, कि भारत में एक ऐसी सभ्यता और संस्कृति का विकास हुआ, जो इस देश की अपनी चीज है, और जिसका पड़ोस के अन्य देशों के साथ विशेष संबंध नहीं है । यह सच है, कि भारत ने समीपवर्ती अन्य देशों को भी अपनी संस्कृति के प्रभाव में लाने का प्रयत्न किया । कुछ समय तक अफगानिस्तान, तुर्किस्तान, तिब्बत, बरमा, मलाया, सियाम आदि देश भारतीय संस्कृति के प्रभाव में भी रहे । पर भौगोलिक परिस्थितियों के कारण ही ये सब देश देर तक भारत के सांस्कृतिक प्रभाव में नहीं रह सके, और उनमें अपनी पृथक् संस्कृतियों का विकास हुआ । भारत जो अपनी एक पृथक् व स्वतंत्र सभ्यता और संस्कृति का विकास करने में समर्थ हुआ, उसका एक महत्त्वपूर्ण कारण यही था, कि भौगोलिक परिस्थितियों ने इसे पृथिवी के अन्य क्षेत्रों से पृथक् कर रखा था ।

(३) **अन्य देशों से संबंध**—यद्यपि भौगोलिक दृष्टि से भारत की पृथक् व स्वतंत्र सत्ता है, पर अन्य देशों के साथ उसका सम्पर्क सदा कायम रहा है । इस देश की उत्तर-पश्चिमी सीमा पर विद्यमान दुर्गम पर्वत-माला में दो ऐसे द्वार हैं, जो विदेशों के साथ इसका सम्बन्ध निरन्तर बनाये रहे हैं । ये मार्ग खैबर और बोलन के दर्रों के रूप में हैं । जहां अनेक विदेशी जातियों ने इन मार्गों से प्रवेश कर इस देश को अपनी अधीनता में लाने का प्रयत्न किया, वहां चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य-जैसे प्रतापी विजेता इन मार्गों से ही बाल्हीक देश तक की विजय करने में समर्थ हुए । इन मार्गों से जाकर बहुत-से धर्म-प्रचारकों ने भारतीय धर्म और संस्कृति का पश्चिम व उत्तर में दूर-दूर तक प्रसार किया । केवल इन दो दर्रों से ही नहीं, अपितु हिमालय पर्वतशृंखला के अन्य अनेक मार्गों द्वारा भी भारत का पड़ोस के देशों के साथ संबंध कायम रहा । भारत के सुविस्तीर्ण समुद्रतट ने भी विदेशों के साथ सम्पर्क को स्थापित करने में सहायता पहुंचाई । इस देश के व्यापारी जहां जलमार्ग से उत्तर-पूर्व में चीन तक और पश्चिम में ईरान और अरब तक व्यापार करने में व्यापृत रहे, वहां साथ ही इस देश के बहुत-से धर्म-प्रचारक व विद्वान् समुद्र के मार्ग से इन्डोचायना, इन्डोनीसिया आदि सुदूरवर्ती प्रदेशों में भारतीय

धर्म व संस्कृति के प्रचार के लिये प्रयत्नशील रहे। इस स्थिति का परिणाम यह हुआ, कि अन्य देशों के साथ भारत का सम्पर्क निरन्तर कायम रहा, और इस देश की विशिष्ट संस्कृति के विकास में इस सम्पर्क ने बहुत सहायता पहुंचाई। यह समझना भूल है, कि भारत ऐतिहासिक दृष्टि से संसार के घटना-प्रवाह से पृथक् रहा है। जहां एक तरफ भारत के विचारक और धर्म-प्रचारक एशिया के बहुत बड़े भाग को अपनी विचारधारा द्वारा प्रभावित करते रहे हैं, वहां साथ ही पड़ोस के विदेशी राज्यों की राजनीतिक व सांस्कृतिक उथल-पुथल भी इस देश के इतिहास पर अपना प्रभाव डालती रही है। यवन, शक, युइशी, हूण, अफगान, मुगल आदि कितने ही विदेशी लोग समय-समय पर भारत में प्रविष्ट हुए, और इन सबने इस देश के इतिहास को प्रभावित किया। यही कारण है, कि भारत की संस्कृति पर अन्य जातियों का प्रभाव भी कम नहीं है। वस्तुतः भारतीय संस्कृति अनेक संस्कृतियों का सम्मिश्रण है। वैदिक युग में आर्यों की जो संस्कृति थी, उस पर भी द्राविड़ लोगों का प्रभाव था। बाद में कितने ही नये लोगों ने इस सस्कृति को प्रभावित किया, यद्यपि आर्यों की संस्कृति की मूलधारा नष्ट नही होने पाई।

(४) **एकता और विभिन्नता**—भारत की भौगोलिक परिस्थितियों में बहुत विभिन्नता है। इस देश के कुछ भाग जहां सदा हिम से आच्छादित रहते हैं, तो अन्य भाग मरुस्थल के रूप में है। हरे-भरे मैदान, पहाड़ियों से परिपूर्ण पथार, रेगिस्तान आदि सब प्रकार के प्रदेश इस विशाल देश में विद्यमान हैं। भौगोलिक दृष्टि से इतनी विभिन्नताओं के होते हुए भी यह देश प्राकृतिक दृष्टि से अपनी पृथक् व स्वतंत्र सत्ता रखता है। इस विशिष्ट भौगोलिक परिस्थिति ने भारत के इतिहास और संस्कृति पर बहुत प्रभाव डाला है। यहां जो लोग निवास करते हैं, वे अपने चरित्र व्यवहार और परम्परा आदि की दृष्टि से एक-दूसरे से बहुत भिन्न हैं। पहाड़ों पर निवास करनेवाले गढ़वाली, गुरखे व मराठे राजपूताना के रेगिस्तान में रहनेवाले लोगों से भिन्न प्रकृति रखते हैं, और वे लोग उत्तरी भारत के हरे-भरे उपजाऊ मैदान के निवासियों से बहुत भिन्न हैं। इस देश की विशालता और उसमें विद्यमान विविध प्रकार की जलवायु के कारण इसके निवासियों में बहुत-सी विभिन्नताओं का विकास हो गया है। पर ये विभिन्नताएं इस देश की आधारभूत एकता को नष्ट नहीं कर सकीं; जिस प्रकार भौगोलिक परिस्थितियों की विभिन्नता के होते हुए भी यह देश एक है, वैसे ही अनेक प्रकार के लोगों के निवास होने पर भी उन सबमें एक

प्रकार की एकानुभूति विद्यमान है, जिसका कारण उनके इतिहास और संस्कृति की एकता है। विभिन्नता के रहते हुए भी एकता की सत्ता इस देश की एक अपनी विशेषता है, और इसमें यहां की भौगोलिक दशा बहुत सहायक है।

अनेक ऐतिहासिकों का यह विचार है, कि भारत की गरम जलवायु के कारण यहां के निवासियों में परिश्रम और अध्यवसाय का अभाव है। वे जो सुगमता से आक्रमणकारी लोगों की अधीनता में आ गये और उन्नति की दौड़ में यूरोप व अमेरिका से पीछे रह गये, उसके लिये यहां की भौगोलिक परिस्थितियां उत्तरदायी हैं। पर गम्भीरता से विचार करने पर यह बात सत्य प्रतीत नहीं होती। यह सत्य है, कि अनेक विदेशी आक्रान्ता भारत के कतिपय भागों को जीतने में समर्थ हुए। अनेक सदियों तक भारत विदेशी शासकों की अधीनता में भी रहा। पर यह बात यूरोप के अनेक देशों के संबंध में भी कही जा सकती है। मंगोल आक्रान्ता विएना तक यूरोप को जीतने में समर्थ हुए थे और पूर्वी यूरोप के अनेक देश तो सदियों तक तुर्कों के अधीन रहे थे। उन्नति की दौड़ में यदि भारत आधुनिक युग में पाश्चात्य देशों के मुकाबले में पीछे रह गया, तो प्राचीन काल और मध्यकाल मे भारत यूरोप से किसी भी प्रकार कम उन्नत नहीं था। उन्नति की दौड़ में तो रूस भी पश्चिमी यूरोप के मुकाबले में बहुत पीछे रह गया था। बीसवीं सदी के प्रारम्भ तक इङ्गलैण्ड, फ्रांस, जर्मनी आदि की अपेक्षा रूस बहुत पिछड़ा हुआ था। आधुनिक युग म जो भारत दुर्दशाग्रस्त रहा, उसकी उत्तरदायिता उसकी जलवायु व भौगोलिक परिस्थिति पर नहीं है। उसके कारण अन्य है। पर इसमें सन्देह नहीं, कि भारत की भौगोलिक दशा ने अनेक प्रकार से इस देश के इतिहास को प्रभावित किया है।

सहायक ग्रन्थ

Nandlal Dey :	Geographical Dictionary of Ancient and Medieval India.
Cunningham :	Ancient Geography of India.
Grierson :	Linguistic Survey of India.
Chanda R. C. :	Indo-Aryan Races.
Mukerjee R. K. :	Fundamental Unity of India.

Pargiter : Ancient Indian Historical Tradition.

Muzumdar, Ray Chaudhuri and Datta : An Advanced History of India.

Pannikar K. M. : A Survey of Indian History.

जयचन्द्र विद्यालंकार : भारत-भूमि और उसके निवासी

" : भारतीय इतिहास की रूपरेखा (भाग १)

दूसरा अध्याय

प्राचीन भारतीय इतिहास की सामग्री

(१) प्राचीन साहित्य

प्राचीन भारत में इतिहास-ज्ञान--वर्तमान समय में भारत का प्राचीन इतिहास क्रमबद्ध रूप से उपलब्ध नहीं होता। भारत का प्राचीन साहित्य बहुत विस्तृत और समृद्ध है, पर उसमें इतिहास-विषयक ग्रंथ अधिक संख्या में उपलब्ध नहीं हुए। इसी कारण मैक्समुइलर, फ्लीट और एल्फिन्स्टन आदि अनेक विद्वानों का यह मत था, कि प्राचीन भारतीय सदा पारलौकिक विषयों के चिन्तन में ही लगे रहते थे, उनका इहलोक के सुखों तथा उनसे संबंध रखने-वाली विद्याओं की तरफ कोई ध्यान नहीं था, और इसीलिये उन्होंने इतिहास को कोई महत्त्व नहीं दिया। पर प्राचीन साहित्य के अनुशीलन से हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं, कि भारतीय लोग इतिहास-शास्त्र से भली-भांति परिचित थे, और वे अपनी घटनाओं को उल्लिखित तथा क्रमबद्ध करते थे। इतिहास को वे इतना महत्त्व देते थे, कि उसे पांचवां वेद माना जाता था। कौटलीय अर्थशास्त्र (१/३) और छान्दोग्य-उपनिषद् (सप्तम प्रपाठक) में इतिहास को पांचवां वेद कहा गया है। पुराणों के अनुसार (वायु पु० १।२०१ और पद्म पु० ५।२-५२) वेदों के वास्तविक अभिप्राय को समझने के लिये इतिहास का अनुशीलन आवश्यक है। राजा लोग अपनी दैनिक दिनचर्या में इतिहास के श्रवण को भी पर्याप्त समय देते थे। प्राचीन विद्याओं में इतिहास की भी गिनती थी। छान्दोग्य-उपनिषद् में महर्षि सनत्कुमार और नारद का संवाद आता है, जिसमें सनत्कुमार के पूछने पर नारद ने यह बताया है, कि उसने किन-किन विद्याओं का अध्ययन किया है। इसमें वेद, पुराण, ज्योतिष, ब्रह्मविद्या आदि के साथ इतिहास का भी परिगणन किया गया है। इन सब युक्तियों के महत्त्व को अनेक यूरोपियन विद्वानों ने भी स्वीकृत किया है। इसीलिये विल्सन, टाड और स्टाइन आदि अनेक ऐतिहासिकों ने

प्राचीन भारतीयों में ऐतिहासिक बुद्धि की और प्राचीन भारतीय साहित्य में इतिहास की सत्ता को स्वीकार किया है।

प्राचीन भारतीय लोग इतिहास को लेखबद्ध करने के लिये यत्न करते थे या नहीं, इस विवाद में पड़ने की आवश्यकता नहीं। यह निश्चित है, कि प्राचीन भारत में महत्त्वपूर्ण राजनीतिक घटनाओं की स्मृति को स्थिर रखने के साधन अवश्य विद्यमान थे। दक्षिणी भारत में दो चालुक्य-वंशों ने शासन किया। इन दो वंशों में लगभग दो सदी का अन्तर था। पर पिछले चालुक्य-वंश के शिलालेखों में दो सौ वर्ष पहले हुए चालुक्य-वंश का वृत्तान्त दिया गया है। कल्हण ने राजतरंगिणी नामक काश्मीर का इतिहास लिखते हुए यह कहा है, कि इस ग्रन्थ के लिखने में ग्यारह प्राचीन इतिहास-ग्रंथों का उपयोग किया गया है। प्राचीन भारत के अनेक इतिहास-ग्रंथ अब धीरे-धीरे उपलब्ध होने लगे हैं, जिनमें मञ्जुश्री मूल कल्प का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। पहले गुप्तवंश के सम्राटों का परिचय केवल शिलालेखों और सिक्कों से ही मिलता था। पर इस ग्रंथ द्वारा इस वंश का लिखित इतिहास भी उपलब्ध हो गया है। पौराणिक अनुश्रुति में आर्यों का प्राचीनतम इतिहास सुरक्षित है।

प्राचीन भारतीयों द्वारा लिखित क्रमबद्ध इतिहास के ग्रंथ यद्यपि इस समय उपलब्ध नहीं होते, पर ऐसी बहुत-सी सामग्री प्राप्त होती है, जिसका उपयोग कर भारत का प्राचीन इतिहास तैयार किया जा सकता है। पुरातत्त्ववेत्ताओं के निरन्तर प्रयत्न से बहुत-से उत्कीर्ण लेख, सिक्के, मूर्तियां, ताम्रपत्र व अन्य प्राचीन अवशेष इस समय उपलब्ध हो गये हैं, और प्राचीन भारत के ये ठोस अवशेष इतिहास के लिये बहुत सहायक हैं। इनके अतिरिक्त, प्राचीन साहित्य भी इतिहास के लिये कम उपयोगी नहीं है। यद्यपि बहुत समय तक ऐतिहासिकों में इसे उपेक्षा की दृष्टि से देखने की प्रवृत्ति रही है, तथापि अब भारतीय इतिहास के निर्माण के लिये साहित्य की उपयोगिता को स्वीकार कर लिया गया है। पार्जीटर के प्रयत्न से पुराण भी अब 'इतिहास के स्रोत' बन गये हैं।

प्राचीन भारतीय इतिहास की सामग्री को हम मुख्यतया छः भागों में बांट सकते हैं—(१) प्राचीन वैदिक और संस्कृत-साहित्य, (२) बौद्ध (पाली और संस्कृत) साहित्य, (३) जैन (प्राकृत और संस्कृत) साहित्य, (४) ऐतिहासिक ग्रंथ, (५) विदेशी यात्रियों के यात्रा-विवरण, और (६) पुरातत्त्व-संबंधी अवशेष। हम इन पर क्रमशः विचार करेंगे।

वैदिक और संस्कृत-साहित्य——भारत के प्राचीनतम साहित्य को दो भागों में बांटा जा सकता है, धर्मपरक ग्रंथ और इतिहास-पुराण। धर्मपरक ग्रंथों में वैदिक संहिता, ब्राह्मणग्रंथ, आरण्यक या उपनिषद्, वेदांत, उपांग और सूत्रग्रंथ उल्लेखनीय हैं। इस साहित्य का विशद रूप से विवरण हम अगले अध्यायों में प्रसंगानुसार देंगे । इस साहित्य का प्रयोजन ऐतिहासिक घटनाओं का उल्लेख करना नहीं है । पर प्रसंगवश इसमें कहीं-कहीं ऐतिहासिक घटनाओं का निर्देश आ गया है, जो बहुत उपयोगी है। वैदिक संहिताओं में वे मन्त्र व सूक्त संगृहीत हैं, जिनका निर्माण (दर्शन) प्राचीन आर्य-ऋषियों ने किया था। इन मंत्रों का प्रयोजन किसी देवता-विशेष की स्तुति है, पर प्रसंगवश कहीं-कहीं इनमें अपने समय की राजनीतिक घटनाओं का उल्लेख हो गया है । उदाहरणार्थ, इन्द्र देवता की स्तुति करते हुए दस्यु या दास-जाति के दुर्गों व नगरों का वर्णन और उनके परास्त होने की बात कह दी गई है। राजा सुदास के विरुद्ध हुए विभिन्न राजाओं के संगठन की बात उस समय के लोगों के लिये बहुत महत्त्व की घटना थी। एक वैदिक सूक्त में इस घटना का भी निर्देश कर दिया गया है। भारत के अनेक प्राचीन राजा तत्त्वज्ञान और अध्यात्मचिन्तन के लिये विशेष प्रयत्नशील थे । उनकी राजसभा में अनेक ऋषि एकत्र होते थे, और गूढ़ आध्यात्मिक विषयों पर विचार करते थे। कतिपय उपनिषदों में इन राजाओं की राजसभाओं में हुए आध्यात्मिक विवादों का उल्लेख है। इस प्रकार के सन्दर्भों से हमें प्रासंगिक रूप से भारत के अनेक प्राचीन राजवंशों और राजाओं का भी परिचय मिल जाता है । इसके अतिरिक्त धर्मपरक साहित्य के अनुशीलन से उस युग के सामाजिक, धार्मिक व आर्थिक जीवन पर जो प्रकाश पड़ता है, उसके महत्त्व से कदापि इनकार नहीं किया जा सकता । प्राचीन भारतीयों के धार्मिक विश्वास क्या थे, वे किन विधि-विधानों का अनुष्ठान करते थे, उनका सामाजिक संगठन किस प्रकार का था, उनका भोजन क्या था, वे किस प्रकार अपना जीवन बिताते थे——इस प्रकार की बातों का सही-सही ज्ञान प्राप्त करने के लिये तो इस धर्मपरक साहित्य का बहुत अधिक उपयोग है ।

जिस प्रकार वैदिक संहिताओं में भारत के प्राचीन ऋषियों की सूक्तियां संगृहीत हैं, वैसे ही पुराणों में प्राचीन आर्य-राजवंशों व राजाओं के चरित, इतिवृत्त व आख्यान संगृहीत हैं। वेदों के समान ये पुराण-ग्रंथ भी अत्यन्त प्राचीन हैं। पुराण वर्तमान समय में जिस रूप में मिलते हैं, वे चाहे बहुत पुराने न हों, पर

उनमें संकलित अनश्रुति अवश्य ही बहुत प्राचीन है। पुराणों का लक्षण इस प्रकार किया जाता है—

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च ।
वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्च लक्षणम् ॥

सृष्टि की उत्पत्ति किस प्रकार हुई, सृष्टि का प्रलय किस प्रकार होता है, सृष्टि के विविध मन्वन्तर (विभाग) कौन-से हैं, इन विविध मन्वन्तरों में किन वंशों ने शासन किया और इन वंशों व राजाओं के चरित क्या थे—इन पांच वातों का वर्णन पुराणों में दिया जाता है । मत्स्य, वायु, विष्णु, ब्रह्माण्ड, भागवत आदि पुराण-ग्रंथों में प्राचीन आर्यों के वंशों व उनके चरितों का जो वर्णन संगृहीत है, इतिहास के लिए उसका वहुत अधिक उपयोग है। इसमें सन्देह नहीं, कि पुराणों की यह अनश्रुति प्राय: अस्पष्ट है । पर इसका ठीक तरह से अनुशीलन और विवेचन करके हम भारत के प्राचीन राज्यों, उन पर शासन करनेवाले राजवंशों और राजाओं के संबंध में अच्छी जानकारी प्राप्त कर सकते हैं। वेदों में जो राजाओं का कहीं-कही प्रासंगिक उल्लेख आ जाता है, और जो अनेक गाथाएं सूत्ररूप में मिल जाती हैं, उनको भलीभांति समझना तभी संभव है, जब कि पुराणों में उपलब्ध अनुश्रुति को दृष्टि में रखा जाय। इसीलिये महाभारत में कहा गया है—

इतिहासपुराणाभ्यां वेदार्थमुपबृंहयेत् ।
विभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यति ॥

इतिहास और पुराण द्वारा वेदों के अर्थ को स्पष्ट करना चाहिये, अल्पश्रुत (अनुश्रुति से अपरिचित) व्यक्ति से वेद डरता है, कि यह मुझपर प्रहार करेगा (मेरे अभिप्राय को ठीक नहीं समझेगा)। सुदास और उसके विरोधी राजाओं के युद्ध का जो उल्लेख सूत्ररूप से वेद में है, उसका ठीक अभिप्राय पौराणिक अनुश्रुति में विद्यमान सुदास व उसके विरोधी राजाओं की कथा से ही समझा जा सकता है। इसी प्रकार इन्द्र और मित्र, देव और असुर आदि के संग्राम की वात भी पुराणों द्वारा ही स्पष्ट होती है। इसमें सन्देह नहीं, कि पुराण भारतीय इतिहास के परिचय के लिये बहुत उपयोगी हैं। यह ठीक है, कि पुराणों में तिथिक्रम का सही परिचय नहीं मिलता। उनमें राजवंशों और राजाओं की जो तालिका दी गई है, उसमें किसी निश्चित संवत् का प्रयोग नहीं किया गया। पर प्राचीन भारतीय काल का विभाग चतुर्युग द्वारा करते थे। कृत, त्रेता, द्वापर और कलि—इन चार युगों में उन्होंने भारत के इतिहास को विभक्त किया था।

पौराणिक अनुश्रुति से यह बात स्पष्ट हो जाती है, कि कौन-सा राजा कलियुग के शुरू में हुआ, कौन-से राजा द्वापर, त्रेता व कृतयुग के शुरू में हुए और कब कलियुग का अन्त हुआ। प्राचीन आर्य-राजाओं के पौर्वापर्य व समय को निश्चित करने के लिये यह बात कम महत्त्व की नहीं है। कठिनाई तब आती है, जब कि हमें कलियुग के प्रारम्भ का समय निश्चित करने की आवश्यकता होती है। पुराणों के निर्माताओं व संकलयिताओं के सम्मुख शायद यह कठिनाई नहीं थी। पर साहित्यिक आधार पर अब यह भी निश्चित किया जा सका है, कि कलियुग का प्रारम्भ कब हुआ। पौराणिक अनुश्रुति का अनुशीलन करके अब प्राचीन भारतीय इतिहास की रूपरेखा निर्धारित की जा सकती है। तिथिक्रम के जटिल प्रश्न पर हम आगे चलकर एक पृथक् प्रकरण में विचार करेंगे।

पुराणों के अतिरिक्त, वाल्मीकीय रामायण और महाभारत संस्कृत-साहित्य के दो ऐसे ग्रंथ हैं, जो प्राचीन भारतीय इतिहास के अनुशीलन के लिये बहुत उपयोगी हैं। रामायण में ऐक्ष्वाकव (सूर्य) वंश के राजा दाशरथि राम का वृत्तान्त बड़े विस्तार से दिया गया है। महाभारत में पौरव-वंश की दो शाखाओं (कौरव और पाण्डव) के पारस्परिक संघर्ष का इतिवृत्त संकलित है। पर महाभारत में भारत के प्राचीन राजवंशों के साथ संबंध रखनेवाले अन्य भी बहुत-से आख्यान संगृहीत हैं, और इस विशाल ग्रंथ के अनशीलन से प्राचीन भारतीय इतिहास पर बहुत विशदरूप से प्रकाश पड़ता है। निःसंदेह, महाभारत की रचना एक विशाल विश्वकोश के रूप में हुई है, जो न केवल प्राचीन आख्यानों, गाथाओं और इतिवृत पर प्रकाश डालता है, अपितु साथ ही प्राचीन भारतीय राजनीति, अध्यात्मचिन्तन और ज्ञान का भी प्रतिपादन करता है। रामायण और महाभारत का वर्तमान रूप चाहे वैदिक संहिता के समान अत्यन्त प्राचीन न हो, पर यह निर्विवाद है, कि इनमें प्राचीन भारतीय अनुश्रुति बड़े सुन्दर रूप में सुरक्षित है। इन्हीं ग्रंथों को प्राचीन समय में 'इतिहास' कहा जाता था। वस्तुतः ये भारत के प्राचीन आर्यों के इतिहास हैं। वैदिक और पौराणिक अनुश्रुति के समान महाभारत का कर्त्ता (या संकलयिता) भी मुनि वेदव्यास को माना जाता है।

पुराण संख्या में अठारह हैं। पर अठारह पुराणों के अतिरिक्त अन्य भी अनेक पुराण पाये जाते हैं। प्राचीन समय में भारत में अनेक सूतवंश होते थे, जो राजवंशों व राजाओं के इतिवृत्त को अनुश्रति के रूप में सुरक्षित रखते थे। परम्परा के अनुसार यह कहा जाता है, कि अष्टादश पुराणों का पाठ सूत लोमह-

र्षण व उसके पुत्र सौति उग्रश्रवस ने किया था। धर्म व अध्यात्म के क्षेत्र में जो स्थान ऋषियों का था, वही स्थान 'वंशानुचरित' के क्षेत्र में सूतों का था। भारत के प्राचीन सूतवंशों ने ऐतिहासिक अनुश्रुति की रक्षा के लिये बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य किया, यह निर्विवाद है।

ऐतिहासिक दृष्टि से पुराणों में मत्स्य, वायु, ब्रह्माण्ड, विष्णु, भागवत, गरुड़ और भविष्य-पुराण अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। कलियुग के बाद के वंशों का वृत्तांत पुराणों में भविष्य-वाणी के रूप में दिया गया है। इसका कारण यह है कि अत्यन्त प्राचीन काल से चली आ रही अनुश्रुति का संग्रह महाभारत-युद्ध के पश्चात् वेदव्यास ने किया था। अतः व्यास के समय तक के इतिवृत्त का उल्लेख भूतकाल में किया गया है। बाद में पीछे के वृत्तान्त भी पुराणों में जुड़ते गये। महाभारत-युद्ध के बाद का इतिवृत्त भी पुराणों का अंग बनता गया। पर अनुश्रुति के अनुसार पुराणों का संगृहीता (व्यास) तो कृष्ण द्वैपायन मुनि वेदव्यास ही था, अतः पिछले इतिवृत्त का संकलयिता भी उसे ही होना चाहिये था। इसलिये उसी के द्वारा भविष्य की सब घटनाओं का वर्णन भी 'भविष्य-वाणी' के रूप में करवाया गया। पर फिर भी कहीं-कहीं उनमें भूतकाल का प्रयोग हो ही गया है। साधारणतया, पुराणों के निर्माण का काल चौथी सदी ई० पू० से आठवीं सदी ई० प० तक समझा जाता है। पर इसका अभिप्राय इतना ही है, कि इस काल में पुराण अपने वर्तमान रूप में आये।

बौद्ध-साहित्य—वैदिक व संस्कृत-साहित्य के समान बौद्ध-साहित्य भी बहुत विशाल है। बौद्ध-धर्म के धर्मग्रंथ त्रिपिटक कहाते हैं, जिनके नाम सुत्तपिटक, अभिधम्मपिटक और विनयपिटक हैं। ये ग्रंथ धर्मपरक हैं, पर इनसे भी बुद्ध के समय के भारत के संबंध में बहुत-सी उपयोगी बातें ज्ञात होती हैं। त्रिपिटकों पर जो भाष्य व टीकायें विविध आचार्यों ने कीं, उनमें अनेक प्राचीन आख्यानों व इतिवृत्त का भी समावेश है। विशेषतया, आचार्य बुद्धघोष द्वारा विरचित विनयपिटक की टीका इस दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। बौद्ध-साहित्य के संबंध में अधिक विस्तार से हम आगे चलकर लिखेंगे, पर यहां उन ग्रंथों का उल्लेख आवश्यक है, जो इतिहास के लिये विशेष उपयोगी हैं।

ऐतिहासिक दृष्टि से जातक-कथायें बहुत उपयोगी हैं। जातकों में भगवान् बुद्ध के पूर्वजन्मों की काल्पनिक कथायें लिखी गई हैं, जो अपने समय के समाज का सुन्दर चित्र हमारे सम्मुख उपस्थित करती हैं। इन कथाओं में उस युग के अनेक राजाओं का इतिवृत्त भी कहीं-कहीं प्रसंगवश दे दिया गया है। बौद्ध-

साहित्य में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण इतिहास-ग्रंथ दीपवंश और महावंश हैं। ये दोनों लंका के प्राचीन क्रमबद्ध इतिहास हैं, परन्तु क्योंकि प्राचीन समय में लंका का भारत के साथ घनिष्ठ संबंध रहा है, और बुद्ध तथा उनके वे शिष्य व अनु-शिष्य जिन्होंने बौद्ध-धर्म का लंका में प्रचार किया था, भारत के ही निवासी थे, अतः इन ग्रंथों में भारतीय इतिहास की बहुत-सी महत्त्वपूर्ण बातें उल्लिखित हो गई हैं। विशेषतया, मौर्य-सम्राट् अशोक तथा उसके वंश के संबंध में इन ग्रंथों से बहुत-सी महत्त्वपूर्ण बातें ज्ञात होती हैं। प्राचीन समय में लंका में अनु-रुद्धपुर नाम का एक प्रसिद्ध नगर था। इसमें महाविहार और उत्तर-विहार नामक दो प्रसिद्ध बौद्ध-मठ थे। ये दोनों विहार बौद्ध-अध्ययन के बड़े केन्द्र थे। पाली-भाषा में लिखी हुई अनेक बौद्ध-धर्मपुस्तकें पहले-पहल इन्ही में विकसित हुईं। यहां इनका निरन्तर अनुशीलन होता रहा। सिंहली-भाषा में इन पर टीकायें भी लिखी गईं। इस प्रकार धीरे-धीरे इन विहारों में बहुत-बड़ा बौद्ध-साहित्य विकसित हो गया। स्वाभाविक रूप से इस साहित्य में अनेक भाग इस प्रकार के भी थे, जिनका लंका के इतिहास से सबंध था। चौथी सदी ई० पू० में किसी अज्ञातनामा विद्वान् ने इन भागों को एकत्र करके लंका का एक क्रमबद्ध इतिहास तैयार किया। इसी का नाम दीपवंश (द्वीपवंश) पड़ा। यह लंका का सबसे प्राचीन इतिहास है। इसमें लंका के प्रारम्भिक इतिहास का वर्णन करते हुए अशोक तथा उसके वंश का वृत्तान्त भी दे दिया गया है। दीपवंश के प्रायः १।। सदी बाद महावंश की रचना हुई। इसके लेखक का नाम 'महा-नाम' है। यह दीपवंश की अपेक्षा बहुत अधिक बड़ा व परिष्कृत ग्रंथ है। इसे वाल्मीकीय रामायण व महाभारत के समान ऐतिहासिक काव्य (ईपिक) कह सकते हैं। साहित्य व काव्य की दृष्टि से जहां यह अत्यन्त उत्कृष्ट है, वहां ऐतिहासिक दृष्टि से भी इसका महत्त्व बहुत अधिक है। इसमें भी लंका के प्राचीन इतिहास को लिखते हुए अशोक तथा उसके वंशजों और भार-तीय बौद्ध-आचार्यों के विषय में परिचय दिया गया है।

महावंश और दीपवंश के अतिरिक्त बौद्ध-साहित्य में कुछ अन्य ग्रंथ हैं, जो ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत उपयोगी हैं। दिव्यावदान इनमें विशेषरूप से उल्लेख-नीय है। यह महान् ग्रंथ संस्कृत में लिखा गया है, और नेपाल से उपलब्ध हुआ है। इसका पता सबसे पूर्व हाड्ग्सन ने लगाया था। इसके लेखक का नाम अब तक ज्ञात नहीं हो सका। इसे तीसरी सदी ई० पू० में बना माना जाता है। दिव्यावदान बहुत ही उत्कृष्ट, सादी व सुललित संस्कृत-भाषा में लिखा गया है।

साहित्यिक शैली की दृष्टि से यह ग्रंथ अपूर्व है। इसमें बहुत-सी प्राचीन बौद्ध-कथायें संगृहीत हैं। जिनमें से अनेक का संबंध भारत के प्राचीन राजाओं के साथ है। विशेषतया, दिव्यावदान के अन्तर्गत अशोकावदान व कुणालावदान में मौर्य-युग की ऐतिहासिक अनुश्रुति बहुत शुद्ध रूप में सुरक्षित है। 'ललित विस्तार', 'मिलिन्दप्रश्ना:' और 'मंजुश्री-मूलकल्प' नामक अन्य ग्रंथ भी बौद्ध-साहित्य में इस प्रकार के हैं, जो भारतीय इतिहास पर अच्छा प्रकाश डालते हैं।

जैन-साहित्य—बौद्ध-साहित्य के समान जैन-साहित्य भी प्राचीन भारतीय इतिहास के अनुशीलन के लिये अत्यन्त उपयोगी सामग्री उपस्थित करता है। इसमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ परिशिष्ट-पर्व है, जिसे आचार्य हेमचन्द्र ने लिखा था। प्राचीन इतिहास के संबंध में जो भी आख्यान, गाथाएं व अन्य वृत्तान्त जैन-साहित्य में विद्यमान थे, प्राय: उन सबको हेमचन्द्र ने परिशिष्ट-पर्व में सगृहीत कर दिया था। जिन महावीर के समय के राजाओ व अन्य जैन-सम्राटों के संबंध में इस ग्रंथ से बहुत-सी उपयोगी बातें ज्ञात होती हैं। जैनों के अनुसार मोर्य चन्द्रगुप्त जैन-धर्म का अनुयायी था। अशोक के पौत्र सम्प्रति (चन्द्रगुप्त द्वितीय) के जैन होने के संबंध में तो सन्देह की गुंजाइश ही नहीं है। बौद्ध-इतिहास में जो स्थान अशोक का है, वही जैन-इतिहास में सम्राट् सम्प्रति का है। उसने जैन-धर्म का देश-देशान्तर में प्रचार करने के लिए भारी प्रयत्न किया था। अत: परिशिष्ट-पर्व व अन्य जैन-ग्रंथों में सम्प्रति के विषय में बड़े विस्तार के साथ लिखा गया है, और प्रसंगानुसार उसके पूर्वजों व वंशजों का वृत्तान्त भी दे दिया गया है।

जैन-साहित्य का दूसरा महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक ग्रंथ 'भद्रबाहु-चरित्र' है। इसमें सम्राट सम्प्रति के गुरु श्रुतकेवलि आचार्य भद्रबाहु का चरित्र वर्णित है। साथ ही, सम्प्रति व अन्य राजाओं के संबंध में भी अनेक ज्ञातव्य बातें इसमें उल्लिखित कर दी गई हैं।

परिशिष्ट-पर्व और भद्रबाहु-चरित्र के अतिरिक्त त्रिलोकप्रज्ञप्ति, कथा-कोष, लोक-विभाग, पुण्याश्रवकथाकोष, आराधनाकथाकोष, स्वविरावलि, आवश्यकसूत्र, भगवतीसूत्र, कालिकापुराण आदि कितने ही जैनग्रंथ इस प्रकार के हैं, जिनका अनुशीलन प्राचीन भारतीय इतिहास के लिए बहुत उपयोगी है। दुर्भाग्यवश, जैन-साहित्य के बहुत-से ग्रंथ अभी अप्रकाशित हैं, और भारतीय इतिहास के लिये उनका भलीभांति उपयोग नहीं किया जा सका है।

ऐतिहासिक व समसामयिक ग्रंथ—भारत का प्राचीन साहित्य केवल

धर्मपरक व अनुश्रुतिपरक ही नहीं हैं, उसमें कतिपय ऐसे ग्रंथ भी उपलब्ध हुए हैं, जिन्हें ऐतिहासिक कहा जा सकता है । इनमें कल्हणकृत राजतरंगिणी का स्थान सर्वोच्च है। इस ग्रंथ में प्राचीन समय से शुरू कर बारहवीं सदी तक का काश्मीर का इतिहास विशद रूप से लिखा गया है । काश्मीर के राजाओं के साथ भारत के जिन अन्य राजाओं के युद्ध हुए, व जो अन्य प्रकार से काश्मीर के सम्पर्क में आये, उनका वृत्तान्त भी प्रसंगवश राजतरंगिणी में दे दिया गया है। साहित्यिक शैली और अनेक किंवदंतियों के मिश्रण के कारण राजतरंगिणी को विशुद्ध रूप से ऐतिहासिक ग्रंथ नहीं माना जा सकता। पर इसमें सन्देह नहीं, कि संसार के प्राचीन ऐतिहासिक साहित्य में इस ग्रंथ का स्थान बहुत ऊंचा है । प्राचीन भारत के अन्य ऐतिहासिक ग्रंथ मंजुश्रीमूलकल्प का उल्लेख किया जा चुका है। गुप्तवंश का क्रमबद्ध वर्णन पहले-पहल इसी से जाना गया है।

ऐतिहासिक ग्रंथों के प्रसंग में ही हमें उन ग्रंथों का भी उल्लेख करना चाहिये, जो किसी विशिष्ट राजा के जीवन-चरित्र के रूप में लिखे गये थे। ये ग्रंथ प्रायः काव्य (पद्य व गद्य) के रूप में हैं, और इनमें अपने नायक का चरित्र प्रशस्तिके ढंग से लिखा गया है। पर ऐतिहासिक दृष्टि से ये बहुत ही उपयोगी हैं, और इनके अनुशीलन से प्राचीन भारतीय इतिहास के संबंध में बहुत-सी महत्त्वपूर्ण बातें ज्ञात होती हैं। महाकवि बाण का हर्षचरित कान्यकुब्ज के सम्राट् हर्षवर्धन का जीवनचरित है, जो न केवल इस सम्राट् का चरित्र-चित्रण करता है, अपितु सातवीं सदी के भारत के राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक व धार्मिक जीवन पर भी प्रकाश डालता है। वाक्पतिराजकृत प्रसिद्ध काव्य गउडबहो में राजा यशोवर्मन के दिग्विजय का विस्तृत रूप से वर्णन किया गया है। पद्मगुप्त परिमल द्वारा विरचित नवसाहसांक-चरित में परमार-वंश का इतिहास उल्लिखित है। महाकवि बिल्हण के विक्रमांकचरित से कल्याणी के चालुक्य-वंश के इतिवृत्त का परिज्ञान होता है। इसी प्रकार सन्ध्याकर नन्दी का रामचरित, हेमचन्द्र का कुमारपाल-चरित, आनन्द भट्ट का बल्लाल-चरित, जयरथ का पृथ्वीराजविजय, राजराज का अच्युतराजाभ्युदय, जयसिंह सूरि का हमीरमद-मर्दन, मेरुतुंग का प्रबन्ध-चिन्तामणि आदि कितने ही ग्रंथ ऐसे हैं, जो किसी वंशविशेष या राजा-विशेष के इतिहास पर अच्छा प्रकाश डालते हैं। यद्यपि ये सब ग्रंथ काव्यात्मक हैं, पर इनमें ऐतिहासिक सामग्री की कमी नहीं है, और ये सब इतिहास के अनुशीलन के लिये अत्यन्त उपयोगी हैं।

इसी प्रसंग में हमें संस्कृत के उन अनेक नाटकों व काव्यों का भी उल्लेख करना चाहिये, जिनके साहित्यिक महत्त्व से तो सभी पंडित परिचित हैं, पर जिनका ऐतिहासिक उपयोग भी है। महाकवि भास के प्रतिज्ञायोगन्धरायण, रत्नावली आदि नाटक बौद्ध-काल के ऐतिहासिक कथानकों को लेकर लिखे गये हैं। कालीदास का मालविकाग्निमित्र शुंगवंशी सम्राट् अग्निमित्र की कथा के आधार पर लिखा गया है। कालीदास के रघुवंश में रघु की दिग्विजय का जो वर्णन है, उस पर सम्राट् समुद्रगुप्त की दिग्विजय की छाप स्पष्ट रूप से विद्यमान है। विशाखदत्त का मुद्राराक्षस मौर्य-सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वारा नन्दों के पराजय के कथानक को लेकर लिखा गया है। ये सब ग्रंथ प्राचीन भारतीय इतिहास की महत्त्वपूर्ण सामग्री उपस्थित करते हैं।

ऐतिहासिक ग्रंथों के अतिरिक्त अनेक समसामयिक ग्रंथ ऐसे हैं, जो प्राचीन भारतीय इतिहास के लिये अत्यधिक उपयोगी हैं। इनमें आचार्य चाणक्य द्वारा विरचित कौटलीय अर्थशास्त्र का स्थान सबसे ऊंचा है। चाणक्य चन्द्रगुप्त मौर्य के पुरोहित व प्रधान मंत्री थे। चन्द्रगुप्त द्वारा आचार्य चाणक्य ने 'हिमालय से लेकर समुद्रपर्यन्त सारा प्रदेश एक चक्रवर्ती शासन का उपयुक्त क्षेत्र है' अपने इस स्वप्न को पूरा किया था। उनके अर्थशास्त्र में मौर्यकालीन भारत की शासनपद्धति, आर्थिक दशा, कानून व सामाजिक जीवन का बड़े विशद रूप से वर्णन है। इस ग्रंथ को चाणक्य ने नरेन्द्र चन्द्रगुप्त के लिये 'शासन की विधि' के रूप में लिखा था। शुक्रनीतिसार, कामन्दकनीतिसार, नीतिवाक्यामृत आदि अन्य राजनीतिपरक ग्रंथ भी अपने-अपने समय के राजनीतिक जीवन को समझने के लिये बहुत उपयोगी हैं। विष्णुशर्मा का पंचतंत्र अपने ढंग का एक निराला ग्रंथ है। यद्यपि उसकी कहानियों के पात्र सिंह, वृषभ, शृगाल आदि पशु हैं, पर वस्तुतः उसके कथानकों का आधार वास्तविक राजनीतिक घटनायें हैं। पंचतंत्र के 'काकोलूकीयम्' प्रकरण में अमात्य वत्सकार द्वारा वज्जिसंघ के पराजय की कथा को काक और उलूकों के संघर्ष के रूपक द्वारा प्रदर्शित किया गया है। यही बात पंचतंत्र के अन्य कथानकों के संबंध में भी कही जा सकती है। पंचतंत्र मौर्य-युग व उससे कुछ पहले समय के राजनीतिक व सामाजिक जीवन को समझने के लिये अत्यन्त उपयोगी है। "यदि कोई राजनीतिज्ञ राजा का पक्ष लेकर उसके हित का सम्पादन करे, तो जनता उससे द्वेष करने लगती है। यदि कोई जनता का हित चाहे, तो राजा लोग उसे छोड़ देते हैं। राजा और प्रजा में जो यह महान शाश्वत विरोध है.

उसके कारण ऐसा नीतिज्ञ बहुत दुर्लभ होता है, जो दोनों पक्षों को प्रिय हो।" पंचतंत्र का यह श्लोक उस युग के राजनीतिक जीवन पर कैसा सुन्दर प्रकाश डालता है!

प्राचीन भारत के अन्य ग्रंथ भी इतिहास के लिये उपयोग रखते हैं। पाणिनि की अष्टाध्यायी, पतंजलि का महाभाष्य, यास्काचार्य का निरुक्त, गार्गीसंहिता आदि बहुत-से ग्रंथों में स्थान-स्थान पर ऐसे निर्देश आ गये है, जिनका प्राचीन भारतीय इतिहास के लिये उपयोग किया जा सकता है।

(२) विदेशी यात्रियों के यात्राविवरण

प्राचीन भारतीय इतिहास की बहुत-सी महत्त्वपूर्ण सामग्री विदेशी यात्रियों के लेखों व यात्रा-विवरणों द्वारा भी उपलब्ध होती है। भारत का पहला पाश्चात्य-विवरण कारिआन्डा के स्काइलैक्स द्वारा लिखा गया है। स्काइलैक्स ने सम्राट् डेरिअस की आज्ञा से सिन्ध नदी तक समुद्र-मार्ग द्वारा यात्रा की थी। अपने साम्राज्य-विस्तार के प्रयत्न में डेरिअस भारत को भी अपनी अधीनता में लाना चाहता था, इसीलिये उसने स्काइलैक्स को भारत-यात्रा का आदेश किया था। स्काइलैक्स के अतिरिक्त, मिलेटस के हिकेरियस ने अपने 'भूगोल' में, और प्रसिद्ध ग्रीक-ऐतिहासिक हीरोडोटस ने अपने 'इतिहास' में भारत का भी जिक्र किया है। ४०० ई० पू० के लगभग क्टेसियस ने, जो कि ईरानी सम्राट् का राजवैद्य था, भारत पर एक पुस्तक लिखी थी। इस पुस्तक के जो अंश इस समय उपलब्ध हैं, वे बड़े मनोरंजक और उपयोगी हैं। विशेषतया, भारतीय चिकित्सापद्धति पर उनसे अच्छा प्रकाश पड़ता है। चौथी सदी ई० पू० में मैसिडोनिया के राजा सिकन्दर ने ग्रीस, ईरान आदि देशों को जीतने के बाद भारत पर भी आक्रमण किया। सिकन्दर के साथ अनेक विद्वान् और लेखक भी भारत आये थे। इनमें से बहुतों ने अपने स्वामी के विजयों का वृत्तान्त लिखा है, और साथ ही उन प्रदेशों के रीति-रिवाजों, परम्पराओं और संस्थाओं का भी वर्णन किया है, जिन्हें सिकन्दर ने जीतकर अपने अधीन किया था। इन लेखकों में अरिस्टोबुलस, निआर्कस, चारस, युमेनीस, ओनिसिक्रिटस और टालमी के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ये सब सिकन्दर के साथ भारत आये थे, और इन्होंने अपनी आंखों से जो कुछ देखा या स्वयं जो कुछ सुना, उसी को लेखबद्ध कर दिया। इनके अतिरिक्त एक अन्य भी ग्रीक लेखक है, जो यद्यपि सिक-

न्दर के साथ भारत नहीं आया था, तथापि इसने भारत के संबंध में बहुत कुछ लिखा है। इसका नाम है, क्लिटार्कस। यह सिकन्दर का समकालीन था, और इसने सिकन्दर की विजय-यात्रा का वर्णन विशदरूप से लिखा था।

ग्रीक यात्री—सिकन्दर और सैल्यूकस के आक्रमणों के बाद भारत का पाश्चात्य जगत् से और विशेषतया यूनानी राज्यों से घनिष्ठ संबंध हो गया। इन राज्यों में भारत के राजदूत रहने लगे, और भारत में सीरिया, मिस्र आदि पाश्चात्य राज्यों के राजदूत निवास करने लगे। सीरियन सम्राट् सैल्यूकस ने मौर्य-सम्राट् चन्द्रगुप्त के दरबार में मेगस्थनीज को राजदूत बनाकर भेजा। यह अनेक वर्षों तक मौर्य-साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र में रहा, और भारत में रहकर उसने यहां के भूगोल, इतिहास, रीति-रिवाज, शासन-प्रबन्ध, सैन्यसंचालन आदि का भलीभांति अनुशीलन किया। इन सबको वह लेखबद्ध करता गया। मेगस्थनीज का यह यात्रा-विवरण भारतीय इतिहास के लिए बहुत उपयोगी है। सैल्यूकस के उत्तराधिकारी एण्टियोकस सार्टर ने मौर्य-वंश के द्वितीय सम्राट् बिन्दुसार अमित्रघात के दरबार में डायमेचस को राजदूत बनाकर भेजा था। यह भी अनेक वर्षों तक पाटलिपुत्र में रहा था। डायमेचस ने भी भारत पर एक पुस्तक लिखी थी। बिन्दुसार के समय में ही मिस्र के राजा टाल्मी फिलेडेल्फस ने डायोनीसियस को अपना राजदूत बनाकर भारत भेजा था। इसी काल में पैट्रोक्लीज नाम के एक अन्य यूनानी लेखक ने भारत के संबंध में लिखा है। पैट्रोक्लीज सैल्यूकस और उसके बाद एण्टियोकस की तरफ से सिन्ध और कैस्पियन सागर के मध्यवर्ती प्रदेशों पर शासन करने के लिये नियत किया गया था। इसने अपने अधीन राज्यों का विशद रूप से वर्णन किया है। इस विवरण में भारत के एक भाग का वर्णन भी सम्मिलित है। पैट्रोक्लीज के ग्रंथ को प्राचीन यूनानी लोग बड़े आदर की दृष्टि से देखते थे। मौर्य-युग के अन्त में पोलिनिअस नामक एक अन्य ग्रन्थकार हुआ, जिसने अपने 'इतिहास' में सैल्यूकस के वंशज राजाओं के समय की भारतीय दशा पर अच्छा प्रकाश डाला था।

यदि इन सब ग्रीक लेखकों के विवरण अविकल रूप से वर्तमान समय में उपलब्ध होते, तो निःसंदेह प्राचीन भारतीय इतिहास को तैयार करने में बहुत सहायता मिलती। पर खेद की बात है, कि इनके मूल ग्रंथ इस समय उपलब्ध नहीं होते। पीछे के समय के ग्रीक लेखकों ने, जिनके समय में इनके ग्रंथ विद्यमान थे, इनका अनेक स्थलों पर उपयोग किया है। इन्हीं की कृपा से हमें

नियार्कस, मैगस्थनीज, डायमेचस आदि के भारतीय विवरणों का थोड़ा-बहुत परिचय मिलता है। बाद के जिन ग्रीक लेखकों ने पुराने विद्वानों द्वारा लिखित विवरणों के आधार पर या स्वयं प्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा अपने ग्रंथों में भारत के संबंध में लिखा है, और जिनकी पुस्तकें व लेख इस समय भी उपलब्ध हैं, उनमें से निम्नलिखित का उल्लेख आवश्यक है—

(१) 'पेरिप्लास आफ अरिथ्रीयन सी' का अज्ञात लेखक। पेरिप्लास एक अद्भुत ग्रंथ है। इससे हमें भारत के प्राचीन भूगोल, व्यापार आदि के संबंध में अच्छा परिचय मिलता है। संभवतः, इसके लेखक ने भारत के पश्चिमी तट की स्वयं यात्रा की थी। स्वयं भारत का अवलोकन कर तथा रोम, कोन्स्टेन्टिनोपल और अलेग्जन्ड्रिया आदि में विद्यमान भारतीयों के संसर्ग से इस अज्ञात लेखक ने भारत के संबंध में बहुत-सी उपयोगी बातें उल्लिखित की हैं।

(२) प्लिनी—यह प्रसिद्ध भूगोलवेत्ता था। इसके 'भूगोल' से भारत के मिस्र तथा अन्य पाश्चात्य देशों के साथ व्यापारिक संबंधों का अच्छा परिचय मिलता है।

(३) टाल्मी—इसने भारत के भूगोल के संबंध में बहुत-कुछ लिखा है। इसका बनाया हुआ भारत का नक्शा अब तक भी उपलब्ध होता है।

(४) प्रोफिरी और स्टोबियस—इन दो लेखकों ने ब्राह्मण-संन्यासियों और बौद्ध-भिक्षुओं के संबंध में अनेक ज्ञातव्य बातें लिखी हैं।

(५) स्ट्रेबो—यह अत्यन्त प्रसिद्ध ग्रंथकार हुआ है। प्राचीन लेखकों में इसका भूगोल-संबंधी ज्ञान और ऐतिहासिक आलोचना की शक्ति सचमुच आश्चर्यप्रद है। इसके ग्रंथों से प्राचीन भारत के संबंध में बहुत-सी ज्ञातव्य बातें उपलब्ध होती हैं।

इनके अतिरिक्त एरियन, कर्टियस, जस्टिन, प्लूटार्क आदि अनेक विद्वानों के ग्रंथ मिलते हैं, जिनमें मेगस्थनीज आदि पुराने ग्रीक-लेखकों के उद्धरण जहां-तहां दिये गये हैं। भारत के संबंध में प्राचीन ग्रीक और रोमन साहित्य में जो कुछ भी उपलब्ध होता है, उस सबको श्री मिक्रेन्डल ने संगृहीत करके उसका अंग्रेजी-अनुवाद छः ग्रंथों में प्रकाशित कर दिया है। इस कारण ग्रीक और लेटिन न जाननेवालों के लिये भी इनका अध्ययन सुगम हो गया है।

चीनी यात्रियों के यात्रा-वृत्तान्त—भारत और चीन का संबंध बहुत प्राचीन काल से चला आता है। महाभारत में चीन देश का वर्णन किया गया

है। कौटलीय अर्थशास्त्र में चीन से आनेवाली व्यापारिक वस्तुओं का उल्लेख है। इससे मालूम पड़ता है, कि मौर्य-काल में भारत और चीन के बीच में व्यापारिक संबंध विद्यमान था। स्वाभाविक रूप से, अनेक चीनी व्यापारी इस काल में भारत देश में आये होंगे। परन्तु इन व्यापारियों के संबंध में हमें कुछ भी परिज्ञान नहीं है। यदि इनके लिखे हुए कोई विवरण वर्तमान समय में उपलब्ध होते, तो निस्संदेह प्राचीन भारतीय इतिहास पर बहुत अधिक प्रकाश पड़ता।

बौद्ध-धर्म के विदेशों में विस्तार के बाद भारत और चीन का संबंध और भी अधिक दृढ़ हो गया। तिब्बती-साहित्य के अनुसार सम्राट्-अशोक के पुत्र कुस्तन द्वारा सबसे पहले चीनवासियों को बौद्ध-धर्म का परिचय प्राप्त हुआ था। चीनी-साहित्य के अनुसार भी २१७ ई० पू० में अनेक भारतीय प्रचारक चीन में बौद्ध-धर्म का प्रचार करने के लिए गये थ। परन्तु वस्तुतः चीन में बौद्ध-धर्म का स्थिर रूप से प्रचार ६१ ई० पू० में प्रारंभ हुआ। इस समय चीन में सम्राट् मिंगती राज्य कर रहा था। एक दिन स्वप्न में उसने भगवान् बुद्ध की मूर्ति का अवलोकन किया। इस नवीन देवता तथा उसके धर्म के संबंध में ज्ञान प्राप्त करने के लिए उसने अनेक राजदूत भारतवर्ष की ओर भेजे। इन्होंने भारत में आकर बौद्ध-धर्म की पुस्तकों का अवलोकन किया। लौटते हुए ये मध्यभारत में रहनेवाले काश्यप मतंग नामक आचार्य को अन्य अनेक बौद्ध-भिक्षुओं के साथ चीन ले गये। आचार्य काश्यप मतंग ने चीन में बौद्ध-धर्म का प्रचार करना प्रारम्भ किया। अनेक बौद्ध-पुस्तकों का चीनी भाषा में अनुवाद कर साधारण जनता को काश्यप मतंग ने नवीन धर्म में दीक्षित किया। अब से चीन में बौद्ध-धर्म का विस्तार शुरू हो गया। भारत से निरन्तर प्रचारक जाते रहे, और शीघ्र ही चीन में बौद्ध-विहारों, स्तूपों और संघारामों का निर्माण होने लगा। सैकड़ों की संख्या में भारतीय पुस्तकों का अनुवाद हुआ। पांचवीं सदी ई० प० में आचार्य कुमारजीव ने बहुत-सी बौद्ध-पुस्तकों का अनुवाद चीनी-भाषा में कराया। यह अनुवाद की प्रक्रिया बहुत समय तक जारी रही। इसका यह परिणाम हुआ, कि आज चीन में १,४०० से अधिक इस प्रकार की धर्मपुस्तकें उपलब्ध होती हैं, जो संस्कृत-ग्रंथों के अनुवाद हैं। इनके सिवाय सैकड़ों अनुवाद नष्ट भी हो चुके हैं। भारत में जो ग्रंथ नहीं मिलते, उनके अनुवाद चीन में मिलते हैं। इन ग्रंथों में प्राचीन भारतीय इतिहास के संबंध में भी बहुत-सी बातें उल्लिखित हैं। मौर्य-सम्राट् अशोक का बौद्ध-धर्म के साथ विशेष संबंध है। अतः बौद्ध-साहित्य में स्थान-स्थान पर

उसका वर्णन किया गया है । उसके साथ ही मौर्य-वंश के अन्य सम्राटों के संबंध में भी अनेक ज्ञातव्य बातें उपलब्ध होती हैं। एक चीनी ग्रंथ 'फा-युएन-चु-लिन' के अनुसार बुद्ध अपने शिष्य आनन्द को कहता है--"तुम्हें जानना चाहिए, कि 'पालिनपुत' (पाटलिपुत्र) नगर में चन्द्रगुप्त नाम का एक राजा होगा। उसके बिन्दुपाल नाम का एक पुत्र उत्पन्न होगा । इस बिन्दुपाल के सुसीम नाम का पुत्र होगा" इसके आगे सम्राट्-अशोक का सम्पूर्ण विवरण उल्लिखित है। हम जानते हैं, कि सुसीम अशोक का बड़ा भाई था और बौद्ध-साहित्य के अनुसार अशोक ने सुसीम को मारकर स्वयं राज्य प्राप्त किया था । मौर्य-इतिहास के संबंध में इसी तरह चीनी-साहित्य में अन्यत्र भी अनेक ज्ञातव्य बातें मिलती हैं। निस्संदेह, मौर्य-इतिहास को तैयार करने में इनका बहुत अधिक उपयोग किया जा सकता है। प्राचीन काल में भारत और चीन का संबंध इतना अधिक था, कि छठी सदी के प्रारम्भ में तीन हजार से अधिक भारतीय चीन में विद्यमान थे। ये भारतीय प्रचारक बहुत-सा भारतीय ज्ञान अपने साथ चीन लेते गये। जहां धर्म, विज्ञान आदि के संबंध में इन लोगों ने चीन में भारतीय पुस्तकों का उपदेश किया, वहां भारतीय इतिहास को भी भुला नहीं दिया गया। चीन ने अपने गुरु भारत के इतिहास को बड़े ध्यान से पढ़ा। यही कारण है, कि प्राचीन चीनी-साहित्य से हम भारतीय इतिहास के संबंध में बहुत-सी नवीन बातों का पता लगा सकते हैं।

भारत और चीन का धर्म-संबंध स्थापित होने पर केवल भारतीय लोग ही चीन में नहीं गये, अपितु अनेक चीनी यात्री भी भारत में आये। इन चीनी यात्रियों के भारत आने में तीन हेतु थे। पहला यह कि भारत में भगवान् बुद्ध का जन्म हुआ था। उन्होंने अपनी जीवन-लीला भारत में समाप्त की। जिन स्थानों से बुद्ध का विशेष संबंध था, पीछे से वे बौद्धों के पवित्र तीर्थ बन गये। इसका परिणाम यह हुआ कि चीन, जापान, कोरिया, खोतान आदि से बहुत-से यात्री अपने धार्मिक तीर्थों का दर्शन करने के लिए भारत आने लगे। भारत सम्पूर्ण बौद्ध-जगत् की पुण्य-भूमि व धर्म-क्षेत्र बन गया। साथ ही अनेक विदेशी राजाओं ने बुद्ध भगवान के 'शरीरों' (शरीर के अवशेषों) की प्राप्ति के लिए अपने दूत-मंडल भारत में भेजे। बुद्ध के 'शरीरों' की उपासना तथा उनपर स्तूप-निर्माण की विधि बौद्धों में प्रारम्भ हो गई थी। ये 'शरीर' केवल भारत से ही प्राप्त किये जा सकते थे। अतः इन्हें लेने के लिये अनेक विदेशी यात्री भारत आये। दूसरा कारण बौद्ध पुस्तकों की जिज्ञासा थी। असली बौद्ध-पुस्तकें भारत से ही प्राप्त

हो सकती थीं। इन्हें ढूंढ़ने तथा इनका अभिप्राय समझाने के लिये उपदेशकों और विद्वानों को निमंत्रित करने के लिये अनेक विदेशी और विशेषतः चीनी यात्री भारत में समय-समय पर पधारते रहे। तीसरा कारण यह कि मध्यकालीन भारत में नालन्दा और विक्रमशिला नाम के दो विश्वविद्यालय बौद्ध-अध्ययन के बड़े केन्द्र थे। बौद्ध-धर्म के संबंध में उच्च से उच्च शिक्षा इनमें मिल सकती थी। सम्पूर्ण बौद्ध-जगत् में इनकी कीर्ति फैली हुई थी। जिन्हें बौद्ध-धर्म तथा बौद्ध-साहित्य का उच्चतम अनुशीलन करना होता था, वे इन विश्वविद्यालयों में आते थे। इनमें अध्ययन करने के लिये बहुत-से विदेशी विद्यार्थी भारत आये। इन तीन कारणों से चीन से बहुत-से यात्री और विद्यार्थी भारत में आते रहे। इनमें से बहुतों ने अपने यात्रा-विवरण चीनी-भाषा में लिखे हैं। ये यात्रा-विवरण भारतीय इतिहास के लिए बहुत अधिक उपयोगी हैं। इनसे तत्कालीन भारत का जीता-जागता चित्र आंखों के सम्मुख आ जाता है।

सम्राट् अशोक ने भारत में बहुत-से विहारों, स्तूपों और संघारामों का निर्माण कराया था। ये इमारतें इस समय उपलब्ध नहीं होतीं। परन्तु इन चीनी यात्रियों के भारत में आने के समय इनमें से बहुत-सी विद्यमान थीं। ऐसी अनेक इमारतों का वर्णन चीनी यात्रियों ने किया है। बौद्ध-धर्म और अशोक का बहुत घनिष्ठ संबंध होने के कारण अशोक के इतिहास, उसके जीवन-वृत्तान्त तथा कार्यों के संबंध में बहुत-सी ज्ञातव्य बातें इन चीनी यात्रियों ने अपने विवरणों में लिखी हैं। भारत में भ्रमण करते हुए इन यात्रियों ने अशोक की कीर्ति के जीते-जागते चिह्नों को देखा था, और उसके इतिहास के विषय में बहुत-सी बातों को सुना था। इन्हें वे अपने विवरणों में लिखते गये। उसके पूर्व-इतिहास, वंश आदि के संबंध में भी जो कुछ उन्हें मालूम हुआ, उन्होंने लेखबद्ध कर लिया। इस दृष्टि से प्राचीन इतिहास को तैयार करने में चीनी यात्रियों के ये विवरण बहुत सहायक हैं।

हम यहां पर सब यात्रियों का वर्णन नहीं कर सकते। केवल उन्हीं का संक्षेप से उल्लेख करना चाहते हैं, जिनके विवरण प्राचीन भारतीय इतिहास के लिये विशेष उपयोगी हैं—

(१) फ़ाहियान—यह शान-सी नामक प्रदेश में यु-बू-यांग नामक स्थान पर उत्पन्न हुआ था। तीन वर्ष की आयु में इसे बौद्ध-धर्म की दीक्षा देकर श्रमण बनाया गया और उस समय की प्रथा के अनुसार यह 'शाक्यपुत्र फ़ाहियान' कहलाया। चीन में अप्राप्य बौद्ध-पुस्तकों को प्राप्त करने की इच्छा से यह ३९९ ई० प०

में भारत के लिए चल पड़ा। १४ वर्ष तक इसने भारत की यात्रा की। इसके यात्रा-विवरण तत्कालीन भारत में बौद्ध-धर्म की अवस्था को समझने के लिये बहुत उपयोगी हैं।

(२) सुंगयुन—यह तुन-ह्वांग नामक स्थान का रहनेवाला था। इसे ५१८ ई० पं० में उत्तरी वाई-वंश की साम्राज्ञी ने महायान-सम्प्रदाय की पुस्तकों की खोज के लिये भेजा था। यह भारत से लौटते समय १७० पुस्तकें अपने साथ लेता गया। सुंगयुन ५२१ ई० प० में अपने देश चीन को वापिस गया।

(३) ह्यून-त्सांग—चीनी यात्रियों में ह्यून-त्सांग सबसे प्रसिद्ध है। यह होनान नामक प्रदेश में चिनलिऊ नाम के स्थान पर ६०३ ई० प० में उत्पन्न हुआ था। १३ साल की आयु में यह भिक्षु बना। २६ साल की आयु में ह्यून-त्सांग ने भारत-यात्रा के लिये प्रस्थान किया। उसका उद्देश्य बौद्ध-धर्म का अनुशीलन तथा नवीन संस्कृत पुस्तकों को एकत्रित करना था। चीन की उत्तर-पश्चिमी सीमा को पारकर आक्सस और जैक्सर्टस नदियों की घाटियों का अवलोकन करता हुआ यात्री ह्यून-त्सांग हिन्दूकुश पर्वत को पार करके भारतवर्ष में प्रविष्ट हुआ। पश्चिमी भारत का अवलोकन करके वह सम्राट् हर्षवर्धन के राजदरबार में उपस्थित हुआ। इस प्रसिद्ध चीनी यात्री के यात्रा-वृत्तान्त को उल्लिखित करने की यहां कोई आवश्यकता नहीं। पामीर, काशगर और खोतान में से गुजरता हुआ वह फिर चीन वापिस चला गया। ह्यूनत्सांग ने ६२९ ई० प० में भारत के लिये प्रस्थान किया था और १६ साल यात्रा कर ६४५ में वह लौट गया। वापिस जाते हुए वह ६५७ पुस्तकें अपने साथ चीन ले गया।

प्राचीन भारतीय इतिहास का अध्ययन करने के लिये ह्यून-त्सांग का यात्रा-विवरण बड़े महत्त्व का ग्रंथ है। यह विवरण बड़े विस्तार के साथ लिखा गया है। बौद्ध-इतिहास के संबंध में बहुत-सी उपयोगी बातें इससे ज्ञात होती हैं। अशोक के विषय में ह्यून-त्सांग ने बहुत विस्तार के साथ लिखा है। उसकी कृतियों का वर्णन भी उसने बहुत विस्तृत रूप से किया है।

(४) इत्सिंग—यह चीनी यात्री सातवी सदी (लगभग ६७३–९५ ई० प०) के अन्त में भारत आया था। नालन्दा और विक्रमशिला में यह चिरकाल तक रहा, और इसके यात्रा-विवरण से इन विश्वविद्यालयों के संबंध में बहुत-सी महत्त्वपूर्ण बातें ज्ञात होती हैं।

इन चार यात्रियों के अतिरिक्त अन्य भी अनेक चीनी यात्री प्राचीन समय में भारत आये। इनमें से कतिपय के यात्रा-विवरण भी इस समय उपलब्ध होते हैं। प्राचीन भारतीय इतिहास के अनुशीलन के लिये ये सब बहुत उपयोगी हैं।

मध्यकाल के प्रारम्भ होने पर जब तुर्क लोगों ने भारत पर आक्रमण शुरू किये, तब उनके साथ भी अनेक विद्वान् भारत आये, और उन्होंने अपने यात्रा-विवरण में इस देश के संबंध में अनेक महत्त्वपूर्ण बातें उल्लिखित कीं। इनमें सबसे प्रसिद्ध अलबेरूनी है, जो तुर्क आक्रान्ता महमूद गजनवी के साथ भारत आया था। उसका यात्रा-विवरण बहुत विद्वत्तापूर्ण है, और उससे दसवीं-ग्यारहवीं सदियों के भारत की सामाजिक, आर्थिक व धार्मिक दशा पर बहुत प्रकाश पड़ता है। अलबेरूनी संस्कृत-भाषा और गणित-शास्त्र का प्रकाण्ड पंडित था, और उसने अनेक संस्कृत-ग्रंथों का अरबी में अनुवाद भी किया था। उसने अपने समय के भारत की जो विवेचना की है, उससे हिन्दू-युग में इस देश में जो विकृति उत्पन्न हो गई थी, उस पर बड़े सजीव और युक्तियुक्त रूप से प्रकाश पड़ता है। अलबेरूनी के अतिरिक्त अन्य भी अनेक अरब विद्वान् हुए हैं, जिनके ग्रंथों से भारतीय इतिहास के निर्माण में बहुत सहायता मिलती है।

(३) पुरातत्त्व-संबंधी अवशेष

पिछले दिनों में भारत में जो पुरातत्त्व संबंधी खोज हुई है, उससे प्राचीन काल के बहुत-से ऐसे अवशेष मिले हैं, जो ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी हैं। इन अवशेषों को चार भागों में बांटा जा सकता है--(१) खुदाई द्वारा प्राप्त सामग्री, (२) उत्कीर्ण लेख,. (३) सिक्के और (४) कृतियां व स्मारक। इन चारों पर हम संक्षिप्त रूप से विचार करेंगे।

खुदाई में प्राप्त हुए अवशेषों में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण वे हैं, जिनसे हमें भारत की प्राग्-ऐतिहासिक सभ्यता के संबंध में परिचय मिलता है। मानव-सभ्यता का विकास पुरातन प्रस्तर-युग से हुआ, और फिर धीरे-धीरे मनुष्य नूतन प्रस्तर-युग की सभ्यता को विकसित करने में समर्थ हुआ। इन दोनों प्रस्तर-युगों के बहुत-से औजार, बरतन आदि अवशेष भारत में खुदाई से मिले हैं। बाद में यहां जिस सिन्धु-सभ्यता का विकास हुआ, उसका परिचय भी सिन्धु नदी की घाटी में विद्यमान मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के भग्नावशेषों से मिला है। खुदाई के अभाव में इन सभ्यताओं के संबंध में हमें कुछ भी ज्ञान न हो सका। भारत के साहित्य आदि में इन सभ्यताओं का कहीं भी उल्लेख नहीं है। संभवतः,

ये सभ्यतायें आर्यों के इतिहास के रंगमंच पर प्रगट होने से पहले समय की हैं, और इसी कारण उनके साहित्य में इनका कहीं विवरण नहीं हैं । आर्यो के समय की भी बहुत-सी बातें हमें खुदाई द्वारा ज्ञात हुई हैं । हस्तिनापुर, अहिच्छत्र, कौशाम्बी, पाटलिपुत्र, अगरोहा आदि के भग्नावशेषों की खुदाई से इनके राजाओं व सामाजिक जीवन का भली-भांति परिचय प्राप्त हुआ है ।

भारत के प्राचीन उत्कीर्ण लेख अनेक प्रकार के हैं । जिन स्थलों पर ये उत्कीर्ण हुए हैं, उन्हें दृष्टि में रखकर इन्हे चार भागों मे बांटा जा सकता है—गुहा-लेख, शिलालेख, स्तम्भ-लेख और ताम्रपत्र । प्राचीन भारत के कतिपय लेख गुहाओं में उत्कीर्ण है, कुछ छोटे-बड़े शिलाखंडों पर, कुछ प्रस्तर व धातु के बने स्तम्भों पर और कुछ ताम्रपत्रों पर । लेखों के विषय की दृप्टि से यदि इन उत्कीर्ण लेखों को विभक्त किया जाय, तो उनमें से कुछ राज-शासन, कुछ प्रशस्ति, कुछ दानपत्र, कुछ समर्पण-पत्र और कुछ स्मारक-रूप हैं । इस प्रकार के सब लेखों की संख्या हजारों में है, और इनसे प्राचीन भारतीय इतिहास के पुनः-निर्माण में बहुत अधिक सहायता मिली है । गुप्तवंश के चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य, समुद्रगुप्त, स्कन्दगुप्त आदि परम प्रतापी सम्राटों का जो पहलेपहल परिचय ऐतिहासिकों को मिला, उसका आधार इन सम्राटों के उत्कीर्ण-लेख ही थे । 'देवानां प्रियः प्रियदर्शी' नाम के जिस राजा के बहुत-से शिलालेख भारत के सब प्रदेशों में प्राप्त हुए थे, उसका प्राचीन संस्कृत-साहित्य मे कहीं भी उल्लेख नहीं मिला था । यह प्रियदर्शी राजा बौद्ध-साहित्य का अशोक ही है, इसका परिज्ञान भी एक शिलालेख द्वारा ही हुआ है । चालुक्य, राष्ट्रकूट आदि कितने ही राजवंशों के प्रतापी राजाओं के संबंध में हमें जो कुछ ज्ञात है, उसका मुख्य आधार इन राजाओ के शिलालेख व ताम्रपत्र ही हैं । पुरातत्त्व की खोज द्वारा भारत में उत्कीर्ण लेख जिस भारी संख्या में मिले है, उसने प्राचीन भारतीय इतिहास को प्रकाश में लाने के लिये बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य किया है । अधिकतर उत्कीर्ण लेख ब्राह्मी और खरोष्ट्री लिपियों मे पाये गये है । इन प्राचीन लिपियों को पढ़ने में पुरातत्त्व-शास्त्र के विद्वानों ने जो सफलता प्राप्त की है, वह निःसंदेह प्रशंसनीय है । सिन्धु-सभ्यता के भग्नावशेषों मे जो अनेक लेख मिले है, वे अभी तक पढ़े नहीं जा सके है । जब वे भी पढ़ लिये जावेंगे, तो भारत का प्राचीनतम इतिहास और भी अधिक प्रकाश मे आ जायगा ।

प्राचीन भारत के जो सिक्के इस समय मिले हैं, वे अनेक प्रकार के है । उनकी बड़ी संख्या सोना, चांदी, तांबे व मिश्रित धातुओं से बनी

है। इनमें से बहुतों पर उन्हें प्रचलित करनेवाले राजाओं या गण-राज्यों के लेख भी उत्कीर्ण हैं। कतिपय सिक्कों पर तिथि भी दी गई है। इससे प्राचीन राजवंशों के तिथिक्रम को निश्चित करने में बहुत सहायता मिली है। भारत में यवन, शक, पार्थव आदि जिन विदेशी राजवंशों ने राज्य किया, उनके विषय में तो इन सिक्कों द्वारा ही परिचय मिला है। पुराणों में व अन्य साहित्य में इन यवन व म्लेच्छ राजाओं का कहीं-कहीं उल्लेख तो हुआ है, पर ये विदेशी राजा कौन थे, इसका कोई विवरण इन ग्रथों से नहीं मिलता। बौद्ध-धर्म में दीक्षित हुए यवन राजा मिलिन्द (मिनान्दर) और कुशाण राजा कनिष्क के अतिरिक्त अन्य किसी विदेशी राजा का स्पष्ट विवरण बौद्ध-साहित्य में भी उपलब्ध नहीं होता। पर इन यवन व म्लेच्छ राजाओं के सिक्के भारत में बड़ी संख्या में मिले है, और इनके आधार पर भारत में इनके शासन का व इनमें से बहुतों के भारतीय धर्म व संस्कृति को अपना लेने का परिचय सिक्कों द्वारा ही मिला है। गुप्तवंश के सम्राटों के सिक्के न केवल उनके शासन पर प्रकाश डालते है, अपितु साथ ही उनके वैयक्तिक गुणों व उनकी धर्मसंबंधी प्रवृत्तियों का भी परिचय देते हैं।

उत्कीर्ण लेखों और मुद्राओं के समान प्राचीन भारत की कृतियों व स्मारकों से भी प्राचीन इतिहास का बहुत परिज्ञान होता है। प्राचीन भारत की बहुत-सी मूर्तियां व इमारतें पुरातत्त्व-संबंधी खोज से उपलब्ध हुई हैं। इन इमारतों में राजप्रासाद, मठ, चैत्य, बिहार, स्तूप, मन्दिर, समाधि व सर्वसाधारण जनता के निवास के भवन अन्तर्गत है। तक्षशिला, नालन्दा, पाटलिपुत्र आदि प्राचीन नगरों की खुदाई से इस प्रकार के कितने ही अवशेष इस समय मिले है, जो न केवल प्राचीन काल की भवन-निर्माण-कला व स्थापत्यकला पर प्रकाश डालते है, अपितु उस युग के इतिहास का पुनःनिर्माण करने में भी बहुत सहायक होते हैं।

भारत की सभ्यता और संस्कृति का प्रसार भारत से बाहर भी हुआ था, और प्राचीन समय में एक बृहत्तर भारत की सत्ता थी, इस तथ्य का परिचय जावा, सुमात्रा, स्याम आदि देशों की पुरातत्त्व-संबंधी खोज द्वारा ही मुख्यतया हुआ है। इसमें सन्देह नहीं, कि पुरातत्त्व-संबंधी यह खोज बहुत महत्त्व की है। ज्यों-ज्यों भारत और वृहत्तर भारत के विशाल क्षेत्र में यह खोज आगे बढ़ती जायगी, भारत का प्राचीन इतिहास और अधिक स्पष्ट होता जायगा।

प्राचीन भारतीय इतिहास की इस विविध प्रकार की सामग्री का उपयोग कर हम इस ग्रंथ में भारत के प्राचीन इतिहास का क्रमबद्ध चित्र उपस्थित करने का प्रयत्न करेंगे।

सहायक ग्रन्थ

Pargiter : Ancient Indian Historical Tradition.
Rhys Davids : Buddhist India.
Cowell, E. B. : Divyavadan.
McCrindle J. W.: Ancient India, as described in Classical Literature.
" : Ancient India, as described by Megasthenes and Arrian.
" : Ancient India, as described by Ktesias and Knidian.
" : Ancient India, as described by Ptolemy.
" : The Invasion of India by Alexender the Great.
Rockhill : Life of the Buddha.
Edkins : Chinese Buddhism.
रामदेव : भारतवर्ष का इतिहास (भाग १)
सत्यकेतु विद्यालंकार : मौर्य साम्राज्य का इतिहास।

तीसरा अध्याय

मानव-सभ्यता का आदिकाल

(१) पुरातन प्रस्तर-युग

मनुष्य की उत्पत्ति--पृथिवी पर पहलेपहल मनुष्य किस प्रकार प्रकट हुआ, शुरू में वह अपना जीवन किस प्रकार व्यतीत करता था, और सभ्यता के क्षेत्र में उसने किस प्रकार उन्नति की, यह विषय बहुत विवादग्रस्त है। भारत के अनेक प्राचीन विचारकों का यह मत था, कि सृष्टि के प्रारम्भ में ईश्वर ने पृथिवी पर वृक्ष, वनस्पति, जीवजन्तु, मनुष्य--सबका एक साथ निर्माण किया। मनुष्य को ज्ञान भी सृष्टि के शुरू में ही ईश्वर की ओर से दे दिया गया, ताकि इस ज्ञान का उपयोग कर वह अपनी उन्नति कर सके। प्रारम्भ में मनुष्य सभ्य, ज्ञानी व उन्नत थे। सृष्टि का प्रारम्भ सतयुग से हुआ, जब मनुष्य अपनी उन्नति की चरम सीमा पर पहुंचा हुआ था। बाद में मनुष्य और उसके ज्ञान व सभ्यता में ह्रास होता गया। कुछ इसी प्रकार के विचार संसार की अन्य प्राचीन जातियों में भी विद्यमान थे। यही कारण है, कि चीन, पैलेस्टाइन आदि प्राचीन देशों के अनेक विचारकों ने भी आदि-मानव के संबंध में इन्हीं से मिलते-जलते विचारों का प्रतिपादन किया था।

पर आजकल के विद्वानों ने वैज्ञानिक खोज के आधार पर एक दूसरे मत का प्रतिपादन किया है। उनका कथन है, कि पृथिवी पर जीव-जन्तुओं का विकास धीरे-धीरे हुआ। अबसे कोई अस्सी करोड़ साल पहले पृथिवी पर जीवन के चिह्न प्रकट होने शुरू हुए थे। उथले जल में रहनेवाले छोटे-छोटे जन्तुओं से विविध प्राणियों के विकास में करोड़ों साल लग गये। वानर जाति के एक प्राणी से विकसित होते-होते मनुष्य की उत्पत्ति हुई। मनुष्य को पृथिवी पर प्रकट हुए अभी कुछ लाख साल से अधिक समय नहीं हुआ है।

पुरातन प्रस्तर-युग—शुरू में जब मनुष्य पृथिवी पर प्रकट हुआ, तो उसमें और अन्य चौपाओं में बहुत कम भेद था। अन्य पशुओं के समान वह भी जंगल में रहता था, और शिकार द्वारा अपना भोजन प्राप्त करता था। पशुओंके मांस के अतिरिक्त जंगल में पैदा होनेवाले कंद, मूल, फल व अन्न का भी वह भोजन के लिये प्रयोग करता था। अपनी आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिये मनुष्य आर्थिक उत्पत्ति नहीं करता था, अपितु प्रकृति द्वारा प्रदान की गई वस्तुओं पर ही निर्भर रहता था। पर अन्य पशुओं की अपेक्षा मनुष्य का दिमाग अधिक बड़ा था। उसके पास बुद्धि नामक एक ऐसी वस्तु थी, जो अन्य जन्तुओं के पास नहीं थी। इसका परिणाम यह हुआ, कि मनुष्य शिकार करते हुए केवल अपने हाथों और पैरों पर ही निर्भर नहीं करता था, अपितु अनेक प्रकार के औजार बनाकर उनका भी उपयोग करता था। शुरू में मनुष्य के ये औजार पत्थर, हड्डी व लकड़ी के बने होते थे। धातुओं का प्रयोग वह नहीं जानता था। इसीलिये मानव-सभ्यता के इस प्रारम्भिक काल के मनुष्य को हम प्रस्तर-युग का कहते हैं।

पुरातन प्रस्तर-युग का मनुष्य पत्थर, हड्डी व लकड़ी के मोटे व भद्दे औजार बनाता था। पत्थर का टुकड़ा काटकर उसे आगे से पतला व नुकीला करके उसे वह शिकार करने, मांस काटने व इसी तरह के अन्य कामों के लिये प्रयोग में लाता था। मकान बनाना वह नहीं जानता था। वह गुफाओं में रहता था, और वहीं आग में मांस आदि भोजन को भूनकर खाता था। पत्थर को रगड़कर आग उत्पन्न करने की कला मनुष्य ने बहुत शुरू में ही जान ली थी। बरतन बनाने का शिल्प भी उसे ज्ञात नहीं था। वह प्रायः नदियों व जलाशयों के समीप निवास करता था। वह किसी निश्चित स्थान पर बसकर नहीं रहता था। शिकार की खोज में वह एक स्थान से दूसरे स्थान पर दूर-दूर तक चला जाता था। कला का भी उसे कुछ-कुछ ज्ञान था। गुफा की दीवारों पर कोयले व रंगीन मट्टी से अनेक प्रकार के चित्र बनाकर अपने मनोभावों को प्रकट करने का भी वह प्रयत्न करता था।

नृतत्व-शास्त्र (एन्थ्रोपोलोजी) के अनुसार पुरातन प्रस्तर-युग का प्रारम्भ अबसे लगभग छः लाख साल पूर्व हुआ था। इस युग की सभ्यता के भग्नावशेष पृथिवी के अनेक प्रदेशों से उपलब्ध हुए हैं। यूरोप, एशिया, अफ्रीका आदि सर्वत्र पत्थर के बने हुए वे औजार मिले हैं, जिन्हें पुरातन

प्रस्तर-युग का मनुष्य प्रयोग में लाता था। पृथिवी के सुदूरवर्ती प्रदेशों में पाये गये इन औजारों में आश्चर्य-जनक समता पाई जाती है। दक्षिणी इङ्गलैण्ड या उत्तर-पश्चिमी फ्रांस में उपलब्ध हुए पत्थर के औजार ठीक वैसे ही हैं, जैसे कि भारत या अफ्रीका में प्राप्त हुए प्राचीन औजार हैं। इससे यह सूचित होता है, कि पुरातन प्रस्तर-युग की सभ्यता पृथिवी के सब प्रदेशों पर एक सदृश थी, और विविध भूभागों पर विचरण करनेवाले मनुष्य एक ही ढंग से अपनी सभ्यता की उन्नति कर रहे थे।

अब से लगभग छः लाख साल पूर्व शुरू होकर पुरातन प्रस्तर-युग अब से प्राय दस हजार साल पहले तक जारी रहा। इतने लम्बे समय में मनुष्य ने सभ्यता के क्षेत्र में बहुत कम उन्नति की। उसके पत्थर, हड्डी व लकड़ी के ओजारों में कुछ न कुछ उन्नति अवश्य होती गई, पर उसकी आजीविका का साधन शिकार व जंगल में उत्पन्न होनेवाले कन्द, मूल, फल व अन्न का भोजन ही बना रहा। कृषि व पशुपालन द्वारा अपनी आवश्यकताओं को स्वयं पूर्ण करने का प्रयत्न इस सुदीर्घ काल में मनुष्य ने नहीं किया। मुख्यतया शिकार पर आश्रित होने के कारण इस काल में मनुष्य ने कहीं स्थिर रूप से अपनी बस्तियां भी नहीं बसाई। वह टोली बनाकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर भ्रमण करता था, और जहां कहीं भी शिकार की सुविधा हो, वहां सामयिक रूप से डेरा डाल देता था। पुरातन प्रस्तर-युग के इस आदि-मानव के जो औजार इस समय प्राप्त हुए हैं, उन्हीं के आधार पर उसकी सभ्यता का स्वरूप प्रतिपादित किया जाता है।

छः लाख साल के सुदीर्घ काल में मनुष्य ने सभ्यता के क्षेत्र में कोई भी उन्नति न की हो, यह बात नहीं है। धीरे-धीरे उसके औजार अधिक विकसित व सुसंस्कृत होते गये। केवल गुफाओं में व वृक्षों के नीचे रहने के स्थान पर उसने छोटे-छोटे तम्बुओं का भी निर्माण शुरू किया, जो प्रायः पशुओं की खाल के बने होते थे। पशुओं के चर्म को उसने शरीर ढंकने के लिये भी प्रयुक्त करना प्रारम्भ किया। यही कारण है, कि पुरातन प्रस्तर-युग को भी अनेक विभागों में विभक्त किया जाता है, जिन्हें हम अतिपुरातन प्रस्तर-युग, मध्य पुरातन प्रस्तर-युग व पश्चात्कालीन पुरातन प्रस्तर-युग कह सकते हैं। पत्थर के औजारों की रचना व गुफाओं में उपलब्ध हुए अन्य अवशेषों के आधार पर नृतत्त्वशास्त्री यह निर्णय करते हैं, कि छः लाख साल के सुदीर्घ काल में मनुष्य किस प्रकार धीरे-धीरे उन्नति के मार्ग पर अग्रसर होता गया।

(२) भारत में प्रस्तर-युग के अवशेष

प्रारम्भिक खोज—उन्नीसवीं सदी के मध्य भाग में यूरोप के पुरातत्त्व-शास्त्रियों ने पहलेपहल पत्थर के उन औजारों को ढूंढ़ निकाला था, जिन्हें आदि-मानव प्रयोग में लाता था। १८४७ ई० में बूशे-द-पर्थ नामक विद्वान् ने सबसे पहले इस प्रकार के औजारों का पता किया था। ये औजार यूरोप में सॉम नदी के समीपवर्ती प्रदेश में उपलब्ध हुए थे। भारत में सबसे पहले ब्रूस फुट नामक विद्वान् ने प्रस्तर-युग के औजारों की खोज की थी। ये औजार मद्रास के समीप पल्लावरम् नामक स्थान में मिले थे। ब्रूस फुट ने जो खोज प्रारम्भ की थी, उसे अन्य विद्वानों ने जारी रखा। १८६५ ई० में ए० बी० वाइन ने गोदावरी नदी की घाटी में पैठन नामक स्थान पर पुरातन प्रस्तर-युग के अनेक औजार प्राप्त किये। अकेले ब्रूस फट ने ४३ साल के निरन्तर प्रयत्न द्वारा इस आदि युग के बहुत-से अवशेष एकत्र किये, जिन्हें बाद में मद्रास सरकार ने तीस हजार रुपये में क्रय कर लिया. और वे सब अब मद्रास के म्यूजियम में सुरक्षित हैं।

बीसवीं सदी में यूरोप के विद्वानों ने भारत के प्रस्तर-युग के अवशेषों को एकत्र करने के लिये विशेष रूप से उद्योग किया। १९३० ई० के बाद इङ्गलैण्ड से विद्वानों की अनेक मंडलियां इसी उद्देश्य से भारत में आई, और उनके प्रयत्नों का यह परिणाम हुआ, कि भारत के अनेक प्रदेशों से प्रस्तर-युग के अवशेष उपलब्ध हुए।

प्रस्तर-युग के अवशेषों के क्षेत्र—भारत के जिन प्रदेशों में पुरातन प्रस्तर-युग के अवशेष अब तक उपलब्ध हुए हैं, उनका उल्लेख करना उपयोगी है। ये प्रदेश निम्नलिखित हैं—

(१) रावलपिंडी जिले का पोठवार-प्रदेश।
(२) काश्मीर में पुंच्छ का क्षेत्र।
(३) उत्तर-पश्चिमी पंजाब में स्थित स्यूड़ा की नमक की पहाड़ियों का प्रदेश।
(४) नर्मदा नदी की घाटी।
(५) दक्खन का करनूल जिला।
(६) गुजरात में साबरमती नदी की घाटी।
(७) मद्रास प्रान्त का समुद्रतटवर्ती प्रदेश।

(८) बम्बई के समीप खण्डिवली का प्रदेश ।

(९) उड़ीसा की मयूरभंज रियासत में कुलियाना का क्षेत्र ।

(१०) माइसूर रियासत में बेल्लारी का प्रदेश ।

इन दस क्षेत्रों के अतिरिक्त भारत में अनेक अन्य स्थानों पर भी पुरातन प्रस्तरयुग के औजार व अन्य अवशेष मिले हैं । पर इन सब स्थानों का यहां उल्लेख कर सकना संभव नहीं है ।

पोठवार-प्रदेश के अवशेष—भारत में प्राप्त हुए पुरातन प्रस्तर-युग के अवशेषों में पोठवार-क्षेत्र के अवशेष सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण हैं । सिन्ध नदी की एक सहायक नदी है, जिसे सोआं कहते हैं । यह रावलपिण्डी जिले के पोठवार-प्रदेश से होकर बहती है, और अन्त में सिन्ध नदी में मिल जाती है । इस नदी की घाटी में आदि-मानव द्वारा प्रयुक्त होनेवाले औजार बड़ी संख्या में मिले हैं । इसी कारण इन अवशेषों से सूचित होनेवाली सभ्यता को सोआं-सभ्यता भी कहते हैं ।

पोठवार-प्रदेश में उपलब्ध होनेवाले पत्थर के औजारों को काल-क्रम की दृष्टि से निम्नलिखित विभागों में विभक्त किया गया है—

(१) प्राग्-सोआं-सभ्यता—पुरातन प्रस्तर-युग के ये सबसे प्राचीन अवशेष हैं । न केवल भारत में, अपितु एशिया भर में इनसे अधिक पुराने अवशेष कहीं भी उपलब्ध नहीं हुए । इस सभ्यता के औजार आकार में बड़े (सात इंच के लगभग) हैं, और पत्थर को एक ओर से नुकीला करके बनाये गये हैं । ये औजार उत्तर-पश्चिमी भारत के पोठवार, मलकपुर, अडियाला, चौंतरा, कल्लर आदि स्थानों पर उपलब्ध हुए हैं । ये सब स्थान सोआं नदी की घाटी में स्थित हैं । सोआं की घाटी में जो बहुत-से औजार मिले हैं, ये अति प्राचीन औजार उनसे भिन्न प्रकार के हैं । इसीलिये सोआं घाटी में विकसित हुई बाद की सभ्यता से पृथक् करने के लिये इन्हें 'प्राग्-सोआं-सभ्यता' का नाम दिया गया है । भारत में उपलब्ध ये प्राचीनतम अवशेष अब से चार लाख साल से भी अधिक पुराने माने जाते हैं ।

(२) सोआं-सभ्यता—पोठवार के क्षेत्र में सोआं नदी की घाटी से पुरातन प्रस्तर-युग के जो बहुत-से अवशेष मिले हैं, उन्हें ही 'सोआं-सभ्यता' कहते हैं । इस सभ्यता के काल को भी दो भागों में विभक्त किया जाता है—पुरातन सोआं सभ्यता और नूतन सोआं-सभ्यता ।

पुरातन सोआं-सभ्यता के अवशेषों का काल चार लाख से दो लाख साल तक

पुराना माना जाता है। इस काल के पत्थर के औजार दो प्रकार के हैं। कुछ औजार गोल पत्थर को एक तरफ से तरासकर बनाये गये हैं। इसी ढंग के औजार पूर्वी व दक्षिणी अफ्रीका में भी मिले हैं। दूसरी तरह के औजार एक बड़े पत्थर पर आघात कर उससे टुकड़े काटकर बनाये गये हैं। बड़े पत्थर पर इस अन्दाज से आघात किया गया है, कि उससे एक ऐसा टुकड़ा पृथक् हो जाय, जो औजार के रूप में प्रयुक्त हो सके। इस ढंग के औजारों के अतिरिक्त वे बड़े पत्थर भी मिले हैं, जिनसे अलग करके औजार का निर्माण किया गया था। आघात द्वारा पृथक् किये गये पत्थर के ये औजार यूरोप में प्राप्त हुए इसी ढंग के औजारों से बहुत मिलते-जुलते है। पुरातन सोआं-सभ्यता के ये विविध औजार पोठवार, अडियाला, खसला कलां, चौंतरा, घड़ियाला, कुशालगढ़ आदि अनेक स्थानों पर मिले हैं। ये सब स्थान सोआं और सिन्ध नदियों की घाटी में स्थित हैं।

नूतन सोआं-सभ्यता अब से दो लाख साल के लगभग पूर्व शुरू होती है। इस युग के मनुष्य पत्थर के जो औजार बनाते थे, वे अधिक परिष्कृत व उन्नत प्रकार के हैं। इस समय में मनुष्य अनेक प्रकार से औजारों का प्रयोग करने लगा था। वह उन्हें न केवल शिकार के काम में लाता था, अपितु लकड़ी काटने, जमीन खोदने व इसी ढंग के अन्य कामों में भी प्रयुक्त करता था। यही कारण है कि इस समय के पत्थर के बने हुए कुल्हाड़े भी उपलब्ध हुए हैं, जिन्हे लकड़ी के डंडे के साथ जोड़कर प्रायः उसी प्रकार से प्रयुक्त किया जाता था, जैसे कि आजकल लोहे के कुल्हाड़े प्रयुक्त होते हैं। नूतन सोआं-सभ्यता के औजार केवल सिन्ध और सोआं के समीपवर्ती प्रदेशों में ही उपलब्ध नहीं होते, अपितु पूर्व में शिमला तक में प्राप्त हुए है।

काश्मीर का प्रदेश—काश्मीर के पुंच्छ क्षेत्र में जो बहुत से औजार मिले हैं, वे सोआं सभ्यता के औजारों से मिलते-जुलते है। यही बात ख्यूड़ा की नमक की पहाड़ियों के प्रदेश से प्राप्त हुए औजारों के संबंध में भी कही जा सकती है। पर काश्मीर की घाटी में श्रीनगर और गान्धरबल के बीच में स्थित बुर्जहोम नामक स्थान पर पिछले दिनों में जो खुदाई हुई है, उसमें सबसे नीचे की सतह में कुछ ऐसे औजार मिले हैं, जो अपना पृथक् महत्त्व रखते है। इन औजारों में पत्थर के कुल्हाड़े भी हैं, जिनकी रचना सोआं सभ्यता के कुल्हाड़ों से भिन्न प्रकार की है। काश्मीर-क्षेत्र के ये कुल्हाड़े अधिक परिष्कृत हैं। इनके साथ में मिटटी के बरतनों के टुकडों का प्राप्त होना यह सूचित

करता है, कि ये पुरातन प्रस्तर-युग के न होकर नूतन प्रस्तर युग के हैं।

नर्मदा नदी की घाटी—मध्य-प्रदेश के होशंगाबाद और जबलपुर जिलों में नर्मदा नदी की घाटी में पुरातन प्रस्तर-युग के बहुत-से अवशेष मिले हैं, जो सोआं-सभ्यता के अवशेषों के समान ही प्राचीन व महत्त्वपूर्ण हैं। नर्मदा की घाटी के ये प्राचीन औजार भी पत्थर को तरासकर और बड़े पत्थर से आघात द्वारा टुकड़ा काटकर बनाये गये हैं।

कृष्णा नदी की घाटी—दक्खन में कृष्णा नदी की घाटी में पुरातन प्रस्तर-युग के जो अवशेष मिले हैं, वे भी बहुत महत्त्व के हैं। ये अवशेष करनूल जिले से प्राप्त हुए हैं। बरकिट नामक विद्वान् ने इन पर बड़े विशद रूप से विचार किया है। उसके अनुसार करनूल में प्राप्त ये अवशेष चार विभिन्न सभ्यताओं को सूचित करते हैं। ये चार सभ्यतायें निम्नलिखित हैं—

(१) प्राचीनतम सभ्यता—इस युग के कुल्हाड़े और काटने के काम आनेवाले अनेक प्रकार के औजार मिले हैं, जो दक्षिणी अफ्रीका में प्राप्त हुए प्राचीनतम औजारों से बहुत समता रखते हैं।

(२) आघात द्वारा पृथक् करके वनाये गये औजार—ये नल्लमलई पर्वतमाला के नन्दिकनम दर्रे के क्षेत्र में मिले हैं। प्राचीनतम औजारों से ये न केवल भिन्न हैं, पर जिस दशा में ये उपलब्ध हुए हैं, उससे सूचित होता है, कि ये बाद के काल के हैं।

(३) परिष्कृत औजारों का काल—दक्खन में कृष्णा नदी के समीपवर्ती प्रदेशों में ऐसे भी बहुत-से औजार मिले हैं, जो बहुत परिष्कृत हैं। वर्तमान युग की लोहे की छुरियों व चाकुओं के समान इस युग के कतिपय औजार ऐसे भी हैं, जो एक तरफ से धारवाले व दूसरी ओर से खुण्डे हैं। ये औजार उस युग की सभ्यता को सूचित करते हैं, जब पुरातन प्रस्तर-यग का मनष्य उन्नति के मार्ग पर तेजी से आगे बढ़ रहा था, और जब उसने अनेक प्रकार के कार्यों के लिये औजारों का प्रयोग शुरू कर दिया था।

(४) मध्य प्रस्तर-युग के औजार—ये औजार और भी अधिक उन्नत व परिष्कृत हैं। ये उस युग को सूचित करते हैं, जब मनुष्य पुरातन प्रस्तर-युग से आगे बढ़कर मध्य प्रस्तर-युग में पहुंच गया था। इस युग में मनुष्य शिकार के लिये तीर-कमान का भी प्रयोग करने लगा था, और पत्थर के नोकीले व तेज तीर बनाता था। इस काल के औजार न केवल कृष्णा नदी की घाटी में मिले

हैं। उपरली तहों में औजार अधिक परिष्कृत होते जाते हैं, और जमीन के बराबर की सतह के औजारों का रूप इतना उन्नत है कि उन्हें मध्य प्रस्तर-युग का समझा जा सकता है ।

खंडिव्ली के अतिरिक्त पश्चिमी समुद्रतट के समीप रत्नगिरि से मलाबार तक अन्य भी अनेक स्थानों पर पुरातन प्रस्तर-युग के अवशेष प्राप्त हुए हैं ।

माइसूर का प्रदेश--दक्षिणी भारत में माइसूर रियासत के क्षेत्र में चितलद्रुग नामक स्थान पर खुदाई करने से प्रस्तर-युग के जो अवशेष मिले हैं, वे बहुत प्राचीन नहीं हैं। कारण यह है, कि पत्थर के औजारों के साथ-साथ वहां मिट्टी के बरतनों के टुकड़े भी प्राप्त हुए है, जो यह सूचित करते हैं, कि इन औजारों को प्रयुक्त करनेवाले मनुष्य सभ्यता के मार्ग पर आगे बढ़ गये थे, और बरतनों का निर्माण करने लग थे। चितलद्रुग में प्राप्त बरतनों के ये अवशेष बहुत प्रारम्भिक दशा के है। उनका निर्माण हाथ से किया गया था, और चक्र आदि किसी उपकरण की सहायता उनके बनाने के लिये नहीं ली गई थी। ऐसा प्रतीत होता है, कि चितलद्रुग के ये अवशेष उस युग को सूचित करते है, जब कि मनुष्य पुरातन प्रस्तर-युग से आगे बढ़कर नूतन प्रस्तर-युग में प्रवेश कर रहा था।

भारत में अन्य भी अनेक क्षेत्रों में प्रस्तर-युग के अवशेष मिले हैं, पर इन सब स्थानों का उल्लेख कर सकना यहां संभव नहीं है । यह भी संभव है, कि भविष्य में अनेक अन्य स्थानों पर भी इस युग के अवशेष उपलब्ध हों ।

विविध औजार--पुरातन प्रस्तर-युग के जो औजार भारत में उपलब्ध हुए हैं, उन्हें उपयोग की दृष्टि से स्थूलरूप से दस भागों में विभक्त किया जा सकता है--परशु, वाण के फलक, भाले, खुदाई के लिये प्रयुक्त होने वाले उपकरण, फेंकने के काम आनेवाले बड़े गोल पत्थर, काटने के लिये प्रयुक्त होनेवाले उपकरण, छुरियां, हथौड़े और आग जलाने के लिये काम आनेवाले चकमक पत्थर। इन औजारों के बनाने के लिये प्रधानतया एक विशेष प्रकार का पत्थर प्रयोग में लाया जाता था, जिसे 'क्वर्टजाइट' कहते हैं। पर अन्य प्रकार के पत्थरों से बने हुए औजार भी मिले हैं । पुरातन प्रस्तर-युग का मनुष्य औजारों के लिये केवल पत्थर का ही उपयोग नहीं करता था, अपितु हड्डी व लकड़ी भी इस काम के लिये प्रयुक्त करता था। पर लाखों साल का समय व्यतीत हो जाने के कारण हड्डी व लकड़ी के बने औजार इस समय तक कायम नहीं रह सके हैं । अतिप्राचीन काल के पत्थर के भी जो

औजार उपलब्ध हुए हैं, उन पर भी 'काल' का विनाशकारी प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

(३) पुरातन प्रस्तर-युग का जीवन

आर्थिक जीवन--पुरातन प्रस्तर-युग में मनुष्य अपना जीवन किस प्रकार व्यतीत करता था, नृतत्त्व-शास्त्र के विद्वानों ने इस विषय पर विशद-रूप से विचार किया है। यूरोप, पूर्वी एशिया, चीन, भारत, अफ्रीका आदि में इस युग के जो अवशेष मिले हैं, उन सबको दृष्टि में रखकर इस प्राचीनतम मानव-सभ्यता का स्पष्टरूप से चित्रण किया जा सकता है। इसमें सन्देह नहीं, कि पुरातन प्रस्तर-युग का मनुष्य शिकार द्वारा अपनी भोजन-सामग्री प्राप्त करता था। पर जंगल में रहनेवाले जीव-जन्तुओं का शिकार करने के अतिरिक्त वह मछली पकड़ना भी जानता था, और इसके लिये उसने अनेक प्रकार के उपकरणों का निर्माण भी किया था। जंगल में जो विविध प्रकार के कन्द, मूल, फल आदि प्राकृतिक रूप से उत्पन्न होते हैं, उनमें से कौन-से भक्ष्य हैं, इसका उसे भलीभांति ज्ञान था। इन कन्द-मूलों को खोदकर निकालने के लिये उसने अनेक प्रकार के औजारों का निर्माण किया था। पृथिवी पर जो अनेक प्रकार के अन्न प्राकृतिक रूप से उगते हैं, उनका उपयोग भी उसे ज्ञात था। इन अन्नों को वह एकत्र करता था; इन्हें काटने के लिये एक प्रकार की दरांती का भी वह प्रयोग करता था। और एकत्र हुए अन्न को भूनकर व पीसकर प्रयुक्त करने का भी उसे ज्ञान था। पुरातन प्रस्तर-युग का काल कई लाख साल का माना जाता है। इस सुदीर्घकाल में मनुष्य धीरे-धीरे उन्नति की ओर कदम बढ़ाता गया। शुरू में वह केवल शिकारी था, और मोटे व भद्दे औजारों का प्रयोग करता था। पर समय के साथ-साथ जहां वह मछली पकड़ने, कन्द-मूल-फल एकत्र करने और प्राकृतिकरूप से उत्पन्न होनेवाले अनाज को इकट्ठा करने के लिये प्रवृत्त हुआ, वहां साथ ही उसके औजार भी निरन्तर उन्नति करते गये। वह पत्थर के परिष्कृत औजार बनाने लगा, और हड्डी, सींग, लकड़ी, हाथीदांत आदि का भी अपने उपकरणों के लिये प्रयोग करने लगा। शुरू में वह पत्थर फेंककर शिकार करता था, बाद में उसने धनुषबाण बनाये। धनुष के लिये उसने सींग और लकड़ी का प्रयोग किया, और बाण के आगे हड्डी, पत्थर व सींग के फलकों को बांधना शुरू किया।

अतिप्राचीन प्रस्तर-युग का मनुष्य वृक्षों की शाखाओं पर या गुफाओं में निवास करता था। पर धीरे-धीरे उसने अपने रहने के लिये तम्बुओं या आश्रय-स्थानों का निर्माण शुरू किया। इनके लिये वह पशुओं की खाल का प्रयोग करता था। खालों को जोड़ने के लिये चमड़े को काटकर तागा बनाने की कला भी उसे ज्ञात थी। सीने के लिये वह सुइयों का निर्माण करता था, जो प्रायः हड्डी, हाथीदांत व सींग की बनी होती थीं। चमड़े के तागे से खालों को सीकर वह अपने निवास के लिये तम्बू बना लेता था। उसके वस्त्र भी चमड़े के होते थे। प्रारम्भिक मनुष्य प्रायः नंगा ही रहता था। पर सरदी व धूप से बचने के लिये चमड़े के वस्त्र उपयुक्त हो सकते हैं, यह बात उसने पुरातन प्रस्तर-काल में ही जान ली थी।

इसमें सन्देह नहीं, कि पुरातन प्रस्तर-काल का मनुष्य आत्म-निर्भर था, वह अपनी आवश्यकता की सब वस्तुओं को स्वयं ही प्राप्त करता था। पर इस प्राचीन युग में भी वस्तुओं के विनिमय और व्यापार का सर्वथा अभाव हो, यह बात नहीं है। पश्चिम-मध्य फ्रांस में अनेक स्थानों पर इस युग के अन्य अवशेषों के साथ-साथ वे शख और कौड़ियां भी उपलब्ध हुई हैं, जो समुद्रतट पर ही प्राप्त हो सकती थीं। फ्रांस के मध्य में निवास करनेवाले पुरातन प्रस्तर-युग के इन आदि-मानवों ने इन्हें व्यापार द्वारा ही प्राप्त किया होगा। इसी प्रकार यूरोप के अन्य प्राचीन अवशेषों में भी ऐसी अनेक वस्तुएं प्राप्त हुई हैं, जो उन स्थानों पर नहीं होतीं, और जिन्हें कहीं बाहर से ही प्राप्त किया गया होगा। ऐसा प्रतीत होता है, कि इस प्राचीन काल के शिकारी मनुष्य भी कतिपय अद्भुत व आकर्षक वस्तुओं को विनिमय द्वारा प्राप्त करते थे, और इन विशिष्ट वस्तुओं का व्यापार इस प्राचीन काल में भी विद्यमान था।

संगठन—पुरातन प्रस्तर-यग के मनुष्य टोलियां बनाकर रहते थे। यह असंभव नहीं, कि इन टोलियों में एक प्रकार का संगठन भी विद्यमान हो, टोली के सब सदस्य अपने किसी मुखिया का शासन मानते हों, और यह मुखिया टोली का सबसे वृद्ध, अनुभवी या शक्तिशाली व्यक्ति हो। इस मुखिया के नेतृत्व में पुरातन प्रस्तर-युग की टोलियां आहार की खोज में एक स्थान से दूसरे स्थान पर भ्रमण करती रहती थीं। वे कहीं स्थिर रूप से बसकर नहीं रहती थीं। जहां कहीं भी शिकार, कन्दमूल-फल आदि की सुविधा हो, वे वहीं चली जाती थीं। उस युग में जनसंख्या बहुत कम होती थी। शिकार

पर आश्रित रहनेवाला प्राणी तभी अपना निर्वाह कर सकता है, जब कि वह संख्या में अधिक न हो। जनसंख्या की इतनी कमी का ही यह परिणाम है, कि पुरातन प्रस्तर-युग के मनुष्यों के शरीरों के अवशेष बहुत ही कम संख्या में उपलब्ध हुए हैं।

कला—इस युग के मनुष्य कला से सर्वथा अपरिचित हों, यह बात नहीं है। दुर्भाग्यवश, भारत में अभी तक कोई ऐसी गुफाएं उपलब्ध नही हुई हैं, जहां पुरातन प्रस्तर-युग के मनुष्य द्वारा चित्रित चित्र विद्यमान हों। मध्य भारत में सिगनपुर में कतिपय ऐसी गुफाएं मिली थीं, जिनकी दीवारों पर अनेक प्रकार के चित्र चित्रित है। पहले विद्वानों का यह मत था, कि ये गुफाएं पुरातन प्रस्तर-युग की हैं। पर कुछ वर्ष हुए, जब गोर्डन ने यह प्रतिपादित किया, कि ये गुफाएं बाद के समय की है, और इन्हें पुरातन प्रस्तरयुग का नहीं माना जा सकता। पर यूरोप में अनेक ऐसी गुफाएं मिली हैं, जो निश्चय ही पुरातन प्रस्तर-युग की हैं, और जिनमें आदि-मानव-सभ्यता के मनुष्य ने अपने मनोभावों को विविध प्रकार के चित्रों द्वारा अभिव्यक्त किया है। ये चित्र प्रायः कोयले व रंगीन मिट्टी द्वारा बनाये गये हैं, और इनमें उन पशुओं को चित्रित किया गया है, जिनका शिकार कर आदि-मानव अपनी भूख को शान्त करता था।

धर्म—पुरातन प्रस्तर-युग का मनुष्य परलोक और धर्म के संबंध में भी कुछ विचार रखता था। उसका विचार था, कि मृत्यु के साथ मनुष्य का अन्त नहीं हो जाता। मृत्यु के बाद भी उसे उन वस्तुओं की आवश्यकता रहती है, जिनका वह जीवन-काल में उपयोग करता था। इसीलिये जब वे मृत शरीर को गाड़ते थे, तो औजार, मांस, व अन्य भोजन आदि को भी साथ में रख देते थे; ताकि मृत व्यक्ति आवश्यकतानुसार इनका उपयोग कर सके। यूरोप में अनेक ऐसी गुफाएं मिली हैं, जिनमें मनुष्य के शरीर के अस्थि-पंजर के साथ-साथ अनेक औजार, आभूषण व आहार के लिये प्रयुक्त होने-वाले मांस की हड्डियां भी प्राप्त हुई हैं। इसमें सन्देह नहीं, कि इस युग के मनुष्य मृत शरीर को गाड़ा करते थे, और परलोक-संबंधी जीवन के विषय में भी उनके अपने विचार थे।

ऐसा प्रतीत होता है, कि पुरातन प्रस्तर-युग का मनुष्य जादू-टोने में भी विश्वास रखता था। उसे सदा इस बात की चिन्ता रहती थी, कि उसकी आहार-सामग्री में न्यूनता न आने पाये, शिकार के पशुओं में निरन्तर वृद्धि होती रहे, और जंगल में उत्पन्न होनेवाले कन्द-मूल-फल आदि में भी

कमी न हो। वह समझता था, कि जादू-टोने और मन्त्र के उपयोग से वह इस सब आहार-सामग्री को प्रचुर मात्रा में प्राप्त करता रह सकता है। फ्रांस में अनेक प्राचीन अवशेषों के साथ पत्थर की स्त्री-मूर्तियां उपलब्ध हुई हैं, जो आकार में भद्दे प्रकार की हैं। इन मूर्तियों में स्त्री की प्रजननेन्द्रिय को बहुत महत्त्व दिया गया है। ऐसा अनुमान किया जाता है, कि शिकार के पशु व कन्द-मूल-फल आदि की वृद्धि के लिये जो अनेक प्रकार के अनुष्ठान पुरातन प्रस्तर-युग के मनुष्य किया करते थे, उनके लिये इन स्त्री-मूर्तियों का उपयोग किया जाता था। इसी प्रकार के अन्य भी अनेक अनुष्ठानों के चिह्न फ्रांस के प्राचीन अवशेषों में मिले हैं। प्रस्तर-युग की अनेक गुफाओं में पत्थर के बने हुए दीपक पाये गये हैं, जिनमें तेल की जगह चरबी प्रयोग में लाई जाती थी। ये दीपक गुफा की दीवार के साथ बहुत ऊंचाई पर रखे गये हैं, और उनके ऊपर हिरन, बारहसिंगा आदि उन पशुओं के चित्र अंकित किये गये हैं, जिनका शिकार कर प्राचीन मनुष्य अपना पेट भरता था। यह अनुमान किया गया है, कि हिरन आदि पशुओं की वृद्धि के उद्देश्य से उनके चित्रों के नीचे दीपक जलाया जाता था, और इसके साथ अनेकविध अनुष्ठान करके यह प्रयत्न किया जाता था, कि शिकार के पशुओं में निरन्तर वृद्धि होती रहे।

शिकार का मौसम शुरू होने पर जब पुरातन प्रस्तर-युग के मनुष्य टोली बनाकर आखेट के लिये निकलते थे, तो जो प्राणी पहले-पहल उनके हाथ लगता था, उसे वे खाते नहीं थे, उसे वे एक भारी पत्थर के नीचे दबा देते थे। इस प्रकार दबाये गये बहुत-से पशुओं के अस्थिपंजर व उनके खंड इस समय यूरोप में उपलब्ध हुए हैं। ऐसा प्रतीत होता है, कि ये पशु बलि के रूप में अर्पित किये जाते थे, और इनका उपयोग किन्हीं अदृश्य आत्माओं व देवताओं को तृप्त करने के लिये किया जाता था। मनुष्य की अपेक्षा ऊंची कोई सत्ता संसार में विद्यमान है, यह विचार इस अति-प्राचीन युग में भी विकसित हो गया था, और मनुष्य प्रकृति की अदृश्य व अज्ञात शक्तियों में दैवी भावना की कल्पना कर उन्हें तृप्त करने के लिये अनेकविध अनुष्ठान करने लगा था। जिसे हम आजकल 'धर्म' कहते हैं, उसका प्राचीनतम रूप यही था।

संगीत—पुरातन प्रस्तर-युग की चित्रकला का उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। इस युग का मनुष्य न केवल गुफाओं की दीवारों पर कोयले व रंगीन मिट्टी से चित्र बनाता था, अपितु हड्डी व हाथीदांत के औजारों पर

अनेक प्रकार की आकृतियों को उत्कीर्ण भी करता था। यूरोप के प्राचीन अवशेषों में कुछ ऐसे औजार भी मिले हैं, जिनपर विविध पशुओं की आकृतियां अंकित हैं। इस युग का मनुष्य संगीत से भी अपरिचित नहीं था। उसके बनाये हुए कतिपय वाद्य-यन्त्र (सीटी आदि) भी मिले हैं, जो प्रायः हड्डी के बने हुए हैं। इन वाद्य-यंत्रों की सत्ता इस बात को सूचित करती है, कि प्राचीन मानव संगीत का प्रेमी था, और विविध प्रकार के उपकरणों द्वारा वाद्य-कला का प्रदर्शन करता था। पुरातन प्रस्तर-युग का मनुष्य आभूषणों से भी प्रेम रखता था। कौड़ी, शंख, पशुओ के दांत आदि को वह आभूषणों के रूप में प्रयुक्त करता था। इन पदार्थों से वह अपने आभूषण तैयार करता था। उसके इस काल के अनेक आभूषण कला की दृष्टि से बहुत सुन्दर हैं।

पुरातन प्रस्तर-युग के जीवन का जो चित्र ऊपर दिया गया है, उसका आधार वे अवशेष हैं, जो यूरोप, पश्चिमी एशिया आदि में बड़ी मात्रा में उपलब्ध हुए हैं। भारत में पत्थर के बने औजारों के अतिरिक्त कोई ऐसी गुफाएं इस युग की नहीं मिली हैं, जिनमें इस युग के मनुष्यों के अस्थि-पंजर आदि विद्यमान हों। फिर भी अन्य देशों के पुरातन प्रस्तर-युग के जीवन को दृष्टि में रखकर यह कल्पना सहज में की जा सकती है, कि भारत के आदि-मानव भी कुछ इसी ढंग का जीवन व्यतीत करते होंगे, जिसका स्वरूप इस प्रकरण में वर्णित किया गया है।

(४) मध्य और नूतन प्रस्तर-युग

पुरातन प्रस्तर-युग में भी मनुष्य सभ्यता के क्षेत्र में निरन्तर आगे बढ़ रहा था। धीरे-धीरे वह समय आ गया, जबकि वह न केवल पशुओं का शिकार करता था, अपितु उन्हें पालता भी था। उसे यह अधिक उपयोगी प्रतीत होता था, कि वह घोड़ा, हिरन, भेड़ आदि पशुओं को अपने पास पाल-कर रखे, ताकि आवश्यकता पड़ने पर जहां उसे उनका मांस भोजन के लिये उपलब्ध हो, वहां साथ ही वह उनके दूध, ऊन आदि का भी वह उपयोग कर सके। पहले वह जंगल में प्राकृतिक रूप से उत्पन्न होनेवाले कन्द मूल-फल, अन्न आदि को एकत्र मात्र करता था। अब उसने उन्हें उत्पन्न करना भी शुरू किया। शिकारी के स्थान पर अब वह पशुपालक और कृषक बनने लगा। उसके औजार भी निर-न्तर अधिक-अधिक उन्नत व परिष्कृत होते गये। पत्थर के कुल्हाड़े से वह पहले

भी लकड़ी काटता था । पर अब उसने इस लकड़ी का प्रयोग मकान बनाने के लिये भी करना शुरू किया । खेती के लिये यह आवश्यक था, कि मनुष्य किसी एक स्थान पर स्थिर होकर रहे । स्थिरता के साथ बसने के लिये यह उपयोगी था, कि मनुष्य अधिक पक्के किसम के मकान बनाये । इसीलिये उसने बाकायदा घर बनाने शुरू किये, और जगह-जगह पर उसकी वस्तियों (डेरों व ग्रामों) का विकास होने लगा । पहले मनुष्य केवल पशुओं की खाल ओढ़कर सरदी व गरमी से अपना बचाव करता था । अब उसने ऊन व रेशम के कपड़े भी बनाने शुरू किये । यद्यपि अभी तक भी मनष्य के औजार केवल पत्थर, हड्डी व लकड़ी के होते थे, धातु का प्रयोग अभी वह नहीं जानता था, पर इसमें सन्देह नहीं, कि इन औजारों की सहायता से ही वह सभ्यता के क्षेत्र में तेजी के साथ आगे बढ़ रहा था । इस नये युग के मनुष्य को हम 'नूतन प्रस्तर-युग' का कह सकते हैं । यह युग अब से दस या पन्द्रह हजार साल पहले शुरू हो चुका था । पर पुरातन और नूतन प्रस्तर-युगों के बीच में एक ऐसा भी काल था, जब कि मनुष्य पूरी तरह से कृषक व पशुपालक न होकर एक ऐसा जीवन व्यतीत करता था, जिसमें कि वह शिकार के साथ-साथ कुछ-कुछ खेती भी प्रारम्भ कर चुका था । इस युग को मध्य प्रस्तर-युग कहा जाता है । यूरोप और पश्चिमी एशिया में इस युग के अनेक अवशेष उपलब्ध हुए हैं । खेद की बात है, कि भारत मे पुरातत्त्व-संबंधी खोज अभी इस दशा तक नहीं पहुंची है, कि मध्य व नूतन प्रस्तर-युगों के पर्याप्त अवशेष ढूंढे जा सके हों ।

भारत में मध्य प्रस्तर-युग के अवशेष—मध्य प्रस्तर-युग के औजारों की यह विशेषता है, कि वे पुरातन युग के औजारों की अपेक्षा बहुत अधिक परिष्कृत व उन्नत होते हैं । इस युग में मनुष्य उन्नति करता हुआ इस दशा तक पहुंच जाता है, कि वह अपने औजारों को सुडौल बना सके व उसके उपकरण ज्यामिति की दृष्टि से पूर्ण व निर्दोष हों । यही कारण है, कि इस युग के अनेक औजार अर्धचन्द्राकार, त्रिभुजाकार व अन्य प्रकार से ज्यामिति के सिद्धान्तों के अनुरूप होते हैं । साथ ही, इस युग में मनष्य मिट्टी के बरतनों का निर्माण शुरू कर चुकता है, यद्यपि ये बरतन हाथ से बने होने के कारण बहुत सुन्दर व सुडौल नहीं होते । प्राचीन काल के अवशेषों में जब पत्थर के परिष्कृत औजार मिट्टी के हाथ से बने बरतनों के टुकड़ों के साथ मिलने लगते हैं, तो हम उन्हें मध्य प्रस्तर-काल का समझ सकते हैं ।

भारत में इस काल के अवशेष बहुत-से स्थानों में मिले हैं, जिनमें निम्नलिखित विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—

(१) माइसूर रियासत के चितलद्रुग जिले में ब्रह्मगिरि नामक स्थान पर मध्य प्रस्तर-युग के बहुत-से अवशेष उपलब्ध हुए हैं, जिन्हें 'रोप्पा सभ्यता' कहा जाता है।

(२) हैदराबाद रियासत में मास्की नामक स्थान पर भी इस युग के अवशेष मिले हैं।

(३) नर्मदा नदी की घाटी में प्राचीन काल के अवशेषों की विविध सतहों की जो खुदाई हुई है, उसमें जहां नीचे की सतहों में पुरातन प्रस्तर-युग के अवशेष मिले हैं, वहां ऊपर की सतह में मध्य प्रस्तर-युग के औजार व मिट्टी के बरतनों के टुकड़े भी प्राप्त हुए है।

(४) दक्खन में करनूल के क्षेत्र में इस युग के औजार मिले है, जिनसे मिलते-जुलते औजार विन्ध्याचल की पर्वतशृंखला में व उत्तर-प्रदेश के बांदा जिले से भी उपलब्ध हुए हैं।

(५) गोदावरी नदी की घाटी में अनेक स्थानों पर मध्य प्रस्तर-युग के औजार व मिट्टी के बरतनों के टुकड़े प्राप्त हुए हैं। किसी-किसी स्थान पर तो विशाल आकार के वे बरतन भी मिले हैं, जिनमें मृत शरीर को गाड़ दिया जाता था, और शव के साथ में मृत मनुष्य के उपयोग की वस्तुओं को भी रख दिया जाता था। प्राचीन काल के मानव-जीवन पर इस प्रकार की समाधियों से बहुत उत्तम प्रकाश पड़ता है।

(६) गुजरात में साबरमती नदी की घाटी में और बम्बई के समीप खंडिवली नामक स्थान पर पुरातन प्रस्तर-युग के अवशेषों के अतिरिक्त उपरली सतहों पर इस युग के अवशेष भी मिले हैं।

(७) काश्मीर में उपलब्ध प्राचीन अवशेषों का उल्लेख पहले किया जा चुका है। और वहां यह भी निर्देश किया जा चुका है, कि काश्मीर-घाटी के विविध अवशेष पुरातन प्रस्तर-युग की अपेक्षा मध्य व नूतन प्रस्तर-युग के समझे जाने चाहियें, क्योंकि वहां के औजार जहां अधिक परिष्कृत हैं, वहां साथ ही मिट्टी के बरतनों के टुकड़े भी प्रचुर संख्या में मिलते हैं।

(८) सिन्ध में सक्खर और रोहड़ी के क्षेत्र में पत्थर के बहुत-से औजार मिले हैं, जो मध्य प्रस्तर-युग के हैं। इन औजारों की मोहनजोदड़ो में प्राप्त प्राचीनतम औजारों से बहुत अधिक समता है। संभवतः मोहनजोदड़ो की

समुन्नत सभ्यता का विकास उन्हीं लोगों द्वारा हुआ था. जिनके अधिक पुराने औजार सक्खर और रोहड़ी के क्षेत्र में पाये गये हैं।

(९) काश्मीर रियासत में श्रीनगर के दक्षिण-पूर्व में स्थित पाम्पुर से चार मील की दूरी पर साम्बुर नामक स्थान पर पत्थर के अनेक औजार मिले हैं, जिन्हें इस युग का माना जाता है।

(१०) रावलपिंडी के दक्षिण में चिट्टा नामक स्थान पर इस युग के न केवल औजार मिले है, अपितु. साथ ही उन मनुष्यों के अनेक अस्थिपंजर व उनके खंड भी प्राप्त हुए हैं, जो इन औजारों को प्रयुक्त करते थे । इन अस्थिपंजरों की खोपड़ियों के अवलोकन से ज्ञात होता है, कि इन मनुष्यों के सिर आकार में लम्बे होते.थे । औजारों और अस्थिपंजरों के साथ-साथ मिट्टी के बरतनों के अवशेष भी मिले हैं, जिनके कारण इन सबको मध्य प्रस्तर-युग का माना जाता है।

भारत में नूतन प्रस्तर-युग के अवशेष––नूतन प्रस्तर-युग में मनुष्य शिकारी के स्थान पर कृषक और पशुपालक बनकर किसी निश्चित स्थान पर बस जाता है, और धीरे-धीरे ग्रामों और नगरों का विकास प्रारम्भ करता है। वह मकानों में रहने लगता है, और वस्त्र-आभूषणों से सुसज्जित होकर अपना जीवन व्यतीत करता है। पश्चिमी एशिया के अनेक प्रदेशों में इस युग के बहुत-से महत्त्वपूर्ण अवशेष मिले है, जिनसे इस काल के मनुष्य की सभ्यता के संबंध में विशदरूप से प्रकाश पड़ता है। पर भारत में अभी नूतन प्रस्तर-युग के जो अवशेष प्राप्त हुए हैं, वे बहुत महत्त्व के नहीं हैं । फिर भी उन अवशेषों का निर्देश करना आवश्यक है, जिन्हें इस युग का माना जाता है––

(१) माइसूर रियासत के चितलद्रुग जिले में चन्द्रबल्ली और ब्रह्मगिरि नामक स्थानों पर खुदाई द्वारा नूतन प्रस्तर-युग के अनेक अवशेष मिले हैं। इनमें चन्द्रबल्ली की खुदाई विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है। उसमें सबसे उपरली सतह पर सातवाहन-काल के अवशेष पाये गये हैं, उसके नीचे मौर्य-काल के और उसके भी नीचे लौहकाल के अवशेष मिले हैं। ये लौहकाल के अवशेष किस समय के हैं, यह अभी निश्चित नहीं किया जा सका है। लौह-काल के अवशेषों के नीचे, जमीन से कोई बारह फीट नीचे, नूतन प्रस्तर-युग के औजार व मिट्टी के बरतन पाये गये हैं। मिट्टी के बरतन रंग में लाल व काले हैं, और मध्य प्रस्तर-युग के हाथ से बनाये गये बरतनों की अपेक्षा बहुत अधिक परिष्कृत व सडौल हैं।

(२) दक्षिणी भारत में बेल्लारी नामक स्थान पर नूतन प्रस्तर-युग के अनेक अवशेष उपलब्ध हुए हैं, जिन्हें बहुत महत्त्वपूर्ण समझा जाता है। बेल्लारी के प्राचीनतम अवशेष सक्खर और रोहड़ी (सिन्ध) में प्राप्त मध्य प्रस्तर-यग के अवशेषों से समता रखते हैं। पर वहां के बाद के अवशेष विशुद्ध रूप से नूतन प्रस्तर-युग के हैं। बेल्लारी के ये अवशेष इस समय मद्रास म्यूजियम में सुरक्षित हैं।

(३) काश्मीर में गान्धरबल के समीप नूनर नामक स्थान पर खुदाई करने से नूतन प्रस्तर-युग के अवशेष मिले हैं। काश्मीर के बुर्जहोम नामक स्थान का उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। यह भी गान्धरबल के समीप ही है। इसकी खुदाई में ऊपर की सतहों में मिट्टी के जो बरतन व पत्थर के औजार मिले हैं, वे बहुत परिष्कृत व उन्नत हैं। इसी कारण उन्हें नूतन प्रस्तर-युग का माना जाता है।

(४) उत्तर-प्रदेश के मिरजापुर जिले में जहां इस युग के अनेक औजार मिले हैं, वहां साथ ही बहुत-से अस्थिपंजर भी प्राप्त हुए हैं। इनके अतिरिक्त अनेक ऐसे कलश (मिट्टी के बने हुए) भी इस क्षेत्र से मिले हैं, जिनमें मृत शरीरों के भस्म रखे गये थे। मिरजापुर के समीप ही विन्ध्याचल की पर्वतशृंखला में कुछ ऐसी गुफाएं भी मिली हैं, जिनमें इस युग के मनुष्यों के बनाये हुए चित्र अंकित हैं।

धातुओं के उपयोग का प्रारम्भ होने से पूर्व भारत में एक ऐसा युग था, जब इस देश के बड़े भाग में नूतन प्रस्तर-युग की सभ्यता विस्तृत थी। यद्यपि इस युग के अवशेष भारत में उतनी प्रचुरता से उपलब्ध नहीं हुए है, जितने कि पश्चिमी एशिया के विविध क्षेत्रों में मिले हैं, तथापि इस सभ्यता की सत्ता में कोई सन्देह नहीं है। अब से कोई दस हजार साल पहले यह सभ्यता भली भाँति विकसित हो गई थी, और बाद में धातुओं का उपयोग शुरू होने पर यही सभ्यता धातु-युग में परिवर्तित हो गई। सिन्ध नदी की घाटी में मोहनजोदड़ो और हड़प्पा में किसी प्राचीन समुन्नत सभ्यता के जो अवशेष मिले हैं, वे इसी नूतन प्रस्तर-युग की सभ्यता का विकसित रूप है, यद्यपि उस काल में कांसे और तांबे का प्रयोग भलीभांति शुरू हो गया था।

(५) नूतन प्रस्तर-युग का जीवन

पुरातन प्रस्तर-यग में, जब कि मनष्य किसी एक स्थान पर स्थिररूप से

निवास नहीं करता था, सभ्यता के क्षेत्र में अधिक उन्नति हो सकना संभव नहीं था। पर जब मनुष्य ने बस्तियां बसाकर एक स्थान पर रहना शुरू किया, और शिकार के बजाय कृषि और पशुपालन द्वारा जीवन-निर्वाह करना प्रारम्भ किया, तो सभ्यता के मार्ग पर वह बड़ी तेजी के साथ आगे बढ़ने लगा। यही कारण है, कि नूतन प्रस्तर-युग का मानव-इतिहास में बहुत अधिक महत्त्व है।

आर्थिक जीवन—कृषि और पशुपालन का आश्रय लेकर मनुष्य ने पहले-पहल किस प्रदेश में अपनी स्थिर बस्तियां बसानी शुरू कीं, इस विषय पर सब विद्वान् एकमत नहीं हैं। पर बहुसंख्यक विद्वानों का यह विचार है, कि नूतन प्रस्तर-युग का प्रारम्भ पश्चिमी एशिया में हुआ। एशिया माइनर, ट्रांस-कोकेशिया, ईरान, तुर्किस्तान और अफगानिस्तान ऐसे प्रदेश हैं, जहां जों प्राकृतिक रूप में उत्पन्न होता है। ईराक और पश्चिमी ईरान में वह अनाज भी प्राकृतिक रूप से उत्पन्न होता था, जो आगे चलकर गेहूं के रूप में विकसित हुआ। इस दशा में यह सर्वथा स्वाभाविक था, कि पश्चिमी एशिया के इन प्रदेशों में विचरण करनेवाले पुरातन प्रस्तर-युग के मनुष्य इस बात के लिये प्रवृत्त हों, कि इन अनाजों को एकत्र कर उन्हें भोजन के लिये प्रयुक्त करें। क्योंकि इन प्रदेशों में ये अन्न प्राकृतिकरूप में उत्पन्न होते थे, अतः यहीं पर उनकी खेती करने की प्रवृत्ति भी मनुष्य में उत्पन्न हुई। शुरू में मनुष्य किसी एक स्थान पर स्थिर रूप से खेती नहीं करता था। जिन खेतों में वह इस साल खेती करता, उन्हें अगले साल परता छोड़ देता था। उस युग में जनसंख्या कम थी, और जमीन बहुत अधिक थी। इस दशा में कृषि प्रारम्भ कर चुकने के बाद भी मनुष्य किसी एक स्थान पर स्थिर रूप से नहीं बसता था। पर धीरे-धीरे उसमें यह प्रवृत्ति हुई, कि नदियों की घाटियों और जलाशयों के समीपवर्ती उन प्रदेशों में, जहां की भूमि अधिक उपजाऊ थी, स्थिर-रूप से आबाद हो जाय और वहीं अपनी स्थिर बस्ती बना ले।

कृषि के साथ ही मनुष्य ने पशुपालन भी शुरू किया। संभवतः शिकारी-दशा में भी मनुष्य कुत्ते को पालता था। कुत्ता शिकार में मनुष्य का सहायक था। पश्चिमी एशिया के जिन प्रदेशों में गेहूं और जौं प्राकृतिक रूप से उत्पन्न होते हैं, वहां भेड़, बकरी, गाय, बैल आदि (या इन पशुओं के पूर्वज) भी विद्यमान थे। पहले मनुष्य इनका शिकार करता था। धीरे-धीरे उसने यह भी जान लिया, कि इन पशुओं को पालतू बनाकर भी रखा

जा सकता है। इन पशुओं को पालतू बना लेने के बाद मनुष्य आर्थिक दृष्टि से अधिक निश्चिन्त हो गया। अब उसे अपने भोजन के लिये प्रतिदिन शिकार की आवश्यकता नहीं थी। वह जब चाहे अपने पालतू पशुओं को भोजन के लिये प्रयुक्त कर सकता था। साथ ही वह इन पशुओं के दूध, खाल व ऊन को अनेक प्रकार के कार्यों के लिये उपयोग में ला सकता था।

मनुष्य ने पुरातन प्रस्तर-युग से आगे बढ़कर किस प्रकार नूतन प्रस्तर-युग में प्रवेश किया, इसका उत्तम उदाहरण पैलेस्टाइन में उपलब्ध हुआ है। पैलेस्टाइन में वादी-एल-नतफ नामका एक स्थान है, जहां पर एक प्राचीन सभ्यता के अवशेष प्राप्त हुए हैं। इस सभ्यता के लोग गुफाओं में निवास करते थे, और शिकार द्वारा अपना आहार प्राप्त करते थे। वादी-एल-नतफ की इन प्राचीन गुफाओं में जहां शिकार के लिये प्रयुक्त होनेवाले पत्थर और हड्डी के औजार मिले है, वहां साथ ही ऐसी दरांतियां भी मिली हैं, जो अनाज काटने के लिये प्रयुक्त होती थीं। खेती के लिये काम आ सकनेवाले अन्य भी अनेक प्रकार के उपकरण यहां मिले है, जो पत्थर व हड्डी के ही बने हुए हैं। अनाज को कूटकर आटा बनाने के उपकरण भी यहां उपलब्ध हुए है। प्राचीन युग के इन अवशेषों से यह भली-भांति अनुमान किया जा सकता है, कि वादी-एल-नतफ की गुफाओं में निवास करनेवाले लोग शिकार के साथ-साथ कृषि में भी प्रवृत्त हो रहे थे, और धीरे-धीरे उस सभ्यता की ओर अग्रसर हो रहे थे, जिसे हम नूतन प्रस्तर-युग की सभ्यता कहते हैं। वादी-एल-नतफ के इन अवशेषों को कम से कम ५००० ई० पू० का माना जाता है।

ईराक, पैलेस्टाइन, मिस्र, ईरान आदि पश्चिमी एशिया के देशों में नूतन प्रस्तर-युग के अवशेष बहुत बड़ी संख्या में मिले हैं। फ्रांस, स्विट्जरलैंड आदि यूरोपियन देशों में भी इस युग के अवशेष इस दशा में उपलब्ध हुए हैं, कि उनसे इस काल के मनुष्य का जीवन भली-भांति स्पष्ट हो जाता है। भारत के मुकाबले में इन देशों के नूतन प्रस्तर-युग के अवशेष बहुत अधिक पूर्ण दशा में हैं। यहां यह संभव नहीं है, कि हम इनका अधिक विस्तार से उल्लेख करें। पर इनके अध्ययन से इस युग की सभ्यता का जो स्वरूप हमारे सम्मुख आता है, उसका संक्षेप से निदर्शन करना उपयोगी होगा, क्योंकि भारत का नूतन प्रस्तर-युग भी पश्चिमी संसार के इस युग के सदृश ही था।

नूतन प्रस्तर-युग के मनुष्य की आजीविका के मुख्य साधन कृषि और पशु-

पालन थे। खेती के लिये वह पत्थर के औजारों का प्रयोग करता था। उसके हल, दरांती, कुल्हाड़े, हथौड़े आदि सब उपकरण पत्थर के बने होते थे। शुरू में वह स्वयं अपने हाथ से जमीन खोदता था, पर समयान्तर में उसने यह जान लिया था, कि बैलों व घोड़ों का प्रयोग हल चलाने के लिये किया जा सकता है। नूतन प्रस्तर-युग के अन्तिम दिनों तक मनुष्य न केवल हल के लिये बैलों व घोड़ों का प्रयोग करने लगा था, अपितु गाड़ी चलाने के लिये भी इन पशुओं का उपयोग जान गया था। उसकी गाड़ियां लकड़ी की बनी होती थीं। पत्थर के बने औजारों से वह लकड़ी काटता था, और उन्हीं की सहायता से हल, गाडी आदि का निर्माण करता था। अब उसके निवास-स्थान गुफाएं व खाल के बने तम्बू न होकर लकड़ी, पत्थर व मिट्टी के बने मकान हो गये थे। जिन प्रदेशों में लकड़ी, फूंस आदि की सुविधा थी, वहां वह लकड़ी के मकान बनाता था। अन्य स्थानों पर कच्ची मिट्टी या पत्थर मकान बनाने के काम में लाये जाते थे। उसके गांव छोटे-छोटे होते थे। यूरोप और पश्चिमी एशिया में नूतन प्रस्तर-युग के गांवों के जो अवशेष मिले हैं, उनका रकबा १॥ एकड़ से ६॥ एकड़ तक है। इन अवशेषों के अध्ययन से प्रतीत होता है, कि एक गांव में प्रायः २५ से लगाकर ३५ तक मकान रहते थे। इन मकानों में अनाज को जमा करने के लिये बड़े-बड़े गोदाम बनाये जाते थे। अनाज के ये गोदाम कच्ची मिट्टी के बने होते थे। भारत के वर्तमान गांवों में भी इस प्रकार के गोदाम विशेष महत्त्व रखते हैं, और प्रत्येक किसान के घर में उनकी सत्ता अनिवार्य होती है। पुरातन प्रस्तर-युग के गांवों में सामूहिक जीवन की भी सत्ता थी। पश्चिमी यूरोप और बालकन प्रायद्वीप में उपलब्ध हुए इस युग के गांवों के अवशेषों से यह सूचित होता है, कि बहुत-से गांवों के चारों ओर खाई व मोटी दीवार भी बनाई गई थी। इस किलाबन्दी का प्रयोजन संभवतः शत्रुओं से अपनी रक्षा करना होता था। ये खाइयां, दीवारें, व गांव के बीच की सड़कें व गलियां किसी एक व्यक्ति की सम्पत्ति न होकर सारे गांव की सम्मिलित सम्पत्ति होती थीं, और उनका निर्माण भी ग्राम-निवासियों के सामूहिक प्रयत्न द्वारा ही हुआ था। इस दशा में यह सर्वथा स्वाभाविक है, कि गांव के लोगों में एक प्रकार का संगठन भी विद्यमान हो। पुरातन प्रस्तर-युग के मनुष्य शिकार के लिये टोलियां बनाकर विचरण करते थे। वे टोलियां ही इस नूतन युग में ग्राम के रूप में बस गई थीं। इन टोलियों का संगठन इस युग में और भी अधिक विकसित हो गया था। शिकारी

टोली का मुखिया अब ग्राम का नेता या 'ग्रामणी' बन गया था। यह ग्रामणी सम्पूर्ण ग्रामवासियों पर एक प्रकार का शासन रखता था, यह सहज में कल्पित किया जा सकता है।

बरतन--मिट्टी के बरतन बनाने की कला मध्य प्रस्तर-युग में ही प्रारम्भ हो चुकी थी। नूतन प्रस्तर-युग में उसने बहुत उन्नति की। पहले बरतन हाथ से बनाये जाते थे, अब कुम्हार के चाक का आविष्कार हुआ, और चाक (चक्र) का उपयोग कर सुन्दर व सुडौल बरतन बनने लगे। इन बरतनों पर अनेक प्रकार की चित्रकारी भी शुरू की गई, और बरतनों को सुन्दर रंगों द्वारा सुशोभित करने की कला का भी विकास हुआ। ये बरतन आग में पकाये जाते थे, और इनके बहुत-से अवशेष नूतन प्रस्तर-युग के खंडहरों में उपलब्ध हुए हैं। सभ्यता के विकास के साथ-साथ नूतन प्रस्तर-युग के मनुष्यों में श्रम-विभाग का भी प्रारम्भ हुआ। अतिप्राचीन युग में श्रम-विभाग का प्रायः अभाव था, उस समय यदि कोई श्रम-विभाग था, तो वह पुरुषों और स्त्रियों में था। पुरुष प्रायः शिकार करते थे, और स्त्रियां जंगली अनाज को एकत्र कर उसका उपयोग करती थीं। पर अब नूतन प्रस्तर-युग में बढ़ई, कुम्हार आदि के रूप में ऐसे शिल्पियों की पृथक् श्रेणी विकसित होनी शुरू हुई, जो खेती न करके शिल्प द्वारा ही अपनी आजीविका कमाते थे।

व्यापार--नूतन प्रस्तर-युग में व्यापार की भी उन्नति हुई। एक ग्राम में रहनेवाले लोग परस्पर अपनी वस्तुओं का विनिमय करते थे। बढ़ई या कुम्हार अपने शिल्प द्वारा तैयार की गई वस्तु के बदले में किसान से अनाज प्राप्त करता था। उस युग में वस्तुओं के विनिमय के लिये मुद्रा (सिक्के) की आवश्यकता नहीं थी। मुद्रा के अभाव में भी लोग अपनी वस्तुओं का विनिमय करने में समर्थ होते थे। व्यापार का क्षेत्र केवल ग्राम ही नहीं था, सुदूरवर्ती ग्राम आपस में भी व्यापार किया करते थे। यूरोप और पश्चिमी एशिया के भग्नावशेषों में अनेक ऐसी वस्तुएं प्राप्त हुई हैं, जो उस प्रदेश में उत्पन्न ही नहीं हो सकती थीं, और जिन्हें अवश्य ही किसी सुदूरवर्ती प्रदेश से व्यापार द्वारा प्राप्त किया गया था। यह विदेशी व 'अन्तर्राष्ट्रीय' व्यापार केवल विशिष्ट वस्तुओं के लिये होता था। वैसे प्रत्येक गांव अपनी आवश्यकताओं को स्वयं पूर्ण करने का प्रयत्न करता था। उस युग में मनुष्य की आवश्यकताएं बहुत कम थीं, और उन्हें अपने प्रदेश से ही पूरा कर सकना सर्वथा संभव था।

मृतक-संस्कार--नूतन प्रस्तर-युग के मनुष्य प्रायः अपने मृत शरीरों को जमीन

में गाड़ा करते थे। शवों को गाड़ने के लिये जहां बाकायदा कबरिस्तान थे, वहां कहीं-कहीं यह भी प्रथा थी, कि उन्हें अपने मकान में या उसके समीप ही गाड़ दिया जाय। भूमध्य-सागर के समीपवर्ती नूतन प्रस्तर-युग के ग्रामों के अवशेषों से यह सूचित होता है, कि उनमें मकान के नीचे गढ़ा खोदकर छोटे पैमाने पर उस मकान का नमूना तैयार किया जाता था, जहां कि जीवित दशा में मृत मनुष्य निवास करता था। मरने के बाद मनुष्य को इस (जमीन के नीचे बने हुए) मकान में गाड़ दिया जाता था, और वहां उसके उपयोग की वस्तुओं को भी रख दिया जाता था। इस युग की अनेक बस्तियों में शव को जलाने की भी प्रथा थी, और राख को मिट्टी के बने हुए कलशों में रखकर आदर के साथ जमीन में गाड़ दिया जाता था।

धर्म—मिस्र, सीरिया, ईरान, दक्षिण-पूर्वी यूरोप आदि में इस युग की बस्तियों के जो भग्नावशेष मिले हैं, उनमें मिट्टी या पत्थर की बनी हुई बहुत-सी स्त्री-मूर्तियां भी उपलब्ध हुई हैं। नृतत्त्वशास्त्र के विद्वानों का विचार है, कि ये मूर्तिया पूजा के काम में आती थीं। नूतन प्रस्तर-युग का मनुष्य 'मातृ-देवता' का उपासक था। प्रकृति में जो निरन्तर उत्पत्ति होती रहती है, जीव-जन्तु, वृक्ष, वनस्पति, अन्न आदि सबमें निरन्तर वृद्धि व उत्पत्ति जारी रहती है, इसका कारण वह रहस्यमयी शक्ति है, जो सब चराचर के लिये मातृ-स्थानीय है। प्रजनन एक ऐसी प्रक्रिया है, जो इस युग के मनुष्य को बहुत रहस्यमयी प्रतीत होती थी। वह सोचता था, यह मातृशक्ति की देन है। इसी-लिये वह स्त्रीरूप में इस मातृशक्ति या मातृदेवता की मूर्ति बनाता था, और उन मूर्तियों में स्त्री की जननेन्द्रियों को प्रमुख रूप से प्रदर्शित करता था। पुरुष की जननेन्द्रिय को वह लिंग-रूप में बनाता था। इस प्रकार के बहुत-से लिंग इङ्गलैण्ड, अनेतोलिया व बालकन प्रायद्वीप के प्राचीन भग्नावशेषों में उपलब्ध हुए है। नूतन प्रस्तर-युग का मनुष्य शायद यह समझता था, कि मातृदेवता और लिंग की पूजा से अन्न और पशुओं की वृद्धि की जा सकती है। अनेक विद्वानों का मत है, कि देवता को तृप्त करने के लिये बलि या कुर्बानी की प्रथा भी इस युग में शुरू हो चुकी थी। प्रकृति में हम देखते हैं, कि बीज को जमीन में गाड़ा जाता है। बीज नष्ट होकर पौदे को जन्म देता है। नूतन प्रस्तर-युग का मनुष्य यह समझता था, कि खेती की पैदावार का मूल कारण बीज की 'बलि' है। अतः यदि धरती माता को तृप्त करने के लिये पशु या मनुष्य की बलि दी जाय, तो इससे पैदावार, समृद्धि और सम्पत्ति की वृद्धि होगी।

जादू-टोने और मन्त्र-प्रयोग का प्रारम्भ पुरातन प्रस्तर-युग में ही हो चुका था। नूतन प्रस्तर-युग में उसमें और अधिक वृद्धि हुई। भूमध्यसागर के तटवर्ती प्रदेशों और मिस्र के इस युग के अवशेषों में पत्थर की बनी हुई छोटी-छोटी कुल्हाड़ियां मिली हैं, जिनके बीच में छेद है। संभवतः, इन कुल्हाड़ियों के बीच में तागा डालकर उन्हें गले में पहना जाता था और यह विश्वास किया जाता था, कि इनके पहनने से मनुष्य में शक्ति का संचार होता है। कुल्हाड़ा शक्ति का प्रतीक था, और उसे रक्षा-कवच रूप में धारण करना उपयोगी माना जाता था।

वस्त्र-निर्माण—वस्त्र बनाने की कला में भी इस युग में अच्छी उन्नति हुई। ऊन और रेशम के वस्त्र मध्य प्रस्तर-युग में ही शुरू हो चुके थे। अब उनका निर्माण करने के लिये बाकायदा तकुओं और खड्डियों का प्रारम्भ हुआ। तकुए पर सूत कातकर उसे खड्डी पर बुना जाता था, और नूतन प्रस्तर-युग का मनुष्य सरदी-गरमी से बचने के लिये पशु-चर्म के वस्त्रों पर आश्रित न रहकर ऊन और रेशम के सुन्दर वस्त्रों को धारण करता था। वस्त्र के निर्माण के लिये कपास का उपयोग इस युग मे प्रारम्भ हुआ था या नहीं, यह विषय अभी संदिग्ध है।

युद्ध—नूतन प्रस्तर-युग की विविध बस्तियों में प्रायः युद्ध भी होते रहते थे। यही कारण है, कि अनेक ग्रामों के चारों ओर परिखा और दुर्ग का निर्माण किया गया था। शुरू में प्रत्येक मनुष्य आर्थिक उत्पादक होने के साथ-साथ योद्धा भी होता था। वह पत्थर के औजारों को लड़ाई के काम में लाता था, और उनकी सहायता से शत्रु से अपनी रक्षा करता था।

पुरातन प्रस्तर-युग की अपेक्षा इस काल में जनसंख्या बहुत बढ़ गई थी। इसीलिये पश्चिमी एशिया व यूरोप में इस युग के मनुष्यों के अस्थिपंजर हजारों की संख्या में उपलब्ध हुए हैं। निःसन्देह, इस युग का मनुष्य पत्थर के औजारों का ही उपयोग करता था, पर सभ्यता के क्षेत्र में वह पुरातन प्रस्तर-युग के मनुष्य की अपेक्षा बहुत अधिक आगे बढ़ गया था। पत्थर के औजारों की सहायता से ही वह बहुत-कुछ उस दशा में आ गया था, जिसे हम 'सभ्यता' कहते हैं।

(६) धातु-युग का प्रारम्भ

नूतन प्रस्तर-युग के बाद धातु-युग का प्रारम्भ हुआ। नूतन प्रस्तर-

युग का मनुष्य आग का उपयोग करता था, और मिट्टी के बरतन पकाने के लिये व भोजन बनाने के लिये वह भट्टियों व चूल्हों का निर्माण करता था। ये भट्टियां प्रायः पत्थर की बनी होती थीं। अनेक पत्थरों में धातु का अंश पर्याप्त मात्रा में होता है। आग के ताप से ये धातुमिश्रित पत्थर पिघल जाते थे, और उनसे चमकीली धातु अलग हो जाती थी। धीरे-धीरे मनुष्य ने यह मालूम किया, कि यह धातु औजार बनाने के लिये अधिक उपयुक्त है। क्योंकि इसे न केवल पिघलाया जा सकता है, अपितु ठोंक-पीटकर भी अभीष्ट आकार में लाया जा सकता है। संभवतः, सबसे पहले मनुष्य ने सोने का प्रयोग शुरू किया, क्योंकि अनेक स्थलों पर सोना प्राकृतिक रूप में भी पाया जाता है। पर सोना इतनी अधिक मात्रा में नहीं मिलता था, कि उसका उपयोग औजार बनाने के लिये किया जा सके। संभवतः, मनुष्य इस धातु का उपयोग केवल आभूषण बनाने के लिये ही करता था। पर समयान्तर में उसे ताम्बे, ब्रोंज और लोहे का ज्ञान हुआ, और इन धातुओं का प्रयोग उसने औजार बनाने के लिये शुरू किया। उत्तरी भारत में ताम्बे के और दक्षिण भारत में लोहे के औजार बनाये जाने लगे। पश्चिमी भारत के कुछ प्रदेशों (सिन्ध और बिलोचिस्तान) में ताम्बे से पहले ब्रोंज का प्रयोग शुरू हुआ। ब्रोंज एक मिश्रित धातु होती है, जो ताम्बे और टिन के मिश्रण से बनती है। न केवल सिन्ध और बिलोचिस्तान में, अपितु पाश्चात्य संसार के भी अनेक देशों में मनुष्य ने ताम्बे से पहले ब्रोंज का उपयोग शुरू किया। इसी कारण नूतन प्रस्तरयुग के बाद मानव-सभ्यता का जो युग शुरू हुआ, उसे **ब्रोंज-युग** कहते हैं। यहां यह ध्यान रखना चाहिये, कि धातु का उपयोग शुरू होने से मनुष्य की सभ्यता में कोई आकस्मिक व महान् परिवर्तन नहीं आ गया। जो काम पहले मनुष्य पत्थर के औजारों से करता था, वही अब धातु के औजारों से होने लगा। इसमें सन्देह नहीं, कि धातु के बने औजार पत्थर के औजारों की अपेक्षा अधिक सुडौल व उपयोगी होते थे, और मनष्य उनकी सहायता से कृषि व शिल्प को अधिक अच्छी तरह से कर सकता था। पर नूतन प्रस्तर-युग में ही मनुष्य ने उस उन्नत सभ्यता का प्रारम्भ कर दिया था, जो धातु-युग में जारी रही। अन्तर केवल इतना आया, कि कृषि, शिल्प आदि का अनुसरण अब मनुष्य के लिये अधिक सुगम हो गया, और धातु के बने उपकरणों से मनुष्य अपना कार्य अधिक अच्छी तरह से करने लगा।

(७) भारत में ताम्र-युग

सिन्ध और बिलोचिस्तान के जो प्रदेश आजकल रेगिस्तान व उजाड़ हैं, किसी प्राचीन युग में वे एक अच्छी उन्नत सभ्यता के केन्द्र थे। इन प्रदेशों में खोज द्वारा ताम्र-युग की सभ्यता के बहुत-से भग्नावशेष उपलब्ध हुए हैं। नूतन प्रस्तर-युग के ग्रामों और बस्तियों के जिस प्रकार के अवशेष पश्चिमी एशिया व यूरोप में बड़ी संख्या में मिले हैं, उसी ढंग के ताम्र-युग के अवशेष सिन्ध और बिलोचिस्तान के अनेक प्रदेशों में उपलब्ध हुए हैं। इस युग के मनुष्य बस्तियों में रहते थे, मकानों का निर्माण करते थे, कृषि और पशुपालन द्वारा अपना निर्वाह करते थे, मिट्टी के बने हुए सुन्दर व सुडौल बरतनों का उपयोग करते थे, और ताम्र के बने सुन्दर औजारों को कृषि, शिल्प व युद्ध के लिये प्रयुक्त करते थे। बरतनों और औजारों की रचना के भेद को दृष्टि में रखकर इन प्रदेशों में उपलब्ध हुए भग्नावशेषों को निम्न-लिखित भागों में विभक्त किया गया है--

(१) क्वेटा-सभ्यता (बोलान दर्रे में उपलब्ध अवशेषों के आधार पर)

(२) अमरी-नल-सभ्यता (सिन्ध में अमरी नामक स्थान पर और बिलोचिस्तान के नल-घाटी में उपलब्ध अवशेषों के आधार पर)

(३) कुल्ली सभ्यता (दक्षिणी बिलोचिस्तान के कोलवा नामक स्थान में प्राप्त अवशेषों के आधार पर)

(४) झोब-सभ्यता (उत्तरी बिलोचिस्तान की झोब-घाटी में उपलब्ध अवशेषों के आधार पर)।

इन चारों सभ्यताओं पर हम क्रमशः संक्षिप्त रूप से प्रकाश डालने का यत्न करेंगे।

क्वेटा-सभ्यता—भारत की ताम्र-युग की सभ्यताओं में क्वेटा-सभ्यता सबसे अधिक प्राचीन है। बोलान के दर्रे में क्वेटा के समीप पांच ऐसे खेड़े (गांव, बस्ती या शहर के खंडहरों के कारण ऊंचे उठे हुए प्रदेश) मिले हैं, जो इस सभ्यता के भग्नावशेषों को सूचित करते हैं। इनमें सबसे बड़े खेड़े का व्यास २०० गज के लगभग है, और यह खेड़ा ४५ फीट से ५० फीट तक ऊंचा है। यह खेड़ा एक प्राचीन बस्ती को सूचित करता है। इस बस्ती के मकान मिट्टी या मिट्टी की ईंटों के बने हुए थे। ये ईंटें आग में पकाई गई थीं। इन खेड़ों में जो बरतन मिले हैं, वह मिट्टी को पकाकर बनाये गये थे,

और उनपर अनेक प्रकार से चित्रकारी की गई थी। इस चित्रकारी में पशुओं व अन्य जन्तुओं के चित्रों का सर्वथा अभाव है। गोल व तिर्यक् रेखाओं द्वारा ही इन बरतनों को सुशोभित करने का प्रयत्न किया गया है। इस ढंग के बरतनों के अवशेष ईरान में भी अनेक स्थानों पर उपलब्ध हुए हैं। क्वेटा-सभ्यता के अवशेषों में सामग्री की इतनी कमी है, कि उनके आधार पर इस सभ्यता के संबध में अधिक जानकारी प्राप्त नहीं की जा सकी है।

अमरी-नल-सभ्यता—इस सभ्यता के अवशेष सिन्ध और बिलोचिस्तान में बहुत-से स्थानों पर उपलब्ध हुए हैं। इन अवशेषों के कारण जो बहुत-से खेड़े इस क्षेत्र में मिलते हैं, उनका आकार क्वेटा-सभ्यता की अपेक्षा अधिक बड़ा है। उदाहरणार्थ, रकशां नामक प्रदेश का एक खेड़ा लम्बाई में ५३० गज और चौड़ाई में ३६० गज है। बंधनी नामक स्थान पर विद्यमान एक अन्य खेड़ा ४०० गज लम्बा और २३० गज चौड़ा है। इससे सूचित होता है, कि अमरी-नल-सभ्यता की कपितय बस्तिया आकार में अधिक विशाल थीं। पर बहुसंख्यक बस्तियां क्वेटा-सभ्यता की बस्तियों के सदृश ही छोटी-छोटी थी। इन बस्तियों में से कुछ के चारों ओर परिखा और दीवार के चिह्न भी मिले हैं। ये दीवारें मिट्टी की ईंटों द्वारा बनाई गई थीं, यद्यपि इनके आधार में मजबूती के लिये पत्थरों का भी उपयोग किया गया था। इस सभ्यता की एक बस्ती तो ऐसी भी मिली है, जिसके चारों ओर दो दीवारें थीं, और दोनों दीवारों के बीच में २५० फीट का अन्तर रखा गया था। इन दीवारों के निर्माण के लिये कच्ची मिट्टी की जिन ईंटों का प्रयोग किया गया था, वे लम्बाई में २१ इंच, चौड़ाई में १० इंच और ऊंचाई में ४ इंच थीं। बस्ती के चारों ओर के प्राकार के लिये ही नहीं, अपितु मकानों के निर्माण के लिये भी इसी ढंग की ईंटों का प्रयोग किया गया था।

अमरी-नल-सभ्यता के भग्नावशेषों की जो खुदाई हुई है, उससे उन मकानों के संबंध में भी अनेक महत्त्वपूर्ण बातें ज्ञात होती हैं, जो इस सभ्यता की बस्तियों में विद्यमान थे। मकानों का आकार प्रायः ४० फीट लम्बा व ४० फीट चौड़ा होता था। इस मकान के अन्दर अनेक छोटे-बड़े कमरे होते थे, जिनमें से कुछ १५×१५ फीट, कुछ १५×१० फीट और कुछ ८×५ फीट होते थे। मकान के बीच में सहन भी रखा जाता था। मकान प्रायः कच्ची मिट्टी की ईंटों के बने होते थे, यद्यपि किसी-किसी खेड़े में ऐसे मकानों के

अवशेष भी मिले हैं, जिनमें ईटों के साथ-साथ पत्थर का भी प्रयोग किया गया था। मकानों में दरवाजे और खिड़कियां भी होती थीं और इनके भी कतिपय अवशेष खुदाई द्वारा उपलब्ध हुए हैं। एक मकान और दूसरे मकान के बीच में गली छोड़ दी जाती थी, जिसकी चौड़ाई २॥ फीट से ८ फीट तक होती थी। ऐसा प्रतीत होता है, कि अमरी-नल-सभ्यता की बस्तियों में मकानों का निर्माण बहुत अच्छे ढंग से और एक निश्चित योजना के अनुसार किया जाता था।

इस सभ्यता के खेड़ों की खुदाई द्वारा अनेक स्थानों पर कबरिस्तान भी उपलब्ध हुए हैं। एक खेड़े के कबरिस्तान में १०० के लगभग अस्थिपंजर मिले हैं, जिनसे यह कल्पना सहज में की जा सकती है, कि इस खेड़े से सूचित होनेवाली बस्ती में मनुष्य अच्छी बड़ी संख्या में निवास करते थे। अमरी-नल-सभ्यता के मनुष्य अपने शवों को जमीन में गाड़ते थे, और इसके लिये बाकायदा कबरों का निर्माण करते थे। उनकी कबरें ईटों व पत्थरों द्वारा बनाई जाती थी। कबर में शव को रखने के साथ-साथ उन वस्तुओं को भी रख दिया जाता था, जिनका उपयोग मृत मनुष्य अपने जीवन-काल में करता था। यही कारण है, कि कबरों में अस्थिपंजर के साथ मिट्टी के बरतन, आभूषण, औजार व इसी प्रकार की अन्य वस्तुएं भी प्राप्त हुई हैं। कहीं-कहीं बरतनों में पशुओं की हड्डियां भी मिली हैं। संभवतः, शव के साथ बरतन में मांस भी रख दिया गया था, जिसकी हड्डियां अब तक सुरक्षित रूप से विद्यमान हैं। ये हड्डियां प्रायः भेड़ व बकरी की हैं। इन कबरों में जो औजार मिले हैं, वे प्रायः ताम्बे के बने हुए हैं। इससे सूचित होता है, कि अमरी-नल-सभ्यता के लोग धातु के प्रयोग से भली-भांति परिचित हो गये थे। कबरों में प्राप्त हुए आभूषण मुख्यतया तांबे, शंख, कौड़ी व मिट्टी के बने हुए हैं। इनके अतिरिक्त, मूंगे आदि की बनी हुई मालायें भी कहीं-कहीं इस सभ्यता के कबरिस्तानों में मिली हैं।

अमरी-नल-सभ्यता के भग्नावशेषों में जो बरतन व उनके टुकड़े मिले हैं, वे सुन्दर, सुडौल व परिष्कृत हैं। उनपर अनेक प्रकार की चित्रकारी की गई है। बरतनों को चित्रित करने के लिये केवल गोल, अर्धचन्द्राकार व तिरछी रेखाओं का ही प्रयोग नहीं किया गया, अपितु पौदों और पशुओं की आकृतियों का भी प्रयोग किया गया है। इनमें बैल, बारासिंगा और मछली का प्रयोग विशेष रूप से हुआ है।

कुल्ली-सभ्यता—दक्षिणी बिलोचिस्तान के कोलवा-प्रदेश में इस युग की प्राचीन सभ्यता के जो अनेक भग्नावशेष मिले हैं, उन्हें कुल्ली-सभ्यता कहते हैं। इसकी बस्तियों में भवन-निर्माण के लिये पत्थरों का उपयोग प्रचुरता से होता था। पत्थरों को परस्पर जोड़ने के लिये मिट्टी के गारे का उपयोग किया जाता था। पत्थर के अतिरिक्त मिट्टी की कच्ची ईटें भी मकान बनाने के लिये प्रयुक्त होती थीं, जिनका आकार १९ × १० × ३ इंच होता था। ऐसा प्रतीत होता है, कि कुल्ली-सभ्यता के मकानों में फरश बनाने के लिये लकड़ी का भी प्रयोग किया जाता था। ऐसे फरशों के कुछ अवशेष कुल्ली के खेड़े में दृष्टिगोचर हुए हैं। इस सभ्यता के मकानों के कमरे आकार में कुछ छोटे होते थे। कुल्ली में कमरों का आकार १२×८ और ८ × ६ फीट का था। यहां के मकान एक से अधिक मंजिल के थे, इसीलिये कहीं-कहीं ऊपर की मंजिल में जाने के लिये बनाई गई पत्थर की सीढ़ी के अवशेष भी मिले हैं।

अमरी-नल-सभ्यता के समान कुल्ली-सभ्यता के बरतन भी सुन्दर और सुडौल होते थे। उनपर चित्रकारी के लिये वनस्पति और पशुओं की आकृतियों का प्रयोग किया जाता था। कुकुद् से युक्त बैल इन आकृतियों में विशेष महत्त्व-पूर्ण स्थान रखता है।

कुल्ली-सभ्यता के अवशेषों में पशुओं और स्त्रियों की छोटी-छोटी मूर्तियां प्रचुर संख्या मे मिली है। ये मूर्तियां मिट्टी की बनी हुई हैं, और बरतनों के समान उन्हें भी आग में पकाया गया है। इन मूर्तियों के निर्माण का क्या प्रयोजन था, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। पशुओं की कतिपय मूर्तियों में पैरों के नीचे पहिये लगाने के भी निशान पाये जाते हैं। इससे अनुमान किया गया है, कि ये पशुमूर्तियां बच्चों के खिलौने के रूप में बनाई गई होंगी। कुछ पक्षि-मूर्तियां ऐसी भी मिली हैं, जिनकी पूंछ से सीटी बजाने का काम लिया जाता था। कुल्ली-सभ्यता की स्त्री-मूर्तियां कुछ अद्भुत प्रकार की हैं, उनमें स्त्री-शरीर केवल कमर तक बनाया गया है, और मुख को बहुत बेडौल कर दिया गया है। पर इन सबमें आभूषणों और केश-कलाप को बहुत स्पष्ट रूप से प्रदर्शित किया गया है। इनसे यह प्रत्यक्ष हो जाता है, कि कुल्ली-सभ्यता की स्त्रियां अपने केशों को किस ढंग से संवारती थीं, और किस प्रकार के आभूषणों का प्रयोग करती थीं। उनके आभूषणों में चूड़ियों की बहुलता होती थी, जिन्हें वे हाथों पर कुहनियों तक व उससे भी ऊपर तक पहना करती थीं।

कुल्ली-सभ्यता के अन्यतम स्थान मही में पत्थर के बने हुए कुछ सुन्दर बरतन मिले हैं, जो संभवतः शृंगार-प्रसाधन की वस्तुओं को रखने के काम में आते थे। ये बरतन न केवल अत्यन्त परिष्कृत हैं, पर साथ ही इनमें अनेक छोटे-छोटे व सुन्दर खाने भी बनाये गये हैं। इन बरतनों को बाहर की ओर से भी चित्रित किया गया है।

मही में ही एक कबरिस्तान मिला है, जो अनेक दृष्टियों से अत्यन्त महत्त्व का है। यहां से तांबे के अनेक उपकरण मिले हैं, जिनमें तांबे का बना हुआ दर्पण विशेषरूप से उल्लेखनीय है। यह दर्पण आकार में वर्तुल है, और इसका व्यास ५ इंच है। दर्पण के हत्थे को स्त्री-आकृति के समान बनाया गया है, जिसके हाथ और छातियां बड़े सन्दर रूप से बनाई गई हैं। स्त्री-आकृति में सिर नहीं रखा गया है। जब कोई महिला इस दर्पण में अपने मुख को देखती होगी, तो हत्थे की स्त्री-आकृति की सिर की कमी पूरी हो जाती होगी। इस प्रकार का सुन्दर दर्पण प्राच्य संसार के पुरातन अवशेषों में अन्यत्र कहीं भी नहीं मिला है।

कुल्ली-सभ्यता के बरतनों और पश्चिमी एशिया (ईराक और एलम) के बरतनों तथा उनके चित्रण में बहुत समता है। कुल्ली के बरतनों पर प्रकृति (वृक्ष, वनस्पति आदि) के बीच में पशुओं को चित्रित किया गया है। यही शैली ईराक व पश्चिमी ईरान के इस युग के बरतनों को चित्रित करने के लिये अपनाई गई है। कुल्ली-सभ्यता और पश्चिमी एशिया के बरतनों में यह असाधारण समता ध्यान देने योग्य है। इसी प्रकार, जिस ढंग के पत्थर के सुन्दर व छोटे आकार के बरतन कुल्ली-सभ्यता के अवशेषों में मिले हैं, ठीक वैसे ही पत्थर के बरतन पश्चिमी एशिया के अनेक भग्नावशेषों में भी उपलब्ध हुए हैं। इन समताओं को दृष्टि में रखकर विद्वानों ने यह अनुमान किया है, कि कुल्ली-सभ्यता और पश्चिमी एशिया की सभ्यताओं में घनिष्ठ संबंध था, और व्यापारी लोग एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में व्यापार के लिये आया-जाया करते थे। पश्चिमी एशिया के इस युग के भग्नावशेषों में वहां बिलोचिस्तान के भारतीय व्यापारियों की विद्यमानता के अनेक प्रमाण मिले हैं।

झोब-सभ्यता—उत्तरी बिलोचिस्तान में झोब नदी की घाटी में ताम्र-युग की सभ्यता के अनेक भग्नावशेष मिले हैं, जिनमें रन घण्डई का खेड़ा सबसे अधिक प्रसिद्ध है। यह खेड़ा ४० फीट ऊंचा है, और इसकी विविध

सतहों में झोब-सभ्यता के विकास की प्रक्रिया स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है। यहां यह संभव नहीं है, कि हम रन घुण्डई के खेड़े की विविध सतहों में प्राप्त हुई सामग्री का संक्षेप के साथ भी उल्लेख कर सकें। यहां इतना निर्देश कर देना ही पर्याप्त होगा, कि रन घुण्डई व अन्यत्र प्राप्त झोब-सभ्यता के अवशेषों से सूचित होता है, कि यह सभ्यता भी अमरी-नल और कुल्ली-सभ्यता के समान अच्छी उन्नत थी। इसके मकान मिट्टी की कच्ची ईंटों के बने होते थे, यद्यपि आधार को मजबूत बनाने के लिये पत्थरों का भी प्रयोग किया जाता था। यहां की ईंटों का आकार प्रायः १३ × ६ × २½ इंच होता था। कतिपय बस्तियों के चारों ओर परिखा और प्राकार भी विद्यमान थे।

कुल्ली-सभ्यता के समान झोब-सभ्यता के अवशेषों में भी पशुओं और स्त्रियों की बहुत-सी मूर्तियां उपलब्ध हुई हैं। कुल्ली में जो पशु-मूर्तियां मिली हैं, वे प्रायः गाय-बैल की हैं। पर झोब-सभ्यता के अवशेषों में एक स्थान पर घोड़े की भी एक मूर्ति मिली है। झोब-सभ्यता की स्त्री-मूर्तियां देखने में भयंकर हैं। यद्यपि विविध प्रकार के आभूषणों से भली-भांति विभूषित की गई हैं, पर उनकी मुख-आकृति कंकाल के सदृश बनाई गई है, और आंखें उस ढंग के छेद द्वारा दिखाई गई हैं, जैसा कि मानव-कंकाल की खोपड़ी में होता है। संभवतः ये स्त्री-मूर्तियां पूजा के काम में आती थीं, और इनके चेहरे की भयंकरता मातृदेवता के रौद्ररूप को अभिव्यक्त करती थी।

भारत में अन्यत्र ताम्र-युग के अवशेष—उत्तरी भारत में अन्यत्र भी कई स्थानों पर तांबे के बने हुए औजार मिले हैं। पर जिस ढंग से प्राचीन भग्नावशेषों की खुदाई सिन्ध और बिलोचिस्तान में हुई है, वैसी अभी तक अन्यत्र नहीं हुई। संभव है, कि भविष्य में भारत के अन्य भागों में भी वैसी ही ताम्र-युग की सभ्यताओं के चिह्न प्रकाश में आयें, जैसे कि पश्चिमी भारत में खोज द्वारा प्रगट हुए हैं।

खेद की बात है, कि ताम्र-युग के भारतीय भग्नावशेषों में कहीं भी किसी लिपि की सत्ता सूचित नहीं हुई। यही कारण है, कि जिन सभ्यताओं का हमने ऊपर उल्लेख किया है, उनके निर्माताओं का इतिवृत्त हमें पूर्णरूप से अज्ञात है।

सहायक ग्रंथ

Piggott : Prehistoric India.
Krishnaswami, V. D. : Indian Stone Age (in Ancient India 3, 1947)
Childe : What Happend in History.
Mazumdar, N. C.: Excavations in Sind.
Krishna, M. H. : Prehistoric Deccan.
Burkitt : The Old Stone Age.

चौथा अध्याय

सिन्धु-घाटी की सभ्यता

(१) सिन्धु-सभ्यता के ग्राम और नगर

अत्यन्त प्राचीन काल में सिन्ध और बिलोचिस्तान के प्रदेशों में ताम्र-युग की जिस सभ्यता का विकास हुआ था, उसका उल्लेख हम पिछले अध्याय में कर चुके हैं। इस प्राचीन सभ्यता के बाद सिन्ध नदी की घाटी में एक अन्य उन्नत व समृद्ध सभ्यता का विकास हुआ, जिसके प्रधान नगरों के भग्नावशेष इस समय के हड़प्पा और मोहनजोदड़ो नामक स्थानों पर उपलब्ध हुए हैं। यह सभ्यता पूर्व में काठियावाड़ से शुरू होकर पश्चिमी में मकरान तक विस्तृत थी। उत्तर में इसका विस्तार हिमालय तक था। इसके प्रधान नगर सिन्ध व उसकी सहायक नदियों के समीपवर्ती प्रदेश में विद्यमान थे, इसीलिये इसे 'सिन्धु-घाटी की सभ्यता' कहा जाता है। इस सभ्यता के सुविस्तृत क्षेत्र को यदि एक त्रिभुज द्वारा प्रगट किया जाय, तो उसकी तीनों भुजाएं क्रमशः ९५०,६०० और ५५० मील लम्बी होंगी। इस सुविशाल क्षेत्र में अब तक चालीस बस्तियों में खुदाई का कार्य हुआ है। इन बस्तियों के भग्नावशेष खेड़ों के रूप में विद्यमान हैं, जिनकी खुदाई करने से इस समृद्ध व उन्नत सभ्यता के बहुत-से महत्त्वपूर्ण अवशेष प्राप्त किये गये हैं। इस क्षेत्र में अभी अन्य भी अनेक खेड़े विद्यमान हैं, जिनकी अब तक खुदाई नहीं हुई है। खोज द्वारा जिन चालीस बस्तियों का अब तक परिचय मिला है, उनमें कुछ ग्राम, कुछ कसबे और दो विशाल नगर हैं। इस सिन्धु-सभ्यता के प्रधान नगर हड़प्पा और मोहनजोदड़ो हैं, जिनमें से मोहनजोदड़ो कराची से २०० मील उत्तर में सिन्ध नदी के तट पर स्थित है। यह स्थान सिन्ध के लरकाना जिले में है। हड़प्पा पंजाब में लाहौर से १०० मील दक्षिण-पश्चिम में रावी नदी के तट पर है। यह नदी आगे चलकर सिन्ध में मिल जाती है। हड़प्पा और मोहनजोदड़ो में ३५० मील का अन्तर है।

सिन्धु-सभ्यता की जिन चालीस बस्तियों का उल्लेख ऊपर किया गया है, उन

सबके अवशेष एक-दूसरे से असाधारण समता रखते हैं। उनमें उपलब्ध हुए मिट्टी के बरतन एक सदृश हैं; उनके मकानों का निर्माण करने के लिये जो ईंटें प्रयुक्त हुई हैं, वे भी एक आकार की हैं। उनमें माप और तोल के उपकरण भी एक समान हैं, और इन स्थानों से जो उत्कीर्ण लेख मिले हैं, वे भी एक तरह के ही हैं। हजारों वर्गमील के इस विशाल क्षेत्र में एकसदृश सभ्यता की सत्ता इस बात को सूचित करती है, कि यह सारा प्रदेश एक व्यवस्था व एक संगठन के अधीन था। यदि इसे एक साम्राज्य कहा जाय, तो अनुचित नहीं होगा। सम्भवतः, इस विशाल साम्राज्य की दो राजधानियां थीं, उत्तर में हड़प्पा और दक्षिण में मोहनजोदड़ो। दुर्भाग्य की बात है, कि इस सभ्यता की लिपि को अब तक पढ़ा नहीं जा सका है, और इसी कारण हम यह नहीं जानते, कि इस साम्राज्य का क्या नाम था, और इस पर किन राजाओं का शासन था।

सिन्धु-सभ्यता के युग की प्राकृतिक दशा—इस समय सिन्ध का प्रदेश रेगिस्तान व उजाड़ है। पर ऐसा प्रतीत होता है, कि जिस युग में सिन्धु-सभ्यता का विकास हुआ, तब ये प्रदेश हरे-भरे वनों से अच्छादित थे। सिन्धु-सभ्यता के अवशेषों में हाथी, गेंडा, शेर आदि अनेक हिंस्र जन्तुओं की हड्डियां बड़े परिमाण में प्राप्त हुई हैं। साथ ही, इन अवशेषों में जो उत्कीर्ण मुद्राएँ (मोहरें) मिली हैं, उनपर भी इन वन्य पशुओं के चित्र अंकित हैं। सिन्धु-सभ्यता के नगरों व कसबों के निर्माण के लिये जो ईंटें प्रयुक्त की गई थीं, वे सब मिट्टी को पकाकर तैयार की गई थीं। हड़प्पा और मोहनजोदड़ो के मकानों में करोड़ों ईंटें प्रयुक्त हुई थीं। इन ईंटों को आग में पकाने के लिये लकड़ी व ईंधन की जिस प्रचुर मात्रा में आवश्यकता हुई होगी, वह अब सिन्ध के क्षेत्र में उपलब्ध नहीं हो सकती। अतः यह सहज में अनुमान किया जा सकता है, कि प्राचीन सिन्ध जंगलों से परिपूर्ण था और वहां लकड़ी प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होती थी। इन जंगलों में हाथी, गेंडा, शेर, भेड़िया, रीछ आदि जंगली पशु बड़ी संख्या में निवास करते थे। इसी कारण सिन्धु-सभ्यता के भग्नावशेषों में इन पशुओं की हड्डियां बड़े परिमाणमें मिलनी सम्भव हो सकी हैं। मकानों के लिये पक्की ईंटों का भारी संख्या में उपयोग भी इस बात को सूचित करता है, कि उस युग में सिन्ध में वर्षा बहुत होती थी और वह प्रदेश आजकल के समान रेगिस्तान व उजाड़ नहीं था। सिकन्दर ने जब भारत पर आक्रमण किया, तब भी सिन्ध के अनेक प्रदेश हरे-भरे व समृद्ध थे। अतः यह सुगमता के साथ माना जा सकता है, कि सिन्धु-सभ्यता के युग में ये प्रदेश हरे-भरे व जंगलों से परिपर्ण थे।

खोज का प्रारम्भ और सिन्धु-सभ्यता का काल--सिन्ध नदी की घाटी में विद्यमान इस प्राचीन सभ्यता को खोज निकालने का श्रेय श्री राखालदास बैनर्जी और रायबहादुर श्री दयाराम साहनी को है। इन विद्वानों ने मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के विशाल खेड़ों के नीचे दबे हुए प्राचीन भग्नावशेषों का पता लगाया और इनके विवरणों के कारण अन्य विद्वानों का ध्यान उनकी ओर आकृष्ट हुआ। १९२१ ई० से शुरू करके अब तक इन खेड़ों व सिन्धु-सभ्यता की अन्य बस्तियों की जो खुदाई हुई है, उससे एक समृद्ध सभ्यता की सत्ता प्रमाणित हुई है, जो आर्यों के भारत में प्रवेश से पहले इन प्रदेशों में विद्यमान थी। इसमें सन्देह नहीं, कि सिन्धु-घाटी की यह सभ्यता अमरी-नल और कुल्ली-सभ्यताओं की अपेक्षा अर्वाचीन है। इस सभ्यता के काल के सम्बन्ध में अभी विद्वानों में एकमत नहीं हो सका है। पर इस बात से सब विद्वान् सहमत हैं, कि सिन्धु-घाटी की यह सभ्यता ईसवी सन् के प्रारम्भ से तीन हजार साल के लगभग पुरानी है। अमरी-नल और कुल्ली-सभ्यताओं का जिन लोगों ने विकास किया था, सिन्धु-सभ्यता के लोग उनसे भिन्न थे। सम्भवतः इन लोगों ने पश्चिम की ओर से भारत में प्रवेश किया था, और पश्चिमी भारत के पुराने निवासियों को परास्त कर अपनी नई सभ्यता का विकास किया था। पुरातत्त्व-सम्बन्धी खोज के कारण सिन्धु-सभ्यता के सम्बन्ध में अब इतनी अधिक बातें ज्ञात हो चुकी हैं, कि हम इस सभ्यता के लोगों के जीवन का स्पष्ट और विशद चित्र अपने सम्मुख ला सकते हैं।

(२) नगरों की रचना और भवननिर्माण

मोहनजोदड़ो और हड़प्पा में जो खुदाई हुई है, उससे ज्ञात होता है, कि इन नगरों की रचना एक निश्चित योजना के अनुसार की गई थी। मोहनजोदड़ो में जो भी सड़कें हैं, वे या तो उत्तर से दक्षिण की ओर सीधी रेखा में जाती हैं, और या पूर्व से पश्चिम में। ये सड़कें चौड़ाई में भी बहुत अधिक हैं। नगर की प्रधान सड़क तेंतीस फीट चौड़ी है, और यह नगर के ठीक बीच में उत्तर से दक्षिण की ओर चली गई है। सड़क का तेंतीस फीट चौड़ा होना इस बात को सूचित करता है, कि इसका उपयोग गाड़ियों के लिये होता था, और इस पर अनेक गाड़ियां एक साथ आ-जा सकती थीं। इस प्रधान मार्ग को काटती हुई जो सड़क पूर्व से पश्चिम की ओर गई है, वह इससे भी अधिक चौड़ी है, और यह भी शहर के ठीक बीच में है। इन दो (पूर्व से पश्चिम की ओर व उत्तर से दक्षिण की ओर जानेवाली) सड़कों के समानान्तर जो अन्य अनेक सड़कें हैं, वे भी चौड़ाई में बहुत पर्याप्त हैं। ये अन्य सड़कें नौ

फीट से अठारह फीट तक चौड़ी हैं। सड़कों को मिलानेवाली गलियों की चौड़ाई भी कम नहीं है। कम से कम चौड़ी गली चार फीट के लगभग है। यह आश्चर्य की बात है, कि मोहनजोदड़ो की कोई भी सड़क या गली पक्की नहीं है। केवल मुख्य सड़क (उत्तर से दक्षिण की ओर जाने वाली) पर इस बात के चिह्न पाये जाते हैं, कि उसे किसी समय में ईंटों के टुकड़ों से पक्का करने का प्रयत्न किया गया था। पर प्रतीत होता है, कि इसमें सिन्धु-सभ्यता के प्राचीन मनुष्यों को सफलता नहीं हुई, और इसीलिये इस परीक्षण को उन्होंने अन्य सड़कों में नहीं दोहराया।

सड़कों व गलियों के दोनों ओर मकानों का निर्माण किया गया था। इन मकानों की दीवारें अब तक भी भग्न रूप में विद्यमान हैं। खेड़े की खुदाई द्वारा सड़कों व गलियों के साथ-साथ मकानों की जो दीवारें मिली हैं, कहीं-कहीं उनकी ऊंचाई पच्चीस फीट तक पहुँच गई है। इससे सहज मे अनुमान किया जा सकता है, कि मोहनजोदड़ो के मकान ऊंचे व विशाल थे, और जिस समय यह नगर अपने अविकल रूप में विद्यमान होगा, तो ऊंचे-ऊंचे मकानों की ये पंक्तियां बहुत ही भव्य प्रतीत होती होंगी।

खुदाई के द्वारा हड़प्पा नगर का जो चित्र सामने आता है, वह मोहन-जोदड़ो के समान ही एक निश्चित योजना के अनुसार बना था। सड़कों का सीधा होना और उनके साथ-साथ मकानों का एक निश्चित क्रम के अनुसार बनाया जाना इस बात का प्रमाण है, कि उस युग में नगर की व्यवस्था करने के लिये कोई ऐसा संगठन अवश्य विद्यमान था, जिसके आदेशों का सब लोग पालन करते थे।

शहर के गन्दे पानी को नालियों द्वारा बाहर ले जाने का सिन्धु-सभ्यता के इन नगरों में बहुत उत्तम प्रबन्ध था। मकानों के स्नानागारों, रसोइयों और टट्टियों का पानी नालियों द्वारा बाहर आता था, और वह शहर की बड़ी नाली में मिल जाता था। प्रत्येक गली व सड़क के साथ-साथ पानी निकलने के लिये नाली बनी हुई थी। सड़कों के साथ की नालियां प्रायः नौ इंच चौड़ी और बारह इंच गहरी होती थी। गलियों के साथ की नालियां इनकी अपेक्षा छोटी होती थीं। नालियो का निर्माण पक्की ईंटों से किया गया था, और उन्हें परस्पर जोड़ने के लिये मिट्टी-मिले चूने का प्रयोग किया गया था। नालियों को ढंकने के लिये ईंटें प्रयुक्त होती थीं, जिन्हें ऊपर की सतह से कुछ इंच नीचे जमा कर रखा जाता था। इस प्रकार की खुली ईंटों से ढकने का लाभ यह था, कि आवश्यकता पड़ने पर नाली को सुगमता के साथ साफ किया जा सकता

था। अधिक चौड़ी नालियों को ढकने के लिये पत्थर की शिलायें भी प्रयुक्त की जाती थीं। मकानों से बाहर निकलनेवाले गन्दे पानी के लिये मिट्टी के पाइप भी प्रयोग में लाये जाते थे। सिन्धु-सभ्यता के नगरों के मकान प्रायः दोमंजिले या और भी अधिक मंजिलोंवाले होते थे। अतः यह आवश्यक था, कि ऊपर की मजिलों से गिरनेवाले पानी को ढकने का प्रबन्ध किया जाय, ताकि गलियों में चलनेवाले लोगों पर पानी के छींटें न पड़ें। इसी उद्देश्य से ये पाइप मिट्टी को पकाकर प्रयोग किये जाते थे। मकानों के बाहर प्रायः चौबच्चे भी बना दिये जाते थे, ताकि मकान का गन्दा पानी पहले इनमें एकत्र हो, और उसका गन्द नीचे बैठ जाय, केवल पानी ही शहर की नालियों में जाने पाये। संभवतः, इन चौबच्चों को साफ करने व उनके गन्द को एकत्र कर शहर से बाहर फेंकने की व्यवस्था भी सिन्धु-सभ्यता के नगरों में विद्यमान थी। शहर की कुछ नालियां बहुत बड़ी (मनुष्य के समान ऊंचाईवाली) भी होती थीं। गलियों और सड़कों के साथ-साथ विद्यमान नालियों से आकर जब बहुत-सा पानी एकत्र होकर चलता था, तो उसे शहर से बाहर ले जाने के लिये इन विशाल नालियों की आवश्यकता होती थी। इन नालियो मे कहीं-कहीं सीढ़ियां भी बनाई गई थीं, ताकि उनसे उतरकर नाली को भलीभांति साफ किया जा सके। सम्भवतः ये बड़ी नालियां वर्षा के पानी को बाहर निकालने के लिये भी उपयोगी थीं। उस युग में सिन्धु-घाटी में अबकी अपेक्षा बहुत अधिक वर्षा होती थी। इसी कारण ऐसी विशाल नालियों को बनाने की आवश्यकता हुई थी, जो कि गहराई में पांच फीट और चौड़ाई मे ढाई फीट के लगभग थीं। इसमें सन्देह नहीं, कि वर्षा के या मकानों के गन्दे पानी को शहर से बाहर ले जाने की जो उत्तम व्यवस्था सिन्धु-सभ्यता के इन नगरों में विद्यमान थी, वह प्राचीन संसार के अन्य किसी नगर में नहीं पाई जाती।

सिन्धु-सभ्यता के इन नगरों में पानी के लिये कुएं विद्यमान थे। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के भग्नावशेषों में बहुत-से कुएं मिले हैं, जो चौड़ाई में २ फीट से लगाकर ७ फीट तक हैं। इन कुओं के किनारे पर रस्सी के निशान अब तक विद्यमान हैं। ऐसा प्रतीत होता है, कि बहुत-से मकानों में अपने निजी कुएं विद्यमान थे, और कुछ बड़े कुएं ऐसे थे, जिनसे सर्वसाधारण जनता पानी खींच सकती थी। कुओं के अतिरिक्त जल की प्राप्ति का कोई अन्य साधन भी इन नगरों में था, इस बात का कोई प्रमाण अभी तक नहीं मिला है।

मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की खुदाई द्वारा उन मकानों के संबंध में भी बहुत-

कुछ ज्ञान उपलब्ध होता है, जिनमें सिन्धु-सभ्यता के नागरिक निवास करते थे। इन मकानों के निर्माण के लिये पक्की ईंटों का प्रयोग किया गया था। ईंटें अनेक आकारों की होती थीं। छोटी ईंटों का आकार १०[illegible] × ५ × २[illegible] इंच होता था। बड़ी ईंटों का आकार २०[illegible] × ८[illegible] × २[illegible] इंच था। सम्भवतः ये बड़ी ईंटें विशेष कार्यों के लिये प्रयुक्त होती थी। सिन्धु-सभ्यता के मकानों के निर्माण के लिये जिन ईंटों का प्रयोग बाहुल्य के साथ हुआ है, उनका आकार १०[illegible] × ५ × २[illegible] इंच ही था। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की ये प्राचीन ईंटें बहुत मजबूत, पक्की और रंग में लाल हैं। हजारों साल बीत जाने पर भी ये उत्तम दशा में हैं। ईंटों को पकाने के लिये लकड़ी प्रयुक्त होती थी। शहर के बाहर ईंटों के पकाने के लिये बड़े-बड़े पजावे उस युग में विद्यमान रहे होंगे, यह कल्पना सहज में की जा सकती है। दीवार में ईंटों को जोड़ने के लिये मिट्टी का गारा प्रयुक्त होता था, पर अधिक मजबूती के लिये कभी-कभी मिट्टी में चूना भी मिला लिया जाता था।

मोहनजोदड़ो के छोटे मकानों का आकार प्रायः २६ × ३० फीट होता था। पर बहुत-से ऐसे मकान भी थे, जो आकार में इसकी अपेक्षा दुगने व और भी अधिक बड़े होते थे। प्रायः मकान दोमंजिले होते थे। मोहनजोदड़ो में उपलब्ध दीवारों की मोटाई इस बात को सूचित करती है, कि वहां के मकान कई मंजिल ऊंचे रहे होंगे। जो दीवारें २५ फीट के लगभग ऊंची मिली हैं, इनमें अभी तक वे छेद विद्यमान हैं, जिनमें शहतीरें लगाकर दूसरी मंजिल का फर्श बनाया गया था। इस युग में छत बनाने की यह पद्धति थी, कि पहले शहतीरें डाली जाती थीं, फिर उन पर बल्लियां डालकर एक मजबूत चटाई बिछा दी जाती थी। इसके ऊपर मिट्टी बिछाकर उसे भली-भांति कूटकर पक्का कर दिया जाता था। भारत में अब भी अनेक स्थानों पर छतें इसी ढंग से बनाई जाती हैं। निचली मंजिल से उपरली मंजिल पर जाने के लिये सीढ़ियां थीं, जो पत्थर और लकड़ी से बनाई जाती थीं। ऐसा प्रतीत होता है, कि सिन्धु-सभ्यता के इन नगरों में जगह की बहुत कमी थी, और नागरिकों के लिये स्थान का बहुत मूल्य था। इसीलिये वे सीढ़ियां बहुत ऊंची व तंग बनाते थे, ताकि जगह की बचत हो। मोहनजोदड़ो से उपलब्ध बहुत-सी सीढ़ियों की पौड़ियां १५ इंच ऊंची और ५ इंच चौड़ी हैं। पर कुछ ऐसी इमारतें भी थीं, जिनकी सीढ़ियां बहुत चौड़ी व सुविधाजनक थीं। एक विशाल भवन में ऐसी सीढ़ी भी मिली है, जो ऊंचाई में २[illegible] इंच और चौड़ाई में ८[illegible] इंच है।

निस्सन्देह, यह मकान किसी सम्पन्न व धनी व्यक्ति का था, जिसे जगह की कमी अनुभव नहीं होती थी । कमरों के दरवाजे अनेक आकार के होते थे। छोटे मकानों में प्रायः दरवाजे की चौड़ाई ३ फीट ४ इंच होती थी। पर कुछ ऐसे दरवाजों के अवशेष भी मिले हैं, जिनमें से बोझ से लदे हुए पशु, बैल-गाड़ियां व रथ भी आ-जा सकते थे। कमरों में दीवारों के साथ अलमारियां बनाने की भी प्रथा थी। अलमारी दीवार में ही बना ली जाती थी। इस युग में खूंटियों व चटखनियों आदि का भी प्रयोग होता था । हड्डी और शंख के बने हुए इस प्रकार के अनेक उपकरण मोहनजोदड़ो के अवशेषों में उपलब्ध हुए हैं । सम्भवतः, उस समय फर्नीचर का भी प्रयोग होता था। मोहनजोदड़ो में प्राप्त एक मुद्रा पर एक स्टूल (चौकी) का चित्र अंकित है। खेद की बात है, कि सिन्धु-सभ्यता के इन नगरों के भग्नावशेषों से अब तक किसी पलंग, मेज, कुर्सी, चौकी आदि का कोई खण्ड नहीं मिला है, जिससे कि इस सम्बन्ध में अधिक प्रकाश डल सके।

मकानों के बीच में प्रायः सहन (आंगन) भी होता था, जिसके एक कोने में रसोईघर बनाया जाता था। मोहनजोदड़ो में कुछ रसोईघर मिले हैं, जिनमें चूल्हे अब तक विद्यमान हैं। ये चूल्हें ईंटों द्वारा बनाने गये हैं। भारत में अब तक भी इस प्रकार के चूल्हे भारी संख्या में प्रयुक्त होते हैं। स्नानागार प्रत्येक मकान का एक आवश्यक अग होता था। यह न केवल स्नान के काम में आता था, अपितु इसमें पानी भी सचित रहता था। पानी को रखने के लिये मिट्टी के बने हुए घड़े और मटके प्रयोग में आते थे। स्नानागार के समीप ही अनेक मकानों में टट्टी (शौचालय) के अवशेष भी मिले हैं। स्नानागार के फरश पक्की ईंटों से बनाये जाते थे, और उन्हें चिकना व साफ रखने का विशेष रूप से उद्योग किया जाता था। स्नानागार का कमरा आकार में प्रायः चौकोर होता था।

मोहनजोदड़ो की खुदाई से जहां छोटे मकानों के बहुत-से अवशेष मिले हैं, वहा साथ ही विशाल इमारतों के अवशेष भी उपलब्ध हुए हैं। शहर के उत्तरी भाग में मध्यवर्ती (पूर्व से पश्चिम की ओर जानेवाली) सड़क के साथ एक विशाल इमारत के खण्डहर विद्यमान हैं, जो लम्बाई में २४२ फीट और चौड़ाई में ११२ फीट थी। इस इमारत की बाहरी दीवार मोटाई में ५ फीट है । इससे सूचित होता है, कि यह इमारत कई मंजिल ऊंची थी। इस इमारत के समीप ही एक अन्य विशाल प्रासाद के खण्डहर मिले हैं, जो लम्बाई में २२० फीट और चौड़ाई में ११५ फीट था। इसकी बाहरी दीवार ५ फीट से भी अधिक मोटी है। सम्भवतः

यह विशाल इमारत एक भव्य प्रासाद थी। विशाल आकार की इमारतों के अन्य भी अनेक अवशेष मिले हैं। ये इमारतें या तो शासकवर्ग के साथ सम्बन्ध रखती हैं, या अत्यन्त समृद्ध व वैभवशाली व्यापारीवर्ग की सत्ता को सूचित करती हैं।

मोहनजोदड़ो की इमारतों में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण एक विशाल जलाशय है, जो ३९½ फीट लम्बा २३¼ चौड़ा और ८ फीट गहरा है। यह जलाशय पक्की ईंटों से बना है, और इसकी दीवारें बहुत मजबूत हैं। इसमें अन्दर जाने के लिये पक्की सीढ़ियां बनी हुई हैं। जलाशय के चारों ओर एक गैलरी बनी हुई है, जो १५ फीट चौड़ी है। इसके साथ ही जलाशय के दक्षिण-पश्चिम की ओर आठ स्नानागार बने हैं। इन स्नानागारों में सीढ़ियों के अवशेष उपलब्ध हुए हैं, जिनसे सूचित होता है, कि इनके ऊपर और कमरे थे। अनुमान किया गया है, कि ये ऊपर के कमरे निवास के काम में आते थे। उन तक पहुँचने का रास्ता स्नानागारों से होकर जाता था। सम्भवतः, इनमें पुरोहित लोग निवास करते थे, क्योंकि इस जलाशय का उपयोग किसी विशिष्ट धार्मिक प्रयोजन से ही होता था। जलाशय के समीप ही एक कुआं भी था, जिसके जल से शायद इस जलाशय को पूर्ण किया जाता था। जलाशय को पानी से भरने व उसके गन्दे जल को निकालने के लिये जो नल थे, उनके भग्नावशेष भी इस समय उपलब्ध हुए हैं। इस जलाशय के समीप ही एक अन्य इमारत है, जिसे हम्माम समझा जाता है। सम्भवतः, यहां पानी को गरम करने का प्रबन्ध था।

सिन्धु-सभ्यता के इन नगरों के चारों ओर परिखा और प्राकार के भी अवशेष मिले हैं। यह स्वाभाविक है, कि इन विशाल नगरों की रक्षा के लिये इन्हे दुर्गरूप में बनाया गया हो। इन नगरों का क्षेत्रफल एक वर्गमील से भी कुछ अधिक है। एक वर्गमील के विस्तृत क्षेत्र में ये समृद्ध नगर दुर्ग की चहारदीवारी से घिरे हुए विद्यमान थे। यह सहज में ही समझा जा सकता है, कि दुर्ग के बाहर भी अनेक छोटे-बड़े गांव रहे होंगे, जो नगर-निवासियों की आवश्यकताओं को पूर्ण करते होंगे। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के छोटे-बड़े घरों में जो हजारों स्त्री-पुरुष निवास करते थे, वे अपनी भोजन-सामग्री बाहर से ही प्राप्त करते होंगे। इसके लिये यह आवश्यक है, कि नगरों के समीपवर्ती प्रदेशों में बहुत-से ग्राम विद्यमान हों। पर इन ग्रामों के कोई भग्नावशेष अभी तक नहीं मिल सके हैं।

सिन्धु-सभ्यता के इन नगरों में दूकानों के भी अनेक अवशेष मिले हैं। सड़कों और गलियों के दोनों ओर अनेक ऐसे भवनों के खण्डहर प्राप्त हुए है, जो सम्भवतः दूकानों के रूप में प्रयुक्त होते थे। कुछ ऐसी विशाल इमारतें भी मिली हैं

जिनको विद्वानों ने बड़े व्यापार-भण्डार माना है, जिनमें व्यापारी लोग अपने माल को लाकर जमा करते थे, और जहां वे उसका विक्रय करते थे। ऐसे व्यापार-भण्डार आकार में बहुत विस्तृत व विशाल होते थे।

(३) धर्म

सिन्धु-सभ्यता के लोगों के धार्मिक विश्वास क्या थे, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के भग्नावशेषों में कोई ऐसी इमारतें नहीं मिली हैं, जिन्हें निश्चितरूप से मन्दिर या धर्म-स्थान माना जा सके। सम्भवतः, इन नगरों में बहुत-से छोटे-छोटे मन्दिर थे, जिनके खण्डहर अन्य मकानों से पृथक् नहीं किये जा सकते। मोहनजोदड़ो के मुख्य खेड़े के समीप ही एक बौद्ध स्तूप है, जो स्वयं भी एक प्राचीन खेड़े के ऊपर बना हुआ है। पुरातत्त्व-विभाग ने इस स्तूप को गिराकर नीचे गड़े हुए प्राचीन भग्नावशषों की खुदाई नहीं की है। फिर भी इस स्तूप के चारों ओर के स्थान से जो बहुत-से अवशेष मिले हैं, उनसे सूचित होता है, कि इसके नीचे किसी विशाल इमारत के खण्डहर दबे हुए हैं। अनेक विद्वानों का विचार है, कि यह विशाल इमारत किसी मन्दिर की है, जिसे सिन्धु-सभ्यता के निवासी पूजास्थान के रूप में प्रयुक्त करते थे। जो जगह एक समय में पवित्र मानी जाती है, उसे बाद के लोग भी पवित्र मानते रहते हैं। बौद्धों ने इस जगह पर अपना स्तूप इसी लिये खड़ा किया था, क्योंकि पूर्ववर्ती समय में भी यह स्थान पूजापाठ के काम में आता था। जिस जलाशय का हमने ऊपर उल्लेख किया है, वह भी इस स्थान के समीप ही है। सम्भवतः, बौद्ध-स्तूप के नीचे दबी हुई विशाल इमारत मोहनजोदड़ो का प्रधान मन्दिर थी, और इस प्राचीन नगर के निवासी वहां पूजा-पाठ के लिये एकत्र होते थे।

मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के भग्नावशेषों में कुछ वस्तुएं ऐसी मिली हैं, जिनके आधार पर हम सिन्धु-सभ्यता के लोगों के धर्म के विषय में कुछ उपयोगी बातें जान सकते हैं। ये वस्तुएं मुद्राएं (मोहरें) और धातु पत्थर तथा मिट्टी की बनी हुई मूर्तियां हैं। पत्थर की बनी मूर्तियों में सबसे अधिक महत्त्व की वह मूर्ति है, जो कमर के नीचे से टूटी हुई है। यह केवल ७ इन्च ऊंची है। अपनी अविकल दशा में यह मूर्ति अधिक बड़ी होगी, इसमें सन्देह नहीं। इस मूर्ति में मनुष्य को एक ऐसा चोगा पहने हुए दिखाया गया है, जो बायें कन्धे के ऊपर और दाईं भुजा के नीचे से गया है। चोगे के ऊपर तीन हिस्सेवाली पुष्पाकृति बनी है। सम्भवतः यह पुष्पाकृति धार्मिक चिह्न की द्योतक थी, क्योंकि इस प्रकार का चिह्न

मोहनजोदड़ो और हड़प्पा में बहुलता के साथ उपलब्ध है। मूर्ति के पुरुष की मूंछे मुंडी हुई हैं, यद्यपि दाढ़ी विद्यमान है। प्राचीन सुमेरिया में उपलब्ध अनेक दैवी और मानुषी-मूर्तियों में भी इसी प्रकार से मूंछें मुड़ी हुई व दाढ़ी पाई जाती है। मूर्ति में आंखें मुंदी हुई व ध्यानमग्न दिखाई गई हैं। मूर्ति की ध्यान-मुद्रा से प्रतीत होता है, कि इसे योगदशा में बनाया गया है। इस बात से प्रायः सब विद्वान् सहमत हैं, कि सिन्धु-सभ्यता की यह मूर्ति किसी देवता की है, और इसका सम्बन्ध वहां के धर्म के साथ है।

पत्थर से बनी इस दैवी मूर्ति के अतिरिक्त मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के भग्नावशेषों में मिट्टी की भी बहुत-सी मूर्तियां मिली हैं। इनमें से एक प्रकार की स्त्री-मूर्ति विशेष रूप से उल्लेखनीय है, क्योंकि ऐसी मूर्तियां बहुत बड़ी संख्या में उपलब्ध हुई हैं। यह स्त्री-मूर्ति प्रायः नग्न दशा में बनाई गई है, यद्यपि कमर के नीचे जांघों तक एक प्रकार का कपड़ा भी प्रदर्शित किया गया है। मूर्ति पर बहुत-से आभूषण अंकित किये गये हैं, और सिर की टोपी पंखे के आकार की बनाई गई है, जिसके दोनों ओर दो प्याले या दीपक हैं। ऐसी अनेक स्त्री-मूर्तियों में दीपक के बीच में धूम्र के निशान है, जिनसे यह सूचित होता है, कि इनमें तेल या धूप जलाई जाती थी। धूम्र की सत्ता इस बात का प्रमाण है, कि ये स्त्री-मूर्तियां पूजा के काम में आती थीं। संसार की प्रायः सभी प्राचीन सभ्यताओं में मातृ-देवता की पूजा की प्रथा विद्यमान थी। कुल्ली-सभ्यता का उल्लेख करते हुए हम पहले भी मातृ-देवता का जिक्र कर चुके हैं। सिन्धु-सभ्यता में यदि लोग मातृ-देवता की पूजा करें, और उसकी मूर्ति के दोनों पार्श्वों में दीपक जलायें, तो यह स्वाभाविक ही है।

मातृ-देवता की मूर्तियों के अतिरिक्त मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के भग्नावशेषों में अनेक पुरुष-मूर्तियां भी मिली हैं, जिन्हें नग्न रूप मे बनाया गया है। अनेक प्राचीन सभ्यताओं में लोग त्रिमूर्ति की उपासना करते थे। मातृ-देवता, पुरुष और बालक—ये इस त्रिमूर्ति के तीन अंग होते थे। सिन्धु-सभ्यता के अवशेषों में बालक-देवता की कोई मूर्ति नहीं मिली है। अतः यह कल्पना तो नहीं की जा सकती, कि अन्य प्राचीन सभ्यताओं के समान यहां भी त्रिमूर्ति की उपासना प्रचलित थी, पर पुरुष-मूर्तियों की सत्ता इस बात को अवश्य सूचित करती है, कि मातृ-देवता के अतिरिक्त वहां पुरुष-रूप में भी दैवी शक्ति की पूजा का भाव विद्यमान था।

सिन्धु-सभ्यता के धर्म के सम्बन्ध में अनेक ज्ञातव्य बातें उन मुद्राओं से

प्राप्त होती है, जो मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के भग्नावशेषों में प्रचुर संख्या में उपलब्ध हुई हैं। इनमें से एक मुद्रा पर किसी ऐसे नग्न देवता की आकृति अंकित है, जिसके तीन मुख हैं, और जिसके सिर पर सींग बनाये गये हैं। इस दैव मूर्ति के चारों ओर अनेक पशु बनाये गये हैं। ये पशु हिरण, गेंडा, हाथी, शेर और भैंसे हैं। अनेक विद्वानों का विचार है, कि यह आकृति पशुपति शिव की है, जिसकी पूजा आगे चलकर हिन्दू-धर्म में भी प्रारम्भ हुई। पशुपति शिव की प्रतिमा से अंकित तीन मुद्राएं अब तक उपलब्ध हुई हैं। यदि इन तीन मुद्राओं में अंकित प्रतिमा को शिव की मान लिया जाय, तो यह स्वीकार करना होगा, कि शैव-धर्म संसार के प्राचीनतम धर्मों में से एक है।

सिन्धु-सभ्यता के लोग मातृदेवता की पूजा के साथ-साथ प्रजनन-शक्ति की भी उपासना करते थे। वहां ऐसे अनेक प्रस्तर मिले हैं, जिन्हें विद्वान् लोग योनि और लिङ्ग के प्रतीक मानते हैं। आगे चलकर हिन्दू-धर्म में योनि और लिंग की पूजा ने बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया। शैव-धर्म में इस प्रकार की पूजा सम्मिलित है, और अनेक शैव-मन्दिरों में योनि और लिंग की प्रतिमा स्थापित की जाती है। कोई आश्चर्य नहीं, कि पशुपति शिव के उपासक सिन्धु-सभ्यता के लोग योनि और लिंग की प्रतिमा बनाकर प्रकृति की प्रजनन-शक्ति की भी पूजा करते हों।

मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के भग्नावशेषों में उपलब्ध अनेक मुद्राओं पर पीपल का वृक्ष भी अंकित है। अब तक भी हिन्दू-धर्म में पीपल का वृक्ष पवित्र माना जाता है। बौद्ध-धर्म में भी बोधिवृक्ष के रूप मे पीपल की पूजा विद्यमान है। कोई आश्चर्य नहीं, कि भारत मे पीपल-सदृश वृक्षों की पूजा सिन्धु-सभ्यता के युग से चली आती हो, और इसी सभ्यता के लोगों द्वारा इस ढंग की पूजा बाद के हिन्दू-धर्म में प्रविष्ट हुई हो। अनेक मुद्राओं पर कतिपय पशुओं की प्रतिमायें भी अंकित हैं, और कुछ पशुओं की मूर्तियां भी मिली हैं। हिन्दू-धर्म में विविध देवताओं के वाहन-रूप में जो बैल, मूषक आदि पशुओं का महत्त्वपूर्ण स्थान है, सम्भवतः उसका प्रारम्भ भी सिन्धु-सभ्यता के युग में ही हुआ था।

इस प्रकरण को समाप्त करने से पूर्व यह लिखना भी आवश्यक है, कि मोहनजोदड़ो और हड़प्पा में जो बहुत-सी मूर्तियां मिली हैं, वे प्रायः सभी खण्डित दशा में हैं। ऐसा प्रतीत होता है, कि उन्हें जान-बूझकर तोड़ा गया

है। सम्भव है, कि जब किन्हीं विदेशी व विधर्मी आक्रान्ताओं ने इस सभ्यता के नगरों को विजय कर उनका विनाश किया हो, तो उन्होंने विद्वेष-वश इन दैव मूर्तियों को तोड़ा हो।

(४) आर्थिक जीवन

मोहनजोदड़ो और हड़प्पा जैसे विशाल व समृद्ध नगरों की सत्ता इस बात का स्पष्ट प्रमाण है, कि सिन्धु-सभ्यता का आर्थिक जीवन बहुत समृद्ध व उन्नत था। इस सभ्यता के लोगों के आर्थिक जीवन का मुख्य आधार कृषि था। ये लोग खेती द्वारा अनेक प्रकार के अन्नों को उत्पन्न करते थे। इन अन्नों में गेहूँ और जौ की प्रमुखता थी। इनके कुछ अवशेष भी सिन्धु-सभ्यता के नगरों के भग्नावशेषों में उपलब्ध हुए हैं। पर इस सभ्यता के लोग केवल शाकाहारी ही नहीं थे। वे मांस, मछली, अण्डे आदि का भी भोजन के लिये प्रयोग करते थे। मृत शरीरों को गाड़ते हुए मृत मनुष्य के उपयोग के लिये उन्होंने जो विविध सामग्री साथ में रखी थी, उसमें मांस भी सम्मिलित था। यही कारण है, कि मनुष्यों के अस्थिपंजर के साथ-साथ पशुओं की हड्डियां भी उपलब्ध हुई हैं। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के भग्नावशेषों में खजूर की गुठलियों की उपलब्धि इस बात को सूचित करती है, कि सिन्धु-सभ्यता के निवासी फलों का भी उपयोग करते थे। मोहरों पर अंकित गाय, बैल, भैंस आदि की प्रतिमायें इस बात का प्रमाण हैं, कि सिन्धु-सभ्यता में इन पशुओं का महत्त्वपूर्ण स्थान था। लोग इनके दूध, घी आदि का उपयोग करते होंगे, यह कल्पना सहज में की जा सकती है। गाय, बैल और भैंस के अतिरिक्त सिन्धु-सभ्यता के लोग भेड़, बकरी, हाथी, सूअर और कुत्ते भी पालते थे। इन सब पशुओं की हड्डियां इस सभ्यता के अवशेषों में प्राप्त हुई हैं। यह आश्चर्य की बात है, कि इन अवशेषों में ऊंट की सत्ता का कोई प्रमाण नहीं मिला है। सम्भवतः, उस युग में सिन्धु-घाटी की प्राकृतिक दशा ऐसी नहीं थी, कि उसमें ऊंट रह सके। इस बात के प्रमाण भी मिले हैं, कि सिन्धु-सभ्यता में घोड़े और गधे की भी सत्ता थी। सिन्धु-सभ्यता से पूर्ववर्ती अमरी-नल और कुल्ली-सभ्यताओं में भी ये पशु विद्यमान थे। जंगली पशुओं में गैंडे, शेर, बाघ, भालू, बन्दर और खरगोश से इस सभ्यता के लोग भली भांति-परिचित थे। इन पशुओं के चित्र मोहनजोदड़ो और हड़प्पा में उपलब्ध अनेक मुद्राओं पर उत्कीर्ण हैं।

सिन्धु-सभ्यता के लोग गेहूँ और जौ की खेती करते थे, यह हम ऊपर लिख चुके हैं। इस बात का भी प्रमाण मिला है, कि इस युग के मनुष्य कपास भी उत्पन्न करते

थे। मोहनजोदड़ो के अवशेषों में एक सूती कपड़ा चांदी के एक कलश के साथ चिपका हुआ मिला है। विशेषज्ञों के मतानुसार यह कपड़ा वर्तमान समय की खादी से मिलता-जुलता है। ऐसा प्रतीत होता है, कि सिन्धु-घाटी के प्रदेश में सूती कपड़ा बहुतायत के साथ बनता था। वह सुदूरवर्ती देशों में विक्रय के लिये जाता था, और पश्चिमी संसार में उसकी बहुत कद्र थी। प्राचीन ईराक में सूती कपड़े के लिये 'सिन्धु' शब्द का प्रयोग होता था। यही शब्द और अधिक पश्चिम में ग्रीक भाषा में 'सिन्दन' बन गया। सूत को लपेटने के लिये प्रयुक्त होनेवाली बहुत-सी नरियां मोहनजोदड़ो के भग्नावशेषों में मिली हैं। इनकी उपलब्धि इस बात का प्रमाण है, कि वहां घर-घर में सूत कातने की प्रथा विद्यमान थी। वस्त्र-व्यवसाय के समुन्नत होने के कारण सिन्धु-सभ्यता में कपास की खेती का कितना अधिक महत्त्व होगा, इस बात की कल्पना सहज में की जा सकती है।

हड़प्पा के भग्नावशेषों मे उन विशाल गोदामों के चिह्न पाये गये हैं, जिनका उपयोग अनाज को जमा रखने के लिये किया जाता था। इन अन्नभंडारों के समीप ही अनाज को पीसने का भी प्रबन्ध था। गेहूँ और जौ के अतिरिक्त सरसों और राई की खेती के भी प्रमाण सिन्धु-सभ्यता के अवशेषों में मिले हैं।

शिल्प और व्यवसाय—कृषि के अतिरिक्त जो व्यवसाय और शिल्प सिन्धु-सभ्यता में विद्यमान थे, उनके संबंध में अनेक महत्त्वपूर्ण बातें इस युग के खण्डहरों से ज्ञात हुई हैं। मिट्टी के बरतन बनाने की कला इस युग में बहुत उन्नत थी। मोहनजोदड़ो और हड़प्पाके भग्नावशेषोंमें बहुत-से बरतन पूर्ण या खण्डितरूपमें उपलब्ध हुए हैं। ये बरतन कुम्हार के चाक पर बनाये गये हैं, और इन्हें अनेक प्रकार के चित्रों व आकृतियों द्वारा विभूषित किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है, कि सिन्धु-सभ्यता के कुम्हार पहले चाक पर अनेक प्रकार के बरतन बनाते थे, फिर उन्हें चमकाने के लिये एक विशेष प्रकार का लेप प्रयुक्त करते थे, और विविध प्रकार की चित्रकारी इसके बाद में की जाती थी। अन्त में उन्हें भट्टी में पकाया जाता था और इस प्रकार तैयार हुए बरतन अत्यंत सुन्दर और मजबूत होते थे। इस युग के कटोरे-कटोरियां, कलश, थालियां, रकाबियां, सुराहियां आदि बहुत बड़ी संख्या में उपलब्ध हुई हैं, जो कुम्हार के शिल्प की उत्कृष्टता के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। बहुत-से बरतनों पर उस ढंग की चमक पाई जाती है, जैसी कि चीनी मिट्टी के बने बरतनों पर होती है।

बरतन न केवल मिट्टी के बनाये जाते थे, अपितु पत्थर और धातु का भी इनके निर्माण के लिये प्रयोग होता था। सिन्धु-सभ्यता के अवशेषों में पत्थर के

हड़प्पा के भग्नावशेषों में वे आभूषण अच्छी बड़ी संख्या में उपलब्ध हुए हैं, जिन्हें इस युग के स्त्री-पुरुष धारण किया करते थे। ये आभूषण चांदी और तांबे के बरतनों में संभालकर रखे हुए मिले हैं। ये बरतन मकानों के फरश के नीचे गड़े हुए पाये गये हैं, जिससे सूचित होता है कि सुरक्षा के लिये इन्हें जमीन के नीचे गाड़ दिया गया था। आभूषणों से भरा हुआ एक कलश हड़प्पा में फरश से आठ फीट के लगभग नीचे गड़ा हुआ मिला है। जिस स्थान पर यह कलश पाया गया है, वह समृद्ध व धनी लोगों के निवास का मोहल्ला नहीं था। वहां गरीब लोगों के छोटे-छोटे घर थे। ऐसा प्रतीत होता है, कि किसी चोर ने ये आभूषण चोरी द्वारा प्राप्त किये थे, और उन्हें अपने कमरे के आठ फीट नीचे गाड़ दिया था। इस कलश में सोने के बने हुए जो आभूषण व उनके खण्ड मिले हैं, उनकी संख्या ५०० के लगभग है। इनमें सुवर्णनिर्मित बाजूबन्द और हार से लगाकर छोटे-छोटे मनके तक सम्मिलित हैं। मोहनजोदड़ो के भग्नावशेषों में भी आभूषणों से पूर्ण अनेक छोटे-बड़े कलश उपलब्ध हुए हैं। यहां हमारे लिये यह सम्भव नहीं है, कि हम इन आभूषणों का संक्षिप्त वर्णन भी दे सकें। पर यह उल्लेख कर देना आवश्यक है, कि सिन्धु-सभ्यता के अवशेषों में मिले आभूषणों में अनेक लड़ियोंवाले गले के हार, बाजूबन्द, चूड़ियां, कर्णफूल, झुमके, नथ आदि बहुत प्रकार के आभूषण विद्यमान हैं। कला की दृष्टि से ये अत्यन्त सुन्दर और उत्कृष्ट हैं। ऐसा प्रतीत होता है, कि सिन्धु-सभ्यता में सुनार और जौहरी का शिल्प बहुत उन्नत दशा में था। सुवर्ण के अतिरिक्त चांदी और बहुमूल्य पत्थरों (लाल, पन्ना, मूंगा आदि) का भी आभूषणों के लिये प्रयोग किया जाता था। तांबे, हाथीदांत, हड्डी और मिट्टी के बने हुए भी बहुत-से आभूषण इस सभ्यता के अवशेषों में प्राप्त हुए हैं। इससे सूचित होता है, कि जो गरीब लोग सोने-चांदी के आभूषण नहीं पहन सकते थे, वे तांबे आदि के आभूषण पहनकर ही सन्तोष कर लेते थे। पर उस युग के सब मनुष्य आभूषणों के बहुत शौकीन न थे, यह सर्वथा सत्य है।

धातु का उपयोग—सिन्धु-सभ्यता के आर्थिक जीवन में धातुओं द्वारा बरतन और औजार बनाने का शिल्प भी बहुत उन्नत था। इन धातुओं में तांबे को प्रचुरता के साथ प्रयुक्त किया जाता था, यद्यपि चांदी, ब्रोंज और सीसे का उपयोग भी उस युग के धातुकार भली भांति जानते थे। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की खदाई में अब तक चांदी के केवल तीन बरतन उपलब्ध हुए हैं। पर इन तीन बरतनों की सत्ता इस बात का प्रमाण है, कि इस युग के धनी लोग चांदी का उपयोग करते थे। ताम्र और ब्रोंज के बरतन बहुत बड़ी संख्या

में मिले हैं, और ये अच्छे सुडोल व सुन्दर हैं। ताम्र का प्रयोग औजारों के लिये विशेष रूप से किया जाता था। सिन्धु-सभ्यता प्रस्तर-युग को पीछे छोड़ चुकी थी और उसके निवासी अपने सब प्रकार के उपकरण ब्रोंज और तांबे से बनाते थे। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के खण्डहरों में मिले कुछ तांबे के कुल्हाड़े लम्बाई में ११ इन्च हैं, और उनका बोझ दो सेर से कुछ अधिक है। इनमें लकड़ी को फंसाने के लिये छेद भी विद्यमान हैं। आकार-प्रकार में ये ठीक वैसे हैं, जैसे लोहे के कुल्हाड़े आजकल भारत में प्रयुक्त होते हैं। धातु से निर्मित औजारों में तांबे की बनी एक आरी भी उपलब्ध हुई है, जिसका हत्था लकड़ी का था। इस आरी में दांते भी बने हैं, और यह लम्बाई में १६½ इन्च है। पाश्चात्य संसार में रोमन-युग से पूर्व आरी की सत्ता का कोई प्रमाण नहीं मिलता। यह बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है, कि सिन्धु-सभ्यता के लोग अब से पांच हजार वर्ष के लगभग पूर्व भी आरी का प्रयोग करते थे, जब कि पाश्चात्य दुनिया में इसकी सत्ता को दो हजार साल से पूर्व नहीं ले जाया जा सकता। इस आरी की सत्ता से यह भली भांति सूचित हो जाता है, कि बढ़ई का शिल्प सिन्धु-सभ्यता में भली भांति विकसित था, और उसके नगरों में लकड़ी का प्रचुरता के साथ उपयोग किया जाता था। इस युग में अस्त्र-शस्त्र भी धातु के बनते थे। सिन्ध-सभ्यता के अवशेषों में परशु, तलवार, कटार, धनुष-बाण, बरछी, भाला, छुरी आदि अनेक प्रकार के हथियार मिले है, जो सब तांबे या ब्रोंज के बने हैं। ये हथियार जहां शिकार के काम में आते थे, वहां युद्ध के लिये भी इनका उपयोग होता था। छोटे-छोटे चाकू भी इन अवशेषों में मिले हैं, जो घरेलू कार्यों के लिये प्रयुक्त होते होंगे। पत्थर काटनेवाली छेनियों की सत्ता इस बात को सूचित करती है, कि पत्थर तरासने का शिल्प भी इस युग में विकसित था। ब्रोंज के बने मछली पकड़ने के कांटे भी इस सभ्यता के अवशेषों में उपलब्ध हुए हैं। रावी और सिन्धु नदियों के तट पर स्थित होने के कारण इन नगरों में मछली पकड़ने का व्यवसाय अवश्य ही विकसित दशा में होगा, और इसी प्रयोजन से इन कांटों का प्रयोग किया जाता होगा। धातुओं का प्रयोग केवल बरतन और औजार बनाने के लिये ही नहीं होता था, इस युग के अवशेषों में ताम्र और ब्रोंज की बनी अनेक मूर्तियां भी उपलब्ध हुई हैं, जो धातु-शिल्प की उत्कृष्टता के जीवित जागृत प्रमाण हैं।

तोल और माप के साधन—सिन्धु-सभ्यता की विविध बस्तियों के अव-

शेषों में तोल के बहुत-से बट्टे भी उपलब्ध हुए हैं। ये बट्टे पत्थर के बने हैं, और इन्हें एक निश्चित आकार (चौकोर घन के आकार) में बनाया गया है। सबसे छोटा बाट तोल में १३.६४ ग्राम के बराबर है। इस छोटे बांट को अगर इकाई मान लिया जाय, तो १,२,४,८,१६,३२,६४,१६०,२००,३२० और ६४० इकाइयों के बोझ के बाट उपलब्ध हुए हैं। यह बात बड़े आश्चर्य की है, कि भारत की इस प्राचीन सभ्यता में भी बोझ के विविध अनुपात को सूचित करने के लिये १,४,८,१६ की पद्धति का अनुसरण किया जाता था। वर्तमान समय का सेर १६ छटांकों में विभक्त है, और अधपौवा, पौवा व आधसेरा के बाट ही भारत में तोल के लिये प्रयुक्त किये जाते हैं। इस तरह के बाट केवल मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के अवशेषों में ही नहीं मिले हैं, अपितु छन्नूदड़ो, मही आदि सिन्धु-सभ्यता की अन्य बस्तियों के अवशेषों में भी प्राप्त हुए हैं। हजारों वर्ग मील में विस्तृत इस सिन्धु-सभ्यता में सर्वत्र एक सदृश बाटों की उपलब्धि इस बात का प्रमाण है, कि उसका राजनीतिक व आर्थिक संगठन बहुत दृढ़ था। तोलने के लिये उस युग में तराजू का प्रयोग होता था, धातु की बनी तराजू के भी अनेक खण्ड इस सभ्यता के अवशेषों मे मिले हैं।

मोहनजोदड़ो के खण्डहरों में सीपी के बने 'फुटे' का एक टुकड़ा मिला है, जिसमें ९ एक समान विभाग स्पष्ट रूप से अंकित हैं। ये विभाग ०·२६४ इन्च के बराबर हैं। ऐसा प्रतीत होता है, कि यह फुटा अच्छा लम्बा था, और सीपी के जिन टुकड़ों से इसे बनाया गया था, उन्हें परस्पर जोड़ने के लिये धातु का प्रयोग किया गया था। हड़प्पा के अवशेषों मे ब्रोंज की एक शलाका मिली है, जिसपर नापने के लिये छोटे-छोटे विभाग अंकित हैं। ये विभाग लम्बाई में ०.३६७६ इन्च हैं। इन दो 'फुटों' के आधार पर सिन्धु-सभ्यता की ईंटों व कमरों की लम्बाई-चौड़ाई को मापकर विद्वानों ने यह परिणाम निकाला है, कि इस युग का फुट १३.२ इन्च लम्बा होता था। इस फुट के अतिरिक्त माप का एक अन्य मान था, जो लम्बाई में २०.४ इन्च होता था। सिन्धु-सभ्यता में जो भी मकान बनाये गये थे, व जो ईंटें बनाई गई थीं, वे इन दो मानों में से किसी न किसी मान के अनुसार ठीक उतरते हैं।

व्यापार—तोल और माप के इन निश्चित मानों की सत्ता इस बात की सूचक है, कि इस युग में व्यापार अच्छी उन्नत दशा में था। मोहनजोदड़ो

और हड़प्पा के अवशेषों में जो बहुत-सी वस्तुएं मिली हैं, वे सब उसी प्रदेश की उपज व कृति नहीं हैं। उनमें से अनेक वस्तुएं सुदूरवर्ती प्रदेशों से व्यापार द्वारा प्राप्त की गई थीं। सिन्धु नदी की घाटी में तांबा, चांदी, सोना आदि धातुएं प्राप्त नहीं होतीं। सम्भवतः सिन्धु-सभ्यता के लोग चांदी, टिन, सीसा, और सोना अफगानिस्तान व और भी दूर ईरान से प्राप्त करते थे। अनेक प्रकार के बहुमूल्य पत्थर बदख्शां जैसे सुदूरवर्ती प्रदेशों से आते थे। तांबे के लिये मुख्यतया राजपूताना पर निर्भर रहना पड़ता था। सीपी, शंख, कौड़ी आदि का प्रयोग सिन्धु-सभ्यता में प्रचुरता के साथ हुआ है। सम्भवतः, ये सब काठियावाड़ के समुद्रतट से आती थीं। इसी प्रदेश से मूंगा, मोती, आदि बहुमूल्य रत्न भी आते थे, जिनका उपयोग आभूषणों के लिये किया जाता था। सिन्धु-सभ्यता के भग्नावशेषों में देवदार के शहतीरों के खण्ड भी मिले हैं। देवदार का वृक्ष केवल पहाड़ों में होता है। हिमालय से इतनी दूरी पर स्थित सिन्धु-सभ्यता के नगरों में देवदार की लकड़ी की उपलब्धि इस बात का स्पष्ट प्रमाण है, कि इन नगरों का पार्वत्य प्रदेशों के साथ भी व्यापार था।

यह व्यापार तभी सम्भव था, जब कि व्यापारियों की श्रेणि भली भांति विकसित हो चुकी हो, और आवागमन के साधन भी अच्छे उन्नत हों। व्यापारियों के काफिले (सार्थ) स्थल और जल दोनों मार्गों से दूर-दूर तक व्यापार के लिये आया-जाया करते थे। इस युग में नौका व छोटे जहाजों का प्रयोग होता था, यह बात असन्दिग्ध है। इस सभ्यता के खण्डहरों में उपलब्ध हुई एक मोहर पर एक जहाज की आकृति सुन्दररूप से अंकित की गई है। इसी प्रकार मिट्टी के बरतन के एक टुकड़े पर भी जहाज का चित्र बनाया हुआ मिला है। ये चित्र इस बात को भली भांति सूचित करते हैं, कि सिन्धु-सभ्यता के लोग जहाजों व नौकाओं का प्रयोग करते थे। स्थल-मार्ग द्वारा आवागमन के लिये जहां घोड़े और गधे जैसे पशु प्रयुक्त होते थे, वहां साथ ही बैलगाड़ियां भी उस युग में विद्यमान थीं। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के भग्नावशेषों में खिलौने के तौर पर बनाई गई मिट्टी की छोटी-छोटी गाड़ियां बड़ी संख्या में उपलब्ध हुई हैं। सम्भवतः, बच्चे इन गाड़ियों से खेलते थे। पर खिलौने के रूप में गाड़ियों को बनाना ही इस बात का प्रमाण है, कि उस युग में इनका बहुत अधिक प्रचार था। केवल बैल-गाड़ी ही नहीं, इस युग में इक्के भी प्रयुक्त होते थे। हड़प्पा के खण्डहरों में

ब्रोंज का बना एक छोटा-सा इक्का मिला है, जिसे सम्भवतः उस युग में प्रयुक्त होनेवाले इक्के के नमूने पर बनाया गया था। इसी तरह का एक इक्का छन्नूदड़ो के खण्डहरों में भी मिला है। हड़प्पा और छन्नूदड़ो में ४०० मील का अन्तर है। पर इतने अन्तर पर स्थित इन दो बस्तियों में एक ही तरह के इक्के का मिलना इस बात को सूचित करता है, कि सिन्धु-सभ्यता में सर्वत्र बैलगाड़ी के साथ-साथ इक्के का भी चलन था।

इस युग की सिन्धु-सभ्यता में न केवल अन्तर्देशीय व्यापार अच्छा उन्नत था, अपितु विदेशी व्यापार भी बहुत विकसित दशा में था। पिछले अध्याय में हम यह बता चुके हैं, कि दक्षिणी बिलोचिस्तान की कुल्ली-सभ्यता के व्यापारी सुदूर पश्चिमी एशिया में व्यापार के लिये आते-जाते थे। सिन्धु-सभ्यता के लोग भी पश्चिमी एशिया के विविध देशों से व्यापारिक सम्बन्ध रखते थे, इसके भी अनेक प्रमाण उपलब्ध हुए हैं। प्राचीन सुमेरिया के अवशेषों में अनेक ऐसी मुद्राएं मिली हैं, जो हड़प्पा की मुद्राओं से हुबहू मिलती-जुलती हैं। ये मुद्राएं सुमेरिया की अपनी मुद्राओं से सर्वथा भिन्न हैं। इनमें से एक मुद्रा पर सूती कपड़े का निशान भी अंकित है, जो सिन्धु-सभ्यता में बड़ी मात्रा में तैयार होता था। ऐसा प्रतीत होता है, कि सिन्धु देश के व्यापारी सुमेरिया में बसे हुए थे, और वहां वे मुख्यतया कपड़े का व्यापार करते थे। इसी प्रकार मोहनजोदड़ो में कुछ ऐसी मुद्राएं मिली हैं, जो ठीक सुमेरियन शैली की हैं। ये मुद्राएं या तो सुमेरियन व्यापारियों की सिन्धु देश में सत्ता को सूचित करती हैं, और या यह भी सम्भव है, कि सुमेरिया से घनिष्ठ व्यापारिक सम्बन्ध रखनेवाले कुछ सिन्धुदेशीय व्यापारियों ने सुमेरियन शैली पर अपनी मुद्राओं का निर्माण किया हो। सिन्धु-सभ्यता के व्यापारी न केवल सुमेरिया के साथ व्यापार करते थे, अपितु ईरान से भी उनका व्यापारी सम्बन्ध स्थापित था। ईरान के अनेक प्राचीन भग्नावशेषों में ऐसी अनेक वस्तुएं उपलब्ध हुई हैं, जो वहां सिन्धु देश से गई मानी गई हैं। यह विदेशी व्यापार समुद्र-मार्ग द्वारा होता होगा, यह कल्पना असंगत नहीं है, क्योंकि सिन्धु-सभ्यता के लोग जहाज से भली भांति परिचित थे। पुरातत्त्व के पण्डितों के अनुसार सिन्धु देश का पश्चिमी एशिया के देशों के साथ यह व्यापार-सम्बन्ध तीसरी सहस्राब्दि ई० पू० में विद्यमान था।

मुद्रा—इस प्रकरण में हमने अनेक बार सिन्धु-सभ्यता की मुद्राओं (मोहरों) का उल्लेख किया है। ये मुद्राएं अच्छी बड़ी संख्या में मिली हैं, और इन पर किसी पशु, देवता या वृक्ष की प्रतिमा अंकित है। प्रतिमा के साथ-साथ कुछ लेख भी

उत्कीर्ण हैं, जिन्हें अभी तक पढ़ा नहीं जा सका है। ये मुद्राएं छापे के काम में लाई जाती थीं। सम्भवतः, उत्पादक या व्यापारी लोग इन्हें अपने विक्रेय पदार्थों को मुद्रित करने के काम में लाते थे। इस प्रकार की मुद्राएं संसार की अन्य प्राचीन सभ्यताओं के अवशेषों में भी बड़ी संख्या में उपलब्ध हुई है।

(५) कला, लिपि और आमोद-प्रमोद आदि

कला—सिन्धु-सभ्यता के शिल्प का उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। इस युग में चित्रण-कला, मूर्ति-निर्माण-कला और संगीत अच्छी उन्नत दशा में थे। मिट्टी के बरतनों को किस प्रकार सुन्दर रेखाचित्रों और विविध प्रकार की आकृतियों द्वारा विभूषित किया जाता था, इसका निर्देश भी हमने पिछले प्रकरण में किया है। सिन्धु-सभ्यता की कला में पत्थर और धातु की बनी हुई मूर्तियां विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। धातु की बनी हुई नर्तकी की एक मूर्ति इतनी सुन्दर है, कि वह बिलकुल सजीव प्रतीत होती है। नर्तकी का शरीर नग्न है, यद्यपि उसपर बहुत-से आभूषण बनाये गये है। सिर के केशों का प्रसाधन मूर्ति में बहुत ही सुन्दर रूप से प्रदर्शित किया गया है। इस नर्तकी का रूप कुल्ली-सभ्यता के अवशेषों में उपलब्ध स्त्री-मूर्तियों से मिलता-जुलता है। अतः यह अनुमान किया गया है, कि जिस स्त्री की यह मूर्ति है, वह सिन्धु देश की न होकर दक्षिणी बिलोचिस्तान की थी। नर्तनक्रिया में दक्ष होने के कारण सम्भवतः कोई व्यापारी उसे सिन्धु देश ले आया होगा। इस युग की अन्य मूर्तियां भी मूर्ति-निर्माण-कला की उत्तम उदाहरण हैं।

सिन्धु-सभ्यता के लोग संगीत और नृत्य के शौकीन थे, यह बात केवल नर्तकी की मूर्ति द्वारा ही सूचित नहीं होती, अपितु उन छोटे-छोटे वाद्यों द्वारा भी प्रगट होती है, जो इस युग के भग्नावशेषों में उपलब्ध हुए हैं। पक्षियों की कुछ ऐसी मूर्तियां मिली हैं, जिनकी पूछ से सीटी या बांसुरी बजाने का उपयोग लिया जा सकता था। तबले और ढोल के चित्र भी कुछ स्थानों पर उत्कीर्ण मिले हैं।

अपने केशों के प्रसाधन के लिये इस युग के लोग दर्पण और कंघे का प्रयोग करते थे। तांबे के बने हुए दर्पण इस सभ्यता के अवशेषों में मिले हैं, और हाथीदांत के बने एक कंघे से यह सूचित होता है, कि इस समय में किस ढंग के कंघे प्रयुक्त होते थे। शृंगार की वस्तुएं उस समय में भी उपयोग में लाई जाती थीं। पत्थर के बने हुए छोटे-छोटे ऐसे पात्र मिले हैं, जो सम्भवतः शृंगार-प्रसाधन की वस्तुओं को रखने के लिये प्रयोग में लाये जाते थे।

लिपि और लेखन-कला—मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के भग्नावशेषों में जो बहुत-सी मुद्राएं मिली हैं, उन पर अनेक प्रकार के लेख उत्कीर्ण हैं। लेख केवल इन मुद्राओं पर ही नहीं मिले, अपितु ताम्रपत्रों और मिट्टी के बरतनों पर भी मिले हैं। दुःख की बात है, कि सिन्धु-सभ्यता की इस लिपि को अभी तक पढ़ा नहीं जा सका है। अनेक विद्वानों ने इसे पढ़ने का प्रयत्न किया है, और कुछ का यह भी दावा है, कि वे इस लिपि को पढ़ सकने में सफल हुए हैं। पर अभी तक पुरातत्त्व-शास्त्र के बहुसंख्यक विद्वान् यही मानते हैं, कि यह लिपि पढ़ी नहीं जा सकती है, और जिन विद्वानों ने इसे पढ़ने का दावा किया है, उनका दावा उन्हें स्वीकार्य नहीं है। सिन्धु-सभ्यता के ये लेख चित्रलिपि में है, जिसका प्रत्येक चिह्न किसी विशेष शब्द या वस्तु को प्रकट करता है। इस प्रकार के ३९६ चिह्नों की सूची अब तक बनाई गई है। सुमेरिया की प्राचीन लिपि मे कुल मिलाकर ९०० चिह्न प्रयुक्त होते थे, और उरुक की प्राचीन लिपि में २००० चिह्न। ज्यों-ज्यों लेखन-कला विकसित होती जाती है, लिपि-चिह्नों की संख्या कम होती जाती है। यदि इस दृष्टि से विचार किया जाय, तो यह स्वीकार करना होगा, कि सिन्धु-सभ्यता की लिपि प्राचीन संसार की अन्य लिपियों की अपेक्षा अधिक उन्नत और परिष्कृत थी। कुछ विद्वानों ने प्रतिपादित किया है, कि सिन्धु-सभ्यता की यह लिपि पहली पंक्ति में दाहिनी ओर से बाईं ओर को लिखी जाती थी, और दूसरी पंक्ति में बाईं ओर से दाहिनी ओर। यह आश्चर्य की बात है, कि सिन्धु-सभ्यता की लिपि में लिखे हुए कोई बड़े उत्कीर्ण लेख अभी तक नहीं मिल सके हैं। मुद्राओं और ताम्रपत्रों पर लिखे या उत्कीर्ण किये गये छोटे लेखों के आधार पर इस लिपि को सन्तोषजनक रीति से पढ़ सकना बहुत सुगम प्रतीत नहीं होता।

सिन्धु-सभ्यता में लिखने के लिये स्याही का भी उपयोग होता था, यह बात छन्हूदड़ो के भग्नावशेषों में उपलब्ध एक दवात से सूचित होती है। यह दवात मिट्टी की बनी है, और इसकी उपलब्धि से इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता, कि सिन्धु-सभ्यता के लोग अपने लेखों को केवल उत्कीर्ण ही नहीं करते थे, अपितु कलम-दवात से लिखते भी थे।

आमोद-प्रमोद—सिन्धु-सभ्यता के बच्चे किस प्रकार के खिलौनों से खेलते थे, यह बात उन बड़ी संख्या में प्राप्त मिट्टी के खिलौनों से सूचित होती है, जो मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के भग्नावशेषों में उपलब्ध हुए है। मिट्टी की बनी हुई छोटी-छोटी गाड़ियों का उल्लेख पहले किया जा चुका है। इन गाड़ियों के साथ बैल भी बनाये जाते थे। बैलों से युक्त गाड़ी से बच्चे बड़े शौक से खेलते होंगे,

यह समझ सकना कठिन नहीं है। अनेक पशु-मूर्तियां ऐसी भी मिली हैं, जिनके नीचे पहियों को लगाया गया था। सिन्धु-सभ्यता के बच्चों को खिलौनों को स्वयं अपने हाथों से बनाने का बहुत शौक था। इस युग के खण्डहरों में बहुत-से ऐसे खिलौने मिले हैं, जो बच्चों के द्वारा बनाये गये प्रतीत होते हैं। कुछ खिलौनों पर तो छोटे बच्चों की उंगलियों की रेखायें भी विद्यमान हैं। बच्चे जहां अपने खेलने के खिलौने स्वयं बनाते थे, वहां कुशल शिल्पियों द्वारा बनाये गये खिलौने बाजार में भी बिकते थे। सिन्धु-सभ्यता के खण्डहरों में मिट्टी के बने कतिपय ऐसे खिलौने मिले हैं, जो पशु-आकृति के हैं, और जिनका सिर हिलता रहता है। कुछ खिलौनों में हाथ या पैर पृथक् हैं, जिन्हें तागे से जोड़ा जाता था, और तागे को खींचने से जिनके हाथ-पैर हिलते थे। बन्दर आदि की कुछ ऐसी आकृतियां भी मिली हैं, जो बच्चों को विशेष रूप से आकृष्ट करती होंगी।

सिन्धु-सभ्यता के लोग आमोद-प्रमोद के लिये अनेक प्रकार के खेल खेला करते थे। ये खेल प्रायः पासों द्वारा खेले जाते थे। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के भग्नावशेषों में खेल के लिये प्रयुक्त होनेवाले पासे बड़ी संख्या में मिले हैं। ये पासे चतुष्कोण घनरूप से बनाये गये हैं। पासे मिट्टी और पत्थर दोनों से बनाये जाते थे। उनके विविध पार्श्वों पर संख्या भी डाल दी जाती थी। कुछ पासे हाथीदांत के भी पाये गये हैं, जिन्हें सम्भवतः धनी लोग खेलने के काम में लाते थे।

सिन्धु-सभ्यता के लोग आमोद-प्रमोद के लिये नृत्य और गान को बहुत महत्त्व देते थे। इस युग की नर्तकियों की जो मूर्तियां व आकृतियां मिली हैं, उनमें से एक का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। तबले और ढोल की उत्कीर्ण आकृतियां इस बात को सूचित करती हैं, कि नृत्य के लिये इन वाद्यों का प्रयोग किया जाता था। इस युग के लोगों को शिकार का भी बहुत शौक था। कुछ मुद्राओं पर यह दृश्य अंकित किया गया है, कि लोग तीर-कमान से बारासिंगे का शिकार कर रहे हैं। एक अन्य मुद्रा पर दो शेरों के साथ लड़ाई करते हुए एक वीर पुरुष का चित्र अंकित किया गया है। इस युग के मनुष्य मनोरंजन के लिये तीतर और बटेरों की भी लड़ाई कराया करते थे। सिन्धु-सभ्यता के अनेक अवशेषों पर इस प्रकार की लड़ाई के भी चित्र अंकित हैं।

(६) शासन-प्रबन्ध

सिन्धु-सभ्यता के क्षेत्र में शासन का क्या स्वरूप था, इस सम्बन्ध में कोई

भी निर्देश अब तक उपलब्ध नहीं हुए हैं, और न कोई ऐसी विशाल इमारत इस सभ्यता के नगरों में मिली है, जिसे निश्चित रूप से राजप्रासाद कहा जा सकता हो। प्राचीन समय में अनेक देशों में दैवतंत्र-शासन स्थापित थे, लोग अनेक देवी-देवताओं के उपासक थे, और प्रधान देवता के मन्दिर का मुख्य पुरोहित राज्य का शासक भी होता था। प्राचीन मिस्र में इसी ढंग का दैवतन्त्र-शासन विद्यमान था। पर सिन्धु-सभ्यता के अवशेषों से किसी ऐसे विशाल मन्दिर और उसके प्रधान देवता का भी परिचय नहीं मिला है, जिसके पुरोहित को इस राज्य का शासक समझा जा सके। हां, यह बात सर्वथा स्पष्ट है, कि सिन्ध, पंजाब, पूर्वी बिलोचिस्तान और काठियावाड़ तक विस्तृत सिन्धु-सभ्यता में एक संगठन, एक व्यवस्था और एक शासन की सत्ता थी। अन्यथा यह कैसे सम्भव है, कि इस सुविस्तृत क्षेत्र में एक ही प्रकार के माप और तोल के मान प्रचलित हों, एक ही तरह के भवनों का निर्माण होता हो, एक ही तरह की मूर्तियां पाई जाती हों, और एक ही प्रकार की लिपि का प्रचार हो।

इस दशा में यही कल्पना संगत प्रतीत होती है, कि सिन्धु-सभ्यता का क्षेत्र एक विशाल साम्राज्य के रूप में संगठित था, जिसकी दो राजधानियां थीं, एक हड़प्पा में और दूसरी मोहनजोदड़ो में। पुराने समय में साम्राज्य के सुविस्तृत होने की दशा में इस प्रकार से दो राजधानियां रखने की प्रथा विद्यमान थी। रोमन साम्राज्य की दो राजधानियां थीं, और मागध-साम्राज्यके भी अत्यन्त विस्तृत हो जाने पर सुदूर पश्चिम में पुष्यपुर (पेशावर) के रूप में एक नये कुसुमपुर (पाटलिपुत्र) की स्थापना की गई थी। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के रूप में सिन्धु-सभ्यता की भी दो राजधानियां थीं, और इनको केन्द्र बनाकर साम्राज्य के दक्षिणी और उत्तरी प्रदेशों का शासन किया जाता था। इसमें सन्देह नहीं, कि सिन्धु-साम्राज्य का शासन बहुत व्यवस्थित था। इस विशाल क्षेत्र में सभ्यता जो एकरूपता के साथ रह सकी, उसका यही कारण है।

(७) सिन्धु-सभ्यता के निवासी

मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के भग्नावशेषों में मनुष्यों के जो अस्थिपंजर मिले हैं, उनका अनुशीलन कर यह निर्णय करने का प्रयत्न किया गया है, कि सिन्धु-सभ्यता के निवासी नसल और जाति की दृष्टि से कौन थे। यह तो स्पष्ट ही है, कि इस सभ्यता के प्रधान नगरों की आबादी मिश्रित थी। व्यापार, नौकरी व अन्य आकर्षणों से आकृष्ट होकर अनेक नसलों और जातियों के लोग इन नगरों में

आकर निवास करते थे। यही कारण है, कि इनसे उपलब्ध हुए मानव अस्थिपंजर विविध प्रकार के लोगों की सत्ता को सूचित करते हैं। कर्नल स्यूअल और डा० गुहा के मतानुसार इन नगरों में उपलब्ध हुए अस्थिपंजरों से यह परिणाम निकाला जा सकता है, कि इनके निवासी चार विभिन्न नसलों के थे। ये नसलें निम्नलिखित हैं--आदि आष्ट्रेलोअड, भूमध्यसागरीय, मंगोलियन और अल्पाइन। इनमें से मंगोलियन और अलपाइन नसलके लोगों की केवल एक-एक खोपड़ी सिन्धु-सभ्यता के अवशेषों में प्राप्त हुई हैं। इससे सूचित होता है, कि इन नसलों के लोग सिन्धु देश के क्षेत्र में बहुत कम संख्या में निवास करते थे। सिन्धु देश के बहु-संख्यक निवासी आष्ट्रेलोअड और भूमध्यसागरीय नसलों के थे। इनमें भी भूमध्य-सागरीय नसल का प्राधान्य था। विद्वानों का विचार है, कि आर्य जाति के इतिहास के रंगमंच पर प्रकट होने से पूर्व पृथिवी के अनेक प्रदेशों पर (विशेष-तया भूमध्यसागर के तटवर्ती क्षेत्रों में और पश्चिमी एशिया में) जिन लोगों ने मानव-सभ्यता का विकास किया था, उन्हें हम सामूहिक रूप से भूमध्यसागरीय नसल का कह सकते हैं। इमी नसल को आइबीरियन भी कहा जाता है। इस नसल के लोग रंग में कुछ भूरे व कद में छोटे होते थे। संसार की प्राचीनतम सभ्यता का विकास इसी नसल के लोगों ने किया। भारत के द्राविड़ लोग भी इसी आइबीरियन नसल की एक शाखा माने जाते है, और अनेक विद्वानों का यह मत है, कि सिन्धु-सभ्यता का विकास इन्हीं द्राविड़-आइबीरियन लोगों द्वारा हुआ था। वर्तमान समय में द्राविड़ लोग केवल दक्षिणी भारत मे निवास करते हैं। पर ऐसा प्रतीत होता है, कि प्राचीन समय में द्राविड़ लोग उत्तरी भारत में भी निवास करते थे। एक द्राविड़ भाषा (ब्राहुई) भारत के पश्चिमी कोने में कलात के प्रदेश में भी बोली जाती है। सुदूर कलात में ब्राहुई नामक एक जाति निवास करती है, जिसकी भाषा द्राविड़-वंश की है। ब्राहुई बोलनेवालों की कुल संख्या १ लाख ८४ हजार है। भारत के पश्चिमी कोने में एक द्राविड़ भाषा की सत्ता से कुछ विद्वानों ने यह परिणाम निकाला है, कि प्राचीन काल में द्राविड़ लोग केवल दक्षिणी भारत में ही आबाद नहीं थे, वे उत्तरी व पश्चिमी भारत में भी बसे हुए थे, और आर्यो के आक्रमण द्वारा वे अपना पुराना अभिजन छोड़कर दक्षिण की ओर चले जाने के लिये विवश हुए थे। पर सिन्धु-सभ्यता के निवासियों का द्राविड़ होना अभी सब विद्वानों ने स्वीकार नहीं किया है। ब्राहुई के रूप में एक द्राविड़ भाषा का भारत के पश्चिमी कोने में पाये जाने का यह भी कारण हो सकता है, कि दक्षिणी भारत के कतिपय द्राविड़ लोग पश्चिमी देशों के साथ होने-

वाले व्यापार के सिलसिले में उत्तर-पश्चिम में जा बसे हों, और ये ब्राहुई लोग द्राविड़ों के एक उपनिवेश को सूचित करते हों।

पर इसमें सन्देह नहीं, कि सिन्धु-सभ्यता का विनाश बाह्य आक्रमणों द्वारा हुआ था। २००० ई० पू० के लगभग संसार की प्राचीन सभ्यताओं के ऊपर बाह्य शत्रुओं के हमले शुरू हो गये थे। इसी समय के लगभग एशिया माइनर के प्रदेश पर हत्ती या खत्ती (हित्ताईत) जाति ने आक्रमण किया था, और वहां की पुरातन सभ्यताओं का विनाश कर अपने राज्य की स्थापना की थी। ये खत्ती लोग उस आर्य-जाति की एक शाखा थे, जो इस समय अपने पुराने अभिजन को छोड़कर भूमध्यसागरीय या आइबीरियन जातियों द्वारा विकसित सभ्यताओं के ध्वंस में तत्पर थीं। इसी आर्य-जाति की अन्य शाखाओं ने ईराक, ईरान आदि पश्चिमी एशिया की अन्य प्राचीन सभ्यताओं को विनष्ट किया। २०००ई०पू० के कुछ समय बाद आर्यजाति की ही एक शाखा ने भारत पर आक्रमण कर उन सभ्यताओं को नष्ट किया, जो उस समय इस प्रदेश में विद्यमान थीं। सिन्धु-सभ्यता का विनाश भी आर्य लोगों द्वारा हुआ। आर्यों ने इनके दुर्गों व पुरों का ध्वंस किया। आर्य लोग इन्हें 'दस्यु' या 'दास' कहते थे। सिन्धु-सभ्यता के लोगों का अन्य कोई नाम हमें ज्ञात नहीं है, अतः यदि हम भी उन्हें दस्यु या दास संज्ञा दें, तो अनुचित नहीं होगा। ये दोनों शब्द संस्कृत में डाकू और गुलाम अर्थ में भी प्रयुक्त होते हैं। आर्यों ने जिन लोगों को नष्ट किया, उनके नाम को यदि वे इन हीन अर्थों में प्रयुक्त करने लगे हों, तो यह अस्वाभाविक नहीं है।

सिन्धु-सभ्यता २००० ई० पू० के लगभग तक कायम रही। उससे पूर्व वह अनेक सदियों तक फलती-फूलती दशा में थी, यह बात निर्विवाद है।

सहायक ग्रन्थ

Earnest Mackey : Early Indus Civilization.

Childe : What happened in History.

Mazumdar, N. C. : Explorations in Sind.

Marshall, Sir J. : Recent Discoveries in the Indus Valley.

Piggott. : Pre-historic India.

Piggott.: Some Ancient Cities of India.

Kashinath Dixit. : Pre-historic Civilization of the Indus Valley.

Marshall, Mackey and others. : Mohenjo-daro and the Indus Civilization.

Vats : Excavations at Harappa.

पांचवां अध्याय

आर्य-जाति और उसका भारत में प्रवेश

(१) आर्य-जाति

अठारहवीं सदी के उत्तरार्ध में जब कतिपय यूरोपियन विद्वानों ने भारत के सम्पर्क में आकर संस्कृत-भाषा का अध्ययन शुरू किया, तो उन्हें यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ, कि संस्कृत की लेटिन और ग्रीक भाषाओं के साथ बहुत समता है। यह समता केवल शब्दकोष में ही नहीं है, अपितु व्याकरण में भी है। भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में यह 'आविष्कार' बहुत महत्त्वपूर्ण था। इसे प्रकट करनेवाले प्रथम विद्वान् केअर्दू थे, जिन्होंने १७६७ ई० में ग्रीक और लेटिन की संस्कृत के साथ समता का प्रतिपादन किया। केअर्दू फ्रेञ्च थे, और इसी कारण ब्रिटिश विद्वानों ने उनके आविष्कार पर अधिक ध्यान नहीं दिया। उनके कुछ समय बाद सर विलियम जोन्स नामक अंग्रेज विद्वान् ने १७८६ ई० में इसी तथ्य को प्रगट किया, और उन्होंने यह प्रतिपादित किया, कि संस्कृत, लेटिन, ग्रीक, जर्मन और केल्टिक भाषायें एक ही भाषा-परिवार की हैं, और इनका मूल स्थान एक ही है। जोन्स की इस स्थापना से यूरोप के विद्वानों में एक तहलका-सा मच गया। हीगल ने तो यहां तक लिख दिया, कि जोन्स का यह आविष्कार एक नई दुनिया के आविष्कार के समान है। इस समय से उस नये विज्ञान का प्रारम्भ हुआ, जिसे हम तुलनात्मक भाषाविज्ञान कहते हैं। संसार की वर्तमान और प्राचीन भाषाओं का अध्ययन कर विद्वान् लोग शब्दकोष और व्याकरण की दृष्टि से उनकी तुलना करने लगे, और उन्हें विविध भाषा-परिवारों में विभक्त करने लगे। इस विवेचना से विद्वानों ने यह परिणाम निकाला, कि इटालियन, फ्रेञ्च, स्पेनिश, ग्रीक, केल्टिक, जर्मन, इङ्गलिश, ट्यूटानिक, स्लावोनिक, लिथुएनियन, लेटिन, अल्बेनियन आदि यूरोपियन भाषायें, उत्तरी भारत की हिन्दी, पंजाबी, मराठी, गुजराती, बंगाली, उड़िया आदि भाषायें और पश्चिमी एशिया की

जन्द, पर्शियन, पश्तो, बलूची, कुर्द और आर्मीनियन भाषायें एक विशाल भाषा-परिवार की अंग हैं। यूरोप और एशिया की इन सब भाषाओं में शब्दकोष और व्याकरण की जो आश्चर्यजनक समता है, वह आकस्मिक नहीं हो सकती। इस समता का कारण यही हो सकता है, कि इन विविध भाषाओं को बोलनेवाले लोगों के पूर्वज किसी अत्यन्त प्राचीन काल में एक स्थान पर निवास करते थे, और एक भाषा बोलते थे। बाद में जब वे अनेक शाखा-प्रशाखाओं में विभक्त होकर विविध प्रदेशों में बस गये, तो उनकी भाषा पृथक् रूप से विकसित होती गई। पर उनमें वह समता कायम रही, जो हमें इस समय आश्चर्यजनक प्रतीत होती है। जिस प्रकार गुजराती, मराठी, बंगाली, हिन्दी आदि विविध भारतीय भाषाओं का उद्गम प्राचीन संस्कृत-भाषा से हुआ, वैसे ही यूरोप और एशिया की इन भाषाओं का स्रोत एक प्राचीन भाषा थी, जिसका स्वरूप हमें अज्ञात है। यदि यह बात सत्य है, कि अटलाण्टिक महासागर के समुद्र-तट से भारत तक विस्तृत इस विशाल क्षेत्र में (पश्चिमी एशिया की सेमेटिक भाषाओं और यूरोप की तुर्क, मगयार और फिन भाषाओं के क्षेत्रों को छोड़कर) जो भाषायें अब बोली जाती हैं उनका उद्गम एक है, तो साथ ही यह भी स्वीकार करना होगा, कि इनको बोलने-वाले लोग एक ही विशाल जाति के अंग हैं, और किसी प्राचीनकाल में वे एक स्थान पर ही निवास करते थे। अनेक विद्वानों ने शरीर की रचना और आकृति के आधार पर भी इस मन्तव्य की पुष्टि की, और यह बात सर्वमान्य-सी होगई, कि यूरोप, ईरान और भारत के बहुसंख्यक निवासी जाति की दृष्टि से एक है, और उनके रंग, रूप व भाषा अदि में जो भेद इस समय दिखाई देता है, उसका कारण जलवायु की भिन्नता और चिरकाल से एक दूसरे से पृथक् रहना है।

इस जाति का नाम क्या हो, इस सम्बन्ध में विद्वानों में एकमत नहीं है। इसके लिये विविध लेखकों ने 'इण्डो-जर्मन', 'इण्डो-यूरोपियन', 'इण्डो-ईरानियन', 'आर्यन' आदि विविध नामों का उपयोग किया है। कुछ लेखकों ने इसके लिये 'वीराः, या 'वीरोस्' शब्द चुना है, क्योंकि भाषा-परिवार की अनेक प्राचीन भाषाओं में मनुष्य के लिये 'वीर' या इससे मिलते-जुलते शब्द विद्यमान हे। पर अधिक प्रचलित शब्द 'आर्यन्' या 'आर्य' है, और हमने भी इसी को उपयुक्त समझा है। संस्कृत और प्राचीन ईरानियन भाषा में आर्य शब्द अपनी जाति के लिये प्रयक्त होता था। भारत के आर्य लोग तो अपने को आर्य कहते ही थे, ईरानी लोग भी इसी का उपयोग करते थे। ईरान शब्द स्वयं आर्य का अपभ्रंश है, और इस शब्द की स्मृति आयर्लैण्ड के 'आयर' शब्द में भी विद्यमान है। इन्हीं दृष्टियों

से बहुसंख्यक विद्वान् इस विशाल जाति के लिये आर्य संज्ञा का उपयोग करना उपयुक्त समझते हैं ।

(२) आर्य-जाति का मूल अभिजन

जो विशाल आर्य-जाति इस समय अटलाण्टिक महासागर से भारत तक फैली हुई है, उसका मूल अभिजन (निवास-स्थान) कौन-सा था, इस सम्बन्ध में विद्वानों में अनेक मत हैं । इनमें से कतिपय प्रमुख मतों पर हम यहां संक्षेप से प्रकाश डालेंगे:—

(१) **मध्य एशिया**—आर्य-जाति का मूल अभिजन मध्य-एशिया (ईरान के उत्तर और कैस्पियन सागर के पूर्व) में था, इस मत को सबसे पूर्व १८२० ई० में जे० जी० र्होड ने प्रतिपादित किया था । ईरान की प्राचीन अनुश्रुति को दृष्टि में रख कर र्होड ने यह मत स्थिर किया, कि आर्य लोग शुरू में बैक्ट्रिया में निवास करते थे, और वहां से वे दक्षिण, पूर्व और पश्चिम दिशाओं में फैले । जिस ईरानी अनुश्रुति को र्होड ने अपने मत का आधार बनाया था,उसका हम आगे चलकर उल्लेख करेंगे । श्लीगल और पॉट ने र्होड के मत का समर्थन किया । पॉट का कथन था, कि बाद के इतिहास में हम देखते हैं कि कितनी ही जातियां मध्य-एशिया के क्षेत्र से पूर्व और पश्चिम की तरफ फैलीं । जो प्रक्रिया बाद के इतिहास में हुई, वही प्राचीन युग में भी हुई थी, और आर्य लोग इसी क्षेत्र से अन्य प्रदेशों में जाकर बसे थे । सन् १८५९ में प्रोफेसर मैक्स मूलर ने मध्य-एशिया के आर्यों का मूल निवास-स्थान होनेके मत की प्रबलता के साथ पुष्टि की । आर्य लोग पहले मध्य-एशिया में निवास करते थे । उनकी एक शाखा दक्षिण-पूर्व की तरफ चली गई । इसी में से आगे ईरानी और भारतीय आर्यों के रूप में दो उपशाखायें हो गई । ईरानी और भारतीय आर्य चिरकाल तक एक साथ रहे थे । यही कारण है, कि उनमें परस्पर बहुत अधिक समता पाई जाती है । आर्य जाति की अन्य शाखाये पश्चिम व दक्षिण-पश्चिम की ओर बढ़ती गई और धीरे-धीरे सारे यूरोप में फैल गईं । सन् १८७४ में प्रोफसर सेअस ने तुलनात्मक भाषा-विज्ञान के आधार पर मध्य-एशिया में आर्यों के मूल अभिजन होने के मत की पुष्टि की । उन्होंने कहा, कि वेद और ज़ेन्दाबस्ता के अनुशीलन से यह सूचित होता है, कि आर्य लोग पहले ऐसे स्थान पर रहते थे, जहां शीत की अधिकता थी । ऋग्वेद में वर्ष को सूचित करने के लिये 'हिम' का प्रयोग किया गया है । वहां एक मन्त्र (ऋग्वेद ५,५४,१५) में 'तरेम तरसा शतं हिमा:' यह पद आया है, जिसका

अर्थ है, हम शत हिम (सौ साल) जीवें। वेद और अवस्ता में घोड़े और गौवों का जिक्र आता है, नाव चलाने का भी उल्लेख है, और वृक्षों में पीपल का वर्णन है। अतः आर्यों का मूल अभिजन कोई ऐसा प्रदेश होना चाहिये, जहां खूब सरदी पड़ती हो, पीपल बहुत होता हो, नाव चलाने की सुविधा हो, और घोड़ों व गौवों की प्रचुरता हो। ऐसा प्रदेश मध्य-एशिया का है। कैस्पियन सागर के समीप होने के कारण वहां नाव की सुविधा है, और अन्य सब वनस्पति व जन्तु भी वहां उपलब्ध हैं। क्योंकि ज़ेन्दावस्ता में इस बात का निर्देश भी मिलता है, कि आर्य लोग पहले बैक्ट्रिया के प्रदेश में निवास करते थे, अतः कैस्पियन सागर के पूर्ववर्ती इस प्रदेश को ही आर्यों का मूल स्थान मानना चाहिये।

(२) **उत्तरी ध्रुव**—भारत के प्रसिद्ध विद्वान् लोकमान्य बालगंगाधर तिलक ने आर्यों के मूल अभिजन के सम्बन्ध में यह मत प्रतिपादित किया, कि शुरू में आर्य लोग उत्तरी ध्रुव के क्षेत्र में रहते थ। जलवायु की स्थिति में परिवर्त्तन होने के कारण बाद में वे अन्य स्थानों पर जाने के लिये विवश हुए। तिलक ने इस मत को प्रधानतया वैदिक संहिताओं के आधार पर पुष्ट किया था। इसमें सन्देह नहीं, कि ऋग्वेद के निर्माण के समय आर्य लोग सप्तसैन्धव (पंजाब व समीपवर्ती प्रदेश) देश में आ चुक थे। पर उस युग की स्मृति अभी उनमें विद्यमान थी, जब वे उत्तरी ध्रुव के क्षेत्र में निवास करते थे। ऋग्वेद के अनेक सूक्तों में छः मास की रात और छः मास के दिन का वर्णन आता है। एक सूक्त में उषा की स्तुति की गई है। यह वैदिक उषा भारत की उषा नहीं है, जो कुछ मिनटों तक रहती है। यह एक अत्यन्त सुदीर्घकाल तक रहनेवाली उषा है, जो समाप्त ही नहीं होती है। ऐसी उषा उत्तरी ध्रुव के प्रदेश में ही होती है, मध्य-एशिया या भारत में नहीं। महाभारत में सुमेरु पर्वत का वर्णन आता है, जहां देव लोगों का निवास है। सुमेरु के क्षेत्र में एक साल का अहोरात्र होता है। इस पर्वत पर बहुत-सी वनस्पतियां व औषधियां भी उत्पन्न होती हैं। जिस पर्वत पर एक साल का अहोरात्र होता हो, वह केवल उत्तरी ध्रुव के क्षेत्र में ही हो सकता है। ऐसा प्रतीत होता है, कि महाभारत के इस वर्णन में उस समय की स्मृति सुरक्षित है, जब कि आर्य लोग उत्तरी ध्रुव में निवास करते थे, और जब कि हिमप्रलय के पूर्ववर्ती समय में वह प्रदेश वनस्पति आदि से परिपूर्ण होने के करण मनुष्य के निवासयोग्य था। आर्य लोग वहां से चले आये थे, पर अपने प्राचीन अभिजन को वे आदर की दृष्टि से देखते थे, और यह कल्पना करते थे, कि देव लोग अब तक भी वहां निवास करते हैं।

प्राचीन ईरानियों के धर्मग्रन्थ ज़ेन्दावस्ता की प्रथम पुस्तक वेन्दिदाद में भी कतिपय ऐसे निर्देश मिलते हैं, जो आर्यों के मूल अभिजन पर प्रकाश डालते हैं। उसके अनुसार अहुरमज्द ने पहलेपहल 'ऐर्य्यन वेइजो' (आर्यों का बीज या मूल) का निर्माण किया। इस प्रदेश में सरदी के दस महीने और गरमी के दो महीने होते थे। ऐर्य्यन वेइजो के बाद अहुरमज्द ने सुग्ध और फिर मोउरु का निर्माण किया। अनेक विद्वानों के अनुसार यह ऐर्य्यन वेइजो देश उत्तरी ध्रुव के समीप ही कहीं स्थित था। ज़ेन्दावस्ता में अहुरमज्द द्वारा निर्मित विविध देशों का जो क्रम लिखा गया है, अनेक विचारकों के अनुसार वह आर्यों के विस्तार को सूचित करता है। पर ऐर्य्यन वेइजो उत्तरी ध्रुव के क्षेत्र में ही कहीं था, इस बात से सब विद्वान् सहमत नहीं हैं। कतिपय विद्वान् इस प्रदेश को ईरान के उत्तर में स्थित मानते हैं।

(३) **सप्तसैन्धव देश**—भारत के ही कुछ अन्य विद्वानों ने यह मत प्रतिपादित किया, कि आर्य लोगों का मूल अभिजन सप्तसैन्धव देश था। सरस्वती, शतुद्रि, विपाशा, परुष्णी, असिक्नी, वितस्ता और सिन्धु—इन सात नदियों द्वारा सिञ्चित प्रदेश का प्राचीन नाम सप्तसैन्धव देश था। आर्य लोगों का यही प्राचीन अभिजन था, और यहीं से ये सारे भारत में व पश्चिम में यूरोप तक फैले। इस मत के प्रधान समर्थक श्रीअविनाशचन्द्र दास हैं। उन्होंने बड़े विस्तार से यह प्रतिपादित किया है, कि ऋग्वेद के अनुशीलन से यह ज्ञात होता है, कि आर्य लोग इन सात नदियों के प्रदेश में निवास करते थे। तब वर्तमान राजपूताना और पूर्वी उत्तर-प्रदेश, बिहार और बंगाल के प्रदेशों में समुद्र था। इन्हीं को वैदिक आर्य दक्षिणी और पूर्वी समुद्र कहते थे। ऋग्वेद के आधार पर ही श्रीयुत दास ने यह प्रदर्शित किया, कि आर्यों की एक शाखा अहुरमज्द (असुर मेधावी) की उपासिका होने के कारण अन्य आर्यों के साथ संघर्ष में परास्त होकर पश्चिम की ओर चली गई और ईरान में बस गई। वैदिक आर्य देवों के उपासक थे, और ईरान में बसनेवाले आर्य असुरों के। पहले ये एक साथ सप्तसैन्धव देश में निवास करते थे। पर धार्मिक मतभेद के कारण इनमें घोर संग्राम हुआ, जिसे वैदिक साहित्य में देवासुर-संग्राम कहा गया है। इसमें असुर लोग परास्त हुए और अपना मूल अभिजन छोड़कर पश्चिम में ईरान के प्रदेश में बस जाने के लिये विवश हुए। सप्तसैन्धव के क्षेत्र में निवास करनेवाली एक अन्य आर्य-जाति, जिसे 'पणि' कहते थे, व्यापार में विशेष कुशल थी। वह पश्चिम की ओर जाकर बस गई, और आगे चलकर प्यूनिक व फिनीशियन जाति कहाई। पश्चिमी

एशिया के सेमेटिक लोगों पर इस पणि-जाति का बहुत प्रभाव पड़ा। आर्य-जाति की अन्य शाखायें सप्तसैन्धव देश से यूरोप में भी गई, और यूरोप की भाषाओं में और संस्कृत व प्राचीन ईरानी भाषाओं में जो समता दृष्टिगोचर होती है, उसका कारण आर्य-जातियों का यह विस्तार ही है।

श्रीयत दास ने लोकमान्य तिलक की उन युक्तियों की भी विस्तृत रूप से आलोचना की, जिनके आधार पर उत्तरी ध्रुव को आर्यों का मूल अभिजन प्रतिपादित किया गया था। यह तो स्पष्ट ही है, कि ऋग्वेद के समय के आर्य सप्तसैन्धव देश में निवास करते थे। उत्तरी ध्रुव की सुदीर्घ उषा, और छः मास के दिन व रात का जो वर्णन कहीं-कहीं वैदिक सूक्तों में आ जाता है, उसका कारण यह भी हो सकता है, कि वैदिक युग के आर्यों को सप्तसैन्धव देश से बाहर के देशों का भी ज्ञान था।

(४) **डैन्यूब नदी की घाटी**—तुलनात्मक भाषा-विज्ञान के आधार पर अनेक विद्वानों ने इस मत का प्रतिपादन किया है, कि आर्यों का मूल अभिजन हंगरी या डैन्यूब नदी की घाटी का क्षेत्र था। प्राचीन समय की विविध आर्य-भाषाओं में से एकसम शब्दों को चुनकर भाषा-विज्ञान के इन पंडितों ने इस आर्य या 'वीराः' जाति की सभ्यता का चित्र खींचने का प्रयत्न किया; और इस जाति को जिन पशुओं, वनस्पतियों या वृक्षों का परिचय था, उनकी उत्पत्ति के लिये सबसे अधिक अनुकूल स्थान डेन्यूब नदी की घाटी ही हो सकती थी, इस मत की स्थापना की। इस मत के प्रधान प्रतिपादक श्री गाइल्स थे। कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी द्वारा प्रकाशित भारत का प्राचीन इतिहास (प्रथम भाग) में भी इसी मत को स्वीकृत किया गया है।

(५) **दक्षिणी रूस**—कैस्पियन सागर के पूर्व में रूस के दक्षिणी भाग में आर्यों का मूल अभिजन था, इस मत का प्रतिपादन पहलेपहल प्रोफेसर मायर्स ने किया था। प्रो० मायर्स की स्थापना का आधार तुलनात्मक भाषा-विज्ञान था। पर बाद में प्रोफेसर चाइल्ड ने पुरातत्त्व-सम्बन्धी अवशेषों के आधार पर इस मत का समर्थन किया, और आजकल के यूरोपियन विद्वानों का झुकाव मुख्यतया इसी मत को स्वीकृत करने की ओर है। इस क्षेत्र में एक प्राचीन सभ्यता के अनेक अवशेष मिले हैं, जो ईसा से तीन सहस्राब्दि के लगभग पहले के माने जाते हैं। इस सभ्यता के लोग पशुपालक दशा से ऊपर उठकर खेती का प्रारम्भ कर चुके थे। उनकी स्थिर बस्तियां भी विद्यमान थीं। पत्थर के अतिरिक्त वे अपने औजारों व अन्य उपकरणों के लिये धातु का भी प्रयोग करने लगे थे।

सोने और चांदी से वे भलीभांति परिचित थे। पशुओं में वे भेड़, बकरी, गाय और घोड़े का पालन करते थे। उनमें एक प्रकार का राजनीतिक संगठन भी विकसित हो चुका था, और उनके सरदार व ग्रामणी सर्वसाधारण लोगों की अपेक्षा अधिक वैभव के साथ जीवन व्यतीत करते थे। ये लोग अपने मृतकों को गाड़ते थे, और उनके लिये समाधियों का निर्माण करते थे। प्रोफेसर चाइल्ड व अन्य अनेक विद्वानों का मत है, कि कैस्पियन सागर के पूर्व के दक्षिणी रूस के प्रदेश में विविध स्थानों पर जो अनेक छोटी-बड़ी समाधियां मिली हैं, वे आर्य-जाति के लोगों की ही हैं। अति प्राचीन काल में आर्य लोग इस प्रदेश में बसते थे, और वहीं से उनकी शाखायें अन्य स्थानों पर फैलीं।

विवेचना—आर्य-जाति का मूल अभिजन कौन-सा था, इस सम्बन्ध में विद्वानों में जो प्रमुख मत है, उनका हमने संक्षेप से उल्लेख कर दिया है। यह निश्चित कर सकना बहुत कठिन है, कि इनमें से कौन-सा मत सही व स्वीकार्य है। वस्तुतः, अभी तक कोई ऐसा प्रमाण व आधार नहीं मिला है, जिससे आर्य-जाति के मूल निवास-स्थान का अन्तिम रूप से निश्चय किया जा सके। ऐसे विद्वान् भी हैं, जो मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के भग्नावशेषों से सूचित होनेवाली सिन्धु-सभ्यता को मूल आर्य-सभ्यता के रूप में स्वीकार करते है। कुछ विद्वानों ने दजला और फरात (युफ्रेटस और टिग्रिस) नदियों की घाटी मे विद्यमान सुमेर-सभ्यता को ही मूल आर्य-सभ्यता माना है। प्रोफेसर वाडेल के अनुसार सुमेर के भग्नावशेषों मे जो विविध मोहरें (मुद्रायें व छापे) मिले हैं, उन पर उत्कीर्ण राजाओं के नाम भारत की पौराणिक अनुश्रुति के राजाओं के नामों से बहुत मिलते-जुलते हैं। उन्होंने तो यहां तक लिखा है, कि पौरव, ऐक्ष्वाकव आदि प्राचीन भारतीय राज-वंशों के राजा दजला और फरात की घाटी में ही शासन करते थे, और बाद में जब उनके वंशज भारत मे आये, तो इन प्राचीन राजाओं की स्मृति भी अपने साथ लेते आये। भारत में कहीं भी रघु, दिलीप व दशरथ के समय के अवशेष उपलब्ध नहीं हुए। इसका कारण यही है, कि ये राजा भारत के निवासी नहीं थे। इनके अवशेष प्राचीन ईराक में मिलते हैं। प्रो० वाडेल के मत को यहां प्रदर्शित करने का अभिप्राय यह दिखाने का है, कि इस अत्यन्त प्राचीन युग के इतिहास के सम्बन्ध में विद्वानों में भारी मतभेद है, और उनकी बहुत-सी स्थापनायें अटकल, अनुमान या कल्पना पर ही निर्भर हैं। वैज्ञानिक ढंग से अभी इस विषय का प्रतिपादन नहीं हुआ है।

पर यहां यह लिख देना आवश्यक है, कि प्राचीन इतिहास के विद्वानों का

झुकाव इस ओर नहीं है, कि वे सप्तसैन्धव देश या सिन्धु-घाटी में आर्यों के मूल निवास-स्थान होने की बात स्वीकृत करें। यद्यपि भारत के बहुसंख्यक विद्वान् वैदिक साहित्य के आधार पर यही प्रतिपादित करते हैं, कि आर्य लोग भारत से अन्य देशों में गये, पर यूरोपियन विद्वानों का मत इससे विपरीत है। उनका कथन है, कि आर्यों के प्रवेश से पूर्व भारत में जो द्राविड़-सभ्यता विद्यमान थी, वह ईराक और भूमध्यसागर के तट पर विद्यमान प्राचीन-सभ्यता व यूरोप की आइबीरियन सभ्यता के समकक्ष थी। इसे हम संसार की मूलभूत सभ्यता कह सकते हैं। आर्य लोग इस सभ्यता के साथ आक्रान्ता के रूप में संसर्ग में आये। जिस प्रकार यूरोप में ग्रीक, लैटिन आदि प्राचीन जातियों ने आक्रमण कर आइ-बीरियन सभ्यता का ध्वंस किया, और जैसे हत्ती (या हित्ताइत), मित्तनी आदि जातियों ने पश्चिमी एशिया की मूलभूत सभ्यता का विनाश किया, वैसे ही भारत में आर्य-आक्रान्ताओं ने द्राविड़-सभ्यता को परास्त किया। ये ग्रीक, लैटिन, हत्ती, मित्तनी, भारतीय आर्य आदि सब विशाल आर्य-जाति की विविध शाखायें थीं, जो अनेक धाराओं में प्राचीनतम सभ्यता के क्षेत्र में प्रविष्ट हुईं। यूरोप में ग्रीक व लैटिन लोगों से पहले भी कैल्टिक जाति के रूप में आर्य-जाति की एक धारा प्रवेश कर चुकी थी। भारत में भी आर्यों का प्रवेश अनेक धाराओं में हुआ। डा० हार्नली के अनुसार आर्य लोग भारत में दो धाराओं में आये। पहली धारा उत्तर-पश्चिम की ओर से प्रविष्ट होकर भारत में मध्य देश (गंगा-यमुना का क्षेत्र) तक चली गई। आर्यों की दूसरी धारा ने मध्य-हिमालय (किन्नर-देश, गढ़वाल और कूर्माचल) के रास्तों से भारत में प्रवेश किया, और अपने से पहले बसे हुए आर्यों को पूर्व, पश्चिम और दक्षिण की तरफ धकेल दिया। पहले आनेवाले आर्य मानव-वंश के थे, और दूसरे ऐल-वंश के।

भारत में आर्यों का प्रवेश चाहे दो धाराओं में हुआ हो, या अधिक धाराओं में, पर बहुसंख्यक विद्वानों का यही मत है, कि वे बाहर से आकर ही इस देश में प्रविष्ट हुए थे। वर्तमान समय में विद्वानों का झुकाव इस ओर है, कि आर्य लोगों का मूल अभिजन कैम्पियन सागर के पूर्व में वंक्षु (आक्सस) नदी तक के प्रदेश में कहीं पर था।

(३) आर्य-जाति का प्रसार

आर्य-जाति का मूल निवास-स्थान चाहे सप्तसैन्धव देश में हो, चाहे कैस्पियन सागर के पूर्ववर्ती प्रदेश में, यह निश्चित है, कि इसकी विविध शाखायें अनेक

धाराओं में एशिया और यूरोप के विविध प्रदेशों में जाकर आबाद हुईं। इनमें से कतिपय शाखाओं के सम्बन्ध में कुछ प्रमाण पुरातत्त्व-सम्बन्धी खोज द्वारा भी उपलब्ध हुए हैं। दजला और फरात नदियों की घाटी में जिस प्राचीन (आर्यों से पूर्ववर्ती) सभ्यता का विकास हुआ था, उसका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। सोलहवीं सदी ई० पू० में ईराक के इस प्रदेश पर उत्तर-पश्चिम की ओर से आक्रमण शुरू हुए। कस्साइत् नामक एक जाति ने बैबिलोन को जीतकर वहां अपना शासन स्थापित कर लिया। ये कस्साइत् लोग आर्य जाति के थे। इनके राजाओं के नाम आर्य-राजाओं के नामों के सदृश हैं। कस्साइत् राजवंश की राजधानी बेबिलोन थी, और ईराक के प्रदेश में स्थित इस प्राचीन नगरी में सम्भवतः यह आर्य-जाति का प्रथम राजवंश था। कस्साइत् (या कस्शु) लोगों के प्रधान देवता सूर्यस् (सूर्यः) और मरुत् (मरुत्) थे। इनकी भाषा भी आर्य-परिवार की थी। इनके जो लेख मिले है, उनके अनुशीलन से इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता, कि ये लोग विशाल आर्य-जाति की ही अन्यतम शाखा थे।

पन्द्रहवीं सदी ई० पू० के लगभग मितनी नामक एक अन्य जाति ने कस्साइत् लोगों के राज्य के उत्तर-पश्चिम में अपने राज्य की स्थापना की। मितनी लोग भी आर्य-जाति के थे। इनके पश्चिम में एक अन्य आर्य-जाति ने अपने राज्य की स्थापना की, जिसे खत्ती, हत्ती या हिताइत कहते है। मितनी और खत्ती जातियों के राज्य एक-दूसरे के पड़ोस में थे, अतः उनमें प्रायः संघर्ष होता रहता था। १३८० ई० पू० के लगभग इन दोनों राज्यों में परस्पर सन्धि हो गई। यह सन्धि मिट्टी की तख्तियों पर उत्कीर्ण हुई मिली है, और ये तख्तियां बोगजकोई नामक स्थान पर उपलब्ध हुई हैं। बोगजकोई मितनी-राज्य की राजधानी के प्राचीन स्थान को सूचित करता है, और एशिया माइनर में स्थित है। यह सन्धि मितनी के राजा (दशरत्त के पुत्र) मतिउज और खत्ती के राजा सुबिलुलिम के बीच में हुई थी। इस सन्धि के साक्षीरूप कुछ देवताओं के नाम लिखे गये थे। ये देवता हैं मित्र, वरुण, इन्द्र और नासत्यौ। बोगजकोई के इस लेख में इन देवताओं के नाम इस रूप में दिये गये है—मि-इत्-त्र-अस्, व-अर-रु-उण-अस् इन्-द-र, ना-स-अति-इअ। वैदिक पदों को इस रूप में लिखने की प्रथा की व्यवस्था भारत में भी थी। मित्र, वरुण, इन्द्र और नासत्यौ (अश्विनीकुमार) देवताओं के नामों की एशिया माइनर में सत्ता इस बात का स्पष्ट प्रमाण है, कि मितनी और खत्ती दोनों आर्य-जातियां थीं, और दोनों उन आर्य-देवताओं की पूजा करती थीं, जिनका परिज्ञान हमें ऋग्वेद से होता है। इससे यह भी सूचित होता है, कि जिस युग में सब आर्य

जातियां एक प्रदेश में निवास करती थीं, तब भी उनमें इन देवताओं की पूजा प्रचलित थी। बोगजकोई में ही एक पुस्तक भी प्राप्त हुई है, जो कि मिट्टी की तख्तियों पर उत्कीर्ण की हुई है। इस पुस्तक का विषय रथचालन है। इसका लेखक किक्कुली नामक एक व्यक्ति था, जो मितनी-जाति का था। रथ के पहियों के घूमने के लिये इस पुस्तक में 'आवर्त्तन्न' शब्द का प्रयोग किया है, और एक, तीन, पांच व सात चक्करों के लिये क्रमशः ऐकवर्त्तन्न, तरवर्त्तन्न, पंजवर्त्तन्न और शत्तवर्त्तन्न शब्दों का उपयोग किया गया है। आवर्त्तन्न शब्द संस्कृत-भाषा के आवर्त्तन शब्द से मिलता है, और इससे सूचित होता है, कि मितनी लोगों की भाषा संस्कृत से बहुत मिलती-जुलती थी। मितनी-राजाओं द्वारा भेजे गये कतिपय पत्र मिस्र में एल-अमरना नामक स्थान पर भी उपलब्ध हुए हैं। ये पत्र भी मिट्टी की तख्तियों पर उत्कीर्ण हैं। इन पत्रों में मितनी-राजाओं के अर्ततम, दशरत्त आदि जो नाम मिले हैं, वे भी संस्कृत शब्दों के बहुत समीप हैं। इसी प्रकार खत्ती-राजाओं के कतिपय नाम मर्यतस् और सूर्यस् स्पष्टतया संस्कृत नामों से मिलते-जुलते हैं। इन प्रमाणों को दृष्टि में रखने से इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता, कि कस्साइत, खत्ती और मितनी के रूप में जो जातियां पश्चिमी एशिया के रंगमंच पर प्रगट हुई थीं, वे आर्य-जाति की ही शाखायें थीं। अपने मूल अभिजन से निकलकर जब आर्य-जातियों के प्रसार का प्रारम्भ हुआ, तो उसकी कुछ शाखायें इस क्षेत्र में आ बसीं, बोगजकोई आदि के अवशेष इसके स्पष्ट प्रमाण हैं।

पूर्व की ओर जो आर्य लोग गये, उनकी दो प्रधान शाखायें थीं, ईरानी और भारतीय। जिस प्रकार भारतीय आर्यों का प्रमुख ग्रन्थ ऋग्वेद है, वैसे ही ईरानी आर्यों का प्रमुख ग्रन्थ जेन्दाबस्ता है। जेन्दावस्ता की भाषा वैदिक भाषा से बहुत मिलती है। उसमें न केवल तत्सम शब्दों की प्रचुरता है, अपितु साथ ही व्याकरण, धातु आदि भी एक दूसरे के सदृश हैं। प्राचीन ईरानी लोगों का धर्म भी वैदिक धर्म के बहुत समीप था। मित्र, वरुण, अग्नि आदि वैदिक देवताओं की पूजा प्राचीन ईरानी लोग भी करते थे। ऐसा प्रतीत होता है, कि पूर्व की ओर जानेवाली ये दोनों आर्य-जातियां बहुत समय तक एक-दूसरे के साथ रहीं। उनके धर्म का साथ-साथ विकास हुआ। देर तक साथ रहने से उनकी भाषा भी एक-दूसरे के अधिक समीप रही।

पर बाद में आर्यों की ईरानी और भारतीय शाखाओं में विरोध हो गया। इस विरोध ने एक उग्र संग्राम का रूप धारण किया। अन्त में ईरानी लोग परास्त हुए, और वे अपने साथियों से पृथक् होकर उस प्रदेश में बस गये, जिसे आजकल

ईरान कहा जाता है, और जिसका यह नाम आर्य-जाति के नाम पर ही पड़ा था। वैदिक संहिताओं और ज़ेन्दावस्ता के अनुशीलन से इस संघर्ष पर बहुत प्रकाश पड़ता है। इसी को देवासुर संग्राम कहा जाता है।

संस्कृत-भाषा में देव शब्द उत्तम अर्थ में और असुर शब्द बुरे अर्थों में प्रयुक्त होता है। देव का अभिप्राय है, दिव्य गुणयुक्त। असुर का अर्थ है, दानव या दैत्य। इसके विपरीत प्राचीन ज़ेन्द भाषा में असुर शब्द अच्छे अर्थों में और देव शब्द घृणित अर्थों में आता है। प्राचीन ईरानी असुर के उपासक थे। उनका प्रधान देवता (उपास्य देव) अहुरमज़्द (असुर महत्) था। किसी अत्यन्त प्राचीन काल में वैदिक आर्य भी असुर शब्द का प्रयोग अच्छे अर्थों में करते थे। वे अपने देवताओं को असुर (प्रतापशाली) कहते थे। पर ऐसा प्रतीत होता है, कि बाद में आर्यों में परस्पर विरोध हो गया। उनका एक भाग देव का उपासक हो गया, और दूसरा असुर का। इस विरोध का कारण सम्भवतः धार्मिक था। ज़ेन्दावस्ता में मित्र, वरुण, अग्नि आदि वैदिक देवताओं की तो सत्ता है, पर इन्द्र को कहीं उपास्य नहीं माना गया। इसके विपरीत वेदों में इन्द्र की महिमा बहुत विशद रूप से वर्णित है। ऋग्वेद के कितने ही सूक्त इन्द्र की स्तुति में बनाये गये हैं, और उसे देवों का देव माना गया है। अन्य देवता किसी एक लोक का शासन करते हैं, पर इन्द्र तीनों लोकों (द्युलोक, अन्तरिक्ष-लोक और पृथ्वी-लोक) का अधिपति है। इसके विपरीत ज़ेन्दावस्ता में इन्द्र का समावेश उन देवों में किया गया है, जो असुर नहीं हैं, जो असुर के विरोधी हैं, और इस कारण जो घृणा योग्य है। प्राचीन ईरानी लोग किस कारण देवविरोधी और असुर के उपासक हो गये, और भारत के आर्य किस कारण से असुर-विरोधी और देव के उपासक हो गये, यह विषय बहुत विवाद-ग्रस्त है। इस पर हमें यहां विचार करने की आवश्यकता नहीं। पर यह स्पष्ट है, कि आर्यों की दो शाखायें धार्मिक विश्वास में भेद हो जाने के कारण एक-दूसरे से पृथक् हो गईं, और उनमें से एक ईरान में और दूसरी भारत में आ बसी।

भारत में आर्यों का प्रवेश—आर्यों की जो शाखा भारत में प्रविष्ट हुई, उसे इस देश में अनेक आर्यभिन्न जातियों के साथ युद्ध करने पड़े। जिस प्रकार पश्चिमी एशिया में बसनेवाली कस्साइत्, खत्ती और मितनी-जातियों ने अपने से पूर्ववर्ती सभ्यताओं को परास्त कर वहां अपनी सत्ता स्थापित की, वैसे ही भारतीय आर्यों ने इस देश में विकसित हुई पूर्ववर्ती सभ्यताओं को विनष्ट कर अपनी सत्ता की स्थापना की। आर्यों के पहले के ये आर्यभिन्न लोग कौन थे, इस विषय में वैदिक साहित्य से ही कतिपय उपयोगी निर्देश मिलते हैं। वेदों में इन्हें 'दस्यु' और 'दास'

कहा गया है। वैदिक सूक्तों से यह भी ज्ञात होता है, कि ये दस्यु लोग कृष्णवर्ण के थे, इनकी नाक छोटी होती थी, इसलिये इन्हें 'अनास' (नासिकाहीन) भी कहा गया है। पर ये लोग अच्छे बड़े पुरों में निवास करते थे और इनके अनेक सुदृढ़ दुर्ग भी बने हुए थे। इन्हें परास्त करने के लिये आर्यों को घनघोर युद्ध करने पड़े और एक युद्ध में तो पचास हजार के लगभग 'दासों' के मारे जाने का निर्देश ऋग्वेद में किया गया है। संस्कृत-भाषा में दस्यु शब्द का प्रयोग डाकू के अर्थ में होता है, और दास शब्द का गुलाम अर्थ में। प्रतीत होता है, कि आर्यों के प्रवेश से पूर्व जो जाति इस देश में निवास करती थी, उसकी संज्ञा दस्यु या दास थी। आर्यों ने उसे परास्त किया, और उसकी बड़ी संख्या को अपने पास गुलामरूप में रहने के लिये विवश किया। ये गुलाम दास-जाति के थे, अतः दास शब्द का अर्थ ही गुलाम हो गया। इसी प्रकार आर्य लोग दस्यु शब्द का प्रयोग घृणा के रूप में करते थे, और बाद में इसका अर्थ ही डाकू हो गया। पर प्राचीन संस्कृत में ऐसे निर्देशों की कमी नहीं है, जिनसे दस्यु का अभिप्राय डाकू न होकर एक जातिविशेष प्रतीत होता है। महाभारत में एक दस्यु की कथा आती ह, जिसे परम धर्मात्मा कहा गया है। आर्यों ने इन दस्युओं व दासों को परास्त कर भारत में अपनी सत्ता स्थापित की। पिछले अध्याय में हम सिन्धु-घाटी की समुन्नत सभ्यता का विवरण दे चुके है, जिसके अनेक नगर विद्यमान थे, और जिसके अनेक नगर दुर्गरूप में थे। अतः यह कल्पना की जाती है, कि वैदिक आर्यों ने जिन दस्युओं को परास्त किया, वे सिन्धु-घाटी में निवास करते थे, और उनकी सभ्यता के भग्नावशेष पंजाब में रावी नदी के और सिन्ध में सिन्धु नदी के तट पर पाये गये हैं।

सहायक ग्रन्थ

Das, A. C.: Rigvedic India.
Piggott: Pre-historic India.
Tilak: Arctic Home in the Vedas.
Muir: Original Sanskrit Texts, Vol. II.
Childe, V. Ch.: The Aryans.
Masson Oursel: Ancient India and Indian Civilization.

Cambridge History of India Vol. I.
Taylor : The Origin of the Aryans.
Ragozin : Vedic India.
Pavagee : Aryavartic Home.
सम्पूर्णानन्द : आर्यों का आदिदेश ।

छठा अध्याय

भारत में आर्य-राज्यों का विस्तार

(१) प्राचीन अनुश्रुति

भारत के प्राचीन साहित्य में पुराण-संहिता नाम से जो अनेक ग्रन्थ विद्यमान हैं, उनमें आर्य-जाति की प्राचीन ऐतिहासिक अनुश्रुति संगृहीत है। जो पुरातन वृत्तान्त अथवा ख्यात परम्परागत रूप से चले आते हैं, उन्हे अनुश्रुति कहा जाता है। पुराणों में विद्यमान अनुश्रुति का इतिहास निर्माण के लिये कोई उपयोग है या नहीं, इस विषय पर विद्वानों मे मतभेद रहा है। उन्नीसवीं सदी में भारतीय इतिहास के खोज करनेवाले विद्वान् पौराणिक इतिवृत्त को ऐतिहासिक दृष्टि से सर्वथा निरर्थक समझते रहे। उस युग के विद्वान् भारत के प्राचीन शिलालेखों, ताम्रपत्रों और सिक्कों की खोज में तत्पर थे। पुरातत्त्व-सम्बन्धी इन अवशेषों से उन्हें जो कुछ ऐतिहासिक ज्ञान प्राप्त होता था, उसकी उनकी दृष्टि मे बहुत कीमत थी। उसके मुकाबले में उन्हें पौराणिक अनुश्रुति सर्वथा निरर्थक और अनुपयोगी प्रतीत होती थी। इसी समय मे विद्वानों का ध्यान पाली-भाषा के ऐतिहासिक ग्रन्थ महावंश और दीपवंश की ओर आकृष्ट हुआ। बौद्ध-अनुश्रुति के इन ग्रन्थों में और पुराणों की अनुश्रुति मे अनेक स्थलों पर मतभेद था। इसका परिणाम यह हुआ कि विद्वानों की दृष्टि में पुराणों का मूल्य और भी कम हो गया, और वे यह मानने लगे, कि पौराणिक अनुश्रुति में जिन प्राचीन राजाओं व राजवंशों का वर्णन है, उनकी ऐतिहासिक सत्ता को स्वीकृत कर सकना सम्भव नहीं है। इसलिये इस युग के ऐतिहासिक भारत के राजनीतिक इतिहास का प्रारम्भ सातवी सदी ई० पू० से किया करते थे।

बीसवीं सदी के प्रारम्भ में इस प्रवृत्ति ने पलटा खाया। श्री पार्जीटर ने पुराण-संहिताओं का गम्भीर व विशद रूप से अनुशीलन करके यह परिणाम निकाला, कि इन ग्रन्थों का ऐतिहासिक दृष्टि से उपयोग किया जा सकता है, और इनमें जो

अनुश्रुति संगृहीत है, उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। पार्जीटर ने पुराण टेक्स्ट आफ दि डिनेंस्टीज् आफ दि कलि एज्' और एन्शिएण्ट इंडियन हिस्टोरिकल ट्रेडिशन' नामक दो ग्रन्थ लिखे, जिनमें उन्होंने पुराणों में विद्यमान ऐतिहासिक अनुश्रुति का विशदरूप से प्रतिपादन और अनुशीलन किया। पार्जीटर के अनुसार प्राचीन भारतीय अनुश्रुति दो भागों में विभक्त की जा सकती है। धर्म-विषयक अनुश्रुति वैदिक साहित्य में संगृहीत है, और राजवंशों तथा राजाओं के सम्बन्ध की अनुश्रुति पुराणों में पाई जाती है। प्राचीन भारत में जो सूत और चारणलोग थे, वे राजाओं और उनके कृत्यों का आख्यान करते थे, और इन सूत-वंशों में ये प्राचीन आख्यान या ख्यात स्थिर रहते थे। बाद में इन्हीं ख्यातों को पौराणिक साहित्य में संगृहीत कर दिया गया। यह सही है. कि पुराणों में पाई जानेवाली अनुश्रुति को अविकलरूप से स्वीकृत नहीं किया जा सकता। पर यदि उसकी वैज्ञानिकरूप से विवेचना की जाय, तो उसके आधार पर प्राचीन आर्य-राजाओं, राजवंशों व उनके कृत्यों के सम्बन्ध में बहुत-सी उपयोगी बातों का पता किया जा सकता है। पुराणों में वर्णित इन राजाओं का उल्लेख कहीं-कहीं वैदिक-साहित्य में भी आ जाता है, और इससे पौराणिक अनुश्रुति की सत्यता को सिद्ध करने के लिये पुष्ट प्रमाण मिल जाता है।

पार्जीटर के समान श्री काशीप्रसाद जायसवाल और जर्मन विद्वान् किर्फेल ने भी पौराणिक अनुश्रुति की ऐतिहासिक उपयोगिता को स्वीकार किया, और प्राचीन भारतीय इतिहास-सम्बन्धी अनेक तथ्य पुराणों के आधार पर प्रगट किये। बाद में महामहोपाध्याय श्री हरप्रसाद शास्त्री, डा० प्रधान, डा० हेमचन्द्र राय चौधरी आदि अनेक विद्वानों ने पौराणिक अनुश्रुति का उपयोग कर विभिन्न ग्रन्थ लिखे। सम्भवतः अब विद्वानों में इस विषय पर अधिक मतभेद नहीं रह गया है, और सभी लोग यह स्वीकार करने लगे हैं, कि पुराणों के आधार पर आर्यों के प्राचीन इतिहास की रूपरेखा तैयार की जा सकती है।

(२) मानव-वंश

राज्य-संस्था का प्रारम्भ—पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार पहला आर्य-राजा वैवस्वत मनु था। उससे पहले इस देश में अराजक दशा थी। जिस प्रकार बड़ी मछली छोटी मछली को खा जाती है, वैसे ही बलवान् लोग निर्बलों को नष्ट करने में लगे रहते थे। मात्स्यन्याय की इस दशा से परेशान होकर लोगों ने मनु को अपना राजा चुना, और उसके आदेशों का पालन करना स्वीकार किया। मनु आर्थिक

दृष्टि से सर्वथा निश्चिन्त होकर राज्य-व्यवस्था में अपना सब समय लगा सके, इसके लिये प्रजा ने उसे अपनी पैदावार का छठा भाग देना स्वीकार किया। वैवस्वत मनु के इस प्रकार पहले-पहल राजा बनने की बात न केवल पुराणों में अपितु महाभारत, कौटलीय अर्थशास्त्र आदि ग्रन्थों में भी उपलब्ध होती है। इस अनुश्रुति का अभिप्राय शायद इतना ही है, कि अराजक दशा से जब पहले-पहल राज्य-संस्था का विकास हुआ, तो मनु सर्वप्रथम राजा के पद पर अधिष्ठित हुआ। संविदा (समय, ठहराव, इकरार) द्वारा राज्य-संस्था का प्रादुर्भूत होने की कल्पना अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने भी की है। प्राचीन ग्रीस तक में इस विचार की सत्ता थी।

मानव-वंश का विस्तार—राज्य-संस्था के प्रादुर्भूत हो जाने के बाद मनु आर्यों का पहला राजा बना। उसके एक कन्या और आठ पुत्र थे। मनु ने अपने राज्य को अपने पुत्रों में बांट दिया। उसके सबसे बड़े पुत्र का नाम इक्ष्वाकु था। वह मध्य-देश का राजा बना, जिसकी राजधानी अयोध्या थी। इक्ष्वाकु द्वारा उस राजवंश का प्रारम्भ हुआ, जो भारतीय इतिहास में ऐक्ष्वाकव, मानव या सूर्यवंश के नाम से विख्यात है। इसी वंश में आगे चलकर राजा दलीप, रघु, दशरथ और राम हुए। मनु के एक अन्य पुत्र नेदिष्ट को पूर्व की तरफ तिरहुत का राज्य मिला। इस वंश में आगे चलकर राजा वैशाल हुआ, जिसने वैशाली नाम की नगरी बसाई। बौद्ध-युग में इस वैशाली की बहुत प्रसिद्धि हुई, और यह लिच्छवि नाम के प्रसिद्ध क्षत्रियों की राजधानी बनी। इस नगरी के अवशेष उत्तरी बिहार के मुजफ्फरपुर जिले के बसाढ़ नामक ग्राम में पाये गये हैं। मनु के एक अन्य पुत्र का नाम करूष था। उसके नाम से कारूष राज्य की स्थापना हुई, जो इस समय के बघेलखण्ड के क्षेत्र में विद्यमान था। मनु के एक अन्य पुत्र शर्याति ने दक्षिण में आधुनिक गुजरात की ओर अपने राज्य की स्थापना की। शर्याति के पुत्र का नाम आनर्त था। यह बहुत प्रतापी राजा था, इसी के नाम से उस देश का नाम ही आनर्त पड़ गया। आनर्त देश की राजधानी कुशस्थली या द्वारिका थी। वैवस्वत मनु के ये चार पुत्र—इक्ष्वाकु, नेदिष्ट, शर्याति और करूष चार बड़े और शक्तिशाली राज्यों के संस्थापक हुए। मनु के अन्य चार पुत्रों ने भी अपने पृथक् राज्य स्थापित किये, पर वे अधिक प्रसिद्ध नहीं हैं।

सूर्य-वंश के संस्थापक इक्ष्वाकु के भी अनेक पुत्र थे, और उन्होंने भी अपने पृथक् राज्य स्थापित किये। उसका बड़ा लड़का विकुक्षि अयोध्या की राजगद्दी पर बैठा। इक्ष्वाकु के छोटे पुत्र निमि ने अयोध्या और वैशाली के बीच में एक अन्य राज्य की स्थापना की जिसकी राजधानी मिथिला थी। इस नगरी का नाम निमि के

वंशज मिथि के नाम पर पड़ा था। आगे चलकर मिथिला के इसी वंश के राजा 'जनक' कहाने लगे थे।

पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार मनु के पुत्रों व वंशजों ने भारत के विविध प्रदेशों में अपने विविध राज्य स्थापित किये थे। पुत्र का अभिप्राय शायद वंशज से है। यह मान सकना तो कठिन है, कि मनु के पुत्रों के समय में आर्य-राज्यों का पूर्व मे वैशाली तक और दक्षिण में द्वारिका तक विस्तार हो गया था। पौराणिक अनुश्रुति का अभिप्राय शायद यह है, कि मनु के वंशजों द्वारा इन सुदूरवर्ती प्रदेशों तक आर्य-जाति के प्रभुत्व की स्थापना हुई थी। ऊपर दी गई अनुश्रुति में आर्य-जाति के विजयों व विस्तार की वह स्मृति सुरक्षित है, जिसके कारण भारत के आदि-निवासियों या आइबीरियन (व द्रविड़) लोगों को परास्त कर आर्य-जाति ने अपना प्रभुत्व कायम किया था। सम्भवतः, वैवस्वत मनु उन आर्यों का नेता था, जिन्होंने भारत में प्रवेश कर इस देश में अपनी सत्ता को स्थापित किया था। इक्ष्वाकु, नेदिष्ट, शर्याति और करुप मनु के बाद में हुए, और उनके नेतृत्व में आर्यों का विस्तार सुदूरवर्ती प्रदेशों मे हुआ। वे विजयी आर्य-नेता भी मनु के वंशज थे, यह बात भी स्वीकार की जा सकती है।

अयोध्या का सूर्य (ऐक्ष्वाकव) वंश--वैवस्वत मनु के वंशज या पुत्र इक्ष्वाकु ने अयोध्या में अपने स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की, यह हम ऊपर लिख चुके हैं। इक्ष्वाकु के उन्नीस पीढ़ी बाद उसके वंश मे एक अत्यन्त प्रतापी राजा हुआ, जिसका नाम मान्धाता था। उसे पुराणों में 'चक्रवर्ती' और 'सम्राट्' कहा गया है। वह अपने समय का सबसे अधिक शक्तिशाली राजा था। उसने पड़ोस के अन्य आर्य-राज्यों को जीतकर दिग्विजय किया। उसके सम्बन्ध में पौराणिक अनुश्रुति में कहा गया है, कि सूर्य जहां से उगता है और जहां अस्त होता है, वह सम्पूर्ण प्रदेश मान्धाता के शासन में था। जिन आर्य-राज्यों को जीतकर मान्धाता ने अपने अधीन किया, उनमें पौरव, आनव, द्रुह्यु और हैहय-राज्यों का नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय है। इन राज्यों के सम्बन्ध में हम आगे चलकर लिखेंगे। मान्धाता के बाद उसका पुत्र पुरुकुत्स अयोध्या का राजा बना। उसके समय से अयोध्या के सूर्य-वंश की शक्ति निर्बल पड़ने लग गई। जिन अनेक राज्यों को मन्धाता ने जीत कर अपने अधीन किया था, वे धीरे-धीरे पुनः स्वतंत्र हो गये। पुरुकुत्स के ग्यारह पीढ़ी बाद (इक्ष्वाकु के इकतीस पीढ़ी पीछे) राजा हरिश्चन्द्र अयोध्या की राजगद्दी पर आरूढ़ हुआ। इसकी रानी शैव्या थी। सम्भवतः वह शिवि-वंश की राजकुमारी थी। हरिश्चन्द्र बड़ा दानवीर था। उसकी कथा भारत में बहुत प्रसिद्ध है।

अपना सर्वस्व दान करके वह एक चाण्डाल के घर दास बनकर रहा था। हरिश्चन्द्र, रानी शैव्या और उनके पुत्र रोहित की कथा को कौन नहीं जानता ? **अयोध्या के ऐक्ष्वाकव-वंश में आगे चलकर (साठवीं पीढ़ी में) राजा दिलीप हुए।** वह भी मान्धाता के समान ही चक्रवर्ती सम्राट् था। गंगा नदी को हिमालय से उतारकर मैदान में लाने का श्रेय राजा भगीरथ को ही दिया जाता है। इसी के नाम पर गंगा की एक शाखा भागीरथी कहाती है। दिलीप का पोता रघु और भी अधिक प्रतापी हुआ। उसके दिग्विजय का विशद वर्णन महाकवि कालीदास ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक रघुवंश में किया है। रघु के नाम से प्राचीन ऐक्ष्वाकव-वंश रघुवंश या राघव-वंश भी कहाने लगा। रघु का पुत्र अज था, और अज का पुत्र दशरथ। दशरथ का पुत्र राम था, जिसकी कथा भारत के बच्चे-बच्चे तक को ज्ञात है। राजा रामचन्द्र ऐक्ष्वाकव-वंश की ६५ वीं पीढ़ी में हुए। उनकी कथा को लेकर भारत के प्राचीन और अर्वाचीन साहित्य में जितने अधिक काव्य व ग्रन्थ बने हैं, उतने शायद अन्य किसी कथा को लेकर नहीं बने।

(३) चन्द्र-वंश

ऐल-वंश—भारत के प्राचीन इतिहास में जिस प्रकार अयोध्या का सूर्य-वंश अत्यन्त प्रसिद्ध है, वैसे ही चन्द्र या ऐल-वंश भी है। इस वंश का संस्थापक पुरूरवा ऐल था। यह वंश मानव-वंश से पृथक् था। पर कतिपय अनुश्रुतियों के अनुसार इसका भी वैवस्वत मनु के साथ सम्बन्ध था, और इसकी उत्पत्ति मनु की कन्या इला द्वारा हुई थी। हम ऊपर लिख चुके हैं, कि वैवस्वत मनु के आठ पुत्र और एक कन्या थी। इला इसी कन्या का नाम था। ऐल-वंश की राजधानी प्रतिष्ठान थी, जिसके भग्नावशेष प्रयाग के सामने झूसी के समीप विद्यमान हैं। ऐसा प्रतीत होता है, कि भारत में जब आर्य-जाति ने प्रवेश किया, तो वह अनेक धाराओं में होकर इस देश में प्रविष्ट हुई। मानव-वंश आर्य-जाति की एक धारा को सूचित करता है, और ऐल-वंश दूसरी धारा को। मानव-आर्यों ने अयोध्या को अपना प्रधान केन्द्र बनाया और ऐल-आर्यों ने प्रतिष्ठान को। मानव-वंश के समान ऐल-वंश की भी अनेक शाखायें थीं। पुरूरवा के अन्यतम पुत्र अमावसु ने कान्यकुब्ज में अपना पृथक् राज्य स्थापित किया।

प्रतिष्ठान का ऐल-वंश भारत की प्राचीन अनुश्रुति में बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। पुरूरवा का पोता नहुष था। नहुष के अन्यतम पुत्र ने वाराणसी में अपना एक स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया। नहुष का बड़ा लड़का ययाति था, जो

अपने पिता की मृत्यु के बाद प्रतिष्ठान का राजा बना। ययाति बहुत प्रतापी और दिग्विजयी था। पुराणों में उसे चक्रवर्ती कहा गया है। उसका राज्य पश्चिम में सरस्वती नदी तक विस्तृत था। ययाति के पांच पुत्र थे—यदु, तुर्वसु, द्रुह्यु, अनु और पुरु। ये पांचों पौराणिक अनुश्रुति में बहुत प्रसिद्ध हैं। इनमें से पुरु प्रतिष्ठान का राजा बना, और उसीके नाम पर प्रतिष्ठान का ऐल-वंश अब पौरव कहाने लगा। प्रतिष्ठान के दक्षिण-पूर्व के प्रदेश पर तुर्वसु ने अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया। यदु का राज्य पश्चिम में, केन, बेतवा और चम्बल नदियों के प्रदेश में स्थापित हुआ। इसके वंशज यादव कहाये। यादवों के विस्तार पर हम आगे चलकर प्रकाश डालेंगे। अयोध्या के पश्चिम में अनु का राज्य कायम हुआ, और द्रुह्यु ने यमुना और सरस्वती के बीच का प्रदेश प्राप्त किया। ययाति का चक्रवर्ती साम्राज्य पश्चिम में सरस्वती से शुरू कर पूर्व में प्रतिष्ठान से आगे तक विस्तृत था। उसके बाद यह विशाल साम्राज्य उसके पुत्रों में बंट गया। पर यहां यह ध्यान में रखना चाहिये, कि अयोध्या के मानव (ऐक्ष्वाकव) वंश का राज्य इस साम्राज्य के अन्तर्गत नहीं था। अयोध्या के इसी ऐक्ष्वाकव-वंश में आगे चलकर मान्धाता हुआ था, जिसने कि प्रतिष्ठान के पौरव-वंश, कान्यकुब्ज के ऐल-वंश (अमावसु द्वारा स्थापित वंश), द्रुह्यु-वंश, आनव वंश आदि के प्रदेशों को जीतकर अपने अधीन किया था। मान्धाता की इन विजयों का एक परिणाम बहुत महत्त्वपूर्ण हुआ। राजा अनु और राजा द्रुह्यु के जो वंशज अयोध्या के पश्चिम से शुरू कर सरस्वती नदी तक के प्रदेशों पर शासन करते थे, वे मान्धाता से परास्त होकर और अधिक पश्चिम की ओर चले जाने के लिये विवश हुए। द्रुह्यु का एक वंशज गान्धार था, जो सम्भवतः मान्धाता का समकालीन था, या उसके कुछ समय बाद हुआ था। उसने उत्तर-पश्चिमी पंजाब में (रावलपिण्डी से भी आगे) अपना नया स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया। राजा गान्धार के नाम से ही यह प्रदेश 'गान्धार' कहाया। इस युग में आर्यों की एक शाखा पूर्व से पश्चिम की ओर गई, और उसने गान्धार में अपना नया राज्य स्थापित किया, यह बात कुछ आश्चर्यजनक प्रतीत होती है। ऐतिहासिक लोग यह मानते हैं, कि आर्यों का प्रसार पश्चिमसे पूर्व की ओर हुआ था, न कि पूर्व से पश्चिम की ओर। पर यहां यह ध्यान में रखना चाहिये, कि इस युग तक आर्य लोग उत्तरी भारत में आ चुके थे, और उन्होंने अपने बहुत-से राज्य स्थापित कर लिये थे। जैसा कि हम ऊपर लिखे चुके हैं, सम्भवतः ये आर्य दो धाराओं में प्रविष्ट हुए थे। एक धारा को मानव-वंश कहते हैं, और दूसरी को ऐल-वंश। पर अब जो राजा गान्धार ने सुदूर उत्तर-पश्चिम में अपना पृथक् स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया, उसका कारण

अयोध्या के प्रतापी सम्राट् मान्धाता द्वारा द्रुह्यु-वंश की पराजय थी। इतिहास में हम प्रायः देखते हैं, कि अनेक स्वाभिमानी राजवंश या जातियां किसी अधिक शक्तिशाली विजेता द्वारा परास्त हो जाने पर उसके अधीन रहने की अपेक्षा नये प्रदेश में जाकर स्वतन्त्र रूप से बस जाना अधिक पसन्द करते हैं।

सम्राट् मान्धाता द्वारा परास्त हो जाने के कारण राजा अनु (ययाति का अन्यतम पुत्र) के वंशज भी अपने प्रदेश को छोड़कर पश्चिम की ओर चले गये। वहां उन्होंने पंजाब में अपने अनेक राज्य स्थापित किये। आनव (अनु के वंशज) लोगों द्वारा स्थापित इन नये राज्यों में यौधेय, केकय, शिवि, मद्र, अम्बष्ठ और सौवीर विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। ये सब राज्य पंजाब में विद्यमान थे। अगले इतिहास में इन सब राज्यों में गणशासन की स्थापना हुई, और इन्होंने भारत के इतिहास में बहुत महत्वपूर्ण भाग लिया। पंजाब में आनवों का यह प्रसार राजा उशीनर के समय में हुआ, जो उस आनव राजा का वंशज था, जिसे मान्धाता ने परास्त किया था। योधय, केकय आदि आनव-आर्यों के राज्यों की स्थिति किस स्थान पर थी, इसका हम आगे चलकर उल्लेख करेंगे।

ऐल-वंश का पूर्वी भारत में विस्तार—सम्राट् मान्धाता से परास्त होने के कारण आनव (ऐल-वंश की एक शाखा) लोग पश्चिम में चले गये, और वहां पंजाब में उन्होंने अपने अनेक राज्य स्थापित किये, यह हमने अभी लिखा है। पर इसी समय मानवों की एक शाखा सुदूर-पूर्व की ओर भी गई। इसका नेता तितिक्षु था। इसने पूर्व की ओर जाकर वर्तमान समय के बिहार में अपना राज्य स्थापित किया। ऐलवंशी इन आर्यों के बिहार में प्रविष्ट होने से पूर्व वहां सौद्युम्न नामक एक जाति का निवास था। आनव-आर्यों से परास्त होकर ये सौद्युम्न लोग और अधिक पूर्व की ओर चले गये। तितिक्षु ने उस प्रदेश मे अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया, जहां आजकल मुंगेर और भागलपुर के जिले हैं। इसके कुछ समय बाद ऐल-वंश के आर्यों की एक अन्य शाखा ने बिहार की ओर प्रस्थान किया। कान्य-कुब्ज में स्थापित ऐल-राज्य का उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। तितिक्षु के दो पीढ़ी बाद के समय में कान्यकुब्ज का राज्य कुश के अधीन था। उसका छोटा लड़का अमूर्तरयस था। उसके पुत्र का नाम गय था। गय आमूर्तरयस एक प्रबल प्रतापी राजा हुआ है। प्राचीन भारत में जो वीर पुरुष किसी नये राज्य की स्थापना करके एक नये राजवंश का प्रारम्भ करते थे, उन्हें 'वंशकर' कहा जाता था। गय आमूर्त-रयस भी एक वंशकर राजा था। उसने कान्यकुब्ज को छोड़कर काशी के पूर्व के जंगली प्रदेश में, जिसे प्राचीन समय में धर्मारण्य कहा जाता था, और जो आगे चल-

कर मगध कहाया, पहले-पहल एक आर्य-राज्य की स्थापना की, और एक नये वंश का प्रारम्भ किया। वर्तमान समय की गया नगरी का संस्थापक सम्भवतः यह गय आमूर्तरयस ही था, जिसे राजधानी बनाकर इसने मगध का पहले-पहल शासन किया था। गय आमूर्तरयस की गिनती चक्रवर्ती राजाओं में की जाती है। प्रतीत होता है, कि मगध में आर्यों का यह प्रथम राज्य देर तक नहीं टिक सका। धर्मारण्य उस समय में एक विशाल जंगल था, जिसमें शक्तिशाली राक्षस-जातियां निवास करती थीं। राक्षस-जाति के प्राबल्य के कारण आर्य लोग वहां देर तक नहीं टिक सके। रामायण में ऋषि विश्वामित्र ने जिन राक्षस-जातियों को नष्ट करने के लिये राजा रामचन्द्र की सहायता प्राप्त की थी, वे इसी धर्मारण्य में बसती थीं।

दक्षिण में ऐल-वंश का विस्तार—इसी प्रकरण में हम पहले ययाति के पुत्र यदु का उल्लेख कर चुके हैं, जिसने यादव-वंश की स्थापना की थी। आगे चलकर इस वंश की शाखायें दक्षिण की ओर फैलने लगीं। यादवों की एक शाखा हैहय थी, जिसका अन्यतम राजा महिष्मन्त पौराणिक अनुश्रुति में बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इसने हैहयों की शक्ति का बहुत विस्तार किया, और अपने नाम से माहिष्मती नगरी की स्थापना की। अयोध्या के ऐक्ष्वाकव-वंशी सम्राट् मान्धाता ने अन्य आर्य-राज्यों को जीतकर जो विशाल साम्राज्य बनाया था, वह देर तक स्थिर नहीं रह सका था। अयोध्या की शक्ति के निर्बल होने पर हैहयों को अपने विस्तार का अवसर मिला, और उन्होंने उत्तरी भारत पर भी अनेक आक्रमण किये। महिष्मन्त के उत्तराधिकारी हैहय-राजा भद्रश्रेण्य ने पूर्व की ओर आगे बढ़कर वाराणसी का भी विजय कर लिया था। इस शक्तिशाली हैहय-वंश में ही आगे चलकर (महिष्मन्त के लगभग आठ पीढ़ी बाद) राजा कृतवीर्य हुआ। उसका पुत्र अर्जुन (कार्तवीर्य अर्जुन) महान् विजेता था। अनुश्रुति के अनुसार उसने दक्षिण में नर्मदा नदी से लेकर उत्तर में हिमालय तक विजय की थी। सुदूर दक्षिण का राक्षस-राजा 'रावण' भी उसके हाथ से परास्त हुआ था, और कुछ समय के लिये माहिष्मती के दुर्ग में कैद रहा था। सम्भवतः, रावण राक्षस-जाति के राजाओं की वंशक्रमानुगत उपाधि थी। कार्तवीर्य अर्जुन के सम्बन्ध में अन्य भी अनेक महत्त्वपूर्ण बातें पौराणिक अनुश्रुति में पाई जाती हैं। उन दिनों नर्मदा के तट पर भृगु-गोत्र के कतिपय ब्राह्मण रहते थे, जो हैहय-राजाओं के पुरोहित होते थे। कार्तवीर्य अर्जुन ने उनके प्रति उत्तम व्यवहार नहीं किया। परिणाम यह हुआ, कि इन ब्राह्मणों का नेता ऋषि ऋचीक और्व नर्मदा के तट को छोड़कर कान्यकुब्ज

चला आया। वहां आकर उसने कान्यकुब्ज के राजा गाधि की कन्या सत्यवती के साथ विवाह किया। इसी ऋषि ऋचीक और्व का पौत्र प्रसिद्ध योद्धा परशुराम था, जिसके विषय में यह प्रसिद्ध है, कि उसने अनेक बार क्षत्रियों का संहार किया था। परशुराम स्वयं ब्राह्मण-कुल में उत्पन्न हुआ था, और हैहय-क्षत्रियों से उसे बहुत विद्वेष था। कार्तवीर्य अर्जुन का वध परशुराम द्वारा ही हुआ। परशुराम की वीरता और विद्वेष के कारण हैहय-क्षत्रियों का बल कुछ समय के लिये मन्द पड़ गया। पर इसमें सन्देह नहीं, कि दक्षिण की ओर आर्य-जाति का विस्तार करने में हैहय-वंश ने बहुत काम किया।

पर हैहय लोग देर तक दबे नहीं रहे। कार्तवीर्य अर्जुन के पौत्र तालजंघ के शासन-काल में उनके उत्कर्ष का पुनः प्रारम्भ हुआ। तालजंघ अयोध्या के राजा रोहित (हरिश्चन्द्र का पुत्र) का समकालीन था। उसने अपने पितामह के समान ही बहुत-से राज्यों को जीतकर अपने अधीन किया। कान्यकुब्ज का राज्य तालजंघ ने जीत लिया और उसके वंशजों ने विजय की इस परम्परा को जारी रखा। जिस प्रकार अयोध्या के राजा रघु के नाम से प्राचीन ऐक्ष्वाकव-वंश रघुवंश कहाने लगा था, वैसे ही तालजंघ के नाम से प्राचीन हैहय-वंश अब तालजंघ-वंश कहा जाने लगा। हैहय-तालजंघ-वंश की विविध शाखायें खम्भात की खाड़ी से शुरू कर पूर्व में काशी तक शासन करने लगीं, और कुछ समय के लिये आर्य-जाति की यह शाखा भारत की प्रधान राजनीतिक शक्ति बन गई।

माहिष्मती का हैहय-वंश यादव-वंश की अन्यतम शाखा थी। जिस प्रकार हैहय क्षत्रिय अपनी शक्ति को बढ़ा रहे थे, वैसे ही यादव-वंश की अन्य शाखायें भी अपने प्रसार में लगी थीं। इसी वंश के अन्यतम राजा विदर्भ ने अपने नाम से उस राज्य की स्थापना की, जिसे आजकल बरार कहते हैं, और जिसका पुराना नाम विदर्भ था। राजा विदर्भ का पौत्र चेदि था। उसने चम्बल और केन नदियों के बीच में अपने स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की, जो उसके नाम से 'चेदि' कहाया। इसी को आजकल बुन्देलखण्ड कहते हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है, कि ऐल-वंश की विविध शाखाओं ने दक्षिण की ओर अपने अनेक राज्य स्थापित किये।

अब आर्यों की शक्ति उत्तर-पश्चिम में गान्धार से शुरू कर पूर्व में गया तक और उत्तर में हिमालय से दक्षिण में नर्मदा नदी व बरार के प्रदेश तक विस्तृत हो चुकी थी। इस सुविस्तृत भूखण्ड पर आर्यों के बहुत-से छोटे-बड़े राज्य विद्यमान थे, जो प्रायः आपस में युद्ध भी करते रहते थे। कभी अयोध्या के राजा प्रबल हो जाते

थे, कभी प्रतिष्ठान के और कभी माहिष्मती के। पर भारत के ये प्राचीन सम्राट् दिग्विजय करते हुए पराजित राजाओं का मूलोच्छेद नहीं कर देते थे। वे उनसे अधीनतामात्र स्वीकृत कराके संतुष्ट हो जाते थे। इस प्रकार एक चक्रवर्ती सम्राट् के रहते हुए भी विविध राज्यों की सत्ता कायम रहती थी।

पूर्व में ऐल-वंश का विस्तार—आर्य लोग समयान्तर में पूर्व दिशा की ओर भी निरन्तर आगे बढ़ते गये। गया से आगे पूर्व की ओर आर्य-जाति का विस्तार किस प्रकार हुआ, इस सम्बन्ध में ऋषि दीर्घतमा की कथा बड़े महत्त्व की है, जो पौराणिक अनुश्रुति में उपलब्ध होती है। मगध और पूर्वी भारत में आर्यों के प्रवेश पर इससे अच्छा प्रकाश पड़ता है। हम इस कथा को संक्षेप के साथ यहां उद्धृत करते हैं।

प्राचीन समय में दो ऋषि हुए, जिनके नाम बृहस्पति और उशिज थे। उशिज की पत्नी का नाम ममता था। उशिज और ममता का एक पुत्र हुआ, जो जन्म से ही अन्धा था। इसलिये उसका नाम दीर्घतमा रखा गया। उधर ऋषि बृहस्पति का भी एक पुत्र हुआ, जिसका नाम भारद्वाज था। अन्धा दीर्घतमा अपने चचेरे भाई भारद्वाज के आश्रम में रहता था। वहां उसने अपनी भाभी के साथ दुराचार करने का प्रयत्न किया। परिणाम यह हुआ, कि कुछ आश्रमवासियों ने ऋषि दीर्घतमा को बांध कर, बेड़े पर डाल गंगा में बहा दिया। गंगा में बहते-बहते ऋषि दीर्घतमा आनव-राजा बलि के राज्य में जा पहुंचे। राजा बलि उस समय गंगा में स्नान कर रहे थे। उन्होंने जब एक वृद्ध व अन्धे ऋषि को नदी में बहते हुए देखा, तो उसका उद्धार किया, और बड़े आदर के साथ उसे अपने राजमहल में ले गये।

राजा बलि के कोई सन्तान नहीं थी। उस समय आर्यों में नियोग की प्रथा प्रचलित थी। राजा बलि की पत्नी सुदेष्णा ने ऋषि दीर्घतमा के साथ नियोग करके पांच पुत्रों को जन्म दिया। इनके नाम अंग, बंग, कलिंग, पुण्ड्र और सुम्ह थे। इन पांचों ने अंग-बंग आदि पांच पूर्वी राज्यों की स्थापना की। ये पाचों वंशकर राजा हुए। इन्हें इतिहास में 'बालेय क्षत्र' और 'बालेय ब्राह्मण' के नाम से कहा गया है। ये पांचों क्षत्रिय और ब्राह्मण दोनों थे। इनकी माता क्षत्रिय और पिता ब्राह्मण ऋषि थे, इसीलिये इन्हें ये नाम दिये गये हैं। कतिपय पुराणों के अनुसार अंग-बंग आदि पाच कुमार रानी सुदेष्णा के पुत्र न होकर उसकी शूद्र दासी के पुत्र थे। राजा बलि की आज्ञा से जब रानी सुदेष्णा ऋषि दीर्घतमा के पास गई, तो उसे बूढ़ा, अन्धा व विकलांग देखकर डर गई और उसने अपनी जगह पर अपनी दासी को ऋषि के पास भेज दिया।

ऋषि दीर्घतमा ने एक अन्य शूद्र स्त्री औशीनरी से विवाह भी किया और उससे काक्षीवान आदि अनेक पुत्रों का जन्म हुआ।

यह राजा बलि तितिक्षु का वंशज था। तितिक्षु का उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। यद्यपि मगध से गय आमूर्तरयस द्वारा स्थापित राज्य इस समय समाप्त हो चुका था, पर और अधिक पूर्व में तितिक्षु के वंशज अभी तक राज्य कर रहे थे। बलि के बाद उसके आर्य-राज्य की और अधिक उन्नति हुई। उसकी नियोगज सन्तान ने बंगाल की खाड़ी तक आर्य-शासन का विस्तार किया, और अंग, बंग, कलिंग, पुण्ड्र और सुम्ह—इन पांच नये राज्यों की अपने नामों से स्थापना की।

यहां यह बात ध्यान देने योग्य है, कि बलि के उत्तराधिकारी शुद्ध आर्य-राजा नहीं थे। प्राचीन अनुश्रुति के अनुसार वे दीर्घतमा ऋषि द्वारा शूद्र स्त्री से उत्पन्न हुई सन्तान थे। अभिप्राय यह है, कि पूर्वी भारत में आर्य लोग अपनी रक्त-शुद्धता को कायम नहीं रख सके थे। मगध के बाद के राजाओं को भी असुर व शूद्र कहा गया है। जरासन्ध व महापद्मनन्द जैसे मागध सम्राट् शुद्ध आर्य न होकर असुर व शूद्र कहे गये हैं। पूर्वी भारत के इन प्राचीन आर्यों में बहुत प्राचीन काल से अनार्य-रक्त का प्रवेश हो गया था। पूर्वी भारत में जाकर बसनेवाले व अपना पृथक् राज्य स्थापित करनेवाले आर्य ब्राह्मणों व क्षत्रियों ने आर्यभिन्न जातियों की स्त्रियों से विवाह किये और इसीलिये इन पूर्वी राज्यों में अनार्य-तत्त्व की अधिकता रही। इसी कारण 'भृत' सेना को संगठित कर सकना उनके लिये सुगम रहा, और इसीलिये उनमें प्राचीन आर्य-परम्परा के विपरीत शक्तिशाली साम्राज्यों के निर्माण की प्रवृत्ति हुई।

मनुस्मृति में जहां वर्णसंकरों का परिगणन किया गया है, मागध, अंग आदि उनमें सम्मिलित हैं। पूर्व के ये राजा शुद्ध आर्य न होकर वर्णसंकर ही थे।

(४) भारत-वंश

ऐल या चन्द्र-वंश के राजा पुरूरवा ने प्रतिष्ठान को राजधानी बनाकर किस प्रकार अपने राज्य की स्थापना की, इसका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। इसी वंश के शक्तिशाली राजा ययाति के समय में ऐल-क्षत्रियों की शक्ति का बहुत विस्तार हुआ था। ययाति के पांच पुत्र थे, जिन सबने अपने-अपने पृथक् राज्य स्थापित किये थे। इनमें से पुरु प्रतिष्ठान की राजगद्दी पर बैठा था, और उसी के नाम से प्रतिष्ठान का प्राचीन ऐल-वंश पौरव-वंश कहाने लगा था। अयोध्या, माहिष्मती आदि की शक्ति बढ़ने के कारण आगे चलकर

प्रतिष्ठान के राजाओं की शक्ति मन्द पड़ गई थी। विशेषतया, अयोध्या के ऐक्ष्वाकववंशी राजा सगर की विजयों ने प्रतिष्ठान के पौरवों को बिलकुल निर्बल बना दिया था। पर सगर की मृत्यु के बाद पौरवों को अपनी उन्नति का फिर अवसर मिला, और उनके राजा दुष्यन्त ने पौरव-वंश के गौरव की पुनः स्थापना की। भारत की प्राचीन ऐतिहासिक अनुश्रुति में राजा दुष्यन्त का बड़ा महत्त्व है। महाकवि कालीदास ने अपना प्रसिद्ध नाटक 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' इसी दुष्यन्त के कथानक को लेकर लिखा है। दुष्यन्त प्रतिष्ठान में तो पौरवों की शक्ति का पुनरुद्धार नहीं कर सका, पर अपने राज्य के लिये उसने एक नया क्षेत्र चुना, जो गंगा-यमुना के दोआब में विद्यमान था। गंगा-यमुना के दोआब का उत्तरी भाग कुरु देश में सम्मिलित था। इसकी राजधानी हस्तिनापुर थी, जिसकी सत्ता आजकल के हसनापुर नगर से पहचानी जाती है। यह हसनापुर मेरठ जिले के उत्तर-पूर्वी कोने में गंगा के तट से कुछ दूरी पर विद्यमान है। दुष्यन्त के समय में कुरु देश की इस राजधानी का नाम हस्तिनापुर नहीं था। यह नाम आगे चलकर दुष्यन्त के एक वंशज के नाम पर पड़ा, जिसका उल्लेख हम इसी प्रकरण में करेंगे।

प्राचीन अनुश्रुति के अनुसार राजा दुष्यन्त एक बार शिकार खेलने के लिये जंगल में गया। उन दिनों गंगा नदी के पूर्व में हिमालय की तराई में घनघोर जगल थे। इस जंगल के बीच में मालिनी नदी बहती थी, और उसके तट पर ऋषि कण्व का आश्रम था। मालिनी नदी गढ़वाल के पहाड़ों से निकलकर नजीबाबाद (बिजनौर जिला) के पश्चिम ओर से बहती हुई आगे चलकर गंगा में मिल जाती है। उसके किनारे किनक सोत नाम का एक स्थान अबतक विद्यमान है, जिसे ऋषि कण्व के प्राचीन आश्रम का स्थान कहा जाता है। ऋषि-आश्रम को देखकर दुष्यन्त ने अपने साथियों को बाहर छोड़ दिया, और स्वयं आश्रम में प्रवेश किया। वहां उसकी भेंट शकुन्तला नामक एक सुन्दरी युवती से हुई, जो ऋषि कण्व की कन्या थी। शकुन्तला और दुष्यन्त में प्रेम हो गया, और उनके सम्बन्ध से जिस बालक का जन्म हुआ, वह इतिहास में भरत नाम से प्रसिद्ध है। भरत बड़ा प्रतापी राजा था, उसके नाम पर प्राचीन पौरव-वंश अब 'भारत-वंश' कहाने लगा। अनेक विद्वानों का मत है, कि हमारे देश का भारत नाम भी इस भरत के नाम पर ही पड़ा। इसमें सन्देह नहीं, कि भरत चक्रवर्ती सार्वभौम सम्राट् था, और कुछ समय के लिये इस देश के बहुत-से आर्य-राज्य उसकी अधीनता को स्वीकार करते थे। पश्चिम में सरस्वती नदी से शुरू कर पूर्व में अयोध्या के समीप तक का सब प्रदेश सीधा भरत के शासन में था।

भरत के वंशज—सम्राट् भरत के वंश में राजा हस्ती हुआ। अनुश्रुति के अनुसार इसी के नाम पर कुरुदेश की राजधानी हस्तिनापुर का नाम पड़ा। सम्भवतः, यह नगर पहले से विद्यमान था, राजा हस्ती ने इसे बहुत बढ़ाया, और उसी के नाम से इस नगर का नाम हस्तिनापुर पड़ा। राजा हस्ती का पुत्र अजमीढ़ था। उसके समय में भारत-वंश की अनेक शाखायें हो गईं। मुख्य भारत-शाखा हस्तिनापुर में राज्य करती रही। अन्य शाखाओं ने पञ्चालदेश में अपने पृथक् शासन स्थापित किये। कुरुदेश के साथ लगा हुआ गंगा के पूर्व का जो प्रदेश है, उसी का प्राचीन नाम पंचाल देश था। पञ्चाल के दो भाग थे, उत्तर-पञ्चाल और दक्षिण-पंचाल। उत्तर-पंचाल की राजधानी अहिच्छत्र थी, जिसके भग्नावशेष इस समय के बरेली जिले में विद्यमान हैं। दक्षिण-पंचाल की राजधानी काम्पिल्य थी, जो वर्तमान समय के फर्रुखाबाद में स्थित थी। इन दो पंचाल-राज्यों में भारत-वंश की दो शाखाओं का शासन था।

भारत-राजाओं में संघर्ष—हस्तिनापुर, अहिच्छत्र और काम्पिल्य में जो विविध भारत-वंशी राज्य स्थापित हुए थे, उनमें आगे चलकर परस्पर युद्ध शुरू हो गये। हस्तिनापुर के राजा अजमीढ़ के प्रायः दस पीढ़ी बाद कुरुदेश का राजा संवरण हुआ। उसका समकालीन अहिच्छत्र (उत्तर-पंचाल) का राजा सुदास था। संवरण और सुदास में अनेक युद्ध हुए। अन्त में सुदास ने संवरण को उसकी राजधानी हस्तिनापुर में बुरी तरह से परास्त किया। गंगा पार कर सुदास कुरु-देश में बहुत आगे बढ़ गया, और यमुना तक के प्रदेश को जीतकर अपने अधीन कर लिया। सुदास ने उत्तर-पंचाल के पड़ोस में विद्यमान अन्य राज्यों पर भी आक्रमण किये। उसकी विजयों से परेशान होकर संवरण के नेतृत्व में बहुत-से राजा उसके विरुद्ध उठ खड़े हुए। सुदास के विरोधी इस गुट में कुरु, मत्स्य, तुर्वसु, द्रुह्यु, शिवि आदि अनेक राजवंशों के राजा सम्मिलित हुए। ऋग्वेद के एक मन्त्र (ऋग्वेद, ७, १८) में सुदास के साथ लड़े गये इस युद्ध की स्मृति सुरक्षित है। इस युग में तुर्वसु, द्रुह्यु, शिवि आदि राजवंश पंजाब व उससे भी परे पश्चिमी प्रदेश में शासन करते थे। राजा सुदास गंगा को पार कर जिस प्रकार पश्चिम की ओर आगे बढ़ रहा था, उसी से भयभीत होकर इन विविध पाश्चात्य राजाओं ने मिलकर परस्पर संघ बनाया था। इस युद्ध में भी राजा सुदास की विजय हुई, और हस्तिनापुर के राजा संवरण ने भागकर सिन्धु नदी के तट पर स्थित एक दुर्ग में शरण ली। सुदास और संवरण का यह युद्ध परुष्णी (रावी) नदी के तट पर लड़ा गया था। पर उत्तर-पंचाल की यह असाधारण

शक्ति देर तक कायम नहीं रह सकी। सुदास के वंशज सहदेव और सोमक उसके समान वीर नहीं थे। उनके समय में संवरण ने कुरुदेश की शक्ति का पुनरुद्धार किया। संवरण ने न केवल कुरुदेश को फिरसे प्राप्त किया, अपितु उत्तर-पंचाल को भी विजय कर लिया। निःसन्देह, संवरण बहुत प्रतापी और बलवान् राजा था।

राजा कुरु——संवरण का पुत्र राजा कुरु हुआ। अपने पिता के समान कुरु भी वीर और प्रतापी था। उत्तर-पंचाल का विजय संवरण कर चुका था, अब कुरु ने दक्षिण पंचाल को भी जीत कर अपने अधिकार में कर लिया। राजा कुरु के शासन में सरस्वती नदी से प्रयाग तक का सुविस्तृत प्रदेश शामिल था। कुरु के नाम पर ही हस्तिनापुर का प्राचीन भारत-वंश अब 'कौरव-वंश' कहाने लगा। भारत-वंश के हस्तिनापुर के राज्य को हम कुरुदेश कहते आये हैं। इस राज्य का कुरुदेश नाम भी राजा कुरु के नाम पर ही पड़ा।

वसु का साम्राज्य——कुरु के वंश में आगे चलकर राजा वसु हुआ। वह बड़ा प्रतापी और वंशकर राजा था। उसने चेदिदेश को जीतकर अपने अधीन किया, और इसीलिये वह चैद्योपरिचर (चैद्य उपरिचर=चैद्यों के ऊपर चलने वाला) की उपाधि से विभूषित हुआ। उसने पूर्व में चेदि से भी आगे बढ़कर मगध तक के प्रदेश का विजय किया। उसने शुक्तिमती (केन) नदी के तट पर स्थित शुक्तिमती नगरी को अपनी राजधानी बनाया। कुरुदेश से मगध देश तक उसका अबाधित शासन था। इसी कारण वह चक्रवर्ती सम्राट् कहाता था। वसु के पहले भी मगध आर्यों के अधीन हो चुका था। पर पूर्वी भारत के इस क्षेत्र में पहला स्थिर आर्य-राज्य वसु द्वारा ही स्थापित हुआ।

बार्हद्रथ-वंश का प्रारम्भ——वसु के पांच पुत्र थे——बृहद्रथ, प्रत्यग्रह, कुश, यदु और मावेल्ल। वसु ने अपने प्रताप से जिस विशाल साम्राज्य की स्थापना की थी, उसे उसने पांच भागों में विभक्त कर उनका शासन करने के लिये अपने पांचों पुत्रों को नियत किया। वसु के साम्राज्य के ये पांच भाग निम्नलिखित थे——मगध, कौशाम्बी, कारूष, चेदि और मत्स्य। मगध का शासक बृहद्रथ को नियत किया गया। उसी से उस बार्हद्रथ-वंश की स्थापना हुई, जो आगे चलकर भारतीय इतिहास में बहुत प्रसिद्ध हुआ। बार्हद्रथ राजाओं की राजधानी गिरिव्रज थी। पाटलिपुत्र व राजगृह की स्थापना से पूर्व अनेक सदियों तक मगध की राजधानी गिरिव्रज रही। राजगृह की स्थापना गिरिव्रज के समीप बाद में हुई। वस्तुतः, गिरिव्रज के खण्डहरों पर ही राजगृह का निर्माण हुआ था। गिरिव्रज के संस्थापक कौरव सम्राट् वसु और उसका पुत्र बृहद्रथ ही थे।

(५) राजा रामचन्द्र

राम की कथा—अयोध्या के ऐक्ष्वाकव-वंश का वृत्तान्त ऊपर दिया जा चुका है, और यह भी लिखा जा चुका है, कि इस वंश में मान्धाता, हरिश्चन्द्र, दिलीप, रघु, दशरथ आदि बहुत-से अत्यन्त प्रतापी राजा हुए, जिन्होंने अपनी शक्ति का दूर-दूर तक विस्तार किया। दिलीप के समय के लगभग से अयोध्या के प्राचीन राज्य को कोशल कहा जाने लगा था। कोशलदेश के राजाओं में सबसे प्रसिद्ध राजा रामचन्द्र थे, जिनकी कथा भारत का बच्चा-बच्चा जानता है, और जिनकी स्मृति में आजतक अनेक त्यौहार मनाये जाते हैं। राम का जन्म-दिन तक आर्य-जाति को अब तक याद है, और भारत में वह बड़े धूमधाम के साथ 'रामनवमी' के उत्सव के रूप में मनाया जाता है।

राम की कथा को यहां विस्तृत रूप से लिखने की आवश्यकता नहीं। राम राजा दशरथ के पुत्र थे। दशरथ की तीन रानिया थीं—कौशल्या, कैकेयी और सुमित्रा। कौशल्या के पुत्र राम, कैकेयी के पुत्र भरत और सुमित्रा के पुत्र लक्ष्मण और शत्रुघ्न थे। एक बार ऋषि विश्वामित्र राजा दशरथ के पास आये। उन्होंने दशरथ से कहा, राक्षस लोग हमारे यज्ञों में विघ्न डालते हैं, अतः यदि आप अपने पुत्र राम और लक्ष्मण को यज्ञों की रक्षा के लिये हमें दे सकें, तो बहुत उत्तम हो। राजा पहले तो अपने युवा कुमारों को अकेले जंगल भेजने में आनाकानी करने लगे, पर विश्वामित्र के अनुरोध पर तैयार हो गये। राम-लक्ष्मण ने विश्वामित्र के साथ धर्मारण्य में जाकर राक्षसों का संहार किया और अपनी वीरता का परिचय दिया। विश्वामित्र ने उन्हें अस्त्र-शस्त्रों की उच्च शिक्षा भी दी।

इसी बीच में मिथिला के राजा जनक अपनी कन्या सीता का विवाह करने के लिये स्वयंवर रच रहे थे। मिथिला के राजाओं की वंशक्रमानुगत उपाधि जनक थी। जो 'जनक' इस समय मिथिला के सिंहासन पर विराजमान था, उसका वैयक्तिक नाम सीरध्वज था। राम और लक्ष्मण भी विश्वामित्र के साथ स्वयंवर-सभा में पहुंचे। सीरध्वज के पास एक प्राचीन धनुष था। उन्होंने निश्चय किया, कि जो युवक इस धनुष को तोड़ देगा, उसी से सीता का विवाह करेंगे। अन्य अनेक राजा इस धनुष का उपयोग करने व इसे तोड़ सकने में असमर्थ रहे। राम ने इसे तोड़ दिया, और प्रसन्न होकर जनक सीरध्वज ने राम का सीता के साथ विवाह कर दिया। विवाह के बाद रामचन्द्र अयोध्या वापस लौट आये।

राजा दशरथ अब वृद्ध हो गये थे। उन्होंने चाहा कि अपने ज्येष्ठ पुत्र राम को राजगद्दी पर बिठाकर स्वयं राज्यकार्य से अवकाश ग्रहण कर लें। अयोध्या की पौर-जानपद सभायें राजा दशरथ के इस विचार से बहुत संतुष्ट व प्रसन्न हुई, क्योंकि रामचन्द्र प्रजा के बहुत प्रिय थे। जब राम के राज्यतिलक की सब तैयारी हो चुकी, तो रानी कैकेयी के षड्यन्त्र के कारण रामचन्द्र को लक्ष्मण और सीता के साथ चौदह वर्ष के लिये बन जाना पड़ा, और यह निश्चित हुआ कि कैकेयी-पुत्र भरत को राजगद्दी पर बिठाया जाय। राजा दशरथ राम के वियोग को नहीं सह सके, और स्वर्ग को सिधार गये। इस समय भरत अपने नाना के घर केकय देश में थे। उन्हें अपनी माता कैकेयी की षड्यन्त्र का कुछ भी ज्ञान नहीं था। उन्हें अयोध्या बुलाया गया। भरत को रामचन्द्र से सच्चा स्नेह था, और वे समझते थे, कि कोशलदेश की राजगद्दी पर राम का ही अधिकार होना चाहिये। वे अपनी माता पर बहुत नाराज हुए। उन्होंने भरपूर कोशिश की, कि राम को वन से लौटा लावें। पर वे अपने प्रयत्न में असफल हुए, और राम की आज्ञा से उनके प्रतिनिधि रूप में अयोध्या का शासन करने लगे।

अयोध्या छोड़कर रामचन्द्र ने प्रयाग के समीप गंगा को पार किया, और चित्रकूट होते हुए गोदावरी नदी के तट पर पञ्चवटी पहुंचे। यह स्थान सम्भवतः वर्तमान नासिक जिले में था। वहां अब भी एक पर्वत है, जिसे रामसेज कहते हैं। पञ्चवटी में कुछ समय निवास करके राम, सीता और लक्ष्मण गोदावरी के साथ-साथ और नीचे की ओर चले गये। उस समय यहां एक विशाल जंगल था, जिसे दण्डकारण्य कहते थे। यहां राक्षस जाति के लोग बड़ी संख्या में निवास करते थे। इस अरण्य में उनकी एक बड़ी बस्ती भी थी, जिसे जनस्थान कहते थे। राम का आना राक्षसों को अच्छा नहीं लगा। उनकी राम के साथ छेड़छाड़ हो गई, और राक्षसों का राजा रावण चाल चलकर सीता को हर ले गया। रावण राक्षस-जाति का प्रधान राजा था, और लंका में निवास करता था। राम और लक्ष्मण ने सीता की तलाश का बहुत प्रयत्न किया, पर उन्हें सफलता नहीं हुई। अन्त में पम्पा-सरोवर के समीप सुग्रीव और उसके मन्त्री हनुमान् से उनकी भेंट हुई। इस प्रदेश में वानर-जाति के लोगों की एक बस्ती थी, जिसकी राजधानी किष्किन्धापुरी थी। सुग्रीव किष्किन्धा का राजा था, पर उसके भाई बाली ने उसे बहिष्कृत कर राज्य पर अपना अधिकार जमा लिया था। राम ने बाली को युक्तिद्वारा मारकर सुग्रीव को किष्किन्धा का राजा बनाया। सुग्रीव और हनुमान् की सहायता से राम ने लंका पर आक्रमण किया, और रावण को मारकर

सीता को फिर से प्राप्त किया। वनवास के चौदह साल अब समाप्त हो चुके थे। राम सीतासहित अयोध्या लौट आये। भरत वहां उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे। अब राम कोशलदेश के राजा बने।

रामायण—राजा रामचन्द्र की जिस कथा को हमने यहां अत्यन्त संक्षेप के साथ लिखा है, वह विस्तृत रूप से रामायण में वर्णित है। अनुश्रुति के अनुसार रामायण के रचयिता वाल्मीकि मुनि थे। इसीलिये इस ग्रन्थ को वाल्मीकीय रामायण कहा जाता है। वाल्मीकि को संस्कृत का आदिकवि माना जाता है। उनसे पहले अनेक ऋषियों ने पद्य-रूप में वैदिक ऋचाओं की तो रचना की थी, पर ऐसा प्रतीत होता है, कि लौकिक उपाख्यानमयी कविता का प्रारम्भ सबसे पूर्व वाल्मीकि ने ही किया था। वाल्मीकि द्वारा विरचित इस रामायण में २४,००० श्लोक हैं, जो कविता की दृष्टि से अत्यन्त सुन्दर और उत्कृष्ट हैं। अनेक विद्वानों की सम्मति में सम्पूर्ण रामायण किसी एक कवि की रचना नहीं है। प्रारम्भ में वाल्मीकि ने राम की कथा का जो पद्यमय उपाख्यान किया था, बाद में उसमें अनेक अंश जुड़ते गये। रामायण जिस रूप में अब उपलब्ध होती है, वह राम के समय की बनी हुई नहीं है। सम्भवतः, वह ईसवी सन् से पांच सदी के लगभग पूर्व बनी थी।

पर इसमें सन्देह नहीं, कि वाल्मीकि राम के समकालीन थे। उनका अपना आश्रम था, और अनुश्रुति के अनुसार सीता कुछ समय तक उनके आश्रम में रही थीं। राम के दोनों पुत्र कुश और लव वाल्मीकि मुनि के आश्रम में ही उत्पन्न हुए थे। अनेक विद्वानों के अनुसार मुनि वाल्मीकि भार्गव-वंश के थे। अन्य विद्वान् उन्हें किसी आर्यभिन्न जाति का मानते हैं। वर्तमान समय की भंगी जाति के लोग वाल्मीकि की पूजा करते हैं, और अपने को वाल्मीकि-जाति का कहते हैं। ऐसे बहुत-से मन्दिर भी भारत में विद्यमान हैं, जिनमें वाल्मीकि की मूर्ति स्थापित है। इन मन्दिरों के पुरोहित भंगी-जाति के होते हैं, और भंगी लोग ही इनमें पूजा के लिये जाते हैं। भंगियों में विद्यमान अनुश्रुति को यदि कोई महत्त्व दिया जाय, तो यह स्वीकार करना होगा, कि वाल्मीकि ब्राह्मण न होकर किसी आर्यभिन्न जाति के थे, जिसके वर्तमान प्रतिनिधि भंगी-जाति के लोग हैं। वर्तमान समय में यह बात बड़े आश्चर्य की है, कि होली आदि के अनेक अवसरों पर भंगी लोग ब्राह्मणों के समान दान ग्रहण करते हैं, और अपने, 'यजमानों' को आशीर्वाद भी देते हैं। असम्भव नहीं, कि ये लोग किसी आर्यभिन्न जाति के पुरोहित-स्थानीय रहे हों, और बाद में आर्यों

की प्रभुता होने पर समाज में अत्यन्त हीन स्थिति पर पहुंचने के लिये विवश हुए हों।

आर्यों का दक्षिण-प्रदेश--रामायण की कथा का एक ऐतिहासिक महत्त्व है, जिसका यहां विशेष रूप से उल्लेख करना आवश्यक है। राम से पूर्व आर्य लोग उत्तरी भारत में अपने बहुत-से राज्य स्थापित कर चुके थे। दक्षिण में विन्ध्याचल और नर्मदा तक भी उनका प्रवेश हो चुका था। पर सुदूर दक्षिण में अभी तक आर्यभिन्न जातियों का निवास था। इन आर्यभिन्न जातियों में राक्षस-जाति सर्वप्रधान थी। वहां उनका अपना स्वतन्त्र राज्य था, और उनकी दो प्रधान बस्तियां लंका और जनस्थान थीं। राक्षस लोगों का धर्म आर्यों के धर्म से भिन्न था। राक्षस आर्यों के यज्ञों और विधि-विधानों में विश्वास नहीं करते थे। इसीलिये जो आर्य ऋषि दक्षिण की ओर जंगलों में अपने आश्रम बनाते थे, राक्षस उन्हें परेशान करते रहते थे। फिर भी, राक्षसों और आर्यों में परस्पर सम्बन्ध विद्यमान था। लंका का राजा रावण पुलस्त्य-वंश का था, और पुलस्त्य का विवाह वैशाली के सूर्यवंशी राजा तृणबिन्दु की कन्या इलविला के साथ हुआ था। वाराणसी से पूर्व की ओर बसे हुए आर्य लोग अपनी रक्त-शुद्धता को कायम नहीं रख सके, क्योंकि उस प्रदेश में आर्यभिन्न जातियों की प्रभुता थी। इस विषय पर पूर्व-लिखित दीर्घतमा की कथा से प्रकाश पड़ता है। आगे चलकर हम इस विषय पर और अधिक विस्तार के साथ लिखेंगे। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है, कि वैशाली के आर्य-राजा तृणबिन्दु ने अपनी एक कन्या का विवाह आर्यभिन्न जाति के एक राजा के साथ कर दिया हो। लंका का जो राक्षसराजा रावण सीता को हर ले गया था, वह पौलस्त्य था, और उसमें आर्यरक्त भी विद्यमान था।

राक्षसों के समान वानर और ऋक्ष-जातियां भी आर्यभिन्न-जातियां थीं, जो दक्षिणी भारत में निवास करती थीं। सभ्यता की प्रारम्भिक दशा में मनुष्य अनेक पशु-पक्षी व वनस्पति आदि की पूजा करता रहा है। इन प्रारम्भिक जातियों का अपना पृथक् देवता (पशु आदि के रूप में) होता था, और उसके चित्र से ये लोग अपने शरीर को अंकित व विभूषित करते थे। अमेरिका के आदिनिवासियों में यह प्रथा अब तक विद्यमान है। सम्भवतः, राम के काल में जिन जातियों को वानर व ऋक्ष आदि नामों से कहा गया है, वे इन पशुओं की दैव-रूप से पूजा करती थीं, और इसी कारण उनका परिचय इन पशुओं के नाम द्वारा ही दिया जाता था। अमेरिका के मूल निवासियों की विविध जातियों के अपने-अपने जो

पृथक् चिह्न हैं, जिनका आधार उनके उपास्य जीव-जन्तु हैं, उन्हें टोटम कहते हैं। वानर, ऋक्ष, नाग आदि प्राचीन भारतीय जातियों के भी ये जन्तु सम्भवतः टोटम ही थे। यह असम्भव नहीं है, कि किष्किन्धा के वानरों का लंका के राक्षसों के साथ विरोध व विद्वेष हो, और इसीलिये वे राक्षसों के विरुद्ध राम की सहायता करने के लिये सुगमता के साथ तैयार हो गये हों।

राम के उत्तराधिकारी--चौदह वर्ष के वनवास के बाद राम ने अयोध्या लौटकर कोशल देश का शासन-सूत्र हाथ में लिया। उनका शासन बहुत सुखमय, शान्तिपूर्ण और समृद्धिशाली था। रामायण ने राम-राज्य का जो वर्णन किया है, वह अत्यन्त सुन्दर, गौरवपूर्ण और आदर्श है। उसमें यहां तक लिखा है, कि राम के शासन-काल में किसी वृद्ध को अपनी युवा व बालक सन्तान की मृत्यु का दुःख नहीं देखना पड़ता था। उस समय में देश में धन-धान्य की प्रचुरता थी, कोई गरीब व दीन नहीं था। सब लोग सुख और समृद्धि के साथ रहते थे। 'राम-राज्य' शब्द भारत में अब तक आदर्श शासन के लिये प्रयुक्त होता है, और आर्य-जाति के प्रत्येक व्यक्ति को उसके लिये अभिमान है।

राम के भाई भरत ने अपने ननिहाल का केकय राज्य प्राप्त किया। उत्तर-पश्चिमी पंजाब के गुजरात, शाहपुर और जेहलम जिले प्राचीन केकय देश को सूचित करते हैं। केकय देश की राजधानी का नाम गिरिव्रज था, जो मगध की राजधानी से भिन्न थी। भरत के दो पुत्र थे, तक्ष और पुष्कर। उन्होंने अपनी शक्ति का विस्तार किया, और गान्धार देश को जीतकर अपने नाम पर तक्षशिला और पुष्करावती नगरियां बसाईं। भारत के प्राचीन इतिहास में तक्षशिला नगरी का बहुत महत्त्व है। आगे चलकर वह विद्या, ज्ञान और व्यापार का बड़ा केन्द्र बन गई। बौद्ध-युग में वह भारत का सबसे महत्त्वपूर्ण शिक्षा केन्द्र थी। रावलपिण्डी नगर से बीस मील उत्तर-पश्चिम में तक्षशिला के भग्नावशेष अब तक विद्यमान हैं। पुष्करावती नगरी कुभा (काबुल) और सुवास्तु (स्वात) नदियों के संगम पर स्थित थी।

राम के पुत्र कुश और लव थे। वे अपने पिता के बाद कोशल देश के शासक हुए। कुश अयोध्या का राजा बना। लव ने कोशल देश के उत्तरी भाग में श्रावस्ती को राजधानी बनाकर अपने शासन का प्रारम्भ किया। बौद्ध-युग में यह श्रावस्ती भारत की एक प्रसिद्ध और समृद्ध नगरी थी। राम के बाद कोशल देश के इतिहास के सम्बन्ध में विशेष परिचय पौराणिक अनुश्रुति से प्राप्त नहीं होता। सम्भवतः, इस समय में अयोध्या के ऐक्ष्वाकववंशी राजाओं की

अपेक्षा कुरुदेश के पौरवों और विविध यादव-वंशों की शक्ति अधिक प्रबल हो गई थी। पौरवों और यादवों के प्रारम्भ के सम्बन्ध में हम इसी अध्याय में पहले लिख चुके हैं।

(६) यादव और कौरव

यादवों के विविध राज्य--ऐल-वंश के प्रतापी राजा ययाति के पांच पुत्रों का उल्लेख पहले किया जा चुका है, जिन सबने आर्य-जाति की शक्ति का दूर-दूर तक विस्तार किया, और अपने पृथक्-पृथक् राज्य स्थापित किये। ये पांचों--यदु, तुर्वसु, द्रुह्यु, अनु और पुरु--वंशकर राजा थे। इनमें से यदु द्वारा यादव-वंश का प्रारम्भ हुआ। यदु ने केन, बेतवा और चम्बल नदियों की घाटियों में अपने राज्य की स्थापना की थी। यदु के वंश में आगे चलकर शशबिन्दु नाम का एक चक्रवर्ती राजा हुआ। उसने द्रुह्यु और पुरु के वंशजों के राज्यों को जीत कर अपने अधीन कर लिया था। पर यादवों की यह शक्ति देर तक कायम नहीं रह सकी। शशबिन्दु का जामाता अयोध्या का शक्तिशाली ऐक्ष्वाकव राजा मान्धाता था, जिसने अपनी शक्ति को बढ़ाने के लिये दूर-दूर तक विजय-यात्रा की थी। मान्धाता के कारण यादव-वंश के राजाओं की शक्ति का विस्तार रुक गया, और शशबिन्दु ने यादवों का जो चक्रवर्ती साम्राज्य बनाना शुरू किया था, वह अपूर्ण ही रह गया।

मान्धाता के तीन पीढ़ी बाद यादवों को अपनी शक्ति के उत्कर्ष का फिर अवसर मिला। उनकी हैहय-शाखा ने राजा महिष्मन्त और बाद में कार्तवीर्य अर्जुन के नेतृत्व में किस प्रकार अपनी शक्ति का विस्तार किया, यह हम पहले लिख चुके हैं। यादवों की एक अन्य शाखा ने विदर्भ में अपने पृथक् राज्य की स्थापना की, यह भी पहले बताया जा चुका है। आगे चलकर इस विदर्भ देश में मधु नाम का एक शक्तिशाली यादव राजा हुआ, जो बड़ा प्रतापी था। उसने यादव-वंश के विविध राज्यों को मिलाकर एक विशाल चक्रवर्ती राज्य की स्थापना की। पर यादव-राज्यों की यह एकता देर तक कायम नहीं रह सकी। मधु के बाद चौथी पीढ़ी में सत्वन्त नाम का वीर हुआ, जिसने 'सात्वत' नाम से अपना पृथक् वंश प्रारम्भ किया। सत्वन्त का पुत्र भीम राम और कुश का समकालीन था। सात्वत-वंश के यादव यमुना के पश्चिम में वर्तमान समय के मथुरा-प्रदेश में शासन करते थे। ऐक्ष्वाकव राम के पुत्र शत्रुघ्न ने इस प्रदेश को जीतकर अपने अधीन किया। शत्रुघ्न के दो पुत्र थे। सुबाहु और शूरसेन

शूरसेन के नाम से मथुरा का समीपवर्ती यह प्रदेश शौरसेन कहलाने लगा। शत्रुघ्न की मृत्यु के बाद उसके लड़के इस प्रदेश पर अपने आधिपत्य को कायम नहीं रख सके। भीम सात्वत ने मथुरा में पुनः यादवों की सत्ता को कायम किया। भीम के अनेक पुत्र थे, जिनमें अन्धक और वृष्णि बहुत प्रसिद्ध हैं। ये दोनों वंशकर राजा थे। इनके नाम पर अन्धक और वृष्णि-राज्यों का प्रारम्भ हुआ। महाभारत-युद्ध के समय के कृष्ण वृष्णि-वंश में उत्पन्न हुए थे और कंस अन्धक-वंश में। महाभारत के समय में अन्धक और वृष्णि-राज्यों का परस्पर मिलकर एक संघ बना हुआ था। इनके अतिरिक्त ऐल-वंश की यादव-शाखा के अन्य भी अनेक राज्य विदर्भ, अवन्ति आदि में विद्यमान थे। यादव-वंश की हैहय-शाखा का माहिष्मती का पुराना राज्य भी बहुत समय तक कायम रहा था।

कौरव-राज्य—हस्तिनापुर के पौरव-वंश ने अपनी शक्ति का विकास किस प्रकार किया, यह ऊपर लिखा जा चुका है। राजा कुरु के नाम पर हस्तिनापुर के इस पौरव-वंश का नाम 'कौरव' हो गया था, यह भी हम पहले लिख चुके हैं। कुरु की चौदहवीं पीढ़ी में राजा प्रदीप हुआ। यह बहुत प्रतापी था। इसने हस्तिनापुर के राज्य को बहुत उन्नत किया। प्रतीप के बाद उसका पुत्र शान्तनु हस्तिनापुर का राजा बना। शान्तनु के पौत्र धृतराष्ट्र और पाण्डु थे। धृतराष्ट्र के दुर्योधन आदि सौ पुत्र थे, जो महाभारत की कथा में कौरव नाम से विख्यात हैं। पाण्डु के युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव—ये पांच पुत्र थे, जो पाण्डव कहाते थे।

इन्द्रप्रस्थ की स्थापना—कौरवों या धार्तराष्ट्रों और पाण्डवों में परस्पर मेल नहीं था। पाण्डवों ने चाहा, कि हस्तिनापुर के कुरु-राज्य में उन्हें भी अपना हिस्सा मिले। पर दुर्योधन इसके विरुद्ध था। संघर्ष के बाद अन्त में यह तय हुआ, कि यमुना के पश्चिम में एक प्रदेश पाण्डवों को प्रदान कर दिया जाय। यमुना के पश्चिम का यह प्रदेश उन दिनों में एक घना जंगल था, जिसे खाण्डव वन कहते थे। खाण्डव वन को जलाकर पाण्डवों ने उसे आबाद किया, और वहां इन्द्रप्रस्थ नगर बसाया। वर्तमान समय की नई दिल्ली के समीप पुराने किले में एक गांव था, जिसका नाम इन्दरपत था। यह इन्दरपत शायद इन्द्रप्रस्थ के भग्नावशेषों पर आबाद हुआ था।

पाण्डवों के प्रयत्न से इन्द्रप्रस्थ की बहुत उन्नति हुई। कुछ ही समय में वह एक उन्नत और समृद्ध नगर बन गया। शूरसेन देश में विद्यमान वृष्णि-राज्य के नेता कृष्ण के साथ पाण्डवों ने मैत्री की, और उसकी सहायता से

अपनी शक्ति को और अधिक बढ़ाने का प्रयत्न किया। पाण्डवों की इच्छा थी, कि वे प्राचीन आर्य-मर्यादा का अनुसरण कर दिग्विजय के लिये निकलें, और अन्य राजाओं को परास्त कर चक्रवर्ती पद को प्राप्त करें। पर उनकी इस महत्वाकांक्षा में जहां हस्तिनापुर के कौरव बाधक थे, वहां उनका सबसे बड़ा शत्रु जरासन्ध था, जो मगध में अपनी शक्ति को बढ़ाकर भारत का 'एकराट्' बनने के लिये प्रयत्नशील था। यहां यह आवश्यक है, कि हम इस जरासन्ध के सम्बन्ध में अधिक परिचय दें।

(७) बार्हद्रथ जरासन्ध

पौरव-वंश के राजा वसु के पुत्र बृहद्रथ न मगध में किस प्रकार अपने राज्य की स्थापना की, और उससे बार्हद्रथ-वंश का प्रारम्भ हुआ, यह हम पहले लिख चुके हे। बार्हद्रथ-वंश के राजा निम्निलिखित थे—बृहद्रथ, कुशाग्र, ऋषभ, पुष्पवान्, सत्यहित, सुधन्वा, ऊर्ज, सम्भव, जरासन्ध, सहदेव, सोमाधि और श्रुतश्रवा।

पौराणिक अनुश्रुति के आधार पर बार्हद्रथ-वंश की जो सूची ऊपर दी गई है, वह सम्भवतः पूर्ण नहीं है। महाभारत में मगध के एक अन्य राजा का उल्लेख आता ह, जिसका नाम दीर्व था, और जिसे हस्तिनापुर के राजा पाण्ड न परास्त किया था। इस प्रसंग में महाभारत में लिखा है—"पृथिवी को विजय करने की इच्छा से राजा पाण्डु भीष्म आदि वृद्धों, धृतराष्ट्र और कुरुओं के अन्य श्रेष्ठ जनों को प्रणाम करके, उनकी अनुमति लेकर, मंगलाचरणयुक्त आशीर्वाद का श्रवण करता हुआ हाथी, घोड़े और रथों से युक्त बड़ी भारी सेना को साथ लेकर विजय के लिये चला। उन्होंने बल तथा अहंकार से गर्वित मगधराज दीर्व को उसकी राजधानी राजगृह में ही मार डाला। राजगृह से बहुत-सा कोष और विविध प्रकार के वाहन पाण्डु के हाथ लगे।"

इससे प्रतीत होता है कि, पाण्डु के समय में मगध का राजा दीर्घ था। बार्हद्रथ-वंशी जरासन्ध कोरव-राज दुर्योधन व पाण्डव-राज युधिष्ठिर का समकालीन था। राजा दीर्व पाण्डु का समकालीन था। इसलिये वह जरासन्ध से कुछ समय पूर्व मगध का राजा था। उसेम है ऊर्ज और सम्भव के बाद व जरासन्ध से पहले रख सकत हें।

यद्यपि मगधराज दीर्व पाण्डु से ही परास्त हो गया था, पर उसके प्रताप व शक्ति में कोई सन्देह नहीं किया जा सकता। महाभारत में लिखा है, कि—"दीर्घ

ने बहुत-से राजाओं को हानि पहुंचाई हुई थी, बहुत-से महीप उससे नुकसान उठाये हुए थे, और इसीलिये उसे अपने बल का बहुत घमंड था।"

जरासन्ध—दीर्घ के बाद मगध की राजगद्दी पर जरासन्ध आसीन हुआ। महाभारत के अनुसार जरासन्ध ने सब क्षत्रिय-राजवंशों की राज्यश्री का अन्त कर, सर्वत्र अपने तेज से आक्रमण कर, सब राजाओं में प्रधान स्थान प्राप्त किया था। वह सबका स्वामी था। सारा संसार उसके 'एकवश' में था, और सर्वत्र उसका साम्राज्य था।

चेदि का राजा शिशुपाल जरासन्ध की अधीनता स्वीकार करता था और मागध-साम्राज्य के प्रधान सेनापति-पद पर नियुक्त था। कारूष देश का राजा वक्र उसका शिष्य-सा बना हुआ था। वक्र बड़ा प्रतापी राजा था और मायायुद्ध में बड़ा प्रवीण था। ऐसे ही, करभ का राजा मेघवाहन, जिसकी ख्याति एक दिव्य-मणि के कारण सर्वत्र विस्तृत थी, जरासन्ध के अधीन हो गया था। प्राग्ज्योतिष का राजा भगदत्त, जिसके अधीन मुरु और नरक नाम के दो राजा थे, और जो अनन्त बलवाला भूपति था, न केवल वाणी से अपितु कर्म से भी जरासन्ध के अधीन था। युधिष्ठिर का मामा पुरुजित् भी मगधराज की अधीनता स्वीकृत करता था। बंग, पुण्ड्र और किरात का राजा वासुदेव भी जरासन्ध के अधीन था। इसी प्रकार पाण्ड्य और क्रथकैशिक का राजा भीष्मक भी मागध-साम्राज्य की अधीनता स्वीकार करता था।

ऊपर के उद्धरण से स्पष्ट है, कि जरासन्ध का साम्राज्य पूर्व में बंगाल और आसाम तक फैला हुआ था। पूर्वी भारत के अंग, बंग, पुण्ड्र, किरात व प्राग्ज्योतिष के राजा उसकी अधीनता में थे। दक्षिण में क्रथकशिक (वरार व खानदेश) के प्रदेश भी उसके साम्राज्य में सम्मिलित थे। चेदि के पश्चिमोत्तर में शूरसेन प्रदेश (वर्तमान मथुरा व उसके समीपवर्ती प्रदेश) में अन्धक यादवों का राज्य था। वहां का राजा कंस जरासन्ध का दामाद था। जरासन्ध की पुत्री व सहदेव की बहन अस्ति और प्राप्ति कंस की पत्नियां थीं। जरासंध की सहायता व संरक्षण के भरोसे कंस अपनी प्रजा पर मनमाना अत्याचार करता था। इस प्रकार भारत के बहुत बड़ भाग में उस समय जरासन्ध की तूती बोलती थी।

अनेक राज्य एसे भी थे. जिन्होंने मगधराज जरासन्ध की अधीनता स्वीकार कर लेने के स्थान पर अपने प्रदेशों को छोड़कर कहीं सुदूर पश्चिम में बस जाना उचित समझा। ऐसे अठारह राज्य तो भोजों के ही थे। उनके अतिरिक्त शूरसेन, भडकार, बोध, शाल्व, पटच्चर, स्वस्थल, सुकुट्ट, कुलिन्द, कुन्ति और

शाल्वायन—ये सब राजकुल अपने जनपदों को छोड़कर जरासन्ध के भय से पश्चिम की ओर चले गये थे। इसी प्रकार दक्षिण पंचाल, पूर्व-कोशल और मत्स्यराज्यों के निवासी भी अपने-अपने प्रदेशों को छोड़कर दक्षिण में जाकर बस गये। पंचाल लोग अपने 'स्वराज्य' को छोड़कर सब तरफ बिखर गये। (महाभारत, सभापर्व, अ० १४)।

ऊपर जिन राजकुलों व गणों का उल्लेख किया गया है, उन सब प्रदेशों का ठीक-ठीक परिचय हमें नहीं है। पर मगधराज जरासन्ध के उग्र साम्राज्यवाद के सम्बन्ध में इस संदर्भ से बहुत महत्त्वपूर्ण बातें हमें ज्ञात होती हैं। बंग, पुण्ड्र, चेदि आदि जिन राज्यों ने जरासन्ध की अधीनता को स्वीकार कर लिया था, उन्हें मागध-साम्राज्य में अधीनस्थ रूप से कायम रहने दिया गया था। पर जिन राजकुलों व गणराज्यों ने यह अधीन स्थिति स्वीकार नहीं की थी, उन्हें अपने-अपने जनपद व प्रदेश छोड़कर सुदूरवर्ती प्रदेशों में जा बसने के लिय विवश होना पड़ा था। मगध की इस उग्र साम्राज्य-लिप्सा से आर्यावर्त के जनपदों में उस समय कितनी भयंकर उथल-पुथल मची होगी, इसकी कल्पना सुगमता से की जा सकती है।

जरासन्ध ने बहुत-से राजाओं को पकड़कर कारागार में भी डलवा दिया था। महाभारत की अनुश्रुति के अनुसार 'जिस प्रकार सिंह महाहस्तियों को पकड़ कर गिरिराज की कन्दरा में बन्द कर देता है, उसी प्रकार जरासन्ध ने राजाओं को परास्त कर गिरिव्रज में कद कर लिया था। राजाओं के द्वारा यज्ञ करने की इच्छा से (राजाओं का यज्ञ में बलिदान करने की इच्छा से) उस जरासन्ध ने अत्यन्त कठोर तप करके उमापति महादेव को सन्तुष्ट किया है, और राजाओं को एक-एक करके परास्त कर अपने पास कैद कर लिया है'।

पाण्डव युधिष्ठिर—राजा युधिष्ठिर उन दिनों राजसूय-यज्ञ करने के लिये उत्सुक थे। कृष्ण ने उन्हें बताया, कि जब तक जरासन्ध जैसा शक्तिशाली सम्राट् विद्यमान है, राजसूय के लिये कोशिश करना बिल्कुल व्यर्थ है। पहले जरासन्ध को मारने का प्रयत्न करना चाहिए। उसे मार्ग से हटाये बिना राजसूय यज्ञ का स्वप्न देखना भी बेकार है। कृष्ण को जरासन्ध से विशेष विरोध व द्वेष था। वे अन्धक वृष्णि-संघ के 'संघमुख्य' व नेता थे। जरासन्ध के आक्रमणों से विवश होकर इस अन्धक वृष्णि-संघ को अपने प्रदेश शूरसेन को छोड़कर सुदूर पश्चिम में द्वारिका में जा बसने के लिये विवश होना पड़ा था।

कृष्ण—शूरसेन-प्रदेश में यादव लोगों के दो राज्य थे—अन्धक और वृष्णि। अन्धक यादवों का नेता कंस था। कंस जरासन्ध का दामाद था। जरासन्ध

मगध का 'एकराट्' था। पर कंस अन्धक यादवों में 'समानों में ज्येष्ठ' था, एकराट् नहीं। पर अपने श्वशुर जरासन्ध का सहारा पाकर कंस ने भी अन्धक यादव-कुलों के अन्य 'वृद्धों' व नेताओं को दबाना शुरू किया, और एकराट् हो गया। पर अन्धक यादवों को यह बात पसन्द न आई। उन्होंने अपने पड़ोसी, दूसरे यादव-राज्य, वृष्णिगण से सहायता मांगी। वृष्णि-यादवों का नेता कृष्ण था। कृष्ण ने कंस को मार डाला। यह सुनते ही जरासन्ध का कोप कृष्ण और यादवों पर उमड़ पड़ा। उसने सतरह बार यादवों पर आक्रमण किये। अन्धक-वृष्णियों ने खूब डटकर मगधराज जरासन्ध का मुकाबला किया। हंस और डिम्भक नामक दो सेनापति इन युद्धों में काम आये। आखिर अठारहवीं बार जरासन्ध ने एक शक्तिशाली सेना लेकर यादवों पर आक्रमण किया। इस बार अन्धक-वृष्णि परास्त हुए, और कृष्ण की सलाह से वे शूरसेन देश को छोड़कर द्वारिका में जा बसे। वहां अन्धक और वृष्णि गणों ने परस्पर मिलकर एक संघराज्य बना लिया, और कृष्ण इसके 'संघमुख्य' नियत हुए। द्वारिका मगध से बहुत दूर थी। वहां जरासन्धके आक्रमणों का कोई भय नहीं था। पर कृष्ण अपने परम शत्रु मगध-सम्राट् से बदला उतारने के लिये उत्सुक थे। अकेला यादवसंघ मगध का कुछ नहीं बिगाड़ सकता था। इसलिये उन्होंने इन्द्रप्रस्थ के पाण्डव-राजा युधिष्ठिर को अपना मित्र बनाया। पाण्डव-राजा बड़े महत्त्वाकांक्षी थे। वे राजसूय-यज्ञ करके चक्रवर्ती-पद प्राप्त करने के प्रयत्न में थे। कृष्ण ने उन्हें समझाया, कि जरासन्ध को मारे बिना वे अपनी आकांक्षाओं की पूर्ति नहीं कर सकते। उसने कहा—"इस समय एक महान् सम्राट् मगधराज जरासन्ध पहले से विद्यमान है। वह अपने बल-पराक्रम से सम्राट्-पद पर पहुंचा है। ऐल तथा ऐक्ष्वाकव-वंश की इस समय एक सौ शाखायें हैं। शक्ति से चाहे जरासन्ध ने इन्हें अपने अधीन कर लिया हो, परन्तु दिल से उसे वे नहीं चाहते। वह बल से ही उन पर शासन करता है। ८६ राजा तो उसने कैद ही कर रखे हैं, और साथ ही यह घोषणा कर रखी है, कि जब इन कैदी राजाओं की संख्या पूरी सौ हो जावेगी, तो महादेवजी के आगे इनकी बलि चढ़ा दी जावेगी। यह बिलकुल अनहोनी बात है, कि किसी राज्य के विधिपूर्वक अभिषिक्त राजा को कोई सम्राट् पकड़ रखे। क्षत्रिय का धर्म लड़ाई में मरना है, पशु के समान यज्ञ में बलि चढ़ना नहीं। मगधराज का हमें मिलकर मुकाबला करना चाहिये। जो अब जरासन्ध के मुकाबले में खड़ा होगा, वही उज्ज्वल कीर्ति प्राप्त कर सकेगा। जरासन्ध को जो परास्त करेगा, वही इस समय सम्राट्-पद का अधिकारी होगा।"

जरासन्ध की पराजय—कृष्ण की प्रेरणा से पाण्डव लोग जरासन्ध का मुकाबला करने के लिये तैयार हो गये। पर उन्होंने सम्मुख युद्ध में जरासन्ध का सामना करना उचित नहीं समझा। अर्जुन और भीम वेश बदलकर कृष्ण के साथ मगध की राजधानी गिरिव्रज में गये और वहां जरासन्ध को द्वन्द्व-युद्ध के लिये ललकारा। कृष्ण ने युद्ध के लिए आह्वान करते हुए जरासन्ध से कहा—"हम तुझे द्वन्द्व-युद्ध के लिये आह्वान करते हैं। या तो कारागार में डाले हुए सब राजाओं को छोड़ दो, या मृत्यु के लिये तैयार हो जाओ।"

जरासन्ध जैसा उद्भट वीर द्वन्द्व-यद्ध से इनकार नहीं कर सकता था। सर्वसाधारण जनता के सामने खुले मैदान में जरासन्ध और भीम की लड़ाई हुई। दर्शकों में शूद्र, स्त्रियां, वृद्ध सब शामिल थे। द्वन्द्व-युद्ध में भीम की विजय हुई। जरासन्ध मारा गया। यदि पाण्डव-सेनायें मगध पर आक्रमण करतीं, तो जरासन्ध की सैन्य-शक्ति को नष्ट कर सकना शायद उनके लिये सम्भव न होता। कृष्ण न अपनी नीति-कुशलता से पाण्डवों को यही सलाह दी, कि वे वेश बदलकर गिरिव्रज पहुंचें और वहां जरासन्ध को द्वन्द्व-युद्ध में परास्त करें। कृष्ण भलीभांति जानता था, कि जरासन्ध के मरते ही मगध में क्रांति हो जायगी, क्योंकि मगध का साम्राज्य 'एकराट्' की वयक्तिक शक्ति पर निर्भर था।

जरासन्ध के मारे जाते ही कृष्ण ने पहला कार्य यह किया, कि कैद में पड़े हुए राजाओं को मुक्त कर दिया। इन सब राजाओं ने प्रसन्नता-पूर्वक पाण्डवों की अधीनता स्वीकार की। ये सब राजा युधिष्ठिर के राजसूय-यज्ञ में सम्मिलित होने के लिये सहर्ष तयार हो गये। मगध का साम्राज्यवाद इन सब राजाओं का समूल उच्छद करने में तत्पर था। पर युधिष्ठिर का साम्राज्यवाद प्राचीन आर्य-परम्परा के अनुकूल था। अन्य राजाओं से अधीनता स्वीकृत कराना ही उसका उद्देश्य था, मूर्धाभिषिक्त राजाओं को कैद करना या मारना प्राचीन आर्य-परम्परा के सर्वथा विपरीत था।

जरासन्ध की मृत्यु के बाद उसका लड़का सहदेव मगध के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ। एकराट् राजाओं की शक्ति बहुत कुछ उनके व्यक्तित्व पर निर्भर रहती है। जरासन्ध के मरते ही उसका शक्तिशाली साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया। इन्द्रप्रस्थ के राजा युधिष्ठिर का साहाय्य पाकर विविध अधीन राजा फिर से स्वतन्त्र हो गये। अनेक गणराज्य भी निर्भय होकर फिर से अपने जनपदों में वापस लौट आये। अब भारत की प्रधान राजनीतिक शक्ति मगध की जगह पर इन्द्रप्रस्थ हो गई।

राजा युधिष्ठिर ने राजसूय-यज्ञ करने से पूर्व दिग्विजय किया और भारत के विविध जनपदों से अधीनता स्वीकृत कराई। पूर्वी भारत को विजय करने का कार्य भीम के सुपुर्द किया गया था। मगध को अधीन करने के लिये भीम को युद्ध की आवश्यकता नहीं हुई। सहदेव को समझा-बुझाकर शान्त कर दिया गया और उसने पाण्डवों को कर देना भी स्वीकार कर लिया। जिस कृष्ण के षड्यंत्र से जरासन्ध का वध हुआ था, युधिष्ठिर की राजसूय-सभा में उसी की सहदेव ने अर्चना की, और विविध उपहार पाण्डव-राजा की सेवा में भेंट किये।

पर पाण्डवों का यह उत्कर्ष देर तक कायम नहीं रहा। हस्तिनापुर के कौरव पाण्डवों के इस उत्कर्ष को सहन नहीं कर सकते थे। कौरवों और पाण्डवों में आगे चलकर जो संघर्ष हुआ उसी को महाभारत का युद्ध कहा जाता है।

(८) महाभारत का युद्ध

जरासन्ध की पराजय और मृत्यु के बाद मगध की राजनीतिक शक्ति निर्बल पड़ गई। इस समय भारत के आर्य-राज्यों में सबसे अधिक शक्तिशाली पाण्डवों का राज्य था, जिसकी राजधानी इन्द्रप्रस्थ थी। पाण्डवों के इस उत्कर्ष से दुर्योधन को बहुत चिढ़ थी। युद्ध द्वारा पाण्डवों को परास्त कर सकना सुगम नहीं था, अतः दुर्योधन ने एक अन्य उपाय का आश्रय लिया। प्राचीन युग में आर्यों को द्यूत का बड़ा व्यसन था। जिस प्रकार युद्ध में पीठ दिखाना घृणित माना जाता था, वैसे ही द्यूत के लिये आवाहन होने पर उसे स्वीकार न करना भी बहुत बुरा समझा जाता था। दुर्योधन का मामा गान्धार देश का राजा शकुनि था। वह द्यूत में अत्यन्त प्रवीण था। उसके भरोसे पर दुर्योधन ने पाण्डवों को द्यूत खेलने का निमन्त्रण दिया। पाण्डव लोग द्यूत में अपना सारा राज्य हार गये। द्यूत की शर्त के अनुसार पाण्डवों को बारह वर्ष का वनवास और तेरहवें वर्ष का अज्ञात वास करना पड़ा।

इस बीच में हस्तिनापुर के कौरवों ने अपनी शक्ति बहुत बढ़ा ली। द्यूत में हार जाने के कारण तेरह वर्ष के लिये इन्द्रप्रस्थके राज्य पर भी कौरवों का अधिकार हो गया था। वनवास और अज्ञातवास की अवधि समाप्त हो जाने पर पाण्डवों ने दुर्योधन से अपना राज्य वापस मांगा। द्यूत की शर्तों के अनुसार अब इन्द्रप्रस्थ का राज्य पाण्डवों को वापस मिलना चाहिये था। पर दुर्योधन ने उत्तर दिया, कि युद्ध के बिना मैं सुई की नोक के बराबर भी जमीन नहीं दूंगा। उसे भरोसा था, कि असहाय पाण्डव कौरवों से अपना राज्य नहीं ले सकेंगे। पर पाण्डवों के साथ

सहानुभूति रखनेवाले राजाओं की कमी नहीं थी। वृष्णिसंघ के नेता पाण्डवों के परम सखा थे। अन्य भी अनेक राजाओं ने उनका साथ दिया। कौरवों और पाण्डवों में जो लड़ाई इस समय हुई, उसे ही महाभारत-युद्ध कहते हैं।

आर्यावर्त्त के प्रायः सभी राज्य इस युद्ध में सम्मिलित हुए। मगध का राजा सहदेव इस युद्ध में पाण्डवों के पक्ष में था। किन्तु प्राच्य भारत के अन्य अनेक राज्य—विदेह, अंग, बंग, कलिंग आदि कर्ण की अध्यक्षता में कौरवों के पक्ष में थे। भारत की उत्तर-पूर्वी सीमा पर स्थित आसाम देश का राजा भगदत्त भी इस युद्ध में कौरवों की ओर था। इस प्रकार प्रायः सारा प्राच्य भारत कौरवों का पक्षपाती था। प्राच्य राज्यों के समान उत्तर-पश्चिमी भारत और पंजाब के राज्य भी महाभारत-युद्ध में कौरवों के पक्ष में सम्मिलित हुए। केकय, शिवि, सिन्ध-सौवीर, गान्धार, त्रिगर्त, मद्र, क्षुद्रक, मालव, अम्बष्ठ और काम्बोज आदि पश्चिमी भारत के सब राज्य कौरवों की तरफ हुए। सिन्धु-सौवीर का राजा जयद्रथ था, जो दुर्योधन का बहनोई था। वह इस क्षेत्र में एक अत्यन्त प्रभावशाली राजा था, और उत्तर-पश्चिमी भारत के अन्य राजा उसके प्रभाव में थे। वह कौरवों की तरफ से लड़ाई में शामिल हुआ। मद्र देश का राजा शल्य पाण्डवों का मामा था, पर उसने भी कौरवों का पक्ष लिया। कोशल, वत्स, विदर्भ आदि के राजाओं ने भी इस युद्ध में कौरवों का साथ दिया।

पाण्डवों के पक्ष में वे अनेक राजा थे, जिन्हें जरासन्ध के पराभव के कारण स्वतन्त्रता प्राप्त हुई थी। काशी, पूर्वी कोशल, पञ्चाल, मत्स्य, चेदि, कारूष और मगध के राजाओं का पाण्डवों के पक्षपातियों में प्रमुख स्थान था। वृष्णि-राज्य के अधिपति कृष्ण पाण्डवों के प्रधान सहायक थे, पर सम्भवतः वे वृष्णि लोगों को पाण्डवों के पक्ष में युद्ध के लिये तैयार नहीं कर सके। परिणाम यह हुआ, कि अकेले कृष्ण सारथी व परामर्शदाता के रूप में पाण्डवों के पक्ष में सम्मिलित हुए। यादवों के जो अनेक छोटे-बड़े राज्य इस समय विद्यमान थे, वे कौरव और पाण्डव दोनों पक्षों में बंटे हुए थे।

महाभारत में उन राज्यों व राजाओं का अविकल रूप से उल्लेख किया गया है, जो इस महायुद्ध में दोनों पक्षों की ओर से लड़े थे। इनकी सूची को पढ़कर यह स्पष्ट हो जाता है, कि उस समय का भारत बहुत-से छोटे-बड़े राज्यों में विभक्त था, और इन राज्यों की संख्या सैकड़ों में थी। इसमें सन्देह नहीं, कि उस युग के अनेक राजाओं का यह प्रयत्न रहता था, कि वे अपने साम्राज्य को विस्तार करें, और अन्य राज्यों को जीतकर अपने अधीन कर लें। पर आर्य-

जाति की परम्परा के अनुसार ये महत्त्वाकांक्षी चक्रवर्ती सम्राट् विजित राज्यों व उनके राजाओं का मूलोच्छेद नहीं करते थे, और अधीनस्थ रूप में उनकी पृथक् सत्ता कायम रहती थी। यही कारण है, कि महाभारत-युद्ध में सम्मिलित राजाओं की संख्या सैकड़ों में पहुंच गई थी।

कौरवों और पाण्डवों के पक्षों में शामिल हुए राज्यों की सूची को ध्यान से देखने पर ज्ञात होता है, कि उत्तर-पश्चिमी भारत, पूर्वी-भारत और पश्चिमी विन्ध्य के राज्य कौरवों के पक्ष में थे, और मध्यभारत, आर्यावर्त्त और गुजरात के राज्य पाण्डवों के। इसका कोई मूलभूत राजनीतिक कारण था या नहीं, यह कह सकना बहुत कठिन है।

पाण्डव-पक्ष की सेनायें मत्स्य देश (अलवर व उसका समीपवर्ती प्रदेश) में और कौरवों की सेनायें हस्तिनापुर से यमुना तक के प्रदेश में एकत्र हुई। अन्त में कुरुक्षेत्र के मैदान में दोनों पक्षों की सेनाओं में घनघोर युद्ध हुआ। प्राचीन अनश्रुति के अनुसार अठारह दिन की लड़ाई के बाद युद्ध का निपटारा हो गया। पाण्डवों का पक्ष विजयी हुआ। दुर्योधन व उसके भाई युद्ध में मारे गये और पाण्डवबन्धु कुरु देश के शासन को हस्तगत करने में समर्थ हुए। अब इन्द्रप्रस्थ के पाण्डव राजा न केवल कुरुदेश के अधिपति थे, अपितु भारत में उनकी शक्ति का मुकाबला करनेवाला अन्य कोई नहीं था।

महाभारत के इस युद्ध में योद्धाओं का बहुत बड़ी संख्या में संहार हुआ। इस यद्ध में शामिल होने के लिये जो सेनायें एकत्र हुई थीं, महाभारत ग्रन्थ में उनकी संख्या अतिशयोक्ति के साथ दी गई है। इसके अनुसार युद्ध में शामिल हुए पदाति योद्धाओं की ही संख्या बीस लाख के लगभग थी। पदातियों के अतिरिक्त हाथी, घोड़े और रथ भी लाखों की संख्या में लड़ाई के लिये लाये गये थे। महाभारत की इस संख्या पर विश्वास कर सकना तो सम्भव नहीं है, पर यह विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है, कि महाभारत की यह लड़ाई भारतीय इतिहास में अद्वितीय थी। इतनी बड़ी संख्या में विविध आर्य-राजा इससे पहले कभी किसी युद्ध में शामिल नहीं हुए थे। भीष्म, द्रोण, कर्ण आदि कितने ही वीर पुरुष इस युद्ध में काम आये। महाभारत में इस बात का बड़े मार्मिक शब्दों में वर्णन किया गया है, कि जब विजयी पाण्डव कुरुदेश की राजधानी हस्तिनापुर में पहुंचे, तो उन्हें अनाथों और विधवाओं के रुदन के अतिरिक्त वहां कुछ नहीं मिला। अपने देश की इस दुर्दशा को देख कर उनके हृदय में अत्यन्त ग्लानि उत्पन्न हुई, और उनका चित्त राज्य-शासन में नहीं

लगा। अनुश्रुति के अनुसार पाण्डव लोग कुछ समय बाद ही हस्तिनापुर छोड़कर हिमालय की ओर चले गये, और वहां तपस्या द्वारा उन्होंने अपने जीवन का अन्त किया। पाण्डव-बन्धुओं के बाद अर्जुन का पोता परीक्षित कुरुदेश का राजा हुआ। पाण्डवों के बाद के कौरव-राजाओं पर हम अगले एक अध्याय में प्रकाश डालेंगे।

कृष्ण और यादव—इस प्रकरण में हमने अनेक बार कृष्ण का जिक्र किया है, जो महाभारत-युद्ध में पाण्डवों के परम सहायक थे। कृष्ण वृष्णि के 'राजा' या 'गणमुख्य' थे। सम्भवतः, इस युग में वृष्णियों में वंशपरम्परागत राजसत्ता का अन्त होकर गणतन्त्र-शासन की स्थापना हो चुकी थी, और कृष्ण वंश-क्रमानुगत राजा न होकर वृष्णिगण के 'मुख्य' मात्र थे। भारत के इन प्राचीन गणराज्यों पर हम आगे चलकर प्रकाश डालेंगे। कृष्ण केवल राजनीतिज्ञ और गणमुख्य ही नहीं थे, वे उत्कृष्ट विचारक, दार्शनिक और तत्त्ववेत्ता भी थे। श्रीमद्भगवद्गीता में उपदिष्ट कर्मयोग का प्रवचन उन्होंने ही किया था। अनेक ऐतिहासिकों के अनुसार कृष्ण ही उस भागवत धर्म के प्रवर्त्तक थे, जो आगे चलकर भारत का एक प्रमुख धर्म बन गया। कृष्ण और भागवत-धर्म पर भी हम एक अगले अध्याय में विचार करेंगे।

महाभारत-युद्ध के कुछ समय बाद यादव-वंश के विविध राज्यों में आपस में लड़ाई शुरू हो गई। इन लड़ाइयों का रूप गृह-कलह का था। विशेषतया वृष्णि लोग परस्पर लड़कर बहुत दुर्दशा को प्राप्त हो गये। महाभारत-युद्ध में कृष्ण ने जिस प्रकार अकेले पाण्डवों का साथ दिया था, यह बात ही वृष्णियों के पारस्परिक मतभेदों को सूचित करनेवाली है। कृष्ण का अन्त एक निराश राजनीतिज्ञ के रूप में हुआ, जो अपने गणराज्य की आन्तरिक समस्याओं को सुलझाने में प्रायः असफल रहे। महाभारत के युद्ध में आर्यावर्त्त के क्षत्रियों का जिस बड़ी संख्या में संहार हुआ था, उसके कारण इस देश के विविध राज्यों की दशा अत्यन्त हीन और शोचनीय हो गई थी।

(९) उपसंहार

पौराणिक अनुश्रुति में वैवस्वत मनु से शुरू कर महाभारत-युद्ध तक का इतिवृत्त जिस ढंग से दिया गया है, उसे हमने ऊपर के आठ प्रकरणों में अत्यन्त संक्षेप के साथ लिखा है। इसमें संदेह नहीं, कि पुराणों का यह इतिवृत्त अस्पष्ट और अपूर्ण है। ऐक्ष्वाकव, पौरव आदि वंशों के राजाओं की जो सूची दी गई है,

वह अविकल नहीं है। अनक राजाओं के नाम उसमें छूट गये हैं। पर विविध विद्वानों ने पौराणिक अनुश्रुति का गम्भीर अध्ययन कर जिस ढंग से इस प्राचीन काल के विभिन्न आर्य-राज्यों और उनके राजाओं का वृत्तान्त किया है, उससे कतिपय बातें स्पष्ट हो जाती हैं--

(१) पुराणों में विद्यमान यह अनुश्रुति ऐतिहासिक दृष्टि से असत्य व कपोलकल्पित नहीं समझी जा सकती। उन्नीसवीं सदी के अनक विद्वान् रामायण और महाभारत तक की कथाओं को कवि की कल्पनामात्र समझते थे। उनका विचार था, कि राम वस्तुतः कोई राजा नहीं हुए। जिस प्रकार वेदों में इन्द्र और वृत्र के युद्ध का या देवताओं और असुरों के संघर्ष का वर्णन आता है, और यह संघर्ष कतिपय विचारकों के अनुसार मनुष्य की दैवी और आसुरी प्रवृत्तियों का संघर्ष है, इसी प्रकार राम और रावण का युद्ध भी एक रूपकमात्र है। उन्नीसवीं सदी के ये विद्वान् किसी राजा की ऐतिहासिक सत्ता को स्वीकृत करने के लिये यह आवश्यक समझत थे, कि उसके समय के कोई उत्कीर्ण लेख, सिक्के, मूर्ति आदि ठोस सामग्री उपलब्ध हो। केवल साहित्यिक आधार पर वे किसी राजवंश या राजा की सत्ता को स्वीकृत करना 'वैज्ञानिक' नहीं समझते थे। पर पार्जीटर और उसके अनुयायियों के प्रयत्नों से अब वह समय आ गया है, जब कि पौराणिक अनुश्रुति की भी ऐतिहासिकता स्वीकृत की जाने लगी है। वैदिक साहित्य में इन राजाओं में से कतिपय का प्रसंगवश कहीं-कहीं उल्लेख आ जाता है। वहां इनका विशद रूप वे वर्णन नहीं किया गया। इसका कारण केवल यह है, कि वेद, ब्राह्मण, उपनिषद् आदि ग्रन्थ प्रधानतया धर्मपरक हैं। राजवंशों व राजाओं का वर्णन करना उनके विषय व क्षेत्र से बाहर की बात है। फिर भी वैदिक साहित्य में कहीं-कहीं जो अनेक राजाओं व उनसे सम्बद्ध घटनाओं का उल्लेख हो जाता है, वह पौराणिक अनुश्रुति में वर्णित वंशावलियों व इतिवृत्तों की प्रामाणिकता को पुष्ट करता है। उदाहरणार्थ, पञ्चाल राज्य के राजा सुदास की विजयों के कारण अन्य राजाओं ने उसके विरुद्ध जो अपना संघ बनाया, और परुष्णी नदी के तट पर सुदास ने उन्हें जो पराजित किया, उसका उल्लेख ऋग्वेद के एक मन्त्र (७, १८) में मिलता है।

(२) भारत में आर्यों ने अनेक धाराओं में प्रवेश किया। आर्यों से पूर्व यहां जो आर्यभिन्न (राक्षस आदि) जातियां निवास करती थीं. उनके साथ उनके बहुत-से युद्ध हुए। धीरे-धीरे आर्य लोग पूर्व व दक्षिण की ओर फैलते गये। पूर्व और दक्षिण में आर्यभिन्न जातियों का वे सर्वथा उन्मूलन नहीं

कर सके। यही कारण है, कि भारत के इन क्षेत्रों के मनष्यों में आर्यभिन्न नसल के लोग अच्छी बड़ी संख्या में अबतक विद्यमान हैं।

(३) आर्य-जाति का भारत में यह विस्तार उन साहसी राजपुत्रों के नेतृत्व में हुआ, जिन्हें प्राचीन अनुश्रुति में 'वंशकर' (नये राजवंश का प्रारम्भ करने वाला) कहा गया है। राजा का ज्येष्ठ पुत्र तो अपने पिता की राजगद्दी को संभालता था, पर उसके अन्य साहसी पुत्र अपने साहसी साथियों के साथ नये प्रदेशों में आर्य-जाति का प्रभुत्व स्थापित करने के लिये निकल जाते थे। मानव और ऐल-वंशों की विविध शाखायें व प्रशाखायें इसी ढंग से भारत में विस्तृत होती गईं, और बहुत-से छोटे-बड़े आर्य-राज्य इस देश में स्थापित हुए।

(४) इन विविध आर्य-राजाओं की यह महत्वाकांक्षा होती थी, कि वे चक्रवर्ती, सार्वभौम व सम्राट् पद को प्राप्त करें। इस उद्देश्य से वे दिग्विजय के लिय निकलते थे। पर आर्य-राजा जिन राज्यों को जीतते थे, उनके राजवंश का मूलोच्छेद नहीं करते थे। वे उनसे अधीनता स्वीकृत कराके ही संतुष्ट हो जाते थ। यही कारण ह, कि किसी चक्रवर्ती सार्वभौम सम्राट् की विद्यमानता में भी अन्य राज्य व राजवंश कायम रहते थे।

(१०) तिथिक्रम

प्राचीन अनुश्रुति के अनुसार प्रारम्भिक आर्यों का जो राजनीतिक इतिहास हमने ऊपर दिया है, उसमें कहीं किसी तिथि का उल्लेख नहीं किया। वस्तुतः भारत के इतिहास में तिथिक्रम का विषय अत्यन्त जटिल व विवादग्रस्त है। इस सम्बन्ध में विद्वानों में बहुत मतभेद है। भारत के प्राचीन विद्वानों ने तिथिक्रम की सर्वथा उपेक्षा की हो, यह बात नहीं है। उन्होंने अपने इतिहास को चार युगों में विभक्त किया था। इन युगों के नाम हैं, कृतयुग, त्रेतायग, द्वापर. युग और कलियुग। भारत के कतिपय प्राचीन ग्रन्थों में इन युगों की अवधि लाखों वर्षों की बताई गई है। पर अधिक गम्भीरता से इस विषय का अनुशीलन करन से ज्ञात होता है, कि जिस कलियुग का प्रारम्भ महाभारत-युद्ध के अन्त व कृष्ण की मृत्य से हुआ था, वह महापद्मनन्द के राज्यारूढ़ होने पर समाप्त हो गया था। महापद्म नन्द सिकन्दर का समकालीन था। काशीप्रसाद जायसवाल ने विष्णुपुराण, भागवतपुराण और गार्गीसंहिता के आधार पर यह प्रतिपादित किया है, कि जब भारत पर यवनों का शासन स्थापित होने लगा, तो भारत की काल-गणना के अनुसार कलियुग की समाप्ति का समय था। यवनों (यूनानियों

या ग्रीकों) का यह शासन भारत में सिकन्दर के आक्रमण-काल में शुरू हुआ था। पाण्डवों के वंशज परीक्षित के बाद की वंशावलियां पौराणिक अनुश्रुति में अधिक अविकल रूप से विद्यमान हैं। इन वंशावलियों में किस राजा ने कितने समय तक शासन किया, यह भी दिया गया है। यदि इन राजाओं के शासन काल की अवधि के आधार पर महाभारत-युद्ध के काल को निश्चित किया जाय, तो वह ३००० ई० पू० के लगभग बैठता है। पर संसार के विविध राजवंशों के राजाओं के शासन की अवधि का अनुशीलन कर विद्वानों ने यह औसत निकाली है, कि एक राजा का शासन-काल सोलह वर्ष के लगभग निश्चित करना उचित है। इसके अनुसार यदि परीक्षित से महापद्मनन्द तक के राजाओं का शासन-काल औसतन अठारह वर्ष भी माना जाय, तो महाभारत-युद्ध को १४२४ ई० पू० में रखना होगा, और कलियुग की अवधि १००० साल माननी होगी। एक सहस्र वर्ष का एक युग मानना वैसे भी अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

यदि हम महाभारत-काल को १४२४ ई० पू० के लगभग स्वीकृत करें, तो उससे पहले के राजाओं का काल निश्चित करने में अधिक कठिनाई नहीं होगी। पाण्डवों का समकालीन कोशल (अयोध्या) का राजा बृहद्बल था। बृहद्बल और राम में २९ पीढ़ी का अन्तर है। इन २९ पीढ़ियों के लिये ५०० साल का समय निश्चित किया जा सकता है। इस प्रकार रामचन्द्र महाभारत-युद्ध से ५०० वर्ष के लगभग (१९२४ ई० पू०) पहले हुए। इक्ष्वाकु और रामचन्द्र का अन्तर ६४ पीढ़ियों का है। इनके लिये यदि १००० वर्ष का समय रख लिया जाय, तो सूर्यवंश के प्रवर्तक इक्ष्वाकु का समय ३००० ई० पू० के लगभग माना जा सकता है। इस प्रकार आर्यों के जिस राजनीतिक इतिहास का उल्लेख हमने इस अध्याय में किया है, उसका प्रारम्भ ३००० ई० पू० के लगभग हुआ था। इसमें संदेह नहीं, कि यह तिथिक्रम सर्वथा निर्विवाद व सर्वसम्मत नहीं है। मोहन-जोदड़ो और हड़प्पा के भग्नावशेषों से सूचित होनेवाली जिस सिन्धु-सभ्यता का हमने पहले वर्णन किया है, उसका काल भी ३००० ई० पू० के लगभग था। उस सभ्यता को नष्ट कर भारत में आर्य-राज्यों को स्थापित करनेवाले आर्यों का इतिहास इसी काल से शुरू होता है।

भारतीय तिथिक्रम का विषय बहुत विवादग्रस्त है। इस पर हम आगे चलकर अधिक विस्तार से विचार करेंगे, और इस सम्बन्ध में विद्वानों के जो विविध पक्ष हैं, उन पर अधिक विशद रूप से प्रकाश डालेंगे।

सहायक ग्रन्थ

Pargiter : Ancient Indian Historical Tradition.
Dalal : History of Ancient India.
जयचन्द्र विद्यालंकार : भारतीय इतिहास की रूपरेखा ।
सत्यकेतु विद्यालंकार : पाटलिपुत्र की कथा ।

सातवां अध्याय

वैदिक युग की सभ्यता और संस्कृति

(१) वैदिक साहित्य

वैदिक युग—भारतीय आर्यों के इतिहास के प्राचीनतम युग को वैदिक युग कहते हैं। इसका कारण यह है, कि वेद आर्यों के प्राचीनतम ग्रन्थ हैं, और उनके अनुशीलन से हम इन आर्यों की सभ्यता, संस्कृति और धर्म के सम्बन्ध में बहुत-कुछ जानकारी प्राप्त कर सकते हैं। अनेक ऐतिहासिकों में यह प्रवृत्ति रही है, कि वे प्राचीन भारतीय इतिहास को वैदिक, उत्तर वैदिक (ब्राह्मण), सूत्र-धर्मशास्त्र, इतिहास और पौराणिक कालों में विभक्त करते हैं। इस काल-विभाग का आधार यह समझा जाता है कि वेद, ब्राह्मणग्रन्थ, सूत्रग्रन्थ, रामायण-महाभारत रूपी इतिहास-ग्रन्थ और पुराण-ग्रन्थ—ये एक के बाद एक करके बने, और क्योंकि इनके अनुशीलन से हमें आर्यों की सभ्यता और संस्कृति के विकास का परिचय मिलता है, अतः आर्य इतिहास का काल-विभाग इन्हीं के अनुसार किया जाना चाहिये। पर भारतीय इतिहास के अनुशीलन के लिये यह काल-विभाग उपयुक्त नहीं है। पुराण अपने वर्तमान रूप में चाहे बाद के समय में आये हों, पर उनमें आर्यों की अत्यन्त प्राचीन ऐतिहासिक अनुश्रुति संगृहीत है। यही कारण है, कि हमने पार्जीटर आदि विद्वानों का अनुसरण कर भारतीय आर्यों के प्राचीनतम इतिहास के लिये उनका उपयोग किया है। वस्तुतः, पौराणिक अनुश्रुति में उस युग के आर्यों का इतिवृत्त भी विद्यमान है, जबकि वैदिक मन्त्रों का निर्माण प्रारम्भ नहीं हुआ था। वैवस्वत मनु से शुरू कर महाभारत-युद्ध के समय तक आर्य राजवंशों की ९५ पीढ़ियां पुराणों में दी गई हैं। वैदिक मन्त्रों का निर्माण करने-

वाले ऋषियों की परम्परा जब शुरू हुई, तो इन ९५ पीढ़ियों में से ३६ पीढ़ियां बीत चुकी थीं। विश्वामित्र, आत्रेय आदि जिन ऋषियों ने ऋग्वेद के विविध सूक्तों का निर्माण किया, वे ऐक्ष्वाकव-वंश की तीसवीं पीढ़ी के बाद हुए थे। इसका यह अभिप्राय नहीं, कि तीसवीं पीढ़ी से पहले के समय में कोई वैदिक ऋषि हुआ ही नहीं। ऋग्वेद में कतिपय सूक्त ऐसे भी हैं, जिनका ऋषि मनु है। यह मनु सम्भवतः मानव वंश का प्रवर्त्तक वैवस्वत मनु ही था। अतः यह स्वीकार करना होगा, कि वेदों में प्राचीनतम भारतीय आर्यों द्वारा निर्मित मन्त्र भी सम्मिलित हैं। पर वैदिक सूक्तों के बड़े भाग का निर्माण तब हुआ, जबकि भारत में आर्य राजाओं की तीस व बत्तीस पीढ़ियां बीत चुकी थीं, और आर्य लोग इस देश में अच्छी तरह से बस चुके थे। राजवंशों के समान ऋषियों के भी वंश होते थे। इन ऋषिवंशों में उत्पन्न हुए आंगिरस, वासिष्ठ आदि ऋषि अनेक पीढ़ियों तक वैदिक सूक्तों का निर्माण करते रहे।

प्राचीन भारतीय आर्यों की सभ्यता, संस्कृति, जीवन और धर्म का परिचय प्राप्त करने के लिये इन वेदों का बहुत अधिक उपयोग है, क्योंकि वैदिक सूक्तों में आर्य ऋषियों के विचार और कथन अविकल रूप से उनकी अपनी भाषा में विद्यमान हैं। जिस प्रकार पौराणिक अनुश्रुति प्राचीन आर्यों के राजनीतिक वृत्तान्त को सूचित करती है, वैसे ही वैदिक संहितायें उनके धर्म व सभ्यता का परिचय देती हैं। पर यहां यह नहीं भूलना चाहिये, कि वैदिक साहित्य का निर्माण किसी एक समय में नहीं हुआ, उसमें जहां वे मन्त्र विद्यमान हैं, जिनका निर्माण वैवस्वत मनु द्वारा हुआ था, तो वहां वे मन्त्र भी हैं, जो राजा सुदास (उत्तर पंचाल राज्य का राजा, ६८ वीं पीढ़ी) के समय में बने थे। राजा सुदास के बाद भी वैदिक सूक्तों का निर्माण हुआ, और कुछ मन्त्र तो महाभारत-युद्ध के बाद राजा परीक्षित के समय में भी बने। इस प्रकार वेदों में वैवस्वत मनु के समय से शुरू कर महाभारत-काल के लगभग तक के मन्त्र संगृहीत हैं। यही कारण है, कि सब वैदिक सूक्तों की भाषा एक सदृश नहीं है, और पुराने व नये मन्त्रों की भाषा पर विचार करने से उसमें भेद स्पष्ट दिखाई देता है।

वैवस्वत मनु से महाभारत तक के काल को हम वैदिक युग कह सकते हैं, क्योंकि इस सुदीर्घ (१५०० वर्ष के लगभग के) काल में वैदिक सूक्तों का निरन्तर निर्माण होता रहा, और वेदों के अनुशीलन से जिस सभ्यता और संस्कृति का परिचय मिलता है, वह इसी युग की है।

वैदिक संहिता—आर्य-जाति का सबसे प्राचीन साहित्य वेद है। वेद का

अर्थ है, ज्ञान। वेद मुख्यतया पद्य में हैं, यद्यपि उनमें गद्यभाग भी विद्यमान है। वैदिक पद्य को ऋग् या ऋचा कहते हैं, वैदिक गद्य को यजुष् कहा जाता है, और वेदों में जो गीतात्मक (छन्द रूप) पद्य हैं, उन्हें साम कहते हैं। ऋचाओं व सामों के एक समूह का नाम सूक्त होता है जिसका अर्थ है, उत्कृष्ट उक्ति या सुभाषित। वेद में इस प्रकार के हजारों सूक्त विद्यमान हैं। प्राचीन समय में वेदों को 'त्रयी' भी कहते थे। ऋचा, यजुष् और साम—इन तीन प्रकार के पदों में होने के कारण ही वेद की त्रयी संज्ञा भी होती थी।

पर वैदिक मन्त्रों का संकलन जिस रूप में आजकल उपलब्ध होता है, उसे 'संहिता' कहते हैं। विविध ऋषि-वंशों में जो मन्त्र श्रुति द्वारा चले आते थे, बाद में उनका संकलन व संग्रह शुरू हुआ। पहले वेद-मंन्त्रों को लेखबद्ध करने की परिपाटी शायद नहीं थी। गुरु-शिष्य परम्परा व पिता-पुत्र परम्परा द्वारा ये मन्त्र ऋषि-वंशों में स्थिर रहते थे, और उन्हें श्रुति (श्रवण) द्वारा शिष्य गुरु से या पुत्र पिता से जानता था। इसी कारण उन्हें श्रुति भी कहा जाता था। विविध ऋषि-वंशों में जो विविध सूक्त श्रुति द्वारा चले आते थे, धीरे-धीरे बाद में उनको संकलित किया जाने लगा। इस कार्य का प्रधान श्रेय मुनि वेदव्यास को है। यह महाभारत-युद्ध का समकालीन था, और असाधारण रूप से प्रतिभाशाली विद्वान् था। इसका वैयक्तिक नाम कृष्ण द्वैपायन था, पर इसे वेदव्यास इसलिये कहा जाता था, क्योंकि इसने वेदों का संकलन व वर्गीकरण किया था। वेदव्यास ने वैदिक सूक्तों का संहिता रूप में संग्रह किया। उसके द्वारा संकलित वैदिक संहितायें चार हैं—ऋग्वेद, यजुर्वेद सामवेद और अथर्ववेद। चार वैदिक संहिताओं के अतिरिक्त कृष्णद्वैपायन वेदव्यास ने सूत, चारण व मागधों में चली आती हुई राजवंशों की अनुश्रुति का भी संग्रह किया। उसके ये संग्रह 'पुराण' कहे जाते हैं। वैदिक सहिताओं में जिस प्रकार ऋषिवंशों की 'श्रुति' संगृहीत है, वैसे ही पुराणों में आर्य-राजवंशों के साथ सम्बन्ध रखने वाली 'अनुश्रुति' संकलित है। वेदव्यास को अठारहों पुराणों का 'कर्त्ता' कहा गया है, पर वस्तुतः वह पुराणों का 'कर्त्ता' न होकर 'संकलयिता' था। राजवंशों के प्रतापी राजाओं के वीरकृत्यों का आख्यान उस युग के सूतों व चारणों द्वारा किया जाता था। इन सूत वंशों में राजवंशों के आख्यान व गाथायें वैसे ही पिता-पुत्र-परम्परा से चली आती थीं, जैसे कि ऋषि-वंशों में सूक्तों की श्रुति। वेदव्यास ने इन सबका संग्रह किया। इसमें सन्देह नहीं, कि मुनि वेदव्यास अपने युग का सबसे बड़ा विद्वान् और संकलनकर्ता था।

कृष्ण द्वैपायन वेदव्यास को अपने समय में विद्यमान प्राचीन 'श्रुति' व 'अनश्रुति' का संकलन करने की प्रवृत्ति शायद इस कारण हुई थी, कि इस समय तक आर्यों में लिपि व लेखनप्रणाली का प्रारम्भ हो चुका था। जो ज्ञान पहले श्रुति द्वारा चला आता था, उसे अब लेखबद्ध किया जा सकता था, और उसका उपयोग केवल विशिष्ट ऋषिवंश व सूतवंश के लोग ही नहीं, पर अन्य लोग भी कर सकते थे।

चार वेद—अब हम इस स्थिति में हैं, कि चारों वैदिक संहिताओं का संक्षेप के साथ परिचय दे सकें। ऋग्वेद में कुल मिलाकर १०१७ सूक्त हैं। यदि ११ बालखिल्य सूक्तों को भी इनमें अन्तर्गत कर लिया जाय, तो ऋग्वेद के कुल सूक्तों की संख्या १०२८ हो जाती है। सम्भवतः, ये बालखिल्य सूक्त परिशिष्ट रूप में हैं, और बाद में जोड़े गये हैं। यही कारण है, कि अनेक विद्वान् इन्हें ऋग्वेद का अंग नहीं मानते, और इस वेद की कुल सूक्त संख्या १०१७ समझते हैं। ये १०१७ या १०२८ सूक्त १० मंडलों में विभक्त हैं। वेद के प्रत्येक सूक्त व ऋचा (मन्त्र) के साथ उसके 'ऋषि' और 'देवता' का नाम दिया गया है। ऋषि का अर्थ है, मन्त्रद्रष्टा या मन्त्र का दर्शन करनेवाला। जो लोग वेदों को ईश्वरीय ज्ञान मानते हैं, उनके अनुसार वेदों का निर्माण तो ईश्वर द्वारा हुआ था, पर इस वैदिक ज्ञान को अभिव्यक्त करनेवाले ये ऋषि थे। पर आधुनिक विद्वान् वैदिक ऋषियों का अभिप्राय यह समझते हैं, कि ये ऋषि मन्त्रों के निर्माता थे। वैदिक देवता का अभिप्राय उस देवता से है, जिसकी उस मन्त्र में स्तुति की गई है, या जिसके सम्बन्ध में मन्त्र में प्रतिपादन किया गया है।

ऋग्वेद के ऋषियों में सर्वप्रधान गृत्समद, विश्वामित्र, वामदेव, अत्रि, भारद्वाज और वशिष्ठ हैं। इन छः ऋषियों व इनके वंशजों ने ऋग्वेद के दूसरे, तीसरे, चौथे, पांचवें, छठे और सातवें मण्डलों का दर्शन व निर्माण किया था। आठवें मण्डल के ऋषि कण्व और आंगिरस-वंश के हैं। प्रथम मण्डल के पचास सूक्त भी काण्व-वंश के ऋषियों द्वारा निर्मित हुए। अन्य मण्डलों व प्रथम मण्डल के अन्य सूक्तों का निर्माण विविध ऋषियों द्वारा हुआ, जिन सबके नाम इन सूक्तों के साथ में मिलते हैं। इन ऋषियों में वैवस्वत मनु, शिवि औशीनर, प्रतर्दन मधच्छन्दा और देवापि के नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। ऋग्वेद के न ऋषियों में कतिपय स्त्रियां भी हैं, जिनमें लोपामुद्रा प्रमुख है। लोपामुद्रा राजकुल में उत्पन्न हुई थी। वह विदर्भ-राज की कन्या थी, और अगस्त्य ऋषि की पत्नी थी।

यजुर्वेद के दो प्रधान रूप इस समय मिलते हैं, शुक्ल यजुर्वेद और कृष्ण यजुर्वेद। शुक्ल यजुर्वेद को वाजसनेयी संहिता भी कहते हैं, जिसकी दो शाखायें उपलब्ध हैं—काण्व और माध्यन्दनीय। कृष्ण यजुर्वेद की चार शाखायें प्राप्त होती हैं—काठकसंहिता, कपिष्ठल संहिता, मैत्रेयी संहिता और तैत्तिरीय संहिता। विविध ऋषिवंशों व सम्प्रदायों में श्रुति द्वारा चले आने के कारण मूल वेदमन्त्रों में पाठभेद का हो जाना असम्भव नहीं था। सम्भवतः, इसी कारण से यजुर्वेद की ये विविध शाखायें बनीं। इन शाखाओं में अनेक स्थानों पर मन्त्रों में पाठभेद पाया जाता है। इनमें यजुर्वेद की वाजसनेयी संहिता सबसे महत्त्वपूर्ण है, और बहुत-से विद्वान् उसे ही असली यजुर्वेद मानते हैं। यह चालीस अध्यायों में विभक्त है। इनमें उन मन्त्रों का पृथक्-पृथक् रूप से संग्रह किया गया है, जो विविध याज्ञिक अनुष्ठानों में प्रयुक्त किये जाते थे। यजुर्वेद का अन्तिम अध्याय ईशोपनिषद् है, जिसका सम्बन्ध याज्ञिक अनुष्ठान के साथ न होकर अध्यात्मचिन्तन के साथ में है।

सामवेद की तीन शाखायें इस समय मिलती हैं, कौथुम शाखा, राणायनीय शाखा और जैमिनीय शाखा। इनका आधार भी पाठभेद है। सम्भवतः, पहले सामवेद की अन्य भी बहुत-सी शाखायें विद्यमान थीं। पुराणों में तो सामवेद की सहस्र शाखाओं का उल्लेख है। वर्तमान समय में उपलब्ध शाखाओं में कौथुम-शाखा अधिक प्रचलित व प्रामाणिक है। सामवेद के दो भाग हैं, आर्चिक और उत्तरार्चिक। दोनों भागों को मिलाकर मन्त्रसंख्या १८१० है। इसमें अनेक मन्त्र ऐसे भी हैं, जो एक से अधिक बार आये हैं। यदि इन्हें अलग कर दिया जाय, तो सामवेद के मन्त्रों की कुल संख्या १५४९ रह जाती है। इनमें से भी १४७४ मन्त्र ऐसे हैं, जो ऋग्वेद में भी पाय जाते हैं। इस प्रकार सामवेद के अपने मन्त्रों की संख्या केवल ७५ रह जाती है। सम्भवतः, सामवेद में ऐसी ऋचाओं का पृथक् रूप से संग्रह कर दिया गया है, जिन्हें गीत के रूप में गाया जा सकता है। सामरूप में ऋचायें वैदिक ऋषियों द्वारा संगीत के लिये प्रयुक्त होती थीं।

अथर्ववेद की दो शाखायें इस समय मिलती हैं, शौनक और पिप्पलाद। इनमें शौनक शाखा अधिक प्रसिद्ध है, और उसे ही प्रामाणिक रूप से स्वीकार किया जाता है। अथर्ववेद में कुल मिलाकर २० अध्याय और ७३१ सूक्त हैं। सूक्तों के मन्त्रों को यदि गिना जाय, तो उनकी संख्या ६००० के लगभग पहुंच जाती है। इसमें भी बहुत-से मन्त्र ऐसे हैं, जो ऋग्वेद में भी पाये जाते हैं।

ब्राह्मण-ग्रन्थ—वैदिक साहित्य में चार वैदिक संहिताओं के अतिरिक्त ब्राह्मण-ग्रन्थों को भी सम्मिलित किया जाता है। इन ब्राह्मण-ग्रन्थों में उन अनुष्ठानों का विशद रूप से वर्णन है, जिनमें वैदिक मन्त्रों को प्रयुक्त किया जाता था। अनुष्ठानों के अतिरिक्त इनमें वेदमन्त्रों के अभिप्राय व विनियोग की विधि का भी वर्णन है। प्रत्येक ब्राह्मण-ग्रन्थ का किसी वेद के साथ सम्बन्ध है, और उसे उसी वेद का ब्राह्मण माना जाता है। यहां यह आवश्यक है, कि हम प्रत्येक वेद के साथ सम्बन्ध रखनेवाले ब्राह्मण-ग्रन्थों का संक्षेप के साथ उल्लेख करें, क्योंकि ब्राह्मण-ग्रन्थों का परिचय दिये बिना वैदिक साहित्य का वर्णन पूरा नहीं हो सकता।

ऋग्वेद का प्रधान ब्राह्मण-ग्रन्थ ऐतरेय है। इसमें कुल मिलाकर चालीस अध्याय हैं। अनुश्रुति के अनुसार ऐतरेय ब्राह्मण का रचयिता महीदास ऐतरेय था। पर सम्भवतः महीदास इस ब्राह्मण का रचयिता न होकर संकलनकर्त्ता मात्र था, क्योंकि ऋग्वेद के समान इस ब्राह्मण का निर्माण भी एक सुदीर्घयुग में याज्ञिक अनुष्ठानों के विकास के साथ-साथ हुआ था। ऋग्वेद का दूसरा ब्राह्मण-ग्रन्थ कौशीतकी या सांख्यायन ब्राह्मण है। सम्भवतः, यह ब्राह्मण किसी एक व्यक्ति की ही रचना है।

कृष्ण यजुर्वेद का ब्राह्मण तैत्तिरीय है। शुक्ल और कृष्ण यजुर्वेद में मुख्य भेद यह है, कि जहां शुक्ल यजुर्वेद में केवल मन्त्र भाग है, वहां कृष्ण यजुर्वेद में ब्राह्मणभाग भी अन्तर्गत है। उसमें मन्त्रों के साथ-साथ विधि विधान व याज्ञिक अनुष्ठान के साथ सम्बन्ध रखनेवाले ब्राह्मणभाग को भी दे दिया गया है। अतः तैत्तिरीय ब्राह्मण रचना की दृष्टि से कृष्ण यजुर्वेद से अधिक भिन्न नहीं है। शुक्ल यजुर्वेद का ब्राह्मण शतपथ है, जो अत्यन्त विशाल ग्रन्थ है। इसमें कुल मिलाकर सौ अध्याय हैं, जिन्हें चौदह काण्डों में विभक्त किया गया है। शतपथ ब्राह्मण में न केवल याज्ञिक अनुष्ठानों का बड़े विशदरूप से वर्णन किया गया है, पर साथ ही इस बात पर भी विचार किया गया है, कि इन विविध अनुष्ठानों का क्या प्रयोजन है, और इन्हें क्यों यज्ञ का अंग बनाया गया है। शतपथ ब्राह्मण का रचयिता याज्ञवल्क्य ऋषि को माना जाता है, पर सम्भवत; यह विशाल ग्रन्थ किसी एक ऋषि की रचना न होकर अनेक ऋषियों की कृति है।

सामवेद के तीन ब्राह्मण हैं, ताण्डय महाब्राह्मण, षड्विंश ब्राह्मण और जैमिनीय ब्राह्मण। अनेक विद्वानों के अनुसार ये तीनों ब्राह्मण अन्य ब्राह्मण-ग्रन्थों की अपेक्षा अधिक प्राचीन हैं।

अथर्ववेद का ब्राह्मण गोपथ है। अनेक विद्वानों की सम्मति में यह बहुत प्राचीन नहीं है, और इसमें उस ढंग से याज्ञिक अनुष्ठानों का वर्णन नहीं है, जैसे कि अन्य ब्राह्मण-ग्रन्थों में पाया जाता है।

आरण्यक व उपनिषद्—इसमें सन्देह नहीं, कि भारत के प्राचीन आर्यों के धर्म में यज्ञों की प्रधानता थी। यज्ञ के विधि-विधानों व अनुष्ठानों को वे बहुत महत्त्व देते थे। इसीलिये याज्ञिक अनुष्ठानों के प्रतिपादन व उनमें वैदिक मन्त्रों के विनियोग को प्रदर्शित करने के लिये उन्होंने ब्राह्मण-ग्रन्थों की रचना की थी। पर साथ ही, वैदिक ऋषि आध्यात्मिक, दार्शनिक व पारलौकिक विषयों का भी चिन्तन करते थे। आत्मा क्या है, सृष्टि की उत्पत्ति किस प्रकार हुई, सृष्टि किन तत्त्वों से बनी है, इस सृष्टि का कर्त्ता व नियामक कौन है, जड़ प्रकृति से भिन्न जो चेतन सत्ता है उसका क्या स्वरूप है—इस प्रकार के प्रश्नों पर वे विचार किया करते थे। इन गूढ़ विषयों का चिन्तन करनेवाले ऋषि व विचारक प्राय: जंगलों व अरण्यों में निवास करते थे, जहां वे आश्रम बनाकर रहते थे। यहां उस साहित्य की सृष्टि हुई, जिसे आरण्यक व उपनिषद् कहते हैं। अनेक आरण्यक ब्राह्मण-ग्रन्थों के ही भाग हैं। इससे सूचित होता है, कि याज्ञिक अनुष्ठानों में लगे हुए याज्ञिक व ऋषि लोग यज्ञों को ही अपना ध्येय नहीं समझते थे, अपितु अध्यात्मचिन्तन में भी तत्पर रहते थे। कुछ विद्वानों ने यह मत प्रकट किया है, कि ब्राह्मण लोग याज्ञिक विधि-विधान में संलग्न रहते थे, और अन्य वर्णों के (विशेषतया क्षत्रिय वर्ण के) विचारक अध्यात्मचिन्तन को महत्त्व देते थे। पर इस मत में विशेष सार प्रतीत नहीं होता, कारण यह कि इस प्राचीन युग में वर्ण-व्यवस्था या जाति-विभाग का पूरी तरह से विकास नहीं हुआ था। अनेक राजवंशों के विविध व्यक्ति इहलोक के सुखों का परित्याग कर ऋषि-जीवन को व्यतीत करने के लिये उद्योग करते थे। कौरव-वंश के राजा शान्तन का भाई देवापि मन्त्रद्रष्टा ऋषि था। विदर्भ-राज की कन्या लोपामुद्रा एक ऋषि की पत्नी थी, और स्वयं भी ऋषि थी। याज्ञवल्क्य आदि अनेक ऋषि जहां याज्ञिक अनुष्ठानों के प्रतिपादक थे, वहां साथ ही अध्यात्मचिन्तन करनेवाले भी थे। इन ऋषियों ने अरण्य में विद्यमान आश्रमों में जिन आरण्यकों व उपनिषदों का विकास किया, उनकी संख्या दो सौ से भी ऊपर है। इनमें से कतिपय प्रमुख उपनिषदों का यहां उल्लेख करना आवश्यक है, क्योंकि ये भी वैदिक साहित्य के महत्त्वपूर्ण अंग हैं।

(१) ऐतरेय उपनिषद्—यह ऋग्वेद के ऐतरेय ब्राह्मण का एक भाग है। ऋग्वेद के दूसरे ब्राह्मण-ग्रन्थ कौशीतकी ब्राह्मण के अन्त में भी आरण्यक भाग है, जिसे कौशितकी आरण्यक व कौशितकी उपनिषद् कहते है।

(२) यजुर्वेद का अन्तिम अध्याय ईशोपनिषद् के रूप में है। शुक्ल यजुर्वेद के ब्राह्मण-ग्रन्थ शतपथ ब्राह्मण का अन्तिम भाग आरण्यक रूप से है, जिसे बृहदारण्यकोपनिषद् कहते हैं। कृष्ण यजुर्वेद के ब्राह्मण-ग्रन्थों के अन्तर्गत कठ उपनिषद्, श्वेताश्वतरोपनिषद्, तैत्तिरीय उपनिषद् और मैत्रायणीय उपनिषद् हैं।

(३) सामवेद के ब्राह्मण-ग्रन्थों के साथ सम्बन्ध रखनेवाली उपनिषदें केन और छान्दोग्य हैं।

(४) अथर्ववेद के साथ मुण्डक उपनिषद्, प्रश्न उपनिषद् और माण्डूक्य उपनिषद् का सम्बन्ध है।

आरण्यक व उपनिषदें गद्य और पद्य दोनों में हैं। भाषा और छन्द की दृष्टि से ये वैदिक संहिता से बहुत भिन्न हैं। इससे अनुमान किया जाता है, कि इनका निर्माण वैदिक सूक्तों के पर्याप्त बाद हुआ था। उपनिषदों में अनेक कथानक भी आते हैं, जिनमें से कतिपय का सम्बन्ध उन आर्य-राजवंशों के साथ में है जिनका इतिवृत्त हमने इस पुस्तक के पिछले अध्याय में दिया है। अध्यात्म-चिन्तन और दार्शनिक विचारों की दृष्टि से ये आरण्यक-ग्रन्थ बहुत महत्त्व रखते हैं। बाद के समय में भारत में जो अनेक दार्शनिक सम्प्रदाय प्रचलित हुए, वे अपने पक्ष की पुष्टि के लिये इन उपनिषदों का आश्रय लेते थे और उन्हें प्रमाण-रूप से भी पेश करते थे।

वेदाङ्ग—वैदिक साहित्य के महत्त्वपूर्ण भाग वे ग्रन्थ भी हैं, जिन्हें वेदाङ्ग नाम से कहा जाता है। वेदाङ्ग संख्या में छः हैं—शिक्षा, छन्द, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष और कल्प। इन वेदाङ्गों का विकास वैदिक काल के बाद में हुआ, और इनमें वर्णित सभ्यता और संस्कृति वैदिक युग की सभ्यता और संस्कृति से भिन्न है। अतः यद्यपि इनका परिगणन वैदिक साहित्य में किया जाता है, तथापि अधिक विशदरूप से इनका उल्लेख आगे चलकर हम करेंगे।

(२) वैदिक युग का राजनीतिक जीवन

वैदिक संहिता, ब्राह्मण ग्रन्थ और उपनिषदों के अध्ययन से वैदिक युग के आर्यों की सभ्यता, राजनीतिक संगठन, धर्म, आर्थिक दशा और संस्कृति आदि के

सम्बन्ध में बहुत-सी महत्त्वपूर्ण बातें ज्ञात होती हैं। अब उनका संक्षिप्त रूप से उल्लेख करना उपयोगी होगा।

राजनीतिक संगठन—जब आर्यों ने पहलेपहल भारत में प्रवेश किया, तो वे सभ्यता के क्षेत्र में अच्छी उन्नति कर चुके थे। वे शिकारी की दशा से आगे बढ़कर पशुपालक और कृषक की दशा को पहुंच चुके थे। राजनीतिक दृष्टि से वे जनों में संगठित थे। जन को हम कबीला या ट्राइब समझ सकते हैं। इसका संगठन एक बड़े परिवार के समान था, जिसमें यह विचार विद्यमान था, कि उसके सब व्यक्ति एक आदिपुरुष की सन्तान हैं, और एक परिवार के अंग हैं। जिस प्रकार एक परिवार में सबसे वृद्ध व्यक्ति शासन करता है, उसी प्रकार जनरूपी बड़े परिवार में भी एक पिता या मुखिया का शासन होता था। इस मुखिया को राजा कहते थे, और इसकी नियुक्ति परम्परागत या प्रथा के अनुसार या निर्वाचन द्वारा होती थी। प्रत्येक जन की सम्पूर्ण 'विशः' (जनता) इस राजा का वरण करती थी। यह समझा जाता था, कि जनता राजा के साथ एक संविदा (इकरार) करती है, जिसके अनुसार राजा यह जिम्मा लेता है, कि वह अपनी प्रजा की सब बाह्य और आभ्यन्तर शत्रुओं से रक्षा करेगा और उसका न्याय-पूर्वक पालन करेगा। इसी कार्य के लिये प्रजा राजा को 'बलि' (कर) प्रदान-करती थी। राज्याभिषेक के अवसर पर राजा धर्म-पूर्वक प्रजा-पालन की प्रतिज्ञा करता था। यदि वह इस प्रतिज्ञा को तोड़े, तो प्रजा को अधिकार था, कि वह उसे पदच्युत कर सके। राजा किसी दैवी अधिकार से शासन करता है, यह विचार वैदिक संहिताओं में कहीं नहीं पाया जाता। इसके विपरीत वहां यह विचार स्पष्टरूप से विद्यमान है, कि 'विशः' राजा को शासन-कार्य के लिये वरण करती है। वरणद्वारा जब कोई व्यक्ति राजा के पद पर नियत होता था, तो उससे यह आशा की जाती थी, कि वह जीवनपर्यन्त अपने पद पर ध्रुव (स्थिर) रहेगा। अथर्ववेद में लिखा है, कि यह द्यौः और पृथिवी सब ध्रुव हैं, यह सारा विश्व ध्रुव है, ये पर्वत ध्रुव हैं। इसी प्रकार विशः का यह राजा भी 'ध्रुव' रहे। सब विशः इसको चाहें, और यह राष्ट्रपद से कभी च्युत न हो।

राजा को वरण करने का कार्य 'विशः' के जिन प्रमुख व्यक्तियों के सुपुर्द था, उन्हें 'राजकृतः' (राजा को नियत करनेवाले) कहते थे। ये 'राजकृतः' स्वयं भी राजा कहाते थे, और राजा-पद पर वरण किया गया व्यक्ति इन 'राजानः राजकृतः' का मुख्यमात्र माना जाता था। ये 'राजकृतः' कौन होते थे, वेदों से यह स्पष्ट नहीं होता। ब्राह्मण ग्रन्थों में 'रत्नियों' का उल्लेख आता

है, जो राज्याभिषेक के समय पर राजा से हवि ग्रहण करते थे। इन रत्नियों के सम्बन्ध में हम उत्तर वैदिक काल (प्राग् बौद्ध काल) की सभ्यता का विवरण करते हुए, अधिक विस्तार के साथ लिखेंगे। सम्भवतः, ब्राह्मणग्रन्थों में जिन्हें 'रत्नी' कहा गया है, वैदिक काल में वे ही 'राजकृतः राजानः' कहे जाते थे, क्योंकि वैदिक युग के ये राजकृतः राज्याभिषेक के अवसर पर राजा को एक 'पर्णमणि' प्रदान करते थे, जो राजत्व का चिह्न समझी जाती थी। सम्भवतः, यह पर्णमणि (पर्णों द्वारा निर्मित रत्न) पलाश वृक्ष की शाखा होती थी। पलाश (पीपल) को पवित्र मानने की कल्पना वदिक काल में भी विद्यमान थी। 'राजकृतः राजानः' के अतिरिक्त सूत, ग्रामणी, रथकार, कर्मार आदि जनता के विविध व्यक्ति भी राज्याभिषेक में हाथ बंटाते थे, और 'विशः' की तरफ से राजा का वरण करते थे।

समिति और सभा—जनता द्वारा वरण किये जा चुकने पर राजा अकेला शासन-कार्य का संचालन करता हो, यह बात नहीं थी। वैदिक युग में समिति और सभा नामक दो संस्थायें भी थीं, जो न केवल राजकार्य में राजा की सहायता करती थीं, अपितु उस पर नियन्त्रण भी रखती थीं। अथर्ववेद के जिस सूक्त में राजा के ध्रुव रहने की प्रार्थना की गई है, उसी में यह भी कहा गया है, कि राजा की समिति भी ध्रुव रहे। समिति के सदस्य कौन होते थे, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। सम्भवतः, वह सम्पूर्ण विशः की संस्था थी, और उसमें 'जन' के सब लोग एकत्र होते थे। यह भी सम्भव है, कि वैदिक युग के जनपदों में जनसंख्या के बढ़ने के साथ-साथ सब लोग इस समिति में एकत्र न होते हों, और कतिपय प्रमुख व्यक्ति ही उसमें सम्मिलित होने का अधिकार रखते हों। प्राचीन ग्रीक नगर-राज्यों की लोकसभाओं (यथा एथेन्स की एक्लीज़िया) में प्रत्येक नागरिक सदस्यरूप से सम्मिलित होता था। जब इन नगर-राज्यों की जनसंख्या लाखों में हो गई थी, तब भी प्रत्येक नागरिक को यह अधिकार था, कि वह अपने राज्य की लोकसभा में उपस्थित होकर विचार में हाथ बंटा सके, और अपनी सम्मति दे सके। सम्भवतः, वैदिक युग के आर्य-जनपदों (जिनका स्वरूप नगर-राज्य के सदृश ही था) की समिति का भी यही रूप था। उसमें जनपद की सम्पूर्ण 'विशः' एकत्र हो सकती थी। वहां एकत्र हुए व्यक्ति सब विचारणीय विषयों पर वाद-विवाद करते थे। विवाद व भाषण में प्रवीणता प्राप्त करना एक अत्यन्त महत्त्व की बात समझी जाती थी। अथर्ववेद के एक सूक्त में एक व्यक्ति यह प्रार्थना करता है, कि वह बहुत कुशल वक्ता

बने, अपनी युक्तियों, ज्ञान और भाषणकला द्वारा सबको वशीभूत कर ले। वाद-विवाद में अपने प्रतिपक्षियों को परास्त करने और मनुष्यों को भाषण द्वारा अपने पक्ष में कर सकने की शक्ति प्राप्त करने के लिये अनेक प्रार्थनायें वेदों में विद्यमान हैं। निःसन्देह, समिति में विविध विषयों पर खुला विवाद होता था, और विविध व्यक्ति वहां अपनी वक्तृत्वशक्ति का चमत्कार प्रदर्शित करते थे। समिति में केवल राजनीतिक विषयों पर ही विचार नहीं होता था, अपितु साथ ही आध्यात्मिक व अन्य गूढ़ विषयों पर भी उनमें विवाद हुआ करता था। छान्दोग्य और बृहदारण्यक उपनिषदों में 'समिति' में ब्रह्म-विद्याविषयक विचारों का उल्लेख आता है। श्वेतकेतु पंचाल-जनपद की इसी प्रकार की समिति में उपस्थित हुआ था, और वहां उसने अध्यात्म-विषयक विचार में हाथ बटाया था। समिति का अपना अध्यक्ष होता था, जिसे 'ईशान' कहते थे। ईशान के सभापतित्व में ही समिति का कार्य चलता था। पर राजा भी विविध अवसरों पर समिति में उपस्थित होता था। जब श्वेतकेतु पंचाल-जनपद की समिति में गया, तो वहां का राजा प्रवाहण जाबालि उसमें उपस्थित था।

समिति के समान सभा भी वैदिक युग के जनपदों की एक महत्त्वपूर्ण संस्था थी। वेदों में समिति और सभा को प्रजापति की 'दुहिता' कहा गया है, और यह प्रार्थना की गई है, कि ये दोनों राजा की रक्षा में सदा तत्पर रहें। सभा और समिति के संगठन में क्या भेद था, यह वैदिक संहिताओं द्वारा भलीभांति स्पष्ट नहीं होता। ऐसा प्रतीत होता है, कि सभा समिति की अपेक्षा छोटी संस्था थी, उसके सदस्य केवल बड़े लोग (पितर व वृद्ध) होते थे, और उसका प्रधान कार्य न्याय करना था। अथर्ववेद में सभा को 'नरिष्ट' कहा गया है। सायणाचार्य ने नरिष्ट शब्द के अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए लिखा है, कि "बहुत-से लोग एक साथ मिलकर जो एक बात कहें, उसका दूसरों को उल्लंघन नहीं करना चाहिये। क्योंकि बहुतों की बात को उल्लंघन नहीं किया जा सकता, अतः सभा को 'नरिष्ट' कहते हैं।" नरिष्ट का शब्दार्थ है, अनुल्लंघनीय। बहुमत से जो कुछ सभा में निर्णीत होता था, उसे अनुल्लंघनीय माना जाता था, और इसी कारण सभा को नरिष्ट कहते थे। प्रतीत होता है, कि वैदिक युग की सभा में भी विविध विषयों पर विवाद होता था और विविध वक्ता सभासदों को अपने पक्ष में करने के लिये विशेषरूप से प्रयत्नशील रहते थे। इसीलिये अथर्ववेद में प्रार्थना की गई है—"हे सभा! हम तेरे से भलीभांति परिचित

हैं, तेरा नाम नरिष्ट (अनुल्लंघनीय) भी है। तेरे जो भी सभासद् हैं वे मेरे साथ 'सवाचस्' (मेरे कथन के साथ सहमति रखनेवाले) हों। यहां (सभा में), जो लोग बैठे हैं, मैं उन सबके नेत्र और ज्ञान को ग्रहण करता हूं (सबको अपने पीछे चलाता हूं)। हे इन्द्र ! मुझे इस प्रयत्न में सफल बनाओ। तुम लोगों (सभासदों) का जो मन किसी और पक्ष म गया हुआ है, या किसी पक्ष के साथ इधर या उधर बंध गया है, उसे मैं लौटाता हूं, तुम सबका मन मेरे पक्ष में हो।" सभा में उपस्थित सभासदों को अपने पक्ष में करने, उन सबको वशीभूत कर अपने पीछे चलाने की यह प्रार्थना कितनी सुन्दर है, और कितनी उत्तम रीति से उस युग की सभा पर प्रकाश डालती है। सभा के सदस्यों को 'सभासद्' कहा जाता था। वेदों में इन्हें 'पितर' भी कहा गया है, बाद के साहित्य में इनके लिये 'वृद्ध' शब्द का उपयोग किया गया है। इससे ज्ञात होता है, कि सभा में सम्पूर्ण 'विशः' एकत्र नहीं होती थी, उसके कतिपय प्रतिष्ठित व वृद्ध (बड़े) लोग ही उसमें सम्मिलित होते थे।

सभा का एक मुख्य कार्य न्याय करना था। न्याय के लिये अभियुक्त रूप में जिस व्यक्ति को सभा के सम्मुख पेश किया जाता था, उसे 'समाचर' कहते थे। यजुर्वेद में समाचर का उल्लेख पुरुषमेध के प्रकरण में किया गया है। आलंकारिक रूप से विचार करने पर अभियक्त व्यक्ति को 'मेध्य' (बलियोग्य) समझ सकना कठिन नहीं है। यजुर्वेद के ही एक अन्य मन्त्र में सभा में किये गये पाप के प्रायश्चित्त का उल्लेख किया गया है। न्याय-कार्य को करते हुए सभासद् लोगों से अनजाने में या जान-बूझकर जो भूल होती थी, उसी को यजुर्वेद में पाप कहा गया है, और उससे छूटने के लिये प्रार्थना की गई है। सूत्रग्रन्थों और धर्मशास्त्रों के समय में भी 'सभा' न्याय का कार्य करती थी। "या तो सभा म जाये नहीं, जाये तो वहां सोच-समझकर अपनी बात कहनी चाहिये, सभा में जाकर जो अपनी सम्मति नहीं कहता या गलत बात कहता है, वह पापी होता है।" यह धर्म-शास्त्रों का वचन जिस सभा के सम्बन्ध में है, वह सम्भवतः न्याय का भी कार्य करती थी।

(३) सामाजिक जीवन

पञ्चजन—वैदिक युग के भारतीय आर्य अनेक जनों (कबीला या ट्राइब) में विभक्त थे। ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर 'पञ्चजनाः' और 'पञ्चकृष्टयः' का उल्लेख आता है, जो निःसन्देह उस युग के आर्यों की पांच प्रमुख जातियों

(कबीलों) को सूचित करते हैं। ये पांच जन—अणु, द्रुह्य, यदु, तुर्वसु और पुरु थ। पर इनके अतिरिक्त भरत, त्रित्सु, शृंजय आदि अन्य भी अनेक जनों का उल्लेख वेदों में आता है, जिनसे इस बात म कोई सन्देह नहीं रह जाता, कि ज्यों-ज्यों आर्य लोग भारत में फैलते गये, उनमें विविध जनों का विकास होता गया। आर्य-जाति के प्रत्येक जन में सब व्यक्तियों की सामाजिक स्थिति एक समान थी, सबको एक ही 'विशः' (जनता) का अंग माना जाता था।

आर्य और दास—आर्यों के भारत में प्रवेश से पूर्व यहां जिन लोगों का निवास था, वेदों में उन्हें 'दास' या 'दस्यु' कहा गया है। इनकी अनेक समृद्ध बस्तियां भारत में विद्यमान थीं। आर्यों ने इन्हें जीतकर अपने अधीन किया, और ये आर्यभिन्न लोग आर्य-जनपदों में आर्य-राजाओं की अधीनता में रहने लगे। यह स्वाभाविक था, कि इन दासों व दस्युओं की सामाजिक स्थिति आर्यों की अपेक्षा हीन रहे। आर्य लोग इनसे घृणा करते थे, इन्हें अपने से हीन समझते थे, और उन्हें अपने समान स्थिति देने को उद्यत नहीं थ। इसी दशा का यह परिणाम हुआ, कि आर्य-जनपदों में निवास करनेवाली जनता दो भागों में विभक्त हो गई—(१) आर्य और (२) दास। दास-जाति की हीन स्थिति के कारण इस शब्द का अभिप्राय ही संस्कृत-भाषा में गुलाम हो गया, यह हम पहले लिख चुक है। दास-जाति के ये लोग शिल्प में अत्यन्त चतुर थ। ये अच्छ विशाल घरों का निर्माण करते थे, शहरों में रहते थे व अनेक प्रकार के व्यवसायों में दक्ष थे। आर्यों द्वारा विजित हो जाने के बाद भी शिल्प और व्यवसाय में इनकी निपुणता नष्ट नहीं हो गई। ये अपने इन कार्यों में तत्पर रहे। विजेता आर्य सैनिक थे। वे याज्ञिक अनुष्ठानों को गौरव की बात समझते थे, और भूमि के स्वामी बनकर खेती, पशुपालन आदि द्वारा जीवन का निर्वाह करते थे। विविध प्रकार के शिल्प दास-जाति के लोगों के हाथों में ही रहे। इसका परिणाम यह हुआ, कि भारत में प्राचीन काल से ही शिल्पियों को कुछ हीन समझने की प्रवृत्ति रही। आर्यों और दासों में परस्पर सामाजिक सम्बन्ध का सर्वथा अभाव हो, यह बात नहीं थी। प्राच्य भारत में जहां आर्यों की अपेक्षा आर्यभिन्न जातियों के लोग अधिक संख्या में थे, उनमें परस्पर विवाह सम्बन्ध होता रहता था। उन प्रदेशों में ऐसे लोगों की संख्या निरन्तर बढ़ती गई, जो शुद्ध आर्य या दास न होकर वर्णसंकर थ। ऐसे वर्णसंकर लोगों को ही सम्भवतः व्रात्य कहा जाता था। अथर्ववेद में व्रात्य-जातियों का अनेक स्थानों पर उल्लेख हुआ है। बाद में व्रात्यस्तोम-यज्ञ का विधान कर इन व्रात्यों को आर्य-जाति में सम्मिलित करने

की भी व्यवस्था की गई। पर इसमें सन्देह नहीं, कि वैदिक युग में आर्यों और दासों का भेद बहुत स्पष्ट था, और उस काल के आर्य-जनपदों में ये दो वर्ण ही स्पष्टरूप से विद्यमान थे।

वर्ण-व्यवस्था—आर्य-विशः के सब व्यक्तियों की सामाजिक स्थिति एक समान थी। पर धीरे-धीरे उसमें भी भेद प्रादुर्भूत होने लगा था। दास-जातियों के साथ निरन्तर युद्ध में व्यापृत रहने के कारण सर्वसाधारण आर्य जनता में कतिपय ऐसे वीर सैनिकों (रथी, महारथी आदि) की सत्ता आवश्यक हो गई थी, जो युद्ध-कला में विशेष निपुणता रखते थे। इनका कार्य ही यह समझा जाता था, कि वे शत्रुओं से जनता की रक्षा करें। क्षत (हानि) से त्राण करनेवाले होने के कारण इन्हें क्षत्रिय कहा जाता था। यद्यपि ये क्षत्रिय आर्य-विशः के ही अंग थे, पर तो भी इन्हें विशः के सर्वसाधारण लोगों (वैश्यों) से अधिक सम्मानित व ऊंचा समझा जाता था। क्षत्रिय सैनिकों के विशिष्ट कुल 'राजन्य' कहाते थे। सम्भवतः ये राजन्य ही वे 'राजकृतः राजानः' थे, जो अपने में से एक को राजा के पद के लिये वरण करते थे। जिस प्रकार क्षत्रियों की सर्वसाधारण आर्य विशः में एक विशिष्ट स्थिति थी, वैसे ही उन चतुर व्यक्तियों की भी थी, जो याज्ञिक कर्मकाण्ड में विशेष रूप से दक्ष थे। जब आर्य लोग भारत में स्थिर रूप से बस गये, तो उनके विधि-विधानों व अनुष्ठानों में बहुत वृद्धि हुई। प्राचीन समय का सरल धर्म निरन्तर अधिक-अधिक जटिल होता गया। इस दशा मे यह स्वाभाविक था, कि कुछ लोग जटिल याज्ञिक कर्मकाण्ड में विशेष निपुणता प्राप्त करें, और याज्ञिकों की इस श्रेणि को सर्वसाधारण आर्य-विशः में क्षत्रियों के समान ही विशेष आदर की दृष्टि से देखा जाय। इस प्रकार, वैदिक युग में उस चातुवर्ण्य का विकास प्रारम्भ हो गया था, जो आगे चलकर भारत में बहुत अधिक विकसित हुआ, और जो बाद के हिन्दू व भारतीय समाज की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता बन गया। पर वैदिक युग में यह भावना होने पर भी कि ब्राह्मण और क्षत्रिय सर्वसाधारण विशः (वैश्य जनता) से उत्कृष्ट व भिन्न है, जातिभेद या श्रेणिभेद का अभाव था। कोई व्यक्ति ब्राह्मण या क्षत्रिय है, इसका आधार उसकी योग्यता व अपने कार्य म निपुणता ही थी। कोई भी व्यक्ति अपनी निपुणता, तप व विद्वत्ता के कारण ब्राह्मण पद प्राप्त कर सकता था। इसी प्रकार आर्य जन का कोई भी मनुष्य अपनी वीरता के कारण क्षत्रिय व राजन्य बन सकता था। वैदिक ऋषियों ने समाज की कल्पना एक मानव-शरीर के समान की थी, जिसके शीर्षस्थानीय ब्राह्मण थे, बाहरूप

क्षत्रिय थे। पेट व जंघाओं के सदृश स्थिति वैश्यों की थी, और शूद्र पैरों के समान थे। आर्यभिन्न दास लोग ही शूद्र वर्ण के अन्तर्गत माने जाते थे।

पारिवारिक जीवन—वैदिक युग के सामाजिक जीवन का आधार परिवार था। महाभारत में संकलित प्राचीन अनुश्रुति के अनुसार एक ऐसा समय था, जब विवाह-संस्था विकसित नहीं हुई थी, जब स्त्रियां 'अनावृत', 'स्वतन्त्र' और 'कामाचारविहारिणी' होती थीं। पर यदि सचमुच कोई ऐसा समय आर्यों में रहा था, तो वह वैदिक युग से अवश्य ही पहले का होगा, क्योंकि वेदों के अनुशीलन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है, कि विवाह-संस्था उस समय भलीभांति विकसित हो चुकी थी, और वैदिक युग के आर्य वैवाहिक बन्धन में बंधकर गृहस्थ-जीवन व्यतीत करते थे। साधारणतया एकपत्नीव्रत का अनुसरण किया जाता था, यद्यपि बहुपत्नीत्व व बहुपतित्व की प्रथा भी कहीं-कहीं प्रचलित थी। सम्भवतः, ये प्रथायें आर्यभिन्न जातियों में थीं, आर्यों में नहीं। बहन और भाई में विवाह निषिद्ध था। विवाह बाल्यावस्था में नहीं होते थे। लड़कियां भी लड़कों के समान ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करती थीं, और युवावस्था में विवाह करती थीं। स्त्रियों को अशिक्षित नहीं रखा जाता था। 'स्त्रियों और शूद्रों को शिक्षा नहीं देनी चाहिये' यह विचार वैदिक युग में विद्यमान नहीं था। अनेक स्त्रियां इतनी विदुषी थीं, कि उनके बनाये हुए मन्त्रों को वैदिक संहिताओं में भी संकलित किया गया है। लोपामुद्रा, अपालात्रेयी आदि अनेक स्त्रियां वैदिक सूक्तों की ऋषि हैं। गोधा, घोषा, विश्ववारा, अदिति, सरमा, यमी आदि कितनी ही ब्रह्मवादिनी महिलाओं (ऋषियों) का उल्लेख प्राचीन साहित्य में आता है। गार्गी, मैत्रेयी आदि तत्त्वचिन्तक स्त्रियों का उपनिषदों में भी जिक्र किया गया है। ब्रह्मचर्यपूर्वक विद्याध्ययन कर जो स्त्रियां गृहस्थाश्रम में प्रवेश करती थीं, वे परदे में नहीं रह सकती थीं। उन्हें पारिवारिक जीवन में पति की सहधर्मिणी माना जाता था। स्त्री और पुरुष में विवाह-सम्बन्ध स्वयं वरण करने से स्थिर होता था। स्त्रियां स्वयं अपने पति का वरण करती थीं। राजकुमारियों के अनेक स्वयंवर-विवाहों का विशद वर्णन प्राचीन साहित्य में उपलब्ध होता है। न केवल राजकुमारियां ही. अपितु सर्वसाधारण आर्य-कन्यायें भी अपने पति का स्वयमेव वरण करती थीं, और वैदिक युग के समाज में उन्हें इसके लिय पूर्ण अवसर मिलता था।

(४) धर्म

वैदिक वाङ्मय प्रधानतया धर्मपरक है, अतः इस युग के धार्मिक विश्वासों

के सम्बन्ध में हम बहुत विशदरूप से परिचय मिलता है। वैदिक युग के आर्य विविध देवताओं की पूजा करते थे। इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, यम आदि उनके अनेक देवता थे, जिन्हें तृप्त व सन्तुष्ट करन के लिये वे अनेक विधि-विधानों का अनुसरण करते थे। संसार का स्रष्टा, पालक व संहर्ता एक ईश्वर है, यह विचार वैदिक आर्यों में भली भांति विद्यमान था। उनका कथन था, कि इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, सुपर्ण, गरुत्मान्, मातरिश्वा, यम आदि सब एक ही सत्ता के विविध नाम हैं, और उस एक सता.को ही विद्वान् लोग इन्द्र, मित्र आदि विविध नामों से पुकारते हैं। सम्भवतः, एक ईश्वर की यह कल्पना बाद में विकसित हुई, और प्रारम्भ में आर्य लोग प्रकृति की विविध शक्तियों को देवता के रूप में मानकर उनकी उपासना करते थे। प्रकृति म हम अनेक शक्तियों को देखते हैं। वर्षा, धूप, सरदी, गरमी सब एक नियम से होती हैं। इन प्राकृतिक शक्तियों के कोई अधिष्ठातृ देवता भी होने चाहियें, और इन देवताओं की पूजा द्वारा मनुष्य अपनी सुख-समृद्धि में वृद्धि कर सकता है, यह विचार प्राचीन आर्यों में विद्यमान था। प्राकृतिक दशा को सम्मुख रखकर वैदिक देवताओं को तीन भागों में बांटा जा सकता है—(१) द्युलोक के देवता, यथा सूर्य, सविता, मित्र, पूषा, विष्णु, वरुग और मित्र। (२) अन्तरिक्षस्थानीय देवता, यथा इन्द्र, वाय, मरुत् और पर्जन्य। (३) पृथिवी-स्थानीय देवता, यथा अग्नि, सोम और पृथिवी। द्युलोक, अन्तरिक्षलोक और पृथिवीलोक के विभिन्न क्षेत्रों में प्रकृति की जो शक्तियां दृष्टिगोचर होती हैं, उन सबको देवतारूप में मानकर वैदिक आर्यों ने उनकी स्तुति में विविध सूक्तों व मन्त्रों का निर्माण किया था। अदिति, उषा, सरस्वती आदि के रूप म वेदों में अनेक देवियों का भी उल्लेख है, और उनके स्तवन में भी अनेक मन्त्रों का निर्माण किया गया है। यद्यपि बहुसंख्यक वैदिक देवी-देवता प्राकृतिक शक्तियों व सताओं के मूर्त्त रूप हैं, पर कतिपय देवता ऐसे भी हैं, जो भाव-रूप समझे जा सकते हैं। मनुष्यों में श्रद्धा, मन्यु (क्रोध) आदि की जो विविध भावनायें हैं, उन्हें भी वेदों में देवीरूप प्रदान किया गया है।

इन विविध देवताओं की पूजा के लिये वैदिक आर्य अनेकविध यज्ञों का अनुष्ठान करते थे। यज्ञकुण्ड में अग्नि का आधान कर दूध, घी, अन्न, सोम आदि विविध सामग्री की आहुति दी जाती थी। यह समझा जाता था, कि अग्नि में दी हुई आहुति देवताओं तक पहुंच जाती है, और अग्नि इस आहुति के लिये वाहन का कार्य करती है। वैदिक युग में यज्ञों में मांस की आहुति दी जाती थी या नहीं, इस सम्बन्ध में मतभेद है। महाभारत में संकलित एक प्राचीन अनश्रुति के अनसार

पहले यज्ञों में पशुबलि दी जाती थी, बाद में राजा वसु चैद्योपरिचर के समय में इस था के विरुद्ध आन्दोलन प्रबल हुआ। इस बात में तो सन्देह की कोई गुञ्जाइश नहीं है, कि बौद्ध-युग से पूर्व भारत में एक ऐसा समय अवश्य था, जब यज्ञों में पशुहिंसा का रिवाज था। पर वेदों के समय में भी यह प्रथा विद्यमान थी, यह बात संदिग्ध है। वेदों में स्थान-स्थान पर घृत, अन्न व सोम द्वारा यज्ञों में आहुति देने का उल्लेख है, पर अश्व, अजा आदि पशुओं की वलि का स्पष्ट वर्णन प्रायः वैदिक संहिताओं में नहीं मिलता।

आर्यों ने दास, दस्यु आदि जिन आर्यभिन्न जातया को विजय कर अपनी सत्ता की स्थापना की, उनके धर्म का भी उनपर प्रभाव पड़ा। ऋग्वेद के एक मन्त्र में यह प्रार्थना की गई है, कि 'शिश्नदेव' हमारे यज्ञ को न बिगाड़ें। हम पहले देख चुके हैं, कि सिन्ध-घाटी की प्राचीन सभ्यता के निवासियों मे शिश्न (लिङ्ग) की पूजा प्रचलित थी। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के भग्नावशेषों में ऐसे अनेक शिश्न (जो पत्थर के बने है) उपलब्ध भी हुए है। ऋग्वेद में ही एक अन्य स्थान पर शिश्नदेवों के पुर के विजय का भी उल्लेख है। वैदिक युग के आर्य लिङ्ग के रूप में प्रकृति की प्रजनन-शक्ति के उपासकों से घृणा करते थे, पर बाद में आर्य-जाति ने पूजा की इस विधि को भी अपना लिया, और शिवलिङ्ग के रूप में शिश्नदेव की पूजा भारत में प्रचलित हो गई। इसी प्रकार अथर्ववेद में अनेक जादू-टोने पाये जाते हैं, जो आर्यभिन्न जातियों से ग्रहण किये गये थे। सांप का विष उतारने के मन्त्रों में तमात, आलिगी, विलिगी, उरुगुला आदि अनेक शब्द आये हैं। अनेक विद्वानों के मत में ये शब्द वदिक भाषा के न होकर कल्डियन भाषा के हैं। कैल्डियन लोग ईराक के क्षेत्र में निवास करत थे, और आर्यभिन्न जाति के थे। सिन्धु-सभ्यता के लोगों का पश्चिमी एशिया के विविध प्रदेशों से व्यापारिक सम्बन्ध था, यह हम पहले लिख चुके हैं। कोई आश्चर्य नहीं, कि तैमात आदि ये शब्द पश्चिमी एशिया से सिन्धु-सभ्यता में आये हों, और बाद में आर्यों ने इन्हें सिन्धु-सभ्यता के दास व दस्यु लोगों से ग्रहण किया हो।

यहां हमारे लिये यह सम्भव नहीं है, कि हम वैदिक देवताओं के स्वरूप का विशदरूप से वर्णन कर सकें। पर इतना लिख देना आवश्यक है, कि देवताओं के रूप में प्राचीन आर्य प्रकृतिकी विविध शक्तियों की पूजा करते थे, और यह विचार उनमें भलीभांति विद्यमान था, कि ये सब देवता एक ही सत्ता की विविध अभिव्यक्तियां हैं। वैदिक आर्य केवल देवताओं की पूजा और याज्ञिक अनुष्ठान में ही तत्पर नहीं थे, अपितु वे उस तत्त्व-चिन्तन में भी लगे थे, जिसने

आगे चलकर उपनिषदों और दर्शन-शास्त्रों को जन्म दिया। यह सृष्टि कैसे उत्पन्न हुई, सृष्टि से पहले क्या दशा थी, जब सृष्टि नहीं रहेगी, तो क्या अवस्था होगी—इस प्रकार के प्रश्नों पर भी वैदिक युग में विचार किया जाता था। वैदिक संहिताओं में इस प्रकार के अनेक सूक्त आते हैं, जिनमें इस प्रकार के प्रश्नों पर बहुत सुन्दर व गम्भीर विचार किया गया है। यह सृष्टि जिससे उत्पन्न हुई है, जो इसका धारण करता है, जो इसका अन्त कर प्रलय करता है, जो इस सम्पूर्ण विश्व का स्वामी व पालनकर्ता है, हे प्रिय मनुष्य! तू उसको जान, अन्य किसी को जानने का प्रयत्न न कर। इस विश्व में पहले केवल तम (अन्धकार) था, अत्यन्त गूढ़ तम था। तब सृष्टि विकसित नहीं हुई थी, सर्वत्र प्रकृति अपने आदि रूप में विद्यमान थी। उस सर्वोच्च सत्ता ने अपनी तपःशक्ति द्वारा तब इस सृष्टि को उत्पन्न किया। भूत, वर्तमान व भविष्य में जो कुछ भी इस संसार में है, वह सब उसी 'पुरुष' में से उत्पन्न होता है—इस प्रकार के कितने ही विचार वैदिक मन्त्रों में उपलब्ध होते हैं, और उस तत्त्व-चिन्तन को सूचित करते हैं, जिसमें वैदिक युग के अनेक ऋषि व विचारक संलग्न थे।

क्योंकि वैदिक युग के देवता प्राकृतिक शक्तियों के रूप थे, अतः उनकी मूर्ति बनाने व इन मूर्तियों की पूजा करने की पद्धति सम्भवतः वैदिक युग में विद्यमान नहीं थी। वैदिक आर्य देवताओं की पूजा के लिये ऐसे मन्दिरों का निर्माण नहीं करते थ, जिनमें मूर्तियां प्रतिष्ठित हों। वैदिक युग में देवताओं की पूजा का ढंग याज्ञिक अनुष्ठान ही था।

(५) आर्थिक जीवन

वैदिक युग के आर्थिक जीवन के मुख्य आधार कृषि और पशुपालन थे। पशुओं में गाय, बैल, घोड़ा, भेड़, बकरी, कुत्ते व गधे विशेषरूप से पाले जाते थे। आर्यों के आर्थिक जीवन में गाय का इतना अधिक महत्त्व था, कि उसे अघ्न्या (न मारने योग्य) समझा जाता था। आर्य लोग इन पशुओं को बड़ी संख्या म पालते थे, और इनसे उनकी आर्थिक समृद्धि में बहुत सहायता मिलती थी। इस युग म आर्य लोग कतिपय निश्चित प्रदेशों पर बस गये थ, और कृषि के क्षेत्र में उन्होंने अच्छी उन्नति कर ली थी। जमीन को जोतने के लिये बैलों का प्रयोग किया जाता था। खेतों की उपज बढ़ाने के लिये खाद भी प्रयुक्त होता था। सिंचाई के लिये झील, जलाशय, नदी व कुंए का जल काम में लाया जाता था। खेतों में पानी दने के लिये छोटी-छोटी नहरें व नालियां बनाई जाती थीं। भारत के

ग्रामों में जिस ढंग से आजकल किसान लोग खेती करते हैं, जिस प्रकार वे अब लकड़ी और धातु के बने हलों को बैलों से चलाते हैं, जिस तरह से वे खेती को सींचते, नलाते व काटते हैं, प्रायः उसी ढंग से वैदिक युग के आर्य भी करते थे। खेतों में उत्पन्न होनेवाले अनाजों में जौ, गेहूं, धान, माष व तिल प्रमुख थे। यद्यपि वैदिक आर्यों की आजीविका का मुख्य साधन कृषि था, पर धीरे-धीरे अनेक प्रकार के शिल्पों और व्यवसायों का भी विकास हो रहा था। तक्ष्मन् (बढ़ई), हिरण्यकार (सुनार), कर्मार (धातु-शिल्पी), चर्मकार (मोची), वाय (तन्तुवाय या जुलाहा) आदि अनेक व्यवसायियों का उल्लेख वेदों में आता है। उस युग में आर्य लोग रथों का बहुत उपयोग करते थे। ये रथ न केवल सवारी व माल ढोने के काम में आते थे, अपितु युद्ध के लिये भी इनका बहुत उपयोग था। आर्यभिन्न दास लोग तो विविध शिल्पों का अनुसरण करते ही थे, पर आर्य लोगों ने भी कारु (शिल्पी), भिषक् (चिकित्सक) आदि अनेक प्रकार के व्यवसायों का संचालन प्रारम्भ कर दिया था। दास शिल्पियों को अपनी नौकरी में व गुलाम रूप में रखकर आर्य गृहपति अनेक प्रकार के व्यवसायों का संचालन किया करते थे।

वैदिक युग के आर्य अनेक धातुओं का प्रयोग जानते थे। सभ्यता के क्षेत्र में वे प्रस्तर-युग से बहुत आगे बढ़ चुके थे। सुवर्ण और रजत का प्रयोग वे आभूषणों और पात्रों के लिये करते थे, पर 'अयस्' नामक एक धातु को वे अपने औजार बनाने के लिये काम में लाते थे। संस्कृत भाषा में 'अयस्' का अर्थ लोहा है, पर अनेक विद्वानों का यह विचार है, कि वेदों में जिस अयस् का उल्लेख है, वह लोहा न होकर तांबा होता था। अयस् का अभिप्राय चाहे लोहे से हो और चाहे ताम्बे से, इसमें सन्देह नहीं, कि वैदिक युग के आर्य इस उपयोगी धातु के प्रयोग को भलीभांति जानते थे, और कर्मार लोग अनेक प्रकार के उपकरणों के निर्माण के लिये इसका उपयोग करते थे।

आर्य लोग अपने निवास के लिये सुन्दर शालाओं का निर्माण करते थे। वेद में एक शाला-सूक्त है, जिसमें शाला (मकान या घर) का बड़ा उत्तम वर्णन किया गया है। सम्भवतः, इन शालाओं के निर्माण के लिये लकड़ी का प्रयोग अधिक किया जाता था।

वस्त्र-निर्माण का शिल्प भी इस युग में अच्छा उन्नत था। ऊन और रेशम कपड़े बनाने के लिये विशेष रूप से प्रयुक्त होते थे। यह सहज में अनुमान किया जा सकता है, कि रुई से भी आर्य लोग भलीभांति परिचित थे। सिन्धु-सभ्यता के

आर्थिक जीवन का विवरण देते हुए हमने उन प्रमाणों का उल्लेख किया था, जिनसे इस सभ्यता के लोगों का रुई से परिचय सिद्ध होता है। आर्य लोगों के लिये यह बहुत सुगम था, कि वे अपने से पूर्ववर्ती सिन्धु-सभ्यता के लोगों से रुई की खेती और उपयोग को भलीभांति सीख सकें। सूत कातने और उससे अनेक प्रकार के वस्त्र बनाने के व्यवसाय में आर्य लोग अच्छे कुशल थ। वे सिर पर उष्णीष (पगड़ी) धारण करते थे, नीचे एक अधोवस्त्र (धोती या साड़ी) और फिर उत्तरीय (चादर) का प्रयोग करते थे। स्त्री और पुरुष दोनों आभूषण पहनने का शौक रखते थे। कुण्डल, केयूर, निष्कग्रीव आदि अनेक प्रकार के आभूषण इस युग के लोग प्रयोग में लाते थे।

व्यापार के लिये इस युग में वस्तुविनिमय (बार्टर) का प्रयोग होता था। पर बहुधा वस्तुओं के मूल्य का अंकन गौओं द्वारा होकर, गौ को इकाई मानकर विनिमय का काम चलाया जाता था। धातु द्वारा निर्मित किसी सिक्के का चलन इस युग में था या नहीं, यह बात संदिग्ध है। निष्क नामक एक सुवर्ण मुद्रा का उल्लेख वैदिक साहित्य में आया है। पर सम्भवतः उसका उपयोग मुद्रा की अपेक्षा आभूषण के रूप में अधिक था। वैदिक संहिताओं में नौकाओं का अनेक स्थलों पर वर्णन आया है। इनमें से कतिपय नौकायें बहुत विशाल भी हैं। सम्भवतः, वैदिक युग के लोग स्थल और जल-मार्गों द्वारा दूर-दूर तक व्यापार के लिये जाते थे। सिन्धु-सभ्यता के काल में भी सामुद्रिक व्यापार का प्रारम्भ हो चुका था। इस काल में वह और भी अधिक विकसित हुआ।

सहायक ग्रन्थ

Das A. C. : Rigvedic Culture.
Winternitz. : History of Sanskrit Literature Vol. I.
Mazumdar R. C. : Ancient Indian History and Civilization.
Jayaswal K. P. : Hindu Polity.
Tripathi. : State in Ancient India.
Kieth : The Age of the Rigveda (in Cambridge History of India Vol. I.)
जयचन्द्र विद्यालंकार : भारतीय इतिहास की रूपरेखा।
राजबली पाण्डेय : भारतीय इतिहास की भूमिका।

आठवां अध्याय

प्राग्-बौद्धकालीन भारत

(१) कुरुदेश की शक्ति का ह्रास

महाभारत के संग्राम में भारत के आर्य-राज्यों के सैनिकों का भारी संख्या में संहार हुआ था। पाण्डव लोग युद्ध में विजयी हुए थे, पर कुरुदेश की दुर्दशा देखकर उनके चित्त में बहुत ग्लानि उत्पन्न हुई थी। इसी कारण वे राज्य के सुख व शक्ति के उपभोग को त्यागकर स्वेच्छापूर्वक हिमालय में तपस्या के लिये चले गये थे। महाभारत के युद्ध से पूर्व भारत के आर्य-राज्यों में सर्वप्रधान कुरुदेश था। मगध के सम्राट् जरासन्ध को कृष्ण की सहायता से परास्त कर पाण्डव लोग भारत की सर्वप्रधान राजनीतिक शक्ति बन गये थे।

परीक्षित--पाण्डव अर्जुन का पुत्र अभिमन्यु था, जो महाभारत की लड़ाई में ही मारा गया था। अभिमन्यु का पुत्र परीक्षित था, जो पाण्डवों के बाद कुरुदेश (राजधानी--हस्तिनापुर) का राजा बना। उसके समय में कुरुदेश इतना निर्बल हो गया था, कि उत्तर-पश्चिमी भारत में निवास करनेवाली नाग-जाति ने हस्तिनापुर पर आक्रमण किया, और उससे लड़ते हुए राजा परीक्षित मारा गया। ये नाग लोग गान्धार देश के निवासी थ। तक्षशिला पर अधिकार जमाकर इन्होंने पहले पंजाब के विविध आर्य-राज्यों को अपने अधीन किया, और फिर कुरुदेश पर भी कब्जा कर लिया। नागों के राजा का नाम तक्षक था। पुराणों में नाग-जाति द्वारा कुरुदेश की पराजय का उल्लेख बड़े आलंकारिक रूप से किया गया है, और सर्पराज तक्षक द्वारा परीक्षित के डसे जाने का वृत्तान्त दिया गया है। पर नाग जाति के लोग सर्प नहीं थे, यह एक आर्य-भिन्न जाति थी। बाद में यह जाति मध्यभारत तक फैल गई, और इसके अनेक राजवंशों ने भारत के विविध राज्यों का शासन किया।

जनमेजय--परीक्षित की मृत्यु के बाद उसका पुत्र जनमेजय कुरुदेश का राजा

बना। वह एक वीर और शक्तिशाली राजा था। उसके शासन-काल में कुरुदेश ने फिर एक बार अपने को संभाला। जनमेजय ने नागों द्वारा हुई अपने पिता की हत्या का बदला लेने का निश्चय किया। उसका यह भी प्रयत्न था, कि हस्तिनापुर की शक्ति का पुनरुद्धार किया जाय। इसके लिये उसने अश्वमेध यज्ञ का आयोजन किया। प्राचीन समय में भारत के आर्य-राजा जब अपनी शक्ति का विस्तार करने के लिये दिग्विजय करते थे, तो उसके बाद वे अश्वमेध यज्ञ करते थे। पुराणों में आलंकारिक रूप से लिखा है, कि यज्ञ के प्रभाव से सर्प या नाग निरन्तर अग्निकुण्ड में गिरकर भस्म होने लगे। नागराज तक्षक ने यज्ञ के प्रभाव से बचने का बहुत उद्योग किया। पर वह सफल नहीं हो सका, और अन्त में स्वयं भी यज्ञकुण्ड की अग्नि द्वारा भस्म हो गया। आलंकारिक रूप से वर्णित इस पौराणिक अनुश्रुति का अभिप्राय यही है, कि राजा जनमेजय ने नाग-जाति को परास्त कर कुरुदेश की शक्ति का पुनरुद्धार किया। पुराणों के अनुसार जनमेजय ने पंजाब में नाग-जाति को परास्त कर तक्षशिला पर भी आक्रमण किया, और वहां नागराज तक्षक का विनाश किया। तक्षशिला पर जनमेजय का अधिकार हो गया, और कुछ समय के लिये तक्षशिला हस्तिनापुर के कौरव-राजाओं की दूसरी राजधानी बन गई। अनुश्रुति के अनुसार सूत वैशम्पायन ने तक्षशिला में ही जनमेजय के सम्मुख वेदव्यास द्वारा संकलित महाभारत का सम्पूर्ण वृत्तान्त गाकर सुनाया था। पुराणों में जनमेजय को 'परपुरंजय' (दूसरों के नगरों को विजय करनेवाला) की उपाधि दी गई है। इसमें सन्देह नहीं, कि वह एक महान् विजेता था, और उसके शासन-काल में कुरुदेश के प्राचीन गौरव का पुनरुद्धार हो गया था।

जनमेजय के उत्तराधिकारी—राजा जनमेजय के बाद शतानीक हस्तिनापुर का राजा बना। इसके समय की किसी घटना का हमें परिज्ञान नहीं है। शतानीक के बाद अश्वमेधदत्त राजा बना। सम्भवतः शतानीक ने भी अश्वमेध यज्ञ किया था, और इसी के उपलक्ष्य में उसने अपने पुत्र का नाम अश्वमेधदत्त रखा था। पुराणों में शतानीक के साथ 'बलवान्' और 'सत्यविक्रम' विशेषणों का उपयोग किया गया है। अश्वमेधदत्त के बाद उसका लड़का अधिसीमकृष्ण राजा बना। पुराणों में इसके समय को वर्तमान काल के रूप में लिखा गया है। इससे यह अनुमान किया जाता है, कि प्राचीन पौराणिक अनुश्रुति के संकलन की जो प्रक्रिया महाभारत के समय में कृष्ण द्वैपायन वेदव्यास ने प्रारम्भ की थी, वह अधिसीमकृष्ण के समय तक जारी रही थी। पुराणों के अनुसार अधिसीमकृष्ण के समयजब में

मुनि लोग नैमिषारण्य में यज्ञ कर रहे थे, तो वहां व्यास द्वारा संकलित पुराणों का सूत लोगों ने पाठ किया था। इसके बाद इतिहास की जो नई अनुश्रुति बनती गई, वह प्राचीन पुराणों में जुड़ती गई, और भविष्यवाणी के रूप में यह पौराणिक अनुश्रुति का अंग बनती गई।

कौरव-वंश का वत्सदेश में प्रस्थान—अधिसीमकृष्ण के बाद उसका पुत्र निचक्षु हस्तिनापुर का राजा बना। इसका शासन-काल कौरव-वंश के इतिहास में बहुत महत्त्व का है। प्राचीन भारतीय साहित्य से सूचित होता है, कि इसके समय में कुरुदेश को अनेक घोर प्राकृतिक विपत्तियों का सामना करना पड़ा। पुराणों के अनुसार इसके समय में गगा में भयंकर बाढ़ आई, और उसके कारण हस्तिनापुर नगर बह गया। अब कौरव-वंश के लिए यह सम्भव नहीं रहा, कि वह हस्तिनापुर में शासन कर सके, और राजा निचक्ष असली कुरुदेश को छोड़कर वत्सदेश म चला गया, और वहां कौशाम्बी नगरी को राजधानी बनाकर शासन करने लगा। कुरुदेश से चले जाने के कारण निचक्षु और उसके उत्तराधिकारी पुराणों में कौरव नहीं कहे गये हैं। हस्तिनापुर का कौरव-वंश स्वयं प्राचीन पौरव-वंश के साथ सम्बद्ध था। प्रतापी राजा कुरु के कारण ही यह प्राचीन पौरव-वंश कौरव कहाने लगा था। वत्सदेश में चले जाने के बाद से पुनः पौरव-वंश कहा जाने लगा।

छान्दोग्य उपनिषद् में एक कथा आती है, जिसके अनुसार कुरुदेश पर टिड्डी दल ने बहुत भयंकरता के साथ आक्रमण किया था, और उसके कारण कुरुदेश की फसलें एकदम नष्ट हो गई थीं। वहां भीख प्राप्त कर सकना भी सम्भव नहीं रहा था, और इस कारण वह देश बिलकुल उजड़ गया था। सम्भवतः, यह घटना भी राजा निचक्षु के समय की है, क्योंकि उपनिषदों की अनेक कथाओं का सम्बन्ध इसी युग के राजाओं के साथ है। ऐसा प्रतीत होता है, कि टिड्डी-दल के आक्रमण और गंगा की भयंकर बाढ़ के कारण कुरुदेश पर इस समय बहुत घोर विपत्ति आई थी, और राजा निचक्ष अपने पूर्वजों के देश को छोड़कर वत्सदेश चले जाने के लिये विवश हुआ था। कौशाम्बी का यह वत्स-राज्य अगले इतिहास में बहुत प्रसिद्ध हुआ, और इसके उदयन आदि अनेक राजा बहुत प्रतापी हुए। इनका उल्लेख हम यथास्थान करेंगे।

सम्भवतः, निचक्षु के कौशाम्बी चले जाने के बाद कुरुदेश में कौरव-वंश की एक एक अन्य शाखा राज्य करती रही। बाद में वहां राजतन्त्र-शासन का अन्त होकर गणतन्त्र-शासन की स्थापना हो गई। मौर्य-वंश के विकास से पूर्व कुरुदेश में गण-

शासन विद्यमान था। आचार्य चाणक्य ने अपने 'अर्थशास्त्र' में कुरुदेश का एक गण के रूप में ही उल्लेख किया है।

(२) तत्त्वचिन्तक राजा

महाभारत-युद्ध के बाद विविध आर्य राजवंशों के राजनीतिक इतिहास के सम्बन्ध में कोई क्रमबद्ध वृत्तान्त नहीं मिलता। पुराणों में इन राजवंशों के राजाओं की नामावली अवश्य दी गई है, पर इन राजाओं के सम्बन्ध में कोई महत्त्वपूर्ण बात उल्लिखित नहीं की गई। फिर भी भारत के अन्य प्राचीन साहित्य द्वारा इन राजाओं में से कतिपय के विषय म कुछ महत्त्व की बातें ज्ञात होती हैं; इस युग के कुछ राजा बड़े तत्त्वज्ञानी और अध्यात्म का चिन्तन करनेवाले थे।

विदेह के जनक—विदेह के राजवंश का उल्लेख पांचवें अध्याय में किया जा चुका है। ऐक्ष्वाकव-वंश के राजा रामचन्द्र का विवाह विदेहराज जनक सीरध्वज की पुत्री सीता के साथ हुआ था। कुरुदेश के राजा निचक्षु के समय से वि`ह में अनेक ऐसे राजा (जिनकी क्रमागत उपाधि जनक होती थी) हुए, जो अध्यात्मज्ञान के लिये बहुत प्रसिद्ध हैं। इनमें जनक जनदेव, जनक धर्मध्वज और जनक आयस्थूण के नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। ये तीनों निचक्षु के समय के बाद क्रमशः विदेह के राजा बने। ये विद्वानों और तत्त्ववेत्ताओं के बड़े आश्रयदाता थे, और इनके साथ सम्बन्ध रखनेवाली अनेक कथायें उपनिषदों में संगृहीत हैं। विशेषतया, बृहदारण्यक उपनिष में राजा जनक की राजसभा में एकत्र ब्राह्मणों और मुनियों की कथा का उल्लेख है, जिसमें याज्ञवल्क्य द्वारा अन्य विद्वानों के परास्त किये जाने का वर्णन है।

केकय के अश्वपति—विदेह जनकों के समान केकयदेश के राजा अश्वपति भी बड़े तत्त्वज्ञानी होते थ। विदेह के सदृश केकय-राज्य भी प्राचीन है। उसकी एक राजकुमारी का विवाह ऐक्ष्वाकव-वंश के राजा दशरथ के साथ हुआ था, और केकय-राज्य की होने के कारण वह कैकेयी कहाती थी। कुरुदेश के राजा जनमेजय का समकालीन केकयदेश (उत्तर-पश्चिमी पंजाब के शाहपुर, गुजरात और जेलहम जिले) का राजा अश्वपति था। छान्दोग्य उपनिषद् में लिखा है, कि उद्दालक आरुणि नाम का एक बड़ा विद्वान् अपने अन्य साथियों के साथ केकयदेश के राजा अश्वपति के पास गया, और अध्यात्मज्ञान-सम्बन्धी अपनी अनेक शंकाओं का समाधान उसने अश्वपति द्वारा कराया। केकयराज अश्वपति न केवल उत्कृष्ट तत्त्वज्ञानी था, अपितु बड़ा कुशल शासक भी था।

उसकी यह गर्वोक्ति छान्दोग्य उपनिषद् में विद्यमान है, कि "मेरे जनपद में न कोई चोर है, न कोई शराबी है, न कोई अपढ़ है, और न कोई ऐसा व्यक्ति है, जो यज्ञ न करता हो। मेरे जनपद में कोई भी व्यभिचारी पुरुष नहीं है, इस दशा में व्यभिचारिणी स्त्री तो कहां से होगी ?"

पंचाल का राजा प्रवाहण जैबालि—कुरुदेश के राजा अश्वमेधदत्त का समकालीन पंचाल का राजा प्रवाहण जैबालि था, जो केकयराज अश्वपति या विदेहराज जनकों के समान ही तत्त्वदर्शी और विद्वान् था। इसके सम्बन्ध में भी उपनिषदों में उल्लेख आता है।

विविध राजाओं के संरक्षण व नेतृत्व में तत्त्वचिन्तन की जो लहर महाभारत-युद्ध के बाद भारत में शुरू हुई, आगे के एक प्रकरण में हम उसपर अधिक विस्तार से प्रकाश डालेंगे।

(३) गण-राज्यों का विकास

प्राचीन गण-राज्य—वैदिक युग में भारतीय आर्यों के विविध राज्यों में राजतन्त्र-शासन विद्यमान थे। पर कतिपय राज्य या जनपद ऐसे भी थे, जिनमें वंशक्रमानुगत राजा का शासन नहीं था। ऐसे राज्यों को गण-राज्य कहा जाता है। वैदिक साहित्य के अनुशीलन से कुछ ऐसे निर्देश मिलते हैं, जिनसे वैदिक काल में भी गण-राज्यों की सत्ता सूचित होती है। वीतहोत्र जन यादवों की एक शाखा था, और अनेक विद्वानों के मत में वहां गण-शासन विद्यमान था। यादवों की ही अन्यतम शाखा अन्धक और वृष्णि गण थे। महाभारत के अनुसार इनमें भी गण-शासन था। एक प्राचीन इतिहास का उल्लेख महाभारत में किया गया है, जिसमें नारद और कृष्ण (वृष्णिगण के मुख्य) का संवाद है। इस संवाद में वासुदेव कृष्ण ने मुनि नारद के सम्मुख वे कठिनाइयां उपस्थित की हैं, जो गण-शासन के मुख्य (प्रधान व अध्यक्ष) के रूप में उन्हें अनुभव होती थीं। नारद ने इन कठिनाइयों पर विजय पाने के उपायों का उपदेश दिया है। नारद के अनुसार कृष्ण की कठिनाइयां आभ्यन्तर आपदों के कारण थीं और इनपर काबू पाने के दो उपाय थे—मृदुवाणी और गण-राज्य के निवासियों व नेताओं का यथायोग्य सत्कार। इस सत्कार के अंगरूप अन्नदान (भोजन आदि द्वारा सम्मान) का भी नारद ने उपदेश किया है। नारद ने यह भी कहा है, कि गण-राज्यों का विनाश परस्पर फूट द्वारा होता है, और उनके मुख्यों को ऐसा उपाय करना चाहिये, जिससे उनमें फूट न पैदा हो। ऐसा प्रतीत होता है, कि महाभारत

के समय में अन्धक, वृष्णि, भोज आदि विविध यादवजनों में गण-राज्य स्थापित थे, और इन गणों का एक संघ भी संगठित था। महाभारत-युद्ध में किस पक्ष में सम्मिलित हुआ जाय, इस विषय पर इस संघ के अन्तर्गत विविध राज्य परस्पर सहमत नहीं हो सके थे। महाभारत-युद्ध की समाप्ति के बाद भी यादवों का यह आन्तरिक मतभेद व विरोध कायम रहा था, और उनमें परस्पर संघर्ष भी हुए थे। इस लड़ाइयों के कारण यादवों की शक्ति बहुत क्षीण हो गई थी, और कृष्ण का अन्तिम जीवन निराशा में व्यतीत हुआ था। कृष्ण मगध के सम्राट् जरासन्ध की हत्या कराके पाण्डवों के उत्कर्ष में तो सहायक हुए थे, पर अपने यादव-संघ की शक्ति व एकता को कायम रखने में उन्हें सफलता प्राप्त नहीं हुई थी।

विदेह में गणतन्त्र की स्थापना—बौद्ध-युग में भारत के बहुत-से जनपदों में गणतन्त्र-शासन की विद्यमान थे। वैदिक काल के अनेक ऐसे जनपद जिनमें पहले वंशक्रमानुगत राजाओं का शासन था, बौद्ध-युग तक गणतन्त्र हो चुके थे। कुरु, पचाल, विदेह आदि कितने ही ऐसे गणराज्य बौद्धकाल में मौर्य-वंश से पूर्व विद्यमान थे, जिनमें पहले वंशक्रमानुगत राजा राज्य करते थे। राजतन्त्र से गणतन्त्र का यह परिवर्तन कैसे हुआ, इस सम्बन्ध में कोई निश्चित विवरण प्राचीन साहित्य में उपलब्ध नहीं होता। प्राचीन ग्रीक-राज्यों में भी इसी प्रकार के परिवर्तन ए थे। इनमें से कुछ का इतिहास हमें ज्ञात भी है। इसी कारण प्राचीन ग्रीक इतिहास बहुत महत्त्वपूर्ण व मनोरंजक है। भारत के इन प्राचीन राज्यों के सम्बन्ध में भी यदि राजतन्त्र से गणतन्त्र में परिवर्तित होने का वृत्तान्त उपलब्ध हो सकता, तो प्राचीन भारतीय इतिहास का महत्त्व बहुत बढ़ जाता।

पर विदेह-राज्य के सम्बन्ध में इस प्रकार के कुछ निर्देश मिलते हैं। महाभारत के शान्तिपर्व में एक कथा आती है, कि विदेह का राजा जनक तत्त्वचिन्तन और ब्रह्मज्ञान में इतना अधिक लीन हो गया था, कि उसे राज्य की कोई भी परवाह नहीं रही थी। वह ऐसा निर्द्वन्द्व व विमुक्त हो गया था, कि मोक्ष उसे नजर-सा आन लगा था। इसीलिये वह कहा करता था—"जब मेरे पास कोई धन न हो, तभी मेरे पास अनन्त धन होगा। अगर मिथिला अग्नि द्वारा भस्म भी हो जाय, तो भी मेरा क्या बिगड़ता है?" जिस राजा की यह मनोवृत्ति हो, वह व्यक्तिगत रूप से चाहे कितना ही ऊंचा और महात्मा क्यों न हो, पर अपने शासन-कार्य को वह कभी कुशलतापूर्वक नहीं चला सकता। जनक की यह मनोवृत्ति होने पर उसकी धर्मपत्नी ने उसे बहुत समझाया। उसने उसे उस प्रतिज्ञा का स्मरण कराया, जो राज्याभिषेक

के समय पर उसने की थी। उसने कहा—तुम्हारी प्रतिज्ञा और थी, पर तुम्हारे कर्म बिलकुल दूसरी तरह के हैं। उसने यह भी समझाया, कि तुम धर्म का सच्चे अर्थों में पालन राजधर्म का अनुसरण करते हुए ही भलीभांति कर सकते हो। पर अपनी पत्नी की कोई बात जनक की समझ में नहीं आई। इसीलिये महाभारत में लिखा है—"इस संसार में राजा जनक कितना तत्त्वज्ञानी प्रसिद्ध है, पर वह भी मूर्खता के जाल में फंस गया था।" संसार के इतिहास में कितने ही राजाओं को अपने राजसिंहासन का परित्याग इसलिये करना पड़ा, क्योंकि वे अपने राजधर्म की उपेक्षा कर प्रजा पर अत्याचार करते थे। पर जनक ने ब्रह्मज्ञान में लीन होकर अपने राजधर्म की उपेक्षा की थी। "मिथिला अगर अग्नि द्वारा भस्म हो जाय, तो भी मेरा क्या बिगड़ता है?" यह मनोवृत्ति एक वीतराग योगी के लिये चाहे उचित हो, पर एक राजा के लिये इसे कभी सहन नहीं किया जा सकता। राजा के लिये यह मनोवृत्ति ठीक वैसी ही है, जैसी कि रोमन-सम्राट नीरो की थी, जो कि रोम में आग लगने पर स्वयं बांसुरी बजाता हुआ उस दृश्य का आनन्द ले रहा था। महाभारत में उल्लिखित राजा जनक की मनोवृत्ति के कारण जनता में उसके विरुद्ध कितना असन्तोष उत्पन्न हुआ होगा, इसकी कल्पना सहज में की जा सकती है।

जनता के इसी असन्तोष का परिणाम शायद यह हुआ, कि जब विदेह के एक अन्य राजा ने प्रजा के साथ अनुचित व्यवहार किया, तो जनता उसके विरुद्ध उठ खड़ी हुई, और बन्धु-बान्धवोंसहित उसका विनाश कर दिया। कौटलीय अर्थशास्त्र में लिखा है, कि दाण्डक्य नामक भोज (राजा) ने काम के वश होकर जब एक ब्राह्मण-कन्या के साथ बलात्कार किया, तो बन्धु-बान्धवों के साथ उसका विनाश हो गया। यही बात वैदेह (विदेह-वंश के) कराल के साथ हुई। सम्भवतः, कराल विदेह का अन्तिम 'जनक' (राजा) था, और काम के वशीभूत होने के कारण जब वह प्रजा पर अत्याचार करने लगा, तो जनता उसके विरुद्ध उठ खड़ी हुई, और उसके शासन का अन्त कर दिया। विदेह के पहले राजा ब्रह्मज्ञान में लीन रहने के कारण राजधर्म की उपेक्षा करते थे, और जब उनमें से एक की वृत्ति कामलोलुप होने के कारण बहुत विकृत हो गई, तो वहां जनक-वंश का शासन स्थिर रह सकना संभव नहीं रहा।

अन्य राज्यों में गणतन्त्र की स्थापना—आचार्य चाणक्य के अर्थशास्त्र में ही कतिपय अन्य ऐसे निर्देश मिलते हैं, जिनमें राजाओं के विरुद्ध विद्रोह का व इस प्रकार उनके नष्ट होने का उल्लेख किया गया है। भोजवंशी दाण्डक्य और

विदेहवंशी कराल के काम के वशीभूत होने के कारण विनाश का जिक्र हमने किया है। अर्थशास्त्र के अनुसार सौवीर अजबिन्दु और राजा ऐल का विनाश इसलिये हुआ, क्योंकि वे अत्यन्त लोभी थे, और उन्होंने चारों वर्णों पर अत्यधिक कर लगाया था। कुरुदेश और पंचालदेश के राजा ऐल-वंश के थे। इन दोनों में वंश-क्रमानुगत राजाओं का अन्त होकर बाद में गणतंत्र-शासन की स्थापना हो गई थी। अर्थशास्त्र में लोभवश 'ऐल' के विनष्ट होने की जो बात लिखी गई है, कोई आश्चर्य नहीं, कि वह कुरु और पंचाल के ऐल-वंशी राजाओं के साथ सम्बन्ध रखती हो। इसी प्रकार के अन्य अनेक उदाहरण देकर अन्त में आचार्य चाणक्य ने लिखा है—ये और अन्य बहुत-से राजा कर्ण, त्वक्, आंख, जीभ, और नासिका—इन पांच इन्द्रियों के ऊपर विजय न करने के कारण न केवल अपने बान्धवों के साथ स्वयं नष्ट हो गये, अपितु अपने राष्ट्रों से भी हाथ धो बैठे। इसमें सन्देह नहीं, कि आचार्य चाणक्य के समय में उन राजाओं का इतिवृत्त विद्यमान था, जिनके विरुद्ध जनता ने विद्रोह किया था, और जिन्हें नष्ट कर जनता ने गणतन्त्र-शासनों की स्थापना की थी।

(४) काशी और कोशल का उत्कर्ष

महाभारत-युद्ध के समय में भारत के आर्य-राज्यों में कुरु सर्वप्रधान था। पर बाद में काशी और कोशल का महत्त्व बढ़ने लगा। नागों के आक्रमण, गंगा की बाढ़ और टिड्डी दल के उत्पात के कारण कुरुदेश की शक्ति का किस प्रकार ह्रास हुआ, यह पहले लिखा जा चुका है। अब उत्तरी भारत में आर्य-राज्यों का नेतृत्व काशी और कोशल के हाथों में आया, और महाभारत-युद्ध और बौद्ध युग के मध्यवर्ती काल में ये दोनों राज्य बहुत शक्तिशाली तथा समृद्ध हो गये।

उपनिषदों के समय में जब कि केकय के अश्वपति, विदेह के जनक और पंचाल के प्रवाहण जैबालि तत्त्वज्ञान में निरत विद्वानों के आश्रयदाता व संरक्षक थे, तभी काशी का राजा अजातशत्रु था, जिसका उल्लेख उपनिषदों में आता है। यह भी अध्यात्मचिन्तक व ब्रह्मज्ञानियों का संरक्षक था। जातक कथाओं में काशी के राजाओं को 'ब्रह्मदत्त' कहा गया है, जो उनकी वंशक्रमानुगत उपाधि थी। ये ब्रह्मदत्त राजा बड़े प्रतापी और समृद्ध थे। अनेक बार वे कोशल देश को भी अपनी अधीनता में लाने में सफल हुए थे। कुछ समय के लिये तो अश्मक-राज्य भी काशी के अधीन हो गया था। अश्मक की राजधानी पोतन या पौदन्य थी। इस राज्य के सम्बन्ध में हम आगे चलकर लिखेंगे। अश्मक को जीतने के कारण दक्षिण

में गोदावरी तक का प्रदेश काशी के साम्राज्य में सम्मिलित हो गया था, और कुछ समय के लिये वह उत्तरी भारत की प्रधान राजनीतिक-शक्ति बन गया था।

कोशल की राजधानी अयोध्या थी, और इसके राजा प्राचीन ऐक्ष्वाकव-वंश के थे। काशी-राज्य की शक्ति के कारण कुछ समय तक कोशल उन्नति के मार्ग पर अग्रसर नहीं रह सका। पर बाद में इसकी बहुत उन्नति हुई। भगवान् बुद्ध के समय तक काशी का उत्कर्ष समाप्त हो गया था, ,और कोशल के राजाओं ने काशी को भी अपने अधीन कर लिया था। जातक-साहित्य के अनुसार काशी को जीतकर अपने अधीन करनेवाले राजा का नाम बक था। बौद्ध-युग में कोशल की राजधानी श्रावस्ती हो गई थी, यद्यपि अयोध्या का महत्त्व अभी कम नहीं हुआ था।

(५) मगध का पुनरुत्थान

महाभारत युद्ध की घटनाओं के साथ मगध के तीन राजाओं का सम्बन्ध था, जरासन्ध, सहदेव और सोमाधि। मगध के बार्हद्रथ-वंश का विवरण पहले दिया जा चुका है। कृष्ण की सहायता से पाण्डवों ने जरासन्ध की हत्या की, और अपनी दिग्विजय के लिये मार्ग साफ किया। जरासन्ध का पुत्र सहदेव महाभारत-युद्ध में पाण्डवों के पक्ष में सम्मिलित हुआ था, और द्रोणाचार्य द्वारा लड़ाई में मारा गया था। सहदेव के बाद सोमाधि मगध का राजा बना। सोमाधि के उत्तराधिकारी बार्हद्रथ-राजाओं की तालिका पौराणिक अनुश्रुति में दी गई है। पर इन राजाओं के सम्बन्ध में किसी महत्त्वपूर्ण घटना का उल्लेख नहीं किया गया। जरासन्ध के बाद मगध की शक्ति बहुत क्षीण हो गई थी। पर बाद में इस शक्ति का पुनरुत्थान शुरू हुआ। सोमाधि के बाद आठवीं पीढ़ी में श्रुतञ्जय नाम का राजा हुआ, जिसे पुराणों में महाबल, महाबाहु और महाबद्धिपराक्रम —इन उपाधियों से विभूषित किया गया है। प्रतीत होता है, कि श्रुतञ्जय के समय में मागध-शक्ति का पुनरुत्थान शुरू हो गया था, और इस राजा के बल तथा बुद्धि-पराक्रम की स्मृति उसके पीछे भी देर तक कायम रही थी।

बार्हद्रथ-वंश के विरुद्ध क्रान्ति—बार्हद्रथ-वंश का अन्तिम राजा रिपुंजय था। उसके अमात्य का नाम पुलिक था। पुलिक ने अपने स्वामी के विरुद्ध विद्रोह करके उसे मार डाला, और अपने पुत्र को मगध के राजसिंहासन पर बिठाया। सम्भवतः, पुलिक जाति से आर्य क्षत्रिय नहीं था। इसीलिये पुराणों में लिखा है, कि सब

क्षत्रिय देखते ही रह गये, और पुलिक ने अपने पुत्र को राजगद्दी पर बिठा दिया। हम पहले लिख चुके हैं, कि मगध में आर्यभिन्न लोगों की प्रधानता थी। वहां की सेना में भृत और श्रेणिबल बड़ी संख्या में थे। प्रतीत होता है, कि पुलिक ने ऐसी ही अनार्य-सेना की सहायता से रिपुञ्जय के विरुद्ध विद्रोह कर उसे मार दिया था। पुराणों में इस पुलिक व इसके पुत्र को 'प्रणतसामन्त' और 'नयवर्जित 'कहा गया है। जिन सामन्तों के सिर उठाने के कारण पिछले बार्हद्रथ-राजा कमजोर हो गये थ, उन्हें उसने भलीभांति काबू में कर लिया था। साथ ही वह नयवर्जित भी था। आर्य-राजाओं की जो पुरानी रीति चली आती थी, उसकी उपेक्षा कर वह अपनी स्वेच्छा से राज्य करता था। पर इस प्रकार के स्वेच्छाचारी एकराट् होने के लिये यह आवश्यक था, कि वह नरश्रेष्ठ हो। पुराणों में उसे 'नरोत्तम' भी कहा गया है। वैयक्तिक गुणों के अभाव में यह कैसे सम्भव था, कि सब क्षत्रिय देखत ही रह जावें, और वह मगध के राजसिंहासन पर अपना अधिकार कर ले।

पर यह पुलिक था कौन ? इस सम्बन्ध में विविध ऐतिहासिकों में जो बहुत-सा मतभेद है, उसकी हम यहां विवेचना नहीं करेंगे। पुलिक मागध-सम्राट् बार्हद्रथ का अमात्य और अवन्ति का शासक था। प्रतीत होता है, कि पिछले दिनों में अवन्ति मगध के अधीन हो गया था, और वहां के स्वतन्त्र वीतिहोत्र-गण का अन्त हो गया था। महाभारत के युद्ध के बाद अवन्ति मं वीतिहोत्र-गण का शासन था। इस वीतिहोत्र-गण का उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। यह यादव-वंश की एक शाखा थी। पिछले किसी बार्हद्रथ-राजा ने अवन्ति को जीतकर मागध-साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया था। पुलिक रिपुंजय की तरफ से अवन्ति पर शासन करता था। पुलिक के दो पु थ, बालक और प्रद्योत। रिपुंजय को मारकर पुलिक ने बालक को मगध का राजा बनाया और प्रद्योत को अवन्ति का। पुलिक की इस राज्य-क्रांति से मगध और अवन्ति दोनों देशों में बार्हद्रथ-वंश के शासन का अन्त हो गया।

मगध में फिर राज्य-क्रान्ति—पर मगध में पुलिक के वंश का शासन देर तक कायम नहीं रह सका। भट्टिय नाम के एक वीर महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति ने पुलिक के पुत्र बालक के विरुद्ध विद्रोह किया, और उसे मारकर स्वयं मगध के राजसिंहासन पर अपना अधिकार कर लिया। यह भट्टिय कौन था ? इसे प्राचीन अनुश्रुति में 'श्रेणिय' कहा गया है। मगध की सैन्य-शक्ति में 'श्रेणिबल' का बड़ा महत्त्व था। उस काल में सैनिकों की अनेक श्रेणियां (Guilds) थीं, जिनका संगठन स्वतन्त्र होता था। श्रेणियों में संगठित इन सैनिकों का पेशा ही यद्ध करना था।

राजा लोग इन सैनिक श्रेणियों को अपने अनुकूल बनाने व उनकी सहायता प्राप्त करने के लिये सदा उत्सुक रहते थे। प्रतीत होता है, कि भट्टिय इसी प्रकार की एक शक्तिशाली सैनिकश्रेणि का नेता था, इसीलिये उसे 'श्रेणिय' कहा गया है। सम्भवतः, पुलिक द्वारा प्रारम्भ की गई क्रान्ति से जो अव्यवस्था मगध में उत्पन्न हो गई थी, उससे लाभ उठाकर भट्टिय ने अपनी शक्ति को बढ़ा लिया और अवसर पाते ही नयवर्जित राजा बालक को राज्यच्युत कर स्वयं राज्य-शक्ति को प्राप्त कर लिया। भट्टिय स्वयं राजगद्दी पर नहीं बैठा। पुलिक द्वारा स्थापित परम्परा का अनुसरण करते हुए उसने अपने लड़के बिम्बिसार को राजगद्दी पर बिठाया। उस समय बिम्बिसार की आयु केवल पन्द्रह वर्ष की थी। भट्टिय के बाद बिम्बिसार 'श्रेणिय' बना। उसकी शक्ति का आधार वह सैनिक श्रेणि थी, जिसके बल पर भट्टिय ने मगध-राज बालक के विरुद्ध विद्रोह किया था।

मगध के शासन में इस समय सैनिकों का जोर था। प्राचीन आर्य-नीति को मगध के राजा देर से छोड़ चुके थे। साम्राज्य-विस्तार की नीति को सफल बनाने के लिये वे वेतन के लालच से भरती हुए व पेशे के तौर पर लड़नेवाले सैनिकों को निरन्तर अधिकाधिक महत्त्व देते रहे। इसी नीति का परिणाम ये दो क्रान्तियां हुईं। आधी सदी से भी कम समय में मगध के राजसिंहासन पर पुराने आर्य-वंश की जगह दो भिन्न-भिन्न सैनिक नेताओं ने अधिकार किया। ये सैनिक सम्राट् पूर्णतया स्वेच्छाचार से शासन का संचालन करते थे। परम्परागत आर्य-नीति की इन्हें कोई भी चिन्ता नहीं थी। पुलिक और भट्टिय, दोनों ने ही मगध के राजाओं को राज्यच्युत कर अपने पुत्रों को राजगद्दी पर बिठाया। मगध के शासन में इस समय कोई भी व्यवस्था शेष नहीं रही थी।

अवन्ति के राजा प्रद्योत को यह सहन नहीं हुआ, कि मगध का राज्य इस प्रकार अपने कुल के हाथ से निकल जावे। इसीलिये उसने मगध पर आक्रमण करने की योजना की। बौद्ध-ग्रन्थ मज्झिमनिकाय के अनुसार बिम्बिसार के उत्तराधिकारी अजातशत्रु ने प्रद्योत के आक्रमण से मगध की रक्षा करने के लिये अपनी राजधानी राजगृह की किलाबन्दी की थी। अवन्ति और मगध के राजाओं में जो घोर संघर्ष इस समय शुरू हुआ, उसका वर्णन हम आगे चलकर करेंगे। इस संघर्ष में मगध के राजाओं को ही सफलता मिली। भृत और श्रेणिबल के कारण मगध की सैनिक शक्ति इतनी बढ़ी-चढ़ी थी, कि अन्य राज्य उसके सम्मुख टिक नहीं सकते थे। सौभाग्य से बिम्बिसार के बाद मगध के सिंहासन पर ऐसे शक्तिशाली राजा आसीन रहे, जो कि इस सैनिक शक्ति को भलीभांति अपने काबू में रख सकते थे।

और इसी का परिणाम यह हुआ, कि धीरे-धीरे सम्पूर्ण भारत में मगध का साम्राज्य विस्तृत हो गया।

सहायक ग्रंथ

Tripathi : History of Ancient India.
Pargiter : Dynasties of the Kali Age.
Jayaswal : Hindu Polity.
Mazumdar : Ancient Indian History and Civilization.
Cambridge History of India, Vol. I.
Smith : Early History of India.
जयचन्द्र विद्यालंकार—भारतीय इतिहास की रूपरेखा भाग १।
सत्यकेतु विद्यालंकार—पाटलिपुत्र की कथा।

नवां अध्याय

प्राग्-बौद्ध-काल का जीवन और संस्कृति

(१) वैदिक साहित्य का विकास

महाभारत-युद्ध के बाद महात्मा बुद्ध के समय तक का राजनीतिक इतिहास बहुत अस्पष्ट है। पर इस काल की सभ्यता, धर्म, जीवन व संस्कृति के सम्बन्ध में परिचय प्राप्त करने की सामग्री की कमी नहीं है, कारण यह कि इस समय में साहित्य का निरन्तर विकास होता रहा। यद्यपि इस युग के साहित्य का बड़ा भाग आजकल उपलब्ध नहीं होता, तथापि जो ग्रन्थ अब प्राप्तव्य हैं, उन्हीं के आधार पर हम इस काल के आर्यों के जीवन के सम्बन्ध में बहुत-सी महत्त्वपूर्ण बातें जान सकते हैं।

वेदांग—वैदिक साहित्य के अंगभूत वैदिक संहिता, ब्राह्मण और आरण्यक (उपनिषद्) ग्रन्थों का विवरण पहले दिया जा चुका है। बाद में वेद सम्बन्धी जिस साहित्य का विकास हुआ, उसे वेदांग कहते हैं। ये वेदांग छः हैं—शिक्षा, छन्द, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष और कल्प। इन छः वेदांगों के साहित्य का परिचय देना यहां बहुत उपयोगी है।

शिक्षा का अभिप्राय उस शास्त्र से है, जिसमें वर्णों व शब्दों का सही उच्चारण प्रतिपादित किया जाता है। इस शास्त्र के प्राचीन ग्रन्थ प्रातिशाख्य कहाते हैं। विभिन्न वैदिक संहिताओं के प्रातिशाख्य निम्नलिखित हैं:—(१) शौनक द्वारा रचित ऋग्वेद-प्रातिशाख्य, (२) तैत्तिरीय-प्रातिशाख्य-सूत्र, (३) कात्यायन द्वारा विरचित वाजसनेयी प्रातिशाख्य-सूत्र और (४) अथर्ववेद-प्रातिशाख्य-सूत्र। इन चार मुख्य प्रातिशाख्यों के अतिरिक्त भारद्वाज, वशिष्ठ, व्यास, याज्ञवल्क्य आदि ऋषियों द्वारा रचित अन्य प्रातिशाख्य-ग्रन्थ भी थे। इन सबमें वेद-मन्त्रों के शुद्ध उच्चारण के ढंग का प्रतिपादन किया गया है। प्राचीन आर्य मन्त्रों के शुद्ध उच्चारण को बहुत महत्त्व देते थे।

शब्द में किस वर्ण या मात्रा पर अधिक जोर देना चाहिये, इसका उनकी दृष्टि में बहुत महत्त्व था। यज्ञ व अन्य धार्मिक अनुष्ठानों में वेद-मन्त्रों का विनियोग तभी पूरा फल दे सकता था, जब कि उसका ठीक उच्चारण किया जाय। इसी कारण, शिक्षा-शास्त्र सम्बन्धी इन ग्रन्थों का विकास हुआ था। प्रातिशाख्यों से पूर्व भी शिक्षा-शास्त्र की सत्ता थी। प्राचीन अनुश्रुति के अनुसार इस शास्त्र का प्रारम्भ बाभ्रव्य ऋषि द्वारा हुआ था।

छन्द-शास्त्र में वैदिक छन्दों का निरूपण किया जाता है। छन्द का यह विषय प्रातिशाख्यों में भी आता है, पर इस शास्त्र का सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ छन्द-सूत्र है, जिसे आचार्य पिंगल ने बनाया था। पिंगल का छन्दसूत्र जिस रूप में आजकल मिलता है, वह शायद बहुत प्राचीन नहीं है। पर इसमें सन्देह नहीं, कि यह प्राचीन छन्द-शास्त्र के आधार पर लिखा गया है।

वेदों को भले प्रकार से समझने के लिये व्याकरण-शास्त्र बहुत उपयोगी है। संस्कृत-भाषा का सबसे प्रसिद्ध व्याकरण ग्रन्थ पाणिनीय अष्टाध्यायी है, जिसे पाणिनि मुनि ने बनाया था। किन्तु पाणिनि की अष्टाध्यायी वेदांग के अन्तर्गत नहीं है, क्योंकि उसमें प्रधानतया लौकिक संस्कृत-भाषा का व्याकरण दिया गया है। वेद या छन्दस् की भाषा के नियम उसमें अपवादरूप से दिये गये हैं। पर अष्टाध्यायी के रूप में संस्कृत-व्याकरण अपने विकास व पूर्णता की चरमसीमा को पहुंच गया था। पाणिनि का काल अन्तिम रूप से निश्चित नहीं हुआ है, पर बहुसंख्यक विद्वान् उन्हें पांचवीं सदी ई० पू० का मानते हैं। उनसे पूर्व अन्य अनेक वैयाकरण हो चुके थे, जिनके प्रयत्नों के कारण ही संस्कृत का व्याकरण इतनी पूर्ण दशा को प्राप्त हुआ था। चन्द्र, इन्द्र आदि अनेक प्राचीन वैयाकरणों के ग्रन्थों की सत्ता के प्रमाण प्राचीन साहित्य में मिलते हैं। यास्क के निरुक्त में शाकपूणि नामक एक आचार्य का उल्लेख आता है, जो व्याकरण-शास्त्र का बड़ा आचार्य था।

निरुक्त-शास्त्र भी एक वेदांग है, जिसमें शब्दों की व्युत्पत्ति या निरुक्ति का प्रतिपादन किया गया है। यास्काचार्य का निरुक्त इस शास्त्र का प्रसिद्ध ग्रन्थ है। यास्क से पूर्व इस शास्त्र के अन्य भी अनेक आचार्य हुए, जिनके मतों का उल्लेख यास्क ने अनेक बार अपने निरुक्त में किया है। पर इनमें से किसी भी आचार्य का ग्रंथ वर्तमान समय में उपलब्ध नहीं होता।

ज्योतिष-शास्त्र भी छः वेदांगों में से एक है। बाद में इस शास्त्र का भारत में बहुत विकास हुआ, और आर्यभट्ट, वराहमिहिर आदि अनेक ऐसे

आचार्य हुए, जिन्होंने इस विद्या को बहुत उन्नत किया। पर प्राचीन युग का केवल एक ग्रन्थ इस समय मिलता है जिसका नाम 'ज्योतिषवेदांग' है। इसमें केवल ४० श्लोक हैं, और सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र आदि का वर्णन है। पर प्राचीन काल में ज्योतिष भलीभांति विकसित था, और वैदिक संहिताओं व ब्राह्मण-ग्रन्थों में ज्योतिष सम्बन्धी अनेक तथ्य पाये जाते हैं।

आर्यों के वैयक्तिक, पारिवारिक और सामाजिक जीवन के क्या नियम हों, वे किन संस्कारों व कर्त्तव्यों का अनुष्ठान करें, इस महत्त्वपूर्ण विषय का प्रतिपादन कल्प-वेदांग में किया गया है। कल्प के तीन भाग हैं—श्रौत, गृह्य और धर्म। ब्राह्मण-ग्रन्थों मे याज्ञिक कर्मकाण्ड का बहुत विशदरूप से प्रतिपादन था। प्रत्येक याज्ञिक व अन्य विधि का इतने विस्तार के साथ वर्णन उनमें किया गया था, कि सर्वसाधारण जीवन व व्यवहार में उनका सुगमता के साथ उपयोग सम्भव नहीं था। अतः यह आवश्यकता अनुभव की गई, कि वैदिक अनुष्ठानों को संक्षेप के साथ प्रतिपादित किया जाय। श्रौत सूत्रों की रचना इसी दृष्टि से की गई। इन्हें ब्राह्मण-ग्रन्थों का सार कहा जा सकता है, यद्यपि वैदिक विधियों में कुछ परिवर्तन व संशोधन भी इनसे सूचित होता है। गृह्य सूत्रों में आर्य गृहस्थ के उन विधि-विधानों का वर्णन है जो उसे आवश्यक रूप से करने चाहियें। जन्म से मृत्युपर्यन्त आर्य गृहस्थ को अनेक धर्मों का पालन करना होता है, अनेक संस्कार करने होते हैं, व अनेक अनुष्ठानों का सम्पादन करना होता है। इन सबका प्रतिपादन गृह्य-सूत्रों में किया गया है। एक व्यक्ति के दूसरे व्यक्ति के प्रति या समाज के प्रति जो कर्त्तव्य हैं, व दूसरों के साथ बरतते हुए उसे जिन नियमों का पालन करना चाहिये, उनका विवरण धर्मसूत्रों में दिया गया है।

वर्तमान समय में जो सूत्र-ग्रन्थ उपलब्ध होते है, उनमें अधिक महत्त्वपूर्ण निम्नलिखित हैं—गोतम धर्म-सूत्र, बौधायन सूत्र, आपस्तम्ब सूत्र, मानव-सूत्र, काठक सूत्र, कात्यायन श्रौत सूत्र, पारस्कर गृह्यसूत्र, आश्वलायन श्रौत सूत्र, आश्वलायन गृह्य-सूत्र, सांख्यायन श्रौत-सूत्र, सांख्यायन गृह्य-सूत्र, लाट्यायन श्रौतसूत्र, गोभिलगृह्य-सूत्र, कौशिक सूत्र और वैतान श्रौत-सूत्र। इन विविध सूत्र-ग्रन्थों के नामों से ही यह बात सूचित होती है, कि इनका निर्माण विविध प्रदेशों में और विविध सम्प्रदायों में हुआ था। प्राचीन भारत में विविध आचार्यों द्वारा ज्ञान व चिन्तन के पृथक्-पृथक् सम्प्रदायों का विकास हुआ था, और इन सम्प्रदायों में विधि-विधान, विचार व ज्ञान की अपनी-

अपनी परम्परा जारी रहती थी। भारतीय आर्यों के प्राचीन जीवन को भली भांति समझने के लिये इन सूत्र-ग्रन्थों का अनुशीलन बहुत उपयोगी है।

उपवेद--छः वेदांगों के अतिरिक्त इस युग में चार उपवेदों का भी विकास हुआ। ये उपवेद निम्नलिखित हैं--आयुर्वेद, धनुर्वेद, शिल्पवेद और गान्धर्ववेद। चिकित्सा-सम्बन्धी ज्ञान आयुर्वेद के अन्तर्गत हैं। चरक, सुश्रुत आदि आचार्यों ने चिकित्सा-शास्त्र-सम्बन्धी जो ग्रन्थ लिखे थे, वे आजकल उपलब्ध होते हैं। पर ये आचार्य बौद्ध-काल में व उसके बाद हुए थे। प्राग्बौद्ध-काल का आयुर्वेद-सम्बन्धी कोई ग्रन्थ इस समय उपलब्ध नहीं होता। पर चरक, सुश्रुत आदि ग्रन्थों के अनुशीलन से यह ज्ञात होता है, कि उनसे पूर्व बहुत-से आचार्य ऐसे हो चुके थे, जिन्होंने आयुर्वेद का विकास किया था। उपनिषदों में श्वेतकेतु नामक आचार्य का उल्लेख आया है, जो उद्दालक आरुणि का पुत्र था। यह श्वेतकेतु केवल ब्रह्मज्ञानी ही नहीं था, अपितु साथ ही प्रजनन-शास्त्र और कामशास्त्र का भी पण्डित था। ये शास्त्र आयुर्वेद के अन्तर्गत थे। श्वेतकेतु के समान अन्य भी अनेक विद्वान् इस युग में हुए, जिनके प्रयत्न से आयुर्वेद-विज्ञान का भारत में विकास हुआ। धनुर्वेद, शिल्पवेद और गान्धर्ववेद पर बाद के समय में बने हुए अनेक ग्रन्थ इस समय उपलब्ध होते हैं। पर अभी तक कोई ऐसी पुस्तक इन विषयों पर नहीं मिली है, जिसे निश्चितरूप से प्राग्बौद्ध-काल का कहा जा सके। पर इन विद्याओं का उपवेद समझा जाना ही इस इस बात का स्पष्ट प्रमाण है, कि प्राचीन आर्य केवल याज्ञिक अनुष्ठान और ब्रह्मविद्या का ही चिन्तन नहीं करते थे, अपितु चिकित्सा, युद्ध-विद्या, शिल्प और संगीत आदि लौकिक विषयों का भी अनुशीलन करते थे।

अन्य विद्यायें--वैदिक संहिताओं और उनसे सम्बद्ध विषयों के अतिरिक्त अन्य किन विद्याओं का अनुशीलन इस युग के आर्य करते थे, इस विषय में छान्दोग्य उपनिषद् का एक सन्दर्भ बहुत महत्त्व का है। इस उपनिषद् के सप्तम प्रपाठक में महर्षि सनत्कुमार और नारद का संवाद आता है, जिसमें सनत्कुमार के यह पूछने पर कि नारद ने किन-किन विषयों का अध्ययन किया है, नारद ने इस प्रकार उत्तर दिया--"हे भगवन्! मैंने ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद का अध्ययन किया है, मैंने पंचमवेद इतिहास पुराण को पढ़ा है, मने पितृविद्या, राशिविद्या (गणित), दैवविद्या, निधि-विद्या, (खान-सम्बन्धी विद्या), वाक्योवाक्य (तर्क-शास्त्र), एकायन (नीति-शास्त्र), देव-विद्या,

ब्रह्मविद्या (अध्यात्म-शास्त्र), भूतविद्या, क्षत्र-विद्या (युद्ध-शास्त्र), नक्षत्र-विद्या (ज्योतिष), सर्प-विद्या और देवजन-विद्या को पढ़ा है। छान्दोग्य उपनिषद् का यह सन्दर्भ इस विषय में कोई सन्देह नहीं रहने देता, कि महाभारत के बाद इस देश में अनेक लौकिक विद्याओं का भलीभांति विकास हो गया था, और नारद-जैसे विद्वान् इन विविध विषयों के अनुशीलन में निरन्तर तत्पर रहते थे।

अर्थशास्त्र या दण्ड-नीति—अन्य अनेक लौकिक विद्याओं के समान इस युग में दण्ड-नीति या अर्थशास्त्र का भी भलीभांति विकास हुआ। महाभारत का शान्तिपर्व राजधर्मशास्त्र का अत्यन्त उत्कृष्ट व विशद ग्रंथ है। उससे इस युग की राजनीति व राजनीतिक विचारों पर बहुत सुन्दर प्रकाश पड़ता है। कौटलीय अर्थशास्त्र की रचना बौद्ध-काल के बाद में हुई। पर उसमें अनेक प्राचीन आचार्यों का उल्लेख मिलता है, जिनकी सम्मति को बार-बार आचार्य चाणक्य ने उद्धृत किया है। इनमें से कतिपय के नाम निम्नलिखित हैं—भारद्वाज, विशालाक्ष, पराशर, पिशुन, कौणपदन्त, वातव्याधि और बाहुदन्तीपुत्र। इन आचार्यों के अतिरिक्त चाणक्य ने मानव, बार्हस्पत्य, औशनस आदि अनेक सम्प्रदायों का भी उल्लेख किया है, जिनमे दण्डनीति व राजनीतिशास्त्र सम्बन्धी विविध विचारधाराओं का विकास हुआ था। कौटलीय अर्थशास्त्र में इनके मतों का उल्लेख कर उस पर अपनी सम्मति भी दी गई है। यह इस बात का प्रमाण है, कि प्राग्बौद्ध-काल में राजनीति-शास्त्र का बहुत विकास हुआ था। यदि इन आचार्यों और सम्प्रदायों के दण्डनीति सम्बन्धी ग्रंथ इस समय उपलब्ध होते, तो हम इस युग के राजनीतिक जीवन के सम्बन्ध में बहुत-कुछ ज्ञान प्राप्त कर सकते थे। शुक्र-नीतिसार नाम से राजनीति-शास्त्र-सम्बन्धी जो ग्रन्थ इस समय मिलता है, वह औशनस सम्प्रदाय का है। शुक्र राजनीति के बहुत बड़े आचार्य थे। उनकी सम्मति में दण्डनीति ही एकमात्र ऐसी विद्या थी, जिसे 'विद्या' कहा जा सकता था। शुक्राचार्य की सम्मति में अन्य सब विद्यायें दण्डनीति के ही अन्तर्गत हो जाती हैं। शुक्रनीतिसार का वर्तमान रूप चाहे बाद के समय में बना हो, पर इसमें सन्देह नहीं, कि उसमें शुक्राचार्य के या औशनस सम्प्रदाय के परम्परागत विचार संकलित हैं।

दर्शन-शास्त्र का विकास—भारत की प्राचीन परम्परा के अनुसार छः आस्तिक दर्शन हैं। इनके नाम निम्नलिखित हैं—सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा और वेदान्त—ये छः दर्शन आस्तिक व वेदसम्मत माने जाते

हैं। इनके अतिरिक्त कतिपय अन्य दर्शनों का विकास भी प्राचीन समय में हुआ था, जिन्हें नास्तिक व लोकायत कहा जाता था। दर्शन-शास्त्रों द्वारा प्राचीन आर्य विद्वान् सृष्टि के मूल-तत्त्वों का परिचय प्राप्त करने का उद्योग करते थे। ब्राह्मण-ग्रन्थों और श्रौत-सूत्रों का विषय याज्ञिक कर्मकाण्ड व विधि-विधान का प्रतिपादन करना है। आरण्यकों या उपनिषदों में ब्रह्म-विद्या या अध्यात्मशास्त्र का विवेचन किया गया है। पर दर्शन-ग्रंथों में वैज्ञानिक (दार्शनिक) पद्धति से यह जानने का यत्न किया गया है, कि इस सृष्टि के मूल-तत्त्व क्या हैं, यह किस तत्त्व से या किन तत्त्वों से व किस प्रकार निर्मित हुई, और इसका कोई स्रष्टा है या नहीं। इस प्रकार के विवेचन को 'दर्शन' कहा जाता था। भारत का सबसे पहला दार्शनिक शायद कपिल मुनि था, जो महाभारत-युद्ध के बाद उपनिष दों के निर्माण काल में हुआ था। जिस प्रकार वाल्मीकि को भारत का आदिकवि माना जाता है, वैसे ही कपिल भारत का प्रथम दार्शनिक था। उसने सांख्य-दर्शन का प्रतिपादन किया। जड़ और चेतन—दोनों प्रकार की सत्ताओं को निश्चित संख्याओं में विभक्त कर कपिल ने प्रकृति सम्बन्धी विवेचन के लिये एक वैज्ञानिक पद्धति का अनुसरण किया। बाद के विद्वानों ने कपिल की शैली का अवलम्बन कर सांख्य-दर्शन की बहुत उन्नति की। शंकराचार्य के समय तक सांख्य का भारतीय दर्शनों में प्रमुख स्थान था। कपिल मुनि ने सृष्टि के निर्माण के लिये किसी कर्ता या स्रष्टा की आवश्यकता अनुभव नहीं की। प्रकृति पहले अव्यक्तरूप में विद्यमान थी, इस दशा में उसे 'प्रधान' कहते थे। यह प्रधान ही बाद में 'व्यक्त' होकर प्रकृति के रूप में आया।

कपिल के समान अन्य भी अनेक विचारक इस युग में हुए, जिन्होंने प्रकृति के मूल-तत्त्वों के सम्बन्ध में मौलिक विचार अभिव्यक्त किये। कणाद वैशेषिक दर्शन का प्रवर्तक था। सृष्टि की उत्पत्ति परमाणुओं द्वारा हुई, इस मत का प्रतिपादन कणाद ने किया। न्याय-दर्शन का प्रवर्तक गौतम था, जिसने पञ्चभूत के सिद्धान्त का प्रारम्भ किया। वेदान्त के मत में सृष्टि की उत्पत्ति ब्रह्म द्वारा हुई। ब्रह्म चेतन सत्ता है, जो अपने को सृष्टि रूप में अभिव्यक्त करती है। वेदान्त दर्शन का प्रवर्त्तक मुनि वेदव्यास को माना जाता है। यह निश्चित नहीं किया जा सका है, कि ये सब दार्शनिक मुनि किस समय में हुए। षड्दर्शनों के जो ग्रन्थ स समय मिलते हैं, वे बाद के समय के बने हुए हैं। पर इन ग्रन्थों में जो विचार व सिद्धान्त प्रतिपादित हैं, उन्हें

विकसित होने में बहुत समय लगा था। यह सहज में माना जा सकता है, कि प्राग् बौद्ध-काल में जब अनेक ब्रह्मवादी ऋषि उपनिषद् के विचारों का विकास कर रहे थे, तभी अन्य मुनि या विचारक लोग दार्शनिक पद्धति द्वारा सृष्टि के मूल-तत्त्वों के चिन्तन में तत्पर थे। दर्शन-शास्त्र को ही 'आन्वीक्षकी' विद्या भी कहते थे। अन्वीक्षकी शब्द अन्वीक्षण से बना है, जिसका अर्थ है दर्शन। आचार्य चाणक्य के समय (मौर्य-युग) तक सांख्य, योग और लोकायत—इन तीन दार्शनिक पद्धतियों का भलीभांति विकास हो चुका था। लोकायत का अभिप्राय चार्वाक-दर्शन से है। चार्वाक-सम्प्रदाय के लोग न केवल ईश्वर को नहीं मानते थे, अपितु वेद में भी विश्वास नहीं रखते थे। प्राचीन वैदिक श्रुति का आदर भारत के सब आर्यों में था, पर धीरे-धीरे ऐसे विचारक भी उत्पन्न होने लगे थे, जो वेद तक के प्रामाण्य से इनकार करते थे। वस्तुतः, यह युग ज्ञान-पिपासा, स्वतन्त्र विचार और दार्शनिक चिन्तन का था।

(२) वैदिक और उत्तर-वैदिक युग

भारत के प्राचीन आर्य ऋषियों ने जिन सूक्तों (सुभाषितों) का निर्माण किया, वे वैदिक संहिताओं में संगृहीत हैं। अपने पूर्वज ऋषियों की इन कृतियों का आर्य-जाति की दृष्टि में बहुत महत्त्व था। ये सूक्त मुख्यतया विविध देवताओं की स्तुति में कहे गये थे। बाद में इन वैदिक सूक्तों की व्याख्या के लिये व याज्ञिक अनुष्ठानों में इनके विनियोग के लिये ब्राह्मण-ग्रन्थों की रचना हुई। उपनिषदों व आरण्यक ग्रंथों में वे विचार संकलित किये गये, जो अध्यात्मचिन्तन के सम्बन्ध में थे। संहिता, ब्राह्मण और आरण्यक—ये तीनों वैदिक साहित्य के अन्तर्गत माने जाते है, यद्यपि आर्य-जाति की दृष्टि में जो आदर मूल संहिताओं का है, वह ब्राह्मण-ग्रन्थों व आरण्यकों का नहीं है। इसमें सन्देह नहीं, कि ब्राह्मण और आरण्यक वैदिक संहिताओं की अपेक्षा बाद के समय के हैं। वेदों का बड़ा भाग महाभारत-युद्ध से पहले अपने वर्तमान रूप में आ चुका था। पर ब्राह्मणग्रन्थों और आरण्यकों (उपनिषदों) का निर्माण प्रधानतया महाभारत-युद्ध के बाद में हुआ। इसीलिये इतिहास में हम वैदिक संहिताओं के युग को या महाभारत-युद्ध से पहले के काल को बैदिक युग कहते हैं, और ब्राह्मणों व उपनिषदों के काल को उत्तर वैदिक युग। उत्तर वैदिक युग के अन्तर्गत ही वह समय भी आ जाता है, जब कि सूत्र-ग्रन्थों व अन्य वेदांगों का विकास हुआ। रामायण, महाभारत और पुराण (जिन्हें प्राचीन परम्परा के अनुसार 'इति-

हास-पुराण' कहा जाता है) इस युग के बाद के नहीं *। अपने वर्तमान रूप में तो वे बौद्ध-काल के भी बाद में आये, पर उनमें जो अनुश्रुति संगृहीत है, उसका संबंध वैदिक और उत्तर-वैदिक काल के साथ ही है। इसीलिये एतिहासिकों ने अब भारतीय इतिहास को लिखते हुए वैदिक, उत्तर-वैदिक, सूत्र-धर्म-शास्त्र, ऐतिहासिक काव्य (ईपिक)—इस ढंग के काल-विभाग की परिपाटी को छोड़ दिया है।

वैदिक संहिताओं के आधार पर प्राचीन आर्यों के जीवन, सभ्यता और संस्कृति पर हम पहले प्रकाश डाल चुके हैं। अब हम ब्राह्मण-ग्रन्थों, उपनिषदों, सूत्र-ग्रन्थों व अन्य वेदांगों के आधार पर आर्यों की सभ्यता के विकास की विवेचना करेंगे। साथ ही रामायण, महाभारत व अन्य प्राचीन ग्रंथों का भी इसके लिये उपयोग करेंगे, क्योंकि इन ग्रन्थों के अनेक अंश प्राग्-बौद्ध-काल में विकसित हो चुके थे।

इस प्रसंग में हमें यह भी स्पष्ट करना है, कि प्राचीन भारत के अनेक ग्रन्थ किसी एक व्यक्ति की कृति न होकर एक 'सम्प्रदाय' की कृति हैं। हमने पिछले प्रकरण में मानव, औशनस, बार्हस्पत्य आदि सम्प्रदायों का उल्लेख किया है। प्राचीन भारत में जब कोई प्रतिभाशाली मुनि व आचार्य किसी नये विचार व सिद्धान्त का प्रतिपादन करता था, तो उसकी शिक्षा वह अपने शिष्यों को देता था। मुनि द्वारा प्रतिपादित नया विचार गुरु-शिष्य-परम्परा द्वारा निरन्तर विकसित होता जाता था, और इस प्रकार एक नये सम्प्रदाय (धार्मिक सम्प्रदाय नहीं, अपितु विचार-सम्प्रदाय) का विकास हो जाता था। बृहस्पति, उशना (शुक्र), मनु आदि इसी प्रकार के विचारक थे, जिनकी शिष्य-परम्परा में बार्हस्पत्य, औशनस, मानव आदि सम्प्रदायों का विकास हुआ। कपिल, कणाद, गोतम आदि मुनियों की शिष्य-परम्परा ने सांख्य, वैशेषिक, न्याय आदि दार्शनिक सम्प्रदायों का विकास किया। वैदिक मन्त्रों के विनियोग और याज्ञिक अनुष्ठान के भी अनेक सम्प्रदाय बने, और यह प्रक्रिया ज्ञान व चिन्तन के प्रत्येक क्षेत्र में जारी रही। इसी का यह परिणाम हुआ, कि दर्शन, दण्डनीति, कल्प (श्रौत, गृह्य और धर्म) आदि विषयक जो ग्रन्थ इस समय हमें मिलते हैं, वे सब सम्प्रदायों की कृति हैं। उन सबका विकास धीरे-धीरे अपने-अपने सम्प्रदायों में हुआ। उनका वर्तमान रूप चाहे बाद का हो, पर उनमें संकलित विचारों का प्रारम्भ उत्तर-वैदिक युग में ही हो चुका था।

(३) धर्म और तत्त्वचिन्तन

याज्ञिक विधि-विधान—वैदिक युग में आर्य-धर्म का क्या स्वरूप था, इस पर हम पिछले अध्याय में प्रकाश डाल चुके हैं। वेदों के देवता प्राकृतिक शक्तियों के मूर्तरूप थे। संसार को मूलशक्ति प्रकृति के विविध रूपों में जिस प्रकार अभिव्यक्त होती है, उनमें वैदिक आर्यों ने अनेक देवताओं की कल्पना की थी। आर्य लोग इन देवताओं के रूप में विश्व की मूलभूत अधिष्टातृ शक्ति की उपासना करते थे। इन देवताओं की पूजा और तृप्ति के लिये वे यज्ञों का अनुष्ठान करते थे। प्रारम्भ में इन यज्ञों का रूप बहुत सरल था। यज्ञकुण्ड में अग्नि का आधान कर उसमें आहुति दी जाती थी, और इस प्रकार देवताओं को तृप्त किया जाता था। पर धीरे-धीरे इन यज्ञों का रूप बहुत जटिल होता गया। उत्तर-वैदिक काल में यज्ञों की जटिलता अपने चरम उत्कर्ष को पहुंच गई थी। आर्य-जनता के एक भाग का यही कार्य था, कि वह याज्ञिक विधि-विधानों में प्रवीणता प्राप्त करे, और उसकी प्रत्येक विधि का सही तरीके-से अनुष्ठान करे। इन लोगों को 'ब्राह्मण' कहते थे। यज्ञ के लिये वेदी की रचना किस प्रकार की जाय, वेदी में अग्नि कैसे प्रज्वलित की जाय, किस प्रकार आहुतियां दी जायं, यज्ञ करते हुए यजमान ऋत्विक्, अध्वर्यु आदि कहां और किस प्रकार बैठें, वे अपने विविध अंगों को किस प्रकार उठावें, किस प्रकार मन्त्रोच्चारण करें, कैसे ज्ञात हो कि अब देवता यज्ञ की आहुति का ग्रहण करने के लिये पधार गये हैं, किन पदार्थों की आहुति दी जाय—इस प्रकार के विविध विषयों का बड़े विस्तार के साथ ब्राह्मण- न्थों में विवेचन किया गया है। किस याज्ञिक विधि का क्या प्रयोजन है, यह विषय भी उनमें विशद रूप से वर्णित है। जन्म से मृत्युपर्यन्त प्रत्येक गृहस्थ को अनेक प्रकार के यज्ञ करने होते थे। मनुष्य के वैयक्तिक जीवन के साथ सम्बन्ध रखनेवाले संस्कारों का स्वरूप भी यज्ञ का था। यज्ञ-प्रधान इस प्राचीन धर्म को स्पष्ट करने के लिये यहां हम इन संस्कारों व यज्ञों का संक्षेप से उल्लेख करते हैं—

(१) गर्भाधान-संस्कार—सन्तानोत्पत्ति के लिये।
(२) पुंसवन-संस्कार—पुरुष-सन्तान की प्राप्ति के लिये।
(३) सीमन्तोन्नयन-संस्कार—गर्भ की रक्षा के लिये।
(४) जातकर्म-संस्कार—सन्तान के उत्पन्न होने पर।

(५) नामकरण-संस्कार—सन्तान का नाम रखने के लिये ।
(६) अन्नप्राशन-संस्कार—सन्तान को अन्न देना प्रारम्भ करने के लिये।
(७) चूडाकर्म-संस्कार—सन्तान के बाल काटने के लिये ।
(८) उपनयन-संस्कार—विद्याध्ययन शुरू करने से पूर्व यज्ञोपवीत देने के लिये ।
(९) समावर्तन-संस्कार—शिक्षा की समाप्ति पर ।
(१०) विवाह-संस्कार—गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने के लिये ।
(११) देव-यज्ञ—गृहस्थ के लिये यह आवश्यक है, कि वह प्रतिदिन अग्निहोत्र करे, इसी को देवयज्ञ कहते थे ।
(१२) पितृयज्ञ—पितरों का श्राद्ध या गुरुजनों की सेवा ।
(१३) भूतयज्ञ—पशु, पक्षी, कृमि आदि को अर्पित की जानेवाली बलि ।
(१४) अतिथि-यज्ञ—अतिथियों की सेवा ।
(१५) ब्रह्म-यज्ञ—विद्वानों व प्रतिष्ठित व्यक्तियों की सेवा । देव, पितृ, भूत, अतिथि और ब्रह्म-यज्ञ—ये पांच महायज्ञ कहे गये हैं, जिन्हें सम्पादित करना प्रत्येक गृहस्थ का धर्म था । गृहस्थ का यह कर्त्तव्य माना जाता था, कि वह प्रतिदिन इन पांचों यज्ञों को करे।
(१६) अष्टका-यज्ञ—यह कृष्णपक्ष की अष्टमी के दिन किया जाता था । कार्तिक मास से माघ मास तक, चार महीनों में कृष्णपक्ष की अष्टमी को यह यज्ञ होता था ।
(१७) श्रावणी—श्रावणी मास की पूर्णिमा को किया जानेवाला यज्ञ।
(१८) आग्रहायणी—आग्रहायण मास की पूर्णिमा को किया जाने वाला यज्ञ ।
(१९) चैत्री—चैत्र मास की पूर्णिमा को किया जानेवाला यज्ञ ।
(२०) आश्वयुजी—आश्विन मास की पूर्णिमा को किया जानेवाला यज्ञ।
(२१) दर्शपूर्णमास्य—पूर्णमासी और प्रतिपदा के दिन किये जानेवाले यज्ञ ।
(२२) आग्रयण—नई फसल तैयार होने के अवसर पर किये जानेवाले यज्ञ।
(२३) चातुर्मास्य—शीत, ग्रीष्म और वर्षा—इन तीन ऋतुओं के प्रारम्भ काल में किये जानेवाले यज्ञ ।
(२४) सौत्रामणी—अश्विन् देवताओं की पूजा के लिये यज्ञ ।
(२५) अग्निष्टोम—सोमपान के लिये किया जानेवाला यज्ञ ।

(२६) व्रात्यस्तोम—आर्य-भिन्न व्रात्य आदि जातियों को आर्य-जाति में सम्मिलित करने के लिये किया जानेवाला यज्ञ।

(२७) राजसूय—नये राजा के राज्याभिषेक से पूर्व यह यज्ञ किया जाता था। राज्य की विविध जनता के प्रतिनिधि इस अवसर पर राजा का अभिषेक करते थे।

(२८) अश्वमेध—जब कोई राजा दिग्विजय करके अपनी शक्ति का विस्तार करता था, तो इस विजय-यात्रा के उपलक्ष में यह यज्ञ किया जाता था।

यज्ञों की जो तालिका हमने यहां दी है, वह पूर्ण नहीं है। यहां हमने केवल अधिक महत्त्व के संस्कारों और यज्ञों का उल्लेख किया है। इनके अतिरिक्त अन्य भी अनेक यज्ञ थे, जिनका प्राचीन भारत में अनुष्ठान किया जाता था। इन सब यज्ञों की विस्तृत विधि ब्राह्मण-ग्रन्थों और कल्प (श्रौत और गृह्यसूत्रों) में वर्णित है। इसमें सन्देह नहीं, कि उत्तर-वैदिककाल में यज्ञों का रूप बहुत जटिल और आडम्बरपूर्ण हो गया था। प्राचीनतम काल में इन यज्ञों में पशुओं की बलि दी जाती थी या नहीं, इस विषय पर मतभेद हो सकता है। पर उत्तर-वैदिक काल में अजा, अश्व आदि की पशु-बलि प्रारम्भ हो गई थी, यह बात निश्चय के साथ कही जा सकती है। उत्तर-वैदिक युग के आर्य यह भी मानने लगे थे, कि यज्ञों के विधिपूर्वक अनुष्ठान से मनुष्य यथाभिलषित फल प्राप्त कर सकता है, और सुख, समृद्धि, स्वर्ग आदि की प्राप्ति के लिये ये अनुष्ठान ही एकमात्र उपाय हैं।

तत्त्वचिन्तन की लहर— पर इस युग के आर्य केवल याज्ञिक अनुष्ठानों में ही व्यापृत नहीं थे, उनका ध्यान ब्रह्मविद्या तथा तत्त्वचिन्तन की ओर भी गया था। यज्ञों से इहलोक और परलोक दोनों में सुख प्राप्त होता है, यह मानते हुए भी वे इस प्रकार के विषयों के चिन्तन में तत्पर थे, कि मनुष्य क्या है? जिसे हम आत्मा कहते हैं, उसका क्या स्वरूप है? शरीर और आत्मा भिन्न हैं या एक ही हैं? मरने के बाद मनुष्य कहां जाता है? इस सृष्टि का कर्ता कौन है? इसका नियमन किस शक्ति द्वारा होता है? इसी प्रकार के प्रश्नों की जिज्ञासा थी, जो अनेक मनुष्यों को इस बात के लिये प्रेरित करती थी, कि वे गृहस्थ-जीवन से विरत होकर या सांसारिक सुख-समृद्धि की उपेक्षा कर एकनिष्ठ हो तत्त्व-ज्ञान को प्राप्त करें। उस युग के ग्रामों और नगरों के बाहर जंगल के प्रदेशों में अनेक विचारकों ने अपने आश्रम बनाये थे, जहां

ब्रह्मविद्या या तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के लिये आतुर हुए लोग एकत्र होते थे, और तप व स्वाध्याय द्वारा ज्ञान की अपनी प्यास को बुझाते थे। इस युग के अनेक राजा भी ऐसे हुए, जो इस प्रकार के विचार में तत्पर थे। विदेह के जनक, कैकय के अश्वपति, काशी के अजातशत्रु और पंचालदेश के प्रवाहण जैवलि का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। ये सब राजा न केवल स्वयं तत्त्वचिन्तक थे, अपितु इसी प्रकार का चिन्तन करनेवाले मुनियों व विचारकों के आश्रयदाता भी थे। उनकी राजसभा में भारत के विभिन्न प्रदेशों से मुनिलोग एकत्र होते थे, और अध्यात्मविषयक प्रश्नों पर विचार करते थे। राजा लोग भी इस विचार में हिस्सा लेते थे, और विविध विचारकों में जिसका पक्ष प्रबल होता था, उसकी धन आदि से पूजा भी करते थे।

बृहदारण्यक उपनिषद् में कथा आती है, कि जनक वैदेह ने एक बड़े यज्ञ का आयोजन किया, जिसमें कुरु और पंचाल देश के ब्राह्मण लोग एकत्र हुए। जनक ने निश्चित किया, कि जो ब्राह्मण सबसे अधिक विद्वान् होगा, उसे हजार गौवें दी जावेंगीं, और इन गौओं के सींगों के साथ दस-दस स्वर्ण-मुद्रायें बंधी होंगी। इस पर ब्राह्मणों में परस्पर विवाद होने लगा। अन्त में याज्ञवल्क्य को विजय हुई। उसने अन्य सब ब्राह्मणों को शास्त्रार्थ में परास्त किया, और हजार गौओं को विजयोपहार के रूप में प्राप्त किया। याज्ञवल्क्य के साथ इस शास्त्रार्थ का विषय अध्यात्म-सम्बन्धी था, और उससे परास्त होने वाले विद्वानों में केवल कुरु-पंचाल के ही ब्राह्मण नहीं थे, अपितु मद्रदेश और शाकल नगरी के भी विद्वान् थे। इसी प्रकार की कथायें इस युग के अन्य राजाओं के सम्बन्ध में भी उपनिषदों में पाई जाती हैं।

याज्ञिक कर्मकाण्ड की जटिलता से आरण्यक आश्रमों में चिन्तन करने-वाले ये विद्वान् सहमत नहीं थे। वे अनुभव करते थे, कि यज्ञों द्वारा मनुष्य यथेष्ट फल नहीं प्राप्त कर सकता। इसीलिये उनका कथन था, कि यज्ञ-रूपी ये नौकायें अदृढ़ हैं, संसार-सागर से तरने के लिये इनका भरोसा नहीं किया जा सकता। यज्ञ के स्थान पर इन विचारकों ने तप, स्वाध्याय और सदाचरण पर जोर दिया। वे कहते थे, मानव-जीवन की उन्नति और परमपद की प्राप्ति के लिये यह आवश्यक है, कि मनुष्य अपनी इन्द्रियों को वश में रखे, वाणी और मन पर नियन्त्रण रखे, तप और ब्रह्मचर्य का सेवन करे, दृढ़ संकल्प हो, आत्मा और ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करे और ईश्वर में

ध्यान लगाये। शरीर से भिन्न जो आत्मा है, जिसके कारण शरीर को शक्ति प्राप्त होती है, उसको जानने और उसपर ध्यान देने से ही मनुष्य उन्नति के मार्ग पर अग्रसर हो सकता है, यह इन तत्त्वचिन्तकों का उपदेश था। इनका कथन था, यह आत्मा बलहीन मनुष्य को नहीं मिल सकता, तप के अभाव में प्रमादी मनुष्य इसे कदापि प्राप्त नहीं कर सकता।

इन्हीं विचारों से प्रेरित होकर इस युग के अनेक मनुष्यों की प्रवृत्ति यज्ञों से विमुख हो गई, और भारत में तत्त्वचिन्तन की उस लहर का प्रारम्भ हुआ, जिसने इस देश में बहुत से मुनि, योगी व तपस्वी उत्पन्न किये। ये लोग सांसारिक सुखों को हेय समझते थे, सन्तान धन और यश की अभिलाषा से ऊपर उठते थे, और ज्ञान की प्राप्ति को ही अपना ध्येय मानते थे। इनके चिन्तन के कारण भारत में जो नया ज्ञान विकसित हुआ, वही उपनिषदों और दर्शन-ग्रन्थों में संगृहीत है। निःसन्देह, ये अपने विषय के अत्यन्त उत्कृष्ट और गम्भीर ग्रन्थ हैं।

भागवत-धर्म—यज्ञों के जटिल कर्मकाण्ड के विरुद्ध जो प्रतिक्रिया तत्त्वचिन्तक मुनियों द्वारा शुरू हुई थी, उसका एक महत्त्वपूर्ण परिणाम भागवत-धर्म का प्रारम्भ हुआ। बौद्ध-युग के बाद यह धर्म भारत का सबसे प्रमुख धर्म बन गया, और गुप्त-सम्राटों के समय में इस धर्म ने न केवल भारत में अपितु भारत से बाहर भी बहुत उन्नति की। पर इस धर्म का प्रारम्भ महाभारत-युद्ध के समय में व उससे कुछ पूर्व ही हो गया था। एक प्राचीन अनुश्रुति के अनुसार राजा वसु चैद्योपरिचर के समय में याज्ञिक अनुष्ठानों के सम्बन्ध में एक भारी विवाद उठ खड़ा हुआ था। कुछ ऋषि यज्ञों में पशुओं की बलि देने के विरुद्ध थे, और कुछ पुरानी परम्परा का अनुसरण करना चाहते थे। राजा वसु ने अपने यज्ञों में पशुबलि देने के विरुद्ध परिपाटी का अनुसरण किया, और स्वयं हरि (भगवान्) उससे सन्तुष्ट हुए। यद्यपि पुरानी प्रथा के अनुयायी अनेक ऋषि इस बात से वसु से बहुत नाराज थे, पर क्योंकि वसु भगवान् का सच्चा भक्त था, अतः भगवान् ने उसे अपनाया, और उसके समय से भगवत्-पूजा की एक नई पद्धति का प्रारम्भ हुआ। वसु के बाद सात्वत लोग इस नई पद्धति के अनुयायी हुए। सात्वत लोग यादव वंश की एक शाखा थे, और मथुरा के समीपवर्ती प्रदेश में आबाद थ। मथुरा के क्षेत्र के अन्धक वृष्णि गण के निवासी लोग

सात्वत ही थे। सात्वत लोगों का यह विश्वास था, कि हरि सब देवों का देव है, अन्य सब देवता उसकी विविध शक्तियों के प्रतीक मात्र हैं। इस देवों के देव हरि की पूजा के लिये न याज्ञिक कर्मकाण्ड का उपयोग है, और न ही जंगल में बैठकर तपस्या करने का। इसकी पूजा का सर्वोत्तम उपाय भक्ति है, और हरि की भक्ति के साथ-साथ अपने कर्त्तव्यों को कुशलता के साथ करते रहने में ही मनुष्य का कल्याण है। सात्वत लोग यज्ञों के विरोधी नहीं थे, और न ही वे तपस्या को निरुपयोगी समझते थे। पर उनका विचार था, कि ये सब बातें उतने महत्त्व की नहीं हैं, जितना कि हरिभक्ति और कर्त्तव्यपालन। सात्वत यादवों में वासुदेव कृष्ण, कृष्ण के भाई संकर्षण ओर संकर्षण के वंशज प्रद्युम्न और अनुरुद्ध ने इस नये विचार को अपनाया और सात्वत लोगों में इस विचार का विशेषरूप से प्रचार हुआ। वासुदेव कृष्ण और उसके अनुयायी सात्वत लोग यज्ञों में पशुहिंसा के विरोधी थे, ओर भगवान् की भक्ति व निष्काम-कर्म के सिद्धान्त पर बहुत जोर देते थे। वसु चैद्योपरिचर के समय में जिस नई विचारधारा का सूत्र-रूप में प्रारम्भ हुआ था, वासुदेव कृष्ण द्वारा वह बहुत विकसित हुई। इसी विचारधारा को भागवत व एकान्तिक धर्म कहते हैं। इसके प्रधान प्रवर्त्तक वासुदेव कृष्ण ही थे, जो वृष्णि (सात्वत) संघ के 'मुख्य' थे, और जिनकी सहायता से पाण्डवों ने मगधराज जरासन्ध को परास्त किया था। कृष्ण न केवल उत्कृष्ट राजनीतिज्ञ थे, अपितु भागवत सम्प्रदाय के महान् आचार्य भी थे। कुरुक्षेत्र के मैदान में अर्जुन को आत्मा की अमरता और निष्काम-कर्म का जो उपदेश उन्होंने दिया था, भगवद्गीता में उसी का विशदरूप से वर्णन है। गीता भागवत-धर्म का प्रधान ग्रन्थ है। इसे उपनिषदों का सार कहा जाता है। प्राचीन मुनियों और विचारकों द्वारा भारत में तत्त्वचिन्तन की जो लहर चली थी, उसके कारण यज्ञप्रधान वैदिक धर्म में बहुत परिवर्तन हो गया था। उपनिषदों के तत्त्व-चिन्तन के परिणामस्वरूप जिस भागवत-धर्म का प्रादुर्भाव हुआ, उसमें याज्ञिक अनुष्ठानों का विरोध नहीं किया गया था। यज्ञों की उपयोगिता को स्वीकार करते हुए उसमें एक सर्वोपरि शक्ति की सत्ता, आत्मा की अमरता, कर्म-मार्ग की उत्कृष्टता और हरिभक्ति की महिमा का प्रतिपादन किया गया था। पुराने भारतीय धर्म में सुधार करने के लिये बौद्ध और जैन आदि जो नये धर्म बाद में उत्पन्न हुए, वे वैदिक श्रुति में विश्वास नहीं करते थे। प्राचीन वैदिक धर्म के साथ अनेक अंशों में उनका विरोध था। पर

वासुदेव कृष्ण के भागवत-धर्म का उद्देश्य वैदिक मर्यादा, प्राचीन परम्परा और याज्ञिक अनुष्ठानों को कायम रखते हुए धर्म के एक ऐसे स्वरूप का प्रतिपादन करना था, जो नये चिन्तन के अनुकूल था। बौद्ध-युग के बाद इस धर्म का जिस ढंग से उत्कर्ष हुआ, उस पर हम आगे चलकर विचार करेंगे।

(४) शासन-विधि

जनपदों का विकास--वैदिक युग के आर्य-राज्यों का स्वरूप 'जन-राज्य' का था, क्योंकि उनका आधार 'जन' होता था। एक जन के सब व्यक्ति प्राय: 'सजात' होते थे। कुरु, पंचाल, शिवि, मद्र, केकय, गान्धार आदि जो राज्य वैदिक युग में विद्यमान थे, वे सब जनराज्य ही थे। जिस स्थान या प्रदेश पर यह जन बसा होता था, उसे जनपद व राष्ट्र कहते थे। धीरे-धीरे इन जनपदों में अन्य लोग (जो सजात नहीं थे) भी बसने शुरू हुए, और वे सब उसके अंग या प्रजा बन गये। इन जनपदों में किसी कबीले या जन के प्रति भक्ति की अपेक्षा उस प्रदेश के प्रति भक्ति अधिक महत्त्व की बात हो गई। विविध जनपदों के परस्पर संघर्ष के कारण महाजनपदों का विकास शुरू हुआ। काशी, कोशल, मगध आदि जो राज्य बौद्ध-काल में थे, उत्तर-वैदिक काल के साहित्य में उन्हें महाजनपद ही कहा गया है।

शासन के भेद--इन सब जनपदों में शासन का प्रकार एक-सा नहीं था। कुछ राज्यों में राजतन्त्र शासन था, तो कुछ में गणतन्त्र। ऐतरेय ब्राह्मण की अष्टम पंजिका में एक सन्दर्भ आता है, जिसमें उस युग के विविध शासन-प्रकारों का परिगणन किया गया है। इस सन्दर्भ के अनुसार प्राची दिशा (मगध, कलिंग, बंग आदि) के जो राजा हैं, उनका 'साम्राज्य' के लिये अभिषेक होता है, और वे सम्राट् कहाते हैं। दक्षिण दिशा में जो सात्वत (यादव) राज्य हैं, वहां का शासन 'भोज्य' है, और उनके शासक भोज कहे जाते हैं। प्रतीची दिशा (सुराष्ट्र, कच्छ, सौवीर आदि) का शासन-प्रकार 'स्वाराज्य' है, और उसके शासक 'स्वराट्' कहाते हैं। उत्तर-दिशा में हिमालय के क्षेत्र में (उत्तर-कुरु, उत्तर मद्र आदि जनपद) जो राज्य हैं, वहां 'वैराज्य' प्रणाली है, और वहां के शासक विराट् कहाते हैं। मध्यदेश (कुरु, पंचाल, कोशल आदि) के राज्यों के शासक

'राजा' कहे जाते हैं। इस प्रकार ऐतरेय ब्राह्मण में साम्राज्य, भोज्य, स्वाराज्य, वैराज्य और राज्य—इन पांच प्रकार की शासन-विधियों का उल्लेख है। ये प्रणालियां किस-किस क्षेत्र में प्रचलित थीं, इसका निर्देश भी ऐतरेय ब्राह्मण में कर दिया गया है। सम्राट् वे शासक थे, जो वंशक्रमानुगत होते हुए अपनी शक्ति के विस्तार के लिये अन्य राज्यों का मूलोच्छेद करने के लिये तत्पर थे। जरासन्ध आदि मगध के सम्राट् इसी प्रकार के थे। सम्भवतः, भोज उन राजाओं की संज्ञा थी, जो वंशक्रमानुगत न होकर कुछ निश्चित समय के लिये अपने पद पर नियुक्त होते थे। सात्वत यादवों (अन्धक, वृष्णि आदि) में यह प्रथा विद्यमान थी, और हम यह जानते हैं, कि वासुदेव कृष्ण इसी प्रकार के भोज या 'संघ-मुख्य' थे। स्वराट् वे शासक थे, जिनकी स्थिति 'समानों में ज्येष्ठ' की होती थी। इन स्वाराज्यों में कतिपय कुलीन श्रेणियों का शासन होता था, और सब कुलों की स्थिति एक समान मानी जाती थी। समानों में से ज्येष्ठ व्यक्ति को ही स्वराट् नियत किया जाता था। सम्भवतः वैराज्य जनपद वे थे, जिनमें कोई राजा नहीं होता था, जहां जनता अपना शासन स्वयं करती थी। कुरु, पंचाल आदि मध्यदेश के जनपद 'राज्य' कहाते थे, और वहां प्राचीन काल की परम्परागत शासन-प्रणाली विद्यमान थी।

राजा का राज्याभिषेक—ब्राह्मण-ग्रन्थों में राजा की राज्याभिषेक-विधि का विशदरूप से वर्णन किया गया है, और इस वर्णन से उस युग के राजा व शासन-प्रकार पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। जब किसी व्यक्ति को राजा के पद पर अधिष्ठित किया जाता था, तो राजसूय-यज्ञ का अनुष्ठान किया जाता था। राजसूय-यज्ञ के बिना कोई व्यक्ति राजा नहीं बन सकता था। राजसूय से पूर्व राजा के पद पर अधिष्ठित होनेवाला व्यक्ति 'रत्नियों' को हवि प्रदान करता था, या उनकी पूजा करता था वैदिक युग में कतिपय लोग 'राज-कृतः' (राजा को बनानेवाले) होते थे। जो उसे राजचिह्न के रूप में 'मणि' (रत्न) प्रदान करते थे। इस युग में राजकृतः का स्थान रत्नियों ने ले लिया था। ये रत्नी निम्नलिखित होते थे—(१) सेनानी, (२) पुरोहित, (३) राजन्य या स्वयं राजा, (४) राजमहिषी, (५) सूत, (६) ग्रामणी, (७) क्षत्ता, (८) संगृहीता, (९) भागदुघ, (१०) अक्षवाप, (११) गोविकर्ता और (१२) पालागल। इन बारह रत्नियों में से कतिपय नामों को स्पष्ट करने की आवश्यकता है। सूत राज्यविषयक इतिवृत्त का संकलन करते थे। प्रत्येक ग्राम का एक ग्रामणी होता था, यह पहले बता चुके हैं। बारह रत्नियों में जो ग्रामणी

था, वह या तो राज्य के अन्तर्गत विविध ग्रामों के ग्रामणियों का मुख था और या राज्य के मुख्य ग्राम (पुर या नगर) का ग्रामणी। राजकीय कुटुम्ब के प्रबन्धकर्त्ता को क्षत्ता कहते थे। राज्यकोष के नियन्ता को संगृहीता कहते थे। राज्यकर को वसूल करनेवाले प्रधान अधिकारी को भागदुघ कहा जाता था। आय-व्यय का हिसाब रखनेवाला प्रधान अधिकारी अक्षवाप कहा जाता था। जंगल-विभाग का प्रधान गोविकर्त्ता कहाता था। पालागल का कार्य राजकीय सन्देशों को पहुंचाना होता था। मैत्रायणी संहिता में पालागल के स्थान पर तक्ष व रथकार का अन्यतम रत्नी के रूप में उल्लेख किया गया है। इसमें सन्देह नहीं, कि ब्राह्मण-युग के ये बारह रत्नी राज्य की जनता के प्रधान व्यक्ति होते थे, और राज्याभिषेक से पूर्व राजा इन सबको हवि प्रदान करके उनके प्रति प्रतिष्ठा की भावना को प्रदर्शित करता था। क्योंकि राजा स्वयं भी राज्य का एक महत्त्वपूर्ण अंग था, अतः उसे भी रत्नियों के अन्तर्गत किया गया है।

रत्नहवि प्रदान करने के बाद राजसूय-यज्ञ के जो विविध अनुष्ठान होते थे, उनका यहां विवरण देने की आवश्यकता नहीं। पर दो बातों का उल्लेख करना आवश्यक है—(१) राजा को एक प्रतिज्ञा करनी होती थी, एक शपथ लेनी होती थी, जिसमें वह कहता था, कि यदि मैं प्रजा के साथ किसी भी तरह से द्रोह करूं, उसपर अत्याचार करूं, तो मेरा वह सब इष्टापूर्त (शुभ कर्म) नष्ट हो जायं, जो मैं जन्म से मृत्यु पर्यन्त करता हूं। राजा के लिये यह आवश्यक था, कि वह 'धृत-वृत' और 'सत्यधर्मा' हो, अभिषेक के समय की हुई प्रतिज्ञा का उल्लंघन न करे। (२) प्रतिज्ञा के बाद राजा की पीठ पर दण्ड से हलका-हलका आघात किया जाता था, जिसका प्रयोजन यह था, कि राजा अपने को दण्ड (व्यवस्था या कानून) से ऊपर न समझे, और उसे यह मालूम रहे, कि वह जहां औरों को दण्ड दे सकता है, वहां उसे भी दण्ड दिया जा सकता है।

कल्प-वेदांग के अन्तर्गत धर्मसूत्रों से भी इस युग के राजा व कानून आदि के सम्बन्ध में अनेक महत्त्वपूर्ण बातें ज्ञात होती हैं। राजा का एक मुख्य कर्त्तव्य यह था, कि वह अपराधियों को दण्ड दे। आपस्तम्ब-धर्मसूत्र में लिखा है, कि 'यदि राजा एक दण्डनीय अपराध के लिये दण्ड नहीं देता, तो उसे अपराधी समझना चाहिये।' गौतम-धर्मसूत्र के अनुसार जो राजा न्यायपूर्वक दण्ड देकर अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं करता, उसे प्रायश्चित्त करना चाहिये।

बौधायन-सूत्र के अनुसार 'यदि राजा चोर को दण्ड नहीं देता, तो चोरी का पाप राजा को लगता है।' सूत्र-ग्रन्थों के अनुसार व्यवहार या कानून का स्रोत राजा नहीं है, राजा अपनी इच्छा के अनुसार कानून नहीं बनाता। वेद, पुराण आदि में जो नियम प्रतिपादित हैं, विविध जनपदों के जो परम्परागत चरित्र हैं, कृषक शिल्पी व्यापारी आदि के जो व्यवहार हैं, वे ही कानून के आधार हैं। राजा को उन्हीं के अनुसार शासन करना चाहिये, और उन्हीं का पालन कराना राजा का कर्त्तव्य है। कानून का उल्लंघन करनेवालों को दण्ड देने के लिये न्यायाधीशों की नियुक्ति की जाती थी। आपस्तम्ब-धर्मसूत्र के अनुसार "पूर्ण विद्वान्, पवित्र-कुलोत्पन्न, वृद्ध, तर्क में निपुण और अपने कर्त्तव्यों के पालन में सावधान व्यक्ति को ही अभियोगों के निर्णय के लिये न्यायाधीश बनाना चाहिये।" कानून सब लोगों के लिये एक समान था, पर दण्ड देते हुए अपराधी की स्थिति को दृष्टि में रखा जाता था। गौतम-धर्मसूत्र के अनुसार यदि कोई शूद्र किसी वस्तु को चुरा ले, तो उसे उस वस्तु का आठगुना मूल्य दण्ड के रूप में देना होगा। यदि कोई ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्य किसी वस्तु को चुराये, तो उसे वस्तु का सोलहगुना मूल्य दण्ड के रूप में देना होगा। यदि कोई महाविद्वान् चोरी करे, तो उससे और भी अधिक जुरमाना वसूल होना चाहिये। अन्य प्रकार के अपराधों के लिये भी दण्ड-व्यवस्था का विशद वर्णन धर्मसूत्रों में किया गया है, पर यहां उसका उल्लेख कर सकना सम्भव नहीं है।

उत्तर-वैदिक काल में शासन-कार्य में राजा को परामर्श देने के लिये व राजकीय कानूनों के निर्माण के लिये किसी राजसभा की सत्ता थी या नहीं, इस सम्बन्ध में कोई निश्चित निर्देश उपलब्ध नहीं होते। पर ऐसा प्रतीत होता है, कि वैदिक युग की सभा और समिति नामक संस्थायें किसी अन्य रूप में इस समय भी विद्यमान थीं। वाशिष्ठ-धर्मसूत्र के अनुसार राजा को जहां मन्त्रियों के साथ परामर्श करना चाहिये, वहां साथ ही नागरों की भी सम्मति लेनी चाहिये। रामायण में पौर-जानपद नामक जिन संस्थाओं का उल्लेख है, उनमें से पौरसंस्था को ही शायद वाशिष्ठ-धर्मसूत्र में नागर कहा गया है।

(५) सामाजिक जीवन

वर्णभेद—वैदिक युग के आर्यों में वर्णभेद का विकास नहीं हुआ था, यह हम पहले प्रदर्शित कर चुके हैं। पर प्राग्-बौद्धकाल में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र का भेद पर्याप्त स्पष्टरूप में आ गया था। वैदिक युग के रथेष्ठ (रथी) और

राजन्य (राजपरिवार के व्यक्ति) लोगों से मिलकर क्षत्रिय वर्ग का निर्माण हुआ। यह स्वाभाविक था, कि सर्वसाधारण विशः से इसे अधिक ऊंचा माना जाय। यज्ञों के विधि-विधान जब अधिक जटिल हो गये, तो ऐसी एक पृथक् श्रेणी का विकास हुआ, जो इन अनुष्ठानों में विशेष निपुणता रखती थी। ऋत्विग्, अध्वर्यु, ब्रह्मा आदि के रूप में याज्ञिक विधियों के विशेषज्ञ जनता में अधिक ऊंचा स्थान प्राप्त करने लगे। अरण्यों व आश्रमों में निवास करने वाले ब्रह्मवादियों और तत्त्वचिन्तकों को भी इसी विशिष्ट वर्ग में गिना जाने लगा, और इस प्रकार याज्ञिकों और मुनियों द्वारा एक नये वर्ग का प्रादुर्भाव हुआ, जिसे ब्राह्मण कहा जाता था। ब्राह्मणों और क्षत्रियों के अतिरिक्त जो सर्वसाधारण आर्य जनता थी, उसे पहले की तरह ही विशः या वैश्य कहा जाता था। इसमें सब प्रकार के शिल्पी, पशुपालक, वणिक्, कृषक् आदि सम्मिलित थे। शूद्र वर्ण आर्यविशः से वैदिक युग में भी पृथक् था। इस प्रकार अब ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चारों वर्ण आर्य जनता में प्रगट हो गये थे। जो लोग अध्ययन-अध्यापन, याज्ञिक अनुष्ठान व तत्त्वचिन्तन में लगे रहते थे, वे ब्राह्मण कहाते थे। बाह्य और आभ्यन्तर शत्रुओं से देश की रक्षा करना और शासन-कार्य में हाथ बटाना क्षत्रियों का कार्य था। सर्वसाधारण जनता वैश्य कहाती थी। समाज में जो सबसे निम्न वर्ग था, और जो अन्य वर्णों की सेवा द्वारा अपना निर्वाह करता था, उसे शूद्र कहते थे। विद्या की प्राप्ति ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य वर्ण के लोग ही करते थे, इसीलिये उन्हें 'द्विज' भी कहते थे। विद्या द्वारा मनुष्य दूसरा जन्म प्राप्त करता है, यह विचार उस काल में विद्यमान था। विद्यारम्भ के समय पर द्विज लोग यज्ञोपवीत धारण करते थे, और यह सूत्र उनके द्विजत्व का चिह्न होता था।

पर यहां यह ध्यान रखना चाहिये, कि अभी वर्णभेद बहुत दृढ़ नहीं हुआ था। वर्णभेद का मुख्य आधार जन्म न होकर कर्म था। सारी आर्य जनता एक है, यह भावना अभी विद्यमान थी। याज्ञिक अनुष्ठान व सैनिक वृत्ति आदि की विशिष्टता के कारण ही ब्राह्मण और क्षत्रिय लोग अन्य आर्य-विशः की अपेक्षा अधिक ऊंची स्थिति रखते थे। पर अभी यह स्थिति नहीं आई थी, कि ब्राह्मण और क्षत्रिय-कुल में उत्पन्न हुए बिना कोई व्यक्ति इन वर्णों में न जा सके। आपस्तम्ब-धर्मसूत्र के अनुसार "धर्माचरण द्वारा निकृष्ट वर्ण का व्यक्ति अपने से उत्तम वर्ण को प्राप्त करता है, और अधर्म का आचरण करने से उत्कृष्ट वर्ण का व्यक्ति अपने से निचले वर्ण में हो जाता है।" आपस्तम्ब

की यह उक्ति उस युग की वास्तविक स्थिति को सूचित करती है। राजा शन्तनु के भाई देवापि ने याज्ञिक अनुष्ठान में दक्षता प्राप्त करके ब्राह्मण-पद प्राप्त किया था, और राजन्य शन्तनु के यज्ञ कराये थे। इसी प्रकार के कितने ही उदाहरण प्राचीन अनुश्रुति में प्राप्त होते हैं। विविध वर्णों में विवाह भी सम्भव था। महर्षि च्यवन ने राजन्य शर्याति की कन्या के साथ विवाह किया था। अनुलोम-विवाहों (अपने से निचले वर्ण की कन्या के साथ विवाह) की प्रथा प्रचलित थी। शूद्र कन्याओं को अनेक सम्पन्न पुरुष 'रामा' (रमणार्थ) के रूप में भी अपने घर में रखते थे। शूद्र वर्ग आर्यविशः से पृथक् था, पर फिर भी यदि कोई शूद्र विशिष्ट रूप से धार्मिक, विद्वान् व दक्ष हो, तो समाज में उसका आदर होता था। ऐतरेय ब्राह्मण में कथा आती है, कि ऋषि लोग सरस्वती नदी के तट पर यज्ञ कर रहे थे, उस समय ऐलूष कवष नामका व्यक्ति उनके बीच में आ बैठा। तब ऋषियों ने कहा, यह दासी का पुत्र अब्राह्मण है, हमारे बीच में कैसे बैठ सकता है। बाद में ऋषियों ने कहा, यह तो परम विद्वान् है, देवता लोग भी इसे जानते हैं।

चार आश्रम—प्राचीन आर्यों के सामाजिक जीवन में चार आश्रमों का बहुत महत्त्व था। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास—ये चार आश्रम माने जाते थे। इन आश्रमों की कल्पना का आधार यह विचार था, कि प्रत्येक मनुष्य चार ऋण लेकर उत्पन्न होता है। प्रत्येक मनुष्य देवताओं, ऋषियों, पितरों और अन्य मनुष्यों के प्रति ऋणी होता है। सूर्य, वरुण, अग्नि आदि देवताओं का मनुष्य ऋणी होता है, क्योंकि इन्हीं की कृपा से वह प्रकाश, जल, उष्णता आदि प्राप्त करता है। इनके बिना वह अपना जीवन-निर्वाह नहीं कर सकता। अतः मनुष्य का कर्त्तव्य है, कि वह देवताओं की पूजा करे, यज्ञ आदि द्वारा उनके ऋण को अदा करे। अपने साथ के अन्य मनुष्यों के ऋण को अदा करने के लिये अतिथि-यज्ञ का विधान था। ऋषियों के प्रति मनुष्य का जो ऋण है, उसे चुकाने का यही उपाय था, कि मनुष्य उस ज्ञान को कायम रखे व उसमें वृद्धि करे, जो उसे पूर्वकाल के ऋषियों की कृपा से प्राप्त हुआ था। इसके लिये मनुष्य को ब्रह्मचर्य-आश्रम में रहकर ज्ञान उपार्जन करना चाहिये, और बाद में वानप्रस्थ-आश्रम में प्रवेश करके अपने ज्ञान को ब्रह्मचारियों व अन्तेवासियों को प्रदान करना चाहिये। अपने माता-पिता (पितर) के प्रति मनुष्य का जो ऋण है, उसे गृहस्थाश्रम में प्रवेश करके ही अदा किया जा सकता है। गृहस्थ-धर्म से सन्तानोत्पत्ति करके अपने पितरों के वंश को जारी रखना, वंशतन्तु

का उच्छेद न होने देना प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य माना जाता था। संन्यास-आश्रम में प्रवेश करके मनुष्य अपने साथी मनुष्यों का उपकार करने में ही अपने सारे समय को व्यतीत करता था, और इस प्रकार वह मनुष्य-ऋण को भी अदा करता था। पर हर कोई मनुष्य संन्यासी नहीं हो सकता था। जो व्यक्ति विशेषरूप से ज्ञानवान् हो, सब प्राणियों में आत्मभावना रखने की सामर्थ्य जिसमें हो, वही संन्यासी बनकर भैक्षचर्या (भिक्षा-वृत्ति) द्वारा निर्वाह करने का अधिकारी था। संन्यासी किसी एक स्थान पर स्थिर होकर निवास नहीं कर सकता था। उसका कर्तव्य था, कि वह सर्वत्र भ्रमण करता हुआ लोगों का उपकार करे। इसीलिये उसे 'परिव्राजक' भी कहते थे। वान-प्रस्थ लोग शहर या ग्राम से बाहर आश्रम बनाकर रहते थे और वहां ब्रह्म-चारियों को विद्यादान करते थे। ब्रह्मचारी अपने घर से अलग होकर वानप्रस्थी गुरुओं के आश्रमों में निवास करते थे, और गुरुसेवा करते हुए ज्ञान का उपार्जन करते थे। गृहस्थाश्रम को बहुत ऊंची दृष्टि से देखा जाता था। वाशिष्ठसूत्र में लिखा है, कि जिस प्रकार सब बड़ी और छोटी नदियां समुद्र में जाकर विश्राम पाती है, उसी प्रकार सब आश्रमों के मनुष्य गृहस्थ पर ही आश्रित रहते हैं। जैसे बच्चे अपनी माता की रक्षा में ही रक्षित रहते है, वैसे ही सब भिक्षुक व संन्यासी गृहस्थों की ही रक्षा में रहते हैं। गृहस्थ-आश्रम को नीचा समझने और संन्यास व भिक्षुधर्म को उत्कृष्ट समझने की जो वृत्ति बौद्ध-युग में विद्यमान थी, वह इस प्राचीन युग में नहीं पाई जाती। बड़े-बड़े ऋषि, मुनि और याज्ञिक अपने तत्त्वचिन्तन व याज्ञिक अनुष्ठानों के लिये गृहस्थ-धर्म से विमुख होने की आवश्यकता इस युग में नहीं समझते थे।

स्त्रियों की स्थिति—उत्तर-वैदिक काल में स्त्रियां भी पुरुषों के समान ब्रह्म-चर्य-व्रत का पालन कर विद्याध्ययन करती थीं। 'ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्' इस प्राचीन श्रुति से इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता, कि युवापति को प्राप्त करने के लिये कन्यायें भी ब्रह्मचर्यपूर्वक जीवन बिताती थीं, और इस समय का उपयोग ज्ञानोपार्जन के लिये करती थीं। गोभिल-गृह्यसूत्र के अनुसार जब कोई कुमारी विवाह के लिये मण्डप में आती थी, तो वह न केवल वस्त्रों से भलीभांति आच्छादित होती थी, पर साथ ही यज्ञोपवीत को भी धारण किये होती थी। यज्ञोपवीत विद्याध्ययन का चिह्न था। स्त्रियां भी शिक्षा प्राप्त करती थीं, इसी का यह परिणाम था, कि अनेक स्त्रियां परम विदुषी बन सकी थीं, और उनके ज्ञान व विद्या की उत्कृष्टता का

परिचय हमें उपनिषदों द्वारा प्राप्त होता है। वैदेह जनक की राजसभा में 'ब्रह्मवादिनी' स्त्रियों का भी एक दल था, जिनमें प्रमुख गार्गी थी। जनक की राजसभा में गार्गी ने याज्ञवल्क्य के साथ शास्त्रार्थ किया था। ऐतरेय ब्राह्मण में कुमारी गन्धर्वगृहीता का उल्लेख आता है, जो परम विदुषी और वक्तृता में अत्यन्त चतुर थी। पर इसमें सन्देह नहीं, कि कतिपय अपवादों को छोड़कर सर्वसाधारण स्त्रियां विवाह द्वारा गृहस्थ-धर्म के निर्वाह में तत्पर रहती थीं। इस युग में माता के पद को बहुत ऊंचा और पवित्र समझा जाता था। वाशिष्ठ-सूत्र में लिखा है, कि उपाध्याय की अपेक्षा दशगुण अधिक प्रतिष्ठित आचार्य है, आचार्य से सौगुना अधिक प्रतिष्ठित पिता है, और पिता से सहस्र-गुण अधिक प्रतिष्ठा-योग्य माता है। माता के पद के प्रति यह आदर की भावना इस युग की संस्कृति की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है।

प्राचीन भारतीय इतिहास के अनेक विद्वानों ने मध्ययुग के भारत में स्त्रियों की हीन स्थिति को दृष्टि में रखकर यह कल्पना की है, कि प्राचीन युग में भी उनकी सामाजिक स्थिति हीन थी। पर इस युग के साहित्य के अनुशीलन से इस मन्तव्य की पुष्टि नहीं होती। वैदिक और उत्तर-वैदिक युग में जहां स्त्रियां ऋषि व ब्रह्मवादिनी हो सकती थीं, वहां सर्वसाधारण आर्य स्त्रियां 'उपनीत' होकर विद्याध्ययन करती थीं, और फिर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करके माता के गौरवमय पद को प्राप्त करती थीं। वैवाहिक जीवन में स्त्री को पुरुष को 'सहधर्मिणी' माना जाता था। विवाह के अवसर पर पति और पत्नी दोनों ही कतिपय प्रतिज्ञायें करते थे, जिनका प्रयोजन एक दूसरे के प्रति कर्त्तव्यों का पालन करते रहने का निश्चय करना होता था। पति या पत्नी बिना किसी असाधारण कारण के अपने जीवनसाथी का परित्याग नहीं कर सकते थे। आपस्तम्ब-सूत्र में लिखा है, कि जिस पति ने अन्याय से अपनी पत्नी का परित्याग किया हो, वह गधे का चमड़ा ओढ़कर प्रतिदिन सात गृहों में यह कहते हुए भिक्षा मांगे, कि उस पुरुष को भिक्षा प्रदान करो, जिसने अपनी पत्नी को त्याग दिया है। इसी प्रकार की भिक्षा से वह पुरुष छः मास तक अपना निर्वाह करे। निःसन्देह, यह एक भयंकर दण्ड था, जो इस युग में पत्नी के साथ अन्याय करनेवाले पुरुष को दिया जाता था।

(६) आर्थिक जीवन

वैदिक युग के समान प्राग्-बौद्ध-युग में भी आर्यों के आर्थिक जीवन का मुख्य

आधार कृषि था। आर्यविशः का बड़ा भाग अब भी कृषि द्वारा अपना निर्वाह करता था। जमीन को जोतने के लिये हलों का प्रयोग होता था, जिन्हें खींचने के लिये बैल काम में लाये जाते थे। खेती द्वारा उत्पन्न किये जानेवाली फसलों में जौ, गेहूं, चावल, दाल और तेल प्रमुख थे। इस युग में आर्यों का विस्तार सिन्धु नदी और गंगा नदी की घाटियों में भली-भांति हो गया था, और सिन्धु, गंगा तथा उनकी सहायक नदियों के उपजाऊ प्रदेश में बसे हुए आर्य लोग कृषि द्वारा अच्छी समृद्ध दशा में आ गये थे। पशुपालन को भी इस युग में बहुत महत्त्व दिया जाता था। वैदेह जनक ने अपनी राजसभा में एकत्र विद्वानों में से सर्वश्रेष्ठ विद्वान् को पुरस्कृत करने के लिये सहस्र गौओं को ही चुना। इस युग के समृद्ध लोग गौओं को बहुत बड़ी संख्या में अपने पास रखते थे। दूध-घी के लिये जहां उनका उपयोग था, वहां साथही खेती की दृष्टि से भी उनका बहुत महत्त्व था। खेती के अतिरिक्त अनेक शिल्पों का भी इस युग में विकास हुआ। जुलाहे, रंगरेज, रज्जुकार, रजक, सुवर्णकार, रथकार, गोप, व्याध, कुम्हार, लोहार, नर्तक, गायक आदि-आदि कितने ही प्रकार के शिल्पी इस युग में अपने-अपने शिल्प व व्यवसाय के विकास में तत्पर थे। धातुओं के ज्ञान की वृद्धि के कारण इस काल में आर्थिक जीवन भली-भांति उन्नति कर गया था। वैदिक काल के आर्यों को प्रधानतया सुवर्ण और अयस् का ज्ञान था, पर इस युग के आर्य त्रपु (टिन), ताम्र, लौह, रजत, हिरण्य और कांसे का प्रयोग करते थे, यह बात असन्दिग्ध है। सुवर्ण और रजत का प्रयोग मुख्यतया आभूषणों और बरतनों के लिये होता था, पर अन्य धातुएं उपकरण बनाने के लिये भी काम में आती थीं। सम्भवतः, इस युग में वस्तुओं के विनिमय के लिये सिक्के का प्रयोग होने लगा था। अथर्ववेद में सुवर्णनिर्मित जो निष्क प्रयुक्त होता था, वह आभूषण था या सिक्का—इस संबंध में मतभेद हो सकता है, पर उत्तर-वैदिक काल में निष्क का प्रचलन सिक्के के रूप में अवश्य था। शायद इसी को शतमान भी कहते थे। वैदेह जनक ने याज्ञवल्क्य ऋषि को जो एक हजार गौवें पुरस्कार के रूप में दी थीं, उनके सींगों के साथ दस-दस सुवर्णपाद बंधे हुए थे। ये 'पाद' निष्क सिक्के का चौथाई भाग ही था। इसमें सन्देह नहीं, कि इस युग में वस्तु-विनिमय (बार्टर) का स्थान सिक्के द्वारा विनिमय ने ले लिया था, और सुवर्ण का सिक्के के रूप में प्रयोग होने लगा था।

ऐसा प्रतीत होता है, कि इस युग के व्यापारी, कृषक, शिल्पी आदि अनेक

प्रकार की श्रेणियों (गिल्ड) में भी संगठित होने लगे थे। बौद्ध-साहित्य के अन्तर्गत जो जातक-कथायें मिलती हैं, उनसे 'श्रेणी' संस्था का भलीभांति परिचय मिलता है। स्मृतिग्रन्थों और धर्म-शास्त्रों में भी श्रेणियों का उल्लेख आता है। इन श्रेणियों के विकसित होने में अवश्य समय लगा होगा, और इनका विकास उत्तर-वैदिक युग में ही प्रारम्भ हो गया होगा।

उत्तर-वैदिक युग का साहित्य प्रधानतया धर्मपरक है। इसीलिये उसके आधार पर इस युग के आर्थिक जीवन के संबंध में अधिक परिचय हमें प्राप्त नहीं होता। बौद्ध-युग के शुरू होने पर भारत की जो आर्थिक दशा थी, उसपर हम अधिक विस्तार से प्रकाश डालेंगे, क्योंकि बाद के साहित्य में इस सम्बन्ध मे पर्याप्त सामग्री उपलब्ध है।

(७) भारत के छ: आस्तिक दर्शन

दर्शन-शास्त्र का विकास किस प्रकार हुआ, इसका उल्लेख इसी अध्याय में ऊपर संक्षिप्त रूप से किया जा चुका है। पर इस विषय पर अधिक विशद-रूप से प्रकाश डालना आवश्यक है, क्योंकि इन दर्शन-शास्त्रों का प्राचीन भारतीय संस्कृति और जीवन में बहुत अधिक महत्त्व है।

जिस समय प्राचीन भारत में याज्ञिक कर्मकाण्ड और विविध धार्मिक अनुष्ठानों का विकास हो रहा था, उसी समय अरण्यों में विद्यमान ऋषि-आश्रमों में अध्यात्म-चिन्तन और दर्शन-शास्त्रों का विकास जारी था। ब्राह्मण-ग्रन्थों के आरण्यक भाग और उपनिषदें इसी चिन्तन का परिणाम थे। पर कुछ विद्वान् मुनि लोग अध्यात्मसम्बन्धी चिन्तन और मनन से ही सन्तुष्ट नहीं थे। वे यह प्रयत्न कर रहे थे, कि प्रकृति और परमात्मा-सम्बन्धी रहस्यों का ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त करें। सृष्टि किस तत्त्व या तत्त्वों से बनी, संसार में कुल पदार्थ कितने हैं, पदार्थों का ज्ञान ठीक-ठीक किन प्रकारों से हो सकता है, सत्यासत्य का निर्णय करने के लिये कौन-सी कसौटी या प्रमाण है—इन प्रश्नों पर इन मुनियों ने बाकायदा विचार शुरू किया। इसी का परिणाम यह हुआ, कि भारत में अनेक दर्शन-शास्त्रों का विकास हुआ। ये दर्शन दो प्रकार के हैं—आस्तिक और नास्तिक। आस्तिक दर्शन वे हैं जो वेदों को मानते हैं। नास्तिक दर्शन वेदों पर विश्वास नहीं करते। जैन और बौद्ध वेदों को नहीं मानते। उन्होंने जिन दर्शनों का विकास किया, वे नास्तिक कहाते हैं। उनसे भी पहले चार्वाक लोग वेदों को न मानते हुए स्वतन्त्र रूप से दर्शन-तत्त्व पर विचार कर रहे

थे। उनका दर्शन नास्तिक-दर्शन गिना जाता है। पर जैनों और बौद्धों से पहले भारत के प्रायः सभी प्रमुख विचारक वेदों को सत्यज्ञान और प्रमाण के रूप में स्वीकार करते थे। इसीलिये उस समय चार्वाक-दर्शन को छोड़कर अन्य जिन दर्शनों का विकास हुआ, वे सब आस्तिक थे। आस्तिक दर्शन छः हैं—न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा और वेदान्त। हम इनपर क्रमशः विचार करेंगे।

न्याय-दर्शन—न्याय-दर्शन का प्रधान लक्ष्य यह है, कि यह निश्चित करे कि सही-सही ज्ञान के लिये कितने और कौन-कौन-से प्रमाण हैं। प्रमाण चार हैं, प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द। जिस बात को हम स्वयं साक्षात् रूप से जानें, वह प्रत्यक्ष है। ज्ञानेन्द्रियां पांच हैं, आंख, नाक, कान, जिह्वा और त्वचा। जब किसी इन्द्रिय का उसके विषय (अर्थ) से सीधा सम्पर्क (सन्निकर्ष) होता है, तो उस विषय के सम्बन्ध में हमें ज्ञान होता है। यही ज्ञान प्रत्यक्ष है। हम कोई बात आंख से देखते हैं, कान से सुनते हैं, नाक से सूंघते हैं, जिह्वा से किसी रस का स्वाद लेते हैं, या त्वचा के स्पर्श से किसी को जानते हैं, तो हमारा यह ज्ञान प्रत्यक्ष कहाता है। जब किसी वस्तु को हम प्रत्यक्ष रूप से नहीं जानते, अपितु किसी हेतु द्वारा उसे जानते हैं, तो वह ज्ञान हमें अनुमान द्वारा होता है। हमने दूर पहाड़ की चोटी पर धुआं उठता हुआ देखा। इस हेतु से हमने अनुमान किया, कि वहां अग्नि है। क्योंकि जहां-जहां धुंआ होता है, वहां-वहां अग्नि अवश्य होती है। बिना अग्नि के धुंआ नहीं हो सकता। अतः धुंए की सत्ता से हमने अग्नि की सत्ता का अनुमान किया। इस प्रकार के ज्ञान को अनुमान कहा जाता है। जब किसी जानी हुई वस्तु के सादृश्य (साधर्म्य) से हम न जानी हुई वस्तु को जानते हैं, तो उसे उपमान कहते हैं। एक आदमी गौ को अच्छी तरह जानता है, पर गवय (चंवर गौ) को नहीं जानता। उसे कहा जाता है, कि गवय भी गाय के सदृश होती है। वह जंगल में एक पशु को देखता है, जिसकी आकृति आदि गाय के सदृश है। इससे वह समझ लेता है कि यह पशु गवय है। इस प्रकार जो ज्ञान प्राप्त होता है, उसे उपमान कहते हैं। पर बहुत-सी वस्तुएं ऐसी हैं, जिन्हें हम प्रत्यक्ष, अनुमान या उपमान द्वारा नहीं जान सकते। उन्हें जानने का साधन केवल शब्द है। राजा अशोक भारत में शासन करता था, और उसने धर्म-विजय की नीति का अनुसरण किया था, यह बात हम केवल शब्द द्वारा जानते हैं। भूमण्डल के उत्तरी भाग में ध्रुव है, जो सदा बरफ से आच्छादित रहता है, इस

बात भी हमें केवल शब्द द्वारा ज्ञात हुई है। इसी प्रकार की कितनी ही बातें हैं, जिनके ज्ञान का आधार शब्द-प्रमाण के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है।

ज्ञान के आधारभूत जो ये विविध प्रमाण हैं, इनका खूब विस्तार से विवेचन न्याय-दर्शन में किया गया है। ज्ञान के इन साधनों का विवेचन करके फिर न्याय-दर्शन मे संसार के विविध तत्त्वों का प्रदर्शन कराने का प्रयत्न किया गया है। न्याय के अनुसार मूल पदार्थ या तत्त्व तीन है, ईश्वर, जीव और प्रकृति। जीवात्मा शरीर से भिन्न है। चार्वाक लोग शरीर और जीवात्मा में कोई भेद नहीं मानते थे। उनका कहना था, कि मृत्यु के साथ ही प्राणी की भी समाप्ति हो जाती है। पर नैयायिकों ने इसका खण्डन करके यह सिद्ध किया, कि जीवात्मा की पृथक् सत्ता है, और वह शरीर, मन व बुद्धि से भिन्न एक स्वतन्त्र पदार्थ है। इसी प्रकार ईश्वर और प्रकृति के स्वरूप का भी न्याय-दर्शन में बड़े विस्तार के साथ विवेचन किया गया है।

न्याय-दर्शन के प्रवर्तक महर्षि गौतम थे। उन्होंने सूत्ररूप में न्याय-दर्शन की रचना की। गौतम-विरचित इन न्याय-सूत्रों पर वात्स्यायन मुनि ने विस्तृत भाष्य लिखा। न्याय-दर्शन के मूलग्रन्थ गौतम द्वारा विरचित सूत्र और उनपर किया गया वात्स्यायन-भाष्य ही है। बाद में न्याय-दर्शन-सम्बन्धी अन्य अनेक ग्रन्थ लिखे गये। सातवीं सदी मे आचार्य उद्योतकर ने 'न्याय-वार्तिक' लिखा, जो वात्स्यायन-भाष्य की व्याख्या के रूप में है। फिर वाचस्पति मिश्र ने उसके ऊपर 'तात्पर्य-टीका' लिखी। इस तात्पर्य-टीका की व्याख्या उदयनाचार्य ने 'तात्पर्य-परिशुद्धि' नाम से की। इस प्रकार न्याय-दर्शन का निरन्तर विकास होता गया। इसमें सन्देह नहीं, कि न्याय के रूप में भारत के आर्यों ने एक ऐसे तत्त्वज्ञान को प्राप्त किया, जिसके द्वारा पदार्थों के ज्ञान व सत्यासत्य-निर्णय में बड़ी सहायता मिलती है।

वैशेषिक-दर्शन—वैशेषिक-दर्शन के अनुसार ज्ञान के चार साधन हैं, प्रत्यक्ष, लैंगिक (अनुमान), स्मृति और आर्षज्ञान। ज्ञानेन्द्रियों, मन और आत्मा द्वारा जो ज्ञान होता है, उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। लैंगिक ज्ञान चार प्रकार से होता है—अनुमान से, उपमान से, शब्द से और ऐतिह्य से। ऐतिह्य का अभिप्राय अनुश्रुति से है। पहले जानी हुई वस्तु की याद (स्मृति) से जो ज्ञान होता है, उसे स्मृति कहते हैं। यह भी ज्ञान का साधन है। आर्षज्ञान वह है, जो ऋषियों ने अपनी अन्तर्दृष्टि से प्राप्त किया था। हम कितनी ही बातों को केवल इस आर्षज्ञान द्वारा ही जानते हैं।

वैशेषिक के अनुसार संसार के कुल पदार्थ सात भागों में बांटे जा सकते हैं—

द्रव्य, गुण, कर्म, विशेष, सामान्य, समवाय और अभाव। पदार्थ का अभिप्राय है, ज्ञान का विषय। संसार की प्रत्येक सत्ता, प्रत्येक ज्ञातव्य (जिसे हम जान सकें) वस्तु को इन सात भागों में अन्तर्गत किया जा सकता है।

द्रव्य नौ प्रकार के होते हैं—पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन। इन नौ में से पहले पांच वे हैं, जिन्हें पंचमहाभूत कहा जाता है। काल और दिशा (Time and space) ऐसे द्रव्य हैं, जिनसे बाहर विश्व की कोई सत्ता कल्पित ही नहीं की जा सकती। आत्मा और मन ऐसी सत्तायें हैं, जिनका सम्बन्ध भौतिक पदार्थों से नहीं है। पृथिवी, जल आदि पांच द्रव्य भौतिक हैं, और इनका निर्माण परमाणुओं द्वारा हुआ है। परमाणु नित्य और शाश्वत हैं। वह तत्त्व जिसका विभाग नहीं किया जा सकता, परमाणु कहाता है। परमाणुओं के संयोग से ही पृथिवी, जल आदि द्रव्यों का निर्माण होता है।

गुण चौबीस प्रकार के होते हैं। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, धर्म, अधर्म, शब्द और संस्कार—ये चौबीस गुण हैं। इनकी सत्ता द्रव्यों से पृथक् होकर नहीं रह सकती।

कर्म पांच प्रकार के होते हैं——उत्क्षेपण (ऊपर फेंकना), अपक्षेपण (नीचे फेंकना), आकुंचन (सिकोड़ना), प्रसारण (फैलाना) और गमन (गति करना)।

विशेष वह पदार्थ है, जो दो सत्ताओं व वस्तुओं में पार्थक्य करता है।

सामान्य वह पदार्थ है, जो दो या अधिक सत्ताओं में समान रूप से रहे। जैसे गाय और घोड़े में पशुत्व सामान्य है, पर गोत्व गौ में विशेष है, जो उसे घोड़े व अन्य पशुओं से पृथक् करता है।

वस्तुओं व सत्ताओं के नित्य सम्बन्ध को समवाय कहते हैं। गुण और गुणी, क्रिया और क्रियावान् में जो सम्बन्ध है, वह नित्य है। इसी प्रकार कारण और कार्य का सम्बन्ध नित्य है, उन्हें एक-दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता। इस प्रकार के संबंध को समवाय कहते हैं।

अभाव का अभिप्राय है, किसी वस्तु का न रहना। वैशेषिक दर्शन में अभाव को भी एक पदार्थ के रूप में स्वीकार किया गया है।

वैशेषिक दर्शन के प्रवर्तक कणाद मुनि थे। उन्होंने वैशेषिक सूत्रों की रचना की। उनपर आचार्य प्रशस्तपाद ने अपना भाष्य लिखा। वैशेषिक दर्शन के मूल प्रामाणिक ग्रन्थ ये ही हैं। बाद में इनपर व्योमशिखाचार्य ने 'व्योम-

वती' तथा उदयनाचार्य ने 'किरणावली' नाम की टीकायें लिखीं। श्रीधराचार्य की न्यायकन्दली तथा वल्लभाचार्य की न्यायलीलावती आदि अन्य भी अनेक पुस्तकें वैशेषिक दर्शन के सम्बन्ध में लिखी गई हैं।

सांख्य-दर्शन—सांख्य-दर्शन का मुख्य सिद्धान्त है, सत्कार्यवाद। इसके अनुसार असत् से सत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती। प्रत्येक सत्ता अव्यक्तरूप में अपने कारण में विद्यमान रहती है। उत्पत्ति का अभिप्राय केवल यह है, कि कारण का कार्य के रूप में उद्‌भाव हो जाता है। जिसे हम विनाश कहते हैं, वह भी वस्तुतः कार्य का कारण में लीन (अनुभाव) हो जाना है। किसी विद्यमान (सत्) सत्ता का सर्वथा विनाश नहीं हो सकता, वह केवल अपने कारण में लय हो जाती है। मृत्तिका से घट की उत्पत्ति होती है। वस्तुतः, घट मृत्तिका रूप में पहले ही विद्यमान होता है। मृत्तिका ही घटरूप में व्यक्त हो जाती है। घट के नाश का अभिप्राय केवल यह है, कि वह फिर मृत्तिकारूप हो जाता है।

इसी सत्कार्यवाद के सिद्धान्त का अनुसरण करके सांख्य-शास्त्र में संसार का कारण प्रकृति को माना गया है। संसार वस्तुतः प्रकृति का ही रूपान्तर (परिणाम) है। प्रकृति अनादि और नित्य है। अपने अव्यक्त रूप में वह सदा से रहती आई है। जब वह अपने को व्यक्त करती है, तो संसार बनता है। सृष्टि के आधारभूत गुण तीन हैं सत्वगुण, रजोगुण और तमोगुण। इन तीनों की साम्यावस्था का नाम ही प्रकृति है। जब इन गुणों की साम्यावस्था नहीं रहती, तब किसी एक गुण के प्रधान होने से संसार के विविध पदार्थों का निर्माण होता है। पर प्रकृति स्वयं संसार के रूप में व्यक्त नहीं हो सकती, क्योंकि वह स्वयं जड़ है। अतः उसे 'पुरुष' की आवश्यकता होती है। प्रकृति और पुरुष—ये दो ही मूल और अनादि तत्व हैं। इन्हीं के संयोग से सृष्टि का निर्माण होता है। प्रकृति और पुरुष की हालत ठीक वह है, जो अन्धे और लंगड़े की होती है। न अकेला अन्धा किसी उद्दिष्ट स्थान पर पहुंच सकता है, और न अकेला लंगड़ा। पर यदि लंगड़ा मनुष्य अन्धे मनुष्य के कन्धे पर बैठ जावे, और दोनों एक दूसरे की सहायता से किसी निर्दिष्ट स्थान पर पहुंचना चाहें, तो वे सफल हो सकते हैं। इसी प्रकार प्रकृति और पुरुष एक-दूसरे के सहयोग से सृष्टि का निर्माण करते हैं। प्रकृति जब संसार के रूप में व्यक्त व विकसित होने लगती है, तो उसको अनेक दशाओं में से गुजरना होता है। ये दशायें निम्नलिखित हैं—महत्, अहंकार, पंचज्ञानेन्द्रिय, पंचकर्म-

न्द्रिय, मन, पंचतन्मात्रा तथा पंचमहाभूत (पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश)। सांख्य-दर्शन में सृष्टि के विकास की इन विभिन्न दशाओं का विशद रूप से उल्लेख किया गया है, और इन विभिन्न दशाओं के सूचक ये शब्द विशिष्ट अर्थ रखते हैं।

सांख्य के अनुसार पुरुष का स्वरूप केवल चेतन और सदा प्रकाशस्वरूप है। सुख, दुःख, काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि का सम्बन्ध पुरुष से नहीं, अपितु प्रकृति से है। पर प्रकृति के संयोग से पुरुष विभिन्न पदार्थों में अहंकार या ममत्व की बुद्धि कर लेता है। संसार में जो कुछ हो रहा है, उसका करनेवाला पुरुष नहीं है। संसार के सब कार्य प्रकृति करती है। पर जब प्रकृति के संयोग से पुरुष अहंकारविमूढ़ हो जाता है, तो वह प्रकृति के द्वारा किये जानेवाले कार्यों को अपना किया हुआ समझने लगता है। पुरुष वस्तुतः 'कर्ता' नहीं होता। जब पुरुष यह भली-भांति समझ लेता है, कि करनेवाला वह नहीं, अपितु प्रकृति है, तब वह अहंकार से मुक्त हो जाता है। इसी का नाम 'मोक्ष' है।

सृष्टि के निर्माण, स्थिति व अनुभाव (प्रलय) के लिये सांख्य ईश्वर की आवश्यकता को अनुभव नहीं करता। यही कारण है, कि उसके मूल तत्त्वों में ईश्वर को नहीं गिना गया, और न ही वेदान्तियों के ब्रह्म के समान मूल तत्त्वों के भी उपरिरूप से उसकी सत्ता को स्वीकार किया गया। पर सांख्य लोग ईश्वर का खण्डन भी नहीं करते हैं। अपनी पद्धति में वे ईश्वर की आवश्यकता नहीं समझते।

सांख्य-दर्शन के प्रवर्तक कपिल मुनि थे। उन्होंने सांख्य-सूत्रों की रचना की थी। पंचशिखाचार्य का षष्ठितन्त्र इस शास्त्र का प्रामाणिक ग्रन्थ था, पर वह अब उपलब्ध नहीं होता। ईश्वरकृष्ण की सांख्यकारिका इस शास्त्र का प्रामाणिक व प्राचीन ग्रन्थ है। आचार्य विज्ञानमिश्र ने सांख्य-प्रवचन-भाष्य नाम से सांख्य सूत्रों का भाष्य किया है। इसके अतिरिक्त सांख्यकारिका पर माउर की माउर वृत्ति, गौड़पाद का भाष्य और वाचस्पति की तत्त्व-कौमुदी टीका-रूप में हैं।

योग-दर्शन—योग और सांख्य में भेद बहुत कम हैं। सांख्य के समान योग भी प्रकृति से संसार की उत्पत्ति स्वीकार करता है। सांख्य के अनुसार, जिस प्रकार प्रकृति का विकास महत्, अहंकार आदि दशाओं में होता है, वैसे ही योग-दर्शन भी मानता है। पर इन दर्शनों में मुख्य भेद ईश्वर

की सत्ता के सम्बन्ध में है। योग-दर्शन प्रकृति और पुरुष के साथ-साथ ईश्वर की सत्ता भी मानता है। ईश्वर की भक्ति द्वारा पुरुष शीघ्र ही अहंकार के बन्धन से मुक्त होकर मोक्ष प्राप्त कर सकता है, यह योग-दर्शन का सिद्धान्त है। योग के अनुसार पुरुष की उपासना से प्रसन्न होकर ईश्वर उसका उद्धार कर देता है, अतः योग-मार्ग में ईश्वर की भक्ति व उपासना परम सहायक है।

योग-दर्शन इस बात का विशेष रूप से प्रतिपादन करता है, कि मनुष्य किस प्रकार चित्त की वृत्तियों का निरोध करे। वस्तुतः, चित्तवृत्तियों के निरोध का नाम ही योग है। इस योग के अंग आठ हैं—

(१) यम—अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना), ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह (धन का संचय करने का विशेष प्रयत्न न करना)—ये पांच यम हैं।

(२) नियम—शौच (पवित्रता), संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान (सब कर्मों को भक्तिपूर्वक ईश्वर के अर्पण करना)—ये पांच नियम हैं।

(३) आसन—चित्तवृत्तियों के निरोध के लिये स्थिररूप से एक स्थान पर बैठने के जो विविध प्रकार हैं, उन्हें आसन कहते हैं।

(४) प्राणायाम—श्वास-प्रश्वास पर नियन्त्रण करने को प्राणायाम कहा जाता है।

(५) प्रत्याहार—जब इन्द्रियां विषयों की तरफ से हटकर अन्तर्मुखी होने लगती हैं, तो इस दशा को प्रत्याहार कहते हैं।

(६) धारणा—किसी निश्चित स्थान पर (नासिका के अग्रभाग पर या इसी तरह किसी अन्य स्थान पर) मन या ध्यान लगाना 'धारणा' कहाता है।

(७) ध्यान—चित्त के एकाग्र हो जाने की दशा को 'ध्यान' कहते हैं।

(८) समाधि—जब मनुष्य की सब वृत्तियां पूरी तरह से उसके वश में हो जाती हैं, तब 'समाधि' की दशा प्राप्त होती है।

योगदर्शन में योग-साधना के इन सब उपायों व प्रकारों का विशद रूप से वर्णन किया गया है। इस दर्शन के आदिप्रवर्तक महर्षि पतंजलि थे। उन्होंने योग-सूत्रों की रचना की। उनपर व्यास ऋषि का भाष्य योग-दर्शन का अत्यन्त प्राचीन व प्रामाणिक ग्रन्थ है। उसपर वाचस्पति मिश्र की

'तत्त्व-वैशारदी' और विज्ञान मिश्र की 'योग-वार्तिक' टीकायें बहुत प्रसिद्ध हैं।

मीमांसा-दर्शन—मीमांसा-दर्शन का मुख्य प्रयोजन यह है, कि वैदिक कर्म-काण्ड का शास्त्रीय रूप से प्रतिपादन करे, उनमें जहां विरोध या असंगति नजर आती है, उसका निराकरण करे और धर्म के नियमों की ठीक-ठीक मीमांसा करे। इस दर्शन के अनुसार वेद द्वारा विहित कर्म ही धर्म है। उन कर्मों को करने से 'अपूर्व' उत्पन्न होता है। मनुष्य को जो सुख व दुःख, ऐश्वर्य या दारिद्र्य है, उस सबका मूल यह 'अपूर्व' ही है। प्रत्येक मनुष्य अपने कर्मों द्वारा अपने अपूर्व (प्रारब्ध) का निर्माण करता है। वैदिक कर्मकाण्ड में किसी विशेष फल की प्राप्ति के लिये विशेष प्रकार के कर्मकाण्ड या अनुष्ठान का विधान किया गया है। पर हम देखते हैं कि यज्ञ या कर्मकाण्ड से तुरन्त ही अभीष्ट फल की प्राप्ति नहीं हो जाती। अतः मीमांसा-दर्शन ने यह प्रतिपादित किया, कि कर्मकाण्ड द्वारा 'अपूर्व' उत्पन्न होता है, जो मनुष्य के साथ रहता है। इस अपूर्व के परिणाम-स्वरूप बाद में अभीष्ट फल की प्राप्ति होती है।

मीमांसक लोग वेद को नित्य व अपौरुषेय मानते हैं। अपौरुषेय का अभिप्राय यह है, कि उन्हें किसी पुरुष व मनुष्य ने नहीं बनाया। वे प्रकृति व पुरुष के समान ही अनादि और अनित्य हैं—उनमें उन सब धर्मों व कृत्यों का विधान है, जिनका अनुसरण करके मनुष्य अभिलषित फल को प्राप्त कर सकता है।

मीमांसा के प्रवर्तक आचार्य जैमिनी थे। उन्होंने मीमांसा-सूत्रों की रचना की। उनपर शबर मुनि ने भाष्य लिखा। शाबर-भाष्य पर आचार्य कुमारिल भट्ट और प्रभाकर भट्ट ने व्याख्यायें लिखीं। कुमारिल भट्ट मीमांसा-दर्शन का बड़ा प्रसिद्ध आचार्य हुआ है। उसके श्लोकवार्तिक और तन्त्रवार्तिक ग्रन्थ मीमांसा-दर्शन के प्रामाणिक ग्रन्थ हैं। कुमारिल ने बौद्धों का खण्डन कर वेदों की प्रामाणिकता का पुनरुद्धार करने का प्रयत्न किया।

वेदान्त-दर्शन—वेदान्त के अनुसार विश्व की वास्तविक सत्ता 'ब्रह्म' है। वस्तुतः ब्रह्म ही सत्य है, अन्य कोई सत्ता सत्य नहीं है। जीव की ब्रह्म से पृथक् कोई सत्ता नहीं है। प्रकृति या जगत् ब्रह्म से ही उत्पन्न हुए हैं। ब्रह्म से पृथक् उनकी भी सत्ता नहीं है। ब्रह्म का स्वरूप 'निर्विशेष-चिन्मात्र' है। ब्रह्म चेतनस्वरूप है, वह चित्-शक्ति के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। सांख्य-दर्शन जिन्हें पुरुष व प्रकृति कहता है, उनका विकास इसी ब्रह्म से होता है। जब ब्रह्म 'संकल्प' करता है, यह चाहता है, कि वह 'बहुरूप' हो जाय, तो अपनी लीला द्वारा सष्टि का विकास करता है।

वेदान्तदर्शन के प्रवर्तक बादरायण व्यास थे। उन्होंने वेदान्त-सूत्रों की रचना की। इन सूत्रों पर विविध आचार्यों ने अपने-अपने मत के अनुसार अनेक भाष्य लिखे। इनमें शंकराचार्य का 'ब्रह्मसूत्रशांकर-भाष्य' सबसे प्रसिद्ध है। वस्तुतः शंकर ने वेदान्त के एक नये सम्प्रदाय का प्रारम्भ किया, जिसे 'अद्वैत-वाद' कहते हैं। इसके अनुसार सब जगत् मिथ्या है। जिस प्रकार रात के समय मनुष्य को रज्जु में सांप का भ्रम होता है, वैसे ही संसार की दृष्टि-गोचर होनेवाली सब सत्तायें भ्रम का परिणाम हैं। जगत् माया के अतिरिक्त कुछ नहीं है। माया की परमार्थ में कोई सत्ता नहीं होती। जब ब्रह्म माया से अविच्छिन्न हो जाता है, तो वह ईश्वर कहाता है। जीवात्मा वस्तुतः ब्रह्म ही है। जैसे एक ही सर्वव्यापी आकाश घट में घटाकाश रूप से और मठ में मठाकाश रूप से आभासित होता है, पर वस्तुतः वह एक आकाश ही होता है, ऐसे ही अन्तःकरणावच्छिन्न ब्रह्म जीवात्मा के रूप में आभासित होता है। पर वस्तुतः जीवात्मा ब्रह्म से पृथक् नहीं है, वह ब्रह्म ही है, ठीक वैसे ही जैसे घटाकाश आकाश ही है, सर्वव्यापी आकाश से पृथक् नहीं है।

वेन्दान्त-सूत्रो पर रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, निम्बार्काचार्य और वल्लभाचार्य ने भी भाष्य लिखे हैं। इनका मत शंकर से बहुत भिन्न है। रामानुज प्रकृति और जीवात्मा की पृथक् सत्ता स्वीकार करते हुए भी उन्हें ब्रह्म पर आश्रित मानता है। ब्रह्म से पृथक् जीवात्मा और प्रकृति का कोई प्रयोजन नहीं। इसीलिये उसके मत को 'विशिष्टाद्वैत' नाम दिया गया है। मध्वाचार्य ब्रह्म, प्रकृति और जीवात्मा की पृथक् व स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार करता है। इसीलिये उसका मत द्वैतवाद कहाता है। एक ही ब्रह्मसूत्र की विविध आचार्यों ने भिन्न-भिन्न रूप से व्याख्या की है। पर ब्रह्म की सर्वोपरि सत्ता को सब वेदान्ती समान रूप से स्वीकार करते हैं। इस दर्शन का विकास प्रधानतया उपनिषदों को प्रमाण मानकर किया गया है।

बौद्ध और जैन-धर्मों के प्रारम्भ से पूर्व भारत के प्राचीन धर्म में जहां याज्ञिक कर्मकाण्ड का प्राधान्य था, वहां विविध तत्त्वज्ञानी ऋषि लोग सृष्टि और अध्यात्म के सम्बन्ध में विचार व चिन्तन करते हुए अनेक दर्शन-शास्त्रों का भी विकास कर रहे थे।

सहायक ग्रन्थ

Mazumdar, R. C.: Ancient Indian History and Civilization.

Winternitz : History of Sanskrit Literature.
Mukerjee : Hindu Civilization.
Kieth : A History of Sanskrit Literature.
Chakladar : Social Life in Ancient India.
Bhandarkar : Vaishnavism, Shaivism and other Minor Religions of India.
रामदेव : भारतवर्ष का इतिहास (भाग १)
जयचन्द्र विद्यालंकार : भारतीय इतिहास की रूपरेखा (भाग १)

दसवां अध्याय

रामायण और महाभारत

(१) ऐतिहासिक महाकाव्य

जिस प्रकार प्राचीन आर्यों की धार्मिक अनुश्रुति और परम्परा वेदों, ब्राह्मण-ग्रन्थों और उपनिषदों में संगृहीत है, वैसे ही उनकी ऐतिहासिक गाथायें, आख्यान और अनुश्रुति रामायण, महाभारत और पुराणों में संगृहीत है। इन ग्रन्थों का निर्माण किसी एक समय में या किसी एक लेखक द्वारा नहीं हुआ। वस्तुतः, ये भी एक सुदीर्घ काल तक निरन्तर विकसित होते रहे। वैदिक युग के ऋषियों ने विविध देवताओं की स्तुति में जो सूक्तियां कहीं, या जीवन के आदर्शों और विचारों को सम्मुख रखकर जो प्रवचन किया, वे गुरु-शिष्य-परम्परा द्वारा 'श्रुति' के रूप में कायम रहीं। बाद में महर्षि वेदव्यास ने उन सबको संगृहीत कर 'संहिता' के रूप में संकलित कर दिया। इसी प्रकार प्राचीन आर्यों के विविध राजाओं, विजेताओं, वीर पुरुषों व अन्य नेताओं के वीर कृत्यों व आख्यानों का गान उस काल के सूत और मागध लोग निरन्तर करते रहे। ये आख्यान भी विविध सूत व मागध-परिवारों में पिता-पुत्र-परम्परा द्वारा कायम रहे। बाद में इन सबको एकत्र कर लिया गया। वैदिक संहिताओं के समान पुराणों और महाभारत का कर्ता व संकलयिता भी वेदव्यास को माना जाता है। वस्तुतः वेदव्यास इनके कर्ता व रचयिता नहीं थे। उन्होंने जैसे वैदिक श्रुति का संकलन किया, वैसे ही प्राचीन आख्यानों और राजकुल-सम्बन्धी अनुश्रुति का भी संकलन किया था। महाभारत का वर्तमान रूप तो बहुत अधिक प्राचीन नहीं है। उसका वर्तमान रूप तो सम्भवतः ईसवी सन् के प्रारम्भ होने से कुछ समय पहले का ही है। पर उसमें जो गाथायें व आख्यान हैं, वे बहुत प्राचीन हैं। सम्भवतः वे वैदिक युग से ही परम्परागतरूप से चले आते थे। इसीलिये उनसे भारत के प्राचीन राजवंशों व उनके समय

के सामाजिक जीवन के सम्बन्ध में बहुत कुछ सही चित्र हमारे सम्मुख उपस्थित हो जाता है।

महाभारत—वेदव्यास द्वारा संकलित व प्रोक्त महाभारत बहुत विशाल ग्रन्थ है। इसे काव्य न कहकर ऐतिहासिक गाथाओं का संग्रह कहना अधिक उपयुक्त होगा। इस समय महाभारत नाम से जो ग्रन्थ उपलब्ध होता है, उसके श्लोकों की संख्या एक लाख के लगभग है। इसीलिये उसे 'शतसाहस्री-संहिता' भी कहते हैं। पर महाभारत का मूलग्रन्थ इतना विशाल नहीं था। समय-समय पर उसमें नये आख्यानों का समावेश होता रहा। प्रारम्भ में महर्षि व्यास ने अपने शिष्य वैशम्पायन के सम्मुख इस कथा का प्रवचन किया था। व्यास के इस मूलग्रन्थ का नाम 'जय' था। वैशम्पायन ने पाण्डव अर्जुन के पोते जनमेजय के सम्मुख जिस महाभारत का प्रवचन किया, उसकी श्लोक-संख्या २४००० थी। इसे 'चतुर्विंशति-साहस्री भारत-संहिता' कहते थे। महाभारत का तीसरा संस्करण भार्गववंशी कुलपति शौनक के समय में हुआ। उस समय उसमें बहुत-से नये आख्यान व उपाख्यान जोड़ दिये गये। साथ ही शिव, विष्णु, सूर्य, देवी आदि के प्रति भक्ति के भी अनेक प्रकरण उसमें सम्मिलित कर लिये गये। अध्यात्म-धर्म और राजनीतिविषयक अनेक संवाद भी उसमें शामिल हुए। इन सबके कारण महाभारत का कलेवर बहुत बढ़ गया, और वह 'चतुर्विंशति-साहस्री-भारतसंहिता' न रहकर 'शतसाहस्री संहिता' बन गया। ईसवी सन् के प्रारम्भ होने से कुछ समय पूर्व ही महाभारत-ग्रन्थ अपने वर्तमान रूप को प्राप्त कर चुका था।

महाभारत में कुल अठारह पर्व हैं। यद्यपि इस महाकाव्य का प्रधान विषय कौरवों व पाण्डवों के उस महायुद्ध का वर्णन करना है, जो कुरुक्षेत्र के रणक्षेत्र में लड़ा गया था, और जिसमें भारत के सैकड़ों राजा अपनी सेनाओं के साथ सम्मिलित हुए थे, तथापि प्रसंगवश उसमें भारत की प्राचीन ऐतिहासिक अनुश्रुति, तत्त्वज्ञान, धर्मशास्त्र, राजधर्म और मोक्षशास्त्र का भी इतने विशदरूप से समावेश है, कि उसे प्राचीन भारतीय ज्ञान का विश्वकोश समझना अधिक उपयुक्त होगा।

महाभारत का शान्तिपर्व भारतीय राजधर्मशास्त्र और मोक्षशास्त्र का अपूर्व ग्रन्थ है। शरशय्या पर पड़े हुए भीष्म विविध विषयों पर प्रवचन करते हैं, उनके शिष्य, भक्त और अनुयायी सब प्रकार के प्रश्न उनसे पूछते हैं, और तत्त्वज्ञानी भीष्म उनका उत्तर देते हैं।

भगवान् कृष्ण की 'भगवद्गीता' भी महाभारत का ही एक अंग है। कुरुक्षेत्र के मैदान में कौरवों और पाण्डवों की सेनायें जब युद्ध के लिये एकत्र थीं, तो पाण्डवों के सेनापति अर्जुन के हृदय में वैराग्य उत्पन्न होने लगा। अर्जुन ने देखा कि उसके गुरुजन, निकट-सम्बन्धी और मित्र शत्रुरूप से उसके सम्मुख उपस्थित हैं। उसने विचार किया कि इन गुरुजनों व प्रियजनों पर हथियार चलाना कितना अनुचित है। इस दशा में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को कर्तव्य और अकर्तव्य के सम्बन्ध में जो उपदेश दिया, वही 'गीता' के रूप में संगृहित है। तत्त्वज्ञान और धर्म की दृष्टि से गीता संसार की सबसे उत्कृष्ट और अद्भुत पुस्तक है। वैदिक युग से भारत में ज्ञान और तत्त्वचिन्तन की जो लहर प्रारम्भ हुई थी, श्रीकृष्ण ने उसे चरम सीमा तक पहुंचा दिया था। गीता में कृष्ण का यही तत्त्वज्ञान संगृहीत है, और किंकर्तव्यविमूढ़ अर्जुन के सदृश वर्तमान युग के भी करोड़ों नर-नारी उससे कर्तव्य और अकर्तव्य में विवेक कर सकते हैं।

रामायण—इक्ष्वाकुवंश के राजा रामचन्द्र का वृत्तान्त रामायण में बड़े विस्तार के साथ वर्णित है। इसकी रचना महर्षि वाल्मीकि ने की थी। वाल्मीकि संस्कृत-भाषा के आदिकवि माने जाते हैं, और उनके इस काव्य को संस्कृत का आदिकाव्य कहा गया है। रामायण की कथा को लेकर संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी आदि भाषाओं में हजारों पुस्तकें लिखी गई हैं। शायद ही कोई ऐसा भारतीय हो, जो राम की कथा से अपरिचित हो। राम का चरित्र ही ऐसा था, कि आर्य-जाति उसे कभी भुला नहीं सकती। राम आदर्श पुत्र, आदर्श भाई और आदर्श पति थे। रामायण का प्रत्येक चरित्र आदर्श है। कौशल्या-जैसी माता, लक्ष्मण-जैसा भाई, सीता-जैसी पत्नी, हनुमान् जैसा सेवक और राम-जैसा प्रजापालक राजा संसार के साहित्य में अन्यत्र ढूंढ सकना कठिन है।

रामायण-महाकाव्य जिस रूप में आजकल उपलब्ध होता है, वह अविकल रूप से महर्षि वाल्मीकि की रचना नहीं है। इसमें सन्देह नहीं, कि प्रारम्भ में वाल्मीकि ने राम के चरित्र को काव्यरूप में लिखा था। बाद में उसी के आधार पर रामायण की रचना हुई। संभवतः, रामायण का काव्य ५०० ई० पू० के लगभग में बना था। यह महात्मा बुद्ध के प्रादुर्भाव से पूर्व निर्मित हो चुका था, और उसमें आर्यों के जिस जीवन व संस्कृति का वर्णन है, वह प्राग्-बौद्धकालीन भारत के साथ सम्बन्ध रखती है। पांचवीं सदी ई० पू० के बाद भी वाल्मीकि-रामायण में अनेक नये आख्यान जुड़ते गये, और यह महा-

काव्य जिस रूप में आजकल उपलब्ध होता है, उसे उसने दूसरी सदी ई० पू० तक ग्रहण कर लिया था। पर इसमें सन्देह नहीं, कि महाभारत के समान रामायण भी बुद्ध के प्रादुर्भाव से पूर्व के युग की सभ्यता और संस्कृति पर प्रकाश डालती है।

रामायण की कथा—ऐक्ष्वाकव-वंश के राजा रामचन्द्र की कथा को उल्लिखित करने की यहां आवश्यकता नहीं है। यह कथा भारत में सर्वविदित है। अनेक पाश्चात्य विद्वानों के मत में रामायण की कथा इतिहास की वास्तविक घटना न होकर एक रूपक-मात्र है। उसमें आर्य-जाति की दक्षिण-भारत की विजय का रूपक-रूप से वर्णन किया गया है। कुछ विद्वानों ने यह कल्पना भी प्रस्तुत की है, कि राम और रावण का युद्ध वैदिक साहित्य के इन्द्र और वृत्र के युद्ध का ही एक नया रूप है। राम इन्द्र है, और रावण वृत्र। पर पाश्चात्य विद्वानों का यह मत अब पुराना पड़ गया है। अयोध्या के ऐक्ष्वाकव-वंश के राजाओं की सत्ता के सम्बन्ध में अब ऐतिहासिकों में मतभेद नहीं रहा है, और प्रायः सभी ऐतिहासिक अब राम की कथा की सत्यता को स्वीकृत करने लग गये हैं। कवि ने अपनी कल्पना द्वारा राम की कथा में चाहे कतिपय कल्पित बातों का समावेश क्यों न कर दिया हो, पर यह कथा एक सच्ची ऐतिहासिक घटना को सूचित करती है।

महाभारत की कथा—जिस प्रकार रामायण में अयोध्या के राजा रामचन्द्र का चरित्र वर्णित है, वैसे ही महाभारत में कुरु-वंश के कौरव-पाण्डवों की कथा लिखी गई है। इस कथा का भी इस पुस्तक में उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं। पर महाभारत का महत्त्व केवल कौरवों और पाण्डवों की कथा के कारण ही नहीं है। इस महाकाव्य से जहां राजा युधिष्ठिर के समकालीन भारत के अन्य राज्यों और राजकुलों का परिचय मिलता है, वहां साथ ही भारत के प्राचीन इतिहास पर भी उससे बहुत प्रकाश पड़ता है। प्राचीन आर्यों की प्रायः सम्पूर्ण ऐतिहासिक अनुश्रुति इस महाकाव्य में संगृहीत है। यही कारण है, कि भारतीयों की दृष्टि में इसका महत्त्व बहुत अधिक रहा है। ाचीन अनुश्रुति के अतिरिक्त भारतीयों का सम्पूर्ण ज्ञान भी स ग्रन्थ में समाविष्ट कर दिया गया है, और इसीलिये इसके विषय में यह दावा किया जाता है, कि 'जो इस ग्रन्थ में है, वही अन्यत्र भी है। और जो इसमें नहीं है, वह अन्यत्र भी कहीं नहीं है।'

रामायण और महाभारत का काल एक नहीं है, और न ही ये दोनों महा-

काव्य किसी एक युग की कथा को उल्लिखित करते हैं। रामायण और महाभारत की प्रधान कथाओं के काल में कई सदियों का अन्तर है। पर ये दोनों ग्रन्थ उस युग की दशा पर प्रकाश डालते हैं, जब कि आर्य लोग भारत में भली भांति बस गये थे, और जब कि उनके धर्म, सभ्यता और समाज ने एक स्थिर रूप धारण कर लिया था। वैदिक युग के बाद की और बौद्ध-युग के पूर्व की भारतीय संस्कृति के स्वरूप को समझने के लिये इन दो महाकाव्यों से बढ़कर अन्य साधन हमारे पास नहीं है। अतः अब हम इनके आधार पर इस युग की सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक और आर्थिक दशा पर प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे। पर इस प्रसंग में हमें यह ध्यान में रखना चाहिये, कि इन ऐतिहासिक महाकाव्यों और विशेषतया महाभारत के अनुशीलन द्वारा सभ्यता और संस्कृति का जो चित्र उपस्थित होता है, वह किसी एक समाज को चित्रित नहीं करता। इस युग तक भारत में बहुत-से छोटे-बड़े राज्य विकसित हो चुके थे। वैदिक युग के आर्य भारत के विविध प्रदेशों में बस गये थे, और इस देश के आदि निवासियों के सम्पर्क में आकर उनकी विविध शाखाओं ने अपनी पृथक् पृथक् सामाजिक दशा व संस्कृति का विकास प्रारम्भ कर दिया था। यही कारण है, कि महाभारत-जैसे विशाल महाकाव्य के विविध प्रसंगों में विविध प्रकार के जीवन व विचारों की उपलब्धि होती है। फिर भी इन ग्रन्थों से प्राचीन आर्यों के सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक व सांस्कृतिक जीवन के सम्बन्ध में बहुत-सी उपयोगी बातें ज्ञात हो सकती हैं।

(२) सामाजिक दशा

स्त्रियों की स्थिति—रामायण और महाभारत के अध्ययन से स्त्रियों की स्थिति के विषय में अनेक प्रकार के विचार उपलब्ध होते हैं। ऐक्ष्वाकव-राजा दशरथ का तीन स्त्रियों से विवाह करना सूचित करता है, कि इस युग में बहु-विवाह की प्रथा प्रचलित थी। महाभारत की कथा मे द्रौपदी के पांच पति थे। युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव—इन पांचों पांडवों ने द्रोपदी के साथ विवाह किया था। इससे सूचित होता है, कि उस समय बहुपति-विवाह की प्रथा भी कुछ वंशों व जातियों में प्रचलित थी। भीम और अर्जुन ने द्रोपदी के अतिरिक्त अन्य अनेक स्त्रियों से भी विवाह किया हुआ था। इससे प्रगट है, कि भारत के पारिवारिक जीवन में इस समय बहुत अन्तर आ गया था।

रामचन्द्र का वनवास अन्तःपुर के षड्यन्त्र का परिणाम था। जनता की इच्छा के विपरीत कैकेयी इस बात में सफल हुई, कि लोकप्रिय युवराज रामचन्द्र को राजगद्दी से दूर रख सके। पाण्डवों का वनवास द्यूत-क्रीड़ा का परिणाम था। जूए के दाव पर पाण्डव लोग न केवल अपनी राज्य-सम्पत्ति को ही हार गये, अपितु अपनी पत्नी द्रौपदी को भी जूए के दाव पर रखने में उन्हें संकोच नहीं हुआ। कौरवों ने द्रौपदी का राजसभा में खुले तौर पर अपमान किया, उसका चीरहरण तक किया। इससे प्रगट है, कि इस युग में भारतीय समाज में स्त्रियों की वह उच्च स्थिति नहीं रह गई थी, जो वैदिक काल में थी। यही कारण है, कि जब कतिपय महिलाओं ने महात्मा बुद्ध की शिष्या बनकर भिक्षुव्रत ग्रहण करने की इच्छा प्रगट की, तो उन्होंने उसे स्वीकार करने में संकोच अनुभव किया। यह बुद्ध की प्रतिभा और सुधार-वृत्ति का परिणाम था, जो उन्होंने स्त्रियों को भिक्षुणी बनाना स्वीकार कर उनके लिये एक पृथक् संघ की व्यवस्था की। महाभारत के समय में स्त्रियों की स्थिति में जो हीनता आ गई थी, उसी के कारण बुद्ध को इस प्रकार के संकोच का अनुभव हुआ था। उपनिषदों के युग में स्त्रियां भी परम विदुषी होती थीं। याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी के संवाद में उपनिषद्कार ने मैत्रेयी के जिस ज्ञान का उल्लेख किया है, उसके साथ तुलना करने पर महाभारत के समय की स्त्री बहुत हीन प्रतीत होती है। इसीलिये महाभारत में ऐसे वाक्य उपलब्ध होते हैं, कि 'स्त्री ही सब बुराइयों की मूल है' और 'पुत्री का जन्म एक अनर्थ की बात है।' पर इस प्रकार के विचारों के साथ ही महाभारत में ऐसे वाक्यों की भी सत्ता है, जिनमें स्त्रियों को अत्यन्त मान्य व प्रतिष्ठित पद दिया गया है।

विवाह के विविध प्रकार—महाभारत व इस युग के अन्य साहित्य में आठ प्रकार के विवाहों का उल्लेख आता है। विवाह की ये विविध पद्धतियां निम्न-लिखित थीं—

(१) ब्राह्म विवाह—जब पिता अपनी कन्या को वस्त्र व आभूषणों से सुसज्जित कर किसी योग्य वर को प्रदान करे, तो इस प्रकार के विवाह को 'ब्राह्म' कहा जाता था।

(२) प्राजापत्य-विवाह—जब वर और कन्या का विवाह प्राजापत्य-धर्म की वृद्धि (सन्तानोत्पत्ति) के लिये किया जाय, और पिता इसी उद्देश्य से किसी योग्य वर को अपनी कन्या प्रदान करे, तो उसे 'प्राजापत्य' विवाह कहते थे।

(३) आर्ष-विवाह —इसमें वर की ओर से कन्या को गौ आदि भेंट में देनी होती थी। वधू की प्राप्ति के लिये वर कन्या-पक्ष को दक्षिणा देता था।

(४) दैव—यज्ञ में ऋत्विक् का कर्म करते हुए जामाता को अलंकार आदि से विभूषित कन्या प्रदान करके जो विवाह किया जाता था, उसे 'दैव' कहते थे।

(५) आसुर—कन्यापक्ष को भरपूर धन देकर सन्तुष्ट कर कन्या प्राप्त करके जो विवाह होता था, वह 'आसुर' कहाता था।

(६) गान्धर्व—परस्पर स्वच्छन्द प्रेम के कारण वर और कन्या अपनी इच्छा से जो विवाह करते थे, उसे 'गान्धर्व' कहते थे।

(७) राक्षस—कन्या का जबर्दस्ती अपहरण कर जो विवाह होता था, वह "राक्षस' कहाता था।

(८) पैशाच—मद्य आदि के सेवन से मस्त हुई कन्या से विवाहसम्बन्ध स्थापित कर लेने पर ऐसे विवाह को 'पैशाच' कहते थे।

इन आठ प्रकार के विवाहों में से पहले चार विवाह धर्मानुकूल माने जाते थे। पिछले चार विवाह आर्य-मर्यादा के विरूद्ध थे, पर क्योंकि उनका भी इस युग में प्रचलन हो गया था, अतः उन्हें कानून की दृष्टि से स्वीकार्य माना जाता था। इस समय क्षत्रियों में राक्षस-विवाह का प्रचलन बहुत बढ़ गया था। अर्जुन का सुभद्राहरण, कृष्ण का रुक्मिणीहरण और दुर्योधन का कलिंगराज की पुत्री का हरण इसके उदाहरण हैं। महाभारत में अनेक स्थलों पर इन विविध प्रकार के विवाहों के गुण-दोष का विवेचन किया गया है। यद्यपि उस युग के विचारकों की दृष्टि में पहले चार प्रकार के विवाह ही धर्मानुकूल थे, पर पिछले चार प्रकार के विवाहों के पक्षपाती लोगों की भी कमी नहीं थी। महाभारत में एक स्थान पर भीष्म के मुख से कहलवाया गया है, कि "विवाह की सबसे उत्तम पद्धति स्वयंवर-विवाह की है। क्षत्रिय लोग उसे बहुत पसन्द करते हैं। परन्तु बलपूर्वक कन्या का हरण करके उसके साथ विवाह कर लेना उससे भी अधिक उत्तम है। इसीलिये मैं इन कन्याओं को हर लाया हूं।" (आदिपर्व १०२।११)

बाल-विवाह—महाभारत के काल में भारत में बाल-विवाह की प्रथा का भी प्रारम्भ हो गया था। अर्जुन के पुत्र अभिमन्यु का विवाह सोलह वर्ष की आयु में हुआ था। अनुशासन पर्व में भीष्म ने व्यवस्था दी है, कि ३० वर्ष की आयु का पुरुष १० वर्ष की कन्या से विवाह कर सकता है, और

२१ वर्ष का पुरुष ७ वर्ष की बालिका के साथ विवाह कर सकता है। (अनु० ४४।१२)

नियोग—इस काल में नियोग की प्रथा भी प्रचलित थी। नियोग के विषय में महाभारत में कहा गया है, कि "पति के मर जाने पर स्त्री देवर के साथ नियोग करके सन्तानोत्पत्ति कर सकती है।" (अनुशासन पर्व ४४।५० ५१) महाभारत में नियोग के अनेक दृष्टान्त भी उपलब्ध होते हैं। यदि पति जीवित हो, तो भी स्त्री पति की अनुमति से नियोग कर सकती थी। पाण्डवों की माता कुन्ती ने युधिष्ठिर आदि जो पुत्र उत्पन्न किये थे, वे नियोग द्वारा ही उत्पन्न हुए थे। इसके लिये उसे उसके पति पाण्डु ने आदेश दिया था। पाण्डु स्वयं सन्तानोत्पत्ति में असमर्थ था। महाभारत की एक कथा के अनुसार जब परशुराम ने बहुत-से क्षत्रियों का विनाश कर दिया, तो क्षत्रिय-पत्नियों ने ब्राह्मण-पुरुषों के साथ नियोग कर सन्तान उत्पन्न की, और इस प्रकार अपने वंश को स्थिर रखा।

परदे की प्रथा—वैदिक युग में परदे की प्रथा नहीं थी। पर महाभारत के काल में इसका भी सूत्रपात हो गया था। महाभारत के स्त्रीपर्व में पति-पुत्र आदि की मृत्यु के शोक से युद्ध-भूमि में रोती हुई स्त्रियों के सम्बन्ध में लिखा है, कि "जिन स्त्रियों को पहले देवता भी नहीं देख सकते थे, वे आज सब लोगों के सम्मुख रोती हुई दीख पड़ रही हैं।" इसी प्रकार महाभारत के शल्यपर्व (२९।७४) में दुर्योधन की स्त्रियों की 'असूर्यम्पश्या' (जिन्हें सूर्य तक भी न देख सके) कहा गया है।

पर इससे यह नहीं समझना चाहिये, कि महाभारत के समय में परदे की प्रथा उस ढंग से प्रचलित थी, जैसी कि भारतीय इतिहास के मध्यकाल में चलित हो गई। स्वयंवर के अवसर पर स्त्रियां सभा में स्वतन्त्ररूप से आती थीं, और अपने पति का स्वयं वरण करती थीं। वे सार्वजनिक उत्सवों में सम्मिलित होती थीं, और पति के कार्य में हाथ भी बंटाती थीं।

वर्ण-व्यवस्था—इस युग में जातिभेद भी पहले की अपेक्षा अधिक विकसित हो गया था। ब्राह्मण और क्षत्रियवर्ग सर्वसाधारण जनता (विशः) से स्पष्ट रूप से पृथक् हो गये थे। ब्राह्मणों की उत्कृष्टता और पवित्रता की भावना सर्वसम्मत रूप से स्वीकृत कर ली गई थी। समाज को चार वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र) में विभक्त करके उनके सम्बन्ध में यह विचार विकसित हो गया था, कि विविध वर्णों के लोगों को अपने-अपने 'स्वधर्म'

में स्थिर रहना चाहिये। समाज का कल्याण इसी बात में है, कि सब लोग अपने धर्म (कार्य) पर स्थिर रहें, और परधर्म का अनुसरण करने का यत्न न करें। 'स्वधर्म' के पालन से ही मनुष्य स्वर्ग और मोक्ष को प्राप्त कर सकता है—यह विचार इस युग में भली-भांति विकसित हो गया था। शूद्र का कार्य अन्य तीन वर्णों की सेवा करना है। यदि वह पूरी तरह लगन के साथ अन्य वर्णों के लोगों की सेवा करता रहे, तो 'स्वधर्म' के पालन द्वारा वह भी अपने जीवन के परम लक्ष्य (स्वर्ग और मोक्ष) को प्राप्त कर सकता है, यह विचार इस युग में बहुत बल पकड़ चुका था।

पर वर्णों का यह विभाग पूर्णतया जन्म पर ही आश्रित था, यह बात सही नहीं है। महाभारत में यह विचार भी उपलब्ध होता है, कि चारों वर्णों की सृष्टि गुण और कर्म के अनुसार ही की गई है। उसी व्यक्ति को ब्राह्मण समझा जाता था, जिसने काम, क्रोध आदि को वश में करके इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर ली हो, और जो यज्ञ-कर्म व पठन-पाठन में रत हो। यद्यपि ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि वर्णों के सम्बन्ध में गुण कर्म का विचार अबतक भी विद्यमान था, पर कतिपय लोग ऐसे भी थे, जो अपने वर्ण के कर्म से विमुख होने पर भी ब्राह्मण-सदृश उच्च पद को प्राप्त किये हुए थे। वर्ण-व्यवस्था का जो विकृत रूप बाद के इतिहास में दृष्टिगोचर होता है, उसका सूत्रपात इस युग में हो गया था। ब्राह्मण के लिये यह आदर्श माना जाता था, कि वह धन का दास न हो, त्याग और अकिंचनता को ही अपना ध्येय समझे। पर महाभारत में द्रोणाचार्य और कृपाचार्य-जैसे ब्राह्मणों के मुख से कहलवाया गया है, कि "धन मनुष्य का दास नहीं है, अपितु मनुष्य ही धन का दास है। यही बात सत्य है। कौरवों ने धन द्वारा ही हमें बांध लिया है।" (आदि पर्व ४३।५७)। द्रोणाचार्य जैसे ब्राह्मणों का धन का दास होना इस युग में सम्भव हो गया था, यद्यपि यह बात पुराने वैदिक युग के सम्बन्ध में नहीं कही जा सकती।

दास-प्रथा—महाभारत में अनेक स्थानों पर दास-दासियों का भी उल्लेख आता है। विशेषतया स्त्रियों को दासी के रूप में रखने व उन्हें दूसरों को दान में दे देने की प्रथा उस समय भली-भांति विकसित हो चुकी थी। ब्राह्मणों को दान-दक्षिणा देते हुए दासियों के प्रदान का महाभारत में अनेक स्थानों पर वर्णन है।

मांस-भक्षण—महाभारत के समय भारत में मांस-भक्षण का बहुत प्रचार

था। 'जीव ही जीव का भोजन है' यह विचार उस समय लोगों के मन में बद्धमूल था। यज्ञों और श्राद्ध-कर्म के अवसर पर भी पशुहिंसा और बलिदान का उल्लेख महाभारत में मिलता है। महात्मा बुद्ध ने पशु-हिंसा के विरुद्ध आवाज उठाकर जो अहिंसा-व्रत पर इतना अधिक जोर दिया, उसका प्रधान कारण यही था, कि प्राग्-बौद्धकाल के भारत में पशुओं की हिंसा बहुत अधिक बढ़ गई थी।

(३) राजनीतिक दशा

आर्य-जनपद—वैदिक युग में आर्यों के जो छोटे-छोटे राज्य भारत में स्थापित हुए थे, इस काल में उनके क्षेत्र या कलेवर में अच्छी वृद्धि हो गई थी। अनेक शक्तिशाली महत्त्वाकांक्षी आर्य राजाओं ने पड़ोस में बसनेवाले आर्य-भिन्न लोगों को जीतकर या निर्बल आर्य-राजाओं को ही अपनी अधीनता में लाकर अपने राज्यों के क्षेत्र को विस्तृत कर लिया था। ऐक्ष्वाकव-वंशी राजा रघु और पौरव-वंशी भरत जैसे राजाओं के राज्य केवल 'सजात' जन तक ही सीमित नहीं रहे थे। ऐसे भी अनेक राज्य स्थापित हो गये थे, जिनमें एक से अधिक जन (कबीला या ट्राइब) सम्मिलित थे। पर इस युग में प्रधानतया राज्यों का स्वरूप इस प्रकार का ही था, कि उनमें एक-एक जन की ही अवस्थिति थी। अयोध्या के ऐक्ष्वाकव-राजा कोशल-जन के स्वामी थे, और कोशल-जनपद का क्षेत्रफल बहुत अधिक विस्तृत नहीं था। रघु जैसे प्रतापी ऐक्ष्वाकव राजाओं ने अन्य राज्यों पर विजय अवश्य स्थापित की थी, पर उनपर स्थिर रूप से शासन करने का प्रयत्न नहीं किया था। यही कारण है, कि इस युग के राज्यों का स्वरूप प्राचीन ग्रीस के 'पोलिस' या प्राचीन इटली के 'सिविटस' के सदृश था। ऐतिहासिकों ने इस युग के राज्यों को 'नगर-राज्य' (सिटी स्टेट) नाम दिया है, क्योंकि इन राज्यों के राजनीतिक, आर्थिक और धार्मिक जीवन का केन्द्र एक नगरी (पुर) होती थी, जो प्रायः राज्य के मध्य में स्थित होती थी। पुर के चारों ओर का प्रदेश 'जनपद' कहाता था, जिसमें आर्य-जाति के कृषक शूद्र कर्मकरों की सहायता से खेती किया करते थे। यह जनपद अनेक ग्रामों में विभक्त होते थे। प्रत्येक ग्राम की भूमि सम्पूर्ण ग्राम की सम्पत्ति समझी जाती थी, जिसे ग्रामसभा द्वारा खेती के लिये कृषकों में विभक्त कर दिया जाता था। पुर में शिल्पी, वैदेहक (व्यापारी), पुरोहित, ब्राह्मण व सैनिक लोग निवास करते थे। राज्य का शासन

भी पुर में ही केन्द्रित होता था। प्राग्-बौद्धकाल में इस ढंग के सैकड़ों राज्य (पुर और जनपद) भारत में विद्यमान थे। महाभारत-युद्ध में कौरवों या पाण्डवों का पक्ष लेकर जो बहुत-से राजा कुरुक्षेत्र में एकत्रित हुए थे, उनकी संख्या ो सौ के लगभग थी।

साम्राज्यवाद की प्रवृत्ति--आर्यों के इन राज्यों में साम्राज्य-विस्तार की प्रवृत्ति भी इस समय भलीभांति विकसित हो गई थी। अनेक प्रतापी राजा इस बात के लिये प्रयत्नशील रहते थे, कि अन्य राज्यों को जीतकर '**चक्रवर्ती**' या '**सार्वभौम**' पद को प्राप्त करें। पर ये महत्त्वाकांक्षी आर्य-राजा अन्य राजाओं का मूलोच्छेद करना आर्य-मर्यादा के विपरीत समझते थे। उनका प्रयत्न केवल यह होता था, कि अन्य राजाओं को अपनी अधीनता स्वीकृत करने के लिये विवश करें। इसके लिये वे अश्वमेध-यज्ञ का आयोजन किया करते थे। यज्ञीय अश्व के मार्ग को रोकने का प्रयत्न जो कोई राजा करता था, उसे युद्ध ारा वश में लाने का प्रयत्न किया जाता था। पर युद्ध में परास्त राजा का भी उच्छेद करना आर्य-मर्यादा के विरुद्ध था, क्योंकि जो कोई आर्य-राजा मूर्धाभिषिक्त हो, उसके राज्य को छीन लेना उस युग में अनुचित माना जाता था। इन्द्रप्रस्थ के राजा युधिष्ठिर ने अन्य राजाओं को अपनी अधीनता स्वीकृत करने के लिये विवश किया, पर उनका मूलोच्छेद नहीं किया।

जिस समय भारत के शक्तिशाली आर्य-राजा अपनी शक्ति का विस्तार कर चक्रवर्ती-पद को प्राप्त करने में गौरव अनुभव करते थे, प्राच्यदेश में एक प्रकार के नवीन साम्राज्यवाद का विकास हो रहा था, जो प्राचीन आर्य-परम्परा के प्रतिकूल था। मगध के शूद्र व शूद्रप्राय (आनार्य-रक्त से मिश्रित) राजा उस समय अन्य राजाओं का मूलोच्छेद कर अपने अबाधित शासन की स्थापना में तत्पर थे। महाभारत के समय में मगध का राजा जरासन्ध इसी प्रयत्न में संलग्न था। उसने बहुत-से राजाओं को कैद में डालकर उनके राज्यों को अपने साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया था। महाभारत की कथा के अनुसार जरासन्ध राजाओं को कैद कर उनकी बलि दिया करता था। इसीलिये अन्धक वृष्णिसंघ के 'गणमुख्य' श्रीकृष्ण न इन्द्रप्रस्थ के पाण्डवों की सहायता से उसका घात कराया। जरासन्ध की कैद में जो बहुत-से आर्य-राजा विद्यमान थे, उन सबको कृष्ण ने मुक्त किया और पाण्डव युधिष्ठिर के नेतृत्व में आर्य-मर्यादा के अनुकूल साम्राज्य स्थापित

करने का प्रयत्न किया । कुछ समय के लिये कृष्ण को अपने प्रयत्न में सफलता अवश्य हुई, पर शीघ्र ही मगध के राजाओं ने फिर सिर उठाया । महाभारत-युद्ध के लगभग पांच सौ साल बाद मगध के इन शूद्रप्राय राजाओं ने उत्तरी भारत के बड़े भाग पर अपना एकाधिकार स्थापित कर लिया । मगध के ये राजा 'एकराट्' कहाते थे । उनकी एकराट् होने की प्रवृत्ति महाभारत-काल में ही उग्ररूप धारण करने लग गई थी ।

शासन का स्वरूप--रामायण और महाभारत के काल में भारत में आर्यों के जो सैकड़ों राज्य विद्यमान थे, उन सबमें शासन का स्वरूप एकसदृश नहीं था । उनमें बहुसंख्यक राज्य ऐसे थे, जिन्हें 'राजतन्त्र' (मोनार्की) कहा जा सकता है । इनके राजा प्रायः वंशक्रमानुगत होते थे । पर इस युग में ऐसे राज्य भी विद्यमान थे, जिनमें किसी वंशक्रमानुगत राजा का शासन नहीं था। इन्हें हम 'गणराज्य' या संघराज्य' कह सकते हैं । कृष्ण द्वारा शासित अन्धक वृष्णि संघ इसी प्रकार का राज्य था । राजतन्त्र राज्यों में भी सबके शासन की पद्धति एक-जैसी नहीं थी । कतिपय राज्यों में पुरानी आर्य-परम्परा के अनुसार जनता का शासन में बहुत अधिक हाथ था । पर साथ ही ऐसे राज्यों की भी सत्ता थी, जिनमें राजा स्वेच्छाचारी व निरंकुशरूप से शासन करता था ।

राजतन्त्र राज्य--रामायण के अनुशीलन से कोशल-जनपद की शासन-पद्धति के सम्बन्ध में अनेक उपयोगी बातें ज्ञात होती हैं । जब राजा दशरथ वृद्ध हो गये, तो उन्होंने अपने ज्येष्ठ पुत्र रामचन्द्र को 'युवराज' के पद पर अभिषिक्त करने का विचार किया । इसके लिये उन्होंने कोशल-देश की परिषद् का अधिवेशन बुलाया । इस परिषद् में ब्राह्मण, बलमुख्य (सेनापति व सेनानायक), पौर और जानपद एकत्र हुए । राजा दशरथ के प्रस्ताव को सुनकर परिषद् के सब सदस्यों ने उससे सहमति प्रगट की, और 'घोष' द्वारा राजा के प्रस्ताव का अनुमोदन किया । (रामायण, अयोध्याकाण्ड, १।४९-५०, २।१--२२) वाल्मीकि-रामायण के इस वर्णन से स्पष्ट है, कि कोशल-जनपद में राजा के उत्तराधिकारी को 'स्वीकृत' करना या वरण करना परिषद् का काम था, जिसमें राज्य के प्रमुख जन सदस्यरूप से एकत्र हुआ करते थे । रामायण में इन सदस्यों को 'राजानः लोकसम्मताः' (जनता द्वारा सम्मत व स्वीकृत राजागण) कहा गया है । परिषद् के सदस्यों की यह संज्ञा ध्यान देने योग्य है । वैदिक युग में राजा को 'समान लोगों में ज्येष्ठ' माना जाता था । कोशल-सदृश जनपदों में यह परम्परा अभी तक नष्ट

नहीं हुई थी। यद्यपि वहां ऐक्ष्वाकव-वंश का शासन था, तथापि उस राजवंश के राजा उसका शासन स्वेच्छाचारी व निरंकुशरूप से नहीं करते थे। वे परिषद् की सहायता से राज्यकार्य का संचालन करते थे, और परिषद् के सदस्य भी 'राजा' कहाते थे। परिषद् के इन सदस्यों की नियुक्ति चुनाव द्वारा होती हो, यह कह सकना कठिन है। पर ये राज्य के प्रमुख व्यक्ति होते थे, और इसीलिये 'लोकसम्मत' माने जाते थे। सम्भवतः, जनपद के अन्तर्गत विविध ग्रामों के "ग्रामणी' और पुर-सभा के सदस्य (जिन्हें 'जानपद' और 'पौर' कहा जाता था) प्रमुख ब्राह्मणों और सेनानायकों के साथ मिलकर राज्य की परिषद् का निर्माण करते थे। कौटलीय अर्थशास्त्र में उस राजा को उत्तम बताया गया है, जिसकी परिषद् 'अक्षुद्र' हो, और जो 'वृद्धदर्शी', (वृद्ध या पौर-जानपदों द्वारा राजकीय विषयों का अवलोकन करनेवाला) हो। इसमें सन्देह नहीं, कि प्राग्-बौद्धकाल के अनेक राज्यों में परिषद् की सत्ता थी, और राजा उसी के परामर्श के अनुसार शासन किया करता था।

रामायण के समान महाभारत में भी राजा की 'सभा' का वर्णन आता है। शान्तिपर्व (८५।७-९) में इस सभा की रचना के सम्बन्ध में निम्नलिखित विवरण मिलता है—'इस सभा में चार ब्राह्मण हों, जो आयुर्वेद में निपुण विचारशील, प्रगल्भ, स्नातक और शुचि-युक्त हों। युद्ध-विद्या में निपुण आठ क्षत्रिय इसमें रहें। धन से सम्पन्न इक्कीस वैश्य इसमें शामिल हों। विनय-सम्पन्न और अपने कार्य में निर्दोष तीन शूद्र भी इसके सदस्य हों। इनके अतिरिक्त एक 'सूत' भी इस सभा में शामिल हो, जो आठों गुणों से युक्त और कम से कम पचास वर्ष की आयु का हो।' इसमें सन्देह नहीं, कि महाभारत की यह सभा जनता का वास्तविक रूप में प्रतिनिधित्व करती थी, क्योंकि इसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र——सब वर्णों के प्रमुख व्यक्ति सम्मिलित होते थे।

राजा की प्रतिज्ञा——जब कोई राजा राजसिंहासन पर आरूढ़ होता था, तब उसे एक प्रतिज्ञा करनी होती थी। इस युग के शासन के सम्बन्ध में इस प्रतिज्ञा से बहुत प्रकाश पड़ता है। महाभारत में इस प्रतिज्ञा का निम्नलिखित रूप दिया गया है——"मैं प्रजा को 'ब्रह्म' मानकर उसका पालन करूंगा। जो आर्य-धर्म के अनुकूल और दण्डनीति द्वारा अभिमत हैं, उन्हें मैं अशंक होकर करता रहूंगा। मैं कभी 'स्ववश' नहीं होऊंगा।" राजा के लिये उसकी प्रजा ही ब्रह्म है, उसी का पालन व उपासना उसका

परम कर्त्तव्य है। उसे कभी 'स्ववश' (स्वेच्छाचारी) नहीं होना है, उसे अशंक होकर उन कर्त्तव्यों का पालन करना है, जो धर्म के अनुकूल व राजनीति द्वारा सम्मत हैं। राज्याभिषेक के समय ली जानेवाली यह प्रतिज्ञा इस युग के शासन की भावना को भली-भांति स्पष्ट कर देती है। राजा जब उपर्युक्त प्रतिज्ञा करने के लिये तत्पर होता था, तो पहले उसे यह उपदेश दिया जाता था—"तुम्हारे लिये न कोई प्रिय है, न कोई अप्रिय। तुम्हें सब मनुष्यों के साथ एक समान व्यवहार करना है, सबको एक दृष्टि से देखना है। तुम काम, क्रोध, लोभ और मान का परित्याग करो। राज्य में जो कोई भी मनुष्य धर्म से च्युत हो, तुम उसका शक्ति का प्रयोग कर निग्रह करो। (शान्तिपर्व ५९।१०३-१०९)।

राजा पर नियन्त्रण—यदि कोई राजा राज्याभिषेक के समय की गई प्रतिज्ञा का उल्लंघन करे, अपने कर्त्तव्य से च्युत हो, तो उसे राज्यच्युत भी किया जा सकता था। महाभारत में इसके अनेक दृष्टान्त उपलब्ध होते हैं। राग-ेष के वश होकर राजा वेन ने प्रजा पर अत्याचार किया, उसने धर्म का उल्लंघन किया, अतः ब्रह्मवादी ऋषियों ने मन्त्रपूत कुशाओं द्वारा उसका घात कर दिया (शांति पर्व ५९।९४)। इसी प्रकार राजा खनीनेत्र के विरुद्ध प्रजा ने विद्रोह कर दिया, क्योंकि वह प्रजा के रंजन में असमर्थ था, और अपने राजधर्म का पालन नहीं करता था। खनीनेत्र को राज्यच्युत कर प्रजा ने उसके ज्येष्ठ पुत्र सुवर्चा को राज्यसिंहासन पर बिठाया (अश्वमेध पर्व ४।८-९)

जनता का राजा के वरण के सम्बन्ध में इतना अधिक अधिकार माना जाता था, कि वह किसी सामान्य दोष के कारण भी उसे अपना राजा स्वीकृत करने से इन्कार कर सकती थी। महाभारत की एक कथा के अनुसार राजा प्रतीप का ज्येष्ठ पु देवापि सर्वगुण-सम्पन्न था। प्रतीप चाहता था, कि उसके बाद वही राजा बने। पर उसे त्वक्-रोग (कुष्ठ) था, और प्रजा यह नहीं चाहती थी, कि उसका राजा एक ऐसा व्यक्ति बने, जो त्वक्रोग से पीड़ित हो। अतः उसने देवापि को राजा मानना स्वीकार नहीं किया, और उसे निराश होकर वन का आश्रय लेना पड़ा।

राजा के कर्त्तव्य—राजा के क्या कर्त्तव्य हैं, इस विषय पर महाभारत में अनेक स्थलों पर विचार किया गया है। राजा का मुख्य कर्त्तव्य है, प्रजा का रंजन करना। प्रजा का रंजन करने के कारण उसे राजा कहा जाता है—यह विचार इस युग के लोगों में बद्धमूल था। राजा को किसी भी दशा में निर्बलों पर अत्याचार

नहीं करना चाहिये। इसके विपरीत उसे अनाथ, वृद्ध और असहाय लोगों के पालन में सदा तत्पर रहना चाहिये। उसे किसी के प्रति पक्षपात न कर सबके साथ न्यायपूर्वक बरतना चाहिये। यदि उसका अपना पुत्र भी कोई अपराध करे, तो उसे कानून के अनुसार दण्ड देना चाहिये। इस प्रकार के विचार महाभारत में स्थान-स्थान पर उपलब्ध होते हैं, और इनसे यह भली-भांति स्पष्ट हो जाता है, कि इस युग में राज्य-शासन के क्या आदर्श माने जाते थे।

राज्य की उत्पत्ति--महाभारत के समय अनेक विचारकों ने इस प्रश्न की मीमांसा शुरू कर दी थी, कि राज्य-संस्था की उत्पत्ति किस प्रकार हुई। उन्होंने यह सोचना शुरू किया, कि यह क्या बात है, जो राजा का इतना अधिक प्रभाव होता है। देखने में तो वह साधारण मनुष्यों के ही सदृश है। उसके आंख, कान, नाक सब उसी प्रकार के होते हैं, जैसे कि सर्वसाधारण मनुष्यों के होते हैं। पर क्या कारण है, जो वह इतने बड़े जन-समूह पर शासन करता है। इस प्रश्न का उत्तर महाभारत-युग के विचारकों ने यह दिया, कि एक ऐसा समय था, जब संसार में राज्य-संस्था का अभाव था। उस समय सर्वत्र 'मात्स्यन्याय' प्रचलित था, बलवान् निर्बल को खा जाता था। इस दशा से सब लोग घबरा गये। उन्होंने निश्चय किया, कि अराजकता को दूर कर राज्य-संस्था का प्रादुर्भाव किया जाय। अतः उन्होंने अपने में से सबसे योग्य व्यक्ति को राजा निर्वाचित किया, और उससे यह 'समय' (इकरार या संविदा) किया, कि वह सबकी रक्षा करे, और सब लोग 'बलि' (राज्यकर) के रूप में उसे अपनी आमदनी का छठा भाग प्रदान किया करें। महाभारत के अनुसार राजा की शक्ति का आधार यह 'समय' ही है। यदि कोई राजा इस 'समय' का भंग कर प्रजा-पालन के अपने कर्त्तव्य की उपेक्षा करे, तो वह राजसिंहासन पर आरूढ़ रहने के अपने अधिकार को खो देता है।

कर-पद्धति--राजा प्रजा से जो कर वसूल करता था, उसका उद्देश्य यह माना जाता था कि राजा उसका उपयोग जनता के कल्याण के लिये करे। महाभारत के शान्तिपर्व में राजा को उपदेश किया गया है, कि "हे कुरुनन्दन! प्रजा से उसकी आय का छठा भाग बलि के रूप में ग्रहण करो। पर यह ध्यान रखो, कि यह बलि प्रजा की रक्षा के लिये ही ली जाती है" (शान्तिपर्व ६९।२५)। कर के सम्बन्ध में महाभारत के ये वाक्य ध्यान देने योग्य हैं--

"कर की मात्रा निश्चित करते हुए यह सदा ध्यान में रखना चाहिये, कि उत्पादक ने कितनी उत्पत्ति की है, और उसके लिये उसे कितना श्रम करना पड़ा है। किसी भी उद्योग-धन्धे पर कर लगाते हुए यह दृष्टि में रखना चाहिये, कि व्यवसायी और राजा दोनों का उस व्यवसाय के फल में भाग हो। कर की मात्रा इतनी अधिक न हो, कि व्यवसाय का ही उसके कारण विनाश हो जाय। जो राजा प्रजा पर बहुत अधिक कर लगाता है, प्रजा उससे द्वेष करने लग जाती है। जिस राजा से प्रजा द्वेष करने लगती है, उसका कभी श्रेय नहीं हो सकता। कर लगाते हुए प्रजा को गौ के समान समझना उचित है। यदि कोई आदमी गाय का सब दूध निकाल ले और उसके बछड़े के लिये दूध न रहने दे, तो वह बछड़ा किसी काम का नहीं रह जाता। इसी प्रकार यदि प्रजा पर अधिक कर लगा दिया जाय, तो उसकी कार्य करते रहने की प्रेरणा नष्ट हो जाती है।" (शान्ति पर्व ८७।१६-२१)

गणराज्य—यद्यपि इस युग में बहुसंख्यक राज्यों में राजतन्त्र-शासन विद्यमान थे, पर कतिपय राज्य ऐसे भी थे, जिनमें गणतन्त्र शासन-प्रणाली प्रचलित थी। महाभारत के शान्तिपर्व (अध्याय १०७) में भीष्म ने गणराज्यों के सम्बन्ध में विचार किया है, और यह प्रतिपादित किया है, कि गणों में मन्त्र को गुप्त रख सकना बहुत कठिन होता है। उनके विभिन्न नेताओं में परस्पर द्वेष के कारण फूट भी शीघ्र पड़ जाती है, और इसलिये उन्हें जीत सकना बहुत कठिन नहीं होता। गणराज्यों के सब लोग जाति कुल की दृष्टि से अपने को एक समान समझते हैं, यद्यपि बुद्धि रूप धन और कार्यकुशलता की दृष्टि से वे एक सदृश नहीं होते। इसीलिये वे एक दूसरे का समुचित आदर नहीं करते, और उनमें फूट पड़ जाती है। शान्तिपर्व में ही एक अन्य अध्याय (अध्याय ८७) में कृष्ण और नारद का संवाद दिया गया है, जिसमें नारद कृष्ण को गणराज्यों की निर्बलता के विषय में बताकर यह उपदेश देते हैं, कि गणों के इन दोषों को किस प्रकार दूर किया जाय। इसमें सन्देह नहीं, कि इस युग के गणराज्यों का अनुशीलन करने के लिये महाभारत के ये अध्याय अत्यन्त उपयोगी हैं। हम अन्यत्र इनपर अधिक विस्तार से प्रकाश डालेंगे।

सैन्य-शक्ति—महाभारत के अध्ययन से इस युग की सैन्य-शक्ति के विषय में भी अनेक ज्ञातव्य बातें ज्ञात होती हैं। इस युग में सेना के चार अंग होते थे—पदाति, अश्व, रथ और हाथी। सेना में जहां भृत (वेतन द्वारा भर्ती

किये गये) सैनिक होते थे, वहां साथ ही ऐसे सैनिक भी होते थे, जिन्हें महाभारत ने 'अभृत' कहा है। सम्भवतः ये स्वयंसेवक के रूप में भरती होते हुए सैनिक थे, जो राष्ट्रीय आपत्ति के समय रणक्षेत्र में आ उपस्थित होते थे।

इस युग में सैनिक लोग जिन अस्त्र-शस्त्रों का उपयोग करते थे, महाभारत में उनका विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। इनमें कतिपय हथियार निम्न-लिखित हैं—लोहे के बने हुए चक्र, भुशुण्डि, तोमर, शक्ति, शूल, पट्टिश, शतघ्नी, धनुष-बाण, खड्ग, प्रास, परिघ, भिन्दिपाल, कुठार, मूसल, क्षुरप्त, लोहगोलक, लगुड, अश्म, कार्ष्णायस और चतुष्चक्र। इन विविध अस्त्रों का क्या स्वरूप था, यह कह सकना कठिन है। पर इसमें सन्देह नहीं, कि महाभारत के समय सैनिक लोग अनेक प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों द्वारा युद्ध किया करते थे।

(४) धार्मिक जीवन

याज्ञिक कर्मकाण्ड—वैदिक-युग के समान रामायण और महाभारत के काल में भी भारत के धर्म में यज्ञों को प्रमुख स्थान प्राप्त था। जिस प्रकार मनुष्य के वैयक्तिक जीवन में विविध संस्कारों का महत्त्व था, जो बड़े अनुष्ठान के साथ किये जाते थे, वैसे ही मनुष्य के पारिवारिक व सामाजिक जीवन में अनेक यज्ञों की व्यवस्था थी। जो पारिवारिक संस्कार व अनुष्ठान इस काल में स्थिर हुए, वे भारत में बहुत समय तक कायम रहे, और वर्तमान समय में भी वे हिन्दुओं के जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। इन संस्कारों और यज्ञों पर हम इस पुस्तक के एक अन्य अध्याय में प्रकाश डाल चुके हैं, अतः उनका यहां फिर से उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं। यह निर्विवाद है, कि ब्राह्मण-ग्रन्थों द्वारा यज्ञों की और गृह्य-सूत्रों द्वारा पारिवारिक अनुष्ठानों की जिन विधियों का विकास हुआ था, वे रामायण और महाभारत के युग में भी विद्यमान थी। रामायण की कथा के अनुसार राजा दशरथ ने अपने पुत्र राम और लक्ष्मण को इस उद्देश्य से ऋषि विश्वामित्र के साथ वन में भेज दिया था, ताकि वे ऋषियों के याज्ञिक अनुष्ठानों में राक्षसों द्वारा डाले जानेवाले विघ्नों का निवारण कर सकें। महाभारत के अनुसार पाण्डव लोगों ने राजसूय-यज्ञ का आयोजन किया था, और उस अवसर पर जिन याज्ञिक विधियों का अनुसरण किया गया था, उनका हमें इस महाकाव्य के अनुशीलन से भली-भांति ज्ञान हो जाता है।

नये देवी-देवता—वैदिक युग में आर्य लोग जिन देवी-देवताओं की

उपासना करते थे, उनमें इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, उषा, आदि प्रधान थे। ये देवता प्राकृतिक शक्तियों के मूर्तरूप थे, और आर्य लोग इन्हीं की पूजा कर इन्हें सन्तुष्ट व तृप्त करने का प्रयत्न करते थे। पर रामायण और महाभारत के युग में अनेक ऐसे देवताओं की पूजा प्रारम्भ हो गई थी, जो कि वैदिक युग में या तो सर्वथा अज्ञात थे और या गौण स्थान रखते थे। ब्रह्मा, विष्णु और महेश की त्रिमूर्ति और स्कन्द, विशाख, वैश्रवण आदि देवताओं ने इस युग के भारतीय धर्म में प्रमुख स्थान प्राप्त कर लिया। यह विचार भी इस युग में जोर पकड़ने लगा, कि धर्म के संस्थापन और दुष्टों के दलन के लिये भगवान् विष्णु समय-समय पर मानव-रूप में अवतरित होते हैं। रामायण की कथा के नायक राम को विष्णु का अवतार माना जाने लगा। यद्यपि रामायण के मूल अंश में राम का स्वरूप मनुष्य का ही था, पर बाद में उन्हें विष्णु का अवतार मान लिया गया। कृष्ण के सम्बन्ध में भी यही बात मान्य हो गई।

आर्यभिन्न जातियों के सम्पर्क से भी भारत के धर्म में अनेक नये देवताओं का प्रवेश हुआ। बौद्ध-ग्रन्थ खुद्दक-निकाय के अन्तर्गत निद्देस नामक पुस्तक में महात्मा बुद्ध के प्रादुर्भाव से पूर्व जिन विविध देवताओं की पूजा प्रचलित थी, उनका उल्लेख किया गया है। इन पूजनीय सत्ताओं में नाग, सुपर्ण (गरुड़), यक्ष, असुर, गन्धर्व, महाराज, दिशा आदि के साथ-साथ घोड़े, गाय और कौए तक का उल्लेख आता है। ऐसा प्रतीत होता है, कि इस युग के भारत में कतिपय ऐसे लोग भी थे, जो इन सबको उपास्य मानते थे।

भागवत-धर्म—हिंसा-प्रधान यज्ञों और तप के विरुद्ध जिस लहर का प्रारम्भ वसु चैद्योपरिचर के समय हुआ था, उसका उल्लेख हम पिछले एक अध्याय में कर चुके हैं। उपनिषदों में यज्ञों की तुलना एक फूटी हुई नाव से की गई है, जिसमें बैठकर मनुष्य कभी संसार-सागर के पार नहीं उतर सकता। यज्ञों के कर्मकाण्ड के विरुद्ध जो यह आन्दोलन प्रारम्भ हुआ था, उसे कृष्णद्वारा बहुत बल मिला। कृष्णद्वारा जिस नई विचार-सरणी का सूत्रपात हुआ, उसी से भागवत-धर्म का प्रादुर्भाव हुआ। इस धर्म के उपाख्यान महाभारत में अनेक स्थानों पर उपलब्ध होते हैं। भागवत-धर्म का सर्वोत्कृष्ट रूप भगवद्-गीता में मिलता है। पुरानी परम्परा के अनुसार यह माना जाता है, कि गीता का उपदेश कृष्ण ने कुरुक्षेत्र के रणक्षेत्र में अर्जुन को किया था। वर्तमान हिन्दू-धर्म पर गीता का बहुत अधिक प्रभाव है, अतः गीता की शिक्षाओं को यहां संक्षिप्त रूप से उल्लिखित करना बहुत उपयोगी है।

गीता के अनुसार आत्मा नित्य और अनश्वर है। शरीर के नाश के साथ आत्मा का विनाश नहीं हो जाता। मनुष्य को चाहिये कि वह मन को कामनाओं व वासनाओं से हटाकर अपने कर्त्तव्य-कर्म में लगा रहे। उसे कर्त्तव्यपालन करते हुए फल की आकांक्षा नहीं करनी चाहिये। सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय आदि का खयाल न करके मनुष्य को जीवन-संघर्ष में तत्पर रहना चाहिये। यह आवश्यक है, कि मनुष्य मन और इन्द्रियों को वश में करके स्थितप्रज्ञ होने का प्रयत्न करे। कर्म मनुष्य के बन्धन का कारण नहीं होता, बशर्ते कि उसे निष्काम-रूप से किया जाय। ज्ञान-पूर्वक और त्याग-भावना द्वारा जो कर्म किया जाता है, उससे मनुष्य लिप्त नहीं होता। यदि सब मनुष्य निष्काम-भाव से अपने-अपने स्वधर्म के लिये तत्पर रहें, तभी मानव-समाज का कल्याण है। योग-साधन का अभिप्राय यह नहीं है, कि मनुष्य अपने शरीर को व्यर्थ कष्ट दे, या सांसारिक व्यापार को छोड़कर कर्मविहीन हो जाय। कर्म में कुशलता का नाम ही योग है। अपने आहार-विहार, कर्म, चेष्टा, निद्रा आदि को सुनियन्त्रित और मर्यादित करके ही मनुष्य दुःखों से बच सकता है।

गीता में जहां निष्काम-कर्म और स्वधर्म पर जोर दिया गया है, वहां साथ ही भक्ति की भी बहुत महिमा बताई गई है। मनुष्य को चाहिये कि वह अपने को भगवान् के अर्पित कर दे। वह जो कुछ भी करे, उसे भगवान् के अर्पण करके करे। भगवदर्पण द्वारा मनुष्य के लिये निष्काम-कर्म कर सकना बहुत सुगम हो जाता है।

याज्ञिक कर्मकाण्ड का विरोध करते हुए गीता में यज्ञ का एक नया स्व-रूप प्रस्तुत किया गया है। गीता की सम्मति में तपोयज्ञ, स्वाध्याय-यज्ञ, ज्ञान-यज्ञ आदि ही वास्तविक यज्ञ हैं। इनके अनुष्ठान के लिये विधि-विधान की आवश्यकता नहीं। ज्ञानप्राप्ति, स्वाध्याय, चरित्र-शुद्धि और संयम द्वारा ही इस यज्ञ का अनुष्ठान होता है।

उपनिषदों द्वारा धर्म के जिस स्वरूप को प्रतिपादित किया गया था, कृष्ण के भागवत-धर्म ने उसी को और अधिक विकसित किया। वर्धमान महावीर और गौतम बुद्ध ने प्राच्य भारत में धार्मिक सुधारणा के सम्बन्ध में जो कार्य किया, वही कृष्ण ने भारत के पाश्चात्य क्षेत्रों में किया। पर यह ध्यान में रखना चाहिये, कि कृष्ण का समय बुद्ध व महावीर से बहुत पहले था। उसके धार्मिक आन्दोलन की यह भी विशेषता थी, कि वह प्राचीन

आर्य-परम्परा के अनुकूल था। वह वेदों की प्रामाणिकता पर विश्वास रखता था। यज्ञों का भी वह सर्वथा विरोधी नहीं था, और भारतीय वर्णाश्रम धर्म का भी वह समर्थक था। याज्ञिक भावना को महत्त्व देते हुए भी यज्ञों के अनुष्ठान में वह पशु-हिंसा व वलिदान को कोई स्थान नहीं देता था। इस प्रकार कृष्ण का यह भागवत-धर्म वेदों के प्रति श्रद्धा और प्राचीन आर्य-परम्परा को कायम रखते हुए सुधार के लिये प्रयत्नशील था। आगे चलकर इस धर्म ने बहुत जोर पकड़ा, और वह भारत का प्रधान धर्म बन गया।

(५) आर्थिक दशा

व्यवसाय और व्यापार—रामायण और महाभारत के अध्ययन से प्रतीत होता है, कि इस युग में भारत का आर्थिक जीवन अच्छी उन्नत दशा में था। स युग के व्यवसायों में वस्त्र-व्यवसाय का स्थान वहुत ऊँचा था। महाभारत के सभापर्व में उन भेंट उपहारों का बड़े विस्तार के साथ उल्लेख किया गया है, जिन्हें अन्य राज्यों के राजा युधिष्ठिर की सेवा में अर्पण करने के लिये अपने साथ लाये थे। इन उपहारों में चोल और पाण्ड्य-देश के महीन कपड़ों (सूक्ष्म वस्त्रक), सिंहलद्वीप के गद्दों, दक्षिण की पगड़ियों, (उष्णीष), उत्तर के रेशम और दुशालों, हिमालय के ऊनी वस्त्रों और रेशम, कम्भोज देश की खालों और प्राच्यदेश के विविध प्रकार के आसनों के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। (सभापर्व, अध्याय ५१, ५२)। महाभारत में अन्यत्र अनेक स्थलों पर महीन कम्बलों और पीले रंग के रेशम का भी उल्लेख किया गया है।

वस्त्र-व्यवसाय के समान धातु का शिल्प और व्यवसाय भी इस युग में अच्छी उन्नत दशा में था। धातुओं में सोना-चांदी, त्रपु (टीन), सीसा और लोहे का उल्लेख महाभारत में अनेक स्थलों पर आया है। धातुओं का उपयोग जहां अस्त्र-शस्त्र व अन्य उपकरणों के निर्माण के लिये किया जाता था, वहां सोना-चांदी सदृश बहुमूल्य धातुएं आभूषणों के लिये भी प्रयुक्त होती थीं। आभूषण के लिये मणि, मुक्ता, वैदूर्य, रत्न आदि का भी प्रयोग होता था।

राजा के लिये यह आवश्यक माना जाता था, कि वह व्यवसायियों और शिल्पियों की सहायता करे। महाभारत के सभापर्व में मुनि नारद ने राजा युधिष्ठिर से जो अनेक प्रश्न किये हैं, उनमें से कतिपय निम्नलिखित हैं—"क्या तुम अपने राज्य के उन वणिकों और शिल्पियों की धन-धान्य

ारा सहायता करते रहते हो, जो दुर्गति को प्राप्त हो गये हों ? क्या तुम राज्य के सब शिल्पियों को चार मास बाद उनके लिये नियत किया हुआ धन उपकरण आदि उन्हें देते रहते हो ? क्या तुम्हारे राज्य के व्यवसाय और व्यापार सज्जन (साधुजन) लोगों के हाथ में है ?"

महाभारत के समय में व्यवसाय और शिल्प उन्नति की किस दशा को प्राप्त हो चुके थे, उसका अनुमान उस राजसभा के वर्णन से किया जा सकता है, जिसे मय नामक असुर ने पाण्डवों के लिये बनाया था। महाभारत के अनुसार इस राजसभा का विस्तार दस हजार हाथ था। उसके भवन अग्नि, चन्द्र और सूर्य के समान चमकते थे, उसकी ऊंची अट्टालिकाओं ने बादल के समान आकाश को आच्छादित कर लिया था। उसके निर्माण में जो भी द्रव्य लगाया गया था, वह बहुत उत्तम था। उसके आंगन में एक तालाब बनाया गया था, जिसकी नकली बेलों में वैदूर्य मणि के पत्ते लगाये गये थे। उन बेलों के फूल सुवर्ण द्वारा निर्मित थे। इस तालाब में सुगन्धित जल भरा हुआ था। इसकी सीढ़ियां चित्रित स्फटिक की बनी हुई थीं। यद्यपि यह तालाब जल से भरा हुआ था, पर ऊपर से देखने पर ऐसा प्रतीत होता था, कि मानो वह एक वाटिका हो।

पाण्डवों की यह राजसभा उस युग के शिल्प का उत्कृष्ट उदाहरण है।

खेती और पशुपालन--महाभारत के युग में भारतीय लोग पशुपालन को बहुत महत्त्व देते थे। उस समय पशुओं का उपयोग न केवल खेती के लिये था, अपितु युद्ध में भी वे बहुत काम आते थे। विशेषतया घोड़े और हाथी उस युग की सेना में बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान रखते थे। उस समय के राजा कितनी बड़ी संख्या में पशुओं का पालन करते थे, यह बात महाभारत के विराट् पर्व में वर्णित है। वहां लिखा है, कि राजा युधिष्ठिर के पास सौ-सौ गौओं के अठारह हजार वर्ग थे। इस संख्या में अत्युक्ति हो सकती है, पर इससे यह अवश्य स्पष्ट हो जाता है, कि इस काल में पशुधन का बहुत महत्त्व था। न केवल पशुओं को उस समय पाला ही जाता था, अपितु उनकी चिकित्सा और शिक्षण पर भी बहुत ध्यान दिया जाता था।

महाभारत में कृषि, खेतों की सिंचाई और उद्यानों का भी वर्णन आता है। निस्सन्देह, कृषि उस युग में अच्छी उन्नत दशा में थी, और कृषक लोग अनेक प्रकार के अन्न, फल व शाक आदि का उत्पादन करने में रत रहते थे।

विज्ञान--आर्थिक उन्नति और शिल्प आदि के कारण इस युग में अनेक

विज्ञानों का भी विकास हो गया था। महाभारत में अनेक विद्याओं व विज्ञानों का उल्लेख आता है। इनमें ज्योतिष, चिकित्सा-शास्त्र, गर्भविज्ञान, अश्व-विद्या, हस्ति-विद्या, शरीर-विज्ञान, धनुर्वेद आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

सहायक ग्रन्थ

वाल्मीकि-रामायण
महाभारत
आचार्य रामदेव--भारतवर्ष का इतिहास भाग २
Vaidya C. V. : Epic India

ग्यारहवां अध्याय

बौद्ध और जैन-धर्म

(१) बौद्ध-युग

महाभारत के युद्ध और सातवीं सदी ई० पू० के मध्यवर्ती-काल का राजनीतिक इतिहास विशद रूप से उपलब्ध नहीं होता है। इस युग के विविध राजकुलों की वंशावलियां पुराणों में विद्यमान हैं। प्राचीन साहित्य के कतिपय ग्रन्थों से इस युग के राजाओं के सम्बन्ध में भी कुछ बातें ज्ञात हो जाती हैं। पर प्राचीन अनुश्रुति के आधार पर इस काल का क्रमबद्ध इतिहास तैयार कर सकना सम्भव नहीं है। छठी शताब्दि ई० पू० से भारत का इतिहास अधिक स्पष्ट होना शुरू हो जाता है। इस युग की दो घटनाएं विशेष महत्त्व की हैं।

(१) **मागध-साम्राज्य का विकास**—प्राचीन समय में भारत में जो बहुत-से छोटे-बड़े राज्य विद्यमान थे, उनका स्थान अब मगध के शक्तिशाली व सुविस्तृत साम्राज्य ने लेना शुरू कर दिया था। मागध-साम्राज्य का विकास इस युग की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना है। प्राचीन भारत के ऐक्ष्वाकव, ऐल, पौरव, यादव आदि विविध आर्यवंशों द्वारा स्थापित राज्यों को जीतकर मगध के राजा अपना विशाल चक्रवर्ती साम्राज्य स्थापित करने में समर्थ हुए। महापद्म नन्द, चन्द्रगुप्त मौर्य और प्रियदर्शी अशोक जैसे सम्राट् जो भारत के बहुत बड़े भाग को एक 'चक्रवर्ती क्षेत्र' बनाने में समर्थ हुए, उसके लिये इसी समय (सातवीं और छठीं सदी ई० पू०) में प्रयत्न प्रारम्भ हुआ। मगध के इन सम्राटों को 'शूद्र', 'शूद्रप्राय', 'नयवर्जित' आदि कहा गया है। इसमें सन्देह नहीं, कि इनका साम्राज्यवाद प्राचीन आर्य-मर्यादा के अनुकूल नहीं था। मगध के बार्हद्रथ, नन्द आदि राजवंशों के राजा न केवल 'नयवर्जित' थे, अपितु स्वेच्छाचारी और निरंकुश भी थे। उनके राजपुत्र भी 'नय' और 'अनय' का विचार छोड़कर अपने पिता के विरुद्ध बिद्रोह कर राजसिंहासन की प्राप्ति के लिये यत्नशील रहते थे।

(२) **धार्मिक सुधारणा**–बौद्ध, जैन, आजीवक आदि सम्प्रदायों के रूप में अनेक नये धार्मिक आन्दोलन इस युग में शुरू हुए। यज्ञप्रधान प्राचीन वैदिक धर्म के विरुद्ध प्रतिक्रिया की प्रवृत्ति शुरू हुई, और बहुत-से भारतीय वैदिक संहिताओं के प्रामाण्य से इन्कार कर बुद्धि और तर्क पर आश्रित नये धर्मों के अनुसरण में प्रवृत्त हुए। बौद्ध, जैन आदि नये सम्प्रदायों का प्रचार न केवल भारत में हुआ, अपितु भारत के बाहर भी दूर-दूर तक इन धर्मों का प्रसार हुआ। जिस प्रकार इस युग के राजा सार्वभौम चक्रवर्ती साम्राज्यों की स्थापना के लिये तत्पर थे, वैसे ही अनेक धार्मिक नेता 'धर्म-चक्र' के 'प्रवर्तन' द्वारा धर्म-चक्रवर्ती बनने के उद्योग में लगे थे। बौद्ध-धर्म को अपना विशाल 'धर्म-साम्राज्य' स्थापित करने में विशेषरूप से सफलता मिली। भारत में बौद्धों का धर्म-साम्राज्य अनेक सदियों तक कायम रहा। गुप्त-वंश के शासन-काल से पूर्व ही भारत में बौद्ध-धर्म के विरुद्ध प्रतिक्रिया प्रारम्भ हो गई थी। पर मौर्य-वंश के शासन-काल के अन्त तक भारत में बौद्ध-धर्म का स्थान बहुत महत्त्व का था। जिस समय बौद्ध-धर्म के प्रचारक भारत में अपने मत के प्रसार के लिये सफलतापूर्वक प्रयत्न कर रहे थे, उसे भारतीय इतिहास में 'बौद्ध-युग' कहा जाता है। इस युग के इतिहास पर बौद्ध-साहित्य द्वारा बहुत प्रकाश पड़ता है।

(२) धार्मिक सुधारणा

महत्त्वाकांक्षी वीर सैनिक नेताओं के बीच में जिस समय मगध का राजसिंहासन गेंद की तरह उछल रहा था, पाटलिपुत्र के पड़ोस में गंगा नदी के उत्तर में तभी (छठी सदी ई० पू० में) एक महान् धार्मिक सुधारणा का प्रारम्भ हो रही थी। धीरे-धीरे ये धार्मिक आन्दोलन सारे भारत में फैल गये। भारत के प्राचीन इतिहास में इस धार्मिक सुधारणा का बहुत महत्त्व है।

उत्तरी बिहार में उस समय जो अनेक गणराज्य थे, इन नये धार्मिक आन्दोलनों का प्रारम्भ उन्हीं से हुआ। महात्मा बुद्ध शाक्य गण में उत्पन्न हुए थे, और वर्धमान महावीर ज्ञातृक गण में। मगध के साम्राज्यवाद ने इन गण राज्यों का अन्त कर दिया। राजनीतिक और सैनिक क्षेत्र में गणराज्य मगध से परास्त हुए। पर धार्मिक क्षेत्र में शाक्य गण और वज्जि संघ के भिक्षुओं के सम्मुख मगध ने सिर झुका दिया। जब मगध की राजगद्दी के लिये विविध सैनिक नेता एक दूसरे के साथ संघर्ष कर रहे थे, और राजपुत्र कर्कट के समान अपने जनक (पिता) के विरुद्ध षड्यन्त्र करने में तत्पर थे, उसी समय ये भिक्षु लोग शान्ति, प्रेम

के विशेषज्ञ होने के कारण ब्राह्मण लोग सर्वसाधारण 'आर्यविशः' से अपने को ऊंचा समझने लगे थे। निरन्तर युद्धों में व्यापृत रहने के कारण क्षत्रिय सैनिकों का भी एक ऐसा वर्ग विकसित हो गया था, जो अपने को सर्वसाधारण जनता से पृथक् समझता था। ब्राह्मण और क्षत्रिय न केवल अपने को अन्य आर्यों से ऊंचा मानते थे, अपितु उनमें कौन अधिक ऊंचा है, इस सम्बन्ध में भी वे मतभेद रखते थे। इस दशा में छठी सदी ई० पू० के इन सुधारकों ने जातिभेद और सामाजिक ऊंच-नीच के विरुद्ध भी आवाज उठाई और यह प्रतिपादित किया, कि कोई भी व्यक्ति अपने गुणों व कर्मों के कारण ही ऊंचा व सम्मानयोग्य होता है, किसी कुल-विशेष में उत्पन्न होने के कारण नहीं।

यहां यह भी ध्यान में रखना चाहिये, कि उत्तरी बिहार के जिन गणराज्यों में इस धार्मिक सुधारणा का प्रारम्भ हुआ, उनके निवासियों में आर्यभिन्न जाति के लोग बड़ी संख्या में विद्यमान थे। वहां के क्षत्रिय भी शुद्ध आर्य-रक्त के न होकर व्रात्य क्षत्रिय थे। सम्भवतः, छठी सदी ई० पू० से वहुत पहले से उनमें वैदिक मर्यादा का सर्वांश में पालन नहीं होता था। ज्ञातृक गण में उत्पन्न हुए वर्धमान महावीर ने जिस नये जैन-धर्म का प्रारम्भ किया, उससे पूर्व भी इस धर्म के अनेक तीर्थंकर व आचार्य हो चुके थे। इन जैन-तीर्थंकरों के धर्म में न याज्ञिक अनुष्ठानों का स्थान था, और न ही वेदोंके प्रामाण्य का। वसु चैद्योपरिचरके समय में प्राच्य भारत में याज्ञिक कर्मकाण्ड के सम्बन्ध में स्वतन्त्र विचार की जो प्रवृत्ति शुरू हुई थी, शायद उसी के कारण उत्तरी बिहार का यह धर्म वैदिक मर्यादा की सर्वथा उपेक्षा करता था।

छठी सदी ई० पू० के लगभग भारत में जो नये धार्मिक आन्दोलन प्रारम्भ हुए, उनमें तीन प्रधान हैं—(१) जैन-धर्म, (२) आजीवक-सम्प्रदाय और (३) बौद्ध-धर्म। हम इन तीनों पर क्रमशः संक्षेप के साथ विचार करेंगे।

(३) जैन-धर्म का प्रादुर्भाव

जैन लोगों के अनुसार उनके धर्म का प्रारम्भ बौद्ध-काल में महावीर स्वामी द्वारा नहीं हुआ था। वे अपने धर्म को सृष्टि के समान ही अनादि मानते हैं। उनके मतानुसार वर्धमान महावीर जैन-धर्म का अन्तिम तीर्थंकर था। उनसे पहले २३ अन्य तीर्थंकर हो चुके थे। पहला तीर्थंकर राजा ऋषभ था। वह जम्बूद्वीप का प्रथम चक्रवर्ती सम्राट् था, और वृद्धावस्था में अपने पुत्र भरत को राज्य देकर स्वयं तीर्थंकर हो गया था। यहां यह सम्भव नहीं है, कि हम सब तीर्थंकरों के

सम्बन्ध में लिख सकें, यद्यपि जैन-ग्रन्थों में उनके विषय में अनेक कथायें उल्लिखित हैं। पर तेईसवें तीर्थंकर पार्श्व का कुछ विवरण इस इतिहास के लिये उपयोगी होगा।

तीर्थंकर पार्श्व—महावीर स्वामी के प्रादुर्भाव से २५० वर्ष पूर्व तीर्थंकर पार्श्व का समय है। वह बनारस के राजा अश्वसेन का पुत्र था। उसका प्रारम्भिक जीवन एक राजकुमार के रूप में व्यतीत हुआ। युवावस्था में उसका विवाह कुशस्थल देश की राजकुमारी प्रभावती के साथ हुआ। तीस वर्ष की आयु में राजा पार्श्वनाथ को वैराग्य उत्पन्न हुआ और उसने राजपाट छोड़कर तापस का जीवन स्वीकृत किया। तिरासी दिन तक वह घोर तपस्या करता रहा। घोर तपस्या के अनन्तर चौरासीवें दिन उसे ज्ञान प्राप्त हुआ, और पार्श्वनाथ ने अपने ज्ञान का प्रचार करना प्रारम्भ किया। उसकी माता और धर्मपत्नी सबसे पहले उसके धर्म में दीक्षित हुए। सत्तर वर्ष तक पार्श्वनाथ निरन्तर अपने धर्म का प्रचार करता रहा। अन्त में पूरे सौ साल की आयु में एक पर्वत की चोटी पर, जो कि अब पार्श्वनाथ पर्वत के नाम से प्रसिद्ध है, उसने मोक्ष पद को प्राप्त किया। पार्श्वनाथ के जीवन की ये ही थोड़ी-सी बातें हैं, जो जैन-ग्रन्थों के अनुशीलन से एकत्रित की जा सकती हैं।

तीर्थंकर पार्श्वनाथ के अनुयायी बौद्ध-काल की धार्मिक सुधारणा में विद्यमान थे। उसकी तथा महावीर स्वामी की शिक्षाओं में क्या भेद था, इसका परिचय जैन-धर्म के प्रसिद्ध ग्रन्थ उत्तराध्ययन-सूत्र के एक संवाद द्वारा प्राप्त होता है। हम इस संवाद को यहां उद्धृत करते हैं। पार्श्वनाथ का एक शिष्य था, जिसका नाम था केशी। इसी प्रकार महावीर स्वामी का एक शिष्य था, जिसका नाम था गौतम। दोनों अपने-अपने गुरु की शिक्षाओं के पूर्ण विद्वान् पण्डित थे, और सैकड़ों शिष्यों के साथ परिभ्रमण करते हुए श्रावस्ती नगरी में आये हुए थे। "दोनों आचार्यों के शिष्य, जो कि विविध तप तथा गुणों से सम्पन्न थे इस प्रकार विचार करने लगे—क्या हमारा धर्म सत्य है या दूसरे आचार्य का? क्या हमारे आचार-विचार और सिद्धान्त सत्य हैं या दूसरे आचार्य के? तीर्थंकर पार्श्वनाथ ने जिस धर्म का उपदेश दिया था, जिसमें कि चार व्रत लेने होते हैं, वह सत्य है या वर्धमान महावीर द्वारा उपदिष्ट धर्म जिसमें कि पांच व्रत लेने होते हैं! क्या वह धर्म सत्य है, जिसमें भिक्षु के लिये वस्त्रों का सर्वथा निषेध है, या वह धर्म सत्य है, जिसमें निचले और उपरले दोनों वस्त्रों का विधान है? जब दोनों आचार्यों का एक ही उद्देश्य था, तो उनमें मतभेद क्यों है? अपने शिष्यों के विचारों का पता लगने पर केशी और गौतम दोनों ने परस्पर भेंट करने का निश्चय किया।"

गौतम अपने शिष्यों के साथ तिन्दुक उद्यान में (जहां केशी ठहरा हुआ था) गया और केशी ने उसका बड़े आदर के साथ स्वागत किया। दोनों आचार्य पास-पास बैठ गये। उत्सुकतावश बहुत-से नास्तिक तथा सर्वसाधारण लोग भी वहां एकत्र हो गये।

"केशी ने गौतम से कहा–'भगवन्! मैं आपसे कुछ पूछना चाहता हूं।' केशी के इन शब्दों का उत्तर गौतम ने इस प्रकार दिया–'श्रीमान्, आप जो चाहें, पूछिये।' तब गौतम की अनुमति से केशी ने इस प्रकार कहा–'तीर्थंकर पार्श्व ने जिस धर्म का उपदेश दिया था, उसमें केवल चार व्रत हैं, पर वर्धमान द्वारा उपदिष्ट धर्म में पांच व्रत हैं। जब दोनों धर्मों का उद्देश्य एक ही है, तो उनमें भेद का क्या कारण है? हे भगवन्! आपका इस मामले में क्या विचार है!' केशी के इन शब्दों का गौतम ने इस प्रकार उत्तर दिया–'प्रारम्भ में जो भिक्षु लोग थे, वे सीधे-सादे तथा सामान्य बुद्धि के होते थे। अबके भिक्षु सत्य से बचने की प्रवृत्ति रखते हैं। पर बीच के भिक्षु ऐसे नहीं थे। वे बहुत सीधे तथा बुद्धिमान् थे। धर्म में भेद का यही कारण है। प्रारम्भ के भिक्षु धर्म के सिद्धान्तों को कठिनता से समझ सकते थे। अबके भिक्षु धर्म का पालन बड़ी कठिनता से करते हैं। पर बीच के भिक्षु धर्म को समझते भी सुगमता से थे और उसका पालन भी आसानी से करते थे।'

'गौतम! तुम बुद्धिमान् हो, तुमने मेरे सन्देह को निवृत्त कर दिया है। पर मुझे एक अन्य सन्देह है, जिसे तुम्हें दूर करना चाहिये। वर्धमान महावीर ने जिस धर्म का उपदेश किया है, उसके अनुसार वस्त्र-धारण निषिद्ध है, पर पार्श्व के धर्मानुसार निचले तथा उपरले वस्त्र का विधान किया गया है, जब कि दोनों के धर्मों का उद्देश्य एक ही है, तो यह भेद क्यों है!'

इन शब्दों का केशी ने निम्नलिखित उत्तर दिया–'अपने उच्च ज्ञान से प्रत्येक पदार्थ का निश्चय करते हुए तीर्थंकरों ने यह निर्णय किया है, कि धर्मपालन के लिये क्या कुछ आवश्यक है। धार्मिक पुरुषों के जो विविध बाह्य लिंग निश्चित किये गये हैं, उनका उद्देश्य यह है कि लोग उन्हें सुगमता से पहचान सकें और जो खास बाह्य चिह्न निश्चित किये हैं, उन्हें निश्चित करने का कारण उनका धार्मिक जीवन के लिये उपयोगी होना है। तीर्थंकरों की अपनी सम्मति यह है, कि मोक्ष के साधन ये बाह्य लिंग नहीं हैं, अपितु ज्ञान, श्रद्धा और सदाचार ही मोक्ष के वास्तविक हेतु हैं।'

'गौतम! तुम बुद्धिमान् हो, तुमने मेरे सन्देह को दूर कर दिया है।'

आचार्य केशी और गौतम का यह संवाद दो दृष्टियों से बहुत महत्त्वपूर्ण है। प्रथम, इससे यह स्पष्ट होता है कि पार्श्व के अनुयायी जो कि महावीर द्वारा किये गये सुधारों को नहीं मानते थे, वे महावीर के बाद भी विद्यमान थे और उनमें अपने मतभेदों पर बहस होती रहती थी। दूसरी बात हमें इस संवाद से यह ज्ञात होती है, कि महावीर ने पार्श्व द्वारा प्रतिपादित जैन-धर्म में कौन-कौन से मुख्य सुधार किये थे। पार्श्व के अनुसार जैन-भिक्षु के लिये निम्नलिखित चार व्रत लेने आवश्यक थे—(१) मैं जीवित प्राणियों की हिंसा नहीं करूंगा। (२) मैं सदा सत्य भाषण करूंगा। (३) मैं चोरी नहीं करूंगा। (४) मैं कोई सम्पत्ति नहीं रखूंगा।

पार्श्व द्वारा प्रतिपादित इन चार व्रतों के साथ महावीर ने एक और व्रत बढ़ा दिया और वह था—'मैं ब्रह्मचर्य का पालन करूंगा।' इसके अतिरिक्त महावीर ने भिक्षुओं के लिये यह व्यवस्था की थी, कि वे कोई वस्त्र धारण न करें जब कि पार्श्व के अनुसार भिक्षु लोग वस्त्र धारण कर सकते थे।

वर्धमान महावीर—वज्जिराज्य-संघ के अन्तर्गत ज्ञातृक गण में महावीर उत्पन्न हुए थे। ज्ञातृक लोगों के प्रमुख राजा का नाम सिद्धार्थ था। सिद्धार्थ का विवाह वैशालिक राजकुमारी त्रिशला के साथ हुआ था। त्रिशला लिच्छवि राजकुमारी थी और लिच्छवियों के प्रमुख राजा चेटक की बहन थी। इसी चेटक की कन्या का मगध के प्रसिद्ध सम्राट् बिम्बिसार के साथ विवाह हुआ था, जिससे कि अजातशत्रु उत्पन्न हुआ था। ज्ञातृक राजा सिद्धार्थ और लिच्छविकुमारी त्रिशला के तीन सन्तानें हुईं, एक कन्या और दो पुत्र। छोटे लड़के का नाम वर्धमान रखा गया। यही आगे चलकर महावीर बना।

बालक का जन्म-नाम वर्धमान था। वीर, महावीर, जिन, अर्हत्, भगवत् आदि भी उसके नाम के रूप में जैन-ग्रन्थों में आते हैं, पर ये उसके विशेषण मात्र हैं।

वर्धमान का बाल्य-जीवन राजकुमारों की तरह व्यतीत हुआ। वह एक समृद्ध क्षत्रिय सरदार का पुत्र था। वज्जिराज्य-संघ में कोई वंशक्रमानुगत राजा नहीं होता था, वहां गणतन्त्र-शासन प्रचलित था। परन्तु विविध क्षत्रिय-घरानों के बड़े-बड़े कुलीन सरदारों का—जो कि 'राजा' कहलाते थे—स्वाभाविक रूप से इस गणराज्य में प्रभुत्व था। वर्धमान का पिता सिद्धार्थ भी इन्हीं 'राजाओं' में से एक था। वर्धमान को छोटी आयु से ही शिक्षा देनी प्रारम्भ हुई। शीघ्र ही वह सब विद्याओं और शिल्पों में निपुण हो गया। अपने पूर्वजन्म के संस्कारों की

प्रबलता के कारण उसे विद्या-प्राप्ति में जरा भी परिश्रम न करना पड़ा। वर्धमान की बाल्यावस्था के सम्बन्ध में बहुत-सी कथायें जैन-ग्रन्थों में लिखी हैं। ये कथायें उसके अद्भुत पराक्रम, बुद्धि तथा बल को सूचित करती हैं। उचित आयु में वर्धमान का विवाह यशोदा नामक कन्या से किया गया। उनके एक कन्या भी उत्पन्न हुई। आगे चलकर जमालि नामक क्षत्रिय के साथ इसका विवाह हुआ, जो कि वर्धमान महावीर के प्रधान शिष्यों में से एक था।

यद्यपि वर्धमान का प्रारम्भिक जीवन साधारण गृहस्थ के समान व्यतीत हुआ, पर उसकी प्रवृत्ति सांसारिक जीवन की तरफ नहीं थी। वह 'प्रेय' मार्ग को छोड़कर 'श्रेय' मार्ग की ओर जाना चाहता था। जब वर्धमान तीस वर्ष की आयु के थे, तो उनके पिता की मृत्यु हो गई। ज्ञातृक लोगों का राजा अब सिद्धार्थ का ज्येष्ठ पुत्र नन्दिवर्धन बना। वर्धमान की प्रवृत्ति पहले ही वैराग्य की तरफ थी। अब पिता की मृत्यु के अनन्तर उन्होंने सांसारिक जीवन को त्याग कर भिक्षु बनना निश्चित किया। नन्दिवर्धन तथा अन्य निकट सम्बन्धियों से अनुमति ले वर्धमान ने घर का परित्याग कर दिया। उसके परिवार के लोग पहले से ही पार्श्वनाथ द्वारा प्रतिपादित जैन-धर्म के अनुयायी थे, अतः वर्धमान स्वाभाविक रूप से जैन-भिक्षु बना। जैन-भिक्षुओं की तरह उसने अपने केशश्मश्रु का परित्याग कर तपस्या करनी प्रारम्भ कर दी। आचारांग-सूत्र में इस तपस्या का बड़ा सुन्दर वर्णन किया गया है। हम उसमें से कुछ बातें यहां उद्धृत करेंगे—

वर्धमान ने भिक्षु बनते हुए जो कपड़े पहने हुए थे, वे तेरह मास में बिलकुल जर्जरित हो गये और फटकर स्वयं शरीर से उतर गये। उसके बाद उसने फिर वस्त्रों को धारण नहीं किया। वह छोटे बच्चे के समान नग्न ही विचरण करने लगा। जब वह समाधि लगाकर बैठा हुआ था, तो नानाविध जीव-जन्तु उसके शरीर पर चलने-फिरने लगे। उन्होंने उसे अनेक प्रकार से काट दिया, परन्तु वर्धमान ने इसकी जरा भी परवाह नहीं की। जब वह ध्यानमग्न हुआ इधर-उधर परिभ्रमण करता था, तो लोग उसे चारों ओर से घेर लेते थे। वे उसको मारते थे, शोर मचाते थे, पर वर्धमान इसका जरा भी ख्याल नहीं करता था। जब कोई उससे पूछता था, तो वह जवाब नहीं देता था। जब उसे लोग प्रणाम करते थे, तब वह प्रणाम का भी उत्तर नहीं देता था। बहुत-से दुष्ट लोग उसे डण्डों से पीटते थे, परन्तु उसे इसकी जरा भी परवाह नहीं थी।

आचारांग-सूत्र की तरह कल्पसूत्र में भी वर्धमान की कठोर तपस्याओं का वर्णन उपलब्ध होता है। वहां लिखा है—

"भिक्षु महावीर ने एक वर्ष और एक मास तक वस्त्र धारण किये, पर उसके बाद वह सर्वथा नग्न हो गया। वह भोजन भी हथेली पर ही ग्रहण करने लगा। बारह वर्ष तक वह निरन्तर अपने शरीर की सर्वथा उपेक्षा कर सब प्रकार के कष्टों का सहन करता रहा।.............उसने संसार के सब बन्धनों का उच्छेद कर दिया था। संसार से वह सर्वथा निर्लिप्त था। आकाश की तरह उसे किसी आश्रय की आवश्यकता न थी। वायु के समान उसके सम्मुख कोई बाधा नहीं रह गई थी। शरद् काल के जल के समान उसका हृदय शुद्ध था। कमलपत्र के समान वह किसी में लिप्त नहीं होता था। कछुवे की तरह उसने अपनी इन्द्रियों को वश में किया हुआ था। गेंडे के सींग के समान वह एकाकी हो गया था। पक्षी के समान वह स्वतन्त्र था।" !

इस प्रकार बारह वर्ष तक घोर तपस्या कर अन्त में तेरहवें वर्ष में वर्धमान महावीर को अपनी तपस्या का फल प्राप्त हुआ। उन्हें पूर्ण सत्यज्ञान की उपलब्धि हुई। उन्होंने 'केवलिन्' पद प्राप्त किया। जैन-धर्म के अनुसार यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण है, इसीलिये उनके धर्म-ग्रन्थों में इसका बड़े ही विस्तार के साथ वर्णन किया है। कल्पसूत्र में लिखा है—

"तेरहवें वर्ष में, वसन्त ऋतु के द्वितीय मास में, बसन्त ऋतु के चौथे पक्ष में वैशाख मास में, वैशाखमास के दसवें दिन, जब कि वस्तुओं की छाया पूर्व की तरफ पड़नी प्रारम्भ हो गई थी (अर्थात् अपराह्ण काल में), सुव्रत नामक वार को और विजय नामक मुहूर्त में, जृम्भिका ग्राम के बाहर, ऋजुपालिक नामी नदी के तट पर, सामाग नामी गृहस्थ की जमीन में स्थित एक पुराने मन्दिर के समीप शाल-वृक्ष के नीचे..........वर्धमान महावीर ने 'केवलिन्' पद को प्राप्त किया।"

जिस समय मनुष्य संसार के संसर्ग से सर्वथा मुक्त हो जाता है, सुख-दुःख के अनुभव से वह ऊपर उठ जाता है, वह अपने को अन्य सब वस्तुओं से पृथक् 'केवल रूप' समझने लगता है, तब यह 'केवलिन्' की दशा आती है। वर्धमान महावीर ने इस दशा को पहुंचकर बारह वर्ष के तपस्या-काल में जो सत्य-ज्ञान प्राप्त किया था, उसका प्रचार करना प्रारम्भ किया। महावीर की ख्याति शीघ्र ही दूर-दूर तक पहुंच गई। अनेक लोग उनके शिष्य होने लगे। महावीर ने इस समय जिस नवीन सम्प्रदाय की स्थापना की, उसे 'निर्ग्रन्थ' नाम से कहा जाता है, जिसका अभिप्राय 'बन्धनों से मुक्त' लोगों के सम्प्रदाय से है। महावीर के शिष्य भिक्षु लोग 'निर्ग्रन्थ' या 'निगन्थ' कहलाते थे। इन्हें 'जैन' भी कहा जाता था, क्योंकि ये 'जिन' (वर्धमान को केवलिन्-पद प्राप्त करने के पश्चात् वीर, महावीर, जिन,

अर्हत् आदि सम्मानसूचक शब्दों से कहा जाता था) के अनुयायी होते थे। निर्गन्थ महावीर के विरोधी इन्हें प्रायः 'निर्ग्रन्थ ज्ञातृपुत्र' (निगन्थ नाटपुत्त) के नाम से पुकारते थे। ज्ञातृपुत्र उन्हें इसलिये कहा जाता था, क्योंकि वे ज्ञातृक-जाति के क्षत्रिय थे।

वर्धमान महावीर ने किस प्रकार अपने धर्म का प्रचार किया, इस सम्बन्ध में भी अनेक बातें प्राचीन जैन-ग्रन्थों में उपलब्ध होती हैं। महावीर का शिष्य गौतम इन्द्रभूति था। जैन-धर्म के इतिहास में इस गौतम इन्द्रभूति का भी बड़ा महत्त्व है। आगे चलकर इसने भी 'केवलिन्' पद को प्राप्त किया। महावीर का यह ढंग था, कि वह किसी एक स्थान को केन्द्र बनाकर अपना कार्य नहीं करता था, पर अपनी शिष्य-मण्डली के साथ एक स्थान से दूसरे स्थान पर भ्रमण करता हुआ अपने धर्म-सन्देश को जनता तक पहुंचाने का उद्योग करता था। स्वाभाविक रूप से सबसे पूर्व उसने अपनी जाति के लोगों—ज्ञातृक क्षत्रियों में ही अपनी शिक्षाओं का प्रसार किया। वे शीघ्र ही उसके अनुयायी हो गये। उसके बाद लिच्छवि तथा विदेह-राज्यों में प्रचार कर महावीर ने राजगृह (मगध की राजधानी) की ओर प्रस्थान किया। वहां उस समय प्रसिद्ध सम्राट् श्रेणिक राज्य करता था। जैन-ग्रन्थों के अनुसार श्रेणिक महावीर के उपदेशों से बहुत प्रभावित हुआ, और उसने अपनी सम्पूर्ण सेना के साथ महावीर का बड़े समारोह से स्वागत किया।

अपनी आयु के ७२ वें वर्ष में महावीर स्वामी की मृत्यु हुई। मृत्यु के समय महाबीर राजगृह के समीप पावा नामक नगर में विराजमान थे। यह स्थान इस समय भी जैन लोगों का बड़ा तीर्थ है। वर्तमान समय में इसका दूसरा नाम पोखर-पुर है, और यह बिहार शरीफ स्टेशन से ६ मील की दूरी पर स्थित है।

(४) जैनों का धार्मिक साहित्य

जैन लोगों के धार्मिक साहित्य को हम प्रधानतया ६ भागों में विभक्त कर सकते हैं—(१) द्वादश अंग (२) द्वादश उपांग, (३) दस प्रकीर्ण, (४) षट् छेदसूत्र, (५) चार मूलसूत्र, (६) विविध।

१. द्वादश अंग—(१) पहला अंग आयारंग सुत्त (आचारांग सूत्र) है। इसमें उन नियमों का वर्णन है, जिन्हें जैन-भिक्षुओं को अनुसरण करना चाहिये। जैन-भिक्षु को किस प्रकार तपस्या करनी चाहिये, किस प्रकार जीवरक्षा के लिये तत्पर रहना चाहिये—इत्यादि विविध बातों का इसमें विशद रूप से उल्लेख है।

(२) दूसरा अंग सूत्रकृदंग है। इसमें जैन-भिन्न मतों की समीक्षा की गई है, और जैन-धर्म पर जो आक्षेप किये जा सकते हैं, उनका उत्थान कर उनका उत्तर दिया गया है, ताकि जैन-भिक्षु अपने मत का भलीभांति पक्षपोषण कर सकें।

(३) स्थानांग–इसमें जैन-धर्म के सिद्धान्तों का वर्णन है।

(४) समवायांग –इसमें भी जैन-धर्म के सिद्धान्तों का वर्णन है।

(५) भगवती सूत्र–यह जैन-धर्म के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों में से एक है। इसमें जैन-धर्म के सिद्धान्तों के अतिरिक्त स्वर्ग और नरक का विशद रूप से वर्णन किया गया है। जैन लोग स्वर्ग और नरक की कल्पना किस ढंग से करते हैं, नरक में मनुष्य को किस प्रकार भयंकर रूप से कष्ट उठाने पड़ते हैं, और स्वर्ग में क्या आनन्द हैं–इनका बहुत ही सुन्दर तथा आकर्षक वर्णन भगवती-सूत्र में मिलता है। इसके अतिरिक्त महावीर तथा उसके समकालीन अन्य लोगों के सम्बन्ध में भी इसमें बहुत-सी महत्त्वपूर्ण गाथायें संकलित की गई हैं।

(६) ज्ञान-धर्म-कथा–इसमें कथा, आख्यायिका, पहेली आदि द्वारा जैन-धर्म के सिद्धान्तों का उपदेश किया गया है।

(७) उवासगदसाओ–इसमें दस समृद्ध व्यापारियों का वर्णन है, जिन्होंने जैन-धर्म को स्वीकार कर मोक्ष-पद प्राप्त किया था।

(८) अन्तकृद्दशाः–इसमें उन जैन-भिक्षुओं का वर्णन है, जिन्होंने विविध प्रकार की तपस्याओं द्वारा अपने शरीर का अन्त कर दिया, और इस प्रकार मोक्ष-पद प्राप्त किया।

(९) अनुत्तरोपपातिक दशाः–इसमें भी तपस्या द्वारा अपने शरीर का अन्त कर मोक्ष प्राप्त करनेवाले जैन-भिक्षुओं का वर्णन है।

(१०) प्रश्न-व्याकरण–इसमें जैन-धर्म की दस शिक्षाओं, दस निषेध आदि का वर्णन है।

(११) विपाकश्रुतम्–इस जन्म में किये गये अच्छे व बुरे कर्मों का मृत्यु के बाद किस प्रकार फल मिलता है, इस बात को इस अंग में कथाओं द्वारा प्रदर्शित किया गया है।

(१२) दृष्टिवाद–यह अंग इस समय उपलब्ध नहीं होता। जैन लोग दृष्टिवाद में चौदह 'पूर्वाः' का परिगणन करते हैं। ये संस्कृत के 'पुराणों' की तरह बहुत प्राचीन समय से, पहले तीर्थंकर के समय से ही विकसित हो रहे थे। इन चौदह 'पूर्वाः' से मिलकर जैन लोगों का बारहवां अंग बनता था। ये 'पूर्वाः'

महावीर स्वामी के बाद आठवें आचार्य 'स्थूलभद्र' तक ज्ञात थे। उसके बाद ये नष्ट हो गये

२. द्वादश उपांग--प्रत्येक अंग का एक-एक उपांग है। इनके नाम निम्नलिखित हैं-(१) औपपातिक, (२) राजप्रश्नीय, (३) जीवाभिगम, (४) प्रज्ञापना, (५) जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, (६) चन्द्रप्रज्ञप्ति, (७) सूर्यप्रज्ञप्ति, (८) निरयावली, (९) कल्पावतंसिका, (१०) पुष्पिका, (११) पुष्पचूलिका, (१२) वृष्णिदशाः।

३. दस प्रकीर्ण-इनमें जैनधर्म-सम्बन्धी विविध विषयों का वर्णन है। इनके नाम निम्नलिखित हैं-(१) चतुःशरण, (२) संस्तारक, (३) आतुरप्रत्याख्यानम् (४) भक्तापरिज्ञा, (५) तन्दुलवैचारिका (६) चन्द्रवैध्यक (७) गणिविद्या, (८) देवेन्द्रस्तव, (९) वीरस्तव, (१०) महाप्रत्याख्यान।

४. षट् छेदसूत्र-इन सूत्रों में जैन-भिक्षु और भिक्षुणियों के लिये विविध नियमों का वर्णन कर उन्हे दृष्टान्तों द्वारा प्रदर्शित किया गया है। छेदसूत्रों के नाम निम्नलिखित हैं-(१) व्यवहारसूत्र (२) बृहत्कल्पसूत्र (३) दशाश्रुतस्कन्धसूत्र, (४) निशीथसूत्र, (५) महानिशीथसूत्र, (६) जितकल्पसूत्र।

५. चार मूलसूत्र--इनके नाम निम्नलिखित हैं --१. उत्तराध्ययनसूत्र, २. दशवैकालिकसूत्र, ३. आवश्यक सूत्र, ४. ओकनिर्युति सूत्र।

६. विविध-इस श्रेणी में बहुत-से ग्रन्थ अन्तर्गत हैं, परन्तु उनमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण नन्दिसूत्र और अनुयोगद्वार हैं। इनमें बहुत प्रकार के विषयों का समावेश है। जैन-भिक्षुओं को जिन भी विषयों का परिज्ञान था, वे प्रायः सभी इनमें आ गये हैं। ये विश्वकोश के ढंग के ग्रन्थ हैं। न धर्म-ग्रन्थों पर बहुत-सी टीकायें भी हैं। सबसे पुरानी टीकायें निर्युक्ति कहलाती हैं। इनका समय भद्रबाहु श्रुतकेवलि का कहा जाता है। जैन-टीकाकारों में सबसे प्रसिद्ध हरिभद्र स्वामी हुआ है। इसने बहुत-से धर्म-ग्रन्थों पर टीकायें लिखी हैं। इसके अतिरिक्त शान्तिसूरी, देवेन्द्रगणी और अभयदेव नामके टीकाकारों ने भी बड़े महत्त्वपूर्ण भाष्य और टीकायें लिखी हैं। इन टीकाओं का भी जैन-धर्म में बहुत महत्त्व है। प्रायः सभी जैन-धर्म-ग्रन्थ प्राकृत-भाषा में है। जैन प्राकृत आर्ष या अर्धमागधी नाम से प्रसिद्ध है।

जैनों के जिस धार्मिक साहित्य का हमने वर्णन किया है, वह श्वेताम्बर-सम्प्रदाय का है। जैनों में दो मुख्य सम्प्रदाय हैं-दिगम्बर और श्वेताम्बर। इन सम्प्रदायों का भेद किस प्रकार हुआ, इस पर प्रकाश डालने की आवश्यकता नहीं। दिगम्बर-सम्प्रदाय के जैन इस धार्मिक साहित्य को नहीं मानते। उनके धार्मिक

ग्रन्थ अभीतक बहुत कम परिमाण में मुद्रित हुए हैं। इसलिये उनका परिचय दे सकना सम्भव नहीं है।

(५) जैन-धर्म की शिक्षाएं

वर्धमान महावीर ने स्वयं जिस धर्म का उपदेश किया था, उसका निश्चित रूप से पता लगा सकना वर्तमान समय में बहुत कठिन है। कारण यह है, कि आजकल जो जैन-साहित्य उपलब्ध होता है, वह महावीर के समय से बहुत पीछे संकलित हुआ है। महावीर की मृत्यु के कई सदियों बाद वल्लभी की महासभा में इस साहित्य ने अपना वर्तमान रूप प्राप्त किया था। इस बीच में महावीर की वास्तविक शिक्षाओं में निरन्तर परिवर्तन आता गया, दार्शनिक विचार निरन्तर विकसित होते रहे, और जैन-धर्म के प्रवर्तक की वास्तविक शिक्षायें क्या थीं, यह निश्चित करना भी सुगम नहीं रहा। फिर भी हम आवश्यक समझते हैं, कि जैन-धर्म के मुख्य-मुख्य सिद्धान्तों को यहां संक्षेप में उपस्थित करें, ताकि बौद्ध-काल की धार्मिक सुधारणा को भलीभांति समझने में सहायता मिल सके।

जैन-धर्म के अनुसार मानवीय जीवन का उद्देश्य मोक्ष प्राप्त करना है। मोक्ष प्राप्ति के लिये मनुष्य क्या प्रयत्न करे, इसके लिये साधारण गृहस्थों और भिक्षुओं (मुनियों) में भेद किया गया है। जिन नियमों का पालन एक मुनि कर सकता है, साधारण गृहस्थ (श्रावक) उन्हें नहीं पालन कर सकेगा। इसलिये जीवन की इन दोनों स्थितियों में मुमुक्षु के लिये जो भिन्न-भिन्न धर्म हैं, उनका पृथक् रूप से प्रतिपादन करना आवश्यक है।

पांच अणुव्रत-पहले सामान्य गृहस्थ (श्रावक) के धर्म को लीजिये। गृहस्थ के लिये पांच अणुव्रतों का पालन करना आवश्यक है। गृहस्थो के लिये यह सम्भव नहीं, कि वे समस्त पापों को त्याग कर सकें। संसार के कृत्यों में फंसे रहने से उन्हें कुछ न कुछ अनुचित कृत्य करने ही पड़ेंगे, अतः उनके लिये अणुव्रतों का विधान किया गया है। अणुव्रत निम्नलिखित हैं—

(१) अहिंसाणुव्रत—जैन-धर्म के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति के लिये आवश्यक है कि वह अहिंसाव्रत का पालन करे। मन, वचन और शरीर से किसी भी प्रकार की हिंसा करना अत्यन्त अनुचित है। परन्तु सांसारिक मनुष्यों के लिये पूर्ण अहिंसाव्रत धारण करना कठिन है। इसलिये श्रावकों के लिये 'स्थूल अहिंसा' का विधान किया गया है। 'स्थूल अहिंसा' का अभिप्राय यह है, कि निरपराधियों की हिंसा न की जावे। जैन-ग्रन्थों के अनुसार अनेक राजा लोग, अहिंसाणुव्रत

का पालन करते हुए भी अपराधियों को दण्ड देते रहे हैं, और हिंसक जन्तुओं का घात करते रहे हैं, अतः इस व्रत को स्थूल अर्थों में ही लेना चाहिये ।

(२) सत्याणुव्रत—मनुष्यों में असत्य भाषण करने की प्रवृत्ति अनेक कारणों से होती है । द्वेष, स्नेह तथा मोह का उद्वेग इसमें प्रधान कारण हैं । इन सब प्रवृत्तियों को दबाकर सर्वदा सत्य बोलना सत्याणुव्रत कहाता है ।

(३) अचौर्याणुव्रत या अस्तेय—किसी भी प्रकार से दूसरों की चोरी न करना, गिरी हुई, पड़ी हुई, रक्खी हुई व भूली हुई वस्तु को स्वयं ग्रहण न कर उसके स्वामी को दे देना अचौर्याणुव्रत कहाता है ।

(४) ब्रह्मचर्याणुव्रत—मन, वचन तथा कर्म द्वारा पर-स्त्री का समागम न कर अपनी पत्नी में ही सन्तोष रखना तथा स्त्री के लिये मन, वचन व कर्म द्वारा पर-पुरुष का समागम न कर अपने पति में ही सन्तोष रखना ब्रह्मचर्याणुव्रत कहाता है ।

(५) परिग्रह-परिमाण-अणुव्रत—आवश्यकता के बिना बहुत-से धनधान्य को संग्रह न करना 'परिग्रह-परिमाण-अणुव्रत' कहलाता है । गृहस्थों के लिये यह तो आवश्यक है, कि वे धन उपार्जन करें, पर उसी में लिप्त हो जाना और अर्थ-संग्रह के पीछे भागना पाप है ।

तीन गुणव्रत—इन अणुव्रतों का पालन तो गृहस्थों को सदा करना ही चाहिये, पर इनके अतिरिक्त समय-समय पर अधिक कठोर व्रतों का ग्रहण करना भी उपयोगी है । सामान्य सांसारिक जीवन व्यतीत करते हुए गृहस्थों को चाहिये कि कभी-कभी अधिक कठोर व्रतों की दीक्षा लें । ये कठोर व्रत जैन-धर्मग्रन्थों में 'गुणव्रत' के नाम से कहे गये हैं । इनका संक्षिप्त रूप से प्रदर्शन करना उपयोगी है—

(१) दिग्विरति—गृहस्थ को चाहिये कि कभी-कभी यह व्रत ले ले, कि मैं इस दिशा में इससे अधिक दूर नहीं जाऊंगा । यह व्रत लेकर निश्चित किये गये प्रदेश में ही निवास करे, कभी उस परिमाण का उल्लंघन न करे ।

(२) अनर्थ-दण्ड-विरति—मनुष्य बहुत-से ऐसे कार्य करता है, जिनसे उस का कोई भी सम्बन्ध नहीं होता, ऐसे कार्यों से सर्वथा बचना चाहिये ।

(३) उपभोग-परिभोग-परिमाण—गृहस्थी को यह व्रत ले लेना चाहिये कि मैं परिमाण में इतना भोजन करूंगा, भोजन में इतने से अधिक वस्तुयें नहीं खाऊंगा, इससे अधिक भोग नहीं करूंगा—इत्यादि । इस प्रकार के व्रत लेने से मनुष्य अपनी इन्द्रियों का संयम बहुत सुगमता से कर सकता है ।

इन तीन गुणव्रतों के अतिरिक्त चार शिक्षाव्रत हैं, जिनका पालन गृहस्थों को करना चाहिये।

(१) देशविरति–एक देश व क्षेत्र निश्चित कर लेना, जिससे आगे गृहस्थ न जावे व अपना कोई व्यवहार न करे।

(२) सामयिक व्रत–निश्चित समय पर (यह निश्चित समय जैन-धर्म के अनुसार प्रातः, सायं और मध्याह्न, ये तीन सन्ध्याकाल हैं) सब सांसारिक कृत्यों से विरत होकर, सब राग-द्वेष छोड़ साम्य भाव धारण कर शुद्ध आत्म-स्वरूप में लीन होने की क्रिया को सामयिक व्रत कहते हैं।

(३) पौषधोपवास-व्रत–प्रत्येक अष्टमी व चतुर्दशी के दिन सांसारिक कार्यों का परित्याग कर 'मुनियों' के समान जीवन व्यतीत करने के प्रयत्न को 'पौषधोपवास-व्रत' कहते हैं। इस दिन गृहस्थ को सब प्रकार का भोजन त्याग कर धर्मकथा श्रवण करने में ही अपना समय व्यतीत करना चाहिये।

(४) अथिति-संविभाग-व्रत–विद्वान् अतिथियों का और विशेषतया मुनि लोगों का सम्मानपूर्वक स्वागत करना अतिथि-संविभाग-व्रत कहाता है।

इन गुणव्रतों और शिक्षाव्रतों का पालन गृहस्थों के लिये बहुत लाभदायक है। वे इनसे अपना जीवन उन्नत कर सकते हैं और 'मुनि' बनने के लिये उचित तैयारी कर सकते हैं। प्रत्येक मनुष्य 'मुनि' नहीं बन सकता। संसार का व्यवहार चलाने के लिये गृहस्थ-धर्म का पालन करना भी आवश्यक है। अतः जैन-धर्म के अनुसार गृहस्थ-जीवन को व्यतीत करना बुरी बात नहीं है। पर गृहस्थ होते हुए भी मनुष्य को अपना जीवन इस ढंग से व्यतीत करना चाहिये कि पाप में लिप्त न हो मोक्ष-साधनों में तत्पर रहें।

पांच महाव्रत–जैन मुनियों के लिये आवश्यक है, कि वे पांच महाव्रतों का पूर्णरूप से पालन करें। सर्वसाधारण गृहस्थ लोगों के लिये सम्भव नहीं है, कि वे पापों से सर्वथा मुक्त हो सकें, इसलिये उनके लिये अणुव्रतों का विधान किया गया है। पर मुनि लोगों के लिये, जो कि मोक्ष-पद को प्राप्त करने के लिये ही संसार त्यागकर साधना में तत्पर हुए हैं, पापों का सर्वथा परित्याग अनिवार्य है। इसलिये उन्हें निम्नलिखित पांच महाव्रतों का पालन करना चाहिये–

(१) अहिंसा महाव्रत–जैन मुनि के लिये अहिंसाव्रत बहुत ही महत्व रखता है। किसी भी प्रकार के प्राणी की, जानबूझ कर या बिना जाने-बूझे हिंसा करना महापाप है। अहिंसाव्रत का सम्यक् प्रकार पालन करने के लिये निम्नलिखित व्रत उपयोगी माने जाते हैं। १. ईर्यासमिति–चलते हुए इस बात का ध्यान

रखना चाहिये कि कहीं हिंसा न हो जाय। इस के लिये उन्हीं स्थानों पर चलना चाहिये, जहां भलीभांति अच्छे मार्ग बने हुए हों, क्योंकि वहां जीव-जन्तुओं के पैर से कुचले जाने की सम्भावना बहुत कम होगी। २. भाषा-समिति–भाषण करते हुए सदा मधुर तथा प्रिय भाषा बोलनी चाहिये। कठोर वाणी से वाचिक हिंसा होती है, और साथ ही इस बात की भी सम्भावना रहती है कि शाब्दिक लड़ाई से बढ़ते-बढ़ते कहीं शारीरिक लड़ाई प्रारम्भ न हो जावे। ३. एषणा-समिति–भिक्षा ग्रहण करते हुए मुनि को यह ध्यान रखना चाहिये कि भोजन में किसी प्राणी की हिंसा तो नहीं की गई है, अथवा भोजन में किसी प्रकार के कृमि तो नहीं हैं। ४. आदान-क्षेपणा-समिति–मुनि को अपने धार्मिक कर्तव्यों को पालन करने के लिये जिन वस्तुओं का अपने पास रखना आवश्यक है, उनमें यह निरन्तर देखते रहना चाहिये कि कहीं कीड़े तो नहीं हैं। ५. व्युत्सर्ग-समिति–पेशाब व मल त्याग करते समय भी यह ध्यान रखना चाहिये कि जिस स्थान पर वे ये कार्य कर रहे हैं, वहां कोई जीव-जन्तु तो नहीं है।

जैनमुनि के लिये अहिंसा-व्रत का पालन करना अत्यन्त आवश्यक है। प्रमाद व अज्ञान से भी तुच्छ से तुच्छ जीव का वध भी उसके लिये पाप का कारण बनता है, इसीलिये इस व्रत का पालन करने के लिये इतनी सावधानी से कार्य करने का उपदेश किया गया है।

(२) असत्य-त्याग-महाव्रत–सत्य परन्तु प्रिय भाषण करना 'असत्य-त्याग-महाव्रत' कहलाता है। यदि कोई बात सत्य भी हो, परन्तु कटु हो, तो उसे नहीं बोलना चाहिये। इस व्रत के पालन में भी पांच भावनायें बहुत उपयोगी हैं–१. अनुविम-भाषी–भलीभांति विचार किये बिना भाषण नहीं करना चाहिये। २. कोहं परिजानाति–जब क्रोध व अहंकार का वेग हो, तो भाषण नहीं करना चाहिये। ३. लोभं परिजानाति–लोभ का भाव जब प्रबल हो, तो भाषण नहीं करना चाहिये। ४. भयं परिजानाति–डर के कारण असत्य भाषण नहीं करना चाहिये। ५. हासं परिजानाति–हंसी में भी असत्य भाषण नहीं करना चाहिये।

सत्य का पालन करने के लिये सम्यक् प्रकार से विचार करके भाषण करना, तथा लोभ, मोह, भय, हास तथा अहंकार से असत्य भाषण न करना अत्यन्त आवश्यक है।

(३) अस्तेय महाव्रत–किसी दूसरे की किसी वस्तु को उसकी अनुमति के बिना ग्रहण न करना तथा जो वस्तु अपने को नहीं दी गई है, उसको ग्रहण न करना तथा ग्रहण करने की इच्छा भी न करना अस्तेय-व्रत कहाता है।

इस महाव्रत का पालन करने के लिये मुनि लोगों को निम्नलिखित बातों का ध्यान रखना चाहिये । १. जैनमुनि को किसी घर में तब तक प्रवेश नहीं करना चाहिये, जब तक कि गृहपति की अनुमति अन्दर आने के लिये न ले ली जावे । २. भिक्षा में जो कुछ भी भोजन प्राप्त हो, उसे तब तक ग्रहण न करे, जब तक कि गुरु को दिखलाकर उससे अनुमति न ले ली जावे । ३. जब मुनि को किसी घर में निवास करने की आवश्यकता हो, तो पहले गृहपति से अनुमति प्राप्त कर ले और यह निश्चत रूप से पूछ ले कि घर के कितने हिस्से में और कितने समय तक वह रह सकता है । ४. गृहपति की अनुमति के बिना घर में विद्यमान किसी आसन, शय्या व अन्य वस्तु का उपयोग न करे । ५. जब कोई मुनि किसी घर में निवास कर रहा हो, तो दूसरा मुनि भी उस घर में गृहपति की अनुमति के बिना निवास न कर सके ।

(४) ब्रह्मचर्य-महाव्रत—जैनमुनियों के लिये ब्रह्मचर्य-व्रत का भी बहुत महत्व है । अपने से विपरीत लिङ्ग के व्यक्ति से किसी भी प्रकार का संसर्ग रखना मुनियों के लिये निषिद्ध है । ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करने के लिये निम्नलिखित भावनाओं का विधान किया गया है—१. किसी स्त्री से वार्तालाप न किया जावे । २. किसी स्त्री की तरफ दृष्टिपात भी न की जाय । ३. गृहस्थ-जीवन में स्त्री-संसर्ग से जो सुख प्राप्त होता था, उसका मन में भी चिन्तन न किया जावे । ४. अधिक भोजन न किया जावे । मसाले, तिक्त पदार्थ आदि ब्रह्मचर्य-नाशक भोजनों का परित्याग किया जावे । ५. जिस घर में कोई स्त्री रहती हो, वहां निवास न किया जावे ।

साधुनियों के लिये नियम इनसे सर्वथा विपरीत हैं । किसी पुरुष के साथ बातचीत करना, पुरुष का अवलोकन करना, पुरुष का चिन्तन करना—उनके लिये निषिद्ध है ।

(५) अपरिग्रह महाव्रत—किसी भी वस्तु, रस व व्यक्ति के साथ अपना सम्बन्ध न रखना तथा सबसे निर्लेप रहकर जीवन व्यतीत करना 'अपरिग्रह-व्रत' का पालन कहलाता है । जैन-मुनियों के लिये 'अपरिग्रह-व्रत' का अभिप्राय बहुत विस्तृत तथा गम्भीर है । सम्पत्ति का सञ्चय न करना तो साधारण बात है, पर किसी भी वस्तु के साथ किसी भी प्रकार का ममत्व न रखना जैन-मुनियों के लिये आवश्यक है । मनुष्य इन्द्रियों द्वारा रूप, रस, गन्ध, स्पर्श तथा शब्द का जो अनुभव प्राप्त करता है—उस सबसे विरत हो जाना 'अपरिग्रह-व्रत' के पालन के लिये परमावश्यक है । इस व्रत के सम्यक् प्रकार पालन से मनुष्य अपने जीवन

के चरम उद्देश्य मोक्ष को प्राप्त करने के योग्य बनता है। सब विषयों तथा वस्तुओं से निर्लिप्त तथा विरक्त होकर वह इस जीवन में ही 'सिद्ध' अथवा 'केवली' बन जाता है।

साधु का आदर्श–जैन-ग्रन्थों में अनेक स्थानों पर 'साधु' का आदर्श वर्णित है। हम कुछ श्लोकों का अनुवाद यहां पर उपस्थित करते हैं —

"जिन वस्तुओं के साथ तुम्हारा पहले स्नेह रहा हो, उनसे स्नेह तोड़ दो। अब किसी नई वस्तु से स्नेह न करो। जो तुमसे स्नेह करते हैं, उनसे भी स्नेह न करो। तभी तुम पाप और घृणा से मुक्त हो सकोगे।"

"साधु को चाहिये कि आत्मा के सब बन्धनों को काट दे। किसी वस्तु से घृणा न करे। किसी से स्नेह न करे। किसी प्रकार की मौज में अपने को न लगावे।"

"जीवन के आनन्दों पर विजय प्राप्त करना बहुत कठिन है। निर्बल लोग उन्हें सुगमता से नहीं छोड़ सकते। पर जिस प्रकार व्यापारी लोग दुर्गम समुद्र के पार उतर जाते हैं, उसी प्रकार साधुजन 'संसार' के पार उतर जाते हैं।"

"स्थावर व जंगम–किसी भी प्राणी को मन, वचन व कर्म से किसी प्रकार की क्षति नहीं पहुँचानी चाहिये।"

"साधु को केवल अपनी जीवन-यात्रा के निर्वाह के लिये ही भोजन की भिक्षा मांगनी चाहिये। उसका भोजन सुस्वादु नहीं होना चाहिये।"

"यदि सारी पृथिवी भी किसी एक आदमी की हो जावे, तो उसे भी सन्तोष प्राप्त नहीं हो सकता। सन्तोष प्राप्त कर सकना तो बहुत कठिन है।"

"जितना तुम प्राप्त करोगे, उतनी ही तुम्हारी कामना बढ़ती जावेगी। तुम्हारी सम्पत्ति के साथ-साथ तुम्हारी आकांक्षायें भी बढ़ती जावेंगी। तुम्हारी आवश्यकता को पूर्ण करने के लिये तो दो 'माश' भी काफी हैं, पर सन्तोष तो तुम्हारा (यदि तुम सम्पत्ति को बढ़ाते जाओ तो) एक करोड़ से भी नहीं हो सकता।"

(६) महात्मा बुद्ध

उत्तरी बिहार में एक जनपद था, जिसका नाम शाक्यगण था। इसकी राजधानी कपिलवस्तु थी। वहां के गणराजा का नाम शुद्धोदन था। इसकी पत्नी माया थी। इन्हीं के घर कुमार सिद्धार्थ का जन्म हुआ, जो आगे चलकर महात्मा बुद्ध नाम से प्रसिद्ध हुआ। सिद्धार्थ का दूसरा नाम गौतम था, यह

नाम सम्भवतः उनके गौतम गोत्र के कारण था। जन्म के एक सप्ताह बाद ही कुमार सिद्धार्थ की माता का देहान्त हो गया। माता की बहिन महाप्रजावती थी। सिद्धार्थ का उसी ने पालन किया।

कपिलवस्तु का शाक्यगण वज्जिसंघ के समान शक्तिशाली नहीं था। पर क्षत्रियों के लिये उचित वीरता की उनमें कमी नहीं थी। शाक्य-कुमारों की शिक्षा में उस समय शारीरिक उन्नति की ओर बहुत ध्यान दिया जाता था। सिद्धार्थ को भी इसी प्रकार की शिक्षा दी गई। तीरन्दाजी, घुड़सवारी और मल्ल-विद्या में उसे बहुत प्रवीण बनाया गया। उस युग में पड़ोस के राजा गणराज्यों पर आक्रमण कर उन्हें अपने अधीन करने में लगे हुए थे। कोशल के कई हमले शाक्यों पर हो चुके थे। अतः यह स्वाभाविक था, कि शाक्य-कुमारों को वीर और पराक्रमी बनने की शिक्षा दी जाय। सिद्धार्थ का बाल्यकाल बड़े सुख और ऐश्वर्य से व्यतीत हुआ। सरदी, गरमी और वर्षा—इन तीनों ऋतुओं में उसके निवास के लिये अलग-अलग महल बने हुए थे। इनमें ऋतु के अनुसार ऐश्वर्य तथा भोग-विलास के सब सामान एकत्र किये गये थे। सिद्धार्थ एक सम्पन्न शाक्य-राजा का पुत्र था। उसके पिता को इच्छा थी, कि सिद्धार्थ भी शाक्यगण में खूब प्रतिष्ठित तथा उन्नत स्थान प्राप्त करे।

युवा होने पर सिद्धार्थ का विवाह यशोधरा नाम की कुमारी के साथ किया गया। विवाह के अनन्तर सिद्धार्थ का जीवन बड़े आनन्द के साथ व्यतीत होने लगा। सुख-ऐश्वर्य की उन्हें कमी ही क्या थी? कुछ समय बाद उन्हें एक पुत्र उत्पन्न हुआ। उसका नाम राहुल रखा गया।

एक बार की बात है, कि कुमार सिद्धार्थ कपिलवस्तु का अवलोकन करने के लिये निकले। उस दिन नगर को खूब सजाया गया था। कुमार सिद्धार्थ नगर की शोभा को देखता हुआ चला जा रहा था, कि उसका ध्यान सड़क के एक ओर लेटकर अन्तिम श्वास लेते हुए एक बीमार की ओर गया। सारथी ने पूछने पर बताया, कि यह एक बीमार है, जो कष्ट के कारण भूमि पर पड़ा हुआ तड़प रहा है, और थोड़ी ही देर में इसका देहान्त हो जायगा। ऐसी घटना सभी आदमी देखते हैं, पर सिद्धार्थ पर इसका गहरा प्रभाव पड़ा। इसके बाद उसे क्रमशः लाठी टेककर जाता हुआ एक बूढ़ा, श्मशान की ओर जाती हुई एक अरथी और एक शान्तमुख संन्यासी दिखाई दिये। पहले तीन दृश्यों को देखकर सिद्धार्थ का दबा हुआ वैराग्य एकदम प्रबल हो गया। उसे भोग-विलासमय जीवन अत्यन्त तुच्छ और क्षणिक जान पड़ने लगा। संन्यासी को

देखकर उसे उमंग आई, कि मैं भी इसी प्रकार संसार से विरक्त हो जाऊं।

सिद्धार्थ को वैरागी-सा होता देखकर शुद्धोदन को बड़ी चिन्ता हुई। उसने संसार के तीव्र विलासों द्वारा सिद्धार्थ का वैराग्य दबाने का प्रयत्न किया। एक रात सिद्धार्थ सुन्दरी वेश्याओं के बीच में अकेला छोड़ दिया गया। वे नवयुवती वेश्याएं नाना प्रकार के हाव-भाव, नाच व गान द्वारा उसे रिझाने का प्रयत्न करने लगीं। सिद्धार्थ उदासीन भाव से स्थिरदृष्टि होकर वहां बैठा रहा। कुछ समय में उसे नींद आ गई। रंग न जमने के कारण वेश्याओं को भी नींद सताने लगी। वे सब वहीं सो गईं। जब आधी रात को सिद्धार्थ की नींद अचानक टूटी, तब उसने देखा कि कुछ समय पूर्व जो नवयुवतियां सचमुच सौन्दर्य का अवतार-सी प्रतीत हो रही थीं, उनकी ओर अब आंख उठाने से भी ग्लानि होती है। किसी के बाल अस्तव्यस्त हैं, कोई किसी भयंकर स्वप्न को देखने के कारण मुख को विकृत कर रही है। किसी के शरीर से वस्त्र उतर गया है। थोड़ी देर तक इस दृश्य को देखकर सिद्धार्थ वहां से अपने शयनागार में चला गया। इस दृश्य ने सिद्धार्थ के कोमल हृदय को वैराग्य की तरफ और भी प्रेरित कर दिया। उसने संसार का परित्याग कर सन्यास ले लेने का दृढ़ संकल्प कर लिया।

एक दिन अंधेरी रात को कुमार सिद्धार्थ घर से निकल गया। शयनागार से बाहर आकर जब वह सदा के लिये अपने छोटे-से परिवार से विदा होने लगा, तो उसे अपने प्रिय अबोध बालक राहुल और प्रियतमा यशोधरा की स्मृति सताने लगी। वह पुनः अपने शयनागार में प्रविष्ट हुआ। यशोधरा सुख की नींद सो रही थी। राहुल माता की छाती से सटा सो रहा था। कुछ देर तक सिद्धार्थ इस अनुपम दृश्य को एकटक देखता रहा। उसके हृदय पर दुर्बलता प्रभाव करने लगी। पर अगले ही क्षण अपने हृदय के निर्बल भावों को एक साथ परे ढकेलकर वह बाहर चला आया। गृह-त्याग के समय उसकी आयु २९ वर्ष की थी।

प्रातःकाल हो जाने पर सिद्धार्थ ने अपने घोड़े को भी छोड़ दिया। घोड़ा स्वयं अपने घर वापस लौट आया। सिद्धार्थ ने अपने राजसी कपड़े एक साधारण किसान के साथ बदल लिये थे। प्रातःकाल शुद्धोदन ने सिद्धार्थ को ढूंढ़ने के लिये अपने अनुचरों को भेजा, पर साधारण किसान के वस्त्र पहने हुए कुमार को वे नहीं पहचान सके। सिद्धार्थ निश्चिन्त होकर अपने मार्ग पर अग्रसर हुआ।

इसके बाद लगभग सात साल तक सिद्धार्थ ज्ञान और सत्य की खोज में इधर-उधर भटकता रहा। शुरू-शुरू में उसने दो तपस्वियों को अपना गुरु धारण किया। इन्होंने उसे मोक्षप्राप्ति के लिये खूब तपस्या करवाई। शरीर की सब

क्रियाओं को बन्द कर घोर तपस्या करना ही इनकी दृष्टि में मोक्ष का उपाय था। सिद्धार्थ ने घोर से घोर तपस्यायें कीं। शरीर को तरह-तरह से कष्ट दिये। पर इन साधनों से उसे आत्मिक शान्ति नहीं मिली। उसने यह मार्ग छोड़ दिया।

मगध का परिभ्रमण करता हुआ सिद्धार्थ उरुवेला पहुंचा। यहां के मनोहर प्राकृतिक दृश्यों ने उसके हृदय पर बड़ा प्रभाव डाला। इस प्रदेश के निस्तब्ध और सुन्दर जंगलों और मधुर शब्द करनेवाले स्वच्छ जल के झरनों को देखकर उसका चित्त बहुत प्रसन्न हुआ। उरुबेला के इन जंगलों में सिद्धार्थ ने फिर तपस्या प्रारम्भ की। यहां पांच अन्य तपस्वियों से भी उसकी भेंट हुई। ये भी कठोर तप द्वारा मोक्ष-प्राप्ति में विश्वास रखते थे। सिद्धार्थ लगातार पद्मासन लगाकर बैठा रहता। भोजन तथा जल का उसने सर्वथा परित्याग कर दिया। इस कठोर तपस्या से उसका शरीर निर्जीव-सा हो गया। पर फिर भी उसे सन्तोष नहीं हुआ। उसने अनुभव किया, कि उसकी आत्मा वहीं पर है, जहां पहले थी। इतनी घोर तपस्या के बाद भी उसे आत्मिक उन्नति के कोई चिह्न दिखाई नहीं दिये। उसे विश्वास हो गया, कि शरीर को जान-बूझकर कष्ट देने से मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता। सिद्धार्थ ने तपस्या के मार्ग का परित्याग कर फिर से अन्न ग्रहण करना प्रारम्भ कर दिया। उसके साथी तपस्वियों ने समझा, कि सिद्धार्थ मार्गभ्रष्ट हो गया है और अपने उद्देश्य से च्युत हो गया है। उन्होंने उसका साथ छोड़ दिया और अब सिद्धार्थ फिर अकेला ही रह गया।

तपस्या के मार्ग से निराश होकर सिद्धार्थ वर्तमान बोधगया के समीप पहुंचा। वहां एक विशाल पीपल का वृक्ष था। थककर सिद्धार्थ उसकी छाया में बैठ गया। इतने दिनों तक वह सत्य को ढूंढ़ने के लिये अनेक मार्गों का ग्रहण कर चुका था। अब उसने अपने अनुभवों पर विचार करना प्रारम्भ किया। सात दिन और सात रात वह एक ही जगह पर ध्यानमग्न दशा में बैठा रहा। अन्त में उसे बोध हुआ। उसे अपने हृदय में एक प्रकार का प्रकाश-सा जान पड़ा। उसकी आत्मा में एक दिव्य ज्योति का आविर्भाव हुआ। उसकी साधना सफल हुई। वह अज्ञान से ज्ञान की दशा को प्राप्त हो गया। इस बोध व सत्यज्ञान के कारण वह सिद्धार्थ से 'बुद्ध' बन गया। बौद्धों की दृष्टि में इस पीपल के वृक्ष का बड़ा महत्त्व है। वह बोधिवृक्ष कहलाता है। उसी के कारण समीपवर्ती नगरी गया भी 'बोधगया' कह-लाती है। इस वृक्ष के नीचे ध्यानमग्न दशा में जो बोध कुमार सिद्धार्थ को हुआ था, वही 'बौद्ध-धर्म' है। महात्मा बुद्ध उसे आर्यमार्ग व मध्यमार्ग कहते थे। इसके

बाद सिद्धार्थ व बुद्ध ने अपना सम्पूर्ण जीवन इसी आर्यमार्ग का प्रचार करने में लगा दिया ।

बौद्ध-साहित्य में सिद्धार्थ की इस ज्ञानप्राप्ति की दशा का बड़ा विस्तृत और अतिरंजित वर्णन किया गया है । उसके अनुसार ज्ञानप्राप्ति के अवसर पर मार (कामदेव) आदि राक्षसों ने अपनी सेना सहित सिद्धार्थ पर चढ़ाई की । उसके सामने नाना प्रकार के प्रलोभन व कंपा देनेवाले भय उपस्थित किये गये । पर सिद्धार्थ ने इन सब पर विजय पाई । सम्भवतः ये वर्णन महात्मा बुद्ध के हृदय के अच्छे-बुरे भावों के संघर्ष को चित्रित करने के लिये किये गये थे । बुद्ध ने अपने हृदय में विद्यमान बुरे भावों पर विजय प्राप्त की और सत्यज्ञान द्वारा धर्म के आर्यमार्ग का ग्रहण किया ।

महात्मा बुद्ध को जो बोध हुआ था, उसके अनुसार मनुष्यमात्र का कल्याण करना और सब प्राणियों का हित सम्पादन करना उनका परम लक्ष्य था । इसीलिये बुद्ध होकर वे शान्त होकर नहीं बैठ गये । उन्होंने सब जगह घूम-घूम कर अपना सन्देश जनता तक पहुंचाना प्रारम्भ किया ।

बुद्ध का प्रचार-कार्य—गया से महात्मा बुद्ध काशी की ओर चले । काशी के समीप, जहां आजकल सारनाथ है, उन्हें वे पांचों तपस्वी मिले, जिनसे उनकी उरुवेला में भेंट हुई थी । जब इन तपस्वियों ने बुद्ध को दूर से आते देखा, तब उन्होंने सोचा, यह वही सिद्धार्थ है, जिसने अपनी तपस्या बीच में ही भंग कर दी थी । वह अपने प्रयत्न में असफल हो निराश होकर फिर यहां आ रहा है । हम इसका स्वागत व सम्मान नहीं करेंगे । परन्तु जब महात्मा बुद्ध और समीप आये, तो उनके चेहरे पर एक अनुपम ज्योति देखकर ये तपस्वी आश्चर्य में आ गये, और उन्होंने खड़े होकर उनका स्वागत किया । बुद्ध ने उन्हें उपदेश दिया । गया में बोधिवृक्ष के नीचे ध्यानमग्न होकर जो सत्यज्ञान उन्होंने प्राप्त किया था, उसका सबसे पहले उपदेश इन तपस्वियों को ही दिया गया । ये पांचों बुद्ध के शिष्य हो गये । बौद्ध-धर्म में सारनाथ के इस उपदेश का बड़ा महत्त्व है । इसी के कारण बौद्ध-संसार में बोधगया के बाद सारनाथ का तीर्थस्थान के रूप में सबसे अधिक माहात्म्य है ।

सारनाथ से बुद्ध उरुवेला गये । यह स्थान उस समय याज्ञिक कर्मकाण्ड में व्यस्त ब्राह्मण पुरोहितों का गढ़ था । वहां एक हजार ब्राह्मण इस प्रकार के रहते थे, जो हर समय अग्निकुण्ड में अग्नि को प्रदीप्त रखकर वेद-मन्त्रों द्वारा आहुतियां देने में व्यस्त रहते थे । बुद्ध के उपदेशों से अनेक ब्राह्मण उनके अनु-

यायी हो गये। कश्यप इनका नेता था, आगे चलकर यह बुद्ध के प्रधान शिष्यों में गिना जाने लगा।

कश्यप के बौद्ध-धर्म में दीक्षित हो जाने के कारण बुद्ध की ख्याति दूर-दूर तक फैल गई। उरुवेला से वह अपने शिष्यों के साथ राजगृह गये। उन्होंने नगर के बाहर एक उपवन में डेरा लगाया। उन दिनों मगध के राजसिंहासन पर श्रेणिय बिम्बिसार विराजमान थे। उन्होंने बहुत-से अनुचरों के साथ बुद्ध के दर्शन किये और उनके उपदेशों का श्रवण किया। राजगृह में बुद्ध को दो ऐसे शिष्य प्राप्त हुए, जो आगे चलकर बौद्ध-धर्म के बड़े स्तम्भ साबित हुए। इनके नाम सारिपुत्त और मोग्गलान थे। ये दोनों प्रतिभाशाली ब्राह्मणकुमार एक-दूसरे के अभिन्न मित्र थे और सदा एक साथ रहते थे। एक बार जब ये मार्ग पर बैठे हुए किसी विषय की चर्चा कर रहे थे, तो एक बौद्ध-भिक्षु भिक्षापात्र हाथ में लिये उस रास्ते से गुजरा। इन ब्राह्मणकुमारों की दृष्टि उस पर पड़ गई। उसकी चाल, वस्त्र, मुखमुद्रा और शान्त तथा वैराग्यपूर्ण दृष्टि से ये दोनों इतने प्रभावित हुए कि उसके सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करने के लिये व्याकुल हो उठे। जब यह बौद्ध-भिक्षु भिक्षाकार्य समाप्त कर वापस लौट रहा था, तो ये उसके साथ महात्मा बुद्ध के दर्शन के लिये गये। इनको देखते ही बुद्ध समझ गये कि ये दोनों ब्राह्मणकुमार उनके प्रधान शिष्य बनने योग्य हैं। बुद्ध का उपदेश सुनकर सारिपुत्त और मोग्गलान भी भिक्षुवर्ग में सम्मिलित हो गये। बाद में ये दोनों बड़े प्रसिद्ध हुए और बौद्ध-धर्म के प्रसार के लिये इन्होंने बहुत कार्य किया।

जब मगध के बहुत-से कुलीन लोग बड़ी संख्या में भिक्खु बनने लगे, तो जनता में असन्तोष बढ़ने लगा। लोगों ने कहना शुरू किया—यह साधु प्रजा की संख्या घटाने, स्त्रियों को विधवाओं के सदृश बनाने और कुलों का नाश करने के लिये आया है, इससे बचो। बुद्ध के शिष्यों ने उनसे आकर कहा, कि आज कल मगध की जनता इस भाव के गीत बनाकर गा रही है—सैर करता हुआ एक साधु मगध की राजधानी में आया है, और पहाड़ की चोटी पर डेरा डाले बैठा है। उसने संजय के सब शिष्यों को अपना चेला बना लिया है, आज न जाने वह किसे अपने पीछे लगायगा। इसपर बुद्ध ने उत्तर दिया—इस बात से घबराओ नहीं। यह असन्तोष क्षणिक है। जब तुमसे लोग पूछते हैं, बुद्ध आज किसे अपने पीछे लगायगा, तो तुम उत्तर दिया करो—वीर और विवेकशाली पुरुष उसके अनुयायी बनेंगे। वह तो सत्य के बल पर ही अपने अनुयायी बनाता है।

महात्मा बुद्ध का प्रधान कार्यक्षेत्र मगध था। वे कई बार मगध आये और

सर्वत्र घूम-घूमकर उन्होंने अपने धर्म का प्रचार किया। बिम्बिसार और अजातशत्रु उनके समकालीन थे। इन मागध-सम्राटों के हृदय में बुद्ध के प्रति अपार श्रद्धा थी। बुद्ध अपने बहुत-से शिष्यों को साथ में लेकर भ्रमण किया करते थे। उनकी मण्डली में कई सौ भिक्खु एक साथ रहते थे। वे जिस शहर में पहुंचते, शहर के बाहर किसी उपवन में डेरा डाल देते। लोग बड़ी संख्या में उनके दर्शनों के लिये आते और उपदेश श्रवण करते। नगर के श्रद्धालु लोग उन्हें भोजन के लिये आमन्त्रित किया करते थे। भोजन के अनन्तर बुद्ध अपने यजमान को उपदेश भी देते थे। यही उनके प्रचार का ढंग था।

मगध से बाहर महात्मा बुद्ध काशी, कोशल और वज्जि जनपदों में गये। अवन्ति जैसे दूरवर्ती जनपदों के लोगों ने उन्हें अनेक बार आमन्त्रित किया। पर इच्छा होते हुए भी वे स्वयं वहां नहीं जा सके। उन्होंने अपने कुछ शिष्यों की टोली को वहां भेज दिया था, और अवन्ति की जनता ने बड़े प्रेम और उत्साह से उनका स्वागत किया था। भिक्षुओं की इसी प्रकार की टोलियां अन्यत्र भी बहुत-से स्थानों पर आर्यमार्ग का प्रसार करने के लिये भेजी गई थीं। इन प्रचार-मण्डलियों का ही परिणाम था, कि बुद्ध के जीवनकाल में ही उनका सन्देश प्रायः सम्पूर्ण उत्तरी भारत में दूर-दूर तक फैल गया था।

महापरिनिर्वाण—महात्मा बुद्ध ने चवालीस वर्ष के लगभग आर्यमार्ग का प्रचार किया। जब वे अस्सी वर्ष की आयु के थे, तो उन्होंने राजगृह से कुशीनगर के लिये एक लम्बी यात्रा का प्रारम्भ किया। इस यात्रा में वैशाली के समीप वेणुवन में उनका स्वास्थ्य बहुत गिर गया। कुछ दिन वहां विश्राम करके उन्होंने स्वास्थ्य लाभ किया। पर वे बहुत निर्बल हो चुके थे। वैशाली से कुशीनगर आते हुए वे फिर बीमार पड़े। बीमारी की दशा में ही वे कुशीनगर पहुंचे और हिरण्यवती नदी के तट पर अपना डेरा डाला। यहां उनकी दशा और भी बिगड़ गई। बुद्ध की बीमारी की खबर कुशीनगर में वायुवेग से फैल गई। नगर के कुलीन मल्ल (कुशीनगर में मल्लगण की स्थिति थी) क्षत्रिय बड़े-बड़े झुण्डों में हिरण्यवती के तट पर महात्मा बुद्ध के अन्तिम दर्शनों के लिये आने लगे।

महात्मा बुद्ध की अन्तिम दशा की कल्पना कर भिक्खु लोग बड़े चिन्तित थे। उन्हें उदास देखकर बुद्ध ने कहा—तुम सोचते होगे, तुम्हारा आचार्य तुमसे जुदा हो रहा है। पर ऐसा मत सोचो। जो सिद्धान्त और नियम मैंने तुम्हें बताये हैं, जिनका मैंने प्रचार किया है, वही तुम्हारे आचार्य रहेंगे और वे सदा जीवित रहेंगे। फिर उन्होंने सब भिक्षुओं को सम्बोधन करके

कहा—पुत्रो ! सुनो, मैं तुमसे कहता हूं, जो आता है, वह जाता भी अवश्य है। बिना रुके प्रयत्न किये जाओ।

महात्मा बुद्ध के ये ही अंतिम शब्द थे। इसके बाद उनका देह प्राणशून्य हो गया। कुशीनगर के समीप उस स्थान पर जहां महात्मा बुद्ध का परिनिर्वाण हुआ था, अब भी उनकी एक विशाल मूर्ति विद्यमान है।

(७) बौद्ध-धर्म की शिक्षायें

बुद्ध सच्चे अर्थों में सुधारक थे। प्राचीन आर्य-धर्म में जो बहुत-सी खराबियां आ गई थीं, उन्हें दूर कर उन्होंने सच्चे आर्य-धर्म के पुनरुद्धार करने का प्रयत्न किया। अपने मन्तव्यों और सिद्धान्तों के विषय में उन्होंने बार-बार कहा है— 'एष धम्मो सनातनः', यही सनातन-धर्म है। वे यह दावा नहीं करते थे, कि वे किसी नये धर्म का प्रतिपादन कर रहे हैं। उनका यही कथन था, कि मैं सनातन काल से चले आ रहे धर्म का ही स्थापन कर रहा हूं।

मध्य-मार्ग—बुद्ध ने अपने धर्म को मध्य-मार्ग कहा है। वे उपदेश करते थे— भिक्षुओ ! इन दो चरम कोटियों (अतियों) का सेवन नहीं करना चाहिये, भोग-विलास में लिप्त रहना और शरीर को कष्ट देना। इन दो अतियों का त्याग कर मैंने मध्य-मार्ग निकाला है, जो कि आंख देनेवाला, ज्ञान करानेवाला और शान्ति प्रदान करनेवाला है।

आर्य अष्टांगिक मार्ग—इस मध्य-मार्ग के आठ आर्य (श्रेष्ठ) अंग थे—(१) सम्यक् दृष्टि, (२) सम्यक् संकल्प (३) सम्यक् वचन, (४) सम्यक् कर्म (५) सम्यक् आजीविका, (६) सम्यक् प्रयत्न, (७) सम्यक् विचार और (८) सम्यक् ध्यान या समाधि। इसमें सन्देह नहीं, कि इन आठ बातों का पूर्णरूप से आचरण कर मनुष्य अपने जीवन को आदर्श और कल्याणमय बना सकता है। अत्यन्त भोग विलास और अत्यन्त तप—दोनों को हेय मानकर बुद्ध ने जिस मध्य-मार्ग (मध्यमा प्रतिपदा) का उपदेश किया था, ये आठ बातें उसके अन्तर्गत थीं। संयम और सदाचारमय जीवन ही इस धर्म का सार है।

चार आर्य-सत्य—बुद्ध के अनुसार चार आर्य-सत्य हैं—(१) दुःख, (२) दुःख-समुदय या दुःख का हेतु, (३) दुःख-निरोध और (४) दुःख-निरोध-गामिनी प्रतिपदा अर्थात् दुःख को दूर करने का मार्ग। दुःख सत्य की व्याख्या करते हुए बुद्ध ने कहा—जन्म भी दुःख है, बुढ़ापा भी दुःख है, मरण शोक रुदन

और मन की खिन्नता भी दुःख है । अप्रिय से संयोग और प्रिय से वियोग भी दुःख हैं । दुःख के रूप को इस प्रकार स्पष्ट कर बुद्ध ने प्रतिपादित किया, कि दुःख का समुदय या हेतु तृष्णा है । इन्द्रियों के जितने प्रिय विषय हैं, उनके साथ सम्पर्क तृष्णा को उत्पन्न करता है । राजा जो राजा से लड़ते हैं, ब्राह्मण ब्राह्मणों से,गृहपति गृहपति से, पुत्र पिता से, पिता पुत्र से, भाई-भाई से जो लड़ते हैं, उसका कारण यह तृष्णा ही है । इस तृष्णा का त्याग कर देने से, इसका विनाश कर देने से दुःख का निरोध होता है । जब तृष्णा छूट जाती है, तभी दुःख का निरोध सम्भव है । इस दुःख-निरोध का उपाय आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग ही है । इसी मार्ग का अनुसरण कर मनुष्य अपने जीवन की साधना इस ढंग से कर सकता है, कि वह तृष्णा से मुक्त होकर दुःखों से बच सके ।

मनुष्यमात्र की समानता—महात्मा बुद्ध समाज में ऊंच-नीच के कट्टर विरोधी थे । उनकी दृष्टि में कोई मनुष्य नीच व अछूत नहीं था । उनके शिष्यों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, श्रेष्ठि, शूद्र, वेश्या, नीच समझी जानेवाली जातियों के मनुष्य—सब एक समान स्थान रखते थे । बौद्ध-साहित्य में कथा आती है, कि वासत्थ और भारद्वाज नामक दो ब्राह्मण बुद्ध के पास आये, और उनसे पूछा—हम दोनों में इस प्रश्न पर विवाद हो गया है, कि कोई व्यक्ति जन्म से ब्राह्मण होता है या कर्म से । इसपर बुद्ध ने उत्तर दिया—हे वासत्थ ! मनुष्यों में जो गौवें चराता है, उसे हम चरवाहा कहेंगे, ब्राह्मण नहीं । जो मनुष्य कला-सम्बन्धी बातों से अपनी आजी--विका चलाता है, उसे हम कलाजीवी कहेंगे, ब्राह्मण नहीं । जो आदमी व्यापार करता है, उसे हम व्यापारी कहेंगे, ब्राह्मण नहीं । जो आदमी दूसरों की नौकरी करता है, वह अनुचर कहलावेगा, ब्राह्मण नहीं । जो चोरी करता है, वह चोर कहलावेगा, ब्राह्मण नहीं । जो आदमी शस्त्र धारण करके अपना निर्वाह करता है, उसे हम सैनिक कहेंगे, ब्राह्मण नहीं । किसी विशेष माता के पेट से जन्म लेने के कारण मैं किसी को ब्राह्मण नहीं कहूंगा । वह व्यक्ति जिसका किसी भी वस्तु पर ममत्व नहीं है, जिसके पास कुछ भी नहीं है, मैं तो उसी को ब्राह्मण कहूंगा । जिसने अपने सब बन्धन काट दिये हैं, अपने को सब लगावों से पृथक् करके भी जो विचलित नहीं होता , मैं तो उसी को ब्राह्मण कहूंगा । जो भी व्यक्ति क्रोधरहित है, अच्छे काम करता है, सत्याभिलाषी है, जिसने अपनी इच्छाओं का दमन कर लिया है, मैं तो उसी को ब्राह्मण कहूंगा । वास्तव में न कोई ब्राह्मण के घर में जन्म लेने से ब्राह्मण होता है, और न कोई ब्राह्मण के घर में जन्म न लेने से अब्राह्मण होता है । अपने कर्मों से ही एक आदमी ब्राह्मण बन जाता है. और दूसरा अब्राह्मण ।

अपने काम से ही कोई किसान है, कोई शिल्पी है, कोई व्यापारी है, और कोई सेवक है।

अहिंसा और यज्ञ–महात्मा बुद्ध पशुहिंसा के घोर विरोधी थे। अहिंसा उनके सिद्धान्तों में से एक था। वे न केवल यज्ञों में पशुबलि के विरोधी थे, पर जीवों को मारना व किसी प्रकार का कष्ट देना भी वे अनुचित समझते थे। उस समय भारत में यज्ञों का कर्मकाण्ड बड़ा जटिल रूप धारण कर चुका था। लोगों का विश्वास था, कि यज्ञ द्वारा स्वर्ग की प्राप्ति होती है। ईश्वर के ज्ञान के लिये, मोक्ष की साधना के लिये, और अभीष्ट फल की प्राप्ति के लिये ब्राह्मण लोग यज्ञ का अनुष्ठान करते थे। पर महात्मा बुद्ध का यज्ञों में विश्वास नहीं था। एक जगह उन्होंने उपदेश करते हुए कहा है–वासत्थ ! एक उदाहरण लो। कल्पना करो, कि यह अचिरावती नदी किनारे तक भरकर जा रही है। इसके दूसरे किनारे पर एक मनुष्य आता है, और वह किसी आवश्यक कार्य से इस पार आना चाहता है। वह मनुष्य उसी किनारे पर खड़ा हुआ यह प्रार्थना करना प्रारम्भ करे, कि ओ दूसरे किनारे, इस पार आ जाओ ! क्या उसके इस प्रकार स्तुति करने से यह किनारा उसके पास चला जायगा ? हे वासत्थ ! ठीक इसी प्रकार एक त्रयी विद्या में निष्णात ब्राह्मण यदि उन गुणों को क्रियारूप में अपने अन्दर नहीं लाता, जो किसी मनुष्य को ब्राह्मण बनाते हैं, अब्राह्मणों का आचरण करता है, पर मुख से प्रार्थना करता है–मैं इन्द्र को बुलाता हूं, मैं वरुण को बुलाता हूं, मैं प्रजापति, ब्रह्मा, महेश और यम को बुलाता हूं, तो क्या ये उसके पास चले आवेंगे ? क्या इनकी प्रार्थना से ही कोई लाभ हो जायगा ?

सदाचरण–यज्ञों में विविध देवताओं का आह्वान कर ब्राह्मण लोग जो उनकी स्तुति करते थे, महात्मा बुद्ध उसे निरर्थक समझते थे। उनका विचार था, कि सद्आचरण और सद्गुणों से ही मनुष्य अपनी उन्नति कर सकता है। व्यर्थ के कर्मकाण्ड से कोई लाभ नहीं। बुद्ध और वासत्थ का एक अन्य संवाद इस विषय पर बड़ा उत्तम प्रकाश डालता है—

"क्या ईश्वर के पास धन व स्त्रियां हैं ?"

"नहीं।"

"वह क्रोधपूर्ण है या क्रोधरहित ?"

"क्रोधरहित।"

"उसका अन्तःकरण मलिन है या पवित्र ?"

"पवित्र।"

"वह स्वयं अपना स्वामी है या नहीं ?"

"है।"

"अच्छा वासत्थ ! क्या इन ब्राह्मणों के पास धन और स्त्रियां नहीं हैं ?"

"हैं।"

"ये क्रोधी हैं या क्रोधरहित ?"

"क्रोधी हैं।"

"ये ईर्ष्यालु हैं या ईर्ष्यारहित ?"

"ये ईर्ष्यालु हैं।"

"उनका अन्तःकरण क्या पवित्र है ?"

"नहीं, अपवित्र है।"

"वे स्वयं अपने स्वामी हैं या नहीं ?"

"नहीं"

"अच्छा वासत्थ ! तुम स्वयं ही ईश्वर और ब्राह्मणों में इतना स्वभाववैषम्य बतला रहे हो। अब बताओ, इनमें कोई एकता और साम्य भी हो सकता है ?"

"कोई नहीं।"

"इसका अभिप्राय यह हुआ कि ये ब्राह्मण मलिन हृदय के हैं, वासनाओं से शून्य नहीं हैं, और वह ब्रह्म पवित्र और वासनारहित है, अतः ये ब्राह्मण मृत्यु के अनन्तर उसके साथ नहीं मिल सकते। जब ये आचार-हीन ब्राह्मण बैठ कर वेद पाठ करते हैं, या उसके अनुसार कोई कर्मकाण्ड करते हैं, तब उनके हृदय में तो यह होता है कि इस वेदपाठ से या कर्मकाण्ड से मोक्ष की प्राप्ति हो जावेगी। पर यह उनका अज्ञान है। त्रयीविद्या के उन पण्डितों की बात वस्तुतः जलरहित मरुभूमि के, मार्गरहित बीहड़ वन के समान है। उससे उन्हें कोई लाभ नहीं हो सकता।"

अभिप्राय यह है, कि महात्मा बुद्ध केवल वेदपाठ व यज्ञों के अनुष्ठानों को सर्वथा लाभहीन समझते थे। उनका विचार था, कि जब तक चरित्र शुद्ध नहीं होगा, धन की इच्छा दूर नहीं होगी, क्रोध, काम, मोह आदि पर विजय नहीं की जावेगी, तब तक यज्ञों के अनुष्ठानमात्र से कोई लाभ नहीं होगा।

निर्वाण—बुद्ध के अनुसार जीवन का लक्ष्य निर्वाणपद को प्राप्त करना है। निर्वाण किसी पृथक् लोक का नाम नहीं है; न ही निर्वाण कोई ऐसा पद है, जिसे मनुष्य मृत्यु के बाद प्राप्त करता है। बुद्ध के अनुसार निर्वाण उस अवस्था का नाम है, जिसमें ज्ञान द्वारा अविद्यारूपी अन्धकार दूर हो जाता है। यह अवस्था इसी

जन्म में, इसी लोक में प्राप्त की जा सकती है। सत्यबोध के अनन्तर महात्मा बुद्ध ने निर्वाण की यह दशा इसी जन्म में प्राप्त कर ली थी। एक जगह पर बुद्ध ने कहा था—जो धर्मात्मा लोग किसी की हिंसा नहीं करते, शरीर की वृत्तियों का संयम कर पापों से बचे रहते हैं, वे उस अच्युत निर्वाणपद को प्राप्त करते हैं, जहां शोक और संताप का नाम भी नहीं।

महात्मा बुद्ध ने अपने उपदेशों में सूक्ष्म और जटिल दार्शनिक विचारों को अधिक स्थान नहीं दिया। इन विवादों की उन्होंने उपेक्षा की। जीव का क्या स्वरूप है, सृष्टि की उत्पत्ति ब्रह्म से हुई है वा किसी अन्य पदार्थ से, अनादि तत्त्व कितने और कौन-से हैं, सृष्टि का कर्त्ता कोई ईश्वर है या नहीं—इस प्रकार के दार्शनिक विवादों से वे सदा बचते रहे। उनका विचार था, कि जीवन की पवित्रता और आत्मकल्याण के लिये इन सब प्रश्नों पर विचार करना विशेष लाभकारी नहीं है। पर मनुष्यों में इन प्रश्नों के लिये एक स्वाभाविक जिज्ञासा होती है। यही कारण है, कि आगे चलकर बौद्धों में बहुत-से दार्शनिक सम्प्रदायों का विकास हुआ। इन सम्प्रदायों के सिद्धान्त एक-दूसरे से बहुत भिन्न हैं। पर बुद्ध के उपदेशों व संवादों में इन दार्शनिक तत्त्वों पर विशेष प्रकाश नहीं डाला गया।

(८) बौद्ध-संघ

महात्मा बुद्ध ने अपने धर्म का प्रचार करने के लिये संघ की स्थापना की। जो लोग सामान्य गृहस्थ-जीवन का परित्याग कर धर्म-प्रचार और मनुष्यमात्र की सेवा में ही अपना जीवन खपा देना चाहते थे, वे भिक्षुव्रत लेकर संघ में सम्मिलित होते थे।

महात्मा बुद्ध का जन्म एक गणराज्य में हुआ था। अपनी आयु के २९ वर्ष उन्होंने गणों के वातावरण में व्यतीत किये थे। वे गणों व संघों की कार्यप्रणाली से भलीभांति परिचित थे। यही कारण है, कि जब उन्होंने अपने नवीन धार्मिक सम्प्रदाय का संगठन किया, तो उसे भिक्षुसंघ नाम दिया। अपने धार्मिक संघ की स्थापना करते हुए स्वाभाविक रूप से उन्होंने अपने समय के संघराज्यों का अनुसरण किया और उन्हीं के नियमों तथा कार्यविधि को अपनाया। सब जगह भिक्षुओं का अलग-अलग संघ था। प्रत्येक स्थान का संघ अपने आप में एक पृथक् व स्वतन्त्र सत्ता रखता था। सारे भिक्षु संघसभा में एकत्र होकर अपने कार्य का सम्पादन करते थे। वज्जिसंघ को जिस प्रकार के सात अपरिहाणीय धर्मों का

महात्मा बुद्ध ने उपदेश किया था वैसे ही सात अपरिहारणीय धर्म बौद्ध-संघ के लिये उपदिष्ट किये गये थे—

(१) एक साथ एकत्र होकर बहुधा अपनी सभायें करते रहना।

(२) एक ही बैठक करना, एक ही उत्थान करना और एक ही संघ के सब कार्यों को सम्पादित करना।

(३) जो संघ द्वारा विहित है, उसका कभी उल्लंघन नहीं करना। जो संघ में विहित नहीं है, उसका अनुसरण नहीं करना। जो भिक्षुओं के पुराने नियम चले आ रहे हैं, उनका सदा पालन करना।

(४) जो अपने में बड़े, धर्मानुरागी, चिरप्रव्रजित, संघ के पिता, संघ के नायक स्थविर भिक्षु हैं उनका सत्कार करना, उन्हें बड़ा मान कर उनकी पूजा करना, उनकी बात को सुनने तथा ध्यान देने योग्य समझना।

(५) पुनः-पुनः उत्पन्न होनेवाली तृष्णा के वश नहीं आना।

(६) वन की कुटियों में निवास करना।

(७) सदा यह स्मरण रखना कि भविष्य में केवल ब्रह्मचारी ही संघ में सम्मिलित हों, और सम्मिलित हुए लोग पूर्ण ब्रह्मचर्य के साथ रहें।

संघ-सभा में जब भिक्षु लोग एकत्र होते थे, तो प्रत्येक भिक्षु के बैठने के लिये आसन नियत होते थे। आसनों की व्यवस्था करने के लिये एक पृथक् कर्मचारी होता था, जिसे आसन-प्रज्ञापक कहते थे। संघ में जिस विषय पर विचार होना होता था, उसे पहले प्रस्तावरूप में पेश किया जाता था। प्रत्येक प्रस्ताव तीन बार दोहराया जाता था, उसपर बहस होती थी, और निर्णय के लिये मत (वोट) लिये जाते थे। संघ के लिये कोरम का भी नियम था। संघ की बैठक के लिये कम से कम बीस भिक्षुओं की उपस्थिति आवश्यक होती थी। यदि कोई निर्णय पूरे कोरम के अभाव में किया जाता, तो उसे मान्य नहीं समझा जाता था।

प्रत्येक भिक्षु के लिये आवश्यक था, कि वह संघ के सब नियमों का पालन करे, संघ के प्रति भक्ति रखे। इसीलिये भिक्षु बनते समय जो तीन प्रतिज्ञायें लेनी होती थीं, उनके अनुसार प्रत्येक भिक्षु को बुद्ध, धर्म और संघ की शरण में आने का वचन लेना होता था। संघ में शामिल हुए भिक्षु कठोर संयम का जीवन व्यतीत करते थे। मनुष्यमात्र के कल्याण के लिये और सब प्राणियों के हित के लिये ही भिक्षुसंघ की स्थापना हुई थी। यह कार्य सम्पादित करने के लिये भिक्षुओं से वैयक्तिक जीवन की पवित्रता और त्याग की भावना की पूरी आशा रखी जाती थी।

बौद्ध-संघ के अपूर्व संघटन ने बुद्ध के आर्यमार्ग के सर्वत्र प्रचरित होने में बड़ी सहायता दी। जिस समय मगध के साम्राज्यवाद ने प्राचीन संघराज्यों का अन्त कर दिया, तब भी बौद्ध-संघों के रूप में भारत की प्राचीन जनतन्त्र-प्रणाली जीवित रही। राजनीतिक शक्ति यदि मागध-सम्राटों के हाथ में थी, तो धार्मिक और सामाजिक शक्ति इन संघों में निहित थी। संघों में एकत्र होकर हजारों-लाखों भिक्खु लोग पुरातन गणप्रणाली से उन विषयों का निर्णय किया करते थे, जिनका मनुष्यों के दैनिक जीवन से अधिक घनिष्ट सम्बन्ध था। बौद्ध-संघ की इस विशेष स्थिति का यह परिणाम था, कि भारत में समानान्तर रूप से दो प्रबल शक्तियां कायम थीं, एक मागध-साम्राज्य और दूसरा चातुरन्त-संघ। एक समय ऐसा भी आया, जब इन दोनों शक्तियों में परस्पर-संघर्ष का सूत्रपात हो गया।

(९) आजीवक-सम्प्रदाय

भारतीय इतिहास में वर्धमान महावीर और गौतम बुद्ध का समय एक महत्त्वपूर्ण धार्मिक सुधारणा का काल था। इस समय में अनेक नवीन धार्मिक सम्प्रदायों का प्रादुर्भाव हुआ था। इनमें बौद्ध और जैन-धर्मों के नाम तो सब कोई जानते हैं, पर जो अन्य सम्प्रदाय इस समय में प्रारम्भ हुए थे, उनका परिचय प्रायः लोगों को नहीं है। इसी प्रकार का एक सम्प्रदाय आजीवक था। इसका प्रवर्तक मक्खलिपुत्त गोसाल था। आजीवकों के कोई अपने ग्रन्थ इस समय उपलब्ध नहीं होते। उनके सम्बन्ध में जो कुछ भी परिचय मिलता है, वह बौद्ध और जैन-साहित्य पर ही आश्रित है। मक्खलिपुत्त गोसाल छोटी आयु में ही भिक्खु हो गया था। शीघ्र ही वर्धमान महावीर से उसका परिचय हुआ, जो 'केवलिन्' पद पाकर अपने विचारों का जनता में प्रसार करने में संलग्न थे। महावीर और गोसाल साथ-साथ रहने लगे। पर इन दोनों की तबियत, स्वभाव, आचार-विचार और चरित्र एक-दूसरे से इतने भिन्न थे, कि छः साल बाद उनका साथ छूट गया और गोसाल ने महावीर से अलग होकर अपने पृथक् सम्प्रदाय की स्थापना की, जो आगे चलकर आजीवक नाम से विख्यात हुआ। गोसाल ने अपने कार्य का मुख्य केन्द्र श्रावस्ती को बनाया। श्रावस्ती के बाहर एक कुम्भकार स्त्री का अतिथि होकर उसने निवास प्रारम्भ किया, और धीरे-धीरे बहुत-से लोग उसके अनुयायी हो गये।

आजीवक-सम्प्रदाय के मन्तव्यों के सम्बन्ध में जो कुछ भी हमें ज्ञात होता है, उसका आधार उसका विरोधी साहित्य है। पर उसके कुछ मन्तव्यों के विषय में

निश्चित रूप से कहा जा सकता है। आजीवक लोग मानते थे, कि संसार में सब बातें पहले से ही नियत हैं। "जो नहीं होना है, वह नहीं होगा। जो होना है, वह कोशिश के बिना भी हो जायगा। अगर भाग्य न हो, तो हाथ में आई हुई चीज भी नष्ट हो जाती है। नियति के बल से जो कुछ होना है, वह चाहे शुभ हो या अशुभ, अवश्य होकर रहेगा। मनुष्य चाहे कितना ही यत्न करे, पर जो होनहार है, उसे वह बदल नहीं सकता।" इसीलिये आजीवक लोग पौरुष, कर्म और उत्थान की अपेक्षा भाग्य या नियति को अधिक बलवान् मानते थे। आजीवकों के अनुसार वस्तुओं में जो विकार व परिवर्तन होते हैं, उनका कोई कारण नहीं होता। संसार में कोई कार्य-कारण भाव काम कर रहा हो, सो बात नहीं है। पर जो कुछ हो रहा है या होना है, वह सब नियत है। मनुष्य अपने पुरुषार्थ से उसे बदल सके, यह सम्भव नहीं।

वर्धमान महावीर के साथ आजीवक का जिन बातों पर मतभेद हुआ था, उनमें मुख्य निम्नलिखित थीं—(१) शीतल जल का उपयोग करना, (२) अपने लिये विशेष रूप से तैयार किये गये अन्न व भोजन को ग्रहण करना, (३) स्त्रियों के साथ सहवास करना। मक्खलिपुत्त गोसाल की प्रवृत्ति भोग की तरफ अधिक थी। वह आराम से जीवन व्यतीत करने के पक्ष में था। महावीर का घोर तपस्यामय जीवन उसे पसन्द नहीं था। यही कारण है, कि महात्मा बुद्ध ने भी एक स्थल पर आजीवकों को ऐसे सम्प्रदायों में गिना है, जो ब्रह्मचर्य को महत्त्व नहीं देते।

पर आजीवक भिक्खु का जीवन बड़ा सादा होता था। वे प्रायः हथेली पर रखकर भोजन करते थे। मांस, मच्छी और मदिरा का सेवन उनके लिये वर्जित था। वे दिन में केवल एक बार भिक्षा मांगकर भोजन करते थे।

आजीवक सम्प्रदाय का भी काफी विस्तार हुआ। सम्राट् अशोक के शिलालेखों में उल्लेख आता है, कि उसने अनेक गुहा-निवास आजीवकों को प्रदान किये थे। अशोक के पौत्र सम्राट् दशरथ ने भी गया के समीप नागार्जुनी पहाड़ियों में अनेक गुहायें आजीवकों के निवास के लिये दान में दी थीं, और इस दान के सूचित करने वाले शिलालेख अब तक उपलब्ध होते हैं। अशोक ने विविध धार्मिक सम्प्रदायों में अविरोध उत्पन्न करने के लिये जो 'धर्ममहामात्र' नियत किये थे, उन्हें जिन सम्प्रदायों के मामलों पर दृष्टि रखने का आदेश दिया गया था, उनमें बौद्ध, ब्राह्मण और निर्ग्रन्थ (जैन) सम्प्रदायों के साथ आजीवकों का भी उल्लेख है। इससे प्रतीत होता है, कि धीरे-धीरे आजीवकों ने भी पर्याप्त

महत्त्व प्राप्त कर लिया था, और यह सम्प्रदाय कई सदियों तक जीवित रहा था। इस समय इसके कोई अनुयायी शेष नहीं हैं।

(१०) धार्मिक सुधारणा का प्रभाव

वर्धमान महावीर और गौतम बुद्ध के नेतृत्व में प्राचीन भारत की इस धार्मिक सुधारणा ने जनता के हृदय और दैनिक जीवन पर बड़ा प्रभाव डाला। लोगों ने अपने प्राचीन धार्मिक विश्वासों को छोड़कर किसी नये धर्म की दीक्षा ले ली हो, यह नहीं हुआ। पहले धर्म का नेतृत्व ब्राह्मणों के हाथ में था, जो कर्मकाण्ड, विधि-विधान और विविध अनुष्ठानों द्वारा जनता को धर्म-मार्ग का प्रदर्शन करते थे। सर्वसाधारण गृहस्थ जनता सांसारिक धन्धों में संलग्न थी, कृषि, शिल्प, व्यापार आदि द्वारा धन उपार्जन करती थी, और ब्राह्मणों द्वारा बताये धर्म-मार्ग पर चलकर इहलोक और परलोक में सुख प्राप्त करने का प्रयत्न करती थी। अब ब्राह्मणों का स्थान श्रमणों, मुनियों और भिक्खुओं ने ले लिया। इन श्रमणों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र- —सभी वर्णों और जातियों के लोग सम्मिलित थे। अपने गुणों के कारण समाज में इनकी प्रतिष्ठा थी। धर्म का नेतृत्व ब्राह्मण-जाति के हाथ से निकलकर अब ऐसे लोगों के समुदायों के हाथ में आ गया था, जो घर-गृहस्थी को छोड़कर मनुष्यमात्र की सेवा का व्रत ग्रहण करते थे। निःसन्देह, यह एक बड़ी भारी सामाजिक क्रान्ति थी।

भारत के सर्वसाधारण गृहस्थ सदा से अपने कुलक्रमानुगत धर्म का पालन करते रहे हैं। प्रत्येक कुल के अपने देवता, अपने रीति-रिवाज और अपनी परम्परायें थीं, जिनका अनुसरण सब लोग मर्यादा के साथ करते थे। ब्राह्मणों का वे आदर करते थे, उनका उपदेश सुनते थे, और उनके बताये कर्मकाण्ड का अनुष्ठान करते थे। ब्राह्मण एक ऐसी श्रेणी थी, जो सांसारिक धन्धों से पृथक् रह कर धर्म-चिन्तन में संलग्न रहती थी। पर समय की गति से इस समय बहुत-से ब्राह्मण अपने त्याग, तपस्या और निरीह जीवन का त्याग कर चुके थे। अब उनके मुकाबले में श्रमणों की जो नई श्रेणी संगठित हो गई थी, वह त्याग और तपस्या से जीवन व्यतीत करती थी, मनुष्यमात्र का कल्याण करने में तत्पर रहती थी। जनता ने ब्राह्मणों की जगह अब इनको आदर देना और इनके उपदेशों के अनुसार जीवन व्यतीत करना शुरू किया। बौद्ध-धर्म के प्रचार का यही अभिप्राय है। जनता ने पुराने धर्म का सर्वथा परित्याग कर कोई बिलकुल नया धर्म अपना लिया हो, सो बात भारत के इतिहास में नहीं हुई।

बिम्बिसार, अजातशत्रु, उदायि, महापद्मनन्द और चन्द्रगुप्त मौर्य-जैसे मागध सम्राट् जैन-मुनि, बौद्ध-भिक्खु और ब्राह्मणों का समानरूप से आदर करते थे। जैन-साहित्य के अनुसार ये जैन थे, इन्होंने जैन-मुनियों का आदर किया और उन्हें बहुत-सा दान दिया। बौद्ध-ग्रन्थों के अनुसार ये बौद्ध थे, भिक्खुओं का ये बड़ा आदर करते थे और इनकी सहायता पाकर बौद्ध-संघ ने बड़ी उन्नति की थी। बौद्ध और जैन-साहित्य इन सम्राटों के साथ सम्बन्ध रखनेवाली कथाओं से भरे पड़े हैं, और इन सम्राटों का उल्लेख उसी प्रसंग में किया गया है, जब इन्होंने जैन या बौद्ध-धर्म का आदर किया, उनसे शिक्षा ग्रहण की। पौराणिक साहित्य में इनका अनेक ब्राह्मणों के सम्पर्क में उल्लेख किया गया है। वास्तविक बात यह है, कि इन राजाओं ने किसी एक धर्म को निश्चित रूप से स्वीकार कर लिया हो, किसी का विशेष रूप से पक्ष लिया हो, यह बात नहीं थी। प्राचीन भारतीय परम्परा के अनुसार ये ब्राह्मणों, श्रमणों और मुनियों का समानरूप से आदर करते थे। क्योंकि इस काल में भिक्खु लोग अधिक संगठित और क्रियाशील थे, इसलिये उनका महत्त्व अधिक था। जो वृत्ति राजाओं की थी, वही जनता की थी।

इस धार्मिक सुधारणा का एक अन्य महत्त्वपूर्ण परिणाम यह हुआ, कि भारत में यज्ञों के कर्मकाण्ड का जोर कम हो गया। यज्ञों के बन्द होने के साथ-साथ पशु-बलि की प्रथा कम होने लगी। यज्ञों द्वारा स्वर्ग-प्राप्ति की आकांक्षा निर्बल हो जाने से राजा और गृहस्थ लोग श्रावक या उपासक के रूप में भिक्षुओं द्वारा बताये मार्ग का अनुसरण करने लगे, और उनमें जो अधिक श्रद्धालु थे, वे मुनियों और श्रमणों का-सा सादा व तपस्यामय जीवन व्यतीत करने के लिये तत्पर हुए।

बौद्ध और जैन-सम्प्रदायों से भारत में एक नई धार्मिक चेतना उत्पन्न हो गई थी। शक्तिशाली संघों में संगठित होने के कारण इनके पास धन, मनुष्य व अन्य साधन प्रचुर परिमाण में विद्यमान थे। परिणाम यह हुआ, कि मगध के साम्राज्य-विस्तार के साथ-साथ संघ की चातुरन्त-सत्ता की स्थापना का विचार भी बल पकड़ने लगा। इसीलिये आगे चलकर भारतीय धर्म व संस्कृति का न केवल भारत के सुदूरवर्ती प्रदेशों में, अपितु भारत से बाहर भी दूर-दूर तक प्रसार हुआ।

(११) बौद्ध-साहित्य

जिस प्रकार प्राचीन वैदिक साहित्य में तीन संहितायें हैं, वैसे ही बौद्ध-साहित्य में तीन पिटक (त्रिपिटक) हैं। ये त्रिपिटक निम्नलिखित हैं-(१) विनय-पिटक, (२) सुत्तपिटक और (३) अभिधम्म पिटक। इन तीन पिटकों के

अन्तर्गत जो बहुसंख्यक ग्रन्थ हैं, उनपर संक्षेप से प्रकाश डालना उपयोगी है।

विनय-पिटक—इस पिटक में आचार-सम्बन्धी वे नियम प्रतिपादित हैं, जिनका पालन प्रत्येक बौद्ध-भिक्खु के लिये आवश्यक है। विनय-पिटक के तीन भाग हैं—(१) सुत्त-विभङ्ग (२) खन्धक और (३) परिवार। सुत्त-विभङ्ग दो भागों में विभक्त है, भिक्खु-विभङ्ग और भिक्खुनी-विभङ्ग। इनमें वे नियम विशदरूप से प्रतिपादित हैं, जिनका पालन प्रत्येक भिक्खु और भिक्खुनी को अवश्य करना चाहिये। कतिपय अपराध ऐसे हैं, जिनके करने से भिक्खु व भिक्खुनी पतित हो जाते हैं। ऐसे अपराधों की कुल संख्या २२७ है। प्रत्येक पूर्णिमा को इन अपराधों का पाठ भिक्खुओं के संघ के सम्मुख किया जाता था, और यदि किसी भिक्खु व भिक्खुनी ने उनमें से कोई अपराध किया हो, तो उसे उसके लिये प्रायश्चित्त करना पड़ता था। सुत्त-विभङ्ग में इन अपराधों और भिक्खुओं द्वारा पालनीय नियम वर्णित हैं। खन्धक में दो ग्रन्थ अन्तर्गत हैं—महावग्ग और चुल्लवग्ग। इन ग्रन्थों में भिक्षु-संघ के साथ सम्बन्ध रखनेवाली प्रत्येक बात विस्तृत रूप से प्रतिपादित है। संघ में प्रवेश किस प्रकार हो, विविध समयों पर कौन-कौन से व्रत रखे जावें, चातुर्मास्य किस प्रकार व्यतीत किया जाय, भिक्षु लोग कैसे कपड़े पहनें, भोजन के लिये किन नियमों का अनुसरण करें, किस प्रकार की शय्या प्रयुक्त करें, संघ में किसी प्रश्न के निर्णय करने का क्या ढंग हो—इस प्रकार की सब बातों का महावग्ग और चुल्लवग्ग में प्रतिपादन है। इन ग्रन्थों की प्रतिपादन-शैली कथात्मक है। भगवान् बुद्ध जब उस अवसर पर उस स्थान पर थे, तब एक समस्या उत्पन्न हुई, और तब उन्होंने यह नियम बनाया—इस ढंग से भिक्षुओं के लिये उपयुक्त नियमों व धर्मों का उपदेश किया गया है। ऐतिहासिक दृष्टि से विनय-पिटक के ये अंश बहुत महत्त्व के हैं। इनसे न केवल बुद्ध की जीवनी पर प्रकाश पड़ता है, अपितु उस युग की राजनीतिक व सामाजिक दशा के सम्बन्ध में भी अनेक महत्वपूर्ण बातें ज्ञात होती हैं। विनय-पिटक का सार 'परिवार' है, और उसमें प्रश्नोत्तर रूप से बौद्ध-भिक्खुओं के नियम व कर्तव्य दिये गये हैं।

सुत्त-पिटक—इस पिटक के अन्तर्गत पांच निकाय हैं—(१) दीघनिकाय, (२) मज्झिमनिकाय, (३) अंगुत्तरनिकाय, (४) संयुक्त निकाय और (५) खुद्दक निकाय। दीघनिकाय के तीन खण्ड हैं, और उसमें कुल मिलाकर ३४ दीर्घाकार सुत्त या सूक्त हैं। इनमें सबसे अधिक प्रसिद्ध महापरिनिब्बानसुत्त है। दीघनिकाय के प्रत्येक सुत्त में महात्मा बुद्ध का संवाद संकलित है। इन संवादों

के विषय सब प्रकार के हैं। यज्ञों की उपयोगिता है या नहीं, कोई व्यक्ति जन्म से ऊंचा या नीचा होता है या अपने गुणकर्म से, पुनर्जन्म, निर्वाण आदि सब महत्त्व-पूर्ण विषयों पर बुद्ध के संवाद इसमें दिये ग े हैं। मज्झिमनिकाय में कुल मिला कर मध्य आकार के १२५ सुत्त हैं। ये सुत्त दीघनिकाय के सुत्तों की अपेक्षा छोटे आकार के हैं, यद्यपि इनके प्रतिपाद्य वि य प्रायः वे ही हैं, जो दीघनिकाय के सुत्तों के हैं। अंगुत्तरनिकाय के कुल सुत्तों की संख्या २३०० है, जिन्हें ११ खण्डों में विभक्त किया गया है। संयुक्त निकाय में ५६ सुत्त हैं, जिन्हें पांच वग्गों (वर्गों) में बांटा गया है। एक विषय के साथ सम्बन्ध रखनेवाले सुत्त एक वग्ग में संयुक्त करके रखे गये हैं। खुद्दकनिकाय के अन्तर्गत १५ विविध पुस्तकें हैं, जिनके नाम निम्नलिखित हैं—खुद्दक पाठ, धम्मपद, उदान, इतिवुत्तक, सुत्तनिपात, विमानवत्थु, पेतवत्थु, थेरगाथा, थेरीगाथा, जातक, निद्देस, पटिसंभिदा, अप-दान, बुद्धवंस और चरियापिटक। खुद्दक निकाय नाम से ऐसा सूचित है, कि इसके अन्तर्गत सुत्त छोटे आकार के हैं, पर वस्तुतः इस निकाय की सब पुस्तकें अपने आप में स्वतन्त्र व पृथक् ग्रन्थों के समान हैं, जिनमें धम्मपद और सुत्तनिपात सबसे प्रसिद्ध हैं। बौद्ध-साहित्य में धम्मपद का प्रायः वही स्थान है, जो कि हिन्दू-साहित्य में गीता का है। ऐतिहासिक दृष्टि से जातक ग्रन्थ विशषरूप से उपयोगी हैं। इनमें ५५० के लगभग कथायें दी गई हैं, जिन्हें महात्मा बुद्ध के पूर्वजन्मों की कथाओं के रूप में लिखा गया है। बौद्ध-धर्म के अनुसार निर्वाण पद की प्राप्ति के लि े यह आवश्यक है, कि मनुष्य सत्कर्मों का निरन्तर अनुष्ठान करे निरन्तर सदाचरण करे। साक्षात् भगवान् बुद्ध को भी बुद्ध-पद प्राप्त करने से पूर्व ८४ लाख योनियों में से ुजरना पड़ा था। इन योनियों में रहते हुए उन्होंने निरन्तर सत्कर्म कि े थे, इसीलिये अन्त में उन्हें बुद्ध-पद प्राप्त हो सका था। जातकों में गौतम बुद्ध के इन्हीं पूर्वजन्मों की कथायें संकलित हैं। सम्भवतः, इनमें से बहुसंख्यक कथायें भारत में प्राचीनकाल से चली आ रही थीं। बौद्ध-विद्वानों ने उनमें थोड़ा-बहुत अन्तर करके उन्हें बुद्ध के पूर्वजन्मों के साथ जोड़ दिया।

अभिधम्म-पिटक—इस पिटक में बौद्ध-धर्म का दार्शनिक विवेचन और अध्यात्मचिन्तन सम्मिलित है। इसके अन्तर्गत सात ग्रन्थ हैं—(१) धम्मसंगनि (२) विभंग (३) धातुकथा, (४) पुग्गलपञ्ञत्ति, (५) कथावत्थु, (६) यमक और (७) पट्ठान। इस पिटक के प्रतिपाद्य विषय सुत्तपिटक के विषयोंसे बहुत भिन्न नहीं है, पर इसमें उनका विवेचन गम्भीर दार्शनिक पद्धति से किया गया है।

अभिधम्म-पिटक के सात ग्रन्थों में सबसे अधिक महत्त्व कथावत्थु का है, जिसकी रचना अशोक के गुरु मोग्गलिपुत्त तिस्स ने की थी। अशोक का इतिहास लिखते हुए इस आचार्य के सम्बन्ध में हम अधिक विस्तार से लिखेंगे। आत्मा क्या है, उसकी कोई पृथक् सत्ता है या नहीं, निर्वाण का क्या स्वरूप है, क्या गृहपति भी अर्हत् पद को प्राप्त कर सकता है—इस प्रकार के दार्शनिक प्रश्नों पर कथावत्थु में विशदरूप से विचार किया गया है।

त्रिपिटक-काल--बौद्ध-धर्म के जिन त्रिपिटक-ग्रन्थों का हमने ऊपर वर्णन किया है, वे पालि-भाषा में हैं। उनका निर्माण बुद्ध के समय में नहीं हुआ था। यद्यपि उनकी रचना के ढंग से यह प्रतीत होता है, कि उनमें महात्मा बुद्ध के मुख से निकले हुए वचन संकलित हैं, पर वस्तुतः उनका निर्माण बुद्ध की मृत्यु के पर्याप्त समय पीछे हुआ था। त्रिपिटक के कतिपय अंश (यथा कथावत्थु) बुद्ध के निर्वाण के कई सदी बाद के (अशोक-युग के) हैं। पर इसमें सन्देह नहीं, कि त्रिपिटक का बड़ा भाग बुद्ध के निर्वाण के एक सदी बाद बौद्ध-धर्म की द्वितीय महासभा तक संकलित हो चुका था।

अन्य पालि-ग्रन्थ—पालि-भाषा में बौद्ध-धर्म के साथ सम्बन्ध रखनेवाले अन्य भी अनेक ग्रन्थ हैं, जिन्हें त्रिपिटक के अन्तर्गत नहीं किया जाता। इनमें सबसे अधिक प्रसिद्ध मिलिन्दपञ्हो है। समें राजा मिलिन्द और बौद्ध आचार्य नागसेन के प्रश्नोत्तर संकलित हैं। राजा मिलिन्द जाति से बैक्ट्रियन था, पर उसने बौद्ध-धर्म को स्वीकार कर लिया था। मिलिन्दपञ्हो का निर्माण सम्भवतः प्रथम व द्वितीय सदी ई० पू० में उत्तर-पश्चिमी भारत में हुआ था। मिलिन्द-पञ्हो के अतिरिक्त अट्ठकथा नामक ग्रन्थ पालिभाषा में हैं, जिनकी रचना त्रिपिटक के भाष्य व व्याख्यारूप में की गई है। पाचवीं सदी में बुद्धघोष नाम का बौद्ध-आचार्य हुआ, जो मगध का रहनेवाला था। बाद में वह सिंहलदेश (लंका) चला गया, और वहां जाकर उसने पालि-भाषा में अट्ठकथाओं की रचना की। वह त्रिपिटक के भाष्य को पूरा नहीं कर सका, और उसके अवशिष्ट कार्य को बुद्धदत्त, धम्मपाल, महानाम, नवमोग्गलान और चुल्ल बुद्धघोष नामक आचार्यों ने पूर्ण किया। बुद्धघोष द्वारा विरचित अन्य ग्रन्थों में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ विसुद्धिमग्ग (विशुद्धि-मार्ग) है, जो बौद्ध-सिद्धान्तों पर अत्यन्त प्रामाणिक दार्शनिक ग्रन्थ माना जाता है।

संस्कृत त्रिपिटक--बौद्ध-धर्म के जिस साहित्य का हमने अब तक परिचय दिया है, वह पालिभाषा में है। बौद्ध-धर्म के अनेक सम्प्रदाय हैं, जिनमें थेरवाद

बहुत महत्त्वपूर्ण है। लंका और बरमा में इस समय थेरवाद का ही प्रचार है, और इस सम्प्रदाय का त्रिपिटक पालिभाषा में विद्यमान है। पर बौद्ध-धर्म के अन्य अनेक सम्प्रदायों (यथा महायान, सर्वास्तिवाद आदि) का त्रिपिटक पालि-भाषा में न होकर संस्कृत भाषा में है। खेद है, कि संस्कृत का त्रिपिटक अविकल रूप में इस समय उपलब्ध नहीं होता।

सहायक ग्रन्थ

Mazumdar R. C. : Ancient Indian History and Civilization.
Rhys Davids : Buddhist India.
" : Indian Buddhism
" : Buddhism, the History and Literature.
Jacobi : Jain Sutras (Sacred Books of the East. Vol. xxii)
Rhys Davids : Dialogues of the Buddha.
जयचन्द्र विद्यालकार : भारतीय इतिहास की रूपरेखा भाग १
सत्यकेतु विद्यालंकार : भारतवर्ष का इतिहास भाग २

बारहवां अध्याय

मागध-साम्राज्य का विकास

(१) मगध का साम्राज्यवाद

बौद्ध-युग की जिन दो प्रमुख ऐतिहासिक घटनाओं का हमने पिछले अध्याय में उल्लेख किया है, उनमें मागध-साम्राज्य का विकास बहुत महत्त्वपूर्ण है।

साम्राज्यवाद की प्रवृत्ति—भारत के विविध आर्य-जनपदों में अन्यतम मगध था। वहां किस प्रकार एक आर्य-वंश ने अपने स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की, इसका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। बिहार-प्रान्त के जो प्रदेश आजकल पटना और गया जिलों में सम्मिलित हैं, उन्हीं का प्राचीन नाम मगध था। मगध-राज्य की प्राचीन राजधानी राजगृह थी। बाद में राजा उदायीभ ने पाटलिपुत्र (वर्तमान पटना) को इस की राजधानी नियत किया था। मगध के इस आर्य-जनपद में आर्य-भिन्न निवासियों की संख्या बहुत अधिक थी। यही कारण है, कि बहुत प्राचीन काल से इसमें एक नये प्रकार के साम्राज्यवाद का विकास हो रहा था। अन्य आर्य-राजाओं के समान मगध के राजा अपने प्रतिद्वन्द्वी राजाओं को परास्त कर उनसे अधीनता स्वीकार कराके ही सन्तुष्ट नहीं हो जाते थे। वे उनका मूलोच्छेद करके, उनके प्रदेशों को अपने साम्राज्य में सम्मिलित करने के लिये प्रयत्नशील रहते थे। ऐतरेय ब्राह्मण में प्राची दिशा के राज्यों के सम्बन्ध में लिखा है, कि वहां के जो राजा हैं, वे सम्राट् कहाते हैं, उनका साम्राज्य के लि` 'सम्र ट्' के रूप में ही अभिषेक होता है। प्राच्य जनपदों में मगध सर्वप्रमुख ा।

जरासन्ध का साम्राज्य-विस्तार—बहुत प्राचीन काल से स मगध में साम्राज्यवाद की प्रवृत्ति का विकास हो रहा था। ऐतरेय ब्राह्मण की इस बात की पुष्टि तिहास द्वारा भी होती है। महाभारत के समय में मगध का राजा जरासन्ध था। उसने चारों तरफ दिग्विजय करके अपने साम्राज्य का बड़ा विस्तार किया।

पूर्व में अंग, बंग, कलिङ्ग और पुण्ड्र को जीतकर जरासन्ध ने अपने अधीन कर लिया था। पश्चिम में कारुष देश के राजा वक्र और चेदि के राजा शिशुपाल उसके अधीनस्थ थे और उससे मित्रता का सम्बन्ध रखते थे। जरासन्ध ने अनेक गण-राज्यों पर भी आक्रमण किये। उस समय सबसे अधिक शक्तिशाली गण अन्धक-वृष्णियों का था। कृष्ण इसी गण के प्रधान थे। अपने साम्राज्य का विस्तार करते हुए जरासन्ध ने अन्धक-वृष्णियों पर आक्रमण किया। पहलेपहल उसे सफलता नहीं हुई। परन्तु अनेक बार हमले करने के बाद अन्त में वह सफल हुआ और अन्धक-वृष्णियों को अपना असली जनपद छोड़कर द्वारिका में जाकर बसना पड़ा। जरासन्ध द्वारा सताये जाने पर ही अन्धक-वृष्णि लोग द्वारिका जाने को विवश हुए थे।

कृष्ण का भारतीय इतिहास में बड़ा महत्त्व है। जरासन्ध को परास्त करने के लिये उन्होंने इन्द्रप्रस्थ के पाण्डव-राजा युधिष्ठिर की सहायता प्राप्त की। जरासन्ध को मारकर उन्होंने मगध के बढ़ते हुए साम्राज्यवाद को रोकने का प्रयत्न किया। जरासन्ध का साम्राज्यवाद भारत के प्राचीन चक्रवर्ती राजाओं के साम्राज्यवाद से बहुत भिन्न था। जरासन्ध पराजित राजाओं का मूलोच्छेद करने का यत्न करता था। इसी कारण महाभारत में लिखा है, कि उसके कारागार में बहुत-से राजा कैद थे और जरासन्ध उनकी बलि देने की तैयारी कर रहा था।

मगध के अन्य सम्राट्—मगध के अन्य भी बहुत-से राजाओं ने इसी प्रकार के साम्राज्यवाद का अनुसरण किया। बिम्बिसार, अजातशत्रु, उदायीभद्र, नागदासक और महापद्म नन्द के नाम इस प्रसंग मे उल्लेखनीय हैं। पुराणों में महापद्म नन्द को 'एकराट्', 'एकच्छत्र', 'अतिबल' और 'सर्वक्षत्रान्तक' आदि उपाधियों से विभूषित किया गया है।

मगध के इन्हीं राजाओं ने धीरे-धीरे भारत के अन्य सब राजतन्त्र व गणतन्त्र-जनपदों को परास्त कर सम्पूर्ण देश में अपना एकच्छत्र 'अनुल्लंघित शासन' स्थापित कर लिया।

मगध की सैन्यशक्ति—आर्य लोग भारत में पश्चिम से पूर्व की तरफ फैले थे। वर्तमान समय के पंजाब व उत्तर-प्रदेश में उनके जो जनपद स्थापित ए, उनके निवासी मुख्यतया आर्य लोग ही थे। पर पूर्व के राज्यों में 'आर्य-भिन्न' लोगों की संख्या अधिक थी। उनमें थोड़े-से आर्य बहुसंख्यक विजातीय लोगों पर शासन करते थे। इन जनपदों में राजा 'समानों में ज्येष्ठ' न होकर 'एकराट्' होता था। इन एकराटों की शक्ति का आधार आर्यशक्ति उतनी नहीं होती थी,

में लाने में सफल नहीं हुए थे। ये आटविक लोग बहुत वीर योद्धा होते थे। मगध के सम्राटों ने इनकी शक्ति का अपने उत्कर्ष के लिये प्रयोग किया। अटवि-निवासियों की सेना का उन्होंने पृथक् रूप से संगठन किया। इसके लिये उन्होंने एक पृथक् अमात्य की भी नियुक्ति की, जिसे 'आटविक' कहते थे। आटविक के नेतृत्व में यह अटवि-सेना भी मागध-सेना का एक महत्त्वपूर्ण अंग होती थी।

आचार्य कौटिल्य वा चाणक्य मागध-सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य के मन्त्रिपुरोहित (प्रधान अमात्य) थे। उनके अर्थशास्त्र रा मगध के सम्राटों की परम्परागत राजनीति का भलीभांति परिचय मिलता है। ऊपर पांच प्रकार की जिन सेनाओं का वर्णन किया गया है, उन्हें संगठित करने की जो सुविधा मगध को थी, वह भारत के अन्य राज्यों को नहीं थी। भृत और आटविक सेनाओं के साथ-साथ मगध के राजनीतिज्ञों ने साम्राज्य के विस्तार के लिये अदभुत प्रकार की कूटनीति का भी विकास किया था।

(३) सोलह महाजनपद

राजा बिम्बिसार और उसके बाद मगध की बहुत उन्नति हुई। धीरे-धीरे वह उत्तरी भारत की सबसे बड़ी राजनीतिक शक्ति बन गया। मगध के इस उत्कर्ष को भली-भांति समझने के लिये यह आवश्यक है, कि हम इस समय के अन्य विविध राज्यों पर प्रकाश डालें। हम पहले लिख चुके हैं, कि प्राचीन भारत में बहुत-से छोटे-छोटे राज्य थे, जिन्हें 'जनपद' कहते थे। धीरे-धीरे कुछ जनपद अधिक शक्तिशाली होने लगे। उन्होंने समीपवर्ती जनपदों पर अधिकार करना प्रारम्भ किया, और अपने मूल जनपद में नये प्रदेश सम्मिलित कर 'महाजनपद' का रूप धारण कर लिया।

बौद्ध-साहित्य में जगह-जगह पर सोलह 'महाजनपदों' का उल्लेख आता है। प्रतीत होता है, कि महात्मा बुद्ध के समय में सोलह जनपद बहुत महत्त्व-पूर्ण व प्रमुख हो गये थे, और उन्हें महाजनपद कहा जाता था। इस काल के इतिहास को स्पष्ट करने के लिये उनका संक्षेप में उल्लेख करना आवश्यक है। ये सोलह महाजनपद निम्नलिखित थे:—

(१) **अंग**—यह मगध के ठीक पूर्व में था। मगध और अंग के बीच में चम्पा नदी बहती थी, जो न दोनों महाजनपदों को एक-दूसरे से पृथक् करती थी। अंग की राजधानी का नाम भी चम्पा था। बौद्ध-काल में चम्पा को भारत के सबसे बड़े

छः नगरों में गिना जाता था। अन्य पांच नगर राजगृह, श्रावस्ती, साकेत, कौशाम्बी और वाराणसी थे। चम्पा पूर्वी व्यापार का बहुत बड़ा केन्द्र थी। चम्पानदी और गंगा के जल-मार्गों द्वारा बहुत-से व्यापारी यहां से सुवर्णभूमि (पेगू और मालमीन) आया-जाया करते थे। अंग और मगध में निरन्तर संघर्ष चलता रहता था। महात्मा बुद्ध के समय में अंग मगध के अधीन हो चुका था।

(२) **मगध**—इसकी राजधानी गिरिव्रज या राजगृह थी। बार्हद्रथ और पुलक के वंशों का अन्त होने पर बुद्ध के समय में श्रेणिय बिम्बिसार मगध के राजा थे।

(३) **काशी**—इसकी राजधानी वाराणसी (बनारस) थी। अनेक जातक कथाओं से सूचित होता है, कि यह वाराणसी बौद्ध-काल में भारत की सबसे बड़ी नगरी थी। एक ग्रन्थ के अनुसार इसका विस्तार बारह योजन था।

(४) **कोशल**—इसकी राजधानी श्रावस्ती थी। यह अचिरावती (राप्ती) नदी के तट पर स्थित थी। कोशल देश की दूसरी प्रसिद्ध नगरी साकेत (अयोध्या) थी। कोशल-जनपद के पश्चिम में पंचाल-जनपद, पूर्व में सदानीरा (गण्डक) नदी, उत्तर में नैपाल की पर्वतमाला और दक्षिण में स्यन्दिका नदी थी। आधुनिक समय का अवध प्रान्त प्रायः वही है, जो प्राचीन समय में कोशल था। इसमें ऐक्ष्वाकव-वंश के क्षत्रिय राजा राज्य करते थे। इनकी वंशावली पुराणों में अविकल प से दी गई है। महात्मा बुद्ध के समय में कोशल की राजगद्दी पर राजा विरुद्धक (विडूडभ) विराजमान थे।

(५) **वृजि या वज्जि**—यह एक संघ का नाम था, जिसमें आठ गणराज्य सम्मिलित थे। न आठ गणों में विदेह, लिच्छवि और ज्ञातृकगण सबसे मुख्य थे। सारे वज्जि-संघ की राजधानी वैशाली थी। वर्तमान समय के बिहार प्रान्त में गंगा के उत्तर तथा हिमालय के दक्षिण में जो उत्तरी बिहार का प्रदेश , उसे तिरहुत कहते हैं। वज्जि-संघ की स्थिति वहीं पर थी। वज्जि-संघ में सम्मिलित आठों गण पृथक्-पृथक् जनपद थे। विदेह की राजधानी मिथिला थी। ज्ञातृकगण की राजधानी कुण्डग्राम थी। जैन-धर्म के प्रवर्तक वर्धमान महावीर का प्रादुर्भाव यहीं पर हुआ था। लिच्छवि गण की राजधानी वैशाली थी। यह वैशाली सम्पूर्ण वज्जि-संघ की भी राजधानी थी। महात्मा बुद्ध के समय में यह वज्जि-संघ अत्यन्त शक्तिशाली और समृद्ध था।

(६) **मल्ल**—यह महाजनपद भी एक संघ के रूप में था, जिसमें ो गण सम्मिलित थे—कुशीनारा के मल्ल और पावा के मल्ल। यह संघ वज्जि-संघ

के ठीक पश्चिम में था। आजकल का गोरखपुर जिला जहां है, वहां ही प्राचीन काल में मल्ल-महाजनपद की स्थिति थी।

(७) **वत्स**--इसकी राजधानी कौशाम्बी थी। इस नगरी के अवशेष इलाहाबाद जिले में यमुना के किनारे कोसम गांव में उपलब्ध हुए हैं। बौद्ध-काल में वत्स बहुत ही शक्तिशाली था। वहां का राजा उदयन अपने समय का सबसे प्रतापी व प्रसिद्ध राजा था। संस्कृत-साहित्य उसकी कथाओं से परिपूर्ण है।

(८) **चेदि**--वर्तमान समय का बुन्देलखण्ड प्राचीन चेदि राज्य को सूचित करता है। इसकी राजधानी शुक्तिमती नगरी थी, जो शुक्तिमती (केन) नदी के तट पर स्थित थी।

(९) **पंचाल**--यह कोशल और वत्स के पश्चिम में तथा चेदि के उत्तर में स्थित था। प्राचीन समय में पंचाल दो राज्यों में विभक्त था--उत्तर-पंचाल व दक्षिण-पंचाल। वर्तमान समय का रुहेलखण्ड उत्तर-पंचाल को तथा कानपुर व फर्रुखाबाद के प्रदेश दक्षिण-पंचाल को सूचित करते हैं। उत्तर-पंचाल की राजधानी अहिच्छत्र और दक्षिण-पंचाल की राजधानी काम्पिल्य थी।

(१०) **कुरु**--इस महाजनपद की राजधानी इन्द्रप्रस्थ थी। यह नगर वर्तमान दिल्ली के समीप यमुना के तट पर स्थित था। हस्तिनापुर, मेरठ और दिल्ली के प्रदेश इस जनपद के अन्तर्गत थे।

(११) **मत्स्य**--इसकी राजधानी विराट् नगर या वैराट थी, जो वर्तमान समय की जयपुर रियासत में है। मत्स्य-महाजनपद यमुना के पश्चिम में तथा कुरु के दक्षिण में स्थित था।

(१२) **शूरसेन**--इसकी राजधानी मथुरा थी। महाभारत के समय का प्रसिद्ध अन्धक-वृष्णिसंघ इसी प्रदेश में स्थित था। बौद्ध-साहित्य में शूरसेन के राजा अवन्तिपुत्र का उल्लेख मिलता है, जो महात्मा बुद्ध का समकालीन था।

(१३) **अश्मक**--यह राज्य गोदावरी नदी के समीपवर्ती देश में था। इसकी राजधानी पोतन या पोतलि थी।

(१४) **अवन्ति**--चेदि के दक्षिण-पश्चिम में, जहां अब मालवा का प्रदेश है, प्राचीन समय में अवन्ति का महाजनपद था। इसकी राजधानी उज्जैन थी। बौद्ध-काल में यह राज्य बहुत शक्तिशाली था। महात्मा बुद्ध के समय में अवन्ति का राजा चण्ड प्रद्योत था, जो वत्सराज उदयन को जीतकर अपना साम्राज्य बढ़ाने में तत्पर था, और जिसके भय से ही मगधराज अजातशत्रु ने राजगृह की किलाबन्दी की थी।

(१५) **गान्धार**––इसकी राजधानी तक्षशिला थी, जो उस समय भारत में विद्या का सबसे बड़ा केन्द्र थी। रावलपिण्डी, पेशावर, काश्मीर तथा हिन्दूकुश पर्वतमाला तक फैले हुए पश्चिमोत्तर भारत के प्रदेश इस महाजनपद में सम्मिलित थे। महात्मा बुद्ध के समय में इनका राजा पुक्कसाती था, जिसने मगधराज बिम्बिसार के पास एक दूतमंडल भेजा था।

(१६) **कम्बोज**––गान्धार के परे उत्तर में पामीर का प्रदेश तथा उससे भी परे बदख्शां का प्रदेश कम्बोज-महाजनपद कहलाता था। कम्बोज में इस काल में भी गणतन्त्र-शासन स्थापित था।

अन्य जनपद––इन सोलह महाजनपदों के अतिरिक्त, उस समय भारत में अन्य भी बहुत-से जनपद स्वतन्त्र रूप से विद्यमान थे। कोशल के उत्तर और मल्ल के पश्चिमोत्तर में (आधुनिक नैपाल की तराई में) शाक्य-जनपद था, जिसकी राजधानी कपिलवस्तु थी। यहां पर महात्मा बुद्ध का प्रादुर्भाव हुआ था। शाक्यगण के पड़ोस में ही कोलियगण (राजधानी––रामग्राम), मोरियगण (राजधानी––पिप्पलिवन), बुलिगण (राजधानी––अल्लकप्प), भग्गगण (राजधानी–सुंसुमार) और कालामगण (राजधानी––केसपुत्त) की स्थिति थी।

गान्धार, कुरु तथा मत्स्य के बीच केकय, मद्रक, त्रिगर्त और यौधेय जनपद थे। और अधिक दक्षिण में सिन्ध, शिवि, अम्बष्ठ और सौवीर आदि जनपद थे।

पर बौद्ध-साहित्य में सोलह महाजनपदों का जिस प्रकार बार-बार उल्लेख आता है, उससे प्रतीत होता है, कि उस समय में ये सब अन्य जनपद अपने पड़ोसी शक्तिशाली महाजनपदों की किसी न किसी रूप में अधीनता स्वीकार करते थे। वस्तुतः, उस समय में इन सोलह जनपदों में भी मगध, वत्स, कोशल और अवन्ति––ये चार सबसे अधिक शक्तिशाली थे। ये जहां अपने समीपवर्ती राज्यों को जीतकर अपने अधीन करने की कोशिश में थे, वहां आपस में भी इनमें घनघोर संघर्ष का प्रारम्भ हो चुका था।

(४) मगध का उत्कर्ष

श्रेणिय बिम्बिसार––श्रेणिबल के सेनानी भट्टिय ने राजा बालक के विरुद्ध षड्यन्त्र कर उसे मार डाला और अपने लड़के बिम्बिसार को राजगद्दी पर बिठाया, यह हम ऊपर लिख चुके हैं। सम्भवतः, इसी राजा बालक का दूसरा नाम कुमारसेन भी था। महाकवि बाणभट्ट ने हर्षचरित में इस षड्यन्त्र का निर्देश किया है। महाकाल के मेले में महामांस बिक्री के कारण जो झगड़ा उठ खड़ा हुआ था,

उससे लाभ उठाकर श्रेणिय भट्टिय की प्रेरणा से तालजंघ नाम के एक वेताल सैनिक ने राजा कुमारसेन पर अचानक हमला कर दिया और उसे मौत के घाट उतार दिया। बाणभट्ट ने कुमारसेन को 'जघन्यज' लिखा है। यह स्पष्ट है, कि पुलिक या पुनिक के वंशज शुद्ध आर्यकुल के न होकर नीच व आर्य-भिन्न कुल के थे। इस समय मगध में आर्य-भिन्न सैनिक श्रेणियों की प्रबलता थी और उनके साहसी नेता मगध के सिंहासन को गेंद की तरह उछाल रहे थे। बार्हद्रथ रिपुञ्जय को 'जघन्यज' पुलिक ने मारा और उसके पुत्र बालक व कुमारसेन को भट्टिय ने मरवा दिया।

बिम्बिसार बहुत शक्तिशाली तथा महत्त्वाकांक्षी राजा था। उसका विवाह कोशल देश की राजकुमारी कोशलदेवी के साथ आ था। इसी विवाह में दहेज में 'नहान चुन्न मूल्य' के रूप में काशी-जनपद का एक प्रदेश, जिसकी आमदनी एक लाख वार्षिक थी, बिम्बिसार को प्राप्त हुआ था। कोशल के साथ वैवाहिक सम्बन्ध के स्थापित हो जाने से मगध को पश्चिम के इस शक्तिशाली राज्य से कोई भय नहीं रह गया था, और वह निश्चित रूप से पूर्व की तरफ साम्राज्य-विस्तार के लिये प्रयत्न कर सकता था। राजा बिम्बिसार ने अंग-महाजनपद के राजा ब्रह्मदत्त के ऊपर आक्रमण किया और उसे जीतकर अपने अधीन कर लिया। इस समय से कुछ पहले वत्स-महाजनपद का राजा शतानीक (उदयन का पिता) अंग देश को अपनी अधीनता में ला चुका था। ऐसा प्रतीत होता है, कि वत्स-जनपद अंग को देर तक अपने अधीन नहीं रख सका और अवसर पाते ही अंग स्वाधीन हो गया। पर उसकी स्वतन्त्रता देर तक कायम नहीं रह सकी, और अब वह मगध के साम्राज्यवाद का शिकार हो गया। राजा बिम्बिसार अंगराज से अधीनता स्वीकृत कराके ही सन्तुष्ट नहीं हुआ, अपितु उसने वहां के राजा ब्रह्मदत्त को मारकर अंग को पूर्णतया मागध-साम्राज्य के अन्तर्गत कर लिया। स प्रकार अंग का वह शक्तिशाली महाजनपद, जो किसी समय बहुत बलशाली था और जो किसी समय मगध को भी अपनी अधीनता में रख चुका था, अब नष्ट हो गया। अंग को जीतने से मगध की शक्ति बहुत बढ़ गई। काशी का कुछ प्रदेश उसे पहले ही से प्राप्त हो गया था। अब अंग को अधिगत कर लेने से वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण राज्य बन गया और साम्राज्य-विस्तार के उस संघर्ष में प्रवृत्त हुआ, जिसका उग्ररूप हम अजातशत्रु के शासन में देखेंगे।

मगध की पुरानी राजधानी गिरिव्रज थी। पर यह नगर गंगा के उत्तर में विद्यमान वज्जिसंघ के आक्रमणों से सुरक्षित नहीं था। इसपर निरन्तर वज्जियों

के आक्रमण होते रहते थे। इन्हीं के कारण गिरिव्रज में एक बार भारी आग लग गई थी। बिम्बिसार ने गिरिव्रज के उत्तर में एक नये नगर की स्थापना की, जिसका नाम राजगृह था। राजगृह के राजप्रासादों का निर्माण भवन-निर्माण-कला के प्रसिद्ध विशेषज्ञ महागोविन्द द्वारा किया गया था। राजगृह को एक दुर्ग के रूप में बनाया गया था, ताकि वज्जियों के आक्रमणों का वहां से भली-भांति मुकाबला किया जा सके। जिस उद्देश्य से राजगृह की स्थापना की गई थी, वह सफल हुआ। कुछ समय के लिये वज्जियों के आक्रमण बन्द हो गये और वज्जिसंघ तथा मगध की सन्धि को स्थिर करने के लिये उनमें वैवाहिक सम्बन्ध भी स्थापित किया गया। वज्जिकुमारी चेल्लना का विवाह बिम्बिसार के साथ कर दिया गया।

बिम्बिसार बड़ा शक्तिशाली राजा था। बौद्ध- न्थ महावग्ग में लिखा है कि उसकी अधीनता में ८०,००० ग्राम थे, जिनके ग्रामिक उसकी राजसभा में एक हुआ करते थे। एक अन्य स्थान पर बौद्ध-साहित्य में उसके राज्य का विस्तार ३०० योजन लिखा गया है।

बिम्बिसार बड़े वैभव के साथ मगध का शासन करता था। महावग्ग के अनुसार उसकी रानियों की संख्या ५०० थी। इस विषय में ौद्ध-लेखक ने यदि अतिशयोक्ति भी की हो, तो भी इसमें सन्देह नहीं कि उसका अन्तःपुर बहुत विशाल था। उसके बहुत-से पुत्रों के नाम प्राचीन ऐतिहासिक अनुश्रुति में मिलते हैं। अजातशत्रु, दर्शक, अभय, शीलवन्त और विमल इनमें प्रमुख हैं।

महात्मा बुद्ध राजा बिम्बिसार के समकालीन थे। अपने धर्मचक्र का प्रवर्तन करते हुए महात्मा बुद्ध कई बार मगध आये और बिम्बिसार से उनकी भेंट ई। बिम्बिसार के हृदय में बुद्ध के लिये बहुत आदर था।

प्रसिद्ध चिकित्सक जीवक भी राजा बिम्बिसार के समय में ही हुआ। यह शालवती नाम की वेश्या का पुत्र था. और पैदा होते ही माता ने सका परित्याग कर दिया था। कुमार अभय (बिम्बिसार के अन्यतम पुत्र) ने उसे अपना लिया और पाल-पोसकर बड़ा किया। जीवक को अत्यन्त उच्च शिक्षा दी गई और उसे पढ़ने के लिये तक्षशिला भेज दिया गया। तक्षशिला में जीवक ने आयुर्वेद-शास्त्र की कौमारभृत्य शाखा में विशेष निपुणता प्राप्त की। विद्याध्ययन समाप्त कर जीवक मगध वापिस लौटा और आगे चलकर बहुत प्रसिद्ध वैद्य बना। जीवक के चिकित्सा-सम्बन्धी चमत्कारों का उल्लेख बौद्ध-साहित्य में अनेक स्थानों पर किया गया है।

बिम्बिसार १५ वर्ष की आयु में मगध का राजा बना था। ६७ वर्ष की आयु

तक कुल ५२ वर्ष उसने राज्य किया। उसके बड़े लड़के का नाम दर्शक था। पिता के वृद्ध हो जाने पर सारा राज्य-कार्य दर्शक के ही हाथ में आ गया था। यही कारण है, कि अनेक प्राचीन ग्रन्थों में बिम्बिसार का शासन-काल २८ वर्ष और दर्शक का २४ वर्ष लिखा गया है। पर दर्शक ने जो भी राज्य किया, वह अपने पिता के जीवन-काल में ही किया, बाद में नहीं; क्योंकि बिम्बिसार के बाद मगध के राजसिंहासन पर अजातशत्रु आरूढ़ हुआ था और उसने अपने पिता की हत्या करके राजगद्दी प्राप्त की थी।

अजातशत्रु—राजा बिम्बिसार ने अपने शासन के अन्तिम वर्षों में अजातशत्रु को चम्पा (अंग-जनपद) का शासक नियत किया था। मगध का शासन-कार्य अजातशत्रु के बड़े भाई दर्शक के हाथ में था। ऐसा प्रतीत होता है, कि बिम्बिसार ने अपने साम्राज्य के दोनों महाजनपदों (मगध और अंग) को अपने इन दो पुत्रों (दर्शक और अजातशत्रु) के सुपुर्द कर दिया था। पर अजातशत्रु केवल अंग से ही सन्तुष्ट नहीं हुआ। वह संपूर्ण मागध-साम्राज्य का स्वामी होना चाहता था। इसलिये उसने अपने पिता बिम्बिसार को मारकर स्वयं राज्य प्राप्त करने का उद्योग किया। बौद्ध-साहित्य में इस घटना का वर्णन इस प्रकार किया गया है:—

देवदत्त ने अजातशत्रु के साथ मिलकर यह षड्यन्त्र किया कि राजा बिम्बिसार को मारकर वह राजगद्दी प्राप्त कर ले। देवदत्त ने कुमार अजातशत्रु से कहा—कुमार! पहले मनुष्य दीर्घायु होते थे, अब वे अल्पायु होते हैं। हो सकता है, कि कुमार कहलाते हुए ही तुम्हारी मृत्यु हो जाय। इसलिये कुमार! तुम अपने पिता को मारकर स्वयं राजा बन जाओ। तब कुमार अजातशत्रु जांघ से छुरा बांधकर भीत, उद्विग्न, शंकित, मस्त (की तरह) मध्याह्न में सहसा अन्तःपुर में प्रविष्ट हुआ। अन्तःपुर के उपचारक (रक्षक) महामात्यों ने अजातशत्रु को अन्तःपुर में प्रविष्ट होते देखा। देखकर उसे पकड़ लिया। फिर कुमार से कहा—

'कुमार! तुम क्या करना चाहते थे?'

'पिता को मारना चाहता था।'

'तुम्हें इस कार्य के लिये किसने प्रेरणा की थी?'

'आर्य देवदत्त ने।'

तब वे महामात्य अजातशत्रु को ले, जहां मागध-राजा श्रेणिय बिम्बिसार था, वहां गये। जाकर राजा को सब बातें सुनाईं। तब राजा ने कुमार अजातशत्रु से कहा—

'कुमार ! तू मुझे किसलिये मारना चाहता था ?'

'देव ! मैं राज्य चाहता हूँ ।'

'कुमार ! यदि तू राज्य चाहता है, तो यह राज्य तेरा है ।'

बिम्बिसार ने अजातशत्रु को चम्पा का राज्य दे दिया । पर वहां देवदत्त के साथ मिलकर अजातशत्रु ने प्रजा पर अत्याचार करना शुरू किया, लोगों की सम्पत्ति लूटनी प्रारम्भ की । जनता ने राजा बिम्बिसार से शिकायत की ।

बिम्बिसार ने सोचा कि यदि अजातशत्रु को अधिक विस्तृत राज्य दे दिया जायगा, तो वह अत्याचार करना बन्द कर देगा । इसलिये उसने राजधानी राजगृह को छोड़कर शेष सम्पूर्ण मागध-जनपद भी अजातशत्रु को दे दिया । पर इससे भी उसके अत्याचारों में कमी नहीं आई । इस पर राजा ने राजगृह भी अजातशत्रु को दे दिया । केवल खजाने पर ही अपना अधिकार शेष रखा । इसपर देवदत्त ने अजातशत्रु को समझाया, कि जिसके पास खजाना होता है, वही असली राजा होता है । इसलिये बिम्बिसार को विवश किया गया, कि वह खजाना भी अजातशत्रु के सुपुर्द कर दे । बिम्बिसार ने यह भी स्वीकार कर लिया, पर साथ ही अपने पुत्र पर इस बात के लिये जोर दिया कि वह देवदत्त का साथ छोड़ दे । इस बात से अजातशत्रु बहुत नाराज हुआ और अपने पिता को कैद में डाल दिया । उसने बिम्बिसार को भोजन देना बन्द कर दिया, ताकि वह भूख से तड़प-तड़पकर मर जावे । बिम्बिसार से मिलने के लिये केवल एक व्यक्ति को इजाजत दी जाती थी । वह थी उसकी रानी और अजातशत्रु की माता वैदेही । वह छिपकर बिम्बिसार के लिये एक कटोरे में भोजन ले जाती थी । जब यह बात अजातशत्रु को मालूम हुई, तो उसने रानी को मारने की धमकी दे यह करने से रोक दिया । परन्तु वैदेही अपने शरीर पर एक ऐसा चूर्ण मल लाती थी, जो पोषक था । इस प्रकार राजा बिम्बिसार कुछ समय तक और जीवित रह सका । पर जब अजातशत्रु को यह बात मालूम हुई, तो उसने रानी वैदेही का बिम्बिसार से मिलना ही बिलकुल बन्द कर दिया । बिम्बिसार महात्मा बुद्ध का श्रद्धालु भक्त था । बुद्ध ने गृद्धकूट पर्वत पर एक ऐसे स्थान पर आसन जमाया, जहां से बिम्बिसार खिड़की के रास्ते बुद्ध का दर्शन करता रह सकता था । बुद्ध के दर्शनमात्र से ही उसका जीवन कायम रहा । पर जब अजातशत्रु को यह बात मालूम हुई, तो उसने उस खिड़की को भी बन्द करा दिया ।

इसी समय की बात है, कि अजातशत्रु के लड़के उदायीभद्र की उंगली में एक फोड़ा निकल आया । दर्द के मारे वह चिल्लाने लगा । अजातशत्रु ने उसे गोदी

में उठा लिया और उसे पुचकारने का प्रयत्न करने लगा। फिर उसने फोड़ेवाली उँगली को मुंह में ले उसे चूमना शुरू किया। इससे वह फोड़ा फट गया और उदायी-भ को चैन पड़ गई। ठीक इस समय रानी वैदेही वहां आ पहुंची और अजातशत्रु को इस दशा में देख उससे कहा—"तेरे पिता ने भी तेरे लिये एक दिन ठीक इसी कार किया था।" यह सुनते ही अजातशत्रु की आंखें खुल गईं। उसे ख्याल आया कि वह अपने पिता के साथ कितना अनुचित व्यवहार कर रहा है। उसने सोचा, यदि मेरे पिता अब भी जीवित हों, तो कितना उत्तम हो। उसने चिल्ला-कर कहा—ओह ! यदि कोई आदमी मुझे बता सके कि मेरे वृद्ध पिता अब भी जीवित हैं, तो उसे मैं अपना सारा राज्य देने को तैयार हूं। यह सुनते ही लोग कारागार की तरफ भाग पड़े। बिम्बिसार बहुत बूढ़ा था, इतने दिनों के अनशन के कारण उसका शरीर मृतप्राय हो गया था। जब उसने बाहर शोर सुना, तो समझा कि अजातशत्रु ने उसे कोई नई व्यथा देने की व्यवस्था की है। इसे वह नहीं सह सका और उसके प्राण शरीर को छोड़ गये।

इस प्रकार परमप्रतापी, अग-विजेता और सैनिक श्रेणि के नेता महाराज बिम्बिसार की मृत्यु हुई। अजातशत्रु के अन्य भाई उसके भय के मारे बौद्ध-भिक्षु बन गये। न केवल शीलवन्त, विमल आदि छो भाइयों ने ही भिक्षु-वृत्ति स्वीकार की, पर कुमार दर्शक, जो बिम्बिसार के पिछले २४ वर्षों में राजगृह का शासक रहा था और अजातशत्रु का बड़ा भाई था, अपने उद्दण्ड महात्त्वाकांक्षी भाई के भय से बौद्ध-भिक्षु बन गया।

इसमें सन्देह नहीं, कि राज्यप्राप्ति के पश्चात् अजातशत्रु को अपने कार्य पर बहुत पश्चात्ताप हुआ। बौद्ध-ग्रन्थों में स्थान-स्थान पर उसके पश्चात्ताप का उल्लेख है। जैन-लेखक हेमचन्द्र ने लिखा है, कि अजातशत्रु को अपने पिता की मृत्यु पर इतना दुःख हुआ, कि वह राजगृह में नहीं रह सका और उसने अपनी राजधानी राजगृह से परिवर्तित कर चम्पा बना ली।

कोशल के साथ संघर्ष—राजगद्दी पर अधिकार कर लेने के अनन्तर अजातशत्रु का अन्य राज्यों के साथ युद्धों का प्रारम्भ हुआ। पहला युद्ध कोशल-महाजन-पद के साथ हुआ। यहां इस समय राजा प्रसेनजित् का शासन था। यह अजातशत्रु का नाना था। अपने नाना के साथ अजातशत्रु के युद्ध का कारण यह था, कि राजा बिम्बिसार को कोशल देवी के साथ विवाह पर 'नहान चुन्न मूल्य' के रूप में काशी का जो प्रदेश दहेज में दिया गया था, उसपर अब कोशल के राजा ने फिर अपना अधिकार कर लिया था। अपने पति के वियोग में रानी कोशलदेवी का भी स्वर्ग-

वास हो चुका था। अतः प्रसेनजित् चाहता था कि काशी-जनपद का वह प्रदेश पितृघाती अजातशत्रु के पास न रहने पावे। इसी प्रश्न पर मगध और कोशल में युद्ध का प्रारम्भ आ।

अजातशत्रु नवयुवक था और अत्यन्त महत्त्वाकांक्षी व उद्दण्ड वीर था। दूसरी ओर प्रसेनजित् वृद्ध हो चुका था। पहले अनेक युद्धों में कोशल की निरन्तर पराजय होती रही। प्रसेनजित् अपनी पराजयों से बहुत चिन्तित था। एक दिन उसने अपने दरबारियों के सम्मुख इस समस्या को उपस्थित किया। उन्होंने कहा, बौद्ध-भिक्षुओं से इस समस्या का हल पूछना चाहिये। राजा ने कुछ लोगों को भिक्षुओं की बातें सुनने के लिये नियत कर दिया। दो भिक्खु आपस में मगध और कोशल के युद्ध की चर्चा कर रहे थे। राजा प्रसेनजित् के भेजे ए दूत इनकी बातों को ध्यान से सुनने लगे। बातें चलते हुए उन भिक्षुओं में से एक ने कहा, यदि प्रेसनजित् मगध को परास्त करना चाहता है, तो उसे शकटव्यूह बनाकर युद्ध करना चाहिये। दूतों ने यह बात प्रसेनजित् तक प चा दी। उसने यही किया। एक बार फिर सेना एकत्र की गई। सेना को शकटव्यूह की पद्धति से संगठित किया गया। इस बार अजातशत्रु परास्त हो गया। वह केवल परास्त ही नहीं आ, अपितु प्रसेनजित् के हाथ में कैद भी हो गया।

यद्यपि अन्त में प्रसेनजित् अजातशत्रु को परास्त करने में समर्थ हुआ, पर मगध की शक्ति का उसे भलीभांति परिज्ञान हो गया था। उसने यही उचित समझा कि अजातशत्रु के साथ सन्धि कर ली जाय और इस सन्धि को स्थिर रखने के लिये अपनी कन्या वजिरा का विवाह उसके साथ कर दिया जाय। जिस प्रकार कोशलदेवी को बिम्बिसार के साथ विवाह के समय काशी राज्य का एक लाख वार्षिक आमदनी का प्रदेश दहेज में 'नहान चुन्न मूल्य' के रूप में प्रदान किया गया था, वैसे ही अब वजिरा के विवाह में वही प्रदेश उसी रूप में फिर दे दिया गया। इस प्रकार काशी का वह प्रदेश मागध-साम्राज्य में ही शामिल रहा।

वज्जिसंघ की पराजय—कोशल के साथ सन्धि हो जानेके अनन्तर अजातशत्रु ने गंगा के उत्तरमें विद्यमान वज्जिसघ पर आक्रमण करने का विचार किया। वज्जिसंघ बड़ा शक्तिशाली जनपद था, जिसमें आठ गण सम्मिलित थ। वज्जि और मगध के बीच में गंगा नदी बहती थी, जो इन राज्यों के बीच की सीमा का काम देती थी। गंगा के तट पर एक बन्दरगाह था, जो एक मील लम्बा था। आधा बन्दरगाह वज्जियों के अधिकार में था और आधा मगध के। इस बन्दरगाह के समीप ही एक पर्वत था, जिसके अंचल में बहुमूल्य खनिज पदार्थों की एक

खान भी थी। इस खान पर भी दोनों जनपदों का अधिकार समझा जाता था। पर दो वर्षों के केवल वज्जि लोग ही इस खान का उपयोग कर रहे थे। अजातशत्रु इसे सहन नहीं कर सका और उसने युद्धद्वारा वज्जियों को परास्त करने का निश्चय किया। बौद्ध-ग्रन्थों के अनुसार मगध और वज्जि-जनपदों के युद्ध का तात्कालिक कारण यही था। पर अजातशत्रु के वज्जियों पर आक्रमण करने का मूल कारण तो मगध की साम्राज्य-लिप्सा ही थी।

वज्जि-जनपद को किस प्रकार मगध के साम्राज्यवाद ने अपना शिकार बनाया, इसका वृत्तान्त बड़ा मनोरंजक व उपयोगी है। हम 'महापरिनिब्बान सुत्त' के आधार पर इस वृत्तान्त का यहां उल्लेख करते हैं :—

"ऐसा मैंने सुना। एक समय भगवान् बुद्ध राजगृह में गृध्रकूट पर्वत पर विहार करते थे।

उस समय राजा मागध वैदेहीपुत्र अजातशत्रु वज्जि पर चढ़ाई करना चाहता था। वह ऐसा कहता था—मैं इन वैभवशाली महानुभाव वज्जियों को उच्छिन्न करूंगा, वज्जियों का विनाश करूंगा, उनपर आफत ढाऊंगा।

तब अजातशत्रु ने मगध के महामन्त्री वर्षकार ब्राह्मण को कहा—आओ ब्राह्मण! जहां भगवान् हैं, वहां जाओ। जाकर मेरे वचन से भगवान् के पैरों में सिर से वन्दना करो। आरोग्य, अल्प आतंक, लघु उत्थान, सुख-विहार पूछो और यह कहो—भगवन्! राजा अजातशत्रु वज्जियों पर चढ़ाई करना चाहता है। वह ऐसा कहता है, 'मैं इन वज्जियों को उच्छिन्न करूंगा।' भगवान् तुम्हें जैसा उत्तर दें, उसे समझकर मुझे कहो। तथागत अयथार्थ बात नहीं कह सकते।

'अच्छा' कहकर ब्राह्मण वर्षकार बहुत अच्छे यान पर आरूढ़ हो राजगृह से निकला और गृध्रकूट पर जहां भगवान् थे, वहां गया। जाकर भगवान् के साथ संमोदन कर एक ओर बैठा और एक ओर बैठकर राजा अजातशत्रु का सन्देश भगवान् को सुना दिया।

उस समय आयुष्मान् आनन्द भगवान् के पीछे खड़े होकर भगवान् को पंखा झल रहे थे। तब आयुष्मान् आनन्द को आमन्त्रित कर भगवान् ने कहा—

'आनन्द! क्या तूने सुना है, वज्जि लोग बराबर सभा में एकत्रित होनेवाले हैं?'

'हां भगवन्! मैंने सुना है।'

'आनन्द! जब तक वज्जि एक साथ एकत्र होकर बहुधा अपनी सभायें करते रहेंगे, तब तक आनन्द! वज्जियों की वृद्धि ही समझना, हानि नहीं।

'क्या आनन्द ! तूने सुना है, कि वज्जि लोग एक हो बैठक करते हैं, एक हो उत्थान करते हैं, और एक हो राजकीय-कार्य की देखभाल करते हैं ?'

'हां भगवन् ! मैंने सुना है ।'

'आनन्द ! जब तक वज्जि लोग एक हो बैठक करते रहेंगे, एक हो उत्थान करते रहेंगे, और एक हो राजकीय कार्य की देखभाल करते रहेंगे, तब तक उनकी वृद्धि ही समझना, हानि नहीं ।'

'क्या आनन्द ! तूने सुना है, कि वज्जि लोग जो अपने राज्य में विहित है, उसका उल्लंघन नहीं करते, जो विहित नहीं है, उसका अनुसरण नहीं करते; और पुराने समय से वज्जियों में जो नियम चले आ रहे हैं, उनका पालन करते हैं ?'

'हां भगवन्, मैंने सुना है ।'

'आनन्द ! जब तक वज्जि लोग जो अपने राज्य में विहित है, उसका उल्लंघन नहीं करेंगे, जो पुराने समय से वज्जियों में नियम चले आ रहे हैं, उनका पालन करते रहेंगे, तब तक उनकी वृद्धि ही होगी, हानि नहीं ।'

'क्या आनन्द ! तूने सुना है, वज्जियों के वृद्ध (महल्लक) नेता हैं, उनका वे सत्कार करते हैं, उन्हें वे बड़ा मानकर उनकी पूजा करते हैं, उनकी बात को सुनने तथा ध्यान देने योग्य समझते हैं ?'

'हां भगवन् ! मैंने सुना है ।'

'आनन्द ! जब तक वज्जियों में वृद्ध (महल्लक) नेता रहेंगे, उनका वे सत्कार करते रहेंगे, उन्हें वे बड़ा मानकर उनकी पूजा करते रहेंगे, उनकी बात को सुनने तथा ध्यान देने योग्य समझते रहेंगे, तब तक उनकी वृद्धि ही होगी, हानि नहीं ।'

तब भगवान् ने ब्राह्मण वर्षकार को सम्बोधन करके कहा—'ब्राह्मण ! एक समय में वैशाली के सारदन्द चैत्य में विहार करता था । वहां मैंने वज्जियों को ये सात अपरिहारणीय धर्म कहे थे । जब तक, ब्राह्मण ! ये सात अपरिहारणीय धर्म वज्जियों में रहेंगे, इन सात अपरिहारणीय धर्मों में वज्जि लोग दिखाई पड़ेंगे, तब तक ब्राह्मण ! वज्जियों की वृद्धि ही समझना, हानि नहीं ।'

ऐसा कहने पर ब्राह्मण वर्षकार भगवान् से बोला—हे गौतम ! एक भी अपरिहारणीय धर्म से वज्जियों की वृद्धि ही समझनी होगी, सात अपरिहारणीय धर्मों की तो बात ही क्या ? हे गौतम ! राजा अजातशत्रु को उपलाप (रिश्वत) या आपस में फूट डलवाकर युद्ध करना ठीक नहीं । हे गौतम ! अब हम जाते हैं । हमें बहुत काम करने हैं ।

तब मगध का महामात्य ब्राह्मण वर्षकार भगवान् को अभिनन्दन कर, अनुमोदन कर आसन से उठकर चला आया।

इससे आगे का वृत्तान्त अट्ठकथा में इस प्रकार लिखा गया है—

वर्षकार ब्राह्मण राजा अजातशत्रु के पास गया। राजा ने उससे पूछा—आचार्य ! भगवान् ने क्या कहा ?' उसने उत्तर दिया, श्रमण गौतम के कथनानुसार तो वज्जि ों को किसी प्रकार भी परास्त नहीं किया जा सकता। हां, रिश्वत और आपस में फूट डालने से परास्त किया जा सकता है।'

'तब राजा ने कहा—'रिश्वत से हमारे हाथी, घोड़े और को का नाश होगा। भेद का हो योग करना चाहिये। यह कैसे किया जायगा ?'

वर्षकार ने उत्तर दिया—'तो महाराज ! तुम परिषद् में वज्जियों की बात उठाओ। तब मैं कहूँगा, महाराज। तुम्हें उनसे क्या है ? इन राजाओं (वज्जिगण के राजसभासद) को कृषि और वाणिज्य करने दो।' तब तुम कहना—'क ों जो ! यह ब्राह्मण वज्जियों के सम्बन्ध में की जानेवाली बात में रुकावट डालता है।' उसी दिन मैं उन (वज्जियों) के लि े भेंट-उपहार भेजूंगा। उसे पकड़कर मुझपर ेषारोपण कर, बन्धन, ताड़ना आदि न कर, छुरे से मुंडन करा मुझे नगर से बाहर निकाल देना। तब मैं कहूंगा—'मैंने तेरे नगर में प्राकार और परिखा बनवाई हैं; मैं इनके कमजोर स्थानों को जानता हूँ, अब जल्दी तुझे सीधा करूँगा।' ऐसा सुनकर तुम कहना—'बेशक, तुम जाओ।'

राजा अजातशत्रु ने यही सब किया। वज्जियों ने वर्षकार के निकाले जाने की बात सुनकर कहा, 'यह ब्राह्मण मायावी श है, इसे गंगा न उतरने दो।' पर दूसरे वज्जियों की सम्मति इससे भिन्न थी। उन्होंने कहा—'इस ब्राह्मण को हमारा पक्ष लेने के कारण ही तो मगध से निकाला गया है, अतः इसे आने देना चाहिये।' वज्जियों ने ब्राह्मण वर्षकार से पूछा—'तुम किसलिये यहां आये हो ?' उसने सब हाल सुना दिया। वज्जियों ने कहा—'इस छोटी-सी बात के लिये इतना भारी दण्ड देना उपयुक्त नहीं था।' फिर उन्होंने पूछा—'मगध में तुम्हारा क्या पद था ?' वर्षकार ने कहा—'मैं वहां विनिश्चय महामात्र था।' वज्जियों ने निश्चय किया, यहां भी वर्षकार का यही पद रहे। वर्षकार वैशाली में निवास करने लगा। वह बड़ी सुन्दर रीति से न्याय-कार्य करता था। राजकुमार उसके पास विद्याग्रहण करते थे।

धीरे-धीरे ब्राह्मण वर्षकार की वैशाली भर में धाक जम गई। अपने गुणों के कारण सब उसकी प्रतिष्ठा करने लगे। अब उसने अपना असली कार्य प्रारम्भ

किया। उसने एक लिच्छवि को एकान्त में ले जाकर पूछा—'आप बहुत गरीब है न ?' उसने कहा, 'आपसे यह बात किसने कही !' 'अमुक लिच्छवि ने !' इसी कार दूसरे लिच्छवि से वर्षकार ने कहा—'तुम कायर हो क्या ?' 'किसने कहा !' 'अमुक लिच्छवि ने।' इसी प्रकार झूठ-मूठ एक-दूसरे के नाम से बातें कहकर वर्षकार ने उन लिच्छवि राजाओं में तीन वर्ष के अन्दर ऐसी फूट डाल दी, कि दो लिच्छवि-राजा एक रास्ते पर भी नहीं जाते थे। हम पहले लिख चुके हैं, कि लिच्छविगण वज्जि-जनपद में सबसे अधिक शक्तिशाली था। जब वर्षकार को विश्वास हो गया, कि अब लिच्छवियों में भलीभांति फूट पड़ गई है, तब उसने राजा अजातशत्रु के पास जल्दी ही आक्रमण करने के लिये खबर भेजी। अजातशत्रु ने रणभेरी बजाई और युद्ध के लिये चल पड़ा। जब वैशाली-निवासियों ने देखा कि अजातशत्रु आक्रमण करने आ रहा है, तो उन्होंने भी रणभेरी बजवाई और कहा—आओ चलें, राजा अजातशत्रु को गंगा के पार न उतरने । पर भेरी सुनकर भी लिच्छवि लोग जमा नहीं हुए। तब दुबारा भेरी बजाई गई, कि राजा को नगर में घुसने न दें; नगरद्वार बन्द करके अजातश का मुकाबला करें। पर अब भी कोई जमा नहीं हुआ। राजा अजातशत्रु खुले द्वा ों से ही घुसकर सबको तबाह करके चला गया।

बौद्ध-साहित्य के इस विवरण पर किसी प्रकार की टिप्पणी की आवश्यकता नहीं है। निस्सन्देह, वज्जि-जनपद मगध के उत्तर में गंगा के पार एक ब त शक्तिशाली संघ था। पर गणतन्त्र-राज्यों की सबसे बड़ी निर्बलता यह होती है, कि उनमें भेद-नीति सुगमता से सफल बनाई जा सकती है। 'भेद' और 'प्रदान' इन दो उपायों से ही गणराज्यों का विनाश शत्रु लोग करते रहे है। कौटलीय अर्थशास्त्र में साम्राज्यवादी आचार्य चाणक्य ने न्हीं उपायों का उपदेश अपने विजिगीषु राजा को संघों का नाश करने के लिये किया है। चाणक्य से पूर्व आचार्य वर्षकार ने भी न्हीं उपा ों का उपयोग कर वज्जिसंघ का नाश किया।

एक जैन-ग्रन्थ के अनुसार, जब राजा अजातश ने वैशाली पर चढ़ाई की तो काशी और मल्ल-जनप ों ने इस युद्ध में वज्जि ों की सहायता की। सम्भवतः, वज्जिसं के साथ ही काशी और मल्ल-जनपद भी मगध के साम्राज्यवाद के शिकार हो गये। यद्यपि बौद्ध-ग्रन्थ अट्ठकथा के अनुसार व कार की भेदनीति के कारण अजातशत्रु ने युद्ध के बिना ही वैशाली पर अपना अधिकार कर लिया ा, पर जैन-अनुश्रुति के अनुसार उसे वज्जिसंघ को परास्त करने के लिये घोर द्ध की आवश्यकता हुई थी। इस युद्ध में अजातशत्रु ने 'महाशिला-कण्टक' और 'रथमूसल'

जैसे भयंकर हथियारों का प्रयोग किया था। वर्षकार की भेदनीति के कारण कमजोर पड़े हुए वज्जि-महाजनपद को युद्ध द्वारा जीत सकना अजातशत्रु के लिये सम्भव हो गया था, यही प्राचीन अनुश्रुति का निष्कर्ष है।

अंग-महाजनपद बिम्बिसार के समय में मागध-साम्राज्य के अन्तर्गत हो गया था। जब अजातशत्रु के प्रयत्न से वज्जि, मल्ल और काशी—ये तीन महाजनपद मागध-साम्राज्य में सम्मिलित हो गये। काशी का कुछ भाग बिम्बिसार के समय में भी मगध के अधीन था। इस प्रकार अब मागध-साम्राज्य की शक्ति बहुत बढ़ गई।

अजातशत्रु ने ३२ वर्ष तक राज्य किया। जिस समय महात्मा बुद्ध का निर्वाण हुआ, उस समय अजातशत्रु को शासन करते हुए आठ वर्ष व्यतीत हो चुके थे। महात्मा बुद्ध का निर्वाणकाल ४८० ईस्वी पूर्व के लगभग है। अतः अजातशत्रु ४८८ ईस्वी पूर्व में राजगद्दी पर बैठे, और ४५६ ईस्वी पूर्व में उनके शासन का अन्त हुआ।

राजा उदायीभद्र—प्रसिद्ध बौद्ध ऐतिहासिक ग्रन्थ महावंश के अनुसार उदायीभद्र ने भी अपने पिता अजातशत्रु को मारकर मगध का राजसिंहासन प्राप्त किया था। अजातशत्रु ने अपने पिता बिम्बिसार का घात किया था और उदायी ने अजातशत्रु का। एकराट् बनने के इच्छुक ये मागध-सम्राट् सचमुच ही 'नयर्वजित' थे। शायद इन्हीं को दृष्टि में रखकर आचार्य चाणक्य ने अर्थशास्त्र में लिखा है, कि राजपुत्र कर्कट (केंकड़े) के समान होते हैं, जो अपने पिता को ही खा जाते हैं। चाणक्य ने राजपुत्रों को इस वृत्ति से बचाने के लिये अनेक उपायों का भी प्रतिपादन किया है। राजपुत्र कहीं अपने पिता को मारकर राज्य-प्राप्ति के लिये षड्यन्त्र तो नहीं कर रहे हैं, इसकी जानकारी रखने के लिये अनेक प्रकार की व्यवस्था की है।

पाटलिपुत्र की स्थापना उदायी ने ही की। अजातशत्रु के समय में मगध की राजधानी चम्पा और राजगृह थीं। काशी, मल्ल और वज्जि-महाजनपदों के जीत लेने के बाद मागध-साम्राज्य इतना विस्तृत हो गया था, कि राजगृह या चम्पा साम्राज्य के केन्द्र से बहुत दूर पड़ती थीं। शक्तिशाली वज्जिसंघ को भलीभांति काबू में रखने के लिये भी इस प्रकार की राजधानी की आवश्यकता थी, जो वज्जि-जनपद से अधिक दूर न हो। पाटलिपुत्र इसके लिये बहुत ही उपयुक्त नगर था।

उदायी बहुत ही महत्वाकांक्षी तथा वीर राजा था। पड़ोस के सब राजा

उसके निरन्तर आक्रमणों से तंग थे। वे समझते थे, कि जब तक उदायी जीवित रहेगा, तब तक दूसरे राजा चैन से राज्य-सुख का उपभोग नहीं कर सकेंगे। पर उदायी ने किस-किस राजा को जीतकर अपने अधीन किया, इसका वृत्तान्त भारत की प्राचीन अनुश्रुति से ज्ञात नहीं होता। जैन-ग्रन्थों में उदायी के विषय में एक अत्यन्त उपयोगी कथा पाई जाती है। हेमचन्द्रकृत 'स्थविरावलि-चरित्र' के अनुसार उदायी ने किसी समीपवर्ती राजा पर आक्रमण कर उसके राज्य को छीन लिया और वह राजा भी युद्ध में मारा गया। परन्तु उस राजा के पुत्र ने अवन्ति के राजा के पास जाकर आश्रय लिया और उससे उदायी के विरुद्ध युद्ध करने के लिये सहायता की याचना की। इस समय भारत में साम्राज्य-विस्तार के लिये जो महाजनपद संघर्ष कर रहे थे, उनमें मगध और अवन्ति ही सबसे प्रबल थे। मगध ने अंग, काशी, वज्जि और मल्ल-महाजनपदों को जीत लिया था। इनके विजय के कारण उसकी शक्ति बहुत बढ़ गई थी। उधर अवन्ति की शक्ति भी बहुत बढ़ी हुई थी। वत्स और अवन्ति इस समय एक राजवंश के शासन में थे। पश्चिम के अनेक छोटे-बड़े राज्य इस समय अवन्ति के अधीन हो चुके थे।

अवन्ति के राजा ने इस राजकुमार की सहायता देना स्वीकृत कर लिया। पर उदायी को युद्ध द्वारा परास्त कर सकना सुगम बात न थी। अतः एक चाल चली गई। उदायी जैन-धर्म में श्रद्धा रखता था। जैन साधु उसके पास आते-जाते रहते थे। इस राज्यच्युत राजकुमार ने जैन-साधु का वेश बनाया और पाटलिपुत्र जा पहुंचा। जो जैन-गुरु उदायी के राजप्रासाद में आते-जाते थे, उनमें से एक का शिष्य बनकर वह स्वयं भी महलों में आने जाने-लगा। एक दिन अवसर पाकर, जब राजा सो रहा था, इसने उस पर आक्रमण किया और उसके सिर को धड़ से अलग कर दिया। इस प्रकार पितृहन्ता तथा पाटलिपुत्र के संस्थापक राजा उदायीभद्र का अन्त हुआ। उदायी का शासनकाल कुल सोलह वर्ष था।

उदायी के बाद अनुरुद्ध और फिर मुण्ड मगध की राजगद्दी पर बैठे। इन दोनों का शासन-काल आठ वर्ष था। इनके साथ सम्बन्ध रखनेवाली किसी भी महत्वपूर्ण घटना का ज्ञान हमें नहीं है।

शिशुनाग नन्दिवर्धन—मुण्ड के बाद मगध का राजा नागदासक बना। उसका प्रधान अमात्य शिशुनाग था। नागदासक नाम को ही राजा था, असली राज्यशक्ति शिशुनाग के हाथ में थी। शिशुनाग ने उसी मार्ग का अवलम्बन किया, जिसपर अन्तिम बार्हद्रथ राजा रिपुंजय का प्रधानामात्य पुलिक चला था। मगध में फिर एक बार क्रान्ति हुई। नागदासक को राजसिंहासन से उतारकर

उसका अमात्य शिशुनाग सम्राट् बन गया। बौद्ध-साहित्य के अनुसार पाटलिपुत्र के पोरों, मन्त्रियों और अमात्यों ने नागदासक को राजगद्दी से च्युत कर 'साधु-सम्मत अमात्य शिशुनाग' को राजपद पर अभिषिक्त किया। शिशुनाग कहां तक साधुसम्मत था, यह कह सकना सुगम नहीं है, पर समें सन्देह नहीं, कि वह बड़ा प्रतापी और महत्त्वाकांक्षी था। उसने कुल ४२ वर्ष तक मगध का नेतृत्व किया, २४ वर्ष नागदासक के अमात्यरूप में और १८ वर्ष स्वयं राजा के रूप में। शिशुनाग का ही दूसरा नाम नन्दिवर्धन था।

अवन्ति का पराजय--शिशुनाग के शासन-काल में मगध के साम्राज्य का और भी अधिक विस्तार हुआ। सके समय की सबसे बड़ी घटना अवन्ति-महाजनपद का मागध-साम्राज्य में सम्मिलित होना है। पुलिक के लड़के प्रद्योत ने अवन्ति में जिस नये वंश का प्रारम्भ किया था, अब उसका अन्त हो गया। प्रद्योत बड़ा शक्तिशाली राजा था. इसीलिये प्राचीन अनुश्रुति में उसे 'चण्ड' विशेषण से स्मरण किया गया है। वत्स-राज्य के साथ उसके ब त-से युद्ध ए थे। प्रद्योत ने अपने समय में मगध पर भी आक्रमण करने की तैयारी की। इसीलिये राजा अजातशत्रु ने राजगृह की किलाबन्दी कराई थी। प्रद्योत के बाद अवन्ति की राजगद्दी के लिये गृह-कलह शुरू हो गया। बाद के राजा प्रद्योत के समान वीर तथा शक्तिशाली नहीं थे। शिशुनाग ने उनपर आक्रमण किया और अवन्ति-महाजनपद के अन्तिम राजा अवन्तिवर्धन को मारकर इस शक्तिशाली महाजनपद को भी मागध-साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया। अवन्ति के परास्त होने के साथ ही वत्स देश पर भी शिशुनाग का अधिकार हो गया।

काकवर्ण महानन्दी--शिशुनाग का पुत्र काकवर्ण महानन्दी था। कुछ ग्रन्थों में इसे ही कालाशोक के नाम से लिखा गया है। सने कुल २८ व तक राज्य किया। इसके शासन-काल के दसवें वर्ष में महात्मा बुद्ध का निर्वाण हुए १०० व पूर्ण हो चुके थे। इस अवसर पर बौद्ध-धर्म की एक महासभा शाली में संगठित की गई। राजा महानन्दी इस महासभा का संरक्षक था। इसका आयोजन वैशाली के कुसुमपुरी विहार में किया गया था, जहां बौद्ध-संसार के सर्वप्रसिद्ध ७०० भिक्षु एकत्र हुए थे। बौद्ध-धर्म के संगठन में स महासभा ने बड़ा कार्य किया।

महानन्दी का अन्त भी एक षड्यन्त्र द्वारा हुआ। महाकवि बाणभट्ट ने हर्ष-चरित में लिखा है, कि नगर के बाहर गले में छुरी भोंक देने से उसकी मृत्यु हुई। प्राचीन आर्य-मर्यादा को छोड़कर मगध के सम्राटों ने जिस मार्ग का अनुसरण

किया था, उससे यदि इन राजाओं का अन्त इस प्रकार के षड्यन्त्रों द्वारा हो, तो आश्चर्य की क्या बात है ?

जिस षड्यन्त्र ारा राजा महानन्दी की हत्या हुई, उसका नेता महापद्मनन्द था। यह जाति का शूद्र था, और प्रारम्भिक जीवन में बड़ी कठिनता से अपना पेट पालता था। परन्तु देखने में वह बड़ा सुन्दर था। धीरे-धीरे महानन्दी की रानी उसके काबू में आ गई, और रानी ारा राजा भी बहुत कुछ उसके प्रभाव में आ गया। अवसर पाकर महापद्म नन्द ने महानन्दी को कत्ल कर दिया और उसके पुत्रों के नाम पर स्वयं राज्य-कार्य का संचालन करने लगा। महानन्दी के दस लड़के थे। प्रतीत होता है, कि पिता की हत्या के समय े सभी आयु में कम थे। यही कारण है, कि राजमाता का कृपापात्र होने से सारी शासन-शक्ति महापद्मनन्द के हाथ में आ गई थी। स महापद्मनन्द ने बाद में महानन्दी के पु ों का भी घात करा दिया, और स्व ं मगध का सम्राट् बन गया। इस महापद्मनन्द के सम्बन्ध में हम आगे चलकर अधिक विस्तार से लिखेंगे।

(५) वत्स और अवन्ति

मगध ने किस प्रकार अन्य महाजनपदों को जीतकर अपने विशाल साम्राज्य का निर्माण किया, इसका उल्लेख हमने ऊपर किया है। सम्राट् शिशुनाग नन्दिवर्धन ने अवन्ति महाजनपद को जीतकर मागध-साम्राज्य के अन्तर्गत कर लिया था। वत्स महाजनपद भी अवन्ति के समान मागध-साम्राज्यवाद का शिकार हुआ। पर मागध-साम्राज्य के अन्तर्गत होने से पूर्व कुछ समय के लिये वत्स और अवन्ति—ोनों ने ही अच्छी उन्नति की थी। ये दोनों महाजनपद जहां अपने पड़ोसी प्रदेशों को जीतने में लगे थे, वहां साथ ही उनका परस्पर भी संघर्ष चल रहा था। कुछ समय के लिये काशी का प्राचीन शक्तिशाली राज्य भी वत्स के अधीन रहा था। अवन्ति के साम्राज्य-विस्तार सम्बन्धी प्रयत्नों के विषय में हमें बहुत कुछ परिचय कथा-सरित्सागर, भास कवि के नाटकों और बौद्ध-साहित्य द्वारा प्राप्त होता है। भारत में एक केन्द्रीय शक्तिशाली साम्राज्य के विकास में वत्स और अवन्ति के प्रयत्नों का बहुत महत्त्व है। अतः इस करण में हम उन प्रयत्नों का संक्षिप्त रूप से उल्लेख करेंगे।

अवन्ति और वत्स का संघर्ष—बुद्ध के समय में अवन्ति देश का राजा पज्जोत था। उसकी राजधानी उज्जैनी थी। पुराणों में पज्जोत के लिये 'प्रद्योत' शब्द आया है। महाकवि भास ने इसे 'महासेन' लिखा है। अनेक ग्रन्थों में इसके लिये

'चण्ड' विशेषण का भी प्रयोग किया गया है। बुद्ध का समकालीन वत्स देश का राजा उदयन था। अवन्ति और वत्स की सीमायें एक दूसरे से मिलती थीं। अतः उनमें परस्पर संघर्ष का होना स्वाभाविक था। अवन्ति का राजा प्रद्योत वत्स को जीतकर अपनी अधीनता में लाना चाहता था। पर वत्स की शक्ति भी कम न थी। अतः प्रद्योत ने छल का आश्रय लिया। किन उपायों से द्योत ने उदयन को जीतने का प्रयत्न किया, इसका वर्णन बौद्ध-ग्रन्थ महावग्ग और महाकवि भास के नाटक प्रतिज्ञा-यौगन्धरायण में विस्तार के साथ किया गया है। भास का वर्णन ऐतिहासिकता के अधिक समीप है, अतः उसे हम यहां संक्षेप के साथ उद्धृत करते हैं।

अवन्ति देश का राजा प्रद्योत अत्यन्त महत्त्वाकांक्षी था। उसने अनेक राजाओं को जीत कर अपने अधीन कर लिया। पर वत्सराज उदयन उसकी अधीनता स्वीकृत करने को उद्यत नहीं था। इससे प्रद्योत के हृदय में बहुत जलन होती थी। उसने उदयन को वश में लाने के अनेक प्रयत्न किये, पर सफलता नहीं हुई। सेनाओं द्वारा उदयन को वशीभूत न कर सकने का एक कारण भास ने यह लिखा है, कि प्रद्योत की सेना उसके प्रति अनुरक्त नहीं थी।

उदयन को हाथी पकड़ने का बहुत शौक था। वह हस्तिविद्या में अत्यन्त प्रवीण था। वह सदा उत्तम-उत्तम हाथियों को पकड़नेके लिये उत्सुक रहता था। इसलिये प्रद्योत ने एक नकली हाथी बनवाया। उसमें सैनिक छिपाकर रख दिये गये। इस नकली हाथी को वत्स और अवन्ति के सीमावर्ती जंगलों में रख दिया गया।

इस समय उदयन शिकार खेलने के लिये नर्मदा नदी को पार कर अपनी सेना के साथ वेणुवन में आया हुआ था। प्रातःकाल होने पर वह हाथियों के शिकार के लिये नागवन की ओर चल पड़ा। इतने में प्रद्योत का एक आदमी आया और उसने उदयन से कहा—'यहां से कोस भर दूर मैंने एक नीला हाथी देखा है।' उदयन को हाथियों का शौक था ही, वह उसे पकड़ने के लिये तैयार हो गया। 'घोषवती' नामक वीणा को, जो हाथियों को वश में करने के लिये काम में आती थी और बीस आदमियों को उसने अपने साथ में लिया। पहले वह घोड़े पर जा रहा था, पर जब हाथी दिखाई देने लगा, तो वह घोड़े पर से उतरकर घोषवती' को बजाता हुआ पैदल चलने लगा। इसी समय शेर की गर्जना सुनाई दी। उदयन के साथी शेर को ढूंढने के लिये तितर-बितर हो गये। उदयन को अपनी वीणा पर पूरा विश्वास था, वह अकेला ही हाथी की ओर चल पड़ा। इतने में

प्रद्योत के सैनिक उस नकली हाथी के बाहर निकल आये और उन्होंने उदयन पर आक्रमण कर दिया। उदय : अकेला था, वह पकड़ लिया गया। प्रद्योत के मन्त्री सालंकायन ने उसे कैदखाने में डाल दिया और उसकी घोषवती वीणा अवन्तिराज की कन्या वासवदत्ता को दे दी गई। इस प्रकार प्रद्योत अपने छल में सफल हुआ।

पर उदयन का एक मन्त्री था, जिसका नाम था 'यौगन्धरायण'। वह बहुत ही नीतिनिपुण तथा चाणाक्ष व्यक्ति था। उसे पहले ही आशंका थी, कि उदयन को पकड़ने के लिये जाल रचा जा रहा है। उसने उदयन को सावधान करने का भी प्रयत्न किया था। जब उसे ज्ञात हुआ, कि वत्सराज अवन्तिराज प्रद्योत द्वारा कैद कर लिया गया है, तब उसने उसे मुक्त कराने की प्रतिज्ञा की। उज्जैनी में रहते हुए उदयन का प्रद्योत की कन्या वासवदत्ता से स्नेह-सम्बन्ध स्थापित हो गया था। उदयन को वासवदत्ता के प्रणय के अतिरिक्त किसी अन्य बात का ध्यान नहीं रह गया था। पर यौगन्धरायण ने इसकी कोई परवाह नहीं की। उसने प्रतिज्ञा की, कि यदि मैं उदयन और वासवदत्ता दोनों को अवन्तिराज के कब्जे से छुड़ाकर स्वतन्त्र न कर सका, तो मेरा नाम यौगन्धरायण नहीं है। उसने उज्जैनी में अपने चर भेजने प्रारम्भ कर दिये। विविध प्रकार के व्यक्तियों का भेष बदलकर यौगन्धरायण के गुप्तचर बहुत बड़ी सख्या में उज्जैनी पहुंच गये। इसके बाद उदयन को छुड़ाने के लिये बाकायदा षड्यन्त्र की रचना की गई। इस षड्यन्त्र में वासवदत्ता को भी सम्मिलित किया गया। एक दिन बहुत सबेरे वासवदत्ता और उदयन 'भद्रवती' नामक हथिनी पर चढ़कर भाग खड़े हुए। यौगन्धरायण के आदमी तो पहले से ही तैयार थे। उन्होंने उज्जैनी के द्वाररक्षकों पर आक्रमण कर उनका घात कर दिया। उदयन और वासवदत्ता को भाग निकलने का अच्छा अवसर मिल गया।

जब यह समाचार प्रद्योत ने सुना, तो उसने अपने लड़के 'पालक' को सेना के साथ उदयन और वासवदत्ता का पीछा करने के लिये भेजा। पर यौगन्धरायण ने इसका भी उपाय पहले से ही किया हुआ था। उसके आदमियों ने उज्जैनी में विद्रोह शुरू कर दिया। जगह-जगह पर लूट-मार प्रारम्भ हो गई। प्रद्योत की सेना इस विद्रोह को शान्त करने में लग गई। दोनों ओर से लड़ाई होने लगी। यौगन्धरायण के आदमियों को परास्त कर सकना प्रद्योत जैसे शक्तिशाली राजा के लिये कुछ भी कठिन नहीं था। विद्रोह शान्त कर दिया गया। यौगन्धरायण स्वयं भी पकड़ लिया गया। पर उसका उद्देश्य पूर्ण हो चुका था। उदयन और

वासवदत्ता उज्जैनी से भागकर अपने राज्य की सीमा में पहुंच गये थे। प्रद्योत जितना वीर तथा शक्तिशाली था, उतना ही उदारहृदय भी था। उसने यौगन्धरायण की नीतिकुशलता से प्रसन्न होकर उसे मुक्त कर दिया और वासवदत्ता का विवाह उदयन के साथ करना स्वीकार कर लिया।

उदयन और वासवदत्ता के उज्जैनी से भाग निकलने का जिस प्रकार का वर्णन भास ने किया है, वह अवास्तविक नहीं है। प्राचीन भारत में एक राज्य के गुप्तचर दूसरे राज्य में जाकर किस प्रकार कार्य करते थे, इसका विस्तृत विवरण आचार्य चाणक्य ने अपने अर्थशास्त्र में किया है। उसे पढ़कर यौगन्धरायण का कार्य भलीभांति समझ में आ जाता है। बृहत्कथामंजरी और कथासरित्सागर में भी प्रद्योत और उदयन की कथा प्रायः इसी रूप में पाई जाती है।

वत्सराज उदयन——बुद्ध के समय में वत्स-महाजनपद का राजा उदयन था। वह शतानीक परन्तप का पुत्र था, और प्राचीन कौरव-वंश में उत्पन्न हुआ था। हस्तिनापुर का कौरव-वंश किस प्रकार कुरुदेश को छोड़कर वत्सदेश में जा बसा था, इसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। उदयन की माता विदेह की राजकुमारी थी, इसीलिये महाकवि भास ने उसे वैदेहीपुत्र लिखा है। उसकी राजधानी कौशाम्बी थी। अवन्ति का राजा प्रद्योत वत्सराज उदयन को परास्त करने में किस प्रकार असफल हुआ, सका उल्लेख हमने अभी किया है। प्रद्योत की कन्या वासवदत्ता से विवाह कर राजा उदयन उसके प्रेम में इतना लीन हो गया था, कि राज्यकार्य की ओर वह विशेष ध्यान नहीं देता था। राज्य का संचालन यौगन्धरायण करता था, जो अत्यन्त कुशल और चाणाक्ष मन्त्री था। उसका यह प्रयत्न था, कि वत्स-महाजनपद उन्नति की चरमसीमा तक पहुंच जाय। वह कट्टर साम्राज्यवादी था। अवन्ति देश से सन्धि हो ही चुकी थी। अतः अब उस ओर से उसे किसी भी प्रकार का भय नहीं रह गया था। अब यौगन्धरायण ने वत्स की उन्नति के लिये अनेक प्रयत्न प्रारम्भ किये। शीघ्र ही वत्सराज का काशीराज्य के साथ युद्ध प्रारम्भ हो गया। महाकवि भास ने इस युद्ध का वृत्तान्त विशद रूप से लिखा है। हम उसे यहां संक्षेप से उल्लिखित करते हैं——

वत्सदेश और काशी का परस्पर संघर्ष हो रहा था। काशी के राजा का नाम था 'आरुणि'। उसने वत्स पर आक्रमण कर बहुत-सा प्रदेश जीत लिया। उदयन और महासेन प्रद्योत की सम्मिलित सेनायें काशीराज आरुणि को परास्त करने के लिये पर्याप्त न थीं। यौगन्धरायण ने सोचा, कि आरुणि को परास्त करने का एक ही उपाय है, वह यह कि मगधराज की सहायता प्राप्त की जाय। मगध के

साथ मैत्री का सम्बन्ध स्थापित करने के लिये यौगन्धरायण ने यह आवश्यक समझा, कि मगध के राजा 'दर्शक' की भगिनी 'पद्मावती' का विवाह उदयन के साथ करा दिया जाय। उसने इसी उद्देश्य से एक सन्देश दर्शक के पास भेजा। पर दर्शक तैयार नहीं हुआ। वह जानता था, कि उदयन वासवदत्ता को हृदय से प्यार करता है, अतः वह पद्मावती को प्रेम नहीं कर सकेगा। पर यौगन्धरायण की नीतिज्ञता ही क्या थी, यदि वह इस समस्या का हल न कर सकता। वह अच्छी तरह अनुभव करता था, कि वत्सराज के हित के लिये यह विवाह आवश्यक है, और जिस तरह भी सम्भव हो, इसे सम्पादित करना चाहिये। उसने एक चाल चली। यदि यह प्रसिद्ध कर दिया जाय कि वासवदत्ता का देहान्त हो गया है, तो कुछ समय पश्चात् उदयन को पुनर्विवाह करने के लिये तैयार कर सकना कठिन न होगा। साथ ही, वासवदत्ता की मृत्यु का समाचार जानकर दर्शक भी अपनी बहन का विवाह उदयन के साथ करने के लिये उद्यत हो जायगा।

एक बार की बात है, उदयन शिकार खेलने के लिये जंगल में गया हुआ था। इस समय यौगन्धरायण वासवदत्ता के साथ लावानक नामक गांव में ठहरा हुआ था। यौगन्धरायण ने वासवदत्ता को भी अपने साथ षड्यन्त्र में सम्मिलित कर लिया। राज्य के हित के नाम से उससे अपील की गई। सेनापति रुमण्वान् और गोपाल (अवन्ति के राजा प्रद्योत का पुत्र) भी इस षड्यन्त्र में सम्मिलित ए। लावानक में आग लगा ी गई, और यह प्रसिद्ध कर दिया गया कि वासवदत्ता और यौगन्धरायण दोनों अग्नि में जलकर भस्म हो गये हैं। वे वेश बदलकर अपने को छिपा रखने का पहले ही सब प्रबन्ध कर चुके थे। वासवदत्ता का नकली नाम अवन्तिका रखा गया। यौगन्धरायण अवन्तिका को साथ लेकर एक आश्रम में पहुंचा, जहां मगध की राजकुमारी पद्मावती पहले से ही हरी हुई थी। अवन्तिका को वहीं छोड़ दिया गया, और यौगन्धरायण अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिये तत्परता से कार्य करने लगा।

जब उदयन शिकार से वापस आया, तो वासवदत्ता के अग्नि में जलकर मरने के वृत्तान्त को सुनकर मूर्च्छित हो गया। रुमण्वान्, गोपाल आदि ने उसे बहुत आश्वासन दिया, पर उसका शोक दूर नहीं हुआ। वह रात-दिन वासवदत्ता की ही चिन्ता में घुलता रहता था। मन्त्रीलोग उसे नवीन विवाह के लिये प्रेरित कर रहे थे, पर वासवदत्ता का ध्यान उसके मन से उतरता ही नहीं था। परन्तु काल अपना कार्य कर रहा था। ज्यों-ज्यों समय गुजरता गया, वासवदत्ता की स्मृति उदयन के हृदय पर से हटती चली गई। वह दूसरे विवाह के लिये उद्यत हो

गया। उधर मगधराज दर्शक की विप्रतिपत्ति भी दूर हो गई थी। उसे यही ज्ञात था कि वासवदत्ता का स्वर्गवास हो गया है, सलिये वह पद्मावती का विवाह उदयन के साथ करने के लिये उद्यत हो गया। उदयन और पद्मावती का विवाह हो गया। मगधराज दर्शक को सहायता वत्सदेश को प्राप्त हो गई। अब आरुणि को परास्त करना कुछ कठिन नहीं था। आरुणि को परास्त कर दिया गया।

वासवदत्ता और यौगन्धरायण ने किस प्रकार अपने को प्रकट किया, इसका मनोरंजक और हृदयग्राही वर्णन महाकवि भास ने अपने प्रसिद्ध नाटक 'स्वप्न-वासवदत्ता' में किया है। पर उसका यहां उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं।

इसी प्रकार की कथा बृहत्कथामञ्जरी और कथासरित्सागर में भी आती है। वहां मगधराज का नाम प्रद्योत लिखा गया है। यद्यपि सोमदेव ने प्रद्योत नाम लिखकर भूल की है, पर उसकी शेष कथा प्रामाणिक ऐतिहासिक अनुश्रुति पर आश्रित है।

मगधराज दर्शक के साथ सन्धि हो जाने के अनन्तर उदयन की स्थिति बहुत सुरक्षित तथा शक्तियुक्त हो गई थी। अवन्ति और मगध जैसे शक्तिशाली राज्यों की सहायता उसे प्राप्त थी। यौगन्धरायण ने मगधराज से यह प्रतिज्ञा करा ली थी, कि वह कभी उदयन के विरुद्ध विद्रोह नहीं करेगा। अब वत्सराज की साम्राज्य-विस्तार सम्बन्धी महत्त्वाकांक्षाओं को पूर्ण करने का सुवर्णावसर उपस्थित हुआ। यौगन्धरायण, मण्वान् आदि सब लोग कट्टर साम्राज्यवादी थे। वे उदयन को साम्राज्य-विस्तार के लिये निरन्तर उकसाते रहते थे। इसी समय उदयन को पितृ-पैतामहों के समय की गड़ी हुई एक अनन्त धनराशि भी अकस्मात् उपलब्ध हो गई। यह कोष उसके साम्राज्य-विस्तार के लिये अत्यन्त सहायक हुआ। कोष के बिना साम्राज्य विस्तृत कर सकना ब त कठिन था। इस धनराशि से वह समस्या भी हल हो गई।

साम्राज्य-विस्तार के लिये प्रस्थान करने से पूर्व उदयन ने अपने राज्य की शान्ति तथा सुशासन के लिये व्यवस्था की। कथासरित्सागर में लिखा है, कि गोपाल को विदेह देश का शासक नियुक्त किया, और पद्मावती के भाई सिंहवर्मा को चेदि का शासन सौंपा गया। विदेह और चेदि के स्वतन्त्र राज्य——ये बौद्धकल के षोडश महाजनपदों में सम्मिलित हैं——किस समय वत्स के अधीन थे, इस सम्बन्ध में कोई निर्देश प्राचीन साहित्य में नहीं मिलता। अपने राज्य की रक्षा का प्रबन्ध हो चुके पर अन्य देशों पर आक्रमण की तैयारी प्रारम्भ हुई।

जो राजा अपने मित्र थे, उनकी सहायता प्राप्त की गई। पुलिन्दक नाम का भील राजा भी अपनी भील सेना को साथ लेकर वत्सराज उदयन की सहायतार्थं उपस्थित हुआ।

सबसे पूर्व काशी पर आक्रमण किया गया। यहां का राजा 'ब्रह्मदत्त' था। सम्भवत:, इसी को भास ने आरुणि और तिब्बती-साहित्य ने आरनेमि लिखा है। यह सम्भवत: वही काशीराज है, जिसने पहले वत्स पर आक्रमण किया था, और जिसके विरुद्ध अपने देश की रक्षा करने के लिये यौगन्धरायण मगध की सहायता प्राप्त करने के लिय उत्सुक था। काशी का राज्य बहुत शक्तिशाली तथा समृद्ध था। यौगन्धरायण ने उसका विजय करने के लिये नीति का आश्रय लिया। वत्स के अनेक गुप्तचर काशी भेजे गये। इन गुप्तचरों ने कापालिक का वेश धारण किया। कुछ गुरु बने, बाकी उनके चेले। चेले भिक्षा मांगने जाते थे और अपने गुरु का यश सब जगह फैलाते फिरते थे। लोगों की भीड़ गुरु महाराज का दर्शन करने के लिये आने लगी। यौगन्धरायण के गुप्तचर नकली गुरुजी की महिमा काशीराज ब्रह्मदत्त के कानों तक भी पहुंची। इस असाधारण गुरु का दर्शन करने की उनकी भी इच्छा हुई। राजा की प्रार्थना पर गुरु महाराज ने एक राजकुमार को शिष्य रूप से स्वीकृत कर लिया। राजपुत्र यौगन्धरायण के गुप्तचर के काबू में आ गया। धीरे-धीरे उसने सब गुप्त रहस्य राजकुमार द्वारा मालूम कर लिये। काशीराज ब्रह्मदत्त का चाणाक्ष मन्त्री 'योगकरण्डक' उदयन के आक्रमण का निवारण करने के लिये जो उपाय प्रयोग में ला रहा था, वे सब उस राजपुत्र द्वारा उदयन के गुप्तचरों को ज्ञात हो जाते थे। योगकरण्डक ने उदयन की सेना के संहार के लिये मार्ग के पानी में जहर डलवा दिया, विषकन्याओं की व्यवस्था की और गुप्तरूप से प्रधान राजप्रमुखों को कतल कराने के उद्देश्य से चर भी नियत किये। पर योगकरण्डक के इन सब प्रयत्नों को यौगन्धरायण के दूत मालूम कर लेते थे और उनकी सूचना अपने देश में पहुंचा देते थे। इस प्रकार ब्रह्मदत्त की सारी कोशिश विफल हो गई। उसके पास इतनी सेना नहीं थी, कि वह सम्मुख युद्ध में उदयन का मुकाबला कर सकता। इसीलिये इन उपायों का उपयोग किया गया था।.पर जब ये उपाय भी असफल हो गये, तो उसके लिये आत्मसमर्पण के अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग न रहा।

वत्सराज उदयन ने ब्रह्मदत्त को शरण देना स्वीकृत कर लिया। ब्रह्मदत्त ने वत्सराज की अधीनता स्वीकृत कर ली। वह काशी जो कुछ ही समय पहले वत्स पर आक्रमण कर रहा था, अब वत्सराज उदयन की अधीनता में आ गया।

उदयन के धान मन्त्री यौगन्धरायण ने जिस प्रकार काशीराज का भेद लेने के लिये गुप्तचर नियत किये थे, वह प्राचीन भारतीय इतिहास में कोई असाधारण बात नहीं है। कौटलीय अर्थशास्त्र में इन सब उपायों का बड़े विशद रूप में वर्णन किया गया है। जिस प्रकार यौगन्धरायण के गुप्तचरों ने ज्ञानी कापालिक गुरु का वेश धारण कर अपनी त्रिकालज्ञता उद्घोषित कर राजा का भेद लिया था, ठीक उसी प्रकार का प्रतिपादन आचार्य चाणक्य ने किया है। अपने गुप्तचरों से भेद लेकर यौगन्धरायण विषमय जल, वनस्पति, पुष्प, फल आदि का उपयोग करने से सावधान हो गया था और उसने इस प्रकार के उपाय किये थे, जिनसे योगकरण्डक द्वारा फैलाये हुए विष का प्रतीकार किया जा सके। इसी प्रकार विषकन्याओं के प्रभाव से अपने सैनिकों को बचाने के लिये उसने यह व्यवस्था की कि कोई नई गणिका सेना के उपयोग के लिये न रखी जाय। प्राचीन भारत में यह प्रथा प्रचलित थी, कि सेना का मनोरंजन करने के लिये गणिकायें साथ रखी जाती थीं। योगकरण्डक की योजना यही थी, कि वि कन्याओं को गणिका रूप में भेजकर उनके संसर्ग से वत्सदेश की सेना के प्रधान सेनापतियों का संहार करा दिया जाय।

काशीराज से अपनी अधीनता स्वीकृत कराने के अनन्तर उदयन की सेनाओं ने पूर्व दिशा की तरफ प्रस्थान किया। मगध के साथ तो पहले ही सन्धि हो की थी। अतः अन्य छोटे-छोटे राजाओं को जीतते हुए उन्होंने वंग-देश को जीतकर समु के तट पर उदयन के जयस्तम्भ की स्थापना की।

इसके बाद कलिंग पर आक्रमण किया गया। कलिंगराज ने युद्ध के बिना ही अधीनता स्वीकृत कर ली। इस प्रकार सम्पूर्ण प्राच्य भारत ने वत्सराज उदयन को अपना अधिपति मान लिया। अब विन्ध्याचल पार कर दक्षिण की ओर आक्रमण किया गया। महेन्‍ पर्वत-माला के प्रदेशों में निवास करनेवाले पाण्डुर लोगों को जीतकर उदयन ने कावेरी नदी को पार किया और चोल-सम्राट् से अधीनता स्वीकार कराई। चोल देश को जीतकर उदयन ने 'मुरल' राज्य पर आक्रमण किया। सम्भवतः मुरल केरल का ही नाम है, या कथासरित्सागर ने गलती से केरल को मुरल लिख दिया है। चोल और केरल राज्यों को जीतकर उदयन ने दक्षिणी भारत के पश्चिमी तट से होते हुए उत्तर की तरफ प्रस्थान किया। गोदावरी होता हुआ रेवा नदी को पार कर वह उज्जैनी पहुंचा। उज्जैनी के राजा ने उसका स्वागत किया। कुछ समय तक उदयन ने अपनी सेनाओं सहित उज्जैनी में विश्राम किया। यहां पर उसकी मुख्य रानी वासवदत्ता का बाल्यकाल

व्यतीत आ था। यह स्थान उदयन को बहुत प्रिय था। सलिये उसने यहां पर्याप्त समय तक विश्राम किया।

सके बाद उदयन ने अवन्ति के महासेन द्योत की सेना को भी सहायतार्थ साथ लेकर पश्चिम दिशा की ओर प्रस्थान किया। पश्चिम दिशा में पहले लाट देश पर आक्रमण किया गया। मही और ताप्ती नदियों के मध्यवर्ती देश (दक्षिणी गुजरात) का प्राचीन नाम 'लाट' देश है। लाट को जीतकर फिर सिन्धु देश या वर्तमान सिन्ध पर आक्रमण किया गया। सिन्ध जीत के अन्तर उदयन के म्लेच्छों और तुरुष्कों के साथ भी युद्ध हुए। पश्चिम-भारत को विजय करते हुए पारसीक-राजा के साथ भी उसका युद्ध आ और कथासरित्सागर के अनुसार उदयन ने पारसीकपति का संहार किया। इसी विजय के प्रसंग में णों का भी जिक्र किया गया है, जिन्हें उदयन ने जीतकर अपने अधीन किया था। स प्रकार पश्चि ी भारत का विजय कर उदयन ने मगधराज की राजधानी में प्रवेश किया। मग का राजा उदयन की पत्नी पद्मावती का भाई था। मगध में उदयन का खूब स्वागत हुआ। स विजय-यात्रा से उदयन भारत का सबसे शक्तिशाली राजा बन गया था।

भारत के अन्य विविध प्रदेशों को जीतते हुए उदयन ने कोशल और गान्धार देशों को जीतने का उद्योग नहीं किया। कोशल में उन दिनों राजा 'प्रसेनजित्' का शासन था। गान्धार का राजा 'कलिगदत्त' था, जिसकी राजधानी तक्षशिला थी। उदयन ने कलिंगदत्त के साथ भी वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न किया था। कथासरित्सागर के अनुसार कलिंगदत्त की कन्या का नाम 'कलिंग-सेना' था। वह चाहता था, कि अपनी कन्या का विवाह कोशलराज प्रसेनजित् के साथ करे। पर कलिंग-सेना उदयन पर अनुरक्त थी। उदयन भी उससे विवाह करने को इच्छुक था। उदयन की दृष्टि में इस विवाह का राजनीतिक उद्देश्य भी था। वह समझता था, कि कलिंगसेना के साथ विवाह हो जाने से गान्धार की सहायता भी उसे प्राप्त हो जावेगी।

उदयन के साम्राज्य-विस्तार का यह वृत्तान्त कथासरित्सागर में उल्लिखित है।

यह कह सकना कठिन है, कि यह वृत्तान्त कहां तक सत्य है। पर इसे पढ़ कर इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता, कि उदयन एक अत्यन्त शक्तिशाली और महत्त्वाकांक्षी राजा था।

भारत के प्राचीन इतिहास में वत्सराज उदयन का बहुत महत्त्व है। प्राचीन

साहित्य के अनेक ग्रन्थों में उदयन सम्बन्धी घटनाओं का उल्लेख है। बौद्ध, जैन और संस्कृत--सभी प्रकार के साहित्य में उदयनविषयक कथायें उपलब्ध होती हैं। उदयन की मृत्यु के बहुत समय पश्चात् तक उसकी कथायें सर्वसाधारण में प्रचलित रहीं। कालिदास ने अपने मेघदूत में मेघ से कहा है, कि जब अवन्ति प ंचना, तो वहां उन ग्राम-वृद्धों से मिलना, जो उदयनसम्बन्धी कथाओं को खूब अच्छी तरह जानते हैं। हमारी सम्मति में भारतीय इतिहास के आधुनिक लेखकों ने उदयन के साथ न्याय नहीं किया है। यदि प्राचीन साहित्य ें विद्यमान ऐतिहासिक अनुश्रुति की दृष्टि से देखा जाय, तो उदयन का मुकाबला बहुत कम राजा कर सकेंगे। पर इस दिग्विजयी साम्राज्य-निर्माता के ऐतिहासिक महत्त्व को अब लोग प्रायः भूल गये हैं। उदयन की विजयों का उल्लेख केवल कथा-सरित्सागर में ही नहीं मिलता है, अपितु श्रीहर्षकृत प्रियदर्शिका में भी यह लिखा है, कि उसने कलिंग देश को विजय किया था। उदयन के साथ सम्बन्ध रखनेवाली विविध घटनाओं को लेकर स्वप्नवासवदत्ता, प्रतिज्ञायौगन्धरायण, प्रियदर्शिका, रत्नावली आदि विविध नाटकों का रचा जाना इस बात को सिद्ध करता है, कि पुरातन समय में इस राजा की बहुत ही अधिक प्रसिद्धि थी।

उदयन के उत्तराधिकारी--उदयन के उत्तराधिकारियों के सम्बन्ध में ेतिहासिक वृत्तान्त लिख सकना सुगम कार्य नहीं है। पुराणों के अनुसार उदयन का उत्तराधिकारी वहीनर था । कथासरित्सागर और बृहत्कथामंजरी के अनुसार उदयन के पुत्र का नाम नरवाहनदत्त था। बौद्ध-ग्रन्थों में उदयन के पुत्र का नाम बोधि लिखा है। बौद्ध-ग्रन्थों और पुराणों में उदयन के उत्तराधिकारी के सम्बन्ध में कोई उल्लेखयोग्य घटना उपलब्ध नहीं होती, पर कथासरित्सागर में नरवाहनदत्त के सम्बन्ध में अनेक कथायें लिखी गई हैं। इन कथाओं को संक्षिप्त रूप से उद्धृत कर सकना भी सम्भव नहीं है । ये अत्यन्त विस्तृत, असम्भव व अद्भुत बातों से परिपूर्ण हैं। पर इनका सार यह है , कि नरवाहनदत्त ने अपने पिता उदयन के जीवनकाल में ही हिमालय के पार्वत्य प्रदेशों में अनेक युद्ध किये थे, और कई पहाड़ी राज्यों को जीतकर अपने अधीन किया था। पर्वतीय प्रदेशों में विद्यमान आषाढ़पुर का राजा मानसवेग नरवाहनदत्त की स्त्री मदनमंचुका को हरकर ले गया था। इसी प्रश्न पर आषाढ़पुर के साथ संघर्ष प्रारम्भ हो गया और स संघर्ष में न केवल आषाढ़पुर अपितु अन्य भी अनेक पहाड़ी राज्य नरवाहनदत्त की अधीनता में आ गये।

पुराणों के अनुसार उदयन के उत्तराधिकारी निम्नलिखित थे--वहीनर

दण्डपाणी, निरामित्र और क्षेमक। क्षेमक के साथ प्राचीन पौरव-वंश, जिसमें उदयन उत्पन्न हुआ था, समाप्त हो गया। उदयन के पश्चात् मगध की साम्राज्यवाद की प्रवृत्ति विशेष रूप से उत्कर्ष को प्राप्त हो रही थी, और पौरव-वंश का यह वत्सराज्य भी मागध-साम्राज्यवाद का शिकार बन गया था।

प्रद्योत के उत्तराधिकारी--अवन्ति के राजा प्रद्योत का वृत्तान्त ऊपर दिया जा चुका है। प्रद्योत ने २३ वर्ष राज्य किया। उसकी मृत्यु के अनन्तर उसका पुत्र 'पालक' अवन्ति के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ। परन्तु प्रद्योत के एक अन्य पुत्र भी था, जिसका नाम 'गोपाल' था। वह अपनी बहन वासवदत्ता के साथ वत्सराज उदयन की राजधानी कौशाम्बी में निवास करता था। जिस समय प्रद्योत की मृत्यु का समाचार कौशाम्बी पहुंचा, तो वत्सराज उदयन ने गोपाल से कहा, कि तुम उज्जैनी जाकर अपने पिता का राज्य संभाल लो। पर गोपाल ने राजा होना स्वीकृत नहीं किया। गोपाल प्रद्योत का बड़ा लड़का था, अत: राज्य पर उसी का अधिकार था। पर उसके स्वयं राजगद्दी पर अधिकार का परित्याग कर देने पर पालक को अवन्ति का राज्य प्राप्त हुआ। वत्सराज उदयन ने अपने सेनापति 'रुमण्वान्' को उज्जैनी भेजकर पालक को राज्य प्राप्त कराया।

ऐसा प्रतीत होता है, कि पालक के विरुद्ध एक अन्य दल उज्जैन में विद्यमान था। इस दल का नेता गोपाल का पुत्र 'आर्यक' था। गोपाल बहुत दिनों से अपनी बहन के साथ कौशाम्बी रहता था। उसे राजकाज में रुचि नहीं थी। पर उसका पुत्र आर्यक महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति था। वह यह नहीं सहन कर सकता था, कि उसके रहते हुए पालक का राज्य पर अधिकार हो। अत: प्रतीत होता है, कि उसने पालक का विरोध किया और उसी के दल के विरुद्ध पालक की सहायता करने के लिये वत्सराज उदयन ने अपने सेनापति रुमण्वान् को उज्जैनी भेजा था। आर्यक कैद कर लिया गया। पर कैद हो जाने पर भी उसकी शक्ति कम न हुई। पालक का विरोधी दल अपना आन्दोलन करता रहा। अब उस दल का नेतृत्व 'शर्विलक' ने किया। अन्त में शर्विलक आर्यक को पालक के हाथ से छुड़वाने में समर्थ हुआ। पालक और आर्यक के गृह-कलह में अन्ततोगत्वा आर्यक की विजय ई। पालक मारा गया और उसके स्थान पर अवन्ति का राजसिंहासन आर्यक को प्राप्त हुआ। आर्यक ने २४ वर्ष तक राज्य किया। पुराणों में आर्यक का नाम 'अजक' लिखा गया है। यह 'अजक' आर्यक ही है, इसमें कोई सन्देह नहीं। कहीं-कहीं आर्यक के स्थान पर 'सूर्यक' पाठ भी आता है, पर वह ठीक प्रतीत नहीं होता।

पुराणों में पालक और आर्यक के बीच में 'विशाखयूप' नाम के राजा का

उल्लेख है। इसका शासन-काल ५० वर्ष लिखा गया है। पर पुराणों के अतिरिक्त अन्य प्राचीन साहित्य में पालक और आर्यक के बीच में अन्य किसी राजा का उल्लेख नहीं है। पालक और आर्यक के गृहकलह के होते हुए यह सम्भव भी कैसे है, कि उनके बीच में एक अन्य राजा शासन करे और वह भी ऐसा जिसका शासन काल ५० वर्ष हो। ऐसा प्रतीत होता है, कि पालक और आर्यक के गृह-कलह का लाभ उठाकर अवन्ति-राज्य के किसी प्रदेश में विशाखयूप ने अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिया था, और वह पालक तथा आर्यक दोनों के शासन-काल में स्वतन्त्रतापूर्वक राज्य करने में समर्थ हुआ था।

आर्यक के अनन्तर 'अवन्तिवर्धन' राजा बना। यह आर्यक का पुत्र था। पर कथासरित्सागर के अनुसार यह आर्यक का पुत्र न होकर पालक का पुत्र था। कहीं-कहीं इसका नाम नन्दिवर्धन और वर्तिवर्धन भी लिखा गया है।

अवन्तिवर्धन अवन्ति का अन्तिम स्वतन्त्र राजा था। उसके पश्चात् यह राज्य मगध के साम्राज्यवाद का शिकार हो गया। अवन्ति की स्वतन्त्र सत्ता लुप्त हो गई, और वह मागध-साम्राज्य के अन्तर्गत हो गया।

(६) कोशल महाजनपद

महात्मा बुद्ध का समकालीन कोशल का राजा पसेनदी या प्रसेनजित् था। पुराणों के अनुसार कोशल के राजा प्राचीन ऐक्ष्वाकव वंश के थे। मगध, वत्स और अवन्ति के समान कोशल देश के राजा भी बड़े प्रतापी और साम्राज्य-विस्तार के लिये उत्सुक थे। बहुत पुराने समय से उनका काशी-महाजनपद के साथ संघर्ष चला आता था। काशी और कोशल के संघर्ष में पहले काशी अधिक प्रबल रहा। काशी के राजाओं की वंशक्रमानुगत उपाधि ब्रह्मदत्त थी। काशी का प्रत्येक राजा उसी प्रकार ब्रह्मदत्त कहाता था, जैसे कि प्राचीन समय में विदेह के राजा जनक कहाते थे। कोशाम्बी जातक, कुनाल जातक और महावग्ग जातक में काशी के ब्रह्मदत्त राजाओं का उल्लेख है, जिन्होंने कि कोशलदेश पर आक्रमण किया और विजय प्राप्त की। ब्रह्मदत्त जातक में काशी के एक राजा का वर्णन है, जिसने कि कोशल की राजधानी श्रावस्ती पर आक्रमण किया और वहां के राजा को कैद कर लिया। इसी प्रकार दीघोतिकोशल जातक में एक काशीराज का वर्णन आता है, जिसने कोशल देश को जीतकर अपने अधीन कर लिया था, और न केवल कोशल को जीता ही था, अपितु वहां के राजा को मारकर उसे अपने साम्राज्य में मिला लिया था। कोशल का राजकुमार 'दीघावु' काशीराज की

सेवा में रहता था। एक बार की बात है, कि काशीराज सोया हुआ था और दीघावु उसके पास बैठा हुआ जाग रहा था। दीघावु के दिल में यह विचार आया कि काशी-राज को कतल करने का यह अच्छा अवसर है, और इस प्रकार वह अपने पिता की हत्या का बदला ले सकता है। पर सोच-विचार के अनन्तर उसने यही निश्चय किया कि काशीराज को न मारा जाय। पीछे जब यह बात काशीराज को ज्ञात हुई, तब वह बहुत प्रसन्न हुआ और उसने कोशल का राज्य दीघावु को लौटा दिया। इस प्रकार स्पष्ट है कि पहले काशी का पक्ष बहुत प्रबल था। परन्तु पीछे से काशी और कोशल के संघर्ष में कोशल का पक्ष प्रबल होने लगा और धीरे-धीरे काशी का राज्य कोशल के अधीन हो गया। घटजातक में लिखा है कि कोशल के राजा वंक ने काशी पर आक्रमण किया और वहां के राजा ब्रह्मदत्त को पराजित कर अपने अधीन किया। एसा प्रतीत होता है, कि वंक के पश्चात् काशी देश का कुछ न कुछ प्रदेश अवश्य ही कोशल के अधीन हो गया था, क्योंकि प्रसेनजित् के पिता 'महा-कोशल' ने जब अपनी कन्या का विवाह मगध के राजा 'बिम्बिसार' के साथ किया था, तो दहेज में स्नान और अलंकार का खर्च चलाने के लिये काशी का एक प्रदेश प्रदान किया था।

कोशलराज्य की राजधानी श्रावस्ती थी। बौद्ध-ग्रन्थों में इसे सावट्ठी लिखा गया है। सावट्ठी के अतिरिक्त अन्य भी अनेक नगर कोशल में विद्यमान थे। इनमें अयोध्या, साकेत, सेतव्य और उक्कट्ठ के नाम उल्लेखनीय हैं।

महाकोशल के बाद कोशल की राजगद्दी पर प्रसेनजित् बैठा। इसका दूसरा नाम अग्निदत्त था। बौद्ध-साहित्य में इसके अनेक मन्त्रियों के नाम भी उपलब्ध होते हैं। प्रसेनजित् का प्रधान मन्त्री 'दीर्घचारायण' था। सम्भवतः यह वही दीर्घचारायण है, जिसका उल्लेख कौटलीय अर्थशास्त्र में नीतिशास्त्र के अन्यतम आचार्य के रूप में आया है। इसके एक अन्य मंत्री का नाम मृगधर था। इसी प्रकार इसके एक अन्य मन्त्री का भी उल्लेख आया है, जिसका नाम श्रीवृद्ध था। तिब्बती अनुश्रुति में कोशलराज प्रसेनजित् की मन्त्रिपरिषद् का उल्लेख है, जिसके सदस्यों की संख्या ५०० थी। कोशल की परिषद् का उल्लेख प्राचीन साहित्य के अन्य भी अनेक ग्रन्थों में आता है।

कोशल के साम्राज्यवाद ने केवल काशी को ही अपनी अधीनता में नहीं कर लिया था, अपितु अन्य अनेक राजा भी कोशल के आधिपत्य को स्वीकृत करते थे। संयुक्त निकाय में लिखा है, कि एक बार जब भगवान् बुद्ध श्रावस्ती में पधारे, तो वहां पर पांच राजा, जिनमें प्रसेनदी प्रमुख था, विविध प्रकार के आमोद-प्रमोद

में व्यस्त थे। पसेनदी के अतिरिक्त अन्य चार राजाओं की स्थिति अधीनवर्ती राजाओं की थी, जो कोशलराज के आधिपत्य को स्वीकृत करते थे। इसी प्रकार अन्यत्र पांच राजाओं का वर्णन है, जो दर्शनसम्बन्धी किसी विषय पर पसेनदी के साथ विवाद में व्यापृत थे। इन राजाओं की अधीनता में कौन-से प्रदेश विद्यमान थे, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। पर शाक्य और मल्ल-राज्यों का, जिनमें गणतन्त्र-शासन-प्रणाली विद्यमान थी, कोशल की अधीनता में होना बौद्ध-साहित्य द्वारा प्रमाणित होता है। जिस समय कोशलराज प्रसेनजित् ने अपना राजदूत शाक्यों को राजधानी कपिलवस्तु में यह सन्देश लेकर भेजा था, कि मैं एक शाक्य-राजकुमारी के साथ विवाह करना चाहता हूं, तो शाक्य लोगों ने अपने सन्थागार में विचार करते हुए कहा था--'हम एक ऐसे प्रदेश में निवास करते हैं, जो कोशल के राजा के आधिपत्य में है। यदि हम उसे कन्या देने से इन्कार करेंगे, तब उसके क्रोध का ठिकाना न रहेगा।' इससे स्पष्ट है कि राजा अग्निदत्त प्रसेनजित् के समय में शाक्य-गणराज्य पर कोशल का आधिपत्य विद्यमान था। इसी प्रकार मल्लराज्य के भी कोशल की अधीनता में होने का प्रमाण जातक-साहित्य में मिलता है। परन्तु यह ध्यान रखना चाहिये कि इन राज्यों की स्वतन्त्र सत्ता अभी तक विद्यमान थी। ये कोशलराज की अधीनतामात्र स्वीकृत करते थे। अभी तक कोशल के साम्राज्यवाद ने यह रूप धारण नहीं किया था, कि इनकी स्वतन्त्र स्थिति को सर्वथा नष्ट कर दे।

परन्तु कोशलराज्य की साम्राज्यवादी प्रवृत्तियां इन पांच राज्यों को ही अपनी अधीनता में रखने से सन्तुष्ट नहीं थीं। वे अपने को भारत में सर्वप्रधान राज्य बनाना चाहती थीं। इधर मगध भी इसी प्रयत्न में लगा था। परिणाम यह हुआ, कि मगध और कोशल में परस्पर युद्ध छिड़ गिया। इस संघर्ष का उल्लेख हम इसी अध्याय में पहले कर चुके हैं।

इसके परिणामस्वरूप अन्त में मगध और कोशल में परस्पर सन्धि हो गई थी, और सन्धि को स्थिर रखने के लिये प्रसेनजित् ने अपनी कन्या वजिरा का विवाह मगधराज अजातशत्रु के साथ कर दिया था।

राजा प्रसेनजित् की अनेक रानियां थीं। एक रानी का नाम 'मल्लिका' था। यह श्रावस्ती की मालाकार श्रेणी के मुखिया की कन्या थी। एक बार की बात है, जब उसकी आयु १६ वर्ष की थी, वह उद्यान में पुष्प एकत्रित करने के लिये जा रही थी। उस समय प्रसेनजित् अजातशत्रु से परास्त होकर अपनी राजधानी को लौट रहा था। मल्लिका के अपूर्व सौन्दर्य को देखकर प्रसेनजित् उस पर मुग्ध

हो गया और यद्यपि वह वृद्ध हो चुका था, तथापि उसने १६ वर्ष की युवती मल्लिका को अपनी पटरानी बना लिया।

प्रसेनजित् की दूसरी रानी का नाम वासवखत्तिया था। यह दासी से उत्पन्न हुई एक शाक्य-राजकुमारी थी। प्रसेनजित् शाक्य लोगों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करना चाहा था। इसलिये उसने अपना एक दूत शाक्यों के पास यह सन्देश लेकर भेजा था, कि वे एक शाक्य-राजकुमारी को विवाह के लिये प्रदान करें। पर शाक्य लोग अपनी किसी कुमारी का विवाह प्रसेनजित् के साथ करने में अपमान समझते थे। पर उनके लिये निषेध कर सकना भी कठिन था, क्योंकि इससे प्रसेनजित् के क्रोध का ठिकाना न रहता और वह आक्रमण कर उनका विनाश कर देता। अतः महानाम नाम के एक शाक्य के सुझाव पर उन्होंने एक दासीपुत्री को प्रसेनजित् के साथ विवाह करने के लिये भेज दिया। इस कुमारी का नाम वासवखत्तिया था और इसी से 'विरुद्धक' व 'विडूडभ' की उत्पत्ति हुई थी।

जब विरुद्धक बड़ा हुआ, तो उसे अपनी माता के रहस्य का परिज्ञान हुआ। जिस समय १६ वर्ष का था, तो उसने अपने नाना के घर जाने को उत्कण्ठा प्रदर्शित की। उसकी माता ने टालने का बहुत प्रयत्न किया, पर वह नहीं माना। अन्त में विवश होकर वासवखत्तिया विरुद्धक को कपिलवस्तु भेजने के लिये तैयार हो गई। जिस समय शाक्य लोगों को विरुद्धक के आगमन का समाचार ज्ञात हुआ, तब उनके सम्मुख एक विकट समस्या उत्पन्न हो गई। विरुद्धक कोशलदेश का राजकुमार था। उसका स्वागत करना आवश्यक था। पर वह वासवखत्तिया का पुत्र था, जो कि दासी-पुत्री थी। दासी-पुत्री के लड़के का स्वागत कुलीन शाक्य लोग किस प्रकार कर सकते थे?

जब विरुद्धक कपिलवस्तु पहुंचा, उसे राजकीय अतिथि-गृह में ठहराया गया। शाक्य लोग उसके पास मिलने के लिये आये और वासवखत्तिया के पिता भाई तथा अन्य सम्बन्धियों का परिचय विरुद्धक को दिया गया। विरुद्धक सबको नमस्कार करता था, पर जवाब में उसे कोई नमस्कार नहीं करता था। उसे शाक्यों के स व्यवहार पर अत्यन्त आश्चर्य हुआ। जब उसने इसका कारण पूछा, तो उसे कहा गया, कि वे सब लोग तुमसे अधिक आयु के हैं, वे तुम्हें नमस्कार कैसे कर सकते हैं। तुमसे छोटी आयु के सब शाक्य-कुमार बाहर गये ए हैं, वे यहां उपस्थित नहीं हैं।

एक दिन कपिलवस्तु रहकर विरुद्धक अपनी राजधानी को वापस लौटा।

अतिथि-गृह में जिस स्थान पर वह हरा था, उसे पवित्र करन के लिय दूध-मिले पानी से धोया गया। विरुद्धक का एक साथी कोई वस्तु छोड़ गया था। उसे लेने के लिये जब वह अतिथि-गृह में वापस आया, तो उस मकान को दूध-मिले पानी से धोया जाता देख उसके आश्चर्य की सीमा न रही। उसने इसका कारण पूछा। उसे ज्ञात हुआ कि विरुद्धक दासी-पुत्री का लड़का है। जब यह बात विरुद्धक को भी पता चली, तो वह आपे से बाहर हो गया। उसने क्रोध में आकर कहा--'जिस जगह पर मैं ठहरा था, उसे शाक्य लोग दूध मिले पानी से धोते हैं, पर जब मैं राजा बन जाऊँगा, तो वह जगह खून से धोई जायगी।' विरुद्धक ने शाक्य लोगों से बदला लेने की तिज्ञा कर ली, और सबात की प्रतीक्षा करने लगा कि सेनजित् की मृत्यु के पश्चात् उसे राज्यसिंहासन पर आरू होने का कब अवसर ाप्त होता है।

प्रसेनजित् के विरुद्ध षड्यन्त्र--परन्तु विरुद्धक शाक्यों से बदला लेने के लिये ब त अधिक उत्सुक था। उसके लिये अपने पिता सेनजित् की मृत्यु तक प्रतीक्षा कर सकना सम्भव नहीं था। अतः उसने प्रसेनजित् के विरुद्ध षड्यन्त्र करना प्रारम्भ किया, जिसका उद्देश्य स्वयं राज्य पर अधिकार प्राप्त करना था। तिब्बती अनुश्रुति के अनुसार उसने मन्त्रिपरिषद् के सब सदस ों को अपने पक्ष में करना प्रारम्भ कर दिया। मन्त्रिपरिष के कुल सदस्य ५०० थे। दीर्घचारायण--जो प्रसेनजित् का प्रधान मन्त्री था--के अतिरिक्त शेष सब सदस्य विरुद्धक के पक्ष में हो गये। एक बार जब किसी राजकीय कार्य पर दीर्घचारायण विरुद्धक के घर आया आ था, उसने उससे भी बात की और उसे भी अपने पक्ष में करने का प्रयत्न किया। पर दीर्घचारायण अपने स्वामी का अनन्य भक्त था। वह विरुद्धक के साथ षड्यन्त्र में सम्मिलित नहीं हुआ। विरुद्धक ने उससे यह वचन ले लिया कि वह इसका जिकर किसी के भा साथ न करे। दीर्घचारायण उसे बार-बार समझाता था, कि तुम गलती कर रहे हो। प्रसेनजित् वृद्ध हो शीघ्र मर जायगा, तब राज्य तुम्हीं को ाप्त होगा। पर विरुद्धक को यह बात समझ में न आई। वह अपने प्रयत्न में लगा रहा।

एक बार की बात है, कि भगवान् बुद्ध मेत्सुरुदी नामक शाक्य नगर में पधारे हुए थे। जब वह बात प्रसेनजित् को मालूम हुई, तो वह उनके दर्शनों के लिये गया। ीर्घचारायण उसके साथ था। जब वे दोनों मेत्सुरुदी पहुंचे तो प्रसेनजित् रथ से नीचे उतर गया और पैदल ही उस स्थान पर पहुंचा, जहां महात्मा बुद्ध ठहरे हु थे। प्रसेनजित् ने यह उचित नहीं समझा, कि बुद्ध के दर्शन के लिये

राजसी ठाठ-बाट के साथ जावे। उसने अपने सम्पूर्ण राजकीय चिह्नों--राजमुकुट, खड्ग आदि--को उतारकर ीर्घचारायण के सुपुर्द कर दिया और स्वयं सादे वेश में बुद्ध की सेवा में उपस्थित हुआ। बुद्ध और प्रसेनजित् का बड़ा पुराना परिचय था। उन दोनों की आयु भी प्रायः एक बराबर थी। वे बड़े प्रेम के साथ मिले और बहुत देर तक आपस में बातें करते रहे। उधर दीर्घचारायण बाहर खड़ा हुआ सेनजित् के वापस लौटने की प्रतीक्षा कर रहा था। विरुद्धक ने उसे अपने साथ षड्यन्त्र में सम्मिलित होने के लिये बहुत प्रेरणा की थी। मन्त्रिपरिषद् के सब सदस्य विरुद्धक के पक्ष में थे। केवल अकेला वही उसके साथ नहीं था। अब उसने सोचना प्रारम्भ किया, कि विरुद्धक का पक्ष बहुत प्रबल है। अतः उसके साथ मिल जाना ही ठीक है। सब राजकीय चिह्न उसके पास थे ही। रथ जुता-कर वह श्रावस्ती वापस लौट गया और वहां जाकर विरुद्धक को राजा उद्-घोषित कर दिया। विरुद्धक का षड्यन्त्र सफल हो गया और वह अपने पिता के जीवित होते हुए ही मन्त्रिपरिषद् की सहायता से राजा बन गया।

जब प्रसेनजित् बुद्ध से बातचीत समाप्त कर बाहर निकला, तो अन्य भिक्षुओं से उसे दीर्घचारायण के विश्वासघात का पता लगा। उसे अब राज्यप्राप्ति की कोई आशा नहीं रह गई थी। सब मन्त्री उसके पहले ही विरुद्ध थे। अब ीर्घचारायण भी उसके विरुद्ध हो गया था। उसने यही उचित समझा कि राज्य के लिये प्रयत्न करने का विचार छोड़कर मगध की तरफ प्रस्थान किया जाय। मगध का राजा अजातशत्रु उसका निकट-सम्बन्धी था। उसके यहां आश्रय लेने के अतिरिक्त उसे अन्य कोई मार्ग न सूझता था। वह मगध की ओर चल पड़ा। रास्ते में मल्लिका और वजिरा रानियां मिलीं, जो उसी की ढूंढ में पैदल ही श्रावस्ती से आ रही थीं। मल्लिका का पुत्र विरुद्धक राजगद्दी पर विराजमान था, अतः प्रसेनजित् ने उसे श्रावस्ती वापस लौटा दिया और स्वयं वजिका के साथ मगध राज्य की ओर प्रस्थान किया।

कुछ ही दिनों में वे मगध की राजधानी राजगृह पहुंच ग । अपने आगमन की सूचना दे के लिये उसने वजिका को अजातशत्रु के पास भजा। अजातशत्रु को जब अपने श्वशुर सेनजित् के पधारने का समाचार मिला, तो वह बड़ी धूमधाम के साथ उसका स्वागत करने के लिये चला। पर उधर राजा प्रसेनजित् की ृत्यु हो चुकी थी। भूख, प्यास और मार्ग की थकावट से पीड़ित वृद्ध कोशल-नरेश ने अनेक अपथ्य पदार्थों का सेवन किया था। वृद्धावस्था के कारण उसका शरीर जर्जरित हो चुका था। वह अधिक कष्ट-सहन न कर सका। राज-

गृह के बाहर ही उसकी मृत्यु हो गई। इस प्रकार कोशलराज्य के पदच्युत नरेश का अन्त हुआ।

शाक्य-गण का अन्त--विरुद्धक के प्रधान मन्त्री का नाम अम्बरीश था। वह उसका बालसखा था। जब विरुद्धक ने कोशल का राजसिंहासन प्राप्त कर लिया, तो अम्बरीश ने शाक्य लोगों से बदला उतारने की प्रतिज्ञा उसे स्मरण कराई। विरुद्धक का हृदय तो शाक्यों के प्रति विद्वेष-भाव से जल ही रहा था। उसने शाक्यों पर आक्रमण करने के लिये धूमधाम के साथ तैयारी की। जब महात्मा बुद्ध को यह पता लगा कि विरुद्धक शाक्यों पर आक्रमण करने लगा है, तो उन्हें बहुत खेद हुआ। वे स्वयं शाक्य थे। अतः उन्होंने कपिलवस्तु की तरफ प्रस्थान किया। मार्ग में एक छायाशून्य 'शकोतक' वृक्ष के नीचे अपना आसन जमाया। महात्मा बुद्ध को इस दशा में देख विरुद्धक को यह विचार उत्पन्न हुआ, कि बुद्ध शाक्यों के विनाश की सम्भावना से बहुत चिन्तित हैं। अतः उसने कपिलवस्तु पर आक्रमण करने का विचार छोड़ दिया। उसके हृदय में भी महात्मा बुद्ध के प्रति अपार श्रद्धा थी और वह उन्हें दुःखी नहीं करना चाहता था।

परन्तु अम्बरीश कट्टर साम्राज्यवादी था। उसने विरुद्धक को शाक्यों पर आक्रमण करने के लिये प्रोत्साहित किया। महामोद्गल्यायन के नेतृत्व में शाक्य लोगों ने अपनी राजधानी कपिलवस्तु को रक्षा के लिये तैयारी की। इस बार विरुद्धक शाक्यों को पराजित नहीं कर सका। वह स्वयं निराश होकर अपनी राजधानी श्रावस्ती को लौट गया।

पर अम्बरीश कब माननेवाला था? उसने तीसरी बार फिर कोशलराज को शाक्यों पर आक्रमण करने के लिये प्रेरित किया। एक बार फिर विरुद्धक ने कपिलवस्तु पर आक्रमण किया। पर उसे इस बार भी सफलता प्राप्त नहीं हुई। थोड़े-से युद्ध के पश्चात् निराश होकर वह अपने राज्य को लौट आया।

अम्बरीश ने देखा कि शस्त्र-युद्ध में शाक्यों को परास्त करना सम्भव नहीं है, अतः उसने भेदनीति का आश्रय लिया। उसने शाक्यों के पास निम्नलिखित सन्देश भेजा--"यद्यपि मैं आप लोगों के प्रति विशेष स्नेह-भाव नहीं रखता हूं, पर मुझे आपसे कोई विशेष द्वेष भी नहीं है। अब सब मामला खतम हो गया है, अतः कृपा करके अपने दुर्ग के द्वारों को खोल दीजिये।" विरुद्धक के इस सन्देश पर विचार करने के लिये शाक्य लोग अपने सन्थागार में एकत्रित हुए। उनमें इस प्रश्न पर बहुत मतभेद था। कुछ लोग कहते थे, हमें अपने द्वार खोल देने चाहिये। दूसरे इस का विरोध करते थे। अम्बरीश की भेदनीति कार्य कर रही थी। आखिर,

उन्होंने बहुमत से यही निर्णय किया, कि कपिलवस्तु के द्वार खोल दिये जावें।

द्वारों का खुलना था कि विरुद्धक की सेनाओं ने कपिलवस्तु में प्रवेश किया। शाक्य लोगों का बुरी तरह संहार किया गया। कुल मिलाकर ७७००० शाक्य विरुद्धक की सेनाओं के हाथों से मारे गये। कुछ शाक्य लोग अपनी जान बचाकर भागने में भी समर्थ हुए। उन्होंने सुदूर पार्वत्य देशों में जाकर नवीन राज्यों की स्थापना की। इस प्रकार विरुद्धक ने शाक्यों के महिमामय गणराज्यों का अन्त किया। इसमें सन्देह नहीं, कि इससे पूर्व भी शाक्य-राज्य कोशल की अधीनता स्वीकृत करता था। महाकोशल और अग्निदत्त प्रसेनजित् के राज्य में शाक्यों का प्रदेश भी अन्तर्गत था। पर इन राज्यों ने शाक्यराज्य की स्वाधीनता को नष्ट नहीं किया था। इनके समय में शाक्य गणअपनी स्वतन्त्र सत्ता रखता था। पर अब विरुद्धक ने इसका पूर्णतया विनाश किया। अम्बरीश की साम्राज्यवाद की नीति अपना कार्य कर रही थी। शाक्यों का स्वतन्त्र गणराज्य इस नीति का शिकार हो गया।

विरुद्धक के किसी अन्य आक्रमण व विजय का हमें परिज्ञान नहीं है। बौद्ध-साहित्य में लिखा है, कि महात्मा बुद्ध ने भविष्यवाणी की थी कि सात दिन में विरुद्धक और अम्बरीश का विनाश हो जायगा और ऐसा ही हुआ। वहां इनके विनाश की जो कथा लिखी है, उसे यहां उल्लिखित करने की आवश्यकता नहीं। पर श्रीहर्षकृत रत्नावली से यह प्रगट होता है, कि वत्सराज उदयन के सेनापति रुमण्वान् ने न केवल कोशलराज को परास्त ही किया था, अपितु उसका संहार भी किया था। यह कोशलपति कौन था, इस सम्बन्ध में कोई निर्देश रत्नावली में उपलब्ध नहीं होता। सम्भव है, यह विरुद्धक ही हो। कोशलराज प्रसेनजित् का अन्त किस प्रकार हुआ था, इसपर पहले प्रकाश डाला जा चुका है। बौद्ध-साहित्य से यह अवश्य ज्ञात होता है, कि शाक्य-विजय के अनन्तर कुछ समय पश्चात् विरुद्धक का अन्त सहसा ही हो गया था। सम्भव है, उसका अन्त रत्नावली में निर्दिष्ट प्रकार से ही हुआ हो, और श्रीहर्ष ने जिस कोशलपति के घात का वर्णन किया है, वह विरुद्धक ही हो।

सहायक ग्रन्थ

भास—प्रतिज्ञायौगन्धरायण

भास—स्वप्नवासवदत्ता

श्रीहर्ष—रत्नावली

कथासरित्सागर
कौटलीयमर्थशास्त्रम्
मृच्छकटिकम्
Watters : On Yuan Chwang
Rockhill : Life of Buddha
Pargiter : Dynasties of the Kali Age
Cowell : The Jatak
Bhandarkar : Carmichael Lectures, 1918.
Ray Chowdhary : Political History of Ancient India
Rhys Davids : Buddhist India
Hoernle : Uvasagadasao
Cambridge History of India. vol. I

का वंशज बताया गया है। विष्णुपुराण से भी इसी मत की पुष्टि होती है। महावस्तु में शाक्यों को आदित्यबन्धु कहा गया है। आदित्यबन्धु और सूर्यवंशी एक ही बात है। भारतीय अनुश्रुति के अनुसार इक्ष्वाकु सूर्यवंश का था। एक अन्य स्थान पर महावस्तु में महात्मा बुद्ध को, जो कि शाक्य-जाति के थे,'इक्ष्वाकु-कुल-सम्भव' विशेषण से कहा गया है। इस प्रकार इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता, कि शाक्य-गणराज्य के लोग प्राचीन सूर्यवंश के क्षत्रिय थे।

शाक्य-गणराज्य की राजधानी कपिलवस्तु थी। यह एक अत्यन्त सुन्दर और महान् नगर था। महावस्तु के अनुसार यह सात दीवारों से घिरा हुआ था। कपिलवस्तु के अतिरिक्त शाक्यराज्य के अन्य भी अनेक नगरों का उल्लेख बौद्ध-साहित्य में मिलता है। इनके नाम सामगाम, उलुम्पा, देवदह, चातुमा, सक्कर, सीलावती और खोमदुस्स हैं।

सामाजिक दशा—बौद्ध-साहित्य के अध्ययन से शाक्य लोगों के सम्बन्धमें अनेक महत्वपूर्ण बातें ज्ञात होती हैं। शाक्य लोग एकपत्नीव्रत होते थे। उनमें बहुविवाह की प्रथा नहीं थी। शाक्य लोग अपनी स्त्रियों और कन्याओं को बहुत सम्मान की दृष्टि से देखते थे। इसी कारण वे विवाह के समय इस बात का ध्यान रखते थे, कि वर वस्तुतः योग्य हो। केवल धन को देखकर विवाह करना वे अपनी मान-मर्यादा के प्रतिकूल समझते थे। जिस समय राजा शुद्धोदन ने अपन कुमार सिद्धार्थ के विवाह के लिये कुमारी गोपा के पिता दण्डपाणी के पास सन्देश भेजा, तो उसने उत्तर दिया—"माननीय राजकुमार का पालन-पोषण घर में बहुत भोग-विलास के बीच में हुआ है। हमारे घर की मर्यादा है, कि अपनी कन्या उसी को दी जावे, जो सम्पूर्ण शिल्पों में निष्णात हो। राजकुमार को शिल्पों का कोई ज्ञान नहीं है। उसे तलवार, धनुष व अन्य शस्त्रों से युद्ध करने का भी ज्ञान नहीं है। इस दशा में कुमार के साथ मैं अपनी कन्या का विवाह कैसे कर सकता हूं ?" जिस समय कुमार सिद्धार्थ ने पांच सौ कुमारों के मुकाबले में यह सिद्ध कर दिया, कि वस्तुतः वह सम्पूर्ण शिल्पों और युद्ध-विद्या में विख्यात है, तभी उसका विवाह शाक्यकुमारी के साथ हो सका।

शाक्य लोग अपनी जाति से बाहर विवाह-सम्बन्ध करना अनुचित समझते थे। उन्हें अपनी जाति और वंश का इतना अभिमान था, कि अपने से बाहर के बड़े शक्तिशाली राजाओं के साथ भी विवाह-सम्बन्ध करना उन्हें अपने लिये अपमानजनक प्रतीत होता था। बौद्ध-साहित्य में कथा आती है, कि कोशल महाजनपद के राजा प्रसेनजित् ने शाक्य-जाति के साथ विवाह-सम्बन्ध स्थापित

करने की इच्छा से एक राजदूत कपिलवस्तु भेजा। उस समय शाक्य-गण की राजसभा का अधिवेशन हो रहा था। इस राजसभा के सम्मुख राजदूत ने राजा प्रसेनजित् का सन्देश पहुंचा दिया। सन्देश यह था--'मैं आपके परिवार के साथ सम्बन्ध जोड़ना चाहता हूं, अतः अपनी एक कुमारी का मेरे साथ विवाह कर दीजिये।' राजा प्रसेनजित् का यह सन्देश सुनकर शाक्य लोग बहुत चिन्तित थे। वे सोचने लगे--राजा प्रसेनजित् का राज्य हमारे बहुत समीप है। यदि हमने उसे अपनी कुमारी देने से इन्कार किया, तब वह बहुत क्रुद्ध होगा और हमपर आक्रमण किये बिना न रहेगा। पर यदि हम अपनी कुमारी का विवाह उसके साथ कर देते हैं, तो हमारी कुल-मर्यादा टूटती है। यह भी अच्छी बात नहीं है। इस दुविधा की दशा में महानाम नाम के शाक्य ने एक उपाय निर्दिष्ट किया। उसने कहा--'इस विषय में विशेष चिन्ता की आवश्यकता नहीं। मेरी एक कन्या है, जिसका नाम है वासवखत्तिया। वह एक दासी की पुत्री है। देखन में वह अत्यन्त सुन्दर है। उसकी आयु भी सोलह वर्ष की है। पिता की दृष्टि से वह शाक्यकुल की भी है। हम उसे प्रसेनजित् के साथ विवाह के लिय भेज ेंग।

स कथा से स्पष्ट है, कि शाक्य लोग अपनी कन्याओं का विवाह जाति से बाहर करना उचित नहीं समझते थे। पुराने समय में अनेक जातियों में अपने वंश की उच्चता का विचार बहुत गहरा गया आ था। केवल भारत में ही नहीं, अपितु प्राचीन ग्रीस और रोम के उच्च वंशों के लोग भी अपने रक्त की शुद्धता का ब त ध्यान रखते थे।

शिक्षा--शाक्य-राज्य में विविध शिल्पों और विद्याओं की शिक्षा के लिये एक विद्यालय की सत्ता भी बौद्ध-साहित्य से सूचित होती है। दीघनिकाय की टीका में एक शिल्प-विद्यालय का उल्लेख आता है, जो कपिलवस्तु के आम्रोद्यान में स्थित था और जिसके विशाल भवन में विविध शिल्पों की शिक्षा दी जाती थी। शाक्यकुमारों के लिये शिक्षा का महत्त्व बहुत ही अधिक था, क्योंकि शिक्षा के बिना उन्हें विवाह के लिये कन्या का मिल सकना असम्भव था।

युद्ध-विद्या में प्रवीणता प्राप्त कराने के लिये कपिलवस्तु में एक पृथक् विद्यालय भी था, जिसमें धनुर्विद्या, खड्ग-संचालन आदि की शिक्षा दी जाती थी।

शाक्य लो ों में स्त्रियों की दशा बहुत उन्नत थी। उनकी दशा का अनुमान इसी बात से किया जा सकता है, कि बौद्ध-संघ में प्रविष्ट होने के लिय सबसे पूर्व शाक्य स्त्रियां ही तैयार ई थीं, और उन्होंने ही महात्मा बुद्ध को इस बात के लिये

बाधित किया था कि वे स्त्रियों के लिये पृथक् भिक्षुणी-संघ की व्यवस्था करें। जिस महिला ने सबसे पूर्व अपने घर और सांसारिक सुखों का परित्याग कर भिक्षु-जीवन को स्वीकृत किया, उसका नाम महाप्रजापति गौतमी था और वह शाक्य-कुल की ही महिला थी।

शासन-व्यवस्था--शाक्य-गणराज्य में जनतन्त्र-शासन-पद्धति चलित थी। उसका कोई वंशक्रमानुगत राजा नहीं होता था। राज्य के मुखिया (राष्ट्रपति) को ही 'राजा' कहा जाता था। बौद्ध-काल के अन्य अनेक राज्यों में त्यक कुल के मुखिया को 'राजा' कहते थे, लिच्छवि ों में यही व्यवस्था थी। पर शाक्यों में प्रत्येक मुखिया व सरदार को राजा नहीं कहा जाता था, वहां 'राजा' केवल एक होता था, जिसे निर्वाचित किया जाता था। महात्मा बुद्ध के पिता शुद्धोधन शाक्यराज्य के वंशक्रमानुगत राजा नहीं थे, वे कुछ समय के लिये 'राजा' निर्वाचित किये गये थे। यही कारण है, कि जहां बौद्ध-साहित्य में अनक स्थलों पर उनके नाम के साथ 'राजा' का विशेषण आता है, वहां अन्यत्र उनके जीवन-काल में ही उनके छो भतीजे भद्दिय को 'राजा' कहा गया है, और उन्हें केवल 'शाक्य शुद्धोधन' लिखा गया है।

शाक्य-राज्य में शासन करन के लिये एक परिषद् होती थी, जिसके अधिवेशन कपिलवस्तु के सन्थागार में आ करते थ। बौद्ध-साहित्य में कपिलवस्तु के सन्थागार (सभाभवन) का अनक स्थानों पर उल्लेख आया है। अम्बट्ठसुत्त में वर्णन आता है, कि एक बार पौष्करसाति नाम का ब्राह्मण शाक्यों की राजधानी कपिलवस्तु में गया। वहां सन्थागार में बहुत-से शाक्य ऊंचे आसनों पर बैठे ए थे। महावस्तु के अनुसार बनारस के राजघरान के ३२ कुमार कपिलवस्तु में बसने के लिय आये। उनके प्रस्ताव को शाक्य-परिषद् के सम्मुख पेश किया गया। इस शाक्य-परिषद् के सदस्यों की संख्या महावस्तु में पांच सौ लिखी गई है। राजा सेनजित् ने शाक्य-कुमारी के साथ विवाह करने की इच्छा से जो राजदूत भेजा ा, उसने भी अपने राजा के सन्देश को सन्थागार में एकत्रित पांच सौ शाक्यों की परिषद् के सम्मुख उपस्थित किया था। ललितविस्तार के अनुसार भी शाक्यों की परिषद् के सदस्यों की संख्या पांच सौ थी। इससे स्पष्ट है, कि शाक्यपरिषद् में त्येक नागरिक सदस्य नहीं होता था। शाक्य-राज्य एक कार का श्रेणि-तन्त्र (एरिस्टो क्रेसी) था, जिसमें कुलीन शाक्य-घरानों के मुखिया ही शासन का सब कार्य करते थे। इन पांच सौ सदस्यों की नियुक्ति किस प्रकार होती थी, इस विषय में कोई निर्देश बौद्ध-साहित्य में उपलब्ध नहीं होता।

कपिलवस्तु के सन्थागार का बौद्ध-साहित्य में एक अन्य स्थान पर भी उल्लेख मिलता है। जिस समय महात्मा बुद्ध कपिलवस्तु के समीप न्यग्रोधाराम में ठहरे हुए थे, तब शाक्य लोगों का नया सन्थागार बनकर तैयार हुआ था। शाक्यों की ार्थना पर महात्मा बुद्ध ने इस नवीन सन्थागार का उद्घाटन किया और रात भर उनके अपने, आनन्द तथा मोग्गलान के उपदेश होते रहे। सन्थागार को शाक्य लोग जो महत्त्व देते थे, वह उनके राज्य की शासन-प्रणाली पर अच्छा प्रकाश डालता है।

डा० रीज डेविड्स के अनुसार शाक्य-राज्य के अन्य नगरों में भी इसी प्रकार के सन्थागार विद्यमान थे, और उनके निवासी अपने सन्थागारों में एकत्रित होकर अपने स्थानोय नियमों की व्यवस्था करते थे। सम्पूर्ण राज्य का शासन कपिलवस्तु के केन्द्रीय सन्थागार में एकत्रत शाक्यपरिषद् द्वारा होता था।

शाक्यों के राजनीतिक इतिहास के सम्बन्ध में बौद्ध-साहित्य से विशेष परिचय नहीं मिलता। पर इसमें सन्देह नहीं, कि महात्मा बुद्ध के समय में यह एक स्वतन्त्र तथा समृद्ध राज्य के रूप में विद्यमान था। इसकी स्वतन्त्रता का अन्त साम्राज्यवाद की प्रवृत्ति द्वारा आ। कोशल देश के राजा विडूडभ (विरुद्धक— सेनजित् का पुत्र) न आक्रमण कर इसकी स्वतन्त्र सत्ता को किस प्रकार नष्ट कर दिया, इसपर हम पिछले अध्याय में प्रकाश डाल चुके हैं।

(२) लिच्छवि-राज्य

जिस प्रकार महात्मा बुद्ध के कारण कपिलवस्तु के शाक्यों का महत्त्व है, उसी कार वर्धमान महावीर के कारण वैशाली के लिच्छवि भी विशेष महत्त्व रखते हैं। जैन-धर्म के संस्थापक तीर्थंकर महावीर का प्रादुर्भाव वैशाली के राज्यसंघ में आ था। महावीर स्वयं लिच्छवि नहीं थे। वैशाली के शक्तिशाली राज्यसंघ में सम्मिलित ज्ञातृकगण में उनका जन्म हुआ था। ज्ञातृकगण वज्जि राज्यसंघ के अन्तर्गत था। यही कारण है, कि जैनों का धार्मिक साहित्य इस संघ के विषय में विशेष प्रकाश डालता है। बौद्ध-साहित्य से भी इसके विषय में बहुत-सी ज्ञातव्य बातें ज्ञात होती हैं।

शाक्यों की तरह लिच्छवि लोग भी क्षत्रिय थे। महात्मा बुद्ध के निर्वाण के पश्चात् उनके भस्मावशेष के एक हिस्से के लिये लिच्छवि लोगों ने भी इस आधार पर दावा किया था कि भगवान् क्षत्रिय थे, हम भी क्षत्रिय हैं, इसलिये हमें भी उनके

भस्मावशेष का भाग मिलना चाहिये, ताकि हम उसके सम्मान के लिये स्तूपों का निर्माण कर सकें। जैन-साहित्य के अनुसार भी लिच्छवि लोग क्षत्रिय वर्ण के ।

राजधानी वैशाली––लिच्छवि-राज्य की राजधानी वैशाली थी। प्राचीन भारतीय नगरों में वैशाली का बहुत महत्त्व था। इसी कारण प्राचीन ग्रन्थों में इसकी स्थापना के सम्बन्ध में अनेक कथायें उपलब्ध होती हैं। वाल्मीकि-रामायण के अनुसार इसका संस्थापक राजा इक्ष्वाकु का पुत्र विशाल था, जिसके कारण इसका नाम वैशाली पड़ा था। विष्णुपुराण के अनुसार वैशाली का संस्थापक कुमार विशाल ऐक्ष्वाकु-वंश के राजा तृणविन्दु का पुत्र था। वैशाली का संस्थापक चाहे कोई हो, पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह नगरी बहुत प्राचीन थी और प्राचीन नगरों में इसका महत्त्व बहुत अधिक था।

वैशाली का वर्णन अनेक प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। उससे सूचित होता है, कि यह नगर बहुत विशाल, विस्तृत और समृद्ध था। रामायण में वैशाली नगरी को रम्य, दिव्य और स्वर्गोपम, इन विशेषणों से विभूषित किया गया है। जातक-ग्रन्थों के अनुसार महात्मा बुद्ध के समय में वैशाली नगरी तीन प्राचीरों से, जो एक-दूसरे से एक गव्यूति की दूरी पर स्थित थे, घिरी हुई थी और इन प्राचीरों में तीन बड़े प्रवेश-द्वार थे, जो ऊंचे तोरणों व बुर्जों से सुशोभित थे। तिब्वती अनुश्रुति में वशाली का वर्णन निम्न प्रकार से किया गया है––'वैशाली तीन भागों में विभक्त थी। प्रथम भाग में सात हजार मकान थे, जिनके बुर्ज सोने के बने हुए थे। दूसरे भाग में चोदह हजार मकान थे, जिनके बुर्ज चांदी के बने हुए थे। तृतीय भाग में इक्कीस हजार मकान थे, जिनके बुर्ज तांबे के बने हुए थे। इन तीनों भागों में उच्च, मध्य और निम्न श्रेणियों के लोग अपनी स्थिति के अनुसार निवास करते थे। (राकहिल-लाइफ आफ बुद्ध पृ० ६२) ह्यु एनत्सांग ने भी वैशाली का उल्लेख किया है। वह लिखता ह कि "प्राचीन वैशाली नगर की परिधि साठ या सत्तर ली थी। पर प्रासादों से पूर्ण नगर के भाग की परिधि चार या पांच ली थी। ललितविस्तार में वैशाली का वर्णन करते हुए उसे अत्यन्त समृद्ध, वैभवशाली धनधान्य से भरपूर, अत्यन्त रमणीक, विविध प्रकार के मनुष्यों से पूर्ण, विविध प्रकार की इमारतों से सुसज्जित, बाग, पार्क, उद्यान, आदि से समलंकृत लिखा गया है।

इसी प्रकार अन्य प्राचीन ग्रन्थों में भी वैशाली का बहुत समृद्ध तथा वैभवशाली नगर के प में वर्णन किया गया है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि वैशाली बहुत ही उन्नत नगर था। लिच्छवि-गण की राजधानी होने के अतिरिक्त यह वज्जि

राज्यसंघ—जिसमें कुल मिलाकर आठ गणराज्य सम्मिलित थे—की भी राजधानी थी। इस दशा में यह बिलकुल स्वाभाविक है, कि यह बहुत ही उन्नत और समृद्ध दशा को पहुंच गया हो। आचार्य महावीर और महात्मा बुद्ध अपने धर्मों का चार करते हुए अनेक बार वहां आये थे। यही कारण है, कि इन धर्मों के साहित्य में वैशाली का अनेक बार उल्लेख आया है। वर्तमान समय में विहार न्त के मुजफ्फरपुर जिले में बसाड़ नामक एक गांव है, ो गण्डक नदी के बायें तट पर स्थित है। इसी स्थान पर प्राचीन समय में सिद्ध वैशाली नगरी विद्यमान थी।

सामाजिक जीवन—लिच्छवि लोगों का सामाजिक जीवन बहुत उन्नत था। वे एक दूसरे के साथ बहुत सहानुभूति रखते थे। जब कोई लिच्छवि बीमार पड़ता था, तो दूसरे उससे हालचाल पूछने के लिये आना अपना कर्तव्य समझते थे। यदि किसी के घर में कोई संस्कार या उत्सव हो, तो दूसरे लोग उसमें उत्साह के साथ सम्मिलित होते थे।

लिच्छवि लोगों को सौन्दर्य से ब त प्रेम था। वे अपनी वेषभूषा तथा बाह्य आकृति पर विशेष ध्यान देते थे। जिस समय महात्मा बुद्ध अन्तिम बार वैशाली पधारे, तो लिच्छवि लोगों ने उनका किस प्रकार स्वागत किया, इसका वर्णन अवलोकनीय है। हम उसे यहां उ धृत करते हैं—

"उन्होंने अपने शानदार और भव्य रथों को तैयार करने का हुकुम दिया और उनपर चढ़कर वैशाली से बाहर निकले। उनमें से कुछ नीले रंग के थे, उन्होंने कपड़े भी नीले पहने हुए थे, उनके आभूषण भी नीले रंग के थे। कुछ श्वेत रंग के थे, उनके वस्त्र और आभूषण भी श्वेत रंग के थे। कुछ लाल रंग के थे, उनके वस्त्र और आभूषण भी लाल रंग के थे। कुछ पीले रंग के थे, उनके वस्त्र और आभूषण भी पीले रंग के थे।" महापरिनिर्वाणसूत्र से यह उद्धरण लिया गया है। परन्तु इसी प्रकार का वर्णन अंगुत्तरनिकाय में भी उपलब्ध होता है। महावस्तु में लिच्छवियों के इन्हीं रंगों का और भी विशद रूप से वर्णन किया गया है—"कुछ लिच्छवि लोग हैं, जिनके घोड़े नीले रंग के हैं। उनके रथ, रश्मियां, चाबुक, दण्ड, वस्त्र, आभूषण, पगड़ी, छतरी, तलवार, रत्न, जूता आदि प्रत्यक वस्तु नीले रंग की हैं।" इसी प्रकार पीत, मञ्जिष्ठ, लाल, श्वेत, हरे और रंग-बिरंगे लिच्छवियों का वर्णन महावस्तु में पाया जाता है। कई विद्वानों ने कल्पना की है, कि लिच्छवियों का इन विविध रंगों के वस्त्र, आभूषण आदि पहनना उनके आन्तरिक श्रेणिभेद को सूचित करता है। पर यह भी सम्भव है, कि वे केवल रंगों के प्रेम के कारण ही इस प्रकार विविध रंगों को अपनाते हों।

तपस्यामय जीवन—लिच्छवि लोगों का जीवन बहुत तपस्यामय होता था। मगध के प्रधान मन्त्री वत्सकार ने जब उनपर आक्रमण के उपाय के सम्बन्ध में महात्मा बुद्ध से पूछा, तो उन्होंने उत्तर देते हुए कहा—"हे भिक्खुओ, इधर इन लिच्छवियों की तरफ देखो। ये कितने मेहनती और कष्ट सहन करनेवाले हैं। इनका जीवन कितना कठोर है, ये सोते समय लकड़ी के टुकड़ों को ही तकिये के स्थान पर प्रयोग में लाते हैं। धनुविद्या में वे कितने उत्साही हैं। मगधराज वैदेहीपुत्र अजातशत्रु उनमें कोई दोष नहीं पा सकता। परन्तु, हे भिक्खुओ, यदि भविष्य में लिच्छवि लोग नाजुक हो जावें, उनके हाथ और पैर कोमल हो जावें वे सूर्य के उदय होने तक रुई के नरम-नरम गदेलों पर सोने लग जावें, तब इसमें सन्देह नहीं कि वैदेहीपुत्र अजातशत्रु को उनमें दोष नजर आ जावेंगे और उसे उनपर आक्रमण करने के लिये अवसर प्राप्त हो जायेगा।" निस्सन्देह, महात्मा बुद्ध के समय में लिच्छवि लोग बहुत तपस्यामय तथा कठोर जीवन व्यतीत करते थे। यही कारण है कि उनपर आक्रमण करने का साहस कोई पड़ोसी राज्य नहीं करता था।

यद्यपि लिच्छवि लोग पूर्णतया निरामिषभोजी नहीं थे, पर मांसभक्षण को उन्होंने मर्यादित अवश्य किया हुआ था। वे चान्द्रमास की अष्टमी, चतुर्दशी, अमावस्या और पूर्णमासी के अतिरिक्त अन्य तिथियों में पशुहिंसा करना पाप समझते थे।

शिक्षा—लिच्छवि लोगों को शिक्षा से बहुत प्रेम था। वे विद्याध्ययन के लिए दूर-दूर देशों में जाया करते थे। महालि नाम का एक लिच्छविकुमार विविध विद्याओं और शिल्पों का अध्ययन करने के लिये तक्षशिला गया था। उसने तक्षशिला में सम्पूर्ण विद्याओं और शिल्पों में प्रवीणता प्राप्त कर वैशाली में एक शिक्षणालय की स्थापना की और पांच सौ कुमारों को शिक्षित किया। इन पांच सौ कुमारों ने भी विद्यादान का क्रम जारी रखा। इस प्रकार बहुत शीघ्र ही सम्पूर्ण लिच्छवि-राज्य में शिक्षा का विस्तार हो गया।

विवाह-मर्यादा—शाक्यों की तरह लिच्छवि लोग भी अपने वंश की शुद्धता और कुलीनता को बड़ा महत्त्व देते थे। यही कारण है कि वे अपनी कन्या का लिच्छवि-भिन्न कुमार के साथ विवाह नहीं करते थे। लिच्छवियों में भी परस्पर-विवाह में अनेक रुकावटें थीं। तिब्बती अनुश्रुति के अनुसार हमें ज्ञात होता है, कि वैशाली के लोगों में यह नियम था, कि प्रथम भाग की कन्या का विवाह प्रथम भाग में ही हो सके, द्वितीय व तृतीय भाग में नहीं। द्वितीय भाग में उत्पन्न कन्या

का विवाह प्रथम और द्वितीय भाग में हो सके, तृतीय में नहीं। तृतीय विभाग में उत्पन्न कन्या का विवाह तीनों भागों में हो सके। पर वैशाली से बाहर किसी कन्या का विवाह सम्भव नहीं था।" तिब्बती अनुश्रुति के इस उद्धरण से यह कल्पना कर सकना बिलकुल स्वाभाविक है कि वैशाली के तीन भागों का अभिप्राय तीन वर्णों से है। प्राचीन भारतीय मर्यादा के अनुसार ब्राह्मण-कन्या का विवाह केवल ब्राह्मणकुमार से ही हो सकता था। पर क्षत्रिय-कन्या का विवाह ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों वर्णों में हो सकता था। इसी प्रकार वैश्य-कन्या का विवाह ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य--इन तीनों वर्णों में हो सकता था। इसे अनुलोम-विवाह कहा जाता था।

लिच्छवि लोग स्त्रियों का बड़ा आदर करते थे। उनमें स्त्रियोंका सतीत्व पूर्णतया सुरक्षित था। यही कारण है, कि महात्मा बुद्ध ने उनके सम्बन्ध में कहा था--"लिच्छवि-जाति की कोई भी महिला या कन्या बलात्कार द्वारा प्रतिरुद्ध व अपहृत नहीं की जा सकती।"

मृतक-संस्कार--लिच्छवि लोगों में मृतक-संस्कार का तरीका बहुत अद्भुत था। प्राचीन भारतवर्ष में प्रायः मृतक शरीरों को जलाने की प्रथा विद्यमान थी। पर लिच्छवि लोग जलाने के अतिरिक्त अपने मुर्दों को जमीन में भी गाड़ते थे। इतना ही नहीं, वर्तमान समय के पारसियों की तरह उनमें यह भी प्रथा थी कि वे अपने मृत शरीरों को खुला छोड़ देते थे, ताकि पक्षी-पशु उनका स्वच्छन्द रूप से भक्षण कर सकें।

उत्सव--लिच्छवि लोग स्वभाव से ही बड़े विनोदी और मौजी थे। यही कारण है, कि अपने उत्सवों को वे बड़ी धूमधाम के साथ मनाते थे। बौद्ध-साहित्य में लिच्छवियों के एक उत्सव का वर्णन आता है, जिसे 'सब्बरत्तित्तारो' लिखा गया है। इसमें खूब नाचना और गाना होता था, बाजे बजते थे, तुरही, ढोल तथा अन्य बाजे प्रयोग में लाये जाते थे।

शासन-पद्धति--लिच्छवि-राज्य की शासन-पद्धति गणतन्त्र थी। उसमें कोई वंशक्रमानुगत राजा नहीं होता था। राज्य की शासन-शक्ति लिच्छवि जनता में निहित थी। कौटलीय अर्थशास्त्र में लिच्छवि-राज्य को 'राजशब्दोपजीवी संघ' कहा गया है। इसका अभिप्राय यह है, कि लिच्छवि लोगों में प्रत्येक अपने को 'राजा' समझता था। ललितविस्तार से 'राजशब्दोपजीवी' शब्द का अर्थ भली-भांति स्पष्ट हो जाता है। वहां लिखा है--वैशाली के निवासियों में उच्च, मध्य, वृद्ध, ज्येष्ठ आदि के भेद का विचार नहीं किया जाता। वहां प्रत्येक आदमी

अपने विषय में यही समझता है कि 'मैं राजा हूं, मैं राजा हूं। कोई किसी से छोटा बनना स्वीकृत नहीं करता ।'

लिच्छवि-राज्य की राजसभा के अधिवेशन सन्थागार में होते थ । इस सभा में कितने लिच्छवि 'राजा' सम्मिलित होते थे, इसका निर्देश भी बौद्ध-साहित्य में मिलता है। एकपण्ण जातक में लिखा है, कि वैशाली में जो राजा राज्य करते हैं, उनकी संख्या सात हजार सात सौ सात है। साथ ही, राजाओं के साथ शासन करनेवाले उपराजा, सेनापति और भाण्डागारिकों की संख्या भी इतनी ही (अर्थात् इनमें से प्रत्येक सात हजार सात सौ सात) है। चुल्लकलिङ्ग जातक में लिखा है, कि सात हजार सात सौ सात लिच्छवि राजा वैशाली में रहते थे। वे सब परस्पर विवाद तथा प्रश्नोत्तर करते रहते थे। अट्ठकथा में भी लिच्छवियों के इतने ही राजा, उपराजा और सेनापति लिखे हैं। लिच्छवियों के सात हजार सात सौ सात राजाओं, उपराजाओं, सेनापतियों और भाण्डागारिकों का क्या अभिप्राय है, इस प्रश्न पर ऐतिहासिकों में मतभेद है। कुछ के विचार में इस संख्या का कोई विशेष महत्व नहीं है। यह केवल इतना ही सूचित करती है, कि लिच्छवि-राज्य में शासन करनेवाली श्रेणि बहुत बड़ी थी। कुछ ऐतिहासिकों का यह विचार है, कि वैशाली में सात हजार सात सौ सात शासक-परिवार थे। वैसे तो वैशाली की आबादी बहुत अधिक थी, क्योंकि बौद्ध-साहित्य में यह वर्णन आता है, कि जब महात्मा बुद्ध वहां यात्रा करते हुए गये, तो १६८००० आदमी उनका स्वागत करने के लिये आये। इससे यह स्पष्ट है, कि वैशाली की आबादी बहुत अधिक थी। वैशाली जैसे महान् और प्रख्यात नगर की आबादी यदि लाखों में हो, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। इस दशा में यही कल्पना ठीक प्रतीत होती है, कि वैशाली में सात हजार सात सौ सात कुलीन लिच्छवि-परिवार निवास करते थे, जिनमें शासन-शक्ति निहित थी। वे सब वैशाली के सन्थागार में एकत्रित हो शासन-कार्य करते थे। वे अच्छे जमींदार भी होते थे, इसलिये यदि उनके साथ उपराजा, सेनापति और भाण्डागारिक भी हों, तो यह आश्चर्य की बात नहीं है।

इन राजाओं का राज्याभिषेक भी होता था। क्योंकि प्रत्यक लिच्छवि अपने को राजा समझता था, इसलिये उन सबका राज्याभिषेक होना भी आवश्यक था।

राज्य में एक शासनाधिकारी होता था, जिसे नायक कहते थे। इस नायक की नियुक्ति निर्वाचन द्वारा होती थी। सम्भव है, कि यह नायक ही लिच्छवि-

राजाओं में प्रधान व राष्ट्रपति का कार्य करता हो। सम्भवतः इसका कार्य लिच्छवि राजसभा के नियमों को क्रियारूप में परिणत करना होता था।

न्याय-व्यवस्था—लिच्छवि-राज्य की न्याय-व्यवस्था बड़ी अद्भुत थी। अभियुक्त लिच्छवि को पहले विनिच्चय महामात्त (विनिश्चय महामात्र) नामक कर्मचारी के सम्मुख उपस्थित किया जाता था। इस महामात्त का कार्य यह होता था, कि वह अभियुक्त पर कि े गये आरोप की जांच करे। यदि तो विनिच्चय महामात्त अभियुक्त को निरपराधी समझे, तो वह उसे छोड़ देता था। अन्यथा वह उसे वोहारिक व व्यावहारिक नामक कर्मचारी के सम्मुख उपस्थित करता था। विनिच्चय महामात्त को यह अधिकार नहीं था, कि वह अभियुक्त को सजा दे सके। व्यावहारिक यदि अभियुक्त को निरपराधी समझे, तो उसे छोड़ सकता था। पर दण्ड देने का अधिकार उसे भी नहीं था। अपराधी होने की दशा में व्यावहारिक अभियुक्त को सुत्तधर व सूत्रधर नामक कर्मचारी के सम्मुख उपस्थित करता था। सूत्रधर भी अभियुक्त को छोड़ सकते थे। पर यदि वे उसे अपराधी पावें, तो अट्ठकुलक नामक कर्मचारी के सम्मुख पेश करते थे। अट्ठकुलक के बाद अभियुक्त को क्रमशः सेनापति, उपराजा और राजा के सम्मुख उपस्थित किया जाता था। राजा को भी स्वयं दण्ड देने का अधिकार नहीं था। वह 'पवेणिपोत्थक' नामक कर्मचारी के सामने अभियुक्त को पेश करता था। स प्रकार इतने राजकर्मचारियों के सम्मुख अपराधी साबित होने के अनन्तर ही किसी अभियुक्त को दण्ड मिल सकता था। अभि ुक्त को छूटने के अवसर तो बहुत अधिक थे, पर दण्ड तभी मिल सकता था, जब उसका अपराध पूर्णतया साबित हो जावे।

लिच्छवियों का यह शक्तिशाली राज्य समीप के साम्राज्यवा ी राजाओं की दृष्टि में कांटे की तरह चुभ रहा था। जिस समय मगध के सम्राटों ने अपनी शक्ति का विस्तार गंगा के उत्तर में करना प्रारम्भ किया, ो लिच्छवि-राज्य देर तक उनका सामना नहीं कर सका। लिच्छवि-राज्य की स्वतन्त्रता का किस प्रकार विनाश हुआ, इस पर पहले का श डाला जा चुका है।

(३) विदेह-राज्य

मिथिला का विदेह-राज्य भारतीय इतिहास में बहुत प्राचीन है। ह्मण-न्थों और उपनिषदों में इसका उल्लेख आता है। इस देश के राजा जनक वैदिक साहित्य और अध्यात्मविद्या के ब त भारी पण्डित होते थे। बृहदारण्यक उपनिषद् में विदेह के राजा जनक की परिषद में अध्यात्मविद्या-सम्बन्धी विवादों

का उल्लेख बड़े विस्तार के साथ किया गया है। रामायण, महाभारत और पुराणों में भी विदेह के राजाओं का वर्णन आता है। बौद्ध-साहित्य में भी विदेह-राज्य के अनेक राजाओं का वर्णन मिलता है। जातक-ग्रन्थों में विदेह के राजाओं के सम्बन्ध में अनेक कथायें लिखी गई हैं।

इन सब प्रमाणों से ज्ञात होता है, कि विदेह-राज्य में पहले राजतन्त्र-शासन विद्यमान था। प्राचीन वैदिक काल, रामायण-काल तथा महाभारत-काल में विदेह में वंशक्रमानुगत राजा होते थे। पर बौद्ध-काल में इस देश में राजतन्त्र-शासन का अन्त हो गणतन्त्र-शासन की स्थापना हो चुकी थी। भारत के विविध राज्यों में भी भिन्न-भिन्न समयों में शासन-विधान में परिवर्तन होते रहे हैं, यह बात ध्यान देने योग्य है। कुरु, पाञ्चाल आदि राज्यों में प्राचीन समय में वंश-क्रमानुगत राजाओं का शासन था, पर कौटलीय अर्थशास्त्र के समय में उनमें गणराज्य स्थापित हो चुका था। यही विदेह-राज्य में हुआ। राजतन्त्र से गणतन्त्र में यह परिवर्तन किस प्रकार आया, इस सम्बन्ध में हमें जो निर्देश मिलता है, उसका उल्लेख पहले किया जा चुका है।

विदेह-राज्य भी वज्जि-राज्यसंघ में सम्मिलित था। जिस समय मगध-राज अजातशत्रु ने अपने साम्राज्य का विस्तार करते हुए उस पर आक्रमण किया, तभी उसकी स्वतन्त्रता का अन्त आ।

(४) वज्जि-राज्यसंघ

लिच्छवि, विदेह और अन्य छः गणराज्यों से मिलकर एक संघ बना हुआ था, जिसे वज्जि-राज्यसंघ कहते थे। लिच्छवि और विदेह के अतिरिक्त स संघ में जो राज्य सम्मिलित थे, उनमें से कुण्डग्राम के ज्ञातृक गण के सम्बन्धमें हमें जैन-साहित्य से विशेष परिचय मिलता है। जैन-धर्म के संस्थापक वर्धमान महावीर ज्ञातृक-जाति के क्षत्रिय थे और ज्ञातृक गण में उत्पन्न हुए थे। उनका पिता सिद्धार्थ ज्ञातृक-गण के प्रमुख नेताओं में एक था। सलिये जैन-साहित्य में कुण्ड-ग्राम के ज्ञातृक-राज्य का विशेष रूप से उल्लेख आना सर्वथा स्वाभाविक है।

ज्ञातृकराज्य के शासन के सम्बन्ध में डा० हार्नले ने जैन-साहित्य के आधार पर इस प्रकार लिखा है—वहां का शासन एक सभा (सीनेट) द्वारा होता था, जिसमें क्षत्रिय-परिवारों के मुख्य नेता सम्मिलित होते थे। इस सभा के अध्यक्ष को राजा कहते थे, जो उपराजा और सेनापति की सहायता से शासन का संचालन करता था।

ज्ञातृक-राज्य के निवासी आचार्य पार्श्वनाथ के अनुयायी थे। उनका जीवन बहुत पवित्र था। वे किसी प्राणी को हिंसा नहीं करते थे। वे मांस नहीं खाते थे।

वज्जि-राज्यसंघ के--जिसमें लिच्छवि, विदेह और ज्ञातृक-राज्यों के अतिरिक्त अन्य भी पांच राज्य सम्मिलित थे--शासन का स्वरूप क्या था, इस सम्बन्ध में एक ब त महत्त्वपूर्ण सन्दर्भ महापरिनिब्बानसुत्त में उपलब्ध होता है। जिस समय मगधराज अजातशत्रु ने वज्जि-राज्यसंघ पर आक्रमण करने के सम्बन्ध में सलाह करने के लिये अपने प्रधानमन्त्री वत्सकार को महात्मा बुद्ध के पास भेजा, तो उन्होंने अपने शिष्य आनन्द को सम्बोधन करके जो प्रवचन किया, उसका उल्लेख हम पिछले अध्याय में कर चुके हैं।

इस सन्दर्भ से वज्जिराज्यसंघ के शासन पर अच्छा प्रकाश पड़ता है, और इस पर यहां किसी प्रकार की टिप्पणी की आवश्यकता नहीं है।

वज्जि-संघ का अन्त मगधराज अजातशत्रु द्वारा किया गया, इसका वृत्तान्त पहले लिखा जा चुका है।

(५) मल्ल-राज्य

महात्मा बुद्ध के समय में मल्ल-जाति के क्षत्रियों के ो राज्य विद्यमान थे--कुशीनारा का मल्ल-राज्य और पावा का मल्ल-राज्य। बौद्ध-काल में मल्ल-राज्य के महत्त्व का अनुमान इसी बात से किया जा सकता है, कि इसकी गणना ोडश महाजनपदों में की गई है। मल्ल-राज्य बहुत प्राचीन हैं। महाभारत में इनका जिकर आता है। जिस समय पाण्डवों ने दिग्विजय की थी, तो भीमसेन पूर्व दिशा का विजय करते हुए मल्ल-राज्य भी गया था और उसके साथ भी उसका युद्ध हुआ था। महाभारत में अन्यत्र मल्लों का उल्लेख अंग, बंग और कलिंग के साथ किया गया है।

कुशीनारा का महत्त्व इसलिये बहुत अधिक है, क्योंकि महात्मा बुद्ध का स्वर्गवास (महापरिनिर्वाण) इसी नगरी में हुआ था। ऐसा प्रतीत होता है, कि महात्मा बुद्ध को इस नगर से विशेष स्नेह था और वे वहीं पर मरना चाहते थे। वे पावा में बीमार पड़े थे। पर अपनी अन्तिम लीला कुशीनारा में समाप्त करने की इच्छा से वे वहां पर चले आये थे। उन्होंने अपने प्रधान शिष्य आनन्द को विशेष प से मल्लों के पास यह सूचना देने के लिये भेजा था, कि महात्मा बुद्ध का परिनिर्वाण होनेवाला है, अतः मल्ल लोग उनसे मिल जावें।

"आनन्द ! कुशीनारा में जाकर कुशीनारावासी मल्लों को कहो—हे वाशिष्ठो, आज रात के पिछले पहर तथागत का परिनिर्वाण होगा। चलो वाशिष्ठो चलो, वाशिष्ठो, पीछे अफसोस मत करना कि हमारे ग्रामक्षेत्र में तथागत का परिनिर्वाण आ, लेकिन हम अन्तिम काल में तथागत का दर्शन न कर पा ।"

आनन्द ने कहा—अच्छा भगवन्।

"आयुष्मान् आनन्द चीवर पहिनकर, पात्रचीवर ले, अकेले ही कुशीनारा में प्रविष्ट ए। उस समय कुशीनारा के मल्ल किसी कार्य से सन्थागार (सभा-भवन) में जमा ए थे। तब आयुष्मान् आनन्द जहां कुशीनारा के मल्लों का सन्थागार था, वहां गये। जाकर उन्होंने मल्लोंको महात्मा बुद्ध का सन्देश सुना दिया।" मल्ल लोग किस प्रकार दुःखित हो महात्मा बुद्ध के अन्तिम दर्शन करने के लिये गये, सका अत्यन्त विस्तृत वर्णन महापरिनिव्वानसुत्त में उपलब्ध होता है।

जिस समय महात्मा बुद्ध के महापरिनिर्व्वाण का समाचार सुनाने के लिये आनन्द कुशीनारा गया, उस समय भी वे अपने सन्थागार में एकत्रित हो सभा कर रहे थे। इसी प्रसंग से मल्ल-राज्य के शासन-विधान के सम्बन्ध में कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण बातें भी ज्ञात होती हैं। लिच्छवि और शाक्य-राज्यों की तरह मल्लों में भी सन्थागार के होने में तो कोई सन्देह हो ही नहीं सकता। पर मल्लों के आ 'प्रमुखों' की सूचना भी महापरिनिव्वानसुत्त से मिलती है। मल्लों में आठ प्रमुख होते । सम्भवत. शासन का कार्य आ मुखों में निहित था, जो सन्थागार में किये गये निर्णयों को क्रिया में परिणत करते थे। इसी प्रकार 'पुरुष' नामक छोटे राज-कर्मचारियों का भी जिकर आता है, जो विविध कार्यों को सम्पादित करते थे।

कुशीनारा वर्तमान समय में गोरखपुर जिले में जहां कसिया नामी गांव है, वहां पर स्थित था। कसिया गोरखपुर से ३७ मील पूर्व में स्थित है। इस विषय पर ऐतिहासिकों में विवाद रहा है कि कसिया ही कुशीनारा था या नहीं। विन्सेन्ट ए० स्मिथ के अनुसार कुशीनारा नेपाल-राज्य की तराई में स्थित था। पर अब यह बात भलीभांति सिद्ध हो गई है, कि कसिया ही प्राचीन कुशीनारा है। कारण. यह कि पुरातत्त्व-विभाग के अन्वेषणों से कसिया के समीप विद्यमान एक प्राचीन स्तूप के अन्दर एक ताम्रप उपलब्ध आ है, जिसपर निम्नलिखित वाक्य उत्कीर्ण है—

('परिनि) र्वाण—चैत्य-ताम्रपट्ट'

इस लेख के प्राप्त होने के पश्चात् कसिया को ही प्राचीन कुशीनारा स्वीकृत कर लिया गया है ।

मल्लों का दूसरा राज्य पावा में था। कनिंघम ने पावा को गोरखपुर जिले के पडरौना के साथ मिलाया है, जो गण्डक नदी के तीर पर कुशीनारा से १२ मील उत्तर-पूर्व में स्थित है । महापरिनिब्बानसुत्त के अनुसार महात्मा बुद्ध ने अपने जीवन का अन्तिम भोजन इसी स्थान पर किया था और यहीं पर वे बीमार पड़ गये थे । बीमारी की दशा में ही वे एक दिन में पावा से कुशीनारा आ गये थे । कसिया और पडरौना में अन्तर केवल १२ मील है । इसलिये सम्भव है, कि पडरौना के समीप ही कहीं प्राचीन पावा नगरी स्थित हो । कुशीनारा और पावा के अतिरिक्त मल्लों के अन्य भी अनेक नगर थे । चुल्लवग्ग में मल्लों के एक अन्य नगर का जिक्र आता है, जिसका नाम अनूपिया था। कुछ समय के लिये महात्मा बुद्ध इस नगर के विहार में भी रहे थे । अंगुत्तरनिकाय में एक अन्य मल्लनगर का उल्लेख आता है, जिसे उरुवेलकप्प कहते थे । यहां भी महात्मा बुद्ध ने कुछ समय निवास किया था। अनूपिया व उरुवेलकप्प कोई पृथक् राज्य नहीं थे । ये मल्लराज्यों के अन्तर्गत नगरमात्र थे ।

गंगा के उत्तर में विद्यमान अन्य अनेक गणराज्यों की तरह मल्लराज्यों का अन्त भी मगधराज अजातशत्रु द्वारा हुआ था ।

(६) अन्य गणराज्य

बौद्ध-साहित्य में जिन गणराज्यों का बार-बार उल्लेख आया है, उनका वर्णन हम समाप्त कर चुके हैं । पर उनके अतिरिक्त कुछ अन्य गणराज्य भी हैं, जिनका एक-दो बार उल्लेख आता है । वे निम्नलिखित हैं—

(१) अल्लकप्प के बुली, (२) देवदह और रामगाम के कोलिय, (३) पिप्पलिवन के मोरिय (४) सुंसुमार पर्वत के भग्ग, (५) केसपुत्र के कालाम।

महात्मा बुद्ध के महापरिनिब्बान के पश्चात् इन गणराज्यों की ओर से यह मांग पेश की गई थी, कि हमें भी भगवान् के भस्मावशेष का अंश मिलना चाहिये, ताकि हम उसके उचित सम्मान के लिये स्तूप आदि का निर्माण कर सकें । पिप्पलिवन के मोरियों के अतिरिक्त अन्य राज्यों की मांग पूर्ण भी हो गई थी । पर मोरिय लोग बहुत पीछे पहुंचे थे, तब तक बुद्ध के शरीर के भस्मावशेष बांटे जा चुके थे । उन्हें राख के अंगारों को लेकर ही सन्तुष्ट होना पड़ा था ।

बौद्ध-साहित्य में कुछ ऐसी कथायें भी उपलब्ध होती हैं, जिनमें कोलिय, मोरिय आदि क्षत्रिय जातियों की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है। उन्हें उद्धृत करना इस तिहास के लिये विशेष उपयोगी प्रतीत नहीं होता। ये सब राज्य भी गंगा के उत्तर और गण्डक के पूर्व में विद्यमान थे। ये छोटे-छोटे नगर-राज्यों के रूप में थे। इनकी जनता सन्थागार में एकत्रित होकर अपने सामूहिक और शासन-सम्बन्धी विषयों का निर्णय किया करती थी। प्राचीन ग्रीक नगर-राजों की तरह इनका विस्तार भी बहुत अधिक नहीं था। छोटी-छोटी बस्तियों ने ही राज्य का रूप धारण किया हुआ था। इन राज्यों के परस्पर युद्ध भी होते रहते थे। एक जातक-कथा में शाक्यों और कोलियों के परस्पर झगड़ों का वर्णन किया गया है।

ये गणराज्य भी मगध के बढ़ते हुए साम्राज्यवाद द्वारा नष्ट किये गये।

सहायक ग्रन्थ

Geigor : Mahavanso

Wilson : Vishnu Purana

Sumangala Vilasini

Digha Nikaya

Mahavastu

Lefnann : Lalita Vistara

Cowell : The Jataka

Watters : On Yuan Chwang

Rhys Davids : Buddhist India

Rhys Davids : Dialogues of Buddha.

Jacobi : Kalpa Sutra

Fausball : Jataka

Rockhill : Life a of the Buddha

Beal : Romantic Legend of Shakya Buddha

Cowell and Neil : Divyavadana

Samyutta Nikaya (Pali Text Society)

Hoernle : Uvasagadasao.

Smith : Early History of India.

राहुल सांकृत्यायन : बुद्धचर्या

महाभारत

वाल्मीकि-रामायण

चौदहवां अध्याय

बौद्ध-युग का भारत

(१) गणराज्यों की कार्यविधि

मगध के सम्राटों ने अपने साम्राज्य का विस्तार करते हुए जिन अनेक जनपदों को विजय किया था, उनमें से बहुत-से ऐसे थे, जिनमें गणतन्त्र-शासन स्थापित था। वज्जि-संघ, मल्ल, शाक्य, भग्ग, मोरिय आदि जनपद गणराज्य ही थे। महात्मा बुद्ध का प्रादुर्भाव एक गण व संघराज्य में ही हुआ था। उनका जीवन संघ के वातावरण में ही व्यतीत हुआ था। यही कारण है, कि जब उन्होंने अपने नये धार्मिक सम्प्रदाय की स्थापना की, तो उसे 'भिक्षु-संघ' नाम दिया। अपने धार्मिक संघ की स्थापना करते हुए स्वाभाविक रूप से उन्होंने अपने समय में विद्यमान राजनीतिक संघों को दृष्टि में रखा, और उन्हीं के नियमों व कार्यविधि को अपनाया। बौद्ध-साहित्य द्वारा यह बात भलीभांति स्पष्ट है। जिस समय मगधराज अजातशत्रु का प्रधान मन्त्री वर्षकार बुद्ध के पास वज्जि-राज्यसंघ पर आक्रमण करने के सम्बन्ध में परामर्श करने के लिये गया, उस समय बुद्ध ने सात अपरिहाणीय धर्मों का उपदेश दिया, जिनके पालन करते हुए वज्जियों को जीत सकना उनकी सम्मति में सम्भव नहीं था। वर्षकार के लौट जाने के कुछ देर बाद बुद्ध ने भिक्षुओं को एकत्रित कर उन्हीं सात अपरिहाणीय धर्मों का कुछ परिवर्तन के साथ उपदेश किया। इस प्रसंग में महापरिनिब्बान सुत्तान्त में लिखा है—

"तब भगवान् ने वत्सकार ब्राह्मण के जाने के थोड़ी ही देर बाद आयुष्मान् आनन्द को आमन्त्रित किया।

"जाओ, आनन्द! तुम जितने भिक्षु राजगृह के आसपास विचरत हैं, उन सबको उपस्थानशाला में एकत्र करो।

"अच्छा, भगवन्!

"भगवन्! भिक्षुसंघ को एकत्र कर दिया। अब आप आज्ञा करें।"

"तब भगवान् आसन से उठकर जहां उपस्थानशाला थी, वहां गये और बिछे

हुए आसन पर बैठ गये। बैठकर भगवान् ने भिक्षुओं को सम्बोधन करके कहा—

'भिक्षुओ! तुम्हें सात अपरिहाणीय धर्मों का उपदेश करता हूं। उनका ध्यान से श्रवण करो।'

"कहिये, भगवन्!

"भिक्षुओ, जब तक भिक्षु लोग एक साथ एकत्रित होकर बहुधा अपनी सभायें करते रहेंगे, तब तक भिक्षुओ! भिक्षुओं की वृद्धि समझना, हानि नहीं।"

"जब तक भिक्षुओ! भिक्षु लोग एक हो बैठक करते रहेंगे, एक हो उत्थान करते रहेंगे और एक हो संघ के कार्यों को सम्पन्न करते रहेंगे, तब तक भिक्षुओं की वृद्धि ही समझना, हानि नहीं।"

"जब तक भिक्षुओ! भिक्षु लोग जो अपने संघ में विहित हैं, उसका उल्लंघन नहीं करेंगे, जो विहित नहीं है, उसका अनुसरण नहीं करेंगे, जो पुराने भिक्षुओं के नियम चले आ रहे हैं, उनका पालन करते रहेंगे, तब तक उनकी वृद्धि ही होगी, हानि नहीं।"

"जब तक भिक्षुओ! भिक्षु लोग जो अपने में बड़े धर्मानुरागी, चिरप्रव्रजित, संघ के पिता, संघ के नायक, स्थविर भिक्षु हैं, उनका सत्कार करते रहेंगे, उन्हें वे बड़ा मानकर उनकी पूजा करते रहेंगे, उनकी बात को सुनने तथा ध्यान देने योग्य समझते रहेंगे, तब तक उनकी वृद्धि ही होगी, हानि नहीं।'

"जब तक भिक्षुओ! भिक्षु लोग पुनः-पुनः उत्पन्न होनेवाली तृष्णा के वश में नहीं पड़ेंगे, तब तक उनकी वृद्धि ही होगी, हानि नहीं।

"जब तक भिक्षुओ! भिक्षु लोग वन की कुटियों में निवास करने की इच्छावाले रहेंगे, तब तक उनकी वृद्धि ही होगी, हानि नहीं।"

"जब तक भिक्षुओ! भिक्षु लोग यह स्मरण रखेंगे, कि भविष्य में सुन्दर, ब्रह्मचारी-संघ में सम्मिलित हों और सम्मिलित हुए लोग ब्रह्मचारी रहते हुए सुख से निवास करें, तब तक भिक्षु-संघ की वृद्धि होगी, हानि नहीं।

"भिक्षुओ! जब तक ये सात अपरिहाणीय धर्म भिक्षुओं में रहेंगे, जब तक भिक्षु इन सात अपरिहाणीय धर्मों में दिखाई देंगे, तब तक भिक्षु-संघ की वृद्धि ही होगी, हानि नहीं।"

इस उद्धरण से स्पष्ट है, कि अपने संघ के लिये महात्मा बुद्ध ने जिन सात अनुल्लंघनीय धर्मों का प्रतिपादन किया है, वे प्रायः वही हैं, जिनका महत्त्व वज्जिसंघ में विद्यमान था। इनमें से पहले चार धर्म तो बिल्कुल वे ही हैं।

यह बात बिल्कुल स्पष्ट तथा स्वाभाविक है, कि महात्मा बुद्ध अपने धार्मिक

संघ का निर्माण करते हुए अपने समय के प्रचलित राजनीतिक संघों का अनुसरण करें। इसमें कोई सन्देह नहीं कि महात्मा बुद्ध ने अपने धार्मिक संघ की विशेष परिस्थितियों और आवश्यकताओं के अनुसार अनेक नवीन नियमों का भी निर्माण किया होगा। पर उनके स्वरूप, कार्यविधि आदि में राजनीतिक संघों से बहुत कुछ सादृश्य होगा, यह बात सर्वथा स्पष्ट और स्वाभाविक है। राजनीतिक संघों की कार्यविधि से हमें विशेष परिचय नहीं है, पर सौभाग्यवश भिक्षुसंघ की कार्यविधि-का वर्णन बड़े विस्तार के साथ बौद्ध-ग्रन्थों में किया गया है। उसी को दृष्टि में रखकर हम यहां संघराज्यों की कार्यविधि पर प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे।

भिक्षु-संघ के सदस्यों के बैठने के लिये पृथक्-पृथक् आसन होते थे। आसनों की व्यवस्था करने के लिये एक पृथक् कर्मचारी होता था, जिसे 'आसनप्रज्ञापक' कहते थे। वैशाली की महासभा में अजित नाम के भिक्षु को इस पद पर नियुक्त किया गया था। चुल्लवग्ग में लिखा है—

"उस समय अजित नाम का दसवर्षीय (जिसकी उपसंपदा हुए दश वर्ष व्यतीत हो गये हों) भिक्षु भिक्षु-संघ का प्रतिमोक्षोद्देशक (उपोसथ के दिन भिक्षु नियमों की आवृत्ति करनेवाला) था। संघ ने आयुष्मान् अजित को ही स्थविर भिक्षुओं का आसनप्रज्ञापक नियत किया।"

संघ में जिस विषय पर विचार होता हो, उसे पहले प्रस्ताव के रूप में पेश किया जाता था। पर प्रस्ताव को उपस्थित करने से पूर्व पहले उसकी सूचना देनी होती थी। इस सूचना को 'ज्ञप्ति' कहते थे। ज्ञप्ति के बाद प्रस्ताव को बाकायदा उपस्थित किया जाता था। प्रस्ताव के लिये बौद्ध-साहित्य में पारिभाषिक शब्द 'प्रतिज्ञा' है। जो प्रस्ताव (प्रतिज्ञा) के पक्ष में होते थे, वे चुप रहते थे। जो विरोध में होते थे, वे अपना विरोध प्रकट करते थे। यदि प्रस्ताव उपस्थित होने पर संघ चुप रहे, तो उसे तीन बार पेश किया जाता था। तीनों बार संघ के चुप रहने पर उस प्रस्ताव को स्वीकृत समझ लिया जाता था। विरोध होने पर बहु-सम्मति द्वारा निर्णय करने की प्रथा थी। हम इस प्रक्रिया को उदाहरणों द्वारा स्पष्ट करते हैं। राजगृह की महासभा में आयुष्मान् महाकाश्यप सभा को सम्बोधन करके कहते हैं :—

"भिक्षुओ, संघ मेरी बात को सुने। यदि संघ को पसन्द हो, तो संघ इन पांच सौ भिक्षुओं को राजगृह में वर्षावास के समय धर्म और विनय का संगायन करने के लिये नियुक्त करे। इस काल में अन्य भिक्षु-लोग राजगृह में न जावें। यह ज्ञप्ति (सूचना) है।

"भिक्षुओ, संघ मेरी बात को सुने। यदि संघ को पसन्द हो, तो संघ इन पांच सौ भिक्षुओं को राजगृह में वर्षावास के समय धर्म और विनय का संगायन करने के लिये नियुक्त करे। इस काल में अन्य भिक्षु लोग राजगृह में न जावें। जिस आयुष्मान् को पांच सौ भिक्षुओं का राजगृह में वर्षावास के समय धर्म और विनय का संगायन करने के लिये नियुक्त करना और इस काल में अन्य भिक्षुओं को राजगृह में न जाना पसन्द हो, वह चुप रहे। जिसको पसन्द न हो, वह बोले।"

दूसरी बार फिर इसी वाक्य को दुहराया गया। तीसरी बार फिर इसी वाक्य को दुहराया गया। उसके बाद महाकाश्यप ने कहा—

"संघ इन पांच सौ भिक्षुओं को राजगृह में वर्षावास के समय धर्म और विनय का संगायन करने के लिये नियुक्त करने तथा इस काल में अन्य भिक्षुओं को राजगृह में न जाने के प्रस्ताव से सहमत है। संघ को यह पसन्द है। इसलिये चुप है। यह मेरी धारणा है।"

महात्मा बुद्ध के समय में उन्हीं के आदेश से निम्नलिखित प्रस्ताव संघ के सम्मुख उपस्थित किया गया था—

"संघ मेरी बात को सुने। इस भिक्षु उबाल से संघ के बीच में एक अपराध के सम्बन्ध में प्रश्न किये गये। कभी यह अपराध को स्वीकार करता है। कभी उसका निषेध करता है। कभी परस्पर-विरोधी बातें कहता है। कभी दूसरों पर आक्षेप करता है। कभी जानता हुआ भी झूठ बोलता है। यदि संघ पसन्द करे, तो भिक्षु उबाल को 'तस्सपापीय्यसिका कम्म' का दण्ड दिया जावे। यह ज्ञप्ति (सूचना) है।

"संघ मेरी बात को सुने। इस भिक्षु उबाल से संघ के बीच में एक अपराध के सम्बन्ध में प्रश्न किये गये। कभी यह अपराध को स्वीकार करता है। कभी निषेध करता है। कभी परस्पर विरोधी बातें कहता है। कभी दूसरों पर आक्षेप क ता है। कभी जानता हुआ भी झूठ बोलता है। संघ निश्चय करता है कि इस भिक्षु उबाल को 'तस्सपापीय्यसिका कम्म' का दण्ड दिया जावे। जो भिक्षु इस भिक्षु उबाल को 'तस्सपापीय्यसिका कम्म' का दण्ड देने के पक्ष में हों, वे कृपया चुप रहें। जो इसके पक्ष में न हों, वे बोलें।

"फिर मैं इसी प्रस्ताव को दोहराता हूं—

"फिर तीसरी बार मैं इसी प्रस्ताव को दोहराता हूं।

"यह निश्चय हो गया कि इस भिक्षु उबाल को 'तस्सपापीय्यसिका कम्म' का दण्ड दिया जावे। इसीलिये संघ चुप है। यह मेरी धारणा है।"

इन दो उदाहरणों से यह भलीभांति स्पष्ट हो जाता है, कि भिक्षुसघों में कार्यविधि किस प्रकार की थी, और किस ढंग से ज्ञप्ति तथा प्रतिज्ञा (प्रस्ताव) पेश किये जात थे।

भिक्षुसंघ के लिये 'कोरम' (quorum) का भी नियम था। संघ की बैठक के लिये कम से कम बीस भिक्षुओं की उपस्थिति आवश्यक थी। यदि कोई कार्य पूरे कोरम के बिना किया जावे, तो उसे मान्य नहीं समझा जाता था।

गणपूरक नाम के एक भिक्षुकर्मचारी का कार्य ही यह होता था, कि वह कोरम को पूरा करने का प्रयत्न करे। यह संघ के अधिवेशन के लिये जितने भिक्षुओं की आवश्यकता हो, उन्हें एकत्रित करता था। आजकल की व्यवस्थापिका-सभाओं में जो कार्य ह्विप (whip) करते हैं, प्रायः यह गणपूरक पुराने भिक्षुसंघ में वही कार्य करता था।

जिन प्रस्तावों पर किसी को विप्रतिपत्ति नहीं होती थी, वे सर्वसम्मति से स्वीकृत समझे जाते थे। उनपर वोट लेने की कोई आवश्यकता नहीं समझी जाती थी। उनपर विवाद नहीं होता था। परन्तु यदि किसी प्रश्न पर मतभेद हो, तब उसके पक्ष और विपक्ष में भाषण होते थे और बहुसम्मति द्वारा उसका निर्णय किया जाता था। बहुसम्मति द्वारा निर्णय होने को 'ये भूयस्सिकम्' व 'ये भूयसीयम्' कहते थे। बौद्ध-ग्रन्थों में वोट के लिये 'छन्द' शब्द है। छन्द का दूसरा अर्थ स्वतन्त्र होता है। इससे यह ध्वनि निकलती है, कि वोट के लिये 'स्वतन्त्रता' को बहुत महत्त्व दिया जाता था।

वोट के लिये प्रयोग में आनेवाले टिकटों को 'शलाका' कहते थे। वोट लेने के लिये एक भिक्षु कर्मचारी होता था, जिसे 'शलाकाग्राहक' कहते थे, यह 'शलाका-ग्रहण' (वोट एकत्रित करना) का काम किया करता था।

शलाका-ग्राहक नियुक्त करते हुए निम्नलिखित बातों को ध्यान में रखा जाता था—

(१) जो अपनी रुचि के रास्ते न जावे
(२) जो द्वेष के रास्ते न जावे
(३) जो मोह के रास्ते न जावे
(४) जो भय के रास्ते न जावे
(५) जो पहले से पकड़े रास्ते न जावे

वर्तमान शब्दों में हम इन पांच बातों को इस प्रकार कह सकते हैं—

(१) जो नियमों के अनुसार कार्य करे, वोट लेते समय स्वच्छन्द आचरण न करे ।

(२) जो निष्पक्षपात हो, किसी पक्ष से द्वेष न करता हो ।

(३) जो किसी से पक्षपात न करे, किसी पक्ष से मोह न रखता हो ।

(४) जो किसी शक्तिशाली दल या व्यक्ति के भय में न आ सकता हो ।

(५) जिसकी सम्मति पहले से ही बनी हुई न हो ।

शलाका-ग्राहक को नियुक्त करने के लिये निम्नलिखित पद्धति का अनुसरण किया जाता था—

जिस व्यक्ति का नाम शलाका-ग्राहक के पद के लिये पेश किया जाता हो, पहले उससे यह स्वीकृति ले ली जाती थी कि यदि संघ उसे नियुक्त करे, तो वह पद को स्वीकृत कर लेगा । उसके पश्चात् कोई योग्य भिक्षु निम्नलिखित प्रस्ताव संघ के सम्मुख उपस्थित करता था—

"संघ मेरी बात को सुने । यदि संघ पसन्द करे, तो अमुक व्यक्ति को शलाका-ग्राहक पद के लिये नियुक्त किया जावे । यह ज्ञप्ति है ।"

इसके पश्चात् नियमानुसार प्रस्ताव (प्रतिज्ञा) उपस्थित किया जाता था ।

वोट लेने के तीन ढंग थे—(१) गूढक, (२) सकर्णजल्पक, (३) विवृतक । चुल्लवग्ग में इन तीनों पद्धतियों को इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—

(१) गूढक—शलाका-ग्राहक जितने पक्ष हों, उतने रंग की शलाकायें बनाता था । क्रम से भिक्षु उसके पास वोट देने के लिये आते थे । प्रत्येक भिक्षु को शलाका-ग्राहक बताता था, कि इस रंग की शलाका इस पक्ष की है, उन्हें जो पक्ष अभिमत हो, उसकी शलाका उठा लो । वोट देनेवाले के शलाका उठा लेने पर वह उसे कहता था, तुमने कौन-सी शलाका उठाई है, यह किसी दूसरे को न कहना ।

(२) सकर्णजल्पक—जब वोट देनेवाला भिक्षु शलाका-ग्राहक के कान में कहकर अपने मत को प्रगट करे, तो उसे 'सकर्णजल्पक' विधि कहा जाता था ।

(३) विवृतक—जब वोट खुले रूप में लिया जावे, तो विवृतक विधि होती थी ।

जिन प्रश्नों पर भिक्षुसंघ में मतभेद होता था, उनपर अनेक बार बहुत गरमागरम बहस हो जाती थी और निर्णय पर पहुंच सकना कठिन हो जाता था । उस दशा में संघ की उपसमिति बना दी जाती थी । इसे 'उद्वाहिका' या 'उब्ब-हिका' कहते थे । यह 'उद्वाहिका' विवादग्रस्त विषय पर भलीभांति विचार

कर उसका निर्णय करने में समर्थ होती थी। पर यदि इसमें भी परस्पर-विरोध शान्त न हो, तो 'ये भूयसीयम्' के अतिरिक्त निर्णय का अन्य कोई उपाय नहीं रहता था।

उद्वाहिका द्वारा किस प्रकार कार्य होता था, इसे स्पष्ट करने के लिये हम बौद्ध-साहित्य से एक उदाहरण उपस्थित करते है--

"तब उस विवाद के निर्णय करने के लिये संघ का अधिवेशन किया गया। पर उस विषय का निर्णय करते समय अनर्गल बहस होने लगी। किसी भी कथन का अर्थ स्पष्ट प्रतीत नहीं होता था। तब आयुष्मान् रेवत ने संघ के सम्मुख यह प्रस्ताव पेश किया--

'भगवन्, संघ मेरी बात को सुने। हमारे इस विषय को निर्णय करते समय अनर्गल विवाद उत्पन्न हो रहे हैं, किसी बात का भी अभिप्राय स्पष्ट नहीं हो रहा, यदि संघ को पसन्द हो, तो संघ इस विषय को उद्वाहिका (उपसमिति) के सुपुर्द करे।"

आयुष्मान् रेवत के प्रस्तावानुसार चार प्राचीनक भिक्षु और चार पावेयक भिक्षु चुने गये। प्राचीनक भिक्षुओं में आयुष्मान् सर्वकामी, आयुष्मान् साढ़, आयुष्मान् क्षुद्रशोभित और आयुष्मान् वार्षभग्रामिक को लिया गया। पावेयक भिक्षुओं में आयुष्मान् रेवत, आयुष्मान् संभूत साणवासी, आयुष्मान् यश काकंडपुत्त और आयुष्मान् सुमन लिये गये। तब आयुष्मान् रेवत ने संघ के सम्मुख प्रस्ताव उपस्थित किया:--

"भगवन्! संघ मेरी बात को सुने। हमारे इस विषय को निर्णय करते समय अनर्गल विवाद उत्पन्न हो रहे हैं, किसी बात का भी अभिप्राय स्पष्ट नहीं हो रहा है, यदि संघ को पसन्द हो, तो संघ चार प्राचीनक और चार पावेयक भिक्षुओं की उद्वाहिका को इस विवाद को शमन करने के लिये नियुक्त करे। यह ज्ञप्ति है। इसके बाद तीन बार प्रस्ताव उपस्थित किया गया और सबके सहमत होने के कारण उस विवादग्रस्त विषय को उद्वाहिका के सुपुर्द कर दिया गया।

संघ की वक्तृताओं तथा अन्य कार्य को उल्लिखित करने के लिये लेखक भी हुआ करते थे। महागोविन्द सुत्तांत (दीर्घनिकाय) के अनुसार "तातविंशदेव सुधम्मसभा में एकत्रित हुए और अपने-अपने आसनों पर विराजमान हो गये। वहां उस सभा में चार महाराज इस कार्य के लिये विराजमान थे, कि भाषणों तथा प्रस्तावों को उल्लिखित करे।" तातविंशदेवों की सभा में 'महाराज' की उपाधि से युक्त लेखकों के उपस्थित होने की कल्पना में आश्चर्य की कोई बात नहीं है।

मनुष्यों में जो संस्थायें होती हैं, देवों में भी उन्हीं की कल्पना की जाती है। उस समय बौद्ध-संघ तथा राजनीतिक संघों में इस प्रकार के सम्मानास्पद लेखक प्रस्तावों तथा भाषणों को उल्लिखित करने के लिये होते थे। इसीलिये देव-सभा में उनकी सत्ता कल्पित की गई थी।

यदि कोई वक्ता संघ में भाषण करते हुए वक्तृता के नियमों का ठीक प्रकार से पालन न करे, परस्पर-विरोधी बातें बोले, पहले कही हुई बात को दोहराये, कटु भाषण करे या इसी प्रकार कोई अन्य अनुचित बात करे, तो उसे दोषी समझा जाता था और इसके लिये उसे उत्तरदायी होना पड़ता था।

जो भिक्षु संघ के अधिवेशन में किसी कारण उपस्थित न हो सकें, उनकी सम्मति लिखितरूप से मांग ली जाती थी। यह आवश्यक नहीं होता था कि इन अनुपस्थित भिक्षुओं की सम्मति का निर्णय के लिये परिगणन अवश्य किया जावें पर उनकी सम्मति मांगना आवश्यक समझा जाता था। उनकी सम्मति से उपस्थित भिक्षुओं को अपनी सम्मति बनाने में सहायता मिल सके, इसीलिये यह व्यवस्था की गई थी।

बौद्ध-संघ की इस कार्यविधि का अनुशीलन करने से यह भलीभांति स्पष्ट हो जाता है, कि संघ एक अत्यन्त उन्नत तथा विकसित संस्था थी। कार्यविधि के नियमों की बारीकियों पर उसमें ध्यान दिया जाता था। यह हम पहले बता चुके हैं, कि बौद्धसंघ का निर्माण राजनीतिक संघों को सम्मुख रखकर किया गया था। कार्यविधि की ये सब बातें राजनीतिक संघों से ही ली गई थीं। बौद्ध-संघ की कार्यविधि के अनुशीलन से यह कल्पना सुगमता के साथ की जा सकती है कि यही विधि राजनीतिक संघों में भी विद्यमान थी। उनमें भी इसी के अनुसार कार्य होता था।

(२) शासन का स्वरूप

बौद्ध-युग के सब राज्यों में एक ही प्रकार का शासन प्रचलित नहीं था। भिन्न-भिन्न राजतन्त्र-राज्यों में राजा की स्थिति भिन्न-भिन्न प्रकार की थी। यही कारण है, कि जातक-साहित्य तथा अन्य बौद्ध-ग्रन्थों में इस विषय में विविध तथ परस्पर-विरोधी विचार उपलब्ध होते हैं। हम यहां इन विचारों को प्रदर्शित करने का यत्न करेंगे।

राजा की स्थिति—बौद्ध-साहित्य के अनुसार राजा राज्य का स्वामी नहीं होता था, उसका कार्य केवल प्रजा का पालन तथा अपराधियों को दण्ड देना ही

समझा जाता था। वह व्यक्तियों पर कोई अधिकार नहीं रखता था। जातक-कथा के अनुसार एक बार एक राजा की प्रिय रानी ने अपने पति से यह वर मांगा कि मुझे राज्य पर अमर्यादित अधिकार प्रदान कर दिया जावे। इस पर राजा ने अपनी प्रिय रानी से कहा--'भद्रे! राष्ट्र के सम्पूर्ण निवासियों पर मेरा कोई भी अधिकार नहीं है, मैं उनका स्वामी नहीं हूं। मैं तो केवल उनका स्वामी हूं, जो राजकीय नियमों का उल्लंघन कर अकर्त्तव्य कार्य को करते हैं। अतः मैं तुम्हें राष्ट्र के सम्पूर्ण निवासियों का स्वामित्व प्रदान करने में असमर्थ हूं।' इससे स्पष्ट है, कि जातक-साहित्य के समय में राजा का अधिकार मर्यादित माना जाता था और वे सम्पूर्ण जनता पर अबाधितरूप से शासन नहीं कर सकते थे।

राज्य व राजा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जो विचार बौद्ध-साहित्य में पाये जाते हैं, वे भी इसी विचार की पुष्टि करनेवाले हैं। बौद्ध-साहित्य के अनुसार पहले राज्यसंस्था नहीं थी, अराजक दशा थी। जब लोगों में लोभ और मोह उत्पन्न हो जाने के कारण 'धर्म' नष्ट हो गया, तो उन्हें राज्यसंस्था के निर्माण की आवश्यकता अनुभव हुई। इसके लिये वे एक स्थान पर एकत्रित हुए और अपने में जो सबसे अधिक योग्य, बलवान्, बुद्धिमान् और सुन्दर व्यक्ति था, उसे राजा बनाया गया। एक योग्यतम व्यक्ति को राजा बनाकर सबने उसके साथ निम्न प्रकार से 'समय' (संविदा या इकरार) किया--"अबसे तुम उस व्यक्ति को दण्ड दिया करो, जो दण्ड देने योग्य हो और उसे पुरस्कृत किया करो, जो पुरस्कृत होने योग्य हो। इसके बदले में हम तुम्हें अपने क्षेत्रों की उपज का एक भाग प्रदान किया करेंगे।" इसके आगे लिखा गया है--"क्योंकि यह व्यक्ति सब द्वारा सम्मत होकर अपने पद पर अधिष्ठित होता है, इसलिये इसे 'महासम्मत' कहते हैं। क्योंकि यह क्षेत्रों का रक्षक है, और हानि से जनता की रक्षा करता है, अतः 'क्षत्रिय' कहाता है। क्योंकि यह प्रजा का रञ्जन करता है, इसलिये इसे 'राजा' कहा जाता है।" राजा के सम्बन्ध में ये विचार बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। इसी ढंग के विचार महाभारत, शुक्रनीति आदि प्राचीन नीति-ग्रन्थों में भी उपलब्ध होते हैं। पर यहां हम यही प्रदर्शित करना चाहते हैं, कि बौद्ध-काल में भी राजा के सम्बन्ध में जो विचार प्रचलित थे, वे उसे जनता व राज्य का अमर्यादित स्वामी नहीं बनने दे सकते थे। वे उसकी शक्ति को मर्यादित रखने का ही प्रयत्न करते थे।

पर बौद्ध-काल के सभी राजा शासन में इन उदात्त सिद्धान्तों का अनुसरण नहीं करते थे। जातक-कथाओं में अनेक इस प्रकार के राजाओं का भी उल्लेख

आया है, जो अत्याचारी, क्रूर और प्रजापीड़क थे। महापिङ्गल-जातक में बनारस के एक राजा का उल्लेख आया है, जिसका नाम महापिङ्गल था। वह अधर्म से प्रजा का शासन करता था। दण्ड, कर आदि द्वारा वह जनता को इस प्रकार पीसता था, जैसे कोल्हू में गन्ना पीसा जाता है। यह बड़ा क्रूर, अत्याचारी और भयंकर राजा था। दूसरों के प्रति इसके हृदय में दया का लवलेश भी न था। अपने कुटुम्ब में भी यह अपनी धर्मपत्नी, सन्तान आदि पर तरह-तरह के अत्याचार करता रहता था।

इसी प्रकार केलिशील-जातक में वाराणसी के राजा ब्रह्मदत्त का वर्णन करते हुए लिखा है, कि वह बड़ा स्वेच्छाचारी तथा क्रूर राजा था। उसे पुरानी वस्तुओं से बड़ा द्वेष था। वह न केवल पुरानी चीजोंको ही नष्ट करने में व्यापृत रहता था, पर साथ ही वृद्ध-स्त्री पुरुषों को तरह-तरह के कष्ट देकर उन्हें मारने में उसे बड़ा आनन्द प्रतीत होता था। जब वह किसी बूढ़ी स्त्री को देखता, तो उसे बुलाकर पिटवाता था। बूढ़े पुरुषों को वह इस ढंग से जमीन पर लुढ़काता था, मानो वे धातु के बरतन हों।

इसी प्रकार अन्यत्र भी जातक-कथाओं में अत्याचारी और क्रूर राजाओं का वर्णन है। पर यह ध्यान में रखना चाहिये, कि अधिकांश राजा धार्मिक और प्रजापालक होते थे। ऊपर जिन राजाओं का जिक्र हमने किया है, वैसे राजा जातक-कथाओं में बहुत कम हैं। बौद्ध-काल के राजा प्रायः अपनी 'प्रतिज्ञा' पर दृढ़ रहनेवाले होते थे। जो राजा प्रजा पर अत्याचार करते थे, उनके विरुद्ध विद्रोह भी होते रहते थे। जातक-कथाओं में अनेक राजाओं के विरुद्ध किये गये विद्रोहों तथा राजाओं के पदच्युत किये जाने के उल्लेख मिलते हैं। कुछ उदाहरण हम यहां उपस्थित करते हैं—

सच्चंकिर जातक में एक राजा की कथा आती है, जो बड़ा क्रूर और अत्याचारी था। आखिर, लोग उसके शासन से तंग आ गये और ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा अन्य सब देशवासियों ने मिलकर निश्चय किया कि इस राजा के विरुद्ध विद्रोह कर दिया जावे। इसी के अनुसार एक बार जब वह अत्याचारी राजा हाथी पर जा रहा था, उसपर आक्रमण किया गया और उसे वहीं कतल कर दिया गया। राजा को मारकर जनता ने स्वयं बोधिसत्व को अपना राजा निर्वाचित किया। इसी प्रकार पदकुशलमाणव जातक में एक अत्याचारी राजा के विरुद्ध जनता के विद्रोह का वर्णन आता है। इस राजा के विरुद्ध भड़काते हुए जनता को निम्नलिखित बात कही गई थी—'जानपद और निगम में

एकत्रित जनता मेरी बात पर ध्यान दे। जल में अग्नि प्रज्वलित हो उठी है। जहां से हमारी रक्षा होनी चाहिये, वहीं से अब रक्षा के स्थान पर भय हो गया है। राजा और उसका ब्राह्मण पुरोहित राष्ट्र पर अत्याचार कर रहे हैं। अब तुम लोग अपनी रक्षा स्वयं करो। जहां तुम्हें शरण मिलनी चाहिये, वहीं स्थान अब भयंकर हो गया है।

जनता को यह बात समझ में आ गई। उन्होंने मिलकर राजा का घात कर दिया और इस प्रकार उस अत्याचारी शासन का अन्त हुआ। खण्डहाल जातक में पुष्पवती नगरी के राजा की कथा आती है, जिसका पुरोहित खण्डहाल नाम का ब्राह्मण था। इस खण्डहाल के प्रभाव में आकर राजा बहुत पथभ्रष्ट हो गया और उसने स्वर्गप्राप्ति की अभिलाषा से अपनी स्त्रियों, बच्चों और प्रजा के मुख्य व्यक्तियों का बलि देने का विचार करना प्रारम्भ किया। उसने सब तैयारी भी कर ली। पर जब इस महान् हत्याकाण्ड का अवसर उपस्थित हुआ, तो जनता इसे सह न सकी और उसने विद्रोह कर दिया। पुरोहित खण्डहाल कतल कर दिया गया, और जनता ने राजा पर भी आक्रमण किया। पर शक्क के हस्तक्षेप करने पर जनता उसे प्राणदान देने के लिये उद्यत हो गई। राजा की जान बच गई, पर उसके सम्बन्ध में यह व्यवस्था की गई कि उसे राज्य से च्युत किया जावे और पुष्पवती से बहिष्कृत कर बाहर चाण्डालों के साथ बसने की अनुमति दी जावे। ऐसा ही किया गया, और जनता के विरोध से पुष्पवती के इस अत्याचारी और पथभ्रष्ट राजा के शासन का अन्त हुआ। इन उदाहरणों से यह बात भलीभांति स्पष्ट हो जाती है, कि बौद्ध-काल में अत्याचारी राजाओं के शासन को जनता सहन नहीं कर सकती थी, और अवसर पाकर उन्हें पदच्युत करने में कभी नहीं चूकती थी।

बौद्ध-काल के राजतन्त्र राज्यों में राजा प्रायः वंशक्रमानुगत होते थे। पर राजसिंहासन पर विराजमान होने के लिये उन्हें यह सिद्ध करना आवश्यक होता था, कि वे राज्यकार्य का संचालन करने के लिये उपयुक्त योग्यता रखते हैं। गामणिचण्ड जातक में कथा आती है, कि जब बनारस के राजा जनसन्ध की मृत्यु हो गई, तो अमात्यों ने विचार किया कि राजकुमार की आयु बहुत कम है, अतः उसे राजा नहीं बनाना चाहिये। फिर विचार के अनन्तर उन्होंने यह निर्णय किया कि राजगद्दी पर बिठाने से पूर्व कुमार की परीक्षा करना आवश्यक है। कुमार को न्यायालय (विनिश्चयस्थान) में ले जाया गया और वहां उसकी अनेक प्रकार से परीक्षा ली गई। जब उसने यह सिद्ध कर दिया कि राजा

के लिये आवश्यक सब गुण उसमें विद्यमान हैं, तभी उसे वह पद दिया गया।

पादंजलि जातक की कथा इस सम्बन्ध में बहुत महत्त्वपूर्ण है। बनारस के राजा का नाम ब्रह्मदत्त था। उसने अपने 'अर्थधर्मानुशासक अमात्य' के पद पर बोधिसत्व को नियत किया हुआ था। राजा का एक लड़का था, उसका नाम था पादंजलि। यह बहुत आलसी और सुस्त था। कुछ समय पश्चात् राजा ब्रह्मदत्त की मृत्यु हो गई और अमात्यों ने पादंजलि को राजा बनाने के लिये विचार करना प्रारम्भ किया। पर 'अर्थधर्मानुशासक अमात्य' बोधिसत्व ने उन्हें कहा—'यह पादंजलि अत्यन्त आलसी और सुस्त आदमी है। क्या यह उचित है कि हम इसे राजा बनावें ?' अमात्यों ने निश्चय किया कि उसकी परीक्षा लेकर इस बात का निर्णय किया जावेगा। वे उसे विनिश्चय स्थान (न्यायालय) में ले गये और एक अभियुक्त के मुकदमे का अशुद्ध फैसला कर पादंजलि से बोले—'कुमार ! क्या हमने ठीक निर्णय किया है ?' पादंजलि ने कुछ उत्तर नहीं दिया। वह अपने ओठों को चलाता रहा। बोधिसत्व ने सोचा—यह एक बुद्धिमान् लड़का है, उसने यह बात भांप ली है, कि हमने अशुद्ध निर्णय किया है। इसीलिये वह अपने ओंठ इस प्रकार चला रहा है। अगले दिन फिर पादंजलि को न्यायालय में लाया गया। फिर एक अभियुक्त का मुकदमा पेश किया गया। पर इस दिन उसका निर्णय ठीक-ठीक किया गया। मुकदमे की समाप्ति पर फिर कुमार से पूछा गया, कि 'कुमार, क्या हमने ठीक फैसला किया है ?' पादंजलि फिर उसी तरह चुप बैठा रहा, और अपने ओठों को चबाता रहा। अब बोधिसत्व को ज्ञात हो गया कि पादंजलि वज्रमूर्ख है। उसमें सच व झूठ का विवेक करने की शक्ति नहीं है। अन्त में अमात्यों ने यही निश्चय किया कि उसे राजा न बनाया जावे। उन्होंने राजपुत्र होते हुए भी पादंजलि को राजगद्दी नहीं दी और बोधिसत्व को राजा निश्चित किया। इस कथा से बिलकुल स्पष्ट है, कि राजा बनने की योग्यता का निर्णय अमात्य लोग किया करते थे। सामान्य दशा में राजा का लड़का ही राजगद्दी पर बैठता था। पर यदि वह योग्य न हो, या उसकी योग्यता के सम्बन्ध में विवाद हो, तो अमात्य लोग उसकी परीक्षा लेते थे और परीक्षा में अनुत्तीर्ण होने पर किसी अन्य को राज्य प्रदान कर सकते थे।

शासन करने की योग्यता के अतिरिक्त कुछ अन्य बातें भी राजा के लिये ध्यान में रखी जाती थीं। अन्धे व विकलाङ्ग व्यक्ति को राजा नहीं बनाया जाता था। शिविजातक में अरिट्ठपुर के राजा शिवि की कथा आती है, जो बड़ा दानी था। उसके दान की कीर्ति सब ओर फैली हुई थी। एक बार एक अन्धे

भिक्षुक ब्राह्मण ने उससे आंखों की भिक्षा की। राजा शिवि तैयार हो गया और उसने अपनी आंखें उस भिक्षुक को प्रदान कर दीं। स्वयं अन्धा हो जाने पर राजा शिवि ने सोचा कि अन्धे आदमी के राजसिंहासन पर बैठने का क्या लाभ है। वह अपने अमात्यों के हाथ में राज्य को सुपुर्द कर स्वयं वन में चला गया और वहां तापस के रूप में जीवन व्यतीत करने लगा। इसी प्रकार सम्बुल जातक में बनारस के राजकुमार सोट्ठिसेन की कथा आती है, जो कोढ़ से पीड़ित था और इसी रोग से ग्रस्त होने के कारण राजप्रासाद को छोड़कर जंगल में चला गया था। वह तब तक अपने राज्य में वापस नहीं लौटा, जब तक कि उसकी धर्मपत्नी सम्बुला की सेवा से उसका रोग पूर्णतया दूर नहीं हो गया। कोढ़ से पीड़ित होने के कारण वह अपने को राजसिंहासन के योग्य नहीं समझता था।

सामान्यतया राजतन्त्र-राज्यों में राजा का बड़ा लड़का ही राजगद्दी पर बैठता था। इसीलिये राजा लोग सन्तान के लिये बहुत उत्सुक रहते थे। सन्तान की इच्छा से वे बहुविवाह में भी संकोच नहीं करते थे। पर यदि राजा के कोई सन्तान न हो, तो राजगद्दी राजा के भाई को प्राप्त हो सकती थी। अनेक बार जामाता को भी राजगद्दी प्राप्त हो सकती थी। कुछ दशाओं में राजा की विधवा रानी अमात्यवर्ग की सहायता से राज्य का संचालन करती थी। उदय जातक में कथा आती है, कि राजा उदय के पश्चात् उसकी रानी उदयभद्दा ने शासन किया और अमात्यों की सहायता से वह सफलतापूर्वक शासन करती रही। इसी प्रकार घट जातक में एक स्त्री के शासन का उल्लेख है।

यह पहले प्रदर्शित किया ही जा चुका है, कि अनेक बार जब राजकुमार शासन करने के अयोग्य हो, तो अमात्य लोग उसे पदच्युत कर किसी अन्य व्यक्ति को राजगद्दी पर बिठा सकते थे। पर कई बार राजगद्दी का प्रश्न बहुत विवादग्रस्त हो जाता था, और लोग इस बात पर एकमत नहीं हो सकते थे कि राजा किसे बनाया जाय। इस दशा में एक बड़े अद्भुत उपाय का अवलम्बन किया जाता था। अमात्य लोग एक पुष्परथ-निकालते थे, जिसके साथ राजत्व के पांचों चिह्न रहते थे। ये पांच राजचिह्न निम्नलिखित होते थे—हाथी, घोड़ा, छत्र, चामर और कुम्भ। यह रथ चलते-चलते जिस व्यक्ति के समीप ठहर जाता था, उसे राजा बना दिया जाता था। जातक-साहित्य में अनेक राजाओं के इसी पद्धति से राज्याभिषिक्त होने की कथा मिलती है। दरीमुख जातक के अनुसार बनारस का राजा सन्तानहीन था। जब उसकी मृत्यु हो गई, तो अमात्यों के सम्मुख यह समस्या उत्पन्न हुई, कि, राजा किसे बनाया जावे। अन्त में पुष्परथ

की पद्धति का आश्रय लिया गया और उससे बोधिसत्व का राजा बन या जाना निश्चित हुआ। निग्रोध जातक में कुमार निग्रोध की कथा आती है, जो बहुत गरीब घर का था। वह तक्षशिला से शिक्षा समाप्त कर कुछ साथियों के साथ अपने घर को वापस जा रहा था। मार्ग में वह काशी में ठहर गया। वहां राजा कौन हो, इस समस्या का हल करने के लिये पुष्परथ निकाला गया था। पुष्परथ कुमार निग्रोध के पास आकर ठहर गया और उसे ही काशी का राजा बना दिया गया।

बौद्ध-काल के अनेक राज्यों में राजकुमार लोग अपने पिता के जीवित होते हुए भी स्वयं राज्य प्राप्त करने के लिये प्रयत्न प्रारम्भ कर देते थे। मगध के अनेक सम्राट् पितृघाती थे। उन्होंने अपने पिता को मारकर राज्य प्राप्त किया था। प्रसिद्ध सम्राट् अजातशत्रु ने राज्य प्राप्त करने के लिये अपने पिता बिम्बिसार का घात किया था। जातक-कथाओं में भी अनेक कुमारों का उल्लेख है, जिन्होंने अपने पिता के जीवन-काल में ही स्वयं राज्य प्राप्त करने का प्रयत्न किया। संकिञ्च जातक के अनुसार बनारस के राजा का नाम ब्रह्मदत्त था। उसका एक लड़का था, उसका नाम भी ब्रह्मदत्त रखा गया। जब कुमार ब्रह्मदत्त तक्षशिला से अपनी शिक्षा समाप्त कर वापस आया, तो उसने सोचा—"मेरे पिता की आयु अभी बहुत कम है, वह तो मेरे बड़े भाई के समान है। यदि मैं उसकी मृत्यु तक राज्य के लिये प्रतीक्षा करूंगा, तो राजा बनने तक मैं बूढ़ा हो जाऊंगा। बूढ़ा होकर राजा बनने से क्या लाभ होगा? मैं अपने पिता का घात कर दूंगा और इस प्रकार राजगद्दी पर अधिकार प्राप्त कर लूंगा। उसने यही किया और एक षड्यन्त्र द्वारा अपने पिता को मारकर स्वयं राजा बन गया।

इसी प्रकार की अनेक अन्य कथायें जातक-साहित्य में उपलब्ध होती हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं, कि भारत के अनेक राज्यों में उस समय यह प्रवृत्ति प्रादुर्भूत हो चुकी थी। पर दूसरी तरफ ऐसे राज्य भी थे, जिनमें राजाओं के लिये 'वार्धक्ये मुनिवृत्तीनां' का प्राचीन आदर्श प्रयोग में आ रहा था, और राजा लोग वृद्धा-वस्था के आते ही अपना राज्य-कार्य लड़के को प्रदान कर स्वयं मुनिवृत्ति धारण कर लेते थे। शंखपाल जातक में राजगृह के एक राजा का उल्लेख है, जिसने वृद्धावस्था में पदार्पण करते ही अपना राज्य राजकुमार दुर्योधन को प्रदान कर दिया था और स्वयं नगर से बाहर तापस का जीवन बिताना प्रारम्भ किया था। इसी प्रकार निमि जातक में मिथिला के राजा मखादेव की कथा आती है। उसने अपने नाई को कहा हुआ था, कि जब वह उसके सिरपर सफेद बाल देखे, तो उसे

सूचना दे। शुरू-शुरू में जब नाई ने राजा को सफेद बालों की सूचना दी, तो राजा ने आज्ञा दी कि इन्हें उखाड़ कर मेरे हाथ में देते जाओ। कुछ समय तक नाई यही करता रहा। पर जब राजा ने अनुभव किया कि बाल निरन्तर श्वेत होते जा रहे हैं, और पूर्णतया वृद्धावस्था आ गई है, तो उसने अपने बड़े लड़के को बुलाया और राज्य-संचालन के सम्बन्ध में अनेक महत्त्वपूर्ण निर्देश देकर स्वयं तापस-जीवन स्वीकृत कर लिया। न केवल राजा मखादेव, अपितु उसके पुत्र-पौत्र आदि ने भी इसी प्रकार स्वयं वृद्धावस्था में राज्य का परित्याग किया था। इस प्रकार यह स्पष्ट है, कि भारत की प्राचीन परम्परा बौद्ध-काल में भी अवशिष्ट थी।

यद्यपि बौद्ध-काल में अच्छे और बुरे सब प्रकार के राजा विद्यमान थे, पर प्रयत्न इसी बात का रहता था, कि उन्हें सन्मार्ग पर लाया जावे। एकपण्ण जातक में एक राजकुमार की कथा आती है, जो बहुत पथभ्रष्ट तथा भयंकर प्रकृति का था। अमात्यों, ब्राह्मणों और जनपदवासियों ने बहुत प्रयत्न किया कि उसे दुरुस्त करें, पर वह किसी के काबू में नहीं आया। आखिर, बोधिसत्व ने उसे शिक्षा दी। वह उसे एक नीम के छोटे-से पौदे के पास ले गया और उसे कहा—'कुमार, इस पौदे के एक पत्ते को चखकर तो देखो, यह कैसा लगता है?' कुमार ने ऐसा ही किया। ज्यों ही उसने उस पत्ते को मुंह में डाला, कड़वाहट से उसका सारा मुंह भर गया और उसने उसे थूककर बाहर फेंक दिया। इतना ही नहीं, उसने उस छोटे-से पौदे को भी उखाड़ लिया और तोड़-मोड़कर हाथ से मसल कर फेंक दिया। बोधिसत्व ने पूछा—'कुमार, यह क्या करते हो? कुमार ने उत्तर दिया—'अभी तो यह पौदा इतना छोटा है, जब यह अभी से इतनी कड़वाहट उत्पन्न करता है, तो आगे चलकर तो पता नहीं कितना जहर उगलेगा।' यह सुनकर बोधिसत्व ने कहा—'कुमार, यह सोचकर कि यह कड़वा पौदा आगे चलकर कितना जहर उगलेगा, तुमने इसे उखाड़कर मसलकर फेंक दिया है। तुमने जो व्यवहार इस पौदे के साथ किया है, वही इस राज्य के निवासी तुम्हारे साथ करेंगे। यह सोचकर कि यह पथभ्रष्ट, भयंकर प्रकृति का कुमार आगे चल कर कितना अनर्थ करेगा, वे तुम्हें भी राजगद्दी पर बिठाने के बजाय उखाड़ कर फेंक देंगे। इसलिये इस पौदे से शिक्षा ग्रहण करो और आगे से दया और स्नेह का बरताव करो।' इसमें सन्देह नहीं, कि जनता के विद्रोह का भय बौद्ध-काल के राजाओं को सदा बना रहता था, और इस डर से कि कहीं जनता हमें पदच्युत न कर दे, वे सन्मार्ग पर कायम रहते थे।

बौद्ध-साहित्य में राजा के दस धर्मों का स्थान-स्थान पर उल्लेख किया गया है। वे दस धर्म निम्नलिखित हैं—दान, शील, परित्याग, आर्जव, मार्दव, तप, अक्रोध, अविहिंसा, क्षान्ति और अविरोधन। राजाओं में इन गुणों की सत्ता बहुत आवश्यक और लाभकर मानी जाती थी। राजाओं से दानशीलता की आशा उस समय बहुत अधिक की जाती थी। जातक-साहित्य में अनेक राजाओं की दानशक्ति का बड़े विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। चुल्लपद्म जातक में वाराणसी के राजा पद्म की कथा आती है, जो अत्यन्त दानी था। उसने वहां छः दानगृह बनवाये हुए थे। चार दानगृह वाराणसी के चारों द्वारों पर बने हुए थे, एक नगर के ठीक बीच में और छठा राजप्रासाद के सामने। इन दानगृहों से प्रतिदिन छः लाख मुद्रायें दान दी जाती थीं। इसी प्रकार का वर्णन अन्य अनेक राजाओं के सम्बन्ध में भी आता है।

बौद्ध-काल के राजा बड़े वैभव और शान-शौकत के साथ निवास करते थे। जातक-ग्रन्थों में अनेक स्थानों पर उनके जुलूसों, सवारियों तथा राज प्रासादों का वर्णन आता है। राजा लोग तमाशों, खेलों और संगीत आदि का भी बहुत शौक रखते थे। शिकार उनके आमोद-प्रमोद का महत्त्वपूर्ण साधन होता था। राजाओं के अन्तःपुर भी बहुत बड़े होते थे। अन्तःपुर में प्रचुर संख्या में स्त्रियों को रखना एक शान की बात समझी जाती थी। सुरुचि जातक के अनुसार बनारस के राजा ने निश्चय किया कि वह अपनी कन्या का विवाह ऐसे कुमार के साथ ही करेगा, जो एकपत्नीव्रत रहने का प्रण करे। मिथिला के कुमार सुरुचि के साथ कुमारी, जिसका नाम सुमेधा था, के विवाह की बात चल रही थी— मिथिला के राजदूतों ने एकपत्नीव्रत होने की शर्त्त को सुना, तो वे कहने लगे—'हमारा राज्य बहुत बड़ा है। मिथिला नगरी का सात योजन विस्तार है। सारे राज्य का विस्तार ३०० योजन है। ऐसे राज्य के राजा के अन्तःपुर में कम से कम सोलह हजार रानियां अवश्य होनी चाहियें।' जातक-कथाओं में बहुत-से ऐसे राजाओं का वर्णन आता भी है, जिनके अन्तःपुर में हजारों स्त्रियां रहती थीं।

राजा के अमात्य—राजतन्त्र-राज्यों में राजा के अतिरिक्त अमात्यों का शासन में बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान होता था। जातक-साहित्य में स्थान-स्थान पर अमात्यों का जिक्र आता है। ये अमात्य संख्या में बहुत होते थे और राजा को शासन-सम्बन्धी सब विषयों में परामर्श देने का कार्य करते थे। अमात्यों के लिये सब विद्याओं व शिल्पों में निष्णात होना आवयश्क माना जाता था। राजा की मृत्यु के अनन्तर राज्य का संचालन अमात्य लोग करते थे। सात दिन के पश्चात् जब

स्वर्गीय राजा की और्ध्वदेहिक क्रियायें समाप्त हो जाती थीं, तब वे ही इस बात का निश्चय करते थे, कि राजगद्दी पर कौन विराजमान हो। राजा की अनुपस्थिति या शासन-कार्य में असमर्थता की दशा में भी वे शासन-सूत्र को अपने हाथों में कर लेते थे। प्राचीन भारत में राजतन्त्र-राज्यों में मन्त्रिपरिषद् का बड़ा महत्त्व होता था। ऐसा प्रतीत होता है, कि जातक-कथाओं में जिन 'अमात्यों' का उल्लेख आता है, वे इसी प्राचीन मन्त्रिपरिषद् को सूचित करते हैं। अमात्यों में सबसे प्रधान स्थान पुरोहित का होता था। पुरोहित राजा के 'धर्म और अर्थ' दोनों का अनुशासक होता था। बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार प्रथम राजा, जिसे 'महासम्मत' कहा गया है––को भी पुरोहित नियुक्त करने की आवश्यकता हुई थी। पुरोहित का पद प्रायः वंशक्रमानुगत होता था। एक ही परिवार के व्यक्तियों को वंशक्रमानुगत रूप से पुरोहित के महत्त्वपूर्ण पद पर नियत किया जाता था। पर राजा की तरह पुरोहित का पद भी पूर्ण रूप से एक वंश में नहीं रह पाता था। अनेक बार पुरोहित की नियुक्ति पर वाद-विवाद भी होते थे, और नये व्यक्तियों को इस पद पर नियत कर दिया जाता था।

पुरोहित के सम्बन्ध में जो विचार प्राचीन नीति-ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं, उनकी पुष्टि जातक-साहित्य द्वारा भी होती है। पुरोहित का अनुसरण राजा को उसी प्रकार करना चाहिये, जैसे पुत्र पिता का या शिष्य गुरु का करता है। जातक-कथाओं के अनुसार भी पुरोहित राजा को पथभ्रष्ट होने की दशा में सन्मार्ग पर लाने का प्रयत्न करता था, इसके लिये डांटता-डपटता भी था। तिलमुट्ठि जातक के अनुसार बनारस के राजा ब्रह्मदत्त ने तक्षशिला के अपने आचार्य को पुरोहित के पद पर नियत किया था और वह उसका उसी प्रकार अनुसरण करता था, जैसे पुत्र अपने पिता का करता है।

पुरोहित के अतिरिक्त अन्य भी अनेक अमात्यों के नाम जातक-साहित्य में उपलब्ध होते हैं। इनमें सेनापति, भाण्डागारिक, विनिश्चयामात्य और रज्जुक के नाम विशेषतया उल्लेखनीय हैं। सेनापति का कार्य जहां सैन्य का संचालन करना होता था, वहां साथ ही वह एक मन्त्री के रूप में भी कार्य करता था। एक कथा से यह भी सूचित होता है, कि वह मुकदमों का निर्णय करने का भी कार्य करता था। एक स्थान पर सेनापति को अमात्यों का प्रमुख भी लिखा गया है। विनिश्चयामात्य न्यायमन्त्री को कहते थे। यह जहां मुकदमों का फैसला करता था, वहां राजा को धर्म तथा कानून सम्बन्धी मामलों में परामर्श भी देता था। भाण्डागारिक कोषाध्यक्ष को कहते थे। भाण्डागारिक प्रायः किसी अत्यन्त

सम्पत्तिशाली व्यक्ति को बनाया जाता था। एक भाण्डागारिक की संपत्ति ८० करोड़ लिखी गई है। रज्जुक सम्भवतः भूमि की पैमाइश आदि करके मालगुजारी वसूल करनेवाले अमात्य को कहते थे। इनके अतिरिक्त दोणमापक, हिरण्यक, सारथी, दौवारिक आदि अन्य अनेक राजकर्मचारियों के नाम भी जातक-साहित्य में उपलब्ध होते हैं।

बौद्ध-काल में शहर के कोतवाल को नगरगुत्तिक कहते थे। यह नगर की शान्तिरक्षा का उत्तरदायी होता था। इसे एक स्थान पर 'रात्रि का राजा' भी कहा गया है। पर पुलीस के ये कर्मचारी बौद्ध-काल में भी रिश्वतों से मुक्त नहीं थे। सुलसा जातक में कथा आती है, कि सुलसा नामक वेश्या ने सत्तक नामक डाकू के रूप पर मुग्ध होकर उसे छुड़ाने के लिये पुलीस के कर्मचारी को एक हजार मुद्रायें रिश्वत के रूप में दी थीं, और इस धनराशि से वह सत्तक को छुड़वाने में सफल भी हो गई थी।

जातक-कथाओं से बौद्ध-काल की सेनाओं के सम्बन्ध में भी कुछ निर्देश मिलते हैं। सेनायें प्रायः अपने राज्य के निवासियों द्वारा ही बनी होती थीं। विदेशी सैनिकों व नये सैनिकों को पसन्द नहीं किया जाता था। स्वदेशी और पितृ-पैतामह सैनिकों को उत्तम माना जाता था। धूमकारि जातक में कथा आती है कि कुरुदेश के इन्द्रपत्तन नगर के राजा धनञ्जय ने अपने पुराने सैनिकों की उपेक्षा कर नवीन सैनिकों को सेना में भर्ती करना प्रारम्भ कर दिया। जब उसके सीमाप्रान्त पर युद्ध प्रारम्भ हुआ, तो उसे इन नये सैनिकों के कारण परास्त होना पड़ा। परिणाम यह हुआ, कि उसे अपने कार्य पर पश्चात्ताप हुआ और उसने फिर पुरानी सेनाओं के बल पर विजय प्राप्त की। बौद्धकालीन राज्यों में सीमा-प्रदेशों पर सदा कुछ न कुछ अव्यवस्था कायम रहती थी। जातक-कथाओं में स्थान-स्थान पर सीमावर्ती विद्रोहों व युद्धों का उल्लेख आता है।

पुर और जनपद—बौद्ध-काल में भी राज्य पुर और जनपद इन दो विभागों में विभक्त किये जाते थे। पुर राजधानी को कहते थे और राजधानी के अतिरिक्त शेष सम्पूर्ण राज्य को जनपद कहा जाता था। जनपद में विद्यमान विविध ग्रामों का शासन किस प्रकार होता था, इस सम्बन्धमें कोई महत्त्वपूर्ण निर्देश जातक-साहित्य में उपलब्ध नहीं होते। ग्राम के शासक को ग्रामभोजक कहते थे। ग्रामभोजक बहुत महत्त्वपूर्ण पद समझा जाता था, इसीलिये इसके साथ अमात्य विशेषण भी आता है। ग्रामभोजक ग्राम-सम्बन्धी सब विषयों का संचालन करता था। उसे न्याय-सम्बन्धी अधिकार भी प्राप्त थे। शराबखोरी को नियन्त्रित

करना तथा शराब की दूकान के लिये लाइसेंस देना भी उसी के अधिकार में था। दुर्भिक्ष पड़ने पर गरीब जनता की सहायता करना ग्रामभोजक का ही कार्य था। एक स्थान पर यह भी जिक्र आता है, कि ग्रामभोजक ने पशुहिंसा और शराब का सर्वथा निषेध कर दिया था। ग्रामभोजक की स्थिति राजा के अधीन होती थी। उसके शासन के विरुद्ध राजा के पास अपील की जा सकती थी, और राजा उसे पदच्युत कर किसी अन्य व्यक्ति को उसके स्थान पर नियुक्त कर सकता था। पानीय जातक में कथा आती है, कि काशीराज्य के दो ग्रामभोजकों ने अपने-अपने ग्रामों में पशुहिंसा तथा शराब पीने का सर्वथा निषेध कर दिया था। इसपर उन ग्रामों के निवासियों ने राजा से प्रार्थना की, कि हमारे ग्रामों में यह प्रथा देर से चली आ रही है, और इन्हें इस प्रकार निषिद्ध नहीं करना चाहिये। राजा ने ग्रामवासियों की प्रार्थना को स्वीकृत कर लिया और ग्रामभोजकों की वे आज्ञायें रद्द कर दीं। इस प्रकार स्पष्ट है, कि ग्रामभोजकों के शासन पर राजा का नियन्त्रण पूर्णरूप से विद्यमान था।

न्याय-व्यवस्था—बौद्ध-काल में न्याय-व्यवस्था का क्या स्वरूप था, इस सम्बन्ध में भी कुछ महत्त्वपूर्ण निर्देश जातक-कथाओं में मिलते हैं। उस काल में न्याय इतनी पूर्णता को पहुंचा हुआ था, कि बहुत कम मुकदमे न्यायालयों के सम्मुख पेश होते थे। राजोवाद जातक में लिखा है, कि बनारस के राज्य में न्याययुक्त शासन के कारण एक भी अभियोग न्यायालय के सम्मुख उपस्थित नहीं होता था। इसी प्रकार की बात अन्यत्र भी जातकों में लिखी गई है। उस काल में न्याय कितना पूर्ण तथा निष्पक्षपात होता था, इसका एक दृष्टान्त चुल्लवग्ग में मिलता है। श्रावस्ती में एक गृहपति निवास करता था, उसका नाम था सुदत्त। वह अनाथों का बड़ा सहायक था, इसीलिये उसे 'अनाथपिण्डक' भी कहते थे। श्रावस्ती के राजकुमार का नाम था जेत। कुमार जेत के पास एक उद्यान था, जो शहर के न बहुत समीप था, न बहुत दूर। यहां आने-जाने की बहुत सुविधा थी और यह एकान्तवास के लिये बहुत उपयुक्त था। अनाथपिण्डक ने महात्मा बुद्ध को श्रावस्ती पधारने के लिये निमन्त्रित किया हुआ था। उसके सम्मुख यह समस्या थी, कि महात्मा बुद्ध के ठहरने के लिये किस स्थान पर प्रबन्ध किया जावे। उसने सोचा, कुमार जेत का उपवन इस कार्य के लिये बहुत उपयुक्त है। वह कुमार के पास गया और उससे कहा—"कुमार, यह उद्यान मुझे दे दो, मैं इसमें आराम का निर्माण करूंगा।' कुमार जेत ने उत्तर दिया—'गृहपति! यह उद्यान तब तक नहीं बिक सकता, जब तक इसके लिये सौ करोड़ मुद्रा प्रदान न की जावे।'

'मैं इस कीमत पर इस उद्यान को खरीदता हूं।'

'नहीं गृहपति, यह उद्यान नही बिक सकता।'

अनाथपिण्डक सुदत्त का खयाल था, कि जब वह कुमार जेत द्वारा मांगी हुई कीमत को देने के लिये तैयार हो गया, तो उद्यान उसका हो गया। पर कुमार जेत यह स्वीकृत नहीं करता था। आखिर इस बात का फैसला कराने के लिये वे व्यावहारिक महामात्रों के पास गये। उन्होंने मुकदमे को सुनकर यह निर्णय किया—'कुमार ने जो मूल्य निश्चित किया था, वह गृहपति देने को तैयार हैं, अतः उद्यान बिक गया है।'

इस मुकदमे में यह बात ध्यान देने योग्य है, कि इसमें एक राजकुमार और एक सामान्य गृहपति वादी और प्रतिवादी थे। पर न्यायाधीशों ने राजकुमार का पक्ष न लेकर निष्पक्ष रूप से निर्णय करने का प्रयत्न किया और गृहपति सुदत्त के पक्ष में फैसला दिया। इससे स्पष्ट है, कि बौद्ध-काल के न्यायाधीश अपना कार्य करते हुए व्यक्तियों का ख्याल नहीं करते थे। निष्पक्ष न्याय ही उनकी दृष्टि में सबसे महत्त्वपूर्ण विचार होता था।

इस काल में यद्यपि न्याय निष्पक्ष तथा उचित होता था, पर दण्ड बड़े भयंकर दिये जाते थे। दण्ड देते हुए शारीरिक कष्ट तथा अंग-भंग को अनुचित नहीं समझा जाता था। एक डाकू को यह सजा दी गई, कि उसके हाथ, पैर, नाक, कान काटकर एक नौका में डाल दिया जाय और नौका को गंगा में बहा दिया जाय। एक डाकू को दी गई सजा के अनुसार उसे कांटेदार कोड़ों से बुरी तरह पीटा गया, कुल मिलाकर एक हजार कोड़े मारे गये। हाथी द्वारा कुचलवाकर मारने का उल्लेख भी अनेक स्थानों पर आता है।

(३) आर्थिक दशा

वर्तमान समय में हमें जो बौद्ध-साहित्य उपलब्ध होता है, वह प्रायः सभी धार्मिक है। उसमें महात्मा बुद्ध के जीवन, उपदेश तथा शिक्षाओं का ही विशेष रूप से वर्णन है। उसका प्रयोजन अपने समय की स्थिति पर प्रकाश डालना नहीं है। पर प्रसङ्गवश उसमें कहीं-कहीं ऐसे निर्देश उपलब्ध हो जाते हैं, जिनसे कि उस समय की राजनीतिक, सामाजिक व आर्थिक दशा पर उत्तम प्रकाश पड़ता है। आर्थिक स्थिति का अनुशीलन करने के लिये जातक-कथाओं का विशेष महत्त्व है। जब इन कथाओं का निर्माण हुआ था, उस समय में भारत की आर्थिक व सामाजिक स्थिति क्या थी, इसका विवेचन इनसे बहुत अच्छी प्रकार

किया जा सकता है। हम इस प्रकरण में बौद्ध-काल की आर्थिक दशा को प्रदर्शित करते हुए मुख्यतया इन जातक-ग्रन्थों का ही आश्रय लेंगे। अन्यत्र बौद्ध-साहित्य में भी आर्थिक दशा के जो निर्देश मिलते है, उनका भी यथास्थान उल्लेख किया जायगा।

व्यवसाय—बौद्धकालीन भारत में कौन कौन-से मुख्य व्यवसाय प्रचलित थे इसका परिचय दीर्घनिकाय के एक संदर्भ से बहुत अच्छी तरह मिलता है। जब महात्मा बुद्ध धर्मोपदेश करते हुए राजगृह पहुंचे, तो मगध-सम्राट् अजातशत्रु ने उनसे प्रश्न किया—

"हे भगवन्! ये जो भिन्न-भिन्न व्यवसाय हैं, जैसे हस्ति-आरोहण, अश्वारोहण, रथिक, धनुर्धर, चेलक (युद्ध-ध्वज धारण), चलक (व्यूह-रचन), पिंडदायिक (पिंड काटनेवाले), उग्र राजपुत्र (वीर राजपुत्र), महानाग (हाथी से युद्ध करनेवाले), शूर, चर्मयोधी (ढाल से युद्ध करनेवाले), दासपुत्र, आलारिक (बावर्ची), कल्पक (हजाम), नहापक (स्नान करानेवाले), सूद (पाचक), मालाकार, रजक (रंगरेज), नलकार (टोकरे बनानेवाले), कुम्भकार (कुम्हार), गणक, मुद्रिक (गिननेवाले) और जो दूसरे इसी प्रकार के भिन्न-भिन्न शिल्प (व्यवसाय) हैं, उनसे लोग इसी शरीर में प्रत्यक्ष जीविका करते हैं, उससे अपने को सुखी करते है, तृप्त करते है। पुत्र स्त्री को सुखी करते हैं, तृप्त करते हैं। मित्र अमात्यों को सुखी करते हैं, तृप्त करते है। ऊपर ले जानेवाला, स्वर्ग को ले जानेवाला, सुख विपाकवाला, स्वर्गमार्गीय, श्रमण ब्राह्मणों के लिये दान स्थापित करते हैं। क्या भगवन्! इसी प्रकार श्रामण्य (भिक्षुपन) का फल भी इसी जन्म में प्रत्यक्ष बतलाया जा सकता है?"

सम्राट् अजातशत्रु ने इस प्रश्न में बहुत-से व्यावसायियों का नाम लिया है। एक राजा के लिये यह प्रश्न कितना स्वाभाविक है। उसके चारों तरफ जो सांसारिक जन निवास करते हैं, वे अपने-अपने कार्यों का इसी जन्म में फल प्राप्त करते हैं, वे स्वयं सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करते हुए दानद्वारा परलोक के लिये भी प्रयत्न करते हैं। हमारे लिये इस सन्दर्भ में आये हुए व्यवसाय विशेषरूप से उपयोगी हैं। इसमें निम्नलिखित व्यवसायों का नाम आया है:—

(१) हस्तिसेना के हाथी पर सवारी करनेवाले योद्धा लोग, (२) घुड़सवार लोग, (३) रथ पर चढ़कर लड़नेवाले रथारोही लोग, (४) धनुर्धर योद्धा, (५) युद्ध की ध्वजा का धारण करनेवाले 'चेलक' लोग, (६) व्यूह-रचना में प्रवीण 'चलक' लोग, (७) पिंड काटनेवाले पिंडदायिक लोग, (८) वीर

बहुत उन्नति कर चुका था। पत्थरों पर तरह-तरह से चित्रकारी करना, उन्हें खोदकर उन पर बेल-बूटे व चित्र बनाना उस समय एक महत्त्वपूर्ण शिल्प माना जाता था। इसी प्रकार पत्थर के प्याले, बर्तन आदि भी बनाये जाते थे।

(४) जुलाहे—बौद्ध-काल में कपास, ऊन, रेशम और रेशेदार पौदों का वस्त्र बनाने के लिये उपयोग किया जाता था। मज्झिमनिकाय में विविध प्रकार, के वस्त्रों के निम्नलिखित नाम दिये गये हैं—गोनक, चित्तिक, पटिक, पटलिक, तुलिक, विकटिक, उड्डलोमि, एकन्तलोमि, कोसेय्य और कुट्टकम्। इन विविध शब्दों से किन वस्त्रों का ग्रहण होता था, यह पूर्णतया स्पष्ट नहीं है। पर इस-से यह सहज में अनुमान किया जा सकता है, कि उस समय वस्त्र-व्यवसाय पर्याप्त उन्नत था। थेरीगाथा से ज्ञात होता है कि रेशम और महीन मलमल के लिये बनारस उन दिनों में भी बहुत प्रसिद्ध था। जातक-ग्रन्थों में बनारस के समीप में कपास की प्रभूत मात्रा में उत्पत्ति और वहां के सूती वस्त्रों का उल्लेख है। इसी प्रकार महावग्ग से ज्ञात होता है कि शिविदेश के सूती कपड़े भी बहुत प्रसिद्ध थे।

(५) चमड़े का काम करनेवाले—ये लोग चमड़े को साफ कर उसके अनेक प्रकार के जूते, चप्पल तथा अन्य वस्तुएं बनाते थे।

(६) कुम्हार—ये लोग अनेक प्रकार की मिट्टियों के भांति-भांति के बर्तन बनाते थे। बौद्ध-काल के अनेक बर्तनों के अवशेष वर्तमान समय में उपलब्ध भी हुए हैं।

(७) हाथी-दांत का काम करनेवाले—आधुनिक समय में भी भारतवर्ष हाथी-दांत की कारीगरी के काम के लिये प्रसिद्ध है। प्राचीन काल में हाथी-दांत को रत्नों में गिना जाता था और इससे अनेक प्रकार की वस्तुएं बनाई जाती थीं। उनपर बहुत सुन्दर चित्रकारी भी की जाती थी।

(८) रंगरेज—कपड़ों को रंगने का काम करते थे।

(९) जौहरी—कीमती धातुओं तथा रत्नों से विविध प्रकार के आभूषण बनाते थे। बौद्ध-काल के कुछ आभूषण वर्तमान समय में उपलब्ध हुए हैं।

(१०) मछियारे—नदियों में मछली पकड़ने का काम करते थे।

(११) बूचड़—बूचड़खानों तथा मांस की दूकानों का अनेक स्थानों पर बौद्ध-साहित्य में उल्लेख मिलता है।

(१२) शिकारी—बौद्धकाल में शिकारी दो प्रकार के होते थे। एक वे लोग जो जंगलों में रहते थे, और वहां जीवजन्तुओं का शिकार कर तथा जंगल की कीमती वस्तुओं को एकत्रित कर बाजार में बेचते थे। दूसरे शिकारी वे होते

थे, जो नगरों में बसनेवाले कुलीन लोग होते थे, परन्तु जिन्होंने शिकार को एक पेशे के रूप में स्वीकृत किया हुआ था।

(१३) हलवाई और रसोइये।

(१४) नाई तथा प्रसाधक।

(१५) मालाकार और पुष्प-विक्रेता।

(१६) मल्लाह तथा जहाज चलानेवाले—बौद्ध-साहित्य में नदी, समुद्र तथा महासमुद्र में चलनेवाले जहाजों तथा उनके विविध कर्मचारियों का उल्लेख आता है। यह व्यवसाय उस काल में बहुत उन्नत था।

(१७) रस्सी तथा टोकरे बनानेवाले।

(१८) चित्रकार।

व्यवसायियों के संगठन—बौद्ध-काल के व्यवसायी लोग 'श्रेणियों' (Guilds) में संगठित थे, इस बात के अनेक प्रमाण बौद्ध-साहित्य में मिलते हैं। प्राचीन भारत में श्रेणियों की सत्ता के प्रमाणों की कमी नहीं है। 'श्रेणियों' द्वारा बनाये गये कानून प्राचीन भारत में राज्यद्वारा स्वीकृत किये जाते थे। श्रेणियों के साथ सम्बन्ध रखनेवाले मुकदमों का फैसला उन्हीं के अपने कानूनों के अनुसार होता था। उन्हें अपने मामलों को स्वयं फैसला करने का भी अधिकार था। श्रेणियों के न्यायालय राज्यद्वारा स्वीकृत थे, यद्यपि उनके फैसलों के विरुद्ध अपील की जा सकती थी। बौद्ध-साहित्य में व्यवसायी लोग 'श्रेणियों' में संगठित थे, इसके प्रमाणों का निर्देश करना यहां उपयोगी होगा। निग्रोध जातक में एक भण्डागारिक का वर्णन है, जिसे सब 'श्रेणियों' के आदर के योग्य बताया गया है। उरग जातक में 'श्रेणीप्रमुख' और दो राजकीय अमात्यों के झगड़ों का उल्लेख है। इससे सूचित होता है कि 'श्रेणी' के मुखिया को 'प्रमुख' कहते थे। अन्य स्थानों पर 'श्रेणी' के मुखिया को 'जेट्ठक' शब्द से कहा गया है। डा० फिक ने व्यवसायियों के संगठन पर बड़े विस्तार से विचार किया है। वे लिखते हैं, कि तीन कारणों से हम यह परिणाम निकाल सकते हैं, कि बौद्ध-काल में भी व्यवसायियों के संगठन बन चुके थे। हम उन कारणों को यहां उपस्थित करते हैं।

(१) बौद्ध-काल में विविध व्यवसाय वंशक्रमानुगत हो चुके थे। पिता की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र उसी व्यवसाय को करता था। अपनी कुमारावस्था से ही लोग अपने क्रमानुगत व्यवसाय को सीखना प्रारम्भ कर देते थे। ज्यों-ज्यों समय गुजरता जाता था, अपने पिता तथा अन्य गुरुजन की देख-रेख में उस व्यवसाय में अधिक-अधिक प्रवीणता प्राप्त करते जाते थे। अपने व्यवसाय की

बारीकियों से उनका अच्छा परिचय हो जाता था। इसीलिये जब पिता की मृत्यु होती थी, तो उसकी सन्तान उसके व्यवसाय को बड़ी सुगमता से सम्भाल लेती थी, उन्हें किसी प्रकार की दिक्कत अनुभव न होती थी। बौद्ध-साहित्य में कहीं भी ऐसा निर्देश नहीं मिलता, जिससे यह सूचित होता हो, कि किसी व्यक्ति ने अपने वंशक्रमानुगत व्यवसाय को छोड़कर किसी अन्य व्यवसाय को अपनाया हो। इसके विपरीत इस बात के प्रमाणों की कमी नहीं है, कि लोग अपने वंशक्रमानुगत व्यवसाय का ही अनुसरण करते थे।

(२) बौद्ध-काल के किसी व्यवसाय का अनुसरण करनेवाले लोग एक निश्चित स्थान पर बसकर अपने व्यवसाय का अनुसरण करने की प्रवृत्ति रखते थे। नगरों में भिन्न-भिन्न गलियों में भिन्न-भिन्न व्यवसायी बसते थे। उदाहरण के लिये दन्तकारों (हाथीदांत का काम करनेवालों) की अपनी गली होती थीं, जिसे दन्तकार-वीथी कहते थे। इसी प्रकार कुम्हारों, लुहारों आदि की भी अपनी-अपनी पृथक् वीथियां होती थीं। नगरों के अन्दर की गलियों के अतिरिक्त विविध व्यवसायी नगरों के बाहर उपनगरों में भी निवास करते थे। कुलीनचित्त जातक में लिखा है कि बनारस के समीप ही एक वड्ढकि गाम था, जिसमें ५०० वर्धकि-परिवार निवास करते थे। इसी प्रकार एक अन्य महावड्ढकि गाम का उल्लेख है, जिसमें एक हजार वर्धकि-परिवारों व कुलों का निवास था। इसी प्रकार बनारस के ही समीप एक अन्य ग्राम या उपनगर का उल्लेख है, जिसमें केवल कुम्हारों के ही कुल रहते थे। केवल बड़े नगरों के समीप ही नहीं, अपितु देहात में भी इस प्रकार के ग्राम विद्यमान थे, जिनमें किसी एक व्यवसाय का ही अनुसरण करनेवाले लोग बसते थे। सूचि जातक में कुम्हारों के दो गांवों का वर्णन है, जिनमें से एक में एक हजार कुम्हार-परिवारों का निवास था। इसी प्रकार के अन्य भी अनेक निर्देश जातक कथाओं से संगृहीत किये जा सकते हैं।

(३) व्यवसायियों की श्रेणियों के मुखियाओं का, जिन्हे 'प्रमुख' या जेट्ठक कहते थे, अनेक स्थानों पर उल्लेख आता है। इन जेट्ठकों के उल्लेख से इस बात में कोई सन्देह नहीं रहता कि व्यवसायियों के संगठन बौद्ध-काल में विद्यमान थे। जातक-कथाओं में कम्मार जेट्ठक, मालाकार जेट्ठक आदि शब्दों की सत्ता इस बात को भली भांति स्पष्ट कर देती है। जेट्ठक की अधीन संगठित श्रेणियों में अधिक से अधिक कितने व्यवसायी सम्मिलित हो सकते थे, इस सम्बन्ध में भी एक निर्देश मिलता है। समुद्रवणिजजातक में लिखा है, कि एक गांव में

एक हजार वड्ढकि-परिवार निवास करते थे, जिनमें पांच-पांच सौ परिवारों का एक-एक जेट्ठक था। इस प्रकार इस गांव में दो वड्ढकि जेट्ठक विद्यमान थे। इन जेट्ठकों की समाज में बड़ा प्रतिष्ठा थी। राजदरबार में भी इन्हें सम्मान प्राप्त होता था। सूचिजातक में लिखा है कि एक सौ कम्मार-कुलों का जेट्ठक राजदरबार में बड़ा सम्मानित था। वह बहुत समृद्ध तथा ऐश्वर्यशाली था। एक अन्य स्थान पर जातकों में आया है कि एक राजा ने कम्मार जेट्ठक को अपने पास बुलाया और उसे स्वर्ण की एक स्त्री-प्रतिमा बनाने के लिये नियुक्त किया।

इन बातों से डा० फिक ने यह परिणाम निकाला है, कि बौद्ध-काल के व्यवसायी श्रेणियों में प्रायः उसी ढंग से संगठित थे, जैसे कि मध्यकालीन यूरोप के व्यवसायी 'गिल्ड' में संगठित होते थे। यदि हम प्राचीन भारतीय साहित्य का अनुशीलन करें, तो व्यवसायियों के संगठन (श्रेणियों) की सत्ता में कोई सन्देह नहीं रह जाता। डा० रमेशचन्द्र मजूमदार ने इस विषय पर बहुत विस्तार से विचार किया है, और सम्पूर्ण प्राचीन भारतीय साहित्य में श्रेणियों के सम्बन्ध में जो निर्देश मिलते हैं, उन्हे एकत्रित कर इनके स्वरूप को भी प्रदर्शित करने का प्रयत्न किया है। बौद्ध-साहित्य में श्रेणियों के स्वरूप पर विस्तार से कुछ नहीं लिखा गया है, पर जो थोड़े-बहुत निर्देश उसमें मिलते हैं, उनसे इनकी सत्ता के सम्बन्ध में कोई सन्देह नहीं किया जा सकता।

नगर और ग्राम—बौद्धकालीन भारत में नागरिक जीवन का समुचित विकास हो चुका था। यद्यपि जनता का अधिक भाग ग्रामों में निवास करता था, तथापि अनेक छोटे-बड़े नगर इस काल में विकसित हो चुके थे। बौद्ध-साहित्य के अनुशीलन से अनेक नगरों का परिचय मिलता है। हम यहां पर इनका संक्षिप्त रूप से उल्लेख करना आवश्यक समझते हैं—

(१) अयोध्या—यह कोशलदेश में सरयू नदी के तट पर स्थित था। प्राचीन समय में इसका महत्त्व बहुत अधिक था। रामायण के समय में यह कोशल की राजधानी था। पर बौद्धकाल में इसकी महत्ता कम हो चुकी थी। इसका स्थान श्रावस्ती ने ले लिया था, जो अब कोशलदेश की राजधानी था। सरयू के तट पर स्थित प्रसिद्ध अयोध्या के अतिरिक्त दो अन्य अयोध्याओं का निर्देश भी बौद्ध-ग्रन्थों में आता है। एक गंगा के तट पर और दूसरा पश्चिमीय भारत में। एक नाम के अनेक नगरों का होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

(२) वाराणसी या बनारस—यह गंगा नदी के तट पर स्थित था। **बौद्ध-**

काल में यह बहुत ही उन्नत तथा समृद्ध नगर था। मगध और कोशल के साम्राज्य-वाद से पूर्व महाजनपद-काल में भी काशी एक स्वतन्त्र राज्य था। उस समय में इसकी राजधानी वाराणसी का महत्त्व बहुत अधिक था। बौद्ध-ग्रन्थों के अनुसार इस नगर का विस्तार ८५ वर्ग मीलों में लिखा गया है। यह कोई असम्भव बात नहीं है। यदि उपपुरों सहित वाराणसी का विस्तार ८५ वर्ग मीलों में हो, तो आश्चर्य नहीं। बौद्ध-काल मे वाराणसी न केवल विद्या का महत्त्वपूर्ण केन्द्र था, पर साथ ही व्यापारिक दृष्टि से भी बहुत उन्नत था। वाराणसी के व्यपारियों का अनेक स्थानों पर उल्लेख आता है।

(३) चम्पा—यह अंग देश की राजधानी थी और चम्पा नदी के तट पर स्थित थी। भागलपुर से २४ मील पूर्व यह नगरी विद्यमान थी। वर्तमान समय में यह नष्ट हो चुकी है, और इसके भग्नावशेषों पर कुछ ऐसे ग्राम विद्यमान हैं, जिनके नाम चम्पा का स्मरण दिलाते हैं।

(४) काम्पिल्य—यह -पाञ्चाल राज्य की राजधानी थी।

(५) कौशाम्बी—यह वत्स व वंश-राज्य की राजधानी थी। यह यमुना के तट पर बनारस से २३० मील की दूरी पर स्थित थी।

(६) मधुरा या मथुरा—यह शूरसेन देश की राजधानी थी, और यमुना के तट पर स्थित थी। जमुना के तट पर विद्यमान मधुरा के अतिरिक्त दो अन्य मधुरायें भी उस काल में विद्यमान थीं, एक टिनेवली के समीप, जिसे आजकल 'मदुरा' कहते हैं, और दूसरी अत्यन्त उत्तर में। उत्तर में विद्यमान मधुरा का उल्लेख जातक-कथाओं में आता है।

(७) मिथिला—यह विदेह की राजधानी थी। बौद्ध-साहित्य में इसका विस्तार पचास मीलों में लिखा गया है।

(८) राजगृह—यह बौद्ध-काल में मगध की राजधानी था। महात्मा बुद्ध के समय में यह अत्यन्त समृद्ध और उन्नत नगर था। साम्राज्यवाद के संघर्ष में मगध को असाधारण सफलता प्राप्त हो रही थी, अतः यह बिलकुल स्वा-भाविक था कि उसकी राजधानी राजगृह भी विशेष रूप से उन्नति को प्राप्त हो। शैशुनाग-वंश के शासन-काल में ही राजगृह के स्थान पर पाटलिपुत्र को मगध की राजधानी बना लिया गया था। उसके बाद से राजगृह का पतन प्रारम्भ हो गया और यह एक सामान्य नगर ही रह गया। राजगृह के प्राचीन दुर्ग की दीवारों के अवशेष वर्तमान समय में भी उपलब्ध होते हैं। इनकी परिधि तीन मील के लगभग है।

(९) रोरुक या रोरुव—यह सौवीर देश की राजधानी था। यह भारत के पश्चिमी समुद्र-तट पर विद्यमान था, और बौद्धकाल में एक अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण बन्दरगाह माना जाता था। भारत के सभी प्रधान नगरों से काफले व्यापार के लिये यहां आते थे और भारत का माल जहाजों द्वारा यहां से ही विदेशों में पहुंचाया जाता था।

(१०) सागल या साकल—यह मद्रदेश की राजधानी था। अनेक विद्वान् इसे आधुनिक सियालकोट के साथ मिलाते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि बौद्ध-काल में यह उत्तर-पश्चिमी भारत का एक अत्यन्त प्रसिद्ध नगर था।

(११) साकेत—यह कोशल-राज्य में स्थित था और कुछ समय के लिये उसकी राजधानी भी रहा था। बौद्ध-सुत्तों में इसे भारत के सबसे बड़े नगरों में से एक माना गया है। यह श्रावस्ती से ४५ मील के लगभग दूर था। अनेक विद्वानों ने इसे संयुक्तप्रान्त के उन्नाव जिले में सई नदी के तट पर स्थित सुजानकोट के साथ मिलाया है।

(१२) श्रावस्ती या सावट्ठी—यह उत्तर-कोशल-राज्य की राजधानी थी। इसे भी बौद्ध-काल के सबसे बड़े छः राज्यों में गिना जाता था। बौद्ध-काल में कोशल का राज्य अत्यन्त उन्नतिशील था, अतः श्रावस्ती भी समृद्ध और उन्नत था।

(१३) उज्जैनी—यह अवन्ती की राजधानी थी। बौद्ध-काल में इसका भी बहुत महत्त्व था।

(१४) माहिष्मती—बौद्ध-काल में कुछ समय के लिये माहिष्मती भी अवन्ती की राजधानी रही थी।

(१५) वैशाली—यह प्रसिद्ध वज्जि-राज्य संघ की राजधानी थी।

(१६) पाटलिपुत्र—इसकी स्थापना शैशुनाग-वंश के सम्राट् उदायी के समय में हुई थी और आगे चलकर यह मगध की राजधानी बन गया था।

(१७) प्रतिष्ठान या पैठन—यह दक्षिण का एक प्रसिद्ध नगर था।

इन प्रसिद्ध नगरों के अतिरिक्त अन्य भी अनेक पत्तनों, निगमों व ग्रामों के नाम बौद्ध-साहित्य में मिलते हैं। इनमें उक्कट्ठ, अट्टक, अस्सपुर, कीटगिरि, हल्लिद्दवंश, भारुकच्छ और सुप्पारक के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

जैन-ग्रन्थों में अनेक नगरों के नाम आये हैं। प्रसिद्ध जैन ग्रन्थ उवासगदसाओ में निम्नलिखित नगरों के नाम उपलब्ध होते हैं—वनिअग्राम, चम्पा, वाराणसी, पोलसपुर, राजगिह, सेतव्य, काम्पिल्लपुर, सावट्ठी, वैशाली, मिथिला, अलवी,

कौशाम्बी, उज्जैनी, तक्खशिला, सगुल, सुंसुमार, कपिलवस्तु, साकेत, इन्द्रपत्त, उक्कट्ठ, पाटलिपुत्तक और कुसीनारा।

बौद्ध और जैन-साहित्य के आधार पर हमने जिन नगरों के नाम यहां लिखे हैं, वे उस समय में बहुत प्रसिद्ध थे। पर उनके अतिरिक्त अन्य भी नगरों की सत्ता में किसी प्रकार का सन्देह नहीं किया जा सकता। इन बौद्ध और जैन-ग्रन्थों का उद्देश्य धार्मिक है। उनमें प्रसंगवश ही उस समय के कुछ नगरों के नाम भी आ गये हैं।

बौद्ध-काल में नगरों का निर्माण किस ढंग से होता था और उनके विविध मकान किस प्रकार के बने होते थे, इस सम्बन्ध में बौद्ध-साहित्य से बहुत कम निर्देश प्राप्त होते हैं। रीज डेविड्स ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'बुद्धिस्ट इण्डिया' में बौद्ध-साहित्य के आधार पर इस विषय पर जो प्रकाश डाला है, उसकी कुछ महत्त्वपूर्ण बातों को यहां उल्लिखित करना अप्रासंगिक न होगा।

उस समय के नगर प्रायः दुर्गरूप से बनाये जाते थे। नगरों के चारों ओर दीवार होती थी। दुर्ग में राजप्रासाद, राज्य-सम्बन्धी इमारतें, बाजार तथा प्रमुख मनुष्यों के निवास-स्थान रहते थे। दुर्ग से बाहर बहुत से उपनगर होते थे, जिनमें सर्वसाधारण जनता निवास करती थी।

मकान बनाने के लिये पत्थर, ईंट और लकड़ी—तीनों का प्रयोग होता था। तीनों प्रकार की सामग्री से बनाये गये मकानों का बौद्ध-साहित्य में उल्लेख है। मकान बनानेवाले राजों की कला इस काल में पर्याप्त उन्नति कर चुकी थी। विनयपिटक में उस मसाले का जिक्र आता है, जिससे बौद्ध-काल के मकानों की दीवारों पर 'प्लास्तर' किया जाता था। पानी तथा अन्य गन्दगी को निकालने के लिये किस प्रकार का प्रबन्ध किया जावे, इसका उल्लेख भी इन ग्रन्थों में आता है। जातक कथाओं में अनेक स्थानों पर सात मञ्जिलों वाले मकानों (सत्तभूमक प्रासाद) का वर्णन आता है। सात मञ्जिलवाले मकानों का बनना यह सूचित करता है कि उस समय भवननिर्माण-कला पर्याप्त उन्नत हो चुकी थी। बौद्ध-काल में स्नानशालाओं का विशेष महत्त्व था। अनेक प्रकार की स्नानशालाओं का वर्णन बौद्ध-ग्रन्थों में आता है। पर सर्वसाधारण जनता इन 'सत्तभूमक पासादों' या स्नानशालाओं का उपयोग नहीं कर सकती थी। वह एक मंजिले सामान्य मकानों में रहकर ही जीवन व्यतीत करती थी। बौद्ध-काल की (मौर्य-काल से पूर्व की) इमारतों के अवशेष वर्तमान समय में उपलब्ध नहीं हुए हैं, अतः उनके सम्बन्ध में हम साहित्यिक वर्णनों से ही कल्पना कर सकते हैं।

बौद्धकाल में ग्राम दो प्रकार के होते थे—सामान्य ग्राम और व्यावसायिक ग्राम, जिनमें किसी एक ही व्यवसाय को करनेवाले कारीगर लोग बसे होते थे। इनके अतिरिक्त इस प्रकार के भी ग्राम थे, जिनमें किसी एक ही वर्ण व जाति के लोग बसे होते थे। बौद्ध-ग्रन्थों में ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों व शूद्रों के ग्रामों का वर्णन आता है। इसी प्रकार किसी एक प्रकार के व्यवसायियों यथा बढ़ई, कुम्हार आदि से ही बसे हुए ग्रामों का उल्लेख भी अनेक स्थानों पर है। अलीनचित्त जातक में एक ग्राम का वर्णन है, जिसमें केवल वर्धकि लोग बसते थे और उनके घरों की संख्या ५०० थी। इसी प्रकार कुम्हारों, मछियारों, शिकारियों चाण्डालों, डाकुओं आदि के ग्रामों का भी विविध स्थानों पर उल्लेख आता है।

सामान्य ग्रामों में सब प्रकार के लोग बसते थे, पर अधिक संख्या किसानों की होती थी। किसान लोग खेती करते थे और अन्य लोग अपना-अपना पेशा करते थे। विविध पेशेवाले लोगों के अपने-अपने संगठन होते थे, जिन्हें 'श्रेणि' कहा जाता था।

बौद्धकालीन ग्रामों के भी स्वरूप को रीज डेविड्स ने प्रदर्शित करने का प्रयत्न किया है। वे लिखते हैं, कि ग्राम के मध्य में ग्राम-निवासियों के घर होते थे, जिनके चारों ओर की भूमि कृषि के लिये प्रयोग में आती थी। ग्राम के निवासी अपनी भूमि पर स्वयं खेती करते थे, इसके लिये दास आदि का प्रयोग नहीं किया जाता था। कृषि के काम में आनेवाली भूमि के अतिरिक्त प्रत्येक ग्राम में चरागाह होते थे। इनमें सबके पशु स्वच्छन्दतापूर्वक चर सकते थे। चरागाह-भूमि पर सम्पूर्ण ग्राम का सम्मिलित अधिकार माना जाता था। गांवभर के पशुओं को ग्वाले लोग चराने के लिये इस चरागाह में ले जाते थे। ये ग्वाले सम्पूर्ण ग्राम की ओर से नियुक्त होते थे। ग्वाले के लिये निम्नलिखित गुणों की आवश्यकता बौद्ध-ग्रन्थों में बताई गई है—उसमें प्रत्येक पशु को पहिचानने की क्षमता होनी चाहिये। किस पशु पर कौन-से चिह्न हैं, इसका भी उसे परिज्ञान होना चाहिये। पशुओं की खाल पर मक्खियां अण्डा न दे सकें, इसका उसे ध्यान रखना चाहिये। पशुओं की बीमारियों तथा उनके घावों का इलाज भी उसे आना चाहिये। पशुओं को मक्खी, मच्छर आदि से बचाने के लिये धुवें आदि का प्रयोग करना चाहिये। उसे यह भी ज्ञात होना चाहिये कि नदी को किस स्थान से पार किया जा सकता है, पीने का पानी कहां मिल सकता है और कौन-से चरागाह उत्तम हैं। निस्सन्देह, इस प्रकार के कुशल ग्वालों के संरक्षण में बौद्धकालीन ग्रामों के पशु अच्छी हालत में रहते होंगे।

चरागाह के अतिरिक्त प्रत्येक ग्राम की सीमा पर जंगल होते थे। जंगलों की उस समय में कमी न थी। इन जंगलों से ग्राम के निवासी लकड़ी, बांस, फूंस, काना आदि पदार्थों को बिना किसी बाधा के, स्वच्छन्दता के साथ ले सकते थे। इनपर किसी प्रकार का कर नहीं होता था।

ग्राम के निवासियों में सामूहिक जीवन की कमी नहीं थी। वे अनेक प्रकार के कार्यों को सम्मिलित रूप से करते थे। कुआं खोदना, सड़कें बनाना, बांध बांधना आदि अनेक कार्य वे सम्मिलित रूप से ही करते थे। कुलावक जातक में एक ग्राम का उल्लेख है, जिसमें तीस परिवार निवास करते थे। इस ग्राम के निवासी अपने साथ सम्बन्ध रखनेवाले सामूहिक कार्यो का सम्पादन स्वयं करते थे। इसके निवासियों द्वारा सम्मिलितरूप से बनाये जानेवाले कूप, बांध तथा मन्दिर का उल्लेख भी इस जातक में मिलता है। इसी प्रकार के वर्णन लोशक जातक, तक्क जातक और महा-उवग्ग जातक में भी मिलते हैं।

अनेक ग्रामों के चारों ओर भी मिट्टी की दीवार व कांटों का घेरा आदि रहता था। इसीलिये अनेक स्थानों पर जातकों में ग्रामद्वारों का उल्लेख किया गया है। खेतों की रक्षा करने के लिये रखवाले नियुक्त किये जाते थे, जो सम्पूर्ण ग्राम की तरफ से नियत होते थे। खेतों के आकार प्रायः बड़े नहीं होते थे। एक परिवार जितनी जमीन को सुगमता के साथ स्वयं जोत सके, उतने ही खेत प्रायः होते थे। पर अनेक बड़े खेतों का वर्णन भी बौद्ध-साहित्य में आता है। जातक कथाओं में एक इस प्रकार के खेत का उल्लेख है, जिसका विस्तार १००० करीष था। एक अन्य स्थान पर ब्राह्मण काशीभारद्वाज का वर्णन है, जिसके पास पास ५०० हलों की खेती थी। इन खेतों में भृति पर काम करनेवाले मजदूरों का भी उपयोग होता था।

व्यापार और नौकानयन—बौद्ध-साहित्य के अनुशीलन से उस समय के व्यापार तथा नौकानयन के सम्बन्ध में अनेक महत्त्वपूर्ण और मनोरञ्जक बातें ज्ञात होती हैं। उस समय में भारत के व्यापारी महासमुद्र को पार कर दूर-दूर देशों में व्यापार के लिये जाया करते थे। समुद्र को पार करने के लिये जहाज बहुत बड़ी संख्या में बनते थे, और उस समय में जहाज बनाने का व्यवसाय अत्यन्त उन्नत दशा में था। समुद्दवणिज जातक में एक जहाज का उल्लेख है, जिसमें वर्धकियों के सहस्र परिवार बड़ी सुगमता के साथ बैठकर सुदूरवर्ती किसी द्वीप में चले गये थे। वर्धकियों के ये एक सहस्र परिवार ऋण के बोझ से बहुत दबे हुए थे, और अपनी दशा से असन्तुष्ट होने के कारण इन्होंने यह निश्चय किया

था कि किसी सुदूर प्रदेश में जाकर बस जावें। सचमुच वह जहाज बहुत विशाल होगा, जिसमें एक हजार परिवार सुगमता के साथ यात्रा कर सकें। वलाहस्स जातक में पांच सौ व्यापारियों का उल्लेख है, जो जहाज के टूट जाने के कारण लंका के समुद्रतट पर आ लगे थे और जिन्हें पथभ्रष्ट करने के लिये वहां के निवासियों ने अनेक प्रकार के प्रयत्न किये थे। सुप्पारक जातक में ७०० व्यापारियों का उल्लेख है, जिन्होंने एक साथ एक जहाज पर समुद्रयात्रा के लिये प्रस्थान किया था। महाजनक जातक में चम्पा से सुवर्ण भूमि को प्रस्थान करनेवाले एक जहाज का वर्णन आता है, जिसमें बहुत-से व्यापारी अपना माल लादकर व्यापार के लिये जा रहे थे। इस जहाज में सात सार्थवाहों का माल लदा हुआ था और इसने सात दिन में सात सौ योजन की दूरी तय की थी। संख जातक में संख नामक ब्राह्मण की कथा आती है, जो बहुत दान करता था। उसने दान के लिये छः दानशालायें बनाई हुई थीं। इनमें वह प्रति दिन छः लाख मुद्राओं का दान करता था। एक बार उसके दिल में आया कि धीरे-धीरे मेरी सम्पत्ति का भण्डार समाप्त होता जाता है, और जब सम्पत्ति समाप्त हो जायगी, तो मैं क्या दान करूंगा ? यह सोचकर उसने एक जहाज द्वारा सुवर्णभूमि में व्यापार के लिये प्रस्थान करने का विचार किया। उसने एक जहाज व्यापारी माल से भरकर सुवर्णभूमि की तरफ प्रस्थान किया। मार्ग में किस प्रकार इस जहाज पर विपत्तियां आई और किस तरह उनसे इसकी रक्षा हुई, इस सबका विस्तृत वर्णन संख जातक में मिलता है। जहाज बहुत बड़ी संख्या में बनाये जाते थे। महा-उम्मग्ग-जातक में भगवान् आनन्द को ३०० जहाज बनाने की आज्ञा देते हैं। ३०० जहाजों को एक साथ बनाने की आज्ञा देना सूचित करता है, कि उस समय इस प्रकार के अनेक केन्द्र विद्यमान थे, जहां प्रचुर परिमाण में जहाजों का निर्माण किया जाता था। इसी प्रकार बौद्ध-साहित्य में अन्यत्र भी अनेक स्थानों पर जहाजों और उन द्वारा होने वाले व्यापार का उल्लेख है, पर इस सबको यहां उद्धृत करने की आवश्यकता नहीं। इन थोड़े-से निर्देशों से यह भली-भांति स्पष्ट हो जाता है, कि समुद्र में जहाजों द्वारा व्यापार उस समय में एक अत्यन्त प्रचलित बात थी।

इन जहाजों द्वारा भारत का लंका, सुवर्णभूमि फारस और बैबिलोन के साथ व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित था। सुवर्णभूमि के साथ व्यापार का और वहां जानेवाले जहाजों का जातकों में स्थान-स्थान पर उल्लेख आता है। इसी प्रकार लंका और वहां जानेवाले जहाजों के सम्बन्ध में भी अनेक निर्देश

पाये जाते हैं। बैबिलोन के साथ व्यापार का उल्लेख बावेरु जातक में आता है। इसकी कथा संक्षेप से इस प्रकार है—एक बार की बात है, जब राजा ब्रह्मदत्त बनारस में राज्य करता था, कुछ व्यापारी व्यापार करने के लिये बावेरु देश में गये और अपने साथ जहाज पर एक कौवे को भी लेते गये। बावेरु देश में कोई पक्षी नहीं होता था, इसलिये जब वहां के निवासियों ने एक पक्षी को देखा, तो उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा। उन्होंने भारत के इन व्यापारियों से प्रार्थना की कि इस उड़नेवाले अद्भुत जन्तु को उन्हें बेच जावें। वह कौवा एक सौ मुद्राओं में बिका। दूसरी बार जब ये व्यापारी फिर व्यापार करते हुए बावेरु देश पहुंचे, तो जहाज पर अपने साथ एक मोर को ले गये। मोर को देखकर बावेरु के निवासियों को और भी अधिक आश्चर्य हुआ और वह वहां पर एक सहस्र मुद्राओं में बिका। इस विषय में सब विद्वान् सहमत हैं, कि बावेरु का अभिप्राय बैबिलोन से है, और इस जातक में यह भलीभांति स्पष्ट हो जाता है कि बौद्ध-काल में भारतीय व्यापारी सुदूरवर्ती बैबिलोनिया के राज्य में भी व्यापार लिये जाया करते थे। बैबिलोन के मार्ग में विद्यमान फारस की खाड़ी और फारस का समुद्रतट उनके जहाजों द्वारा भलीभांति आलोडित हुए थे, इस बात में भी किसी प्रकार का सन्देह नहीं किया जा सकता।

भारत से इन देशों तक पहुंचने के लिये अनेक जलमार्ग विद्यमान थे। भारत की नदियां उस समय जलमार्ग के तौर पर व्यवहृत होती थीं। चम्पा और बनारस उस समय में अच्छे बन्दरगाह माने जाते थे, जहां से जहाज पहले नदी में और फिर समुद्र में जाते थे। कुमार महाजनक ने सुवर्ण-भूमि के लिये चलते हुए चम्पा से प्रस्थान किया था। इसी प्रकार सीलानिसंस जातक में समुद्र में जहाज के टूट जाने पर जलमार्गद्वारा यात्रियों के बनारस पहुंचाने का उल्लेख है। पर सुदूरवर्ती देशों में जाने के लिये चम्पा और बनारस जैसे नदी तटवर्ती नगर विशेष उपयुक्त नहीं हो सकते थे। इसके लिये उस समय में समुद्र-तट पर अनेक प्रसिद्ध बन्दरगाह विद्यमान थे। इन बन्दरगाहों के सम्बन्ध में भी कुछ महत्त्वपूर्ण निर्देश बौद्ध-साहित्य में मिलते हैं। हम उन्हें यहां निर्दिष्ट करना आवश्यक समझते हैं।

लोसक जातक में समुद्रतट पर विद्यमान एक बन्दरगाह का वर्णन है, जिसका नाम गम्भीरपत्तन था। यहां पर जहाज किराये पर मिल सकते थे। गम्भीरपत्तन से जहाजों के चलने और उनके महासमुद्र में जाने का वर्णन इस जातक में उपलब्ध होता है। सुस्सोन्दि जातक में भारुकच्छ नाम के बन्दरगाह

का उल्लेख है। भारुकच्छ से जहाज में जानेवाले व्यापारियों का विशद रूप से वर्णन इस जातक में किया गया है। इसी प्रकार सुप्पारक जातक में भी भारुकच्छ पत्तन का उल्लेख है, और वहां यह भी लिखा है कि यह समुद्रतट पर विद्यमान एक बन्दरगाह था। इसी प्रकार अन्यत्र बौद्ध-साहित्य में ताम्रलिप्ति, सुप्पारक, रोरुक, कविरपत्तन आदि बन्दरगाहों का भी उल्लेख है।

समुद्र में जहाजों द्वारा होनेवाले विदेशी व्यापार के अतिरिक्त बौद्धकालीन भारत में आन्तरिक व्यापार की भी कमी न थी। भारत एक बहुत बड़ा देश है। उसके विविध प्रदेशों में पारस्परिक व्यापार अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखता था। यह आन्तरिक व्यापार स्थल और जल दोनों मार्गों द्वारा होता था। भारत में व्यापार के प्रमुख स्थल और मार्ग कौन-से थे, इसपर हम आगे चलकर प्रकाश डालेंगे। पर यहां यह बताना आवश्यक है, कि स्थलमार्गों द्वारा होनेवाले व्यापार का स्वरूप क्या था। यह आन्तरिक व्यापार सार्थों (काफलों) द्वारा होता था। बहुत-से व्यापारी परस्पर साथ मिलकर काफलों में व्यापार करते थे। उस समय भारत में जंगलों की अधिकता थी। रास्ते बहुत सुरक्षित नहीं थे। इस कारण किसी व्यापारी के लिये यह सम्भव नहीं होता था, कि वह अकेला सुदूरवर्ती प्रदेशों में व्यापार के लिये जा सके। वे बड़े-बड़े काफले बना कर एक साथ व्यापार के लिये जाया करते थे। जातक-साहित्य में बहुत-से काफलों और उनकी यात्राओं के वर्णन संगृहीत हैं। अनेक काफलों में तो ५०० से लेकर १००० तक गाड़ियां होती थीं। जातक-कथाओं में जिन काफलों (सार्थों) का वर्णन है, वे बैलगाड़ियों द्वारा व्यापार करते थे। सार्थ के नेता को सार्थ-वाह कहते थे। काफलों की यात्रा निरापद नहीं होती थी। उन्हें लूटने के लिये डाकुओं के विविध दल हमेशा प्रयत्नशील रहते थे। सत्तिगुम्ब जातक में डाकुओं के एक ग्राम का उल्लेख है, जिसमें ५०० डाकू निवास करते थे। सार्थों को इन डाकुओं का सामना करने तथा उनसे अपने माल की रक्षा करने को उचित व्यवस्था करनी पड़ती थी। इसके लिये वे अपने साथ शस्त्रयुक्त पहरेदारों को रखते थे। ये पहरेदार व योद्धा सार्थ पर होनेवाले हमलों का वीरता के साथ मुकाबला करते थे। सार्थों की रक्षार्थ साथ चलनेवाले पहरेदारों का जगह-जगह पर जातक-कथाओं में वर्णन है। डाकुओं के अतरिक्त अन्य भी अनेक प्रकार की आपत्तियों का मुकाबला इन सार्थों को करना होता था। अपण्णक जातक में इन विपत्तियों का विशद रूप से वर्णन है। डाकुओं के अतिरिक्त जंगली जानवर, पानी की कमी, भूत-पिशाच आदि की सत्ता और

आहार का अभाव—ये सब आपत्तियां थीं, जिनका समुचित प्रबन्ध किये बिना कोई सार्थ सफलता के साथ अपनी यात्रा नहीं कर सकता था।

स्थल-मार्गों से व्यापार करनेवाले ये सार्थ बड़ी लम्बी-लम्बी यात्रायें किया करते थे। गान्धार जातक में एक सार्थ का वर्णन है, जिसने विदेह से गान्धार तक की यात्रा की थी। इन दोनों नगरों का अन्तर १२०० मील के लगभग है। बनारस उस समय व्यापार का बड़ा भारी केन्द्र था। बनारस के साथ बहुत-से नगरों और देशों के व्यापार का उल्लेख जातकों में मिलता है। काम्बोज, काम्पिल्य, कपिलवस्तु, कोशल, कुरुक्षेत्र, कुरु, कुशीनारा, कौशाम्बी, मिथिला, मथुरा, पाञ्चाल, सिन्ध, उज्जैन, विदेह आदि के साथ बनारस के व्यापार का वर्णन इस बात को सूचित करता है, कि उस समय में बनारस व्यापार का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण केन्द्र था, जहां से सार्थ विविध देशों में व्यापार के लिये जाया करते थे। बनारस से काम्बोज, सिन्ध और उज्जैन बहुत दूर हैं। इतनी दूर व्यापार के लिये जानेवाले सार्थों की सत्ता इस बात का स्पष्ट प्रमाण है, कि बौद्ध-काल में भारत का आन्तरिक व्यापार बहुत उन्नत दशा में था।

स्थल-मार्ग के अतिरिक्त आन्तरिक व्यापार के लिये नदियों का भी प्रयोग होता था। उस समय में गंगा नदी जहाजों के आने-जाने के लिये प्रयोग में लाई जाती थी। जातक-कथाओं में बनारस आनेवाले जहाजों का अनेक स्थानों पर उल्लेख है। महाजनक जातक से सूचित होता है, कि बौद्ध-काल में गंगा में बहुत-से जहाज आते-जाते थे। गंगा के अतिरिक्त अन्य भी अनेक नदियां व्यापारिक मार्ग के रूप में प्रयुक्त होती थीं।

बौद्ध-काल में स्थलमार्ग से व्यापार करनेवाले व्यापारी किन मार्गों से आया-जाया करते थे, इस सम्बन्ध में भी कुछ महत्त्वपूर्ण निर्देश जातक-कथाओं में मिलते हैं। रीज डेविड्स ने बौद्ध-ग्रन्थों के आधार पर इन मार्गों को इस प्रकार निश्चित किया है—

(१) उत्तर से दक्षिण-पश्चिम को—यह मार्ग सावट्ठी से पतिट्ठान जाता था। इसमें मुख्यतया निम्नलिखित पड़ाव आते थे—पतिट्ठान से चलकर माहिष्मती, उज्जैनी, गोनद्ध, विदिशा, कौशाम्बी और साकेत होते हुए फिर सावट्ठी पहुंचते थे।

(२) उत्तर से दक्षिण-पूर्व को—यह मार्ग सावट्ठी से राजगृह जाता था। यह रास्ता सीधा नहीं था, अपितु सावट्ठी से हिमालय के समीप-समीप होता हुआ वैशाली के उत्तर में हिमालय की उपत्यका में पहुंचता था और वहां से

दक्षिण की तरफ मुड़ता था। इसका कारण शायद यह था, कि हिमालय से निकलनेवाली नदियों को ऐसे स्थान से पार किया जा सके, जहां कि उनका विस्तार अधिक न हो। नदियां पहाड़ों के समीप बहुत छोटी होती हैं, वहां वे अधिक गहरी भी नहीं होतीं। इस मार्ग से सावट्ठी से चलकर सेतव्य, कपिलवस्तु, कुसीनारा, पावा, हत्थिगाम, भण्डगाम, वैशाली, पाटलिपुत्र और नालन्दा रास्ते में आते थे। यह रास्ता आगे गया की तरफ चला जाता था। वहां यह एक अन्य मार्ग से जाकर मिल जाता था, जो कि बनारस से ताम्रलिप्ति (समुद्रतट पर) की तरफ जा रहा होता था।

(३) पूर्व से पश्चिम को—यह मार्ग भारत की प्रसिद्ध नदी गंगा और यमुना के साथ-साथ जाता था। इन नदियों में नौकायें और जहाज भी चलते थे, यह हम पहले लिख चुके हैं। बौद्ध-काल में गंगा नदी में सहजाती नामक नगर तक तथा यमुना में कोशाम्बी तक जहाज आया-जाया करते थे। इस मार्ग में कौशाम्बी का बहुत महत्त्व था। यहां पर उत्तर से दक्षिण-पश्चिम को जानेवाला मार्ग भी मिल जाता था और नौकाओं तथा जहाजों से आनेवाला माल यहां उतार दिया जाता था और उसे गाड़ियों पर लादकर उत्तर या दक्षिण में पहुंचाया जाता था।

इन तीन प्रसिद्ध मार्गों के अतिरिक्त व्यापार के अन्य महत्त्वपूर्ण मार्ग भी बौद्ध-काल में विद्यमान थे, इसमें सन्देह नहीं। जातकों में विदेह से गान्धार, मगध से सौवीर और भारुकच्छ से समुद्रतट के साथ-साथ सुवर्णभूमि जानेवाले व्यापारियों का वर्णन है। विदेह से गान्धार तथा मगध से सौवीर जानेवाले व्यापारी किन मार्गों का अनुसरण करते थे, यह हमें ज्ञात नहीं है। पर यह निश्चित है कि इन सुदूरवर्ती यात्राओं के कारण उस समय में व्यापारीय मार्ग बहुत उन्नत हो चुके थे।

बौद्ध-काल के व्यापारी ऐसे सुदूरवर्ती प्रदेशों में भी व्यापर के लिये जाया करते थे, जहां निश्चित मार्ग नहीं थे, या जिनके मार्ग सर्वसाधारण को ज्ञात न थे। ऐसे सार्थों (काफलों) के साथ इस प्रकार के लोग रहते थे, जो मार्गों का भलीभांति परिज्ञान रखते हों। इन लोगों को 'थलनियामक' कहा जाता था। ये थलनियामक नक्षत्रों तथा ज्योतिष के अन्य तत्त्वों के अनुसार मार्ग का निश्चय करते थे। थलनियामकों से सघन जङ्गलों, विस्तीर्ण मरुस्थलों तथा महासमुद्रों में मार्ग का पता लगाने में सहायता मिलती थी। जातक-कथाओं में लिखा है, कि विस्तीर्ण मरुस्थलों में यात्रा करना उसी प्रकार का है, जैसे महा-

समुद्र में यात्रा करना। अतः उनके लिये भी मार्गप्रदर्शकों की आवश्यकता अनिवार्य होती थी। उस समय में दिग्दर्शक-यन्त्रों का आविष्कार नहीं हुआ था। इस प्रकार के यन्त्रों का उल्लेख कहीं बौद्ध-साहित्य में नहीं है। इसलिये मार्ग का ज्ञान प्राप्त करने के लिये नक्षत्रों से ही सहायता ली जाती थी। समुद्र में दिशा जानने के लिये एक अन्य भी उपाय बौद्ध-काल में प्रयुक्त किया जाता था। उस समय के नाविक लोग अपने साथ एक विशेष प्रकार के कौवे रखते थे, जिन्हें 'दिशाकाक' कहते थे। जब नाविक लोग रास्ता भूल जाते थे और स्थल का कहीं पता न चलता था, तो इन 'दिशाकाकों' को उड़ा दिया जाता था। ये 'दिशा काक' जिधर जमीन देखते थे, उधर की तरफ उड़ते थे और उधर ही नाविक लोग अपने जहाजों को भी ले चलते थे। महासमुद्र के बीच में तो इन दिशाकाकों का विशेष उपयोग नहीं हो सकता था, पर सामान्य समुद्र-यात्राओं में इनसे बहुत सहायता मिलती थी।

दिग्दर्शक-यन्त्र के अभाव में महासमुद्र की यात्रा बहुत संकटमय होती थी। अनेक बार नाविक लोग मार्गभ्रष्ट होकर नष्ट हो जाते थे। जातक-ग्रन्थों में रास्ते से भटककर नष्ट होनेवाले अनेक जहाजों की कथायें लिखी हैं। पण्डर जातक में कथा आती है, कि पांच सौ व्यापारी महासमुद्र में जहाज लेकर गये। अपनी यात्रा के सतरहवें दिन वे मार्ग भूल गये। स्थल का चिह्न कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता था, परिणाम यह हुआ कि वे सब नष्ट हो गये और मछलियों के ग्रास बन गये।

जल और स्थल के इन मार्गों से किन वस्तुओं का व्यापार किया जाता था, इस सम्बन्ध में कोई महत्त्वपूर्ण निर्देश बौद्ध ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं होते। जातक-कथाओं के लेखक इतना लिखकर ही सन्तुष्ट हो जाते हैं कि व्यापारियों ने ५०० व १००० गाड़ियां बहुमूल्य भाण्ड (व्यापारी पदार्थ) से भरीं और व्यापार के लिये चल पड़े। पर इन गाड़ियों में कौन-से बहुमूल्य भाण्ड को भरा गया, यह बताने का वे कष्ट नहीं करते। जो दो-चार निर्देश इस विषय में मिलते हैं, उनका जिक्र करना जरूरी है। बौद्ध-काल में वस्त्र-व्यवसाय के लिये बनारस और शिवि-देश सबसे अधिक प्रसिद्ध थे। महापरिनिब्बान सुत्तान्त में बनारस के वस्त्रों की बहुत प्रशंसा की गई है, और लिखा है कि वे अत्यन्त महीन होते हैं। महावग्ग में शिविदेश के वस्त्रों को बहुमूल्य बताया गया है। सिन्ध के घोड़े उस समय में बहुत प्रसिद्ध थे। जातकों के अनुसार प्राच्य देश के राजा लोग उत्तर या पश्चिम के घोड़ों को पसन्द करते थे और उन्हीं को अपने पास रखते

थे। अनेक स्थानों पर घोड़े के सौदागरों का वर्णन है, जो उत्तरापथ से आकर बनारस में घोड़े बेचते थे।

मुद्रा-पद्धति तथा वस्तुओं के मूल्य—बौद्ध-काल की मुद्रा-पद्धति के सम्बन्ध में बौद्ध-ग्रन्थों से अनेक उपयोगी बातें ज्ञात होती हैं। उस समय का प्रधान सिक्का 'काहापन' या 'कार्षापण' होता था। जातक-कथाओं में बार-बार इसका उल्लेख आता है। परन्तु इसके अतिरिक्त निष्क, सुवर्ण और धरण नाम के सिक्कों का प्रचलन भी इस काल में विद्यमान था।

निष्क या निक्ख सोने का सिक्का होता था, जिसका भार ४०० रत्ती होता था। 'सुवर्ण' भी सोने का सिक्का होता था, जो भार में ८० रत्ती होता था। बौद्ध-साहित्य में सामान्य सोने के लिये हिरण्य शब्द आता है, और सोने के सिक्के के लिये 'सुवर्ण' या 'सुवर्णमाषक'। उदय जातक में कथा आती है कि उदयभद्दा को 'सुवर्णमाषक' देकर प्रलुब्ध करने का प्रयत्न किया गया। इसी प्रकार अन्यत्र भी 'सुवर्णमाषक' का उल्लेख आता है।

बौद्ध-काल का प्रधान सिक्का कार्षापण होता था। यद्यपि मुख्यतया कार्षापण तांबे के होते थे, पर इस प्रकार के निर्देश मिलते हैं, जिनसे यह सूचित होता है कि कार्षापण सोने और चांदी के भी बने होते थे। डाक्टर भाण्डारकर ने भारतीय मुद्रापद्धति-विषयक अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ में इन निर्देशों का विशदरूप से विवेचन किया है।

इन विविध सिक्कों का भार कितना होता था और वर्तमान सिक्कों में उनका मूल्य कितना होता था, इस सम्बन्ध में विचार कर श्रीमती रीज डेविड्स निम्न-लिखित परिणाम पर पहुंची हैं—

सोने के १४६ ग्रेन=१६ सोने के माषक=१ सुवर्ण
चांदी के १४६ ग्रेन=१६ चांदी के माषक=१ धरण
तांबे के १४६ ग्रेन=१६ तांबे के माषक=१ कार्षापण

इसके अनुसार—

१ सुवर्ण=१ पौ० ५ शि०
१ धरण=६ पेंस
१ कार्षापण=१ पेंस

विनिमय की सुगमता के लिये बौद्ध-काल में वर्तमान अठन्नी, चवन्नी, इकन्नी आदि की तरह अर्धकार्षापण, पादकार्षापण आदि अनेक सिक्के भी होते थे। बहुत छोटी कीमतों के लिये माषक और काकणिका का प्रयोग किया जाता था।

विविध वस्तुओं की कीमतों के सम्बन्ध में भी कुछ मनोरंजक निर्देश बौद्ध-साहित्य में मिलते हैं। उनका उल्लेख करना भी यहां उपयोगी होगा। विनय-पिटक के अनुसार एक मनुष्य के एक बार के आहार के लिये उपयुक्त भोजन-सामग्री एक कार्षापण द्वारा प्राप्त की जा सकती थी। बौद्ध-भिक्षुओं के लिये उपयुक्त चीवर भी एक कार्षापण द्वारा प्राप्त किया जा सकता था। परन्तु भिक्षुणी के लिये उपयुक्त वस्त्र १६ कार्षापणों में बनता था। बहुमूल्य वस्त्रों की कीमत बहुत अधिक भी होती थी। बौद्ध-ग्रन्थों में एक हजार तथा एक लाख कार्षापणों में बिकनेवाले वस्त्रों का भी उल्लेख है।

पशुओं की कीमतें भिन्न-भिन्न होती थी। महाउम्मग्ग जातक के अनुसार गधे की कीमत ८ कार्षापण होती थी। गामणिचण्ड जातक और कन्ह जातक के अनुसार बैलों की एक जोड़ी २४ कार्षापणों में खरीदी जा सकती थी। दास-दासियों की कीमत उनके गुणों के अनुसार कम-अधिक होती थी। वेस्सन्तर जातक में एक दासी का वर्णन है, जिसकी कीमत १०० निष्क से भी अधिक थी। दुर्जन-जातक और नन्द जातक में ऐसे दास-दासियों का उल्लेख है, जो केवल १०० कार्षापणों से ही प्राप्त किये जा सकते थे।

घोड़े उस समय में मंहगे थे। जातकों में घोड़ों की कीमत १००० कार्षापण से लेकर ६००० कार्षापण तक लिखी गई है। मेमने की कीमत एक स्थान पर १०० कार्षापण लिखी गई है, गधे और बैल के मुकाबले में मेमने का इतना मंहगा होना समझ में नहीं आता है।

उस समय में वेतन तथा भृति किस दर से दी जाती थी, इस विषय में भी कुछ निर्देश मिलते हैं। राजकीय सेवक की न्यूनतम भृति १ कार्षापण दैनिक होती थी। नाई को बाल काटने के बदले में ८ कार्षापण तक दिये जाते थे। गणिका की फीस ५० से १०० कार्षापण तक होती थी। अत्यन्त कुशल धनुर्धारी को १००० कार्षापण तक मिलता था। रथ किराये पर लेने के लिये ८ कार्षापण प्रति घण्टा दिया जाता था। एक मछली की कीमत ७ माषक तथा शराब के एक गिलास की कीमत १ माषक लिखी गई है।

तक्षशिला में अध्ययन के लिये जानेवाले विद्यार्थी अपने आचार्य को १००० कार्षापण दक्षिणा के रूप में प्रदान करते थे। इन थोड़े-से निर्देशों से हम बौद्ध-काल की कीमतों के सम्बन्ध में कुछ अनुमान कर सकते हैं।

(४) विवाह तथा स्त्रियों की स्थिति

विवाह तथा गृहस्थी जीवन—बौद्ध-साहित्य में तीन प्रकार के विवाहों का

उल्लेख है—प्राजापत्य, स्वयंवर और गान्धर्व। सामान्यतया विवाह प्राजापत्य पद्धति से होता था। परम्परागत प्रथा के अनुसार समान जाति के कुलों में माता-पिता के इच्छानुसार सम्बन्ध स्थापित किया जाता था। परन्तु स्वयंवर तथा गान्धर्व-विवाहों के भी अनेक उदाहरण बौद्ध-साहित्य में मिलते हैं, और इन्हें भी धर्मानुकूल समझा जाता था। कुणाल जातक में कुमारी कण्हा के स्वयंवर का उल्लेख है, जिसने कि अपनी इच्छा के अनुसार पांच कुमारों के साथ विवाह किया था। नच्च जातक में एक कुमारी का वर्णन है, जिसने अपने पिता से यह वर मांगा था, कि उसे अपनी इच्छानुसार पति वरण करने का अवसर दिया जावे। पिता ने उसकी यह इच्छा पूर्ण कर दी और उसके अनुसार स्वयंवर सभा बुलाई गई, जिसमें दूर-दूर से कुमार एकत्रित हुए। धम्मपदटीका में भी एक असुरराजा वेंपचित्ति की कन्या के स्वयंवर-विवाह का वर्णन है। गान्धर्व-विवाह के भी अनेक दृष्टान्त बौद्ध-ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। कट्टहारि जातक में बनारस के राजा ब्रह्मदत्त की कथा आती है, जो एक बार जंगल में भ्रमण कर रहा था। उसने देखा कि कोई अनिन्द्य सुन्दरी बालिका बड़ी सुरीली तान में गा रही थी। राजा ब्रह्मदत्त उसे देखते ही मुग्ध हो गया और उन दोनों ने वहीं वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर लिया। इसी प्रकार अवन्ती के राजा चण्डप्रद्योत की कन्या वासवदत्ता (वासुलदत्ता) का उदयन के साथ विवाह भी गान्धर्व-विवाह का प्रसिद्ध उदाहरण है। धम्मपदटीका में कुमारी पाटच्चरा का वर्णन आता है, जिसने अपने माता-पिता द्वारा निश्चित सम्बन्ध को ठुकराकर अपनी इच्छा से विवाह किया था। इसी प्रकार के उदाहरण अन्यत्र भी मिलते हैं। इनसे स्पष्ट है, कि बौद्ध-काल में सामान्य प्राजापत्य-विवाह के अतिरिक्त अन्य प्रकार के वैवाहिक सम्बन्ध भी प्रचलित थे, और उन्हें धर्मानुकूल माना जाता था।

सामान्यतया विवाह समान जाति और कुल में होते थे। पर बौद्ध-ग्रन्थों में इस प्रकार के उदाहरणों की कमी नहीं है, जब कि विवाह करते हुए निश्चित जाति व कुल का ध्यान नहीं रखा गया। कोशल राज्य के प्रसिद्ध राजा पसेनदी (अग्निदत्त प्रसेनजित्) ने श्रावस्ती के मालाकार की कन्या मल्लिका के साथ विवाह किया था। वंकहार देश के शिकारियों के सरदार की कन्या चापा विवाह का उपक नामक एक वैरागी के साथ कर दिया गया था। दिव्यावदान में एक ब्राह्मण कुमारी का उल्लेख आता है, जिसने शार्दूलकर्ण नाम के शूद्र-कुमार के साथ विवाह किया था। इसी प्रकार धम्मपदटीका में कुण्डलकेशी नामक एक कुलीन महिला की कथा

आती है, जिसने एक डाकू के साथ विवाह करने में कोई संकोच नहीं किया था। इन उदाहरणों से यह बात भलीभांति स्पष्ट हो जाती है, कि जाति का बन्धन बौद्ध-काल में भी बहुत दृढ़ नहीं हो गया था। जाति के बाहर विवाह भी उस समय में प्रचलित थे।

कन्याओं का विवाह सामान्यतया सोलह वर्ष की आयु में किया जाता था। बाल-विवाह की प्रथा उस समय प्रचलित नहीं थी। धम्मपदटीका में राजगृह के श्रेष्ठी की कन्या कुण्डलकेशी का उल्लेख आता है, जो सोलह वर्ष की आयु तक अविवाहित रही थी। उसमें यह भी लिखा है कि यही आयु है, जिसमें कि स्त्रियां विवाह के लिये इच्छुक होती हैं।

बौद्ध-काल में विवाहों में दहेज की प्रथा भी प्रचलित थी। धम्मपदटीका में श्रावस्ती के श्रेष्ठी मिगार की कथा आती है, जिसने अपनी कन्या विशाखा के विवाह में निम्निलिखित वस्तुयें दहेज में दी थीं—धन से पूर्ण पांच सौ गाड़ियां, सुवर्ण-पात्रों से पूर्ण पांच सौ गाड़ियां, रजत के पात्रों से पूर्ण पांच सौ गाड़ियां, तांबे के पात्रों से पूर्ण पांच सौ गाड़ियां, विविध प्रकार के रेशमी वस्त्रों से पूर्ण पांच सौ गाड़ियां और इसी प्रकार घी, चावल तथा खेती के उपकरणों से पूर्ण पांच-पांच सौ गाड़ियां, साठ हजार वृषभ तथा साठ हजार गौवें। नहानचुन्नमूल्य के रूप में कुछ सम्पत्ति प्रदान करने की बात तो स्थान-स्थान पर बौद्ध-साहित्य में मिलती है। कोशल के राजा महाकोशल ने मगधराज बिम्बिसार के साथ अपनी कन्या कोशलदेवी का विवाह करते हुए काशी का एक ग्राम, जिसकी आमदनी एक लाख वार्षिक थी, नहानचुन्नमूल्य के रूप में प्रदान किया था। यही ग्राम फिर कुमारी वजिरा के विवाह के अवसर पर अजातशत्रु को प्रदान किया गया था। इसी प्रकार श्रावस्ती के धनकुवेर श्रेष्ठी मिगार ने ५४ कोटि धनराशि अपनी कन्या के विवाह के अवसर पर नहानचुन्नमूल्य के रूप में दी थी।

बौद्ध काल में पारिवारिक जीवन का क्या आदर्श था, इसका बड़ा सुन्दर परिचय उन शिक्षाओं से मिलता है, जो उस समय की बधुओं को दी जाती थीं। ये शिक्षायें निम्नलिखित हैं—

(१) अन्दर की अग्नि को बाहर न ले जाओ।
(२) बाहर की अग्नि को अन्दर न लाओ।
(३) जो दे, उसी को प्रदान करो।
(४) जो नहीं देता, उसको प्रदान न करो।
(५) जो देता है, और जो नहीं देता है, उन दोनों को प्रदान करो।

(६) सुख के साथ बैठो।
(७) सुख के साथ भोग करो।
(८) सुख के साथ शयन करो।
(९) अग्नि की परिचर्या करो।
(१०) कुल देवता का सम्मान करो।

सूत्र रूप से उपदिष्ट की गई इन शिक्षाओं का क्या अभिप्राय है, इसका विवेचन भी बौद्ध-साहित्य में किया गया है। हम उसे संक्षेप के साथ यहां उपस्थित करते हैं—

(१) अपने घर की अन्दरूनी बातचीत को बाहर न कहो। घर में जो बातें होती हैं, जो समस्यायें उत्पन्न होती हैं, उनका जिक्र दूसरों से, यहां तक कि घर के नौकरों से भी न करो।
(२) बाहर के झगड़ों को घर में प्रविष्ट न होने दो।
(३) घर की वस्तु उसी को उधार दो, जो उसे वापिस कर दे।
(४) घर की वस्तु उसे कभी उधार न दो, जो उसे वापिस न लौटावे।
(५) जो भिखमंगे तथा कंगाल भिखारी हैं, उन्हें इस बात की अपेक्षा किये बिना कि वे वापिस देते हैं या नहीं, दान करो।
(६) जिसके सम्मुख बैठना मुनासिब है, उसके सम्मुख बैठी रहो। जिसके आने पर खड़ा रहना आवश्यक है, उसके सम्मुख मत बैठो। सबके साथ यथायोग्य व्यवहार करो।
(७) पति के खाने के पूर्व भोजन न करो। इसी प्रकार अपनी सास तथा श्वशुर को भलीभांति भोजन कराने के अनन्तर स्वयं भोजन करो।
(८) अपने पति से पूर्व सोओ नहीं। परिवार के विविध सदस्यों के प्रति अपने सम्पूर्ण कर्त्तव्यों को कर चुकने के अनन्तर फिर शयन करो, पूर्व नहीं।
(९) अपने पति, श्वशुर तथा सास को अग्नि के समान समझकर उनकी पूजा करनी चाहिये।
(१०) जब कोई भिक्षु भिक्षा के लिये घर के द्वार पर आवे, तब उसे भोजन कराके स्वयं खाना चाहिये।

पर सब स्त्रियां इन शिक्षाओं के अनुसार आदर्श गृहस्थ जीवन व्यतीत करती हों, यह बात बौद्ध-काल में नहीं थी। उस काल में स्त्रियां अपनी-अपनी प्रवृत्ति के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार की होती थीं। बौद्ध-साहित्य में सात प्रकार की पत्नियों

का वर्णन किया गया है। उस समय के वास्तविक गृहस्थ-जीवन पर प्रकाश डालने के लिये इनका उल्लेख विशेष रूप से सहायक हो सकेगा—

(१) एक प्रकार की पत्नियां क्रोधी तथा गरम मिजाज की होती हैं। वे सदा क्रोध करती रहती हैं। अपने पति से उनकी नहीं बनती। पति से द्वेष कर वे दूसरों के साथ प्रेम करती हैं। अपने पति की सम्पत्ति को नष्ट करने में उन्हें जरा भी संकोच नहीं होता।

(२) दूसरे प्रकार की पत्नियां वे होती हैं, जो अपने पति की कमाई को ईमानदारी के साथ व्यय नहीं करतीं। वे उसमें से चोरी करने में संकोच नहीं करतीं।

(३) तीसरे प्रकार की पत्नियां वे होती है, जो अपने पति पर हुकूमत करने की कोशिश करती हैं। वे स्वयं आलसी, कामचोर और गरम तबियत की होती हैं। घर में अपने कर्त्तव्यों की उपेक्षा कर वे आराम के साथ जीवन व्यतीत करना चाहती हैं और पति तथा घर के अन्य सदस्यों को अपने शासन में रखने का प्रयत्न करती हैं।

(४) चौथे प्रकार की पत्नियां वे होती हैं, जो घर में माता की तरह रहती हैं। घर की सम्पूर्ण सम्पत्ति की वे संभाल करती है और पति तथा घर के अन्य सदस्यों की उसी प्रकार से परवाह करती हैं, जैसे माता अपने बच्चों की करती है।

(५) पांचवें प्रकार की पत्नियां वे होती हैं, जो अपने पति की आज्ञा में रहती हैं। जिस प्रकार छोटी बहन अपनी बड़ी बहन या अन्य बड़े सम्बन्धियों के साथ मृदुता का व्यवहार करती है, अपने से बड़ों का सम्मान करती है, उसी प्रकार यह पांचवें प्रकार की पत्नी अपने पति के साथ व्यवहार करती है।

(६) छठे प्रकार की पत्नियां वे होती है, जो अपने पति के साथ मित्र के समान व्यवहार करती है। जिस तरह कोई व्यक्ति अपने मित्र से बहुत समय पश्चात् मिलकर खुश होता है, और उसे देखकर आह्लादित होता है, उसी प्रकार ये सदा अपने पति को देखकर प्रसन्न होती है। ये अपने पति को सम्मान की दृष्टि से देखती हैं, और उसकी उपेक्षा नहीं करतीं।

(७) सातवें प्रकार की पत्नियां वे होती हैं, जो दासी के समान अपने पति की आज्ञा में रहती हैं। उन्हें चाहे कितना ही धमकाया व पीटा जाय, पर उन्हें जरा भी बुरा नहीं मालूम होता। वे चुपचाप पति की उचित-अनुचित सब प्रकार की आज्ञाओं को मानती जाती हैं।

अंगुत्तरनिकाय के अनुसार प्रत्येक सफल पत्नी में निम्नलिखित गुणों का होना आवश्यक है—

(१) उसे पति की आज्ञा में रहना चाहिये ।
(२) उसे पति के प्रति सदा मधुरता के साथ बोलना चाहिये ।
(३) उसे पति की इच्छानुसार कार्य करना चाहिये ।
(४) उसे अपने पति के गुरुजनों का सम्मान करना चाहिये ।
(५) उसे अतिथियों की सेवा में जरा भी प्रमाद न करना चाहिये ।
(६) उसे कातने और बुनने में प्रवीण होना चाहिये ।
(७) गृहस्थी को सम्भालने के लिये, घर के सब कर्त्तव्यों को पूर्ण करने के लिये योग्यता उसमें होनी चाहिये ।
(८) घर के नौकरों के आराम का उसे खयाल रखना चाहिये । जब वे बीमार पड़े, तब उनकी चिकित्सा का भी प्रबन्ध करना चाहिये ।
(९) पति की कमाई को भलीभांति सम्भालना चाहिये ।
(१०) शराब, नशा आदि व्यसनों में धन के विनाश को रोकना चाहिये ।
(११) उसमें उदारता होनी चाहिये, कंजूसी नहीं ।

अंगुत्तरनिकाय में ही एक अन्य स्थान पर प्रत्येक स्त्री के लिये चार गुणों का प्रतिपादन किया है । वे गुण निम्नलिखत हैं—

(१) गृहकार्य में प्रवीणता—स्त्री को गृहकार्य में जरा भी प्रमाद न करना चाहिये ।
(२) घर के विविध सदस्यों की परवाह करना—घर के जितने भी सदस्य हैं, उनकी क्या-क्या आवश्यकतायें हैं, इस बात की चिन्ता सदा स्त्री को रहनी चाहिये । नौकर अपना कार्य ठीक प्रकार करते हैं वा नहीं, इसका भी उसे ध्यान रखना चाहिये ।
(३) पति की इच्छानुसार कार्य करना ।
(४) मितव्ययिता ।

अंगुत्तरनिकाय का कहना है कि जो स्त्री इन गुणों से युक्त होकर साथ ही बुद्ध, धर्म और संघ—इन तीनों रत्नों पर श्रद्धा रखती है, वह इस लोक और परलोक—दोनों में सुख प्राप्त करती है ।

सहायक ग्रन्थ

Fausball : The Jataka
Mahavagga (Sacred Books of the East)
Rhys Davids : Buddhist India

Rockhill : Life of Buddha
Cowell : The Jataka
Fick : Social organisation.
Mazumdar : Corporate life in Ancient India.
Das S. K. : Economic History of Ancient India.
Bhandarkar : Carmichael Lectures on Indian Numismatics.
Vandyopadhyaya N. C. : Economic life and Progress in Ancient India.
Cowell : Divyavadana
राहुल सांकृत्यायन : बुद्धचर्या।

पन्द्रहवां अध्याय

विदेशी आक्रमण और नन्द-साम्राज्य

(१) ईरान में हखामनी-साम्राज्य

कुरु—एशिया के जिस देश को वर्तमान समय में ईरान या फारस कहा जाता है, उसके निवासी भी विशाल आर्य-जाति के ही अंग हैं। जिस प्रकार आर्यो की एक शाखा भारत में आकर बसी, वैसे ही उनकी एक अन्य शाखा ने ईरान को आबाद किया। जैसे प्राचीन भारत में आर्यों के अनेक छोटे-बड़े राज्य थे, वैसे ही ईरान में भी थे। ये राज्य आपस में संघर्ष करते रहते थे, और उनमें भी यह प्रवृत्ति विद्यमान थी, कि अन्य राज्यों को जीतकर अपने विशाल साम्राज्य का निर्माण करें। सातवीं सदी ई० पू० में ईरान का अन्यतम आर्य-राज्य पार्स बहुत शक्तिशाली हो गया, और उसके राजा हखामनी ने अपनी शक्ति को बहुत बढ़ा लिया। छठी शताब्दी ई०पू० में हखामनी के वंश में एक महत्त्वाकांक्षी राजा का प्रादुर्भाव हुआ, जिसका नाम कुरु (काइरस या Cyrus) था। इसका शासन-काल ५५६ई०पू० से ५२९ ई० पू० तक था। कुरु ने न केवल सम्पूर्ण ईरान को जीतकर अपने अधीन कर लिया, अपितु उसके पड़ोस के अन्य राज्यों की भी विजय की। पूर्व दिशा में उसने बाल्त्री (बैक्ट्रिया), शकस्थान (सीस्तान) और मकरान को जीतकर कपिश पर भी आक्रमण किया और हिन्दूकुश पर्वत-माला तक के प्रदेश को अपने अधीन कर लिया। इस प्रकार सम्राट् कुरु के ईरानी साम्राज्य की पूर्वी सीमा भारत की पश्चिमी सीमा के साथ आ लगी। मकरान के रास्ते वह सिन्ध पर भी आक्रमण करना चाहता था, पर अपने इस प्रयत्न में उसे सफलता नहीं मिल सकी। पश्चिम दिशा में कुरु ने उस प्रदेश तक अपनी शक्ति का विस्तार कर लिया था, जिसे आजकल एशिया माइनर कहते हैं।

दारयवहु—सम्राट् कुरु के वंशजों ने ईरानी साम्राज्य की शक्ति का और भी अधिक विस्तार किया। कुरु का पुत्र काम्बुजी (Cambyses) प्रथम था।

उसने पश्चिम दिशा में विजय करते हुए मिस्र पर आक्रमण किया और उसे अपने साम्राज्य में मिला लिया। उसके बाद हखामनी-वंश में जो अन्य राजा हुए, वे भी बड़े प्रतापी थे। पर इस वंश के सम्राट् दारयवहु (५२१–४८५ ई० पू०) का भारत के इतिहास के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। हखामनी-साम्राज्य का विस्तार करते हुए उसने कम्बोज, पश्चिमी गान्धार और सिन्ध का भी विजय किया। ये तीनों प्रदेश उस युग में भारत के अन्तर्गत थे, और इनकी विजय के कारण भारत के कतिपय पश्चिमी प्रदेश हखामनी-साम्राज्य के अधीन हो गये थे। दारयवहु ने अपने विशाल साम्राज्य को २३ प्रान्तों में विभक्त किया था, जिनके शासकों को 'क्षत्रप' कहा जाता था। कम्बोज, गान्धार और सिन्धु इन तेईस प्रान्तों में शामिल थे, और इनसे दारयवहु को बहुत अधिक आमदनी होती थी।

ईरान के हखामनी-वंश के ये सम्राट् मगध के बार्हद्रथ और शैशुनाग-वंशों के शक्तिशाली सम्राटों के समकालीन थे। पाश्चात्य के इतिहास में इनकी वही स्थिति समझनी चाहिये जो कि भारत के इतिहास में बिम्बिसार और अजातशत्रु-जैसे मागध-सम्राटों की थी। जिस प्रकार मगध के सम्राट् भारत के विविध जनपदों को जीतकर विशाल साम्राज्य के निर्माण में तत्पर थे, वैसे ही हखामनी-सम्राट् ईरान और उसके समीपवर्ती विविध जनपदों को अपनी अधीनता में ले आने के लिये प्रयत्न कर रहे थे। गान्धार और सिन्धु सदृश भारतीय जनपदों की विजय का यह अभिप्राय नहीं है, कि ईरान ने भारत के एक प्रदेश को जीत लिया था। वस्तुतः इस युग में भारत में बहुत-से जनपदों की सत्ता थी, और क्योंकि पश्चिमी भारत के ये जनपद मगध की अपेक्षा ईरान के अधिक समीप थे, इसीलिये वहां के शक्तिशाली सम्राट् इन्हें जीत सकने में समर्थ हुए थे। भारत के आर्य-राजाओं के समान ईरान के हखामनी-वंश के राजा भी आर्य थे, और दारयवहु ने अपने शिलालेखों में अपने को 'आर्य आर्यपुत्र,, (ऐर्य ऐर्यपुत्र) कहा है।

हीरोदोतस—हखामनी-वंश के इन प्रतापी राजाओं के सम्बन्ध में जहां हमें उनके शिलालेखों द्वारा बहुत-सी बातें ज्ञात होती हैं, वहां प्रसिद्ध ग्रीक ऐतिहासिक हीरोदोतस ने भी उनके विषय में बहुत-कुछ लिखा है। हीरोदोतस का काल छठी सदी ई०.पू० के अन्त में और पांचवीं सदी ई०पू० के प्रारम्भिक भाग में था। वह कुछ समय तक ईरान के राजदरबार में ग्रीक राजदूत के रूप में भी रहा था। उसने प्राचीन संसार का इतिहास लिखते हुए हखामनी-सम्राटों का वृत्तान्त भी लिखा है। उसी के विवरणों से ज्ञात होता है, कि दारयवहु के साम्राज्य के भारतीय

प्रदेशों से दस लाख सुवर्ण के लगभग प्रतिवर्ष ईरान के राज्यकोष को प्राप्त होता था। इसमें सन्देह नहीं, कि पश्चिमी भारत के प्रदेश प्राचीन समय में अत्यन्त समृद्ध थे।

खषयार्श—दारयवहु का उत्तराधिकारी सम्राट् खषयार्श (Xerxes) था। उसका शासन-काल ४८५ से ४६५ ई० पू० तक था। उसने हखामनी-साम्राज्य को पश्चिम में विस्तृत करने का प्रयत्न किया और ईगियन सागर को पारकर ग्रीस के नगर-राज्यों पर आक्रमण किया। हीरोदोतस के अनुसार खषयार्श की जिस सेना ने ग्रीस पर आक्रमण किया था, उसमें गान्धार और सिन्ध के भारतीय सैनिक भी सम्मिलित थे। भारत के ये सैनिक सूती कपड़े पहनते थे, जो ग्रीक लोगों के लिये आश्चर्य की वस्तु थी। कपास को देखकर ग्रीक लोग बहुत चकित हुए, और उसे ऊन का पेड़ कहने लगे। इस समय तक ग्रीक लोगों को कपास, सूत व सूती वस्त्रों से कोई भी परिचय नहीं था।

भारत की स्वाधीनता—पश्चिमी भारत के जो प्रदेश सम्राट् दारयवहु प्रथम ने हखामनी-साम्राज्य के अधीन किये थे, वे ईरानियों की अधीनता से कब मुक्त हुए, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। सम्भवतः पांचवीं सदी ई०पू० में वे स्वतन्त्र हो गये थे। सिकन्दर ने जब दिग्विजय करते हुए पूर्व की ओर आक्रमण किया, तो पश्चिमी भारत के ये जनपद स्वतन्त्र थे, और उन्होंने स्वतन्त्र राज्यों के समान ही यवन-सेनाओं का मुकाबला किया था। हखामनी-सम्राट् दारयवहु तृतीय का जब सिकन्दर के साथ युद्ध हुआ, तो ईरानी पक्ष को लेकर जो सेनायें लड़ी थीं, उनमें कुछ भारतीय सैनिक भी थे। इससे कुछ ऐतिहासिकों ने यह अनुमान किया है, कि सिकन्दर के समय तक पश्चिमी भारत के ये प्रदेश हखामनी-साम्राज्य के अन्तर्गत थे। पर ग्रीक लेखकों के विवरणों को पढ़कर इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता, कि सिकन्दर के समय कम्बोज, गान्धार और सिन्धसम्राट् दारयवहु तृतीय की अधीनता में नहीं थे। जो सैनिक उसके पक्ष में यवनों से लड़े थे, वे सम्भवतः भृत सैनिक थे।

ईरानी आक्रमण का प्रभाव—यद्यपि भारत का बहुत थोड़ा-सा प्रदेश हखामनी-साम्राज्य के अधीन हुआ था, पर इसमें सन्देह नहीं, कि भारत के इतिहास को इसने अनेक प्रकार से प्रभावित किया। विशाल ईरानी साम्राज्य की स्थापना के कारण भारत का पश्चिमी संसार से सम्पर्क अधिक दृढ़ हो गया। हखामनी-साम्राज्य ने पश्चिमी भारत का पश्चिमी एशिया, मिस्र और ग्रीस के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित कर दिया। इससे भारत के विदेशी व्या-

पार को बहुत प्रोत्साहन मिला। सम्राट् दारयवहु प्रथम ने भारत पर आक्रमण करने से पूर्व अपने जल-सेनापति स्काईलैक्स (Skylax) को ईरान के समुद्र-तट के साथ साथ जलमार्गद्वारा सिन्धु नदी के मुहाने तक के रास्ते का पता करने के लिये भेजा था। स्काईलैक्स की जलसेना ने भारत के पश्चिमी समुद्रतट का भलीभांति अवगाहन किया था, और उसके इस प्रयत्न से भारत के सामुद्रिक व्यापार को बहुत मदद मिली थी। इस समय से बहुत-से व्यापारी समुद्रमार्ग द्वारा भारत से पश्चिमी देशों में आने-जाने शुरू हो गये थे, और वे अपने पण्य को सुदूर मिस्र और ग्रीस तक ले जाते थे।

ईरानी लोगों से सम्पर्क का एक अ य महत्त्वपूर्ण परिणाम पश्चिमी भारत में खरोष्ठी लिपि का प्रचार हुआ। भारत में जो लिपि प्राचीन समय में प्रचलित थी, उसका नाम ब्राह्मी था। वर्तमान भारतीय-लिपियों के समान यह भी बाईं ओर से दाहिनी ओर लिखी जाती थी। इसके विपरीत उत्तर-पश्चिमी भारत में जो लिपि सम्राट् अशोक के समय में प्रयुक्त होती थी, वह (खरोष्ठी) लिपि वर्तमान उर्दू के समान दाहिनी ओर से बाईं ओर लिखी जाती थी। अनेक ऐतिहासिकों का मत है, कि ईरानी लोगों के शासन-काल में उनकी अरमइक (Aramaic) लिपि का भारत के उन प्रदेशों में प्रचार हुआ, जो हखामनी-साम्राज्य के अन्तर्गत थे। इसी कारण बाद में इन प्रदेशों में खरोष्ठी लिपि का विकास हुआ, जिसकी वर्णमाला तो ब्राह्मी के ही सदृश थी, पर जो अरमइक लिपि के समान दाहिनी ओर से बाईं ओर लिखी जाती थी। इस लिपि का प्रयोग भारत की अपनी भाषा के लिखने के लिये भी किया जाने लगा।

ईरानी लोग भारत के जिस प्रदेश के सम्पर्क में आये, उसे वे हिन्दु या हिदू कहते थे। यह नाम स्पष्टतया 'सिन्धु' का ही रूपान्तर था। बाद में जो विदेशी लोग इस सम्पूर्ण देश को ही हिन्दु, इण्डिया या हिन्दुस्तान कहने लगे, उस परम्परा का सूत्रपात इस ईरानी आक्रमण के समय में ही हुआ।

(२) सम्राट् महापद्मनन्द

जिस समय ईरान के हखामनी-वंश के सम्राट् पड़ोस के राज्यों को जीतकर अपना विशाल साम्राज्य स्थापित करने में प्रयत्नशील थे, भारत में भी मगध के शक्तिशाली राजा अपना सार्वभौम चक्रवर्ती साम्राज्य कायम करने में तत्पर थे। मगध ने किस प्रकार अन्य राज्यों को जीतकर अपने विशाल साम्राज्य का निर्माण किया था, इसका वृत्तान्त हमें पिछले एक अध्याय में लिख चुके हैं।

सम्राट् महानन्दी की हत्या कर महापद्मनन्द ने किस प्रकार उसके पुत्रों के नाम पर स्वयं राज्यकार्य का संचालन प्रारम्भ किया, इसका उल्लेख भी हम पहले कर चुके हैं।

भारत के प्राचीन इतिहास में इस महापद्मनन्द का बहुत महत्त्व है। पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार वह भी महानन्दी का ही पुत्र था, यद्यपि उसकी माता रानी न होकर महानन्दी की शूद्रा दासी थी। जैन-अनुश्रुति के अनुसार वह एक नाई का पुत्र था। यूनानी लेखक कर्टियस के अनुसार वह स्वयं नाई था, पर अपने रूप और गुणों के कारण सम्राट् महानन्दी की रानी को उसने अपने ऊपर आसक्त कर लिया था। रानी की सहायता से ही वह महानन्दी का घात कर सका, और बाद में उसके अन्य पुत्रों की भी हत्या कर स्वयं मगध का सम्राट् बन गया। महानन्दी की हत्या कर महापद्म ने राजसिंहासन प्राप्त किया, इस बात की पुष्टि हर्ष-चरित द्वारा भी होती है। महापद्म के मूल व जन्म के सम्बन्ध में प्राचीन अनुश्रुति में यद्यपि मतभेद है, पर इस सम्बन्ध में सब सहमत हैं, कि वह अत्यन्त शक्तिशाली, उद्दण्ड और समृद्ध सम्राट् था। पुराणों में उसे 'सर्वक्षत्रान्तक' (सब क्षत्रियों का अन्त करनेवाला) लिखा गया है, और साथ ही उन राजवंशों का नाम भी दिया है, जिनका उच्छेद कर उसने अपना एकच्छत्र साम्राज्य स्थापित किया था। जिन राजवंशों के उच्छेद का श्रेय महापद्म को दिया गया है, वे निम्नलिखित हैं—पौरव, ऐक्ष्वाकव, पाञ्चाल, कौरव, हैहय, कलिंग, शूरसेन, मैथिल, अश्मक और वीतिहोत्र। इनमें से अनेक राजवंश महापद्मनन्द से पूर्व ही मागध-साम्राज्य की अधीनता में आ चुके थे। मिथिला या विदेह के राजवंश का अन्त होकर वहां गणराज्य की स्थापना हो चुकी थी, और इस गणराज्य को भी राजा अजातशत्रु मगध की अधीनता में ला चुका था। काशी की स्वतन्त्रता कोशल द्वारा नष्ट हो चुकी थी, और उसका एक प्रदेश 'नहानचुन्न मूल्य' के रूप में बिम्बिसार और अजातशत्रु प्राप्त कर चुके थे। इस दृष्टि से पौराणिक अनुश्रुति अत्युक्ति से पूर्ण प्रतीत होती है। सम्भवतः पुराणों में उन जनपदों व राजवंशों का उल्लेख किया गया है, जो महापद्मनन्द के अधीन थे। पर यह भी निश्चित है, कि महापद्मनन्द ने अपने साम्राज्य का विस्तार करने के लिये अनेक युद्ध किये, और उसकी सेना बहुत शक्तिशाली थी। पुराणों में उसे 'अतिबल' कहा गया है, और बौद्ध-ग्रंथों में 'उग्रसेन' नाम से उसका उल्लेख किया गया है। इस उग्र सेना का उपयोग करके ही उसने 'पथिवी पर अपना अनल्लंघित शासन' स्थापित किया था।

प्राचीन अनुश्रुति की सत्यता की पुष्टि अन्य साधनों द्वारा भी होती है। कलिङ्ग (उड़ीसा) के हाथीगुम्फा-शिलालेख द्वारा ज्ञात होता है, कि नन्द कलिङ्ग को जीतकर एक जैन तीर्थंकर की बहुमूल्य मूर्ति अपनी राजधानी में उठवाकर ले गया था। गोदावरी के तटपर नान्दड़ या नौनन्द देहरा नामक एक बस्ती है, जो सम्भवतः महापद्मनन्द के नाम पर ही स्थापित हुई थी। गोदावरी के दक्षिण में उत्तरी कर्णाटक को भी नन्द ने विजय किया था। यह बात वहां के मध्यकालीन शिलालेखों द्वारा ज्ञात होती है। इस प्रकार यह तो निर्विवाद है, कि महापद्म नन्द के कलिंग, कर्णाटक आदि सुदूर प्रदेशों को जीतकर अपने साम्राज्य के अन्तर्गत किया था। कुरु, पाचांल सदृश पश्चिमी राज्य भी सम्भवतः नन्द द्वारा ही पहलेपहल मागध-साम्राज्य की अधीनता में आये थे। विदेह, ऐक्ष्वाकव आदि अन्य जिन राजवंशों के नन्दद्वारा उच्छेद का उल्लेख पुराणों में किया गया है, सम्भवतः उससे पूर्व वे अधीनस्थरूप में मागध-साम्राज्य के अन्तर्गत रहे थे, और अबनन्द ने उनका मूलोच्छेद कर दिया था। यह निश्चित है, कि महापद्मनन्द अत्यन्त शक्तिशाली और दिग्विजयी सम्राट् था, और उसने 'सब क्षत्रियों का अन्त' कर 'एकच्छत्र' और एकराट' पद प्राप्त किया था।

धननन्द—पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार महापद्मनन्द के आठ पुत्र थे, जिनमें ज्येष्ठ पुत्र का नाम सुमाल्य था। बौद्ध-साहित्य में इसी को धननन्द लिखा गया है। सम्भवतः 'धननन्द' सुमाल्य का ही विशेषण था। २८ वर्ष राज्य कर चुकने पर जब महापद्मनन्द के शासन का अन्त हुआ, तो धननन्द विशाल मागध-साम्राज्य का स्वामी बना। पुराणों के अनुसार महापद्मनन्द और उसके उत्तराधिकारियों ने कुल मिलाकर सौ वर्ष तक शासन किया। मत्स्यपुराण में अकेले महापद्मनन्द का शासन-काल ८८ वर्ष लिखा है। बौद्ध ऐतिहासिक अनुश्रुतिद्वारा यह बात पुष्ट नहीं होती। धननन्द या सुमाल्यनन्द को राज-सिंहासन पर आरूढ़ हुए अभी केवल बारह वर्ष ही हुए थे, कि आचार्य चाणक्य की सहायता से चन्द्रगुप्त मौर्य ने उसे राज्यच्युत कर दिया और वह स्वयं मगध का सम्राट् बन गया। नन्दवंश के विध्वंस और चन्द्रगुप्त मौर्य के राज्यारोहण के विषय में हम आगे एक अध्याय में अधिक विस्तार के साथ लिखेंगे।

जिस समय सिकन्दर ने दिग्विजय करते हुए भारत पर आक्रमण किया, तो मगध के राजसिंहासन पर धननन्द ही विद्यमान था। ग्रीक लेखकों ने इसी को

'क्सेन्द्रमस' (Xandrames) लिखा है। कहीं-कहीं इसके लिये अग्रमस (Agrammes) भी लिखा गया है। अनेक ऐतिहासिकों का मत है, कि अग्रमस या क्सेन्द्रमस वस्तुतः 'नन्द्रस' (Nandrus) को सूचित करता है।

ग्रीक लेखकों के अनुसार मगध के इस सम्राट् की सेना में दो लाख पदाति, बीस हजार घुड़सवार, दो हजार रथ और चार हजार के लगभग हाथी थे। इतनी बड़ी स्थिर सेना को मगध के सम्राट् इसी कारण संगठित कर सके थे, क्योंकि उनका साम्राज्य अत्यन्त विस्तृत था।

(३) सिकन्दर की दिग्विजय

ग्रीस के विविध राज्य—प्राचीन काल में ग्रीस में कोई एक राज्य नहीं था। जिस प्रकार भारत में उस समय अनेक छोटे-छोटे राज्य थे, वही दशा ग्रीस की भी थी। पंजाब और उत्तरी बिहार के राज्यों के समान ग्रीस के इन छोटे-छोटे राज्यों का स्वरूप नगर-राज्य (सिटी-स्टेट) के सदृश था, और ग्रीक लोग इन्हें पोलिस कहते थे। इन ग्रीक नगर राज्यों का शासन एक सदृश नहीं था, किन्हीं में वंशक्रमानुगत राजाओं का शासन था, और किन्हीं में गणतन्त्र-शासन। हखामनी-सम्राट् खषयार्श ने ईगियन सागर पार कर इन्हीं ग्रीक राज्यों को जीतने का उपक्रम किया था। यद्यपि ग्रीस के राज्य ईरान के साम्राज्य के अधीन नहीं हुए, पर वे अपनी स्वन्तत्र सत्ता को देर तक कायम नहीं रख सके। जिस प्रकार उत्तरी बिहार के नगर-राज्यों के पड़ोस में मगध का राज्य निरन्तर उन्नति कर रहा था, और उसके शक्तिशाली राजाओं ने वज्जिसंघ आदि स्वतन्त्र राज्यों को जीतकर अपने अधीन कर लिया था, उसी प्रकार ग्रीस के उत्तर में एक शक्तिशाली राज्य विद्यमान था, जिसका नाम मैसिडोनिया (मकदूनिया) था। मगध के राजाओं के समान मैसिडोनिया के राजा भी इस बात के लिये प्रयत्नशील थे, कि पड़ोस के ग्रीक नगर-राज्यों को जीतकर अपने अधीन कर लें।

राजा फिलिप—जातीय दृष्टि से मैसिडोनिया के निवासी ग्रीक लोगों से अधिक भिन्न नहीं थे, पर सभ्यता और संस्कृति की दृष्टि से वे ग्रीक लोगों के मुकाबले में बहुत पीछे थे। उच्च सभ्यता ने ग्रीक नगर-राज्यों के निवासियों को मैसिडोनियन लोगों की अपेक्षा निर्बल कर दिया था, और इसीलिये जब मैसिडोनिया के राजा फिलिप ने ग्रीस पर आक्रमण किया, तो वहां के राज्य उसका

मुकाबला नहीं कर सके। एक-एक करके सब ग्रीक राज्यों को फिलिप न जीत लिया, और सम्पूर्ण ग्रीस पर मैसिडोनिया का आधिपत्य स्थापित हो गया।

सिकन्दर—फिलिप के पुत्र का नाम सिकन्दर था। अपने पिता के मृत्यु के बाद ३३६ ई० पू० में वह मैसिडोनियन साम्राज्य का अधिपति बना। फिलिप द्वारा साम्राज्य-विस्तार की जो प्रक्रिया शुरू की गई थी, सिकन्दर ने उसे जारी रखा। उस समय मिस्र, एशिया माइनर और सीरिया के प्रदेश ईरान के हखामनी-साम्राज्य के अन्तर्गत थे। ६००ई० पू० के लगभग जिस विशाल ईरानी साम्राज्य का निर्माण शुरू हुआ था, वह अब ढाई सौ साल व्यतीत हो जाने पर बहुत-कुछ निर्बल हो गया था। उसके सम्राट् और क्षत्रप भोग-विलास में मस्त रहने के कारण अपने कर्तव्यों की उपेक्षा करने लग गये थे। धन, शक्ति और वैभव की प्रचुरता ने उन्हें निर्बल बना दिया था। सिकन्दर ने इस विशाल पर कमजोर ईरानी साम्राज्य पर आक्रमण किया। एशिया-माइनर को जीतकर उसने मिस्र में प्रवेश किया। ३३२ ई० पू० तक मिस्र सिकन्दर के अधीन हो गया, और नील नदी के मुहाने पर उसने अपने नाम से सिकन्दरिया (अलेकजेण्ड्रिया) नामक एक समृद्ध नगरी की स्थापना की। एक वर्ष बाद ३३१ ई० पू० में सिकन्दर ने ईराक (मैसोपोटामिया) की उपजाऊ घाटी पर आक्रमण किया। बैबिलोन, निनेवा आदि प्राचीन नगरों पर कब्जा करके वह ईरान में प्रविष्ट हुआ। इस समय ईरान के राजसिंहासन पर दारयवहु तृतीय विराजमान था। उसने सिकन्दर का मुकाबला करने की कोशिश की, पर उसे सफलता नहीं मिली। ईरान की राजधानी पार्सिपोलिस का सिकन्दर की सेनाओं ने बुरी तरह से ध्वंस किया। दारयवहु जान बचाकर बाख्त्री की ओर भाग निकला, जहां ३३० ई० पू० में उसके अपने सैनिकों ने ही उसकी हत्या कर दी। सिकन्दर की यह नीति थी, कि वह जिन प्रदेशों को जीतकर अपने अधीन कर लेता था, उनमें सैनिक दृष्टि से महत्वपूर्ण स्थानों पर किलाबन्दी कर देता था, और अपने स्कन्धावार स्थापित कर देता था। नील नदी के मुहाने पर जिस ढंग से उसने सिकन्दरिया नगरी बसाई थी, वैसी ही अनेक नगरियां ईरानी साम्राज्य के अनेक प्रदेशों में भी उसने स्थापित की थीं।

भारत की ओर प्रस्थान—ईरानी साम्राज्य को परास्त कर देने के बाद सिकन्दर के लिये यह सम्भव हो गया था, कि वह भारत की ओर आगे बढ़ सकता। ३३०ई०पू० के समाप्त होने से पूर्व ही वह भारत की पश्चिमी सीमा पर शकस्थान [illegible]

किया। इस प्रदेश को आजकल कन्धार कहते हैं, और प्राचीन समय में इसका नाम हरउवती था। इसे जीतकर उसने वहां एक अन्य सिकन्दरिया की स्थापना की। आजकल का कन्धार नगर सम्भवतः इसी सिकन्दरिया का उत्तराधिकारी है। यहां अपनी शक्ति को भलीभांति स्थापितकर अगले वर्ष (३२६ ई० पू०) सिकन्दर ने काबुल नदी की घाटी में प्रवेश किया। इस घाटी में जहां आजकल चरीकर है, सिकन्दर ने एक अन्य नगरी की स्थापना की, और उसे भी सिकन्दरिया (अलैक्जेण्ड्रिया) नाम दिया। इसी समय उसे समाचार मिला, कि बाल्त्री के प्रदेश में पराजित ईरानी साम्राज्य की सैन्य-शक्ति का पुनःसंगठन हुआ है, और वे पीछे की ओर से मैसिडोनियन सेना पर आक्रमण करने के लिये प्रयत्नशील हैं। अब उसने हिन्दू कुश पर्वतमाला को पार कर बाल्त्री पर हमला किया। ईरानी सैन्य शक्ति सिकन्दर का मुकाबला नहीं कर सकी। वह परास्त हो गई, और सिकन्दर ने सीर नदी तक के सम्पूर्ण प्रदेश को जीतकर अपने अधीन कर लिया। सीर नदी तक विस्तृत इस प्रदेश का प्राचीन नाम सुग्ध था, और ग्रीक लोग इसे सोग्डिआना (Sogdiana) कहते थे। वर्तमान समय में इसे बोखारा और समरकन्द कहतें हैं। इस युग में बाल्त्री और सुग्ध देशों में ईरानी और भारतीय दोनों प्रकार के आर्यों का निवास था। दोनों की अनेक बस्तियां व नगर-राज्य वहां स्थापित थे। यही कारण है, कि बाल्त्री में सिकन्दर का जिन सेनाओं के साथ युद्ध हुआ, उनमें शशिगुप्त नाम के एक भारतीय राजा की सेना भी सम्मिलित थी। यह शशिगुप्त सम्भवतः हिन्दू-कुश पर्वतमाला के उत्तरी प्रदेश के किसी राज्य का राजा था।

बाल्त्री और सुग्ध को अपनी अधीनता में लाकर सिकन्दर ने एक बार फिर हिन्दूकुश पर्वत को पार किया और काबुल नदी की घाटी में स्थापित सिकन्दरिया नगरी में प्रवेश किया। पश्चिमी प्रदेशों के विद्रोहों से निश्चिन्त होकर अब उसके लिये भारत पर आक्रमण कर सकना सम्भव हो गया था।

भारत पर आक्रमण का प्रारम्भ—काबुल की घाटी से वह सीधा भारत पर आक्रमण कर सकता था। पर सिकन्दर एक कुशल सेनापति था। उसने अनुभव किया, कि जब तक काबुल नदी के उत्तर में विद्यमान विविध पार्वत्य जातियों को जीतकर अपने अधीन नहीं कर लिया जायगा, तब तक भारत पर आक्रमण करने का मार्ग निष्कंटक नहीं हो सकेगा। अतः उसने अपनी विशाल सेना को दो भागों में विभक्त कर दिया। हेफेस्तियन और पर्डिक्कस नामक दो सेनापतियों को उसने यह कार्य सुपुर्द किया, कि वे पूर्व की ओर आगे बढ़कर

सिन्ध नदी तक पहुँच जावें, और वहां जाकर सिन्ध नदी को पार कर सकने की व्यवस्था करें। सिकन्दर ने स्वयं एक बड़ी सेना को साथ लेकर काबुल नदी के उत्तर की ओर प्रस्थान किया. और उन विविध जनपदों को जीतने का थे, उपक्रम प्रारम्भ किया, जो इस पार्वत्य प्रदेश में विद्यमान थे। उस युग में इन जनपदों में भारतीय आर्यों का निवास था, और ये ठीक उस ढंग से भारत के अन्तर्गत, जैसे कि गान्धार-केकय आदि पश्चिमी जनपद। ग्रीक लेखकों ने इन जनपदों के निवासियों को स्पष्ट रूप से भारतीय लिखा है। अलीशांग और कुनार नदियों की घाटी में रहनेवाली जाति को ग्रीक लेखकों ने अस्पस (Aspasioi) कहा है। इस जाति के साथ सिकन्दर का घोर युद्ध हुआं। अस्पस के आगे गौरी और वास्तु नदियों की घाटी में अस्सकेन (Assakenoi) जाति का निवास था। उसने भी डटकर सिकन्दर का मुकाबला किया। अस्सकेन की राजधानी मस्सग थी। यह नगरी एक दुर्ग के समान बनी हुई थी, जो जहां प्राकृतिक दृष्टि से अभेद्य थी, वहां साथ ही उसकी रक्षा के लिये एक ऊंची प्राचीर और गहरी परिखा भी विद्यमान थी। सिकन्दर को इसे जीतने में बहुत कठिनाई उठानी पड़ी। मस्सग की रक्षा के लिये जो सेना दुर्ग में विद्यमान थी, उसमें वाहीक देश के ७००० 'भृत' सैनिक भी थे। वाहीक देश प्राचीन समय में पंजाब को कहते थे। उस युग में बहुत-से वीर सैनिक वेतन के आर्कषण से अन्य राज्यों में सैनिक-सेवा किया करते थे, और इस प्रकार के सैनिकों को 'भृत' कहा जाता था। अस्सकेन जनपद की सेवा में ये ७००० वाहीक सैनिक इसी प्रकार के थे। घनघोर युद्ध के बाद जब अस्सकेन लोगों ने अनुभव किया, कि युद्ध को और अधिक जारी रखना व्यर्थ है, तो उन्होंने सिकन्दर के साथ सन्धि कर ली। इस सन्धि में एक शर्त यह भी थी, कि वाहीक देश के इन भृत सैनिकों को बिना किसी रुकावट के अपने देश वापस लौट जाने का अवसर दिया जायगा। पर सिकन्दर ने इस शर्त का पालन नहीं किया। जब ये वाहीक सैनिक अपने परिवारों के साथ मस्सग के दुर्ग से बाहर निकल कर डेरा डाले पड़े थे, सिकन्दर की सेना ने अचानक उनपर हमला कर दिया। वाहीक देश के सैनिकों ने वीरतापूर्वक मैसिडोनियन सेना का मुकाबला किया। न केवल पुरुष, अपितु स्त्रियां भी बड़ी वीरता के साथ लड़ीं। जब तक उनमें एक भी व्यक्ति जीवित रहा, वे युद्ध करते रहे। सन्धि की शर्तों की उपेक्षा कर सिकन्दर ने वाहीक सैनिकों के साथ जो विश्वासघात किया था, ऐतिहासिकों ने उसकी कटु आलोचना की है। प्राचीन ग्रीक लेखकों ने भी इसे बहुत अनुचित माना है।

मस्सग पर कब्जा हो जाने के साथ ही अस्सकेन लोगों ने पराजय स्वीकृत नहीं कर ली। उनके जनपद में अन्य भी अनेक दुर्ग थे। उनको केन्द्र बनाकर उन्होंने सिकन्दर के साथ युद्ध को जारी रखा। पर एक छोटे-से जनपद के लिये यह सम्भव नहीं था, कि वह विश्वविजयी सिकन्दर के सम्मुख ठहर सकता। अन्त में वह परास्त हो गया। अस्सकेन जनपद की स्थिति गौरी नदी के पूर्व में थी। गौरी नदी के पश्चिम में एक अन्य जनपद था, जिसे ग्रीक लेखकों ने नुसा लिखा है। सिकन्दर ने उसे भी जीतकर अपने अधीन कर लिया। छः मास तक निरन्तर युद्ध करके सिकन्दर उन जातियों व जनपदों को अपनी अधीनता में लाने में समर्थ हुआ, जो उत्तरी अफगानिस्तान के पार्वत्य प्रदेश में विद्यमान थे।

हेफिस्तियन और पर्डिक्कस के सेनापतित्व में सिकन्दर ने जिन सेनाओं को सीधा सिन्ध नदी की ओर बढ़ने का आदेश दिया था, उन्हें भी अनेक भारतीय जनपदों के साथ युद्ध करना पड़ा। इनमें पुष्करावती नाम विशेषकर उल्लेखनीय है। यह पश्चिमी गान्धार की राजधानी थी। इस युग में गान्धार देश सिन्ध नदी के दायें और बायें दोनों तटों पर विस्तृत था। सिन्ध के पूर्वी तट पर गान्धार का जो भाग (पूर्वी गान्धार) था, उसका राजा आम्भि था। पश्चिमी गान्धार के राजा का नाम हस्ती (Astes) था। उसे परास्त करने में सिकन्दर के सेनापतियों को एक मास के लगभग लग गया। इससे सूचित होता है, कि पुष्करावती का पश्चिमी गान्धार-जनपद बहुत शक्तिशाली था। हेफिस्तियन और पर्डिक्कस को अन्य भी अनेक दुर्गों को जीतने के लिये विकट युद्ध लड़ने पड़े। पर उन युद्धों का वृत्तान्त यहां लिख सकना सम्भव नहीं है।

(४) भारत पर आक्रमण

गान्धारराज आम्भि—सिन्ध नदी के पश्चिमी तट पर स्थित विविध जनपदों को जीतकर अब सिकन्दर भारत में प्रविष्ट हो गया था। सिन्ध के पूर्वी तट पर उन दिनों पूर्वी गान्धार जनपद की सत्ता थी, जिसकी राजधानी तक्षशिला नगरी थी। उस युग में तक्षशिला भारत का सर्वप्रधान शिक्षा केन्द्र थी। बहुत-से विश्वविख्यात आचार्य वहां निवास करते थे, जिनके ज्ञान और यश से आकृष्ट होकर भारत के विविध जनपदों के विद्यार्थी उच्च शिक्षा ग्रहण करने के के लिये तक्षशिला आया करते थे। व्यापार की दृष्टि से भी तक्षशिला का बहुत महत्त्व था। पूर्व से पश्चिम की ओर जानेवाला राजमार्ग तक्षशिला होकर जाता था, और इसलिये व्यापारी सार्थ वहां अपने पण्य का आदान-प्रदान

किया करते थे। सिकन्दर के आक्रमण के समय इस गान्धार-जनपद का राजा आम्भि (Omphis) था। जिस समय सिकन्दर सुग्ध देश पर आक्रमण कर रहा था, तभी आम्भि के राजदूतों ने उसके साथ भेंट की थी। आम्भि ने स्वेच्छापूर्वक सिकन्दर की अधीनता स्वीकृत कर ली थी, और उसे इस बात के लिये भी प्रेरित किया था कि वह भारत पर आक्रमण करे। पर्डिक्कस और हेफिस्तियन के सेनापतित्व में जो मैसिडोनियन सेना पुष्करावती और सिन्ध के पश्चिमी तट पर स्थित अन्य दुर्गों की विजय करने में तत्पर थी, आम्भि उनकी सहायता भी कर रहा था। गान्धार राज ने जो इस ढंग से विदेशी आक्रान्ता की सहायता की, उसका कारण सम्भवतः यह था कि वह वाहीक देश के अन्य जनपदों को जीतकर अपनी अधीनता में लाना चाहता था। उस युग में भारत राजनीतिक दृष्टि से एक राज्य नहीं था, और उसके विविध जनपद बहुधा परस्पर युद्ध करते रहते थे। संसार के अन्य प्राचीन देशों के विषय में भी यही बात कही जा सकती है। उन दिनों केकयराज (वितस्ता या जेहलम के पूर्व में) बहुत शक्तिशाली था और उसने पड़ोस के अनेक जनपदों को जीतकर अपने अधीन कर लिया था। सम्भवतः केकयराज पोरु गान्धार को भी अपनी अधीनता में लाने के लिये प्रयत्नशील था, और इस स्थिति में आम्भि ने यह उपयोगी समझा था, कि वह सिकन्दर की अधीनता स्वीकृत कर केकय के साम्राज्यवाद से अपनी रक्षा करे। आम्भि क इस कार्य का समर्थन कर सकना सम्भव नहीं है। पर उसके कार्य पर विचार करते हुए यह नहीं भूलना चाहिये, कि उस युग के राजा एक शत्रु से अपनी रक्षा करने के लिये अन्य शक्तिशाली राजा से सहायता प्राप्त करना नीतिविरुद्ध नहीं समझते थे।

सिन्ध नदी के तट पर जहां आजकल अटक नाम का नगर स्थित है, उससे कुछ ऊपर ओहिन्द नामक स्थान पर सिकन्दर की सेना ने नौकाओं द्वारा पुल का निर्माण किया। आम्भि ने इस पुल के बनाने में मैसिडोनियन सेनाओं की सहायता की। इस पुल से सिन्ध नदी को पार कर सिकन्दर ने अपनी सेनाओं के साथ तक्षशिला में प्रवेश किया। आम्भि ने अपनी राजधानी में उसका उत्साहपूर्वक स्वागत किया और और अनेक बहुमूल्य उपहार उसकी सेवा में अर्पित किये। कुछ समय तक विश्राम कर सिकन्दर भारत के अन्य जनपदों की विजय के लिये प्रवृत्त हुआ।

अभिसार और केकय—सिन्धु (सिन्ध) और वितस्ता (जेहलम) नदियों

के बीच में गान्धार राज्य था, जिसकी राजधानी तक्षशिला थी। वितस्ता के पूर्व और असिक्नी (चेनाव) के बीच हिमालय की उपत्यका में, जहां आजकल भिम्भर और राजौरी (काश्मीर राज्य के अन्तर्गत) प्रदेश हैं, इस युग में अभिसार जनपद की स्थिति थी। अभिसार के दक्षिण में (वितस्ता के पूर्व में) केकय जनपद था, जो सम्भवतः इस युग में वाहीक देश (पंजाब) का सबसे शक्तिशाली राज्य था। सिकन्दर का ख्याल था, कि अभिसार और केकय भी गान्धार के समान ही बिना युद्धके उसके सम्मुख आत्मसमर्पण कर देंगे। इसलिये उसने अपने दूत केकयराज पोरु (Porus) की सेवा में इस उद्देश्य से भेजे, कि वे उसे यवनराज की अधीनता स्वीकृत कर लेने के लिये कहें। पर पोरु न केवल स्वाभिमानी था, अपितु उसे अपनी शक्ति का भी विश्वास था। उसने सिकन्दर के दूतों को उत्तर दिया—मैं रणक्षेत्र में यवनराज से भेंट करूंगा। केकयराज पोरु के समान अभिसार का राजा भी सिकन्दर के साथ युद्ध करने की तैयारी कर रहा था। यदि केकय और अभिसार की सेनायें परस्पर मिल जातीं, तो सिकन्दर के लिये उन्हें परास्त कर सकना बहुत कठिन हो जाता। अतः उसने तुरन्त वितस्ता नदी पार कर केकय पर आक्रमण करने का निश्चय किया।

केकयराज पोरुसे युद्ध—पर सिकन्दर के लिये वितस्ता नदी को पार कर सकना सुगम नहीं था। उसके पूर्वी तट पर पोरु की सेनाये छावनी डाले हुए शत्रु के आक्रमण की प्रतीक्षा कर रही थीं। इन शक्तिशाली केकय सेनाओं का सामना करके सिकन्दर के लिये वितस्ता पार कर सकना असम्भव था। अतः उसने चाल से काम लिया। एक रात जब घनघोर वर्षा हो रही थी, सिकन्दर अपनी सेना के एक भाग को अपनी मुख्य छावनी से ऊपर की तरफ ले गया। इस जगह वितस्ता नदी के बीच में एक टापू था, जिसके कारण मैसिडोनियन सेना की गति-विधि का निरीक्षण कर सकना केकय सेना के लिये सम्भव नहीं था। ग्यारह हजार चुने हुए सैनिकों के साथ रात के अंधेरे में इस स्थान से सिकन्दर ने वितस्ता नदी को पार कर लिया। जब पोरु को यह समाचार मिला, तो उसने अपने पुत्र को एक सेना के साथ सिकन्दर का मार्ग रोकने के लिये भेजा। केकय के दो हजार सैनिक देर तक ग्याहर हजार मैसिडोनियन सैनिकों का मुकाबला नहीं कर सकते थे। वे परास्त हो गये। पर इस बीच में पोरु ने अपनी सेना को युद्ध के लिये तैयार कर लिया था। व्यूहरचना करके वह सिकन्दर का मुकाबला करने को उद्यत हो गया। ग्रीक लेखक प्लुटार्क के अनुसार पोरु की सेना में २०,००० पदाति, २००० अश्वारोही, १०००रथ और १३० हाथी थे। कतिपय

ग्रीक लेखकों ने पोरु की सेना के पदाति सैनिकों की संख्या ५०,००० लिखी है। पर दिग्विजय के लिये निकले हुए सिकन्दर की सेना के सम्मुख पोरु की सेना बहुत अधिक नहीं थी। वितस्ता के पूर्वी तट पर दोनों सेनाओं में जमकर युद्ध हुआ। पोरु और उसके सैनिक बड़ी वीरता के साथ लड़े, पर अन्त में उनकी पराजय हुई। घायल पोरु को जब सिकन्दर के सामने उपस्थित किया गया, तो सिकन्दर ने उससे पूछा—आपके साथ कैसा बरताव किया जाय ? पोरु ने उत्तर दिया—जैसा राजा राजाओं के साथ करते हैं।

सिकन्दर ने पोरु के साथ राजाओं का सा ही बरताव किया। केकय देश का शासन उसने उसी के सुपुर्द कर दिया और उसे अपनी सेना में ऊंचा पद दिया। सिकन्दर दिग्विजय के लिये निकला था। अभी वह भारत में और अधिक आगे बढ़ना चाहता था। पोरु जैसे वीर और शक्तिशाली राजा को अपना मित्र और वशवर्ती बनाकर भारत पर विजय का संकल्प पूरा कर सकना उसके लिये सम्भव हो सकता था। यद्यपि रणक्षेत्र में केकय-सेनाओं की पराजय हो गई थी, पर केकय की शक्ति इस युद्ध से नष्ट नहीं हो गई थी। अतः सिकन्दर जैसे कुशल विजेता ने पोरु के साथ मित्रता स्थापित करना उपयोगी समझा। भारत के अन्य जनपदों की विजय करने में उसे पोरु की केकय-सेनाओं से बहुत सहायता मिली।

केकय की पराजय के बाद सिकन्दर ने इस जनपद में दो नगरों की स्थापना की। जिस स्थान पर उसने वितस्ता नदी को पार किया था, वहां बुकेफला नगर बसाया गया। जिस रणक्षेत्र में पोरु परास्त हुआ था, वहां नीकिया नगर स्थापित किया गया। केकय के परास्त हो जाने पर अभिसार ने भी सिकन्दर की अधीनता स्वीकार कर ली।

ग्लुचुकायन गण—केकय-जनपद के समीप ही ग्लुचुकायन नाम का गण-राज्य था। ग्रीक लेखकों ने इसे ग्लौगनिकाई लिखा है। जायसवाल के मतानुसार ग्लोगनिकाइ 'ग्लुचुकायन' का ग्रीक रूप है। पाणिनी की अष्टाध्यायी द्वारा वाहीक देश में ग्लुचुकायन नामक गणराज्य की सत्ता सूचित होती है, और निस्सन्देह ग्लौगनिकाई इसी ग्लुचुकायन का ग्रीक रूपान्तर है। इस गणराज्य में ३७ पुर थे, जिन्हें सिकन्दर ने विजय किया और शासन के लिये उन्हें राजा पोरु के सुपुर्द कर दिया।

यवन-शासन के विरुद्ध विद्रोह—हिन्दूकुश पर्वतमाला के पूर्व में भारत के जो जनपद सिकन्दर द्वारा परास्त हुए थे, उनमें स्वतन्त्रता की भावना प्रबल

सकती। जब केकयराज पोरु ५००० भारतीय सैनिकों को साथ लेकर उसकी सहायता के लिये सांकल आया, तभी वह कठों की इस राजधानी को जीत सका। इस युद्ध में १७००० के लगभग कठवीरों ने अपने जीवन की बलि दी। सिकन्दर इस युद्ध से इतना अधिक उद्विग्न हो गया था, कि सांकल के परास्त हो जाने पर उसने उसे भूमिसात् करने का आदेश दिया। ईरानी साम्राज्य की राजधानी पार्सिपोलिस को भी सिकन्दर ने इसी ढंग से भूमिसात् कराया था। सिकन्दर इस नीति का अनुसरण तभी करता था, जब वह अपने शत्रु की शक्ति से हतप्रभ हो जाता था। निःसन्देह कठ लोगों ने सिकन्दर का सामना करते हुए अद्भुत शौर्य प्रदर्शित किया था।

यवन सेना का विद्रोह—कठों को परास्त कर सिकन्दर की सेनायें विपाशा (ब्यास) नदी के पश्चिमी तट पर आ पहुँची थीं। सिकन्दर चाहता था, कि विपाशा को पार कर वह भारत में आगे बढ़े और अपने साम्राज्य का और अधिक विस्तार करे। पर उसकी सेना हिम्मत हार चुकी थी। भारत के विविध जनपद बड़े शक्तिशाली थे। अपने स्वातन्त्र्य की रक्षा के लिये वे कुर्बानी करने में भी संकोच नहीं करते थे। सिन्धु नदी के पश्चिम में जो आर्य जनपद थे, उनके साथ यवन-सेनाओं को घोर युद्ध करने पड़े थे। केकयराज पोरु ने भी यवनों के विरुद्ध अद्भुत वीरता प्रदर्शित की थी। कठ गण ने तो सिकन्दर का जिस ढंग से सामना किया था, वह अत्यन्त साहसपूर्ण था। अब यवन-सेनाओं को ज्ञात हुआ, कि ब्यास नदी के पूर्व में जो जनपद हैं, उसके लोग कठों के समान ही वीर और स्वतन्त्रताप्रेमी हैं, पर उनकी सैन्यशक्ति कठों की अपेक्षा बहुत अधिक है। और इस जनपद के आगे राजा नन्द (अग्रमस Agrammes) का विशाल साम्राज्य है, जिसकी सेना अनन्त है। वह भारत का सबसे शक्तिशाली सम्राट् है, और उसने सम्पूर्ण प्राच्य देश को जीतकर अपने अधीन किया हुआ है। इन बातों को जानकर यवन-सेना का उत्साह भंग हो गया, और उसने विपाशा नदी को पार करने से इन्कार कर दिया। सिकन्दर ने अपनी सेना को अनेक प्रकार से उत्साहित करने का प्रयत्न किया, उसके सम्मुख अनेक व्याख्यान दिये, पर उसे अपने प्रयत्न में सफलता नहीं हुई। यवन-सेना अपने दिग्विजयी सेनानी व सम्राट् के विरुद्ध विद्रोह तक कर देने के लिये तैयार हो गई। अपने प्रयत्न में विफल होकर सिकन्दर अपने शिविर में जा बैठा और कई दिन तक उससे बाहर नहीं निकला। अन्त में सिकन्दर को अपनी सेना की इच्छा के सम्मुख सिर झुका देने के लिये विवश होना पड़ा।

ब्यास नदी के पश्चिमी तट पर अनेक वेदिकायें बनाकर सिकन्दर ने उनपर देवताओं को बलि दी, और फिर वापस लौट चलने की आज्ञा दी ।

सिकन्दर की वापसी--विपाशा नदी के तट पर देवताओं की पूजा कर सिकन्दर की सेनाओं ने पश्चिम की ओर प्रस्थान किया। बिना किसी विघ्न-बाधा के वे वितस्ता (जेहलम) नदी के तट पर आ पहुँची। यहां आकर उसने एक बड़े दरबार का आयोजन किया, जिसमें उसके अधीनस्थ भारतीय जनपदों के शासक सम्मिलित हुए। भारत से वापस लौट जाने से पूर्व सिकन्दर यह चाहता था, कि अपने विजित प्रदेशों के शासन की समुचित व्यवस्था कर दे। विपाशा और वितस्ता नदियों के मध्यवर्ती प्रदेश का शासन उसने कैकयराज पोरु के सुपुर्द किया, जो अब सिकन्दर का मित्र व परम सहायक था। भारत के अन्य राजवंशों के राजाओं के समान पोरु भी महत्त्वाकांक्षी था, और सिकन्दर की मित्रता के कारण अब वह वाहीक देश के बड़े भाग का अधिपति बन गया था। वितस्ता और सिन्ध नदी का मध्यवर्ती प्रदेश गान्धारराज आम्भि के शासन में दिया गया। सिन्ध के पश्चिम के भारतीय प्रदेश सेनापति फिलिप्पस के सुपुर्द किये गये। भारत के जिन प्रदेशों पर सिकन्दर का आधिपत्य स्थापित हो गया था, उनमें अनेक नगरों में यवन सेना की छावनियां स्थापित की गईं, ताकि ये प्रदेश यवनराज के विरुद्ध विद्रोह न कर सकें। इस प्रकार अपने विजित प्रदेशों के शासन की सुव्यवस्था कर सिकन्दर ने अपने देश को वापस लौट जाने का उपक्रम किया। उसकी यह वापसी यात्रा ३२६ ई० पू० में शुरू हुई।

सौभूति--वितस्ता नदी के समीपवर्ती प्रदेश में ही एक राज्य था, जिसके राजा का नाम ग्रीक-लेखकों ने सोफाईतिज़ (Sophytes) लिखा है। सम्भवतः, यह सौभूति का ग्रीक रूपान्तर है। इस राज्य का नाम भी सम्भवतः सौभूत था, और इसका स्वरूप शायद गणराज्य का था। ग्रीक विवरणों से ज्ञात होता है, कि सौभूत जनपद भी कठ के समान था, और वहां के लोग सौन्दर्य को बहुत अधिक महत्त्व देते थे। कठों के समान उनमें भी यह रिवाज था, कि कुरूप व निर्बल बच्चों को बचपन में ही मरवा दिया जाता था। सिकन्दर ने सौभूत-राज्य के साथ युद्ध कर उसे भी अपने अधीन कर लिया।

शिवि--सौभूत राज्य को परास्त कर सिकन्दर की सेना ने अपने देश को वापस लौटना प्रारम्भ किया। पर वापसी के लिये सिकन्दर ने एक नये मार्ग का आश्रय लिया। वितस्ता नदी में बहुत-से जहाजों व नौकाओं को एकत्र किया गया, ताकि यवन-सेना जलमार्ग द्वारा यात्रा कर सके। इन जहाजों व

नौकाओं की संख्या के सम्बन्ध में ग्रीक लेखकों में मतभेद है। टाल्मी (तोलमाय) के अनुसार इन जहाजों की संख्या २००० थी। सिकन्दर का यह विशाल जहाजी बेड़ा वितस्ता नदी में चल रहा था, और उसकी स्थल-सेना नदी के दोनों तटों पर। यह विशाल यवन-सेना बिना किसी विघ्न-बाधा के वितस्ता और असिक्नी नदियों के संगम पर आ पहुँची। इस संगम के पूर्व की ओर उस समय शिवि जनपद की स्थिति थी। इसे ग्रीक-लेखकों ने सिबोई (Siboi) लिखा है। शिवि लोग बड़े वीर थे। पर सिकन्दर का मुकाबला कर सकना उनके लिये सम्भव नहीं था। बिना किसी विशेष लड़ाई के उन्होंने यवनराज की अधीनता स्वीकृत कर ली।

आग्रेय—शिवि जनपद से पूर्व की ओर एक अन्य शक्तिशाली गणराज्य की स्थिति थी, जिसे ग्रीक लेखकों ने अगलस्सि (Agalassi) लिखा है। इस गण का नाम ग्रीक-विवरणों में अनेक प्रकार से उपलब्ध होता है, जिनमें अगिरि और अगेसिनेई (Agiri और Agesinae) उल्लेखनीय हैं। पर अधिक प्रचलित नाम अगलस्सि ही है। शिवि को जीतने के बाद सिकन्दर का इस राज्य के साथ युद्ध हुआ था। काशीप्रसाद जायसवाल ने अगलस्सि को अग्रश्रेणि से मिलाया है, और उनके इस मत को अनेक ऐतिहासिकों ने स्वीकार कर लिया है। कौटलीय अर्थशास्त्र में वार्ताशस्त्रोपजीवि संघों का परिगणन करते हुए 'श्रेणि' गण को भी इन संघों की सूची में शामिल किया है। इससे जायस वालजी ने यह कल्पना की है, कि श्रेणि नाम का एक गणराज्य प्राचीन समय में विद्यमान था। पर इस श्रेणि नामक गणराज्य के एक से अधिक भाग थे, उनमें जो मुख्य श्रेणिगण था, उसी को अग्रश्रेणि या अगलस्सि कहते थे। पर जाय-सवाल जी का यह मत युक्तिसंगत नहीं है। इसमें सन्देह नहीं, कि श्रेणि नाम का एक गण प्राचीन भारत में था, जिसके वर्तमान प्रतिनिधि सैनी लोग हैं। पर अगलस्सि जिस राज्य को सूचित करता है, वह आग्रेय गण है, जिसका उल्लेख महाभारत में आता है, और जिसकी अनेक मुद्रायें भी अगरोहा (जिला हिसार) की खुदाई द्वारा प्राप्त हो गई हैं। भाषाशास्त्र की दृष्टि से आग्रेय और अगलस्सि एक दूसरे के बहुत समीप हैं। इस आग्रेय गण का प्रवर्तक अग्रसेन था, और इसकी प्रधान नगरी अग्रोदक थी। ग्रीक लेखकों द्वारा लिखे गये अगिरि और अगेसिनेई नाम सम्भवतः अग्रा और अग्रसैनी के परिचायक हैं। सिकन्दर के समय में यह आग्रेय गण बहुत शक्तिशाली था। ग्रीक लेखकों के अनुसार इसकी जिस सेना ने सिकन्दर के साथ युद्ध किया, उसमें ४०००० पदाति और ३००० अश्वारोही

सैनिक थे। यद्यपि इस गण की मुख्य नगरी अग्रोदक थी, जिसकी स्थिति सतलुज (शतुद्री) के पूर्व-दक्षिण में थी, पर यह असम्भव नहीं, कि सका विस्तार पश्चिम में पर्याप्त दूर तक हो और इसकी सीमा पश्चिम में शिवि जनपद के समीप तक पहुँच गई हो। आग्रेय या अगलस्सि को जीतकर सिकन्दर ने मालव गण के साथ युद्ध किया था। महाभारत के अनुसार भी राजा कर्ण ने आग्रेयों को परास्त करने के बाद मालव गण के साथ युद्ध किया था। इससे स्पष्ट है, कि मालव और आग्रेय गणों की स्थिति एक दूसरे के पड़ोस में थी। यही बात ग्रीक-विवरणों द्वारा भी पुष्ट होती है। अतः 'अगलस्सि' आग्रेय का रूपान्तर है, और शिवि जनपद को अपनी अधीनता में ले आने के बाद सिकन्दर ने आग्रेय राज्य के साथ ही युद्ध किया था। आग्रेय लोगों ने बड़ी वीरता के साथ यवन-सेना का मुकाबला किया। जब उन्होंने देखा कि अपनी स्वाधीनता की रक्षा कर सकना सम्भव नहीं है, तो उन्होंने स्वयं ही अपनी नगरी को भस्मसात् कर दिया।

मालव और क्षुद्रक—असिक्नी नदी के साथ-साथ कुछ और अधिक दक्षिण की तरफ जाने पर बाईं तरफ इरावती (रावी) नदी के साथ के प्रदेश में मालव गण की स्थिति थी। ग्रीक-लेखकों ने इसे मल्लोई (Malloi) लिखा है। मालवों के पड़ोस में पूर्व की ओर क्षुद्रक गण था, जिसे ग्रीक-विवरणों में ओक्सिड्राकोई (Oxydrakai) लिखा गया है। यद्यपि इन दोनों गणराज्यों में देर से परस्पर विरोध चला आता था, पर अब विदेशी शत्रु का मुकाबला करने के लिये उन्होंने सुलह कर ली। एक ग्रीक लेखक के अनुसार अपनी सन्धि को स्थिर करने के उद्देश्य से मालवों ने अपनी सब अविवाहित कुमारियों का विवाह क्षुद्रक-कुमारों के साथ कर दिया, और क्षुद्रकों ने अपनी कुमारियों को मालव-कुमारों से ब्याह दिया। शिवि आग्रेय आदि जनपदों के समान मालव और क्षुद्रक भी 'वार्ताशस्त्रोपजीवि' थे। उनकी कोई स्थिर सेना नहीं थी, पर उनका प्रत्येक पुरुष उत्कट योद्धा था। जब सिकन्दर के सैनिकों को ज्ञात हुआ कि अभी उन्हें भारत की दो अत्यन्त वीर जातियों के साथ युद्ध करना है, तो वे बहुत घबराये, वे एक बार फिर सिकन्दर के विरुद्ध विद्रोह के लिये तैयार हो गये। पर सिकन्दर ने उन्हें यह कहकर समझाया, कि अब तो युद्ध के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय ही नहीं है। क्षुद्रकों और मालवों का सामना किये बिना स्वदेश को वापस लौट सकना सम्भव नहीं है। अतः उनसे तो युद्ध करना ही होगा।

क्षुद्रक और मालव गणों ने सिकन्दर का मुकाबला करने के लिये अपनी सेनाओं को सम्मिलित रूप से संगठित करने का प्रयत्न किया। पर इससे पूर्व

कि क्षुद्रकों की सेना मालवों की सहायता के लिये आ सके, सिकन्दर ने उनपर आक्रमण कर दिया। मालव लोग अभी युद्ध के लिये तैयार नहीं थे। यवनों ने उनके ग्रामों और नगरों पर अचानक हमला कर दिया, और बहुत-से मालव कृषक अपने खेतों में ही लड़ते हुए मारे गये। मालवों के साथ युद्ध करते हुए सिकन्दर की छाती पर सख्त चोट लगी, जो भविष्य में उसकी अकाल मृत्यु का कारण बनी। इस घाव के कारण सिकन्दर इतना क्रुद्ध हो गया, कि उसने कत्लेआम का आदेश दिया। स्त्री-पुरुष-वृद्ध व बालक किसी की भी यवन सैनिकों ने परवाह नहीं की, और हजारों मालव नर-नारी सिकन्दर के क्रोध के शिकार बने।

इस बीच में क्षुद्रक सेना मालवों की सहायता के लिये आ गई थी। मालवों के साथ युद्ध करते हुए सिकन्दर इतना परेशान हो गया था, कि उसने उनके साथ समझौता कर लेने में ही अपना हित समझा। क्षुद्रक लोगों ने भी अनुभव किया, कि सिकन्दर-जैसे दिग्विजयी वीर के साथ लड़ाई करना निरर्थक है। इस दशा में दोनों पक्षों में सन्धि हो गई। मालवों और क्षुद्रकों के सौ मुख्य पुरुष सिकन्दर की सेवा में उपस्थित हुए। सिकन्दर ने भी उनका बड़ी धूम-धाम के साथ स्वागत किया। उनके सम्मान में एक भोज की व्यवस्था की गई, जिसमें क्षुद्रकों और मालवों के नेताओं के बैठने के लिये सौ सुनहली कुर्सियां रखी गईं। क्षूद्रकों और मालवों ने कहा, कि आज तक हम सदा स्वतन्त्र रहे हैं, पर सिकन्दर लोकोत्तर पुरुष है, हम स्वेच्छापूर्वक उसकी अधीनता स्वीकृत करते हैं।

यद्यपि ग्रीक लेखकों के अनुसार क्षुद्रकों और मालवों ने सिकन्दर को अपना अधिपत स्वीकृत कर लिया था, पर भारत की प्राचीन अनुश्रुति इसके विरुद्ध है। श्री जायसवाल ने प्रतिपादित किया है, कि संस्कृत के प्राचीन व्याकरण ग्रन्थों के अनुसार क्षुद्रक लोक अकेले सिकन्दर को परास्त करने में समर्थ हुए थे। महाभाष्य में 'एकाकिभिः क्षुद्रकैः जितम्' लिखकर उस अनुश्रुति को दोहराया है, जो क्षुद्रकों की विजय के सम्बन्ध में भारत में विद्यमान थी। सिकन्दर ने जिस प्रकार सम्मानपूर्वक क्षुद्रकों और मालवों का स्वागत किया था, उसे दृष्टि में रखते हुए यह कल्पना करना अनुचित नहीं होगा, कि सिकन्दर उन्हें परास्त करने में असमर्थ रहा था, और उसने उनके साथ सुलह कर लेने में ही अपना कल्याण समझा था।

अम्बष्ठ, क्षत्तृ और वसाति—मालव और क्षुद्रक गणों के साथ समझौता कर सिकन्दर निरन्तर दक्षिण की ओर चलता गया। सिन्ध और चनाव

नदियों के संगम के समीप अनेक छोटे-छोटे गणराज्यों की स्थिति थी, जिनमें अम्बष्ठ (Sambastai या Abastanoi) क्षत्तृ (Xathroi) और वसाति (Ossadioi) के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। अम्बष्ठ गण ने वीरतापूर्वक यवन-सेना का मुकाबला किया, पर सिकन्दर ने उसे परास्त कर दिया। अन्य दो गणराज्यों ने युद्ध के बिना ही सिकन्दर की अधीनता स्वीकृत कर ली। सिन्ध और चनाव के संगम पर सिकन्दर ने एक अन्य नगरी की स्थापना की, और उसका नाम भी अलैग्जैण्ड्रिया (सिकन्दरिया) रखा गया।

मुचिकर्ण—अब सिकन्दर उत्तरी सिन्ध में पहुंच गया था। उन दिनों इस प्रदेश में एक जनपद की स्थिति थी, जिसे ग्रीक लेखकों ने मूसिकनोई (Mousikanoi) लिखा है। अनेक ऐतिहासिकों के अनुसार इसका भारतीय नाम 'मूषिक' था। पर जायसवालजी ने इसे मुचिकर्ण का रूपान्तर माना है, जो पाणिनि की अष्टाध्यायी के अनुसार एक गणराज्य था। इस जनपद की राजधानी रोरुक नगरी थी। सिन्धप्रान्त का रोरी नगर इसी प्राचीन रोरुक नगरी को सूचित करता है, और इसके समीप अरोर नाम की एक पुरानी बस्ती भी है, जो अब उजड़ी हुई दशा में है। मुचिकर्ण गण ने भी सिकन्दर का सामना करने का प्रयत्न किया, पर वह अपने प्रयत्न में सफल नहीं हो सका।

ग्रीक-लेखकों ने मुचिकर्ण जनपद के सम्बन्ध में अनेक ज्ञातव्य बातें लिखी हैं। वे लोग सात्त्विक भोजन करते थे और नियमित जीवन बिताते थे। इस कारण उनकी आयु प्रायः १३० वर्ष की होती थी। वे एक साथ बैठकर सामूहिक रूप से भोजन करते थे। उनमें दासप्रथा का अभाव था और सब लोगों को एक दृष्टि से देखा जाता था।

ब्राह्मणक जनपद—उत्तरी सिन्ध के मुचिकर्ण जनपद को परास्त कर सिकन्दर दक्षिण की ओर आगे बढ़ा। आगे चलकर उसे एक अन्य जनपद के साथ युद्ध करने के लिये विवश होना पड़ा, जिसका नाम 'ब्राह्मणक' था। ग्रीक लेखकों के विवरण से यह स्पष्ट है, कि उस समय सिन्ध में 'ब्राह्मणक' नाम का एक जनपद था, जिसके निवासी यवनों के साथ युद्ध के लिये तत्पर थे। सिकन्दर ने क्रूरता के साथ इनका वध किया और बहुत-से ब्राह्मणक लोगों की लाशों को खुले मार्ग पर लटकवा दिया, ताकि अन्य लोग उनको देखकर यवनों के विरुद्ध युद्ध करने का साहस न करें।

पातानप्रस्थ—सिन्ध प्रान्त में सिन्धु नदी जहां दो धाराओं में विभक्त होकर

समुद्र की ओर आगे बढ़ने लगती है, वहां प्राचीन समय में पातानप्रस्थ नामक जनपद विद्यमान था। ग्रीस के लेखकों ने उसे पातालेन (Patalene) लिखा है, और कई ऐतिहासिकों ने उसका भारतीय नाम पात्ताल माना है। पर जायसवालजी ने उसे पातानप्रस्थ से मिलाया है, जो कि पाणिनीय व्याकरण के अनुसार एक राज्य था। इस राज्य में दो वंशक्रमानुगत राजाओं का शासन था, जो कुलवृद्धों की सभा की सहायता से राज्यकार्य का संचालन करते थे। ग्रीक-लेखकों ने पातानप्रस्थ की शासन-विधि की तुलना ग्रीक जनपद स्पार्टा के साथ की है। इस राज्य के निवासी सिकन्दर का मुकाबला कर सकने में असमर्थ रहे, और अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा के लिये अपना अभिजन छोड़कर अन्यत्र चले गये।

वापसी—अब सिकन्दर सिन्ध नदी के मुहाने पर पहुँच गया था। यहां उसने अपनी सेना को दो भागों में विभक्त किया। जल-सेनापति नियार्कस को जहाजी बेड़े के साथ समुद्र के मार्ग से वापस लौटने का आदेश देकर वह स्वयं मकरान के किनारे-किनारे स्थलमार्ग से अपने देश की ओर चल पड़ा।

सिकन्दर की मृत्यु—रास्ते में अनेक प्रकार के कष्ट उठाता हुआ सिकन्दर अपनी सेना के साथ ३२३ ई० पू० में बैबिलोन पहुंच गया। न केवल उसकी सेना निरन्तर युद्धों के कारण थक गई थी, अपितु वह स्वयं भी श्रान्ति अनुभव करने लग गया था। मालवों के साथ युद्ध करते हुए उसकी छाती में जो घाव लगा था, वह अभी तक पूरी तरह से ठीक नहीं हुआ था। इस दशा में अपने देश को वापस पहुँचने से पूर्व ही बैबिलोन में उसकी मृत्यु हो गई। उसकी मृत्यु का काल ३२३ ई० माना जाता है।

साम्राज्य में अव्यवस्था—सिकन्दर एक महान् विजेता था। दिग्विजय द्वारा उसने एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की थी। पर इस साम्राज्य को एक सूत्र में बांधे रखने की न उसमें शक्ति थी, और न उसके देशवासियों में। यही कारण है, कि सिकन्दर के मरते ही उसके साम्राज्य में अव्यवस्था फैल गई। उसके विभिन्न सेनापति अपने पृथक्-पृथक् राज्य स्थापित करने के लिये प्रयत्न-शील हो गये, और उसका साम्राज्य अनेक खण्डों में विभक्त हो गया। सिकन्दर की विजयों द्वारा स्थापित विशाल मैसिडोनियन साम्राज्य उसकी मृत्यु के बाद जिन विभागों में विभक्त हो गया, वे निम्नलिखित थे—

(१) मैसीडोनिया—सिकन्दर मैसिडोनिया का निवासी था। वहां सेना-पति एण्टीगोनस ने एक पृथक् राज्य की स्थापना की। ग्रीस इसी राज्य

के अन्तर्गत था । पर एण्टीगोनस अपने राज्य में शान्तिपूर्वक शासन नहीं कर सका। उसके अनेक सेनापति उसके विरुद्ध उठ खड़े हुए, और उन्होंने अपने स्वतन्त्र राज्य कायम कर लिये ।

(२) मिस्र—सिकन्दर के टाल्मी नामक सेनापति ने मिस्र में अपना पृथक् व स्वतन्त्र राज्य कायम किया, जो कई सदियों तक स्थिर रहा ।

(३) सीरिया—भारत से एशिया माइनर तक सिकन्दर के विशाल साम्राज्य के जो सुविस्तृत प्रदेश थे, उनपर सेनापति सैल्युकस ने अधिकार कर लिया, और एक नये राजवंश का प्रारम्भ किया । सिकन्दर द्वारा विजित भारतीय प्रदेश भी इसी राज्य के अन्तर्गत थे। इतिहास में सैल्युकस को सीरिया का राजा कहा जाता है, पर वस्तुतः वह सिकन्दर के साम्राज्य के सब एशियन प्रदेशों का अधिपति था। पर इस प्रसग में यह ध्यान में रखना चाहिये, कि सिकन्दर के एशियन प्रदेशों पर सैल्युकस जो अपना स्वामित्व स्थापित कर सका, उसके लिये उसे अनेक वर्षों तक निरन्तर युद्ध करना पड़ा था। मैसिडोनियन सेना का एक अन्य सेनापति एण्टीगोनस इस क्षेत्र में उसका मुख्य प्रतिद्वन्द्वी था, और उसे परास्त करके ही वह अपने पृथक् राज्य की स्थापना में समर्थ हुआ था ।

भारत में विद्रोह—जिस समय अभी सिकन्दर मकरान के मार्ग से बैबीलोन की ओर जा रहा था, उसे रास्तें में समाचार मिला कि भारत में विद्रोह हो गया है, और सिन्ध नदी के पश्चिमी प्रदेशों का शासन करने के लिये जो क्षत्रप फिलिप्पस उसकी ओर से नियत किया गया था उसकी हत्या हो गई है । सिकन्दर के लिये यह सम्भव नहीं था, कि वह स्वयं लौटकर इस विद्रोह को शान्त करता । अतः अपने एक सेनापति यूदेमास (Eudamos) को यह सन्देश भेजा, कि वह आम्भि की सहायता से इस विद्रोह को शान्त करे । पर यूदेमास को अपने प्रयत्न में सफलता नहीं हुई ।

३२३ ई० पू० में सिकन्दर की मृत्यु का समाचार जब भारत पहुंचा, तो उस द्वारा विजित अन्य प्रदेशों में भी विद्रोह की अग्नि भड़क उठी । इस विद्रोह के नेता आचार्य चाणक्य और कुमार चन्द्रगुप्त थे। इनके प्रयत्न से भारत का पश्चिमी भाग किस प्रकार मैसिडोनियन साम्राज्य की अधीनता से मुक्त हुआ, इस विषय पर हम यथास्थान विशद रूप से प्रकाश डालेंगे ।

(५) मैसिडोनियन आक्रमण का भारतीय इतिहास पर प्रभाव

सिकन्दर एक दिग्विजयी सम्राट् था । ईरान, मिस्र आदि को जीतकर

उसने एक विशाल साम्राज्य का निर्माण किया। पर उसका साम्राज्य उसके मरते ही खण्ड-खण्ड हो गया। एशियन प्रदेशों में सैल्युकस द्वारा जो राज्य कायम रहा, वह वस्तुतः पुराने हखामनी साम्राज्य का ही उत्तराधिकारी था। इसी प्रकार टाल्मी द्वारा मिस्र में जिस पृथक् राज्य की स्थापना हुई, कुछ ही समय बाद वह ग्रीक या मैसिडोनियन राज्य न रहकर पुराना मिस्री राज्य ही बन गया और उसका ग्रीक-राजवंश पुराने फैरोहा-सम्राटों का स्मरण दिलाने लगा। वस्तुतः सिकन्दर एक आंधी की तरह आया था, और आंधी की तरह ही लौट गया था। उसने कितने ही पुराने राजवंशों और राजकुलों का उच्छेद कर दिया, पर उनके स्थान पर वह किसी ऐसी व्यवस्था का सूत्रपात नहीं कर सका, जो इतिहास में चिरस्थायी रहती।

सिकन्दर यह भी स्वप्न लेता था, कि संसार की विविध सभ्य जातियों को मिलाकर एक विश्व-संस्कृति का प्रादुर्भाव करे। इसी उद्देश्य से उसने अपने यूनानी सैनिकों के विवाह ईरानी और भारतीय स्त्रियों के साथ कराये। उसका ख्याल था, कि इस प्रकार के विवाहों से जो सन्तान उत्पन्न होगी, वह उसके उद्देश्य को पूर्ण कर सकेगी। इसीलिये उसने बहुत-से सामूहिक विवाहों की व्यवस्था की, और सैकड़ों यूनानी सैनिकों के विदेशी स्त्रियों से एक साथ विवाह कराये। इन विवाहों द्वारा चाहे एक विश्व-संस्कृति का जन्म न हो सका हो, पर सिकन्दर की दिग्विजय का यह परिणाम अवश्य हुआ, कि चौथी सदी ई० पू० की तीन उन्नत व सभ्य जातियां—ग्रीक-ईरानी और भारतीय—एक दूसरे के निकट सम्पर्क में आ गईं, और उनमें ज्ञान व व्यापार का सम्बन्ध घनिष्ठ हो गया।

भारत के इतिहास पर मैसिडोनियन आक्रमण का जो प्रभाव पड़ा, उसे संक्षेप के साथ इस प्रकार प्रदर्शित किया जा सकता है—

(१) पश्चिमी और उत्तर-पश्चिम-भारत में जो बहुत-से छोटे बड़े राज्य उस समय विद्यमान थे, सिकन्दर के आक्रमण के कारण उनकी स्वतन्त्र सत्ता नष्ट हो गई। उसकी प्रबल शक्ति के सम्मुख वे अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा नहीं कर सके। गंगा के पूर्व में प्राचीन काल में जो बहुत-से छोटे-बड़े राज्य विद्यमान थे, वे मगध की साम्राज्य-विस्तार की प्रवृत्ति और प्रबल शक्ति द्वारा नष्ट किये गये थे। जो कार्य गंगा के पूर्व में मगध के सम्राटों ने किया था, वही विपाशा के पश्चिम में सिकन्दर ने किया। सम्पूर्ण उत्तरी भारत में एक शक्तिशाली साम्राज्य स्थापित होने के कार्य में इससे बहुत सहायता मिली। चन्द्रगुप्त मौर्य जो सम्पूर्ण उत्तरी भारत में अपना एकच्छत्र साम्राज्य स्थापित कर सका, उसमें

सिकन्दर की दिग्विजय बहुत सहायक सिद्ध हुई, उसके आक्रमण ने वाहीक देश के शक्तिशाली जनपदों के बल को क्षीण कर दिया, और चन्द्रगुप्त मौर्य उन्हें सुगमता के साथ अपनी अधीनता में ला सका।

(२) भारत का पश्चिमी संसार के साथ सम्बन्ध स्थापित होने में इस आक्रमण से बहुत सहायता मिली। इससे पूर्व भी भारत का पाश्चात्य जगत् से सम्बन्ध विद्यमान था। पर कुछ वर्षों के लिये विपाशा से भूमध्यसागर तक के सुविशाल प्रदेश में एक शासन की स्थापना ने इस सम्बन्ध को बहुत अधिक दृढ़ कर दिया। भारत के व्यापारी बड़ी संख्या में मिश्र और ग्रीस जाने-आने लगे। पश्चिमी देशों में भारत का माल अच्छी मात्रा में बिकने लगा और विदेशी माल भारत में बिक्री के लिये आने लगा।

(३) सिकन्दर ने भारत के विजित प्रदेशों में अपने सैनिकों की जो छावनियां स्थापित की थीं, वे देर तक वहां नहीं रह सकीं। पर इन विदेशी सैनिकों को यह अवसर भी नहीं मिला, कि वे अपने देशों को वापस लौट सकें। उनमें से बहुतों ने चन्द्रगुप्त मौर्य की सेना में 'भृत' सैनिक के रूप में कार्य करना स्वीकार कर लिया। चन्द्रगुप्त के नेतृत्व में जिस सेना ने नन्द-वंश का विनाश करने के लिये मगध पर आक्रमण किया था, उसमें पारसीक और म्लेच्छ सैनिक भी शामिल थे। सम्भवतः ये विदेशी सैनिक सिकन्दर की उन सेनाओं के अवशेष थे, जो वह भारत में छोड़ गया था। इन ग्रीक-मैसिडोनियन और पारसीक सैनिकों द्वारा भारत की सभ्यता और संस्कृति पर अवश्य प्रभाव पड़ा। सिकन्दर ने जो नगर भारत में स्थापित किये थे, उनसे इस देश की संस्कृति में अनेक ऐसे तत्वों का प्रवेश हुआ, जो ग्रीक लोगों की देन थे। सिकन्दर ने भारत के विजित प्रदेशों में अपने सिक्के भी प्रचलित किये थे। इनमें से एक प्रकार के सिक्कों पर राजा पोरु को हाथी पर भागते हुए व ग्रीक अश्वारोही द्वारा उसका पीछा करते हुए दिखाया गया है। इसमें सन्देह नहीं कि इस काल के बाद भारत में जो सिक्के बने, उन पर ग्रीक प्रभाव स्पष्ट था।

(६) सिकन्दर के आक्रमण के समय भारत की दशा

जिन अनेक ग्रीक लेखकों ने सिकन्दर की दिग्विजय का वृत्तान्त लिखा है, उन्होंने भारत में उसके आक्रमण का उल्लेख करते हुए स्वाभाविक रूप से इस देश के विविध जनपदों के सम्बन्ध में भी अनेक महत्त्वपूर्ण व उप-

योगी बातों का जिक्र कर दिया है। इनमें से कुछ बातों का निर्देश करना इस युग के भारत की दशा को समझने में सहायक होगा।

विविध राज्य—सिकन्दर के आक्रमण के समय पश्चिमी भारत में अनेक छोटे-बड़े राज्य थे। पूर्वी भारत में उस समय एक विशाल साम्राज्य की स्थापना हो चुकी थी, जो पुराने युग के जनपदों को अपनी अधीनता में ला चुका था। पर पंजाब, सिन्ध आदि में भी अभी तक अनेक जनपदों की सत्ता थी। ये जनपद दो प्रकार के थे, राजतन्त्र और गणतन्त्र। राजतन्त्र राज्यों में गान्धार, केकय और अभिसार मुख्य थे। इनके अतिरिक्त मद्रक, पुष्करावती और मुचिकर्ण राज्य भी राजतन्त्र थे। मुचिकर्ण को द्वैराज्य कहना अधिक उपयुक्त होगा, क्योंकि स्पार्टा के समान उसमें भी दो वंशक्रमानुगत राजाओं का शासन होता था।

पर पश्चिमी भारत में इस समय राजतन्त्र-जनपदों की अपेक्षा गणतन्त्र-जनपदों की संख्या अधिक थी। कठ, शिवि, आग्रेय, मालव, क्षुद्रक, ग्लुचुकायन और क्षत्तृ इनमें मुख्य थे। इन गणराज्यों का स्वरूप प्रायः वैसा ही था, जैसा कि प्राचीन ग्रीस के एथन्स आदि गणतन्त्र-जनपदों का था। कौटलीय अर्थशास्त्र और पाणिनि की अष्टाध्यायी द्वारा ग्रीक-लेखकों के इस विवरण की पुष्टि होती है। अष्टाध्यायी में न केवल इनमें से अनेक गणराज्यों का अपितु उनके कुलों (गोत्रों) का भी उल्लेख मिलता है। ग्रीक-लेखकों ने इन गणों के शासन व रीति-रिवाज आदि के विषय में जो कुछ लिखा है, उसका निर्देश हम ऊपर कर चुके हैं।

धर्म—यद्यपि बौद्ध-धर्म को प्रारम्भ हुए दो सदी के लगभग समय व्यतीत हो चुका था, पर पश्चिमी भारत में अभी उसका विशेष रूप से प्रचार नहीं हुआ था। इस प्रदेश में अभी पुराना सनातन आर्य-धर्म ही प्रचलित था। ब्राह्मणों के प्रति जनता के हृदय में बहुत श्रद्धा थी, और वे भी अपने कर्तव्यों का पालन करने में तत्पर रहते थे। पर कहीं-कहीं ग्रीक-लेखकों ने श्रमणों का भी जिक्र किया है, जिससे सूचित होता है कि इस प्रदेश में बौद्ध-धर्म का प्रवेश भी शुरू हो चुका था।

आर्थिक दशा—ग्रीक-लेखकों के विवरणों से ज्ञात होता है, कि इस युग में भारत आर्थिक दृष्टि से बहुत समृद्ध था। लोग गोधन को बहुत महत्त्व देते थे और भारत में गाय-बैल के पालन का बहुत रिवाज था। भारत के विजित प्रदेशों से सिकन्दर ने गाय-बैल बहुत बड़ी संख्या में अपने देश

मैसिडोनिया में भिजवाये थे । ग्रीक-लेखकों ने इनकी संख्या २,३०,००० लिखी है । गान्धारराज आम्भि ने सिकन्दर को जो भेंट-उपहार दिये थे, उनमें सुवर्ण, मुक्ता और रजत के अतिरिक्त ३,००० बैल और ११,००० भेड़ें भी थीं ।

सहायक ग्रन्थ

McCrindle : The Invasion of India by Alexander the Great

McCrindle : Ancient India, as described in Classical Literature.

Smith V. A : Early History of India.

Tripathi : History of Ancient India.

Cambridge History of India Vol. I.

Mazumdar etc : An Advanced History of India.

Jayaswal K. P. : Hindu Polity.

Havell E. B : The History of Aryan Rule in India.

Wells H. G. : Outline of History.

जयचन्द्र विद्यालंकार—भारतीय इतिहास की रूपरेखा भाग २ ।

भगवत्शरण उपाध्याय—प्राचीन भारत का इतिहास ।

सोलहवां अध्याय

तिथिक्रम की समस्या

(१) भारतीय इतिहास के तिथिक्रम की आधारशिला

तिथिक्रम के आधार—भारत के प्राचीन राजनीतिक इतिहास को लिखते हुए हमने अब तक तिथिक्रम के प्रश्न पर विशेष ध्यान नहीं दिया। इसका कारण यह है, कि प्राचीन भारत के राजाओं और राजवंशों की तिथि बहुत विवाद-ग्रस्त है। ऐतिहासिकों में इस प्रश्न पर बहुत मतभेद है। राजा रामचन्द्र किस समय हुए, महाभारत का युद्ध कब लड़ा गया, परीक्षित जनमेजय जनक आदि राजाओं का काल कौन-सा था—ये प्रश्न अभी तक अन्तिम रूप से निर्णीत नहीं हो सके हैं। प्राचीन भारतीय इतिहास की जो अनुश्रुति महाभारत-पुराण आदि में उपलब्ध होती है, उससे राजाओं और राजवंशों का पौर्वापर्य तो स्पष्ट हो जाता है, पर वे किस समय हुए, यह भली भांति स्पष्ट नहीं होता। प्राचीन साहित्य में लौकिकाब्द, युधिष्ठिरशाक, शककाल, श्रीहर्ष-संवत् आदि कितने ही संवतों का उल्लेख है। पर कठिनता यह है, कि इन संवतों का भारतीय तिथि-क्रम में क्या स्थान है, यह बात भी निर्विवाद नहीं है। विक्रम-संवत् भारत के बड़े भाग में अब तक प्रचलित है, पर इस संवत् के प्रारम्भ का प्रश्न भी अब तक निर्णीत नहीं हो सका है। इस दशा में भारत के प्राचीन इतिहास को लिखते हुए किसी तिथिक्रम का उपयोग कर सकना सुगम नहीं है। यही कारण है, जो अब तक हमने राजवंशों और राजाओं का उल्लेख करते हुए उनकी तिथि या काल का उल्लेख नहीं किया है।

वर्तमान समय के विद्वानों ने भारत के प्राचीन इतिहास में तिथिक्रम का निर्धारण करते हुए जिन बातों को आधार बनाया है, वे निम्नलिखित हैं—

(१) ग्रीक-लेखकों के विवरणों के अनुसार जब सिकन्दर ने भारत पर आक्रमण किया, तो प्राच्य देश में पाटलिपुत्र को राजधानी बनाकर जो शक्ति-शाल राजा राज्य कर रहा था, वह नन्द्रमस या नन्द था। उसे मारकर सेन्ड्रा-

कोट्टस (चन्द्रगुप्त) ने राज्य प्राप्त किया। ग्रीक इतिहास के आधार पर सिकन्दर का समय हमें ज्ञात है, अतः राजा नन्द और चन्द्रगुप्त का काल भी निश्चित हो जाता है। पुराणों में प्राचीन राजवंशों के राजाओं की वंशावलियाँ दी हुई हैं. उनका काल भी नन्द और चन्द्रगुप्त के काल के आधार पर निर्धारित किया जा सकता है।

(२) बौद्ध-साहित्य द्वारा महात्मा बुद्ध का और जैन-साहित्य द्वारा वर्धमान महावीर का काल भी निश्चित कर सकना सम्भव है। क्योंकि इस साहित्य में बुद्ध और महावीर के समकालीन राजाओं का उल्लेख भी मिलता है, अतः बिम्बिसार, अजातशत्रु आदि राजाओं का काल भी स्वयमेव निश्चित हो जाता है। पौराणिक अनुश्रुति के अन्य राजाओं का समय बुद्ध और महावीर के समकालीन राजाओं के पौर्वापर्य द्वारा निर्धारित कर सकना सम्भव है।

इन दो आधारों पर विद्वानों ने प्राचीन भारत के तिथिक्रम को किस ढंग से निश्चित करने का प्रयत्न किया, अब हम इस बात पर विचार करेंगे।

तिथिक्रम की आधारशिला—२८ जनवरी, १७९३ को सर विलियम जोन्स ने बंगाल की रायल एशियाटिक सोसायटी के सम्मुख अपना यह 'आविष्कार' पेश किया था, कि ग्रीक राजदूत मैगस्थनीज ने अपने विवरण में जिस 'पालिबोथ्रा' का उल्लेख किया है, वह वस्तुतः पाटलिपुत्र है, और वह जिस 'सेण्ड्राकोट्टस' की राजसभा में राजदूत के रूप में रहा था, वह चन्द्रगुप्त मौर्य था। सर विलियम जोन्स की इस कल्पना को विल्फोर्ड, मैक्समूलर आदि विद्वानों ने स्वीकृत कर लिया और अनेक प्रमाणों द्वारा इसकी पुष्टि की। मैक्समूलर ने इस कल्पना को भारतीय तिथिक्रम का आधार मानते हुए लिखा कि "केवल एक ही साधन है, जिससे कि भारतीय इतिहास को ग्रीस के इतिहास के साथ जोड़ा जा सकता है, और भारत के तिथिक्रम को ठीक सीमाबद्ध किया जा सकता है। यद्यपि ब्राह्मणों और बौद्धों के साहित्य में सिकन्दर के आक्रमण का कोई जिक्र नहीं है, और सिकन्दर के साथियों द्वारा वर्णित ऐतिहासिक घटनाओं को भारत के ऐतिहसिक इतिवृत्त से मिला सकना असम्भव है, तथापि भाग्यवश प्राचीन लेखकों ने एक ऐसा नाम सुरक्षित छोड़ दिया है, जो कि सिकन्दर की विजयों के तत्काल बाद की घटनाओं की ठीक व्याख्या कर देता है, और जो प्राच्य तथा पाश्चात्य इतिहासों को मिलाने के लिये शृंखला का कार्य करता है। यह नाम है, सैण्ड्राकोट्टस या सैण्ड्रोकिप्टस (Sandrocyptus) अथवा संस्कृत का चन्द्रगुप्त।" इसके बाद फिर अध्यापक मैक्समूलर ने लिखा है—

"जस्टिन, एरियन, डायोडोरस, सिक्युलस, स्ट्रेबो, क्विन्टस, कर्टियस और प्लूटार्क आदि प्राचीन लेखकों से हमें ज्ञात होता है, कि सिकन्दर के समय गंगा के पारवर्ती प्रदेशों पर एक शक्तिशाली राजा राज्य करता था। इसका नाम क्सैण्ड्रमस (Xandrames) था। सिकन्दर के आक्रमण के बाद शीघ्र ही सैण्ड्राकोट्टस या सैण्ड्रोकिप्टस ने एक नवीन साम्राज्य की स्थापना की।" इसके बाद मैक्समूलर महोदय ने ग्रीक-लेखकों के वर्णनों से पुराणों के चन्द्रगुप्त की समानता प्रतिपादित की है। प्रो० विल्सन और प्रो० लैस्सन आदि सुप्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ताओं ने भी इसी मत की पुष्टि की। यही कल्पना भारत के प्राचीन तिथिक्रम की आधारशिला मानी जाती है। पुराण आदि प्राचीन इतिवृत्त में वर्णित सब वंशावलियों और राजाओं के काल का निर्णय इस कल्पना के आधार पर सरलता से कर दिया गया है। ३२५ ई० पू० में सिकन्दर ने भारत पर आक्रमण किया और ३२२ ई० पू० में चन्द्रगुप्त मगध के सिंहासन पर बैठा। ये दो तिथियां भारत के प्राचीन इतिहास में निश्चित समझ ली गई, और इन्हीं को आधार मानकर सब वंशों व राजाओं का काल-निर्णय सरलता से किया जा सका। निस्सन्देह सर विलियम जोन्स का यह 'आविष्कार' भारतीय इतिहास में एक अनुपम क्रान्ति है। भारतीय तिथिक्रम के निर्णय में इससे आश्चर्यजनक सहायता मिली है। बहुत समय तक पाश्चात्य व भारतीय—सब ऐतिहासिक इस 'आविष्कार' को सत्य मानते रहे। यद्यपि प्रो० ट्रोयर आदि कुछ विद्वानों ने इसमें सन्देह प्रकट किया, पर सभी पुरातत्त्ववेत्ता इसको सत्य व निश्चित सिद्धान्त मानकर चलते रहे।

इस कल्पना का विरोध—परन्तु बाद में कुछ विद्वानों ने इसके विरुद्ध जोर के साथ आन्दोलन शुरू किया। उन्हें यह मान्य नहीं हुआ, कि ग्रीक-लेखकों का सैण्ड्राकोट्टस और भारत का मौर्य चन्द्रगुप्त एक ही हैं। इन विद्वानों में श्री टी० एस० नारायण शास्त्री, श्री एम० के० आचार्य और श्री टी० सुब्बाराव के नाम विशेषतः उल्लेखनीय हैं। इनमें भी श्री नारायण शास्त्री ने इस सम्बन्ध में बहुत विस्तार से विचार किया है। उन्होंने सर जोन्स की कल्पना में मुख्यतया निम्नलिखित दोष प्रदर्शित किये हैं—

१. चन्द्रगुप्त मौर्य की यह तिथि (३२२ ई० पू०) भारत के सब प्राचीन ऐतिहासिक इतिवृत्त के प्रतिकूल है। प्राचीन अनुश्रुति के अनुसार मौर्य चन्द्रगुप्त की तिथि १५३५ ई० पू० है।

२. जिस समय सर विलियम जोन्स ने यह आविष्कार किया, उस समय

तक केवल एक चन्द्रगुप्त का ही ऐतिहासिकों को परिज्ञान था। परन्तु बाद में गुप्तवंश के संस्थापक चन्द्रगुप्त का भी पता लगा है। प्राचीन इतिवृत्त के अनुसार गुप्तवंश के संस्थापक चन्द्रगुप्त का काल ३२८ ई० पू० से प्रारम्भ होता है। इस अवस्था में कोई कारण नहीं समझ में आता, जिससे कि ग्रीक-लेखकों के सैण्ड्रा-कोट्टस को इस गु त-वंशी चन्द्रगुप्तके साथ क्यों न मिलाया जाय। ग्रीक-लेखकों का अन्य वृत्तान्त भी इसके साथ पूर्णतया मिलता है।

३. भारतीय इतिवृत्त के अनुसार आन्ध्रवंश के शासन से पूर्व भारत पर कोई विदेशी आक्रमण नहीं हुए। अतः स्वाभाविक रूप से मौर्य चन्द्रगुप्त के समय में सैल्यूकस का आक्रमण नहीं माना जा सकता।

४. इन दोषों के अतिरिक्त श्री नारायण शास्त्री का यह कहना है, कि भारतीय इतिवृत्त के अनुसार आन्ध्रवंश के अन्तिम राजा चन्द्रश्री को हटाकर गुप्तवंश के संस्थापक चन्द्रगुप्त ने स्वयं राज्य प्राप्त किया था। ग्रीक-लेखकों के अनुसार सैण्ड्राकोट्टस ने क्सैण्ड्रमस को मारकर राज्य प्राप्त किया। क्सैण्ड्रमस और चन्द्रश्री में ध्वनिसाम्य स्पष्टरूप से विद्यमान है। नन्दवंश के अन्तिम राजा धननन्द या नन्द के साथ क्सैण्ड्रमस का ध्वनिसाम्य प्रतिपादित नहीं किया जा सकता। सैण्ड्राकोट्टस और चन्द्रगुप्त का साम्य तो स्पष्ट ही है। इसलिये इन नामों की समानता के साथ इन घटनाओं की समानता भी पूर्णरूप से मिल जाती है। भारतीय तिथि-क्रम के अनुसार गुप्तवंशी चन्द्रगुप्त प्रथम का शासन-काल ३२८ ई० पू० से ३२१ ई० पू० तक है, जो यूनानी सिकन्दर के आक्रमण से ठीक तरह मिल जाता है।

कलियुग-राज-वृत्तान्त के अनुसार आन्ध्रवंश का अन्तिम राजा चन्द्रश्री था। इसके सेनापति का नाम चन्द्रगुप्त था। इस चन्द्रगुप्त ने अपनी सेना की सहायता से चन्द्रश्री को मरवा दिया और उसके लड़के 'पुलोमान्' का प्रतिभू (रीजेंट) बनकर वह स्वयं राज्य करने लगा। इस तरह 'पुलोमान्' ने सात वर्ष तक चन्द्र-गुप्त के 'प्रतिभूत्व' (रीजैन्सी) में राज्य किया। उसके पश्चात् चन्द्रगुप्त ने पुलोमान् को भी मार दिया और स्वयं राजा बन गया। इस चन्द्रगुप्त के अनेक पुत्र थे। उनमें से एक पुत्र का नाम समुद्रगुप्त था। इस समुद्रगुप्त ने म्लेच्छ सेनाओं की सहायता से स्वयं अपने पिता को मारकर राज्य प्राप्त किया। इस प्रकार गुप्तवंश का यह वृत्तान्त ग्रीक सैण्ड्राकोट्टस के वृत्तान्त से पूरी तरह मिलता है। चन्द्रश्री ही 'क्सैण्ड्रमस' है, जिसे मारकर सैण्ड्राकोट्टस ने एक नवीन राजवंश की स्थापना की। फिर इसके पुत्र समुद्रगुप्त या सैण्ड्रोकिप्टस ने म्लेच्छ व ग्रीक आदि

विदेशी और स्वदेशी सेनाओं की सहायता से स्वयं राज्य प्राप्त कर लिया। यही सैण्ड्रोकिप्टस सिकन्दर से मिला था। सिकन्दर से भेंट करनेवाले व्यक्ति को सैण्ड्राकोट्टस भ्रान्तिवश ही लिखा गया है। यूनानियों ने सैण्ड्रोकिप्टस का सम्बन्ध विदेशी राजाओं से लिखा है, और कलियुगराजवृत्तान्त के अनुसार गुप्तवंशी इस समुद्रगुप्त का भी विदेशी नृपों के साथ सम्बन्ध था। इस तरह स्पष्ट है, कि भारतीय तिथिक्रम के निश्चय में सर विलियम जोन्स तथा उनके अनुयायी विद्वानों ने बहुत बड़ी गलती की है। उनकी 'ग्रीक समसामयिकता (Greek Synchronism) अशुद्ध आधारों पर आश्रित है। सच्ची ग्रीक समसामयिकता चन्द्रगुप्त मौर्य के साथ न समझकर गुप्तवंशी चन्द्रगुप्त प्रथम के साथ समझनी चाहिये।

(२) ईरानी समसामयिकता

श्री नारायण शास्त्री के अनुसार ग्रीक लोगों के प्राचीन वृत्तान्त बहुत अधिक भ्रमोत्पादक हैं। यदि विदेशी इतिहास में भारतीय तिथिक्रम की समसामयिकता ढूंढ़ना आवश्यक ही हो, तो उसे ईरानी इतिहास में ढूंढ़ना चाहिये। इसीलिये उन्होंने एक पर्शियन समसामयिकता (Persian Synchronism) की कल्पना की है, जिसे हम इस प्रकार स्पष्ट कर सकते हैं।

साइरस ने ईरानी साम्राज्य की स्थापना की थी। इस साम्राज्य-स्थापना की तिथि ५५० ई० पू० है। इस समय से ईरानी इतिहास में एक नवीन संवत् का प्रारम्भ हुआ। यह संवत् भारत में भी चला, क्योंकि उस समय भारत और ईरान का बहुत सम्बन्ध था, और साइरस ने पर्शियन साम्राज्य की स्थापना भारत की सहायता से ही की थी। यह संवत् भारतवर्ष में 'शककाल', 'शकनृपतिकाल' और 'शक-संवत्सर' आदि नामों से प्रसिद्ध हुआ।

प्राचीन समय में ईरान में भी अनेक छोटे-बड़े राज्य थे। इनमें 'एलम' नाम का एक राज्य था, और साइरस इसी का राजा था। उसने ५५० ई० पू० में अपने पड़ोस के अन्य राज्यों को जीतकर ईरानी साम्राज्य की नींव डाली। ५५० ई० पू० की तिथि, जो कि ईरानी साम्राज्य के प्रारम्भ को सूचित करती है, संसार के प्राचीन इतिहास में बहुत महत्वपूर्ण है। हेरोदोतस ने स्पष्ट रूप से लिखा है, कि बाद के ईरानी राजा काल की गणना इसी तिथि से करते थे। यह बिलकुल स्वाभाविक है, कि उन हिन्दुओं और उन भारतीय राजाओं ने,

जिन्होंने साइरस की सहायता की थी, इस शकनृपति के साम्राज्य-स्थापन से अपने काल की गणना करना प्रारम्भ कर दिया हो।

बहुत प्राचीन काल से भारत और इन पाश्चात्य देशों का घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। महाभारत के द्वारा भारत का चीन, असीरिया, खाल्डिया, बैबिलोनिया, मिस्र, फिनीशिया आदि देशों के साथ सम्बन्ध सूचित होता है। साइरस के युद्धों से भी भारत का बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध था। क्लेनोफोन के लेखों से सूचित होता है, कि ५६० ई० पू० में जब साइरस का बैबिलोनियन लोगों के साथ युद्ध शुरू हुआ, तो दोनों पक्षों ने अपने-अपने प्रतिनिधि सिन्धु-देश के राजा के पास भेजे। इन प्रतिनिधियों का उद्देश्य भारत के राजा की सहायता प्राप्त करना था। भारत से एक प्रतिनिधि-मण्डल यह निर्णय करने के लिये गया कि दोनों में से कौन-सा पक्ष न्याय्य है। अन्त में साइरस का पक्ष न्याय्य समझा गया और उसी की पुष्टि करने का निश्चय किया गया। इसी भारतीय सहायता का यह परिणाम हुआ, कि साइरस को सफलता प्राप्त हो सकी। इस प्रकार स्पष्ट हो गया, कि ५५० ई० पू० का काल न केवल ईरानी-इतिहास में, अपितु भारतीय इतिहास में भी बहुत ही महत्त्व का काल है, क्योंकि भारतीयों ने साइरस की विजय के लिये बहुत अधिक सहायता की थी, और इसी कारण वह सफलमनोरथ हो सका था।

अब हमें यह देखना है, कि भारतीय साहित्य में इस तिथि से किसी नये संवत् का प्रारम्भ होता है या नहीं? प्राचीन साहित्य में एक प्रसिद्ध श्लोक है—

आसन् मघासु मुनयः शासति पृथिवीं युधिष्ठरे नृपतौ।
षट्द्विकपञ्चद्वियुतः शककालस्तस्य राज्ञश्च। (वराहमिहिर-संहिता)

इस श्लोक के अनुसार युधिष्ठर के काल और शककाल में २,५२६ वर्ष का अन्तर है। हमें मालूम है, कि राजा युधिष्ठर की मृत्यु ३०७६ ई० पू० में हुई थी। अतः ३०७६ ई० पू० में २,५२६ घटा देने पर ५५० ई० पू० निकलता है, जो निस्सन्देह शककाल के प्रारम्भ को सूचित करता है। इस प्रकार भारतीय साहित्य के अनुसार शककाल का प्रारम्भ ५५० ई० पू० में ही समझना चाहिए। ईरानी इतिहास के अनुसार तो साइरस या शकनृपति का काल ५५० ई० पू० में प्रारम्भ होता ही है। शककाल के विषय में आजकल ऐतिहासिकों में बहुत मत-भेद है। इस सब गड़बड़ का कारण 'शक' शब्द को ठीक प्रकार से न समझना ही है। प्राचीन साहित्य के सप्तद्वीपों में एक द्वीप का नाम 'शकद्वीप' था। इस शकद्वीप से सम्पूर्ण पश्चिमी एशिया का ग्रहण होता है। प्राचीन ईरान में एक प्रान्त का नाम

सैकी (Sacae) भी था। शक शब्द इस सैकी प्रदेश में रहनेवालों के लिये प्रयुक्त होता था। मनु के अनुसार शक लोग काम्बोज, पल्हव, पारद और यवन—इन उपविभागों में विभक्त थे। इन्हीं शक लोगों के राजा साइरस को शकनृपति के नाम से कहा गया है, और इसी के साम्राज्य-स्थापन के समय से वस्तुतः शककाल का प्रारम्भ हुआ था। यदि इस बात को मान लिया जाय, तो भारतीय तिथि-क्रम के सब विवाद समाप्त हो जाते हैं, और प्राचीन भारतीय साहित्य के अनुसार ही, बिना कोई रद्दोबदल किये सब कालों का फैसला हो जाता है।

वर्तमान पुरातत्त्ववेत्ताओं ने अपने कल्पित तिथिक्रम के अनुसार इस शक-काल को भी जहां तक सम्भव हो, पीछे ले जाने का प्रयत्न किया है। इसे उन्होंने 'शालिवाहनशाक' के साथ मिला दिया है, और इसी गलती के कारण भारत के प्रसिद्ध ज्योतिषी वराहमिहिर की तिथि ५०५ ई० प० नियत कर दी है। वराहमिहिर के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'पञ्चसिद्धान्तिका' के अनुसार यह ग्रन्थ ४२७ शककाल में समाप्त किया गया था। अब क्योंकि वराहमिहिर विक्रमादित्य के नवरत्नों में से एक था, इसलिये विक्रम की तिथि भी पांचवीं व छठी शताब्दी ई० प० में फेंक दी गई है, यद्यपि विक्रम की तिथि उसके वर्तमान प्रचलित संवत् के अनुसार भी ५७ ई० पू० है, और सर विलियम जोन्स ने भी इसे स्थिर तिथि के तौर पर स्वीकृत किया है। अब यदि ५५० ई० पू० में शक-काल को माना जाय, तो वराहमिहिर की तिथि ५५०-४२७=१२३ ई० पू० हुई। वराहमिहिर की मृत्यु 'आमराज' के अनुसार ५०९ शक में अर्थात् ५५०-५०९=४१ ई० पू० में हुई थी। इस प्रकार वराहमिहिर १२३ ई० पू० से ४१ ई० पू० तक अवश्य ही जीवित थे। यह तिथि पुराने इतिवृत्त के सर्वथा अनुकूल है।

इसी प्रकार कालिदास की तिथि को लीजिये। कालिदास अपने 'ज्योतिर्विदाभरण' नामक ग्रन्थ में लिखता है—

धन्वन्तरिक्षपणकाऽमरसिंहशङ्कु-
वेतालभट्टघटकर्परकालिदासा- ।
ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेः सभायां
रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य ॥

इसी ज्योतिर्विदाभरण ग्रन्थ में वह यह भी लिखता है, कि 'यह ग्रन्थ मैंने ३०६८ कलि-संवत् में समाप्त किया।' यह ३०६८ कलि-संवत् ३४ ई० पू० के बराबर है, जो कि पुरातन इतिवृत्त के अनुकूल है। जब कालिदास के अनुसार ही वराहमिहिर उसके समकालीन है, तो वराहमिहिर की तिथि भी इसी के लगभग

होनी चाहिये। अतः शककाल का प्रारम्भ ५५० ई० पू० में ही मानना उचित है।

इसी सम्बन्ध में एक अन्य उदाहरण लीजिये। प्रसिद्ध ज्योतिषी भास्कराचार्य ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ सिद्धान्तशिरोमणि में लिखा है, कि वह १०३६ शक-नृप समय में हुआ। इसके अनुसार पाश्चात्य विद्वान् यह मानते हैं, कि भास्कराचार्य का समय ११५० ई० प० है। परन्तु इसमें आपत्ति यह आती है, कि अलबरूनी ने, जिसने कि १०३० ई० प० में भारत की यात्रा की थी, भास्कराचार्य और उसके ग्रन्थों का उल्लेख किया है। क्योंकि अलबरूनी यूरोपियन विद्वानों द्वारा स्वीकृत भास्कराचार्य की तिथि से ८० साल पहले आया था, इसलिये प्रो० बीवर ने भी इस कठिनता को अनुभव किया है। वे लिखते हैं, कि 'मैं स्वीकार करता हूं, कि मैं इस पहेली को सुलझाने में असमर्थ हूं।' इसी कारण उन्होंने दो पृथक् भास्कराचार्यों की सत्ता की कल्पना कर ली है।

इस प्रकार यदि इस ईरानी समसामयिकता को भारतीय तिथि-क्रम का आधार मान लिया जाय, तो भारतीय इतिवृत्त के वर्णनों में अधिक उथल-पुथल करने की आवश्यकता नहीं रहती। पाश्चात्य ऐतिहासिक, श्री नारायण शास्त्री के मतानुसार, व्यर्थ ही भारतीय इतिवृत्त को सन्देह की दृष्टि से देखते हैं। वस्तुतः भारत का प्रामाणिक इतिहास और तिथिक्रम विशुद्धरूप में पुराण आदि ग्रन्थों में उपलब्ध है। सम्पूर्ण भारतीय ग्रन्थ निर्विवाद रूप से कलियुग-संवत् और युधिष्ठरशाक को आज से लगभग ५,००० वर्ष पूर्व प्रारम्भ हुआ मानते हैं। पाश्चात्य विद्वानों ने इस कलियुग-संवत् तथा इसी तरह के अन्य प्राचीन संवतों में परिवर्तन करने का व्यर्थ यत्न किया है। श्री शास्त्री के अनुसार भारत के प्राचीन संवतों का ब्यौरा संक्षेप में इस प्रकार है—

(१) सृष्ट्यब्द—१९५५८८३१०१ ई० पू०
(२) चतुर्युग संवत—३८९११०२ ई० पू०
(३) कलियुग-संवत्—३१०२ ई० पू०
(४) लौकिकाब्द—३०७८ ई० पू०
(५) युधिष्ठिरशाक—३१३९ ई० पू०
(६) शककाल—५५० ई० पू०
(७) श्रीहर्षकाल—४५७ ई० पू०
(८) विक्रम-संवत्—५७ ई० पू०
(९) शालिवाहन शाक—७८ ई० प०
(१०) कोल्लम संवत्—८२५ ई० प०

भारतीय साहित्य में ये ही संवत् उपलब्ध होते हैं। यदि इनकी प्रामाणिकता को स्वीकृत कर प्राचीन इतिवृत्त की विवेचना की जाय, तो सब घटनाओं का समन्वय सरलता के साथ हो जायगा।

इस प्रकार श्री नारायण शास्त्री ने पाश्चात्य विद्वानों द्वारा स्वीकृत तिथि-क्रम का खण्डन कर भारतीय इतिवृत्त के अनुसार एक नये तिथिक्रम का निर्धारण किया है। महाभारत के बाद यह तिथिक्रम निम्न प्रकार है—

(१) प्रद्योतवंश—२१३३ ई० पू० से १९९५ ई० पू० तक
(२) शैशुनागवंश—१९९५ ई० पू० से १६३५ ई० पू० तक
(३) नन्दवंश—१६३५ ई० पू० से १५३५ ई० पू० तक
(४) मौर्यवंश—१५३५ ई० पू० से १२१९ ई० पू० तक
(५) शुङ्गवंश—१२१९ ई० पू० से ९१९ ई० पू० तक
(६) कण्ववंश—९१९ ई० पू० से ८३४ ई० पू० तक
(७) आन्ध्रवंश—८३४ ई० पू० से ३२८ ई० पू० तक
(८) गुप्तवंश—३२८ ई० पू० से ८३ ई० पू० तक

इसमें सन्देह नहीं, कि यदि श्रीनारायण शास्त्री की इस स्थापना को स्वीकृत कर लिया जाय, तो भारतीय इतिहास में बड़ी भारी क्रान्ति हो जायगी। अब तक जिस तिथिक्रम को माना जाता है, वह एकदम बदल जायगा और भारतीय तिथिक्रम में एक नवीन युग का प्रारम्भ होगा। इस नवीन युग में ऐतिहासिकों को भी प्राचीन भारतीय साहित्य की प्रामाणिकता उसी तरह स्वीकृत करनी पड़ेगी, जिस तरह पुरातन पण्डित करते आये हैं। इसमें विक्रमी संवत् के प्रारम्भ के लिये किसी नवीन कल्पना की आवश्यकता नहीं रहेगी। श्रीयुत वि० ए० स्मिथ को नन्दवंश का शासनकाल, सब भारतीय ग्रन्थों के १०० वर्ष प्रतिपादित करने पर भी, अपनी ग्रीक समसामयिकता की रक्षा करने के लिये ५० साल न कर देना होगा।

सचमुच श्री नारायण शास्त्री की स्थापना अद्भुत और मौलिक है। परन्तु अभी उसमें अनेक इस प्रकार के दोष हैं, जिनके कारण हम श्री शास्त्री तिथिक्रम को मानने का साहस नहीं कर सकते। ये दोष निम्नलिखित हैं—

(१) प्रथम दोष सम्राट् अशोक के सम्बन्ध में है। अशोक मौर्य-वंश का तृतीय सम्राट् था। इसके शिलालेखों में पांच विदेशी राजाओं के नाम उत्कीर्ण हैं—

"यह धर्म-विजय देवताओं के प्रिय ने यहां (अपने राज्य में) तथा छः सौ

योजना दूर राज्यों में प्राप्त की है, जहां अन्तियोक नाम यवन-राजा राज्य करता है, और उस अन्तियोक के बाद तुरमय, अन्तिकिनि, मक और अलिकसुन्दर नाम के चार राजा राज्य करते हैं।" (चतुर्दश शिलालेख, संख्या १३) अशोक के इस तथा अन्य शिलालेखों में जिन पांच राजाओं के नाम उत्कीर्ण हैं, वे पाश्चात्य देशों के इतिहास के अनुसार निम्नलिखित हैं—अन्तियोक—सीरिया तथा पश्चिमी एशिया का अधिपति एण्टियोकस द्वितीय थिओस (शासनकाल २६१-२४६ ई० पू०) । तुरुमय—ईजिप्ट का अधिपति टॉल्मी द्वितीय फिलेडैल्फस (२८५-२४७ ई० पू०) । अन्तिकिनि—मैसिडोनिया का राजा एन्टिगोनस गोन्टस (२७६ ई० पू० से २३९ ई० पू०) । मक—साइरिनि का अधिपति मेगस (३०० ई० पू० से २५० ई० पू० तक) अलिकसुन्दर—कारिन्थ का शासक एलेक्जन्डर (२५२ ई० पू० से २४४ ई० पू० तक) ।

ये सब राजा अशोक के समकालीन थे । यदि श्री नारायण शास्त्री के मतानुसार मौर्यवंशी अशोक का समय १५ वीं सदी ई० पू० में समझा जाय, तो इन समकालीन राजाओं का समय भी पीछे ले जाना होगा। पाश्चात्य इतिहास में इन राजाओं का काल निश्चित है । उसे आगे या पीछे करने के लिये केवल अशोक के काल की युक्ति नहीं दी जा सकती ।

श्री शास्त्री ने इस दोष के निराकरण का प्रयत्न इस युक्ति द्वारा किया है, कि जिस अशोक राजा के शिलालेख उपलब्ध होते है, वह मौर्यवंशी अशोक न होकर गोनन्दवंशी अशोक था, जिसका वर्णन, कल्हण की राजतरङ्गिणी में मिलता है । पर यह युक्ति सन्तोषजनक नहीं है, क्योंकि यदि रा० तरङ्गिणी के अशोक को मौर्य अशोक से भिन्न माना जाय, तो इस बात का कोई प्रमाण नहीं, कि उसका साम्राज्य भारत भर में व्याप्त था ।

(२) भगवान् बुद्ध के काल को ऐतिहासिकों ने स्वतन्त्र रूप से भी निर्धारित किया है । लंका, बरमा, चीन, सियाम आदि देशों में बौद्ध-धर्म अब भी विद्यमान है, और लंका, बरमा तथा सियाम में तो बुद्ध-निर्वाण-संवत् भी प्रचलित है । यह संवत् ५४४ ई० पू० में शुरू होता है । इसी प्रकार जैन-अनुश्रुति के अनुसार वर्धमान महावीर का निर्वाण-काल ५२८ ई० पू० है । पहले ऐतिहासिकों ने विविध ऐतिहासिक सामग्री का उपयोग कर बुद्ध का मृत्युकाल ४८७ ई० पू० के लगभग स्वीकार किया था । पर जायसवालजी ने इस विषय पर विस्तार के साथ विवेचना कर यह सिद्ध किया, कि लंका, बरमा आदि में प्रचलित बौद्ध-संवत् सही है, और ऐतिहासिक प्रमाण भी इसी

को पुष्ट करते हैं। चीन की बौद्ध-अनुश्रुति के अनुसार भी महात्मा बुद्ध का समय छठी सदी ई० पू० में ही प्रमाणित होता है।

(३) प्राचीन तिथिक्रम का निर्धारण

नन्द और चन्द्रगुप्त मौर्य का काल ग्रीक समसामयिकता द्वारा निर्धारित हो जाने पर प्राचीन भारत के अन्य राजवंशों और राजाओं का समय निश्चित कर सकना कठिन नहीं रह जाता। ३२२ ई० पू० में मोरियकुमार चन्द्रगुप्त ने नन्द का विनाश कर पाटलिपुत्र के राजसिंहासन को प्राप्त किया था। भारतीय तिथिक्रम का यह ध्रुवबिन्दु है, और इसी के आगे-पीछे अन्य तिथिक्रम निर्धारित किया जाता है। मौर्य-राजवंश का समय निर्धारित हो जाने पर उनके पूर्ववर्ती व परवर्ती राजाओं का समय निश्चित कर सकना भी सुगम हो जाता है।

महाभारत-युद्ध का समय—भारत के ज्योतिष-सम्बन्धी प्राचीन ग्रन्थों के अनुसार महाभारत-युद्ध का समय ३१०२ ई० पू० है। महाभारत में भी अनेक स्थलों पर यह उल्लेख है, कि द्वापर युग का अन्त होकर जब कलियुग प्रारम्भ हुआ, तभी महाभारत का संग्राम हुआ। प्राचीन ज्योतिषियों के अनुसार कलियुग का प्रारम्भ ३१०२ ई० पू० में हुआ था। पर पुराणों में उपलब्ध ऐतिहासिक अनुश्रुति से यह बात सत्य सिद्ध नहीं होती। उसके अनुसार राजा युधिष्ठिर के शासन के अन्त और परीक्षित के अभिषेक से कलियुग का प्रारम्भ हुआ, जो एक हजार वर्ष का था। महाभारत-युद्ध के १०५० वर्ष बाद महापद्मनन्द हुआ, और स्थूल रूप से नन्द के समय कलियुग की समाप्ति हो गई। नन्दवंश के शासन-काल में लोगों ने अनुभव किया, कि अभी कलियुग के लक्षण जारी हैं, तो उस-को भी कलियुग में शामिल कर लिया गया। विष्णु पुराण और भागवतपुराण में इसे 'कलि की वृद्धि' होना कहा गया है। इसीलिये भागवतपुराण में कलियुग को बारह सौ साल का (कलिर्द्वादशाब्दशतात्मकः) कहा गया है। गार्गीसंहिता का यह वचन इस बात को और अधिक स्पष्ट कर देता है —

> शूद्राः कलियुगस्यान्ते भविष्यन्ति न संशयः।
> यवना ज्ञापयिष्यन्ति ....॥

कलियुग के अन्तकाल में शूद्र राजा होंगे और यवनों का आक्रमण होगा। वायुपुराण में भी स्पष्ट रूप से लिखा गया है, कि कलि के अन्त होने पर (कलि-शेषेतु) इस देश में यवन आवेंगे। इन प्रमाणों द्वारा इस बात में सन्देह नहीं रह जाता, कि नन्दवंश के शासनकाल में एक सहस्र वर्ष का कलियुग समाप्त

हो गया था, और उसी समय भारत पर यवनों का आक्रमण हुआ था। अतः राजा परीक्षित और नन्द के बीच का काल एक हजार वर्ष मानना ही उचित है। महाभारत-युद्ध का काल ३१०२ ई० पू० में मानने से नन्द और परीक्षित के बीच का काल १६०० वर्ष के लगभग हो जाता है, जो पौराणिक अनुश्रुति के विपरीत है।

श्री पार्जीटर ने एक अन्य आधार पर महाभारत-युद्ध के समय को निश्चित करने का प्रयत्न किया है। उन्होंने युधिष्ठर से नन्द तक के सब राजाओं का औसतन शासन-काल अठारह वर्ष मानकर महाभारत-युद्ध का समय ६५० ई० पू० के लगभग निश्चित किया है, जो कलियुग को एक सहस्र वर्ष का मानने की बात से निकलनेवाले परिणाम से विपरीत पड़ता है। पुराणों में जनमेजय के प्रपौत्र अधिसीम कृष्ण और नन्द के बीच में राज्य करनेवाले राजाओं के जो नाम दिये गये हैं, उनकी संख्या २६ है। यदि इन २६ राजाओं में से प्रत्येक का औसतन शासन-काल १८ वर्ष मान लिया जाय, तो इन सब राजाओं ने कुल मिलाकर ४६४ साल तक राज्य किया। इस प्रकार अधिसीम कृष्ण का समय नन्द से केवल ४६४ साल पूर्व था, और महाभारत-युद्ध का उससे लगभग १०० वर्ष पूर्व। इस ढंग से विचार करने पर महाभारत-युद्ध का समय ६५० ई० पू० के लगभग पड़ता है।

पर श्री पार्जीटर की स्थापना पौराणिक अनुश्रुति के प्रतिकूल है। अतः बहुसंख्यक विद्वान् उसे स्वीकृत नहीं करते। उनका विचार है, कि पुराणों की वशावलियों में जो कहीं-कही विरोध नजर आता है, उसका निराकरण कर सकना असम्भव नहीं है। श्री जायसवाल ने इसके लिये प्रयत्न किया और पुराणों में उपलब्ध वंशावलियों की समीक्षा कर महाभारत युद्ध का समय १४२४ ई० पू० स्वीकृत किया।

जायसवालजी के इस मत की पुष्टि एक अन्य प्रकार से भी होती है। जिस प्रकार पुराणों में राजाओं की वंशावलियां दी गई हैं, वैसे ही कतिपय उपनिषदों में गुरु-शिष्य-परम्परा की तालिकायें भी विद्यमान हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् में ४७ गुरुओं के नाम मिलते हैं। इनमें तीसरा नाम तुरकाषेय का है, जो अर्जुन के पौत्र जनमेजय का पुरोहित था। इस उपनिषद् का काल महात्मा बुद्ध से पहले का माना जाता है। उसे किसी भी दशा में छठी सदी ई० पू० (५५० ई० पू० के लगभग) के बाद का नहीं माना जा सकता। अब यदि अन्तिम गुरु का काल ५५० ई० पू० भी स्वीकृत किया जाय, और एक गुरु का काल १८ वर्ष भी माना

जाय, तो तुरकाषेय का समय ८१० वर्ष पहले (१३६० ई० पू०) पड़ता है। इस प्रकार बृहदारण्यक उपनिषद् की साक्षी से जनमेजय का समय १३६० ई० पू० निश्चित होता है, और महाभारत-युद्ध को १४२४ ई० पू० के लगभग माना जा सकता है ।

बुद्ध का काल—हम इसी अध्याय में ऊपर लिख चुके हैं, कि बुद्ध के निर्वाण वर्ष को ५४४ ई० पू० में माना जाता है, यद्यपि इस विषय में अनेक मत हैं। पर अनेक बौद्ध-देशों में प्रचलित बौद्ध-निर्वाण-संवत् को पर्याप्त कारण के होने पर ही असत्य समझा जाना उचित है। इसीलिये आजकल बहुसंख्यक विद्वान् इस बात को स्वीकार करते हैं, कि बुद्ध की मृत्यु ५४४ ई० पू० में हुई, और उनका काल छठी सदी ई० पू० में था।

तिथिक्रम—बुद्ध और नन्द का काल निर्धारित हो जाने पर पूर्वनन्द-युग के मुख्य राजाओं का काल निश्चित कर सकना अधिक कठिन नहीं रह जाता। अनेक ऐतिहासिकों ने बुद्ध और नन्द के काल को दृष्टि में रखकर विविध राजाओं का जो समय निश्चित किया है, वह इस प्रकार है :—

महाभारत-युद्ध १४२४ ई० पू० ; राजा शिशुनाग ७२७ ई० पू०
राजा बिम्बिसार ६०१ ई० पू० ; राजा अजातशत्रु ५५२ ई० पू०
राजा दर्शक ५१८ ई० पू० ; राजा उदायीभद्र ४८१ ई० पू०
राजा नन्दिवर्धन ४५८ ई० पू० ; राजा महानन्दी ४०६ ई० पू०
राजा महापद्मनन्द ३६६ ई० पू० ; राजा धननन्द ३३८ ई० पू०

सहायक ग्रन्थ

Pargiter : Ancient Indian Historical Tradition.
Asiatic Researches vol. IX. & vol. V.
Max Muller : A History of Ancient Sanskrit Literature.
Narayan Shastri : The Age of Shankara.
Acharya : The Basic Blunder in the Orientalists' Reconstruction of Indian History.
Raychaudhary : Political History of Ancient India.

सतरहवां अध्याय

चन्द्रगुप्त मौर्य और बिन्दुसार

(१) मोरिय गण का कुमार चन्द्रगुप्त

सिकन्दर की अधीनता से पश्चिमी और उत्तर-पश्चिमी भारत को मुक्त कर जिस वीर ने विशाल मागध-साम्राज्य का संगठन किया, उस चन्द्रगुप्त मौर्य के पूर्व वृत्तान्त के सम्बन्ध में प्राचीन साहित्य में अनेक मत पाये जाते हैं। ये मत निम्नलिखित हैं—

(१) नन्दवंश के राजा धननन्द की एक पत्नी का नाम मुरा था। वह जाति से शूद्र थी। इसी से चन्द्रगुप्त का जन्म हुआ। मुरा का पुत्र होने के कारण चन्द्रगुप्त 'मौर्य' कहाया। विष्णुपुराण में लिखा है, कि "तब ब्राह्मण कौटल्य नवनन्दों का नाश करेगा। उनके अभाव में मौर्य राजा पृथिवी का शासन करेंगे। कौटल्य ही 'उत्पन्न' चन्द्रगुप्त को राज्यसिंहासन पर बिठायगा।" श्रीधर स्वामी ने विष्णुपुराण की टीका करते हुए 'उत्पन्न' शब्द की व्याख्या इस प्रकार की है—

"नन्द की ही मुरा नाम की पत्नी से उत्पन्न ।"

विशाखदत्तकृत मुद्राराक्षस नाटक के उपोद्घात में टीकाकार ढुण्ढिराज ने चन्द्रगुप्त की कथा विस्तृत रूप से लिखी है। उसके अनुसार नन्दराज की दो पत्नियां थीं—सुनन्दा और मुरा। मुरा जाति से शूद्र थी। चन्द्रगुप्त उसी का पुत्र था।

(२) दूसरा मत कथासरित्सागर में उपलब्ध होता है। इसके अनुसार चन्द्रगुप्त राजा नन्द का ही पुत्र था, और उसके अन्य कोई सन्तान नहीं थी।

(३) चन्द्रगुप्त के विषय में तीसरा मत प्रसिद्ध बौद्ध ग्रन्थ महावंश में पाया जाता है। इसके अनुसार चन्द्रगुप्त पिप्पलिवन के मोरिय गण का कुमार था। नन्द के साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं था। बौद्ध-काल में सोलह महाजनपदों के अतिरिक्त जो अन्य अनेक छोटे जनपद थे, पिप्पलिवन का मोरिय गण भी उनमें

अन्यतम था। यह उत्तरी बिहार में, नेपाल की तराई के समीप वज्जि-महाजन-पद के पड़ोस में स्थित था। उत्तरी बिहार के सब गणराज्य कोशल और मगध के साम्राज्यवाद के शिकार हुए थे। अजातशत्रु ने वज्जि-संघ का अन्त किया था। मोरिय गण को मगध के किस राजा ने परास्त किया, इसका वृत्तान्त ज्ञात नहीं है। पर इसमें सन्देह नहीं, कि वह भी मगध की अधीनता में आ गया था। मोरिय-गण की एक राजमहिषी पाटलिपुत्र में छिपकर अपना जीवन व्यतीत कर रही थी। वहीं उसने चन्द्रगुप्त को जन्म दिया। चन्द्रगुप्त कहीं मगध के राजकर्मचारियों के हाथों में न पड़ जाय, इसलिये उसने अपने नवजात शिशु को एक ग्वाले के सुपुर्द कर दिया। अपनी आयु के अन्य ग्वाल-बालकों के साथ मोरिय चन्द्रगुप्त का भी पालन होने लगा।

चाणक्य के साथ चन्द्रगुप्त का सम्पर्क किस प्रकार हुआ, इस विषय में भी महावंश की (टीका में उल्लिखित) कथा उपयोगी है। यह कथा संक्षेप में इस प्रकार है—

एक बार की बात है, कि चंद्रगुप्त अन्य लड़कों के साथ पशु चरा रहा था। अवसर पाकर वे एक खेल खेलने में लग गये। चन्द्रगुप्त राजा बना, अन्य बालकों को उपराजा, न्यायाधीश, राजकर्मचारी, चोर, डाकू आदि बनाया गया। राजा के आसन पर बैठकर चन्द्रगुप्त ने अपराधियों को पेश करने की आज्ञा दी। अपराधी पेश हुए। पक्ष-विपक्ष में युक्तियां सुनी गईं। न्यायाधीशों के निर्णय के अनुसार चन्द्रगुप्त ने अपना फैसला सुना दिया। फैसला यह था, कि अभियुक्तों के हाथ-पैर काट दिये जावें। इस पर राजकर्मचारियों ने कहा—देव! हमारे पास कुल्हाड़े नहीं हैं। चन्द्रगुप्त ने आज्ञा दी—यह राजा चन्द्रगुप्त की आज्ञा है, कि इन अपराधियों के हाथ-पैर काट दिये जावें। यदि तुम्हारे पास कुल्हाड़े नहीं हैं, तो लकड़ी का डण्डा बनाओ, और उसके साथ बकरी का सींग बांधकर कुल्हाड़ा बना लो। राजा चन्द्रगुप्त की आज्ञा का पालन किया गया। कुल्हाड़ा बनाया गया और अपराधियों के हाथ-पैर काट दिये गये। चन्द्रगुप्त ने फिर आज्ञा दी—अब हाथ-पैर जोड़ दिये जावें। वे जोड़ दिये गये।

चन्द्रगुप्त के नेतृत्व में बच्चों के इस खेल को चाणक्य नाम का एक ब्राह्मण खड़ा देख रहा था। जिस प्रकार शान और प्रताप से चन्द्रगुप्त राजा की भूमिका अदा कर रहा था, उसे देखकर चाणक्य बड़ा प्रभावित हुआ। उसने विचार किया, यह बालक अवश्य ही राजकुल का है, और यदि इसे शस्त्र और शास्त्र की भलीभांति शिक्षा दी जाय, तो यह होनहार कुमार एक दिन बहुत उन्नति कर सकता है। वह

चन्द्रगुप्त के साथ गांव में गया, और उसके संरक्षक ग्वाले के सामने एक हजार कार्षापण रखकर बोला—मैं तुम्हारे पुत्र को सब विद्यायें सिखाऊंगा, तुम इसे मेरे साथ कर दो। ग्वाला इसके लिये तैयार हो गया, और चाणक्य चन्द्रगुप्त को अपने साथ ले गया। चाणक्य से चंद्रगुप्त ने सब विद्याओं का भलीभांति अध्ययन किया।

चाणक्य तक्षशिला का रहनेवाला एक प्रसिद्ध आचार्य था। वह राजनीति-शास्त्र का अपने समय का सबसे बड़ा पण्डित था। राजनीतिशास्त्र के अतिरिक्त वह तीनों वेदों का ज्ञाता, सब शास्त्रों में पारंगत और मन्त्रविद्या में निपुण था। वह एक बार तक्षशिला से पाटलिपुत्र आया, क्योंकि इस नगरी के वैभव की उस समय सारे भारत में धूम थी। उस समय के राजा लोग विद्वानों का आदर करते थे। चाणक्य को आशा थी, कि मगध का प्रतापी सम्राट् धननन्द भी उसका भली भांति सम्मान करेगा। राजा धननन्द की एक भुक्तिशाला थी, जिसमें वह विद्वानों का आदर कर उन्हें दान-दक्षिणा द्वारा सन्तुष्ट किया करता था। पाटलिपुत्र पहुंचकर वह भुक्तिशाला में गया, और संघब्राह्मण के आसन पर बैठ गया। तक्षशिला का वह प्रमुख आचार्य था, और उसे आशा थी, कि पाटलिपुत्र में भी प्रधान आचार्य के रूप में उसे सम्मान मिलेगा।

चाणक्य देखने में बड़ा कुरूप था। उसके सामने के दांत टूटे हुए थे। जब राजा धननन्द ने ऐसे व्यक्ति को प्रधान ब्राह्मण के आसन पर बैठे देखा, तो उसने सोचा, निश्चय ही यह व्यक्ति मुख्य आसन का अधिकारी नहीं हो सकता। उसने चाणक्य से पूछा—तुम कौन हो, जो इस मुख्य आसन पर आ बैठे हो? उधर से उत्तर मिला—यह मैं हूं। यह उत्तर सुनकर धननंद आपे से बाहर हो गया। उसने आज्ञा दी, इस नीच ब्राह्मण को यहां न बैठने दो, इसे धक्के देकर बाहर निकाल दो। राजपुरुषों ने उसे बहुत समझाया—देव! एसा मत कीजिये। पर धननन्द ने एक न मानी। इसपर राजपुरुष चाणक्य के पास गये और बोले—आचार्य! हम राजाज्ञा से आपको यहां से उठाने के लिये आये हैं, परन्तु हम यह कहने का साहस नहीं कर सकते, कि आचार्य! आप यहां से उठ जाइये। हम लज्जित होकर आपके सम्मुख खड़े हैं। चाणक्य सब कुछ समझ गया। उसने अपने कमण्डल को इन्द्रकील पर पटककर क्रोध से कहा—राजा उद्धत हो गया है, समुद्र से घिरी हुई पृथिवी नन्द का नाश देख ले। यह कह कर वह भुक्तिशाला से बाहर हो गया। राजपुरुषों ने जब यह बात नन्द से कही, तो उसने आज्ञा दी—पकड़ो-पकड़ो, इस दास को पकड़ो। भागता हुआ चाणक्य राजप्रासाद में एक गुप्त स्थान पर छिप

गया और राजपुरुष उसे गिरफ्तार नहीं कर सके। चाणक्य ने जो प्रतिज्ञा सबके सामने की थी, उसे पूरा करने में वह पूरी शक्ति के साथ लग गया।

उस समय के राजकुमार राजा के विरुद्ध षड्यन्त्र के लिये सदा उद्यत रहते थे। 'राजपुत्रों की दशा केंकड़े के समान होती है, जो अपने पिता को ही मार देते हैं', यह उस युग का प्रचलित सिद्धान्त था। मगध के अनेक सम्राटों के विरुद्ध इसी प्रकार के षड्यन्त्र हो चुके थे। चाणक्य ने भी ऐसे एक राजकुमार से परिचय किया, जो नन्द के विरुद्ध षड्यन्त्र में सम्मिलित होने के लिये तैयार हो गया। इसका नाम पर्वतक था। यह मालूम नहीं, कि नन्द के साथ इसका क्या सम्बन्ध था, पर यह राजप्रासाद में ही रहता था, और राजवंश के साथ सम्बन्ध रखता था। पर्वतक को लेकर चाणक्य विन्ध्याचल के जंगलों में चला गया, और वहां नन्द के विरुद्ध षड्यन्त्र की तैयारी करने लगा। उसने नकली सिक्के बनाकर ८० करोड़ काषार्पण एकत्र किये और इस धन से एक बड़ी सेना का संगठन किया गया।

इसी अवसर पर चाणक्य की चन्द्रगुप्त से भेंट हुई। चाणक्य कुशल नीतिज्ञ था, पर उसे एक ऐसे व्यक्ति की आवश्यकता थी; जो सैन्यसंचालन में कुशल हो, जिसमें एक विशाल साम्राज्य के स्वामी होने के सब गुण विद्यमान हों, और जो उसका पूरा सहयोगी बन सके। पर्वतक में ये गुण नहीं थे। चाणक्य को अब चन्द्रगुप्त और पर्वतक में से एक को चुनना था। दो कुमारों को वह नन्द के बाद मागध-साम्राज्य की गद्दी पर नहीं बिठा सकता था। उसने दोनों कुमारों के गले में एक-एक सुवर्णसूत्र बांध दिया। एक बार जब चन्द्रगुप्त सो रहा था, उसने पर्वतक से कहा—ऐसे ढंग से सुवर्णसूत्र को चन्द्रगुप्त के गले से निकाल लाओ, कि न गांठ खुले और न सूत्र टूटे। पर्वतक को कोई उपाय नहीं सूझा, वह असफल होकर लौट आया। ऐसे ही एक दूसरे दिन जब पर्वतक सो रहा था, चाणक्य ने चन्द्रगुप्त को भी यहीं आदेश दिया। चन्द्रगुप्त ने सोचा, इसका केवल एक ही उपाय है, पर्वतक का सिर काटकर ही सुवर्णसूत्र को इस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है, कि न तागा टूटे और न गांठ खुले। उसने यही किया और पर्वतक का सिर काटकर सुर्वणसूत्र को चाणक्य के सम्मुख लाकर रख दिया।

इससे चाणक्य बहुत प्रसन्न हुआ। पर्वतक उसके रास्ते से हट गया और चन्द्रगुप्त के रूप में उसे एक ऐसा व्यक्ति मिल गया, जो न केवल वीर और साहसी था, पर अपने कार्य की सिद्धि के लिये वीभत्स से वीभत्स उपाय का आश्रय ले सकता था। जब चन्द्रगुप्त सेना के संचालन में समर्थ हो गया, तो उसने चाणक्य के निरीक्षण में मागध साम्राज्य के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा खड़ा किया। अनेक ग्रामों

और नगरों पर आक्रमण किये गये, पर सफलता नहीं हुई। मागध-सेनाओं से वे बुरी तरह परास्त हुए, और फिर जंगल में छिपकर अपनी जान बचाने लगे।

एक बार की बात है, जब चाणक्य और चन्द्रगुप्त वेश बदलकर फिर रहे थे, तो वे एक गांव में पहुंचे, जहां एक स्त्री पूवे बनाकर अपने लड़के को खिला रही थी। लड़का चारों ओर के किनारों को छोड़ता जाता था, और बीच का भाग खा लेता था। यह देखकर माता ने कहा, इस लड़के का व्यवहार तो चन्द्रगुप्त जैसा है, जिसने कि राज्य लेने का प्रयत्न किया था। यह सुनकर बालक ने पूछा—मां, मै क्या कर रहा हूं, और चन्द्रगुप्त ने क्या किया था? माता ने उत्तर दिया—मेरे प्यारे पुत्र! तुम पूवे का चारों ओर का किनारा छोड़कर केवल बीच का भाग खा रहा हो। चन्द्रगुप्त समाट् बनने की महत्त्वाकांक्षा रखता था, उसने सीमाप्रान्तों को पहले अधीन किये बिना ही राज्य के मध्य में ग्रामों और नगरों पर हमला करना शुरू कर दिया। इसीलिये लोग उसके विरुद्ध उठ खड़े हुए और सीमा की तरफ से आक्रमण कर उसकी सेना को नष्ट कर दिया। यह चन्द्रगुप्त की मूर्खता का ही परिणाम था। यह सुनकर चन्द्रगुप्त और चाणक्य की आंखें खुल गई। वे सीमा-प्रदेश की तरफ गये, और वहां सेना एकत्र कर मागध-साम्राज्य पर आक्रमण करने के लिये प्रवृत्त हुए।

चन्द्रगुप्त मौर्य के पूर्वजीवन के सम्बन्ध में जो परिचय महावंश व उसकी टीका में उपलब्ध होता है, उसे हमने ऊपर अपनी भाषा में दिया है। ऐतिहासिक दृष्टि से महावंश का मत अधिक सम्भव और समुचित प्रतीत होता है। बौद्ध-युग में मोरिय गण की सत्ता बौद्ध-साहित्य के अन्य ग्रन्थों द्वारा भी सिद्ध होती है। महापरिनिब्बानसुत्त के अनुसार जब भगवान् बुद्ध का देहान्त हो गया, तो पिप्पलिवन के मोरियों ने भी कुशीनारा के मल्लों के पास यह सन्देश भेजा था—'जैसे आप क्षत्रिय हैं, वैसे ही हम भी क्षत्रिय हैं। अतः हमें भी भगवान् के शरीर के एक भाग को प्राप्त करने का अधिकार है। हम भी भगवान् के शरीर पर एक महान् स्तूप का निर्माण करेंगे।' ऐतिहासिक दृष्टि से यह सर्वथा सम्भव है, कि मोरिय गण की कोई रानी पाटलिपुत्र में छिपकर निवास करती हो, और वहीं उसने चन्द्रगुप्त को जन्म दिया हो। सम्भवतः मोरियगण की पराजय के बाद उसके अनेक स्त्री-पुरुष मगध में दास्य जीवन को व्यतीत करने के लिये विवश हुए थे, और चन्द्रगुप्त की माता भी उनमें से एक थी। पुराणों में जो चन्द्रगुप्त को दासीपुत्र कहा गया है, उसका कारण शायद उसकी माता का दास्य जीवन ही था।

बौद्ध-साहित्य के समान जैन-साहित्य द्वारा भी मोरिय या मौर्य-जाति की

सत्ता सूचित होती है। जैन-ग्रन्थ परिशिष्टपर्व में लिखा है, कि "जिस ग्राम में राजा नन्द के मयूरपोषक लोग रहते थे, एक दिन चाणक्य परिव्राजक का भेष बनाकर भिक्षा के लिये वहां चला गया। मयूरपोषकों का जो सरदार था, उसकी एक लड़की गर्भवती थी। इसी से चन्द्रगुप्त उत्पन्न हुआ था।" जैन-ग्रन्थ 'आवश्यक सूत्र' की हरिभद्रीया टीका में भी चन्द्रगुप्त की उत्पत्ति इसी ढंग से लिखी गई है। मोरियों व मौर्यों को ही इन जैन-ग्रन्थों में 'मयूरपोषक' नाम से उल्लिखित किया गया है।

(२) राज्य की प्राप्ति और विस्तार

महावंश की कथा के अनुसार चाणक्य और चन्द्रगुप्त ने नन्दवंश का नाश करने के उद्देश्य से पहले मगध के नगरों और ग्रामों पर आक्रमण करना शुरू किया था। पर इसमें उन्हें सफलता नहीं मिली। फिर वे मागध-साम्राज्य के सीमान्त पर गये, और वहां की राजनीतिक परिस्थिति से लाभ उठाकर उन्होंने पश्चिमी भारत को सिकन्दर की अधीनता से मुक्त किया। ३२३ ई० पू० में सिकन्दर की मृत्यु हो गई थी, और पंजाब में यवन-शासन के विरुद्ध विद्रोह शुरू हो गया था। चाणक्य और चन्द्रगुप्त इस विद्रोह के नेता थे। पंजाब और पश्चिमी भारत को यवनों की अधीनता से मुक्त कर चाणक्य और चन्द्रगुप्त ने उन्हें एक शासन-सूत्र में संगठित किया और फिर भारत के इस सीमान्त की सेनाओं की सहायता से मागध-साम्राज्य को अपने अधीन किया। नन्द को मारकर चन्द्रगुप्त स्वयं मगध के राज-सिंहासन पर आरूढ़ हुआ, और इस प्रकार उसने सम्पूर्ण उत्तरी भारत में एक साम्राज्य की स्थापना की।

चन्द्रगुप्त और चाणक्य के इस कर्तृत्व को श्री हैवेल ने इस प्रकार स्पष्ट किया है—"सिकन्दर के भारत से लौटने के एक साल बाद उसके विजित प्रदेशों में विद्रोह प्रारम्भ हो गया। प्रसिद्ध विश्वविद्यालय तक्षशिला इस विद्रोह का केन्द्र था। यहां चाणक्य नाम का एक ब्राह्मण रहता था, जो कि दण्डनीति, कूटविद्या और सैन्य-शास्त्र में पारंगत था। उसकी असाधारण योग्यता सब लोगों को विदित थी। उसका चन्द्रगुप्त नामक एक शिष्य था।.......मैसिडोनियन आक्रमण के समय चन्द्रगुप्त तक्षशिला में ही था। सम्भवतः चन्द्रगुप्त ने ही सिकन्दर को मगध पर आक्रमण करने के लिये प्रेरित किया था। परन्तु व्यास नदी के तट पर अपनी यूरोपियन सेना के विद्रोह कर देने के कारण वह और आगे न बढ़ सका। सिकन्दर के किसी क्षत्रप ने राजा पोरस का घात कर दिया था, यद्यपि पोरस सिकन्दर की

अधीनता स्वीकृत करता था। इस हत्या के कारण भारतीय जनता में बहुत असन्तोष फैल गया। एक दूसरे प्रान्त के क्षत्रप फिलिप्पस का भी घात कर दिया गया और क्रान्ति होने के लिये अब विद्रोहियों को केवल एक योग्य नेता की आवश्यकता थी। चन्द्रगुप्त ने इन घृणित यूनानी लोगों को निकालकर बाहर करने और मगध राज्य से बदला लेने के इस सुवर्णावसर को हाथ से न जाने दिया। चाणक्य की सहायता से उसने पंजाब की जातियों को भड़का दिया और सिकन्दर की सेनाओं को पराजित कर उसी सेना की सहायता से पाटलिपुत्र पर आक्रमण किया। मगध के राजा को गद्दी से च्युत कर, व ग्रीक लेखकों के मतानुसार मारकर वह राजगद्दी पर बैठा।

मि० हैवेल के उपर्युक्त उद्धरण की पुष्टि ग्रीक-लेखकों के लेखों से होती है। जस्टिन ने लिखा है—'इस राजकुमार ने ढिठाई के साथ सिकन्दर से बातचीत की। अतः इसे मृत्युदण्ड की आज्ञा हुई। पर इसने भागकर अपने प्राण बचाये।' प्लूटार्क का कहना है—'जब चन्द्रगुप्त घर से निकला हुआ था, उसने सिकन्दर से बातचीत की।' इस प्रकार स्पष्ट है, कि मौर्य चन्द्रगुप्त मैसिडोनियन आक्रमण के समय पंजाब में ही मौजूद था, और उसकी सिकन्दर से भेंट भी हुई थी। निस्सन्देह चन्द्रगुप्त और चाणक्य इस समय पश्चिमोत्तर-सीमा की तरफ से राज्य प्राप्त करने की इच्छा से वहां गये हुए थे।

आगे चन्द्रगुप्त ने क्या किया, इस सम्बन्ध में भी प्राचीन ग्रीक-लेखकों के लेख उपयोगी हैं। जस्टिन ने लिखा है—'सिकन्दर के सामने चन्द्रगुप्त ने ढिठाई का बर्ताव किया। इससे अपमानित होकर सिकन्दर ने चन्द्रगुप्त के वध की आज्ञा दी। परन्तु चन्द्रगुप्त ने भागकर अपने प्राण बचाये। यात्रा से थककर चन्द्रगुप्त लेट गया। इस समय एक भयानक सिंह आया, और चन्द्रगुप्त के पसीने को चाटने लगा। वह चन्द्रगुप्त को बिना किसी प्रकार की हानि पहुंचाये लौट गया। इस अपूर्व घटना से चन्द्रगुप्त को बड़ी आशा हुई। वह महत्त्वाकांक्षी हो गया। उसने डाकुओं के झुण्ड इकट्ठे किये और भारतीयों को विद्रोह के लिए खड़ा कर दिया। जिस समय चन्द्रगुप्त सिकन्दर के सेनापतियों के विरुद्ध लड़ाई की तैयारी कर रहा था, एक जङ्गली हाथी आया और उसने पालतू हाथी के समान चन्द्रगुप्त को अपनी पीठ पर उठा लिया। जब सैल्युकस अपने राज्य के लिये प्रयत्न कर रहा था, तब उसने चन्द्रगुप्त के साथ सन्धि की और भारत की तरफ से निश्चिन्त होकर एण्टिगोनस की तरफ प्रस्थान किया।'

इस उद्धरण से स्पष्ट है, कि चन्द्रगप्त ने भारत की तत्कालीन अशान्तिमय

अवस्था से लाभ उठाया और यूनानी सेनापतियों के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा खड़ा किया। फिलिप्पस की हत्या सम्भवतः उसी ने कराई। जब यह समाचार सिकन्दर के पास पहुंचा तो सिकन्दर को बहुत क्रोध आया। उसने तत्काल सिन्ध नदी के तट पर स्थित यूनानी शिविर के सेनापति 'यूदेमौस' के नाम यह आज्ञा भेजी, कि जब तक फिलिप्पस का उत्तराधिकारी नियत नहीं किया जाता, तब तक तुम ही फिलिप्पस के स्थानापन्न क्षत्रप का कार्य करो।

परन्तु यूदेमौस के पास पर्याप्त सेना न थी। दूसरी ओर चन्द्रगुप्त और चाणक्य जैसे शक्ति-सम्पन्न पुरुषों के नेतृत्व में विद्रोहियों की शक्ति दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ रही थी। इसलिये यूदेमौस को अपने कार्य में सफलता प्राप्त नहीं हुई।

उधर सिकन्दर की मृत्यु (३२३ ई० पू०) हो जाने के कारण विस्तृत मैसिडोनियन-साम्राज्य के उत्तराधिकार के लिये झगड़े शुरू हो गये थे। यह कलह मुख्य तौर पर एण्टिगोनस और सैल्युकस नाम के दो सेनापतियों के बीच में था। ३१७ ई० पू० में यूदेमौस बची-खुची यूनानी-सेना के साथ एण्टिगोनस की सहायता के लिये सिन्ध नदी पार कर गया।

इस प्रकार चाणक्य और चन्द्रगुप्त के नेतृत्व में भारतीय विद्रोह को सफलता प्राप्त हुई। पंजाब और सीमाप्रान्त चन्द्रगुप्त के अधिकार में आ गये। इन प्रदेशों के जनपदों ने स्वाभाविक रूप से अपने को स्वतन्त्र करानेवाले मौर्य चन्द्रगुप्त की अधीनता स्वीकृत की। इसीलिये प्राचीन ग्रीक-लेखक जस्टिन ने लिखा है—'सिकन्दर के लौटने पर चन्द्रगुप्त ने भारत को स्वतन्त्रता दिलाई। परन्तु सफल होने के अनन्तर शीघ्र ही उसने स्वतन्त्रता को दासता में परिवर्तित कर दिया। जिन्हें उसने विदेशियों के जुए से स्वतन्त्र किया था, उन्हें उसने अपने अधीन कर लिया।' अब महावंश टीका के इस उल्लेख पर ध्यान दीजिये——

'सीमाप्रान्त से वे (चाणक्य और चन्द्रगुप्त) पूर्व की ओर बढ़ते गये। नगरों और ग्रामों को अपने अधीन करते हुए वे आक्रमण करते चले गये। एक भारी सेना उनके साथ थी। ठीक समय पर उन्होंने पाटलिपुत्र पर हमला किया। धननन्द को मारकर राज्य प्राप्त कर लिया।'

संस्कृत के प्रसिद्ध नाटक मुद्राराक्षस द्वारा भी इस बात की पुष्टि होती है। इस नाटक के अनुसार चाणक्य और चन्द्रगुप्त की जिन सेनाओं ने पाटलिपुत्र पर आक्रमण किया था, उनमें शक, यवन, किरात, काम्बोज, पारसीक, वाह्लीक आदि की सेनायें सम्मिलित थीं, जिन्हें चाणक्य ने बुद्धि द्वारा अपने वश में कर रक्खा

था। जिस प्रकार प्रलय के समुद्र से पृथिवी घिर जाती है, वैसे ही इन सेनाओं से पाटलिपुत्र घिर गया था। मुद्राराक्षस में कुछ ऐसे राजाओं के नाम भी दिये हैं, जो इस आक्रमण में चन्द्रगुप्त के साथ थे। इनके नाम ये हैं—कुलूत (कुल्लू) का राजा चित्रवर्मा, मलय (सम्भवतः मालवगण) का राजा सिंहनाद, काश्मीर का राजा पुष्कराक्ष, सिन्धु (सिन्ध) का राजा सिन्धषेण और पारसीक राजा मेधाक्ष। ये सब राजा-उत्तर-पश्चिमी भारत के उन्हीं प्रदेशों के शासक थे, जिन्हें चन्द्रगुप्त ने सिकन्दर के साम्राज्य से स्वतन्त्र कराया था।

मुद्राराक्षस की कथा के अनुसार चाणक्य ने पर्वतक नाम के एक शक्तिशाली राजा को मगध का आधा राज्य देने का वचन देकर उसकी भी सहायता प्राप्त की थी। बौद्ध-साहित्य के अनुसार पर्वतक मगध के ही राजकुल का था, यह हम ऊपर लिख चुके हैं। धनन द इस विशाल सेना का मुकाबला नहीं कर सका। पुत्रों सहित उसकी युद्ध में मृत्यु हो गई, और पाटलिपुत्र पर चन्द्रगुप्त का कब्जा हो गया। पर नन्द का नाश कर देने से ही चाणक्य के कार्य की इतिश्री नहीं हो गई।

राजा नन्द के अनेक मन्त्री थे। इनमें राक्षस प्रधान था। वह जाति से ब्राह्मण था और नीतिशास्त्र का प्रकाण्ड पण्डित था। इसने नन्द के मरने पर उसके भाई सर्वार्थसिद्धि को सिंहासन पर बैठाकर मागध-साम्राज्य का संचालन प्रारम्भ कर दिया। पाटलिपुत्र चन्द्रगुप्त के हाथ में था, पर मगध की प्रजा नन्दवंश में अनुरक्त थी। अभी मगध की सेना पूरी तरह परास्त भी नहीं हुई थी। चाणक्य बड़ी मुश्किल में पड़ा। अब नीतिशास्त्र के इन दो आचार्यों में संघर्ष प्रारम्भ हुआ। मुद्राराक्षस में इसी का बड़े सुन्दर रूप में वर्णन है। चाणक्य ने अपने सहाध्यायी मित्र विष्णुशर्मा को जीवसिद्धि क्षपणक के वेश में राक्षस के पास भेज दिया। कुछ ही समय मे वह उसका विश्वासपात्र बन गया और राजा सर्वार्थसिद्धि के साथ रहने लगा। इसी जीवसिद्धि की प्रेरणा से सर्वार्थसिद्धि वैरागी होकर वन में चला गया और राज्यकार्य से विमुख हो गया।

इस समाचार से अमात्य राक्षस को बड़ा खेद हुआ। चन्दनदास नाम के एक धनी वैश्य के पास अपने कुटुम्ब को छोड़कर और शकटदास आदि विविध नागरिकों को अनेक प्रकार के कार्य सुपुर्द कर अमात्य राक्षस राजा सर्वार्थसिद्धि को तपोवन से लौटा लाने के लिये गया। यह सुनकर चाणक्य ने राक्षस के पहुंचने से पहले ही अपने गुप्तचरों द्वारा सर्वार्थसिद्धि को मरवा डाला। इस प्रकार नन्दकुल का सर्वनाश करके चाणक्य ने अपनी प्रतिज्ञा पूरी की। पर वह जानता था, कि

जब तक राक्षस जैसे पुराने अमात्यों का सहयोग चन्द्रगुप्त को प्राप्त नहीं होगा, वह कभी मगध के सिंहासन को नहीं संभाल सकेगा। अतः उसकी सारी शक्ति इस काम में लग गई, कि कूटनीति द्वारा राक्षस को परास्त कर उसे चन्द्रगुप्त की सेवा करने के लिये विवश करे।

उधर राक्षस ने विचार किया, कि जब तक चन्द्रगुप्त की सेनाओं में फूट नहीं डाली जायेगी, उसे परास्त नहीं किया जा सकेगा। उत्तरी-पश्चिमी प्रदेशों की जिन सेनाओं ने पाटलिपुत्र पर कब्जा किया था, उनका नेता पर्वतक था। वह आधे मागध-साम्राज्य का दावेदार भी था। राक्षस ने उसे पूरे मागध-साम्राज्य का राजा बनाने का लालच दिया और अपने पक्ष में कर लिया। जीवसिद्धि द्वारा राक्षस की चालों का सब हाल जानकर चाणक्य ने बहुत सावधानी से चलना शुरू किया। अनेक भाषाएं जाननेवाले बहुत-से गुप्तचरों को वेष बदलकर भेद लेने के लिये सब जगह नियुक्त कर दिया गया। राक्षस का कोई गुप्तचर चन्द्रगुप्त को धोखे से किसी प्रकार की हानि न पहुंचा सके, इसका चाणक्य ने पक्का प्रबन्ध किया। क्योंकि पर्वतक राक्षस के पक्ष में हो गया था, अतः उसका वध करा दिया गया। पर्वतक का पुत्र मलयकेतु था, उसपर निगाह रखने के लिये भागुरायण की नियुक्त की गई। यह भागुरायण मलयकेतु और राक्षस के मैत्रीरूप वृक्ष में घुन की तरह लग गया।

चाणक्य ने निपुणक नाम के एक गुप्तचर को जनता का दिल परखने और अमात्य राक्षस के पक्षपातियों का पता लगाने के लिये भेजा था। वह यमराज के चित्रपट को फैलाकर साधु के वेष में घूमता था और लोगों का भेद लेता था। उसने पता लगाया, कि राक्षस अपना परिवार पाटलिपुत्र में ही सेठ चन्दनदास के पास छोड़ गया है, और शकटदास कायस्थ तथा जीवसिद्धि क्षपणक राक्षस के पक्षपाती और चंद्रगुप्त के विरोधी हैं। चन्दनदास के घर में यमपट को फैलाकर भीख मांगते हुए उसे राक्षस की पत्नी की अंगुली से गिरी हुई 'राक्षस' नाम से अंकित एक मुद्रा मिल गई। इस मुद्रा और अन्य रहस्यों को उसने चाणक्य के सुपुर्द कर दिया। राक्षस की मुद्रा का चाणक्य के हाथ में पड़ जाना बड़े महत्व की बात सिद्ध हुई। इसी से उसने नीतियुद्ध में राक्षस को परास्त किया।

चाणक्य ने एक ऐसा जाली पत्र तैयार किया, जिसका कोई सरनामा आदि नहीं था। अपने गुप्तचर सिद्धार्थक द्वारा उसने इसकी प्रतिलिपि शकटदास के हाथ से कराई और इस पत्र को राक्षस की मुद्रा से मुद्रित कर दिया। सिद्धार्थक को सब बात समझाकर मलयकेतु के शिविर में रवाना कर दिया गया। एक

चाल और चली गई। शकटदास को फांसी की आज्ञा दे दी गई और सिद्धार्थक को कह दिया कि जब चाण्डाल लोग शकटदास को शूली पर चढ़ाने के लिये ले जाते हों, तो दांई आंख दबाकर इशारा कर देना। चाण्डाल अलग हट जावेंगे और शकटदास को साथ लेकर राक्षस के पास चले जाना। मित्र के प्राणों की रक्षा करने के कारण राक्षस तुमसे बहुत प्रसन्न होगा और तुमपर पूर्ण विश्वास करने लगेगा। सब बात समझकर सिद्धार्थक उस पत्र को साथ ले रवाना हो गया। उधर चाणक्य ने च दनदास को गिरफ्तार कर लिया। उस पर सब तरह से जोर डाला गया, कि वह राक्षस के परिवार को चाणक्य के सुपुर्द कर दे। पर स्वामिभक्त चन्दनदास किसी भी प्रकार इस विश्वासघात के लिये तैयार नहीं हुआ।

उधर अमात्य राक्षस भी चुपचाप नहीं बैठा था। बड़े धैर्य और बुद्धिकौशल से वह अपना नीतिजाल फैला रहा था। उसके गुप्तचर भी नानाविध वेशों में अनेक प्रकार से अपना कार्य करने में लगे थे। मलयकेतु को वह अपने साथ मिला ही चुका था। चन्द्रगुप्त की सेना के बहुत-से सेनापति भी अपने अनुयायियों के साथ राक्षस के पक्ष में हो गये थे। धीरे-धीरे उस सेना का संगठन दृढ होता जाता था, जो पाटलिपुत्र पर आक्रमण कर चन्द्रगुप्त को राज्यच्युत करने के लिये तैयार हो रही थी। राक्षस ने च द्रगुप्त का घात करने के लिये भी बहुत से उपाय किये। पहले विषकन्या भेजी गई। फिर पाटलिपुत्र में नगर-प्रवेश के समय चन्द्रगुप्त का स्वागत करने के लिये जो बड़ा द्वार तैयार किया गया था, उसके शिल्पियों को अपने साथ में मिलाकर यह प्रबन्ध किया गया कि जब चन्द्रगुप्त द्वार के नीचे से गुजरे, तो तोरण उसपर गिरा दिया जावे और उसे वहीं मार दिया जावे। एक बर्बरक को गुप्तक्षुरिका देकर तैनात किया गया, कि वह जलूस में चन्द्रगुप्त पर हमला करे। एक वैद्य को चन्द्रगुप्त का वैयक्तिक चिकित्सक नियत किया गया, जो वस्तुतः राक्षस का गुप्तचर था। उसने यत्न किया, कि भोजन में विष देकर चन्द्रगुप्त को मार दे। जिस महल में च द्रगुप्त रहता था, उसके नीचे सुरंग खोदकर उसमें बारूद भरवा दिया गया। राक्षस ने यह सब कुछ किया, पर चाणक्य की जागरूकता के सामने उसकी एक न चली। उसके सब प्रयत्न व्यर्थ गये और चन्द्रगुप्त का बाल भी बांका न हुआ।

पर अब भी राक्षस निराश नहीं हुआ। उसने यत्न किया कि चन्द्रगुप्त और चाणक्य में विरोध हो जाये। अनेक गुप्तचर इस कार्य के लिये नियुक्त किये गये। पर इस कार्य में भी राक्षस सफल नहीं हुआ। उधर चाणक्य का गुप्तचर भागुरायण मलयकेतु को राक्षस के विरुद्ध भड़काने में लगा था। छोटी-छोटी बातों

को लेकर वह मलयकेतु के मन में राक्षस के प्रति विरोधभावना को प्रदीप्त करता रहता था। राक्षस ने पाटलिपुत्र पर आक्रमण करने के लिये जो भारी सेना संगठित की थी, वह उत्तर से दक्षिण की तरफ प्रस्थान कर रही थी। पाटलिपुत्र समीप आ गया था। इसलिये आज्ञापत्र लिये बिना किसी का भी सैन्यशिविर से बाहर आना-जाना सर्वथा निषिद्ध था। आज्ञापत्र देने का काम भागुरायण के सुपुर्द था। एक दिन जब मलयकेतु और भागुरायण साथ बैठे थे, चाणक्य ने अपनी नीति का अन्तिम बाण चलाया। एक कर्मचारी आया और उसने सूचना दी, कि सैन्य-शिविर के रक्षाधिकारी दीर्घचक्षु ने निवेदन किया है कि आज्ञापत्र के बिना शिविर में प्रवेश करता हुआ एक आदमी पकड़ा गया है, जिसके पास कुछ जरूरी पत्र भी हैं। यह व्यक्ति सिद्धार्थक ही था, जिसे राक्षस की मुद्रा से अंकित एक जाली पत्र देकर 'कार्यसिद्धि' के लिये भेजा गया था। पत्र के साथ सिद्धार्थक को मलयकेतु और भागुरायण के सम्मुख पेश किया गया। पत्र पर राक्षस की मोहर थी ही। नकली तौर पर बहुत ननु-नच करके अन्त में सिद्धार्थक ने यह गुप्त रहस्य प्रगट किया, कि इस पत्र को उसे राक्षस ने दिया था और चन्द्रगुप्त के पास पहुंचाने का कार्य उसके सुपुर्द किया गया था। उसने यह भी कहा कि मुझे राक्षस ने कुछ मौखिक सन्देश भी दिया था। यह मौखिक संदेश यह था, कि मलयराज सिंहनाद, काश्मीर के राजा पुष्कराक्ष, सिन्धु के महाराज सिन्धुसेन और पारसीक राजा मेघाक्ष के साथ पहले ही गुप्तरूप से सन्धि हो चुकी है। इन्हें अपनी गुप्त सहायता के बदले में पूरी तरह पुरस्कार आदि द्वारा सन्तुष्ट करना चाहिये।

बस कार्यसिद्धि हो गई। भागुरायण के समझाने से मलयकेतु को विश्वास हो गया, कि राक्षस गुप्तरूप से चन्द्रगुप्त से मिला हुआ है, और उसकी सेना में सम्मिलित मलय, काश्मीर, सिन्धु और पारस के राजा भी गुप्तरूप से चन्द्रगुप्त से समझौता कर चुके हैं। मलयकेतु और राक्षस में फूट पड़ गई। उसकी सेना के आधारस्तम्भ चित्रवर्मा आदि राजाओं का मलयकेतु ने स्वयं ही घात करा दिया। इन सब बातों से राक्षस की कमर टूट गई। उसने अवस्था को संभालने का बहुत यत्न किया। तरह-तरह से मलयकेतु को समझाया। पर उसका सब प्रयत्न विफल हुआ। निराश होकर वह अपने मित्र चन्दनदास की सुधि लेने के लिये वेश बदल-कर पाटलिपुत्र की ओर चल पड़ा। पर चाणक्य के गुप्तचरों ने यहां भी उसका पीछा नहीं छोड़ा। वे छाया की तरह उसके साथ-साथ थे। उन्होंने राक्षस को खबर दी, कि आज चन्दनदास को फांसी दी जानेवाली है। उसकी फांसी का कारण यही है, कि वह राक्षस के परिवार का पता चाणक्य को बताने से इनकार

था। इसलिये हमारे सम्मुख दो मार्ग हैं। या तो पोरस ने आक्रमण में भाग लिया और यही नाटक के चन्द्रगुप्त का मित्र पर्वतक है।..........या यह कोई पोरस का उत्तराधिकारी है।"

एक विद्वान् ने पारसीकाधिराज मेघाक्ष को मैगस्थनीज से मिलाया है। एक का कहना है, कि विशाखदत्त ने गलती से शैलाक्ष को मेघाक्ष लिख दिया है, और यह शैलाक्ष सैल्युकस ही है, अन्य कोई नहीं। अभिप्राय यह है, कि इन नामों को यूनानी लेखकों के द्वारा लिखित नामों से मिलाने का बहुत अधिक प्रयत्न हुआ है, परन्तु कोई समुचित परिणाम नहीं निकल सका। गुप्त-सम्राटों के समय कई शताब्दियों पीछे विशाखदत्त ने यदि नामों को कुछ अशुद्ध लिख दिया हो, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। महावंश-टीका की जो कथा हमने इसी अध्याय में ऊपर लिखी है, उसके अनुसार पर्वतक की हत्या पाटलिपुत्र की विजय से पूर्व ही चाणक्य द्वारा करा दी गई थी। पर सम्भवतः यह सत्य अनुश्रुति के अनुकूल नहीं है। विशाखदत्त के अनुसार पर्वतक पश्चिमी भारत के उन राजाओं में से एक था, जो चाणक्य की प्रेरणा से मगध पर आक्रमण के लिये आये थे। यह असम्भव नहीं है, कि इस पर्वतक का केकय या मद्रक के पोरु के साथ कोई सम्बन्ध हो।

पाटलिपुत्र के हस्तगत हो जाने और अमात्य राक्षस के अपने पक्ष में हो जाने पर चन्द्रगुप्त की शक्ति बहुत बढ़ गई। वह मगध का निर्विवाद सम्राट् बन गया। मौर्य चन्द्रगुप्त भारत का पहला ऐतिहासिक सम्राट् था। भारत के अनेक जनपदों को अपने वश में कर उसने एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की। यह महान् कार्य एक बड़ी सेना की सहायता से ही हो सकता था। चन्द्रगुप्त ने सेना की उन्नति और वृद्धि के लिये बहुत प्रयत्न किया। मैगस्थनीज के अनुसार चन्द्रगुप्त की सेना में छः लाख पदाति, तीस हजार घुड़सवार, नौ हजार हाथी और कम से कम चार-हजार रथ थे। सेना की इस वृद्धि के सिवाय चन्द्रगुप्त ने सैनिक प्रबन्ध को उत्तम करने के लि दो नये विभागों का प्रारम्भ किया, पहला जल-सेना विभाग और दूसरा कमसरियेट का महकमा। इस शक्तिशाली सेना की सहायता से चन्द्रगुप्त ने सम्पूर्ण उत्तरी भारत में और नर्मदा नदी क दक्षिण की ओर भी अपना साम्राज्य विस्तृत किया।

(३) सैल्युकस का आक्रमण

विशाखदत्त के अनुसार चाणक्य के नीति-जाल में फंसकर पर्वतक के पुत्र मलयकेतु ने जिन जाओं को मरवा दिया था, वे कुलूत (कुल्लू), मध्य पंजाब,

काश्मीर, सिन्ध और पारसीक प्रदेशों के शासक थे । पश्चिमी भारत के ये सब प्रदेश अब मागध-सम्राट् चन्द्रगुप्त के सीधे शासन में आ गये थे । धननन्द के नाश और मोरिय (मौर्य) कुमार चन्द्रगुप्त के सम्राट् हो जाने से पाटलिपुत्र में जो राज्यक्रान्ति हुई थी, उससे मागध-साम्राज्य की शक्ति और भी बढ़ गई थी ।

जिस समय चन्द्रगुप्त अपने नये प्राप्त किये हुए साम्राज्य को दृढ़ करने में लगा था, उसी समय सिकन्दर का अन्यतम सेनापति सैल्युकस मैसिडोनियन साम्राज्य के एशियन प्रदेशों में अपने शासन की नींव को सुदृढ़ करने में व्यस्त था । सिकन्दर की मृत्यु के बाद उसका विशाल साम्राज्य किस प्रकार अनेक टुकड़ों में विभक्त हो गया, उसका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं । मैसिडोनियन साम्राज्य के एशियन प्रदेशों पर अपना अधिकार कायम करने के लिये सिकन्दर के दो सेनापति संघर्ष कर रहे थे । इनके नाम हैं—सैल्युकस और एण्टिगोनस । ये दोनों ही सिकन्दर के उच्च सेनापति थे । कई वर्षों तक इनमें परस्पर लड़ाई जारी रही । कभी सैल्यकस की विजय होती और कभी एण्टिगोनस की । शुरू में विजयश्री ने एण्टिगोनस का साथ दिया । उसने सैल्युकस को परास्त करके भगा दिया । पर ३२१ ई० पू० में सैल्युकस ने बैबीलोन जीत लिया । अबसे सम्राट् युद्ध की गति बदल गई । धीरे-धीरे सैल्युकस ने एण्टिगोनस को पूर्णरूप से परास्त कर मिस्र भाग जाने के लिये विवश किया, और स्वयं बन गया । उसकी राजधानी सीरिया में थी, इसीलिये उसे सीरियन सम्राट् कहा जाता है । पर वह एशिया-माइनर से हिन्दूकुश तक विस्तीर्ण एक विशाल साम्राज्य का अधिपति था । ३०६ ई० पू० में उसका राज्याभिषेक बड़ी धूम-धाम के साथ सीरिया में हुआ ।

पश्चिमी और मध्य-एशिया में अपने साम्राज्य को सुदृढ़ कर उसने मैसिडोनियन साम्राज्य के खोये हुए भारतीय प्रदेशों को फिर से अपने साम्राज्य में मिलाना चाहा । ३०५ ई० पू० में एक शक्तिशाली सेना को साथ लेकर उसने भारत पर आक्रमण किया और सिन्ध नदी तक बिना किसी विघ्न-बाधा के बढ़ आया । इधर चन्द्रगुप्त भी सावधान और जागरूक था । सिन्ध के तट पर दोनों सेनाओं में घनघोर युद्ध हुआ । कई विद्वानों का मत है, कि सैल्युकस अपने इस आक्रमण में गङ्गा के किनारे-किनारे पाटलिपुत्र तक बढ़ आया था । पर यह बात प्रमाणों से पुष्ट नहीं होती । अधिक सम्भव यही है, कि चन्द्रगुप्त की सेनाओं ने सिन्ध नदी के पूर्वी तट पर उसका मुकाबला किया था, और वह भारत में इससे आगे नहीं बढ़ सका था । युद्ध के बाद जो सन्धि हुई, उसकी शर्तें निम्नलिखित थीं—

(१) चन्द्रगुप्त सैल्यकस को ५०० हाथी दे ।

(२) बदले में सैल्युकस निम्नलिखित चार प्रदेश चन्द्रगुप्त को दे—
१. परोपनिसदी, २. आर्कोसिया, ३. आरिया और ४. गद्रोसिया ।

(३) इस सन्धि को स्थिर मैत्री के रूप में परिवर्तित करने के लिये सैल्युकस अपनी कन्या का विवाह चन्द्रगुप्त के साथ कर दे ।

यह सन्धि मागध-साम्राज्य के लिये बहुत ही अनुकूल थी । इससे उसकी पश्चिमी सीमा हिन्दूकुश के पश्चिम में भी कुछ दूर तक फैल गई थी । सीरियन साम्राज्य के चार बड़े प्रदेश अब मागध-साम्राज्य के अन्तर्गत हो गये थे । इन चार प्रान्तों में 'परोपनिसदी' का अभिप्राय अफगानिस्तान के उस पहाड़ी प्रदेश से है, जिसका पूर्वी सिरा हिन्दूकुश पर्वतमाला है । आर्कोसिया आजकल के कन्दहार को कहते थे । आरिया हेरात का पुराना नाम था । गद्रोसिया से वर्तमान समय के कलात प्रदेश का बोध होता था । इस प्रकार सैल्युकस के साथ युद्ध से कलात, कन्दहार, हेरात और काबुल के प्रदेश मागध-साम्राज्य में शामिल हो गए थे । प्रसिद्ध ऐतिहासिक श्रीयुत वी० ए० स्मिथ ने इस सम्बन्ध में लिखा है, कि दो हजार साल से भी अधिक हुए, जब भारत के प्रथम सम्राट् ने उस 'बैज्ञानिक सीमा' को प्राप्त किया, जिसके लिये उसके ब्रिटिश उत्तराधिकारी व्यर्थ में ही आहें भरते रहे हैं, और जिसको सोलहवीं और सतरहवीं सदियों के मुगल-सम्राट् भी कभी पूर्णता के साथ प्राप्त नहीं कर सके थे ।

मगध के मौर्य-सम्राटों की पश्चिमी सीमा हिन्दूकुश तक ही सीमित नहीं रही । कुछ ही समय बाद कम्बोज (बदख्शां) और पामीर के प्रदेश भी उनकी अधीनता में आ गये । अशोक के लेखों से सूचित होता है, कि ये प्रदेश भी उसके विशाल साम्राज्य के अन्तर्गत थे ।

३०३ ई० पू० में यह सन्धि हुई । इसके बाद शीघ्र ही सैल्युकस ने मैगस्थनीज को राजदूत बनाकर चन्द्रगुप्त की राजसभा में भेजा । मैगस्थनीज चिरकाल तक मागध-साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र में रहा । उसने अपने समय का उपयोग भारत की भौगोलिक-स्थिति, विविध जातियों, आर्थिक अवस्था और राजनीतिक दशा को लेखबद्ध करने में व्यतीत किया । मैगस्थनीज के इस विवरण के जो अंश इस समय उपलब्ध होते हैं, वे निःसन्देह मौर्यकालीन भारत के सम्बन्ध में बहुत प्रामाणिक हैं, और उनसे बहुत-सी महत्त्व की बातें ज्ञात होती हैं ।

इस प्रकार अपने विशाल साम्राज्य की स्थापना कर चन्द्रगुप्त मौर्य ने उसका

दृढ़तापूर्वक शासन किया। युद्धों में व्यस्त रहने पर भी उसे प्रजा की भलाई का पूरा-पूरा ध्यान रहता था। यही कारण है, कि पाटलिपुत्र से लगभग १००० मील की दूरी पर स्थित गिरनार के पहाड़ों में उसने एक विशाल कृत्रिम झील का निर्माण कराया था। उन दिनों सुराष्ट्र (काठियावाड़) का शासक पुष्पगुप्त था। चन्द्रगुप्त ने उसे आज्ञा दी, कि गिरनार की नदी के सम्मुख एक बांध लगाकर उसे एक झील के रूप में परिवर्तित कर दे, और उससे अनेक नहरें निकालकर उस प्रदेश में सिंचाई का प्रबन्ध करे। इस झील का नाम 'सुदर्शन' रखा गया। अशोक के समय तक इसमें कार्य जारी रहा, और बाद में महाक्षत्रप रुद्रदामा तथा गुप्त सम्राटों ने इसका जीर्णोद्धार कराया।

सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य के समय की एक और घटना भी उल्लेखनीय है। आचार्य पतञ्जलि ने अपने महाभाष्य में एक जगह लिखा है, कि धन की इच्छा रखनेवाले मौर्यों ने पूजा के लिये मूर्त्तियां बनवाकर सुवर्ण एकत्र किया। सम्भवतः, यह बात चन्द्रगुप्त मौर्य के ही समय में हुई। निरन्तर युद्धों के कारण चन्द्रगुप्त को यदि धन की कमी हो गई हो और उसने अपने कोष की वृद्धि के लिये इस उपाय का आश्रय लिया हो, तो आश्चर्य की क्या बात है? अपने शुरू के संघर्ष काल में भी चाणक्य की प्रेरणा से उसने ऐसे तरीकों से ८० करोड़ कार्षापण एकत्र किये थे।

(४) सम्राट् बिन्दुसार अमित्रघात

चन्द्रगुप्त मौर्य ने ३२२ ई० पू० से २९८ ई० पू० तक शासन किया। चौबीस वर्ष के अपने राज्यकाल में उसने मागध-साम्राज्य को सारे उत्तरी भारत में विस्तीर्ण कर दिया। चन्द्रगुप्त के बाद उसका पुत्र बिन्दुसार मगध का सम्राट् बना। ग्रीक लेखकों ने इसे अमित्रघात लिखा है, बहुत-से शत्रुओं (अमित्रों) के विनाश के कारण ही उसने यह उपाधि प्राप्त की थी। तिब्बती लामा तारानाथ ने बौद्ध-धर्म का जो इतिहास लिखा था, उसके अनुसार आचार्य चाणक्य बिन्दुसार के समय में भी विद्यमान था, और उसके राज्य का भी पूर्ववत् संचालन कर रहा था। चन्द्रगुप्त के समय में चाणक्य के पौरोहित्य में जिस चातुरन्त साम्राज्य के विस्तार का प्रारम्भ हुआ था, वह बिन्दुसार के समय में भी जारी रहा। तारानाथ के अनुसार उसने सोलह राजधानियों के राजाओं और अमात्यों का उच्छेद किया, और एक लम्बे युद्ध के बाद पूर्वी और पश्चिमी समुद्रों के बीच की सम्पूर्ण भूमि को राजा बिन्दुसार की अधीनता में ला दिया। निःसन्देह, आचार्य चाणक्य केवल

भारत के इतिहास में ही नहीं, अपितु संसार के इतिहास में एक अद्वितीय महापुरुष हुआ है। यह उसी की महत्वाकांक्षा और अदम्य साहस का परिणाम था, कि हिन्दूकुश से आसाम तक और काश्मीर से मदुरा तक सारा भारत एक शक्तिशाली साम्राज्य के सूत्र में संगठित हो गया था।

बिन्दुसार के समय में जिन सोलह राज्यों को जीत कर मागध-साम्राज्य में सम्मिलित किया गया था, वे सभी दक्षिणी भारत में पूर्वी और पश्चिमी समुद्रों के बीच में स्थित थे। बिन्दुसार के उत्तराधिकारी अशोक के समय में उसके शिलालेखों से यह भलीभांति सूचित हो जाता है, कि मागध साम्राज्य का विस्तार भारत में कहां-कहां तक हो चुका था। अशोक ने स्वयं केवल कलिंग को विजय किया था। बाकी सब प्रदेश बिन्दुसार के समय तक मागध-साम्राज्य में शामिल किये जा चुके थे। अशोक के शिलालेखों के अनुसार चोल, पाण्ड्य, केरल और सातियपुत्र—ये चार सुदूर दक्षिण में स्थित राज्य मागध-सम्राट् के सीधे शासन में नहीं थे। शेष सारा दक्षिणी भारत अशोक के साम्राज्य में सम्मिलित था। निःसंदेह, दक्षिण-भारत की विजय का श्रेय बिन्दुसार को ही है, जिसने आचार्य चाणक्य के नेतृत्व में यह सुदुस्तर कार्य भी सम्पन्न किया था।

मौर्य-सम्राटों की दक्षिण-विजय के कुछ निर्देश प्राचीन तामिल-साहित्य में भी उपलब्ध होते हैं। प्राचीन तामिल कवि मामुलनार के अनुसार मौर्यों ने दक्षिण पर अनेक आक्रमण किये थे। एक अन्य ग्रन्थ के अनुसार मौर्यों की सेनाएं कोंकण से कर्नाटक तट के साथ-साथ तुलु प्रदेश से होती हुई कोयम्बटूर की तरफ बढ़ीं, और वहां से और भी दक्षिण में जाकर मदुरा के नीचे तक पहुंच गई। ये मौर्य पहाड़ों में रास्ते काटते हुए और चट्टानों पर अपने रथ दौड़ाते हुए इतनी दूर दक्षिण में पहुंचे थे। तामिल-कवियों के इन वर्णनों से प्रतीत होता है, कि चोल और पाण्ड्य राज्यों के भी कुछ हिस्सों को बिन्दुसार मौर्य की सेनाओं ने अपने अधीन किया था। सम्भवतः, ये सुदूर दक्षिण के प्रदेश स्थिररूप से मौर्य साम्राज्य में नहीं रह सके। बाद में इन तामिल-राज्यों ने परस्पर मिलकर एक संघात (संघ) बना लिया, और मौर्यों से स्वतन्त्रता प्राप्त की। अशोक के समय में ये तामिल-राज्य उसके धर्मविजय के प्रभाव में तो थे, पर राजनीतिक दृष्टि से वे मागध-साम्राज्य की अधीनता में नहीं थे। मौर्य-वंश के पतनकाल में कलिंगराज खारवेल ने अपने शिलालेख में तामिल देशों के इस संघात का उल्लेख किया है, और उसे ११३ वर्ष पुराना बताया है। वह संघात ठीक बिन्दुसार के समय में बना था।

बिन्दुसार के समय की कुछ और घटनायें भी उल्लेखनीय हैं। उसके शासन-

काल में तक्षशिला में दो बार विद्रोह हुआ। तक्षशिला मागध-साम्राज्य के पश्चिमोत्तर-प्रदेश (उत्तरापथ) की राजधानी थी। उत्तर-पश्चिमी भारत का यह प्रदेश नया-नया ही मागध-साम्राज्य के अधीन हुआ था। वहां के निवासियों में अपने पुराने जनपदों वा गणराज्यों की स्वतन्त्र सत्ता की स्मृति अभी नष्ट नहीं हुई थी। इसीलिये अवसर पाते ही वे लोग विद्रोह का झण्डा खड़ा कर देते थे। बौद्धग्रन्थ दिव्यावदान में लिखा है—राजा बिन्दुसार के तक्षशिला नगर ने विद्रोहकर दिया। इस विद्रोह को शान्त करने के लिये बिन्दुसार ने कुमार अशोक को भेजा। उसने कहा—कुमार, जाओ और तक्षशिला नगर के विद्रोह को शान्त करो। उसने उसके लिये चतुरंग सेना तो दे दी, परन्तु यान और हथियार नहीं दिये। जब तक्षशिला के पौरों ने सुना कि कुमार अशोक स्वयं विद्रोह को शान्त करने के लिये आ रहे हैं, तो उन्होंने ३॥ योजन तक तक्षशिला की सड़क को और तक्षशिला नगर को अच्छी तरह सजाया और पूर्ण घट लेकर पहले ही अशोक के स्वागत के लिये चल पड़े। कुमार अशोक का स्वागत करके 'पौर' ने कहा—'न हम कुमार के विरुद्ध हैं, और न राजा बिन्दुसार के, परन्तु दुष्ट अमात्य हमारा परिभव करते हैं।' इसके बाद वे बड़े सत्कार के साथ अशोक को तक्षशिला में ले गये।

इसके बाद एक बार फिर तक्षशिला में विद्रोह हुआ। इसका वर्णन भी दिव्यावदान में उपलब्ध होता है। इस विद्रोह को शान्त करने के लिये राजा बिन्दुसार ने कुमार सुसीम को भेजा था। सम्भवतः अशोक उस समय उज्जैनी का शासक था। कुमार सुसीम इस विद्रोह को शान्त नहीं कर सका, अतः अशोक को वहां भेजने की व्यवस्था की गई।

सम्राट् चन्द्रगुप्त के समान बिन्दुसार के समय में भी भारत का विदेशों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध था। बिन्दुसार के समय में सीरियन साम्राज्य का स्वामी एण्टियोकस सोटर था, जो सैल्यूकस का ही उत्तराधिकारी था। उसने मैगस्थनीज की जगह पर डायमेचस को अपना राजदूत बनाकर पाटलिपुत्र भेजा था। प्राचीन यूनानी लेखकों ने एण्टियोकस और बिन्दुसार के सम्बन्ध में अनेक कथायें लिखी हैं। एक कथा के अनुसार एक बार बिन्दुसार ने एण्टियोकस को लिखा, कि कृपया मेरे लिये कुछ अंजीर, कुछ अंगूरी शराब और एक यूनानी अध्यापक खरीदकर भेज दीजिये। इसके उत्तर में एण्टियोकस ने अंजीर और शराब तो खरीदकर भेज दी, पर अध्यापक के सम्बन्ध में कहला भेजा कि यूनानी प्रथा के अनुसार अध्यापक का क्रय-विक्रय नहीं हो सकता।

बिन्दुसार के समय में मिस्र का राजा टाल्मी फिलेडेल्फस था। इसने डायो-

नीसियस नाम का एक राजदूत पाटलिपुत्र की राजसभा में भेजा था। डायोनी-सियस चिरकाल तक बिन्दुसार के दरबार में रहा और मैगस्थनीज के समान उसने भी भारत का एक विवरण लिखा। यह विवरण ईसा की पहली सदी तक अवश्य ही उपलब्ध था, इसीलिये ऐतिहासिक प्लिनी ने इसका उपयोग अपने ग्रन्थ में किया था। खेद है, कि डायोनीसियस का विवरण अब उपलब्ध नहीं होता।

चाणक्य के समय में ही सुबन्धु नाम का एक अन्य अमात्य बिन्दुसार की सेवा में नियुक्त था। चाणक्य ने ही इसकी नियुक्ति की थी। पर यह हृदय से चाणक्य का विरोधी था। इसने यत्न किया, कि बिन्दुसार के हृदय में मौर्यवंश के प्रतिष्ठाता चाणक्य के विरुद्ध भावना उत्पन्न करे। पर उसे अपने प्रयत्न में सफलता नहीं हुई। आचार्य चाणक्य ने अपने जीवन का अन्तिम भाग प्राचीन आर्य-मर्यादा के अनुसार तपोवन में व्यतीत किया। तिब्बती अनुश्रुति के अनुसार चाणक्य का उत्तराधिकारी राधागुप्त था। चाणक्य का एक नाम विष्णुगुप्त भी था। राधागुप्त का विष्णुगुप्तके साथ कोई सम्बन्ध था या नहीं, यह ज्ञात नहीं है।

२६ वर्ष तक शासन करने के बाद २७२ ई० पू० में बिन्दुसार की मृत्यु हुई। मौर्यवंश की स्थापना के साथ एक नये संवत् का भी प्रारम्भ हुआ था, जिसे कलिङ्गराज खारवेल में 'मोरिय संवत्' के रूप में अपने शिलालेख में उल्लिखित किया है।

अठारहवां अध्याय

प्रियदर्शी राजा अशोक

(१) अशोक का राज्यारोहण

बिन्दुसार का उत्तराधिकारी उसका पुत्र अशोक था, जो दिव्यावदान के अनुसार चम्पा की एक परमसुन्दरी ब्राह्मणकन्या से उत्पन्न हुआ था। मागध-सम्राटों की पुरानी परम्परा के अनुसार बिन्दुसार के विविध पुत्रों में राजसिंहासन के लिये युद्ध हुए, और यह संघर्ष चार वर्ष तक निरन्तर जारी रहा। महावंश के अनुसार राजा बिन्दुसार की सोलह रानियां और एक सौ एक पुत्र थे। इन पुत्रों में सुमन (दिव्यावदान का सुसीम) सबसे बड़ा और तिष्य सबसे छोटा था। अशोक ने विमाताओं से उत्पन्न सब भाइयों को मारकर स्वयं राजगद्दी पर अधिकार कर लिया। दिव्यावदान में इस सारे घटना-चक्र का बड़े मनोरंजक रूप में वर्णन है। हम उसे यहां उद्धृत करते हैं।

राजा बिन्दुसार के एक पुत्र हुआ, जिसका नाम सुसीम रखा गया। इसी समय चंपा नगरी में एक ब्राह्मण निवास करता था, उसकी कन्या बहुत ही सुंदर 'दर्शनीया, प्रासादिका और जनपदकल्याणी' थी। उसके भविष्य के विषय में ज्योतिषियों से पूछा गया। उन्होंने बताया—इस लड़की का पति राजा होगा और इसके दो पुत्र-रत्न होंगे। एक पुत्र तो चक्रवर्ती सम्राट् बनेगा और दूसरा वैरागी होकर 'सिद्धव्रत' हो जायगा। यह भविष्यवाणी सुनकर ब्राह्मण को बड़ी प्रसन्नता हुई। दुनिया रुपये के पीछे चलती है। वह ब्राह्मण लड़की को लेकर पाटलिपुत्र आया और उसे अच्छे वस्त्र तथा आभूषणों से अलंकृत कर राजा बिन्दुसार की पत्नी बनाने के लिये उपहाररूप से दे दिया। जब वह राजा के अन्तःपुर में प्रविष्ट हुई, तो अन्तःपुर में रहनेवाली स्त्रियों के दिल में आया, कि यह कन्या बहुत सुन्दर है, अत्यंत प्रासादिका और जनपदकल्याणी है। यदि कहीं राजा ने इसके साथ सम्भोग कर लिया, तो वह हमारी तो बात भी न पूछेगा और हमारी तरफ आंख उठाकर भी न देखेगा।

यह सोचकर उन रानियों ने ब्राह्मणकन्या को नाइन का काम सिखा दिया। जब वह अपने कर्म में खूब निपुण हो गई, तो राजा के बाल और मूंछ आदि संवारने लगी। जब राजा आता था, तो वह उसके बाल संवारती थी। एक बार प्रसन्न होकर राजा ने उसे वर मांगने को कहा। उस कन्या ने उत्तर दिया—मैं देव के साथ समागम करना चाहती हूं। यह सुनकर राजा बोला—तू नाइन है, मैं क्षत्रिय राजा हूं, तेरा और मेरा समागम किस प्रकार हो सकता है ? कन्या ने उत्तर दिया—मैं नाइन नहीं हूं, अपितु ब्राह्मणकन्या हूं, मेरे पिता ने मुझे आपकी पत्नी होने के लिये ही उपहाररूप से दिया था। यह सुनकर राजा ने पूछा—फिर तुझे नाइन का कार्य किसने सिखाया है ? ब्राह्मणकन्या ने उत्तर दिया—अन्तःपुर की रानियों ने।

इसके बाद इस परम सुन्दरी ब्राह्मणकन्या को नाइन का कार्य करने की आवश्यकता नहीं रह गई। राजा बिन्दुसार ने उसे अपनी पटरानी बना लिया और उसके साथ क्रीड़ा रमण आदि करने लगा। उसके गर्भ रह गया और नौ मास पश्चात् एक पुत्र उत्पन्न हुआ। राजा ने अपनी पटरानी से पूछा—इसका क्या नाम रक्खा जाय ? उसने उत्तर दिया—इस बच्चे के उत्पन्न होने से मैं 'अशोका' हो गई हूं, अतः इसका नाम अशोक रखा जाना चाहिये। कुछ समय बाद रानी के एक और पुत्र उत्पन्न हुआ, उसका नाम 'विगतशोक' रखा गया।

अशोक का शरीर ऐसा नहीं था, कि उसके स्पर्श से सुख प्राप्त होता हो। वह 'दुःस्पर्शगात्र' था, इसलिये राजा बिन्दुसार उससे प्रेम नहीं करता था। पर वह यह जानना चाहता था, कि उसके पुत्रों में कौन सबसे योग्य है। अतः उसने परिव्राजक पिंगलवत्साजीव के साथ सलाह की। राजा ने कहा—उपाध्याय, कुमारों की परीक्षा लेते हैं। देखते हैं, कौन उनमें सबसे योग्य और मेरे बाद राज्यकार्य को संभालने में समर्थ होगा। पिंगलवत्साजीव ने कहा—बहुत अच्छी बात है, कुमारों को लेकर उद्यान में सुवर्णमण्डप में चलिये, वहां उनकी परीक्षा लेंगे। इस परीक्षा के परिणामस्वरूप पिंगलवत्साजीव यह जान गया, कि राजा अशोक ही बनेगा, क्योंकि वही सबमें योग्य था। पर क्योंकि बिन्दुसार को वह पसन्द नहीं था, अतः अपने विचार को पिंगलवत्साजीव ने स्पष्ट शब्दों में प्रकट नहीं किया।

जब तक्षशिला में दुबारा विद्रोह हुआ, तो उसे शान्त करने के लिये कुमार सुसीम को भेजा गया। दिव्यावदान के अनुसार अशोक जान-बूझकर, वहां नहीं गया था। सम्भवतः बिन्दुसार तब तक वृद्ध हो चुका था और बीमार था। उसे मरणासन्न जानकर राजा बनने के लिये उत्सुक अशोक पाटलिपुत्र से बाहर नहीं

जाना चाहता था। इसी बीच में राजा बिन्दुसार की मृत्यु हो गई और अशोक ने पाटलिपुत्र पर अपना कब्जा कर लिया। जब यह समाचार सुसीम ने सुना, तो वह बड़ा क्रुद्ध हुआ। उसने तुरन्त पाटलिपुत्र की ओर प्रस्थान किया। पर इस बीच में अशोक पूरी तैयारी कर चुका था। पाटलिपुत्र के सब महाद्वारों पर सैनिक नियत कर दिये गये थे। राजधानी को आक्रमण से बचाने के लिये पूरी तैयारी कर ली गई। जब सुसीम पाटलिपुत्र के समीप पहुंचा, तो अग्र-अमात्य राधागुप्त ने उसके पास सन्देश भेजा, कि तुम यदि अशोक को मारने में समर्थ होगे, तभी राज्य प्राप्त कर सकोगे। दोनों भाइयों में घनघोर युद्ध हुआ, जिसमें सुसीम मारा गया। पर यहीं पर मामले का फैसला नहीं हो गया। अशोक के और भी भाई थे। वे भी राजगद्दी के उम्मीदवार थे। चार साल तक यह लड़ाई जारी रही। अन्त में अशोक की विजय हुई। अपने भाइयों को परास्त कर अशोक ने अपने मार्ग को निष्कण्टक बना लिया।

अशोक के कितने भाई थे और कितनों का उसने युद्ध में घात किया, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। उसके एक सौ एक भाइयों की बात कुछ अतिशयोक्ति प्रतीत होती है। सब भाई भी उसके द्वारा नहीं मारे गये। अशोक के शिलालेखों में उसके कुछ भाइयों का उल्लेख आता है, जिनके साथ वह बड़ा अच्छा बर्ताव करता था। पर चार वर्ष तक गृहकलह और भ्रातृयुद्ध का रहना इस बात को सूचित करता है, कि अशोक को राजगद्दी पर अधिकार प्राप्त करने के लिये घोर संघर्ष करना पड़ा था, और उसमें उसके अनेक भाइयों की हत्या भी हुई थी।

जब राजा बिन्दुसार की मृत्यु हुई, तो अशोक पाटलिपुत्र में ही था। पर उन दिनों वह उज्जैनी का शासक था। दक्षिण की शक्तिशाली सेनाएं उसके अधीन थीं। इनकी सहायता उसे इस गृह-युद्ध में प्राप्त थी। कुमार सुसीम तक्षशिला के विद्रोह को शान्त करने में सफल नही हुआ था, अतः उत्तर-पश्चिमी भारत की सेनाओं को वह राजगद्दी प्राप्त करने के लिये प्रयुक्त नहीं कर सका था।

बौद्ध-ग्रन्थों में जो विवरण मिलते हैं, उनके अनुसार शुरू में अशोक बहुत क्रूर और अत्याचारी था। पर बाद में बौद्ध-धर्म का अनुसरण करने से उसकी वृत्ति बिलकुल बदल गई। वह बड़ा दयालु और धर्मात्मा बन गया। प्रारम्भिक जीवन में अत्याचारी होने की जो बात पुरानी ऐतिहासिक अनुश्रुति में पाई जाती है, उसका आधार शायद सचाई पर आश्रित है। उसने राजगद्दी पर अपना अधिकार यद्ध द्वारा प्राप्त किया था। सम्भवतः अपने विरोधियों को नष्ट करने के लिये

उसे बहुत सख्ती से काम लेना पड़ा हो। गृहकलह के कारण जो अव्यवस्था और उथल-पुथल उत्पन्न हो गई थी, उसपर काबू पाने के लिये भी अशोक को यदि जनता पर कठोर अत्याचार करने पड़े हों, तो यह सर्वथा स्वाभाविक है।

(२) राज्य-विस्तार

सम्राट् बिन्दुसार की मृत्यु के बाद गृहकलह में सफल होकर अशोक एक बहुत बड़े साम्राज्य का अधिपति बन गया था, जो पूर्व में बंगाल की खाड़ी से शुरू हो कर पश्चिम में हिन्दूकुश-पर्वतमाला से भी परे तक फैला हुआ था। दक्षिण में भी तामिल देशों तक मगध का साम्राज्य विस्तृत था। पर कलिंग का राज्य इस साम्राज्य के अन्तर्गत नहीं था। जब अशोक के राज्याभिषेक को हुए आठ साल व्यतीत हो चुके, तो (२६१ ई० पू० में) कलिंग पर आक्रमण किया गया। उस समय कलिंग अत्यन्त शक्तिशाली और वैभवपूर्ण देश था। मैगस्थनीज़ के अनुसार वहां की सेना में साठ हजार पदाति, एक हजार घुड़सवार और सात सौ हाथी थे। इस शक्तिशाली राज्य पर बड़ी तैयारी के साथ आक्रमण किया गया। मगध की विश्वविजयिनी सेनाओं का मुकाबला कर सकना कलिंग की सेना के लिये भी सम्भव नहीं था। अन्त में उसकी हार हुई। इस युद्ध में कलिंग के एक लाख आदमी मारे गये, डेढ़ लाख कैद किये गये और इनसे कई गुना आदमी युद्ध के बाद आने वाली स्वाभाविक विपत्तियों से काल के ग्रास हुए। इस विजय का उल्लेख अशोक ने अपने 'चतुर्दश शिलालेखों' में निम्नलिखित शब्दों में किया है :—

"राज्याभिषेक के आठ वर्ष बाद देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने कलिंग देश को विजय किया। वहां डेढ़ लाख मनुष्य कैद किये गये, एक लाख मनुष्य मारे गये और उससे कई गुना आदमी (महामारी आदि से) मरे। इसके बाद कलिंग-देश विजय होने पर देवताओं के प्रिय का धर्मपालन, धर्म-कर्म और धर्मानुशासन अच्छी तरह से हुआ। कलिंग के जीतने पर देवताओं के प्रिय को बड़ा पश्चात्ताप हुआ, क्योंकि जिस देश की पहले विजय नहीं हुई है, उसकी विजय होने पर लोगों की हत्या व मृत्यु अवश्य होती है, और न जाने कितने आदमी कैद किये जाते हैं। देवताओं के प्रिय को इससे बहुत दुःख और खेद हुआ। देवताओं के प्रिय को इससे और भी दुःख हुआ कि वहां ब्राह्मण, श्रमण तथा अन्य सम्प्रदाय के मनुष्य और गृहस्थ रहते हैं, जिनमें ब्राह्मणों की सेवा, माता-पिता की सेवा, गुरुओं की सेवा, मित्र, परिचित, सहायक, ज्ञाति, दास, और सेवकों के प्रति अच्छा व्यवहार किया जाता है। ऐसे लोगों का वहां वध, विनाश या प्रियजनों से बलात् वियोग होता है। अथवा

जो स्वयं तो सुरक्षित होते हैं, पर जिनके मित्र-परिचित-सहायक और सम्बन्धी विपत्ति में पड़ जाते हैं, उन्हें भी अत्यन्त स्नेह के कारण बड़ी पीड़ा होती है। यह सब विपत्ति वहां प्रायः हरेक मनुष्य के हिस्से पड़ती है। इससे देवताओं के प्रिय को विशेष दुःख होता है। क्योंकि ऐसा कोई देश नहीं है, जहां अनन्त सम्प्रदाय न हों, और वे सम्प्रदाय ब्राह्मणों और श्रमणों में (विभक्त) न हों, और कोई देश ऐसा नहीं है, जहां मनुष्य एक न एक सम्प्रदाय को न मानते हों। कलिंग देश में उस समय जितने आदमी मारे गये; मरे या कैद हुए, उनके सौवें या हजारवें हिस्से का नाश भी अब देवताओं के प्रिय को बड़े दुःख का कारण होगा।"

कलिंगविजय के बाद अशोक की मानसिक वृत्ति बदल गई। उसने शस्त्रों द्वारा विजय करना छोड़ कर धर्मविजय के लिये उद्योग प्रारम्भ किया। पर कलिंग-विजय के बाद मागध-साम्राज्य अपने विकास की चरमसीमा को पहुंच गया था, और सुदूर दक्षिण के कुछ तामिल प्रदेशों को छोड़कर सम्पूर्ण भारत एक सम्राट् की अधीनता में आ गया था। खून की नदी बहाकर जिस कलिंग पर विजय प्राप्त की गई थी, उसके सुशासन के लिये अशोक ने कोई कसर बाकी नहीं छोड़ी। इस प्रदेश को एक नवीन प्रान्त के रूप में परिणत किया गया। इसकी राजधानी तुषाली नगरी थी, और इसके शासन के लिये राजघराने के एक 'कुमार' को ही प्रान्तीय शासक के रूप में नियुक्त किया गया था। कलिंग में किस शासन-नीति का अनु-सरण किया जावे, इसे स्पष्ट करने के लिये अशोक ने वहां दो विशेष शिलालेख उत्कीर्ण कराये थे। इनमें वे आदेश उल्लिखित कराये गये थे, जिनके अनुसार शासन करने से कलिंग के गहरे घाव भलीभांति भर सकेंगे।

कलिंगविजय के अतिरिक्त अशोक ने अन्य किसी प्रदेश को जीतकर मागध-साम्राज्य में सम्मिलित नहीं किया। शस्त्र युद्ध से उसका मन बिलकुल ऊब गया था। कलिंग के समीप बहुत-सी आटविक जातियां निवास करती थीं, जिन्हें काबू में ला सकना सुगम बात नहीं थी। जब उसके राजकर्मचारियों ने अशोक से पूछा, कि क्या इनका दमन करने के लिये युद्ध किया जाय, तो उसने यही आदेश दिया, कि इन वनवासिनी जातियों को भी धर्म द्वारा ही वश में लाया जाय। उसने अपने एक शिलालेख में कहा है—"कदाचित् आप यह जानना चाहेंगे कि जो सीमान्त जातियां नहीं जीती गई हैं, उनके सम्बन्ध में हम लोगों के प्रति राजा की क्या आज्ञा है। तो मेरा उत्तर यह है, कि राजा चाहते हैं कि वे सीमान्त जातियां मुझसे न डरें, मुझपर विश्वास करें और मुझसे सुख ही प्राप्त करें, कभी दुःख न पावें। वे यह भी विश्वास रखें, कि जहां तक क्षमा का व्यवहार हो सकता है, वहां तक राजा

हम लोगों के साथ क्षमा का बर्ताव करेगा। अब इस शिक्षा के अनुसार चलते हुए आपको ऐसा काम करना चाहिये कि सीमान्त जातियां मुझपर भरोसा करें और समझें कि राजा हमारे लिये वैसे ही हैं, जैसे कि पिता।"

(३) मागध-साम्राज्य की सीमा

अशोक के समय में मागध साम्राज्य की सीमाएं कहां तक पहुंची हुई थीं, इस विषय पर उसके शिलालेखों से अच्छा प्रकाश पड़ता है। वस्तुतः इन्हीं शिलालेखों के आधार पर यह ठीक-ठीक जाना जा सकता है, कि मौर्यकाल में मगध का साम्राज्य कहां तक फैला हुआ था। अशोक के चतुर्दश शिलालेखों की दो प्रतियां बंगाल की खाड़ी के पास साम्राज्य के पूर्वी प्रदेश में उपलब्ध हुई हैं। इनमें से एक पुरी जिले के भुवनेश्वर नामक स्थान से दक्षिण की ओर सात मील की दूरी पर धौली नामक ग्राम के समीप पाई गई है। दूसरी प्रति मद्रास प्रान्त के गंजाम जिले में जौगढ़ नामक स्थान पर उपलब्ध हुई है। धौली और जौगढ़ दोनों प्राचीन कलिंग देश के अन्तर्गत थे। कलिग भारत के दक्षिण-पूर्वी भाग में है, और निःसन्देह यह अशोक के साम्राज्य का भी दक्षिणपूर्वी भाग ही था। चतुर्दश शिलालेखों की तीसरी प्रति देहरादून जिले के कालसी नामक ग्राम के समीप पाई गई है। देहरादून से चकरौता को जो सड़क गई है, उससे कुछ दूर हटकर ठीक उस स्थान पर जहां कि यमुना नदी हिमालय पर्वत को छोड़कर मैदान में उतरती है, यह तीसरी प्रति विद्यमान है। चौथी और पांचवी प्रतियां भारत के पश्चिमोत्तर-प्रदेश से प्राप्त हुई हैं। एबटाबाद से पन्द्रह मील उत्तर की तरफ हजारा जिले में मनसेरा नामक स्थान पर एक प्रति मिली है, और पेशावर से चालीस मील उत्तर-पूर्व की तरफ शाहबाजगढ़ी के समीप दूसरी। चतुर्दश शिलालेखों की छठी प्रति काठियावाड़ के जूनागढ़ नामक नगर के समीप और सातवीं प्रति बम्बई से तीस मील उत्तर की ओर थाना जिले में सोपारा नामक स्थान पर मिली है। इन शिलालेखों की आठवीं प्रति आन्ध्र के कुर्नूल जिले में प्राप्त हुई है। चतुर्दश शिलालेखों की कोई भी प्रति सुदूर दक्षिण में अब तक उपलब्ध नहीं हुई, परन्तु वहां अशोक के अन्य शिलालेख मिले हैं। लघु शिलालेखों की तीन प्रतियां मैसूर के चीतलद्रुग जिले में (एक सिद्धपुर में, एक ब्रह्मगिरि में और एक जतिंग-रामेश्वर पहाड़ पर) मिली हैं। अशोक के शिलालेखों का इस प्रकार सम्पूर्ण भारत में प्राप्त होना उसके साम्राज्य की सीमा पर अच्छा प्रकाश डालता है। इससे हम सहज ही यह समझ सकते हैं, कि उसके साम्राज्य का विस्तार कहां-कहां तक था। मैसूर तक का सारा

भारत उसके साम्राज्य के अन्तर्गत था, इस सम्बन्ध में इन शिलालेखों से कोई सन्देह नहीं रह जाता।

पर इस विषय पर अधिक बारीकी से विचार करने के लिये अशोक के शिलालेखों की अन्तःसाक्षी भी बहुत सहायक है। इनमें मौर्य-सम्राट् के अधीन प्रदेशों को 'विजित' कहा गया है, और जो साम्राज्य के पड़ोस के स्वतन्त्र राज्य थे, उन्हें 'प्रत्यन्त' की संज्ञा दी गई है। दक्षिण के 'प्रत्यन्त' चोल, पाण्ड्य, केरल, सातियपुत्र और ताम्रपर्णी थे। उस युग में चोल देश की राजधानी भूगोलवेत्ता टाल्मी के अनुसार ओर्थोरा थी। इसी का वर्तमान प्रतिनिधि त्रिचनापली के समीप उडैयूर है। पाण्ड्य देश की राजधानी मदुरा थी। केरल में मलाबार और कुर्ग के प्रदेश सम्मिलित थे। सातियपुत्र का अभिप्राय वर्तमान ट्रावनकोर से है। ताम्रपर्णी लंका या सिंहलद्वीप का ही प्राचीन नाम है। इस प्रकार यह स्पष्ट है, कि सुदूर दक्षिण में स्थित त्रिचनापली, मदुरा, ट्रावनकोर तथा मलाबार के प्रदेश मौर्य साम्राज्य के अन्तर्गत नहीं थे। उनकी गिनती प्रत्यन्त राज्यों में थी।

उत्तर-पश्चिम में अशोक के प्रत्यन्त राज्य वे थे, जहां अन्तियोक नाम का यवन-राजा राज्य करता था, और उससे परे तुरमय, अन्तिकिनि, मक और अलिकसुन्दर-नाम के राजा राज्य करते थे। अन्तियोक से अभिप्राय सीरिया तथा पश्चिमी एशिया के अधिपति एण्टियोकस द्वितीय थिओस से है। वह सैल्युकस का पौत्र था और अशोक के समय में उसके साम्राज्य का अधिपति था। तुरमय आदि और भी परे के राजा थे। सैल्युकस ने हिन्दूकुश और उसके समीप के जिन प्रदेशों को चन्द्रगुप्त मौर्य को दे दिया था, उनका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। यह स्पष्ट है, कि अशोक का पड़ोसी स्वतन्त्र राजा सैल्युकस का वंशज अन्तियोक ही था। इस प्रकार काम्बोज से बंगाल की खाड़ी तक और हिमालय से चोल देश तक का सारा भारत उसके 'विजित' या साम्राज्य के अन्तर्गत था। मगध का विशाल साम्राज्य अब अपने विस्तार की चरम सीमा को पहुंच गया था।

अशोक के शिलालेखों में मौर्य-साम्राज्य (विजित) की उक्त सीमाओं के अन्तर्गत कुछ ऐसे विशेष जनपद भी थे, जिन्हें अपने शासन के सम्बन्ध में विशेष अधिकार प्राप्त थे। अशोक के शिलालेखों में उनके नामों का उल्लेख इस प्रकार किया गया है—यवन, काम्बोज, गान्धार, रठिक, पितनिक, नाभक, नाभपंक्ति, आन्ध्र और पुलिन्द। इन संरक्षित राज्यों का प्रथम वर्ग यवन, काम्बोज और गान्धार का है, जो उत्तरापथ में था। यवन या योन का अभिप्राय किसी यवन व ग्रीक बस्ती से

है। सिकन्दर ने जब भारत पर आक्रमण किया था, तो उसने हिन्दूकुश पर्वत की उपत्यका में एक नगरी बसाई थी, जिसका नाम अलक्जेण्ड्रिया रखा था। संभवतः यहां बहुत-से यूनानी (यवन) लोग बस गये थे। कांबोज से पामीर-पर्वतमाला के प्रदेश तथा बदख्शां का ग्रहण होता है। गान्धार की राजधानी तक्षशिला थी और उसके समीपवर्ती उत्तर पश्चिमी सीमाप्रान्त के प्रदेश इस राज्य के अन्तर्गत थे। यह अशोक के संरक्षित राज्यों का पहला वर्ग है। दूसरा वर्ग नामक और नाभपंक्ति का था। इनकी ठीक स्थिति के सम्बन्ध में विद्वानों में बहुत मतभेद है। कुछ विद्वानों ने प्रतिपादित किया है, कि नाभक और नाभपंक्ति का अभिप्राय खोतान से है, जो पामीर के उत्तर में था। तीसरा वर्ग भोज-पितनिक या रठिक-पितनिक का था। ये प्रदेश सम्भवतः आधुनिक बरार और महाराष्ट्र के अन्तर्गत थे। चौथा वर्ग आन्ध्र और पुलिन्द का था। आन्ध्र देश आधुनिक मद्रास प्रान्त के अन्तर्गत है। पुलिन्द की स्थिति आन्ध्र के उत्तर में थी। वायुपुराण के अनुसार पुलिन्द जाति विन्ध्याचल की तराई में निवास करती थी। कुछ विद्वानों ने इनकी स्थिति वर्तमान जबलपुर जिले के समीप प्रतिपादित की है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है, कि विशाल मौर्य साम्राज्य के अन्तर्गत कुछ ऐसे प्रदेश भी थे, जो अपना शासन स्वयं करते थे, मौर्य-सम्राट् के अधीन होते हुए भी जिन्हें अपने आन्तरिक मामलों में स्वतन्त्रता प्राप्त थी। इनकी स्थिति वर्तमान भारत की रियासतों के सदृश समझी जा सकती है।

(४) विदेशों के साथ संबंध

सारे मागध-साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र ही थी, किन्तु साम्राज्य में कई अन्य राजधानियां भी थीं, जिनमें राजा की तरफ से कुमार और महामात्य शासन करते थे। ऐसी उपराजधानियां तक्षशिक्षा, उज्जैनी, तोषाली और सुवर्णगिरि थीं। विशाल मौर्य-साम्राज्य का शासन एक राजधानी से नहीं हो सकता था।

सम्राट् अशोक ने अपने शिलालेखों में अनेक समकालीन विदेशी राज्यों और उनके राजाओं का उल्लेख किया है। इनके नाम ये हैं :—

१. अन्तियोक—यह पश्चिमी एशिया का सीरियन सम्राट् एण्टियोकस द्वितीय थिअ.स था, जिसका शासन-काल २६१ ई० पू० से २४६ ई० पू० तक है। यह सैल्युकस का पौत्र था और उसी साम्राज्य का अधिपति

हुआ था, जिसे सैल्युकस ने सिकन्दर के मैसिडोनियन साम्राज्य के भग्नावशेष पर कायम किया था। अन्तियोक के साम्राज्य की सीमा मागध-साम्राज्य की सीमा को छूती थी।

२. तुरुमय—यह ईजिप्ट (मिस्र) का अधिपति टाल्मी द्वितीय फिलेडेल्फस (२८५-२४७ ई० पू०) था।

३. अन्तिकिनि—यह मैसिडोनिया का राजा एण्टिगोनस गोण्टस (२७६-२३९ ई० पू०) था।

४. मक—यह साइरिनि का अधिपति मेगस था, जिसका राज्यकाल ३०० से २५० ई० पू० तक है।

५. अलिकसुन्दर—यह कारिंथ का राजा अलक्जे़ण्डर (२५२-२४४ ई० पू०) था।

इन सब विदेशी राजाओं के साथ सम्राट् अशोक का सम्बन्ध था। इनके राज्यों में उसने धर्मविजय के लिये प्रयास किया। उसके इस प्रयत्न पर हम आगे विचार करेंगे। सीरिया के राजा के राजदूत चंद्रगुप्त और बिन्दुसार के समय में पाटलिपुत्र की राजसभा में रह चुके थे। सम्भवत: अशोक के समय में भी इस राज्य का दूत भारत की राजधानी में रहा हो। ईजिप्ट के राजा टाल्मी फिलडेल्फस ने भी एक दूतमण्डल पाटलिपुत्र में भेजा था, जिसका नेता डायोनीसियस था। मागध-सम्राट् के राजदूत भी इन विदेशों में रहते थे। अशोक ने अपने एक शिलालेख में लिखा है, कि जहां देवताओं के प्रिय के दूत नहीं पहुंचते, वहां भी देवताओं के प्रिय का धर्माचरण, धर्मविधान और धर्मानुशासन सुनकर लोग धर्म के अनुसार आचरण करते हैं। इससे स्पष्ट है, कि अशोक के दूत विदेशों में अनेक स्थानों पर निवास करते थे।

(५) अशोक के शिलालेख

सम्राट् अशोक के बहुत-से उत्कीर्ण लेख आजकल उपलब्ध हैं। उसके इतिहास को जानने के लिये इनसे उत्तम अन्य कोई साधन नहीं। अशोक ने अपने इन शिलालेखों को 'धम्मलिपि' कहा है। उनकी जो दो प्रतियां उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त के पेशावर और हजारा जिलों में मिली हैं, वे खरोष्ठी लिपि में हैं, शेष सब ब्राह्मी लिपि में। उसके लेख शिलाओं, पत्थर की ऊंची लाटों और गुफाओं में उत्कीर्ण किये गये हैं। इनका संक्षेप में वर्णन देना बहुत उपयोगी है।

(क) **चतुर्दश शिलालेख**–अशोक के लेखों में ये सबसे प्रधान हैं, और एक के नीचे दूसरा करके सब इकट्ठे खुदे हुए हैं। इनकी आठ प्रतियां आठ विभिन्न स्थानों पर अविकल या अपूर्ण रूप में मिली हैं। जिन स्थानों पर ये चौदह लेख मिले हैं, वे निम्नलिखित हैं :—

१. पेशावर जिले में शाहबाजगढ़ी–पेशावर से चालीस मील उत्तर-पूर्व की ओर यूसुफजाई ताल्लुके में शाहबाजगढ़ी नाम का गांव है। उससे आध मील की दूरी पर एक विशाल शिला है, जो चौबीस फीट लम्बी, दस फीट ऊंची और दस फ़ीट मोटी है। इस शिला पर बारहवें लेख को छोड़कर अन्य सब लेख खुदे हुए हैं। बारहवां लेख पचास गज की दूरी पर एक पृथक् शिला पर उत्कीर्ण है। शाहबाजगढ़ी गांव नया है, पर इसी जगह पुराने समय में एक विशाल नगर था, जिसके खंडहर अब तक पाये जाते हैं। एक ऐतिहासिक के अनुसार अशोक के अधीन यवनराज्य की राजधानी सम्भवतः यहीं पर थी।

२. मानसेरा–उत्तर-पश्चिमी प्रान्त के हजारा जिले में यह स्थान है। यहां केवल पहले बारह लेख ही उपलब्ध हुए हैं। तेरहवें और चौदहवें लेख अभी इस स्थान के समीप कहीं नहीं मिले। मानसेरा का शिलालेख जहां उत्कीर्ण है, उसके समीप से होकर सम्भवतः प्राचीन काल में वह सड़क जाती थी, जिसके द्वारा तीर्थयात्री लोग भट्टारिका देवी के दर्शनों को जाया करते थे। अब भी उधर ब्रेरी नामक तीर्थस्थान है।

३. कालसी–देहरादून जिले में यमुना के तट पर एक विशाल शिला पर अशोक के पूरे चौदह लेख उत्कीर्ण हैं। यह स्थान हिमालय की उपत्यका के प्रदेश जौनपुर-भाबर के द्वार पर है। इस प्रदेश की सभ्यता, धर्म व चरित्र शेष भारत से बहुत-कुछ भिन्न हैं। एक स्त्री के अनेक पति होने की बात अभी तक यहां जारी है। इनके देवी-देवता भी अन्य हिन्दुओं से भिन्न हैं। सम्भवतः मौर्य-युग में भी यह प्रदेश सभ्यता की दृष्टि से पृथक् था, और इसीलिये इसमें अपने धर्मसन्देश को पहुंचाने के लिये अशोक ने उसके द्वार पर अपने लेख उत्कीर्ण कराये थे। प्राचीन समय का श्रुघ्न नगर भी इसी के समीप था।

४. गिरनार–काठियावाड़ की प्राचीन राजधानी गिरिनगर के समीप ही एक विशाल शिला पर ये चौदह लेख उत्कीर्ण हैं।

५. सोपारा–यह स्थान बम्बई प्रान्त के थाना जिले में है। प्राचीन शूर्पारक नगरी सम्भवतः यहीं पर थी। प्राचीन ग्रीक लेखकों ने भी इसे सुधारा और सुपारा नाम से लिखा है। वहां आठवें शिलालेख का केवल तिहाई हिस्सा ही भग्नावस्था

में मिला है। पर इससे यह सहज में ही अनुमान किया जा सकता है, कि किसी समय में यहां पूरे चौदह लेख विद्यमान थे।

६. धौली—उड़ीसा में भुवनेश्वर (जिला पुरी) से सात मील की दूरी पर यह जगह है। मौर्य-युग में सम्भवतः यहीं तोषाली नगरी थी, जो कलिंग की राजधानी थी। वर्तमान धौली गांव के पास अश्वस्तम्भ नाम की एक शिला है, जिसपर अशोक के लेख उत्कीर्ण हैं। चतुर्दश शिलालेखों में नं० ११, १२ और १३ यहां नहीं मिलते। उनके स्थान पर दो अन्य लेख मिलते हैं, जिन्हें कि अशोक ने कलिंग के लिये विशेषरूप से उत्कीर्ण कराया था।

७. जौगढ़—मद्रास प्रान्त के गंजाम जिले में यह स्थान है। यह भी प्राचीन कलिंग देश के ही अन्तर्गत था, यहां भी ११, १२ और १३ संख्या के लेख नहीं मिलते। उनकी जगह पर धौलीवाले, वे दो विशेष लेख मिलते हैं, जो खासकर कलिंग के लिये उत्कीर्ण कराये गये थे।

८. अशोक के चतुर्दश शिलालेखों की आठवीं प्रति आन्ध्रदेश में कुर्नूल जिले से पिछले दिनों में ही मिली है।

(ख) **लघु शिलालेख**—चतुर्दश शिलालेखों की भांति ये भी साम्राज्य के दूर-दूर के प्रदेशों से उपलब्ध हुए हैं। इनकी विविध प्रतियां निम्नलिखित स्थानों पर मिली हैं :—

१. रूपनाथ—मध्यप्रान्त के जबलपुर जिले में कैमोर पर्वत की उपत्यका में एक शिला पर ये लेख उत्कीर्ण हैं। यह स्थान दुर्गम चट्टानों और जंगलों से पूर्ण है। पर यह एक प्रसिद्ध स्थान है, जहां प्रतिवर्ष हजारों यात्री शिव की उपासना के लिये एकत्र होते हैं।

२. सहसराम—बिहार प्रान्त के शाहाबाद जिले में सहसराम नाम का कसबा है। उसके पूर्व में चन्दनपीर पर्वत की एक कृत्रिम गुफा में ये लेख उत्कीर्ण हैं। अशोक के समय में यहां भी एक तीर्थस्थान था। वर्तमान समय में यहां एक मुसलमान फकीर की दरगाह है।

३. बैराट—यह स्थान राजपूताने की जयपुर रियासत में है। इसके समीप ही हिंसगीर नामक पहाड़ी के नीचे लघु शिलालेखों की एक प्रति उपलब्ध हुई है। पुरानी अनुश्रुति के अनुसार पाण्डव लोग वनवास के अन्त में इसी स्थान पर आकर रहे थे।

४. सिंहपुर—यह स्थान मैसूर के चीतलद्रुग जिले में है।

५. जतिङ्गरामेश्वर—यह भी चीतलद्रुग जिले में ही है।

६. ब्रह्मगिरि–यह भी चीतलद्रुग में सिहपुर और जतिङ्गरामेश्वर के समीप में ही है ।

७. मास्की–यह निजाम हैदराबाद रियासत के रायचूर जिले में है । इस स्थान पर जो लेख मिले हैं, वे बहुत भग्नावस्था में हैं । पर ऐतिहासिक दृष्टि से उनका बड़ा महत्त्व है । इन्हीं से यह बात प्रामाणिकरूप से ज्ञात हो सकी है, कि राजा प्रियदर्शी के नाम से जो विविध शिलालेख भारत भर में उपलब्ध हुए हैं, वे वस्तुतः मौर्य-सम्राट् अशोक के ही हैं । इनमें स्पष्ट रूप से राजा अशोक का नाम दिया गया है । यह नहीं समझना चाहिये, कि इन सातों स्थानों पर एक ही लेख की भिन्न-भिन्न प्रतियां मिलती हैं, जैसा कि चतुर्दश शिलालेखों के विषय में कहा जा सकता है । चीतलद्रुग के तीनों स्थानों–सिहपुर, जतिङ्गरामेश्वर और ब्रह्मगिरि में थोड़े-से पाठ-भेद के साथ एक ही लेख उत्कीर्ण है । यह लेख दो भागों में विभक्त है । पहला भाग थोड़े-से पाठ-भेद के साथ सहसराम, रूपनाथ, बैराट और मास्की में भी मिलता है । पर दूसरा भाग चीतलद्रुग के इन तीन स्थानों के अतिरिक्त अन्य कहीं नहीं मिलता ।

(ग) **भाब्रू का लेख**–जयपुर रियासत में बैराटनगर के पास ही एक चट्टान पर यह लेख उत्कीर्ण है । प्राचीन समय में यहां एक बौद्ध-बिहार था, और अशोक ने इस लेख को इसलिये खुदवाया था, ताकि विहार में निवास करनेवाले भिक्षुओ को यथोचित आदेश दिये जा सकें । इस लेख में अशोक ने उन बौद्ध-ग्रन्थों के नाम विज्ञापित कराये थे, जिन्हें वह इस योग्य समझता था, कि भिक्खु लोग उनका विशेष रूप से अनुशीलन करें । सम्भवतः इसी प्रकार के लेख अन्य बौद्ध-विहारो में भी उत्कीर्ण कराये गये थे ।

(घ) **सप्तस्तम्भ लेख**–शिलाओं के समान स्तम्भों पर भी अशोक ने लेख उत्कीर्ण कराये थे । ये स्तम्भलेख निम्नलिखित स्थानों पर उपलब्ध हुए हैं :-

१. दिल्ली में टोपरा स्तंभ–यह स्तम्भ फीरोजशाह की लाट के नाम से मशहूर है । पहले यह स्तम्भ दिल्ली से ६० मील की दूरी पर यमुना के किनारे टोपरा (अम्बाला जिले में सढौरा के पास) में था । सुल्तान फीरोजशाह तुगलक इसे दिल्ली ले आया था, और वहां उस स्थान पर स्थापित कर दिया था, जो अब दिल्ली-दरवाजे के बाहर 'फीरोजशाह का कोटला' कहलाता है ।

२. दिल्ली में मेरठ स्तम्भ–यह पहले मेरठ में था । फीरोज़शाह तुग़लक इसे भी दिल्ली ले आया था, और काश्मीरी दरवाजे के उत्तर-पश्चिम मे पहाड़ी पर स्थापित करा दिया था । बादशाह फर्रुखसियर (१७१३ से १७१६

तक) के समय में बारूदखाने के फट जाने से इसे बहुत नुकसान पहुंचा था। गिर कर इसके अनेक टुकड़े हो गये थे। बाद में १८६७ में इसे फिर यथापूर्व खड़ा किया गया।

३. इलाहाबाद स्तम्भ—यह वही प्रसिद्ध स्तम्भ है, जिसपर गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त की प्रशस्ति भी उत्कीर्ण है। यह अब प्रयाग के पुराने किले में विद्यमान है। इसपर अशोक के दो लेख हैं, जो कौशाम्बी के शासनाधिकारियों को आदेश के रूप में सम्बोधन किये गये हैं।

४. लौरिया अरराज स्तम्भ—बिहार प्रान्त के चम्पारन जिले में राधिया नामक गांव है। उससे २½ मील पूर्व-दक्षिण में अरराज महादेव का मन्दिर है। वहां से मील भर लौरिया नामक स्थान पर यह स्तम्भ विद्यमान है। इसपर भी अशोक के लेख उत्कीर्ण हैं।

५. लौरिया नन्दनगढ़—यह भी बिहार के चम्पारन जिले में है। पूर्वलिखित लौरिया के उत्तर-पश्चिम में नैपाल राज्य की तरफ जाते हुए लौरिया-नन्दनगढ़ का स्तम्भ दिखाई पड़ता है। इसी स्थान पर पिप्पलिवन का प्रसिद्ध स्तूप प्राप्त हुआ है। पिप्पलिवन का मोरिय-गण, जिसके एक प्रतापी कुमार ने मौर्य वंश की स्थापना की, सम्भवतः यहीं पर स्थित था।

६. रामपुरवा स्तम्भ—यह भी चम्पारन जिले में ही है। एक ऐतिहासिक के अनुसार ये तीनों स्तम्भ उस प्राचीन राजमार्ग को सूचित करते हैं, जो गंगा के उत्तर में पाटलिपुत्र से नैपाल की तरफ को जाता था। इस राजमार्ग पर आने-जानेवाले यात्रियों का ध्यान आकृष्ट करने के लिये ही अशोक ने इन स्तम्भों पर अपने धम्म के सन्देश को उत्कीर्ण कराया था। चम्पारन जिले की इन लाटों में से पहली दो पर सप्त स्तम्भलेखों में से पहले छः लेख ही उत्कीर्ण हैं। रामपुरवा की लाट पर पहले चार लेख ही मिलते हैं। पूरे सातों लेख केवल दिल्ली के टोपरा स्तम्भ पर हैं। इलाहाबाद स्तम्भ पर पहले छः लेख हैं, यद्यपि इनमें से केवल दो ही अविकल अवस्था में हैं। दिल्ली-मेरठ स्तंभ पर पहले पांच लेख ही मिलते हैं, वे भी भग्न दशा में हैं।

(ङ) **लघु स्तम्भलेख**—ये तीन स्थानों पर उत्कीर्ण हुए मिले हैं। स्थान निम्नलिखित हैं :—

१. सारनाथ—बनारस के उत्तर में ३½ मील की दूरी पर यह अत्यन्त प्राचीन स्थान है। यहां प्राचीन काल के बहुत-से भग्नावशेष मिलते हैं। इन्हीं अवशेषों

में एक स्तंभ पर अशोक का यह लघु लेख उत्कीर्ण है। इसमें बौद्ध-संघ में फूट डालनेवालों को कड़ा दंड देने का विधान किया गया है।

२. साञ्ची—मध्य-भारत की भूपाल रियासत में साञ्ची बहुत प्राचीन स्थान है। यहां के विशाल स्तूप के दक्षिणी द्वार पर, एक टूटे हुए प्राचीन स्तंभ पर यह लेख उत्कीर्ण है। यह सारनाथ के लेख का ही अपूर्ण और परिवर्तित स्वरूप है।

३. इलाहाबाद स्तंभ—प्रयाग के दुर्ग के जिस स्तंभ पर समुद्रगुप्त की प्रशस्ति और अशोक के सप्तस्तंभ लेख उत्कीर्ण हैं, उसी पर यह लेख भी पृथक् रूप से उत्कीर्ण है। साञ्ची के लेख के समान यह भी अपूर्ण और परिवर्तित है।

(च) **अन्य स्तम्भलेख**—सप्त स्तंभलेखों और लघु स्तंभलेखों के अतिरिक्त अशोक के कुछ अन्य स्तंभलेख भी निम्नलिखित स्थानों पर मिले हैं :—

१. रुम्मिनदेई स्तंभ—नैपाल राज्य की भगवानपुर तहसील में पडेरिया नाम का गांव है। उसके एक मील उत्तर की तरफ रुम्मिनदेई का मंदिर है। यहां एक प्राचीन स्तंभ पर अशोक का एक लेख उत्कीर्ण है। यद्यपि यह लेख बहुत छोटा है, पर बहुत महत्त्वपूर्ण है। उसमें लिखा है—'यहां भगवान् बुद्ध का जन्म हुआ था।' बुद्ध के जन्मस्थान लुम्बिनीवन की स्थिति का निश्चय इसी लेख से हुआ है।

२. निग्लीव स्तंभ—रुम्मिनदेई स्तंभ के उत्तर-पश्चिम में तेरह मील दूर निग्लीव स्तंभ है। यह निग्लीव नाम के गांव के पास, इसी नाम की झील के पश्चिमी तट पर स्थित है। इस स्तंभ को भी तीर्थ-यात्रा के संबंध में ही स्थापित किया गया था। इस स्तंभ पर उत्कीर्ण लेख में अशोक द्वारा कनकमुनि बुद्ध के स्तूप की मरम्मत किये जाने का उल्लेख है।

३. रानी का लेख—यह लेख इलाहाबाद के स्तंभ पर ही उत्कीर्ण है। इसमें सम्राट् अशोक ने अपनी दूसरी रानी कारुवाकी के दान का उल्लेख किया है।

६. गुहालेख—शिलाओं और स्तंभों के अतिरिक्त गुहा-मंदिरों में भी अशोक ने कुछ लेख उत्कीर्ण कराये थे। इस प्रकार के तीन लेख अब तक उपलब्ध हुए हैं। इनमें अशोक द्वारा आजीवक संप्रदाय के भिक्खुओं को दिये गये दान का उल्लेख है। अशोक के लेखों से युक्त गुहायें गया से सोलह मील उत्तर में बराबर नाम की पहाड़ियों में विद्यमान हैं।

(६) धर्म-विजय का उपक्रम

इतिहास में अशोक के महत्त्व का मुख्य कारण धर्म-विजय की नीति है। मागध-साम्राज्य की विश्वविजयिनी शक्ति को सिकंदर और सीजर की तरह अन्य देशों पर आक्रमण करने में न लगाकर उसने धर्म-विजय के लिये लगाया। कलिंग को जीतने में लाखों आदमी मारे गये थे, कैद हुए थे, लाखों स्त्रियां विधवा व बच्चे अनाथ हुए थे। यह देखकर अशोक के हृदय में विचार आया, कि जहां लोगों का इस प्रकार वध हो, वह विजय निरर्थक है। इस प्रकार की विजय को देखकर उसे बहुत दुःख और अनुताप हुआ। उसने निश्चय किया, कि अब वह किसी देश पर आक्रमण कर इस तरह से विजय नहीं करेगा। अपने पुत्रों और पौत्रों के लिये भी उसने यही आदेश दिया, कि वे शस्त्रों द्वारा नये प्रदेशों की विजय न करें, और जो धर्मद्वारा विजय हो, उसी को वास्तविक विजय समझें।

इसी विचार से अशोक ने सुदूर दक्षिण के चोल, पाण्ड्य, केरल, सातियपुत्र और ताम्रपर्णी के राज्यों में तथा साम्राज्य की उत्तर-पश्चिमी सीमा पर स्थित यवन अंतियोक आदि द्वारा शासित प्रदेशों में शस्त्र-विजय की जगह धर्म-विजय का उपक्रम किया। मागध-साम्राज्य की जो सैनिक शक्ति उस समय थी, यदि वह चाहता तो उससे इन सब प्रदेशों को जीतकर अपने अधीन कर सकता था। पर कलिंग-विजय के बाद जो अनुताप की भावना उसके हृदय में उत्पन्न हुई थी, उससे उसने अपनी नीति को बदल दिया। इसीलिये उसने अपने महामात्यों (उच्च राजपदाधिकारियों) को यह आज्ञा दी—"शायद आप लोग यह जानना चाहेंगे, कि जो अंत (सीमावर्ती राज्य) अभी तक जीते नहीं गये हैं, उनके संबंध में राजा की क्या आज्ञा है। मेरी अंतों के बारे में यही इच्छा है, कि वे मुझसे डरें नहीं, और मुझपर विश्वास रखें। वे मुझसे सुख ही पावेंगे, दुःख नहीं। वे यह विश्वास रखें, कि जहां तक क्षमा का बर्ताव हो सकेगा, राजा हमसे क्षमा-का बर्ताव ही करेगा।" (दूसरा कलिंग-लेख)।

यही भाव उन आटविक जातियों के प्रति प्रगट किया गया, जो उस समय के महाकांतारों में निवास करती थीं, और जिन्हें शासन में रखने के लिये राजाओं को सदा शस्त्र का प्रयोग करने की आवश्यकता रहती थी। शस्त्रों द्वारा विजय की नीति को छोड़कर अशोक ने धर्म द्वारा विजय की नीति को अपनाया था।

अशोक का धर्म से क्या अभिप्राय था? जिस धर्म से वह अपने साम्राज्य के सीमावर्ती प्रदेशों पर विजय प्राप्त करने का उद्योग कर रहा था, क्या वह कोई

संप्रदाय-विशेष था, या धर्म के सर्वसम्मत सिद्धांत ? अशोक के शिलालेखों से यह बात भलीभांति स्पष्ट हो जाती है। वह लिखता है–"धर्म यह है कि दास और सेवकों के प्रति उचित व्यवहार किया जाय, माता-पिता की सेवा की जाय, मित्र-परिचित, रिश्तेदार श्रमण और ब्राह्मणों को दान दिया जाय और प्राणियों की हिंसा न की जाय।"

एक अन्य लेख में अशोक ने 'धम्म' को इस प्रकार समझाया है–'माता और पिता की सेवा करनी चाहिये। (प्राणियों के) प्राणों का आदर दृढ़ता के साथ करना चाहिये, (अर्थात् जीवहिंसा नहीं करना चाहिये)। सत्य बोलना चाहिये, धम्म के इन गुणों का प्रचार करना चाहिये, विद्यार्थी को आचार्य की सेवा करनी चाहिये और सबको अपने जाति-भाइयों के प्रति उचित बर्ताव करना चाहिये। यही प्राचीन (धर्म की) रीति है। इससे आयु बढ़ती है, और इसी के अनुसार मनुष्यों को चलना चाहिये।"

इसी प्रकार अन्यत्र लिखा है–'माता-पिता की सेवा करना तथा मित्र, परिचित, स्वजातीय, ब्राह्मण और श्रमण को दान करना अच्छा है। थोड़ा व्यय करना और थोड़ा संचय करना अच्छा है।' फिर एक अन्य स्थान पर लिखा है–'धर्म करना अच्छा है। पर धर्म क्या है ? धर्म यही है कि पाप से दूर रहे, बहुत-से अच्छे काम करे, दया, दान, सत्य और शौच (पवित्रता) का पालन करे।'

इन उद्धरणों से स्पष्ट है, कि अशोक का धम्म से अभिप्राय आचार के सर्व-सम्मत नियमों से था। दया, दान, सत्य, मार्दव, गुरुजन तथा माता-पिता की सेवा, अहिंसा आदि गुण ही अशोक के धम्म हैं। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अशोक अपने धम्म के सन्देश को ले जाने के लिये उत्सुक था। इसीलिये उसने बार-बार जनता के साधारण व्यवहारों और धम्म-व्यवहार की तुलना की है। यहां कुछ ऐसी तुलनाओं को उद्धृत करना उपयोगी है। चतुर्दश शिलालेखों में से नवां लेख इस प्रकार है–'लोग विपत्तिकाल में, पुत्र के विवाह में, कन्या के विवाह में, सन्तान की उत्पत्ति में, परदेश जाने के समय और इसी तरह के अन्य अवसरों पर अनेक प्रकार के मंगलाचार करते हैं। ऐसे अवसरों पर स्त्रियां अनेक प्रकार के क्षुद्र और निरर्थक मंगलाचार करती हैं। मंगलाचार अवश्य करना चाहिये, किन्तु इस प्रकार के मंगलाचार प्रायः अल्प फल देनेवाले होते हैं। पर धर्म का मंगलाचार महाफल देनेवाला है। इसमें (धर्म के मंगलाचार में) दास और सेवकों के प्रति उचित व्यवहार, गुरुओं का आदर, प्राणियों की अहिंसा और ब्राह्मणों व श्रमणों को दान–यह सब करना होता है। ये सब कार्य तथा इसी प्रकार

अन्य कार्य धर्म के मंगलाचार कहलाते हैं। इसलिये पिता, पुत्र, भाई, स्वामी, मित्र, साथी और कहां तक कहें, पड़ोसी तक को भी यह कहना चाहिये–यह मंगलाचार अच्छा है, इसे तब तक करना चाहिये, जब तक अभीष्ट कार्य की सिद्धि न हो। यह कैसे ? (अर्थात् धर्म के मंगलाचार से अभीष्ट कार्य कैसे सिद्ध होता है ?) इस ससार के जो मंगलाचार हैं, वे सन्दिग्ध हैं, अर्थात् उनसे अभीष्ट कार्य सिद्ध हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता। सम्भव है, उनसे केवल ऐहिक फल ही मिलें। किन्तु धर्म के मंगलाचार काल से परिच्छिन्न नहीं हैं (अर्थात् सब काल में उनसे फल मिल सकता है)। यदि इस लोक में उनसे अभीष्ट फल की प्राप्ति न हो, तो परलोक में तो अनन्त पुण्य होता ही है। यदि इस लोक में अभीष्ट कार्य सिद्ध हो गया, तो दोनों लाभ हुए अर्थात् यहां भी कार्य सिद्ध हुआ, परलोक में भी अनन्त पुण्य प्राप्त हुआ।'

इसी प्रकार एक अन्य लेख में साधारण दान और धर्म दान में तुलना की गई है। अशोक की सम्मति में ऐसा कोई दान नहीं है, जैसा धर्म का दान है। इसलिये जिस व्यक्ति को दान की इच्छा हो, वह धर्म का दान करे। धर्म का दान क्या है ? धर्म का अनुष्ठान। अतः माता-पिता की सेवा की जाय, हिंसा न की जाय, दासों और सेवकों से उचित व्यवहार किया जाय। सच्चा दान करनेवाला व्यक्ति धर्म को जाने और धर्म का अनुष्ठान करे।

एक अन्य लेख में अशोक ने साधारण विजय और धर्मविजय में भेद किया है। साधारणतया, राजा लोग शस्त्र द्वारा विजय करते हैं, पर धर्मविजय शस्त्रों द्वारा नहीं की जाती। इसके लिये तो औरों का उपकार करना होता है। धर्मविजय के लिये जनता का 'हित और सुख' सम्पादित करना होता है, बुरे मार्ग से हटकर सन्मार्ग पर प्रवृत्त होना होता है, और सब प्राणियों को निरापद, संयमी, शान्त और निर्भय बनाने का उद्योग करना होता है। यह विजय दया और त्याग से प्राप्त की जाती है।

इनके अतिरिक्त धर्म की पूर्णता के लिये कुछ अवगुणों से भी बचने की आवश्यकता है। जहां तक हो सके, 'आसीनव' कम करने चाहिये। पर ये आसीनव हैं क्या ? चण्डता, निष्ठुरता, क्रोध, अभिमान और ईर्ष्या। अशोक ने लिखा है– मनुष्य को यह देखना चाहिये कि चण्डता, निष्ठुरता, क्रोध, अभिमान और ईर्ष्या– ये सब पाप के कारण हैं; और उसे अपने मन में सोचना चाहिये, कि इन सबके कारण मेरी निन्दा न हो। इस बात की ओर विशेष ध्यान देना चाहिये, कि इस मार्ग से मुझे इस लोक में सुख मिलेगा और मेरा परलोक बनेगा।

ऊपर के उदाहरणों से यह स्पष्ट है, कि यद्यपि अशोक स्वयं बौद्ध-धर्म का अनुयायी था, पर उसने जिस धर्मविजय के लिये उद्योग किया, वह किसी सम्प्रदाय-विशेष की न होकर सब धर्मों के सर्वसम्मत सिद्धान्तों का प्रचार ही थी।

(७) धर्म-विजय के उपाय

अशोक ने जिन उपायों से धर्मविजय को संपन्न करने का प्रयत्न किया, उनपर संक्षेप से प्रकाश डालना आवश्यक है। सबसे पूर्व उसने अपने और अपनी प्रजा के जीवन में सुधार करने का उद्योग किया। भारत में जो क्रूरता व अकारण हिंसा प्रचलित थी, उसे अशोक ने रोकने का प्रयत्न किया। 'यहां किसी प्राणी की हत्या या होम न करना चाहिये, और न 'समाज' करना चाहिये। देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा समाज में बहुत दोष देखता है। किंतु एक प्रकार के समाज हैं, जिन्हें देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा अच्छा मानता है। पहले देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा के रसोईघर में शोरवे के लिये प्रतिदिन सैकड़ों-हजारों प्राणी मारे जाते थे। पर अब जब यह धर्मलिपि लिखी गई, केवल तीन प्राणी, दो मोर और एक मृग मारे जाते है, वह मृग भी सदा नहीं। भविष्य में वे तीन प्राणी भी न मारे जावेंगे।'

प्राचीन भारत में 'समाज' का अभिप्राय उन मेलों से था, जिनमें रथों की दौड़ और पशुओं की लड़ाई होती थी और उनपर बाजी लगाई जाती थी। इनमें पशुओं पर अकारण क्रूरता होती थी। ऐसे 'समाज' अशोक को पसंद नहीं थे। परन्तु कुछ ऐसे समाज भी थे, जिनमें गाना-बजाना और अन्य निर्दोष बातें होती थीं। इनमें विमान, हाथी, अग्निस्कंध आदि के दृश्य दिखाये जाते थे। अशोक को ऐसे समाजों से कोई एतराज नहीं था। अशोक ने उन प्राणियों का वध सर्वथा रोक दिया, जो न खाये जाते हैं, और न किसी अन्य उपयोग में ही आते हैं। ऐसे प्राणी निम्नलिखित थे—सुग्गा, मैना, अरुण, चकोर, हंस, नांदीमुख, गेलाड, जतुका (चमगीदड़), अंबाक-पीलिका, कछुआ, बिना हड्डी की मछली, जीवजीवक, गंगापुटक, संकुजमत्स्य, साही, पर्णशश, बारहसिंगा, सांड, ओकपिंड, मृग, सफेद कबूतर और ग्राम के कबूतर। ये सब प्राणी केवल शौक के कारण मारे जाते थे। इन्हें खाने का रिवाज उस समय नहीं था। अशोक ने इस प्रकार की व्यर्थ हिंसा के विरुद्ध अपने शिलालेखों द्वारा आदेश जारी किया था। भोजन के लिये अथवा अन्य उपयोग के लिये जो पशुवध किया जाता है, उसे भी कम करने के लिये अशोक ने प्रयत्न किया था। वह लिखता है—गाभिन या दूध पिलाती हुई बकरी, भेड़ी

और सुअरी तथा इनके बच्चों को, जो छः महीने तक के हों, नहीं मारना चाहिये। मुर्गों को बधिया नहीं करना चाहिये। जीवित प्राणियों को भूसी के साथ नहीं जलाना चाहिये। अनर्थ करने या प्राणियों की हिंसा के लिये वन में आग नहीं लगानी चाहिये, प्रति चार-चार महीनों की, तीन ऋतुओं की तीन पूर्णमासियों के दिन, पौष मास की पूर्णमासी के दिन, चतुर्दशी, अमावस्या और प्रतिपदा के दिन तथा प्रत्येक उपवास के दिन मछली नहीं मारनी चाहिये। इन सब दिनों में हाथियों के वन में तथा तालाबों में दूसरे प्रकार के प्राणी भी नहीं मारे जाने चाहिये।

पशुओं को कष्ट से बचाने के लिये अशोक ने यह भी प्रयत्न किया, कि उन्हें दागा न जाय। इसीलिये पशुओं को दागने में अनेक बाधायें उपस्थित की गई। 'प्रत्येक पक्ष की अष्टमी, चतुर्दशी, अमावस्या व पूर्णिमा तथा पुष्य और पुनर्वसु नक्षत्र के दिन और प्रत्येक चार-चार महीने के त्यौहारों के दिन बैल को नहीं दागना चाहिये। बकरा, भेड़ा, सुअर और इसी तरह के दूसरे प्राणियों को, जो दागे जाते हैं, नहीं दागना चाहिये। पुष्य और पुनर्वसु नक्षत्र के दिन और प्रत्येक चातुर्मास्य के शुक्लपक्ष में घोड़े और बैल को नहीं दागना चाहिये।

इन सब आदेशों का प्रयोजन यही था, कि व्यर्थ हिंसा न हो और लोगों में दया तथा अहिंसा की ओर प्रवृत्ति हो। अशोक अपने साम्राज्य में एक ऐसे वातावरण को उत्पन्न करने का प्रयत्न कर रहा था, जिससे लोगों की प्रवृत्ति धर्ममार्ग की तरफ हो सके।

धर्मविजय के लिये ही अशोक ने धर्म-यात्राओं का प्रारंभ किया। यात्रा तो पहले सम्राट् भी करते थे, पर इनका उद्देश्य आनंद व मौज होता था। वे विहार-यात्रायें करते थे, धर्म-यात्रा नहीं। अशोक ने धर्मयात्राओं का प्रारंभ किया। इनम शिकार आदि द्वारा समय नष्ट न करके श्रमणों, ब्राह्मणों और वृद्धों का दर्शन, उन्हें दान देना, जनपद में निवास करनेवाली जनता के पास जाकर उन्हें उपदेश देना और धर्मविषयक विचार करना होता था। अशोक को इस प्रकार की धर्म-यात्राओं से बहुत आनंद प्राप्त होता था।

अपने राजकर्मचारियों को अशोक ने यह आदेश दिया, कि वे जनता के कल्याण के लिये निरंतर प्रयत्नशील रहें, किसी को अकारण दंड न दें और किसी के साथ कठोरता का बर्ताव न करें। यदि उसके राजकर्मचारी इन बातों का ध्यान न रखेंगे, तो धर्मविजय कैसे हो सकेगी? उसने लिखा है—'देवताओं के प्रिय की तरफ से तोसाली के महामात्य नगरव्यावहारिकों (न्यायाधीशों) को ऐसे कहना। आप

लोग हजारों प्राणियों के ऊपर इसलिये नियुक्त किये गये हैं, कि जिससे हम अच्छे मनुष्यों के स्नेहपात्र बनें। आप लोग इस अभिप्राय को भलीभांति नहीं समझते। एक पुरुष भी यदि बिना कारण (बिना अपराध) बांधा जाता है, या परिक्लेश पाता है, तो उससे बहुत लोगों को दुःख पहुंचता है। ऐसी दशा में आपको मध्यमार्ग से (अत्यंत कठोरता और अत्यंत दया दोनों का त्याग कर) चलना चाहिये। किंतु ईर्ष्या निठल्लापन निठुरता जल्दबाजी अनभ्यास आलस्य और तंद्रा के रहते ऐसा नहीं हो सकता। इसलिये ऐसी चेष्टा करनी चाहिये, कि ये (दोष) न आवें। इसका भी मूल उपाय यह है, कि सदा आलस्य से बचना और सचेष्ट रहना। इसलिये सदा काम करते रहो, उठो, चलो, आगे बढ़ो। नगरव्यावहारिक सदा अपने समय (प्रतिज्ञा) पर दृढ़ रहें। नगरजन का अकारण बंधन और अकारण परिक्लेश न हो। इस प्रयोजन के लिये मैं धर्मानुसार प्रति पांचवें वर्ष अनुसंधान के लिये निकलूंगा। उज्जैनी से भी कुमार हर तीसरे वर्ष ऐसे ही वर्ग को निकालेगा और तक्षशिला से भी।'

इस प्रकार के आदेशों का उद्देश्य यही था, कि साम्राज्य का शासन निर्दोष हो, राजकर्मचारी जनता के कल्याण में तत्पर रहें और किसी पर अत्याचार न होने पावे। यह सब किये बिना धर्मविजय की आशा ही कैसे की जा सकती थी? सुशासन की स्थापना के लिये ही अशोक ने यह व्यवस्था की, कि 'सब समयों में, चाहे मैं खाता होऊं, चाहे जनाने में होऊं, चाहे शयनागार में होऊं, प्रतिवेदक हर समय प्रजा का कार्य मुझे बतावें। मैं सब जगह प्रजा का कार्य करूंगा।'

धर्मविजय के लिये मार्ग को साफ करने के लिये यह भी परम आवश्यक था, कि विविध संप्रदायों में मेल-जोल पैदा किया जाय। उस समय भारत में अनेक मतों और संप्रदायों की सत्ता थी। इनमें परस्पर विरोध का रहना स्वाभाविक था। अशोक ने इस तरफ भी ध्यान दिया। उसने लिखा है—'देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा विविध दान व पूजा से गृहस्थ व संन्यासी, सब संप्रदायवालों का सत्कार करते हैं। किंतु देवताओं के प्रिय दान या पूजा की इतनी परवाह नहीं करते, जितनी इस बात की कि सब संप्रदायों के सार (तत्त्व) की वृद्धि हो। संप्रदायों के सार की वृद्धि कई प्रकार से होती है, पर उसकी जड़ वाणी का संयम है, अर्थात् लोग केवल अपने ही संप्रदाय का आदर और बिना कारण दूसरे संप्रदाय की निंदा न करें। केवल विशेष-विशेष कारणों के होने पर ही निंदा होनी चाहिये। क्योंकि किसी न किसी कारण से सब संप्रदायों का आदर करना लोगों का कर्तव्य है। ऐसा करने से अपने संप्रदाय की उन्नति और दूसरे संप्रदायों का उपकार होता

है। इसके विपरीत जो करता है, वह अपने संप्रदाय को भी क्षति पहुंचाता है, और दूसरे संप्रदायों का भी अपकार करता है। क्योंकि जो कोई अपने संप्रदाय की भक्ति में आकर, इस विचार से कि मेरे संप्रदाय का गौरव बढ़े, अपने संप्रदाय की प्रशंसा करता है और दूसरे संप्रदाय की निंदा करता है, वह वास्तव में अपने संप्रदाय को पूरी हानि पहुंचाता है। समवाय (मेल-जोल) अच्छा है, अर्थात् लोग एक दूसरे के धर्म को ध्यान देकर सुनें और उसकी सेवा करें। क्योंकि देवताओं के प्रिय की यह इच्छा है, कि सब संप्रदायवाले बहुत विद्वान और कल्याण का कार्य करने वाले हों। इसलिये जहां-जहां जो संप्रदायवाले हों, उनसे कहना चाहिये कि देवताओं के प्रिय दान या पूजा को इतना बड़ा नहीं मानते, जितना इस बात को कि सब संप्रदायों के सार (तत्त्व) की वृद्धि हो।'

जनता को यह बात समझाने के लिये, कि वे केवल अपने ही संप्रदाय का आदर न करें, अपितु अन्य मतमतांतरों को भी सम्मान की दृष्टि से देखें, सब मत वाले वाणी के संयम से काम लें, और परस्पर मेल जोल से रहें, अशोक ने धर्म-महामात्रों की नियुक्ति की। उनके साथ ही स्त्री महामात्र, व्रजभूमिक तथा अन्य राजकर्मचारिगण यही बात लोगों को समझाने के लिये नियत किये गये।

इन्हीं धर्ममहामात्रों की नियुक्ति के प्रयोजन को एक अन्य लेख में भली भांति स्पष्ट किया गया है—'बीते जमानों में धर्ममहामात्र कभी नियुक्त नहीं हुए। इस लिये मैंने राज्याभिषेक के तेरहवें वर्ष में धर्ममहामात्र नियुक्त किये। वे सब पाषण्डों (संप्रदायों) के बीच नियत हैं। वे धर्म के अधिष्ठान के लिये, धर्म की वृद्धि के लिये तथा धर्मयुक्त लोगों के सुख के लिये हैं।....वे भृत्यों, ब्राह्मणों, धनी गृहपतियों, अनाथों, बूढ़ों के बीच हित-सुख के लिये, धर्मयुक्त प्रजा की अपरि-बाधा (बाधा से बचाने) के लिये संलग्न हैं। बंधन और वध को रोकने के लिये, बाधा से बचाने के लिये, कैद से छुड़ाने के लिये, जो बहुत संतानवाले हैं, बूढ़े हैं उनके बीच में वे व्यापृत हैं। वे यहां पाटलिपुत्र में बाहर के नगरों में, सब अंतः-पुरों में, (मेरे) भाइयों के, बहनों के और अन्य जातियों के बीच सब जगह व्यापृत हैं। मेरे सारे विजित (साम्राज्य) में, धर्मयुक्त में वे धर्ममहामात्र व्यापृत हैं।'

इस प्रकार स्पष्ट है, कि धर्ममहामात्रों तथा उनके अधीनस्थ कर्मचारियों का काम यह था, कि वे सब संप्रदायों में मेल कायम करायें, जनता के हित और सुख के लिये यत्न करें, धर्मानुकूल आचरण करनेवाली प्रजा को सब प्रकार की बाधाओं से बचाये रखें, शासन में किसी पर कठोरता न हो, कोई व्यर्थ कैद न किया जावे, और किसी की व्यर्थ हत्या न हो। जो गरीब लोग हैं, या जिनपर

गृहस्थी की अधिक जिम्मेदारियां हैं, ऐसे लोगों के साथ विशेष रियायत का बर्ताव हो। धर्ममहामात्र इन्हीं बातों के लिये सब नगरों में, सब संप्रदायों में व अन्यत्र नियुक्त किये गये थे।

ये धर्ममहामात्र केवल मौर्य-साम्राज्य में ही नहीं, अपितु सीमांतवर्ती स्वतंत्र राज्यों में भी नियत किये गये। अपने 'विजित' में भलीभांति धर्मस्थापना हो जाने के बाद अन्य देशों में भी धर्म द्वारा विजय का प्रयास शुरू किया गया। अशोक ने अपने शिलालेखों में इन सब राज्यों के नाम दिये है। सुदूर दक्षिण में चोल, पांड्य, केरल, सातियपुत्र और ताम्रपर्णी तथा पश्चिम में अंतियोक का यवन-राज्य तथा उससे भी परे के तुरुमय, मक, अलिकसुन्दर और अंतिकिनि द्वारा शासित राज्य, सर्वत्र अशोक ने धर्ममहामात्रों की नियुक्ति की। ये धर्ममहामात्र अपने धर्मविजय के उद्योग में केंवल विविध संप्रदायों में मेल-जोल का ही यत्न नहीं करते थे, पर उनके सम्मुख कुछ ठोस काम भी था। "देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा यों कहता है—मैंने सब चगह मार्गों पर बरगद के वृक्ष लगवा दिये हैं, ताकि पशुओं और मनुष्यों को छाया मि े। आमों की वाटिकायें लगवा दी हैं। आठ-आठ कोस पर मैंने कुएं खुदवाये है, और सरायें बनवाई है। जहां-तहां पशुओं और मनुष्यों के आराम के लिये बहुत-से प्याऊ बैठा दिये हैं। किंतु ये सब आराम बहुत थोड़े हैं। पहले राजाओं ने और मैंने विविध सुखों से लोगों को सुखी किया है। पर मैंने यह सब इसलिये किया है, कि लोग धर्म का आचरण करें।

देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा के विजित (साम्राज्य) में सब स्थानों पर और वैसे ही जो सीमांतवर्ती राजा हैं, वहां, जैसे चोल, पांड्य, सातियपुत्र, केरल-पुत्र और ताम्रपर्णी में और अंतियोक नामक यवन राजा तथा जो उसके (अंतियोक के) पड़ोसी राजा हैं, उन सब देशों में देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने दो प्रकार की चिकित्सा—एक मनुष्यों की और दूसरी पशुओं की चिकित्सा—का प्रबंध किया है, और जहां पर मनुष्यों और पशुओं की चिकित्सा के लिये उपयुक्त औषधियां नहीं प्राप्त होती थीं, वहां लाई और लगाई गई है। इसी तरह से मूल और फल भी जहां नहीं थे, वहां लाये और लगाये गये हैं। मार्गों में पशुओं और मनुष्यों के आराम के लिये वृक्ष लगाये और कुएं खुदवाये गये हैं।

"यह धर्मविजय देवताओं के प्रिय ने यहां (अपने साम्राज्य में) तथा छः सौ योजन दूर पड़ोसी राज्यों में प्राप्त की है। जहां अंतियोक नामक यवन-राजा राज्य करता है। और उस अंतियोक से परे तुरमय, अंतिकिनि, मक और अलिक-

सुन्दर नाम के राजा राज्य करते हैं, और उन्होंने अपने राज्य के नीचे (दक्षिण में) चोल, पांड्य, तथा ताम्रपर्णी में भी धर्मविजय प्राप्त की है।....सब जगह लोग देवताओं के प्रिय के धर्मानुशासन का अनुसरण करते हैं, और अनुसरण करेंगे। जहां देवताओं के प्रिय के दूत नहीं जाते, वहां भी लोग देवताओं के प्रिय का धर्माचरण, धर्मविधान और धर्मानुशासन सुनकर धर्म के अनुसार आचरण करते हैं, और भविष्य में करेंगे।"

विदेशों में धर्मविजय के लिये जो महामात्य नियत किये गये थे, वे अंत-महामात्र कहलाते थे। इनका कार्य उन देशों में सड़कें बनवाना, सड़कों पर वृक्ष लगवाना, कुएं खुदवाना, सराय बनवाना, प्याऊ बिठाना, पशुओं और मनुष्यों की चिकित्सा के लिये चिकित्सालय खुलवाना और इसी प्रकार के अन्य उपायों से जनता का हित और कल्याण संपादित करना था। जहां ये अंतमहामात्र इन उपायों से लोगों का हित और सुख करते, वहां साथ ही अशोक का धर्मसंदेश भी सुनाते। वह धर्मसंदेश यही था, सब संप्रदायों में मेल-मिलाप, सब धर्माचार्यों—ब्राह्मणों और श्रमणों—का आदर, सेवक, दास आदि से उचित व्यवहार, व्यर्थ-हिंसा का त्याग, माता-पिता व गुरुजनों की सेवा और प्राणिमात्र की हितसाधना। अशोक की ओर से सुदूरवर्ती विदेशी राज्यों में धर्म द्वारा विजय करने के लिये जो अंतमहामात्र अपने कर्मचारियों की फौज के साथ नियुक्त हुए, वे उन देशों में चिकित्सालय खोलकर, मुफ्त दवा देकर, धर्मशाला और कुएं बनवाकर, सड़कें, प्याऊ और वाटिकायें तैयार कराके जनता की सेवा करते थे। उस समय के राजा लोग प्रायः पारस्परिक युद्धों में व्यस्त रहते थे। उन्हें अपनी शक्ति और वैभव के अतिरिक्त अन्य किसी बात का खयाल नहीं था। जनता के हित और सुख की बात पर वे कोई ध्यान नहीं देते थे। ऐसी दशा में अशोक के इन लोकोपकारी कार्यों का यह परिणाम हुआ, कि लोग अपने इन महामात्रों को बड़ी श्रद्धा की दृष्टि से देखने लगे। जिस धर्म के अनुयायी इस प्रकार परोपकार के लिये अपने तन, मन और धन को निछावर कर सकते हैं, उसके लिये लोगों में स्वाभाविक रूप से श्रद्धा का भाव उत्पन्न हुआ। साधारण जनता के लिये वही राजा है, वही स्वामी है, जो उनके हित-अहित और सुख-दुःख का ध्यान रखे, और उनके आराम के लिये चिकित्सालय, कूप, धर्मशाला आदि का प्रबंध करे। इसी का परिणाम हुआ, कि इन सब विदेशी राज्यों में खून की एक भी बूंद गिराये बिना केवल परोपकार और प्रेम द्वारा अशोक ने अपना धर्म-साम्राज्य स्थापित कर लिया।

अशोक की इस धर्मविजय की नीति का ही यह परिणाम हुआ, कि अन्य

देशों में बौद्ध-धर्म के प्रचार के लिये रास्ता साफ हो गया। जिन देशों में अशोक के अंतमहामात्र लोककल्याण के कार्यों में लगे थे, वहां जब बौद्ध-प्रचारक गये, तो उन्हें अपने कार्य में बहुत सुगमता हुई।

(८) अशोक और बौद्ध-धर्म

सम्राट् अशोक पहले बौद्ध-धर्म का अनुयायी नहीं था। प्रसिद्ध बौद्ध-ग्रंथ दिव्यावदान की एक कथा के अनुसार जब अशोक ने राजगद्दी प्राप्त की, तो वह बहुत क्रूर और अत्याचारी था। एक बार अमात्यों ने उसकी आज्ञा का पालन नहीं किया, तो अशोक को बहुत क्रोध आया। क्रोध में अपनी तलवार को म्यान से खींचकर उसने पांच सौ अमात्यों के सिरों को धड़ से अलग कर दिया। एक और दिन की बात है, कि अंतःपुर की स्त्रियों ने, जो अशोक के कुरूप होने के कारण हंसा करती थीं, एक अशोक-वृक्ष के पत्तों को तोड़ दिया। नामसाम्य के कारण अशोक इस वृक्ष को बहुत चाहता था। उसे बहुत क्रोध आया और पांच सौ स्त्रियों को जीते-जी आग में जला दिया।

जब अमात्यों ने देखा कि राजा इस प्रकार अत्याचार कर रहा है, तो उन्होंने उससे प्रार्थना की कि आप अपने हाथों को इस प्रकार अपवित्र न कीजिये। क्यों नहीं आप अपराधियों को दंड देने के लिये किसी अन्य व्यक्ति को नियुक्त कर लेते? राजा को यह बात समझ में आ गई। उसने चंडगिरिक नाम का एक आदमी इस काम के लिये नियत कर दिया, जो बहुत ही क्रूर था। प्राणियों को कष्ट देने में उसे बड़ा आनन्द आता था। वह इतना क्रूर था, कि अपने माता-पिता को उसने स्वयं अपने हाथ से मारा था। इस भयानक आदमी को प्रधान 'वध्यघातक' के पद पर नियत करके एक भयंकर जेलखाना बनवाया गया। इसका बाह्य रूप बड़ा सुन्दर और दर्शनीय था। लोग उसे देखते ही मोहित हो जाते और सोचते कि अंदर जाकर भी इस रमणीक स्थान को देखें। पर अंदर जाते ही उनपर घोर संकट आ पड़ते थे। राजा की आज्ञा थी, कि जो आदमी इस कारागार में पहुंच जावे, उसे जीता न छोड़ा जाय, अपितु नानाविध कष्ट देकर उसकी हत्या कर दी जाय।

जो कोई भी इस जेलखाने में जाता, बचकर न लौट पाता। एक बार बाल-पंडित नाम का एक भिक्षु वहां चला गया। उसे भी चंडगिरिक ने जलती हुई भट्टी में डाल दिया। परन्तु भट्टी में डालकर जब वध्यघातक नीचे देखने लगा, तो उसने एक बहुत ही विचित्र दृश्य देखा। बालपंडित एक कमल पर बैठा हुआ था, चारों तरफ ज्वालायें उठ रही थीं, परन्तु वे भिक्षु का कुछ भी नहीं बिगाड़

सकती थीं। इस चमत्कार की सूचना राजा को मिली, तो वह स्वयं देखने के लिये आया और अपनी आंखों से बालपंडित के प्रताप को देखकर आश्चर्यचकित रह गया। भिक्षु ने उसे उपदेश दिया। अशोक पर इस उपदेश का बड़ा प्रभाव पड़ा और वह क्रूरता का परित्याग कर बौद्ध-धर्म का अनुयायी हो गया।

दिव्यावदान की यही कथा कुछ परिवर्तनों के साथ अन्य बौद्ध-ग्रंथों में भी पाई जाती है। ऐसा प्रतीत होता है, कि बौद्ध-धर्म के उत्तम प्रभाव को प्रदर्शित करने के लिये इन ग्रंथों में अशोक को अत्यंत क्रूर और अत्याचारी दिखाया गया है। कुछ भी हो, यह स्पष्ट है, कि अशोक पहले बौद्ध नहीं था। बाद में उसने बौद्ध-धर्म को स्वीकार किया। कलिंग-विजय के बाद उसके जीवन में जो परिवर्तन आया था, हम उसका उल्लेख कर चुके हैं। पर बौद्ध-धर्म के प्रति उसका झुकाव पहले ही हो चुका था। क्रूरता और अत्याचारमय जीवन से ऊबकर उसने बौद्ध-भिक्षुओं के शांतिमय उपदेशों में संतोष अनुभव करना प्रारंभ कर दिया था। कलिंग-विजय में उसे जो अनुभव हुए, उन्होंने उसकी वृत्ति को बिलकुल बदल दिया। अशोक ने बौद्ध-धर्म की दीक्षा संभवतः राजगद्दी पर बैठने के आठ वर्ष बाद ली थी।

बौद्ध-धर्म को ग्रहण करने के बाद अशोक ने सब बौद्ध-तीर्थों की यात्रा की। अमात्यों के परामर्श के अनुसार इस यात्रा में उपगुप्त नाम के एक प्रसिद्ध आचार्य की सहायता ली गई। उपगुप्त मथुरा के समीप नतभक्तिकारण्य में उरुमुंड पर्वत पर निवास करते थे। इस संसारप्रसिद्ध आचार्य के साथ अठारह हजार भिक्षु और रहते थे। जब राजा ने उपगुप्त की विद्वत्ता और धर्मज्ञान के विषय में सुना, तो अपने मंत्रियों को बुलाकर कहा कि हाथी-घोड़े-रथ आदि तैयार करा दो, मैं उरु-मुंडशैल जाऊंगा और भिक्षु उपगुप्त के दर्शन करूंगा। यह सुनकर मंत्रियों ने कहा—देव! यान आदि भेज दीजिये, उपगुप्त ही यहां चला आयगा, आपको उसके पास जाने की आवश्यकता नहीं। राजा ने उत्तर दिया—हम इस योग्य नहीं हैं, कि उपगुप्त यहां आवें, हमीं को वहां जाना चाहिये। पर जब उपगुप्त को मालूम हुआ कि राजा बहुत-से लोगों के साथ मेरे पास आ रहा है, तो उसने सोचा कि राजा के मेरे पास आने से बहुत-से मनुष्यों और पशुओं को व्यर्थ कष्ट होगा। उसने अशोक को कहला भेजा कि मैं स्वयं ही पाटलिपुत्र आ जाऊंगा। यह जानकर अशोक ने स्थविर उपगुप्त तथा उसके अनुयायियों के पाटलिपुत्र जाने का समुचित प्रबंध कर दिया। बहुत-सी नौकायें यमुना के तट पर एकत्र की गईं। इनमें उपगुप्त और अठारह हजार भिक्षु सवार हुए। मथुरा से प्रयाग तक यमुना में नौकाओं पर यात्रा

करते हुए भिक्षुओं की यह विशाल मंडली फिर गंगा द्वारा पाटलिपुत्र पहुंच गई। जिस आदमी ने पहले पहल अशोक को उपगुप्त के आगमन का समाचार दिया, प्रसन्न होकर अशोक ने उसे अपने शरीर से उतारकर चार हजार का एक हार इनाम में दे दिया। फिर 'घांटिक' को बुलाकर आज्ञा दी—सारे शहर में एक साथ घंटे बजाये जावे, ताकि जनता को मालूम हो जाय कि आचार्य उपगुप्त पधार गये हैं।

उपगुप्त के स्वागत के लिये सारे पाटलिपुत्र को सजाया गया। अशोक स्वयं आचार्य को लिवाने के लिये ३½ कोस आगे तक गये। संपूर्ण 'पौर' और अमात्य उनके साथ थे। ज्योंही अठारह हजार भिक्खुओं से घिरे हुए स्थविर उपगुप्त को अशोक ने देखा, वह हाथी से नीचे उतर गया। कुछ कदम पैदल चलकर वह उपगुप्त के पास पहुंचा और एक पैर नदी के तीर पर और दूसरा नाव पर रखकर उसने स्वयं उपगुप्त को नाव से नीचे उतारा और फिर इस तरह उसके पैरों पर गिर पड़ा, जैसे जड़ से कटा हुआ वृक्ष। फिर हाथ जोड़कर अशोक ने कहा—'जब मैंने शत्रुगण का नाश कर शैलों समेत यह पृथिवी प्राप्त की, जिसके समुद्र ही आवरण हैं, और जिसपर राज्य करनेवाला अन्य कोई नहीं है, तब भी मुझे वह सुख नहीं मिला, जो आज आपको देखकर मिला है।' स्थविर उपगुप्त ने अशोक के सिर पर अपना दायां हाथ फेरते हुए आशीर्वाद दिया—'राज्य के सब कार्य को बिना प्रमाद के भली भांति करते रहो और तीनों दुर्लभ रत्नों (बुद्ध, धम्म और संघ) की सदा पूजा करते रहो।' सम्राट् और स्थविर में देर तक बात होती रही। बाद में अशोक ने उससे कहा—'हे स्थविर! मेरी इच्छा है, कि मै उन सब स्थानों का दर्शन करूं, जहां भगवान् बुद्ध ठहरे थे। उन स्थानों का मैं सम्मान करूं और वहां ऐसे स्थिर निशान छोड़ जाऊं, जिससे भविष्य में आनेवाली संतति को शिक्षा मिलती रहे।'

स्थविर ने उत्तर दिया—'साधु-साधु! तुम्हारे हृदय में बहुत ही उत्तम विचार उत्पन्न हुआ है। मैं तुम्हें मार्ग दिखाने का काम बड़ी प्रसन्नता से करूंगा।'

इस प्रकार आचार्य उपगुप्त के मार्गप्रदर्शन में अशोक ने तीर्थयात्रा प्रारंभ की। पाटलिपुत्र से ये पहले चंपारन जिले के उन स्थानों पर गये, जहां अशोक के पांच विशाल प्रस्तरस्तंभ प्राप्त हुए हैं। वहां से हिमालय की तराई के प्रदेश में से होते हुए ये पश्चिम की ओर मुड़ गये और लुम्बिनीवन जा पहुंचे। यहीं पर भगवान् बुद्ध का जन्म हुआ था। इस जगह पहुंचकर उपगुप्त ने अपना दायां हाथ फैलाकर कहा—'महाराज! इसी प्रदेश में भगवान् का जन्म हुआ था।' ये शब्द अब

तक इस स्थान पर स्थित एक प्रस्तर-स्तंभ पर उत्कीर्ण हैं। इस स्तंभ पर जो लेख है, वह भी बड़ा महत्त्वपूर्ण है–"देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने राज्याभिषेक के बीस वर्ष बाद स्वयं आकर इस स्थान की पूजा की। यहां शाक्यमुनि बुद्ध का जन्म हुआ था। इसलिये यहां पत्थर का एक विशाल स्तंभ और एक बृहत् दीवार खड़ी की गई। यहां भगवान् का जन्म हुआ था, इसलिये लुम्बिनी ग्राम का धार्मिक कर उठा दिया गया और (भूमि-कर के रूप में केवल) आठवां भाग लेना निश्चित किया गया।" लुम्बिनीवन मे अशोक ने बहुत दान-पुण्य किया। फिर वह कपिलवस्तु गया, वहां उपगुप्त ने फिर अपना दायां हाथ फैलाकर कहा–'महाराज, इस स्थान पर बोधिसत्व ने राजा शुद्धोदन के घर में अपना बाल्यकाल व्यतीत किया था।'

दिव्यावदान के अनुसार कपिलवस्तु के बाद राजा अशोक बोधिवृक्ष के दर्शनों को गये। यहां भगवान् को बोध हुआ था। अशोक ने यहां आकर एक लाख सुवर्ण-मुद्रायें दान कीं। एक चैत्य भी इस जगह पर बनवाया गया। बोधिवृक्ष के बाद स्थविर उपगुप्त अशोक को सारनाथ ले गया, जहां भगवान् ने पहले-पहल धर्मचक्र का प्रवर्तन किया था। सारनाथ के बाद अशोक कुशीनगर गया, जहां भगवान् ने निर्वाणपद प्राप्त किया था। उपगुप्त अशोक को श्रावस्ती और जेतवन भी ले गया। इन स्थानों के साथ महात्मा बुद्ध के जीवन की घटनाओं का घनिष्ठ संबंध है। साथ ही सारिपुत्र, मौद्गल्यायन महाकश्यप आदि प्राचीन बौद्ध-आचार्यों के स्थानों के भी दर्शन किये गये और वहां भी बहुत कुछ दान-पुण्य हुआ। बुद्ध के प्रसिद्ध शिष्य आनंद के स्तूप पर अशोक ने साठ लाख सुवर्ण-मुद्रायें अर्पित की।

बौद्ध होकर अशोक ने कुछ ऐसे आदेश भी दिये, जो केवल बौद्ध लोगों के ही काम के थे। एक शिलालेख में उसने लिखवाया है–'मगध के प्रियदर्शी राजा संघ को अभिवादन (पूर्वक संबोधन करके) कहते हैं, कि वे विघ्नहीन और सुख से रहें। हे भदंतगण! आपको मालूम है, कि बुद्ध, धम्म और संघ में हमारी कितनी भक्ति और आस्था है। हे भदंतगण! जो कुछ भगवान् बुद्ध ने कहा है, सो सब अच्छा कहा है। पर भदंतगणं! मैं अपनी ओर से (कुछ ऐसे ग्रंथों के नाम लिखता हूं, जिन्हें मैं अवश्य पढ़ने योग्य समझता हूं)। हे भदंतगण! (इस विचार से कि) इस प्रकार सद्धर्म चिरस्थायी रहेगा, मैं इन धर्मग्रंथों (के नाम लिखता हूं); यथा–विनयसमुकसे (विनयसमुत्कर्षः), अलियवसानि (आर्यवंशः), अनागतभयानि, मुनिगाथा, मोनेयसूते (मौनेयसूत्रम्), उपतिसपसिने (उपतिष्यप्रश्नाः),

राहुलवाद, जिसे भगवान् बुद्ध ने झूठ बोलने के बारे में कहा है। इन धर्मग्रंथों को, हे भदंतगण ! मैं चाहता हूं, कि बहुत-से भिक्षुक और भिक्षुणी बार-बार श्रवण करें और धारण करें और इसी प्रकार उपासक और उपासिका भी (सुनें और धारण करें) । हे भदंतगण ! मैं इसलिये यह लेख लिखवाता हूं, कि लोग मेरा अभिप्राय जानें ।'

यह शिलालेख बड़े महत्त्व का है। इससे यह ज्ञात होता है, कि अशोक को किन बौद्ध-ग्रंथों से विशेष प्रेम था। इन ग्रंथों में बौद्ध धर्म के विधि-विधानों और पार-लौकिक विषयों का वर्णन न होकर सदाचार और जीवन को ऊंचा करने के सामान्य नियमों का उल्लेख है। अशोक की दृष्टि यही थी, कि बौद्ध लोग (भिक्षु और उपासक) भी धर्म के तत्त्व (सार) पर विशेष ध्यान दें।

बौद्ध-धर्म के संबंध में अशोक का एक अन्य कार्य बहुत महत्त्वपूर्ण है। बौद्ध-संघ में फूट न पड़े, इसके लिये उसने उद्योग किया। इस विषय में अशोक के तीन लेख उपलब्ध हुए हैं—

"देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ऐसा कहते हैं, कि पाटलिपुत्र में तथा प्रांतों में कोई संघ में फूट न डाले। जो कोई, चाहे वह भिक्षु हो या भिक्षुणी, संघ में फूट डालेगा, उसे सफेद कपड़े पहनाकर उस स्थान पर रख दिया जायेगा, जो भिक्षुओं या भिक्षुणियों के लिये उपयुक्त नहीं है। (अर्थात् उसे भिक्षुसंघ से बहिष्कृत कर दिया जायगा, हमारी यह आज्ञा भिक्षुसंघ और भिक्षुणीसंघ को बता दी जाय)। देवताओं के प्रिय ऐसा कहते हैं, इस तरह का एक और लेख आप लोगों के पास भेजा गया है, जिससे कि आप लोग उसे याद रखें। ऐसा ही एक लेख आप उपासकों के लिये भी लिख दें, जिससे कि वे हर उपवास के दिन इस आज्ञा के मर्म को समझें। साल भर प्रत्येक उपवास के दिन हर एक महामात्र उपवास-व्रत का पालन करने के लिये इस आज्ञा के मर्म को समझाने तथा इसका प्रचार करने के लिये जायगा। जहां-जहां आप लोगों का अधिकार हो, वहां-वहां आप सर्वत्र इस आज्ञा के अनुसार प्रचार करें। इसी प्रकार आप लोग सब कोटों (दुर्गों) और विषयों (प्रांतों) में भी इस आज्ञा को भेजें।"

"देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा कौशांबी के महामात्रों को इस प्रकार आज्ञा देते हैं—संघ के नियम का उल्लंघन न किया जाय। जो कोई संघ में फूट डालेगा, उसे श्वेत वस्त्र पहनाकर उस स्थान से हटा दिया जायगा, जहां भिक्षु या भिक्षुणियां रहते हैं।"

"भिक्षु और भिक्षुणी, दोनों के लिये (संघ का) मार्ग नियत किया गया

है।....जो कोई भिक्षु या भिक्षुणी संघ में फूट डालेगा, उसे उस स्थान से हटा दिया जायगा, जो भिक्षुओं और भिक्षुणियों के लिये नियत है। मेरी इच्छा है, कि संघ का मार्ग स्थिर रहे।"

सारनाथ, प्रयाग और साञ्ची में प्राप्त ये तीन शिलालेख संघ में एकता कायम रखने के लिये अशोक द्वारा किये गये प्रयत्नों का वर्णन करते हैं। संघ में फूट न हो, इसके लिये अशोक तुला हुआ था। बुद्ध की मृत्यु के बाद ही संघ में मतभेद शुरू हो गये थे। अशोक से पूर्व इन्हीं मतभेदों को दूर कर, एकता स्थापित करने के लिये, बौद्धों की दो महासभायें हो चुकी थीं। पर मतभेद अभी तक विद्यमान थे। अशोक की यह इच्छा थी, कि यह फूट अधिक न बढ़े। इस आदेश के पालन का उत्तरदायित्व धर्ममहामात्रों को दिया गया था। जहां उनका काम यह था, कि विविध संप्रदायों में समवाय (मेलजोल) कायम करें, वहां बौद्ध-संघ में फूट को रोकने का कार्य भी उन्हीं के सुपुर्द किया गया था। बौद्ध होने के नाते अशोक अपनी राज्यशक्ति का प्रयोग इस उद्देश्य से भी कर रहा था, कि बौद्ध-संघ में एकता बनी रहे।

अशोक स्वयं बौद्ध था, पर सब धर्मों के प्रति उसके हृदय में आदर था। उसने जहां विविध संप्रदायों में समवाय स्थापित करने का उद्योग किया, वहां अन्य संप्रदायों को दान भी दिया। गया के समीप बराबर पहाड़ियों में तीन गुहामंदिर उपलब्ध हुए हैं, जिन्हें अशोक ने आजीवक संप्रदाय को दिया था। इस सम्बन्ध में वहां तीन लेख भी उत्कीर्ण हैं।

(९) कुमार कुनाल

अशोक के समय में भी तक्षशिला में विद्रोह जारी रहे। इन विद्रोहों का उल्लेख दिव्यावदान में किया गया है। प्रतीत होता है, कि विशाल मागध-साम्राज्य के उत्तर-पश्चिमी प्रदेश में अभी तक भी पूर्ण शांति स्थापित नहीं हुई थी। वहां के महामात्यों को शासन में अधिक कठोर उपायों का अवलंबन करना पड़ता था, और इसीलिये वहां विद्रोह भी बहुधा होते रहते थे। ऐसे एक विद्रोह को शांत करने के लिये अशोक ने अपने बड़े कुमार कुनाल को भेजा था, और उसे अपने प्रयत्न में पूर्ण सफलता भी हुई थी। विद्रोह को शांत करने के बाद कुनाल तक्षशिला में प्रांतीय शासक के रूप में कार्य करता रहा। वहां वह बहुत लोकप्रिय था।

कुनाल अशोक का ज्येष्ठ पुत्र था। उसे वह बहुत प्रिय भी था। उसकी आंखें

हिमालय के कुनाल पक्षी के समान सुंदर थीं, इसीलिये उसका नाम कुनाल पड़ा था। वह देखने में बहुत सुंदर तथा प्रकृति से अत्यंत सुकुमार था। उसका विवाह काञ्चनमाला नाम की परम सुंदरी युवती से हुआ था। कुनाल और काञ्चनमाला का गृहस्थ-जीवन बड़ा सुखी और प्रेममय था। वृद्धावस्था में अशोक ने तिष्य-रक्षिता से विवाह किया। वह उज्जैन के एक संपन्न श्रेष्ठी की कन्या थी और परम रूपवती थी। बूढे अशोक से उसे संतोष नहीं हुआ। युवक कुनाल पर वह मोहित हो गई। उसके सुन्दर रूप और आकर्षक आंखों ने युवती तिष्यरक्षिता को पागल कर दिया था। एक बार एकांत में तिष्यरक्षिता ने कुनाल के सामने अपना प्रेम प्रगट किया। पर अपनी विमाता के प्रेम की कुनाल ने कोई परवाह नहीं की। वह उसे अपनी माता समझता था, और माता के समान ही उससे व्यवहार करता था। धीरे-धीरे तिष्यरक्षिता का निराश प्रेम भयंकर द्वेष के रूप में परिवर्तित हो गया, और उसने कुनाल से बदला लेने का निश्चय किया। कुनाल ने तिष्यरक्षिता के प्रेम को अस्वीकार कर उसका घोर अपमान किया था, अब वह उससे बदला लेने को कटिबद्ध हो गई थी।

एक बार अशोक बीमार पड़ा। यद्यपि तिष्यरक्षिता अशोक से जरा भी प्रेम नहीं करती थी, पर इस बार उसने राजा की बड़ी सेवा की। तिष्यरक्षिता की सेवा से अशोक स्वस्थ हो गया। बीमारी के समय अशोक की सारी चिकित्सा और उपचार तिष्यरक्षिता के ही हाथ में था। राजा उससे बहुत प्रसन्न हुआ। प्रसन्न होकर उसने एक सप्ताह के लिये सारा राज्यकार्य और राजमुद्रा तिष्य-रक्षिता के सुपुर्द कर दी। वह इसी अवसर की प्रतीक्षा में थी। उसने एक कपट-लेख तैयार कराया और उसपर अशोक की राजमुद्रा लगा दी। यह कपटलेख तक्ष-शिला के महामात्यों के नाम था। उन्हें यह आज्ञा दी गई थी, कि कुनाल की आंखें निकाल ली जायं। जब यह आज्ञापत्र तक्षशिला पहुंचा, तो वहां के अमात्यों को बड़ा आश्चर्य हुआ। वे कुनाल के गुणों और सद्व्यवहार के कारण उससे बहुत प्रसन्न थे। उनका साहस नहीं हुआ, कि वे कुमार को इस आज्ञापत्र की खबर दें। पर तिष्यरक्षिता का भिजवाया हुआ यह कपटलेख अशोक की दंतमुद्रा से अंकित था। यह मुद्रा उन आज्ञाओं पर लगाई जाती थी, जिनका तुरंत पालन होना आवश्यक होता था। अतः यह आज्ञा भी कुनाल के सम्मुख पेश की गई। कुनाल ने स्वयं बधिकों को बुलाया और यह कहकर कि सम्राट् की आज्ञा का पालन होना ही चाहिये, अपनी आंखें अपने आप ही बाहर निकलवा दीं। दंतमुद्रा से अंकित राजाज्ञा में यह भी आदेश था, कि कुनाल को राज्य-पद से च्युत कर दिया

पूछा—'प्रबल शत्रुसंघ चारों तरफ से घेरकर भी जिस चण्ड सूर्य के समान दीप्यमान मुख को देख न सके, जिसकी शोभा के सम्मुख सैकड़ों कमल भी लजाते हैं, हे देव! तुम्हारा वह मुख आज म्लान क्यों है ?'

राजा ने कहा—'राधागुप्त ! न मुझे धन के विनाश की चिन्ता है, न राज्य के नाश का ख्याल है, और न किसी आश्रय से मेरा वियोग हुआ है । मुझे सोच केवल इस बात का है. कि पूज्य भिक्षुओं से मुझे बिछड़ना पड़ रहा है । मैंने प्रतिज्ञा की थी, कि भगवान् बुद्ध के कार्य में सौ करोड़ दान करूंगा, पर मेरा यह मनोरथ पूरा नहीं हुआ ।'

इसके बाद राजा अशोक ने राज्यकोष से शेष दस करोड़ धन देकर अपनी प्रतिज्ञा को पूरा करने का विचार किया । परन्तु इस कार्य में भी उसे सफलता नहीं मिली । उस समय कुनाल का पुत्र (अशोक का पौत्र) सम्प्रति युवराज था । उससे अमात्यों ने कहा—'कुमार ! राजा अशोक को सदा थोड़े ही रहना है । उसकी थोड़ी ही आयु शेष है । यह द्रव्य कुर्कुटाराम नामक विहार को भेजा जा रहा है । राजाओं की शक्ति कोष पर ही आश्रित है । इसलिये मना कर दो ।' कुमार ने भाण्डागारिक को राजकोष में से दान देने से इनकार कर दिया ।

पहले राजा अशोक सुवर्णपात्र में रखकर भिक्षुओं के लिये भोजन भेजा करता था । पर यह भी मना कर दिया गया । फिर उसने चांदी के बरतन में भोजन भेजना चाहा, वह भी निषिद्ध कर दिया गया । फिर उसने लोहे के पात्र में भोजन भेजना चाहा, इसके लिये भी अनुमति नहीं मिली । अन्त में उसने मिट्टी के बरतन में कुर्कुटाराम के भिक्षुओं के लिये भोजन भेजना चाहा, पर उसके लिये भी उसे अनुमति नहीं दी गई । अब उसके पास केवल आधा आंवला ही बच गया था, जो उस समय उसके हाथ में मौजूद था । केवल उसी पर उसका अपना अधिकार था । अन्य किसी वस्तु का उपयोग वह अपनी इच्छानुसार नहीं कर सकता था ।

संविग्न होकर अशोक ने अमात्यों और 'पौर' को बुलाकर पूछा—'इस समय राज्य का स्वामी कौन है ?' यह प्रश्न सुनकर प्रधानामात्य ने उठकर और यथोचित रीति से अभिवादन करके उत्तर दिया—'देव ! आप ही पृथिवी के स्वामी हैं ।' यह सुनकर अशोक की आंखों में आंसू फूट पड़े । वह वस्तुस्थिति को जानता था । आंसुओं से अपने बदन को गीला करते हुए उसने कहा—'तुम केवल दाक्षिण्य (विनय) से झूठ-मूठ क्यों कहते हो, कि स्वामी मैं हूं । मैं तो राज्य-भ्रष्ट हो गया हूं । मेरे पास तो केवल आधा आंवला ही अपना बच गया है । ऐसे ऐश्वर्य को धिक्कार है ।'

इसके बाद अशोक ने वह आधा आंवला ही कुर्कुटाराम के भिक्षुओं के पास यह कहलाकर भेज दिया, कि 'जो सम्पूर्ण जम्बूद्वीप का स्वामी था, आज वह केवल आधे आंवले का ही स्वामी रह गया है। मन्त्रियों ने मेरे अधिकारों को छीन लिया है।'

इस घटना से भलीभांति सूचित होता है, कि बौद्ध-धर्म की सहायता करने की धुन में राजा अशोक ने राज्यकोष को भी छेड़ने का प्रयत्न किया था। पर मन्त्रिपरिषद् इसे नहीं सह सकी, और उसने युवराज को भड़काकर अशोक को राज्याधिकार से वंचित कर दिया।

सहायक ग्रन्थ

Smith V. A. : Ashoka.
Smith V. A. : Early History of India.
Samaddar : Glories of Magadha.
Bhandarkar D. R. : Ashoka.
Bhandarkar : Carmichael Lectures, 1918.
Macphail J. M. : Ashoka.
Mukerjee R. K. : Men and Thought in Ancient India.
Cambridge History of India Vol. I.
Mukerjee R. K. : Ashoka.
सत्यकेतु विद्यालंकार : मौर्य-साम्राज्य का इतिहास

उन्नीसवां अध्याय

बौद्ध-धर्म का विकास और विस्तार

(१) बौद्ध-धर्म का विकास

गया में बोधिवृक्ष के नीचे सिद्धार्थ ने जो बोध (ज्ञान) प्राप्त किया था, उसका उपदेश उन्होंने पहलेपहल सारनाथ में किया। इस उपदेश में बुद्ध ने अपने शिष्यों से कहा था—"भिक्षुओ ! बहुत जनों के हित के लिये, बहुत जनों के सुख के लिये, लोक पर दया करने के लिये, देवों और मनुष्यों के प्रयोजन-हित-सुख के लिये विचरण करो। एक साथ दो मत जाओ।" इस उपदेश के बाद बुद्ध के अनेक शिष्य भारत के विविध प्रदेशों में धर्म के प्रचार के लिये गये। वे स्वयं प्रधानतया भारत के मध्य देश में ही धर्म-प्रचार के लिये परिभ्रमण करते रहे। उनका अपना विचरण-क्षेत्र उत्तर में हिमालय से दक्षिण में विन्ध्याचल तक और पूर्व में कोशी से पश्चिम में कुरुक्षेत्र तक सीमित रहा; पर उनके अनेक शिष्य उनके जीवन-काल में ही दूर-दूर के प्रदेशों में गये।

बौद्धों की प्रथम महासभा—बुद्ध के उपदेशों का ठीक-ठीक निर्धारण करने के लिये उनके प्रधान शिष्यों की एक सभा उनके निर्वाण के दो मास बाद राजगृह में हुई थी। इसे पालिसाहित्य में प्रथम संगीति कहा गया है। इस सभा में बुद्ध के प्रधान शिष्यों ने यह निर्णय किया, कि बुद्ध की वास्तविक शिक्षायें क्या थीं। बुद्ध ने समय-समय पर जो उपदेश दिये थे, जो प्रवचन किये थे, उन सबका इस सभा में पाठ किया गया। बुद्ध के उपदेशों और मन्तव्यों को शुद्ध रूप में संकलित करने में इन सभा ने बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य किया। बुद्ध के शिष्यों में उपालि को विनय या संघ के नियमों के विषय में प्रमाण माना गया; और आनन्द को धम्म (धर्म) के विषय में। उन्होंने जिस रूप में बुद्ध की शिक्षाओं का प्रवचन किया, अन्य भिक्षुओं ने उसे ही प्रमाण-रूप से स्वीकृत किया। इस महासभा में कुल मिलाकर पांच सौ भिक्षु एकत्र हुए थे, और उनकी यह संगीति सात मास के लगभग तक चलती रही थी।

बौद्ध-सम्प्रदायों का प्रारम्भ—महात्मा बुद्ध के धर्म का प्रचार जिस प्रकार भारत के विविध जनपदों और विभिन्न जातियों में हो रहा था, उसमें यह स्वाभाविक था कि धर्म के मन्तव्यों और आचरण के सम्बन्ध में मतभेद उत्पन्न होने लगें। किसी नये धर्म को स्वीकृत कर लेने मात्र से मनुष्यों के जीवन व विश्वासों में आमूल-चूल परिवर्तन नहीं हो जाता। उनके अपने विश्वास व परम्परागत अभ्यास नये धर्म पर भी प्रभाव डालते हैं, और विभिन्न देशों में एक ही धर्म विभिन्न रूप धारण कर लेता है। यही कारण है, कि बुद्ध की शिक्षाओं को अपनानेवाले विभिन्न प्रकृति के मनुष्यों ने उनको विभिन्न रूप में देखा, और इससे बौद्ध-धर्म के विविध सम्प्रदायों का प्रादुर्भाव हुआ। बुद्ध के निर्वाण के सौ वर्ष बाद उनके धर्म के दो सम्प्रदाय (निकाय) स्पष्टरूप से विकसित हो गये थे। इन निकायों के नाम थे, स्थविरवादी और महासांघिक। इन सम्प्रदायों में महासांघिक बुद्ध को अलौकिक व अमानव रूप देने में तत्पर थे, और स्थविरवादी बुद्ध की मानवता पर विश्वास रखते थे। इस सम्प्रदाय-भेद का मूल आधार यही था। आगे चलकर महासांघिक सम्प्रदाय ही महायान के रूप में परिवर्तित हुआ।

बौद्धों की दूसरी महासभा—बुद्ध के निर्वाण के सौ वर्ष बाद वैशाली नगरी में बौद्धों की दूसरी संगीति (महासभा) हुई। इसका आयोजन स्थविर यश नाम के आचार्य द्वारा किया गया था। इसका मुख्य प्रयोजन यही था, कि बौद्धों में जो अनेक सम्प्रदाय विकसित हो रहे थे, उनपर विचार कर सत्य सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जाय। पर इस उद्देश्य में वैशाली की संगीति को सफलता नहीं हुई। बौद्ध-भिक्षुओं के मतभेद और विवाद निरन्तर बढ़ते गये, और बाद में उनमें अनेक नये सम्प्रदायों का विकास हुआ।

अठारह सम्प्रदाय—वैशाली की महासभा के बाद सम्राट् अशोक के समय तक लगभग १२० वर्षों में बौद्ध धर्म अठारह सम्प्रदायों (निकायों) में विभक्त हो गया था। इन निकायों के नाम निम्नलिखित थे—स्थविरवाद, हैमवत, वृजिपुत्रक, धर्मोत्तरीय, भद्रयाणीय, सम्मितीय, षाण्णागरिक, सर्वास्तिवादी, महीशासक, धर्मगुप्त, काश्यपीय, सौत्रान्तक, महासांघिक, प्रज्ञप्तिवादी, चैतीय, लोकोत्तरवादी, एकव्यावहारिक और गोकुलिक। इनमें से पहले बारह निकाय स्थविरवाद से उद्भूत हुए थे, और पिछले छः महासांघिक सम्प्रदाय थे। इनमें से कतिपय सम्प्रदायों के नाम विविध प्रदेशों के साथ सम्बन्ध रखते हैं। इससे यह सूचित होता है, कि उनका विकास विशेष रूप से उन प्रदेशों में ही हुआ था।

बौद्धों की तीसरी महासभा—बौद्ध-धर्म की तीसरी संगीति सम्राट् अशोक मौर्य के समय में पाटलिपुत्र के 'अशोकाराम' में हुई। इसका अध्यक्ष अशोक का गुरु आचार्य मोग्गलिपुत्त तिस्स (मोग्दलिपुत्र तिष्य) था। कुछ ग्रन्थों में इसी को उपगुप्त भी लिखा गया है। इस महासभा द्वारा यह प्रयत्न किया गया, कि विविध बौद्ध-सम्प्रदायों के मतभेदों को दूर कर सत्य सिद्धान्तों का निर्णय किया जाय। इस कार्य के लिये आचार्य तिष्य ने एक हजार ऐसे भिक्षुओं को चुन लिया, जो परम विद्वान् और अनुभवी थे। इन भिक्षुओं की सभा आचार्य तिष्य की अध्यक्षता में नौ मास तक होती रही। धर्मसम्बन्धी सब विवादग्रस्त विषयों पर इसमें विचार हुआ। अन्त में मोद्गलिपुत्र तिष्य का रचा हुआ 'कथावत्थु' नाम का ग्रन्थ प्रमाणरूप से सबने स्वीकार किया। इस प्रकार अशोक के राज्याभिषेक के सतरह साल बाद ७२ वर्ष के वृद्ध आचार्य मोद्गलिपुत्र तिष्य (उपगुप्त) ने बौद्ध-धर्म की तृतीय महासभा की समाप्ति की। साथ ही पृथिवी कांपकर कह उठी, 'साधु'।

(२) विदेशों में धर्म-प्रचार का आयोजन

बौद्ध-धर्म के आंतरिक झगड़ों के समाप्त हो जाने और संघ में एकता स्थापित हो जाने पर आचार्य तिष्य ने देश-विदेश में बौद्ध-धर्म का प्रचार करने के लिये एक महान् योजना तैयार की। इसके अनुसार यह निश्चय हुआ, कि भिक्षुओं की मण्डलियां विविध देशों में उपदेश के लिये भेजी जायं। लंका की प्राचीन अनुश्रुति के अनुसार इन मण्डलियों के नेताओं और उन्हें सुपुर्द किये गये देशों की सूची इस प्रकार है—

देश	प्रधान भिक्षु
काश्मीर और गन्धार	मज्झंतिक (मध्यान्तिक)
महिश मण्डल	महादेव
वनवास	थेर रक्खित (रक्षित)
अपरांतक	योनक धम्म रक्खित
महाराष्ट्र	महाधम्म रक्खित (महाधर्म रक्षित)
योन लोक (यवन देश)	महारक्खित (महारक्षित)
हिमवंत	थेर मज्झिम और कस्सप
सुवर्णभूमि	थेर सोण और उत्तर
लंका	महामहिंद्र (महेन्द्र)

आचार्य तिष्य की योजना के अनुसार ये भिक्षु विविध देशों में गये और वहां जाकर उन्होंने बौद्ध-धर्म का प्रचार प्रारम्भ किया। भारत के पुराने राजा चातुर्मास्य के याद शरद् ऋतु के प्रारम्भ में विजय-यात्रा के लिये जाया करते थे। इन भिक्षुओं ने भी शरद् के शुरू में अपना प्रचार-कार्य प्रारम्भ किया ।

बौद्ध-अनुश्रुति में प्रचार-मण्डलों के जिन नेताओं के नाम दिये गये हैं उनके अस्तित्व की सूचना कुछ प्राचीन उत्कीर्ण लेखों द्वारा भी प्राप्त होती है। साञ्ची के दूसरे स्तूप के भीतर से पाये गये पत्थर के सन्दूक में एक धातुमंजूषा (वह संदूकड़ी, जिसमें अस्थि व फूल रखे गये हों) ऐसी मिली है, जिस पर 'मोग्गलिपुत्त' उत्कीर्ण है। एक दूमरी धातुमंजूषा के तले पर तथा ढक्कन के ऊपर और अन्दर हारितीपुत्त, मझिम तथा सबहेमवतचरिय (सम्पूर्ण हिमालय के आचार्य) कासपगोत के नाम खुदे है। इन मंजूषाओं में इन्हीं प्रचारकों के धातु (फूल) रखे गये थे, और वह स्तूप इन्हीं के ऊपर बनाया गया था। साञ्ची से पांच मील की दूरी पर एक अन्य स्तूप में भी धातुमंजूषायें पाई गई हैं, जिनमें से एक पर कासपगोत का और दूसरी पर हिमालय के दुंदुभिसर के दामाद गोतीपुत का नाम उत्कीर्ण हैं। कासपगोत और दुंदुभिसर थेर मज्झिम के साथी थे, जो हिमालय के प्रदेश में बौद्ध-धर्म का प्रचार करने के लिये गये थे। स्तूपों में प्राप्त ये धातुमंजूषायें इस बात का ठोस प्रमाण हैं, कि बौद्ध-अनुश्रुति की प्रचार-मण्डलियों की बात यथार्थ सत्य है। बौद्ध-धर्म का विदेशों में प्रसार करने के लिये इन भिक्खुओं का भी बडा आदर हुआ और इनकी धातुओं पर भी वैसे ही स्तूप खड़े किये गये, जैसे कि भगवान् बुद्ध के अवशेषों पर। उस युग में सर्वसाधारण लोग इन महाप्रतापी व साहसी भिक्खु-प्रचारकों को कितने आदर की दृष्टि से देखते थे, इसका इससे सुन्दर प्रमाण नहीं मिल सकता। अशोक के समय में पाटलिपुत्र में हुई इस महासभा और आचार्य मोग्गलिपुत्त तिष्य (उपगुप्त) के पुरुषार्थ का ही यह परिणाम हुआ, कि बौद्ध-धर्म भारत से बहुत दूर-दूर तक के देशों में फैल गया ।

(३) लंका में प्रचार

जो प्रचारकमंडल लंका में कार्य करने के लिये गया, उसका नेता महेन्द्र था। यह सम्राट् अशोक का पुत्र था। उसके साथ कम से कम चार भिक्षु और थे। महेन्द्र की माता का नाम असंधिमित्रा था। वह विदिशा के एक श्रेष्ठी की कन्या थी। राजा बिंदुसार के शासनकाल में जब अशोक उज्जैनी का शासक

था, उसका विवाह असंधिमित्रा के साथ हुआ था। इस विवाह से अशोक की दो संतानें हुईं, महेन्द्र और संघमित्रा। कुमारी संघमित्रा महेन्द्र से आयु में दो साल कम थी। अशोक के धर्मगुरु आचार्य मोद्गलिपुत्र तिष्य ने महेन्द्र और संघमित्रा, दोनों को भिक्षुव्रत में दीक्षित किया। भिक्षु बनते समय महेन्द्र की आयु बीस साल की थी।

इस समय में लंका का राजा 'देवताओं का प्रिय' तिष्य था। उसकी अशोक से बड़ी मित्रता थी। राजगद्दी पर बैठने पर तिष्य ने अपना एक दूतमंडल अशोक के पास भेजा, जो बहुत से मणि, रत्न आदि मागध-सम्राट् की सेवा में भेंट करने के लिये लाया। इस दूतमंडल का नेता राजा तिष्य का भानजा महाअरिट्ठ था। लंका का दूतमण्डल सात दिन में जहाज द्वारा ताम्रलिप्ति के बंदरगाह पर पहुँचा और उसके बाद सात दिन में पाटलिपुत्र आया। अशोक ने इस दूतमण्डल का राजकीय रीति से बड़े समारोह के साथ स्वागत किया। पांच मास तक लंका का दूतमण्डल पाटलिपुत्र में रहा। इसके बाद जिस मार्ग से वह आया था, उसी से लंका वापस चला गया। दूतमण्डल को बिदा करते हुए अशोक ने तिष्य के नाम पर संदेश भेजा—"मै बुद्ध की शरण में चला गया हूं। मै धम्म की शरण में चला गया हूं। मैं संघ की शरण में चला गया हूं। मैंने शाक्यमुनि के धर्म का उपासक होने का व्रत ले लिया है। तुम भी इसी बुद्ध, धर्म और संघ के त्रिरत्न का आश्रय लेने के लिये अपने मन को तैयार करो। 'जिन' के उच्चतम धर्म का आश्रय लो। बुद्ध की शरण में आने का निश्चय करो।"

इधर तो अशोक का यह संदेश लेकर महाअरिट्ठ लंका वापस जा रहा था, उधर आचार्य उपगुप्त के आदेशानुसार भिक्षु महेन्द्र लका में धर्मप्रचार के लिये अपने साथियों के साथ जाने को कटिबद्ध था। महेन्द्र ने अशोक की अनुमति से लंका जाने से पूर्व अपनी माता तथा अन्य संबंधियों से मिलने का विचार किया। इस कार्य में उसे छः मास लग गये। महेन्द्र की माता देवी असंधिमित्रा उन दिनों विदिशा में रहती थी। वह अपने पुत्र से मिलकर बड़ी प्रसन्न हुई। महेन्द्र विदिशा में अपनी माता के बनवाये हुए विहार में ही ठहरा। सम्भवतः, यह साञ्ची के बड़े स्तूप के साथ का ही विहार था, जिसे रानी असंधिमित्रा ने बनवाया था। विदिशा में रहते हुए भी महेन्द्र धर्मप्रचार के कार्य में संलग्न रहा। यहां उसने अपनी माता के भतीजे के पुत्र भन्दु को बौद्ध-धर्म में दीक्षित किया।

विदिशा से महेन्द्र सीधा लंका गया। अनुराधपुर से आठ मील पूर्व जिस जिस जगह वह उतरा, उसका नाम महिंदतल पड़ गया। अब भी वह महिंदतले

कहलाता है। अशोक के संदेश के कारण देवताओं का प्रिय राजा तिष्य पहले ही बौद्ध-धर्म के प्रति अनुराग रखता था। अब उसने महेन्द्र और उसके साथियों का समारोह के साथ स्वागत किया। महेन्द्र का उपदेश सुनकर अपने चालीस हजार साथियों के साथ राजा तिष्य ने बौद्ध-धर्म को ग्रहण किया। राजकुमारी अनुला ने भी अपनी ५०० सहचरियों के साथ बौद्ध-धर्म में दीक्षित होने की इच्छा प्रगट की, पर उसे निराश होना पड़ा। उसे बताया गया, कि भिक्षुओं को यह अधिकार नहीं है, कि स्त्रियों को दीक्षा दे सकें। स्त्री को दीक्षा भिक्खुनी ही दे सकती है। इस पर राजा तिष्य ने महाअरिट्ठ के नेतृत्व में फिर एक प्रतिनिधिमण्डल पाटलिपुत्र भेजा। इसे दो कार्य सुपुर्द किये गये थे। पहला यह कि संघमित्रा (महेन्द्र की बहन) को लंका आने के लिये निमन्त्रण दे, ताकि कुमारी अनुला व लंकावासिनी अन्य महिलायें बौद्ध-धर्म की दीक्षा ले सकें। दूसरा यह कि बोधिवृक्ष की एक शाखा को लंका ले जायं, ताकि वहां उसका आरोपण किया जा सके। यद्यपि अशोक अपनी प्रिय पुत्री से वियुक्त नहीं होना चाहता था, पर बौद्ध-धर्म के प्रचारके लिये उसने संघमित्रा को लंका जाने की अनुमति दे दी। बोधिवृक्ष की शाखा को भेजने का उपक्रम बड़े समारोह के साथ किया गया। बड़े अनुष्ठानों के साथ सुवर्ण के कुठार से बोधिवृक्ष की एक शाखा काटी गई। उसे बड़े प्रयत्न से लका तक सुरक्षित पहुंचाने का आयोजन किया गया। इस शाखा के लंका तक पहुंचने का वर्णन बौद्ध-ग्रंथों में विशदरूप से किया गया है। वहां उसका स्वागत करने के लिये पहले से ही सब तैयारी हो चुकी थी। बड़े सम्मान के साथ लंका में बोधिवृक्ष का आरोपण किया गया। अनुराधपुर के महाविहार में यह विशाल वृक्ष अब तक भी विद्यमान है, और संसार के सबसे पुराने वृक्षों में से एक है।

राजा तिष्य ने संघमित्रा के निवास के लिये एक भिक्षुणी-विहार बनवा दिया। वहां राजकुमारी अनुला ने अपनी ५०० सहेलियों के साथ भिक्षुणीव्रत की दीक्षा ली। संघमित्रा की मृत्यु लंका में ही हुई। २० वर्ष की आयु में वह भिक्षुणी बनी थी। ५९ वर्ष तक भिक्षुणीव्रत का पालन कर ७९ वर्ष की आयु में लंका में उसकी मृत्यु हुई। इस समय तक राजा तिष्य की भी मृत्यु हो चुकी थी। उसका उत्तराधिकारी राजा उत्तिय था। महेन्द्र की मृत्यु भी लंका में ही ८० वर्ष की आयु में हुई। लंका में बौद्ध-धर्म के प्रचार का प्रधान श्रेय महेन्द्र और संघमित्रा को ही है। समयांतर में सब लंकावासी बौद्ध-धर्म के अनयायी हो गये।

(४) दक्षिणी भारत में बौद्ध-धर्म

आचार्य उपगुप्त (मोद्गलिपुत्र तिष्य) की योजना के अनुसार जो विविध प्रचारक-मण्डल विभिन्न देशों में बौद्ध-धर्म का प्रचार करने के लिये गये थे, उनमें से चार को दक्षिणी भारत में भेजा गया था। अशोक से पूर्व बौद्ध-धर्म का प्रचार मुख्यतया विंध्याचल के उत्तर में, उत्तरी भारत में ही था। लंका के समान दक्षिणी भारत में भी अशोक के समय में ही पहले-पहल बुद्ध के अष्टांगिक आर्य-मार्ग का प्रचार हुआ। अशोक ने अपनी धर्म-विजय की नीति का अनुसरण करते हुए चोल, पांड्य, केरल, सातियपुत्र और ताम्रपर्णी के पड़ोसी राज्यों में जहां अंतमहामात्र नियत किये थे, वहां अपने साम्राज्य में भी रठिक पेतणिक, आंध्र और पुलिंद प्रदेशों में धर्ममहामात्रों की नियुक्ति की थी। ये सब प्रदेश दक्षिणी भारत में ही थे। अशोक द्वारा नियुक्त धर्ममहामात्रों और अंतमहामात्रों के अतिरिक्त, अब आचार्य उपगुप्त के चार प्रचारकमण्डल भी वहां गये। इनमें भिक्षु महादेव महिशमण्डल गया। यह उस प्रदेश को सूचित करता है, जहां अब मैसूर रियासत है। वनवास उत्तरी कर्नाटक का पुराना नाम है। वहां आचार्य रक्खित धर्मप्रचार के लिये गया। अपरांत का अभिप्राय कोंकण से है, वहां का कार्य योनक धम्मरक्खित के सुपुर्द किया गया था। संभवतः, यह आचार्य यवन-देश का निवासी था, इसीलिये इसे यो क कहा गया है। महारठ्ठ (महाराष्ट्र) में कार्य करने के लिये थेर महाधम्म-रक्खित की नियुक्ति हुई थी। दक्षिणी भारत में बौद्ध-प्रचारकों के कार्य का वर्णन लंका के बौद्ध-ग्रंथ महावंश में इस प्रकार किया गया है--आचार्य रक्खित वनवास देश में आकाश-मार्ग से उड़कर गया। वहां उसने जनता के बीच में 'अनमतग्ग' का प्रचार किया। साठ सहस्र मनुष्य बौद्ध-धर्म के अनुयायी हुए। सैंतीस हजार मनुष्यों ने भिक्षु बनना स्वीकार किया। इस आचार्य ने वनवास देश में पांच सौ विहारों का निर्माण कराया और बौद्ध-धर्म की भलीभांति स्थापना की।

'थेर योनक धम्मरक्खित अपरांतक देश में गया। वहां जाकर उसने 'अग्गिक्खन्धोपमसुत्त' का उपदेश किया। यह आचार्य धर्म और अधर्म के भेद को खूब अच्छी तरह समझता था। इसका उपदेश सुनने के लिये सत्ताईस हजार मनुष्य एकत्र हुए। इनमें से एक हजार पुरुष और इससे भी अधिक स्त्रियां जो कि विशुद्ध क्षत्रिय-जाति की थीं, भिक्षुसंघ में प्रविष्ट होने के लिये तैयार हो गईं।

'थेर महाधम्मरक्खित महाराष्ट्र में प्रचार के लिये गया। वहां उसने 'महानारदकस्सपह्व जातक' का उपदेश किया। चौरासी हजार मनुष्यों ने सत्य बौद्ध-मार्ग का अनुसरण किया और तेरह हजार ने भिक्खुव्रत की दीक्षा ली।

"आचार्य महादेव बौद्ध-धर्म का प्रचार करने के लिये महिशमण्डल में गया। वहां उसने 'देवदत्त सुत्तन्त' का उपदेश किया। परिणाम यह हुआ, कि चालीस हजार मनुष्यों ने प्रव्रज्या लेकर भिक्षुओं के पीत वस्त्रों को धारण किया।"

आंध्र देश और पांड्य आदि तामिल राज्यों में आचार्य उपगुप्त ने प्रचार का कार्य किन भिक्षुओं को दिया था, यह बौद्ध-अनुश्रुति हमें नहीं बताती। पर प्रतीत होता है, कि सुदूर दक्षिण के इन प्रदेशों में महेन्द्र और उसके साथियों ने ही कार्य किया था। सातवीं सदी में प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्युनत्सांग जब भारत की यात्रा करते हुए दक्षिण में गया, तो उसने द्रविड़ देश में महेन्द्र के नाम का एक विहार देखा था। यह विहार सम्भवतः, महेन्द्र द्वारा दक्षिण-भारत में किये गये प्रचार-कार्य की स्मृति में ही बनवाया गया था।

(५) खोतन में कुमार कुस्तन

पुराने समय में खोतन भारत का ही एक समृद्ध उपनिवेश था। वहां बौद्ध-धर्म, भारतीय सभ्यता और संस्कृति का प्रचार था। पिछले दिनों में तुर्किस्तान और विशेषतया खोतन में जो खुदाई हुई है, उससे इस प्रदेश में बौद्ध-मूर्तियों, स्तूपों तथा विहारों के अवशेष प्रभूत मात्रा में उपलब्ध हुए हैं। संस्कृत के लेख भी इस प्रदेश से मिले हैं। इसमें सन्देह नहीं, कि किसी समय यह सारा प्रदेश बृहत्तर भारत का ही अंश था। पांचवीं सदी में चीनी यात्री फाइयान और सातवीं सदी में ह्युनत्सांग ने इस प्रदेश की यात्रा की थी। उनके वर्णनों से सूचित होता है, कि उस प्राचीन युग में सारा खोतन बौद्ध-धर्म का अनुयायी था। सारा देश बौद्ध-विद्वानों और स्तूपों से भरा हुआ था, और वहां के अनेक नगर बौद्ध-शिक्षा और सभ्यता के केन्द्र थे।

खोतन में बौद्ध-धर्म और भारतीय सभ्यता का प्रवेश राजा अशोक के समय में ही हुआ। इसका वर्णन कुछ तिब्बती ग्रन्थों में उल्लिखित है। संभवतः ये तिब्बती ग्रन्थ खोतन की प्राचीन अनुश्रुति के आधार पर ही लिखे गये थे। हम यहां बहुत संक्षेप से इस कथा को लिखते हैं—

राज्याभिषेक के तीस साल बाद राजा अशोक के एक पुत्र उत्पन्न हुआ। ज्योतिषियों ने बताया, कि इस बालक में प्रभुता के अनेक चिह्न विद्यमान हैं, और यह पिता के जीवनकाल में ही राजा बन जायगा। यह सुनकर अशोक को बड़ी चिंता हुई। उसने आज्ञा दी, कि बालक का परित्याग कर दिया जाय। परित्याग करने के बाद भी भूमि माता द्वारा बालक का पालन होता रहा। इसीलिये उसका नाम कुस्तन (कु=भूमि है स्तन जिसकी) पड़ गया।

उस समय चीन के एक प्रदेश में बोधिसत्व का राज्य था। उसके ९९९ पुत्र थे। इस पर बोधिसत्व ने वैश्रवण से प्रार्थना की, कि उसके एक पुत्र और हो जाय, ताकि संख्या पूरी १००० हो जाय। वैश्रवण ने देखा कि कुस्तन का भविष्य बहुत उज्ज्वल है। वह उसे चीन ले गया और बोधिसत्व के पुत्रों में सम्मिलित कर दिया। एक दिन जब कुस्तन का बोधिसत्व के अन्य पुत्रों के साथ झगड़ा हो रहा था, तो उन्होंने उससे कहा—'तू सम्राट् का पुत्र नहीं है।' यह जानकर कुस्तन को बड़ा कष्ट हुआ। इस बात की सचाई का निश्चय करके उसने राजा से अपने देश का पता लगाने और वहां जाने की अनुमति मांगी। इस पर राजा ने कहा—'तू मेरा ही पुत्र है। यह तो अपना देश है। तुझे दुःखी नहीं होना चाहिये।' पर कुस्तन का इससे भी संतोष नहीं हुआ। कुस्तन ने पक्का इरादा कर लिया था, कि उसका भी अपना पृथक् राज्य हो। अतः उसने अपने दस हजार साथियों को एकत्र किया और पश्चिम की तरफ चल पड़ा। इस तरह चलते-चलते वह खोतन के मेस्कर नामक स्थान पर आ पहुंचा।

सम्राट् अशोक के एक मन्त्री का नाम यश था। वह बहुत प्रभावशाली था। धीरे-धीरे वह राजा की आंखों में खटकने लगा। यश को जब यह बात मालूम हुई, तो उसने भी यही निश्चय किया कि भारत छोड़कर, अपने लिये क्षेत्र ढूंढ ले। उसने अपने सात हज़ार साथियों के साथ भारत छोड़कर सुदूर पश्चिम में नये प्रदेशों का अनुसन्धान प्रारम्भ किया। इस प्रकार वह खोतन में उथेन नदी के दक्षिण-तट पर जा पहुंचा।

अब ऐसा हुआ, कि कुस्तन के अनुयायियों में से दो व्यापारी घूमते-फिरते तो-ला नाम के प्रदेश में आये। यह प्रदेश उस समय बिलकुल गैर-आबाद था। इसकी रमणीयता को देखकर उन्होंने विचार किया, कि यह प्रदेश कुमार कुस्तन के द्वारा आबाद किये जाने के योग्य है। मन्त्री यश को कुस्तन के बारे में जब पता लगा, तो उसने यह सन्देश उसके पास भेजा—'तुम राजघराने के हो और मैं भी कुलीन घराने का हूं। अच्छा हो कि हम परस्पर मिल जायं और इस

उथेन प्रदेश में मिलकर बस जायं। तुम राजा बनो और मैं तुम्हारा मन्त्री। यह विचार कुस्तन को बहुत पसंद आया। कुस्तन ने अपने चीनी अनुयायियों के साथ और यश ने अपने भारतीय साथियों के साथ परस्पर सहयोग से इस प्रदेश को आबाद किया। इसीलिये तिब्बती अनुश्रुति के अनुसार "खोतन देश आधा चीनी है, और आधा भारतीय। लोगों की भाषा न तो पूरी तरह भारतीय ही है, और न चीनी। वह दोनों का सम्मिश्रण है। अक्षर बहुत कुछ भारतीय लिपि से मिलते-जुलते हैं, लोगों की आदतें चीन से बहुत कुछ मिलती हैं। धर्म और भाषा भारत से मिलती हैं। खोतन में वर्तमान भाषा का प्रवेश आर्यों (बौद्ध-प्रचारकों) द्वारा हुआ है।" जिस समय कुस्तन बोधिसत्व को छोड़कर नये राज्य के अन्वेषण के लिये चला था, उसकी आयु केवल बारह साल की थी। जब उसने खोतन में अपने राज्य की स्थापना की, तो वह १९ साल का हो चुका था। ज्योतिषियों की यह भविष्यवाणी सत्य हुई, कि कुमार कुस्तन अशोक के जीवन-काल में ही राजा बनेगा।

इस प्रकार यह स्पष्ट है, कि इस प्राचीन तिब्बती अनुश्रुति के अनुसार खोतन के प्रदेश में राजा अशोक के समय में भारतीयों ने अपना एक उपनिवेश बसाया, जिसमें चीनी लोगों का सहयोग उन्हें प्राप्त था, और इसी समय में इस सुदूरवर्ती प्रदेश में भारतीय सभ्यता और धर्म का प्रवेश हुआ। तिब्बती अनुश्रुति की प्रत्येक बात पर विश्वास करने की हमें आवश्यकता नहीं है। पर इसमें सन्देह नहीं, कि अशोक के समय में खोतन में भारतीयों ने अपना उपनिवेश बसाया और वहां उनके धर्म, भाषा व सभ्यता का प्रवेश हुआ। इस कार्य का श्रेय कुस्तन और यश को है।

(६) हिमवन्त प्रदेशों में प्रचार

हिमालय के क्षेत्र में आचार्य मज्झिम को प्रचार-कार्य करने के लिये नियत किया गया था। महावंश ने केवल उसी का नाम इस प्रदेश में प्रचार करनेवाले भिक्षु के रूप में दिया है। पर उसकी टीका में उसके चार साथियों के भी नाम दिये गये हैं। ये साथी निम्नलिखित थे, कस्सपगोत, दुन्दुभिसर, सहदेव और मूलकदेव। हम ऊपर लिख चुके हैं, कि साञ्ची के समीप उपलब्ध हुई धातु-मंजूषाओं पर हिमवताचार्य के रूप में मज्झिम, कस्सप और दुंदुभिसर के नाम उत्कीर्ण मिले हैं। हिमालय के सम्पूर्ण प्रदेश में अशोक के समय में बौद्ध-धर्म का प्रचार हुआ। महावंश के अनुसार बहुत-से गान्धर्व, यक्ष और कुम्भण्डकों ने बौद्ध-

धर्म को स्वीकृत किया। एक यक्ष ने, जिसका नाग पञ्चक था, अपनी पत्नी हारीत के साथ धर्म के प्रथम फल की प्राप्ति की, और अपने ५०० पुत्रों को यह उपदेश दिया, 'जैसे तुम अब तक क्रोध करते आये हो, वैसे अब भविष्य में न करो, क्योंकि सब प्राणी सुख की कामना करनेवाले हैं, अत अब कभी किसी प्राणी का घात मत करो। जीवमात्र का कल्याण करो। सब मनुष्य सुख के साथ रहें।' पञ्चक से यह उपदेश पाकर उसके पुत्रों ने भी इसी का आचरण किया। तदनन्तर नागराजा ने मज्झन्तिक को रत्नजटित आसन पर बिठाया और स्वयं खड़ा होकर पंखा झलने लगा। उस दिन काश्मीर और गान्धार के कुछ निवासी नागराजा को विविध उपहार अर्पण करने के लिये आये हुए थे। जब उन्होंने थेर की अलौकिक शक्तियों और प्रभाव के विषय में सुना, तो वे भी उसके समीप आये और अभिवादन करके खड़े हो गये। थेर ने उन्हें 'आसीविसोपम धम्म' का उपदेश दिया। इस पर अस्सी हजार मनुष्यों ने बौद्ध-धर्म को स्वीकार किया और एक लाख मनुष्यों ने थेर द्वारा प्रव्रज्या ग्रहण की।

काश्मीर और गान्धार में आचार्य मज्झन्तिक पृथक् रूप से भी कार्य कर रहा था। उसके कार्य का भी महावंश में बड़े विस्तार के साथ वर्णन है। हिमवन्त प्रदेश के समान काश्मीर और गान्धार में भी बौद्ध-धर्म का अशोक के युग में प्रचार हुआ।

हिमवन्त प्रदेश में नेपाल की पुरानी राजधानी पातन या ललितपत्तन राजा अशोक ने ही बसाई थी। यह काठमांडू से २½ मील की दूरी पर स्थित थी। पातन के मध्य व चारों तरफ अशोक ने बहुत-से स्तूप बनवाये थे, जिनमें से पांच अब तक भी विद्यमान हैं। अशोक की पुत्री चारुमती नेपाल जाकर बस गई थी। उसने अपने पति देवपाल के नाम से वहां देवपत्तन नाम की नगरी भी बसाई थी। उसी के समीप एक विशाल बौद्ध-विहार का भी निर्माण कराया था, जिसके अवशेष पशुपतिनाथ के मंदिर के उत्तर में अब तक विद्यमान हैं।

काश्मीर में भी अशोक के समय में बहुत-से स्तूप और विहारों का निर्माण हुआ। कल्हणकृत राजतरंगिणी के अनुसार काश्मीर की राजधानी श्रीनगरी को अशोक ने ही बसाया था। 'श्रीविजयेश के टूटे-फूटे किले को हटाकर उसके स्थान पर इस राजा ने सब दोषों से रहित विशुद्ध पत्थरों का एक विशाल किला बनवाया। अशोक ने जेहलम के सारे तट को स्तूपों द्वारा आच्छादित करा दिया था।"

हिमालय के प्रदेशों में गांधर्व, यक्ष आदि जिन जातियों को बौद्ध धर्म में

दीक्षित करने का उल्लेख किया गया है, वे सब वहां के मूल निवासियों के नाम हैं। ये कोई लोकोत्तर व दैवी सत्तायें नहीं थीं।

(७) यवन-देशों में प्रचार

भारत के पश्चिम में अंतियोक आदि जिन यवन-राजाओं के राज्य थे, उनमें भी अशोक ने अपनी धर्मविजय की स्थापना का उद्योग किया था। अंत-महामात्र उन सब देशों में चिकित्सालय, धर्मशाला, कूप, प्याऊ आदि खुलवा-कर भारत और उसके धर्म के लिये विशेष आदर का भाव उत्पन्न कर रहे थे। इस दशा में जब आचार्य महारक्खित अपने प्रचारकमंडल के साथ वहां कार्य करने के लिये गया, तो उसने अपने लिये मैदान तैयार पाया। इस प्रसंग में महावंश ने लिखा है कि 'आचार्य महारक्खित योन देश में गया। वहां उसने 'कालकारामसुत्त' का उपदेश किया। एक लाख सत्तर हजार मनुष्यों ने बुद्ध-मार्ग के फल को प्राप्त किया और दस हजार स्त्री-पुरुष भिक्खु बने।' इसमें संदेह नहीं, कि अशोक के बाद बहुत समय तक इन पश्चिमी यवन-देशों में बौद्ध-धर्म का प्रचार रहा। मिस्र के यूनानी राजा टाल्मी (तुरमय) ने अलेक्जेंड्रिया के प्रसिद्ध पुस्तकालय में भारतीय ग्रन्थों के भी अनुवाद की व्यवस्था की थी। जब पैलेस्टाइन में अशोक से लगभग ढाई सौ वर्ष बाद महात्मा ईसा का प्रादुर्भाव हुआ, तो इस पश्चिमी दुनिया में ईसीन तथा थेराथून नाम के विरक्त लोग रहते थे। ये लोग पूर्व की तरफ से पैलेस्टाइन और ईजिप्ट में जाकर बसे थे, और धर्मोपदेश के साथ-साथ चिकित्सा का कार्य भी करते थे। ईसा की शिक्षाओं पर इनका बड़ा प्रभाव था, और स्वयं ईसा इनके सत्संग में रहा था। संभवतः, ये लोग आचार्य महारक्खित के ही उत्तराधिकारी थे, जो ईसा के प्रादुर्भाव के समय में इन विदेशी यवन-राज्यों में बौद्ध-भिक्षुओं (थेरों) का जीवन व्यतीत करते थे। बाद में ईसाई धर्म और इस्लाम के प्रभाव के कारण इन पश्चिमी देशों से बौद्ध-धर्म का सर्वथा लोप हो गया। पर यह निश्चित है, कि उनसे पूर्व इन देशों में बौद्ध-धर्म अपना काफी प्रभाव जमा चुका था। बाद में बौद्ध-धर्म के सदृश शैव और वैष्णव लोग भी इन यवन-देशों में गये और वहां उन्होंने अपनी अनेक बस्तियां कायम थीं।

(८) सुवर्णभूमि में प्रचार

महावंश के अनुसार आचार्य उत्तर के साथ थेर सोण सुवर्णभूमि में प्रचार के

लिये गया था। उस समय सुवर्णभूमि के राजकुल की यह दशा थी, कि ज्यों ही कोई कुमार उत्पन्न होता, एक राक्षसी उसे आकर खा जाती। जिस समय ये थेर सुवर्णभूमि पहुंचे, तभी रानी ने एक पुत्र को जन्म दिया। लोगों ने समझा कि ये थेर राक्षसी के सहायक हैं। अतः वे उन्हें घेरकर मारने के लिये तैयार हो गये। थेरों ने उनके अभिप्राय को समझ लिया और इस प्रकार कहा—"हम तो शील से युक्त श्रमण हैं, राक्षसी के सहायक नहीं हैं।" उसी समय राक्षसी अपने संपूर्ण साथियों के साथ समुद्र से निकली और सब लोग भयभीत होकर हाहाकार करने लगे। पर थेरों ने अपने अलौकिक प्रभाव से राजकुमार का भक्षण करनेवाले राक्षसों को घेर लिया। इस प्रकार सर्वत्र अभय की स्थापना कर इन थेरों ने एकत्रित लोगों को 'ब्रह्मजालसूत्र' का उपदेश दिया। इससे प्रभावित हो बहुत-से लोगों ने बौद्ध-धर्म को स्वीकृत कर लिया। एक हजार पांच सौ पुरुषों और इतनी ही स्त्रियों ने भिक्षु बनकर संघ में प्रवेश किया। क्योंकि राजकुमार का जीवन इन भिक्षुओं के प्रयत्न से बचा था, अतः वे और उसके बाद के सब कुमार सोणुत्तर कहाये।" संभवतः महावंश के इस वर्णन में आलंकारिक रूप से यह उल्लेख है, कि रोगरूपी राक्षसों के आक्रमण के कारण सुवर्णभूमि का कोई राजकुमार जीवित नहीं रह पाता था। थेर सोण और उत्तर कुशल चिकित्सक भी थे। जब वे सुवर्णभूमि गये, तो इस रोगरूपी राक्षस ने पुनः आक्रमण किया, पर इस बार इन थेर चिकित्सकों के प्रयत्न से राजकुमार की जान बच गई, और सुवर्णभूमि के निवासियों की बौद्ध-धर्म पर बहुत श्रद्धा हो गई।

सुवर्णभूमि का अभिप्राय दक्षिणी बरमा से है। आधुनिक बरमा के पेगू-मालमीन के प्रदेशों में अशोक के समय में बौद्ध-प्रचारक गये, और उन्होंने उस प्रक्रम का प्रारंभ किया, जिससे कुछ ही समय में न केवल संपूर्ण बरमा, पर उसके भी पूर्व के बहुत-से देश बौद्ध-धर्म में दीक्षित हो गये।

अशोक के समय में आचार्य उपगुप्त के आयोजन के अनुसार बौद्ध-धर्म का विदेशों में प्रचार करने के लिये जो भार प्रयत्न प्रारंभ हुआ, उसका केवल भारतवर्ष के इतिहास में ही नहीं, अपितु संसार के इतिहास में भी बहुत महत्त्व है। बौद्ध-भिक्षु जो उद्योग कर रहे थे, उसे वे 'बुद्ध के शासन' का प्रसार कहते थे। इस कार्य में वे मगध के सम्राटों से भी बहुत आगे बढ़ गये। मागध-साम्राज्य की अपेक्षा बहुत बड़ा ऐसा धर्म-साम्राज्य उपगुप्त ने बनाया, जो कुछ सदियों तक ही नहीं, अपितु सहस्राब्दियों तक कायम रहा। दो हजार साल से भी अधिक समय बीत जाने पर यह साम्राज्य अब तक भी आंशिक रूप से कायम है।

बीसवां अध्याय

अशोक के उत्तराधिकारी मौर्य-राजा

(१) राजा सुयश कुनाल

२३२ ई० पू० में अशोक का राज्यकाल समाप्त हुआ। उसके अनेक लड़के थे। शिलालेखों में उसके केवल एक पुत्र का उल्लेख है, जिसका नाम तीवर था। उसकी माता रानी कारुवाकी के दान का वर्णन एक शिलालेख में किया गया है। परन्तु प्राचीन अनुश्रुति से अशोक के अन्य भी अनेक पुत्रों का नाम ज्ञात होता है। इनमें महेन्द्र रानी असंधिमित्रा का पुत्र था। कुनाल उसका सबसे बड़ा लड़का था, जिसे रानी तिष्यरक्षिता की ईर्ष्या का शिकार होना पड़ा था। तिब्बती साहित्य में अशोक के एक पुत्र कुस्तन का उल्लेख है, जिसने खोतन में एक स्वतन्त्र भारतीय उपनिवेश की स्थापना की थी। महेन्द्र भिक्षु होकर लंका में बौद्ध-धर्म का प्रचार करने के लिये चला गया था। राजतरंगिणी के अनुसार अशोक के एक अन्य पुत्र का नाम जालौक था, जिसने अपने पिता की मृत्यु के बाद काश्मीर में अपने स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की थी। कुमार तीवर का साहित्यिक अनुश्रुति में कहीं उल्लेख नही है। सम्भवतः, अपने पिता से पूर्व ही वह स्वर्गवासी हो गया था।

वायुपुराण के अनुसार अशोक के बाद उसके लड़के कुनाल ने राज्य प्राप्त किया। इसी का उपनाम सुयश था। तिष्यरक्षिता के कपटलेख पर आश्रित अशोक की दंतमुद्रा से अंकित राजाज्ञा से वह अंधा कर दिया गया था। संभवतः इसीलिये वह राज्यकार्य स्वयं नहीं कर सकता था। अशोक के समय में भी युवराज के पद पर कुनाल का पुत्र संप्रति (संपदि) नियुक्त था और वही शासन-कार्य संभालता था। कुनाल के समय में भी राज्य की बागडोर संप्रति के ही हाथ में रही। यही कारण है, कि कुछ ग्रंथों में अशोक के बाद संप्रति को ही मौर्य-सम्राट् लिखा गया है। कुनाल का नाम बीच में छोड़ दिया गया है।

कुनाल के शासन-काल में ही विशाल मागध-साम्राज्य टुकड़ों में विभक्त होना

शुरू हो गया। काश्मीर पाटलिपुत्र की अधीनता से मुक्त हो गया, और वहां अशोक के एक अन्य पुत्र जालौक ने अपना पृथक् राज्य कायम किया। ऐसा प्रतीत होता है, कि अशोक के शासन के अंतिम दिनों में ही यवन लोगों ने मागध-साम्राज्य पर आक्रमण करने शुरू कर दिये थे। इनका मुकाबला करने के लिए अशोक ने जालौक को नियत किया था। जालौक यवन लोगों को परास्त करने में तो सफल हुआ, पर जिस शक्तिशाली सेना की सहायता से उसने यवनों को परास्त किया था, उसी की सहायता से साम्राज्य के पश्चिमोत्तर-प्रदेश में उसने अपना पृथक् राज्य कायम कर लिया। यह बात राजतरंगिणी के निम्नलिखित वर्णन से भली-भांति स्पष्ट हो जाती है—'क्योंकि देश में म्लेच्छ लोग छा गये थे, अतः उनके विनाश के लिये राजा अशोक ने भूतेश को प्रसन्न करके एक पुत्ररत्न को प्राप्त किया। इसका नाम जालौक था। म्लेच्छों से जब सारी वसुधा आक्रांत हो गई थी, तो जालौक ने उन्हें बाहर निकालकर भूमंडल को शुद्ध किया और अन्य अनेक देशों को भी विजय किया।'

कल्हण का यह वृत्तान्त स्पष्ट रूप से सूचित करता है, कि अशोक के समय में ही म्लेच्छों व यवनों (ग्रीकों) के आक्रमण शुरू हो गये थे, और उनका मुकाबला करने के लिये जालौक की नियुक्ति हुई थी। बाद में वह काश्मीर तथा समीपवर्ती प्रदेशों पर स्वतन्त्ररूप से राज्य करने लगा। राजतरंगिणी के अनुसार काश्मीर में अशोक के बाद जालौक ही राजा हुआ।

काश्मीर की तरह आंध्र भी कुनाल के समय में स्वतन्त्र हो गया। मौर्यों से पूर्व आंध्र देश मागध-साम्राज्य के अंतर्गत नहीं था। सम्भवतः बिंदुसार ने उसे जीतकर अपने साम्राज्य में शामिल किया था। मौर्यों के राज्य में भी आंध्र की स्थिति अधीनस्थ राज्य की थी। अशोक का मजबूत हाथ हटते ही आंध्र देश स्वतन्त्र हो गया और वहां एक नये वंश का प्रारंभ हुआ, जो भविष्य में बड़ा शक्तिशाली और प्रसिद्ध हुआ। आंध्र और समीपवर्ती दक्षिण के प्रदेशों में इस नये वंश का संस्थापक सीमुक था, जिसने २३० ई० पू० के लगभग मौर्यों की अधीनता से स्वतन्त्रता प्राप्त की थी।

(२) राजा बंधुपालित दशरथ

कुनाल ने २३२ ई० पू० से २२४ ई० पू० तक कुल आठ साल तक राज्य किया। उसके बाद उसका बड़ा लड़का दशरथ राजगद्दी पर बैठा। एक पुराण के अनुसार कुनाल के उत्तराधिकारी का नाम बंधुपालित था। संभवतः बंधुपालित

दशरथ का ही विशेषण है। ऐसा प्रतीत होता है, कि दशरथ के शासनकाल में भी शासन की बागडोर संप्रति के ही हाथ में रही। संप्रति और दशरथ भाई थे। संप्रति अशोक और कुनाल के समयों में युवराज के रूप में शासन का संचालन करता रहा था। अब भी शासन-सूत्र इसी अनुभवी और योग्य शासक के हाथ में रहा। शायद इसीलिये दशरथ को बंधुपालित विशेषण दिया गया था।

राजा दशरथ के तीन गुहालेख प्राप्त हुए हैं। ये गया के समीप नागर्जुनी पहाड़ी की कृत्रिम गुहाओं में उत्कीर्ण हैं। ये गुहामंदिर दशरथ ने आजीवक-संप्रदाय के साधुओं को दान दिये थे, और इन गुहाओं में उसका यही दान उत्कीर्ण किया गया है।

दशरथ के समय में भी मागध-साम्राज्य का पतन जारी रहा। कलिंग इसी काल में स्वतन्त्र हुआ। कलिंग के राजा श्रीखारवेल के हाथीगुंफा शिलालेख से कलिंग देश की प्राचीन इतिहाससंबंधी अनेक महत्त्वपूर्ण बातें ज्ञात होती हैं। खारवेल शुंगवंशी पुष्यमित्र का समकालीन था, और वह १७३ ई० पू० में कलिंग के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ था। उससे पहले कलिंग में दो और स्वतन्त्र राजा हो चुके थे। अतः यह अनुमान करना सर्वथा उचित है, कि कलिंग २२३ ई० पू० के लगभग मौर्यों के शासन से मुक्त हुआ था। कलिंग को अशोक के समय में ही मगध के अधीन किया गया था। उसे फिर से स्वतन्त्र करानेवाले वीर पुरुष का नाम चैत्रराज था। वह ऐल-वंश का था। अशोक द्वारा शस्त्रों से स्थापित हुई कलिंग की विजय देर तक स्थिर नहीं रह सकी।

(३) राजा संप्रति (चंद्रगुप्त मौर्य द्वितीय)

मौर्य-वंश के इतिहास में सम्प्रति का महत्त्व भी चंद्रगुप्त और अशोक के ही समान है। दशरथ की मृत्यु के बाद वह स्वयं पाटलिपुत्र के राजसिंहसन पर आरूढ़ हुआ। इससे पहले वह सुदीर्घ समय तक मागध-साम्राज्य का कर्णधार रह चुका था। अशोक के समय में वह युवराज था। उसी ने अपने अधिकार से अशोक को राजकोष से बौद्धसंघ को दान करने का निषेध कर दिया था। कुनाल और दशरथ के समय में भी शासन-सूत्र उसी के हाथ में रहा। यही कारण है, कि अनेक प्राचीन ग्रंथों में सम्प्रति को ही अशोक का उत्तराधिकारी लिखा गया है। २१६ ई० पू० में दशरथ के बाद संप्रति स्वयं मौर्य-साम्राज्य का सम्राट् बना।

जैन-साहित्य में संप्रति का वही स्थान है, जो बौद्ध-साहित्य में अशोक का है। जैन-अनुश्रुति के अनुसार सम्राट् संप्रति जैन-धर्म का अनुयायी था, और उसने अपने

धर्म का प्रसार करने के लिये बहुत उद्योग किया था। परिशिष्ट पर्व में लिखा है, कि एक बार रात्रि के समय संप्रति के मन में यह विचार पैदा हुआ, कि अनार्य देशों में भी जैन-धर्म का प्रसार हो और उनमें जैन-साधु स्वच्छंदरूप से विचरण कर सकें। इसके लिये उसने इन अनार्य देशों में धर्म-प्रचार के लिये जैन-साधुओं को भेजा। साधु लोगों ने संप्रति के राजकीय प्रभाव से शीघ्र ही उन्हें जैन-धर्म का अनुयायी बना लिया। इसी उद्देश्य से संप्रति ने बहुत से लोकोपकारी कार्य भी किये। गरीबों को मुफ्त भोजन बांटने के लिये अनेक दानशालायें खुलवाई गई। इन लोकोपकारी कार्यों से भी जैन-धर्म के प्रसार में बहुत सहायता मिली। संप्रति ने अनार्य देशों में जैन-प्रचारक भेजे थे, इसका उल्लेख अन्य ग्रंथों में भी है। एक जैन पुस्तक में लिखा है, कि इस कार्य के लिये संप्रति ने अपनी सेना के योद्धाओं को साधुओं के वेश में प्रचार के लिये भेजा था। एक ग्रंथ में उन देशों में से कतिपय के नाम भी दिये हैं, जिनमें संप्रति ने जैन-धर्म का प्रचार किया था। ये नाम आंध्र, द्रविड़, महाराष्ट्र, कुडुक्क आदि है। इन्हें प्रत्यंत (सीमावर्ती पड़ोसी राज्य) कहा गया है। आंध्र व महाराष्ट्र अशोक के 'विजित' (साम्राज्य) के अंतर्गत थे, पर संप्रति के समय में वे 'प्रत्यंत' हो गये थे।

अनेक जैन-ग्रंथों में अशोक के पौत्र और कुनाल के पुत्र का नाम चंद्रगुप्त लिखा है। संभवत: चंद्रगुप्त संप्रति का ही विरुद (उपनाम) था। संप्रति को हम चंद्रगुप्त द्वितीय कह सकते हैं। जैन-ग्रंथों के अनुसार संप्रति (चंद्रगुप्त द्वितीय) के शासन-काल में एक बड़ा भारी दुर्भिक्ष पड़ा। यह बारह साल तक रहा। संप्रति ने राज्य छोड़कर मुनिव्रत ले लिया और दक्षिण में जाकर अंत में उपवास द्वारा प्राणत्याग किया। भद्रबाहुचरित्र के अनुसार यह कथा इस प्रकार है—

अवंतिदेश में चंद्रगुप्त नाम का राजा राज्य करता था। इसकी राजधानी उज्जैनी थी। एक बार राजा चंद्रगुप्त को रात में सोते हुए भावी अनिष्ट फल के सूचक सोलह स्वप्न दिखाई दिये। प्रातःकाल होते ही राजा को भद्रबाहु स्वामी के आगमन का समाचार मिला। यह स्वामी उज्जैनी से बाहर एक सुन्दर उद्यान में ठहरे हुए थे। वनपाल ने आकर खबर दी, कि मुनिगण के अग्रणी आचार्य भद्रबाहु अपने मुनिसंदोह के साथ पधारे हुए हैं। यह जानकर राजा बहुत प्रसन्न हुआ। उसने उसी समय भद्रबाहु को बुला भेजा और अपने स्वप्नों का फल पूछा। स्वप्नों का फल ज्ञात होने पर राजा ने जैन-धर्म की दीक्षा ले ली, और अपने गुरु भद्रबाहु की सेवा में दत्तचित्त होकर तत्पर हो गया। कुछ समय बाद आचार्य भद्रबाहु

सेठ जिनदास के घर गया। इस घर में एक अकेला बालक पालने पर झूल रहा था। यद्यपि इसकी आयु केवल साठ दिन की थी, तथापि उसने भद्रबाहु को देखकर 'जाओ-जाओ' ऐसा वचन बोलना शुरू किया। इसे सुनते ही त्रिकालज्ञ आचार्य समझ गया, कि शीघ्र ही बारह वर्ष का घोर दुर्भिक्ष पड़नेवाला है। अतएव उन्होंने अपने ५०० मुनियों को लेकर दक्षिण देश में जाने का निश्चय किया। दक्षिण में पहुंचकर भद्रबाहु को शीघ्र ही ज्ञात हो गया, कि उनकी आयु बहुत कम रह गई है। अतः वे अपने स्थान पर विशाखाचार्य को नियत कर स्वयं एकांत में रहकर अपने अंतिम समय की प्रतीक्षा करने लगे। राजा चंद्रगुप्त अब मुनि हो चुका था और अपने गुरु के साथ ही दक्षिण में आ गया था। वह आचार्य भद्रबाहु की सेवा में अंतिम समय तक रहा। यद्यपि भद्रबाहु ने चंद्रगुप्त को अपने पास रहने से बहुत मना किया, पर उसने एक न मानी। भद्रबाहु की मृत्यु के बाद चंद्रगुप्त इसी गुरुगुहा में रहता रहा, और अंत में उसने अनशन द्वारा प्राणत्याग किया।

जैन-साहित्य के बहुत-से ग्रंथों में यह कथा थोड़े बहुत भेद से पाई जाती है। इसकी पुष्टि श्रवणबेलगोला (मैसूर) में प्राप्त संस्कृत व कन्नडी भाषा के अनेक शिलालेखों से भी होती है। इन शिलालेखों को प्रकाशित करते हुए श्रीयुत राइस ने लिखा है, कि इन स्थानों पर जैनों की आबादी अंतिम श्रुतकेवली भद्रबाहु द्वारा हुई। भद्रबाहु की मृत्यु इसी स्थान पर हुई थी। अंतिम समय में मौर्य चंद्रगुप्त भी इसकी सेवा में तत्पर रहा था। श्रवणबेलगोला में दो पर्वत हैं, जिनमें से छोटे का नाम चंद्रगिरि है। स्थानीय अनुश्रुति के अनुसार यह नाम चन्द्रगुप्त नाम के एक महात्मा के नाम पर पड़ा था। इसी पर्वत पर एक गुफा को भद्रबाहु स्वामी की गुफा कहते हैं। वहां एक मठ भी है, जिसे चंद्रगुप्त-वस्ति कहा जाता है। इसमें सन्देह नहीं, कि राजा संप्रति (चंद्रगुप्त द्वितीय) जैन-मुनि होकर अपने गुरु के साथ दक्षिण में श्रवणबेलगोला चला गया था। उसका अंतिम जीवन वहीं व्यतीत हुआ था, और वहीं उसने जैन-मुनियों की परिपाटी से प्राणत्याग किया था।

जिन प्रभासूरि के अनुसार सम्राट् संप्रति ने बहुत-से जैनमठों का भी निर्माण कराया था। ये मठ अनार्य देशों में भी बनवाये गये थे। निस्संदेह, जैन-धर्म के भारत में दूर-दूर तक फैलने का श्रेय राजा संप्रति को ही है। उसी के समय में जैन-धर्म के लिये वह प्रयत्न हुआ, जो उससे पहले अशोक ने बौद्ध-धर्म के लिये किया था।

(४) राजा शालिशुक

२०७ ई० पू० में राजा संप्रति के राज्यत्याग के बाद शालिशुक पाटलिपुत्र की राजगद्दी पर बैठा। उसने कुल एक साल तक राज्य किया। पर मौर्य-वंश के इतिहास में शालिशुक के शासन का यह एक साल बड़े महत्त्व का है। चंद्रगुप्त मौर्य द्वारा स्थापित विशाल मागध-साम्राज्य का वास्तविक पतन इसी साल मे हुआ। शालिशुक के शासन-काल के संबंध में वृद्धगार्ग्यसंहिता के युगपुराण से बहुत-सी आवश्यक बातें ज्ञात होती हैं। पहली बात यह है, कि जैन-मुनि बनकर जब संप्रति ने राजगद्दी छोड़ दी, तो राजा कौन बने, इस प्रश्न को लेकर गृहकलह हुआ। शालिशुक संप्रति का पुत्र था। पर प्रतीत होता है, कि उसका कोई बड़ा भाई भी था। राजसिंहासन पर वास्तविक अधिकार उसी का था। परन्तु शालिशुक ने उसका घात करके स्वयं राज्य पर अपना अधिकार कर लिया। बारह वर्ष के घोर दुर्भिक्ष से पहले ही देश को घोर विपत्ति का सामना करना पड़ रहा था। अब इस कलह से और भी दुर्दशा हो गई। ऐसा प्रतीत होता है, कि इस गृहकलह के समय में ही मागध-साम्राज्य का उत्तर-पश्चिमी प्रदेश पृथक् हो गया। काश्मीर में पहले ही स्वतन्त्र राज्य की स्थापना हो चुकी थी। अब सिंध नदी से परे के प्रदेश, जिनमें अफगानिस्तान-गांधार और हीरात भी शामिल थे, साम्राज्य से पृथक् हो गये। इनमें वृषसेन नाम के एक व्यक्ति ने अपना स्वतंत्र राज्य स्थापित किया। वृषसेन भी मौर्य-वंश का था और संभवतः संप्रति का ही अन्यतम पुत्र था। ग्रीक लेखकों ने इसी को सोफागसेन या सुभागसेन लिखा है। संभवतः सुभागसेन पहले गांधार देश का 'कुमार' (प्रांतीय शासक) था। पर संप्रति के अंतकाल की अव्यवस्था से लाभ उठाकर स्वतन्त्र हो गया था। तिब्बती बौद्ध-अनुश्रुति में संप्रति का उत्तराधिकारी इसी को लिखा है।

राजतरंगिणी के अनुसार काश्मीर का राजा जालौक (अशोक का पुत्र) एक बड़ा विजेता था। उसने कान्यकुब्ज तक विजय की थी। राजतरंगिणी के अनु ार जालौक ने बहुत दीर्घ समय तक शासन किया था। अभी उसे राजगद्दी पर बैठे केवल २६ वर्ष हुए थे। कोई आश्चर्य नहीं, कि शालिशुक के समय के गृह-कलह से लाभ उठाकर उसे राज्य-विस्तार का अवसर मिल गया हो, और उसने कान्यकुब्ज तक आक्रमण कर विजय प्राप्त की हो।

संप्रति के बाद पारस्परिक गृहकलह के कारण मौर्य-साम्राज्य बहुत शिथिल हो गया था। उसका केन्द्रीय शासन व्यवस्थित और नियमित नहीं रहा था।

यद्यपि शालिशुक को गृहकलह में सफलता हुई, पर उसकी स्थिति सुरक्षित नहीं थी। संभवतः राजघराने के षड्यंत्र निरंतर जारी थे और शालिशुक की हत्या में उनका अंत हुआ। शालिशुक ने केवल एक ही साल राज्य किया। इसी से यह सूचित होता है, कि गृहकलह में सफलता के बाद भी उसे चैन नहीं मिली। अपने एक साल के शासन में शालिशुक ने प्रजा पर बड़े अत्याचार किये। उसने राष्ट्र का मर्दन कर डाला। जनता उससे तंग आ गई। मौर्य-वंश के ह्रास में इससे और भी सहायता मिली।

अब तक मौर्य-सम्राट् अशोक की धम्मविजय की नीति का अनुसरण करते रहे थे। संभवतः दशरथ और संप्रति ने भी 'धम्म' के लिये प्रर्याप्त प्रयत्न किया था। शालिशुक ने अपने पूर्वजों की नीति को नाम के लिये जारी रखा, पर उसका दुरुपयोग करकें उसे नाशकारी बना दिया। गार्ग्यसंहिता में इस राजा को, 'धर्म का ढोंग करनेवाला' और 'अधार्मिक' कहा है, और यह भी लिखा है, कि इस मूर्ख ने धर्मविजय को स्थापित करने का यत्न किया। 'विजयं नाम धार्मिकम्' में जो व्यंग्य है, उसे संस्कृत के ज्ञाता भलीभांति समझ सकते हैं। शालिशुक ने धर्म-विजय की नीति का दुरुपयोग करके अशांति और अव्यवस्था को और भी बढ़ा दिया। इस राजा के राष्ट्रमर्दन तथा धर्मविजय के ढोंग ने मागध-साम्राज्य को कितनी हानि पहुंचाई होगी, इसका अनुमान कर सकना कठिन नहीं है।

इसी शालिशुक के एक साल के शासन-काल में यवनों ने फिर पश्चिमी भारत पर आक्रमण किये। चंद्रगुप्त मौर्य के समकालीन यवन-राजा सैल्युकस की मृत्यु २८० ई० पू० में हुई थी। उसके बाद उसका लड़का एंटियोकस सीरिया की राजगद्दी पर बैठा था। २६१ ई० पू० में उसकी मृत्यु हुई। फिर एंटियोकस द्वितीय थिओस राजा बना, जो अशोक का समकालीन था। उसके शासनकाल में बैक्ट्रिया और पार्थिया सीरियन साम्राज्य से पृथक् हो गये। बैक्ट्रिया में डायो-डोरस प्रथम ने २५० ई० पू० में तथा पार्थिया में अेकसस (अरकस) ने २४८ ई० पू० में अपने स्वतंत्र राज्यों की स्थापना की। बैक्ट्रिया में डायोडोरस प्रथम के बाद डायोडोरस द्वितीय (२४५ ई० पू०) और यूथीडीमौस (२३२ ई० पू०) राजा हुए। यूथीडीमौस के समय में सीरिया के सम्राट् एंटियोकस दी ग्रेट ने बैक्ट्रिया पर आक्रमण करने शुरू किये। सीरिया और बैक्ट्रिया के इन युद्धों का अंत २०८ ई० पू० में हुआ। एंटियोकस ने बैक्ट्रिया की स्वतन्त्रता को स्वीकार कर लिया।

इसी समय एंटियोकस दी ग्रेट ने अपनी शक्तिशाली यवन-सेना के साथ हिंदू-

कुश पर्वत पार कर भारत पर आक्रमण किया। गांधार के राजा सुभागसेन के साथ उसके युद्ध हुए। पर शीघ्र ही दोनों राजाओं में संधि हो गई।

सुभागसेन के साथ संधि करके यवन-सेनाओं ने भारत में आगे बढ़कर आक्रमण किये। इस समय पाटलिपुत्र के राजसिंहासन पर शालिशुक विराजमान था, जिसने अपने बड़े भाई को मार कर राज्य प्राप्त किया था। गार्ग्यसंहिता के अनुसार यवनों ने न केवल मथुरा, पांचाल और साकेत को हस्तगत किया, पर मागध-साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र या पुष्पपुर पर भी हमला किया। इन आक्रमणों से सारे देश में अव्यवस्था मच गई, और सारी प्रजा व्याकुल हो गई। पर यह यवन देर तक भारत के मध्य देश में नहीं ठहर पाये। उनमें परस्पर गृहकलह शुरू हो गये और इन अपने अंदर उठे हुए युद्धों के कारण यवनों को शीघ्र ही भारत छोड़ देना पड़ा।

इस प्रकार यवन लोग तो भारत से चले गये, पर भारत में मौर्य-शासन की जड़ें हिल गईं। आपस के कलह के कारण मौर्यों का शासन पहले ही निर्बल हो चुका था, अब यवनों के आक्रमण से उसकी अवस्था और भी बिगड़ गई। गार्ग्य-संहिता के अनुसार, इसके बाद भारत में सात राजा राज्य करने लगे, या मागध-साम्राज्य सात राज्यों में विभक्त हो गया। गांधार, काश्मीर, कलिंग और आंध्र—ये चार राज्य इस समय तक मागध-साम्राज्य से पृथक् हो चुके थे। अब संभवतः उत्तरापथ में दो अन्य राज्य भी मगध की शक्ति के भग्नावशेष पर कायम हुए।

(५) मौर्य-वंश का अंत

शालिशुक के बाद राजा देववर्मा पाटलिपुत्र के राजसिंहासन पर बैठा। उसने २०६ ई० पू० से १९९ ई० पू० तक राज्य किया। यवनों के आक्रमण उसके समय में भी जारी रहे। २०० ई० पू० में बैक्ट्रिया के राजा डेमेट्रियस (दिमित्र, जो यूथीडीमोस का पुत्र था) ने भारत पर आक्रमण किया और उत्तरापथ के कुछ प्रदेश पर यवन-राज्य स्थापित कर लिया।

देववर्मा के बाद शतधनुष मगध का राजा बना। इसका शासन-काल १९९ ई० पू० से १९१ ई० पू० तक था। इसके शासन-काल में पश्चिमोत्तर भारत में यवनों ने अपना शासन अच्छी तरह से स्थापित कर लिया था। डेमेट्रियस बड़ा प्रतापी राजा हुआ है। उसका भारतीय राज्य काफी विस्तृत था। उसने अफगा-निस्तान और भारत में अपने नाम से अनेक नये नगर स्थापित किये थे। प्राचीन

आर्कोशिया में 'डेमेट्रियसपोलिस' नाम का एक नगर था। पतंजलिकृत महाभाष्य के अनुसार सौवीर देश में 'दात्तामित्रि' नाम का एक नगर विद्यमान था। यह दात्तामित्रि नगर डेमेट्रियस के नाम पर ही बसा था ।

संभवतः विदर्भ देश शतधनुष के समय में ही मागध-साम्राज्य से स्वतन्त्र हुआ। कालिदासविरचत मालविकाग्निमित्र के अनुसार पुष्यमित्र शुंग से पूर्व विदर्भ में यज्ञसेन नाम का स्वतन्त्र राजा राज्य करता था। वह शायद मौर्य-वंश के इसी ह्रासकाल में स्वतन्त्र हो गया था। बहुत-से प्राचीन गणराज्य भी इस काल में फिर से स्वतन्त्र हो गये थे ।

१९१ ई० पू० में शतधनुष के बाद बृहद्रथ मगध का राजा बना। यह शतधनुष का भाई था। बृहद्रथ मौर्य-वंश का अंतिम राजा था। इसके समय में मगध में फिर एक बार राज्यक्रान्ति हुई। बृहद्रथ का प्रधान सेनापति पुष्यमित्र शुंग था। शक्तिशाली मागध-सेना उसी के अधीन थी। इस सेना की सहायता से पुष्यमित्र ने बृहद्रथ की हत्या करके पाटलिपुत्र के राजसिहासन पर स्वयं अधिकार कर लिया। रिपुंजय, बालक आदि कितने ही पुराने मागध-सम्राटों के विरुद्ध उनके सेनापतियों ने इसी प्रकार से विद्रोह किया था। मगध में सेना की ही शक्ति प्रधान थी। प्रतापी और विश्वविख्यात मौर्य-वंश का अंत भी सेना द्वारा ही हुआ। मौर्य-वंश के शासन का अंत १८४ ई० पू० में हुआ।

(६) मौर्य-साम्राज्य के पतन के कारण

अशोक के बाद शक्तिशाली मागध-साम्राज्य में शिथिलता के चिह्न प्रगट होने लगे, और शालिशुक के समय में वह सर्वथा छिन्न-भिन्न हो गया था। इसके क्या कारण हैं ? पहला कारण अकेन्द्रीभाव की प्रवृत्ति है । केन्द्रीभाव और अकेन्द्रीभाव की प्रवृत्तियों में भारत में सदा से संघर्ष होता आया है। एक तरफ जहां अजातशत्रु, महापद्म नंद और चंद्रगुप्त मौर्य जैसे साम्राज्यवादी और महत्त्वाकांक्षी सम्राट् सारे भारत को एकच्छत्र शासन में लाने का उद्योग करते रहे, वहां दूसरी तरफ पुराने जनपदों और गणराज्यों में अपनी स्वतन्त्रता को कायम रखने की प्रवृत्ति भी विद्यमान रही । पुराने युग में भी इस देश में बहुत-सी जातियां, अनेक भाषायें और विभिन्न कानून व व्यवहार विद्यमान थे। विविध जनपदों में अपनी पृथक् सत्ता की अनुभूति बहुत प्रबल थी। परिणाम यह था, कि ये सदा एक केन्द्रीभूत साम्राज्य के विरुद्ध विद्रोह कर अपनी स्वतन्त्र सत्ता को स्थापित कर लेने के लिये तत्पर रहते थे। सम्राट्

की शक्ति के जरा भी निर्बल होने पर, विदेशी आक्रमण, दुर्भिक्ष या ऐसे ही किसी भी कारण के उत्पन्न हो जाने पर अकेन्द्रीभाव की ये प्रवृत्तियां प्रबल हो उठती थीं। मौर्य-साम्राज्य के पतन का यही प्रधान कारण था।

मगध के सम्राटों ने विविध जनपदों व गणराज्यों के अपने धर्म, व्यवहार, कानून और चरित्र को नष्ट करने का उद्योग नहीं किया। कौटल्य जैसे नीतिकारों ने यही प्रतिपादित किया था, कि राजा इन सबके व्यवहार और चरित्र को न केवल नष्ट न करे, पर उन्हें उसमें स्थापित भी रखे और अपने कानून का भी इस ढंग से निर्माण करे, कि इनके कानून से उसका विरोध न हो। इस नीति का यह परिणाम हुआ, कि विविध जनपदों और गणराज्यों में अपनी पृथक् सत्ता की अनुभूति प्रबलता के साथ कायम रही। मौर्यो की शक्ति के क्षीण होने पर ये राज्य फिर स्वतन्त्र हो गये। यही नीति शुंगों, कण्वों और आंध्रों की रही। गुप्तों ने भी इस नीति का अनुसरण किया। इसी कारण मालव, लिच्छवि, यौधेय आदि गण-राज्य और कलिंग, आंध्र आदि राजतन्त्र जनपद मगध के महत्त्वाकांक्षी सम्राटों से बार-बार परास्त होकर भी फिर-फिर स्वतन्त्र होते रहे।

मौर्य-राजाओं की धर्मविजय की नीति ने भी उनकी राजनीतिक शक्ति के निर्बल होने में सहायता दी। अशोक ने जिस उदात्त विचारसरणी से इस नीति का अनुसरण किया था, उसके निर्बल उत्तराधिकारी उसका सर्वांश में प्रयोग नहीं कर सके। राजा संप्रति ने सैनिकों को भी साधुओं के वस्त्र पहनाकर उनसे अपने प्रिय धर्म का प्रचार कराया। राजा शालिशूक धर्मविजय का ढोंग करता था। मागध-साम्राज्य की सत्ता ही उसकी अदम्य सेना पर आश्रित थी। कंबोज से बंग तक और काश्मीर से आंन्ध्र तक विस्तीर्ण मागध-साम्राज्य को एक सूत्र में बांधे रखने वाली शक्ति उसकी सेना ही थी। जब इस सेना के सैनिकों ने साधुओं के पीतवस्त्र धारण कर धर्मप्रचार का कार्य प्रारंभ कर दिया, तो यवनों और म्लेच्छों का शस्त्र से कैसे मुकाबला किया जा सकता था ? धर्मविजय की नीति से भारतीय धर्म, सभ्यता और संस्कृति के विदेशों में विस्तीर्ण होने में चाहे कितनी ही सहायता क्यों न मिली हो, पर मगध की सैनिक शक्ति को उसने अवश्य निर्बल किया। यही कारण है, कि भविष्य के विचारकों ने अशोक, शालिशुक आदि का मजाक उड़ाते हुए 'देवानां प्रिय' शब्द का अर्थ ही मूर्ख कर डाला। उन्होंने यह भी लिखा कि राजाओं का काम सिर मुंड़ाकर धर्म-चिंतन करना नहीं है, पर दण्ड (प्रचण्ड राजशक्ति) का धारण करना है। भारत में यह कहावत-सी हो गई कि जो ब्राह्मण असंतुष्ट हो, वह नष्ट हो जाता है, और जो राजा संतुष्ट

रहे, वह नष्ट हो जाता है। मगध के ये मौर्य-राजा जिस प्रकार अपनी राजशक्ति से संतुष्ट हो, पहले श्रावक और बाद में श्रमण होकर, बौद्ध-संघ के लिये अपना सर्वस्व निछावर करने के लिये तैयार हो गये थे, वह भारत की प्राचीन राजनीति के सर्वथा विरुद्ध था, और इसीलिये उनके इस रुख ने उनकी शक्ति के क्षीण होने में अवश्यमेव सहायता की। अकेन्द्रीभाव की बलवती प्रवृत्तियां, जनपदों व गण-राज्यों में अपनी पृथक् अनुभूति, और धर्मविजय की नीति का दुरुपयोग—ये तीन कारण थे, जिनसे शक्तिशाली विशाल मौर्य-साम्राज्य नष्ट हो गया।

(७) धर्मविजय की नीति

ऐतिहासकों ने सम्राट् अशोक को संसार के सबसे बड़े महापुरुषों में गिना है। निःसन्देह, अपनी शक्ति की चरम सीमा पर पहुंचकर उसने उस सत्य को अनुभव किया, जिसके समझने की आज भी संसार को आवश्यकता है। शस्त्रों द्वारा विजय में लाखों मनुष्यों की हत्या होती है, लाखों स्त्रियां-विधवा और बच्चे अनाथ होते हैं। ऐसी विजय स्थिर नहीं रहती। ये सत्य हैं, जिन्हें कलिंगविजय के बाद अशोक ने अनुभव किया। इसके स्थान पर, यदि धर्म द्वारा नये-नये देशों की विजय की जाय, तो उससे खून की एक बूद भी गिराये बिना, जहां अपनी शक्ति और प्रभाव का विस्तार होता है, वहां ऐसी विजय स्थिर भी रहती है। अशोक ने इसी धर्म-विजय के लिये प्रयत्न किया और उसे अपने उद्देश्य में सफलता भी हुई। चोल, पाण्ड्य, लंका, यवन-राज्य आदि विविध देश भारतीय भाषा, धर्म, सभ्यता और संस्कृति के प्रभाव में आ गये, और भारत के उस गौरव का प्रारम्भ हुआ, जो संसार के इतिहास में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। सिकन्दर व सीजर सदृश विजेताओं का शस्त्रों द्वारा विजित प्रदेशों में वह प्रभाव नहीं हुआ, जो अशोक का धर्म द्वारा जीत हुए देशों में हुआ। सिकन्दर का विशाल साम्राज्य उसकी मृत्यु के साथ ही खण्ड-खण्ड हो गया। पर अशोक द्वारा स्थापित धर्म-साम्राज्य सदियों तक कायम रहा। उसके अवशेष अब तक भी जीवित जागृत रूप में विद्यमान हैं। भारत में ही मौर्यों की शक्तिशाली सेनाओं ने जिस विशाल साम्राज्य की स्थापना की थी, एक सदी से भी कम समय में उसमें क्षीणता के चिह्न प्रगट होने लग गये थे। पर अशोक द्वारा स्थापित धर्म-साम्राज्य की सदियों तक उन्नति और समृद्धि होती रही।

क्या अच्छा होता, यदि ये धर्मविजयी मौर्य-सम्राट् सैनिक बल की भी उपेक्षा न करते। "वह ब्रह्म-शक्ति है, और यह क्षत्र-शक्ति। शास्त्र और शस्त्र—दोनों

के उपयोग से हम अपना उत्कर्ष करते हैं" प्राचीन भारत का यह आदर्श वस्तुतः अत्यन्त ऊंचा और क्रियात्मक है। यदि अन्तियोक, तुरुमय आदि यवन-राजाओं के राज्यों में धर्मविजय की स्थापना करते हुए मौर्य-राजा अपने शस्त्र-बल की उपेक्षा न करते, तो अशोक के अन्तिम काल में ही यवनों के आक्रमण भारत पर प्रारम्भ न हो जाते, और शालिशुक के समय में मथुरा, साकेत आदि का विजय करते हुए यवन लोग पाटलिपुत्र तक न पहुंच सकते।

सहायक ग्रन्थ

Rice : Mysore and Coorg from Inscriptions.
Rapson : Cambridge History of India Vol. I.
Smith : Early History of India.
Stein : Rajatarangini.
Sinha : History of Tirhut.
Raychaudhury : Political History of Ancient India.
Pargiter : Dynasties of the Kali Age.
सत्यकेतु विद्यालंकार—मौर्य-साम्राज्य का इतिहास

इक्कीसवां अध्याय

मौर्यकालीन कृतियां

(१) पाटलिपुत्र नगरी

मगध के मौर्य-सम्राटों की राजधानी पाटलिपुत्र एक बहुत ही विशाल नगरी थी। सीरिया के राजा सैल्युकस निकेटर का राजदूत मैगस्थनीज ३०३ ई० पू० में पाटलिपुत्र आया था और कई साल तक वहां रहा था। उसने अपने यात्रा-विवरण में इस नगरी का जो वर्णन किया है, उसमें कुछ बातें उल्लेखयोग्य हैं। उसके अनुसार "भारतवर्ष में जो सबसे बड़ा नगर है, वह प्रेसिआई (प्राच्य देश) में पालीबोथ्रा (पाटलिपुत्र) कहलाता था। वह गंगा और ऐरन्नाबोग्रस (सोन) नदियों के तट पर स्थित है। गंगा सब नदियों में बड़ी है, पर एरेन्नाबोग्रस संभवतः भारत में तीसरे नंबर की नदी है। भारत की नदियों में यद्यपि इसका नंबर तीसरा है, पर अन्य देशों की बड़ी से बड़ी नदी से भी यह बड़ी है। इस नगर की बस्ती लम्बाई में ८० स्टेडिया और चौड़ाई में १५ स्टेडिया तक फैली हुई है (एक मील=५$\frac{१}{२}$ स्टेडिया)। यह नगरी समानान्तर चतुर्भुज की शकल में बनी है। इसके चारों ओर लकड़ी की एक प्राचीर (दीवार) है, जिसके बीच में तीर छोड़ने के लिये बहुत से छेद बने हैं। दीवार के साथ चारों तरफ एक खाई है, जो रण के निमित्त और शहर का मैला बहाने के काम आती है। यह खाई गहराई में ४५ फीट और चौड़ाई में ६०० फीट है। शहर के चारों ओर की प्राचीर ५७० बुर्जों से सुशोभित है, और उसमें ६४ द्वार बने हैं।"

हजारों वर्ष बीत जाने पर अब इस वैभवशाली पाटलिपुत्र की कोई इमारत विद्यमान नहीं है। पर पिछले दिनों में जो खुदाई पाटलिपुत्र में हुई है, उससे मौर्यकाल के अनेक अवशेष उपलब्ध हुए हैं। प्राचीन पाटलिपुत्र नगर वर्तमान समय में गंगा और सोन नदियों के सुविस्तृत पाट के नीचे दब गया है। बांकीपुर रेलवे स्टेशन ईस्ट इंडियन रेलवे तथा आसपास की बस्तियों ने भी इस प्राचीन नगरी के बहुत

से भाग को अपने नीचे छिपा रखा है। ईस्ट इंडियन रेलवे के दक्षिण में कुमराहार नाम के गांव के समीप प्राचीन पाटलिपुत्र के बहुत-से अवशेष प्राप्त हुए हैं। जनश्रुति के अनुसार इस स्थान के नीचे पुराने जमाने के अनेक राजाप्रासाद दबे हुए हैं। कुमराहार गांव के उत्तर में कल्लू और चमन नाम के तालाबों के बीच में एक अशोककालीन स्तम्भ के कुछ अवशेष प्राप्त हुए हैं। यह स्तम्भ बलुए पत्थर का बना हुआ है, और इस पर बड़ा सुन्दर वज्रलेप किया गया है। मूल दशा में इसका व्यास तीन फीट था। इसी स्थान पर लकड़ी की बनी हुई एक पुरानी दीवार के भी अवशेष मिले हैं। अनुमान किया जाता है, कि ये पाटलिपुत्र की उसी प्राचीर के अवशेष हैं, जिसका उल्लेख मैगस्थनीज ने अपने यात्रावर्णन में किया था। लकड़ी की दीवार के कुछ अवशेष मौर्य-महलों के भी माने जाते हैं।

(२) अशोक के स्तूप

प्राचीन अनुश्रुति के अनुसार सम्राट् अशोक ने बहुत-से स्तूपों व विहारों का निर्माण कराया था। विविध ग्रंथों में इनकी संख्या चौरासी लाख लिखी है। समय के प्रभाव से अब अशोक की प्रायः सभी कृतियां नष्ट हो चुकी हैं। पर अबसे बहुत समय पहले, चीनी यात्रियों ने इनका अवलोकन कर इनका वर्णन लिखा था। पांचवीं सदी के शुरू में चीनी यात्री फाइयान भारत आया था। उसने अपनी आंखों से अशोक की अनेक कृतियों को देखा था। यद्यपि उसके समय में अशोक को मरे सात सौ साल के लगभग हो चुके थे, पर इतने समय बाद भी उसकी कृतियां अच्छी दशा में विद्यमान थीं। फाइयान ने लिखा है—'पुष्पपुर (पाटलिपुत्र) राजा अशोक की राजधानी था। नगर में अभी तक अशोक का राजप्रासाद और सभा-भवन है। सब असुरों के बनाये हुए है। पत्थर चुनकर दीवारें और द्वार बनाये गये हैं। उन पर सुदर खुदाई और पच्चीकारी है। इस लोक के लोग उन्हें नहीं बना सकते। अब तक नये के समान है।'

प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्युनत्सांग सातवीं सदी में भारत आया था। उसने अपने यात्रा-विवरण में अशोक के बनवाये हुए बहुत-से स्तूपों का वर्णन किया है, जिसे उसे अपनी आंखों से देखा था। तक्षशिला में उसने अशोक के बनवाये हुए तीन स्तूप देखे, जिनमें से प्रत्येक सौ-सौ फुट ऊंचा था। नगर-द्वार के स्तूप की ऊंचाई ३०० फीट थी। इसी तरह मथुरा, थानेसर, कन्नौज, अयोध्या, प्रयाग, कौशांबी, श्रावस्ती, श्रीनगर, कपिलवस्तु, कुशीनगर, बनारस, वैशाली, गया, ताम्रलिप्ती

आदि नगरों में उसने बहुत-से स्तूप देखे, जो अशोक ने बनवाये थे, और जो ऊंचाई में ७०,१००,२०० या ३०० फीट तक थे। पाटलिपुत्र में उसने अशोक का राजमहल भी देखा, पर तब तक वह भग्न दशा में आ चुका था। ह्युनत्सांग फाइ-यान के प्रायः दो सौ वर्ष बाद पाटलिपुत्र गया था। इस अरसे में अशोक का महल खंडहर हो चुका था। गुप्त-साम्राज्य के क्षीण होने पर पाटलिपुत्र की जो दुर्दशा हो गई थी, उसमें संभवतः प्राचीन इमारतों की रक्षा का यथोचित प्रबन्ध न रहा हो, और इसीलिये ह्युनत्सांग के समय तक नौ सौ साल पुराना अशोक का राज-प्रासाद खंडहर हो गया हो। इस चीनी यात्री ने पाटलिपुत्र में अशोक के समय का एक बहुत ऊंचा स्तंभ भी देखा, जहां अशोक ने चंडगिरिक की अध्यक्षता में नरकगृह का निर्माण कराया था। काश्मीर में ह्युनत्सांग ने अशोक के बनवाये हुए बहुत-से स्तूपों और संघारामों को देखा था, जिनका उल्लेख कल्हण की राज-तरंगिणी में भी किया गया है।

(३) सारनाथ

अशोक की अनेक कृतियां बनारस के समीप सारनाथ से उपलब्ध हुई हैं। इनमें मुख्य निम्नलिखित हैं—

(क) **प्रस्तर-स्तंभ**—इस पर अशोक की एक धम्मलिपि उत्कीर्ण है। यह स्तंभ बहुत ही सुन्दर है। इसके सिर पर चार सिंह-मूर्तियां हैं, जो मूर्तिनिर्माण-कला की दृष्टि से अद्वितीय हैं। किसी प्राणी की इतनी सजीव मूर्तियां अन्यत्र कहीं भी नहीं बनीं। मूर्तिकला की दृष्टि से इनमें कोई भी न्यूनता व दोष नहीं है। पहले इन मूर्तियों की आंखें मणियुक्त थीं, अब उनमें मणियां नहीं हैं, पर पहले वहा मणि होने के चिह्न अभी तक विद्यमान हैं। सिंह की चार मूर्तियों के नीचे चार चक्र हैं। चक्रों के बीच में हाथी, सांड, अश्व और शेर अंकित हैं। इन चक्रों तथा प्राणियों को चलती हुई दशा में बनाया गया है। इनके नीचे का अंश एक विशाल घंटे की तरह है। स्तंभ तथा उसका शीर्ष भाग बलुए पत्थर का है, जिसके ऊपर एक वज्रलेप है। यह लेप बहुत ही चिकना, चमकदार तथा सुन्दर है। यह वज्रलेप दो हजार से भी अधिक साल बीत जाने पर भी अब तक स्थिर रह सका है, यह सचमुच बड़े आश्चर्य की बात है। अनेक ऐतिहासिकों के मत में यह स्तंभ भारतीय शिल्प का सबसे उत्तम उदाहरण है। इससे बढ़िया शिल्प का अन्य कोई नमूना अब तक भारत में उपलब्ध नहीं हुआ।

(ख) **पाषाणवेष्टनी**—सारनाथ में ही अशोक के समय की बनी हुई एक पाषाण-

वेष्टनी (रेलिंग) उपलब्ध हुई है। यह सारनाथ के बौद्ध-विहार के प्रधान मंदि के दक्षिण भागवाले गृह में ईंट के एक छोटे स्तूप के चारों ओर लगी हुई निकर्ल है। यह सारी की सारी एक ही पत्थर की बनी हुई है। बीच में कहीं भी जोड़ नहीं है। सारी पाषाणवेष्टनी बहुत ही सुंदर तथा चिकनी है। इसे बनाने का खच 'सवहिका' नाम के किसी व्यक्ति ने दिया था। इसका नाम वेष्टनी पर उत्कीर्ण है।

(**ग**) **स्तूप**—अशोक द्वारा निर्मित एक स्तूप के कुछ चिह्न सारनाथ की खुदाई में प्राप्त हुए हैं। ये अशोक के प्रस्तरतंभ के समीप ही हैं। अबसे कुछ साल पूर्व तक यह स्तूप विद्यमान था, पर सन् १७९३-९४ मे काशी के राजा चेतसिंह ने अपने पूर्व दीवान बाबू जगतसिंह के नाम से जगतगंज मुहल्ला बनवाने के लिये इस स्तूप को तुड़वाकर इसके ईंट, पत्थर आदि मंगवा लिये थे। बाबू जगतसिंह के नाम से ही इस स्तूप के पुराने स्थान को जगतसिंह-स्तूप कहा जाता है। इसकी खुदाई के समय में प्राचीन समय की अनेक वस्तुएं प्राप्त हुई थी।

(४) सांची

मौर्य-काल की कृतियों में सांची का स्तूप बहुत महत्त्वपूर्ण है। यहां का मुख्य स्तूप मौर्य-काल का या उससे भी पहले का है। यह स्तूप बहुत बड़ा है। आधार के समीप इसका व्यास १०० फीट है। इसकी पूर्णावस्था में इसकी ऊंचाई ७७ फीट के लगभग थी। वर्तमान समय में इसका ऊपर का कुछ भाग टूट गया प्रतीत होता है। स्तूप लाल रंग के बलुए पत्थर का बना है। यह अर्धमंडलाकार (अंड) रूप से बना हुआ है, और इसके चारों तरफ एक ऊंची मेधि है, जो प्राचीन समय में प्रदक्षिणापथ का काम देती थी। इस प्रदक्षिणापथ तक पहुंचने के लिये स्तूप के दक्षिणी भाग में एक दोहरी सोपान है। संपूर्ण स्तूप के चारों ओर भूमि के समतल के साथ एक अन्य प्रदक्षिणापथ है, जो कि पत्थर से बनी हुई पाषाणवेष्टनी से परिवेष्टित है। यह वेष्टनी बहुत ही सादे ढंग की है, और किसी तरह की पच्ची-कारी आदि से खचित नहीं है। यह चार चतुष्कोण-प्रकोष्ठों में विभक्त है, जिन्हें चार सुन्दर द्वार एक दूसरे से पृथक् करते हैं। चारों द्वारों पर नानाविध मूर्तियां और उत्कीर्ण चित्रों तथा खचित पच्चीकारी से युक्त तोरण हैं। इनसे बौद्ध-धर्म की अनेक गाथाओं को व्यक्त किया गया है।

अनेक ऐतिहासिकों का विचार है, कि सांची का यह विशाल स्तूप अशोक के समय का बना हुआ नहीं है। यह उससे लगभग एक सदी पीछे बना था। अशोक

के समय में ईंटों का एक सादा स्तूप था, जिसे बढ़ाकर बाद में वर्तमान रूप दिया गया ।

सांची के भग्नावशेषों में सम्राट् अशोक के समय की एक अन्य भी कृति उपलब्ध हुई है। स्तूप के दक्षिणी द्वार पर एक प्रस्तर स्तंभ के अवशेष मिले हैं । विश्वास किया जाता है, कि शुरू में यह स्तंभ ४२ फीट ऊंचा था। इसके शीर्षभाग पर भी सारनाथ के स्तंभ के सदृश सिंहों की मूर्तियां हैं । वर्तमान समय में ये मूर्तियां भग्नप्राय हो गई हैं पर अपनी भग्नावस्था में भी ये अशोक-काल की कला की उत्कृष्टता का स्मरण दिलाती है। इस स्तंभ पर अशोक का एक लेख भी उत्कीर्ण है । संभवतः, सांची का यह स्तंभ भी अपने असली रूप में सारनाथ के स्तंभ के ही सदृश था ।

(५) बरहुत

यह स्थान इलाहाबाद से ९५ मील दक्षिण-पश्चिम की ओर, बुंदेलखंड की नागौद रियासत में है। यहां पर भी अशोक के समय की अनेक कृतियां उपलब्ध हुई हैं । सर एलेकजेंडर कनिंघम ने सन् १८७३ में इस स्थान का पहले-पहल पता लगाया था। उस समय यहां एक विशाल स्तूप के अवशेष विद्यमान थे, जो कि ईटों का बना हुआ था और जिसका व्यास ६८ फीट का था। स्तूप के चारों तरफ एक सुन्दर पाषाणवेष्टनी थी, जिसपर विविध बौद्ध-गाथायें चित्रों के रूप में खचित की गई थीं। पाषाणवेष्टनी की ऊंचाई सात फीट से भी अधिक थी। सांची-स्तूप के समान यह पाषाणवेष्टनी चार चतुष्कोण-प्रकोष्ठों में विभक्त थी और प्रकोष्ठों के बीच में सुन्दर तोरणों से युक्त द्वार थे। पाषाणवेष्टनी के ऊपर जो चित्र उत्कीर्ण हैं, उनमें जातक-ग्रंथों की कथाओं की प्रधानता है, और ये उत्कीर्ण चित्र मौर्य-काल की कला के अत्युत्कृष्ट उदाहरण हैं ।

बरहुत के स्तूप में सैकड़ों की संख्या में छोटे-छोटे आले बने हुए थे। उत्सव के अवसरों पर इनमें दीपक जलाये जाते थे। वर्तमान समय में यह स्तूप प्रायः नष्ट हो चुका है, और इसकी पाषाणवेष्टनी के बहुत-से खंड कलकत्ता-म्युजियम की शोभा बढ़ा रहे हैं। यह ध्यान में रखना चाहिये, कि बरहुत के सब अवशेष मौर्य-काल के नहीं हैं। उनमें से कुछ शुंग काल के तथा उसके भी बाद के हैं।

सारनाथ, सांची और बरहुत की पाषाणवेष्टनियों के सदृश ही अन्य वेष्टनियां और भी कई स्थानों से उपलब्ध हुई हैं। बोधगया में प्राप्त एक वेष्टनी के अवशेषों को अशोक के समय का समझा जाता है। प्राचीन पाटलिपुत्र के अवशेषों में भी कम

से कम तीन इस प्रकार की पाषाणवेष्टनियों के खंड प्राप्त हुए हैं, जो मौर्य-काल की हैं। सांची के समीप ही भीलसा के पास बेसनगर नामक स्थान पर इसी प्रकार की पाषाणवेष्टनी प्राप्त हुई है। इस पर नानाविध चित्र उत्कीर्ण हैं। इसे भी मौर्य-काल का माना जाता है। ये पाषाणवेष्टनियां कला की दृष्टि से बड़े महत्त्व की हैं। य प्रायः एक पत्थर की ही बनी हुई हैं, और इनमें कहीं भी जोड़ नहीं है।

(६) तक्षशिला

उत्तरापथ की इस प्राचीन राजधानी के स्थान पर जो खुदाई पिछले दिनों में हुई है, उसमें बहुत-सी पुरानी कृतियां उपलब्ध हुई हैं। इनमें से केवल दो कृतियां मौर्य-काल की हैं। ये दोनों आभूषण हैं। तक्षशिला क्षेत्र के अन्तर्गत भिड़ नामक स्थान से ये आभूषण प्राप्त हुए थे। मौर्य-काल के ये आभूषण बहुत ही सुंदर हैं। ये प्रशस्त रत्नों से जटित हैं, और सोने के बने हुए हैं।

चीनी यात्री ह्युनत्सांग ने तक्षशिला में जिस कुनाल-स्तूप का अवलोकन किया था, वह भी अब वहां खुदाई में मिल गया है। पर अनेक ऐतिहासिकों का मत है, कि यह स्तूप मौर्य-काल के बाद का है। जिस स्थान पर अशोक की दंतमुद्रा से अंकित कपटलेख के अनुसार कुनाल को अंधा किया गया था, वहां के पुराने स्तूप को बढ़ाकर बाद में बहुत विशाल स्तूप का निर्माण किया गया। ह्युनत्सांग ने उसी स्तूप को देखा था, और तक्षशिला में अब जिस स्तूप के अवशेष मिले हैं, वह भी बाद का ही बना हुआ है।

(७) मौर्यकालीन मूर्तियां व अन्य अवशेष

मौर्य-काल की सबसे प्रसिद्ध मूर्ति आगरा और मथुरा के बीच में परखम नामक गांव से मिली है। यह सात फीट ऊंची है, और भूरे बलुए पत्थर की बनी है। ऊपर बहुत ही सुन्दर वज्रलेप है। दुर्भाग्य से मूर्ति का मुह टूट गया है और भुजायें भग्न हो गई हैं। मूर्ति के व्यक्ति की जो पोशाक बनाई गई है, उससे मौर्यकालीन पहरावे का भलीभांति अनुमान किया जा सकता है। यह मूर्ति अब मथुरा के म्यूजियम में विद्यमान है।

मौर्य-काल की एक अन्य मूर्ति बेसनगर से मिली है। यह मूर्ति किसी स्त्री की है। इसकी भी भुजायें टूटी हुई और मुख बिगड़ा हुआ है। मूर्ति की ऊंचाई ६ फीट ७ इंच है।

पटना और दीदरगंज से भी दो अन्य मूर्तियां मिली हैं, जो मौर्य-काले की

मानी जाती हैं। ये परखम से प्राप्त मूर्ति से बहुत कुछ मिलती-जुलती हैं। कुछ ऐतिहासिकों ने इन्हें मौर्यों से भी पहले के शैशुनाग-काल का माना है।

अशोक के ऐसे स्तंभों का उल्लेख पहले हो चुका है, जिनपर उसके लेख उत्कीर्ण हैं। पर अशोक द्वारा स्थापित कराये हुए कुछ ऐसे स्तंभ भी मिले हैं, जिनपर कोई भी लेख नहीं हैं। ऐसा एक स्तंभ बिहार के मुजफ्फरपुर जिले में बखीरा नामक स्थान पर मिला है। यह स्तंभ ऊंचाई में ४४ फीट २ इंच है। सारा स्तंभ एक ही पत्थर का बना है। यह वजन में चालीस टन के लगभग है, और इसके शिखर पर सिंह की एक अत्यन्त सुन्दर मूर्ति बनी है। ऐसा ही एक अन्य स्तंभ बिहार के चम्पारन जिले में रामपुरवा नामक स्थान पर मिला है। इसके शिखर पर वृषभ की सुंदर मूर्ति है।

मौर्य-काल के गुहाभवनों का उल्लेख पहले किया जा चुका है। ये राजा अशोक और राजा दशरथ के समय के हैं। इनमें से सबसे बड़ा गोपिका गुहाभवन है, जिसे दशरथ ने आजीवक-संप्रदाय के साधुओं को दान किया था। इसकी लंबाई ४६ फीट ५ इन्च, चौड़ाई १६ फीट २ इन्च और ऊंचाई १० फीट ६ इन्च है। पहाड़ काटकर गुहामन्दिर बनाने की कला ने भारत में आगे चलकर बहुत उन्नति की। अजन्ता और एल्लोरा के गुहामन्दिर इस कला के सर्वोत्कृष्ट उदाहरण हैं। पर इस कला का प्रारम्भ मौर्य-काल की गुहाओं से ही हुआ था।

सहायक ग्रन्थ

Waddel L. A : Excavations at Pataliputra.
Marshall J. A. : A Guide to Sanchi.
Marshall J. A. : A Guide to Taxila.
Maisey : Sanchi and Its Remains.
Havell : History of Aryan Rule in India
Cunningham : Bhilsa Tops.,
Beal : Fa-hien
Watters : On Yuan Chwang's Travels in Ancient India.

बाईसवां अध्याय

मौर्यकाल की शासन-व्यवस्था

(१) कौटलीय अर्थशास्त्र

बीसवीं सदी के प्रारंभ में मैसूर के प्रसिद्ध विद्वान् श्री शाम शास्त्री ने आचार्य चाणक्य द्वारा विरचित अर्थशास्त्र को प्रकाशित किया। प्राचीन भारत में क्या शासन-व्यवस्था थी, पुराने समय में भारतीयों के राजनीतिक शास्त्र-संबंधी क्या विचार थे, उस समय के क्या कानून, व्यवहार व रिवाज थे, आर्थिक दशा क्या थी—इत्यादि सब बातों का परिज्ञान प्राप्त करने के लिये यह ग्रंथ एक अमूल्य भंडार के समान है। इस ग्रंथरत्न की रचना चन्द्रगुप्त मौर्य के प्रधान मंत्री और गुरु चाणक्य ने की, इसीलिये उसमें लिखा है—"जिसने बड़े अमर्ष के साथ शास्त्र का, शस्त्र का और नंदराज के हाथ में गई हुई पृथिवी का उद्धार किया, उसी ने इस शास्त्र की रचना की।" एक अन्य जगह लिखा गया है—"सब शास्त्रों का अनुक्रम करके और प्रयोग समझकर कौटल्य ने नरेन्द्र के लिये यह शासन की विधि (व्यवस्था) बनाई।"

पाटलिपुत्र के नंदराजाओं का विनाश कर चाणक्य ने चन्द्रगुप्त मौर्य को राजा बनाया, यह हम पहले लिख चुके हैं। उसी चाणक्य ने नरेन्द्र चन्द्रगुप्त के लिये शासनविधि का प्रतिपादन करने के निमित्त इस ग्रंथ की रचना की। चाणक्य के अनेक नाम थे। एक पुरानी पुस्तक के अनुसार वात्स्यायन, मल्लनाग, कुटल, चाणक्य, द्रमिल, पक्षिलस्वामी, विष्णुगुप्त और अंगुल—ये आठ नाम इस आचार्य के थे। पुरानी अनेक पुस्तकों में अर्थशास्त्र के कर्त्तारूप में चाणक्य का उल्लेख किया गया है। कामंदकनीतिसार में चाणक्य द्वारा विरचित अर्थशास्त्र की चर्चा है। दंडी कवि ने दशकुमारचरित में आचार्य विष्णुगुप्त (चाणक्य) द्वारा बनाये गये ६००० श्लोकोंवाले अर्थशास्त्र की बात लिखी है। पंचतंत्र, नीतिवाक्यामृत आदि पुस्तकों में भी अर्थशास्त्र के प्रसिद्ध पंडित आचार्य चाणक्य या कौटल्य

का उल्लेख आता है। टीकाकार मल्लिनाथ ने अपनी टीकाओं में 'इति कौटल्यः' लिखकर अर्थशास्त्र से उद्धरण दिये हैं।

ऐतिहासिकों में इस बात पर बहुत विवाद रहा है, कि अर्थशास्त्र की रचना किसी एक विद्वान् द्वारा हुई या वह एक संप्रदाय में धीरे-धीरे चिरकाल तक विकसित होता रहा। क्या यह मौर्य-युग में चाणक्य द्वारा बनाया गया या बाद में चाणक्य के मंतव्यों के अनुसार किसी अन्य व्यक्ति ने इसकी रचना की? हमें इस विवाद में यहां पड़ने की आवश्यकता नहीं। अब अनेक विद्वानों ने यह स्वीकृत कर लिया है, कि कौटलीय अर्थशास्त्र मौर्य-काल की ही रचना है, और उसका निर्माण आचार्य चाणक्य द्वारा नरेन्द्र चंद्रगुप्त के शासन की 'विधि' के रूप में ही हुआ था। यदि इसके कुछ अंशों को बाद का भी बना हुआ माना जाय, तो भी इसमें तो कोई संदेह नहीं, कि इस ग्रंथ से हमें मौर्य-काल की शासन-व्यवस्था, आर्थिक दशा और सामाजिक व्यवहार के संबंध में बहुत-सी ज्ञातव्य बातें मालूम हो जाती हैं। अर्थशास्त्र के अध्ययन से हम मौर्यकालीन भारत के विषय में जो जानकारी प्राप्त कर सकते हैं, वह प्राचीन भारत के किसी अन्य काल के संबंध में किसी भी अन्य साधन से प्राप्त नहीं की जा सकती।

(२) साम्राज्य का शासन

पांच चक्र—मौर्यों के समय में मगध का साम्राज्य बहुत विस्तृत हो चुका था। यद्यपि संपूर्ण साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र थी, पर वहां से कंबोज, बंग और आंध्र तक विस्तृत मौर्य-साम्राज्य का शासन सुचारु रूप से नहीं किया जा सकता था। अतः शासन की दृष्टि से मौर्यों के अधीन संपूर्ण 'विजित' को पांच भागों में बांटा गया था, जिनकी राजधानियां क्रमशः पाटलिपुत्र, तोसाली, उज्जैनी, तक्षशिला और सुवर्णगिरि थीं। इन राजधानियों को दृष्टि में रखकर हम यह सहज में अनुमान कर सकते हैं, कि विशाल मौर्य-साम्राज्य पांच चक्रों में विभक्त था। ये चक्र (प्रांत या सूबे) निम्नलिखित थे—(१) उत्तरापथ—जिसमें कंबोज, गांधार, काश्मीर, अफगानिस्तान, पंजाब आदि के प्रदेश अंतर्गत थे। इसकी राजधानी तक्षशिला थी। (२) पश्चिमचक्र—इसमें काठियावाड़-गुजरात से लगाकर राजपूताना, मालवा आदि के सब प्रदेश शामिल थे। इसकी राजधानी उज्जैनी थी। (३) दक्षिणापथ—विंध्याचल के दक्षिण का सारा प्रदेश इस चक्र में था, और इसकी राजधानी सुवर्णगिरि थी। (४) कलिंग—अशोक ने अपने नये जीते हुए प्रदेश को एक पृथक् चक्र बनाया था, जिसकी राजधानी तोसाली थी।

(५) मध्य देश—इसमें वर्तमान बिहार, उत्तर-प्रदेश और बंगाल सम्मिलित थे। इसकी राजधानी पाटलिपुत्र थी। इन पांचों चक्रों का शासन करने के लिये प्रायः राजकुल के व्यक्तियों को नियत किया जाता था, जिन्हें कुमार कहते थे। कुमार अनेक महामात्यों की सहायता से अपने-अपने चक्र का शासन करते थे। अशोक और कुनाल राजा बनने से पूर्व उज्जैनी, तक्षशिला आदि में 'कुमार' रह चुके थे।

चक्रों के उपविभाग—इन पांच चक्रों के अन्तर्गत फिर अनेक छोटे शासनकेन्द्र भी थे, जिनमें 'कुमार' के अधीन महामात्य शासन करते थे। उदाहरण के लिये तोसाली के अधीन समापा में, पाटलिपुत्र के अधीन कौशांबी में और सुवर्णगिरि के अधीन इसिला में महामात्य रहते थे। उज्जैनी के अधीन सुराष्ट्र का एक पृथक देश था, जिसका शासक चंद्रगुप्त के समय में वैश्य पुष्यगुप्त था। अशोक के समय में वहां का शासन यवन तुषास्प के अधीन था। मागध सम्राट् की ओर से जो आज्ञायें प्रचारित की जाती थीं वे चक्रों के 'कुमारों' के महामात्यों के नाम ही होती थीं। यही कारण है, कि दक्षिणापथ में इसिला के महामात्यों के नाम अशोक ने जो आदेश भेजे, वे सुवर्णगिरि के कुमार व आर्यपुत्र के द्वारा भेजे। इसी प्रकार कलिंग में समापा के महामात्यों को तोसाली के कुमार की मार्फत ही आज्ञा भेजी गई। पर मध्यदेश (राजधानी पाटलिपुत्र) के चक्र पर किसी कुमार की नियुक्ति नहीं होती थी, उसका शासन सीधा सम्राट् के अधीन था। अतः उसके अंतर्गत कौशांबी के महामात्यों को अशोक ने सीधे ही अपने आदेश दिये थे।

चक्रों के शासन के लिये कुमार की सहायतार्थ जो महामात्य नियुक्त होते थे, उन्हें शासन-संबंधी बहुत अधिकार रहते थे। अतएव अशोक ने चक्रों के शासकों के नाम जो आज्ञायें प्रकाशित कीं, उन्हें केवल कुमार या आर्यपुत्र के नाम से नहीं भेजा गया, अपितु कुमार और महात्मात्य —दोनों के नाम से प्रेषित किया। इसी प्रकार जब कुमार भी अपने अधीनस्थ महामात्यों को कोई आज्ञा भेजते थे, तो उन्हें वे अपने नाम से नहीं अपितु महामात्य सहित कुमार के नाम से भेजते थे।

जनपद व ग्राम—मौर्य-साम्राज्य के मुख्य पांच चक्र या विभाग थे, और फिर ये चक्र अनेक मंडलों में विभक्त थे। प्रत्येक मंडल में बहुत-से जनपद होते थे। संभवतः, ये जनपद प्राचीन युग के जनपदों के प्रतिनिधि थे। शासन की दृष्टि से फिर जनपदों के विविध विभाग होते थे, उन्हें कौटलीय अर्थशास्त्र में स्थानीय, द्रोणमुख, खार्वटिक, संग्रहण और ग्राम कहा गया है। शासन की सबसे छोटी इकाई ग्राम थी। दस ग्रामों के समूह को संग्रहण कहते थे। बीस संग्रहणों (या

स्वशासन पुरानी परंपरा के अनुसार जारी था। सब जनपदों में एक ही प्रकार की स्थानीय स्वतन्त्रता नहीं थी। हम जानते हैं, कि मागध-साम्राज्य के विकास से पूर्व कुछ जनपदों में गणशासन और कुछ में राजाओं का शासन था। उनके व्यवहार और धर्म अलग-अलग थे। जब वे मगध के साम्राज्यवाद के शिकार हो गये, तो भी उनमें अपनी पुरानी परंपरा के अनुसार स्थानीय शासन जारी रहा। पर ग्रामों में पुरानी ग्रामसभा और नगरों में नगरसभा (पौरसभा) के अधिकार कायम रहे। ग्रामों के समूहों व जनपदों में भी जानपदसभा की सत्ता विद्यमान रही। पर केन्द्रीय सरकार की तरफ से भी विविध करों को एकत्र करने तथा शासन का संचालन करने के लिये 'पुरुष' नियुक्त होते रहे।

मौर्य-साम्राज्य के शासन का यही स्थूल ढांचा है। अब हम इसका अधिक विस्तार से वर्णन करेंगे।

(३) विजिगीषु राजर्षि सम्राट्

विविध जनपदों और गणराज्यों को जीतकर जिस विशाल मागध-साम्राज्य का निर्माण हुआ था, उसका केन्द्र राजा या सम्राट् था। चाणक्य के अनुसार राज्य के सात अंगों में केवल दो की मुख्यता है, राजा और देश की। प्राचीन परंपरा के अनुसार राज्य के सात अंग होते थे—राजा, अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोष, सेना और मित्र। पुराने युग में जब छोटे-छोटे जनपद होते थे और उनमें एक ही 'जन' का निवास होता था, तो राजा की उनमें विशेष महत्ता नहीं होती थी। इसीलिये आचार्य भारद्वाज की दृष्टि में राजा की अपेक्षा अमात्य की अधिक महत्ता थी। अन्य आचार्यों की दृष्टि में अमात्य की अपेक्षा भी जनपद, दुर्ग या कोष आदि का महत्त्व अधिक था। एक जन के निवास-स्थान, प्राचीन काल के जनपदों में राजा की अपेक्षा अन्य अंगों व तत्त्वों की प्रमुखता सर्वथा स्वाभाविक थी। जनपदों को जीतकर जिन साम्राज्यों का निर्माण हो रहा था, उनका केन्द्र राजा ही था, वे एक महाप्रतापी महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति की ही कृति थे। उसी ने कोष, सेना, दुर्ग आदि का संगठन कर अपनी शक्ति का विस्तार किया था। कौटल्य के शब्दों में "मंत्रि, पुरोहित आदि भृत्यवर्ग की और राज्य के विविध अध्यक्षों व अमात्यों की नियुक्ति राजा ही करता है। राजपुरुषों में, कोष व जनता में यदि कोई विपत्ति आ जाय, तो उसका प्रतीकार राजा द्वारा ही होता है। इनकी उन्नति भी राजा के हाथ में है। यदि अमात्य ठीक न हो, तो राजा इन्हें हटाकर नये अमात्यों की नियुक्ति करता है। पूज्य लोगों की पूजा कर व दुष्ट लोगों का दमन कर राजा ही

सबका कल्याण करता है। यदि राजा संपन्न हो, तो उसकी समृद्धि से प्रजा भी संपन्न होती है। राजा का जो शील हो, वही शील प्रजा का भी होता है। यदि राजा उद्यमी व उत्थानशील हो, तो प्रजा भी उत्थानशील होती है। यदि राजा प्रमादी हो, तो प्रजा भी वैसी ही हो जाती है। अतः राज्य में कूटस्थानीय (केन्द्रीभूत) राजा ही है।"

जब साम्राज्यों में राजा का इतना महत्त्व है, तो राजा को भी एक आदर्श व्यक्ति होना चाहिये। कोई साधारण पुरुष राज्य का कूटस्थानीय नहीं हो सकता। चाणक्य के अनुसार राजा में निम्नलिखित गुण आवश्यक हैं। "वह ऊंचे कुल का हो, उसमें दैवी बुद्धि और दैवी शक्ति हो, वृद्ध (Elders) जनों की बात को सुननेवाला हो, धार्मिक हो, सत्य भाषण करनेवाला हो, परस्पर-विरोधी बातें न करे, कृतज्ञ हो, उसका लक्ष्य बहुत ऊंचा हो, उसमें उत्साह अत्यधिक हो, दीर्घसूत्री न हो, सामंत राजाओं को अपने वश में रखने में समर्थ हो, उसकी बुद्धि दृढ़ हो, उसकी परिषद् छोटी न हो और वह विनय (नियंत्रण) का पालन करने वाला हो।" इनके अतिरिक्त अन्य भी बहुत-से गुणों का चाणक्य ने विस्तार से वर्णन किया है, जो राजा में अवश्य होने चाहियें। राजा की बुद्धि बहुत तीक्ष्ण होनी चाहिये। स्मरण-शक्ति, बुद्धि और बल की उसमें अतिशयता होनी चाहिये। वह अत्यन्त उग्र, अपने ऊपर काबू रखनेवाला, सब शिल्पों में निपुण, सब दोषों से रहित और दूरदर्शी होना चाहिये। काम, क्रोध, लोभ, मोह, चपलता आदि पर उसे पूर काबू होना चाहिये।

चाणक्य इस बात को भली-भांति समझता था, कि इस प्रकार का आदर्श पुरुष सुगमता से नहीं मिल सकता। पर शिक्षा और विनय से ये गुण उत्पन्न किये जा सकते हैं। यदि एक कुलीन और होनहार व्यक्ति को बचपन से ही उचित शिक्षा दी जाय, तो उसे एक आदर्श राजा बनने के लिये तैयार किया जा सकता है। चाणक्य ने उस शिक्षा और विनय का विस्तार से वर्णन किया है, जो बचपन और युवावस्था में राजा को दी जानी चाहिये। राजा के लिये आवश्यक है, कि वह काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और हर्ष--इन छः शत्रुओं को परास्त कर अपनी इंद्रियों पर पूर्णतया विजय करे। उसके समय का एक-एक क्षण काम में लगा हो। दिन में तो उसे बिलकुल ही विश्राम नहीं करना चाहिये। रात को भी उसे तीन घण्टे से अधिक सोने की आवश्यकता नहीं। रात और दिन में उसके सारे समय का पूरा कार्यक्रम चाणक्य ने दिया है। भोग-विलास, नाच-रंग आदि के लिये कोई भी समय इसमें नहीं दिया गया। चाणक्य का राजा एक राजर्षि है,

जो सर्वगुणसंपन्न आदर्श पुरुष है, जिसका एकमात्र लक्ष्य विजिगीषा है। वह संपूर्ण जनपदों को विजय कर अपने अधीन करने के लिये प्रयत्नशील है। चातुरंत साम्राज्य की कल्पना को उसें कार्यरूप में परिणत करना है। उसका मंतव्य है, कि 'सारी पृथिवी एक देश है। उसमें हिमालय से लेकर समुद्रपर्यन्त सीधी रेखा खींचने से जो एक हजार योजन विस्तीर्ण प्रदेश है, वह एक चक्रवर्ती राजा का क्षेत्र है।' हिमालय से समुद्र तक फैली हुई एक हजार योजन विस्तीर्ण जो यह भारत भूमि (देश) है, वह सब एक चक्रवर्ती राजा के अधीन होनी चाहिये। इस स्वप्न को जिस व्यवित को 'कूटस्थानीय' होकर पूरा करना हो, वह यदि सर्वगुणसंपन्न न हो, राजर्षि का जीवन न व्यतीत करे, और काम-क्रोध आदि शत्रुओं का शिकार हो, तो वह कैसे सफलता प्राप्त कर सकता है ? अतः कौटलीय अर्थशास्त्र के विजिगीषु राजा को पूर्ण पुरुष होकर राजर्षि का जीवन व्यतीत करते हुए अपना कार्य करना चाहिये।

मगध ने जिस प्रकार के साम्राज्य का विकास किया था, उसकी सफलता के लिये अवश्य ही राजा को अनुपम शक्तिशाली और गुणसंपन्न होना चाहिये था। निःसन्देह, मागध-साम्राज्य के शासन में राजा ही 'कूटस्थानीय' होता था। यही कारण है, कि यदि कोई राजा निर्बल या अयोग्य हुआ, तो उसके विरुद्ध विद्रोह उठ खड़े होते थे, और साम्राज्य की शक्ति क्षीण होने लगती थी। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर आचार्य चाणक्य ने राजा के वैयक्तिक गुणों पर अत्यधिक बल दिया है।

कूटस्थानीय एकराट् राजा की वैयक्तिक रक्षा इस युग में एक बहुत बड़ी समस्या होती थी। गुप्त शत्रुओं से राजा की रक्षा करने के उपायों का कौटलीय अर्थशास्त्र में बड़े विस्तार से वर्णन किया गया है। अपने शयनागार में राजमहिषी के पास जाते हुए भी राजा निश्चिंत नहीं हो सकता था। शय्या के नीचे कोई शत्रु तो नहीं छिपा है, कहीं रानी ने ही अपने केशों में या वस्त्रों में कोई अस्त्र या विष तो नहीं छिपा लिया है, इन सब बातों का भलीभांति ध्यान रखा जाता था।

(४) मंत्रिपरिषद्

आचार्य चाणक्य के अनुसार राजवृत्ति तीन प्रकार की होती है—प्रत्यक्ष, परोक्ष और अनुमेय। जो अपने सामने हो, वह प्रत्यक्ष है। जो दूसरे बतावें, वह परोक्ष है। किये हुए कर्म से बिना किये का अंदाज करना अनुमेय कहलाता है। सब काम एक साथ नहीं होते। राजकर्म बहुत-से होते हैं और बहुत-से स्थानों

पर होते हैं। अतः एक राजा सारे राजकर्म अपने आप नहीं कर सकता। इसलिये उसे अमात्यों की नियुक्ति करने की आवश्यकता होती है । इसीलिये यह भी आवश्यक है, कि मंत्री नियत किये जायं, जो परोक्ष और अनुमेय राजकर्मों के संबंध में राजा को परामर्श देते रहें। राज्यकार्य सहायता के बिना सिद्ध नहीं हो सकता। एक पहिये से राज्य की गाड़ी नहीं चल सकती, इसलिये राजा सचिवों की नियुक्ति करे, और उनकी सम्मति को सुने। अच्छी बड़ी मंत्रिपरिषद् को रखना राजा के अपने लाभ के लिये है, इससे उसकी अपनी 'मंत्रशक्ति' बढ़ती है। परिषद् में कितने मंत्री हों, इस विषय में विविध आचार्यों के विविध मत थे। मानव, बार्हस्पत्य, औशनस आदि संप्रदायों के मत में मंत्रिपरिषद् में क्रमशः बारह, सोलह और बीस मंत्री होने चाहियें। पर चाणक्य किसी निश्चित संख्या के पक्ष में नहीं थे। उनका मत था कि जितनी सामर्थ्य हो, जितनी आवश्यकता हो, उतने ही मंत्री परिषद् में रख लिये जायं।

मंत्रिपरिषद् का कार्य सर्वथा गुप्त हो, इस बात का विशेष ध्यान रखा जाता था। चाणक्य के अनुसार इसके लिये ऐसा स्थान चुनना चाहिये, जहां पक्षियों तक की भी दृष्टि न पड़े, जहां से कोई भी बात बाहर का आदमी न सुन सके। सुनते है, कि शुक, सारिका, कुत्ते आदि जीव-जन्तुओं तक से मंत्र का भेद खुल गया। इसलिये मंत्ररक्षा का पूरा प्रबन्ध किये बिना इस कार्य में कभी प्रवृत्त न हो। यदि कोई मंत्र का भेद खोले, तो उसे जान से मार दिया जाय।

अत्यधिक गुप्त बातों पर राजा मंत्रिपरिषद् में सलाह नहीं करते थे। वे एक-एक मंत्री से अलग-अलग परामर्श करते थे, और इस संबंध में चाणक्य का यह आदेश था, कि जिस बात पर सलाह लेनी हो, उससे उलटी बात इशारे से पूछी जाय, ताकि किसी मंत्री को यह न मालूम पड़े कि राजा के मन में क्या योजना है, और वह वस्तुतः किस बात पर सलाह लेना चाहता है।

बड़ी मंत्रिपरिषद् के अतिरिक्त एक छोटी उपसमिति भी होती थी, जिसमें तीन या चार खास मंत्री रहते थे। इसे "मंत्रिणः' कहा जाता था। जरूरी मामलों पर इसकी सलाह ली जाती थी। राजा प्रायः अपने 'मंत्रिणः' और 'मंत्रिपरिषद्' के परामर्श से ही राज्यकार्य का संचालन करता था। वह भलीभांति "समझता था, कि मंत्रसिद्धि अकेले कभी नहीं हो सकती। जो बात मालूम नहीं है, उसे मालूम करना जो मालूम है, उसका निश्चय करना; जिस बात में दुविधा है, उसके संशय को नष्ट करना; और जो बात केवल आंशिक रूप से मालूम है, उसे पूर्णांश में जानना, यह सब कुछ मंत्रिपरिषद् के मंत्र द्वारा ही हो सकता है। अतः

जो लोग बुद्धिवृद्ध हों, उन्हें सचिव या मंत्री बनाकर उनसे सलाह लेनी चाहिये। मंत्रिपरिषद् में जो बात भूयिष्ठ (अधिक संख्या के) कहें, उसी के अनुसार कार्य करना उचित है। पर यदि राजा को भूयिष्ठ की बात 'कार्यसिद्धिकर' प्रतीत न हो तो उसे उचित है, कि वह उसी सलाह को माने, जो उसकी दृष्टि में कार्य-सिद्धिकर हो। जो मंत्री उपस्थित न हों, उनकी सम्मति पत्र द्वारा भी ली जाय। मंत्रिपरिषद् में केवल ऐसे ही व्यक्तियों को नियत किया जाय, जो 'सर्वोपधाशुद्ध' हों, अर्थात् सब प्रकार से परीक्षा करके जिनके विषय में यह निश्चय हो जाय, कि वे सब प्रकार के दोषों व निर्बलताओं से विरहित हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट है, कि मौर्यकाल में राज्यकार्य में परामर्श देने के लिये मंत्रिपरिषद् की सत्ता थी। अशोक के शिलालेखों में जिसे 'परिषा' कहा है, वही कौटलीय अर्थशास्त्र की मंत्रिपरिषद् है। पर इस परिषद् के मंत्रियों की नियुक्ति न तो निर्वाचन से होती थी, और न इसके कोई कुलक्रमानुगत सदस्य ही होते थे। परिषद् के मंत्रियों की नियुक्ति राजा अपनी स्वेच्छा से करता था। जिन अमात्यों व अन्य व्यक्तियों को वह 'सर्वोपधाशुद्ध' पाता था, उनमें से कुछ को आवश्यकता-नुसार मंत्रिपरिषद् में नियुक्त कर लेता था। प्रायः राजा मंत्रियों की सलाह के अनुसार कार्य करता था, पर यदि वह उनके मत को कार्यसिद्धिकर न समझे, तो अपनी इच्छानुसार भी कार्य कर सकता था। मागध-साम्राज्य में केन्द्रीयभूत कूटस्थानीय स्थिति राजा की ही थी। देश और प्रजा की उन्नति या अवनति उसी के हाथ में थी, अतः उसके मार्ग में मंत्रिपरिषद् बाधा नहीं डाल सकती थी। पर यदि राजा कुपथगामी हो जाय, राज्यकार्य की सर्वथा उपेक्षा कर ऐसे कार्यों में लग जाय, जिनसे प्रजा का अहित हो, तो प्रकृतियों (मंत्रियों और अमात्यों) को यह अधिकार अवश्य था, कि वे उसके विरुद्ध उठ खड़े हों और उसे बलात् ठीक मार्ग पर लाने का प्रयत्न करें। भारत की यह प्राचीन परंपरा थी। पुराने जनपदों में सभा, समिति या पौर जानपद राजा को सन्मार्ग पर स्थिर रखने में सदा प्रयत्न-शील रहते थे। मागध-साम्राज्य की मंत्रिपरिषद् यद्यपि राजा की अपनी कृति थी, तथापि वह प्राचीन परिपाटी के अनुसार राजा को सुपथ पर लाने के कर्तव्य की उपेक्षा नहीं करती थी। यही कारण है, कि जब अशोक ने बौद्ध-संघ को अनुचित रूप से राज्यकोष से दान देने का विचार किया, तो युवराज संप्रति द्वारा अमात्यों ने उसे रुकवा दिया।

(५) जनता का शासन

पर यदि मागध-साम्राज्य के शासन में 'कूटस्थानीय' राजा का इतना महत्त्व-

पूर्ण स्थान था, और उसकी मंत्रिपरिषद उसकी अपनी नियत की हुई सभा होती थी, तो क्या मागध-राजाओं का शासन सर्वथा निरंकुश और स्वेच्छाचारी था ? क्या उस समय की जनता शासन में जरा भी हाथ नहीं रखती थी ? यह ठीक है, कि अपने बाहुबल और सैन्य शक्ति से विशाल साम्राज्य का निर्माण करने-वाले मागध-सम्राटों पर अंकुश रखनेवाली कोई अन्य सर्वोच्च सत्ता नहीं थी, और ये राजा ठीक प्रकार से प्रजा का पालन करें, इस बात की प्रेरणा करनेवाली शक्ति उनकी अपनी योग्यता, अपनी महानुभावता और अपनी सर्वगुणसंपन्नता के अतिरिक्त और कोई चीज नहीं थी, पर मागध-साम्राज्य के शासन में जनता का बहुत बड़ा हाथ था। मागध-साम्राज्य ने जिन विविध जनपदों को अपने अधीन किया था, उनके व्यवहार, धर्म और चरित्र अभी अक्षुण्ण थे। वे अपना शासन बहुत कुछ स्वयं ही करते थे। उस युग के शिल्पी और व्यवसायी जिन श्रेणियों में संगठित थे, वे अपना शासन स्वयं करती थीं। नगरों की पौरसभायें, व्यापारियों के पूग और निगम, तथा ग्रामों की ग्रामसभायें अपने आंतरिक मामलों में अब भी पूर्ण स्वतंत्र थीं। राजा लोग देश के प्राचीन परंपरागत राजधर्म का पालन करते थे, और अपने 'व्यवहार' का निश्चय उसी के अनुसार करते थे। यह धर्म और व्यवहार सनातन थे, राजा की स्वेच्छा पर निर्भर नहीं थे। इन्हीं सबका परिणाम था, कि पाटलिपुत्र में विजगीषु राजर्षि राजाओं के रहते हुए भी जनता अपना शासन अपने आप करती थी। इन सब बातों पर जरा अधिक विस्तार से प्रकाश डालना उपयोगी होगा।

जनपदों का शासन––मगध के साम्राज्यवाद ने धीरे-धीरे भारत के सभी पुराने जनपदों को अपने अधीन कर लिया था। पर इन पजनपदों की पहले अपनी सभायें होती थीं, जिन्हें पौर जानपद कहते थे। जनपद की राजधानी या पुर की सभा को 'पौर' और शेष प्रदेश की सभा को जानपद कहा जाता था। प्रत्येक जनपद के अपने धर्म, व्यवहार और चरित्र भी होते थे। मगध के सम्राटों ने इस विविध जनपदों को जीतकर इनकी आंतरिक स्वतन्त्रता को कायम रखा। कौटलीय अर्थशास्त्र में एक प्रकरण है, जिसका नाम 'लब्धप्रशमनम्' है। इसमें यह वर्णन किया गया है, कि नये जीते हुए प्रदेश के साथ क्या व्यवहार किया जाय और उसमें किस प्रकार शांति स्थापित की जाय। इसके अनुसार नये जीते हुए प्रदेश में राजा को चाहिये कि अपने को जनता का प्रिय बनाने का प्रयत्न करे। जनता के विरुद्ध आचरण करनेवाले का विश्वास नहीं जम सकता, अतः राजा उनके समान ही अपना शील, वेश, भाषा और आचार बना ले। देश के देवताओं, समाजों, उत्सवों

और विहारों का आदर करे । उनके धर्म, व्यवहार आदि का उल्लंघन न करे ।

सब जनपदों के साथ एक-सा बरताव नहीं किया जाता था, पुराने गणराज्य मगध के साम्राज्यविस्तार के मार्ग में घोर रुकावट थे । आचार्य चाणक्य की इनके संबंध में नीति यह थी, कि इन सबको दमन करके 'एकराज' की स्थापना की जाय । संघों या गणराज्यों को वश में करने के लिये चाणक्य ने साम, दाम, दंड, भेद—सब प्रकार के उपायों का बड़े विस्तार से वर्णन किया है । इन उपायों में से बहुत-से ऐसे भी हैं, जिन्हें नैतिक दृष्टि से शायद उचित न समझा जाय । शराब, द्यूत, फूट आदि सब प्रकार के उपायों का अवलंबन करके संघराज्यों का सर्वथा अंत कर दिया जाय, यही चाणक्य को अभिप्रेत था । पुराने वज्जि, शाक्य आदि गणों ने बढ़ते हुए साम्राज्यवाद के मार्ग में जिस प्रकार रुकावटें उपस्थित की थीं, उसी को दृष्टि में रखते हुए चाणक्य को गणराज्यों की सत्ता बिलकुल भी पसंद नहीं थी और उसने उनके संबंध में 'एकराज' नीति का उपदेश किया था । पर इस प्रकार के उपायों से संघों को नष्ट करने के बाद भी उनके धर्म, व्यवहार और चरित्र का आदर किया जाता था, और उनमें पृथक् होने की अनुभूति विद्यमान रहती थी । इसी कारण मगध के साम्राज्यवादी सम्राट् गणों वा संघों का कभी पूर्णतया विनाश नहीं कर सके, और उनकी शक्ति के शिथिल होते ही ये फिर से स्वतन्त्र हो गये ।

जनपदों का शासन करने के लिये सम्राट् की तरफ से समाहर्त्ता नामक राज-पुरुष की नियुक्ति की जाती थी । पर यह जनपद के आंतरिक शासन में हस्तक्षेप नहीं करता था । स्वशासन की दृष्टि से सब जनपदों की स्थिति एक समान नहीं थी । मौर्यों से पहले भी अवंति, कोशल, वत्स आदि के राजाओं ने बहुत-से जनपदों को जीतकर अपने अधीन कर लिया था । शैशुनाग, नंद आदि मागध-राजा भी अपने साम्राज्य का बहुत कुछ विस्तार करने में सफल हुए थे । इनमें से अनेक राजा 'अधार्मिक' भी थे, और उन्होंने प्राचीन आर्य-मर्यादा के विपरीत अपने जीते हुए जनपदों की आंतरिक स्वतन्त्रता का भी विनाश किया था । जो जनपद देर से मागध-साम्राज्य के अधीन थे, उनकी अपेक्षा नये जीते हुए जनपदों का पृथक् व्यक्तित्व अधिक सुरक्षित था ।

नगरों का शासन—मौर्यकाल में नगरों में स्थानीय स्वशासन की क्या दशा थी, इसका सबसे अच्छा परिचय मैगस्थनीज के यात्रा-विवरण से मिलता है । मैगस्थनीज ने पाटलिपुत्र के नगरशासन का विस्तार से वर्णन किया है । उसके अनुसार पाटलिपुत्र की नगरसभा छः उपसमितियों में विभक्त थी । प्रत्येक उप-

समिति के पांच-पांच सदस्य होते थे। इन उपसमितियों के कार्य निम्नलिखित थे।

पहली उपसमिति का कार्य औद्योगिक तथा शिल्प-संबंधी कार्यों का निरीक्षण करना था। मजदूरी की दर निश्चित करना तथा इस बात पर विशेष ध्यान देना कि शिल्पी लोग शुद्ध तथा पक्का माल काम में लाते हैं, और मजदूरों के कार्य का समय तय करना इसी उपसमिति का कार्य था। चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में शिल्पी लोगों का समाज में बड़ा आदर था। प्रत्येक शिल्पी राष्ट्र की सेवा में नियुक्त माना जाता था। यही कारण है, कि यदि कोई मनुष्य किसी शिल्पी के ऐसे अंग को विकल कर दे, जिससे कि उसके हस्तकौशल में न्यूनता आ जावे, तो उसे मृत्यु-दंड की व्यवस्था थी।

दूसरी उपसमिति का कार्य विदेशियों का सत्कार करना था। इस समय जो काम विदेशों के दूतमंडल करते हैं, उनमें से अनेक कार्य यह समिति किया करती थी। जो विदेशी पाटलिपुत्र में आवें उनपर यह उपसमिति निगाह रखती थी। साथ में विदेशियों के निवास, सुरक्षा और समय-समय पर औषधोपचार का कार्य भी इस उपसमिति के सुपुर्द था। यदि किसी विदेशी की पाटलिपुत्र में मृत्यु हो जाय, तो उसके देश के रिवाज के अनुसार उसे दफनाने का प्रबन्ध भी इसी की तरफ से होता था। मृत परदेसी की जायदाद व संपत्ति का प्रबंध भी यही उप-समिति करती थी।

तीसरी उपसमिति का काम मर्दुमशुमारी करना होता था। मृत्यु और जन्म की सूची रखना इसी उपसमिति का कार्य था। कर लगाने के लिये यह सूची बड़ी उपयोगी होती थी।

चौथी उपसमिति क्रय-विक्रय के नियमों का निर्धारण करती थी। भार और माप के परिमाणों को निश्चित करना, व्यापारी लोग उनका शुद्धता के साथ-साथ और सही-सही उपयोग करते हैं, इसका निरीक्षण करना इस उपसमिति का कार्य था। व्यापारी लोग जब किसी खास वस्तु को बेचने की अनुमति प्राप्त करना चाहते थे, तो इसी उपसमिति के पास आवेदन-पत्र भेजते थे। ऐसी अनुमति देते समय यह उपसमिति अतिरिक्त कर भी वसूल करती थी।

पांचवीं उपसमिति व्यापारियों पर इस बात के लिये कड़ा निरीक्षण रखती थी, कि वे लोग नई और पुरानी वस्तुओं को मिलाकर तो नहीं बेचते। नई और पुरानी चीजों को मिलाकर बेचना नियम के विरुद्ध था। इसको भङ्ग करने पर सजा दी जाती थी। यह नियम इसलिये बनाया गया था, क्योंकि पुरानी वस्तुओं

का बाजार में बेचना कुछ विशेष अवस्थाओं को छोड़कर सर्वथा निषिद्ध था

छठी उपसमिति का कार्य क्रय-विक्रय पर टैक्स वसूल करना होता था। उस समय में यह नियम था, कि जो कोई वस्तु जिस कीमत पर बेची जाय, उसका दसवां भाग कर-रूप में नगरसभा को दिया जाय। इस कर को न देने से कड़े दण्ड की व्यवस्था थी।

इस प्रकार छः उपसमितियों के पृथक्-पृथक् कार्यो का उल्लेख कर मैगस्थनीज ने लिखा है, कि "ये कार्य हैं, जो उपसमितियां पृथक् रूप से करती हैं। पर सामूहिक रूप में जहां, उपसमितियों को अपने-अपने विशेष कार्यों का खयाल करना होता है, वहां वे सब मिलकर सार्वजनिक या सर्वसाधारण हित के कार्यों पर भी ध्यान देती हैं। यथा सार्वजनिक इमारतों को सुरक्षित रखना, उनकी मरम्मत का खयाल रखना, कीमतों को नियंत्रित करना, बाजार, बंदरगाह और मंदिरों पर ध्यान देना।"

मैगस्थनीज के इस विवरण से स्पष्ट है, कि मौर्य चंद्रगुप्त के शासन में पाटलिपुत्र का शासन तीस नागरिकों की एक सभा के हाथ में था। संभवतः यही प्राचीन पौरसभा थी। इस प्रकार की पौरसभायें तक्षशिला, उज्जैनी आदि अन्य नगरियों में भी विद्यमान थी। जब उत्तरापथ के विद्रोह को शांत करने के लिये कुमार कुनाल तक्षशिला गया था, तो वहां के 'पौर' ने उसका स्वागत किया था। अशोक के शिलालेखों में भी ऐसे निर्देश विद्यमान हैं, जिनसे सूचित होता है, कि उस समय के बड़े नगरों में पौरसभायें विद्यमान थीं। जिस प्रकार मागध-साम्राज्य के अंतर्गत विविध जनपदों में अपने परंपरागत धर्म, व्यवहार और चरित्र विद्यमान थे, उसी प्रकार पुरों व नगरों में भी थे। यही कारण है, कि नगरों के निवासी अपने नगरों के शासन में पर्याप्त अधिकार रखते थे।

ग्रामों का शासन—जनपदों में बहुत-से ग्राम सम्मिलित होते थे, और प्रत्येक ग्राम शासन की दृष्टि से अपनी पृथक् व स्वतन्त्र सत्ता रखता था। कौटलीय अर्थशास्त्र के अध्ययन से हमें इन ग्राम-संस्थाओं के संबंध में बहुत-सी बातें ज्ञात होती हैं। प्रत्येक ग्राम का शासक पृथक्-पृथक् होता था, जिसे ग्रामिक कहते थे। ग्रामिक ग्राम के अन्य निवासियों के साथ मिलकर अपराधियों को दंड देता था, और किसी व्यक्ति को ग्राम से बहिष्कृत भी कर सकता था। ग्राम की अपनी सार्वजनिक निधि भी होती थी। जो जुर्माने ग्रामिक द्वारा किये जाते थे, वे इसी निधि में जमा होते थे। ग्राम की तरफ से सार्वजनिक हित के अनेक कार्यों की व्यवस्था होती थी। लोगों के मनोरंजन के लिये विविध तमाशों (प्रेक्षाओं)

की व्यवस्था की जाती थी, जिसमें सब ग्रामवासियों को हिस्सा बटाना होता था। जो लोग अपने सार्वजनिक कर्तव्य की उपेक्षा करते थे, उनपर जुर्माना किया जाता था। इससे यह सूचित होता है कि ग्राम का अपना एक पृथक् संगठन भी उस युग में विद्यमान था। यह ग्रामसंस्था न्याय का भी कार्य करती थी। ग्रामसभाओं में बनाये गये नियम साम्राज्य के न्यायालयों में मान्य होते थे। 'अक्षपटल के अध्यक्ष' के कामों में एक यह भी था, कि वह ग्रामसंघ के धर्म, व्यवहार, चरित्र, संस्थान आदि को निबंधपुस्तकस्थ (रजिस्टर्ड) करे।

भारत की इन्हीं ग्रामसंस्थाओं के क रण यहां के निवासियों की वास्तविक स्वतन्त्रता सदा सुरक्षित रही है। इस देश की सर्वसाधारण जनता का बड़ा भाग सदा से ग्रामों में बसता रहा है। ग्राम के लोग अपने सुख व हित की अपने संघ में स्वयं व्यवस्था करते थे, अपने लिये स्वयं नियम बनाते थे और अपने मनोरंजन का भी स्वयं ही प्रबन्ध करते थे। इस दशा में साम्राज्य के अधिपति की निरंकुशता या एक सत्ता का उनपर विशेष असर नहीं होता था।

व्यवसायियों की श्रेणियां—मौर्यकाल के व्यवसायी और शिल्पी श्रेणियों (Guilds) में संगठित थे। ये श्रेणियां अपने नियम स्वयं बनाती थीं, और अपने संघ में सम्मिलित शिल्पियों के जीवन व कार्य पर पूरा नियन्त्रण रखती थीं। इनके नियम, व्यवहार और चरित्र आदि को भी राजा की तरफ से स्वीकृत किया जाता था।

धर्म और व्यवहार—मगध के मौर्य-सम्राट् अपने साम्राज्य पर अपनी स्वेच्छा और निरंकुशता से शासन न कर धर्म और व्यवहार के अनुसार शासन करते थे। चाणक्य ने अर्थशास्त्र में लिखा है, कि जो राजा धर्म, व्यवहार, संस्था और न्याय के अनुसार अनुशासन करता है, वह चातुरंत पृथिवी को विजित कर लेता है। चाणक्य के 'विजगीषु' के लिये यह आवश्यक है, कि वह निरंकुश और स्वेच्छाचारी न हो, अपितु धर्म, व्यवहार आदि के अनुसार ही शासन करे। अर्थशास्त्र में यह विचार विद्यमान है, कि राजा जनता से जो छठा भाग कर के रूप में लेता है वह उसका एक प्रकार का वेतन है। इसके बदले में वह प्रजा के योग-क्षेम का संपादन करता है। राजा को धर्म और न्याय के अनुसार शासन करना है, यह विचार प्राचीन समय में इतना प्रबल था, कि आचार्य चाणक्य ने यह व्यवस्था की है कि यदि राजा किसी निरपराधी को दंड दे दे, तो राजा को उससे तीस गुना दंड दिया जाय। इस प्रकार यह स्पष्ट है, कि मौर्यकाल का राजा देश के कानून के अनुसार चलता था, और उसका शासन स्वेच्छाचारी न होकर मर्यादित होता था।

जिस कानून के अनुसार वह शासन करता था, उसके चार अंग होते थे—धर्म, व्यवहार, चरित्र और राजशासन। इनमें से पिछला पहले का बाधक होता था। अभिप्राय यह है, कि यदि व्यवहार या चरित्र का राजशासन (राजा की आज्ञा) से विरोध हो, तो उसमें राजाज्ञा व्यवहार या चरित्र को काट देगी। धर्म वे कानून थे, जो सत्य पर आश्रित शाश्वत नियम हैं। व्यवहार का निश्चय साक्षियों द्वारा किया जाता था। जो कानून पुराने समय से चले आते थे, उन्हें व्यवहार कहते थे। कौन-से नियम पुराने समय से चले आते हैं, इसका निर्णय साक्षियों द्वारा ही हो सकता था। चरित्र वे कानून थे, जो ग्राम-श्रेणि आदि विविध समूहों में प्रचलित थे। इन सबसे ऊपर राजा की आज्ञा थी। पर मौर्यकाल के कानून में धर्म, व्यवहार और चरित्र की सुनिश्चित स्थिति का होना इस बात का प्रमाण है, कि राजा लोग अपने शासन में उन्हें काफी महत्त्व देते थे, और जनता की इच्छा या चरित्र की वे सर्वथा उपेक्षा नहीं कर सकते थे।

मगध के एकराट् राजाओं की अपार शक्ति के बावजूद जनता की स्वतन्त्रता ऊपर वर्णन किये गये विविध रूपों में सुरक्षित थी, और मौर्य-युग के भारतीय अनेक प्रकार से अपने साथ संबंध रखनेवाले विषयों का संचालन स्वयं करते थे।

(६) केन्द्रीय शासन का संगठन

कौटलीय अर्थशास्त्र के अध्ययन से मौर्य-साम्राज्य के केन्द्रीय संगठन के सम्बन्ध में भलीभांति परिचय मिलता है। इस काल में शासन के विविध महकमे 'तीर्थ' कहलाते थे। इनकी संख्या अठारह होती थी। प्रत्येक तीर्थ एक महामात्य के अधीन रहता था। इन अठारह महामात्यों और उनके विविध कार्यों का संक्षेप से उल्लेख करना अत्यन्त उपयोगी है:—

१. मंत्री और पुरोहित—ये दो अलग-अलग पद थे, पर सम्भवतः चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में आचार्य चाणक्य मंत्री और पुरोहित दोनों पदों पर विद्यमान थे। बाद में राधागुप्त जैसे प्रतापी अमात्य भी संभवतः मंत्री और पुरोहित दोनों पदों पर रहे। कौटलीय अर्थशास्त्र में इन दोनों पदों का उल्लेख प्रायः साथ-साथ आया है। राजा इन्हीं के साथ मिलकर अन्य राजकर्मचारियों के शौचाशौच की परीक्षा लेता था, प्रजा की सम्मति जानने के लिये गुप्तचरों को नियत करता था, विदेशों में राजदूतों की नियुक्ति और परराष्ट्र-नीति का संचालन करता था। शिक्षा

का कार्य भी इन्हीं के अधीन रहता था। राज्य के अन्य विभागों पर भी मंत्री और पुरोहित का निरीक्षण रहता था। राजा इन्हीं के परामर्श से अपने राज्यकार्य का संचालन करता था।

२. **समाहर्त्ता**—विविध जनपदों के शासन के लिये नियुक्त राजपुरुष को जहां समाहर्त्ता कहते थे, वहां सब जनपदों के शासन का संचालन करनेवाला विभाग (तीर्थ) भी 'समाहर्त्ता' नामक अमात्य के अधीन था। राजकीय करों का एकत्र करना इस विभाग का सर्वप्रधान कार्य था। समाहर्त्ता के अधीन अनेक 'अध्यक्ष' होते थे, जो अपने-अपने विभाग के राजकीय करों को एकत्र करते थे, और व्यापार, व्यवसाय आदि का संचालन करते थे। ऐसे कुछ अध्यक्ष निम्नलिखित हैं:—

(क) शुल्काध्यक्ष—विविध प्रकार के व्यापार से संबंध रखनेवाले अनेकविध शुल्कों (करों) को एकत्र करना इसका कार्य था।

(ख) पौतवाध्यक्ष—तौल और माप के परिमाणों पर नियंत्रण रखनेवाले राजपुरुषों को पौतवाध्यक्ष कहते थे। इन परिमाणों को ठीक न रखने से जुरमाना किया जाता था।

(ग) मानाध्यक्ष—देश और काल को मापने के विविध साधनों का नियंत्रण राज्य के अधीन था। यह कार्य मानाध्यक्ष के अधिकार में होता था।

(घ) सूत्राध्यक्ष—राज्य की तरफ से अनेक व्यवसाय चलाये जाते थे। विधवा, विकलांग मनुष्य, अनाथ लड़की, भिखारी, राज्य के कैदी, वेश्याओं की वृद्ध मातायें, वृद्ध राजदासी, देवदासी आदि के पालन-पोषण के लिये राज्य की ओर से उन्हें काम दिया जाता था। इन कार्यों में सूत कातना, कवच बनाना, कपड़ा बुनना और रस्सी बनाना मुख्य थे। यह सब कार्य सूत्राध्यक्ष के हाथ में होता था।

(ङ) सीताध्यक्ष—कृषि-विभाग के अध्यक्ष को सीताध्यक्ष कहते थे। वह न केवल देश में कृषि की उन्नति पर ही ध्यान देता था, अपितु राजकीय भूमि पर दास, मजदूर आदि से खेती भी कराता था।

(च) सुराध्यक्ष—शराब का निर्माण तथा प्रयोग राज्य द्वारा नियंत्रित था। सुराध्यक्ष शराब बनवाता था, उसे बिकवाने का प्रबन्ध करता था तथा उसके प्रयोग का नियंत्रण करता था।

(छ) सूनाध्यक्ष—इसका कार्य बूचड़खानों का नियंत्रण था। बूचड़खानों के संबंध में अनेक प्रकार के नियम होते थे। अनेकविध पशुओं और पक्षियों की

हत्या निषिद्ध थी। सूनाध्यक्ष न केवल देश के विविध बूचड़खानों का नियंत्रण करता था, अपितु राजकीय सूना का सब प्रबन्ध भी करता था ।

(ज) गणिकाध्यक्ष—मौर्यकाल में वेश्याओं का प्रयोग राजनीतिक दृष्टि से भी किया जाता था। संघ, सामंत आदि को वश में लाने के लिये गणिकायें प्रयुक्त की जाती थीं। अतः बहुत-सी वेश्याएं राज्य की ओर से भी नियत होती थीं। राजा के स्नान, मर्दन, छत्रधारण, शिविका, पीठिका, रथ पर साथ चलने आदि के लिये भी राज्य की ओर से वेश्याओं को रखा जाता था। यह सब विभाग गणिकाध्यक्ष के अधीन था। स्वतन्त्र वेश्याओं का संपूर्ण प्रबंध तथा निरीक्षण भी इसी विभाग के कार्य थे।

(झ) मुद्राध्यक्ष—देश से बाहर आने या जाने के लिये राजकीय मुद्रा प्राप्त करना आवश्यक होता था। यह कार्य मुद्राध्यक्ष के अधीन था।

(ञ) विवीताध्यक्ष—गोचर भूमियों का प्रबन्ध इस विभाग का कार्य था। चोर तथा हिंसक जंतु चरागाहों को नुकसान न पहुंचावें, यह प्रबन्ध करना; जहां पशुओं के पीने का जल न उपलब्ध हो, वहां उसका प्रबन्ध करना; और तालाब तथा कुएं बनवाना इसी विभाग के कार्य थे। जंगल की सड़कों को ठीक रखना, व्यापारियों के माल की रक्षा करना, काफिलों को डाकुओं से बचाना तथा शत्रुओं के हमलों की सूचना राजा को देना, यह सब कार्य विवीताध्यक्ष के सुपुर्द थे।

(ट) नावध्यक्ष—जलमार्गों का सब प्रबंध नावध्यक्ष के अधीन था। छोटी-बड़ी नदियों, समुद्रतटों तथा महासमुद्रों को पार करनेवाली नौकाओं वा जहाजों का यही प्रबन्ध करता था। जलमार्ग से यात्रा करने पर क्या किराया लगे, यह सब नावध्यक्ष द्वारा ही तय होता था।

(ठ) गोऽध्यक्ष—राजकीय आय तथा सैनिक दृष्टि से राज्य की ओर से गौओं तथा अन्य उपयोगी पशुओं की उन्नति का विशेष प्रयत्न होता था। राज्य की ओर से बड़ी-बड़ी गोशालायें भी होती थीं। यह सब प्रबंध गोऽध्यक्ष के अधीन था।

(ड) अश्वाध्यक्ष—सैनिक दृष्टि से उस समय घोड़ों का बड़ा महत्त्व था। उनके पालन, नसल की उन्नति आदि पर राज्य की ओर से बहुत ध्यान दिया जाता था। घोड़ों को युद्ध के लिये तैयार करने के लिये अनेक प्रकार की कवायद कराई जाती थी। ये सब कार्य अश्वाध्यक्ष के अधीन थे।

(ढ) हस्त्यध्यक्ष—यह जंगलों से हाथियों को पकड़वाने, हस्तिवनों की रक्षा

करने तथा हाथियों के पालन और सैनिक दृष्टि से उन्हें तैयार करने का कार्य करता था। इसी तरह ऊंट, खच्चर, भैंस, बकरी आदि के लिये भी पृथक् उप-विभाग थे।

(ण) कुप्याध्यक्ष---कुप्य पदार्थों का अभिप्राय शाक, महुआ, तिल, शीशम, खैर, शिरीष, देवदार, कत्था, राल, ओषधि आदि से है। ये सब पदार्थ जंगलों में पैदा होते थे। कुप्याध्यक्ष का कार्य यह था, कि जंगलों में उत्पन्न होनेवाले विविध पदार्थों को एकत्र कराके उन्हें कारखानों में भेज दे, ताकि वहां कच्चे माल को तैयार माल के रूप में परिवर्तित किया जा सके। कुप्याध्यक्ष के अधीन द्रव्यपाल और वनपाल नाम के कर्मचारी होते थे, जो जंगलों से कुप्य द्रवों को एकत्र कराने तथा जंगलों की रक्षा का कार्य करते थे।

(त) पण्याध्यक्ष---यह न केवल स्वदेशी और विदेशी व्यापार का नियंत्रण करता था, अपितु राज्य द्वारा अधिकृत व निर्मित पदार्थों को बेचने का भी प्रबंध करता था।

(थ) लक्षणाध्यक्ष---संपूर्ण मुद्रापद्धति (करेंसी) इसके अधीन थी। मौर्य-युग का प्रधान सिक्का पण कहलाता था, जो चांदी का बना होता था। पण के अतिरिक्त अर्धपण, पादपण तथा अष्टभागपण नाम के सिक्के भी होते थे।

(द) आकराध्यक्ष---मौर्यकाल में आकरों (खानों) से धातुओं व अन्य बहुमूल्य पदार्थों को निकालने का कार्य बहुत उन्नत था। यह सब कार्य आकराध्यक्ष के अधीन रहता था। उसके नीचे अन्य अनेक उपाध्यक्ष होते थे, जिनमें लोहाध्यक्ष, लवणाध्यक्ष, खन्यध्यक्ष और सुवर्णाध्यक्ष विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

(ध) देवताध्यक्ष---विविध देवताओं व उनके मन्दिरों का प्रबन्ध इसके अधीन रहता था।

(न) सौवर्णिक---टकसाल के अध्यक्ष को सौवर्णिक कहते थे।

ये बीस अध्यक्ष समाहर्त्ता के विभाग के अधीन होते थे। समाहर्त्ता राज्य का बहुत ही महत्त्वपूर्ण तीर्थ होता था, और जनपदों के शासन का संचालन बहुत कुछ उसी के हाथ में रहता था।

३. **सन्निधाता**---राजकीय कोष का विभाग सन्निधाता के हाथ में रहता था। राजकीय आय और व्यय का हिसाब रखना और उसके संबंध में नीति का निर्धारण करना सन्निधाता का ही कार्य था। चाणक्य ने लिखा है---'सन्निधाता को सैकड़ों वर्ष की बाहरी तथा अंदरूनी आय-व्यय का परिज्ञान होना चाहिये, जिससे कि वह

बिना किसी संकोच या घबराहट के तुरन्त व्ययशेष (नेट इन्कम या सरप्लस) को बता सके।'

सन्निधाता के अधीन भी अनेक उपविभाग थे—कोषगृह, पण्यगृह, कोष्ठागार, कुप्यगृह, आयुधागार और बंधनागार। कोषगृह के उपाध्यक्ष को कोषाध्यक्ष कहते थे। वह कोषगृह में सब प्रकार के रत्नों तथा अन्य बहुमूल्य पदार्थों का संग्रह करता था। चाणक्य के अनुसार 'कोषाध्यक्ष का कर्त्तव्य है, कि वह रत्नों के मूल्य, प्रमाण, लक्षण, जाति, रूप, प्रयोग, संशोधन, देश तथा काल के अनुसार उनका घिसना या नष्ट होना, मिलावट, हानि का प्रत्युपाय आदि बातों का परिज्ञान रखे।' पण्यगृह में राजकीय पण्य (विक्रेय पदार्थ) एकत्र किये जाते थे। राज्य की तरफ से जिन अनेक व्यवसायों का संचालन होता था, उनसे तैयार किये गये पदार्थ सन्निधाता के अधीन पण्यगृह में भेज दिये जाते थे। कोष्ठागार में वे पदार्थ संगृहीत किये जाते थे, जिनकी राज्य को आवश्यकता रहती थी। सेना, राजपुरुष आदि के खर्च के लिये राज्य की ओर से जो माल खरीदा जाता था, स्वयं बनाया जाता था या बदले में प्राप्त किया जाता था, वह सब कोष्ठागार में रखा जाता था। कुप्यगृह में कुप्य पदार्थ एकत्र होते थे। आयुधागार में सब प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों का संग्रह रहता था। बंधनागार (जेलखाना) का विभाग भी सन्निधाता के अधीन था। चाणक्य के अनुसार बंधनागार के सब कमरे सब ओर से सुरक्षित बनाये जाने चाहिये और स्त्री-पुरुष के रहने के लिये कमरे पृथक्-पृथक् बने होने चाहिये।

४. **सेनापति**—यह युद्धविभाग का महामात्य होता था। चाणक्य के अनुसार 'सेनापति संपूर्ण युद्ध-विद्या तथा अस्त्र-शस्त्र-विद्या में पारंगत हो। हाथी, घोड़े तथा रथ के संचालन में समर्थ हो। वह चतुरंग (पदाति, अश्व, रथ, हस्ति) सेना के कार्य तथा स्थान का निरीक्षण करे। अपनी भूमि (मोरचा), युद्ध का समय, शत्रु की सेना, सुदृढ़ व्यूह का भेदन, टूटे हुए व्यूह का फिर से निर्माण, एकत्रित सेना को तितर-बितर करना, तितर-बितर हुई सेना का संहार करना, किले को तोड़ना, युद्धयात्रा का समय आदि बातों का हर समय ध्यान रखे।'

५. **युवराज**—राजा की मृत्यु के बाद जहां युवराज राजगद्दी का उत्तराधिकारी होता था, वहां राजा के जीवनकाल में भी वह शासन में हाथ बटाता था। उसका तीर्थ (विभाग) अलग था, और शासनसंबंधी अनेक अधिकार उसे प्राप्त रहते थे। राजा की अनुपस्थिति में वह शून्यपाल (रीजेंट) का कार्य करता था। वह सब कार्यों में राजा की सहायता करता था।

६. **प्रदेष्टा**—मौर्यकाल में न्यायालय दो प्रकार के होते थे, धर्मस्थीय और

कंटकशोधन। इनके भेद पर हम बाद में प्रकाश डालेंगे। कंटकशोधन न्यायालयों के न्यायाधीश को प्रदेष्टा कहते थे। विविध अध्यक्षों और राजपुरुषों का नियंत्रण करना; वे बेईमानी, चोरी, रिश्वत आदि से पृथक् रहें, इसका ध्यान रखना भी प्रदेष्टा का कार्य था।

७. **नायक**—सेना के मुख्य संचालक को नायक कहते थे। सेनापति सैन्य विभाग का महामात्य होता था, पर नायक सेना का युद्धक्षेत्र में संचालन करता था। स्कंधावार (छावनी) तैयार कराने का काम इसी के हाथ में था। युद्ध का अवसर आने पर विविध सैनिकों को क्या-क्या काम दिया जाय, सेना की व्यूहरचना आदि कैसे की जाय—इन सब बातों का निर्णय नायक ही करता था।

८. **व्यावहारिक**—धर्मस्थीय न्यायालय के प्रधान न्यायाधीश को व्यावहारिक कहते थे।

९. **कार्मान्तिक**—मौर्यकाल में राज्य की ओर से अनेक कारखानों का संचालन होता था। खानों, जंगलों, खेतों आदि के एकत्र कच्चे माल को भिन्न-भिन्न उपयोगों के लिये तैयार करने के लिये राज्य की ओर से विविध कारखाने थे, उनका संचालन कार्मान्तिक के अधीन होता था। चाणक्य ने लिखा है—'खानों से जो धातुएं निकलें, उन्हें अपने-अपने कारखानों में भेज दिया जाय। जो माल तैयार हो, उसे बेचने का प्रबन्ध एक स्थान पर किया जाय। इन नियमों का उल्लंघन करनेवाले क्रेता, विक्रेता तथा कर्ता (पक्का माल तैयार करनेवाला) को दंड दिया जाय।'

१०. **मंत्रिपरिषद्-अध्यक्ष**—राजा को सलाह देने के लिये मंत्रिपरिषद् होती थी, यह हम पहले लिख चुके हैं। उसका एक पृथक् विभाग होता था, जिसके अध्यक्ष की गिनती राज्य के प्रधान अठारह तीर्थों में की जाती थी।

११. **दंडपाल**—सेना के दो महामात्यों, सेनापति और नायक का उल्लेख ऊपर हो चुका है। दंडपाल भी सेना के साथ ही संबंध रखता था। इसका विशेष कार्य सेना की सब आवश्यकताओं को पूरा करना और उसके लिये सब प्रबंध करना होता था।

१२. **अंतपाल**—मागध-साम्राज्य में सीमान्त प्रदेशों का बड़ा महत्त्व था। उस समय सीमा की रक्षा के लिये बहुत-से दुर्ग बनाये जाते थे। विदेशी सेना जब आक्रमण करके अपने राज्य की सीमा को लांघने लगे, तो ये दुर्ग देश की रक्षा के लिये बड़े उपयोगी होते थे। सीमा-प्रदेश के रास्तों पर भी जगह-जगह छावनी डाली जाती थी। यह सब कार्य अंतपाल के सुपुर्द था। सीमाप्रांत में ऐसी भी अनेक

जातियों को बसाया जाता था, जिन्हें लड़ाई में ही आनंद आता था और जिनका पेशा ही युद्ध करना होता था। इन्हें साम, दाम और भेद से अपने पक्ष में रखा जाता था। शत्रु के आक्रमण करने पर ये सब जातियां उसका मुकाबला करने के लिये उठ खड़ी होती थीं। इनकी व्यवस्था भी अंतपाल के ही हाथ में थी।

१३. **दुर्गपाल**––जिस प्रकार सीमा-प्रदेशों के दुर्ग अंतपाल के अधीन थे, वैसे ही साम्राज्य के अंतर्वर्ती दुर्ग दुर्गपाल के अधिकार में रहते थे। उस युग में बड़े-बड़े नगर दुर्ग के रूप में ही बसे होते थे। इन सब की दुर्ग रूप में व्यवस्था दुर्गपाल के हाथ में होती थी।

१४. **नागरक**––जैसे जनपदों का शासन समाहर्त्ता के अधीन था, वैसे ही पुरों या नगरों के शासन का सर्वोच्च अधिकारी नागरक होता था। विशेषतया, राजधानी का शासन नागरक के हाथ में रहता था। साम्राज्य में राजधानी की विशेष महत्ता होती थी। पाटलिपुत्र उस युग में संसार का सबसे बड़ा नगर था। रोम और एथन्स का विस्तार पाटलिपुत्र की अपेक्षा बहुत कम था। ९ मील लंबे और १½ मील चौड़े इस विशाल नगर का प्रबन्ध एक पृथक् महामात्य के अधीन हो, यह उचित ही था।

१५. **प्रशास्ता**––चाणक्य के अनुसार 'राजकीय आज्ञाओं पर शासन आश्रित होता है। संधि और विग्रह का मूल्य राजकीय आज्ञायें ही हैं।' इन सब आज्ञाओं (राजशासन) को लिपिबद्ध करने के लिये एक पृथक् विभाग था, जिसके प्रधान अधिकारी को प्रशास्ता कहते थे। राज्य के अन्य सब विभागों का रिकार्ड रखना भी इसी का काम था। उसके अधीन जो विशाल कार्यालय होता था, उसे 'अक्षपटल' कहते थे। राजकीय कर्मचारियों के वेतन, नौकरी की शर्तें, विविध देश, जनपद, ग्राम, श्रेणि आदि के धर्म, व्यवहार व चरित्र आदि का उल्लेख, खानों, कारखानों आदि के कार्य का हिसाब––ये सब अक्षपटल में भलीभांति 'निबंध-पुस्तकस्थ' किये जाते थे।

१६. **दौवारिक**––यह राजप्रासाद का प्रधान पदाधिकारी होता था। मागध-साम्राज्य के कूटस्थानीय राजा का राजप्रासाद अत्यन्त विशाल था, जिसमें हजारों की संख्या में स्त्री-पुरुष रहते थे। इन सबका प्रबन्ध करना, अंतःपुर के आंतरिक शत्रुओं से राज्य की रक्षा करना दौवारिक का कार्य था।

१७. **आंतर्वंशिक**––राजा की निजी अंगरक्षक सेना के अध्यक्ष को आंतर्वंशिक कहते थे। अंतःपुर के अंदर भी आंतर्वंशिक के विश्वस्त सैनिक राजा की रक्षा के लिये सदा तत्पर रहते थे। जिस समय राजा रानी से मिलता था, तभी वह अकेला

होता था। पर उस समय भी यह भलीभांति देख लिया जाता था, कि रानी के शयनागार में कोई अन्य व्यक्ति तो छिपा हुआ नहीं है। परिचारिकायें रानी की भी अच्छी तरह तलाशी ले लेती थीं। यह सब प्रबन्ध आंतर्वंशिक के अधीन होता था।

१८. **आटविक**—मागध-साम्राज्य की सेना में 'आटविक बल' बड़ा महत्त्व था, इसका उल्लेख अनेक बार पहले हो चुका है। मागध-सम्राटों ने अपनी शक्ति के विस्तार में इन आटविक सेनाओं का भलीभांति उपयोग किया था। इन्हीं के प्रधान राजकर्मचारियों को आटविक या अटविपाल कहते थे और वह राज्य के अठारह तीर्थों में से एक माना जाता था।

(७) न्याय-व्यवस्था

विशाल मागध-साम्राज्य में न्याय के लिये अनेकविध न्यायालय होते थे। सबसे छोटा न्यायालय ग्रामसंस्था (ग्रामसंघ) का होता था, जिसमें ग्राम के निवासी अपने मामलों का स्वयं निपटारा करते थे। इसके ऊपर संग्रहण के, फिर द्रोणमुख के और फिर जनपदसंधि के न्यायालय होते थे। इनके ऊपर पाटलिपुत्र में विद्यमान धर्मस्थीय और कंटकशोधन न्यायालय होते थे। सबसे ऊपर राजा होता था, जो अनेक न्यायाधीशों की सहायता से किसी भी मामले का अंतिम निर्णय करने का अधिकार रखता था। ग्राम-संघ और राजा के न्यायालय के अतिरिक्त बीच के सब न्यायालय धर्मस्थीय और कंटकशोधन, इन दो भागों में विभक्त रहते थे। धर्मस्थीय न्यायालयों के न्यायाधीश धर्मस्थ या व्यावहारिक कहलाते थे और कंटकशोधन के प्रदेष्टा।

धर्मस्थीय—इन दोनों प्रकार के न्यायालयों में किन-किन बातों के मामलों का फैसला होता था, इसकी विस्तृत सूची कौटलीय अर्थशास्त्र में दी गई है। धर्मस्थीय में प्रधानतया निम्नलिखित मामले पेश होते थे—दो व्यक्तियों या व्यक्तिसमूहों के आपस के व्यवहार के मामले; आपस में जो 'समय' (कंट्रैक्ट) हुआ हो, उसके मामले; स्वामी और भृत्य के झगड़े; दासों के झगड़े; ऋण को चुकाने के मामले; धन को अमानत पर रखने से पैदा हुए झगड़े; क्रय-विक्रय संबंधी मामले; दिए हुए दान को फिर लौटाने या प्रतिज्ञात दान को न देने का मामला; डाका, चोरी या लूट के मुकदमे; किसी पर हमला करने का मामला; गाली, कुवचन या मानहानि के मामले; जुए-संबंधी झगड़े; मिल्कियत के बिना ही किसी संपत्ति को बेच देना; मिल्कियत; संबंधी विवाद; सीमा-संबंधी झगड़े; इमारतों के बनाने के

कारण उत्पन्न मामले; चरागाहों, खेतों और मार्गों को क्षति पहुंचाने के मामले; पति-पत्नी संबंधी मुकदमे; स्त्री-धन संबंधी विवाद; संपत्ति के बटवारे और उत्तराधिकार संबंधी झगड़े; सहोद्योग, कंपनी तथा साझे के मामले; विविध रुकावटें पैदा करने के मामले; न्यायालय में स्वीकृत निर्णयविधि संबंधी विवाद और विविध मामले।

कण्टकशोधन न्यायालय——कंटकशोधन न्यायालयों में निम्नलिखित मामले पेश होते थे——शिल्पियों व कारीगरों की रक्षा तथा उनसे दूसरों की रक्षा, व्यापारियों की रक्षा तथा उनसे दूसरों की रक्षा, राष्ट्रीय व सार्वजनिक आपत्तियों के निराकरण संबंधी मामले; नियम-विरुद्ध उपायों से आजीविका चलानेवाले लोगों की गिरफ्तारी; अपने गुप्तचरों द्वारा अपराधियों को पकड़ना; शक होने पर या वस्तुतः अपराध करने पर गिरफ्तारी; मृतदेह की परीक्षा कर मृत्यु के कारण का पता लगाना; अपराध का पता करने के लिये विविध भांति के प्रश्नों तथा शारीरिक कष्टों का प्रयोग; सरकार के संपूर्ण विभागों की रक्षा, अंग काटने की सजा मिलने पर उसके बदले में जुर्माना देने के आवेदन-पत्र; शारीरिक कष्ट के साथ या उसके बिना मृत्युदंड देने का निर्णय; कन्या पर बलात्कार और न्याय का उल्लंघन करने पर दंड देना।

ऊपर की सूचियों से स्पष्ट है, कि धर्मस्थीय न्यायालयों में व्यक्तियों के आपस के मुकदमे पेश होते थे। इसके विपरीत कंटकशोधन न्यायालयों में वे मुकदमे उपस्थित किये जाते थे, जिनका संबंध राज्य से होता था। कंटकशोधन का अभिप्राय ही यह है कि राज्य के कंटकों (कांटों) को दूर करना।

न्यायालयों में मुकदमे किस प्रकार किये जाते थे, इस विषय पर भी अर्थशास्त्र में विस्तार से प्रकाश डाला गया है। जब निर्णय के लिये कोई मुकदमा जाता था तो निम्नलिखित बातें दर्ज की जाती थीं——(१) ठीक तारीख, (२) अपराध का स्वरूप। (३) घटनास्थल। (४) यदि ऋण का मुकदमा है, तो ऋण की मात्रा (५) वादी और प्रतिवादी दोनों का देश, ग्राम, जाति, गोत्र, नाम और पेशा (६) दोनों पक्षों की युक्तियों तथा प्रत्युक्तियों का पूरा-पूरा विवरण। इस संबंध में साक्षी, जिरह आदि सब बातों का चाणक्य ने विस्तार से उल्लेख किया है।

(८) राजकीय आय-व्यय

कौटलीय अर्थशास्त्र में राजकीय आय के निम्नलिखित साधनों का विस्तार से वर्णन किया है——

१. **दुर्ग**—नगरों से जो विविध आमदनी मागध-साम्राज्य को होती थी, उसे दुर्ग कहा जाता था। दुर्गों की आमदनी के विविध साधन निम्नलिखित थे:—(क) शुल्क—चुंगी। (ख) पौतव—तौल और माप के साधनों को प्रमाणित करने से प्राप्त कर। (ग) दण्ड—जुरमाना। (घ) नागरिक—जेलखानों से आय। (ङ) मुद्रा-पद्धति की आय। (च) मुद्रा—नगरप्रवेश के समय मुद्रा (सरकारी पास) लेने से होनेवाली आमदनी। (छ) सुरा—शराब के ठेकों की आय। (ज) सूना—बूचड़खानों की आमदनी। (झ) सूत्र—राज्य की ओर से अनाथ,रोगी, विकलांग आदि व्यक्तियों से काम कराया जाता था,उसकी आमदनी। (ञ) तेल —तेल के व्यवसाय पर राज्य कर लेता था, उसकी आय। (ट) घृत—घी के कारोबार से वसूल होनेवाला कर। (ठ) नमक—नमक बनाने पर लगाया गया कर। (ड) सौवर्णिक—सुनारों से वसूल होनेवाला कर। (ढ) पण्यसंस्था—राजकीय पण्य की बिक्री से होनेवाली आय। (ण) वेश्या—वेश्याओं की आय तथा स्वतन्त्र व्यवसाय करनेवाली वेश्याओं से कर। (त) द्यूत—जुए की आय। (थ) वास्तुक—अचल संपत्ति से वसूल किया जानेवाला कर तथा जायदाद बिक्री के समय लिया जानेवाला कर। (द) कारीगरों तथा शिल्पियों की श्रेणियों से वसूल होनेवाला कर। (ध) देवताध्यक्ष—धर्म-मंदिरों से प्राप्त होनेवाली आमदनी का अंश। (न) द्वार—नगर के द्वार से आने या जानेवाले माल पर लिया हुआ कर। (प) वाहिरकादेय—अत्यन्त धनी लोगों से लिया जानेवाला अतिरिक्त कर।

२. **राष्ट्र**—देहात या जनपद से जो आमदनी राज्य को होती थी, उसे राष्ट्र कहते थे। इसके अन्तर्गत निम्नलिखित आमदनियां होती थीं—(क) सीता—राज्य की अपनी जमीनों से होनेवाली आमदनी। (ख) भाग—जिन जमीनों पर राज्य का स्वामित्व नहीं था, उनसे वसूल किया जानेवाला अंश। (ग) बलि-तीर्थस्नान आदि धार्मिक स्थानों पर लगा हुआ विशेष कर। (घ) वणिक्—देहात के व्यापार पर लिया जानेवाला कर। (ङ) नदी-पालस्तर—नदियों पर बने हुए पुलों पर से पार उतरने पर लिया जानेवाला कर। (च) नाव—नौका से नदी पार करने पर लिया जानेवाला कर। (छ) पट्टन—कसबों का कर। (ज) विवीत—चरागाहों के कर। (झ) वर्तनी—सड़कों के कर। (ञ) चोररज्जु—हथकड़ियों से प्राप्त होनेवाली आमदनी।

३. **खनि**—मौर्य-युग में खानें राज्य की संपत्ति होती थीं। सोना, चांदी,

हीरा, मणि, मुक्ता, शंख, लोहा, नमक, पत्थर तथा अन्य अनेक प्रकार की खानों से राज्यकोष की बहुत आमदनी होती थी।

४. सेतु—पुष्पों और फूलों के उद्यान, शाक के खेत और मूलों (मूली, शलगम, कंद आदि) के खेतों से जो आय होती थी, उसे सेतु कहते थे।

५. वन—जंगलों पर उस युग में राज्य का अधिकार होता था। जंगलों से राज्य को अनेक प्रकार की आय थी।

६. व्रज—गाय, घोड़ा, भैंस, बकरी आदि पशुओं से होनेवाली आय को व्रज कहते थे। उस काल में राज्य की अपनी पशुशालायें भी होती थीं।

७. वणिक्पथ—वणिक्पथ दो प्रकार के होते थे, स्थलपथ और जलपथ। इनसे होनेवाली आय वणिक्पथ कहलाती थी।

कौटलीय अर्थशास्त्र में राजकीय आय के ये सात साधन वर्णित हैं। यदि आधुनिक राजस्वशास्त्र के अनुसार मौर्यकाल के राज्य की आय का हम अनुशीलन करना चाहें, तो इस प्रकार कर सकते हैं—

१. भूमिकर—जमीन से राज्य को आमदनी दो प्रकार से होती थी, सीता और भाग। राज्य की अपनी जमीनों से जो आमदनी होती थी, उसे सीता कहते थे। जो जमीनें राज्य की अपनी संपत्ति नहीं थीं, उनसे 'भाग' वसूल किया जाता था। जो किसान सर्वथा स्वतंत्ररूप से खेती करते थे, जो सिचाई का प्रबंध भी अपने आप करते थे, उनसे जमीन के उत्तम या निकृष्ट होने के अनुसार, कुल उपज का १/४ या १/५ भाग भूमिकर-रूप में लिया जाता था। जो किसान सिचाई के लिये सरकार से जल लेते थे, उनसे भूमिकर की दर और थी। जिन जमीनों की सिचाई कूप आदि से हाथ द्वारा पानी खींचकर होती थी, उनसे उपज का १/५ भाग लिया जाता था। जिनको चरस, रहट आदि द्वारा पानी खींचकर सींचने के लिये दिया जाता था, उनसे उपज का १/४ भाग लिया जाता था। जहां सिंचाई पंप, वातयंत्र आदि द्वारा होती थी, उनसे १/३ भाग लेने का नियम था। नदी या नहर से सिंचाई होने की दशा में भूमिकर की मात्रा उपज का चौथाई भाग होती थी।

यदि कोई किसान तालाब या पक्के मकान को नये सिरे से बनाये, तो उसे पांच साल के लिये भूमिकर से मुक्त कर दिया जाता था। टूटे-फूटे तालाब या मकान का सुधार करने पर चार वर्ष तक और बने हुए को बढ़ाने से तीन साल तक भूमिकर नहीं लिया जाता था।

२. तटकर—मौर्यकाल में तटकर दो प्रकार के होते थे, निष्क्राम्य (निर्यात

कर) और प्रवेश्य (आयात कर)। आयात माल पर कर की मात्रा प्रायः २० फीसदी थी। सन के कपड़े, मलमल, रेशम, लोहा, पारा आदि अनेक पदार्थों पर कर की दर १० फीसदी थी। कुछ पदार्थों पर कर की मात्रा ५, ६ १/४, ७ १/२ और १६ १/६ फीसदी भी होती थी, पर साधारण नियम २० फीसदी का ही था। कुछ देशों के साथ आयात कर के संबंध में रियायत भी की जाती थी। इसे 'देशोपकार' कहते थे। चाणक्य ने लिखा है—'देश और जाति के चरित्र के अनुसार नये और पुराने माल पर कर स्थापित करे। अन्य देशों के उपकार करने पर शुल्क को बढ़ा दे।' जिन व्यवसायों पर राज्य का एकाधिकार था, उनके बाहर से आने पर अतिरिक्त कर (वैधरण) भी लिया जाता था। उदाहरण के लिये यदि नमक को विदेश से मंगाना हो, तो १६ २/३ फीसदी आयात-कर लिया जाता था। उसके अतिरिक्त उतना वैधरण (हरजाना या अतिरिक्त कर) भी देना पड़ता था, जितना कि विदेशी नमक के आने से नमक के राजकीय व्यवसाय को हानि पहुंची हो। इसी तरह तेल, शराब आदि राज्याधिकृत वस्तुओं के आयात पर भी हरजाना देना होता था। इस आयात कर का उद्देश्य राजकीय आमदनी को बढ़ाना ही था। विदेशी व्यापार के संबंध मे आचार्य चाणक्य की नीति यह थी—'विदेशी माल को अनुग्रह से स्वदेश में प्रवेश कराया जाय। इसके लिये नाविकों तथा विदेशी माल के व्यापारियों को लाभ के ऊपर लिये जानेवाला कर माफ कर दिया जाय।'

निर्यात माल पर भी कर लिया जाता था, यह तो कौटलीय अर्थशास्त्र से ज्ञात होता है, पर इस कर की दर क्या थी, इस संबंध में कोई सूचना चाणक्य ने नहीं दी। अपने देश के माल को बाहर भेजने के संबंध मे अर्थशास्त्र के निम्नलिखित वाक्य महत्त्व के है—'जल-मार्ग से विदेश में माल को भेजने से पहले, मार्गव्यय, भोजनव्यय, विनिमय में आनेवाले विदेशी माल की कीमत तथा परिमाण, यात्राकाल, भयप्रतीकार के उपाय में हुआ व्यय, बंदरगाहों के रिवाज, नियम आदि का पता लगावे। भिन्न-भिन्न देशों के नियमों को जानकर जिन देशों में माल भेजने से लाभ समझे, वहां माल भेजा जावे। जहां हानि की संभावना हो, वहां से दूर रहे।' इसी प्रकार परदेश में व्यापार के लिये, पण्य एवं प्रतिपण्य (निर्यात माल और उसके बदले में आनेवाला माल) के मूल्य से चुंगी, सड़क-कर, गाड़ी का खर्च, दुर्ग का कर, नौका के भाड़े का खर्च आदि घटाकर शुद्ध लाभ का अनुमान करे। यदि इस ढंग से लाभ न मालूम पड़े तो यह देखे कि अपने देश की चीज के बदले में कोई ऐसी वस्तु विदेश से मंगाई जा सकती है या नहीं जिसमें लाभ रहे।

इसमें संदेह नहीं, कि आचार्य चाणक्य विदेशी व्यापार को उत्तम मानते थे, और उसकी वृद्धि में देश का लाभ समझते थे।

३. **बिक्री पर कर**—मौर्यकाल में बिक्री पर चुंगी लेने की व्यवस्था थी। चाणक्य ने लिखा है कि उत्पत्तिस्थान पर कोई भी पदार्थ बेचा नहीं जा सकता। कोई भी वस्तु चुंगी से न बेच सके इसलिये यह नियम बनाया गया था। जो इस नियम का उल्लंघन करते थे, उनपर भारी जुरमाना किया जाता था। इन जुरमानों की मात्रा बहुत अधिक होती थी। खानों से खनिज पदार्थ खरीदने पर ६०० पण, और खेत से अनाज मोल लेने पर ५३ पण जुरमाने की व्यवस्था थी। सब माल पहले शुल्काध्यक्ष के पास लाया जाता था। चुंगी दे देने के बाद उसपर 'अभिज्ञानमुद्रा' लगाई जाती थी। उसके बाद ही माल की बिक्री हो सकती थी, पहले नही।

चुगी की मात्रा के संबंध में यह विवरण उद्धृत करने योग्य है—'नापकर बेचे जानेवाले पदार्थों पर ६ १/४ फीसदी, तौलकर बेचे जानेवाले पदार्थों पर ५ फीसदी और गिनकर बेचे जानेवाले पदार्थों पर ९ १/१२ प्रतिशत शुल्क लिया जाता था।'

४. **प्रत्यक्ष कर**—मौर्ययुग में जो विविध प्रत्यक्ष कर लगाये जाते थे, उनमें से कुछ ये है—

(क) तौल और माप के परिमाणों पर इनपर चार माषक कर लिया जाता था। प्रामाणिक बट्टों वा माप के साधनों को काम मे न लाने पर दंड के रूप में २७ १/४ पण जुरमाना लिया जाता था।

(ख) जुआरियों पर—जुआ खेलने की अनुमति लेने पर कर देना पड़ता था, और जो धन जुए में जीता जाय, उसका ५ फीसदी राज्य ले लेता था।

(ग) रूप से आजीविका चलानेवाली वेश्याओं से दैनिक आमदनी का दुगना प्रतिमास कर रूप में लिया जाता था। इसी तरह के कर नट, नाटक करनेवाले, रस्सी पर नाचनेवाले, गायक, वादक, नर्तक व अन्य तमाशा करनेवालों से भी वसूल करने का नियम था। पर यदि ये लोग विदेशी हों, तो इनसे पांच पण अतिरिक्त कर भी लिया जाता था।

(घ) धोबी, सुनार व इसी तरह के अन्य शिल्पियों पर अनेक कर लगाये गये थे। इन्हें अपना व्यवसाय चलाने के लिये एक प्रकार का लाइसेंस लेना होता था।

५. **राज्य द्वारा अधिकृत व्यवसायों से आय**—राज्य का जिन व्यवसायों

पर पूरा आधिपत्य था, उनमें खानें, जंगल, नमक की उत्पत्ति और अस्त्र-शस्त्र का कारोबार मुख्य है। इनके अतिरिक्त शराब का निर्माण भी राज्य के ही अधीन था। इन सबसे राज्य को अच्छी आमदनी होती थी। अनेक व्यपारों पर भी राज्य का स्वत्व उस युग में होता था। राज्य की ओर से जो पदार्थ बिक्री के लिये तैयार होते थे, उनकी बिक्री भी वह स्वयं करता था।

६. **जुरमानों से आय**—मौर्यकाल में अनेक अपराधों के लिये दंड के रूप में जुरमाना लिया जाता था। इनका बड़े विस्तार से वर्णन कौटलीय अर्थशास्त्र में उपलब्ध होता है।

७. **विविध**—मुद्रापद्धति पूर्णतया राज्य के हाथ में होती थी। रूप्य, पण आदि सिक्के टकसाल में बनते थे। जो व्यक्ति चाहे अपनी धातु ले जाकर टकसाल में सिक्के ढलवा सकता था। पर इसके लिये १३$\frac{1}{2}$ फीसदी प्रीमियम देना पड़ता था। जो कोई सरकारी टकसाल में नियमानुसार सिक्के न बनवाकर स्वयं बनाता था, उसपर २५ पण जुरमाना होता था। गरीब और अशक्त व्यक्तियों के गुजारे का प्रबंध राज्य करता था, पर इस तरह के लोगों से सूत कताने, कपड़ा बुनने, रस्सी बटने आदि के काम भी लिये जाते थे। राज्य को इनसे भी कुछ आमदनी होती थी।

इन सबके अतिरिक्त आपत्काल में संपत्ति पर अनेक प्रकार के कर लगाये जाते थे। अर्थशास्त्र में इनका विस्तार से वर्णन किया गया है। सोना-चांदी, मणि-मुक्ता आदि का व्यापार करनेवाले धनी लोगों से ऐसे अवसर पर उनकी आमदनी का ५० फीसदी कर में ले लिया जाता था। अन्य प्रकार के व्यापारियों व व्यवसायियों से भी ऐसे अवसरों पर विशेष कर की व्यवस्था थी, जिसकी मात्रा ५० फीसदी से ५ फीसदी तक होती थी। मंदिरों और धार्मिक संस्थाओं से भी ऐसे अवसरों पर उपहार और दान लिये जाते थे। जनता से अनुरोध किया जाता था, कि ऐसे अवसर पर उदारता के साथ राज्य को धन दें। इसके लिये दानियों का अनेक प्रकार से सम्मान भी किया जाता था।

राज्य को विविध करों से जो आमदनी होती थी, उसके व्यय के संबंध में भी बहुत-सी उपयोगी बातें कौटलीय अर्थशास्त्र से ज्ञात होती हैं। यहां इनका भी संक्षेप से उल्लेख करना उपयोगी है।

१. **राजकर्मचारियों के वेतन**—अर्थशास्त्र में विविध राजकर्मचारियों के वेतनों की दर पूरी तरह दी गई है। इसमें मंत्री पुरोहित, सेनापति जैसे बड़े पदाधिकारियों का वेतन ४००० पण मासिक दिया गया है। प्रशास्ता, समाहर्त्ता

और आंतर्वंशिक सदृश कर्मचारियों का २००० पण मासिक; नायक, व्यावहारिक आन्तपाल आदि का १००० पण मासिक; अश्वमुख्य, रथमुख्य आदि का ६६० पण मासिक; विविध अध्यक्षों का ३३० पण मासिक; पदाति, सैनिक, लेखक, संख्यापक आदि का ४२ पण मासिक और अन्य छोटे-छोटे कर्मचारियों को ५ पण मासिक वेतन मिलता था। इनके अतिरिक्त, यदि किसी राजसेवक की राजसेवा करते हुए मृत्यु हो जाती थी, तो उसके पुत्र और स्त्री को कुछ वेतन मिलता रहता था। साथ ही, उसके बालक, वृद्ध तथा व्याधिपीड़ित संबंधियों के साथ अनेक प्रकार के अनुग्रह प्रदर्शित किये जाते थे।

२. **सैनिक व्यय**—सेना के विविध सिपाहियों व आफीसरों को किस दर से वेतन मिलता था इसका पूरा विवरण अर्थशास्त्र में दिया गया है। मैगस्थनीज के अनुसार चंद्रगुप्त मौर्य की सेना में ६ लाख पदाति, तीस हजार अश्वारोही, ९००० हाथी और ८००० रथ थे। यदि अर्थशास्त्र में लिखे दर से इन्हें वेतन दिया जाता हो, तो केवल वेतनों में ही ३६½ करोड़ पण प्रतिवर्ष खर्च हो जाता था। इसमें संदेह नही, कि मागध-साम्राज्य में सैनिक व्यय की मात्रा बहुत अधिक होती थी।

३. **शिक्षा**—मौर्यकाल में जो व्यय राज्य की तरफ से शिक्षा के लिये किया जाता था उसे देवपूजा कहते थे। अर्थशास्त्र के अध्ययन से प्रतीत होता है, कि अनेक शिक्षणालयों का संचालन राज्य की तरफ से भी होता था, और इनके शिक्षकों को राजा की तरफ से वेतन मिलता था। इसे भृति या वृत्ति न कहकर 'पूजा वेतन' (आनरेरियम) कहते थे।

४. **दान**—बालक, वृद्ध, व्याधिपीड़ित, आपत्तिग्रस्त और इसी तरह के अन्य व्यक्तियों का भरण-पोषण राज्य की तरफ से होता था। इस खर्च को दान कहते थे।

५. **सहायता**—सरकार की ओर से अनेक कार्यों में अनेकविध लोगों की सहायता की जाती थी। मैगस्थनीज के अनुसार शिल्पी लोगों को राज्यकोष से अनेक प्रकार से सहायता दी जाती थी। इसी तरह, कृषकों को भी विशेष दशाओं में राज्य की ओर से सहायता प्राप्त होती थी। उन्हें समय-समय पर न केवल करों से मुक्त किया जाता था, पर राज्यकोष से धन भी दिया जाता था।

६. **सार्वजनिक आमोद-प्रमोद**—इस विभाग में वे पुण्यस्थान, उद्यान, चिड़ियाघर आदि अंतर्गत हैं, जिनका निर्माण राज्य की तरफ से किया जाता था। राज्य की ओर से पशु, पक्षी, सांप आदि जन्तुओं के बहुत-से 'वाट' बनाये जाते थे, जिनका उद्देश्य जनता का मनोरंजन था।

७. सार्वजनिक हित के कार्य—इस संबंध में हम अगले अध्यायों में विस्तार से प्रकाश डालेंगे । मौर्यकाल में जनता की स्वास्थ्यरक्षा, चिकित्सालय आदि का राज्य की तरफ से प्रबन्ध किया जाता था । दुर्भिक्ष, आग, महामारी आदि आपत्तियों से भी जनता की रक्षा की जाती थी । जहां जल की कमी हो, वहां कूप, तड़ाग आदि बनवाने का विशेष ध्यान रखा जाता था ।

इन सबमें राज्य को बहुत खर्च पड़ता था और आमदनी का काफी हिस्सा इन कार्यों में व्यय हो जाता था ।

८. राजा का वैयक्तिक खर्च—मौर्यकाल मे राजा का वैयक्तिक खर्च भी कम नहीं था । अंतःपुर बहुत शानदार और विशाल बनाये जाते थे । सैकड़ों दौवारिक और हजारों आंतर्वशिक सैनिक हमेशा राजमहल में विद्यमान रहते थे । राजा बहुत शान के साथ रहता था । उसके निजी ठाट-बाट में भी बहुत अधिक व्यय होता था । केवल महानस (रसोई) का खर्च इतना अधिक था, कि चाणक्य ने व्यय के विभागों में इसका पृथक् रूप से उल्लेख किया है । राजप्रासाद की अपनी सूना (बूचड़खाना) पृथक् होती थी । राजमहल और अन्तःपुर के निवासी स्त्री-पुरुषों की संख्या हजारों में पहुंचती थी ।

राजा के परिवार के विविध व्यक्तियों को राजकोष से बाकायदा वेतन दिया जाता था । इसकी दर भी बहुत अधिक होती थी । युवराज, राजमाता और राजमहिषी को चार-चार हजार पण मासिक और कुमार वा कुमारमाता को एक-एक हजार पण मासिक वेतन मिलता था । यह उनकी अपनी निजी आमदनी थी, जिसे वे स्वेच्छा से खर्च कर सकते थे ।

(९) मर्दुमशुमारी

मौर्ययुग में मनुष्यगणना प्रतिवर्ष होती थी । इसके लिये सरकार का एक स्थिर विभाग होता था, जो सदा मनुष्यों की संख्या अपनी निबंधपुस्तकों में दर्ज रखता था । केवल मनुष्यों की ही गणना नहीं होती थी, अपितु पशु व जंतु भी गिने जाते थे । समाहर्त्ता और नागरक की तरफ से यह कार्य गोप नाम के राजपुरुष (जो प्रायः दस ग्रामों के शासक होते थे) किया करते थे । ये राजपुरुष प्रत्येक ग्राम की निबंधपुस्तक में निम्नलिखित बातें दर्ज करते थे—

(१) गांव में चारों वर्णों के कितने-कितने आदमी हैं । (२) कितने किसान हैं । (३) कितने गोरक्षक या ग्वाले हैं । (४) कितने सौदागर हैं । (५) कितने कारीगर हैं । (६) कितने नौकर हैं । (७) कितने दास हैं । (८) कितने दो

पैरोंवाले जन्तु हैं। (९) कितने चौपाये है। (१०) गांव में कुल धन कितना है। (११) गांव से कितनी बेगार मिल सकती है। (१२) गांव की चुंगी की ग्रामदनी कितनी है। (१३) गांव के जुरमानों द्वारा कितनी ग्रामदनी होती है। (१४) कितने मकान हैं, जिनसे कर मिलता है। (१५) ग्राम के निवासियों में कितने पुरुष, कितनी स्त्रियां, कितने वृद्ध और कितने बालक है। (१६) कितने घर हैं, जिनसे कर नहीं मिलता। (१७) निवासियों के चरित्र किस तरह के हैं। (१८) उनके पेशे क्या-क्या है। (१९) ग्रामदनी कितनी-कितनी है। (२०) उनका खर्च कितना-कितना है।

मर्दुमशुमारी के रजिस्टर में दर्ज होनेवाली इन बीस बातों को पढ़कर यह भलीभांत समझा जा सकता है, कि मौर्यकाल में मनुष्यगणना कितनी पूर्णता के साथ होती थी। मैगस्थनीज ने भी मनुष्यगणना के संबंध में इस प्रकार निर्देश किया है—'तीसरा वर्ग उन लोगों का है, जो जन्म और मृत्यु का पता लगाते तथा उसका हिसाब रखते हैं। ऐसा करने का उद्देश्य केवल यही नहीं है, कि इससे कर वसूल करने में सहायता मिलती है, पर असली अभीष्ट बात यह है कि चाहे कोई छोटा हो या बड़ा, किसी के जन्म या मृत्यु की बात राज्य दृष्टि से बच न सके।'

(१०) गुप्तचर विभाग

विजिगीषु मागध-सम्राटों के लिये गुप्तचर विभाग को उन्नत करना परम ग्रावश्यक था। चाणक्य ने इस विभाग का बड़े विस्तार के साथ वर्णन किया है। मुख्यतया निम्नलिखित प्रयोजनों से गुप्तचरों का प्रयोग होता था:—

१. ग्रमात्यों पर निरीक्षण रखने के लिये, ग्रमात्य पद पर केवल वे ही व्यक्ति नियत किये जाते थे, जिनकी पहले गुप्तचरों द्वारा पूरी परीक्षा ले ली जाती थी। पुरोहित, सेनापति ग्रादि सब महामात्यों की परीक्षा के लिये ग्रनेकविध उपाय कौटलीय ग्रर्थशास्त्र में लिखे हैं। नियुक्ति के बाद भी ग्रमात्यों के 'शौच' और 'ग्रशौच' का पता गुप्तचर लोग लगाते रहते थे। बड़े-बड़े ग्रमात्यों के ग्रतिरिक्त राज्य के सब छोटे-बड़े कर्मचारियों पर गुप्तचरों की निगरानी रहती थी।

२. पौर और जानपद लोगों की भावनाओं का पता लगाने के लिये भी गुप्तचर नियत किये जाते थे। जनता में किस बात से ग्रसंतोष है, लोग राजा को पसंद करते हैं या नहीं, देश के धनी-मानी प्रभावशाली लोगों के क्या विचार हैं, ग्रधीनस्थ

सामंतों का क्या रुख है। इन सब बातों का पता लेकर गुप्तचर लोग राज्य को सूचना भेजते रहते थे।

३. गुप्तचर लोग विदेशों में भी काम करते थे। पड़ोसी शत्रु देश व विदेशी राज्यों की गति, विचार, भाव आदि का पता करने के लिये गुप्तचर सदा सचेष्ट रहते थे। जिस देश को अपने अधीन करना होता था, उसमें बहुत-से गुप्तचर नानाविध वेश बनाकर भेज दिये जाते थे। ये शत्रुओं में परस्पर फूट डालने तथा सब गुप्त भेदों का पता लगाने के कार्य में तत्पर रहते थे। इस विभाग के गुप्तचरों के कुछ भेद ये होते थे:—

(क) कापटिक छात्र—विद्यार्थी के वेश में दूसरे के मर्म को जानने के लिये नियुक्त गुप्तचर।

(ख) उदास्थित—संन्यासी या वैरागी के वेश में प्रज्ञा और सदाचार से युक्त गुप्तचर।

(ग) गृहपतिक—किसान व अन्य सीधे-सादे गृहस्थी के वेश में प्रज्ञा और सदाचार से युक्त गुप्तचर।

(घ) वैदेहक—सौदागर के वेश में प्रज्ञा और सदाचार से युक्त गुप्तचर।

(ङ) तापस—मुंड या जटिल तपस्वी साधु के वेश में गुप्तचर।

इनके अतिरिक्त रसोइया, स्नापक (स्नान करानेवाला), बिस्तर बिछानेवाला, नाई, प्रसादक, पानी भरनेवाला, रसद आदि का वेश बनाकर तथा वेश के अनुसार ही कार्य करने हुए प्रज्ञा और सदाचार से युक्त उच्चशिक्षित गुप्तचर लोग विदेशों में अपना कार्य करते रहते थे। कुबड़ा, किरात, मूक (गूंगा), बधिर, जड़ आदि होने का बहाना करके भी बहुत-से गुप्तचर दूसरों के मर्म का पता लगाने में प्रयत्नशील रहते थे। स्त्रियां, वेश्यायें आदि भी इस विभाग में नियुक्त होती थीं। बहुत-से गुप्तचर भिखमंगे बनकर अपना कार्य करते थे।

गुप्तचर-विभाग के केन्द्र अनेक स्थानों पर होते थे। इन केंद्रों को 'संस्था' कहते थे। गुप्तचर लोग जिस किसी रहस्य का पता लगाते थे, उसे अपने साथ संबद्ध 'संस्था' में पहुंचा देते थे। वहां से वह बात उपयुक्त राजकर्मचारी के पास पहुंच जाती थी। इसके लिये गुप्तलिपि का प्रयोग किया जाता था। विविध बातों को सूचित करने के लिये पृथक्-पृथक् संज्ञायें बनी हुई थीं। इस गुप्तलिपि में लिखकर संदेश को यथास्थान पहुंचा दिया जाता था। विविध संस्थाओं को आपस में एक दूसरे का हाल नहीं मालूम हो सकता था। गुप्तचर लोग भी स्वयं

'संस्था' को नहीं जानते थे। संस्था और गुप्तचरों के बीच मध्यस्थ का कार्य गुप्त वेशवाली स्त्रियां करती थीं। ये स्त्रियां दासी, कुशीलवा, शिल्पकारिका, भिक्षुकी आदि नानाविध रूप बनाकर गुप्तचरों के संदेशों को 'संस्था' तक पहुंचाती थीं। संदेश को पहुंचाने के लिये केवल गुप्तलिपि का ही प्रयोग नहीं होता था, अपितु अन्य अनेक साधन भी काम में लाये जाते थे। इस काम के लिये बाजे, गीत आदि के संकेत बनाये हुए थे। साथ ही शंख-दुंदुभी आदि की संज्ञायें बनी हुई थीं। खास तरह से गाने या बजाने से खास अभिप्राय का ग्रहण होता था। धुएँ, आग आदि के संकेतों से भी संदेश भेजे जाते थे।

साम्राज्यवाद के उस युग में गुप्तचर-विभाग की बहुत ही महत्ता थी।

(११) डाक-प्रबंध

कौटलीय अर्थशास्त्र में कुछ निर्देश ऐसे आते है, जिनसे उस समय के डाक प्रबंध पर प्रकाश डाला पड़ता है। उस समय संदेश भेजने के लिये कबूतरों का प्रयोग किया जाता था। कपोतों के गले में पत्र लटकाकर उन्हें उड़ा दिया जाता था। खूब सधे हुए कबूतर ठीक स्थान पर ही पत्र पहुंचाने में समर्थ होते थे।

जिस मागध-साम्राज्य में सड़कों, सराय आदि का समुचित प्रबंध था, वहां मुगल-काल के समान इन सरायों का उपयोग डाक पहुंचाने के लिये भी किया जाता था या नहीं, इस विषय में कोई निर्देश कौटलीय अर्थशास्त्र मे हमें उपलब्ध नहीं होता।

(१२) राजशक्ति पर जनता का प्रभाव

मौर्यकाल की शासन-व्यवस्था के प्रकरण को समाप्त करने से पूर्व राजशक्ति पर कुछ ऐसे प्रभावों का उल्लेख करना आवश्यक है, जिनकी उपेक्षा शक्तिशाली से शक्तिशाली सम्राट् भी नहीं कर सकता था। इस प्रकार का एक प्रभाव ब्राह्मण-श्रमणों का था। यद्यपि ये लोग नगर से बाहर जंगलों में निवास करते थे, पर देश की घटनाओं और नीति पर उनकी सदा दृष्टि रहती थी। जब वे देखते थे कि राजा कुमार्ग में प्रवृत्त हो रहा है, तो उसका विरोध करना उनका कर्तव्य हो जाता था। इसीलिये चाणक्य ने लिखा है 'यदि ठीक तरह शासन न किया जाय या राजनीति में काम, क्रोध और अज्ञान आ जाय, तो वानप्रस्थ और परिव्राजक लोग भी कुपित हो जाते हैं।' ये वानप्रस्थ ब्राह्मण बहुत सादगी और गरीबी के साथ जंगलों में निवास किया करते थे। राज्य पर इनका प्रभाव बहुत अधिक

होता था। चंद्रगुप्त मौर्य के शासन से कुछ पूर्व ही जब सिकंदर ने भारत पर आक्रमण किया, तो उसकी भेंट ऐसे अनेक नीतिज्ञ ब्राह्मणों से हुई थी। ये ब्राह्मण सिकंदर के विरुद्ध भारतीय राजाओं को उभार रहे थे। एक बार एक ऐसे ब्राह्मण से सिकंदर ने पूछा—'तुम क्यों इस राजा को मेरे विरुद्ध भड़काते हो ?' ब्राह्मण ने उत्तर दिया—'मैं चाहता हूँ, कि यदि वह जीवे, तो सम्मानपूर्वक जीवे, नहीं तो सम्मानपूर्वक मर जावे।' कहा जाता है, कि एक अन्य ब्राह्मण संन्यासी सिकंदर के पास आया और बोला—'तुम्हारा राज्य तो एक सूखी हुई खाल की तरह है, जिसका कोई गुरुताकेन्द्र नहीं होता। जब सिकन्दर राज्य के एक पार्श्व पर खड़ा होता है, तो दूसरा पार्श्व विद्रोह कर देता है।' तक्षशिला के एक वृद्ध दंडी को सिकंदर के सम्मुख यह डर दिखाकर बुलाने की कोशिश की गई कि 'सिकंदर तो दुनिया के मालिक द्यौः का पुत्र है, यदि तुम उसके सामने नहीं आओगे, तो वह तुम्हारा सिर धड़ से अलग कर देगा।' यह सुनकर दंडी ने उपेक्षाजनक हँसी हँस कर उत्तर दिया—'मैं भी द्यौः का उसी तरह पुत्र हूँ, जिस तरह सिकंदर। मैं अपने देश भारत से पूर्णतया संतुष्ट हूँ, जो माता की तरह मेरा पालन करती है।' उस दंडी ने व्यंग्य से यह भी कहा—'यदि सिकंदर गंगा के पार के प्रदेश में जायगा, तो (नंद की सेना) उसे विश्वास दिला देगी, कि वह अभी सारे संसार का स्वामी नहीं बना है !'

इसमें कोई संदेह नहीं कि ऐसे ब्राह्मणों की निर्भीक वृत्ति का राज्य पर बड़ा प्रभाव पड़ता था। राजा की अनीनि को रोकने में ये बहुत सहायक होते थे। राजाओं के कुमार्गगामी हो जाने पर जब तपस्वी ब्राह्मण कुपित हो जाते थे, तब स्थिति को संभालना कठिन हो जाता था। नंद के शक्तिशाली वंश का पतन आचार्य चाणक्य के कोप से ही हुआ था, वह नंद की अनीति को देखकर उसके विरुद्ध उठ खड़ा हुआ था।

ब्राह्मण तपस्वियों के कोप की अपेक्षा भी जनता का कोप अधिक भयंकर माना जाता था। आचार्य चाणक्य ने लिखा है—'जनता का कोप सब कोपों से बढ़कर है।' चाणक्य भलीभांति समझता था, कि 'चाहे राजा न भी हो, पर यदि जनता की अवस्था उत्तम हो, तो राज्य अच्छी तरह चल सकता है।' राज्य के सम्बन्ध में यह परम्परागत सिद्धान्त मौर्यकाल में भी मान्य समझा जाता था, कि "प्रजा के सुख में ही राजा का सुख है, प्रजा के हित में ही राजा का हित है। हित-कर बात वह नहीं है, जो राजा को अच्छी लगती है। हितकर बात तो वह है, जो प्रजा को प्रिय लगती है।"

सहायक ग्रन्थ

Mac Crindle : Ancient India, as described by Megasthenes.
Mac Crindle : Ancient India, as described in Classical Literature.
Banerjee : Public Administration in Ancient India.
Jayaswal : Hindu Polity.
Law, N. N. : Studies in Ancient Indian Polity.
Mazumdar : The Corporate Life in Ancient India.
Mukerjee : Local Government in Ancient India.
Sarkar : Positive Backgrouds of Hindu Sociology.
Sarkar : Political Theories and Institutions of Ancient India.
कौटलीयम् अर्थशास्त्रम्
सत्यकेतु विद्यालंकार—मौर्य-साम्राज्य का इतिहास

तेईसवां अध्याय

मौर्यकाल का आर्थिक जीवन

(१) कृषि

मौर्यकाल में भी भारत का मुख्य व्यवसाय कृषि ही था। मैगस्थनीज ने लिखा है, 'दूसरी जाति में किसान लोग हैं, जो संख्या में सबसे अधिक हैं। युद्ध करने तथा अन्य राजकीय कर्त्तव्यों से मुक्त होने के कारण वे अपना सारा समय खेती में लगाते हैं।' किसानों की अवस्था उस समय बहुत संतोषजनक थी। वर्षा की प्रचुरता के कारण दो फसलें साल में हो जाती थीं, और किसान लोग नानाविध अन्नों तथा अन्य पदार्थों को उत्पन्न कर सकते थे। इस विषय में मैगस्थनीज के निम्नलिखित उदाहरण ध्यान देने योग्य हैं—

'भूमि का अधिक भाग सिंचाई में है। अतएव उसमें एक साल के भीतर ही दो फसलें पैदा होती हैं।'

'यहां के लोग निर्वाह की सब सामग्री बहुतायत से पाकर प्रायः मामूली डील-डौल से अधिक होते हैं, और अपने गर्वीले हाव-भाव के लिये प्रसिद्ध हैं।'

'भूमि पशुओं के निर्वाह योग्य चारा तथा अन्य खाद्य पदार्थ भी प्रदान करती है। अतः यह माना जाता है, कि भारतवर्ष में अकाल कभी नहीं पड़ा है, और खाने की वस्तुओं की महंगाई भी साधारणतया कभी नहीं हुई है। चूंकि यहां साल में दो बार वर्षा होती है; एक जाड़े में, जब कि गेहूं की बुआई होती है, और दूसरी गरमी के दौरान में, जब कि तिल और ज्वार के बोने का उपयुक्त समय होता है, अतः भारत के किसान प्रायः सदा साल में दो फसलें काटते हैं। यदि उनमें से एक फसल कुछ बिगड़ भी जाती है, तो लोगों को दूसरी फसल का पूरा विश्वास रहता है। इसके अतिरिक्त, एक साथ होनेवाले फल और मूल जो दलदलों में उगते हैं, और भिन्न-भिन्न मिठास के होते हैं, मनुष्यों को प्रचुर खाद्य सामग्री प्रदान करते हैं। बात यह है, कि देश के प्रायः समस्त मैदानों में ऐसी नमी रहती है, जो

समभाव से जमीन को उपजाऊ बना देती है, चाहे यह नमी नदियों द्वारा प्राप्त हुई हो, चाहे ग्रीष्म ऋतु की वर्षा के जल द्वारा। यह वर्षा प्रत्येक साल एक नियत समय पर आश्चर्यजनक नियमितता के साथ बरसा करती है। कड़ी गरमी फलों और मूलों को विशेषतया कसेरू को पकाती है।'

'इतने पर भी भारतवासियों में बहुत-सी ऐसी प्रथायें हैं, जो वहां अकाल पड़ने की भावना को रोकने में सहायता देती हैं। दूसरी जातियों में युद्ध के समय भूमि को नष्ट करने और इस प्रकार उसे परती व ऊसर कर डालने की चाल है। पर इसके विरुद्ध भारतवासियों में जो कृषक समाज को पवित्र व अवध्य मानते हैं, भूमि जोतनेवाले किसी प्रकार के भय की आशंका से विचलित नहीं होते, चाहे उनके पड़ोस में युद्ध ही क्यों न हो रहा हो। दोनों पक्ष के लड़नेवाले युद्ध के समय एक दूसरे का संहार करते हैं, परन्तु जो लोग खेती में लगे हुए हैं, उन्हें पूर्णतया निर्विघ्न अपना काम करने देते हैं। साथ ही न वे शत्रुदेश का अग्नि से सत्यानाश करते हैं, और न उसके पेड़ काटते हैं।'

मौर्यकालीन भारत में किसानों की दशा के संबंध में कौटलीय अर्थशास्त्र से भी बहुत-सी बातें ज्ञात होती हैं। चाणक्य ने निम्नलिखित फसलों के नाम दिये हैं:—

वर्षा ऋतु के प्रारंभ में बोई जानेवाली फसलें–शाली व्रीहि और कोद्रव (तीन प्रकार के चावल), तिल, प्रियंगु, वरक (मोठ) आदि। वर्षा ऋतु के मध्य में बोई जानेवाली फसलें—मूंग, उड़द, शैव्य आदि। वर्षा की समाप्ति के बाद बोई जाने वाली फसलें—कुशुम्भ, मसूर, कुलुत्थ, जौ, गेहूं, चना, अलसी, सरसों आदि। इनके अतिरिक्त ईख, कपास और नानाविध शाक-भाजियों के नाम तथा उनकी खेती के संबंध में चाणक्य ने उल्लेख किया है। इनमें मटर, आलू, ककड़ी, सहजन, तरबूज और खरबूजे के नाम आये हैं। ईख के विषय में चाणक्य ने लिखा है, कि इसकी खेती में बहुत-सी बाधायें पड़ती हैं, और बहुत खर्च होता है। अंगूरों तथा उनसे किशमिश बनाने का निर्देश भी अर्थशास्त्र में विद्यमान है। फलों में आम, अनार, आंवला, निम्बू, बेर, फालसा, अंगूर, जामुन, कटहल आदि के नाम दिये गये हैं।

मौर्यकाल में भी खेती के लिये हल और बैलों का प्रयोग होता था। भूमि को खूब अच्छी तरह हल चलाकर तैयार किया जाता था। फिर उसमें नानाविध खादों को डालकर भूमि की उपजशक्ति को बढ़ाया जाता था। खाद के लिये गोबर, हड्डी और राख का प्रयोग होता था। बोने से पहले बीज को अनेक

अवस्थाओं में रखा जाता था । चाणक्य ने लिखा है--बोने से पहले धान को सात रात तक ओस तथा धूप में रखना चाहिये। दाल आदि कोशीधानों (फलियों) को तीन रात तक पाले तथा धाम में रखना चाहिये । गन्ना आदि के (जिनकी शाखा को बीज के रूप में बोया जाता हो) बीज को, जहां से काटा गया हो, उस स्थान पर घी, मधु, सूकर की चर्बी और गोबर को मिलाकर लगाना चाहिये । कंदों के छेदों पर मधु और घी को मिलाकर लगाना चाहिये। बिनौलों को गोबर में मल लेना चाहिये ।" खाद के विषय में चाणक्य ने लिखा है--'जब अंकुर निकल आवें, तो उनपर कड़वी मछलियों के खूब बारीक कुटे हुए चूर्ण को डालना चाहिये तथा स्नुहि (हथूर) के दूध से सींचना चाहिये ।

सिंचाई के लिये जो विविध साधन मौर्यकाल में प्रचलित थे, उनका भी संक्षेप से उल्लेख करना उपयोगी है । (१) हस्तप्रावर्त्तिमम्--पानी को किसी गढ़े में एकत्र कर फिर हाथ द्वारा सिंचाई करना; या डोल, चरस आदि की सहायता से कुएं से पानी निकालकर सिचाई करना। (२) स्कंधप्रावत्तमम्--कंधों की सहायता से पानी निकालकर सिचाई करना। रहट या चरस को जब बैल खींचते हों, तो उनके कंधों से पानीनिकालने के कारण इस प्रकार की सिंचाई को 'स्कंध-प्रावर्त्तिमम्' कहते थे। (३) स्रोतयंत्रप्रावर्त्तिमम्--वायु द्वारा (पवन-चक्की) खींचे हुए पानी को 'स्रोतयंत्रप्रावर्त्तिमम्' कहते थे। (४) नदीसरस्तटाककूपोद्-घाटम्--नदी, सर, तटाक और कूप द्वारा सिंचाई करना । (५) सेतुबंध--बांध (डाम) बनाकर उससे नहरें व नालियां निकालकर उनसे सिचाई करना ।

वर्षा के अतिरिक्त इन विविध साधनों से सिंचाई का प्रबंध होने का परिणाम यह था, कि मौर्यकाल में जमीन बहुत उपजाऊ रहती थी और प्रभूत परिमाण में अन्न उत्पन्न होता था ।

(२) व्यवसाय

मैगस्थनीज ने भारत के विविध व्यवसायों और कारीगरों के संबंध में वर्णन करते हुए लिखा है, कि 'वे कला-कौशल में भी बड़े निपुण हैं, जैसा कि ऐसे मनुष्यों से आशा की जा सकती है, जो स्वच्छ वायु से सांस लेते हैं, और अत्युत्तम जल का पान करते हैं ।' 'अधिक सुसभ्य भारतीयों में भिन्न-भिन्न व्यवसायों से आजीविका कमानेवाले लोग हैं । कई जमीन जोतते हैं, कई व्यापारी हैं, कई सिपाही हैं ।'

कौटलीय अर्थशास्त्र में उस युग के व्यवसायों का विस्तार से उल्लेख किया गया है, जो निम्नलिखित थे—

१. **तंतुवाय**—मौर्यकाल में सबसे मुख्य व्यवसायी तंतुवाय या जुलाहे थे। ये रुई, रेशम, सन, ऊन आदि के अनेकविध कपड़े तैयार करते थे। सूत चरखों पर काता जाता था, खड्डी पर उसकी बुनाई होती थी। सूत बढ़िया, मध्यम या घटिया है, इसे जांचकर उसकी कीमत दी जाती थी। कपड़े बुनने के लिये कारखाने (कर्मान्त) होते थे। इनमें बहुत-से जुलाहे एक साथ खड्डियों पर काम करते थे। राज्य की तरफ से इन्हें प्रोत्साहन दिया जाता था। चाणक्य ने लिखा है, कि गंध और माल्य के दान तथा अन्य प्रकार के अनुग्रहों से इन्हें प्रोत्साहित करे। जुलाहे वस्त्र बनाते समय यदि सूत को चुरा लें, तो उन्हें दंड दिया जाता था।

ऊनी कपड़ों में कंबलों का वर्णन अर्थशास्त्र में बड़े विस्तार के साथ किया गया है। वहां लिखा है—'भेड़ की ऊन से बने हुए कंबल श्वेत, शुद्ध लाल तथा कमल की तरह लाल—इन तीन रंगों के होते हैं। इन्हें चार तरह से बनाया जा सकता है—(क) खचित (बटे हुए सूत से बुनकर), (ख) वानचित्र (भिन्न-भिन्न रंग के ऊन से बुनकर), (ग) खंडसंघात्य (पट्टियां जोड़कर), (घ) तंतु-विच्छिन्न (ऊन से ताना-बाना एक करके फिर बुनकर)।' ऊनी कंबल दस तरह के होते थे। कौपचक (मोटा कंबल), कुलमितिक (सिर पर धारण करने के लिये प्रयुक्त होनेवाला), सौमितिक (बैल के ऊपर डाला जानेवाला), तुरगा-स्तरण (घोड़े पर डाला जानेवाला), वर्णक (रंगबिरंगी), तलिच्छक (बिस्तर पर बिछाया जानेवाला), वारवाण (कोट के लिये प्रयुक्त होनेवाला), परिस्तोत्र (बड़े आकार का विशेष कंबल), समंतभद्रक (हाथी की झूल), आविक (बारीक ऊन का कंबल)।

भेड़ के अतिरिक्त अन्य पशुओं के बालों के भी विविध वस्त्र बनते थे। अर्थ-शास्त्र में ऐसे छः प्रकार के वस्त्रों का उल्लेख किया है, संपुटिका, लंबरा, कटवानक, प्रावरक और सत्तलिका। किस देश में कौन-सा कपड़ा अच्छा बनता है, इस संबंध में अर्थशास्त्र का निम्नलिखित उद्धरण बड़े महत्त्व का है—'जो कपड़ा बंगदेश में बनता है, वह श्वेत और चिकना होता है। पुंड्र देश का कपड़ा काला और मणि की तरह चिकना होता है। सुवर्णकुड्य देश का कपड़ा सूर्य की तरह रंगवाला और मणि के समान चिकना होता है। इसे एक समान सीधा रखकर और उलटा-टेढ़ा रखकर, दोनों तरह से बुना जाता है। काशी तथा पुंड्र देश के बने हुए सन के कपड़े भी बहुत उत्तम होते हैं। मगध, पुंड्र और सुवर्णकुड्य देशों में विविध

वृक्षों के पत्तों व छाल के रेशों से भी कपड़े बनाये जाते हैं।' बंगाल की मलमल मोर्यकाल में भी प्रसिद्ध थी। मैगस्थनीज ने भी लिखा है, कि भारतीय लोग बारीक मलमल के कपड़े पहनते हैं। इस देश के पहरावे के विषय में ग्रीक यात्री का यह वाक्य उल्लेख योग्य है—'वे मलमल के फूलदार कपड़े पहनते हैं, सिर पर पगड़ी बांधते हैं, और चमकीले रंगों में रंगे हुए वस्त्रों का प्रयोग करते हैं।'

वस्त्र-व्यवसाय के साथ संबंध रखनेवाले धोबी, रंगरेज और दरजियों का उल्लेख भी अर्थशास्त्र में हुआ है। साथ ही, रस्सी और कवच बनानेवाले व्यवसायियों का भी वर्णन है।

२. खानों में काम करनेवाले व्यवसायी—मैगस्थनीज ने भारत की खानों के विषय में लिखा है कि 'भारत की भूमि तो अपने ऊपर हर प्रकार के फल तथा कृषिजन्य पदार्थ उपजाती ही है, पर उसके गर्भ में भी सब प्रकार की धातुओं की अनगिनत खानें हैं। इस देश में सोना और चांदी बहुत होता है। तांबा और लोहा भी कम नहीं होता। जस्ता और अन्य धातुएं भी होती हैं। इनका व्यवहार आभूषण व लड़ाई के हथियार तथा साज आदि बनाने के निमित्त होता है।' चाणक्य ने अर्थशास्त्र में खानों के व्यवसायों का विस्तार के साथ वर्णन किया है। इस विभाग के अध्यक्ष को 'आकराध्यक्ष' कहते थे। इस पद पर नियुक्त होनेवाले व्यक्ति के लिये यह आवश्यक था, कि वह ताम्र आदि धातुओं की विद्या में पूर्णतया दक्ष हो, पारा निकालने की विद्या को जानता हो, और मणि-माणिक्य आदि रत्नों की पहचान रखता हो। आकराध्यक्ष के अधीन कर्मचारी पहले विविध धातुओं की खानों का पता लगाते थे। कच्ची धातु की परीक्षा, उसके भार, रंग, तेज, गंध और स्वाद द्वारा की जाती थी। खान का पता लगाने के संबंध में चाणक्य ने लिखा है, कि पहाड़ों के गड्ढों, गुफाओं, तराइयों तथा छिपे हुए छेदों से नानाविध द्रव बहते रहते हैं। यदि इस द्रव का रंग जामुन, आम, तालफल, पकी हुई हरिद्रा, हड़ताल, शहद, सिंगरफ, तोता या मोर के पंख के समान हो, उसमें काई के सदृश चिकनाहट हो, वह पारदर्शक और भारी हो, तो समझना चाहिये कि वह सोने की कच्ची धातु के साथ मिलकर निकल रहा है। यदि द्रव को पानी में डालते ही वह तेल की तरह संपूर्ण सतह को व्याप्त कर ले, सब गर्द और मैल को इकट्ठा कर ले, तो समझना चाहिये, कि वह ताम्र और चांदी की धातु से मिश्रित है। इसी तरह से अन्य धातुओं की खानों की भी पहचान की गई है।

कच्ची धातु से शुद्ध धातु कैसे तैयार की जाय, धातु को कैसे नरम और लचकदार बनाया जाय और उसमें विशेष-विशेष प्रकार के गुण कैसे उत्पन्न किये जायं,

इन सब बातों का विवरण कौटलीय अर्थशास्त्र में दिया गया है। विविध धातुओं के व्यवसाय के लिये पृथक्-पृथक् अध्यक्ष होते थे, जो 'आकराध्यक्ष' के अधीन अपना कार्य करते थे।

खानों पर राज्य का स्वत्व माना जाता था। उनका संचालन राज्य की तरफ से ही होता था। पर लोगों को किराये पर भी खानें दे दी जाती थीं। जितनी कुल उत्पत्ति हो, उसमें से अपना हिस्सा भी राज्य तय कर लेता था। खानों को बेच भी दिया जाता था।

३. **नमक का व्यवसाय**—लवणाध्यक्ष की अधीनता में नमक के व्यवसाय का संचालन होता था। नमक बनाने व बेचने के लिये राज्य की अनुमति आवश्यक थी। नमक बनाने में मुख्यतया समुद्रजल का ही प्रयोग होता था।

४. **समुद्र से रत्न आदि निकालने का व्यवसाय**—इस व्यवसाय के अध्यक्ष को 'खन्यध्यक्ष' कहते थे। समुद्र से शंख, मणि, मुक्ता आदि विविध पदार्थों को निकलवाने तथा उन्हें शुद्ध करवाने तथा उनकी विविध वस्तुएं बनवाने का कार्य खन्यध्यक्ष के अधीन होता था। अर्थशास्त्र में अनेकविध मणि, रत्न, मुक्ता आदि के भेद तथा उनकी पहचान लिखी गई है।

५. **सुवर्णकार**—सोना, चांदी आदि बहुमूल्य धातुओं को शुद्ध कर उनसे आभूषण बनाने का कार्य सुनार लोग करते थे। सुनारों की सहायता के लिये ध्यापक (भट्टी में हवादेनेवाले), पांशुवातक (गर्द साफ करनेवाले) आदि अनेक कारीगर होते थे। अर्थशास्त्र में बहुत प्रकार के हारों व अन्य आभूषणों का उल्लेख पाया जाता है।

६. **वैद्य**—चिकित्सा का काम करनेवाले भिषक् (साधारण वैद्य), जांगलीविद् (विष-चिकित्सक), गर्भव्याधिसंस्थाः (गर्भ की बीमारियों को ठीक करनेवाले) और सूतिका-चिकित्सक (संतान उत्पन्न करानेवाले) चार प्रकार के वैद्य होते थे। वैद्यों के व्यवसाय पर भी राज्य का पूरा नियंत्रण था। इस संबंध में चाणक्य के निम्नलिखित नियम ध्यान देने योग्य हैं—(क) सरकार को सूचना दिये बिना ही यदि चिकित्सक लोग ऐसे रोगी का इलाज करने लगें, जिनकी मृत्यु की संभावना हो, तो उन्हें 'पूर्वसाहस दंड' दिया जाय। (ख) यदि किसी विपत्ति के कारण इलाज भलीभांति न किया जा सके, तो चिकित्सक को 'मध्यमदंड' दिया जाय। (ग) यदि इलाज के प्रति चिकित्सक उपेक्षा करे, रोगी पर समुचित ध्यान न दे और इस कारण रोग बढ़ जाय, तो चिकित्सक पर 'दंडपारुष्य' का अपराध लगाया जाय।

व समुद्र में अनेक प्रकार के छोटे-बड़े जहाज चलते थे। उन सबको भारत में ही बनाया जाता था।

१४. **मनोरंजन करनवाले**—इनमें नट, नर्तक, गायक, वादक, कुशीलव आदि अनेक प्रकार के शिल्पी सम्मिलित थे।

१५. **खाना पकानेवाले**—इनके भी अनेक भेद थे। चावल-दाल पकानेवाले, मांस भोजन बनाने, रोटी सेकनेवाले, हलवाई आदि अनेक प्रकार के पाचकों का उल्लेख चाणक्य ने किया है।

१६. **शौण्डिक**—शराब बेचनेवाले।

१७. **वेश्यायें**—इनके दो मुख्य भेद थे, गणिका और रूपाजीवा। गणिकायें प्रायः राजा व अन्य धनी व्यक्तियों की सेवा का कार्य करती थीं। इनका कार्य राजा के छत्र, चामर, इतरदान, पंखा, पालकी, पीठिका, रथ आदि के साथ रहकर राजा की शोभा को बढ़ाना होता था। रूपाजीवा वेश्यायें स्वतन्त्र पेशा करती थीं।

इनके अतिरिक्त गंधपण्याः (सुगंधियां बनाने और बेचनेवाले), माल्य-पण्याः (मालायें बनाने और बेचनेवाले), गोरक्षक (ग्वाले), कर्मकर (मजदूर), तालापचाराः (बाजे बनानेवाले), राज (मकान बनानेवाले), मणिकारु (विविध रत्नों, मणियों व हीरे आदि को काट व तराशकर उसके आभूषण बनानेवाले और देवताकारु (विविध देवी-देवताओं की मूर्तियां बनानेवाले) शिल्पियों का उल्लेख भी अर्थशास्त्र में हुआ है।

(३) व्यापार

कृषि और व्यवसाय के समान व्यापार भी मौर्यकाल में बहुत उन्नत था। ग्राम के छोटे-छोटे सौदागरों से लेकर बड़ी-बड़ी कंपनियां तक उस काल में विद्य-मान थीं। गांवों के सौदागर व्यापार के साथ-साथ खेती व अन्य छोटे-छोटे काम भी अपनी आजीविका के लिये किया करते थे। देहात में माल की बिक्री के लिये मंडियां भी लगती थीं। ये मंडियां जल और स्थल-मार्गों के नाकों पर लगाई जाती थीं। शहरों के व्यापारियों के संबंध में अनेकविध नियमों का उल्लेख आचार्य चाणक्य ने किया है। इन नियमों का मुख्य प्रयोजन यह था, कि माल में मिलावट न हो सके। इस विषय में अर्थशास्त्र के निम्नलिखित नियम उल्लेखनीय हैं—

'जो घटिया माल को बढ़िया बताकर बेचता हो, जिस स्थान का वह माल

हो उससे भिन्न किसी अन्य स्थान का बताकर बेचता हो, मिलावटी माल को असली बताता हो, जिस माल का सौदा किया गया हो, देते समय उसे बदलकर दूसरा माल रख देता हो, तो उस व्यापारी पर न केवल ५४ पण जुर्माना किया जाय, अपितु उससे क्षतिपूर्ति भी कराई जाय ।'

यदि कोई दूकानदार तराजू और बट्टों को ठीक न रखकर जनता को ठगता था, तो उसपर भी जुर्माना किया जाता था। पर थोड़े से फरक पर ध्यान नहीं दिया जाता था। परिमाणी और द्रोण भर चीज के तोलने पर यदि आधे पल का फरक हो, तो उसे उपेक्षणीय समझा जाता था। पर इससे अधिक फरक होने पर दूकानदार को १२ पण दंड मिलता था। यदि कमी अधिक हो, तो दंड और अधिक किया जा सकता था। यदि तराजू के दोष के कारण तोलने में १ कर्ष का फरक पड़े तो उसे माफ कर दिया जाता था। पर इससे अधिक कमी होने पर दंड मिलता था। २ कर्ष से अधिक कमी होने पर दंड की मात्रा ६ पण होती थी। अधिक कमी होने पर इसी अनुपात से जुर्माना बढ़ता जाता था ।

शहरों में भिन्न-भिन्न वस्तुओं के बाजार अलग-अलग होते थे । कौटलीय अर्थशास्त्र में जिस आदर्श नगर का चित्र उपस्थित किया गया है, उसमें मांस, चावल, रोटी, मिठाई आदि भोज्य पदार्थों की दूकानों के लिये पृथक् व्यवस्था की है, वहां सुगंधित तैल, माला, फूल, वस्त्र आदि की दूकानों के लिये अलग जगह रखी गई है। शहरों में जहां बड़ी-बड़ी दूकानें होती थीं, वहां फेरीवालों की भी कमी न थी। फेरीवाले घूम-घूम कर माल बेचते थे ।

मौर्यकाल में भी व्यापारी लोग मुनाफा उठाने के लिये अनेक अनुचित उपायों का प्रयोग किया करते थे। कभी-कभी वे माल को रोक कर दाम बढ़ा देते थे, परस्पर एका करके माल को अधिक कीमत पर बेचने का निश्चय कर लेते थे। आचार्य चाणक्य की सम्मति में ये बातें अनुचित थीं, इसीलिये उन्होंने ऐसा करनेवालों के लिये १००० पण जुर्माना की व्यवस्था की थी ।

दूकानदार लोग कितना मुनाफा लें, इस पर भी राज्य की तरफ से नियंत्रण होता था। आम चीजोंपर लागत से पांच फीसदी अधिक मुनाफा लिया जा सकता था। विदेशी माल पर १० फीसदी मुनाफा लेने की अनुमति थी। इसमें ½ फीसदी मुनाफा लेने पर १०० पण से २०० पण तक के क्रय-विक्रय पर ५ पण जुर्माना किया जा सकता था। ½ फीसदी से और अधिक अनुचित मुनाफा लेने पर जुर्माने की मात्रा इसी अनुपात से बढ़ा दी जाती थी ।

जब बाजार में माल बहुत आ जाता था, और इस कारण कीमत गिरनी शुरू

हो जाती थी, तो उसे एक स्थान पर एकत्र कर, या मुकाबला रोककर कृत्रिम उपायों से कीमत का क्षय रोक दिया जाता था। चाणक्य को यह अभीष्ट नहीं था, कि व्यापार में लाभ न हो। उनका सिद्धांत तो यह था, कि चाहे लाभ कितना होता हो, पर यदि वह प्रजा के लिये हानिकारक है, तो उसे रोक दिया जाय।

व्यापारियों की दूकानों पर माल को तोलने या मापने के लिये अनेक व्यक्ति होते थे। अर्थशास्त्र में इन्हें क्रमश: 'धरक' और 'मापक' लिखा गया है। यदि तोलते व मापते हुए ये लोग बेईमानी करते थे, तो इन्हें भी कठोर दंड दिया जाता था।

मौर्यकाल में भारत का आंतरिक व्यापार बहुत उन्नत था। यह व्यापार जल और स्थल दोनों प्रकार के मार्गों से किया जाता था। इन मार्गों का उल्लेख हम अगले प्रकरण में करेंगे। भिन्न-भिन्न स्थानों की भिन्न-भिन्न वस्तुएं प्रसिद्ध थीं। स्वाभाविक रूप से व्यापारी लोग इन प्रसिद्ध वस्तुओं को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाकर बेचते थे। हिमालय के अतिरिक्त 'द्वादशग्राम', 'आरोह', 'बाह्लव' आदि स्थानों के अनेकविध चमड़े बहुत प्रसिद्ध थे। इसी तरह कोशल, काश्मीर, विदर्भ, कलिंग आदि के हीरे; ताम्रपर्णी, पांड्य, केरल आदि के मोती; मालेयकूट आदि पर्वतों की मणियां उस समय सारे भारत में प्रसिद्ध थीं। नैपाल के कंबल, बंग देश के श्वेत और महीन कपड़े (मलमल), काशी तथा पुण्ड्रदेश के सनियां कपड़े और मगध तथा सुवर्णकुड्य के रेशेदार वृक्षों के रेशों से बने वस्त्र उस समय सारे भारत में प्रसिद्ध थे। मौर्यकाल के सौदागर व्यापार के लिये बड़े-बड़े काफिले (सार्थ) बनाकर सब जगह आया-जाया करते थे। जब कोई काफिला माल लेकर किसी शहर में पहुंचता था, तो शुल्कशाला (चुंगीघर) के चार-पांच आदमी सार्थवाह (काफिले का नेता) के पास जाकर पूछते थे—'तुम कौन हो? कहां के हो? तुम्हारे पास कितना और क्या माल है? पहली मुहर तुम्हारे माल पर कहां लगी थी?' इन काफिलों की रक्षा का भार राज्य पर होता था। उस समय के मार्ग भयंकर जंगलों में से होकर गुजरते थे, जिनमें जंगली हिंस्र पशुओं के अतिरिक्त चोर, डाकू व आटविक लोग भी रहते थे। मौर्यकाल का शासन इतना व्यवस्थित था, कि काफिलों को अपनी रक्षा के लिये स्वयं शस्त्र धारण करने की आवश्यकता नहीं रह गई थी। राज्य सार्थ में चलनेवाले प्रत्येक व्यापारी से १¼ पण मार्गकर (वर्तनी) लेता था। इसके बदले में उसकी भी जान की रक्षा का उत्तरदायित्व राज्य ले लेता था। इसी तरह माल पर अलग कर था। एक खुरवाले पशु पर लदे माल पर १ पण, अन्य

पशुओं के लिये ½ पण, छोटे पशुओं पर ¼ पण और सिर पर उठाये हुए माल पर १ माष कर लिया जाता था। इन करों के बदले में सरकार का यह कर्त्तव्य था, कि यदि व्यापारी का माल मार्ग में लुट जाय, तो उसे राज्य की तरफ से हरजाना दिया जाय।

मौर्यकाल में विदेशी व्यापार भी बहुत उन्नत था। भारत की पश्चिमोत्तर, उत्तर तथा उत्तरपूर्वी सीमायें अनेक देशों के साथ छूती थीं। उनके साथ भारत का व्यापारिक संबंध विद्यमान था। स्थलमार्ग से जानेवाले बड़े-बड़े काफिले इन पड़ोसी राज्यों में व्यापार के लिये आया-जाया करते थे। कौटलीय अर्थशास्त्र में विदेशी काफिलों का भी उल्लेख किया गया है, जो व्यापार के लिये भारत में आया करते थे।

विदेशी व्यापार जहां खुश्की के रास्ते से होता था, वहां समुद्र द्वारा भी बड़ी-बड़ी नौकायें व्यापार की वस्तुओं को ढोने का काम करती थीं। महासमुद्रों में जानेवाले जहाजों को 'संयात्यः नाव' और 'प्रवहण' कहते थे। कौटलीय अर्थ-शास्त्र में चीन तथा ईरान की व्यापारी वस्तुओं का उल्लेख है। चाणक्य ने लिखा है—'रेशम और चीनपट्ट, जो चीन देश में उत्पन्न होते हैं, श्रेष्ठ समझे जाते हैं।' इसी तरह मुक्ताओं की विविध किसमों का उल्लेख करते हुए चाणक्य ने कार्दमिक मुक्ताओं का भी एक भेद बतलाया है। ईरान की कर्दम नदी में उत्पन्न हुए मोतियों को कार्दमिक कहते थे।

मौर्यकाल में भारत का पश्चिमी देशों से भी समुद्र के मार्ग से व्यापार प्रारम्भ हो चुका था। यह व्यापार मुख्यतया मिस्र के साथ में था। सिकंदर के साम्राज्य के पतन के बाद मिस्र का राजा टाल्मी हुआ, जो चन्द्रगुप्त मौर्य का समकालीन था। उस समय में मिस्र की राजधानी अलेक्जेण्ड्रिया विदेशी व्यापार का बहुत बड़ा केन्द्र थी। अलेक्जेण्ड्रिया से कुछ दूरी पर फेरास नामी द्वीप में टाल्मी ने एक विशाल प्रकाशस्तम्भ का निर्माण कराया। यह संसार के सात आश्चर्यों में गिना जाता था। अशोक के समकालीन मिस्र के राजा टाल्मी फिलेडेल्फस ने भारत आदि पूर्वी देशों के साथ मिस्र के व्यापार को बढ़ाने के लिये आर्सीनोए से लालसागर तक एक नहर बनवाने का संकल्प किया था। इस नहर को १५० फीट चौड़ा और ४५ फीट गहरा बनाया जा रहा था। इस नहर का उद्देश्य यही था कि भारतीय माल को अलेक्जेण्ड्रिया पहुंचाने के लिये स्थल पर न उतारना पड़े, और लालसागर से इस कृत्रिम नहर के रास्ते जहाज नील नदी होकर सीधे अलेक्जेण्ड्रिया पहुंच जायं। दुर्भाग्यवश, यह नहर पूरी नहीं हो सकी। पर मिस्र के साथ भारत का

व्यापार जारी रहा। इसी प्रयोजन से टाल्मी ने लालसागर के तट पर एक नये बन्दरगाह की स्थापना की, जिसका नाम बरनिस था। यहां से खुश्की के रास्ते अलेक्जेण्ड्रिया केवल तीन मील की दूरी पर था। इस रास्ते पर माल को ढोने का काम काफिलों द्वारा होता था।

(४) आने-जाने के साधन

मौर्यकाल में आने-जाने के मार्ग दो प्रकार के थे, जलमार्ग और स्थलमार्ग। दोनों प्रकार के मार्गों से विविध प्रकार के साधनों द्वारा यात्रा की जाती थी। चाणक्य की सम्मति में जलमार्गों की अपेक्षा स्थलमार्ग अधिक अच्छे होते हैं। उसने लिखा है—'पुराने आचार्यों की सम्मति है, कि जलमार्ग और स्थलमाग में जलमार्ग अधिक अच्छे होते हैं, क्योंकि जलमार्ग द्वारा परिश्रम कम पड़ता है, और खर्च भी कम होता है। साथ ही जलमार्ग द्वारा व्यापार में मुनाफा भी खूब होता है।' पर चाणक्य का मत है कि स्थलमार्ग ज्यादा अच्छे हैं, क्योंकि जलमार्ग में खतरे बहुत हैं। जलमार्ग सदा प्रयुक्त नहीं हो सकते और फिर उनमें आशंका भी बनी रहती है।'

जलमार्गों का महकमा 'नावाध्यक्ष' के अधीन रहता था। अर्थशास्त्र के अनुसार जलमार्गों के निम्नलिखित भेद होते थे—

१. **कुल्या**—देश के अन्तर्गत नदियों, नहरों तथा अन्य प्रकार के जलमार्गों को कुल्या कहते थे।

२. **कूलपथ**—समुद्र के तट के साथ-साथ जो छोटे-बड़े जहाजों से व्यापार होता था, उसे कूलपथ कहते थे। चाणक्य की सम्मति में कुल्या और कूलपथों में तुलना करने पर कूलपथ अधिक अच्छे पाये जाते हैं, क्योंकि उनमें व्यापार अधिक हो सकता है। वे कुल्यापथ की तरह अस्थिर व अनिश्चित नहीं होते। नदियां व नहरें सूख जाती हैं, व्यापार के अयोग्य हो जाती है पर समुद्रतट नहीं।

३. **संयानपथ**—महासमुद्रों के जलमार्गों को संयानपथ कहा जाता था।

जलमार्गों द्वारा प्रयुक्त होनेवाली विविध नौकाओं का अर्थशास्त्र में उल्लेख किया गया है।—

(१) संयात्यः नाव—बड़े-बड़े जहाज नये महासागरों में व्यापार के लिये जाया करते थे। जिस समय ये जहाज किसी बंदरगाह (क्षेत्र) पर पहुंचते थे, तो इनसे शुल्क लिया जाता था।

(२) प्रवहण—समुद्रों में जानेवाले व्यापारी जहाजों को प्रवहण कहते थे।

प्रवहणों का प्रबन्ध करने के लिये एक पृथक् अमात्य का उल्लेख अर्थशास्त्र ने किया है।

(३) शंखमुक्ताग्राहिणः नावः——समुद्र से शंख, मोती आदि एकत्र करने वाली नौकायें।

(४) महानाव——बड़ी नदियों में चलनेवाली बड़ी-बड़ी नौकायें।

(५) आप्तनाविकाधिष्ठिता नौः——निपुण नाविकों द्वारा अधिष्ठित राजकीय नौकायें। ये नौकायें राजा के अपने सैर के लिये काम आती थीं।

(६) क्षुद्रका नावः——नदियों में चलनेवाली छोटी-छोटी नौकायें।

(७) स्वतरणानि——लोगों की निजी नौकायें।

(८) हिंस्रिकाः——सामुद्रिक डाकुओं के जहाज। मौर्यकाल में भी सामुद्रिक डाकुओं की सत्ता थी, जो व्यापारी जहाजों पर हमले कर उन्हें लूट लिया करते थे। चाणक्य ने इनके सम्बन्ध में एक ही नीति बताई है। वह यह कि इन्हें नष्ट कर दिया जाय।

विविध प्रकार की इन नौकाओं के अतिरिक्त, नदियों व नालों में पार उतरन के लिये काष्ठसंघात (लकड़ी के स्लीपरों का बेड़ा), वेणुसंघात (बांसों का बेड़ा), अलावु (तुम्बों का बेड़ा), चर्मकरण्ड (खाल से मढ़ा हुआ एक बड़ा टोकरा), दृति (खाल का हवा से भरा हुआ थैला), प्लव (छोटी डोंगी), गण्डिका (पशु-विशेष की हवा से भरी हुई खाल) और वेणिका (सरकण्डों का बेड़ा) का भी प्रयोग होता था। युद्ध के लिये भी इन विविध बेड़ों का प्रयोग किया जाता था।

जहाजों और नौकाओं की सुरक्षा के लिये राज्य की ओर से बहुत ध्यान दिया जाता था। जलमार्ग में अनेक प्रकार के खतरे होते हैं, इसलिये उनसे बचने के लिये राज्य की ओर से अनेक प्रकार की व्यवस्थायें की जाती थीं। आषाढ़ से कार्तिक तक, चौमासे में केवल वे ही नौकायें प्रयुक्त हो सकती थीं, जिनके पास राज्य की ओर से प्रमाणपत्र होता था। चाणक्य ने लिखा है——'इस काल में केवल उन्हीं नौकाओं को चलने दिया जाय, जिनमें शासक नियामक, दात्ररश्मिग्राहक, उत्सेचक आदि सब कर्मचारी सुचारु रूप से व्यवस्थित हों; और जो आकार में काफी बड़ी हों।'

नौकाओं व जहाजों की सुरक्षा का भलीभांति प्रबन्ध होते हुए भी जब कोई जहाज विपत्ति में फंस जाता था, तो उसके साथ बहुत अनुग्रह का बरताव किया जाता था। चाणक्य ने लिखा है, 'तूफान के कारण आहत हुआ कोई जहाज जब

बन्दरगाह पर पहुंचे, तो उसपर बन्दरगाह का अध्यक्ष पिता के समान अनुग्रह करे।' यदि जहाज का माल पानी के कारण खराब हो गया हो, तो उसको शुल्क से मुक्त कर दिया जाता था, या केवल आधा शुल्क लिया जाता था।

विशाल मागध-साम्राज्य में स्थलमार्गों (सड़कों) का एक जाल-सा बिछा हुआ था। पाटलिपुत्र को केन्द्र बनाकर उत्तर, दक्षिण, पूर्व, पश्चिम—सब दिशाओं में सड़कें जाती थीं। मार्गों का प्रबंध राज्य के एक पृथक् विभाग के अधीन था। प्रति आध कोस के बाद सड़कों पर दूरी-सूचक प्रस्तर लगे रहने थे। जहां एक से अधिक मार्ग विभक्त होते थे, वहां प्रत्येक मार्ग की दिशा का प्रदर्शन करनेवाले चिह्न लगे रहते थे। उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रदेश की राजधानी को पाटलिपुत्र से मिलानेवाली एक १५०० कोस लम्बी सड़क थी। उस समय का कोस २०२२½ गज का होता था।

व्यापार के चार मार्ग पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर—चारों दिशाओं में गये थे। चाणक्य ने इन व्यापारिक मार्गों की तिजारत की दृष्टि से तुलना की है। उसने लिखा है—'पुराने आचार्यों के अनुसार स्थलमार्गों में हैमवतपथ (उत्तर दिशा में हिमालय की तरफ जानेवाली सड़क), दक्षिण-पथ (दक्षिण दिशा में जानेवाली सड़कें) से अच्छा है। क्योंकि उसी के द्वारा हाथी, घोड़े, गन्धद्रव्य, हाथीदांत, चमड़ा, चांदी, सोने आदि बहुमूल्य पदार्थों का व्यापार होता है। पर कौटल्य इस सम्मति से सहमत नही हैं। कम्बल, चमड़ा, घोड़ा तथा इसी तरह के कुछ व्यापारिक पदार्थो के अतिरिक्त शंख, वज्र, मणि, मोती, सोना आदि दक्षिणपथ से ही आते हैं। दक्षिणपथ में भी वह मार्ग सबसे महत्त्व का है जो खानों में से गुजरता है,जिसपर आना-जाना बहुत रहता है, और जिसपर परिश्रम कम पड़ता है।' निःसन्देह, इस विषय में चाणक्य की सम्मति ही ठीक थी। पुराने छोटे जनपदों के युग में उत्तर की तरफ जानेवाले हैमवत पथों का चाहे कितना ही महत्त्व रहा हो, पर आसमुद्र क्षितीश मागध-साम्राज्यों के समय में दक्षिण की तरफ जानेवाले वणिक्पथों का महत्त्व बहुत बढ़ गया था। सोने, चांदी, मोती आदि के अतिरिक्त विदेशी सामुद्रिक व्यापार भी इन्हीं मार्गों से होता था। व्यापार के अतिरिक्त इन मार्गों का राजनीतिक महत्त्व भी था। चाणक्य ने लिखा है—'शत्रु पर आक्रमण करने के आधार वणिक्पथ ही हैं। वणिक्पथों से ही गुप्तचरों का आना-जाना, शस्त्र, कवच, घोड़े, गाड़ी आदि का क्रय-विक्रय किया जाता है।' दक्षिण की ओर मागध-साम्राज्य का विस्तार करनेवाले मौर्य-सम्राटों के समय में दक्षिण के मार्गों का महत्त्व अवश्य ही बहुत अधिक था।

कौटलीय अर्थशास्त्र में स्थलमार्गों पर चलनेवाले अनेकविध यानों का भी वर्णन मिलता है। (१) पारियानिक रथ--साधारण प्रयोग के रथ। (२) सांग्रामिक रथ--लड़ाई के लिये इस्तेमाल होनेवाले रथ। (३) परपुराभियानिक--शत्रुओं के दुर्गों पर आक्रमण करने के लिये उपयोगी रथ। (४) वैयनिक रथ--ऐसे रथ जिनका प्रयोग सैनिक शिक्षा के लिये किया जाय। (५) देवरथ। (६) पुष्परथ। (७) लघुयान। (८) गोलिंगयान--बैलगाड़ी। (९) शकट। (१०) शिविका--पालकी। (११) पीठिका--डोली। इनके अतिरिक्त सवारी के लिये हाथी, घोड़ा ऊंट आदि का भी अर्थशास्त्र में उल्लेख है।

(५) तोल और माप के परिमाण

तोल और माप आदि के जिन परिमाणों की शुद्धता के लिये मौर्यकाल में इतना ध्यान दिया जाता था, उनके सम्बन्ध में भी यहां विवरण देना आवश्यक है। तोल के लिये निम्नलिखित बट्टे काम आते थे--

५ रत्ती=एक माषक (सुवर्णमाष)=वर्तमान समय का ५/६ मासा
१६ माषक=एक कर्ष (सुवर्ण)=वर्तमान समय का ५/६ तोला
४ कर्ष=एक पल वर्तमान समय का २½ तोला या आधी छटांक।

४ सुवर्ण (½ छटाक), ८ सुवर्ण (१ छटांक), २० सुवर्ण (२½ छटांक), ४० सुवर्ण (५ छटांक), और १०० सुवर्ण (१२½ छटांक) के बट्टे उस समय प्रचलित थे। इसी तरह, १ पल (२½ तोला), १० पल (५ छटांक), २० पल (१० छटांक), ४० पल (२० छटांक) और १०० पल (३ सेर २ छटांक) के बट्टे मौर्ययुग में प्रयुक्त होते थे।

अधिक वजन के माल को तोलने के लिये ये बट्टे प्रचलित थे--

१२½ कर्ष (२०० माषक)	=१ कुडुम्ब=वर्तमान समय का लगभग २ छटांक
४ कुडुम्ब	= १ प्रस्थ=८ छटांक
४ प्रस्थ	= १ आढक=२ सेर
४ आढक	= १ द्रोण=८ सेर
१६ द्रोण	= १ वारी=३ मन ८ सेर
१० द्रोण	= १ वट्ट=२ मन
२० द्रोण	= १ कुम्भ=४ मन

बट्टे लोहे या पत्थर के होते थे। चाणक्य के अनुसार बट्टे बनाने में ऐसी धातु या

अन्य पदार्थ इस्तेमाल करने चाहिये, जो गीले होने से खराब न हों, और गरमी से भी जिनपर असर न पड़े ।

माप के लिये निम्नलिखित परिमाण अर्थशास्त्र में लिखे गये हैं—

आठ परमाणु=एक विप्रुट्
आठ विप्रुट्=एक लिक्षा
आठ लिक्षा=एक यूकामध्य
आठ यूकामध्य=एक यवमध्य
आठ यवमध्य=एक अंगुल
चार अंगुल=एक धनुर्ग्रह
आठ अंगुल=एक धनुर्मुष्टि
बारह अंगुल=एक वितस्ति
दो वितस्ति=एक अरत्नि
४२ अंगुल=एक किष्कु
८४ अंगुल=एक व्याम
१०८ अंगुल=एक गार्हपत्य या धनु
१९२ अंगुल=एक दंड
१० दंड=एक रज्जु
१००० धनु=एक गोरुत या कोश
४ गोरुत=एक योजन

इस परिमाण में १ अंगुल वर्तमान समय के ३/४ इंच के बराबर है, और इस हिसाब से १ गोरुत या कोश २२५० गज के और एक योजन ५ ५/४४ मील के बराबर है ।

अंगुल के जितने छोटे-छोटे हिस्सों को मापने के परिमाण अर्थशास्त्र में दिये हैं, उनसे सूचित होता है, कि उस समय में चीजों की लम्बाई बड़ी बारीकी से नापी जाती थी । माप का सबसे छोटा मान परमाणु इंच के लगभग चालीस हजारवें हिस्से के बराबर था । इस सम्बन्ध में वैज्ञानिक दृष्टि से जो सूक्ष्म हिसाब उस समय लगाया जाता था, उसका इससे भलीभांति परिचय मिल जाता है ।

तोल के परिमाणों का विभाग पौतवाध्यक्ष के अधीन होता था; और माप के परिमाण मानाध्यक्ष के अधीन रहते थे । ये दोनों अमात्य तौल और माप की व्यवस्था बड़ी बारीकी के साथ मौर्यकाल में प्रतिपादित करते थे ।

(६) मुद्रापद्धति

मौर्यकाल के कोई सिक्के अभी तक उपलब्ध नहीं हुए। पर कौटलीय अर्थशास्त्र के अनुशीलन से उस समय की मुद्रापद्धति के सम्बन्ध में अनेक उपयोगी निर्देश प्राप्त होते हैं। मौर्यकाल में मुद्रापद्धति के संचालन के लिये एक पृथक् अमात्य होता था, जिसे 'लक्षणाध्यक्ष' कहते थे। टकसाल का प्रधान अधिकारी 'सौवर्णिक' कहलाता था। अर्थशास्त्र में दो प्रकार के सिक्के लिखे हैं--

१. कोषप्रवेश्य--ये मुख्य सिक्के होते थे, वर्तमान परिभाषा में इन्हें 'लीगल टेंडर' कहा जा सकता है। राजकीय कर तथा क्रय-विक्रय के लिये इन्हीं को प्रामाणिक माना जाता था।

२. व्यावहारिक--इनकी कीमत कोषप्रवेश्य सिक्कों पर ही आश्रित थी। ये साधारण लेन-देन के काम आते थे। वर्तमान परिभाषा में इन्हें 'टोकन मनी' कह सकते हैं।

सिक्के अनेक मूल्यों के होते थे। चांदी के सिक्कों में चार भाग तांबा, एक भाग त्रपु, सीसा या अन्य धातु और नौ भाग शुद्ध चांदी रहती थी। इस सिक्के को पण या रुप्यरूप कहते थे। पण के अतिरिक्त वर्तमान अठन्नी, चवन्नी व दुवन्नी के समान अर्धपण, पादपण और अष्टभागपण सिक्के भी प्रयोग में आते थे। चांदी के पणों व अर्धपण आदि के अतिरिक्त, तांबे के सिक्के भी प्रचलित थे जिन्हें 'ताम्र-रूप' या 'माषक' कहते थे। इसके भी भाग, अर्धमाषक, काकणी (१/४ माषक) और अर्धकाकणी (१/८ माषक) होते थे। तांबे और चांदी के अतिरिक्त सम्भवतः सोने का भी एक सिक्का उस युग में प्रचलित था। इसे सुवर्ण कहते थे और इसका भार ५/८ तोले होता था।

जो नागरिक चाहे, धातु ले जाकर सौवर्णिक से सिक्के बनवा सकता था। प्रत्येक सिक्के पर बनवाई के तौर पर एक काकणी ली जाती थी। सिक्कों के बदले में सोना-चांदी भी खुले तौर पर लिया जा सकता था। "पर ये सिक्के क्षीण और परिशीर्ण नहीं होने चाहिये, इनका भार ठीक हो, काल द्वारा या अन्य किसी कारण से ये हलके न हो गये हों।"

सिक्कों के अतिरिक्त कीमत चुकाने के कुछ अन्य साधन भी मौर्यकाल में प्रचलित थे। ऐसे एक साधन 'आदेश' का उल्लेख चाणक्य ने किया है। शब्दार्थ की दृष्टि से किसी व्यक्ति की अन्य किसी व्यक्ति को कीमत चुकाने की आज्ञा का नाम 'आदेश' है। वर्तमान समय में इसी को हुंडी कहते हैं।

(७) सूद के नियम

मौर्यकाल में सूद पर रुपया देने की प्रथा विद्यमान थी। उधार व ऋण को बहुत महत्त्व की बात माना जाता था। इसीलिये चाणक्य ने लिखा है कि धनिक (उत्तमर्ण) और धारणिक (अधमर्ण) के सम्बन्ध पर राज्य का कल्याण आश्रित है। अर्थशास्त्र में सूद की जो दरें लिखी गई हैं, वे वर्तमान काल की दृष्टि से बहुत अधिक हैं। उस रुपये के लिये, जिसके डूबने का डर नहीं होता था, जिसे भली-भांति सुरक्षित समझा जाता था, १५ रु० प्रतिवर्ष प्रतिशत सूद देना होता था। यह दर कम से कम थी। चाणक्य ने इसे कानून से अनुमत लिखा है। पर व्यवहार में सुरक्षितता की कमी के अनुसार सूद की दर इससे बहुत अधिक भी होती थी। साधारणतया, ५ प्रतिशत प्रतिमास या ६० फीसदी की दर से रुपया उधार मिलता था। जहां खतरा अधिक था, वहां सूद की दर इससे भी अधिक होती थी। व्यापार के लिये जंगल में जानेवाले व्यापारियों को १० फीसदी प्रतिमास के हिसाब से सूद देना होता था। समुद्रपार जानेवाले व्यापारियों को २० फीसदी मासिक के हिसाब से सूद देने पर रुपया मिलता था, क्योंकि उसमें रुपये के डूबने का खतरा बहुत अधिक रहता था। इन व्यापारियों को जहां भयंकर खतरे का सामना करना होता था, वहां उन्हें मुनाफा भी बहुत मिलता था। इसीलिये वे इतना सूद दे सकते थे। इससे अधिक सूद की दर नहीं बढ़ सकती थी। इससे अधिक सूद लेने पर कड़े दण्ड की व्यवस्था थी।

कर्जदार या धारणिक के मर जाने पर उसका लड़का कर्ज के लिये उत्तरदायी माना जाता था। यदि मृत धारणिक के कोई संतान न हो, तो जो भी उसकी सम्पत्ति का उत्तराधिकारी हो, वही उसकी देनदारी को अदा करता था। यदि ऋण किसी अमानत के आधार पर लिया गया हो, तो उस अमानत के माल को बेचकर रुपया चुका लिया जाता था।

(८) दासप्रथा

मैगस्थनीज़ ने लिखा है, कि 'भारतवर्ष के विषय में यह ध्यान देने योग्य बात है, कि समस्त भारतीय स्वतन्त्र हैं, उनमें एक भी दास नहीं है। लैकिडिमोनियन्स और भारतवासी यहां तक तो एक-दूसरे से मिलते हैं। पर लैकिडिमोनियन्स लोगों में हेलॉट लोगों को दासों की तरह रखा जाता है। ये हेलॉट लोग नीचे दरजे का परिश्रम करते हैं। पर भारतीय लोग विदेशियों तक को दास नहीं बनाते, अपने देशवासियों की तो बात ही क्या है?'

इस प्रकार स्पष्ट है, कि ग्रीक-लेखकों के अनुसार भारत में दासप्रथा का सर्वथा अभाव था। पर कौटलीय अर्थशास्त्र से इस बात की पुष्टि नहीं होती। सम्भवतः, ग्रीक लोगों की दृष्टि में जो दासप्रथा थी, वह भारत में नहीं थी। यहां दासों के साथ उतना कड़ा तथा भयंकर व्यवहार नहीं किया जाता था, जैसा कि ग्रीस व रोम में होता था। पर इस देश में दासप्रथा का अभाव नहीं था। ग्रीक लेखकों में ही आनिसिक्रिटस के अनुसार यह बात (दासप्रथा का अभाव) केवल उसी प्रदेश के सम्बन्ध में ठीक है, जहां मूसिकेनस (मुचिकर्ण) राज्य था। यह राज्य सिकन्दर के आक्रमण के समय सिन्ध में था। वहां यदि अनार्य दासों का सर्वथा अभाव हो, तो कोई आश्चर्य नहीं। अर्थशास्त्र के अनुशीलन से दासप्रथा के सम्बन्ध में जो बातें ज्ञात होती हैं, वे संक्षेप में निम्नलिखित हैं——

१. उस समय बहुत-से दास जन्म से होते थे। उन्हें खरीदा और बेचा जा सकता था।

२. म्लेच्छ (आर्यभिन्न) लोग अपने बच्चों व अन्य सम्बन्धियों को दास की भांति बेच सकते थे। पर आर्यों में यह प्रथा नहीं थी, उन्हें अपने सम्बन्धियों को बेचने पर कठोर दण्ड मिलता था।

३. साधारणतया आर्य दास नहीं बन सकता था। पर कुछ अवस्थाओं में आर्य भी थोड़े समय के लिये दास हो सकता था——(क) अपने परिवार को आर्थिक संकट से बचाने के लिये यदि अपने को बेचना आवश्यक हो। (ख) जुरमानों का दण्ड अदा करने के लिये। (ग) यदि राजदण्ड दास बनने का मिला हो। (घ) यदि युद्ध में जीतकर दास बनाया गया हो।

४. दासों से बुरा व्यवहार नहीं किया जाता था। उनसे मुरदा उठवाना, मूत्र, विष्ठा वा जूठा उठवाना निषिद्ध था। वे नंगे नहीं रखे जा सकते थे। उन्हें पीटना या गाली देना भी मना था।

५. दासलोग स्वामी के कार्य को नुकसान न पहुँचाते हुए अपनी अलग कमाई कर सकते थे। अपने माता-पिता से प्राप्त सम्पत्ति पर भी दासों का अधिकार होता था।

६. कीमत चुकाकर दास लोग फिर स्वतन्त्रता प्राप्त कर सकते थे।

७. बिना वारन्ट के दासों को कैद में नहीं डाला जा सकता था। ऐसा करने पर स्वामी को दंड मिलता था।

८. दास-स्त्रियों व लड़कियों के साथ अनाचार नहीं किया जा सकता था।

यदि स्वामी किसी दास-स्त्री से अनाचार करे, तो फिर वह दास नहीं रह जाती थी। स्वामी का उसपर अधिकार नहीं रहता था।

९. आर्यदास की संतान दास नहीं होती थी, वह आर्य ही मानी जाती थी।

१०. कीमत चुकाने पर जन्म के दास भी स्वतन्त्र हो सकते थे। स्वतन्त्र होने के लिये दास लोग अलग कमाई करते थे। सम्बन्धी लोग भी कीमत चुकाकर दास को स्वतन्त्र करा सकते थे।

इन विविध नियमों के कारण भारत में दास-प्रथा का रूप ग्रीस व रोम की दासप्रथा से बहुत भिन्न था। इसी कारण मैगस्थनीज को यहां इस प्रथा का सर्वथा अभाव अनुभव हुआ था।

सहायक ग्रन्थ

Mac Crindle : Ancient India as described by Magasthenes.
Das S. K. : Economic History of Ancient India.
Hoernle : Studies in the Medicine in Ancient India.
Mukerjee : A History of Indian Shipping and Maritime Activity from the Earliest Times.
Sarkar B. K. : Positive Backgrounds of Hindu Sociology.
Mazumdar Etc. : An Advanced History of India.
कौटलीयम् अर्थशास्त्रम्
सत्यकेतु विद्यालंकार——मौर्य-साम्राज्य का इतिहास

चौबीसवां अध्याय

मौर्यकालीन समाज और सभ्यता

(१) भारतीय समाज के विविध वर्ग

मैगस्थनीज के अनुसार भारत की जनता सात वर्गों में बंटी हुई थी। यवन-यात्री का यह वर्णन उस समय के समाज पर बहुत अच्छा प्रकाश डालता है—

'भारतवर्ष की सारी आबादी सात जातियों (वर्गों) में बंटी है। पहली जाति दार्शनिकों के समुदाय से बनी है, जो यद्यपि संख्या की दृष्टि से अन्य जातियों की अपेक्षा कम है, तथापि प्रतिष्ठा में उन सबसे श्रेष्ठ है। दार्शनिक लोग सभी सार्वजनिक कर्तव्यों से मुक्त हैं, इसलिये न तो किसी के दास हैं, और न किसी के स्वामी। गृहस्थ लोगों के द्वारा ये बलि प्रदान करने तथा मृतकों का श्राद्ध करने के लिये नियुक्त किये जाते हैं, क्योंकि लोगों का विश्वास है कि ये देवताओं के बहुत प्रिय हैं, और परलोक-सम्बन्धी बातों में बहुत निपुण हैं। इन क्रियाओं के बदले में वे बहुमूल्य दान पाते हैं। भारत के लोगों को इनसे बहुत लाभ पहुंचता है। साल के प्रारम्भ में जब ये लोग एकत्र होते हैं, तो अनावृष्टि, शीत, आंधी, रोग आदि की पहले से ही सूचना दे देते हैं। इसी तरह की अन्य बहुत-सी बातों को भी ये पहले से ही बता देते हैं, जिनसे कि सर्वसाधारण को बहुत लाभ पहुंचता है। इस प्रकार राजा और प्रजा—दोनों भविष्य को पहले से ही जानकर उसका प्रबंध कर सकते हैं। जो वस्तु आवश्यकता के समय काम आवेगी, उसका पहले से ही प्रबन्ध करने में वे कभी नहीं चूकते। जो दार्शनिक अपनी भविष्यवाणी में भूल करता है, उसको निंदा के सिवा अन्य कोई दंड नहीं मिलता। भविष्यवाणी अशुद्ध होने की दशा में फिर दार्शनिक जीवन भर मौन अवलम्बन कर लेता है।

'दूसरी जाति में किसान लोग हैं, जो दूसरों से संख्या में बहुत अधिक हैं। वे राजा को भूमिकर देते हैं। किसान लोग स्वयं अपनी स्त्रियों और बच्चों के साथ देहात में रहते हैं, और नगरों में जाने से बिलकुल बचते हैं।

'तीसरी जाति के अन्तर्गत अहीर, गड़रिये तथा सब प्रकार के चरवाहे हैं, जो न नगरों में बसते है और न ग्रामों में, बल्कि डेरों में रहते हैं। शिकार तथा पशुओं को जाल आदि में फंसाकर वे देश को हानिकर पक्षियों और जंगली पशुओं से मुक्त करते हैं। वे अपने इस कार्य में बड़े उत्साह के साथ लगे रहते हैं। इसीलिये वे भारत को उन विपत्तियों से मुक्त करते हैं, जो कि यहां पर बड़ी मात्रा में विद्यमान हैं—जैसे सब प्रकार के जंगली जंतु और किसानों के बोये हुए बीजों को खा जानेवाले पक्षी।

'चौथी जाति कारीगर लोगों की है। इनमें कुछ कवच बनानेवाले हैं, और कुछ उन विविध उपकरणों (औजारों) को बनाते हैं, जिनका किसान तथा अन्य व्यवसायी लोग उपयोग करते हैं।

'पांचवीं जाति सैनिकों की है। यह भलीभांति संगठित तथा युद्ध के लिये सुसज्जित रहती है। संख्या में इसका दूसरा स्थान है। शान्ति के समय यह आलस्य और आमोद-प्रमोद में मस्त रहती है। सारी सेना, योद्धा सैनिक, युद्ध के घोड़े-हाथी सबका राजकीय खर्च से पालन होता है।

'छठी जाति में निरीक्षक लोग हैं। इनका काम यह है कि जो कुछ भारतवर्ष में होता है, उसकी खोज तथा देख-भाल करते रहे और राजा को, तथा जहां राजा न हो वहां अन्य किसी राजकीय शासक को, इसकी सूचना देते रहे।

'सातवीं जाति सभासदों तथा अन्य शासनकर्ताओं की है। ये लोग राज्य-कार्य की देखभाल करते हैं। संख्या की दृष्टि से यह जाति सबसे छोटी है, पर अपने चरित्र तथा बुद्धि के कारण सबसे प्रतिष्ठित है। इसी जाति से राजा के मन्त्रिगण राज्य के कोषाध्यक्ष और न्यायकर्ता लिये जाते हैं। सेना के नायक व मुख्य शासक लोग प्रायः इसी जाति के होते हैं।'

मैगस्थनीज द्वारा वर्णित भारतीय समाज के इन सात वर्गों को हम क्रमशः—ब्राह्मण-श्रमण, कृषक, गोपाल-श्वगणिक-वागुरिक, कारु-शिल्पि-वैदेहक, भट, प्रतिवेदक-अध्यक्ष-सत्रिक और मन्त्रि-महामात्र-अमात्य कह सकते हैं। ये सात कोई पृथक् जातियां नहीं थीं। यवन-यात्री मैगस्थनीज ने भारत के समाज की जो दशा देखी, उसके अनुसार उसने ये सात वर्ग यहां पाये।

(२) विवाह तथा स्त्रियों की स्थिति

मौर्यकाल में बहुविवाह की प्रथा विद्यमान थी। मैगस्थनीज ने लिखा है—'वे बहुत-सी स्त्रियों से विवाह करते हैं।' विवाहित स्त्रियों के अतिरिक्त अनेक

स्त्रियों को केवल आमोद-प्रमोद के लिये भी घर में रखा जाता था। मैगस्थनीज के अनुसार 'कुछ को तो वे दत्तचित्त सहधर्मिणी बनाने के लिये विवाह करके लाते हैं, और कुछ को केवल आनन्द के हेतु तथा घर को लड़कों से भर देने के लिये।' कौटलीय अर्थशास्त्र से भी यह बात पुष्ट होती है। वहां लिखा है—'पुरुष कितनी ही स्त्रियों से विवाह कर सकता है, स्त्रियां सन्तान उत्पन्न करने के लिये ही हैं।'

मौर्य-युग में दहेज-प्रथा की सत्ता विशेषरूप से उल्लेखनीय है। यद्यपि दहेज (शुल्क) लेकर किये गये विवाह को आसुर नाम दिया गया है, पर उस समय में यह अच्छी तरह प्रचलित था। इसीलिये चाणक्य को दहेज के सम्बन्ध में बहुत-से नियम बनाने की आवश्यकता हुई थी। शुल्क (दहेज) पर वर के माता-पिता का अधिकार होता था। दोनों के अभाव में ही वधू दहेज की अधिकारिणी हो सकती थी। पति के मरने पर स्त्री को दहेज का बचा हुआ भाग मिल जाता था।

पुरुष और स्त्री, दोनों को इस युग में पुनर्विवाह का अधिकार था। पुरुषों के पुनर्विवाह के सम्बन्ध में ये नियम दिये गये हैं—यदि किसी स्त्री के आठ साल तक बच्चा न हो, या जिसके कोई पुरुष संतान न हो, या जो बन्ध्या हो, उसका पति पुनर्विवाह से पूर्व आठ वर्ष तक प्रतीक्षा करे। यदि स्त्री के मृत बच्चा पैदा हो, तो दस साल तक प्रतीक्षा करे। केवल लड़कियां ही उत्पन्न हों, तो बारह वर्ष तक प्रतीक्षा करे। इसके बाद पुत्र की इच्छा होने पर पुरुष दूसरा विवाह कर सकता है।' स्त्री के मर जाने पर तो पुनर्विवाह हो ही सकता था।

पुरुषों की तरह स्त्रियों को भी पुनर्विवाह का अधिकार था। पति के मरने पर यदि स्त्री दूसरा विवाह करना चाहे, तो उसे अपने श्वसुर तथा पतिपक्ष के अन्य संबंधियों द्वारा प्राप्त धन वापस देना होता था। परन्तु यदि पुनर्विवाह श्वसुर की अनुमति से हो, तो स्त्री इस धन को अपने पास रख सकती थी। पति की मृत्यु के अतिरिक्त भी कुछ अवस्थाओं में स्त्री को पुनर्विवाह का अधिकार था। 'यदि किसी स्त्री के कोई सन्तान न हो और उसका पति विदेश गया हुआ हो, तो वह एक साल तक प्रतीक्षा करे। यदि उसके कोई संतान हो, तो अधिक समय तक प्रतीक्षा करे। यदि पति स्त्री के लिये भरण-पोषण का प्रबंध कर गया हो, तो दुगने समय तक प्रतीक्षा की जाय। यदि पति विद्याध्ययन के लिये विदेश गया हो, तो संतान-रहित स्त्री दस वर्ष और संतान-सहित स्त्री बारह वर्ष तक प्रतीक्षा करे, यह नियम था।

मौर्यकाल में नियोग की प्रथा भी प्रचलित थी। यदि कोई राजपुरुष विदेश

गया हुआ हो, तो उसकी स्त्री को पुनर्विवाह का अधिकार नहीं था। पर वह किसी और पुरुष से बच्चा उत्पन्न कर सकती थी। चाणक्य ने लिखा है, कि इस प्रकार अपने वंश की रक्षा के लिये संतान उत्पन्न कर लेना बदनामी का कारण नहीं होना चाहिये।

मौर्यकाल में तलाक की प्रथा भी विद्यमान थी। कौटलीय अर्थशास्त्र में तलाक के लिये 'मोक्ष' शब्द का प्रयोग किया गया है। स्त्री और पुरुष, दोनों को ही तलाक का अधिकार था। इस विषय में अर्थशास्त्र के निम्नलिखित नियम ध्यान देने योग्य है —

'यदि कोई पति बुरे आचार का है, परदेश गया हुआ है, राज्य का द्वेषी है या यदि कोई पति खूनी है, पतित है या नपुंसक है, तो स्त्री उसका त्याग कर सकती है।

'पति से घृणा करती हुई स्त्री, उस (पति) की इच्छा के बिना तलाक नहीं दे सकती। इसी तरह स्त्री से घृणा करता हुआ पति, उस (स्त्री) की इच्छा के बिना तलाक नहीं दे सकता। पर पारस्परिक घृणा से तलाक हो सकता है।

'यदि स्त्री से तंग आकर पुरुष उसको तलाक देना चाहे, तो जो धन स्त्री की ओर से उसे मिला है, वह उसे लौटा दिया जाय। परंतु यदि स्त्री पति से तंग आकर तलाक देना चाहे तो उसका धन उसे न लौटाया जाय।'

यहां यह ध्यान रखना चाहिये, कि ब्राह्मण, प्राजापत्य आदि पहले प्रकार के चार 'धर्मानुकूल' विवाहों में तलाक नहीं हो सकता था। तलाक केवल आसुर, गान्धर्व आदि पिछले चार विवाहों में ही विहित था।

मैगस्थनीज तथा कौटल्य—दोनों के ग्रंथों के अनुशीलन से ज्ञात होता है, कि मौर्यकाल में स्त्रियों की स्थिति बहुत ऊंची नहीं थी। मैगस्थनीज़ ने स्त्रियों के खरीदने व बेचने की बात लिखी है। उसके अनुसार एक जोड़ा बैल देकर पुरुष स्त्रियों को खरीद लेते थे। इसी तरह राजा लोग अपने साथ रखने के लिये बहुत-सी स्त्रियों को उनके माता-पिता से क्रय कर लेते थे। वर्तमान अर्थ में स्त्रियों को स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं थी। उन्हें प्रायः पति की आज्ञा में और घर के भीतर ही रहना होता था। इस विषय में अर्थशास्त्र के निम्नलिखित नियम ध्यान देने योग्य हैं— 'खतरे को छोड़कर यदि किसी अन्य कारणों से कोई स्त्री अपने पति के घर से बाहर जाय, तो उसपर छः पण जुरमाना किया जाय। यदि वह पति की आज्ञा के विरुद्ध घर से बाहर जाय, तो बारह पण जुरमाना किया जाय, यदि स्त्री पड़ोसी के घर से परे चली जाय, तो उसपर छः पण जुरमाना किया जाय। मौर्यकाल में स्त्रियां

प्रायः परदे में रहती थीं। अर्थशास्त्र में स्त्रियों को 'न निकलनेवाली' कहा गया है।

(३) धार्मिक विश्वास

चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में यज्ञों में पशुहिंसा, बलिदान तथा श्राद्ध प्रचलित थे। मैगस्थनीज ने लिखा है—'यज्ञ व श्राद्ध में कोई मुकुट धारण नहीं करता। वे बलि के पशु को छुरी धंसाकर नहीं मारते, अपितु गला घोंटकर मारते हैं, जिससे देवता को खण्डित वस्तु भेंट न करके पूरी वस्तु भेंट में दी जाय।

'एक प्रयोजन जिसके लिये राजा अपना महल छोड़ता है, बलि प्रदान करना है। पर गृहस्थ लोगों द्वारा ये दार्शनिक बलि प्रदान करने तथा मृतकों का श्राद्ध करने के लिये नियत किये जाते हैं।'

मैगस्थनीज के उदाहरणों से स्पष्ट है, कि चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में पशुबलि की प्रथा भलीभांति प्रचलित थी। बौद्ध और जैन-धर्मों का इस समय काफी प्रचार हो रहा था, पर अभी यज्ञों में पशुबलि देने की प्रथा नष्ट नहीं हुई थी। आगे चलकर अशोक के समय में बौद्ध-धर्म का प्रचार विशेषरूप से हुआ, और तब पशुहिंसा, और 'समाजों' में पशुओं के द्वन्द्वयुद्धों को बंद करने का प्रयत्न किया गया। कौटलीय अर्थशास्त्र में यज्ञों के विविध अनुष्ठानों तथा ऋत्विक् आदि यज्ञकर्त्ताओं का अनेक स्थानों पर उल्लेख आया है।

अर्थशास्त्र के अनुशीलन से ज्ञात होता है, कि मौर्यकाल में अनेकविध सम्प्रदाय विद्यमान थे। वहां लिखा है—नगर के मध्य में आपराजित, अप्रिहत, जयन्त, वैजयंत—इनके कोष्ठ और शिव, वैश्रवण, अश्वि और श्रीमदिरा के घर बनाये जावें। इन कोष्ठों और गृहों में यथास्थान देवताओं (वास्तुदेवता=स्थावर रूप में वर्तमान देवता) की स्थापना की जाय। भिन्न-भिन्न दिशाओं में यथास्थान दिग्देवताओं (दिशा के देवताओं) की स्थापना की जाय।'

स्पष्ट है, कि मौर्यकाल में भिन्न-भिन्न देवताओं की पूजा प्रचलित थी, और उसके लिये अलग-अलग मंदिर बने होते थे। देवताओं की मूर्ति बनाने का शिल्प उस समय उन्नति पर था। यह कार्य करनेवाले 'देवताकारु' कहलाते थे। नगर के द्वारों के नाम ब्रह्मा, इन्द्र, यम आदि के नाम से रखे जाते थे। तीर्थयात्रा का भी उस समय रिवाज था। तीर्थों में यात्रा पर एकत्रित लोगों से 'तीर्थंकर' लिया जाता था। विविध सम्प्रदायों के लिये 'पाषण्ड' शब्द व्यवहार में आता था। अशोक के शिलालेखों में भी संप्रदायों को 'पाषंड' कहा गया है। संभवतः विविध धर्मों के

अनुयायी भिक्षुओं के मठों या अखाड़ों के लिये यह शब्द प्रयुक्त होता था। चाणक्य की इनसे जरा भी सहानुभूति नहीं थी। उनके विचार सांसारिक उत्कर्ष, समृद्धि और गृहस्थ की उच्चता के पक्षपाती थे। संसार से विरक्त होकर 'पाषंडों' में शामिल होना उनके आदर्शों के प्रतिकूल था। इसीलिये उन्होंने व्यवस्था की थी, कि पाषंडों को शहर से बाहर श्मशान के परे चांडालों की बस्ती के पास जगह दी जाय। शहरों से बाहर रहते हुए, सुवर्ण या सुवर्णमुद्रा न रखकर, ये खुले बस सकते थे। पर यह ध्यान रखा जाता था, कि एक पाषंड से दूसरे पाषंड को बाधा न पहुंचे।

देवताओं और धर्ममंदिरों को सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था। उनके प्रति किसी तरह का कुवाक्य बोलने पर कड़े दंड की व्यवस्था थी। लोग तंत्र-मंत्र पर विश्वास रखते थे। मंत्र की साधना से अभिलषित फल की सिद्धि होती है, यह बात सर्वसाधारण में मान्य थी। उस युग में अनेक लोग धर्म के विविध ढोंग बना कर जनता को ठगा भी करते थे। इसीलिये आचार्य चाणक्य ने अपनी कुटिल नीति का अनुसरण करते हुए शत्रुओं पर काबू करने के उपायों का वर्णन करते हुए लिखा है कि मुंड या जटिल के वेश में गुप्तचर बहुत से चेलों को साथ लेकर नगर के समीप आकर बैठ जायं। पूछने पर बतायें कि हम पर्वत की गुहा में रहनेवाले हैं और हमारी आयु ४०० वर्ष की है। शिष्य लोग मूल, फल आदि लेने के लिये शहर में जाकर अमात्यों और राजकुल के लोगों को माहात्माजी के दर्शनों के लिये प्रेरित करें। जब राजा दर्शनों के लिये आये तो उसे पुराने राजा और देश के संबंध में इधर-उधर की बातें बतलाए और कहे कि 'सौ-सौ साल बाद आग में प्रवेश कर मैं फिर बालक बन जाता हूँ। अब मै आपके सम्मुख चौथी बार आग में प्रवेश करूँगा। आप अवश्य ही देखने आइये, जो इच्छा हो, तीन वर मांग लो।' इस प्रकार अपना विश्वास जमाकर गुप्तचर अपने कार्य की सिद्धि करते थे।

यह नहीं समझना चाहिये, कि महात्मा बुद्ध के बाद भारत में अन्य धर्मों का लोप होकर केवल बौद्ध-धर्म का ही प्रचार हो गया था। प्राचीन यज्ञ प्रधान वैदिक धर्म, विविध देवी-देवताओं की पूजा, अनेक पाषंड आदि उस युग में विद्यमान थे। अशोक के समय में बौद्ध-धर्म का प्रचार भारत में बहुत बढ़ गया, पर अन्य संप्रदाय भी कायम थे। भक्तिप्रधान वैष्णव या भागवत-धर्म का अंकुर भी इस युग में भलीभांति पल्लवित हो रहा था। आगे चलकर यह भारत का प्रमुख धर्म हो गया। मैगस्थनीज ने लिखा है कि शूरसेन देश में कृष्ण की पूजा विशेषरूप से

प्रचलित थी। राजपूताना में चित्तौड़ के समीप प्राचीन माध्यमिका नगरी के भग्नावशेषों के समीप घोसुंडी नामक गांव में मौर्यकाल का एक शिलालेख मिला है, जिसमें संकर्षण और वासुदेव की पूजा के लिये दान देने की बात उत्कीर्ण है। इससे सूचित होता है, कि भागवत धर्म का मौर्यकाल में प्रचार शूरसेन देश से बाहर भी राजपूताना तक उस समय में हो चुका था।

(४) भारतीयों का भोजन और पान

मैगस्थनीज ने लिखा है—'जब भारतीय लोग भोजन के लिये बैठते हैं, तो प्रत्येक व्यक्ति के सामने मेज रहती है, जो कि तिपाई की शकल की होती है। इनके ऊपर एक सोने का प्याला रखा जाता है, जिसमें सबसे पहले चावल परोसे जाते हैं। वे इस तरह उबले हुए होते हैं, जैसे जौ हो। इसके बाद अन्य बहुत-से पक्वान्न परोसे जाते हैं, जो भारतीय सामग्रियों के अनुसार तैयार किये जाते हैं।' एक अन्य स्थान पर इस यवन यात्री ने लिखा है—'वे सदैव अकेले में भोजन करते हैं। वे कोई ऐसा नियत समय नहीं रखते, जब कि इकट्ठे मिलकर भोजन किया जाय। जिस समय जिसकी इच्छा होती है, वह तभी भोजन कर लेता है।'

सोने के प्याले में तो राजकुल के वे उच्च राजकर्मचारी ही भोजन करते होंगे, जिनसे मिलने का सीरियन सम्राट् के राजदूत को प्रायः अवसर मिलता रहता होगा, पर मैगस्थनीज के इस विवरण से भोजन के संबंध में भारतीयों की परिपाटी का अवश्य परिचय मिल जाता है।

मौर्यकाल के भारतीय स्वादु भोजन बनाने के लिये प्रयत्नशील रहते थे। राजा की जो महानस (रसोई) होती थी, उसके विषय में चाणक्य ने लिखा है कि तरह-तरह के सुस्वादु भोजन तैयार कराये जायं। भिन्न-भिन्न वस्तुओं को पकाने के लिये अलग-अलग पाचक होते थे। साधारण बाजार में भी अनेकविध भोज्य पदार्थों के अलग-अलग विक्रेता होते थे। मांस-भोजन का उस समय बहुत रिवाज था। उस युग में बहुत-से पशु-पक्षी, मछली आदि जंतुओं को भोजन के लिये मारा व बेचा जाता था। मांस को सुखाकर रखा जाता था। विविध भोज्य पदार्थों को बनानेवालों में से कुछ के नाम निम्नलिखित हैं—

१. पक्वानपण्याः—पक्वान बेचनेवाले।
२. मांसपण्याः—मांस बेचनेवाले।
३. पक्वमांसिकाः—मांस पकाकर बेचनेवाले।
४. औदनिकाः—चावल-दाल पकाकर बेचनेवाले।

५. शौण्डिकाः—शराब बेचनेवाले ।

६. आपूयिकाः—रोटी बनाकर बेचनेवाले ।

अशोक के प्रयत्नों से प्राचीन भारत में मांस का उपयोग कुछ कम अवश्य हुआ, पर बौद्ध-धर्म को स्वीकार करने के बाद भी अशोक के महानस में मांस बनना और उसके लिये पशु-हत्या जारी रही थी। यही दशा बौद्धधर्म के अन्य अनुयायियों की भी थी।

शराब का प्रचार भी मौर्ययुग में बहुत था। शराब के बेचने तथा पीने के लिये बड़ी-बड़ी दूकानें होती थीं, जिनमें अलग-अलग कमरे बने होते थे। प्रत्येक कमरे में सोने के लिये अलग-अलग बिस्तरे बिछे होते थे। साथ ही बैठने के लिये अनेकविध आसन, सुगंधि, फूल, माला, जल तथा आराम की अन्य वस्तुयें सुसज्जित रहती थीं। इन सुन्दर सुसज्जित कमरों में विदेशी तथा भारतीय लोग शराब का आनंद उठाते थे। शराब-गृहों में दूकानदार लोग केवल शराब ही नहीं देते थे, अपितु अपने ग्राहकों के भोग के लिये सुन्दर रूपवाली दासियां व वेश्यायें भी पेश करते थे।

शराब केवल शराबखानों में ही पी जा सकती थी। बाहर ले जाकर उसे पीने की अनुमति नहीं मिलती थी। केवल वे ही लोग अपने घरों में शराब ले जा सकते थे, जो भलीभांति सबके जाने-बूझे हों, और जिनके चरित्र की पवित्रता भलीभांति ज्ञात हो। आचार्य चाणक्य अनुभव करते थे कि शराब एक हानिकारक वस्तु है। उनकी सम्मति में शराब के सेवन से यह भय सदा बना रहता था, कि काम में लगे हुए श्रमी लोग प्रमाद में न फंस जायं, आर्य लोग मर्यादा का भंग न करने लगें और तीक्ष्ण प्रकृति के लोग अव्यवस्था न मचा दें। इसीलिये यह नियम किया गया था कि लोगों के चरित्र तथा आचार को देखकर १/८ कुटुम्ब, १/२ कुटुम्ब, १ कुटुम्ब, १/२ प्रस्थ तथा १ प्रस्थ से अधिक शराब किसी को न दी जाय। संभवतः, इसी नियम का यह परिणाम था, कि शराब का सेवन भारत में बहुत मर्यादित था, और मैगस्थनीज यह लिख सका था, कि भारतीय लोग मदिरा नहीं पीते। उसके अनुसार मदिरा का सेवन केवल यज्ञों में ही होता था।

(५) आमोद-प्रमोद

अर्थशास्त्र के अनुशीलन से ज्ञात होता है, कि मौर्यकाल में बहुत-से ऐसे लोग भी थे, जिनका पेशा लोगों का आमोद-प्रमोद करना तथा तमाशे

दिखाना होता था। ये लोग एक स्थान से दूसरे स्थान पर तमाशे दिखाते हुए घूमते रहते थे। अर्थशास्त्र में ऐसे नट, नर्तक, गायक, वादक, वाग्जीवक (तरह-तरह की बोलियां बोलकर आजीविका कमानेवाले), कुशीलव, प्लवक (रस्सी पर नाचनेवाले), सौभिक (मदारी) और चारणों का उल्लेख किया गया है। ये सब शहर या गांव के बाहर तमाशे दिखाया करते थे। प्रेक्षा (तमाशा) के लिये इन्हें लाइसंस लेना पड़ता था, और इसके लिये राज्य को पांच पण दिये जाते थे। अनेक बार तमाशे का प्रबन्ध ग्राम की तरफ से होता था। इस दशा में ग्राम के सब निवासी उसमें अपनी तरफ से हिस्सा डालते थे। जो हिस्सा न डाले, उसे प्रेक्षा में शामिल होने का अधिकार नहीं होता था। आचार्य चाणक्य की सम्मति में नट, नर्तक आदि तमाशाई लोग गांव के कार्य में विघ्न डालनेवाले होते हैं, अतः उन्हें वहां खुली छुट नहीं देनी चाहिये। प्रेक्षायें उतनी ही होनी चाहियें, जिनसे कि ग्राम के लोगों को अपने कार्य में हानि न पहुंचे।

शिकार खेलने का उस समय बहुत रिवाज था। मैगस्थनीज ने लिखा है— 'जब राजा शिकार के लिये राजप्रासाद से निकलता है, तो स्त्रियों की भीड़ उसे घेरे रहती है। उनके घेरे के बाहर बरछेवाले रहते है। मार्गका-चिह्न रस्सों से डाला जाता है। इन रस्सों के भीतर जाना स्त्री या पुरुष सबके लिये मृत्यु को निमंत्रण देना है। ढोल और झांझ लेकर आदमी इस दल के आगे-आगे चलते हैं। राजा घेरों के भीतर से शिकार खेलता है, और चबूतरे से तीर चलाता है। उसके बगल में दो या तीन हथियारबंद स्त्रियां खड़ी होती हैं। यदि वह खुले मैदान में शिकार करता है, तो वह हाथी की पीठ से तीर चलाता है। स्त्रियों में कुछ तो रथ के भीतर रहती हैं, कुछ घोड़ों पर और कुछ हाथियों पर। वे हर प्रकार के शस्त्रों से सुसज्जित रहती हैं, मानों वे किसी चढ़ाई पर जा रही हों।' केवल आमोद-प्रमोद के लिये मौर्य-सम्राट् जो शिकार-यात्रा करते थे, यह उसी का वर्णन है। उस युग में शिकार के लिये पृथक् रूप से वन सुरक्षित रखे जाते थे। राजा के बिहार के लिये ऐसे जंगल भी होते थे, जिनके चारों ओर खाई खुदी रहती थी, और जिनमें प्रवेश के लिये केवल एक ही द्वार होता था। इनमें शिकार के लिये पशु पाले जाते थे, राजा इनमें स्वच्छन्दरूप से शिकार खेल सकता था।

विविध 'समाजों' में पशुओं की लड़ाई और मल्लयुद्ध देखने का भी जनता को बड़ा शौक था। अशोक को ये समाज पसंद नहीं थे, उन्हें उसने बंद कर दिया था।

(६) रीति-रिवाज और स्वभाव

मौर्यकालीन भारतीयों के रीति-रिवाजों के संबंध में यूनानी लेखकों के कुछ विवरण उद्धृत करने योग्य हैं। हम उन्हें यहां उल्लिखित करना उपयोगी समझते हैं—

'भारतीय लोग किफायत के साथ रहते हैं, विशेषतः उस समय जब कि वे कैम्प में हों। वे अनियन्त्रित भीड़ को नापसन्द करते हैं। इसीलिये वे हमेशा व्यवस्था बनाये रखते हैं।'

'भारतीय लोग अपने चाल-चलन में सीधे और मितव्ययी होने के कारण बड़े सुख से रहते हैं।'

'उनके कानून और व्यवहार की सरलता और इससे अच्छी तरह प्रमाणित होती है, कि वे न्यायालय में बहुत कम जाते है। उनमें गिरवी और धरोहर के अभियोग नहीं होते और न वे मुहर वा गवाह की जरूरत रखते हैं। वे एक दूसरे के पास धरोहर रखकर आपस में विश्वास करते हैं। अपने घर व संपत्ति को वे प्रायः अरक्षित अवस्था में भी छोड़ देते हैं। ये बातें सूचित करती हैं कि उनके भाव उदार वा उत्कृष्ट हैं।'

'उनमें व्यायाम करने की सर्वप्रिय रीति संघर्षण है। यह कई प्रकार से किया जाता है, पर संघर्षण प्रायः चिकने आबनूस के बेलनों को त्वचा पर फेरकर होता है।'

'उनके समाधिस्थल सादे होते हैं, मृतक के ऊपर उठाई हुई वेदी नीची होती है।'

'अपने चाल की साधारण सादगी के प्रतिकूल वे बारीकी और नफासत के प्रेमी होते हैं। उनके वस्त्रों पर सोने का काम किया रहता है। वे (वस्त्र) मूल्यवान् रत्नों से विभूषित रहते हैं। वे लोग अत्यन्त सुन्दर मलमल के बने हुए फूलदार कपड़े पहनते हैं। सेवक लोग उनके पीछे-पीछे छाता लगाये चलते हैं। वे सौन्दर्य का बड़ा ध्यान रखते हैं, और अपने स्वरूप को संवारने में कोई उपाय उठा नहीं रखते।'

'सचाई और सदाचार दोनों की वे समान रूप से प्रतिष्ठा करते हैं। इससे वृद्धों को वे तब तक विशेष स्वत्व नहीं देते, जब तक वे अधिक उत्कृष्ट सदाचारी न हों।'

'भारतवासी मृतक के लिये कोइ स्मारक नहीं उठाते, वरन् उस सत्यशीलता

को, जिसे मनुष्यों ने अपने जीवन में दिखलाया है तथा उन गीतों को, जिनमें उनकी प्रशंसा वर्णित रहती है, मरने के बाद उनके स्मारक को बनाये रखने के लिये पर्याप्त समझते हैं।'

'चोरी बहुत कम होती है, मैगस्थनीज कहता है कि उन लोगों ने, जो चंद्रगुप्त के डेरे में थे, जिसके भीतर चार लाख मनुष्य पड़े थे, देखा कि चोरी जिसकी इत्तला किसी एक दिन होती थी, वह २०० द्राचमी के मूल्य से अधिक की नहीं होती थी, और यह ऐसे लोगों के बीच जिनके पास लिपिबद्ध कानून नहीं, वरन् जो लिखने से अनभिज्ञ हैं, और जिन्हें जीवन के समस्त कार्यों में स्मृति ही पर भरोसा करना पड़ता है।'

'भारतवासियों में विदेशियों तक के लिये कर्मचारी नियुक्त होते हैं, जिनका काम यह देखना होता है कि किसी विदेशी को हानि न पहुंचने पावे। यदि उन (विदेशियों) में से कोई रोगग्रस्त हो जाता है, तो वे उसकी चिकित्सा के निमित्त वैद्य भेजते हैं तथा और प्रकार से भी उसकी रक्षा करते है। यदि वह विदेशी मर जाता है, तो उसे दफना देते हैं और जो संपत्ति वह पीछे छोड़ता है, उसे उसके संबंधियों को दे देते है। न्यायाधीश लोग भी उन मामलों का, जो विदेशियों से संबंध रखते है, बड़े ध्यान से फैसला करते हैं और उन लोगों के साथ बड़ी कड़ाई का बरताव करते हैं, जो उनके साथ बुरा व्यवहार करते हैं।'

'भूमि जोतने वाले, चाहे उनके पड़ोस में युद्ध हो रहा हो, तो भी किसी प्रकार के भय की आशंका से विचलित नहीं होते। दोनों ओर के लड़नेवाले युद्ध के समय एक दूसरे का संहार करते हैं, परन्तु जो लोग खेती में लगे हुए रहते हैं, उन्हें पूर्णतया निर्विघ्न अपना कार्य करने देते हैं। इसके अतिरिक्त, न तो वे शत्रु के देश का अग्नि से सत्यानाश करते हैं, और न उनके पेड़ काटते हैं।'

ब्राह्मण लोग दर्शन के ज्ञान को स्त्रियों को नहीं बताते। उन्हें भय रहता है कहीं वे दुश्चरित्र न हो जायं। निषेध किये गये रहस्यों में से किसी को खोल न दें, अथवा यदि वे कहीं उत्तम दार्शनिक हो जायं, तो उन्हें छोड़ न दें।'

(७) शिक्षणालय

मौर्यकाल में शिक्षा का कार्य आचार्य, पुरोहित, श्रोत्रिय आदि करते थे। उन्हें राज्य की ओर से सहायता दी जाती थी। उन्हें इतनी भूमि दे दी जाती थी, कि वे निश्चिंत होकर उसकी आमदनी से अपना निर्वाह करें और अध्यापन-कार्य में व्यापृत रहें। इस तरह की भूमि को 'ब्रह्मदेय' कहते थे। इससे कोई कर

आदि नहीं लिया जाता था। स्वतन्त्र रूप से अध्यापन करनेवाले इन ब्राह्मणों के अतिरिक्त इस युग में अनेक ऐसे शिक्षाकेन्द्र भी थे, जिनमें बहुत से आचार्य शिक्षण का कार्य करते थे। मौर्यकाल का ऐसा सबसे प्रसिद्ध केन्द्र तक्षशिला था, जहां आचार्य चाणक्य नीतिशास्त्र का अध्यापन करते थे।

तक्षशिला में शिक्षा का क्या ढंग था, इस विषय में एक जातक कथा को यहां उद्धृत करना बहुत उपयोगी है। "एक बार की बात है, कि बनारस के राजा के एक पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसका नाम कुमार ब्रह्मदत्त रखा गया। पुराने समय में राजा लोगों में यह प्रथा थी, कि चाहे उनके अपने शहर में कोई प्रसिद्ध अध्यापक विद्यमान हो, तो भी अपने कुमारों को दूर देशों में शिक्षापूर्ण करने के लिये भेजना उपयोगी समझते थे। इससे वे यह लाभ समझते थे, कि कुमार अभिमान और दर्प को वश में करना सीखेंगे, गरमी और सरदी का सहन करेंगे, साथ ही दुनिया के रीति-रिवाजों से भी जानकारी प्राप्त कर सकेंगे। राजा ने भी यही किया। उसने अपने कुमार को बुलाकर, जिसकी आयु अब सोलह वर्ष की हो चुकी थी, उसे एकतलिक जूते, पत्तों का छाता और एक हजार कार्षापण देकर कहा—'तात ! तक्षशिला जाओ, और विद्या का अभ्यास करो।' कुमार ने उत्तर दिया—बहुत अच्छा। माता-पिता से विदा लेकर वह समय पर तक्षशिला पहुंच गया। वहां जाकर उसने आचार्य का घर पूछा। आचार्य विद्यार्थियों के सम्मुख अपना व्याख्यान समाप्त कर चुके थे और अपने घर के द्वार पर घूम रहे थे। आचार्य को देखते ही कुमार ने अपने जूते उतार दिये, छाता बंद कर दिया और सम्मानपूर्वक वंदना करके खड़ा हो गया। आचार्य ने देखा कि वह थका हुआ है, अतः उसके भोजन का प्रबन्ध कर उसे आराम करने का आदेश दिया। भोजन करके कुमार ने कुछ देर विश्राम किया और फिर आचार्य के सम्मुख सम्मानपूर्वक प्रणाम करके खड़ा हो गया। आचार्य ने पूछा—'तात ! तुम कहां से आए हो ?' 'वाराणसी से।', 'तुम किसके पुत्र हो ?', 'मैं वाराणसी के राजा का पुत्र हूँ।', 'तुम यहां किस लिये आये हो ?', 'विद्याध्ययन के लिये' 'बहुत ठीक।' क्या तुम आचार्य के लिये उपयुक्त फीस लाये हो, या शिक्षा के बदले सेवा की इच्छा रखते हो ?', 'मैं आचार्य के लिये उपयुक्त फीस लाया हूँ।' यह कह कर उसने एक हजार कार्षापणों की थैली आचार्य के चरणों में रख दी। दो तरह के अंतेवासी आचार्य से शिक्षा ग्रहण करते थे। पहले 'धम्मन्तेवासिक', जो दिन में आचार्य का काम करते थे, और रात को शिक्षा प्राप्त करते थे। दूसरे 'आचारिय भाग-दायक' जो आचार्य के घर में ज्येष्ठ पुत्र की तरह रहते थे और सारा समय विद्या-

ध्ययन में व्यतीत करते थे। क्योंकि कुमार ब्रह्मदत्त आवश्यक फीस साथ लाया था, और वह आचार्य के घर पर ही रहता था, अतः उसे नियमपूर्वक शिक्षा दी गई। इस प्रकार ब्रह्मदत्त ने शिक्षा समाप्त की।"

तक्षशिला में अनेक संसारप्रसिद्ध आचार्य शिक्षादान का कार्य करतें थे। एक आचार्य के पास प्रायः ५०० विद्यार्थी पढ़ते थे। संभवतः, यह कल्पना अनुचित नहीं है, कि तक्षशिला में अनेक कालिज थे, जिनमें से प्रत्येक में ५०० के लगभग विद्यार्थी शिक्षा ग्रहण करते थे। इन कालिजों के प्रधान को आचार्य कहते थे, जो प्रायः 'संसारप्रसिद्ध' व्यक्ति होता था। एक जातक के अनुसार एक आचार्य के पास एक सौ एक राजकुमार शिक्षा प्राप्त कर रहे थे। अनेक राजकुमारों के तो नाम भी दिये गये हैं। न केवल राजकुमार, पर ब्राह्मण और क्षत्रिय आदि सभी भारत के दूरवर्ती जनपदों से विद्या प्राप्त करने के लिये तक्षशिला आते थे। केवल नीच जातियों के लोग तक्षशिला के 'संसारप्रसिद्ध' आचार्यों से लाभ नहीं उठा सकते थे। एक जातक में कथा के अनुसार एक चाण्डाल ने वेश बदल कर तक्षशिला में शिक्षा प्राप्त की थी।

तक्षशिला में तीनों वेद, अष्टादश विद्या, विविध शिल्प, धनुर्विद्या, हस्ति विद्या, मन्त्रविद्या, प्राणियों की बोलियों को समझने की विद्या और चिकित्सा-शास्त्र की विशेष रूप से शिक्षा दी जाती थी। शैशुनाग नन्द और मौर्य युगों के अनेक प्रसिद्ध व्यक्तियों ने तक्षशिला में ही शिक्षा पाई थी। राजा बिम्बिसार का राजवैद्य जीवक तक्षशिला का ही आचार्य था। कोशलराज प्रसेनजित् तक्ष-शिला में विद्यार्थी के रूप में रह चुका था। चन्द्रगुप्त मौर्य भी कुछ समय तक तक्षशिला में आचार्य चाणक्य का शिष्य बन कर रहा था।

मौर्यकाल में काशी भी शिक्षा का महत्त्वपूर्ण केन्द्र था। तक्षशिला में विद्या प्राप्त कर अनेक आचार्यों ने वहां शिक्षण का कार्य शुरू किया और धीरे-धीरे वह भी एक प्रसिद्ध विद्यापीठ बन गया।

सहायक ग्रन्थ

Mc Crindle : Ancient India as described by Magasthenes.
Harll : History of Aryan Rul Gin India.
Samaddor : Glories of Magadha.
Mukerjee : Men and Thaught in Ancient India.
कौटलीयम् अर्थशास्त्रम्
सत्यकेतु विद्यालंकार—मौर्य साम्राज्य का इतिहास

पच्चासवां अध्याय

शुङ्ग और कण्व युग का भारत

(१) सेनानी पुष्यमित्र शुङ्ग

मगध में फिर राज्यक्रान्ति—२१० ई० पू० के लगभग मौर्य-वंश की शक्ति क्षीण होने लग गई थी। साम्राज्य के सुदूरवर्ती प्रदेशों में विद्रोह प्रारम्भ हो गये थे। कलिङ्ग, आन्ध्र और महाराष्ट्र मौर्य साम्राज्य की अधीनता से मुक्त हो चुके थे। और उत्तर-पश्चिमी भारत पर यवनों ने आक्रमण करना शुरू कर दिया था। मौर्य-वंश के अन्तिम राजा निर्बल और विलासी थे। उनमें यह सामर्थ्य नहीं था, कि अपने विशाल साम्राज्य का सफलतापूर्वक शासन कर सकें।

मौर्यवंश का अन्तिम राजा बृहद्रथ था। उसके प्रधान सेनापति का नाम पुष्यमित्र था। एक दिन उसने अपनी सब सेना को एकत्र कर उसके प्रदर्शन की व्यवस्था की। सम्राट् बृहद्रथ को भी इस प्रदर्शन के अवसर पर निमंत्रित किया गया। सेना पुष्यमित्र के प्रति अनुरक्त थी। उसके सम्मुख ही बृहद्रथ की हत्या कर दी गई, और सेनानी पुष्यमित्र विशाल मागध-साम्राज्य का अधिपति बन गया। हर्ष चरित्र में बृहद्रथ को 'प्रतिज्ञादुर्बल' कहा गया है। इसका अभिप्राय यह है, कि राज्याभिषेक के समय प्राचीन आर्य-परंपरा के अनुसार राजा को जो प्रतिज्ञा करनी होती थी, बृहद्रथ उसके पालन में दुर्बल था। सेना उसके प्रति अनुरक्त नहीं थी। इसीलिये सेनानी पुष्यमित्र का षड्यन्त्र सफल हो गया, और वह सबके सम्मुख मौर्य-सम्राट् बृहद्रथ का घात करने में समर्थ हुआ।

बृहद्रथ की हत्या कर पुष्यमित्र का राजा बन जाना ठीक उस प्रकार की घटना है, जैसी कि राजा बालक को मारकर श्रेणिय भट्टिय की राज्य-प्राप्ति की बात थी। अमात्य पुलिक ने भी इसी प्रकार राजा रिपुञ्जय को मारकर सेना की सहायता से राज्य प्राप्त किया था। महापद्म नन्द भी इसी

ढंग से मगध के राजसिंहासन का स्वामी बना था। मागध-साम्राज्य की शक्ति उसकी सुसंगठित सेना पर ही आश्रित थी। वहां जिस किसी के हाथ में सेना हो, वह सुगमता से राजगद्दी को अपने अधिकार में कर सकता था। जिस षड्यंत्र या क्रान्ति द्वारा मौर्यवंश का अन्त हुआ, वह १८५ ई० पू० में हुई थी।

पुष्यमित्र शुङ्ग—पुष्यमित्र वर्ण से ब्राह्मण था, और शुङ्गकुल में उत्पन्न हुआ था। इसीलिये तारानाथ ने उसे ब्राह्मण राजा लिखा है, और पाणिनि की अष्टाध्यायी आदि प्राचीन ग्रंथों से शुङ्गकुल का ब्राह्मण होना सिद्ध होता है। शुङ्ग लोग मूलतः विदिशा (पूर्वी मालवा में बेसनगर) के रहनेवाले थे। मौर्यवंश के अन्त से पूर्व की ही पुष्यमित्र का पुत्र अग्निमित्र विदिशा का शासक था। पुष्यमित्र के राजा बन जाने पर भी अग्निमित्र विदिशा के शासक-पद पर कायम रहा।

विदर्भ की विजय—पुष्यमित्र के राजा बन जाने पर मागध-साम्राज्य को बहुत बल मिला। निर्बल मौर्य-राजाओं के शासन-काल में जो अनेक प्रदेश साम्राज्य की अधीनता से स्वतन्त्र हो गये थे, पुष्यमित्र ने उन्हें फिर अपने अधीन किया। उस समय विदर्भ (बरार) का शासक यज्ञसेन था। सम्भवतः वह मौर्यों की ओर से विदर्भ के शासक-पद पर नियुक्त हुआ था, पर मागध-साम्राज्य की निर्बलता से लाभ उठा कर इस समय स्वतंत्र हो गया था। पर अभी राज्य में उसकी जड़ भली भांति नहीं जम पाई थी। पुष्यमित्र के आदेश से अग्निमित्र ने उसपर आक्रमण किया, और उसे परास्त कर विदर्भ को फिर से मागध-साम्राज्य के अधीन कर दिया। कालिदास के प्रसिद्ध नाटक 'मालविकाग्निमित्र' में यज्ञसेन की चचेरी बहन मालविका और अग्निमित्र के स्नेह की कथा के साथ-साथ विदर्भ-विजय का वृत्तान्त भी उल्लिखित है।

खारवेल से युद्ध—मौर्य-वंश की निर्बलता से लाभ उठाकर कलिङ्ग देश (उड़ीसा) भी स्वतन्त्र हो गया था। उसका राजा खारवेल बड़ा प्रतापी और महत्त्वाकांक्षी था। उसने दूर-दूर तक आक्रमण कर कलिङ्ग की शक्ति का विस्तार किया। इस राजा के संबंध में हम इसी अध्याय के एक पृथक् प्रकरण में विशद रूप से प्रकाश डालेंगे। खारवेल के हाथीगुम्फा शिलालेख द्वारा ज्ञात होता है कि उसने मगध पर भी आक्रमण किया था। मगध के जिस राजा पर आक्रमण कर खारवेल ने उसे परास्त किया, हाथीगुम्फा शिलालेख में उसका नाम बहसतिमित्र (बृहस्पतिमित्र) लिखा है। बृहस्पति और पुष्य पर्यायवाची शब्द हैं, अतः जायसवालजी ने यह परिणाम निकाला था, कि खारवेल ने

मगध पर आक्रमण करके पुष्यमित्र को ही परास्त किया था। पर अनेक ऐतिहासिक जायसवालजी के इस विचार से सहमत नहीं हैं। उनका विचार है, कि खारवेल ने मगध के जिस 'बहसतिमित्र' पर आक्रमण किया था, वह मौर्यवंश का ही कोई राजा था। सम्भवत: मौर्य शालिशुक या उसके उत्तराधिकारी का एक अन्य नाम बहसतिमित्र भी था। इस नाम के राजा की सत्ता निर्विवाद है, क्योंकि उसके कतिपय सिक्के भी उपलब्ध हुए हैं। पर इस सम्बन्ध में अभी निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। नाम साम्य के कारण अधिक सम्भव यही है, कि हाथीगुम्फा-शिलालेख का बहसतिमित्र पुष्यमित्र का ही निर्देश करता है। यवन आक्रमण से लाभ उठाकर कलिङ्ग-राज खारवेल ने यदि पुष्यमित्र के राज्य पर आक्रमण किया हो, तो यह असम्भव नहीं है।

यवन-आक्रमण—मौर्य-सम्राटों की निर्बलता से लाभ उठाकर यवनों ने भारत पर फिर से आक्रमण शुरू कर दिये थे। इन यवन-आक्रान्ताओं पर हम अगले प्रकरण में विस्तार के साथ विचार करेंगे। मौर्य-राजा शालिशुक के शासन-काल में यवन-आक्रान्ताओं ने किस प्रकार मागध-साम्राज्य पर हमला किया था, इसका उल्लेख पहले एक अध्याय में किया जा चुका है। पुष्यमित्र के शासन-काल में यवनों ने एक बार फिर भारत पर आक्रमण किया। यवनों का यह आक्रमण सम्भवत: डेमेड्रियस (दिमित्र) के नेतृत्व में हुआ था। प्रसिद्ध वैयाकरण पतञ्जलि ने, जो पुष्यमित्र के समकालीन थे, इस आक्रमण का 'अरुणत् यवनः साकेतम्, अरुणत् यवनः माध्यमिकाम्' (यवन ने साकेत पर हमला किया, यवन ने माध्यमिका पर हमला किया) लिखकर निर्देश किया है। 'अरुणत्' प्रयोग अनद्यतन भूतकाल को सूचित करता है। यह प्रयोग उस दशा में होता है, जब कि किसी ऐसी भूतकालिक घटना का कथन करना हो, जो प्रयोक्ता के अपने जीवन-काल में घटी हो। अत: यह स्पष्ट है, कि पतञ्जलि और पुष्यमित्र के समय में भी भारत पर यवनों का आक्रमण हुआ था, और इस बार यवन-सेनाएं साकेत और माध्यमिका तक चली आई थीं। मालविकाग्निमित्र के अनुसार भी पुष्यमित्र के यवनों के साथ युद्ध हुए थे और उसके पोते वसुमित्र ने सिन्धु नदी के तट पर यवनों को परास्त किया था। जिस सिन्धु नदी के तट पर शुङ्गसेना द्वारा यवनों की पराजय हुई थी, वह कौन-सी है— इस विषय पर भी ऐतिहासिकों में मतभेद है। श्री वी० ए० स्मिथ ने यह प्रतिपादित किया था, कि मालविकाग्निमित्र की सिन्धु

नदी राजपूताने की सिन्ध या काली सिन्ध नदी है, और उसी के दक्षिणी तट पर वसुमित्र का यवनों के साथ युद्ध हुआ था। पर अब बहुसंख्यक ऐतिहासिक इस मत को स्वीकार्य नहीं समझते, और उनका यही विचार है, कि सिन्ध से पंजाब की प्रसिद्ध सिन्धु नदी का ही ग्रहण करना चाहिये। पर यह निर्विवाद है, कि यवनों को परास्त कर मागध-साम्राज्य की शक्ति को कायम रखने में पुष्यमित्र शुङ्ग को असाधारण सफलता मिली और उसके प्रताप के कारण यवन भारत में अपने पैर नहीं जमा सके।

अश्वमेध—अयोध्या में पुष्यमित्र का एक शिलालेख प्राप्त हुआ है, जिसमें उसे 'द्विरश्वमेधयाजी' कहा गया है। इससे सूचित होता है, कि पुष्यमित्र ने दो बार अश्वमेध-यज्ञ का अनुष्ठान किया था। हरिवंशपुराण के अनुसार राजा जनमेजय के बाद उसी ने अश्वमेध-यज्ञ किय थे। अहिंसा-प्रधान बौद्ध और जैन-धर्मों के उत्कर्ष के कारण इस यज्ञ की परिपाटी भारत में विलुप्त हो गई थी। अब पुष्यमित्र ने इसे पुनरुज्जीवित किया। सम्भवतः, पतञ्जलि मुनि इन यज्ञों में पुष्यमित्र के पुरोहित थे। इसीलिये उन्होंने महाभारत में लिखा है– 'इह पुष्यमित्रं याजयामः' (हम यहां पुष्यमित्र का यज्ञ करा रहे हैं)। अश्वमेध के लिये जो घोड़ा छोड़ा गया, उसकी रक्षा का कार्य वसुमित्र के सुपुर्द किया गया। सिन्धु नदी के तट पर यवनों ने इस घोडे को पकड़ लिया और वसुमित्र ने यवनों को परास्त कर इसे उनसे छुड़वाया। किन विजयों के उपलक्ष में पुष्यमित्र ने दो बार अश्वमेध-यज्ञ का अनुष्ठान किया, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। सम्भवतः, मौर्यवंश का अन्त कर स्वयं सम्राट्-पद को प्राप्त करने और यवनों को परास्त करने के उपलक्ष में ही पुष्यमित्र ने इन यज्ञों का अनुष्ठान किया था। विदर्भ-विजय से भी इस यज्ञ का सम्बन्ध सम्भव है।

वैदिक धर्म का पुनरुत्थान—शुङ्ग सम्राट् प्राचीन वैदिक धर्म के अनुयायी थे। उनके समय में बौद्ध और जैन-धर्मों का ह्रास होकर वैदिक धर्म का पुनरुत्थान प्रारम्भ हुआ। दिव्यावदान के अनुसार पुष्यमित्र बौद्धों से द्वेष रखता था। और उसने बहुत से बौद्ध स्तूपों का ध्वंस कराया था, और बहुत-से बौद्ध-श्रमणों की हत्या कराई थी। दिव्यावदान में तो यहां तक लिखा है, कि शाकल (सियालकोट) में जाकर उसने घोषणा की थी, कि जो कोई श्रमण का सिर लाकर मुझे देगा उसे मैं सौ दीनार पारितोषिक दूंगा। सम्भव है, बौद्ध ग्रंथ के इस कथन में अत्युक्ति हो, पर इसमें सन्देह नहीं कि पुष्यमित्र के समय में यज्ञप्रधान वैदिक धर्म का पुनरुत्थान शुरू हो गया था। उस द्वारा किये गये अश्वमेध-यज्ञ ही इसके प्रमाण हैं।

शुङ्ग-साम्राज्य की सीमा—विदर्भ को जीतकर और यवनों को परास्त कर पुष्यमित्र शुङ्ग मागध-साम्राज्य के विलुप्त गौरव का पुनरुद्धार करने में समर्थ हुआ था। उसके साम्राज्य की सीमा पश्चिम में सिन्ध नदी तक अवश्य थी। दिव्यावदान के अनुसार साकल (सियालकोट) उसके साम्राज्य के अन्तर्गत था। अयोध्या में प्राप्त उसके शिलालेख से इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता, कि मध्यदेश पर उसका शासन भलीभांति स्थिर था। विदर्भ की विजय से उसके साम्राज्य की दक्षिणी सीमा नर्मदा नदी तक पहुंच गई थी। इस प्रकार पुष्यमित्र का साम्राज्य हिमालय से नर्मदा तक और सिन्धु से प्राच्य समुद्र तक विस्तृत था।

पुराणों के अनुसार पुष्यमित्र ने ३६ वर्ष तक (१८५ से १४९ ई० पू० तक) राज्य किया।

(२) यवन आक्रमण

यवन-साम्राज्य का ह्रास—सिकन्दर की मृत्यु के बाद उसके अन्यतम सेनापति सैल्युकस ने सिकन्दर के एशियन प्रदेशों में अपने जिस साम्राज्य की स्थापना की थी, उसका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। जिस प्रकार २१० ई० पू० के लगभग विशाल मौर्य साम्राज्य की शक्ति क्षीण हो गई थी, और कलिङ्ग, आन्ध्र आदि अनेक देश उसकी अधीनता से मुक्त होकर स्वतंत्र हो गये थे, वैसे ही इसी काल के लगभग सैल्युकस द्वारा स्थापित सीरियन साम्राज्य की शक्ति भी क्षीण होने लग गई, और उसकी अधीनता से भी अनेक देश मुक्त हो गये। सीरियन साम्राज्य की अधीनता से मुक्त हुए इन देशों में बैक्ट्रिया (बाल्त्री) और पार्थिया (पार्थव) के नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं।

बैक्ट्रिया की स्वतन्त्रता—बैक्ट्रिया विशाल सीरियन साम्राज्य का एक प्रान्त था, और वहां का शासन करने के लिये सीरियन सम्राटों की तरफ से एक क्षत्रप की नियुक्ति की जाती थी। इस प्रदेश की आबादी में ग्रीक (यवन) लोगों का महत्त्वपूर्ण स्थान था। २५० ई० पू० के लगभग के बैक्ट्रिया के क्षत्रप के पद पर डायोडोटस (दियोदोत) नियुक्त था। सीरियन सम्राट् की निर्बलता से लाभ उठाकर वह स्वतन्त्र हो गया, और इस प्रकार बैक्ट्रिया के स्वतन्त्र यवन-राज्य की स्थापना हुई।

पार्थिया की स्वतन्त्रता—बैक्ट्रिया के पश्चिम और कैस्पियन सागर के दक्षिण-पूर्व में पार्थिया का प्रदेश था, जिसके निवासी जातीय दृष्टि से ग्रीक लोगों

से सर्वथा भिन्न थे। सीरियन साम्राज्य की निर्बलता से लाभ उठाकर उन्होंने विद्रोह कर दिया और २४८ई० पू० के लगभग स्वतन्त्र पार्थियन राज्य की स्थापना हुई। पार्थियन लोगों के इस विद्रोह के नेता अरसक और तिरिदात नामक दो भाई थे। इन भाइयों ने धीरे-धीरे पार्थियन राज्य की शक्ति को बहुत बढ़ा लिया और कुछ समय बाद सम्पूर्ण ईरान उनकी अधीनता में आ गया।

एण्टियोकस तृतीय—बैक्ट्रिया और पार्थिया की स्वतन्त्रता के कारण सीरियन साम्राज्य की शक्ति बहुत क्षीण हो गई थी। २२३ ई०पू० में सीरिया के राजसिंहासन पर सम्राट् एण्टियोकस तृतीय आरूढ़ हुआ। वह बड़ा महत्त्वाकांक्षी था, और उसने अपने वंश के लुप्त गौरव के पुनरुद्धार का प्रयत्न किया। पार्थिया पर आक्रमण कर उसने उसे जीतने का प्रयत्न किया, पर सफल नहीं हो सका। पार्थियन राजा अरसक तृतीय को परास्त कर सकने में असफल होकर एण्टियोकस ने उसके साथ सन्धि कर ली, और फिर बैक्ट्रिया पर आक्रमण किया। इस समय बैक्ट्रिया की राजगद्दी पर युथिडिमास विराजमान था, जो बड़ा वीर और शक्तिशाली राजा था। दो वर्ष वह निरन्तर एण्टियोकस के साथ युद्ध करता रहा, और सीरियन सम्राट् उसे परास्त करने में असमर्थ रहा। अन्त में विवश होकर एण्टियोकस ने युथिडिमास के साथ सन्धि कर ली, और इस सन्धि को स्थिर करने के लिये अपनी पुत्री का विवाह बैक्ट्रियन राजा के पुत्र डेमेट्रियस (दिमित्र) के साथ कर दिया।

भारत पर आक्रमण—पार्थिया और बैक्ट्रिया के साथ सन्धि कर एण्टियोकस तृतीय ने भारत पर आक्रमण किया। वह सिकन्दर द्वारा विजित भारतीय प्रदेशों को फिर से अपनी अधीनता में लाने के लिये उत्सुक था। चन्द्रगुप्त मौर्य ने सैल्युकस को परास्त कर भारत की उत्तर-पश्चिमी सीमा पर स्थित जिन प्रदेशों को यवनराज से प्राप्त किया था, वे अब मौर्य-साम्राज्य की अधीनता से निकल चुके थे। इनका राजा इस समय (२०७ ई० पू० के लगभग) सुभागसेन था, जिसने मौर्य राजवंश की निर्बलता से लाभ उठाकर गांधार व उसके समीपवर्ती प्रदेशों में अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिया था। एण्टियोकस ने सुभागसेन पर आक्रमण किया, पर उसने युद्ध के बिना ही यवनराज की अधीनता स्वीकृत कर ली। इस समय मगध के राजसिंहासन पर राजा शालिशुक मौर्य विराजमान था। जिसे प्राचीन साहित्य में 'धर्मवादी' और 'अधार्मिक' कहा गया है। गार्ग्यसंहिता के अनुसार इसके शासन-काल में यवनों ने भारत पर आक्रमण किया। और वे मथुरा, पाञ्चाल और साकेत को जीतते हुए पाटलिपुत्र

तक आ गये । यद्यपि ये यवन-आक्रान्ता देरतक भारत में नहीं ठहर सके, पर इनके आक्रमणों के कारण मौर्य-राजवंश की शक्ति क्षीण हो गई, और मागध-साम्राज्य जड़ से हिल गया । शालिशुक के समय में भारत पर आक्रमण करने-वाला यवन-राजा एण्टियोकस था या कोई और, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। ग्रीक विवरणों में एण्टियोकस के मथुरा, पांचाल आदि के विजय का उल्लेख नहीं है। अतः शालिशुक के समय में विजय-यात्रा करते हुए कौन-सा यवन-सेनापति पाटलिपुत्र तक चला आया था, यह अस्पष्ट था, पर इसमें संदेह नहीं कि इस समय भारत-पर यवनों का एक प्रबल आक्रमण हुआ था, और उसमें मौर्य-सैन्यशक्ति को बुरी तरह से नीचा देखना पड़ा था।

डेमेट्रियस का आक्रमण—सीरियन सम्राट् एण्टियोकस के साथ सन्धि और विवाह-सम्बन्ध हो जाने के अनन्तर बैक्ट्रिया के राजवंश की बहुत उन्नति हुई । उसने समीप के अनेक प्रदेशों को जीतकर अपने साम्राज्य का विस्तार किया । बैक्ट्रिया के इस उत्कर्ष का प्रधान श्रेय डेमेट्रियस को है, जो सीरियन सम्राट् एण्टि-योकस का जामाता था । बैक्ट्रिया के राजाओं के इतिहास का परिज्ञान उनके सिक्कों द्वारा होता है, जो अच्छी बड़ी संख्या में भारत व अन्य देशों में प्राप्त हुए हैं। ग्रीक लेखक स्ट्रैबो ने भी इन राजाओं के सम्बन्ध में लिखा है कि डेमेट्रियस और मिनांडर के समय बैक्ट्रिया के यवनराज्य की सीमायें दूर-दूर तक जा पहुँचीं । उत्तर में चीन की सीमा से लगाकर दक्षिण में सौराष्ट्र तक इन बैक्ट्रियन राजाओं का साम्राज्य विस्तृत था।

१९० ई० पू० या इससे कुछ पूर्व ही डेमेट्रियस बैक्ट्रिया के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ। उसके राज्यारोहण से पूर्व ही युथिडिमास ने हिन्दूकुश पर्वत को पार कर उस राज्य को जीत लिया था, जिसपर सुभागसेन का शासन था। हिरात, कन्धार, सीस्तान आदि में उसके सिक्के अच्छी बड़ी संख्या में उपलब्ध हुए हैं। डेमेट्रियस ने एक बड़ी सेना के साथ भारत पर आक्रमण किया। ग्रीक विवरणों में उसे भारत का राजा लिखा गया है । और इसमें सन्देह नहीं कि भारत की विजय करते हुए वह दूर तक मध्यदेश में चला गया था। इस समय मगध में मौर्यवंश के निर्बल राजाओं का शासन था, और मगध की सैन्यशक्ति क्षीण हो चुकी थी। सिकन्दर के आक्रमण के समय पंजाब में कठ मालव क्षुद्रक आदि जो शक्तिशाली गणराज्य थे, इस समय वे अपनी स्वतन्त्रता खो चुके थे, और उनकी सैन्यशक्ति नष्ट हो गई थी। यवनों के आक्रमण को रोकने की सम्पूर्ण उत्तरदायिता उन मौर्य-सम्राटों पर थी, जिन्हें भारतीय साहित्य में

'अधार्मिक' और 'प्रतिज्ञादुर्बल' कहा गया है। ये सम्राट् यवनों का मुकाबला कर सकने में असमर्थ रहे। पतञ्जलि मुनि ने महाभाष्य में 'अरुणत् यवनः साकेतम्, अरुणत् यवनः माध्यमिकाम्, लिखकर जिस यवन आक्रमण का संकेत किया है, वह सम्भवतः डेमेट्रियस का ही आक्रमण था। यह आक्रमण सम्भवतः उस समय (१८५ ई० पू० के लगभग) हुआ था, जब कि अन्तिम मौर्य राजा बृहद्रथ मगध के राजसिंहासन पर आरूढ़ था। सेनानी पुष्यमित्र ने उसे मारकर जो स्वयं राज्य प्राप्त कर लिया, उसका कारण भी सम्भवतः यही था कि यवन-आक्रमण का मुकाबला न कर सकने से सेना और जनता बृहद्रथ के विरुद्ध हो गई थी। कलिङ्गराज खारवेल के हाथीगुम्फा शिलालेख में भी डेमेट्रियस के आक्रमण का उल्लेख है। वहां लिखा है—"आठवें वर्ष महासेना ....गोरथगिरि को तोड़कर राजगृह को घेर दबाया। इन कर्मों के अवदान (वीरकथा) के सनाद से यवनराजा दिमित घबराई सेना और वाहनों को कठिनता से बचा कर मथुरा को भाग गया।" इसमें सन्देह नहीं, कि हाथीगुम्फा शिलालेख का दिमित डेमेट्रियस ही है, जिसने कि १८५ ई० पू० के लगभग भारत पर आक्रमण किया था, और जिसे ग्रीक लेखकों ने 'भारत का राजा' कहा है। अनेक ऐतिहासिकों का मत है, कि गार्ग्यसंहिता के युग पुराण में जिस यवनराजा के आक्रमण का उल्लेख है, और जो मथुरा, पाञ्चाल और साकेत की विजय करता हुआ पाटलिपुत्र तक पहुंच गया था, वह भी यही दिमित या डेमेट्रियस था। यद्यपि गार्ग्यसंहिता में इस यवन आक्रमण का उल्लेख मौर्यराजा शालिशुक के वृत्तान्त के साथ किया गया है, पर यह असम्भव नहीं कि, यह डेमेट्रियस के आक्रमण का ही निर्देश करता हो, क्योंकि प्राचीन साहित्य के ये विवरण सर्वथा स्पष्ट नहीं हैं।

डेमेट्रियस जो मगध या मध्य देश में नहीं टिक सका, उसका प्रधान कारण कलिङ्गराज खारवेल की सैन्यशक्ति थी। यवन सेना के भारत में दूर तक चले आने पर खारवेल अपनी सेना के साथ उसका मुकाबला करने के लिये आगे बढ़ा। और उसने यवनों को पश्चिम में मथुरा की ओर खदेड़ दिया। यही समय है, जब कि पाटलिपुत्र में सेनानी पुष्यमित्र ने निर्बल मौर्य-राजा बृहद्रथ की हत्या कर स्वयं राज्य प्राप्त कर लिया। डेमेट्रियस का आक्रमण १८५ ई० पू० के लगभग हुआ था, और मौर्य राजा उसका मुकाबला करने में असमर्थ रहे थे। मौर्य वंश के पतन का यही प्रधान कारण था। खारवेल ने इसी समय अपने राज्य से बहुत दूर पश्चिम की ओर आगे बढ़कर यवनों को परास्त किया था।

पर इस प्रसङ्ग में यह नही भूलना चाहिये, कि डेमेट्रियस का आक्रमण, खारवेल

का समय आदि विषयों पर ऐतिहासिकों में बहुत मतभेद है। अनेक ऐतिहासिक तो यह भी स्वीकार नहीं करते, कि खारवेल पुष्यमित्र शुङ्ग का समकालीन था, वे उसे दूसरी सदी ई० पू० में न मानकर पहली सदी ई० पू० में मानते हैं। यहां हमने वही मत उल्लिखित किया है, जो आजकल बहुसंख्यक ऐतिहासिकों को मान्य है।

डेमेट्रियस के भारतीय आक्रमण के सम्बन्ध में कतिपय अन्य निर्देश भी उपलब्ध होते हैं। सिद्धान्तकौमुदी में दात्तामित्री नामक एक नगरी का उल्लेख है, जो सौवीर देश में स्थित थी। सम्भवतः यह दात्तामित्री नगरी डेमेट्रियस द्वारा ही बसाई गई थी। गार्ग्यसंहिता के युगपुराण में 'धर्ममीत' नामक यवन-राजा का उल्लेख है, जिसे जायसवालजी ने डेमेट्रियस या दिमित्र का रूपान्तर माना है।

मिनान्डर—डेमेट्रियस के समान मिनान्डर नामक यवन राजा के भी अनेक सिक्के उत्तर-पश्चिमी भारत में उपलब्ध हुए हैं। उसकी राजधानी शाकल (सियालकोट) थी। भारत में राज्य करते हुए वह बौद्ध-श्रमणों के सम्पर्क में आया और आचार्य नागसेन से उसने बौद्ध-धर्म की दीक्षा भी लेली। बौद्ध-ग्रन्थों में उसका नाम 'मिलिन्द' आया है। 'मिलिन्द पञ्हो' नाम के पालिग्रन्थ में उसके बौद्ध-धर्म को स्वीकृत करने का विवरण दिया गया है। मिनान्डर के अनेक-सिक्कों पर बौद्ध-धर्म के धर्मचक्र-प्रवर्तन का चिह्न धर्मचक्र बना हुआ है, और उसने अपने नाम के साथ ध्रमिक (धार्मिक) विशेषण दिया है। यूनानी लेखक स्ट्रैबो के लेखों से सूचित होता है, कि डेमेट्रियस के भारत-आक्रमण में मिनान्डर उसका सहयोगी था। स्ट्रैबो के अनुसार 'इन विजयों का लाभ कुछ मिनान्डर ने और कुछ युथिडीमास के पुत्र डेमेट्रियस ने प्राप्त किया।' इससे अनेक ऐतिहासिकों ने यह परिणाम निकाला है, कि मिनान्डर और डेमेट्रियस ने एक ही समय पर सम्मिलित रूप से भारत पर आक्रमण किया था और मिनान्डर डेमेट्रियस का ही सेनापति था। श्री टार्न इस मत के प्रमुख प्रतिपादकों में हैं। बाद में मिनान्डर ने भी अपना पृथक् व स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया।

युक्रेटीदस—जिस समय डेमेट्रियस और मिनान्डर भारत-विजय में संलग्न थे, उनके अपने देश बैक्ट्रिया में उनके विरुद्ध क्रान्ति हो गई, और युक्रेटीदस (Eukratides) नामक एक सेनापति ने बैक्ट्रिया के राजसिंहासन पर अपना अधिकार कर लिया। टार्न के अनुसार यह युक्रेटीदस सम्भवतः सीरियन सम्राट् एण्टियोकस चतुर्थ का भाई था। जब डेमेट्रियस को यह समाचार मिला, तो वह

तुरन्त भारत से बैक्ट्रिया वापस गया, पर उसे युक्रेटीदस के विरुद्ध युद्ध में सफलता नहीं मिली। अब डेमेट्रियस और मिनान्डर का बैक्ट्रिया के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रह गया, और वे उत्तर-पश्चिमी भारत में ही दो स्वतन्त्र राजाओं के समान शासन करने लगे। इन दोनों यवन राजाओं के राज्यों में कौन कौन से प्रदेश अन्तर्गत थे, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता।

डेमेट्रियस के समान बैक्ट्रिया के नये यवनराजा युक्रेटीदस ने भी भारत पर आक्रमण किया। ग्रीक विवरणों के अनुसार उसने भी भारत में बहुत से नगरों को जीतकर अपने अधीन किया था। सम्भवतः युक्रेटीदस ने उत्तर-पश्चिमी भारत के कुछ प्रदेशों को जीत लिया था, और उसके आक्रमणों के कारण डेमेट्रियस और मिनान्डर के हाथ से पश्चिमी पंजाब और गान्धार के प्रदेश निकल गये थे।

पर युक्रेटीदस देरतक अपने जीते हुए राज्य का उपभोग नहीं कर सका। ग्रीक लेखक जस्टिन के अनुसार उसके पुत्र हेलिओक्लीज ने उसका घात कर स्वयं राज्य प्राप्त कर लिया। युक्रेटीदस का घातक कौन था, इस विषय में भी ऐतिहासिकों में मतभेद है। श्री स्मिथ ने उसके घातक का नाम अपोलोडोटस लिखा है।

हेलिओक्लीज—हेलिओक्लीज बैक्ट्रिया का अन्तिम यवनराजा था। उसके शासन-काल में बैक्ट्रिया पर शकों के आक्रमण शुरू हो गये, और उन्होंने शीघ्र ही वहां के यवन-शासन का अन्त कर दिया। शकों के सम्बन्ध में हम आगे चलकर प्रकाश डालेंगे। यद्यपि शकों के आक्रमणों के कारण बैक्ट्रिया से युक्रेटीदस के राजवंश का अन्त हो गया था, पर उसके साम्राज्य के भारतीय प्रदेश बाद में भी हेलिओक्लीज की अधीनता में रहे, और वह वहां स्वतन्त्र राजा के रूप में शासन करता रहा। हेलिओक्लीज के वंश में ही आगे चलकर एन्टिआल्कीडस (Antialkidas) और हारमाओस (Harmaeus) नामक राजा हुए, जिनका शासन सम्भवतः काबुल व उसके समीपवर्ती प्रदेशों में विद्यमान था। इन राजाओं के अनेक सिक्के इस प्रदेश से उपलब्ध हुए हैं। प्रथम सदी ई० पू० में कुशाण आक्रान्ताओं ने इनको अपने आधीन किया।

डेमेट्रियस के उत्तराधिकारी—युक्रेटीदस के विद्रोह के कारण बैक्ट्रिया में डेमेट्रियस के शासन का अन्त हो गया था, पर भारत के उत्तर-पश्चिमी प्रदेशों में उसके कुल का शासन बाद में भी स्थिर रहा। इन यवन-राजाओं का वृत्तान्त केवल उनके सिक्कों द्वारा ही ज्ञात होता है। अतः स्वाभाविक रूप से उनके पौर्वापर्य और शासन-काल आदि के सम्बन्ध में अनेक मत हैं। डेमेट्रियस के कुल

के भारतीय यवन-राजाओं के विषय में अधिक लिखना निरर्थक है, क्योंकि उनके समय की किसी ऐतिहासिक घटना का हमें परिज्ञान नहीं है।

यवनशासन का परिणाम—सीरियन सम्राट् एण्टियोकस और बैक्ट्रियन राजा डेमेट्रियस द्वारा भारत पर जो आक्रमण हुए, वे सिकन्दर और सैल्युकस के आक्रमणों की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण थे। यह दुर्भाग्य की बात है, कि इन आक्रान्ताओं की दिग्विजयों के सम्बन्ध में हमें उतने विशदरूप में परिज्ञान नहीं है, जितना कि सिकन्दर के आक्रमण के विषय में। सिकन्दर आंधी के समान भारत में आया था, और आंधी की तरह से ही इस देश से वापस लौट गया था। वह भारत के किसी भी प्रदेश में यवनों का स्थिर शासन स्थापित नहीं कर सका था। सैल्युकस ने भारत पर जो आक्रमण किया, उसमें वह सफल नही हुआ। पर डेमेट्रियस जैसा यवन विजेता न केवल भारत में बहुत दूर तक चला आया, अपितु पश्चिमी और उत्तर-पश्चिमी भारत में स्थिररूप से यवन-शासन स्थापित करने में भी समर्थ हुआ। यद्यपि डेमेट्रियस, मिनान्डर और युक्रेटाइडीज जैसे यवन आक्रान्ताओं का भारत से बाहर के किसी यवन-राज्य के साथ सम्बन्ध नही रहा था पर वे इस देश में अपने स्वतंत्र राज्य स्थापित करने में समर्थ हुए थे। इन आक्रान्ताओं ने विशाल यवन-सेना को साथ लेकर भारत पर आक्रमण किया था, और यह सर्वथा निश्चित है, कि बहुत-से यवन सैनिक इनके साथ ही भारत में बस गये थे। इस दशा में यह सर्वथा स्वाभाविक है, कि इन यवनों का भारतीय इतिहास और संस्कृति पर गहरा प्रभाव पड़ा हो। डेमेट्रियस और युक्रेटाइडीज के राजकुलों द्वारा स्थापित यवन-राज्य भारत मे डेढ़ सदी के लगभग तक कायम रहे, और इस सुदीर्घ काल में इस देश को उन्होंने अनेक प्रकार से प्रभावित किया। यवनों और भारतीयों के इस सम्पर्क से जो परिणाम उत्पन्न हुए, उनका संक्षिप्त रूप से दिग्दर्शन कराना उपयोगी है—

(१) भारत के सम्पर्क में आकर अनेक यवनों ने इस देश के धर्म को स्वीकार कर लिया। राजा मिनान्डर ने आचार्य नागसेन से बौद्ध-धर्मकी दीक्षा ग्रहण की और अपने को 'ध्रमिक' लिखकर व अपने सिक्कों पर धर्मचक्र को चिह्नित कर गर्व अनुभव किया। बौद्ध-धर्म के इतिहास में मिनान्डर मिलिन्द या मेनन्द्र का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है। बौद्ध-धर्म को स्वीकार कर लेने के बाद वह इतना लोकप्रिय हो गया था, कि मरने पर विविध नगरों के लोग उसकी राख को अपने यहां ले गये थे। मिनान्डर के अनुकरण में सम्भवतः उसके साथ के अन्य भी बहुत-से यवनों ने बौद्ध-धर्म की दीक्षा ग्रहण कर ली थी।

(३) कलिङ्गराज खारवेल

मौर्यवंश की शक्ति के शिथिल होने पर जब साम्राज्य के अनेक सुदूरवर्ती प्रदेश मौर्य-सम्राटों की अधीनता से मुक्त होने लगे, तो कलिङ्ग भी स्वतन्त्र हो गया। कलिङ्ग को अशोक ने जीतकर मौर्य-साम्राज्य के अन्तर्गत किया था। पर वह देर तक मौर्यवंश की अधीनता नहीं रह सका। उड़ीसा के भुवनेश्वर नामक स्थान के समीप हाथीगुम्फा नाम की गुफा की एक चट्टान पर एक शिलालेख उपलब्ध हुआ है, जो कलिङ्गराज खारवेल द्वारा उत्कीर्ण कराया गया था। यह शिलालेख प्राकृत भाषा में है, और प्राचीन भारतीय इतिहास के परिज्ञान के लिये इसका बहुत अधिक महत्त्व है। इस शिलालेख के अनुसार कलिङ्ग के स्वतन्त्र राज्य के राजा प्राचीन ऐलवंश के चेति या चेदि क्षत्रिय थे। चेदि क्षत्रियों का मूल अभिजन बुन्देलखण्ड में था, पर सम्भवत: उनकी एक शाखा कलिङ्ग में जा बसी थी। जिस वीर चेदि ने कलिङ्ग को मौर्य-साम्राज्य की अधीनता से मुक्त कर स्वतन्त्र किया, उसका नाम चैत्रराज था। चैत्रराज की तीसरी पीढ़ी में खारवेल हुआ जिसका वृत्तान्त हाथीगुम्फा शिलालेख में विशदरूप से उल्लिखित है। खारवेल धर्म से जैन था और सम्भवत: उसके समय में कलिङ्ग की बहुसंख्यक जनता वर्धमान महावीर के इस धर्म को अपना चुकी थी।

नौ वर्ष तक खारवेल युवराज के पद पर रहा, और फिर चौबीस वर्ष की आयु में वह कलिङ्ग के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ। राज्याभिषेक के दूसरे वर्ष उसने पश्चिम की ओर आक्रमण किया और राजा सातकर्णि की उपेक्षा कर कञ्हबेना (कृष्णा) नदी के तट पर मूषिक नगर को त्रस्त किया। शासन काल के चौथे वर्ष में खारवेल ने एक बार फिर पश्चिम की ओर आक्रमण किया, और 'रठिकों के भोजक' (रठिक भोज के) लोगों को अपने अधीन किया। खारवेल के ये दोनों आक्रमण उस प्रदेश पर हुए थे, जो सातवाहन वंश के राजा सातकर्णि के अधीन थे। रठिकों के भोजक या रठिक भोजकों का अभिप्राय सम्भवत: ऐसे क्षत्रियकुलों से है, जिनका प्राचीन अन्धकवृष्णियों के समान अपना पृथक् गण-राज्य था। यह गणराज्य सम्भवत: सातवाहन साम्राज्य की अधीनता स्वीकृत करता था, क्योंकि पश्चिम दिशा का यह आक्रमण खारवेल ने सातकर्णि की शक्ति की उपेक्षा करके ही किया था। खारवेल की शक्ति के सम्मुख सातवाहन-राजाओं का शौर्य मन्द पड़ गया था, और कलिङ्गराज पश्चिम में दूर दूर तक दिग्विजय करने में समर्थ हुआ था।

जिस समय खारवेल इन विजयों में व्यग्र था, बैक्ट्रियन राजा डेमेट्रियस (दिमित्र) ने भारत पर आक्रमण कर दिया। दिमित्र विजययात्रा करते हुए पाटलिपुत्र तक चला आया, और भारत की स्वतंत्र सत्ता ही उसके आक्रमणों के के कारण खतरे में पड़ गई। इस दशा में खारवेल ने अपने राज्याभिषेक के आठवें वर्ष में मगध पर आक्रमण किया और दिमित्र को परास्त कर उसे मथुरा के पश्चिम में धकेल दिया। दिमित्र जो भारत के मध्यदेश में अपना शासन स्थापित नहीं कर सका, उसका प्रधान कारण कलिङ्गराज खारवेल की शक्ति ही थी। मौर्य राजा इस समय इतने निर्बल हो चुके थे, कि वे यवनों के मुकाबले में अपने साम्राज्य की रक्षा कर सकने में असमर्थ रहे थे।

राज्याभिषेक के दसवें साल में खारवेल ने फिर विजययात्रा की, और इस बार वह भारत में बहुत दूर पश्चिम तक चला आया। ग्यारहवें साल में उसने दक्षिण में आक्रमण कर तामिल देश संघात को परास्त किया। सुदूर दक्षिण के तामिल राज्यों को शक्तिशाली मौर्य सम्राट् भी अपनी अधीनता में नहीं ला सके थे, पर खारवेल इन्हें भी परास्त करने में समर्थ हुआ।

बारहवें वर्ष में खारवेल ने फिर मगध पर आक्रमण किया। मगधराज बहसतिमित्र (बृहस्पतिमित्र या पुष्यमित्र) को उसने अपने पैरों पर गिरने के लिये विवश किया, और राजा नन्द कलिङ्ग से महावीर स्वामी की जो जिनमूर्ति पाटलिपुत्र ले गया था, उसे फिर कलिङ्ग वापस ले आया। सम्भवतः इस समय में (खारवेल के शासन काल के आठवें और बारहवें वर्ष के बीच में) मगध में राज्यक्रान्ति हो गई थी, बृहद्रथ मौर्य का घात कर पुष्यमित्र शुङ्गने मगध का राज्य प्राप्त कर लिया था और यह वीर सेनानी वहां अपनी शक्ति की वृद्धि करने में तत्पर हो गया था। अतः खारवेल ने उसपर आक्रमण कर उसे अपनी अधीनता स्वीकृत करने के लिये विवश किया।

खारवेल की शक्ति के उत्कर्ष और दिग्विजय का यह वृत्तान्त निःसन्देह बहुत महत्त्व का है। चेदि क्षत्रियों के शौर्य के कारण कलिङ्ग न केवल मौर्य साम्राज्य की अधीनता से मुक्त होकर स्वतन्त्र हो गया था, अपितु उसके अन्यतम राजा खारवेल ने भारत के सुदूर प्रदेशों को जीतकर अपने अधीन भी कर लिया था। ऐसा प्रतीत होता है, कि खारवेल अपने विजित प्रदेशों पर स्थिर रूप से शासन नहीं कर सका, और उसने किसी स्थिर साम्राज्य की स्थापना नहीं की। भारत के प्राचीन आर्य-राजाओं का अनुसरणकर वह दिग्विजय मात्रसे संतुष्ट रहा, और उसने अपने विजित प्रदेश को स्थायी साम्राज्य के रूप में परिवर्तित करने का

प्रयत्न नहीं किया। ऐसा प्रतीत होता है, कि खारवेल के नेतृत्व में कलिङ्ग का जो असाधारण उत्कर्ष हुआ था, वह भी क्षणिक था, क्योंकि शीघ्र ही पुष्यमित्र शुङ्ग ने अपनी शक्ति का विस्तार कर दो बार अश्वमेध यज्ञों का अनुष्ठान किया। पुष्यमित्र का साम्राज्य बहुत विस्तृत था। उसके रहते हुए भारत में किसी अन्य चक्रवर्ती साम्राज्य की गुन्जाइश नहीं थी।

(४) सातवाहन राज्य

मौर्यवंश की निर्बलता से लाभ उठाकर जो अनेक राज्य मागध साम्राज्य की अधीनता से स्वतन्त्र हुए, उनमें दक्षिण का सातवाहन-राज्य भी एक था। पुराणों में सातवाहन-वंश को आन्ध्र-वंश कहा गया है। पर इस वंश का मूल स्थान पश्चिमी महाराष्ट्र व कर्णाटक का बेल्लारि जिला था। बेल्लारि में उपलब्ध हुए एक शिलालेख में उस प्रदेश को 'सातवाहनिहार' कहा गया है। सात-वाहन-वंश के लेख प्राकृत भाषा में लिखे गये हैं, और इस वंश के राजाओं की भाषा तेलगू न होकर प्राकृत ही थी। बाद मे जब पश्चिमी महाराष्ट्र के सातवाहनों ने दक्षिण में अपनी शक्ति का विस्तार किया, तो उन्होंने आन्ध्र-देश को भी जीत लिया। आन्ध्र के शासक होने के कारण ही शायद सातवाहन-वंश को पुराणों में आन्ध्र-वंश कहा गया है।

सातवाहन-वंश के संस्थापक का नाम सिमुक था। उसकी राजधानी महाराष्ट्र में गोदावरी नदी के तट पर स्थित थी, और उसका नाम प्रतिष्ठान या पैठन था। नासिक तथा उसके समीप के प्रदेश सिमुक के राज्य के अन्तर्गत थे। सिमुक के बाद उसका भाई कृष्ण और कृष्ण के बाद उसका पुत्र सातकर्णि राजा बना। उसने महाराष्ट्र के एक प्रमुख सरदार की कन्या नायनिका के साथ विवाह किया। इससे उसकी शक्ति बहुत बढ़ गई। सातकर्णि बड़ा शक्तिशाली राजा था। धीरे-धीरे वह सम्पूर्ण महाराष्ट्र और कर्णाटक का स्वामी हो गया। पश्चिमी घाट के सब प्रदेश व कोंकण के बन्दरगाह उसके अधीन थे। सातकर्णि ने अपनी विजयों के उपलक्ष में दो वार अश्वमेध-यज्ञ किये। वह मगधराज पुष्यमित्र शुङ्ग और कलिङ्गराज खारवेल का समकालीन था, और १७५ ई० पू० के लगभग राज-सिंहासन पर आरूढ़ हुआ था। खारवेल के साथ भी उसके अनेक युद्ध हुए थे। उसकी शक्ति की उपेक्षा करके ही कलिङ्गराज खारवेल पश्चिम में दूर-दूर तक अपनी विजयपताका को फहरा सका था।

सातकर्णि के बाद लगभग एक सदी तक सातहावन-वंश ने कोई विशेष

उन्नति नहीं की; इस राजवंश का शासन केवल दक्षिणापथ तक ही सीमित रहा। बाद में इस वंश में एक ऐसे वीर पुरुष का जन्म हुआ, जिसने अपने कुल की शक्ति को बहुत बढ़ा लिया। इसका नाम गौतमीपुत्र सातकर्णि था। इसके इतिहास पर हम यथास्थान प्रकाश डालेंगे।

(५) गणराज्यों का पुनरुत्थान

मौर्य-वंश के पतन और यवनों के आक्रमण के समय भारत में जो अनेक स्वतन्त्र राज्य कायम हुए, उनमें गणराज्यों का विशेष स्थान है। सिकन्दर के आक्रमण के समय पंजाब में अनेक गणराज्य विद्यमान थे। चाणक्य और चन्द्रगुप्त ने इन्हें मौर्य-साम्राज्य के अधीन किया, पर इनकी अन्तःस्वतन्त्रता और पृथक् अनुभूति नष्ट होने नहीं पाई। यही कारण है, कि मौर्य-वंश की शक्ति के क्षीण होते ही ये फिर स्वतन्त्र हो गये। इन स्वतन्त्र गणराज्यों के बहुत-से सिक्के उपलब्ध हुए हैं। जो दूसरी सदी ई० पू० व उसके आसपास के माने जाते हैं। ये सिक्के निम्नलिखित गणों के हैं—यौधेय, राजन्य, औदुम्बर, आर्जुनायन, आग्रेय, शिवि, मालव, कुनिन्द और महाराज। यौधेय गण की स्थिति सतलुज के निचले प्रवाह के समीप थी। सिकन्दर के समय भी यह गण विद्यमान था, पर यवनों का इससे युद्ध नहीं हो सका था, क्योंकि यवन आक्रान्ता इसके प्रदेश के समीप तक नहीं आया था। राज्यन्य गण पूर्वी पंजाब में था। औदुम्बर गण की स्थिति कांगड़ा के प्रदेश में थी। आर्जुनायन गण उत्तरी राजपूताना में था। आग्रेय गण के सिक्के हिसार जिले में उपलब्ध हुए हैं, और अगरोहा (आग्रोदक) के भग्नावशेष उसके प्राचीन स्थान को सूचित करते हैं। कुनिन्द गण उस प्रदेश में था, जहां अब अम्बाला और सहारनपुर के जिले हैं। महाराज गण की स्थिति भी पूर्वी पंजाब में थी। शिवि और मालवगण सिकन्दर के समय मध्यपंजाब में थे, पर इस समय राजपूताना चले आये थे। गणों का इस प्रकार स्थानान्तरित हो जाना प्राचीन इतिहास में साधारण बात होती थी। चित्तौड़ के समीप नगरी से शिविगण के सिक्के मिले हैं, और जयपुर रियासत के ककोड़ (कर्कोटक नगर) स्थान से मालव गण के। ये सब सिक्के प्रायः शुङ्ग-काल के हैं, और इनकी उपलब्धि इस बात का स्पष्ट प्रमाण है, कि अनुकूल अवसर पाते ही पुराने समय के गणराज्यों ने अपनी स्वतन्त्रता को पुनः स्थापित कर लिया था।

(६) पुष्यमित्र के उत्तराधिकारी

शुंग-वंश में कुल दस राजा हुए। पुष्यमित्र के बाद अग्निमित्र राजगद्दी पर

बैठा। उसने कुल आठ वर्ष तक राज्य किया। उसके बाद वसुज्येष्ठ ने सात वर्ष और फिर वसुमित्र ने दस वर्ष राज्य किया। ये दोनों अग्निमित्र के पुत्र थे। वसुज्येष्ठ का दूसरा नाम ज्येष्ठमित्र था। इसके कुछ सिक्के भी उपलब्ध हुए हैं। वसुमित्र के बाद क्रमशः आर्द्रक, पुलिंदक, घोष और वज्रमित्र मगध के सिंहासन पर बैठे। इन सबने मिलकर बीस वर्ष तक राज्य किया। इनके सम्बन्ध की कोई भी घटना इस समय ज्ञात नहीं है। वज्रमित्र के बाद भागभद्र राजा बना। इसके समय की एक बात उल्लेखनीय है। उस समय उत्तर-पश्चिमी भारत में अनेक यवनराज्य स्थापित हो चुके थे। इनमें से एक तक्षशिला का यवन राज्य था, जहां अब एंटिआल्किडस राज्य करता था। उसने शुंगराजा भागभद्र के पास विदिशा में एक राजदूत भेजा था, जिसका नाम हेलिउदोर (हेलियोडोरस) था। इस दूत ने वहां भगवान् वासुदेव का एक गरुड़ध्वज बनवाया था। इस स्तम्भ पर प्राकृत भाषा में एक लेख खुदा हुआ है, जो निम्न प्रकार है—'देवों के देव वासुदेव का यह गरुड़ध्वज, महाराज अंतलिकित के यहां से राजा कासीपुत भागभद्र त्राता के, जो अपने राज्य के चौदहवें वर्ष में वर्तमान है, पास आये हुए तक्षशिला के निवासी दिये के पुत्र योनदूत भागवत हेलिउदोर ने यहां बनवाया।'

भारत के यवन-आक्रान्ता इस काल में किस प्रकार भारतीय धर्म और संस्कृति के प्रभाव में आ रहे थे, इसपर इस स्तम्भ-लेख से बड़ा अनुपम प्रकाश पड़ता है। योनदूत हेलिउदोर ने भागवत वैष्णव धर्म की दीक्षा ग्रहण कर ली थी, और अपनी श्रद्धा को प्रकट करने के लिये गरुड़ध्वज का निर्माण कराया था। उस समय के हिंदू-धर्म में म्लेच्छ यवनों को अपने अंदर हजम कर लेने की शक्ति विद्यमान थी। भागभद्र ने कुल ३२ वर्ष राज्य किया। उसके बाद देवभूति राजा बना। यह बड़ा विलासी था। इसके समय में फिर मगध में राज्यक्रांति हुई। उसके अमात्य वासुदेव कण्व ने उसके विरुद्ध षड्यंत्र किया और देवभूति को कत्ल कर स्वयं मगध के राजसिंहासन पर अधिकार कर लिया। शुंगवंश का प्रारम्भ इसी प्रकार के षड्यंत्र द्वारा हुआ था। उसका अन्त भी इसी प्रकार हुआ।

पुष्यमित्र के उत्तराधिकारी मागध-साम्राज्य को अक्षुण्ण बना रखने में समर्थ नहीं रहे। पुष्यमित्र के समय में मागध-साम्राज्य की पश्चिमी सीमा सिन्धु नदी तक थी। पर उसके बाद शीघ्र ही यवनों के आक्रमण फिर प्रारंभ हो गये। उत्तर-पश्चिमी भारत में अनेक नये यवन-राज्यों की स्थापना हुई और उस समय

की राजनीतिक उथल-पुथल से लाभ उठाकर पंजाब के प्राचीन गणराज्यों ने भी फिर सिर उठा लिया। परिणाम यह हुआ, कि इन शुंग-सम्राटों के शासन-काल में मागध-साम्राज्य की पश्चिमी सीमा मथुरा तक ही रह गई । मथुरा के पश्चिम में पहले यौधेय, आग्रेय, मालव आदि गणों के स्वतंत्र राज्य थे और उनके और अधिक पश्चिम में अनेक यवन-राज्य। पर मथुरा व यमुना से लगाकर बंगाल की खाड़ी तक शुंगों का एकच्छत्र शासन था । खारवेल के बाद कलिंग राज्य भी निर्बल पड़ गया था । यद्यपि शुगों ने उसे जीतकर अपने साम्राज्य में मिलाने का प्रयत्न नहीं किया, पर खारवेल के उत्तराधिकारियों से मागध-सम्राटों को कोई भय नही था । दक्षिण में शुगों का मागध-साम्राज्य नर्मदा तक विस्तृत था। विदिशा और अवंति के प्रदेश अभी मागध-साम्राज्य के ही अंतर्गत थे।

यद्यपि शुंगों के शासन-काल में मागध-साम्राज्य का विस्तार मौर्य-काल से बहुत कम था, पर अब भी वह भारत की प्रधान राजनीतिक शक्ति थी ।

पुराणों के अनुसार शुंगों ने कुल ११२ वर्ष तक राज्य किया। १८५ ई० पू० से शुरू करके ६३ ई० पू० तक उनका शासन-काल रहा।

(७) कण्व-वंश

अंतिम शुंग-राजा देवभूति के विरुद्ध षड्यंत्र कर उसके अमात्य वासुदेव ने मगध के राजसिंहासन पर अधिकार कर लिया था। अपने स्वामी की हत्या करके वासुदेव ने जिस साम्राज्य को प्राप्त किया था, वह एक विशाल शक्तिशाली साम्राज्य का ध्वंसावशेष ही था। कारण यह कि इस समय भारत की पश्चिमोत्तर-सीमा को लांघकर शक आक्रान्ता बड़े वेग से भारत पर आक्रमण कर रहे थे। उत्तर-पश्चिमी भारत के यवनराज्यों और पंजाब के गणराज्यों को पददलित कर इन शकों ने मथुरा और विदिशा को भी अपने अधीन कर लिया था । मथुरा और विदिशा की रक्षा करने में मगध के शुंग व कण्व-सम्राट् असमर्थ थे। शकों के हमलों से न केवल मागध-साम्राज्य के सुदूरवर्ती जनपद ही साम्राज्य से निकल गये थे, बल्कि मगध के समीपवर्ती प्रदेशों में भी अव्यवस्था मच गई थी । वासुदेव और उसके उत्तराधिकारी केवल स्थानीय राजाओं की हैसियत रखते थे। उनका राज्य पाटलिपुत्र और उसके समीप के प्रदेशों तक ही सीमित था। शुंगों का भी पूर्णतया उच्छेद करने में वे समर्थ नहीं हुए थे । मागध-साम्राज्य के ध्वंसावशेष पर कहीं कण्व और कहीं शुंग-राजाओं का शासन था।

कण्व-वंश के कुल चार राजा हुए—वासुदेव, भूमिमित्र, नारायण और सुशर्मा। इन चारों ने कुल मिलाकर ४५ वर्ष तक राज्य किया। इनका शासन-काल ६३ ई० पू० से १८ ईस्वी पू० तक समझा जा सकता है।

पुराणों में इन कण्व या काण्वायन राजाओं को शुंग भृत्य के नाम से कहा गया है। यह तो स्पष्ट ही है, कि वासुदेव कण्व शुंग राजा देवभूति का आमात्य था। पर चारों कण्व-राजाओं को शुंग-भृत्य कहने का अभिप्राय शायद यह है, कि नाम को इनके समय में भी शुंगवंशी राजा ही सिंहासन पर विराजमान थे, यद्यपि सारी शक्ति इन भृत्यों के हाथ में थी। संभवतः इसीलिये कण्वों के बाद जब आंध्रों के मागध-साम्राज्य पर अधिकार कर लेने का उल्लेख आता है, तो यह लिखा गया है कि उन्होंने कण्व और शुंग—दोनों को परास्त कर शक्ति प्राप्त की।

सहायक ग्रन्थ

V. A. Smith : Early History of India.
Torn : The Greeks in Bactria and India.
Raychaudhry : Political History of Ancient India.
Pargiter : Dynesties of the Kali Age.
Cambridge History of India Vol. I.
Journal of Bihar & Orrissa Research Society. 1928.
Smith : Catalogue of the Coins in Indian Museum.
जयचन्द्र विद्यालंकार—भारतीय इतिहास की रूपरेखा भाग २

छब्बीसवां अध्याय

भारत के पार्थियन और शक राज्य

(१) शकों का भारत प्रवेश

मगध के विशाल साम्राज्य की शक्ति के क्षीण होने पर जिन विदेशी आक्रांताओं के आक्रमण भारत पर शुरू हुए, उनमें से यवनों का उल्लेख पिछले अध्याय में किया जा चुका है। डेमेट्रियस और मिनान्डर सदृश यवन-विजेताओं ने भारत के उत्तर-पश्चिमी प्रदेशों में अपने अनेक राज्य कायम किये, और उनके वंशधरों ने उनका शासन किया।

पर इस युग में (दूसरी सदी ई० पू० और उसके बाद) केवल यवनों (बैक्ट्रिया के ग्रीक) ने ही भारत पर आक्रमण नहीं किया, अपितु पार्थियन और शक लोगों ने भी इस देश पर अनेक आक्रमण किये। पार्थियन का जिक्र हम पिछले अध्याय में भी कर चुके हैं। विशाल सीरियन साम्राज्य की अधीनता से मुक्त होकर जिन राज्यों ने अपनी स्वतन्त्र सत्ता स्थापित की थी, उनमें से एक बैक्ट्रिया था, और दूसरा पार्थिया। पार्थिया के राज्य में वह देश अन्तर्गत था, जिसे ईरान कहा जाता है।

शक-जाति—पिछले अध्याय में हमने यह भी लिखा था, कि बैक्ट्रिया के यवन-राज्य का अन्त शक-जाति के आक्रमण द्वारा हुआ था। इन शक-लोगों का मूल निवास-स्थान सीर नदी की घाटी में था। दूसरी सदी ई० पू० में उनपर उत्तर-पूर्व की ओर से युइशि-जाति ने आक्रमण किया। युइशि लोग तिब्बत के उत्तर-पश्चिम में तकला मकान की मरुभूमि के दक्षिण में निवास करते थे। वे बड़े वीर और योद्धा थे। हूणों के आक्रमण के कारण वे अपने प्राचीन अभिजन को छोड़कर आगे बढ़ जाने के लिये विवश हुए थे। प्राचीन काल में हूण जाति उत्तरी चीन में निवास करती थी, और चीन के सभ्य राज्यों पर आक्रमण करती रहती थी। उन्हीं के हमलों से अपने देश की रक्षा करने के लिये चीन के शक्तिशाली सम्राट् शी-हुआंग-ती (२४६–२१० ई० पू०) ने उस विशाल दीवार का निर्माण कराया

था, जो अब तक भी उत्तरी चीन में विद्यमान है। इस दीवार के कारण हूण लोगों के लिये चीन पर आक्रमण कर सकना सम्भव नहीं रहा, और उन्होंने पश्चिम की ओर बढ़ना शुरू किया। हूण लोग असभ्य और बर्बर थे, और लूट-मार द्वारा ही अपना निर्बाह करते थे। हूणों ने प्रचंड आंधी के समान पश्चिम की ओर बढ़ना शुरू किया, और युइशि लोगों को जीत लिया। उनके राजा की युद्ध-क्षेत्र में मृत्यु हुई। विधवा रानी के नेतृत्व में युइशि लोग अपने प्राचीन अभिजन को छोड़कर आगे बढ़ने को विवश हुए। सीर नदी की घाटी में उस समय शकों का निवास था। युइशि-जाति ने उनपर हमला कर दिया, और शक उनसे परास्त हो गये। विवश होकर शकों को अपना प्रदेश छोड़ना पड़ा, और उनके विविध जन (कबीले) विविध दिशाओं में आगे बढ़े। हूणों ने युइशियों को ढकेला, और युइशियों ने शकों को। हूणों की बाढ़ ने युइशि जाति के प्रदेश को आक्रांत कर दिया, और शकों के प्रदेश पर युइशि छा गये। यही समय था, जब शकों की एक शाखा ने बैक्ट्रिया पर आक्रमण किया और वहां के यवन-राजा हेलिओक्लीज को परास्त किया। शक लोगों की जिस शाखा ने बैक्ट्रिया की विजय की थी, वह हिंदूकुश पर्वत को पार कर भारत में प्रविष्ट नहीं हुई। इसीलिये हेलिओक्लीज का शासन उत्तर-पश्चिमी भारत में कायम रहा।

शकों का पार्थिया पर आक्रमण——बैक्ट्रिया को जीतकर शक लोग दक्षिण-पश्चिम की ओर मुड़े। वंक्षु नदी के पार उस समय पार्थिया का राज्य था। यह राज्य बहुत शक्तिशाली था, और प्रायः सम्पूर्ण ईरान इसके अन्तर्गत था। पर पार्थिया के राजाओं के लिये यह सुगम नहीं था, कि वे शक आक्रमण का भलीभांति मुकाबला कर सकते। १२८ ई० पू० के लगभग पार्थियन राजा फ्रावत द्वितीय ने शकों की बाढ़ को रोकने का प्रयत्न किया। पर वह सफल नहीं हो सका। शकों के साथ युद्ध करते हुए रणक्षेत्र में ही उसकी मृत्यु हुई। उसके उत्तराधिकारी राजा आर्तेबानस के समय में शक लोग पार्थियन राज्य में घुस गये और उसे उन्होंने बुरी तरह से लूटा। आर्तेबानस भी शकों से लड़ते हुए मारा गया।

आर्तेबानस के बाद मिथ्रिदातस द्वितीय पार्थिया का राजा बना। उसका शासन-काल १२३ से ८८ ई० पू० तक माना जाता है। मिथ्रिदातस बड़ा शक्तिशाली और वीर राजा था। उसने शकों के आक्रमणों से अपने राज्य की रक्षा करने के लिये घोर प्रयत्न किया और उसे सफलता भी हुई। मिथ्रिदातस की शक्ति से विवश होकर शकों का प्रवाह पश्चिम की तरफ से हट-कर दक्षिण-पूर्व की ओर हो गया। परिणाम यह हुआ, कि अब शकों ने भारत

पर आक्रमण शुरू किया। उनके भारत-आक्रमण का समय १२३ ई० पू० के लगभग है।

भारत में प्रवेश—पार्थिया को जीत सकने में असमर्थ होकर शकों ने सीस्तान और सिन्ध के मार्ग से भारत में प्रवेश किया। भारत के जिस प्रदेश को शकों ने पहलेपहल अपने अधीन किया, वह मागध-साम्राज्य के अन्तर्गत नहीं था। सम्भवतः वहां भी यवनों के छोटे-छोटे राज्य स्थापित थे, जो शकों द्वारा परास्त कर दिये गये थे। सिन्ध नदी के तट पर स्थित मीननगर को उन्होंने अपनी राजधानी बनाया। भारत का यह पहला शकराज्य था। यहीं से उन्होंने भारत के अन्य प्रदेशों में अपना प्रसार किया। एक जैन-अनुश्रुति के अनुसार भारत में शकों को आमन्त्रित करने का श्रेय आचार्य कालक को है। यह जैन-आचार्य उज्जैन के निवासी थे, और वहां के राजा गर्दभिल्ल के अत्याचारों से तंग आकर सुदूर पश्चिम के पार्थियन राज्य (पारसकुल) में चले गये थे। जब पार्थिया के शक्तिशाली राजा मिथ्रिदातस द्वितीय की शक्ति के कारण शक लोग परेशानी अनुभव कर रहे थे, तो कालकाचार्य ने उन्हें भारत आने के लिये प्रेरित किया। कालक के साथ शक लोग सिन्ध में प्रविष्ट हुए, और वहां उन्होंने अपना राज्य स्थापित किया। इसके बाद उन्होंने सुराष्ट्र को जीतकर उज्जैन पर भी आक्रमण किया और वहां के राजा गर्दभिल्ल को परास्त किया। यद्यपि शकों की मुख्य राजधानी मीननगर थी, पर भारत के विविध प्रदेशों में उन्होंने अपने अनेक स्वतंत्र राज्य स्थापित किये, जो सम्भवतः मीननगर के शकराज की अधीनता स्वीकार करते थे। ये विविध शकराज्य या शकक्षत्रपों के कुल निम्नलिखित थे—(१) सिन्ध और पश्चिमी भारत का शककुल, (२) महाराष्ट्र का शकक्षत्रप-कुल, (३) मथुरा का शकक्षत्रप कुल और (४) गान्धार का शककुल। हम अब इन चारों शककुलों पर संक्षेप के साथ विचार करेंगे।

(२) भारत के शक राज्य

सिन्ध और पश्चिमी भारत का शकराज्य—मीननगर को राजधानी बनाकर शक-आक्रान्ताओं ने सिन्ध में अपना जो राज्य स्थापित किया था, वह भारत के शक-राज्यों में सर्वप्रधान था। अन्य शक-राज्यों के राजा उसकी अधीनता स्वीकृत करते थे। अन्य शक-राज्यों के शासक क्षत्रप या महाक्षत्रप कहाते थे, जिससे यह परिणाम निकलता है, कि वे स्वतंत्र राजा न होकर किसी शक्तिशाली महाराजा की अधीनता स्वीकार करते थे। शकों के इस महाराजा की राजधानी

मीननगर ही थी। मीननगर के इन शक-महाराजाओं के विषय में हमें अधिक परिज्ञान नहीं है। वहां के एक महाराजा का नाम मोअ्र था। पंजाब के जेहलम जिले में मैरा नामक गांव के एक कुएं से एक शिला प्राप्त हुई है, जिसपर उत्कीर्ण लेख से मोअ नाम के शक-राजा का परिचय मिलता है। इसी प्रकार तक्षशिला के भग्नावशेषों में एक ताम्र-पत्र पर मोग नाम के एक शक-राजा का उल्लेख है, जिसके नाम के साथ 'महाराज' और 'महान्' विशेषण दिये गये हैं। सम्भवतः मोअ और मोग एक ही व्यक्ति के सूचक हैं। इस मोग के बहुत-से सिक्के पश्चिमी पंजाब में उपलब्ध हुए हैं, जो कि यवन-सिक्कों के नमूने पर बने हुए हैं। इन सिक्कों का लेख इस प्रकार है—'राजानिराजस महतस मोअ्रस'। इस लेख से इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता, कि शक-राजा मोअ्र या मोग की स्थिति क्षत्रप या महाक्षत्रप से अधिक ऊंची थी। वह राजाधिराज और महान् था और शकों के अन्य राजकुल उसकी अधीनता को स्वीकार करते थे। शकों के अन्य भी अनेक राजाधिराजों के सिक्के उपलब्ध हुए हैं। पर उनका यहां उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि उनके शासन की किसी घटना का हमें ज्ञान नहीं है।

महाराष्ट्र का शकक्षत्रपकुल—मीननगर के शक-महाराज की अधीनता में जो सबसे अधिक शक्तिशाली शक-क्षत्रप थे, उनका शासन काठियावाड़, गुजरात, कोंकण, पश्चिमी महाराष्ट्र और मालवा तक के प्रदेशों में विद्यमान था। इस विशाल राज्य पर शासन करनेवाले शक-कुल को 'क्षहरात' कहते हैं। इसकी राजधानी सम्भवतः भरुकच्छ (सौराष्ट्र) में थी। पर इनके बहुत-से उत्कीर्ण लेख महाराष्ट्र में उपलब्ध हुए है, इसी कारण इन्हें महाराष्ट्र का शककुल भी कहा जाता है। शकों के क्षहरात गतकुल का पहला क्षत्रप भूमक था। उसके अनेक सिक्के उपलब्ध हुए हैं, जो महराष्ट्र और काठियावाड़ से मिले हैं। इससे अनुमान किया जाता है, कि महाराष्ट्र और काठियावाड़—दोनों उसके शासन में थे।

पर क्षहरात कुल का सबसे प्रसिद्ध शकक्षत्रप नहपान था। इसके सात उत्कीर्ण लेख और हजारों सिक्के उपलब्ध हुए हैं। सम्भवतः यह भूमक का ही उत्तराधिकारी था, पर इसका भूमक के साथ क्या सम्बन्ध था, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। नहपान का राज्य बहुत विस्तृत था, यह बात उसके जामाता उषावदात शक के एक लेख से होती है। इस लेख के कुछ अंश निम्नलिखित हैं—"सिद्धि हो। राजा क्षहरात क्षत्रप नहपान के जामाता, दीनाक के पुत्र, तीन

लाख गौओं का दान करनेवाले, बार्णासा (नदी) पर सुवर्णदान करनेवाले, देवताओं और ब्राह्मणों को सोलह ग्राम देनेवाले, सम्पूर्ण वर्ष लाख ब्राह्मणों को भोजन करानेवाले, पुण्यतीर्थ प्रभास में ब्राह्मणों को आठ भार्यायें देनेवाले, भरुकच्छ दशपुर गोवर्धन और शोर्पारिण में चतुःशाल वरुध और प्रतिश्रय देने वाले, आराम तडाग, उदपान बनवानेवाले, इवा पारारातापी करवेणा दाहानुका (नदियों पर) नावों द्वारा पुण्यतर करनेवाले..........धर्मात्मा उषावदात ने गोवर्धन में त्रिरश्मि पर्वत पर यह लेण बनवाई...... "

उषावदात का यह लेख नासिक के पास एक गुहा की दीवार पर उत्कीर्ण है। इसी गुहा पर एक अन्य लेख में उषावदात ने लिखा है कि "मैं पोक्षर को गया हूँ, और वहा मैंने अभिषेक (स्नान) किया, तीन हजार गौएं और गांव दिया।" नासिक गुहा के इन लेखों से क्षत्रप नहपान के राज्य की सीमा के सम्बन्ध में अच्छे निर्देश प्राप्त होते हैं। उषावदात ने पोक्षर (पुष्कर) में अभिषेक स्नान किया था, अतः सम्भवतः अजमेर के समीपवर्ती प्रदेश नहपान के राज्य के अन्तर्गत थे। इस लेख में उल्लिखित प्रभास (सोमनाथ पाटन) सौराष्ट्र या काठियावाड़ में हैं। भरुकच्छ की स्थिति भी इसी प्रदेश में है। गोवर्धन नासिक का नाम है। शोर्पारिण (सोपारा) कोंकण में है। इस प्रकार इस लेख से यह स्पष्ट हो जाता है, कि काठियावाड़, महाराष्ट्र और कोंकण अवश्य ही क्षत्रप नहपान के राज्य के अन्तर्गत थे। नासिक के लेख में जिन नदियों का उल्लेख है, उनका सम्बन्ध गुजरात से है। अतः इस प्रदेश को भी नहपान के राज्य के अन्तर्गत माना जाता है।

नासिक के इस गुहालेख के समीप ही उषावदात का एक अन्य लेख भी उपलब्ध हुआ है, जिसमें दाहूनक नगर और कंकापुर के साथ उजेनि (उज्जैन) का भी उल्लेख है। इन नगरों में भी उषावदात ने ब्राह्मणों को बहुत कुछ दान-पुण्य किया था। इससे यह भी अनुमान किया जाताहै, कि उज्जैन भी नहपान के राज्य के अन्तर्गत था। उज्जैन के नहपान के अधीन होने की बात जैन और पौराणिक अनुश्रुति द्वारा भी पुष्ट होती है। जैन अनुश्रुति में उज्जैन के राजाओं का उल्लेख करते हुए गर्दभिल्ल के बाद नहवाण नाम दिया गया है। इसी प्रकार पुराणों में अन्तिम शुङ्ग-राजाओं के समकालीन विदिशा के राजा को नखवानजः (नखवान का पुत्र) कहा गया है। सम्भवतः ये नहवाण व नखवान क्षहरात वंशी शक क्षत्रप के ही रूपान्तर हैं। इसमें सन्देह नहीं, कि नहपान बहुत शक्तिशाली क्षत्रप था, और उसका राज्य काठियावाड़ से मालवा तक विस्तृत था। सम्भवतः

नहपान ने अपनी शक्ति का विस्तार करने के लिये बहुत-से युद्ध किये थे, और इन्हीं के कारण उसकी स्थिति 'क्षत्रप' से बढ़कर 'महाक्षत्रप' की हो गई थी। उषावदात के नासिकवाले लेख में उसे केवल 'क्षत्रप' कहा गया है। पर पूना के समीप उपलब्ध हुए एक अन्य गुहालेख में उसके नाम के साथ 'महाक्षत्रप' विशेषण आता है।

महाक्षत्रप नहपान के उत्तराधिकारियों के सम्बन्ध में कुछ विशेष ज्ञात नहीं होता। सातवाहन-वंश के प्रतापी राजा गौमतीपुत्र सातकर्णि ने क्षहरात शकक्षत्रपों की शक्ति को नष्ट किया और विदेशी शकों की अधीनता से उज्जैन और उसके समीप के प्रदेशों को स्वतन्त्र किया। इस महाप्रतापी सातवाहन राजा के सम्बन्ध में हम आगे चलकर विस्तार से लिखेंगे।

मथुरा के शक क्षत्रप--सिन्ध से शकों की शक्ति का विस्तार काठियावाड़, गुजरात, कोंकण, महाराष्ट्र और मालवा में हुआ और वहां से उत्तर की तरफ मथुरा में। सम्भवतः उज्जैन की विजय के बाद ही शकों ने मथुरा पर अपना आधिपत्य स्थापित किया था। मथुरा के शक क्षत्रप भी क्षहरात-कुल के थे। इन क्षत्रपों के बहुत-से सिक्के मथुरा व उसके समीपवर्ती प्रदेशों से उपलब्ध हुए हैं। इन्हीं से इनके इतिहास के विषय में कुछ परिचय प्राप्त होता है। मथुरा के प्रथम शक-क्षत्रप हगमाश और हगान थे। उनके बाद रञ्जुबुल और उसका पुत्र शोडास क्षत्रप या महाक्षत्रप-पद पर अधिष्ठित हुए। शोडास के बाद मेवकि मथुरा का महाक्षत्रप बना। मथुरा के इन शक क्षत्रपों ने पूर्वी पंजाब को जीतकर अपने अधीन किया था। वहां अनेक यवन-राज्य विद्यमान थे, जिनकी स्वतंत्र सत्ता इन शकों द्वारा नष्ट की गई। साथ ही कुनिन्द गण को भी इन्होंने विजय किया। कुनिन्द गण के सम्बन्ध में हम पहले लिख चुके हैं। गार्ग्यसंहिता के युगपुराण में शकों द्वारा कुनिन्द गण के विनाश का उल्लेख है। यह गण गंगा-यमुना के समीप उस प्रदेश में स्थित था, जहां अब सहारनपुर और अम्बाला के जिले हैं। यह सर्वथा स्वाभाविक था, कि मथुरा के शक क्षत्रप पूर्वी पंजाब में अपनी शक्ति का विस्तार करते हुए कुनिन्द गण को भी परास्त करते। क्षत्रप रञ्जुबुल के पुत्र शोडास ने जो 'महाक्षत्रप' का पद ग्रहण किया था, वह सम्भवतः इन्हीं विजयों का परिणाम था।

मथुरा के इन शक क्षत्रपों की बौद्ध-धर्म में बहुत भक्ति थी। मथुरा के एक मन्दिर की सीढ़ियों के नीचे दबा हुआ एक सिंहध्वज मिला है, जिसकी सिंह-मूर्तियों के आगे-पीछे तथा नीचे खरोष्ठी लिपि में एक लेख उत्कीर्ण है।

इस लेख में महाक्षत्रप रञ्जुबुल या रजुल की अग्रमहिषी द्वारा शाक्य मुनि बुद्ध के शरीर-धातु को प्रतिष्ठापित करने और बौद्ध बिहार को एक जागीर दान देने का उल्लेख है। मथुरा से प्राप्त हुए एक अन्य लेख में महाक्षत्रप शोडास के शासन-काल में 'हारिती के पुत्र पाल की भार्या' अमोहिनी द्वारा अर्हत् की पूजा के लिये एक मूर्ति की प्रतिष्ठा का उल्लेख किया गया है। इसमें सन्देह नहीं, कि महाराष्ट्र के क्षहरात शक क्षत्रपों के समान मथुरा के शकों ने भी इस देश के धर्मों को अङ्गीकार कर लिया था।

गान्धार का शक कुल—शक लोगों की शक्ति केवल काठियावाड़, गुजरात, कोंकण, महाराष्ट्र, मालवा, मथुरा और पूर्वी पंजाब तक ही सीमित नहीं रही; उन्होंने गान्धार तथा पश्चिमी पंजाब पर भी अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। इन प्रदेशों में शकों के बहुत-से सिक्के उपलब्ध हुए हैं, और साथ ही अनेक उत्कीर्ण लेख भी। इनमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण लेख तक्षशिला से प्राप्त हुआ है, जो एक ताम्रपत्र पर उत्कीर्ण है। इस लेख के अनुसार महाराज महान् मोग के राज्य में क्षहरात चुक्ष के क्षत्रप लिअक कुसुलुक के पुत्र पतिक ने तक्षशिला में भगवान् शाक्य मुनि के अप्रतिष्ठापित शरीर-धातु को प्रतिष्ठापित किया था।

इस लेख से यह स्पष्ट है, कि तक्षशिला के शक-क्षत्रप भी क्षहरात-वंश के थे, और उनके अन्यतम क्षत्रप का नाम 'लिअक कुसुलुक' था, जिसके पुत्र पतिक ने शाक्य मुनि के शरीर धातु की प्रतिष्ठा करने की स्मृति में यह लेख उत्कीर्ण कराया था। तक्षशिला या गान्धार के क्षत्रप स्वतन्त्र राजा नहीं थे, अपितु महाराज महान् मोग की अधीनता स्वीकृत करते थे। इनकी स्थिति प्रान्तीय शासकों के सदृश थी। क्षत्रप लिअक कुसुलुक की सत्ता केवल इस ताम्रपत्र द्वारा ही सूचित नहीं होती, उसके अनेक सिक्के भी उपलब्ध हुए हैं। लिअक कुसुलुक के बाद उसका पुत्र पतिक गान्धार का क्षत्रप बना।

शक-शासन का काल—भारत के शक-क्षत्रपों व शक-महाराजाओं का जो वृत्तान्त हमने ऊपर लिखा है, उसमे कहीं काल या तिथि का निर्देश नहीं किया गया। इसका कारण यह है, कि इन शक-शासकों के काल के सम्बन्ध में बहुत विवाद है। इनके लेखों व सिक्कों पर बहुधा किसी संवत् का उल्लेख मिलता है। तक्षशिला में उपलब्ध जिस ताम्रपत्र का जिक्र हमने अभी ऊपर किया है, उस पर संवत् ७८ लिखा है। पर शकों के लेखों व सिक्कों पर उल्लिखित ये वर्ष किस संवत् का निर्देश करते हैं, यह अभी निश्चित नहीं हो सका है। कोई भी दो ऐतिहासिक

इन शक-राजाओं व क्षत्रपों के काल के सम्बन्ध में अविकल रूप से एकमत नहीं हो सके हैं। इस दशा में इनके काल को निर्धारित करने का प्रयत्न व्यर्थ-सा ही है। जब तक अधिक ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध न हो, इनके तिथिक्रम व काल के विषय में विवाद बना ही रहेगा। पर स्थूल रूप से यह कहा जा सकता है, कि दूसरी सदी ई० पू० के अन्त व पहली सदी ई० पू० के प्रारम्भिक भाग में शकों ने भारत में अपनी शक्ति का विस्तार किया, और अपने विविध राज्य कायम किये। पहली सदी ई० पू० के मध्यभाग में सातवाहन-वंशी राजा गौतमीपुत्र सातकर्णि और मालवगण के प्रयत्न से शकों की शक्ति क्षीण होनी शुरू हो गई, और धीरे-धीरे उनके स्वतन्त्र व पृथक् राज्यों का अन्त हो गया।

(३) भारत के पार्थियन राज्य

जिस प्रकार बैक्ट्रिया के यवनों ने भारत पर आक्रमण करके अपने अनेक राज्य इस देश में स्थापित किये, वैसे ही पार्थिया के पार्थियन लोगों ने भी भारत के उत्तर-पश्चिमी कोने में अपने शासन को कायम किया। सैल्युकस द्वारा स्थापित सीरियन साम्राज्य के विरुद्ध विद्रोह कर पार्थिया ने किस प्रकार स्वतन्त्रता प्राप्त की थी, इसका उल्लेख पिछले अध्याय में किया जा चुका है। पार्थिया के शक्तिशाली राजा मिथ्रिदातस द्वितीय की शक्ति से पराभूत होकर ही शक लोग भारत में प्रवेश करने के लिये विवश हुए थे। मिथ्रिदातस द्वितीय के शासनकाल में पार्थिया की शक्ति बहुत अधिक बढ़ी हुई थी, और शक-आक्रमणों को उसके विरुद्ध सफलता नहीं प्राप्त हो सकी थी।

ऐसा प्रतीत होता है, कि मिथ्रिदातस द्वितीय के किसी उत्तराधिकारी राजा के समय में पार्थियनों ने भारत पर आक्रमण किया, और आर्कोशिया (कन्धार) व सीस्तान के प्रदेशों को जीत लिया। भारत के उत्तर-पश्चिमी कोने में पार्थियन लोगों का जो शासन इस विजय द्वारा स्थापित हुआ, उसका असली पार्थियन राज्य के साथ सम्बन्ध नहीं रह सका, और वहां एक स्वतन्त्र पर्थियन वंश शासन करने लगा। इस स्वतंत्र पार्थियन वंश का प्रथम राजा वोनोनस (वनान) था। उसके सिक्कों पर जो लेख हैं, वे केवल ग्रीक भाषा में हैं। रैप्सन का मत है, कि वनान का शासन पार्थिया में भी था, और वह सम्पूर्ण पार्थियन साम्राज्य का स्वामी था। कन्धार में कुछ ऐसे सिक्के भी प्राप्त हुए हैं, जिनमें एक ओर तो वोनोनस (वनान) का नाम ग्रीक भाषा में दिया गया है, और दूसरी तरफ भारतीय प्राकृत भाषा में 'महाराज भ्रातस ध्रमिअस स्पालहोरस' लिखा

है। इससे यह अनुमान किया जाता है, कि वनान सम्पूर्ण पार्थियन साम्राज्य का स्वामी था, और उसका भाई स्पलहोर कन्धार व उसके समीपवर्ती भारतीय प्रदेशों पर शासन करने के लिये नियुक्त था। भारत के पार्थियन राज्य का शासक यह स्पलहोर पहली सदी ई० पू० के मध्यभाग में हुआ था।

स्पलहोर के बाद भारत के पार्थियन राज्य का स्वामी उसका पुत्र स्पलगदमस बना, उसके सिक्कों पर 'स्पलहोर पुत्रस ध्रमिअस स्पलगदमस' लिखा है। इस राजवंश के जो अन्य सिक्के उपलब्ध हुए हैं, उनका यहां उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं। पर इन सिक्कों से यह बात स्पष्ट हो जाती है, कि पहली सदी ई० पू० में कन्धार व उसके समीपवर्ती प्रदेशों की भाषा प्राकृत थी, जो खरोष्ठी भाषा में लिखी जाती थी। इसी कारण विदेशी पार्थियन लोगों ने भी इस बात की आवश्यकता अनुभव की थी, कि वे अपने सिक्कों में प्राकृत भाषा का प्रयोग करें। इन पार्थियन राजाओं ने अपने नाम के साथ 'ध्रमिक' या 'ध्रमिअ' विशेषण लगाया है। इससे यह भी सूचित होता है, कि यवन और शक-राजाओं के समान ये भी भारतीय धर्म के प्रभाव में आ गये थे।

भारत के ये पार्थियन राजा केवल कन्धार और सीस्तान के प्रदेशों से ही संतुष्ट नहीं रहे। इन्होंने काबुल पर आक्रमण कर उसे भी जीत लिया, और वहां के यवन राज्य का अन्त किया। इसके बाद वे पुष्करावती (पश्चिमी गान्धार) की ओर बढ़े, और उसे भी अपने अधीन कर लिया। पार्थियन लोगों की शक्ति को इस प्रकार विस्तृत करनेवाले राजा का नाम अय (एजस) था, सम्भवतः स्पलगदमस के बाद पार्थियन राज्य का स्वामी बना था। इसके सिक्कों पर 'महाराज राजराज महान् अय' लेख अंकित है। इससे यह सूचित होता है, कि वह बहुत शक्तिशाली था और राजाधिराज कहाता था। अनेक ऐतिहासिकों के मत में यह अय पार्थियन न होकर शक था, और शक-महाराज मोग या मोअ का उत्तराधिकारी था। पार्थियन और शक राजाओं के विषय में जो कुछ भी ज्ञान हमें है उसका आधार केवल उनके सिक्के हैं। इसी कारण इस विषय में मतभेद की गुंजाइश रहना स्वाभाविक है।

अय के बाद पार्थियन राज्य का स्वामी गोंडोफारस (गुदफर) हुआ। उसकी राजधानी पश्चिमी गान्धार में थी, और वह बहुत शक्तिशाली राजा था। उसके शासन-समय के सम्बन्ध में ऐतिहासिकों में बहुत मतभेद है। इन मतभेदों को यहां प्रदर्शित न कर इतना निर्देश करना ही पर्याप्त होगा

कि वह ईस्वी-सन् के प्रारम्भिक काल में हुआ था। राजा गुदफर का नाम ईसाई धर्म की प्राचीन अनुश्रुति में भी पाया जाता है। उसके अनुसार ईसाई सन्त टामस ने गुदफर के राज्य में ईसाई-धर्म का प्रचार किया था। सन्त टामस ईसाई धर्म का एक ऐसा प्रचारक था, जिसने भारत में पहलेपहल अपने धर्म का प्रचार किया। गुदफर के सिक्के उत्तर-पश्चिमी भारत में अच्छी बड़ी संख्या में उपलब्ध हुए हैं, और उनसे यह अनुमान किया जाता है, कि उसका राज्य पूर्वी ईरान से पश्चिमी पंजाब तक फैला हुआ था। उत्तर-पश्चिमी भारत के यवन और शक-राज्यों को जीतकर उसने अपने अधीन कर लिया था। निःसन्देह, वह एक बड़े साम्राज्य का अधिपति था।

गुदफर के बाद भारत के पार्थियन राज्य की शक्ति क्षीण होने लग गई। इसका मुख्य कारण यह था, कि इस समय युइशि-जाति ने भारत पर आक्रमण शुरू कर दिये थे। युइशि-जाति का उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। हूणों के आक्रमण के कारण युइशि लोग अपने मूल अभिजन को छोड़कर शकों पर आक्रमण करने के लिये विवश हुए थे, और शक लोगों ने आगे बढ़कर बैक्ट्रिया को जीत लिया था। शकों की एक अन्य शाखा इन्हीं युइशि लोगों से धकेली जाकर पार्थिया के समीप से होती हुई भारत में प्रविष्ट हुई थी। पर शक लोग बैक्ट्रिया में देर तक नहीं टिक सके। युइशियों ने वहां भी उनपर आक्रमण किया, और बैक्ट्रिया को जीतकर वे भारत की तरफ बढ़ आये। युइशि-जाति के इस आक्रमण पर हम अगले एक अध्याय में प्रकाश डालेंगे। पार्थियन लोगों के भारतीय राज्य का अन्त करना इन युइशि-आक्रान्ताओं का ही कार्य था।

भारतीय इतिहास में पार्थियन लोगों को पह्लव कहा गया है। पुराणों में शकों और पह्लवों का नाम प्रायः साथ-साथ आता है। इसका कारण यही है, कि शक लोग पार्थिया होकर ही भारत में प्रविष्ट हुए थे, और यह सर्वथा सम्भव है कि उनकी सेना में पार्थियन सैनिक भी अच्छी बड़ी संख्या में हों। जातीय दृष्टि से भी शकों और पार्थियनों (पह्लवों) में अधिक भेद नहीं था। सम्भवतः पार्थियन लोग भी विशाल शक-जाति की ही एक शाखा थे, जो अपने अन्य जाति-भाइयों से पहले ईरान में प्रविष्ट हो गये थे।

सहायक ग्रन्थ

Smith V. A.: Early History of India.
Cambridge History of India Vol. I.

Ray Chaudhary : Political History of Ancient India.
Dubrouil : Ancient History of Deccan.
Jayaswal : Problems of Saka-Satavahan History (Journal of Bihar & Orissa Research Society. Vol. XVI.)
Tripathi : History of Ancient India.
Pargiter : Dynesties of the Kali Age.
जयचन्द्र विद्यालंकार–भारतीय इतिहास की रूपरेखा भाग २

सत्ताईसवां अध्याय

आन्ध्र-सातवाहन वंश

(१) सातवाहन वंश का अभ्युदय

मौर्य साम्राज्य की शक्ति के क्षीण होने पर प्रतिष्ठान (गोदावरी-तट पर) को राजधानी बनाकर जिस सातवाहन वंश ने अपनी शक्ति का उत्कर्ष प्रारम्भ किया, उसका उल्लेख इस पुस्तक में हम पहले कर चुके हैं। इस वंश का प्रथम राजा सिमुक था, जिसने २१० ई० पू० के लगभग अपने स्वतन्त्र राज्य की नींव डाली थी। पुराणों के अनुसार सिमुक ने कण्व-वंश के अन्तिम राजा सुशर्मा को मारकर मगध के राजसिंहासन पर अपना अधिकार कर लिया था। इसमें तो संन्देह नहीं, कि सातवाहन-वंश के अन्यतम राजा ने कण्व वंश का अन्त कर मगध को अपने साम्राज्य के अन्तर्गत किया था। पर यह राजा सातवाहन वंश का प्रारम्भ करनेवाला सिमुक नहीं था। कण्व वंश का अन्त कर मगध पर अपना आधिपत्य स्थापित करनेवाले सातहवाहन राजा का नाम देने में पौराणिक अनुश्रुति ने अवश्य भूल की है। इसका कारण यह है, कि कलिङ्गराज खारवेल के हाथीगुम्फा-शिलालेख के अनुसार खारवेल सातवाहनवंशी सातकर्णि का समकालीन था, और खारवेल के समय में ही यवनराज दिमित्र (डेमेट्रियस) का भारत पर आक्रमण हुआ था। दिमित्र का आक्रमण कण्व वंश से पहले शुङ्ग वंश के शासन-काल में ही हो चुका था। इसके अतिरिक्त खारवेल और सातकर्णि के समकालीन होने का एक प्रमाण यह भी है, कि हाथीगुम्फा-शिलालेख की ब्राह्मी लिपि और सातकर्णि के शिलालेखों की ब्राह्मी लिपि में सादृश्य है। खारवेल और सातकर्णि के लेख एक ही काल की कृति हैं। जब सातकर्णि और खारवेल समकालीन थे, तो सिमुक को तो उनसे पहले का ही होना चाहिये। पौराणिक अनुश्रुति में कण्व वंश का अन्त करनेवाले सातवाहन राजा का नाम देने में अवश्य भूल हो गई है।

सिमुक का शासन-काल २३ वर्ष था। उसके बाद उसका भाई कृष्ण या कन्ह सातवाहन-राज्य का स्वामी बना। पुराणों के अनुसार उसने १८ वर्ष तक राज्य किया। इन दोनों राजाओं के समय में नासिक के समीपवर्ती प्रदेश सातवाहन-राज्य के अन्तर्गत थे।

राजा सातकर्णि—कृष्ण के बाद उसका लड़का सातकर्णि राजा हुआ। उसने सातवाहन-राज्य का बहुत विस्तार किया। उसका विवाह नागनिका या नायनिका नाम की एक कुमारी क साथ हुआ था, जो एक बड़े महारठी सरदार की दुहिता थी। इस विवाह के कारण सातकर्णि की शक्ति बहुत बढ़ गई, क्योंकि एक प्रबल महारठिसरदार की सहायता उसे प्राप्त हो गई। सातकर्णि के सिक्कों पर उसके श्वशुर अङ्गीयकुलीन महारठि त्रणकयिरो का नाम भी अंकित है। उसे शिलालेखों में दक्षिणापथपति' कहा गया है, और महाराष्ट्र और कर्नाटक के प्रदेश अवश्य ही उसके राज्य के अन्तर्गत थे। कलिङ्गराज खारवेल ने उसकी शक्ति की अवहेलना कर पश्चिम दिशा में आक्रमण किये थे। इससे उसे अपने राज्य को अधिक विस्तृत करने का अवसर नहीं मिल सका था, पर इसमें सन्देह नहीं, कि सातकर्णि प्रबल और शक्तिसम्पन्न राजा थे। पुष्यमित्र शुङ्ग के समान उसने भी दो बार अश्वमेध यज्ञों का अनुष्ठान किया था। सम्भवत: सातकर्णि की मृत्यु शीघ्र ही हो गई थी। इसीलिये उसके बाद रानी नागनिका ने शासन-कार्य का संचालन किया, क्योंकि उसके पुत्र अभी वयस्क नहीं हुए थे। सातकर्णि का शासन केवल दस वर्ष (१७२ से १६२ ई० पू० के लगभग) तक रहा।

(२) सातवाहन राज्य का उत्कर्ष

गौतमीपुत्र सातकर्णि—राजा सातकर्णि के उत्तराधिकारियों के केवल नाम ही पुराणों द्वारा ज्ञात होते हैं। ये नाम पूर्णोत्संग (शासन-काल १८ वर्ष), स्कन्धस्तम्भि (१८ वर्ष), मेघस्वाति (१८ वर्ष) लम्बोदर (१८ वर्ष), और गौतमीपुत्र सातकर्णि (५६ वर्ष) हैं। इनमें गौतमीपुत्र सातकर्णि के सम्बन्ध उसके शिलालेखों से बहुत-कुछ परिचय प्राप्त होता है। यह प्रसिद्ध शक महाक्षत्रप नहपान का समकालीन था, और इसने अपने समीपवर्ती प्रदेशों से शक-शासन का अन्त किया था। नासिक जिले के जोगलथम्बी नामक गांव से सन् १९०६ ई० में १३२५० सिक्कों का एक ढेर प्राप्त हुआ था। ये सब सिक्के शक क्षत्रप नहपान के हैं। इनमें से लगभग दो तिहाई सिक्कों पर गौतमीपुत्र का भी नाम अंकित है, जिससे यह सिद्ध

होता है, कि गौतमीपुत्र सातकर्णि ने नहपान को परास्त कर उसके सिक्कों पर अपनी छाप लगवाई थी। इसमें सन्देह नहीं, कि शकों के उत्कर्ष के कारण पश्चिमी भारत में सातवाहन-राज्य की शक्ति बहुत क्षीण हो गई थी, और बाद में गौतमीपुत्र सातकर्णि ने अपने वंश की शक्ति और गौरव का पुनरुद्धार किया।

गौतमीपुत्र सातकर्णि की माता का नाम गौतमी बालश्री था। उसने नासिक में त्रिरश्मि पर्वत पर एक गुहा दान की थी, जिसकी दीवार पर एक प्रशस्ति उत्कीर्ण है। इस प्रशस्ति द्वारा गौतमी बालश्री के प्रतापी पुत्र के सम्बन्ध में बहुत सी महत्त्वपूर्ण बातें ज्ञात होती हैं। उसमें राजा गौतमी पुत्र सातकर्णि के जो विशेषण दिये गये हैं, उनमें से निम्नलिखित विशेष रूप से ध्यान देने योग्य हैं—"असिक असक मुलक सुरठ कुकुर अपरान्त अनूप विदभ आकर (और) अवन्ति के राजा, बिझ छवत पारिचात सह्य कण्हगिरि मच सिरिटन मलय महिद सेटगिरि चकोर पर्वतों के पति, जिसके शासन को सब राजा लोगों का मंडल मानता था क्षत्रियों के दर्प और मान का मर्दन करनेवाले, सक यवन पह्लवों के निषूदक सातवाहन-कुल के यश के प्रतिष्ठापक, सब मंडलों से अभिवादित-चरण, अनेक समरों में शत्रुसंघ को जीतने वाले, एकशूर, एकब्राह्मण, शत्रुजनों के लिये दुर्धर्ष सुन्दरपुर के स्वामी" आदि।

इस लेख से स्पष्ट है, कि असक (अश्मक), मुलक (मूलक, राजधानी प्रतिष्ठान), सुरठ (सौराष्ट्र), कुकुर (काठियावाड़ के समीप एक प्राचीन गण-जनपद), अपरान्त (कोंकण), अनूप (नर्मदा की घाटी का प्रदेश), विदभ (विदर्भ बरार), आकर (विदिशा का प्रदेश) और अवन्ति गौतमीपुत्र सातकर्णि के साम्राज्य के अन्तर्गत थे। जिन पर्वतों का वह स्वामी था, वे भी उसके साम्राज्य के विस्तार को सूचित करते हैं। विझ (विन्ध्य), छवत (ऋक्षवत् या सातपुड़ा), पारिचात (पश्चिमी विन्ध्याचल), सह्य (सह्याद्रि), कण्हगिरि (कान्हेरी या कृष्णगिरि), सिरिटन (श्री पर्वत), मलय (मलयाद्रि), महिद (महेन्द्र पर्वत) और चकोर (पुराणों में श्री पर्वत के समीप की अन्यतम पर्वतमाला) उसके राज्य के विस्तार पर अच्छा प्रकाश डालते हैं। इस प्रशस्ति से यह निश्चित हो जाता है, कि गौतमीपुत्र सातकर्णि सच्चे अर्थों में दक्षिणापथपति था, और काठियावाड़ महाराष्ट्र और अवंति के प्रदेश अवश्य ही उसके साम्राज्य के अन्तर्गत थे।

गौतमीपुत्र सातकर्णि जो इतने विशाल साम्राज्य का निर्माण कर सका था, उसका प्रधान कारण 'सक यवन पल्हवों' की पराजय थी। शक, यवन और पार्थियन

लोगों ने बाहर से आकर भारत में जो अनेक राज्य कायम कर लिये थे, उनके साथ सातकर्णि ने घोर युद्ध किये, और उन्हें परास्त कर सातवाहन-कुल की शक्ति और गौरव को प्रतिष्ठापित किया । विदेशी शकों की भारत में बढ़ती हुई शक्ति का दमन करना सातकर्णि का ही कार्य था। अवन्ति, अश्मक, सौराष्ट्र आदि जिन अनेक प्रदेशों को सातकर्णि ने अपने अधीन किया था, वे पहले क्षहरात-कुल के शक क्षत्रप नहपान के अधीन थे । शकों को परास्त करके ही सातकर्णि ने इनपर अपना आधिपत्य स्थापित किया था।

गौतमीपुत्र सातकर्णि केइ तिहास पर प्रकाश डालनेवाले अनेक शिलालेख व सिक्के खोज द्वारा प्राप्त हुए हैं। इस प्रतापी राजा से सम्बन्ध रखनेवाली एक जैन-अनुश्रुति का उल्लेख करना भी इस प्रसंग में उपयोगी होगा। जैन-ग्रन्थ आवश्यक सूत्र पर भद्रबाहुस्वामी-विरचित निर्युक्ति नामक टीका में एक पुरानी गाथा दी गई है, जिसके अनुसार भरुकच्छ का राजा नहवाण कोष का बड़ा धनी था। दूसरी ओर प्रतिष्ठान का राजा सालवाहन सेना का धनी था । सालवाहन ने नहवाण पर चढ़ाई की, किन्तु दो वर्ष तक उसकी पुरी को घेरे रहने पर भी वह उसे जीत नहीं सका। भरुकच्छ में कोष की कमी नहीं थी, अतः सालवाहन की सेना का घेरा उसका कुछ नहीं बिगाड़ सका। अब सालवाहन ने कूटनीति का आश्रय लिया। जिस प्रकार मगधराज अजातशत्रु ने कूटनीति द्वारा अपने अमात्य वर्षकार को वज्जिसंघ भेज दिया था, वैसे ही सालवाहन ने अपने एक अमात्य को उससे रुष्ट होने का नाट्य कर उसे निकाल दिया। यह अमात्य भरुकच्छ गया और शीघ्र ही नहवाण का विश्वासपात्र बन गया। उसकी प्रेरणा से नहवाण ने अपना बहुत-सा धन देवमन्दिर, तालाब, बावड़ी आदि बनवाने तथा दान-पुण्य में व्यय कर दिया। अब जब फिर सालवाहन ने भरुकच्छ पर चढ़ाई की, तो नहवाण का कोष खाली था। वह परास्त हो गया, और भरुकच्छ भी सालवाहन के साम्राज्य में शामिल हो गया। शक-क्षत्रप नहवाण (नहपान) के दान-पुण्य का कुछ परिचय उसके जामाता उषवदात के लेखों से हो सकता है। इसके एक लेख का निर्देश हम पहले कर चुके हैं।

जैन-अनुश्रुति के अन्यतम ग्रंथ कालकाचार्य-कथानक के अनुसार जिस राजा विक्रमादित्य ने शकों का संहार किया था, वह प्रतिष्ठान का राजा था। सालवाहन या सातवाहन-वंश की राजधानी भी प्रतिष्ठान ही थी। इस बात को दृष्टि में रखकर श्रीजायसवाल व अन्य अनेक ऐतिहासिकों ने यह स्थापना की है, कि भारत की दन्तकथाओं और प्राचीन साहित्य का शकारि विक्रमादित्य

और सातवाहनवंशी प्रतापी राजा गौतमीपुत्र सातकर्णि एक ही थे, और इस शकनिषूदक राजा का शासन-काल ६६ ई० पू० से ४४ ई० पू० तक था। पुराणों के अनुसार इसने ५६ साल और जैन-अनुश्रुति के अनुसार ५५ साल राज्य किया था। यदि सातवाहन-वंश के प्रथम राजा का शासन-काल २१० ई० पू० के लगभग माना जाय, तो पुराणों की वंशतालिका के अनुसार सातकर्णि का शासन-समय यही बनता है। विक्रमी संवत् का प्रारम्भ ५७ ई० पू० में होता है। यह संवत् शकों की पराजय सदृश महत्त्वपूर्ण घटना की स्मृति में ही प्रारम्भ हुआ था, और अनुश्रुति के अनुसार जिस राजा विक्रमादित्य के साथ इसका सम्बन्ध है, वह यदि गौतमीपुत्र सातकर्णि ही हो, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। पर इससे यह नहीं समझना चाहिये, कि विक्रम-संवत् का प्रारम्भ गौतमीपुत्र सातकर्णि द्वारा किया गया था। इस संवत् का प्रारम्भ मालवगण की स्थिति से हुआ माना जाता है। शक-आक्रान्ताओं ने जिस प्रकार सातवाहन के गौरव को क्षीण किया था, वैसे ही गणराज्यों को भी उन्होंने जीतकर अपने अधीन किया था। शकों की शक्ति के क्षीण होने पर भारत के प्राचीन गणराज्यों का पुनरुत्थान हुआ। शकों की पराजय का श्रेय केवल सातवाहनवंशी सातर्कणि को ही नहीं है। मालव गण के वीर योद्धाओं का भी इस सम्बन्ध में बहुत कर्तृत्व था। उनके गण की पुनःस्थिति से एक नये संवत् का प्रारम्भ हुआ जो बाद में विक्रम-संवत् कहाया। इस सम्बन्ध में हम आगे चलकर विशद रूप से प्रकाश डालेंगे। पर जायसवालजी की यह स्थापना भी बड़े महत्त्व की है, कि गौतमीपुत्र सातर्कणि का ही अन्य नामय ाउपनाम विक्रमादित्य भी था, और वही भारतीय अनुश्रुति का शकारि या शकनिषूदक विक्रमादित्य था। पर यह मत पूर्णतया निर्विवाद नहीं है। सातर्कणि के काल के सम्बन्ध में भी ऐतिहासिकों में मतभेद है। अनेक ऐतिहासिक उसे दूसरी सदी ई० प० का मानते हैं।

(३) मागध-सम्राट् वासिष्ठीपुत्र श्री पुलुमावि

गौतमीपुत्र सातर्कणि के बाद उसका पुत्र वासिष्ठीपुत्र श्री पुलुमावि विशाल सातवाहन-साम्राज्य का स्वामी बना। उसका शासन-काल ४४ ई० पू० के लगभग शुरू हुआ। पुराणों में उसे पुलोमावि और पुलुमावि नामों से लिखा गया है, और उसका शासन-काल ३६ वर्ष बताया गया है। उसके समय में सातवाहन-राज्य की और भी अधिक वृद्धि हुई। उसने पूर्व और दक्षिण में आन्ध्र

तथा चोल देश की विजय की। उसके सिक्के सुदूर दक्षिण में भी अनेक स्थानों पर उपलब्ध हुए हैं। चोल-मण्डल के तट से पुलुमावि के जो सिक्के मिले हैं, उन पर दो मस्तूलवाले जहाज का चित्र बना है। इससे सूचित होता है, कि सूदूर दक्षिण में जारी करने के लिये जो सिक्के उसने बनवाये थे, वे उसकी सामुद्रिक शक्ति को भी सूचित करते थे। आन्ध्र और चोल के समुद्र-तट पर अधिकार हो जाने के कारण सातवाहन-राजाओं की सामुद्रिक शक्ति भी बहुत बढ़ गई थी, और इसीलिये जहाज के चित्रवाले ये सिक्के प्रचलित किये गये थे। इस युग में भारत के निवासी समुद्र पार करके अपने उपनिवेश स्थापित करने में तत्पर थे, और पूर्वी एशिया के अनेक क्षेत्रों में भारतीय बस्तियों का सूत्रपात हो रहा था।

मगध की विजय—पुराणों के अनुसार अन्तिम कण्व-राजा सुशर्मा को मारकर आंध्र-वंश के राजा सिमुक ने मगध पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया था। जिसे पुराणों में आन्ध्र-वंश कहा गया है, वही शिलालेखों का सातवाहन वंश है, यह पहले लिखा जा चुका है। कण्व वंश के शासन का अन्त सिमुक द्वारा नहीं हुआ था, इसका उल्लेख भी हम पहले कर चुके है। कण्ववंशी सुशर्मा का शासन-काल ३८ से २८ ई० पू० तक था। सातवाहन-वंश के जिस तिथिक्रम का हम इस इतिहास में प्रयोग कर रहे है, उसके अनुसार इस काल में सातवाहन-वंश का राजा का वासिष्ठीपुत्र श्री पुलुमावि ही था। अतः कण्व-वंश का अन्त कर मगध को अपनी अधीनता में लानेवाला सातवाहन राजा पुलुमावि ही होना चाहिये। इसमें सन्देह नहीं, कि आन्ध्र या सातवाहन साम्राज्य में मगध भी सम्मिलित हो गया था, और उसके राजा दक्षिणापथपति न रहकर उत्तरापथ के भी स्वामी बन गये थे। गौतमीपुत्र सातकर्णि के समय सातवाहन-वंश के जिस उत्कर्ष का प्रारम्भ हुआ था, अब उसके पुत्र पुलुमावि के समय में वह उन्नति की चरम सीमा को पहुँच गया था। किसी समय जो स्थिति प्रतापी मौर्य व शुङ्ग-सम्राटों की थी, वही अब सातवाहन-सम्राटों की हो गई थी।

(४) अन्य सातवाहन राजा

वासिष्ठीपुत्र श्रीपुलुमावि के बाद कृष्ण द्वितीय सातवाहन साम्राज्य का स्वामी हुआ। इसने कुल २५ वर्ष तक (८ ई० पू० से १६ ई० प० तक) राज्य किया। उसके बाद हाल राजा हुआ। प्राकृत भाषा के साहित्य में इस राजा हाल का बड़ा महत्त्व है। वह प्राकृत भाषा का उत्कृष्ट कवि था, और अनेक

कवि व लेखक उसके आश्रय में रहते थे। हाल की लिखी हुई गाथासप्तशती प्राकृत भाषा की एक प्रसिद्ध पुस्तक है। राजा हाल का दरबार साहित्य और संस्कृति का बड़ा आश्रयस्थान था। इसके संरक्षण और प्रोत्साहन से प्राकृत साहित्य की बड़ी उन्नति हुई। प्राकृत भाषा का प्रसिद्ध ग्रंथ 'बृहत्कथा' भी इसी समय के लगभग लिखा गया।

हाल के बाद क्रमशः पत्तलक, पुरिकसेन, स्वाति और स्कंदस्याति सातवाहन-साम्राज्य के राजा हुए। इन चारों का शासन-काल कुल ५१ वर्ष था। राजा हाल ने १६ ई० से शुरू कर २१ ईस्वी तक चार साल राज्य किया था। स्कंदस्याति के शासन का अंत ७२ ई० में हुआ। इन राजाओं के समय की कोई ऐतिहासिक घटना हमें ज्ञात नहीं है। पर इतना निश्चित है, कि इनके समय में सातवाहन-साम्राज्य अक्षुण्ण रूप में बना रहा। स्कंदस्याति के बाद महेन्द्र सातर्कणि राजा बना। 'परिप्लस आफ एरिथ्रियन सी' के ग्रीक लेखक ने इसी महेन्द्र को मंबर के नाम से सूचित किया है। प्राचीन पाश्चात्य संसार के इस भौगोलिक यात्रा-ग्रंथ में भरुकच्छ के बंदरगाह से शुरू करके मंबर द्वारा शासित आर्यदेश का उल्लेख मिलता है।

विदेशी आक्रमण—महेन्द्र सातर्कणि के बाद कुन्तल सातर्कणि (७५ ई० से ८३ ई० तक) राजा बना। इसके समय में फिर विदेशियों के आक्रमण भारत में प्रारम्भ हो गये। जिन युइशि लोगों के आक्रमणों से शक लोग सीर नदी की घाटी के अपने पुराने निवास-स्थान को छोड़कर आगे बढ़ने के लिये विवश हुए थे, वे ही कालांतर में हिन्दूकुश के पश्चिम में प्राचीन कंबोज-जनपद में बस गये थे। वहां के यवन निवासियों के सम्पर्क से युइशि लोग भी धीरे-धीरे सभ्य हो गये थे और उन्नति के मार्ग पर बढ़ने लगे थे। जिस समय राजा वासिष्ठीपुत्र पुलुमावि ने कण्व-वंश का अंत कर मगध पर विजय की, लगभग उसी समय इन युइशियों में एक वीर पुरुष का उत्कर्ष हुआ, जिसका नाम कुशाण था। इस समय तक युइशियों के पांच छोटे-छोटे जनपद थे; कुशाण ने उन सबको जीतकर एक सूत्र में संगठित किया और एक शक्तिशाली युइशि-राज्य की नींव डाली। युइशियों को संगठित करके ही कुशाण संतुष्ट नहीं हुआ, धीरे-धीरे उसने अफगानिस्तान और तक्षशिला तक गान्धार-राज्य को भी जीतकर अपने अधीन कर लिया।

कुशाण के बाद उसका पुत्र विम युइशि-साम्राज्य का स्वामी बना। वह ३५ ईस्वी के लगभग राजगद्दी पर बैठा था। उसने युइशि-साम्राज्य को और

विस्तृत किया। पंजाब को अपने अधीन कर उसने मथुरा पर आक्रमण किया। मथुरा परास्त हो गया। उत्तर-पश्चिमी भारत सातवाहनों के साम्राज्य से निकलकर युइशि या कुशाण-साम्राज्य के अधीन हो गया। विम ने यह राज्य-विस्तार उस समय में किया, जब कि उज्जैनी के राजसिंहासन पर राजा हाल के उत्तराधिकारी, जिनके हमें केवल नाम ही उपलब्ध होते हैं, विराजमान थे। संभवत: ये राजा इतने प्रतापी नहीं थे, कि विम की प्रतापी सेनाओं का सामना कर सकते। परिणाम यह हुआ कि सातवाहन-साम्राज्य का क्षय और कुशाणों के उत्कर्ष का प्रारम्भ हुआ। विम स्वयं हिंदुकुश के उत्तर-पश्चिम में कंबोज देश में रहता था, भारत के जीते हुए प्रदेश में उसके क्षत्रप राज्य करते थे। इन युइशि व कुशाण विजेताओं पर हम अगले अध्याय में विशद रूप में प्रकाश डालेंगे।

शकारि विक्रमादित्य द्वितीय—युइशि लोग शकों से भिन्न थे। पर भारत की प्राचीन ऐतिहासिक अनुश्रुति में उन्हें स्थूल रूप से शक ही कह दिया गया है। सातवाहन राजाओं ने देर तक 'शकों' के इन नवीन आक्रमणों को सहन नहीं किया। शीघ्र ही उनमें एक द्वितीय विक्रमादित्य का प्रादुर्भाव हुआ, जिसने कि इन अभिनव शकों को परास्त कर दूसरी बार 'शकारि' की उपाधि ग्रहण की। इस प्रतापशाली राजा का नाम कुन्तल सातकर्णि था। इसने मुलतान के समीप युइशि-राजा विम की सेनाओं को परास्त कर एक बार फिर सातवाहन-साम्राज्य का गौरव बढ़ाया।

विक्रमादित्य द्वितीय बड़ा प्रतापी राजा था। उसकी रानी का नाम मलयवती था। वात्स्यायन के कामसूत्र में उसका उल्लेख आता है। कुंतल सातकर्णि (विक्रमादित्य द्वितीय) के राजदरबार में गुणाढ्य नाम का प्रसिद्ध लेखक व कवि रहता था, जिसने प्राकृत भाषा का प्रसिद्ध ग्रंथ वृहत्कथा लिखा था। सातवाहन-राजा प्राकृत भाषा बोलते थे, पर कुंतल सातकर्णि की रानी मलयवती की भाषा संस्कृत थी। राजा सातकर्णि उसे भलीभांति समझ नहीं सकता था। परिणाम यह हुआ, कि उसने संस्कृत सीखनी प्रारभ की, और उसके अमात्य सर्ववर्मा ने सरल रीति से संस्कृत सिखाने के लिये कातन्त्र व्याकरण की रचना की। इस व्याकरण से राजा विक्रमादित्य इतना प्रसन्न हुआ, कि उसने पुरस्कार के रूप में भरुकच्छ प्रदेश का शासन सर्ववर्मा को दे दिया।

गुणाढ्यलिखित बृहत्कथा इस समय उपलब्ध नहीं होती पर सोमदेव द्वारा किया हुआ उसका संस्कृत रूपांतर 'कथासरित्सागर' इस समय प्राप्तव्य है। यह वृहत्कथा का अक्षरानुवाद न होकर साररूप से अनुवाद है। कथासरित्सागर

प्राचीन संस्कृत-साहित्य का एक अनुपम रत्न है। जिसमें प्राचीन समय की बहुत-सी कथायें संगृहीत हैं। वृहत्कथा के आधार पर लिखा हुआ एक और ग्रंथ क्षेमेंद्र-विरचित वृहत्कथामंजरी भी इस समय उपलब्ध है। वृहत्कथा का एक तामिल अनुवाद दक्षिण भारत में भी मिलता है। कथासरित्सागर और वृहत्कथामंजरी के लेखक काश्मीर के निवासी थे, और सोमदेव ने अपना ग्रंथ काश्मीर की रानी सूर्यमती की प्रेरणा से लिखा था। इस प्रकार सातवाहन-सम्राट् के आश्रय में कवि गुणाढ्य द्वारा लिखी गई बृहत्कथा उत्तर में काश्मीर से लगाकर दक्षिण में तामिल-संस्कृति के केंद्र मदुरा तक प्रचलित हो गई। यह सातवाहन-साम्राज्य के वैभव का ही परिणाम था, कि उसके केंद्र में लिखी गई इस वृहत्कथा की कीर्ति सारे भारत में विस्तीर्ण हुई।

गुणाढ्यरचित बृहत्कथा के आधार पर लिखे गये संस्कृत-ग्रंथ कथासरित्सागर के अनुसार विक्रमादित्य द्वितीय का साम्राज्य संपूर्ण दक्षिण काठियावाड़, मध्यप्रदेश, बंग, अंग और कलिंग तक विस्तृत था, तथा उत्तर के सब राजा, यहां तक कि काश्मीर के राजा भी उसके करद थे। अनेक दुर्गों को जीतकर म्लेच्छों (शक व युइशि) का उसने संहार किया था। म्लेच्छों के संहार के बाद उज्जैनी में एक बड़ा उत्सव किया गया, जिसमें गौड़, कर्नाटक, लाट, काश्मीर सिन्ध आदि के अधीनस्थ राजा सम्मिलित हुए। विक्रमादित्य का एक बहुत शानदार जलूस निकला, जिसमें इन सब राजाओं ने भाग लिया।

इस प्रकार कुंतल सातकर्णि एक बड़ा प्रतापी राजा हुआ। युइशियों को परास्त कर उसने प्रायः सारे भारत में एक अखण्ड साम्राज्य कायम रखा।

कुंतल सातकर्णि के बाद सुंदर सातकर्णि ने एक वर्ष और फिर वासिष्ठीपुत्र पुलोमावि द्वितीय ने चार वर्ष तक राज्य किया। इनके शासन-काल की कोई घटना हमें ज्ञात नहीं है। संभवतः इनके समय में सातवाहन-साम्राज्य की शक्ति क्षीण होनी आरंभ हो गई थी, और उसके दिगन्त में विपत्ति के बादल फिर घिरने शुरू हो गये थे। इन राजाओं ने बहुत थोड़े समय तक राज्य किया। इससे यह भी सूचित होता है, कि इस समय सातवाहन राजकुल की आन्तरिक दशा भी बहुत सुरक्षित नहीं थी।

विक्रमादित्य द्वितीय ने विजेता विम को परास्त तो कर दिया था, पर सातवाहन-वंश की स्थिति देर तक सुरक्षित नहीं रह सकी। युइशि-साम्राज्य में विम का उत्तराधिकारी कनिष्क था, जो बड़ा प्रतापी और महत्त्वाकांक्षी राजा था। उसने युइशि-शक्ति को पुनः संगठित कर सातवाहन-साम्राज्य पर आक्रमण

किया। सातवाहनों को परास्त कर कनिष्क ने किस प्रकार भारत में अपने विशाल साम्राज्य की स्थापना की, इस पर हम अगले अध्याय में प्रकाश डालेंगे ।

(५) उज्जैन का शक कुल

जिस समय उत्तर-पश्चिमी भारत पर आक्रमण कर कुशाण राजा सातवाहन-साम्राज्य को खण्ड-खण्ड करने में तत्पर थे, इधर उज्जैन में शक लोगों ने अपनी शक्ति का पुनरुत्थान किया। सातवाहन-सम्राटों ने ही शकों की शक्ति का नाश किया था। युइशि व कुशाणों के आक्रमणों के कारण उन्हें अपने उत्कर्ष का सुअवसर हाथ लग गया, और उन्होंने सातवाहन-साम्राज्य की निर्बलता व विपत्ति से लाभ उठाकर अपनी शक्ति का पुनरुद्धार किया । इस नई शक-शक्ति का संस्थापक चष्टन था। उसने दूसरी सदी ई० प० के प्रारम्भिक भाग में (११० ई० प० के लगभग) अवन्ति में अपने राज्य की स्थापना की। कच्छ में अन्धों नामक स्थान पर चार ऐसे उत्कीर्ण लेख उपलब्ध हुए हैं, जिनमें चष्टन के साथ राजा शब्द का (रोञो चाष्टनस) प्रयोग किया गया है । इससे सूचित होता है, कि चष्टन की स्थिति एक स्वतंत्र राजा की थी ।

युइशि लोगों के आक्रमणों के कारण यद्यपि चष्टन अवन्ति में स्वतन्त्र शक-राज्य स्थापित करने में समर्थ हुआ था, पर इस राज्य की सत्ता देर तक कायम नहीं रह सकी। शीघ्र ही सातवाहन-राजा ने उसे जीत लिया, और शक-राज्य की स्वतन्त्र सत्ता नष्ट हो गई। जिस वीर सातवाहन-राजा ने चष्टन या उसके पुत्र जयदामन को जीतकर अपने वंश के गौरव की पुनः प्रतिष्ठा की थी, उसका नाम सम्भवतः गौतमीपुत्र पुलोमावि तृतीय या गौतमीपुत्र विलिवायुकर था। जायसवालजी ने इसका शासन-काल ११६ से १४४ ई० प० तक माना है ।

राजा रुद्रदामा—पर शीघ्र ही शकों में एक ऐसे वीर पुरुष का प्रादुर्भाव हुआ, जिसने शकों की शक्ति का पुनरुद्धार किया । इस वीर पुरुष का नाम रुद्रदामा था, जो चष्टन का पौत्र व जयदामन का पुत्र था । रुद्रदामा की एक प्रशस्ति गिरनार पर्वत के पास सुदर्शन झील के तट पर स्थित चट्टान पर उत्कीर्ण है, जिससे उसके इतिहास के सम्बन्ध में बहुत-सी महत्त्वपूर्ण बातें ज्ञात होती हैं। यह प्रशस्ति शुद्ध संस्कृत भाषा में है, और प्राचीन संस्कृत गद्य का उत्कृष्ट उदाहरण है । सुदर्शन झील का निर्माण मौर्य-युग में हुआ था। अत्यधिक वर्षा के कारण इस झील का बांध टूट गया था, और रुद्रदामा ने उसकी मरम्मत कराई थी। इसी घटना की स्मृति में रुद्रदामा ने यह प्रशस्ति उसी शिला पर

उत्कीर्ण कराई थी, जिसपर अशोक के चतुर्दश शिलालेख उत्कीर्ण थे। इस प्रशस्ति के कुछ अंश हम यहां उद्धृत करते हैं—"यह राजा महाक्षत्रप सुगृहीत नामा स्वामिचष्टन के पोते...........महाक्षत्रप रुद्रदामा के बहत्तरवें (७०+२) वर्ष में.......समुदित राजलक्ष्मी के धारण के गुण के कारण सब वर्णों के द्वारा रक्षण के लिये स्वामी रूप में वरण किये गये, युद्ध के अतिरिक्त मरते दम तक कभी पुरुष का वध न करने की अपनी प्रतिज्ञा को सत्य कर दिखानेवाले,........अपने आप शरण में आये झुके जनपद को आयु और शरण देनेवाले,....अवंति अनूप नीवृत आनर्त्त सुराष्ट्र श्वभ्र मरु कच्छ सिन्धु सौवीर कुकुर अपरान्त निषाद आदि सब प्रदेशों के स्वामी, सब क्षत्रियों में प्रगट की हुई वीर पदवी के कारण अभिमानी बने हुए और किसी तरह वश में न आनेवाले यौधेयों को बलपूर्वक उखाड़ फेंकने-वाले, दक्षिणापथपति सातकर्णि को दो बार खुली लड़ाई में जीतकर भी निकट सम्बन्ध के कारण न उखाड़ने से यश प्राप्त करनेवाले.....अपने आप पाये महाक्षत्रप नामवाले, राज-कन्याओं के स्वयंवरों में अनेक मालायें पानेवाले महाक्षत्रप रुद्रदामा ने हजारों वर्षों के लिये.........पौर जानपद जन को कर विष्टि प्रणय आदि से पीड़ित किये बिना, अपने ही कोश से विपुल धन लगाकर थोड़े ही काल में तीन गुना दृढ़तर लम्बाई-चौड़ाईवाला सेतु बनवाकर सब ओर पहले से सुदर्शनतर कर दिया........."

इस प्रशस्ति द्वारा अनेक महत्त्वपूर्ण बातें ज्ञात होती हैं। दक्षिणापथपति सातकर्णि और रुद्रदामा निकट सम्बन्धी थे। कान्हेरी गुहा के एक खंडित लेख में वासिष्ठीपुत्र श्री सातकर्णि की देवी कार्दमक राजाओं के वंश में उत्पन्न महाक्षत्रप रु.......की पुत्री का नाम आया है। दुर्भाग्य से रु के आगे का लेख खण्डित है। पर रु का अभिप्राय रुद्रदामा से है, इसमें सन्देह की गुन्जाइश नहीं है। इससे ज्ञात होता है, कि वासिष्ठीपुत्र श्रीसातकर्णि रुद्रदामा का जामाता था, और इसी कारण युद्ध में दो बार परास्त करके भी उसके सातवाहन राजा का उच्छेद नहीं किया था। यह वासिष्ठीपुत्र श्रीसातकर्णि सम्भवतः गौतमीपुत्र पुलुमावी तृतीय का पुत्र था, जिसने अवन्ति से शक-शासन का अन्त करने में सफलता प्राप्त की थी। विजेता राजा के साथ विजित राजा अपनी कन्या का विवाह प्राचीन समय में किया करते थे, यह सैल्युकस की कन्या के चन्द्रगुप्त मौर्य के साथ विवाह होने की बात से स्पष्ट है। सम्भवतः शकों को परास्त कर सातवाहन-राजा गौतमीपुत्र पुलुमावी तृतीय ने उन्हें इस बात के लिये विवश किया था, कि अपनी एक राजकुमारी का विवाह अपने पुत्र वासिष्ठीपुत्र

सातकर्णि के साथ कर दें। पर बाद में शकवीर रुद्रदामा ने अपनी शक्ति का उत्कर्ष किया, और अपने जामाता को दो बार युद्ध में परास्त कर अपने साम्राज्य का विस्तार किया।

रुद्रदामा जिन प्रदेशों का अधिपति था, उनके नाम गिरनार की प्रशस्ति में स्पष्ट रूप से दिये गये हैं। इनमें से बहुसंख्यक प्रदेश पहले सातवाहन-साम्राज्य के अन्तर्गत थे। अवन्ति अनूप आनर्त्त सौराष्ट्र मरु (मारवाड़) कच्छ सिन्ध (सिन्धु) कुकुर और अपरान्त पहले सातवाहनों के अधीन थे, और अब रुद्रदामा ने उन्हें जीतकर अपने साम्राज्य के अन्तर्गत कर लिया था। रुद्रदामा ने यौधेय गण को जीतकर एक ऐसी वीर जाति की स्वतन्त्रता को नष्ट किया जो देर से अपनी स्वतन्त्रता को कायम रखे हुई थी। इस गण का उल्लेख हम इतिहास में पहले कर चुके हैं। इसमें सन्देह नही, कि रुद्रदामा एक महान् विजेता था, और उसकी विजयों के कारण सातवाहन-वंश की शक्ति बहुत क्षीण हो गई थी।

एक ओर कुशाण-विजेता कनिष्क के आक्रमणों से और दूसरी ओर रुद्रदामा के उत्कर्ष के कारण सातवाहन-साम्राज्य अब बिल्कुल निर्बल पड़ गया था। पर वासिष्ठीपुत्र श्रीसातकर्णि के बाद भी इस वंश के कुछ राजाओं की सत्ता कायम रही। सम्भवत:,वे स्थानीय राजाओं के स्थिति में शासन करते रहे। पर सातवाहन वंश के इन अन्तिम राजाओं का भारतीय इतिहास में कोई महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं है।

रुद्रदामा के बाद उसका शक-राज्य भी निर्बल हो गया। वस्तुत: इस युग में भारत की राजशक्ति प्रधानतया कुशाण-सम्राट् कनिष्क के हाथो में आ गई थी, और वह भारत में अपना विशाल साम्राज्य स्थापित करने में समर्थ हुआ था।

सहायक ग्रंथ

Smith V. A. : Early History of India.
Tripathi : History of Ancient India.
Dubrouil : Ancient History of Deccan.
Jayaswal : Problems of Saka Satavahan Dynesty (Journal of Bihar & Orissa Research Society XVI).
Ray Chaudhry : Political History of Ancient India.
Cambridge History of India Vol. I.
जयचन्द्र विद्यालंकार—भारतीय इतिहास की रूपरेखा भाग२

अठाईसवां अध्याय

कुशाण-साम्राज्य

(१) युइशि-जाति का भारत-प्रवेश

इस इतिहास में हम अनेक बार युइशि-जाति का जिक्र कर चुके हैं। हूणों के आक्रमण के कारण युइशि लोग अपने प्राचीन अभिजन को छोड़कर अन्यत्र जाने के लिये विवश हुए थे, और इसी-लिये मध्य एशिया के क्षेत्र में निवास करनेवाली विविध जातियों में एक प्रकार की उथल-पुथल मच गई थी। युइशि-जाति का मूल अभिजन तिब्बत के उत्तर-पश्चिम में तकला मकान की मरुभूमि के दक्षिण में था। उस समय हूण लोग उत्तरी चीन में निवास करते थे। जब चीन के शक्तिशाली सम्राट् शी-हुआंग-ती (२४६-२१० ई० पू०) ने उत्तरी चीन में विशाल दीवार बनवा-कर हूणों के लिये अपने राज्य पर आक्रमण कर सकना असम्भव बना दिया, तो हूण लोग पश्चिम की ओर बढ़े, और उस प्रदेश पर टूट पड़े, जहा युइशि-जाति का निवास था। युइशि लोगों के लिये यह सम्भव नहीं था, कि वे बर्बर और प्रचण्दड हूण आक्रान्ताओं का मुकाबला कर सकते वे अपने अभिजन को छोडकर पश्चिम व दक्षिण की ओर जाने के लिये विवश हुए। उस समय सीर नदी की घाटी में शक-जाति का निवास था। युइशि लोगों के आक्रमण के कारण वे अपने प्रदेश को छोड़ देने के लिये विवश हुए, और सीर नदी की घाटी पर युइशि-जाति का अधिकार हो गया। युइशियों से धकेले जाकर ही शकों ने बैक्ट्रिया और पार्थिया पर आक्रमण किये और उनकी एक शाखा भारत में भी प्रविष्ट हुई। शकों द्वारा बैक्ट्रिया के यवन-राज्य का अन्त हुआ, और पार्थिया भी उनकी अधीनता में आजाता, यदि राजा मिथ्रिदातस द्वितीय उनके आक्रमणों से अपने राज्य की रक्षा करने में समर्थ न होता। पार्थिया को जीत सकने में समर्थ न होने के कारण ही शकों की एक शाखा सीस्तान होती हुई सिन्ध में प्रविष्ट हुई थी।

युइशि-जाति का बैक्ट्रिया में प्रवेश——सीर नदी की घाटी से शकों को निकालकर युइशि लोग वहां पर आबाद हो गये थे। पर वे वहां भी देर तक नहीं टिक सके। जिन हूणों के आक्रमण के कारण युइशि लोग अपने मूल अभिजन को छोड़ने के लिये विवश हुए थे, उन्होंने उन्हें सीर नदी की घाटी में भी चैन से नहीं रहने दिया। हूणों ने यहां भी उनका पीछा किया, और वे शकों के पीछे-पीछे बैक्ट्रिया में प्रविष्ट हुए। बैक्ट्रिया और उसके समीपवर्ती प्रदेशों पर उन्होंने कब्जा कर लिया, और वहां अपने पांच राज्य कायम किये। एक चीनी ऐतिहासिक के अनुसार युइशि-जाति के इन राज्यों के नाम निम्नलिखित थे——हिउ-मी, शुआंग-मी, कुएई-शुआंग, ही-तू और काओ-फू। पहली सदी ई० पू० से पूर्व ही युइशि लोग अपने ये पांच राज्य स्थाति कर चुके थे। इन राज्यों में परस्पर संघर्ष चलता रहता था। बैक्ट्रिया के यवन निवासियों के सम्पर्क में आकर युइशि लोग सभ्यता के मार्ग पर भी अग्रसर होने लगे थे, और वे उस दशा से उन्नति कर गये थे, जिसमें कि वे तकलामकान की मरुभूमि के समीपवर्ती अपने मूल अभिजन में रहते हुए थे।

कुशाण——युइशि लोगों के पांच राज्यों में अन्यतम का नाम कुएई-शुआंग था। २५ ई० पू० के लगभग इस राज्य का स्वामी कुशाण नाम का वीर पुरुष हुआ, जिसके शासन में इस राज्य की बहुत उन्नति हुई। उसने धीरे-धीरे अन्य युइशि राज्यों को जीतकर अपने अधीन कर लिया। वह केवल युइशि राज्यों को जीतकर ही संतुष्ट नहीं हुआ, अपितु उसने समीप के पार्थियन और शक-राज्यों पर भी आक्रमण किये।

अनेक ऐतिहासिकों का मत है, कि कुशाण किसी व्यक्ति-विशेष का नाम नहीं था। यह नाम युइशि-जाति की उस शाखा का था, जिसने अन्य चारों युइशि राज्यों को जीतकर अपने अधीन कर लिया था। जिसे चीनी ऐतिहासिकों ने कुएई-शुआंग लिखा है, उसी का युइशि नाम कुशाण था। कुएई-शुआंग और कुशाण में समता भी है। इसीलिये ये ऐतिहासिक कुशाण को राजा का नाम न मानकर युइशियों की अन्यतम शाखा या अन्यतम राज्य का नाम मानते हैं। इन ऐतिहासिकों के अनुसार जिस राजा ने पांचों युइशि-राज्यों को मिलाकर अपनी शक्ति का उत्कर्ष किया, उसका अपना नाम कुजुल कसस या कुजुल कदफिसस था। इस राजा के जो सिक्के उपलब्ध हुए हैं, उनपर जो अनेक प्रकार के लेख अंकित हैं, उनमें से कुछ इस प्रकार हैं——'कुजुल कसस कुषण 'यवुगस ध्रमथिदस' 'कुयुल कउस कुषणस' 'खुषणस' यउअस कुयुल कफसस

सचध्रमथितस' आदि । जायसवालजी का मत है कि इस राजा का वैयक्तिक नाम कुषाण या कुषण था, और कुजुल या कुयुल आदि उसके विशेषण थे । कुजुल एक पदवी थी, जो शक-राजाओं व क्षत्रपों के नाम के साथ भी लगती थी । तक्षशिला में उपलब्ध एक ताम्रपत्र का हम पहले उल्लेख कर चुके हैं, जिसमें शक-महाराज मोग के शासन-काल का जिक्र है । इस ताम्रपत्र में शक-क्षत्रप लिअक के साथ यह पदवी लगाई गई है । पर्याप्त प्रमाण के अभाव में यह निश्चित कर सकना कठिन है, कि जिस युइशि-वीर ने अपनी जाति के विविध राज्यों को जीतकर एक सूत्र में संगठित किया, उसका वैयक्तिक नाम कुशाण था या कुजुल था । यह विवाद विशेष महत्त्व का भी नहीं है । यह बात असंदिग्ध है, कि बाद के युइशि-राजा भी कुशाणवंशी थे । राजा कुशाण के वंशज होने के कारण वे कुशाण कहाये, या युइशि-जाति की कुशाण शाखा में उत्पन्न होने के कारण—यह निश्चित न होने पर भी इसमें सन्देह नहीं कि ये राजा कुशाण कहाते थे और उनके द्वारा स्थापित साम्राज्य को कुशाण-साम्राज्य कहा जाता है ।

राजा कुजुल कुशाण ने किस प्रकार धीरे-धीरे अपनी शक्ति का विकास किया, यह बात उसके उन सिक्कों द्वारा भलीभांति प्रगट हो जाती है, जो काबुल व भारत के उत्तर-पश्चिमी कोने से अच्छी बड़ी संख्या में उपलब्ध हुए हैं । उसके कुछ सिक्के ऐसे हैं, जिनके एक ओर हेरमय अंकित है, और दूसरी तरफ इस राजा का नाम । हेरमय या हरमाओस यवन-राजा था, जो काबुल के प्रदेश पर शासन करता था । एक ही सिक्के पर यवन-राज हेरमय और कुजुल कुशाण दोनों का नाम होने से ऐतिहासिकों के यह परिणाम निकाला है, कि प्रारम्भ में युइशि-आक्रान्ताओं ने काबुल के प्रदेश से यवन-राजवंश का अन्त नहीं किया था, वे केवल उनसे अधीनता स्वीकृत कराके संतुष्ट हो गये थे । कुशाण-राजा के काबुल के प्रदेश से इस प्रकार के भी सिक्के मिले हैं, जिसपर केवल उसी का नाम है, यवनराज हेरमय का नहीं । इससे यह सूचित होता है, कि बाद में इस प्रदेश से यवन-शासन का अन्त हो गया था और वहां का शासन पूर्णतया युइशि-राजवंश के हाथ में आ गया था ।

इसी समय पार्थियन लोग भी उत्तर-पश्चिमी भारत में अपनी शक्ति का विस्तार कर रहे थे । कन्धार और सीस्तान में अपना शासन स्थापित कर वे काबुल की ओर बढ़े और उनके राजा अय ने इस प्रदेश पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया । यवनराज हेरमय या हरमाओस के शासन का अन्त उसी ने किया । पार्थियन

उत्कर्ष के समय युइशि-राजा कुजुल कुशाण ने उसका विरोध करना उचित नहीं समझा, और काबुल के परे के अपने राज्य से ही वह संतुष्ट रहा। राजा अय का पार्थियन उत्तराधिकारी गोडोफोरस या गुदफर था। यह भी शक्तिशाली राजा था। पूर्वी गान्धार (तक्षशिला) और पश्चिमी गान्धार (पुष्करावती) दोनों उसके अधीन थे। उसके समय में भी युइशि-राजा कुजुल कुशाण ने भारत की ओर अग्रसर होने का प्रयत्न नही किया। पर गुदफर के उत्तराधिकारी पार्थियन राजा अधिक शक्तिशाली नहीं थे। उनकी निर्बलता से लाभ उठाकर राजा कुशाण ने पार्थियन लोगों के भारतीय राज्य पर आक्रमण कर दिया, और उसके अनेक प्रदेशों को जीतकर अपने अधीन कर लिया। यद्यपि कुछ निर्बल पार्थियन राजा गुरफर के बाद भी पश्चिमी पंजाब के कतिपय प्रदेशों पर शासन करते रहे, पर इस समय उत्तर-पश्चिमी भारत की राजशक्ति कुशाणों के हाथ में चली गई थी।

राजा कुजुल कुशाण के शुरू के सिक्के जो काबुल के प्रदेश में मिले है, उनमें उसके नाम के साथ न राजा विशेषण है, और न कोई ऐसा विशेषण जो उसकी प्रबल शक्ति का सूचक हो। पर बाद के जो सिक्के तक्षशिला में मिले हैं,उनमें उसका नाम इस प्रकार से अंकित है—"महरजस रजतिरजस खुषणस यवुगस" और "महरयस रयरयस देवपुत्रस कुयुल कर कफस" आदि इन सिक्को के अनुशीलन से इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता, कि काबुल कान्धार उत्तर-पश्चिम पंजाब प्रदेशों को पार्थियन राजाओं से जीत लेने के बाद उसकी स्थिति बहुत ऊँची हो गई थी, और वह महाराज, राजाधिराज आदि उपाधियों से विभूषित हो गया था। शुरूमें कुजुल कुशाण एक छोटे-से राज्य का स्वामी था, पर बाद में उसका साम्राज्य तक्षशिला (पूर्वी गान्धार) तक विस्तृत हो गया था। उसके नाम के साथ देवपुत्र विशेषण से यह भी सूचित होता है, कि भारत के सम्पर्क में आकर उसने बौद्ध-धर्म को स्वीकृत कर लिया था। उसके कुछ सिक्कों पर उसके नाम के साथ ध्रमथिद विशेषण भी प्रयुक्त हुआ है, जो धर्मस्थित का अपभ्रंश है।

कुजुल कुशाण ने सुदीर्घ समय तक राज्य किया। उसकी मृत्यु अस्सी साल की आयु में हुई थी। इसीलिये वह अपने शासन-काल में एक छोटे-से राजा से उन्नति करता हुआ एक विशाल साम्राज्य का स्वामी हो गया। अपने राज्य-काल में उसने वह समय भी देखा, जब काबुल के प्रदेश में यवनराजा हेरमय उसके अधीनस्थ रूप में शासन करता था। पार्थियन सम्राट् अय और गुदफर का उत्कर्ष काल भी उसने देखा, जब कि इन पार्थियन राजाओं ने काबुल के प्रदेश से यवन-शासन

का अन्त कर अफगानिस्तान और उत्तर-पश्चिमी भारत पर अपना अ धिपत्य स्थापित कर लिया था। अपनी वृद्धावस्था में महाप्रतापी युइशि-राजा कुजुल कुशाण ने पार्थियन शासन का अन्त कर अपने साम्राज्य को तक्षशिला तक विस्तीर्ण कर लिया था। इस राजा के शासन के समय के सम्बन्ध में भी ऐतिहासिकों में अनेक मत हैं। स्थूल रूप से यह स्वीकार करना उचित होगा, कि कुजुल कुशाण का शासन-काल पहली सदी ई० पू० चतुर्थ चरण (२५ई० पू०के लगभग) में शुरू हुआ, और पहलीसदी ई० प० द्वितीय चरण (३५ ई० प० लगभग) में उसका अन्त हुआ।

राजा विम कथफिश--युइशि राजा कुजुल कुशाण का उत्तराधिकारी उसका पुत्र विम कथफिश था। इसके भी बहुत-से सिक्के अफगानिस्तान, उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त और पंजाब से उपलब्ध हुए हैं, और इनसे इसके राज्य के विस्तार को जानने में सहायता मिलती है। इन सिक्कों पर जो लेख अंकित है, वे प्रायः इस ढंग के हैं--"महरजस रजदिरजस सर्व लोग ईश्वरस महिश्वरस विम कथफिशस भतरस"। इस राजाके अनेक सिक्के इस प्रकार के है, जिनपर राजा का पूरा नाम न देकर केवल 'वि' अंकित है, जो स्पष्टतया विम को सूचित करता है, और 'वि' अक्षर से पहले महरजस रजदिरजस आदि विशेषण प्राकृत या ग्रीक भाषा में दिये होते है। चीन की ऐतिहासिक अनुश्रुति के अनुसार इस राजा ने भारत को फिर से विजय किया था, और इसके समय के युइशि की शक्ति बहुत बढ़ गई थी। इस राजा ने भारत के राजाओं को मारकर शासन करने के लिये अपने प्रतिनिधि नियत किये थे। इसमें संदेह नहीं कि गान्धार से आगे बढ़कर पंजाब और भारत के अन्य पश्चिमी प्रदेशों की विजय राजा विम द्वारा ही की गई थी, और उसकी विजयों से युइशि लोगों का शासन भारत में भलीभांति स्थापित हो गया था। चीनी अनुश्रुति का यह कथन बहुत महत्त्वपूर्ण है, कि राजा विम ने भारत के राजाओं को मारकर शासन के लिये अपने प्रतिनिधि नियुक्त किये थे। राजा कुजुल कुशाण के समय उत्तर-पश्चिमी भारत और पंजाब में जो बहुत-से छोटे-छोटे राज्य थे, और जिनके शासक यवन शक और पार्थियन जातियों के थे, विम ने उनका मूलोच्छेद किया, और उनके स्थान पर अपने शासक नियुक्त किये।

राजा विम केवल पंजाब तक ही अपनी शक्ति का विस्तार करके संतुष्ट नहीं हुआ, वह पंजाब से मथुरा की ओर और आगे उन प्रदेशों की ओर बढ़ा जो आजकल उत्तर-प्रदेश के अंतर्गत ह। उसके सिक्के बनारस तक उपलब्ध हुए हैं। मथुरा में एक मूर्ति मिली है, जिसके नीचे यह लेख है--"महराजो राजा-

निराजो देवपुत्रो कुशाणपुत्रो वेम...." मथुरा में राजा विम की मूर्ति प्राप्त होने से यह अनुमान किया गया है कि यह प्रदेश भी उसके राज्य में सम्मिलित था।

ऐसा प्रतीत होता है, कि राजा विम ने भारत के सम्पर्क में आकर यहां के अन्यतम धर्म शैवधर्म को स्वीकार कर लिया था। उसके कुछ सिक्कों पर शिव तथा नन्दी की मूर्ति और त्रिशूल अंकित हैं। उसके कुछ सिक्कों पर विम के साथ महिश्वरस (माहेश्वरस्य) भी अंकित है, जो उसके शैवधर्मानुयायी होने का प्रमाण है।

मथुरा में विम की जो मूर्ति मिली है, उसकी वेश-भूषा भी ध्यान देने योग्य है। इस मूर्ति का परिधान लम्बा चोगा, कमरबन्द, घुटनों तक के जूते और उनमें टंका हुआ पायजामा तथा सिर पर नुकीली टोपी है। युइशि लोगों का शायद यही परिधान होता था। विम का शासन-काल ३५ से ६५ ई० प० के लगभग था।

कुशाण राज्य की पराजय—राजा विम ने पंजाब और उत्तर-प्रदेश के जिन प्रदेशों को जीतकर अपने अधीन किया था, उनपर उसका शासन देर तक स्थिर नहीं रह सका। भारत की प्रधान राजशक्ति इस समय सातवाहन-राजाओं की थी, जो मगध पर भी अपना आधिपत्य स्थापित कर चुके थे, विम का समकालीन सातवाहन राजा कुन्तल सातकर्णि था जो विक्रमादित्य द्वितीय के नामसे प्रसिद्ध है। कुशाण राजा के भारत के मध्य प्रदेशमें प्रविष्ट होने की बात को यह सातवाहन राजा सहन नहीं कर सका। उसने विदेशी युइशि-आक्रान्ताओं से भारत की रक्षा करने के लिये उनपर चढ़ाई की, और उन्हें परास्त कर शकारि की पदवी धारण की। सातवाहन राजा गौतमीपुत्र सातकर्णि के बाद कुन्तल सातकर्णि दूसरा 'शकारि' और दूसरा 'विक्रमादित्य' हुआ। प्राचीन भारतीय साहित्य की इस अनुश्रुति की पुष्टि पंजाब की उन दन्तकथाओं द्वारा भी होती है, जो अब तक वहां प्रचलित हैं, और जिनका संग्रह कैप्टिन आर० सी० टैम्पल ने 'द लीजेन्ड्स आफ पंजाब' नामक पुस्तक में किया है। इन दन्तकथाओं के अनुसार राजा सातवाहन ने सिरकप नाम के प्रजापीड़क राजा पर आक्रमण करके पंजाब में उसे परास्त किया था। सिरकप सम्भवतः श्री कफ्स या श्री कथफिश का ही अपभ्रंश है। भारतीय साहित्य की प्राचीन अनुश्रुति और पंजाब की दन्तकथाओं के अनुसार इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता, कि राजा विम द्वारा स्थापित कुशाण राज्य देर तक स्थिर नहीं रह सका था, और-सातवाहन वंश के अन्यतम राजा (जो सम्भवतः कुन्तल सात-कर्णि ही था) ने उसको परास्त किया था।

(२) सम्राट् कनिष्क

विम के बाद कुशाण साम्राज्य का अधिपति कौन बना, इस सम्बन्ध में ऐतिहासिकों में बहुत मतभेद है। वैसे तो सभी कुशाण राजाओं के तिथिक्रम का विषय विवादग्रस्त है और अनेक ऐतिहासिक राजा कुजुल और विम तक को कनिष्क का पूर्ववर्ती न मानकर परवर्ती मानते हैं। पर अब बहुसंख्यक ऐतिहासिकों का यही मत है, कनिष्क ने कुजुल और विम के बाद ही शासन किया, पहले नहीं। विम और कनिष्क के बीच में किसी अन्य कुशाण राजा ने भी शासन किया या नहीं, यह बात भी विवादग्रस्त है। पर यदि इन दो के बीच में कोई अन्य राजा रहा हो, तो उसके इतिहास की कोई घटना इस समय तक ज्ञात नहीं हुई है। विम के राज्य-काल का अन्त ६५ ईस्वी के लगभग हुआ था, और कनिष्क ७८ ईस्वी के लगभग कुशाण-राज्य का स्वामी बना। इस बीच के कुशाण-इतिहास को अज्ञात ही समझना चाहिये।

कनिष्क का इतिहास जानने के लिये ऐतिहासिक सामग्री की कमी नहीं है। उसके बहुत-से सिक्के उपलब्ध हैं, और ऐसे अनेक उत्कीर्ण लेख भी मिले हैं जिनका कनिष्क के साथ सम्बन्ध है। इनके अतिरिक्त बौद्ध-अनुश्रुति में कनिष्क को बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। बौद्ध-धर्म में उसका स्थान अशोक से कुछ ही कम है। जिस प्रकार अशोक के संरक्षण में बौद्ध-धर्म की बहुत उन्नति हुई, वैसे ही कनिष्क के समय में भी हुई। सिक्के, उत्कीर्ण लेख और बौद्ध-साहित्य के आधार पर कनिष्क के विषय में जो बातें ज्ञात होती हैं, अब हम उनका यहां संक्षेप के साथ उल्लेख करेंगे।

राज्य-विस्तार—कनिष्क ने कुशाण-वंश की शक्ति का पुनरुद्धार किया। सातवाहन-राजा कुन्तल सातकर्णि (विक्रमादित्य द्वितीय) के प्रयत्न से कुशाणों की शक्ति क्षीण हो गई थी, अब कनिष्क के नेतृत्व में कुशाण-राज्य का पुनः उत्कर्ष हुआ। उसने उत्तर दक्षिण पूर्व पश्चिम चारों दिशाओं में अपने राज्य का विस्तार किया। सातवाहनों को परास्त कर उसने न केवल पंजाब पर अपना आधिपत्य कायम किया, अपितु भारत के मध्य देश को जीतकर मगध से भी सातवाहन-वंश के शासन का अन्त किया। कुमारलात नामक एक बौद्ध-पण्डित ने 'कल्पना-मंडीतिका' नाम की एक पुस्तक लिखी थी, जिसका चीनी अनुवाद इस समय भी उपलब्ध है। इस पुस्तक में कनिष्क द्वारा की गई पूर्वी भारत की विजय का उल्लेख है। 'श्रीधर्मपिटक निदान सूत्र' नामक एक अन्य बौद्ध-ग्रंथ में

धानी नहीं हो सकती थी। अतः कनिष्क ने एक कुसुमुपुर (पाटलिपुत्र) की स्थापना की, और उसे पुष्पपुर नाम दिया। यही आजकल का पेशावर है।

पुष्पपुर में कनिष्क ने बहुत-सी नई इमारतें बनवाई। इनमें प्रमुख एक स्तूप था, जो चार सौ फीट ऊंचा था। इसमें तेरह मंजिलें थीं। जब प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्यूएन-त्सांग महाराजा हर्षवर्धन के शासन-काल (सातवीं सदी) में भारत-भ्रमण करने के लिये आया था, तो कनिष्क द्वारा निर्मित इस विशाल स्तूप को देखकर आश्चर्यचकित रह गया था। कुसुमपुर (पाटलिपुत्र) के मुकाबले में कनिष्क ने पुष्पपुर को विद्या, धर्म और संस्कृति का केन्द्र बनाया। इसमें सन्देह नहीं, कि कुछ समय के लिये पुष्पपुर के सम्मुख प्राचीन कुसुमपुर का वैभव मन्द पड़ गया था।

चीन से संघर्ष—कनिष्क केवल उत्तरी भारत की विजय से ही संतुष्ट नहीं हुआ, उसने मध्य एशिया के क्षेत्र में भी अपनी शक्ति के विस्तार का प्रयत्न किया। मध्य एशिया के खोतन-राज्य का जिक्र हमने अभी किया था। इसी की सहायता से कनिष्क उत्तरी भारत की विजय कर सका था। इस युग में चीन के सम्राट् इस बात लिये के प्रयत्नशील थे, कि अपने साम्राज्य का विस्तार करें। चीन के सुप्रसिद्ध सेनापति पान-चाऊ ने ७३ ईस्वी के लगभग साम्राज्य-विस्तार के लिये दिग्विजय प्रारंभ की, और मध्य एशिया पर अपना अधिकार कर लिया। पान-चाऊ की विजयों के कारण चीनी साम्राज्य की पश्चिमी सीमा कैस्पियन सागर तक जा पहुँची। इस दशा में यह स्वाभाविक था, कि कनिष्क का कुशाण-राज्य भी चीन के निकट सम्पर्क में आवे। पान-चाऊ की इच्छा थी, कि कनिष्क के साथ मैत्री का सम्बन्ध स्थापित करें। इसीलिये उसने विविध बहुमूल्य उपहारों के साथ अपने राजदूत कुशाणराजा के पास भेजे। कनिष्क ने इन दूतों का यथोचित स्वागत किया, पर चीन के साथ अपनी मैत्री को स्थिर रखने के लिये यह इच्छा प्रगट की, कि चीनी सम्राट् अपनी कन्या का विवाह उसके साथ कर दे। कुशाणराज की इस मांग को पान-चाऊ ने अपने सम्राट् के सम्मान के विरुद्ध समझा। परिणाम यह हुआ कि दोनों पक्षों में युद्ध प्रारम्भ हो गया और कनिष्क ने एक बड़ी सेना को पान-चाऊ के विरुद्ध लड़ाई के लिये भेजा। पर इस युद्ध में युइशि-सेना की पराजय हुई।

कनिष्क इस पराजय से निराश नहीं हुआ। चीनी सेनापति पान-चाऊ की मृत्यु के बाद कनिष्क ने अपनी पहली पराजय का प्रतिशोध करने के लिये एक बार फिर चीन पर आक्रमण किया। इस बार वह सफल हुआ, और मध्य एशिया के

अनेक प्रदेशों पर उसका आधिपत्य स्थापित हो गया। खोतन और यारकन्द के प्रदेश इसी युद्ध में विजयी होने के कारण कुशाणराज्य के साम्राज्य में सम्मिलित हुए।

धर्म—कनिष्क के बहुत-से सिक्के वर्तमान समय में उपलब्ध होते हैं। इन पर यवन (ग्रीक), जरथुस्त्री (ईरानी) और भारतीय सभी तरह के देवी-देवताओं की प्रतिमायें अंकित हैं। ईरान के अग्नि (आतश), चन्द्र (माह) और सूर्य (मिहिर), ग्रीक देवता हेलिय, प्राचीन एलम की देवी नाना, भारत के शिव स्कन्द वात और बुद्ध—ये सब देवता उसके सिक्कों पर नाम या चित्र द्वारा विद्यमान हैं। इससे यह सूचित होता है, कि कनिष्क सब धर्मों का आदर करता था, और सबके देवी-देवताओं को आदर की दृष्टि से देखता था। इसका यह अभिप्राय भी हो सकता है, कि कनिष्क के विशाल साम्राज्य में विविध धर्मों के अनुयायी लोगों का निवास था, और उसने अपनी प्रजा को संतुष्ट करने के लिये सब धर्मों के देवताओं को अपने सिक्कों पर अंकित कराया था।

पर इस बात में कोई सन्देह नहीं, कि कनिष्क बौद्ध-धर्म का अनुयायी था, और बौद्ध इतिहास में उसका नाम अशोक के समान ही महत्त्व रखता है। आचार्य अश्वघोष ने उसे बौद्ध-धर्म में दीक्षित किया था। इस आचार्य को वह पाटलिपुत्र से अपने साथ लाया था, और इसी से उसने बौद्ध-धर्म की दीक्षा ली थी।

बौद्धों की चौथी संगीति—कनिष्क की संरक्षा में बौद्ध-धर्म की चौथी संगिति (महासभा) उसके शासन-काल में हुई। कनिष्क ने जब बौद्ध-धर्म का अध्ययन शुरू किया, तो उसने अनुभव किया, कि उसके विविध सम्प्रदायों में बहुत मतभेद है। धर्म के सिद्धान्तों के स्पष्टीकरण के लिये यह आवश्यक है, कि प्रमुख विद्वान् एक स्थान पर एकत्र हों, और सत्य सिद्धान्त का निर्णय करें। इसलिये कनिष्कने काश्मीर के कुण्डलवन-विहार में एक महासभा का आयोजन किया, जिसमें ५०० प्रसिद्ध बौद्ध-विद्वान् सम्मिलित हुए। अश्वघोष के गुरु आचार्य वसुमित्र और पार्श्व इनमें प्रधान थे। वसुमित्र को महासभा का अध्यक्ष नियत किया गया। महासभा में एकत्र विद्वानों ने बौद्ध-धर्म के सिद्धान्तों को स्पष्ट करने और विविध सम्प्रदायों के विरोध को दूर करने के लिये 'महा विभाषा, नामका एक विशाल ग्रन्थ तैयार किया। यह ग्रन्थ बौद्ध-त्रिपिटक के भाष्य के रूप में था। यह ग्रन्थ संस्कृत-भाषा में था और इसे ताम्रपत्रों पर उत्कीर्ण कराया गया था। ये ताम्रपत्र एक विशाल स्तूप में सुरक्षित रूप से

रख दिये गये थे। यह स्तूप कहां था, यह अभी तक ज्ञात नहीं हो सका है। यदि कभी इस स्तूप का पता चल गया, और इसमें सुरक्षित ताम्रपत्र उपलब्ध हो गये, तो निःसन्देह कनिष्क के बौद्ध-धर्म-सम्वन्धी कार्य पर उससे बहुत अधिक प्रकाश पड़ेगा। महाविभाषा का चीनी संस्करण इस समय उपलब्ध है।

समकालीन विद्वान्—कनिष्क के संरक्षण में न केवल बौद्ध-धर्म की उन्नति हुई, अपितु अनेक प्रसिद्ध विद्वानों ने भी उसके राजदरबार में आश्रय ग्रहण किया। वसुमित्र, पार्श्व और अश्वघोष के अतिरिक्त प्रसिद्ध बौद्ध-विद्वान् नागार्जुन भी उसका समकालीन था। नागार्जुन बौद्ध-धर्म का प्रसिद्ध दार्शनिक हुआ है, और महायान-सम्प्रदाय का प्रवर्तक उसी को माना जाता है। उसे भी कनिष्क का संरक्षण प्राप्त था। आयुर्वेद का प्रसिद्ध आचार्य चरक भी उसके आश्रय में पुष्पपुर में निवास करता था।

कनिष्क ने १०० ई० पू० के लगभग तक शासन किया।

(३) कनिष्क के उत्तराधिकारी

राजा वासिष्क—कनिष्क के बाद विशाल कुशाण-साम्राज्य का स्वामी वासिष्क बना, उसका शासन काल १०० ईस्वी से १०८ ईस्वी लगभग तक था। इस राजा का कोई सिक्का अब तक उपलब्ध नहीं हुआ है, पर उसके साथ सम्बन्ध रखनेवाले कतिपय उत्कीर्ण लेख प्राप्त हुए हैं, जिनसे उसके इतिहास के सम्बन्ध में अनेक महत्त्वपूर्ण बातें ज्ञात होती हैं। वासिष्क के शासन-काल में कनिष्क द्वारा स्थापित कुशाण-साम्राज्य अक्षुण्ण दशा में रहा, और उसमें कोई क्षीणता नहीं हुई। सम्भवतः, वासिष्क ने कुशाण साम्राज्य को और भी अधिक विस्तृत किया, क्योंकि सांची में प्राप्त एक लेख से सूचित होता है, कि विदिशा भी 'राजतिराज देवपुत्र शाहिवासष्क' की अधीनता में था। इस समय में दो राजशक्तियां प्रधान थीं। उत्तरापथ कुशाणों के अधीन था, और दक्षिणापथ पर सातवाहन-वंश का शासन था। पहले विदिशा सातवाहनों के अधीन थी, पर वासिष्क के समय में उसपर भी कुशाण-वंश का आधिपत्य स्थापित हो गया था।

कनिष्क द्वितीय—वासिष्क के बाद कनिष्क नाम का एक व्यक्ति कुशाण-साम्राज्य का अधिपति बना, यह बात पेशावर जिले में अटक से दस मील दक्षिण सिन्ध के तट पर आरा नाम के स्थान से प्राप्त एक लेख से सूचित होती है।

इस लेख में 'महाराज राजाधिराज देवपुत्र कइसर वाझेष्कपुत्र कनिष्क' के शासन-काल में दशव्हर नामक व्यक्ति द्वारा एक कुआं खुदवाने की बात लिखी गई हैं। इस लेख में कनिष्क को वाझेष्कपुत्र लिखा गया है, इससे ऐतिहासिकों ने यह परिणाम निकाला है, कि कनिष्क नाम के एक अन्य राजा ने वासिष्क के बाद शासन किया था, और यह वाझेष्कपुत्र प्रथम कनिष्क से भिन्न था। पर अनेक ऐतिहासिक इससे सहमत नहीं हैं। उनकी सम्मति में कनिष्क नाम का केवल एक राजा हुआ था, और इसीलिये वे वासिष्क का समय कनिष्क से पहले रखते हैं। पर कुशाण-राजाओं के सिक्कों पर दिये गये संवतों को दृष्टि में रखते हुए इस मत को स्वीकृत करना सम्भव प्रतीत नहीं होता। आजकल बहुसंख्यक ऐतिहासिक दो कनिष्कों की सत्ता स्वीकृत करते है, और यह मानते हैं, कनिष्क द्वितीय ने वासिष्क के बाद १०८ से १२० ईस्वी तक शासन किया।

कनिष्क द्वितीय के समय के जिस लेख का हमने ऊपर उ लेख किया है, उसमें यह बात ध्यान देने योग्य है, कि कनिष्क के नाम के साथ अन्य विशेषणों के अतिरिक्त 'कइसर' का भी प्रयोग किया गया है। कइसर कैसर या सीजर प्राचीन रोमन-सम्राटों की उपाधि थी। इस युग मे भारत का रोमन-साम्राज्य के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध था, इसीलिये भारत के उत्तरापथपति ने अन्य उपाधियों के साथ इसे भी ग्रहण किया था। इस समय भारत और रोम में व्यापार-सम्बन्ध भी विद्यमान था, और इसी कारण पहली सदी ई० प० के बहुत-से रोमन सिक्के दक्षिणी भारत में उपलब्ध हुए हैं। कुशाण-राजाओंके सिक्कों की बनावट और तोल रोमन सिक्कों से बहुत सादृश्य रखते हैं।

हुविष्क—कनिष्क द्वितीय के बाद हुविष्क कुशाण-साम्राज्य का स्वामी बना। उसके भी बहुत-से सिक्के भारत तथा अफगानिस्तान में उपलब्ध हुए हैं। अत्यन्त विस्तृत क्षेत्र में हुविष्क के सिक्कों की प्राप्ति से यह अनुमान किया जाता है, उसके समय में भी कुशाण-साम्राज्य अविकल रूप में कायम रहा। यह आश्चर्य की बात है कि अब तक हुविष्क का कोई ऐसा सिक्का नही मिला, जिसपर भगवान बुद्ध की प्रतिमा या नाम अंकित हो। हुविष्क के सिक्कों पर जहां उसकी अपनी सुन्दर प्रतिमा अंकित है, वहां साथ ही स्कन्द विशाख आदि पौराणिक देवताओं के चित्र भी विद्यमान हैं।

हुविष्क के समय का एक लेख काबुल से तीस मील पश्चिम में खवत नामक स्थान पर एक स्तूप की खुदाई में उपलब्ध हुआ है, जिसे कमगुल्मपुत्र वमग्ररेग नामक व्यक्ति ने भगवान् शाक्य मुनि के शरीर की प्रतिष्ठा के उपलक्ष में लिखवाया

था। काबुल के पश्चिम में बौद्ध-धर्म की सत्ता और प्राकृत भाषा के प्रचलन का यह ज्वलन्त प्रमाण है। इसी युग के बहुत-से लेख खोतन देश से प्राप्त हुए हैं, जो कीलमुद्राओं (विशेष प्रकार की लकड़ी की तख्तियों) पर लिखे गये हैं। ये लेख प्राकृत भाषा में हैं और खरोष्ठी लिपि में लिखित हैं।

हुविष्क ने काश्मीर में अपने नाम से एक नगर (हुविष्कपुर) भी बसाया था, जिसके अवशेष बारामूले के दर्रे के समीप उस्कूल गांव में अब भी विद्यमान हैं।

हुविष्क ने १२० से १४५ ईस्वी के लगभग तक शासन किया।

वासुदेव—हुविष्क के बाद वासुदेव कुशाण-साम्राज्य का स्वामी बना। उसके सिक्कों पर शिव और नंदी की प्रतिमा अंकित है। नुह या यवन आदि अन्य विदेशी देवताओं से अंकित उसके कोई सिक्के उपलब्ध नहीं हुए। इससे सूचित होता है, कि उसने प्राचीन हिन्दू-धर्म को पूर्णरूप से अपना लिया था। उसका वासुदेव नाम भी इसी बात का निर्देश करता है।

ऐसा प्रतीत होता है, कि राजा वासुदेव के शासन-काल में कुशाण-साम्राज्य की शक्ति क्षीण होनी शुरू हो गई थी। उत्तरापथ में इस समय अनेक ऐसी राजशक्तियों का प्रादुर्भाव हुआ, जिन्होंने कुशाणों के गौरव का अन्त कर अपनी शक्ति का विकास किया है। इनके सम्बन्ध में हम अगले अध्याय में प्रकाश डालेंगे।

इस प्रसंग में यह भी लिख देना उचित है, कि हुविष्क के शासन-काल में ही दक्षिणापथ में शकों ने एक बार फिर अपना उत्कर्ष किया था। रुद्रदामा के नेतृत्व में शोक-लोग किस प्रकार एक बार फिर दक्षिणापथ की प्रधान राजशक्ति बन गये, यह हम पहले लिख चुके हैं।

सहायक ग्रन्थ

Allan : Catalogue of Indian Coins.

Ray Chaudhary: Political History of Ancient India.

Smith : Early History of India.

Cambridge History of India Vol. I.

Smith : Catalogue of the Coins in the Indian Museum.

Tripathi : History of Ancient India.

उनतीसवां अध्याय

भारशिव और वाकाटक वंश

(१) विदेशी शासन और उसके विरुद्ध संघर्ष

विदेशी आक्रान्ता—मौर्य-वंश की शक्ति के क्षीण होने पर सम्राट् अशोक के बाद विदेशी जातियों के भारत पर आक्रमण शुरू हुए। इन विदेशी आक्रान्ताओं को चार भागों में विभक्त किया जा सकता है—यवन (ग्रीक), शक, पार्थियन (पल्हव) और युइशि (कुशाण)। इन सबके आक्रमणों और इन द्वारा स्थापित विविध राज्यों के संबंध में हम पिछले अध्यायों में प्रकाश डाल चुके हैं। विदेशी जातियों के ये आक्रमण दूसरी सदी ई० पू० के प्रारम्भ में शुरू हुए थे, और दूसरी सदी ई० प० तक जारी रहे। भारतीय इतिहास की ये चार सदियां विदेशी आक्रमणों की सफलता का काल है। यद्यपि इस काल में भारत का बड़ा भाग विदेशी आक्रमणों से प्रभावित नहीं हुआ, दक्षिणी भारत के अतिरिक्त पूर्वी भारत भी कभी विदेशियों के शासन में नहीं आया, पर यह स्वीकार करना होगा कि इस युग में भारत में कोई ऐसी प्रबल राजशक्ति नहीं रह गई थी, जो विदेशियों का स्थिरतापूर्वक मुकाबला कर सकती। पुष्यमित्र शुंग से पूर्व ही मगध की शक्ति इतनी निर्बल हो गई थी, कि डेमेट्रियस जैसा यवन-आक्रान्ता पाटलिपुत्र तक विजय स्थापित करने में समर्थ हुआ था। कलिंगराज खारवेल और पुष्यमित्र शुंग ने कुछ समय के लिये यवनों की बाढ़ को रोकने में सफलता प्राप्त की, सातवाहनवंशी सम्राट् भी कुछ समय तक शकों को परास्त करने में समर्थ रहे, पर इस युग में भारत में कोई ऐसा शक्तिशाली केन्द्रीय साम्राज्य नहीं रह गया था, जो विदेशी आक्रमणों से भारत की रक्षा करने में समर्थ होता। आचार्य चाणक्य की प्रतिभा और चन्द्रगुप्त मौर्य की सैन्यशक्ति ने भारत में जिस राष्ट्रीय एकता की स्थापना की थी, वह इस युग में पूर्णतया नष्ट हो गई थी।

गणराज्यों की स्वतंत्रता—विदेशियों के आक्रमण और मगध की शक्ति की क्षीणता का एक महत्वपूर्ण परिणाम यह हुआ, कि वाहीक देश के गणराज्य फिर से स्वतंत्र हो गये। केवल वाहीक देश (पंजाब) में ही नहीं, अपितु अन्य भी अनेक गणराज्यों ने फिर से स्वतंत्रता स्थापित की। मौर्य-शासन के युग में ये गणराज्य मगध की अधीनता में आ गये थे, पर इनकी आन्तरिक स्वतंत्रता कायम रही थी। इनमें अपनी पृथक् सत्ता और स्वतंत्रता की अनुभूति नष्ट नहीं हुई थी। यही कारण है, कि ज्यों ही मगध की राजशक्ति कमजोर हुई, बहुत-से गणराज्यों ने अपने को स्वतंत्र कर लिया। यवनों के आक्रमणों के शुरू होने पर (दूसरी सदी ई० पू० के लगभग) जो गणराज्य स्वतंत्र हुए, उनमें यौधेय आर्जुनायन, मालव कुनिन्द और मद्र का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। ये सब राज्य भारत के मध्यदेश के पश्चिम में और पश्चिमी पंजाब के पूर्व में स्थित थे। यवनों ने उत्तर-पश्चिमी भारत में अपने अनेक राज्य स्थापित कर लिये थे, पर मध्यदेश और पूर्वी भारत पर वे स्थिरता के साथ अपना शासन कायम नहीं कर सके। इसका मुख्य कारण यह था, कि यवन-राज्यों के पूर्व में ये गणराज्य विद्यमान थे, और इन्हें अपनी स्वतंत्रता बहुत प्रिय थी। यवनों के विरुद्ध अपनी स्वतंत्रता कायम रखने में इन्हें सफलता हुई और भारत के बड़े भाग की स्वतंत्रता की रक्षा के लिये इन्होंने एक मजबूत दीवार का काम किया। शक-आक्रान्ता सिन्ध द्वारा भारत में प्रविष्ट हुए थे। उन्होंने सिन्ध, महाराष्ट्र, मथुरा और उत्तर-पश्चिमी भारत को अपने अधीन कर लिया था। पर वे पूर्वी पंजाब और आर्यावर्त को अपनी अधीनता में नहीं ला सके थे। इसका श्रेय भी प्रधानतया इन गणराज्यों को ही दिया जाना चाहिये।

मालव गण की जय—शकों का उच्छेद करने के लिये सातवाहनवंशी राजा गौतमीपुत्र सातकर्णि (लगभग ७६ ई० पू० से ४४ ई० पू० के लगभग तक) ने बहुत महत्वपूर्ण कार्य किया। इसीलिये वह 'शकारि' और विक्रमादित्य कहाया। पर शकों का उच्छेद करने में गणराज्यों का भी बहुत हाथ था। विशेषतया मालव गण ने इसमें बहुत कर्तृत्व प्रदर्शित किया। सिकन्दर के आक्रमण के समय इस गण की स्थिति मध्य पंजाब में थी। पर दूसरी सदी ई० पू० में मालव लोग अपने मूल अभिजन का त्याग कर चम्बल नदी की उत्तरी घाटी में आ बसे थे। उन्हें स्वतंत्रता से बहुत प्रेम था, इसीलिये उन्होंने अपना मूल प्रदेश छोड़कर नये प्रदेश में प्रवास किया था।

शकों की शक्ति के बढ़ने पर मालवों के साथ भी उनका संघर्ष हुआ, और इस संघर्ष में मालव गण को सफलता हुई। इसी विजय के उपलक्ष में मालव गण ने नये प्रकार के सिक्के जारी किये, जिनपर 'मालवानं जय' और 'मालवगणस्य जय' आदि लेख अंकित है।

विक्रम-संवत् का प्रारम्भ—ऐतिहासिकों का यह मत है, कि विक्रम-संवत् का प्रारम्भ भी मालवों की इस विजय के उपलक्ष में ही हुआ था। इस संवत् का पुराना नाम 'मालवगणाम्नात' था, और शुरू की अनेक सदियों में जहां कहीं इस संवत् का प्रयोग हुआ है, इसे 'मालवगणस्थित्या' (मालव गण के कायम होने से) या 'मालवगणाम्नात' द्वारा ही सूचित किया गया है। विक्रम-संवत् नाम से इस संवत् का पहलेपहल उल्लेख नवीं सदी में शुरू हुआ। अनेक ऐतिहासिकों का यह मत है, कि जिस वीर पुरुष ने शकों को परास्त कर मालव गण का उत्कर्ष किया, उसका नाम विक्रम था। मालवों द्वारा शकों की पराजय एक ऐसी महत्व की घटना थी, कि इससे प्रारम्भ हुए संवत् का भारत में देर तक उपयोग होता रहा। भारत के अनेक प्रतापी राजा भी 'विक्रमादित्य' की उपाधि धारण करते रहे। और उन्होंने मालव गण की स्थिति से प्रारम्भ हुए इस संवत् को अपनाकर इसे भारत में चिर-स्थायी बना दिया।

कुशाणों की सफलता—यवन, शक और पार्थियन आक्रान्ता भारत के. के मध्य देश की विजय करने में बहुत सफल नहीं हुए। पर कुशाण-सम्राट् कनिष्क के समय में प्रायः सम्पूर्ण उत्तरापथ युइशि-साम्राज्य के अधीन हो गया। सातवाहन वंश की शक्ति को नष्ट कर दक्षिणापथ के बड़े भाग पर भी कुशाण-राजाओं ने शासन किया। कुछ समय के लिये गणराज्य भी इन प्रबल विजेताओं का मुकाबला कर सकने में असमर्थ रहे। पहली सदी ईस्वी के अन्तिम चरण में कनिष्क ने भारत में जिस विशाल साम्राज्य की स्थापना की थी, वह एक सदी के लगभग कायम रहा। ईस्वी सन् की दूसरी सदी में भारत की राजशक्ति बहुत क्षीण दशा को प्राप्त कर गई थी, और कुशाण लोग इस देश में बहुत प्रबल हो गये थे। केवल कुशाण ही नहीं, शक लोग भी इस समय में एक बार फिर अपना उत्कर्ष करने में समर्थ हुए थे, और महाक्षत्रप रुद्रदामा के नेतृत्व में उन्होंने उज्जैन को केन्द्र बनाकर एक शक्तिशाली राज्य की स्थापना कर ली थी। यौधेय सदृश प्रबल गणराज्य को भी परास्त करने में रुद्रदामा सफल हुआ था, और कुछ

समय के लिये विन्ध्याचल के उत्तर का प्रायः सम्पूर्ण भारत कुशाणों औ शकों के आधिपत्य में आ गया था। निःसंदेह भारत की अपनी राजशक्ति के लिये यह अपकर्ष का युग था।

विदेशी शासक—यवनों, शकों, पल्हवों और कुशाणों को हमने विदेशी कहा है। इसमें सन्देह नहीं, कि वे भारत के बाहर से आये थे, और उन्होंने विजय द्वारा इस देश में अपने राज्य स्थापित किये थे। पर इस संबंध में यह बात ध्यान देने योग्य है, कि भारत में आकर ये विदेशी जातियां पूर्णरूप से भारतीय बन गई थीं। इन्होंने भारत के धर्मों (बौद्ध, शैव या वैष्णव) को अपना लिया था, और अपने सिक्कों व उत्कीर्ण लेखों में प्राकृत या संस्कृत-भाषा का उपयोग शुरू कर दिया था। भारत में आकर ये लोग विदेशी नहीं रह गये थे, और न ही इनका किसी विदेशी राज्य से संबंध ही रहा था। पर भारत के पुराने राजकुलों और गणराज्यों की दृष्टि में इनकी स्थिति विजेताओं की ही थी, और वे अनुभव करते थे कि इन्होंने उनकी स्वतंत्रता को नष्ट कर उन्हें अपने अधीन किया है। यही कारण है, कि भारत की पुरानी राजशक्तियों ने एक बार फिर सिर उठाया और इन शासकों का अन्त कर अपनी स्वतंत्रता को पुनः स्थापित किया।

कुशाण शासन के विरुद्ध संघर्ष—कुशाण राजा कनिष्क द्वारा स्थापित विशाल साम्राज्य एक सदी के लगभग कायम रहा। पर शीघ्र ही उसके विरुद्ध संघर्ष प्रारम्भ हो गया। इस संघर्ष का नेतृत्व निम्नलिखित राजशक्तियों ने किया—(१) सातवाहन वंश, (२) नाग भारशिव-वंश और (३) यौधेय कुनिन्द आदि गणराज्य।

दक्षिणापथपति सातवाहन वंश के राजा कुशाणों और शकों (रुद्रदामा व उसके वंशज) के उत्कर्ष के कारण अपने पुराने वैभव को बहुत-कुछ खो चुके थे। पर उन्होंने अपनी सत्ता के लिये संघर्ष को निरन्तर जारी रखा। यही कारण है, कि वे पश्चिम में शकों से और उत्तर में कुशाणों से निरन्तर युद्ध करते रहे। यद्यपि वे कुशाणों से मगध को जीत सकने में असमर्थ रहे, पर शकों को परास्त करने में उन्हें अवश्य सफलता हुई। रुद्रदामा के उत्तराधिकारी उसके समान प्रतापी नहीं थे। उनके मुकाबले में सातवाहन-राजाओं ने अपनी सत्ता को कायम रखा। यौधेय आदि गणराज्यों ने एक बार फिर, कुशाणों के साथ लोहा लिया, और दूसरी सदी ईस्वी का अन्त होने से पूर्व ही अपनी खोई हुई स्वतंत्रता को पुनः प्राप्त कर लिया। पर कुशाण-शासन

का अन्त करने का प्रधान श्रेय नाग भारशिव राजाओं को प्राप्त है। हम इन्हीं राजाओं के संबंध में विचार करेंगे।

(२) कुशाण साम्राज्य का पतन

मगध के क्षत्रप—हम पहले लिख चुके हैं कि ९० ई० के लगभग कुशाण-वंशी सम्राट् कनिष्क ने लगभग सारे उत्तरी भारत को जीतकर अपने अधीन कर लिया था। पाटलिपुत्र भी इस समय सातवाहन वंश के स्थान पर कुशाणों के हाथ में चला गया था। कुशाण-साम्राज्य की राजधानी पुष्पपुर (पेशावर) थी, और पाटलिपुत्र पर शासन करने के लिये क्षत्रप वनस्पर की नियुक्ति की गई थी। एक पुरानी अनुश्रुति के अनुसार नपुंसकों की-सी आकृतिवाले पर युद्ध में विष्णु के समान बली इस महासत्त्व विश्वस्फूर्ति (वनस्पर) ने सब राजाओं का उत्सादन कर कैवर्त्त, पंचकान, पुलिंद, यवन आदि दूसरे नीच वर्णों को पार्थिव बनाया। बहुसंख्यक प्रजा को उसने ब्राह्मणों का विरोधी बना दिया। क्षत्र को उखाड़कर उसने नया क्षत्र बनाया और जाह्नवी-तीर पर देवों और पितरों का भलीभांति तर्पण कर सन्यास ले शरीर त्याग किया। इस अनुश्रुति के अनुसार वनस्पर बड़ा प्रतापी शासक था। पुराने क्षत्रियों और ब्राह्मणों के लिये यह स्वाभाविक था, कि वे उसका आदर न करते। वह नपुंसकों की सी शकल वाला (संभवतः मंगोल खून के कारण दाढ़ी-मूंछ से रहित) म्लेच्छ यदि ब्राह्मणों और क्षत्रियों की सद्भावना न प्राप्त कर सका हो, तो इसमें क्या आश्चर्य है? पर कैवर्त्त आदि नीचे समझे जानेवाले लोगों को राज्यपद (पार्थिव बना) देकर उसने नया क्षत्र (शासक वर्ग) उत्पन्न कर दिया, और जनता में ब्राह्मणों के लिये अश्रद्धा उत्पन्न कर दी। वह स्वयं भारतीय धर्म-परम्परा का अनुयायी हो गया था, जैसा कि उस काल के सभी शक, यवन, युइशि आदि म्लेच्छ लोगों की प्रवृत्ति थी। इसी-लिये आर्य-मर्यादा का अनुसरण करते हुए अन्त में संन्यास ले उसने शरीर का त्याग किया था।

वनस्पर के बाद जो व्यक्ति पाटलिपुत्र के महाक्षत्रप बने, उनके नाम हमें ज्ञात नहीं हैं। पर इसमें सन्देह नहीं, कि लगभग एक शताब्दि तक वनस्पर के उत्तराधिकारी महाक्षत्रप पाटलिपुत्र को राजधानी बनाकर उत्तरी भारत में राज्य करते रहे। इस बीच में कुशाणों का संघर्ष सातवाहन राजाओं के साथ चलता रहा, पर उत्तरी भारत में उनका शासन निर्विघ्न रूप से जारी

रहा। इस कुशाण-साम्राज्य की सीमा पूर्व में बंगाल की खाड़ी तक थी।

यौधेयों की स्वतन्त्रता—पर दूसरी सदी ईस्वी के अन्त होते-होते कुशाण-साम्राज्य का पतन प्रारम्भ हो गया। कुशाणों के शासन को उत्तरी भारत से नष्ट करने का श्रेय दो शक्तियों को है, एक तो यौधेय आदि गणराज्यों को और दूसरा कांतिपुरी के नाग भारशिव राजाओं को। कुशाण-साम्राज्य के विकास से पूर्व ही, मागध-सम्राटों की निर्बलता से लाभ उठाकर यौधेय गण ने अपनी स्वाधीनता कायम कर ली थी। पर कनिष्क ने इन्हें अपने अधीन किया और इनका प्रदेश कुशाण-साम्राज्य के अन्तर्गत हो गया। पर दूसरी सदी ईस्वी के मध्य भाग में यौधेयों ने फिर अपना सिर ऊंचा किया। पर वे अपनी स्वतंत्रता को देर तक कायम नहीं रख सके। शक-महाक्षत्रप रुद्रदामा ने उन्हें परास्त किया। रुद्रदामा ने बड़े अभिमान के साथ अपने एक शिलालेख में यह लिखा है, कि किस प्रकार उसने सब क्षत्रियों में बलशाली यौधेयों को परास्त किया था। पर कुछ ही समय के बाद यौधेय लोगों ने फिर स्वतंत्रता के लिये यत्न किया। दूसरी सदी समाप्त होने से पूर्व ही वे फिर स्वतंत्र हो गये थे। कुशाणों की शक्ति के मुकाबले में स्वतंत्रता प्राप्त कर लेना सुगम बात नहीं थी। कुशाणों का साम्राज्य बल्ख से बंगाल की खाड़ी तक विस्तृत था। इतने शक्तिशाली साम्राज्य को परास्त कर देना एक गण-राज्य के लिये बड़े अभिमान की बात थी। इसी के उपलक्ष में उन्होंने अपने नये सिक्के प्रचलित किये, जिनपर 'यौधेयगणस्य जय' उत्कीर्ण कराया गया। इन सिक्कों पर कार्तिकेय का चित्र भी दिया गया। कार्तिकेय देवताओं का सेनापति माना गया है। यौधेयों ने जो विजय प्राप्त की थी, वह देवताओं के ही योग्य थी। जनता का विश्वास था, कि यौधेयों को विजय का एक मंत्र आता है, इसीलिये उनके लिये 'विजयमंत्रधराणाम्' यह विशेषण दिया गया है। कुशाणों के विरुद्ध इस विद्रोह में कुनिन्द आर्जुनायन आदि अन्य गणराज्यों ने भी यौधेयों का साथ दिया था। ये सब गण इस समय स्वतंत्र हो गये थे, और संभवतः उन्होंने यौधेयों के साथ मिलकर एक संघ बना लिया था। उत्तर में अम्बाला और देहरादून से प्रारम्भ कर उत्तरी राज-पूताना तक इस संघराज्य का शासन था। इन गणों का स्वतंत्र शासन चौथी सदी के प्रारम्भ तक कायम रहा। इनके प्रमुख 'महाराज महासेनापति' कहलाते थे, और उन्हें संपूर्ण गण निर्वाचित करता था।

जिस प्रकार पूर्वी पंजाब में यौधेयों ने कुशाण-साम्राज्य का अन्त किया, वैसे

ही वर्तमान उत्तर-प्रदेश, ग्वालियर और पूर्व के प्रदेशों में नाग भारशिव राजाओं द्वारा कुशाणों की शक्ति की इतिश्री हुई। कुछ समय और पीछे तीसरी सदी के उत्तरार्द्ध में पाटलिपुत्र से भी कुशाण-क्षत्रपों के शासन का अन्त संभवतः इन्हीं भारशिव नागों द्वारा किया गया।

(३) भारशिव वंश

नाग वंश—मागध-साम्राज्य के निर्बल हो जाने पर भारत के विविध प्रदेशों में जो अनेक राजवंश स्वतंत्र हो गये थे, उनमें विदिशा का नाग वंश भी एक था। बाद में यह वंश पहले शकों की और फिर कुशाणों की अधीनता में चला गया। अब यौधेयों द्वारा कुशाणों के विरुद्ध विद्रोह करने से जो अव्यवस्था उत्पन्न हो गई थी, उससे लाभ उठाकर नागों ने अपनी शक्ति का विस्तार करना प्रारम्भ किया। ग्वालियर के समीप पद्मावती को उन्होंने अपना केन्द्र बनाया; और वहां से बढ़ते-बढ़ते कौशांबी से मथुरा तक के सारे प्रदेशों को अपने अधीन कर लिया। इस प्रदेश में उस समय कुशाणों का राज्य था। उन्हें परास्त कर नाग राजाओं ने अपने स्वतंत्र राज्य की नींव डाली। बाद में नाग लोग पूर्व की तरफ और आगे बढ़े। मिर्जापुर जिले में विद्यमान कांतिपुरी को उन्होंने अपनी राजधानी बनाया।

भारशिव—ये नाग राजा शैव-धर्म को माननेवाले थे। इनके किसी प्रमुख राजा ने शिव को प्रसन्न करने के लिये धार्मिक अनुष्ठान करते हुए शिवलिंग को अपने सिर पर धारण किया था, इसीलिये ये भारशिव कहलाने लगे थे। इसमें संदेह नहीं, कि शिव के प्रति अपनी भक्ति प्रदर्शित करने के लिये ये राजा निशान के रूप में शिवलिंग को सिर पर रखते थे। इस प्रकार की एक मूर्ति भी उपलब्ध हुई है, जो इस अनुश्रुति की पुष्टि करती है। नवनाग (दूसरी सदी के मध्य में) से भवनाग (तीसरी सदी के अन्त में) तक इनके कुल सात राजा हुए, जिन्होंने अपनी विजयों के उपलक्ष में काशी में दस बार अश्वमेध-यज्ञ किया। संभवतः, इन्हीं दस यज्ञों की स्मृति काशी के दशाश्वमेध-घाट के रूप में अब भी सुरक्षित है। भारशिव राजाओं का साम्राज्य पश्चिम में मथुरा से पूर्व में काशी से भी कुछ परे तक अवश्य विस्तृत था। इस सारे प्रदेश में बहुत-से स्थानों पर इसके सिक्के पाये जाते हैं। गंगा-यमुना के प्रदेश का कुशाण-शासन से उद्धार करने के कारण गंगा-यमुना को ही इन्होंने अपना राजचिह्न बनाया था। गंगा-यमुना के जल में अपना राज्याभिषेक कर

इन राजाओं ने बहुत काल बाद इन पवित्र नदियों के गौरव का पुनरुद्धार किया था।

राजा वीरसेन—भारशिव राजाओं में सबसे प्रसिद्ध राजा वीरसेन था। कुशाणों को परास्त कर अश्वमेध-यज्ञों का संपादन उसी ने किया था। संयुक्तप्रान्त के फर्रुखाबाद जिले में एक शिलालेख मिला है, जिसमें इस प्रतापी राजा का उल्लेख है। संभवतः इसने एक नये संवत् का भी प्रारंभ किया था।

मगध की विजय—गंगा-यमुना के प्रदेश के कुशाण-शासन से विमुक्त हो जाने के बाद भी कुछ समय तक पाटलिपुत्र पर महाक्षत्रप वनस्पर के उत्तराधिकारियों का शासन जारी रहा। वनस्पर के वंश को पुराणों में मुरुण्ड-वंश कहा गया है। इस मुरुण्ड-वंश में कुल १३ राजा या क्षत्रप हुए, जिन्होंने पाटलिपुत्र पर शासन किया। २४५ ई० के लगभग फूनान उपनिवेश का एक राजदूत पाटलिपुत्र में आया था। उस समय वहां मुलुन (मुरुण्ड) राजा का शासन था। पाटलिपुत्र के उस मुलुन-राजा ने युइशि देश के चार घोड़ों के साथ अपने राजदूत को फूनान भेजा था। मुरुण्ड शब्द का अर्थ स्वामी या शासक है। यह क्षत्रप के सदृश ही शासक अर्थ में प्रयुक्त होता है। पाटलिपुत्र के ये कुशाण-क्षत्रप मुरुण्ड ही कहलाते थे।

२७८ ई० के लगभग पाटलिपुत्र से भी कुशाणों का शासन समाप्त हुआ। इसका श्रेय वाकाटक वंश के प्रवर्त्तक विंध्यशक्ति को है। पर इस समय वाकाटक लोग भारशिवों के सामन्त थे। भारशिव-राजाओं की प्रेरणा से ही विंध्यशक्ति ने पाटलिपुत्र से मुरुण्ड-शासकों का उच्छेद कर उसे कांतिपुर के साम्राज्य के अन्तर्गत कर लिया था। मगध को जीत लेने के बाद भारशिवों ने और अधिक पूर्व की तरफ भी अपनी शक्ति का विस्तार किया। अंग देश की राजधानी चम्पा भी बाद में उनकी अधीनता में आ गई। वायुपुराण के अनुसार नाग राजाओं ने चम्पापुरी पर भी राज्य किया था।

पर मगध और चम्पा के भारशिव लोग देर तक पाटलिपुत्र में शासन नहीं कर सके। जिस प्रकार पूर्वी बंगाल में यौधेय आर्जुनायन आदि गण स्वतंत्र हो गये थे, वैसे ही उत्तरी बिहार में इस काल की अव्यवस्था से लाभ उठाकर लिच्छवि गण ने फिर से अपनी स्वतंत्र सत्ता स्थापित कर ली थी। यौधेयों के सदृश लिच्छवि गण भी इस समय बड़ा शक्तिशाली हो गया था। कुछ समय पीछे लिच्छवियों ने पाटलिपुत्र को जीतकर अपने अधीन

कर लिया। पुराणों में मुरुण्डों के साथ पाटलिपुत्र के शासकों में वृषलों को भी परिगणित किया गया है। संभवतः ये वृषल व्रात्य लिच्छवि ही थे। व्रात्य मौर्यों को विशाखदत्त ने वृषल कहा है। इसी प्रकार व्रात्य लिच्छवियों को पुराणों के इस प्रकरण में वृषल कहकर निर्दिष्ट किया गया है।

(४) वाकाटक वंश

राजा प्रवरसेन—हम ऊपर लिख चुके हैं, कि वाकाटक विंध्यशक्ति भारशिव नागों का सामन्त था। उसके पुत्र का नाम प्रवरसेन था। भारशिव राजा भवनाग की इकलौती लड़की प्रवरसेन के पुत्र गौतमीपुत्र को ब्याही थी। इस विवाह से गौतमीपुत्र के जो पुत्र हुआ, उसका नाम रुद्रसेन था। क्योंकि भवनाग के कोई पुत्र नहीं था, अतः उसका उत्तराधिकारी उसका दौहित्र रुद्रसेन ही हुआ। गौतमीपुत्र की मृत्यु प्रवरसेन के जीवनकाल में ही हो गई थी। अतः रुद्रसेन जहां अपने पितामह के राज्य का उत्तराधिकारी बना, वहां साथ ही अपने नाना का विशाल साम्राज्य भी उसी के हाथ में आ गया। धीरे-धीरे भारशिव और वाकाटक-राज्यों का शासन एक हो गया। रुद्रसेन के संरक्षक-रूप में प्रवरसेन ने वाकाटक और भारशिव दोनों वंशों के राज्यों के शासनसूत्र को अपने हाथ में ले लिया।

यह प्रवरसेन बड़ा शक्तिशाली राजा हुआ है। इसने चारों दिशाओं में दिग्विजय करके चार बार अश्वमेध यज्ञ किये और वाजसनेय यज्ञ करके सम्राट् का गौरवमय पद प्राप्त किया। प्रवरसेन की विजयों का मुख्य क्षेत्र मालवा, गुजरात और काठियावाड़ था। बंगाल और उत्तरी भारत से कुशाणों का शासन इस समय तक समाप्त हो चुका था। पर गुजरात, काठियावाड़ में अभी तक भी शक-महाक्षत्रप राज्य कर रहे थे। प्रवरसेन ने इनका अन्त किया। यही उसके शासन-काल की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना है। गुजरात और काठियावाड़ के महाक्षत्रपों को प्रवरसेन ने चौथी सदी के प्रारम्भ में परास्त किया था।

रुद्रसेन—३३५ ई० के लगभग प्रवरसेन की मृत्यु के उसका पोता रुद्रसेन वाकाटक-राजगद्दी पर बैठा। अपने नाना भारशिव भवनाग की इसे बड़ी सहायता थी। प्रवरसेन के तीन अन्य पुत्र भी थे, जो उसके राज्य में प्रान्तीय शासकों के रूप में शासन करते थे। संभवतः प्रवरसेन की मृत्यु के बाद इन्होंने स्वतंत्र होने का प्रयत्न किया। पर भवनाग की सहायता से रुद्रसेन

अपने साम्राज्य को अक्षुण्ण रखने में सफल हुआ। भवनाग की मृत्यु के बाद रुद्रसेन भारशिव राज्य का भी स्वामी हो गया। वर्तमान उत्तरप्रदेश, मध्यभारत, मालवा, दक्खन, गुजरात और कठियावाड़—ये सब प्रदेश इस समय वाकाटक-साम्राज्य में सम्मिलित थे। पर रुद्रसेन के शासन-काल के अंतिम भाग में गुजरात, काठियावाड़ में फिर शक-महाक्षत्रपों का राज्य हो गया। रुद्रदामा द्वितीय ने वहां फिर से शक-शासन की स्थापना की और स्वयं महाक्षत्रप-रूप में शासन करना प्रारम्भ किया। संभवतः अपने चाचाओं के साथ संघर्ष करने के कारण वाकाटक-राजा रुद्रसेन की शक्ति कमजोर पड़ गई थी, और वह गुजरात, काठियावाड़ जैसे सुदूरवर्ती प्रदेश को अपनी अधीनता में नहीं रख सका था।

पृथ्वीसेन— रुद्रसेन के बाद पृथ्वीसेन (३६० से ३८५ ई० तक) वाकाटक-राजा बना। इसका पुत्र रुद्रसेन द्वितीय था। उस समय पाटलिपुत्र के गुप्त-सम्राट् अपनी शक्ति का विस्तार करने में व्यापृत थे। गुप्त-सम्राटों की यह प्रबल इच्छा थी, कि गुजरात, काठियावाड़ से शक-महाक्षत्रपों के शासन का अन्त कर भारत को विदेशी आधिपत्य से सर्वथा मुक्त कर दिया जाय। वाकाटक-राजा इस कार्य में उनके सहायक हो सकते थे, क्योंकि इनके राज्य की सीमायें शक-महाक्षत्रपों के राज्य से मिलती थीं। वाकाटक-राजा इस समय तक किसी न किसी रूप में गुप्त-सम्राटों की अधीनता स्वीकार कर चुके थे, यद्यपि शक्तिशाली सामन्तों के रूप में अपने राज्य पर उनका पूरा अधिकार था। शकों का पराभव करने में वाकाटकों की पूरी सहायता प्राप्त करने के लिये गुप्त-सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय ने यह उपयोगी समझा, कि उनके साथ और भी घनिष्ठ मैत्री का संबंध स्थापित किया जावे। संभवतः इसीलिये उसने अपनी कन्या प्रभावती गुप्त का विवाह रुद्रसेन द्वितीय के साथ कर दिया। इस राजा की मृत्यु केवल पांच वर्ष शासन करने के बाद ३९० ई० के लगभग हो गई थी, और उसके पुत्रों की आयु बहुत छोटी होने के कारण शासनसूत्र प्रभावती गुप्ता ने स्वयं अपने हाथों में ले लिया था।

इन वाकाटक-राजाओं के संबंध में अधिक लिखने की हमें आवश्यकता नहीं है। इस समय पाटलिपुत्र में जिस शक्तिशाली गुप्त-साम्राज्य का विकास हो रहा था, उसके प्रताप के सम्मुख इन वाकाटकों की शक्ति बिलकुल मंद पड़ गई थी, और ये गुप्त-साम्राज्य के अन्तर्गत अधीनस्थ राजाओं के रूप में रह गये थे।

सहायक ग्रन्थ

Jayaswal : An Imperial History of India.

,, : History of India 150 A. D. to 350 A.D.

Pargiter : Dynasties of the Kali Age.

Smith : Early History of India.

Mazumdar : New History of the Indian People Vol. VI.

तीसवां अध्याय

शुंग-सातवाहन-शक युग का भारत

(१) शुंग-सातवाहन-शक युग

दूसरी सदी ई० पू० से तीसरी सदी ई० प० तक भारत में कोई एक ऐसी प्रधान राजशक्ति नहीं थी, जो भारत के बड़े भाग को अपने शासन में रखने में समर्थ होती। बार्हद्रथ शैशुनाग नन्द और मौर्य वंशों ने जिस विशाल मागध-साम्राज्य का निर्माण किया था, उसकी शक्ति इस युग में क्षीण हो गई थी। पुष्यमित्र शुंग यवनों को सिन्ध नदी के पार धकेलने में समर्थ हुआ, पर वह कलिंग के चेदि-वंश और प्रतिष्ठान के सातवाहन-वंश की शक्ति का दमन नहीं कर सका। जिस समय शुंग-वंश के राजा मगध और मध्यदेश पर शासन कर रहे थे, सातवाहन-वंश के राजा दक्षिणापथ में अपनी शक्ति के विस्तार में तत्पर थे, उत्तर-पश्चिमी भारत में यवन लोग अपनी शक्ति बढ़ा रहे थे, और शक-आक्रान्ता सिन्ध व राजपूताना को अपनी अधीनता में लाने के लिये प्रयत्नशील थे। बाद में पल्हवों (पार्थियन) और कुशाणों ने शकों का अनुसरण कर भारत में प्रवेश किया, और अपने-अपने राज्य स्थापित किये। भारत में किसी एक प्रबल राजशक्ति के अभाव में इस युग को हमने शुंग-सातवाहन-शक युग कहा है। पर इससे यह नहीं समझना चाहिये, कि इस काल में भारत केवल इन तीन राजनीतिक शक्तियों में विभक्त था। शकों के समय में ही यवनों और पल्हवों के राज्य भी इस देश में विद्यमान थे, और बाद में कुशाणों ने मध्यदेश व मगध तक को अपनी अधीनता में कर लिया था।

इस युग की विशेषतायें—भारतीय इतिहास में शुंग-सातवाहन-शक-युग का बहुत अधिक महत्त्व है। इस युग की विशेषताओं को हम संक्षेप

में इस प्रकार लिख सकते हैं—(१) यवन, शक, पल्हव व कुशाण-आक्रान्ता शीघ्र ही पूर्णरूप से भारतीय बन गये। उन्होंने भारत के बौद्ध, शैव व वैष्णव धर्मों को अपना लिया, और संस्कृत व प्राकृत भाषाओं का राज्यकार्य व अपने वैयक्तिक जीवन में प्रयोग प्रारम्भ कर दिया। भारत में उनकी स्थिति विदेशी शासकों की न रहकर अन्य भारतीयों के समान ही हो गई। (२) इस युग में भारत के धर्म, सभ्यता व संस्कृति का विदेशों में प्रचार हुआ। सम्राट् अशोक के समय में बौद्ध-धर्म के अन्य देशों में प्रचार की जो प्रतिक्रिया प्रारम्भ हुई थी, इस युग में उसे बहुत बल मिला। कुशाण-राजा कनिष्क का साम्राज्य केवल भारत में ही नहीं था, हिन्दूकुश पर्वत के पश्चिम व उत्तर में चीन की सीमा तक उसका शासन था। कनिष्क के संरक्षण में बौद्ध-धर्म ने बहुत उन्नति की, और सम्पूर्ण मध्य एशिया भारत के सांस्कृतिक प्रभाव में आ गया। चीन आदि अन्य एशियन देशों में भी इस युग में बौद्ध-धर्म का प्रसार हुआ। केवल बौद्ध-धर्म ही नहीं, अपितु शैव और वैष्णव धर्मों ने भी इस काल में बहुत उन्नति की। भारतीयों के अनेक नये उपनिवेश पूर्वी व दक्षिण-पूर्वी एशिया में बसने शुरू हुए, और इन धर्मों ने वहां के मूल निवासियों को भी प्रभावित किया। (३) प्राचीन वैदिक धर्म का पुनरुत्थान इस युग की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विशेषता है। बौद्ध और जैन धर्म न ईश्वर को मानते थे, और न ही वेद की अपौरुषेयता में विश्वास रखते थे। ये धर्म भारत की प्राचीन आर्य-परम्परा के अनुकूल नहीं थे। इसीलिये इस युग में इनके विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई, और भागवत-धर्म के रूप में प्राचीन आर्य-धर्म का पुनरुद्धार हुआ। (४) यवन, शक, कुशाण आदि विदेशी जातियों के सम्पर्क से भारत के विज्ञान और कला आदि भी प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके, और इन्होंने एक ऐसा रुख धारण किया, जिसपर विदेशी प्रभाव स्पष्टरूप से दृष्टिगोचर होता है। विदेशियों के आक्रमण से भारत के विदेशी व्यापार में भी सहायता मिली, और प्राचीन ग्रीस व रोम से उसका संबंध बहुत घनिष्ठ हो गया। (५) भारत में किसी एक शक्तिशाली केन्द्रीय शासन के न रहने के कारण इस युग में गणराज्यों को अपनी स्वतंत्रता स्थापित करने का अवसर प्राप्त हुआ। मालव, यौधेय, कुनिन्द, आर्जुनायन, शिवि, लिच्छवि आदि पुराने गणराज्यों का पुनरुत्थान इस युग की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है। विदेशी आक्रान्ताओं का मुकाबला करने में इन्होंने अपूर्व कर्तृत्व प्रदर्शित किया। इसमें सन्देह नहीं, कि ये गणराज्य भी इस युग की भारतीय राज-शक्तियों में बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान रखते थे।

(२) विदेशियों का भारतीय बनना

दूसरी सदी ई० पू० में यवन, शक, पल्हव और कुशाण-जातियों के रूप में जिन विदेशी लोगों ने भारत में अपने राज्य स्थापित किये, वे इस देश के सम्पर्क में आकर पूर्णतया भारतीय बन गये। उन्होंने न केवल भारत के धर्म को अपितु इस देश की भाषा को भी अपना लिया। सभ्यता की दृष्टि से शक लोग बहुत उन्नत नहीं थे, पर बैक्ट्रिया के जिन यवनों ने भारत में प्रवेश किया था, वे प्राचीन ग्रीक (यवन) लोगों के समान ही सभ्य व सुसंस्कृत थे। इसी प्रकार पार्थिया के पार्थियन (पल्हव) लोग ग्रीस के सम्पर्क में आकर सभ्य बन चुके थे। इन उन्नत सभ्य लोगों का भारतीय धर्म और भाषा को अपना लेना भारत के लिये बहुत गौरव की बात थी, और इससे यह सूचित होता है कि इस युग के भारतीय धर्म, सभ्यता और संस्कृति के क्षेत्र में ग्रीक लोगों की अपेक्षा अधिक उन्नत थे। जिस प्रकार जल की धारा ऊपर से नीचे की ओर बहती है, वैसे ही सभ्यता का प्रवाह भी ऊंचाई से निचाई की तरफ होता है। जब कोई दो जातियां एक दूसरे के सम्पर्क में आती हैं, तो उनमें जो सभ्यता की दृष्टि से अधिक उन्नत होती है, वह अवनत जाति को अपने प्रभाव में ले आती है। यह इतिहास का एक सत्य सिद्धान्त है। यवन, शक, पल्हव व कुशाण लोग भारत के धर्म, भाषा व संस्कृति के किस प्रकार प्रभाव में आये, इसे स्पष्ट करने के लिये उनके कुछ उत्कीर्ण लेखों को उद्धृत करना पर्याप्त होगा।

यवन—नासिक की एक गुफा में एक यवन द्वारा उत्कीर्ण यह लेख विद्यमान है—"सिद्धि ! ओतराह (उत्तरापथ के) दातामितियक (दिमित्र द्वारा स्थापित दात्तामित्री नगरी के निवासी) योनक (यवन) धम्मदेव के पुत्र इन्द्राग्निदत्त का (दान)। (उस) धर्मात्मा ने यह गुहा तिरण्ह पर्वत में खुदवाई, और गुहा के भीतर चैत्यगृह तथा पोढ़ियां।" इस लेख को लिखवानेवाले यवन ने न केवल बौद्ध-धर्म को स्वीकार कर लिया था, अपितु उसका नाम भी इन्द्राग्निमित्र था। उसका पिता भी यवन धम्मदेव था।

तक्षशिला के यवन-राजा ने हेलिउदोर नाम के जिस यवन को अपना राजदूत बनाकर मगध के शुंग राजा की राजसभा में भेजा था, उसने भागवत-धर्म को स्वीकार कर भगवान् विष्णु के एक गरुड़ध्वज (प्रस्तर का स्तम्भ जिसके शीर्ष भाग में गरुड़ की मूर्ति थी) का निर्माण कराया था, जिसपर यह लेख उत्कीर्ण है—"देवों के देव वासुदेव का यह गरुड़ध्वज यहां बनवाया महाराज

अन्तलिकित के यहां से राजा कासीपुत भागभद्र भाता के——जो कि अपने शासन के चौदहवें वर्ष में वर्तमान है——पास आये हुए तखशिला (तक्षशिला) के रहनेवाले दिये के पुत्र योनदूत भागवत हेलिउदोर ने ।"

यवनराजा मिनान्डर (मिलिन्द) ने बौद्ध-धर्म को स्वीकार कर इस धर्म के इतिहास में जो महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया था, उसके विषय में अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं है। नागसेन से दीक्षा लेकर मिनान्डर ने न केवल बौद्ध धर्म को अंगीकार किया, अपितु स्याम की अनुश्रुति के अनुसार अर्हत्-पद को भी प्राप्त कर लिया । इसीलिये उसके मरने पर लोग उसकी राख को अपने-अपने नगरों में ले गये और वहां उन्होंने आदरपूर्वक उसकी प्रतिष्ठा की । अपने गुरु नागसेन से बौद्ध-धर्म के विषय में जो प्रश्न यवनराज मिनान्डर ने पूछे थे, वे ही 'मिलिन्द-पन्ह' (मिलिन्दप्रश्नाः) नामक पुस्तक में संगृहीत हैं ।

भारत मे कितने ही ऐसे लेख मिले हैं, जो यवन-शासकों व यवन-नागरिकों के धर्मदान के साथ संबंध रखने है। इन सबको यहां उल्लिखित कर सकना संभव नहीं है, और न उसका कोई लाभ ही है। अनेक यवन-राजाओं के सिक्कों पर प्राकृत भाषा का प्रयोग, धर्मचक्र का चिह्न और 'ध्रमिक' (धार्मिक) विशेषण का प्रयोग भी इस तथ्य को सूचित करता है, कि यवन लोग भारत में आकर इस देश के धर्म व संस्कृति से बहुत अधिक प्रभावित हुए थे, और उन्होंने इन्हें स्वीकार कर लिया था ।

शक——शक-आक्रान्ता जैन, बौद्ध और वैदिक तीनों धर्मों से प्रभावित हुए थे। उनमें कुछ ने बौद्ध धर्म को स्वीकार किया था, कुछ ने जैन धर्म को और कुछ ने वैदिक धर्म को। इस संबंध में भी कतिपय लेखों को यहां उद्धृत करना उपयोगी होगा——

शक-महाक्षत्रप नहपान के जामाता उषावदात का यह लेख नासिक की एक गुहा में विद्यमान है——"सिद्धि हो ! राजा क्षहरात क्षत्रप नहपान के जामाता, दीनाक के पुत्र, तीन लाख गौओं का दान देनेवाले, वार्णासा (नदी) पर सुवर्णदान करने और तीर्थ बनवानेवाले, देवताओं और ब्राह्मणों को सोलह ग्राम देनेवाले, पूरे साल लाख ब्राह्मण को खिलानेवाले........धर्मात्मा उषावदात ने गोवर्धन में त्रिरश्मि पर्वत पर यह गुहा बनवाई ।" शक-क्षत्रप नहपान का जामाता उषावदात प्राचीन वैदिक व हिन्दू धर्म का अनुयायी था, यह इस लेख से स्पष्ट हो जाता है ।

मथुरा का शक-महाक्षत्रप रजुल बौद्ध-धर्म का अनुयायी था। उसकी पटरानी (अग्रमहिषी) का यह लेख मथुरा से उपलब्ध हुआ है—"महाक्षत्रप रजुल की अग्रमहिषी, युराज खरओस्त्र की बेटी........की मां अयसिअ कमुइअ ने........शाक्य मुनि बुद्ध का शरीर-धातु प्रतिष्ठापित किया, और स्तूप व संघाराम भी, सर्वास्तिवादियों के चातुर्दिश संघ के परिग्रह के लिये।"

मथुरा के शक-महाक्षत्रप शोडास के समय का मथुरा में एक लेख मिला है, जिसमें लिखा है—"अर्हत् वर्धमान को नमस्कार! स्वामी महाक्षत्रप शोडास के ४२ वें वर्ष में.......हारिती के पुत्र पाल की भार्या श्रमणों की श्राविका कोछी अमोहिनी ने अपने पुत्रों.......के साथ आर्यवती प्रतिष्ठापित की। आर्यवती अर्हत् की पूजा के लिये (है)।" जैन-मूर्ति को प्रतिष्ठापित कराने वाली कोछी अमोहिनी निःसन्देह शक-जाति की थी।

शकों के भारतीय धर्मों के स्वीकृत करने की बात की पुष्टि में कितने ही अन्य लेख भी उद्धृत किये जा सकते हैं, पर ये ही पर्याप्त हैं।

पार्थियन—पार्थियन लोगों के विषय में नासिक की अन्यतम गुहा में उत्कीर्ण यह लेख महत्वपूर्ण है—"सिहि! ....अबुलामा के निवासी सोवसक सेतफरण के पुत्र हरफरण का यह देयधर्म नवगर्भ मण्डप महासांघिकों के चातुर्दिश संघ के परिग्रह में दिया गया।" अबुलामा या अम्बुलिम सिन्ध नदी के तट पर एक नगरी थी, और सेतफरण व हरफरण पार्थियन नाम हैं।

कुशाण—कुशाण-राजाओं ने भारत में आकर बौद्ध व वैदिक धर्मों को स्वीकृत कर लिया था। कुशाण-वंश की शक्ति के संस्थापक राजा कुजुल कुशाण के सिक्कों पर अन्य विशेषणों के साथ 'सचध्रमथितस' (सत्यधर्मस्थितस्य या सद्धर्मस्थितस्य) विशेषण भी विद्यमान है। उसके कुछ सिक्कों में देवपुत्रस' विशेषण भी आया है, जो उसके बौद्ध होने को सूचित करता है। कुजुल कुशाण का उत्तराधिकारी राजा विम 'माहेश्वर' था। राजा कनिष्क का तो बौद्ध-धर्म के इतिहास में बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। उसने केवल स्वयं बौद्ध-धर्म की दीक्षा ग्रहण की थी, अपितु अन्य देशों में बौद्ध-धर्म के प्रचार करने व उसके संरक्षण के लिये भी बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य किया था। कनिष्क के उत्तराधिकारियों में वासुदेव शैव-धर्म का अनुयायी था और हुविष्क बौद्ध-धर्म का।

इसमें सन्देह नहीं, कि यवन, शक, पार्थियन और कुशाण राजा भारतीय धर्मों के अनुयायी थे। पर इन सबने भारत में आने के बाद ही यहां के धर्मों

को अपनाया हो, यह निश्चित नहीं है। यह भी संभव है, कि शक, पार्थियन और कुशाण लोग उस समय से ही भारतीय धर्मों के प्रभाव में आने लग गये हों, जब कि वे सीस्तान, पार्थिया व मध्य एशिया में थे।

(३) साहित्य

इस मौर्योत्तर-युग की सभ्यता और संस्कृति के संबंध में इस काल के साहित्य से हमें बहुत-कुछ परिचय मिलता है। प्राचीन संस्कृत-साहित्य के बहुत-से ग्रंथों का इस काल में ही संकलन हुआ था। बौद्ध और जैन-साहित्य के भी बहुत-से ग्रंथ इसी समय में बने। इन सबके अनुशीलन से इस समय की जनता के जीवन पर बड़ा उत्तम प्रकाश पड़ता है।

पतंजलि—पर पहले इस साहित्य का संक्षेप से परिचय देना आवश्यक है। पतंजलि मुनि पुष्यमित्र शुंग के समकालीन थे। उन्होंने पाणिनि की अष्टाध्यायी पर महाभाष्य लिखा। इसमें शुंगकालीन भारत की दशा के संबंध में बड़े सुन्दर निर्देश मिलते हैं। महाभाष्य एक विशाल ग्रंथ है, जिसमें पाणिनीय व्याकरण की बड़ी विस्तृत व्याख्या की गई है।

स्मृति-ग्रंथ—स्मृति-ग्रंथों का निर्माण शुंग-काल में प्रारंभ हुआ। सबसे प्राचीन स्मृति मनुस्मृति है। उसका निर्माण १५० ई० पू० के लगभग हुआ था। इसका प्रवक्ता आचार्य भृगु था। नारदस्मृति के अनुसार सुमति भार्गव ने इस स्मृति का प्रवचन किया था। प्राचीन भारत में विचारकों के अनेक संप्रदाय थे। किसी बड़े आचार्य द्वारा जो विचारधारा प्रारंभ होती थी, उसके शिष्य उसी का विकास करते जाते थे, और एक पृथक् संप्रदाय (नया धार्मिक मत नहीं अपितु विचार-सम्प्रदाय) बन जाता था। इसी प्रकार का एक सम्प्रदाय मानव था। कौटलीय अर्थशास्त्र और कामन्दक नीतिसार में मानव-सम्प्रदाय का उल्लेख है, और उसके अनेक मत उद्धृत किये गये हैं। इसी सम्प्रदाय में आगे चलकर मनु के एक परम्परागत शिष्य आचार्य सुमति भार्गव ने मनुस्मृति की रचना की और उसमें मानव-सम्प्रदाय के विचारों को संकलित किया। अपने समय की परिस्थितियों का भी इन विचारों पर प्रभाव पड़ा, और इसीलिये मनुस्मृति के अनुशीलन से हमें शुंग-काल की सामाजिक दशा का भली-भांति परिचय मिल जाता है।

मनुस्मृति के बाद विष्णुस्मृति की रचना हुई। फिर याज्ञवल्क्यस्मृति बनी, जिसका निर्माण-काल १५० ई० प० के लगभग है। इसके बाद भी अनेक

आचार्य नई स्मृतियां बनाते रहे। स्मृतियों के निर्माण की यह प्रक्रिया गुप्त-सम्राटों के काल में और उसके बाद भी जारी रही। पर मनुस्मृति और याज्ञ-वल्क्यस्मृति का भारतीय स्मृति-ग्रंथों में जो महत्त्व है, वह अन्य किसी स्मृति को प्राप्त नहीं हुआ। इन दोनों ग्रंथों के अनुशीलन से हम शुंग और सात-वाहन-राजाओं के समय के भारतीय जीवन का परिचय उत्तम रीति से प्राप्त कर सकते हैं।

महाभारत—महाभारत और रामायण के वर्तमान रूप भी प्रधानतया इसी काल में संकलित हुए। महाभारत प्राचीन भारतीय साहित्य का सबसे विशाल और महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। प्राचीन ऐतिहासिक अनुश्रुति, धर्म-अर्थ-काम और मोक्ष संबंधी विचार, राजधर्म और पुरातन गाथाओं का जैसा उत्तम संग्रह इस ग्रंथ में है, वह अन्यत्र कहीं उपलब्ध नहीं होता। महाभारत मौर्य-काल से भी पहले विद्यमान था, पर उसके नये-नये संस्करण निरन्तर होते रहते थे और विविध आचार्य उसमें लगातार वृद्धि करते जाते थे। शुंग और सातवाहन राजाओं के समय में उसमें बहुत कुछ वृद्धि हुई, और उसके बहुत-से संदर्भ निःसंदेह इस काल की दशा पर प्रकाश डालते हैं।

काव्य और नाटक—इस काल में संस्कृत और प्राकृत भाषाओं में अनेक काव्यों और नाटकों का निर्माण हुआ। संस्कृत का सुप्रसिद्ध कवि भास कण्व-वंश के समय में हुआ था। वह मगध का रहनेवाला था। उसके लिखे प्रतिज्ञा-यौगन्धरायण आदि नाटक संस्कृत-साहित्य में अद्वितीय स्थान रखते हैं। उन्हें कालिदास और भवभूति के नाटकों के समकक्ष माना जाता है। आचार्य अश्वघोष कनिष्क का समकालीन था। उसने 'बुद्धचरितम्' नाम का महाकाव्य और अनेक नाटक लिखे। प्रसिद्ध नाटक 'मृच्छकटिक' का लेखक कवि शूद्रक भी सातवाहन-वंश के शासन-काल में हुआ। नाट्यशास्त्र का लेखक भरतमुनि और कामसूत्र का रचयिता आचार्य वात्स्यायन भी इसी काल में हुए।

प्राकृत-साहित्य के भी अनेक ग्रंथ इस समय में बने। सातवाहन-राजा प्राकृत-भाषा के बड़े संरक्षक थे। राजा हाल स्वयं उत्तम कवि और लेखक था। गुणाढ्य जैसा प्राकृत का सर्वोत्कृष्ट कवि इसी काल में हुआ था। संस्कृत साहित्य के समान प्राकृत-साहित्य ने भी इस युग में बहुत उन्नति की।

बौद्ध और जैन साहित्य—बौद्ध और जैन साहित्य का भी इस काल में बहुत विकास हुआ। सम्राट् कनिष्क के संरक्षण में जिस महायान-सम्प्रदाय का विकास हुआ था, उसका बहुत-सा साहित्य इसी समय में बना। बौद्ध-

त्रिपिटक पर महाविभाषा नाम का एक नया भाष्य इस युग में लिखा गया। बौद्ध-धर्म के प्रसिद्ध विद्वान् अश्वघोष, पार्श्व और वसुमित्र इसी समय में हुए। आचार्य नागार्जुन ने महायान के अनेक सूत्रों (सुत्तों) की रचना की। जैन-साहित्य का भी इस काल में बहुत विकास हुआ। पहले छः श्रुतकेवली (पूर्णज्ञानी) आचार्यों के बाद सात दशपूर्वी आचार्य हुए, जिनमें से अंतिम वज्रस्वामी का समय ७० ई० के लगभग था। इन आचार्यों ने जैन-साहित्य में निरन्तर वृद्धि की। वज्र-स्वामी के शिष्य का नाम आर्यरक्षित था। उसने जैन-सूत्रों को अंग, उपांग आदि चार भागों में विभक्त किया था।

षड्दर्शन—प्राचीन भारत के षड्दर्शनों का उनके वर्तमान रूप में संकलन भी इसी काल में हुआ। सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, वेदान्त और मीमांसा—ये छः दर्शन भारतीय विचार तथा तत्त्वचिन्तन के स्तम्भ-रूप हैं। इन विचारधाराओं का प्रारम्भ तो इस युग से बहुत पहले हो चुका था। तत्त्वदर्शी आचार्यों द्वारा जो विचारसंप्रदाय प्रारम्भ किये गये थे उनमें शिष्य-परम्परा द्वारा बहुत पुराने समय से तत्त्वचिन्तन चला आ रहा था। पर षड्दर्शनों का जो रूप वर्तमान समय में उपलब्ध है, उसका निर्माण इसी मौर्योत्तर-युग में हुआ।

विज्ञान—वैद्यक और ज्योतिष-शास्त्र ने भी इस काल में बहुत उन्नति की। चरकसंहिता का लेखक आचार्य चरक कनिष्क का समकालीन था। नागा-र्जुन भी उत्कृष्ट चिकित्सक था। प्रसिद्ध वैद्यक ग्रंथ सुश्रुत जिस रूप में आजकल मिलता है, वह नागार्जुन द्वारा ही सम्पादित हुआ था। प्राचीन भारतीय इतिहास में नागार्जुन का बड़ा महत्त्व है। यह महापुरुष केवल वैद्य ही नहीं था, अपितु सिद्ध रसायन शास्त्र, लौहशास्त्र और रसायन विज्ञान का भी पंडित था। उसने जननविज्ञान पर भी एक ग्रंथ लिखा। बाद में वह बौद्ध-संघ का प्रमुख बना। बौद्ध पंडित के रूप में भी उसने अनेक पुस्तकें लिखीं, जिनमें माध्यमिक सूत्र-वृत्ति विशेषरूप से उल्लेखनीय है। अश्वघोष के बाद महायान-सम्प्रदाय का वही नेता बना था।

ज्योतिष-शास्त्र की प्रसिद्ध पुस्तक गर्गसंहिता इसी समय में लिखी गई। इसके रचयिता गर्गाचार्य थे। उन्होंने यवन लोगों के आक्रमणों का इस तरह उल्लेख किया है, जैसे कि ये घटनायें उनके अपने समय में हुईं। खेद यही है, कि इस ग्रंथ के कुछ अंश ही इस समय में प्राप्त होते हैं। पूरा ग्रंथ अभीतक उपलब्ध नहीं हो सका। आचार्य वराहमिहिर द्वारा ज्योतिष-शास्त्र संबंधी जिन सिद्धान्तों का संग्रह आगे चलकर गुप्त-काल में पंचसिद्धांतिका ग्रंथ में किया

गया, उनका विकास व प्रतिपादन इस मौर्योत्तर-काल में ही प्रारंभ हो गया था।

इस प्रकार यह स्पष्ट है, कि यद्यपि यह काल राजनीतिक दृष्टि से अव्यवस्था, विद्रोह और अशांति का था, पर साहित्य, ज्ञान और संस्कृति के क्षेत्र में इस समय में भी निरन्तर उन्नति हो रही थी। इस युग के विशाल साहित्य द्वारा इस समय के सामाजिक जीवन, धर्म, सभ्यता, संस्कृति और आर्थिक दशा के संबंध में जो अनेक महत्त्वपूर्ण बातें ज्ञात होती हैं, उनका अब हम संक्षेप से उल्लेख करेंगे।

(४) वैदिक धर्म का उत्थान

बौद्ध-धर्म के विरुद्ध प्रतिक्रिया—मौर्योत्तर-काल की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना भारत में बौद्ध-धर्म का ह्रास और सनातन वैदिक धर्म का पुनरुत्थान है। अशोक ने धम्मविजय की जिस जीवनपूर्ण नीति का अवलम्बन किया था, निर्बल हाथों में वह नाशकारिणी भी हो सकती थी। आखिर, विशाल मागध-साम्राज्य का आधार उसकी सैनिकशक्ति ही थी। सेना से ही अधीनस्थ जनपदों, नष्टीभूत गणराज्यों और विविध सामन्त सरदारों को एक साम्राज्य के अधीन रखा जा सकता था। अशोक के समय में यह मागध-सेना (मौल, भृत और श्रेणिबल) अक्षुण्णरूप में विद्यमान थी। कलिंग के शक्तिशाली जनपद को इसीलिये वह अपने अधीन कर सका था। यद्यपि अशोक स्वयं अस्त्रों द्वारा विजय की अपेक्षा धर्म द्वारा स्थापित की गई विजय को अधिक महत्त्व देने लगा था, पर उसके समय में मागध-सेना शक्तिहीन नहीं हुई थी। पर जब उसके उत्तराधिकारी भी इसी प्रकार शस्त्र-विजय की अपेक्षा धर्म-विजय को महत्त्व देते रहे, तो यह स्वाभाविक था, कि मागध-साम्राज्य की सेना शक्ति-हीन होने लगती। इसीलिये अंतिम मौर्य-सम्राटों के समय में यवनों के आक्रमण प्रारम्भ हो गये, और मागध-सेना उनकी बाढ़ को नहीं रोक सकी। अशोक की धर्म-विजय की नीति उसके निर्बल उत्तराधिकारियों के हाथों में अस-फल और बदनाम हो गई। सर्वसाधारण जनता में उससे बहुत असंतोष था। इसीलिये एक प्राचीन ग्रंथकार ने कहा था, कि राजाओं का काम शत्रुओं का दमन व प्रजा का पालन करना है, सिर मुंडाकर चैन से बैठना नहीं। यह स्वाभाविक था, कि मौर्य-राजाओं की इस असफल नीति से जनता में बौद्ध-धर्म के प्रति भी असंतोष का भाव उत्पन्न होने लगे। भिक्षुसंघ इस समय

बड़ा ऐश्वर्यशाली हो गया था। सर्वत्र विशाल व वैभवपूर्ण विहारों की स्थापना हो गई थी, जिनमें बौद्ध-भिक्षु बड़े आराम के साथ निवास करते थे। मनुष्यमात्र की सेवा करनेवाले, प्राणिमात्र का हित संपादन करनेवाले, भिक्षा-वृत्ति से दैनिक भोजन प्राप्त करनेवाले और निरन्तर घूम-घूमकर जनता को कल्याण-मार्ग का उपदेश करनेवाले बौद्ध-भिक्षुओं का स्थान अब सम्राटों के आश्रय में सब प्रकार का सुख भोगनेवाले भिक्षुओं ने ले लिया था। सर्वसाधारण जनता के हृदय में भिक्षुओं के प्रति जो आदर था, यदि अब उसमें न्यूनता आने लगी, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? इसी का परिणाम यह हुआ, कि भारत में बौद्ध-धर्म के प्रतिकूल एक प्रतिक्रिया का प्रारंभ हुआ और लोगों की दृष्टि उस प्राचीन सनातन धर्म की ओर आकृष्ट हुई, जो शत्रुओं को परास्त कर व सर्वत्र दिग्विजय कर अश्वमेध-यज्ञ के अनुष्ठान का विधान करता था। यही कारण है, कि सेनानी पुष्यमित्र ने अंतिम मौर्य-राजा बृह-द्रथ को मार जब राजसिंहासन प्राप्त किया, तो मागध-साम्राज्य के शत्रुओं के विरुद्ध उसने तलवार उठाई और फिर से अश्वमेध-यज्ञ का आयोजन किया। सातवाहन-राजा सातर्कणि ने भी इसी काल में दो बार अश्वमेध-यज्ञ किये थे। इस समय अश्वमेध-यज्ञ करने की एक प्रवृत्ति-सी उत्पन्न हो गई थी और इस प्रवृत्ति के पीछे प्राचीन वैदिक धर्म का पुनरुत्थान करने की प्रबल भावना काम कर रही थी।

एक बौद्ध-अनुश्रुति के अनुसार शुंग-सम्राट् पुष्यमित्र ने तलवार के बल से भी बौद्ध लोगों का दमन किया था। उसने बहुत-से बौद्ध-भिक्षुओं का कत्ल करा दिया था, और अनेक स्तूपों व विहारों को गिरवा दिया था। इस वर्णन में चाहे अतिशयोक्ति से काम लिया गया हो, पर इसमें संदेह नहीं, कि शुंगकालीन भारत में बौद्धों के विरुद्ध एक जबर्दस्त प्रतिक्रिया हो रही थी।

पर बौद्ध-धर्म का यह ह्रास केवल मगध और उसके समीपवर्ती प्रदेशों तक ही सीमित था। सुदूर उत्तर-पश्चिम में बौद्ध-भिक्खु अब भी प्राचीन आदर्शों का पालन करते हुए प्राणिमात्र का कल्याण करने की आकांक्षा से हिन्दूकुश और पामीर की पर्वतमालाओं को लांघते हुए आगे बढ़ रहे थे। शक, युइशि और हूण जातियों में अष्टांगिक आर्य-मार्ग का संदेश पहुंचाने के लिये वे भारी उद्योग कर रहे थे। इसी प्रकार लंका, बरमा और उससे भी परे के प्रदेशों में बौद्ध-भिक्खुओं का आर्य-मार्ग के प्रसार का प्रयत्न जारी था। इन सब प्रदेशों में बौद्ध-भिक्खु एक नई सभ्यता, एक ऊंचे धर्म और

एक परिष्कृत संस्कृति के संदेशवाहक बनकर परिभ्रमण कर रहे थे। इन सब स्थानों में बौद्ध-धर्म का उत्कर्ष इस काल में भी जारी रहा। पर वैभव-शाली मौर्य-सम्राटों का संरक्षण पाकर मगध तथा उत्तरी भारत के अन्य जनपदों में बौद्ध-भिक्खु कुछ निश्चेष्ट-से हो गये थे। उनके विहारों में अपार धन था। जब अशोक और अनाथपिंडक जैसे धनियों ने अपना कोटि-कोटि धन इन बौद्ध-विहारों के अर्पण कर दिया हो, तो यदि उनमें पतन का प्रारम्भ हो जावे और वे सुख-समृद्धि के कारण अपने कर्त्तव्य से विमुख हो जावें, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। यही कारण है, कि पुष्यमित्र ने विहारों के धन-वैभव को अपना शिकार बनाया, और बौद्ध-भिक्षुओं की हत्या करने में भी संकोच नहीं किया।

वैदिक धर्म पर बौद्ध धर्म का प्रभाव—शुंग-काल में जिस वैदिक धर्म का पुनरुत्थान हुआ, वह प्राचीन वैदिक धर्म से बहुत कुछ भिन्न था। बौद्ध और जैन धर्मों ने जिन विचारधाराओं का प्रसार किया था, वे अन्य धर्मावलम्बियों के विचारों पर प्रभाव न डालतीं, यह संभव नहीं था। बौद्ध-विचारों का असर इस काल के दर्शनों और धार्मिक विश्वासों पर स्पष्टतया दृष्टिगोचर होता है। बौद्ध व जैन सृष्टि के कर्त्ता-रूप में किसी ईश्वर को नहीं मानते थे। सांख्य-दर्शन में भी किसी सृष्टि-कर्त्ता ईश्वर को स्थान नहीं है। योग-दर्शन भी सृष्टि के निर्माण के लिये किसी ईश्वर की आवश्यकता नहीं समझता। वेदान्त का ब्रह्म सृष्टि का उपादान कारण है, निमित्त कारण नहीं। जैसे मिट्टी से घट बनता है, घट मिट्टी का ही एक रूप है, घट मिट्टी से भिन्न कुछ नहीं है, ऐसे ही सृष्टि ब्रह्म से बनी है, सृष्टि ब्रह्म का ही एक रूप है, और सृष्टि ब्रह्म से भिन्न कोई सत्ता नहीं रखती। वैदिक षड्दर्शनों में से तीन के ईश्वर-संबंधी विचार बौद्ध-विचारों के बहुत समीप हैं। वैदिक युग के ईश्वर के विचार से इनकी विचारप्रणाली में भारी भेद है। बौद्ध और जैन लोग लोकोत्तर-पुरुषों में विश्वास रखते थे। बोधिसत्व और तीर्थंकर परम पूर्ण पुरुष थे, जो सत्य-ज्ञान के भंडार, पूर्ण ज्ञानी और बुद्ध व जिन कहलाते थे। सांख्यों ने इसी विचारसरणी का अनुसरण कर कपिल को लोकोत्तर ज्ञानी माना। योग ने जिस ईश्वर का प्रतिपादन किया, वह केवल 'सबसे बड़ा ज्ञानी' है। ईश्वर की सत्ता के लिये उसकी केवल एक युक्ति है, 'निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्'। हमें ज्ञान के बारे में अतिशयता नजर आती है। एक व्यक्ति दूसरे की अपेक्षा अधिक ज्ञान रखता है। कोई अन्य उससे भी अधिक ज्ञान

रखता है । ऐसे ही विचार करते-करते एक ऐसी सत्ता की कल्पना की जा सकती है, जिससे अधिक ज्ञानवान् कोई नहीं होगा और जो सर्वज्ञ होगा, वही ईश्वर है। ऐसा व्यक्ति बुद्ध भी हो सकता है, वर्धमान महावीर भी, कपिल भी, श्रीकृष्ण भी या अन्य कोई भी। बौद्ध और जैन ऐसे ही भगवान् को मानते थे। सांख्य और योग शास्त्रों पर इन सम्प्रदायों के विचारों का असर कितना प्रत्यक्ष है ।

वैदिक धर्म का नया रूप––प्राचीन वैदिक धर्म में प्रकृति की विविध शक्तियों के रूप में ईश्वर की पूजा की जाती थी। इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि आदि उस धर्म के प्रधान देवता थे। पर अब उनका स्थान उन महापुरुषों ने ले लिया, जिनका कि सर्वसाधारण में अपने लोकोत्तर गुणों के कारण अनुपम आदर था। शुंग-काल में जिस सनातन वैदिक धर्म का पुनरुद्धार हुआ, उसके उपास्य देव वासुदेव, संकर्षण और शिव थे। बौद्ध और जैन धर्मों में जो स्थान बोधिसत्वों और तीर्थकरों का था, वही इस सनातन धर्म में इन महापुरुषों का हुआ। बुद्ध और महावीर सर्वज्ञ थे, पूर्ण पुरुष थे। उनके गुणों को प्रत्येक मनुष्य जान सकता था, उनके चरित्र का अनुशीलन कर शिक्षा ग्रहण कर सकता था, और उनकी मूर्ति के सम्मुख बैठकर उनका साक्षात्कार कर उकता था। अब प्राचीन परिपाटी का अनुसरण कर अश्वमेध-यज्ञ का पुनरुद्धार करनेवाले शुंगों और सातवाहनों के धर्म में संकर्षण और वासुदेव पूर्ण पुरुष थे, पूर्ण ज्ञानी थे और उनकी मूर्तियां दर्शनों के लिए विद्यमान थीं। इस काल के धार्मिक नेताओं ने प्राचीन महापुरुषों में देवत्व की कल्पना कर उनको बुद्ध और महावीर के समकक्ष बना दिया। निर्गुण और निराकार ईश्वर के स्थान पर सगुण और अवतार ग्रहण करनेवाले ईश्वर की कल्पना हुई। इन अवतारों की मूर्तियां बनने लगीं और उन्हें मंदिरों में प्रतिष्ठापित कर उनकी पूजा प्रारंभ हो गई। प्राचीन वैदिक धर्म में यज्ञों के कर्मकांड की प्रधानता थी। कुंड में अग्नि की प्रतिष्टा कर विविध देवताओं का आवाहन किया जाता था, और पशु, अन्न, समिधा आदि की आहुति देकर इन देवताओं को संतुष्ट किया जाता था। पर बौद्ध और जैन धर्मों के प्रभाव से जब एक बार यज्ञों की परिपाटी शिथिल पड़ गई, तो उसका इस युग में भी पूर्णतया पुनरुत्थान नहीं हुआ। उपलक्षण के रूप में अश्वमेध-यज्ञ अब अवश्य किये जाने लगे, पर सर्वसाधारण जनता में यज्ञों का पुनः प्रचलन नहीं हुआ। यज्ञों का स्थान इस समय मूर्ति-पूजा ने लिया। शुंग-युग में जिस प्राचीन सनातन धर्म का पुनरुद्धार हुआ,

वह शुद्ध वैदिक नहीं था, उसे पौराणिक कहना अधिक उपयुक्त होगा।

भागवत-धर्म—इस नये पौराणिक धर्म की दो प्रधान शाखायें थीं, भागवत और शैव। शूरसेन जनपद के सात्वत लोगों में देर से वासुदेव कृष्ण की पूजा चली आ रही थी। पुराने युग में कृष्ण शूरसेन देश के महापुरुष व वीर नेता हुए थे। कृष्ण जहां अंधक-वृष्णि-संघ के प्रमुख थे, वहां बड़े विचारक दार्शनिक और धर्मोपदेशक भी थे। कुरुक्षेत्र के रणक्षेत्र में अपने निकट संबंधियों को युद्ध के लिये सम्मुख खड़ा देख जब अर्जुन दुविधा में पड़ गया था, तो कृष्ण ने उन्हें गीता का उपदेश दिया था। उन्हीं के उपदेश से अर्जुन में बल का संचार हुआ, और वह कर्त्तव्यपालन के लिये तत्पर हुआ। वृद्धावस्था में कृष्ण योगी हो गये थे, और अंधक-वृष्णि-संघ का नेतृत्व छोड़ उन्होंने मुनियों का जीवन व्यतीत किया था। जिस प्रकार वर्धमान महावीर ज्ञातृक-गण में उत्पन्न हुए और गौतम बुद्ध शाक्यगण में, उसी प्रकार कृष्ण अन्धक-वृष्णि गण में प्रादुर्भूत हुए थे। उनके अपने गण में गीता की विचारधारा उसी समय से प्रचलित थी। शूरसेनवासी न केवल कृष्ण की शिक्षाओं को मानते थे, पर साथ ही उन्हें लोकोत्तर पुरुष के रूप में पूजते भी थे। अब जब कि बौद्ध और जैन धर्मों के प्रभाव से सनातन आर्य-धर्मावलम्बी लोग भी लोकोत्तर सर्वज्ञ पुरुषों में, ईश्वरीय शक्ति का आभास देखने के लिये उद्यत थे, कृष्ण की पूजा का लोकप्रिय हो जाना सर्वथा स्वाभाविक था। सात्वतों का यह भागवत-धर्म अब सर्वत्र फैलने लगा। निःसंदेह कृष्ण लोकोत्तर पुरुष थे। उनका जीवन आदर्श था, उनकी शिक्षायें अपूर्व थीं। यदि उनमें ईश्वरीय भावना करके, उन्हें ईश्वर का अवतार मान के, उनके रूप में सगुण परमेश्वर की पूजा की प्रवृत्ति प्रारम्भ हो, तो यह सर्वथा स्वाभाविक था। कृष्ण को बुद्ध और महावीर के समकक्ष रखा जा सकता था। बुद्ध और महावीर के रूप में जिस प्रकार के पुरुषों की पूजा का जनता को सदियों से अभ्यास था, कृष्ण का इस युग का रूप उसी के अनुकूल था। धीरे-धीरे कृष्ण को वैदिक विष्णु का अवतार माना जाने लगा, और उनके संबंध में बहुत-सी गाथाओं का प्रारंभ हुआ। श्रीमद्भगवद्गीता इस भागवत-सम्प्रदाय का मुख्य धर्मग्रंथ था। महाभारत और भागवत-पुराण में कृष्ण के दैवी रूप और माहात्म्य के साथ संबंध रखनेवाली बहुत-सी कथायें संगृहीत हैं।

बौद्ध-धर्म आचार-प्रधान था। याज्ञिक कर्मकाण्ड को उसमें कोई स्थान

न था। वह अहिंसा का प्रतिपादक था। बुद्ध के अनुयायी यद्यपि ईश्वर को नहीं मानते थे, पर बुद्ध की उपासना उन्होंने पूर्ण पुरुष के रूप में प्रारम्भ कर दी थी। चार सदियों तक निरन्तर बौद्ध-धर्म भारत का प्रधान धर्म रहा था। इस सुदीर्घ काल में भारत की जनता में जिन विचारों ने भली-भांति घर कर लिया था, वे निम्नलिखत थे—(१) याज्ञिक कर्मकाण्ड उपयोगी नहीं है।। (२) यज्ञ व धार्मिक अनुष्ठानों में पशुओं की हिंसा व बलिदान उचित नहीं है (३) मनुष्य को अपनी उन्नति के लिये एक पूर्ण पुरुष को आदर्श के रूप में सम्मुख रखना चाहिये। निर्गुण, निराकार और अरूप ब्रह्म की पूजा से काम नहीं चल सकता। उन्नति के पथ पर आरूढ़ होने के लिये मनुष्य के सम्मुख बुद्ध या महावीर सदृश पूर्ण सगुण पुरुष आदर्श के रूप में चाहियें, जिन के चरित्र व जीवन से मनुष्य लाभ उठा सके।

ये विचार भारतीय जनता में इतने दृढ़ हो चुके थे, कि दूसरी सदी ई० पू० में जब वैदिक धर्म का पुनरुद्धार होने लगा, तो पुराने याज्ञिक कर्मकाण्डों का उद्धार नहीं हुआ। भागवत-धर्म के रूप में पुरानी वैदिक मर्यादा का जो संस्करण अन्धक-वृष्णि लोगों में प्रचलित था, जनता ने उसे अपनाया। यह भागवत-धर्म उस समय के लोगों के विचारों के बहुत अनुकूल था। इसकी मुख्य विशेषतायें निम्नलिखित थीं—(१) भागवत लोग यज्ञों में पशु-हिंसा को उचित नहीं मानते थे। कृष्ण ने यज्ञों का विरोध नहीं किया। पर उनके जटिल अनुष्ठानों और हिंसात्मक विधानों का उसने समर्थन नहीं किया। (२) यदि बौद्धों और जैनों के पास बुद्ध और महावीर के रूप में आदर्श पुरुष थे, तो भागवतों के पास वासुदेव कृष्ण के रूप में एक ऐसा पूर्ण पुरुष था, जो आदर्श बालक, आदर्श युवा, आदर्श राजनीतिज्ञ, आदर्श योगिराज और आदर्श तत्वज्ञानी था। अब वैदिक धर्म के अनुयायियों को निर्गुण निराकार ब्रह्म की उपासना की आवश्यकता नहीं थी। उनके सम्मुख एक ऐसा देवता विद्यमान था, जो ब्रज में शरीर धारण कर ग्वालबालों के साथ खेलता है, जरासंध और कंस जैसे अत्याचारियों का वध करता है, कुरुक्षेत्र के मैदान में गीता का उपदेश करता है, और योगिराज होकर अपने शरीर का त्याग करता है। इस देवता के सुदर्शन चक्र में अपार शक्ति है। यह अपने भक्तों की सहायता व उद्धार के लिये सदा तत्पर रहता है। उसकी भक्ति व उपासना करने से मनुष्य अपना अभिलषित फल प्राप्त कर सकता है। (३) यह वासुदेव कृष्ण साधारण पुरुष नहीं था, वह विष्णु का अवतार था। यदि गौतम बुद्ध ने

अनेक पूर्वजन्मों की साधना द्वारा पूर्णता को प्राप्त किया था, तो कृष्ण के रूप में साक्षात् विष्णु भगवान् ने अवतार लिया था। (४) पुराने वैदिक धर्म में ईश्वर व देवताओं की पूजा के लिये यज्ञों का अनुष्ठान होता था। इस भागवत-धर्म में उनकी पूजा के लिये मंदिर और मूर्तियां बनने लगीं। जिस प्रकार बौद्ध लोग बुद्ध की मूर्तियां बनाते थे, इसी प्रकार भागवतों ने कृष्ण, विष्णु व अन्य वैदिक देवताओं की मूर्तियां बनानी प्रारम्भ कीं। इन मूर्तियों की मंदिरों में प्रतिष्ठा की जाती थी। मंदिरों में पूजा की जो नई पद्धति शुरू हुई, उसमें विधि-विधान या कर्मकाण्ड की अपेक्षा भक्ति का मुख्य स्थान था। भक्त लोग मंदिर में एकत्र होते थे, गीत गाकर, नैवेद्य चढ़ाकर, और पूजा करके वे अपने उपास्य देव को रिझाते थे। सर्वसाधारण जनता के लिये यज्ञों के अनुष्ठानों की अपेक्षा धर्म का यह रूप बहुत सरल और क्रियात्मक था।

पर यह ध्यान रखना चाहिये, कि वैष्णव या भागवत-धर्म का जो रूप आजकल प्रचलित है, वह दूसरी सदी ई० पू० में नहीं था। उस समय तक भागवत-धर्म में कृष्ण की गोपी-लीलाओं की कहानियां नहीं जुड़ पाई थीं। कृष्ण के संबंध में जो बहुत सी गाथायें आजकल प्रचलित हैं, जिनमें उसकी प्रेम-लीलाओं का वर्णन है, वे सब उस समय तक विकसित नहीं हुई थीं। दूसरी सदी ई० पू० का कृष्ण एक आदर्श पुरुष था, जिसमें विष्णु, नर-नारायण आदि वैदिक देवताओं के गुण अविकल रूप में प्रकट हुए थे। इसीलिये उसकी इन देवताओं के साथ अभिन्नता थी।

शैव-धर्म—शैव-धर्म का प्रवर्त्तक लकुलीश नाम का आचार्य था। पुराणों के अनुसार वह शिव का अवतार था। वह गुजरात देश में भरुकच्छ के पास कारोहरण या कायावरोहण नामक स्थान पर प्रगट हुआ था। लकुलीश ने जो ग्रंथ लिखा, उसका नाम पंचाध्यायी या पंचार्थविद्या था। दूसरी सदी ई० पू० तक शैव-धर्म भी भारत में भली-भांति विकसित होने लगा था और उसके अनुयायियों को 'शिव भागवत' या शैव कहा जाता था।

शिव भी वैदिक देवताओं में एक है। अनेक वेदमंत्रों में उसका वर्णन व स्तुति की गई है। उसी का अन्य नाम रुद्र था। जब वह दुष्टों का दमन व सृष्टि का प्रलय करता है, तो रुद्र रूप धारण करता है। जब वही देव प्रसन्न होकर सृष्टि का पालन और धारण करता है, तो शिव व शंकर कहाता है। जिस प्रकार वासुदेव कृष्ण के अनुयायियों ने विष्णु को अपना उपास्य देव माना और कृष्ण से उसकी अभिन्नता स्थापित की, उसी

प्रकार शिव भागवतों ने रुद्र या शिव को अपना उपास्य देव माना और लकुलीश से उसकी अभिन्नता स्थापित की। शुरू में शैव-धर्म को शिव भागवत, लाकुल (लकुलीश के नाम पर), पाशुपात और माहेश्वर नामों से जाना जाता था। आगे चलकर इसके अनेक सम्प्रदायों का विकास हुआ, जिनमें कापालिक और कालमुख विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

शैव लोग भी विधर्मियों को अपने धर्म में दीक्षित करते थे। अनेक विदेशी आक्रान्ता शैव-धर्म की ओर भी आकृष्ट हुए। इनमें कुशाण-राजा विम मुख्य है। उसके कुछ सिक्कों पर त्रिशूलधारी शिव की प्रतिमा है, जो अपने वाहन नन्दी के समीप खड़ा है। विम के समान अन्य भी अनेक विदेशियों ने शैव-धर्म की दीक्षा ली। वैष्णव भागवतों के समान शैव भागवत धर्म का भी बौद्धों के ह्रास के बाद विशेष रूप से प्रचार होने लगा था।

शैव-मंदिरों में पहले शिव की मूर्ति स्थापित की जाती थी। शैव लोग उसकी भक्ति व उपासना करते थे। बाद में शिव का स्थान लिंग ने ले लिया। शैव लोग लिंग की पूजा करने लगे। इस परिवर्तन के दो कारण हुए। ऐसा प्रतीत होता है, कि शैव-धर्म को किसी ऐसी विदेशी जाति ने विशेष रूप से अपनाया, जिसमें लिंग की पूजा प्रचलित थी। जब कोई नया जन-समाज किसी नये धर्म को अपनाता है, तो उस जन-समाज के पुराने विश्वास व प्रथायें भी नये रूप में उस धर्म में समाविष्ट हो जाती हैं। जब इस्लाम का प्रचार ईरान में हुआ, तो वहां की अनेक बातें इस्लाम-धर्म में आ गई। इसी से शिया-सम्प्रदाय का प्रारम्भ हुआ। इसी प्रकार किसी लिंग-पूजक जाति के शैव-सम्प्रदाय को अपना लेने पर वह पूजा शैव-धर्म में भी आ गई, और लिंग को भगवान् शिव का चिह्न या लिंग मान लिया गया। साथ ही संसार की जो सर्वोपरि उत्पादन शक्ति है, लिंग उसका प्रतीक है। भगवान् शिव सृष्टि का पालन व संहार करते हैं। उनका चिह्न सृष्टि की इस रहस्यमयी मूलशक्ति से बढ़कर कौन-सा हो सकता है?

शैव-धर्म को जिन लोगों ने अपनाया, उनमें यौधेयों का उल्लेख करना उपयोगी है। प्राचीन भारत के गणराज्यों में यौधेय गण का बहुत प्रमुख स्थान था। इन यौधेयों के सिक्कों पर भी नन्दी सहित शिव की प्रतिमा पाई जाती है। यौधेय लोग 'शिव भागवत' थे।

सूर्य की पूजा—विष्णु और शिव के समान सूर्य की पूजा भी इस समय भारत में प्रचलित हुई। सूर्य भी वैदिक देवताओं में से एक है। वैदिक काल से उसकी भी मान्यता भारत में विद्यमान थी। पर सूर्य की

पूजा के लिये मंदिरों की स्थापना नहीं की जाती थी। अब इस युग में भारत में सूर्य के भी मंदिर बनाये गये और उनमें सूर्य की मूर्ति स्थापित की गई। ऐसा प्रतीत होता है, कि सूर्य की इस नये रूप में पूजा का श्रेय भारत का प्राचीन ईरान (शाकद्वीप) से संबंध है। भविष्यपुराण के अनुसार सूर्य की पूजा के लिये शाकद्वीप से मग ब्राह्मणों को बुलाया गया। प्राचीन ईरान में सूर्य की पूजा देर से प्रचलित थी। ईरान के लोग भी आर्य-जाति के थे और उनके धर्म व संस्कृति का भारत के आर्यों से सन्निकट संबंध था। इन मग व ईरानी ब्राह्मणों ने भारत में सूर्य व मिहिर की पूजा की व्यवस्था की। कनिष्क के अनेक सिक्कों पर मिहिर की प्रतिमा भी विद्यमान है। भारत में जो सूर्य के मंदिर अब विद्यमान है, उनमें मुलतान (मूलस्थानपुर) का सूर्यमंदिर सबसे प्राचीन है। प्राचीन समय में अन्यत्र भी बहुत-से सूर्य-मन्दिर विद्यमान थे। इनके बहुत-से खंडहर इस समय काश्मीर, अलमोड़ा आदि में मिलते हैं।

बौद्ध-धर्म के ह्रास के बाद भारत में जिस धर्म का प्रचार हुआ, वह वैदिक परम्परा के अनुकूल था, वह वेदों में विश्वास करता था। पर उसका स्वरूप यज्ञ-प्रधान पुराने वैदिक धर्म से बहुत भिन्न था। उसमें कर्मकाण्ड का स्थान भक्ति व पूजा ने ले लिया था। वासुदेव कृष्ण, शिव और सूर्य के अतिरिक्त शक्ति, स्कन्द, गणपति आदि अन्य भी अनेक देवताओं की मूर्तियां इस समय बनी। उनके मंदिर भी स्थापित किये गये। इस सब प्रवृत्ति की तह में वही भक्ति-भावना काम कर रही थी, जिसका प्रतिपादन कृष्ण ने इन शब्दों में किया था, 'सब धार्मिक अनुष्ठानों को छोड़कर एक मेरी शरण में आओ।' वैदिक देवताओं की पूजा का यह एक नया प्रकार इस समय भारत में प्रचलित हो गया था।

(५) जातिभेद का विकास

प्राचीन आर्य बहुत-से जनों (कबीलों) में बंटे हुए थे। जन के सब लोगों को 'विशः' कहा जाता था। शुरू में उनमें कोई वर्ण या जातियां नहीं थी। सारे आर्यजन खेती, पशुपालन आदि से अपना निर्वाह करते थे। युद्ध के अवसर पर वे सब हथियार उठाकर लड़ने के लिये प्रवृत्त हो जाते और धार्मिक अनुष्ठान के अवसर पर सब लोग स्वयं कर्मकांड का अनुष्ठान करते। पर जब 'जन' एक निश्चित प्रदेश में बसकर 'जनपद' बन गये, तब उन्हें निरन्तर युद्धों में व्यापृत होने की आवश्यकता हुई। आर्यों को उन अनार्य जातियों

से निरन्तर युद्ध करना होता था, जिन्हें परास्त कर वे अपने जनपद बसा रहे थे। विविध जनपदों में आपस का भी संघर्ष जारी था। परिणाम यह हुआ, कि एक ऐसी विशेष श्रेणि बनने लगी, जिसका कार्य केवल युद्ध करना था, जो जनपद की 'क्षत' से रक्षा करती थी। इस प्रकार धीरे-धीरे एक पृथक वर्ण का विकास हुआ। जिसे क्षत्रिय कहते हैं। इसी तरह जब यज्ञों के कर्मकाण्ड ज्यादा जटिल होने लगे, ऐहलौकिक और पारलौकिक सुख के लिये विविध अनुष्ठानों का प्रारम्भ हुआ, तो ऐसे लोगों का भी पृथक् विकास होने लगा, जो इन धार्मिक विधि-विधानों में अधिक निपुणता रखते थे। ये लोग ब्राह्मण कहलाये। साधारण 'विशः' से ब्राह्मणों और क्षत्रियों के वर्ण पृथक होने लग गये। जो आर्य-भिन्न लोग आर्य-जनपदों में बसे रह गये थे, वे आर्यों की सेवा करके ही अपनी आजीविका चला सकते थे। कृषि, शिल्प, व्यापार आदि ऊंचे पेशे वे नहीं कर पाते थे। उनकी जमीन, उनकी पूंजी—सब आर्यविशः के हाथ में चली गई थी। ये लोग शूद्र कहलाये। इस प्रकार प्रत्येक आर्य-जनपद की जनता को मोटे तौर पर चार वर्णों में बांटा जा सकता था। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्णों का यह विभाग गुण और कर्म के ही आधार पर था, और इसका विकास सामाजिक उन्नति की विशेष परिस्थितियों के कारण ही हुआ था।

पर आर्य लोग ज्यो-ज्यों पूर्व की ओर बढ़ते गये, उनके जनपदों में आर्य-भिन्न लोगों की संख्या अधिकाधिक होती गई। पंजाब और गंगा-यमुना की धाटियों में विद्यमान आर्य-जनपदों में अनार्य लोगों की संख्या बहुत कम थी। शूद्र के रूप में उन्हें सुगमता से अपने समाज का ही एक अंग बनाया जा सकता था। पर पूर्व और दक्षिण में आगे बढ़ने पर आर्यों को एक नई परिस्थिति का सामना करना पड़ा। मगध, अंग, बंग, कलिंग और अवंति जैसे जनपदों में अनार्य लोग बहुत बड़ी संख्या में थे। उनका न जड़ से उन्मूलन किया जा सकता था और न उन्हें आगे-आगे खदेड़ा जा सकता था। उनकी सैनिक शक्ति भी कम नहीं थी। वे अच्छे वीर योद्धा थे, और संख्या में बहुत अधिक थे। पूर्व और दक्षिण में बहुत दूर तक आगे बढ़ आनेवाले आर्य-विजेताओं ने विवश होकर इन अनार्यों की स्त्रियों से विवाह-संबंध भी स्थापित किये थे। आर्य-स्त्रियां पर्याप्त संख्या में आर्य-विजेताओं के साथ इतनी दूर तक नहीं आ सकी थीं। परिणाम यह हुआ, कि अनेक वर्णसंकर जातियों का विकास हुआ। मगध और उसके समीपवर्ती जनपदों में बौद्ध और जैन धर्मों के रूप में जिन नवीन

धार्मिक आन्दोलनों का प्रारम्भ हुआ था, उनके वर्णभेद और जातिभेद-संबंधी विचार इसी नई परिस्थिति के परिणाम थे। ब्राह्मण व किसी विशेष श्रेणि की उत्कृष्टता की बात उन्हें समझ में नहीं आती थी। वहां जो सैनिक लोग थे, वे भी शुद्ध आर्य क्षत्रिय न होकर व्रात्य थे। व्रात्यों को भी प्राचीन ग्रंथों में वर्णसंकर गिना गया है। वज्जि, मल्ल, लिच्छवि आदि सब व्रात्य ही थे। पूर्व और दक्षिण के इन जनपदों में न केवल क्षत्रिय अपितु ब्राह्मण भी वर्णसंकर थे। सातवाहन-राजा जाति से ब्राह्मण समझे जाते थे, पर उनमें अनार्य रक्त विद्यमान था। जब मागध-साम्राज्य का विकास हुआ, और मगध की अनार्य-प्रधान सेनाओं ने सारे भारत को जीत लिया, तो प्राचीन आर्यजनों के शुद्ध ब्राह्मणों व क्षत्रियों की उत्कृष्टता कैसे कायम रह सकती थी। बौद्ध और जैन ब्राह्मण व क्षत्रियों की उत्कृष्टता को नहीं मानते थे। उनकी दृष्टि में कोई व्यक्ति अपने गुणों व चरित्र से ही ऊंचा होता था, जन्म या जाति से नहीं। मागध-साम्राज्य के विकास की नई परिस्थितियों में यह सिद्धान्त कितना समयानुकूल था।

अब शक, यवन और युइशि लोगों के आक्रमणों से एक और नई परिस्थिति उत्पन्न हुई। इन विजेताओं ने भारत के बहुत बड़े भाग को जीत-कर अपने अधीन कर लिया था। ये उत्कट योद्धा थे। बहुत बड़ी संख्या में ये लोग भारत के विविध जनपदों में विजेता के रूप में बस गये थे। इनकी राजनीतिक और सामाजिक स्थिति बहुत ऊंची थी। बौद्ध और जैन-विचारधारा के अनुसार इनके कारण सामाजिक जीवन में कोई कठिनाई उत्पन्न नहीं होती थी। भारत में आकर इन्होंने बौद्ध या जैन धर्म को अपनाना शुरू कर दिया था। जाति-पांति व वर्णभेद के विचारों से शून्य इन धर्मों के लिये इन म्लेच्छ विजेताओं को अपने समाज का अंग बना लेना विशेष कठिन नहीं था।

पर सनातन आर्य-धर्म के पुनरुत्थान के इस काल में इस नई परिस्थिति का सामना चातुर्वर्ण्य में विश्वास रखनेवाले पौराणिक धर्मावलम्बियों ने किस प्रकार किया? चातुर्वर्ण्य का सिद्धान्त प्राचीन आर्य-धर्म की एक विशेषता थी। बौद्धों के उत्कर्ष के काल में भी उसका सर्वथा परित्याग कर सकना संभव नहीं था। पर इन शक्तिशाली आर्यभिन्न योद्धाओं, यवनों, शकों व अन्य बहुत-सी जातियों को चातुर्वर्ण्य में किस प्रकार स्थान दिया जाता? किस प्रकार ऐसी व्यवस्था की जाती, कि इस युग की नई भावना से चातुर्वर्ण्य

का सिद्धान्त पुनः अनुप्राणित हो जाता ? वैदिक धर्म के पुनरुत्थान के नेताओं ने इस संबंध में जिस नीति का अनुसरण किया, वह बड़े महत्त्व की है। उन्होंने कहा—यवन, शक, पारद, पल्हव, कांबोज, द्रविड़, पौण्ड्रक आदि ये सब जातियां मूलतः क्षत्रिय थीं, पर ब्राह्मणों का सम्पर्क न रहने से ये वृषलत्व (म्लेच्छत्व) को प्राप्त हो गई। पर अब जब इन्हें फिर ब्राह्मणों का संपर्क मिला और इन्होंने वैदिक सम्प्रदायों को अपना लिया, तो इन्हें क्षत्रिय क्यों न समझ लिया जाय ? भारत में जो शक, पल्हव, यवन आदि आये, वे सब इस समय क्षत्रियों में शामिल कर लिये गये। हमारे पुरखाओं की यह युक्ति कितनी सुन्दर थी ! जो ये म्लेच्छ आक्रांता भारत पर आक्रमण कर यहां अपनी राजनीतिक शक्ति को स्थापित करने में सफल हुए थे, वे सब मनु के इस सिद्धान्त के अनुसार क्षत्रियवर्ग में शामिल हो गये। ब्राह्मणों के पुनः संपर्क से अब उन्होंने वासुदेव कृष्ण और शिव की उपासना प्रारम्भ कर दी थी। उनमें वृषलत्व कुछ शेष रहीं रह गया था। इसी तरह इन विदेशी म्लेच्छों के पुरोहित ब्राह्मणवर्ग में सम्मिलित कर लिये गये, क्योंकि उन्होंने भी प्राचीन आर्य-विचारधारा को अपना लिया था। मुलतान के सूर्यमंदिर में शाकद्वीप (शकस्थान) के 'ब्राह्मणों' को पुजारी के रूप में नियत करना इसका स्पष्ट उदाहरण है।

मगध, अवंति, अंग आदि जनपदों में आर्य अपनी रक्तशुद्धि को कायम रखने में समर्थ नहीं हुए थे। उन्होंने आर्य-भिन्न जातियों के साथ रक्तसंबंध स्थापित किये थे। इन्हे इस काल में व्रात्य और वर्णसंकर कहा गया। मनुस्मृति के अनुसार भूर्जकंटक और आवन्त्य व्रात्य ब्राह्मणों की सन्तान थे, और झल्ल, मल्ल, व लिच्छवियों की उत्पत्ति व्रात्य क्षत्रियों से हुई थी। कारूष और सात्वत व्रात्य वैश्यों की संतति थे। वैश्य और क्षत्रिय के सम्मिश्रण से मागध और वैश्य व ब्राह्मण के सम्मिश्रण से वैदेह लोगों का विकास हुआ था। मनु के इस मत में कोई सचाई हो या न हो, पर इस वैदिक पुनरुत्थान युग के विचारक इस तथ्य को दृष्टि में ला रहे थे, कि मागध, वैदेह, आवन्त्य, लिच्छवि, सात्वत आदि लोग शुद्ध आर्य नहीं हैं, पर समाज में उनका बड़ा महत्त्व है। उन्हें वे व्रात्य ब्राह्मण, व्रात्य क्षत्रिय, व्रात्य वैश्य व वर्णसंकर बताकर चातुर्वर्ण्य के दायरे में शामिल करने का प्रयत्न कर रहे थे।

इस समय के विचारकों ने एक और सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। अपने कर्म से शूद्र ब्राह्मण बन जाता है, और ब्राह्मण शूद्र। इसी प्रकार क्षत्रिय और

वैश्य भी अपने कर्म से ही होते है। युग की परिस्थितियों के अनुसार यह सिद्धान्त कितना क्रियात्मक और समयानुकूल था। जब शक, यवन और कुशाण जैसी म्लेच्छ जातियां आर्य-क्षत्रियों को परास्त कर राज्य करने में व्यापृत थीं, शूद्र-जाति में उत्पन्न हुए बौद्ध-भिक्खु जनता के धर्मगुरु बने हुए थे, तब यदि कर्म के अनुसार चातुर्वर्ण्य का प्रतिपादन किया जावे, तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है?

पर यहां यह भी स्पष्ट करने की आवश्यकता है, कि वर्ण और जाति दो भिन्न-भिन्न वस्तुएं हैं। किसी भी आर्य 'जन' में चारों वर्ण हो सकते थे। गुण और कर्म के अनुसार किसी भी मानवसमूह को इन चार वर्णों में रखा जा सकता है। जब प्राचीन विचारकों को एक छोटे-से आर्य-जनपद के क्षेत्र से निकलकर विशाल भारत के जनसमाज में इस चातुर्वर्ण्य के सिद्धान्त का प्रयोग करना पड़ा, तो उन्हें नई परिस्थितियों के कारण कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, यह हम ऊपर प्रदर्शित कर चुके हैं। पर इस युग के भारत में बहुत-सी जातियों का पृथक्-रूप में भी विकास हो रहा था। वर्तमान भारत में खत्री, अरोड़ा, रस्तोगी, कोली, मुरई आदि जो सैकड़ों जातियां पाई जाती हैं, उन्हें किसी वर्ण में सम्मिलित करना सुगम नहीं है। कोली और मुरई शूद्रों में शामिल किये जाने से एतराज करते हैं। पर क्षत्रिय लोग उन्हें क्षत्रिय मानने को तैयार नहीं हैं। यही बात और बहुत-सी जातियों के संबंध में भी कही जा सकती है।

वास्तविकता यह है, कि प्राचीन भारत में जो सैकड़ों छोटे-बड़े गण-राज्य थे, वे ही इस युग में धीरे-धीरे जातियों का रूप धारण करने लगे। प्राचीन गणराज्य दो प्रकार के थे--वार्ताशस्त्रोपजीवि और राजशब्दोपजीवि। 'वार्ता' का अभिप्राय कृषि, पशुपालन और वाणिज्य से है। कुछ गण जहां कृषि पशुपालन और वाणिज्य करके अपना जीवननिर्वाह करते थे, वहां वे शस्त्र भी धारण करते थे। कंबोज, क्षत्रिय और श्रेणि गण इसी प्रकार के थे। लिच्छवि, वज्जि, कुकुर, कुरु, पंचाल आदि गण राजशब्दोपजीवि थे। इनमें प्रत्येक कुल का नेता राजा कहलाता था, और अपने राजत्व का इन्हें बड़ा अभिमान था। प्रत्येक गण में एक-एक 'जन' (कबीले) का निवास था। इन जनों को अपने वंश की उच्चता और रक्त की शुद्धता का बड़ा गर्व था। कोशलराज प्रसेनजित् के प्रयत्न करने पर भी शाक्य गण के राजा अपनी कुमारी को उसके साथ विवाह में देने के लिये तैयार नहीं

अपने साथ संबंध रखनेवाले मामलों का निर्णय अपनी बिरादरी की पंचायत में स्वयं करती रही। राजनीतिक दृष्टि से परतंत्र हो जाने के बाद भी सामाजिक व आर्थिक क्षेत्र में उनका गण जीवित रहा।

वर्तमान समय की बहुत-सी जातियों की उत्पत्ति प्राचीन गणराज्यों में ढूंढ़ी जा सकती है। पंजाब के आरट्ट और क्षत्रिय गण इस समय के अरोड़े और खत्री जातियों में बदल गये। कौटलीय अर्थशास्त्र का श्रेणि-गण इस समय के सैनियों के रूप में अब भी जीवित है। बौद्ध-काल के पिप्पलिवन के मोरिय इस समय भी मोरई जाति के रूप में विद्यमान हैं। प्राचीन रोहितक गण इस समय के रस्तोगियों, रुस्तगियों व रोहतगियों के रूप में, आग्रेय गण अग्रवालों के रूप में, कांबोज गण कंबो जाति के रूप में, कोलिय गण कोरी जाति के रूप में और आर्जुनायन गण अरायन जाति के रूप में इस समय भी स्वतंत्र रूप से विद्यमान हैं। इसी प्रकार के और भी बहुत-से उदाहरण पेश किये जा सकते हैं, पर इस तथ्य को स्पप्ट करने के लिये ये ही पर्याप्त हैं।

भारत की बहुत सी वर्तमान जातियों में यह किंवदंती चली आती है, कि उनका उद्भव किसी प्राचीन राजा से हुआ है, वे किसी राजा की संतान हैं, और किसी समय उनका भी पृथिवी पर राज्य था। ये किंवदंतियां इसी सत्य पर आश्रित हैं, कि किसी समय ये जातियां स्वतंत्र गणराज्यों के रूप में विद्यमान थीं, और ये इन गणराज्यों की ही उत्तराधिकारी हैं। जो गण वार्ताशस्त्रोपजीवि थे, उनकी शस्त्रोपजीविता की इस युग में आवश्यकता नहीं रही थी, क्योंकि वे शक्तिशाली सम्राटों की अधीनता व संरक्षण में आ गये थे। अब वे केवल वार्तोपजीवि रह गये, और गुणकर्मानुसार वर्णविभाग करने पर उनकी गणना वैश्यों में की जाने लगी। अग्रवाल, रस्तोगी आदि सभी ऐसी ही वैश्य जातियां हैं। किसी समय रोहितक और आग्रेय गणों ने सिकन्दर की सेनाओं का डटकर मुकाबला किया था, पर अब उनके उत्तराधिकारी केवल वार्तोपजीवि ही रह गये हैं।

गणों के जातियों के रूप में परिवर्तित होने की प्रक्रिया का प्रारंभ होना इस युग की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना है। सात्वतों और कारूषों के समान उस समय के स्मृतिकार चाहे इन्हें व्रात्य वैश्य कहें, और चाहे लिच्छवि और मल्लों की तरह व्रात्य क्षत्रिय, पर महत्त्व की बात यह है, कि प्राचीन समय के स्वतंत्र गण इस समय जातियों के रूप में परिवर्तित होने प्रारंभ हो गये थे।

शुद्ध आर्य-जनपदों में जो चारों वर्णों का भेद था, वह भी बहुत कुछ कर्म के ऊपर आश्रित था। वर्ण पूर्णतया जातिभेद को सूचित नहीं करते थे। अनुलोम और प्रतिलोम विवाह इस युग में जारी थे। ऊंचे वर्ण के लोग अपने से नीचे वर्ण की स्त्री के साथ विवाह कर सकते थे। इसी तरह ऊंचे वर्ण की स्त्री का निचले वर्ण के पुरुष के साथ विवाह भी असाधारण बात नहीं थी। इस प्रकार के विवाहों से उत्पन्न संतान को पिता की संपत्ति में हिस्सा भी मिल सकता था। पुराने समय के ब्राह्मणों के बहुत-से वंशज ऐसे कार्यों में भी लगे हुए थे, जो तुच्छ और नीच कर्म समझे जाते थे। मनुस्मृति में ऐसे ब्राह्मणों की सूची दी गई है, जिन्हें श्राद्ध में नहीं बुलाना चाहिये। इस सूची में से कुछ को यहां उद्धृत करना उपयोगी है। चिकित्सक, पुजारी, मांस बेचनेवाले, बुरे प्रकार का व्यापार करनेवाले, राजा के हरकारे का काम करनेवाले, सूदखोर, पशुपालक, नट, नर्तक, तेली, शराबी, विष बेचनेवाले, धनुष और बाण बनानेवाले, जुवारी, हाथी, बैल, घोड़े और ऊंटों को साधनेवाले, मिस्त्री, माली, कुत्तों को पालनेवाले, बाज पालनेवाले, भिखारी, कृषिजीवी, मेढों और भैंसों का रोजगार करनेवाले और मुर्दा ढोनेवाले—ये तथा अन्य इसी प्रकार के कर्म करनेवाले बहुत-से ब्राह्मण मनुस्मृति में ऐसे गिनाये गये हैं, जिन्हें श्राद्ध के अवसर पर नहीं बुलाना चाहिये। इससे प्रतीत होता है, कि इस मौर्योत्तर युग में ब्राह्मण वर्ण के लोग केवल विद्या पढ़ने-पढ़ाने और यज्ञ करने-कराने में ही व्यापृत नहीं रहते थे, अपितु अनेक प्रकार के तुच्छ तथा नीच कर्मों द्वारा भी आजीविका चलाते थे। आर्य-जनपदों में धार्मिक अनुष्ठानों तथा विधि-विधानों की विशिष्टता होने के कारण जिस पृथक् ब्राह्मण श्रेणि या वर्ण का विकास हुआ था, उसके वंशज अब सब प्रकार के ऊंच-नीच कर्मों द्वारा अपना पेट पालने लगे थे। पर वे असली ब्राह्मण नहीं है, यह भावना इस काल में विद्यमान थी। शायद इसीलिये आगे चलकर भारत में नाई, माली, महाब्राह्मण, मिस्त्री, नट, वैद्य, योगी आदि जिन विविध जातियों का विकास हुआ, वे ब्राह्मणों का गौरवमय पद नहीं पा सकीं, यद्यपि वे अब तक भी अपने को ब्राह्मण ही समझती हैं और अपने को ब्राह्मण वर्ण का होने का दावा करती रहती हैं।

आर्यों के अधीन जो बहुत-से आर्य-भिन्न शूद्र व दास लोग थे, वे सेवा द्वारा ही अपना पेट पालते थे। पर सेवा का मतलब घरेलू नौकरी से ही नहीं था। आर्य-गृहपतियों के अधीन चर्मकार, तंतुवाय, शिल्पी, लुहार

आदि विविध प्रकार का कार्य करनेवाले सब तरह के दास रहते थे। धीरे-धीरे इनकी भी पृथक् जातियां बनने लगीं। दासों व शूद्रों का अपना कोई स्वाधीन जीवन तो था ही नहीं। उनका कार्य ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य-गृहपतियों की आवश्यकताओं को पूरा करना ही था। इनमें यदि कोई भेद था, तो केवल पेशे व कर्म का था। अन्यथा शूद्र-रूप में इन सबकी स्थिति एक थी। चमार, जुलाहे, लुहार, शिल्पकार आदि जो बहुत-सी छोटी समझी जाने-वाली जातियां इस समय भारत में हैं, उनका विकास इसी प्रकार हुआ। ये जातियां पंजाब में बहुत कम संख्या में है, क्योंकि वहां के आर्य-जनपदों में आर्यभिन्न लोगों की संख्या बहुत कम थी। शूद्र व दास अधिक संख्या में वहां हो ही कैसे सकते थे? पर पूर्व व दक्षिण के आर्य-शासित जनपदों में ये जातियां बहुत अधिक थीं, इसीलिये उनमें नीच समझी जाने वाली जातियां अब भी बड़ी संख्या में विद्यमान है। वर्तमान समय की अछूत व नीच जातियां प्राचीन भारत के दासों की ही उत्तराधिकारी है।

खान-पान के संबंध में विशेष विचार इस युग में नहीं था। पतंजलि के महाभाष्य के अनुसार कुछ जातियां ऐसी थी, जो पात्र से निरवसित थीं, अर्थात् उनके बरतनों में आर्य लोग भोजन नहीं करते थे, और न उन्हें अपने बरतनों में खिलाते ही थे। पर शकों और यवनों की गिनती इन पात्र-निरवसित लोगों में नही थी। केवल चांडाल, निषाद आदि बहुत नीची समझी जानेवाली जातियों से ही यह व्यवहार किया जाता था।

(६) भिक्खु-जीवन के विरुद्ध भावना

आश्रम-व्यवस्था आर्यों के जीवन और संस्कृति का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। प्रत्येक मनुष्य को ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ अवश्य होना चाहिये। जो विद्वान् हों, ब्राह्मण हों, उन्हे वानप्रस्थ के बाद संन्यासी होकर जनता की सेवा भी करनी चाहिये। संन्यासी को अपने भरण-पोषण के लिये गृहस्थों पर निर्भर रहना होता है, इसीलिये केवल उन्हीं लोगों को इस आश्रम में प्रवेश करने का अधिकार है, जो सचमुच जनसेवा जैसे पवित्र और उच्च व्रत का पालन करने योग्य हों। पर बौद्ध और जैन-संप्रदायों में भिक्खु बनने के लिये इस आदर्श का पालन नहीं किया जाता था। इसमें संदेह नहीं, कि शुरू में भिक्खुसंघ का संगठन मनुष्यमात्र के कल्याण और सब प्राणियों के हितसाधन के लिये किया गया था। अपने आर्य-मार्ग के प्रचार के लिये भी

महात्मा बुद्ध ने लोगों को भिक्खु बनने की प्रेरणा की थी। पर इसका दुरुपयोग भी सुगमता से हो सकता था। धीरे-धीरे बहुत बड़ी संख्या में युवा और वृद्ध ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सब प्रकार के लोग भिक्खु बनने लगे। इन्हें अपनी आजीविका के लिये स्वयं परिश्रम करने की कोई आवश्यकता नहीं थी। धनी और राजा लोग इनके पालन के लिये धन को पानी की तरह बहाते थे। समाज के लिये इस प्रकार के लोगों की एक बहुत बड़ी श्रेणि बड़े खतरे की बात थी। राजा अशोक से पहले भी आचार्य चाणक्य ने इस खतरे को अनुभव किया था। उसने व्यवस्था की थी, कि भिक्खु या परिव्राजक होने के लिये राज्य की अनुमति लेना आवश्यक होना चाहिये। जिन लोगों ने अपने परिवार के प्रति सब कर्त्तव्यों का पालन कर लिया हो, जो संतान की उत्पत्ति के अयोग्य हों, उन्हीं को विशेष दशा में भिक्खु बनने की अनुमति सरकार द्वारा मिलनी चाहिये, यह विचार चाणक्य ने प्रकट किया था।

अब इस मौर्योत्तर-काल के विचारकों ने भी इसी विचारधारा का अनुसरण किया। गृहस्थ-आश्रम सब आश्रमों में ऊंचा है, उसी से सब वर्णों व आश्रमों का पालन होता है, इस विचार पर इस समय बहुत जोर दिया जाने लगा। मनु ने कहा, जैसे वायु का आश्रय पाकर सब जंतु जीते हैं, उसी प्रकार गृहस्थ का आश्रय पाकर सब आश्रमों का गुजारा चलता है। क्योंकि अन्य तीन आश्रमियों का गृहस्थ ही पोषण करता है, इसलिये यही आश्रम सबमें ज्येष्ठ है। इसी विचार को महाभारत के शांति-पर्व में इस प्रकार प्रकट किया गया, कि जैसे नदी-नाले सब अन्त में समुद्र में ही जाकर मिल जाते हैं, उसी प्रकार सब आश्रमों का आश्रय गृहस्थ ही है। मनु के अनुसार, एक आश्रम से क्रमशः दूसरे में प्रवेश कर, यथासमय होम-हवन आदि अनुष्ठानों को संपादित कर पूर्ण जितेन्द्रिय हो, बाद में परिव्राजक होना चाहिये। पितृऋण, ऋषिऋण और देवऋण तीनों को चुकाकर तब मोक्ष की ओर मन लगाना चाहिये। तीन ऋणों को चुकाये बिना मोक्ष के लिये प्रयत्न करनेवाले का पतन होता है। ब्रह्मचर्य में वेद पढ़े बिना, गृहस्थ में संतान उत्पन्न किये बिना और वानप्रस्थ में यज्ञानुष्ठान किये बिना जो सीधा मोक्ष के लिये दौड़ता है, वह नीचे की तरफ को ही गिरता है। हरेक मनुष्य को भिक्खु या मुनि बनकर निर्वाण या केवलीपद के लिये प्रयत्न करने लग जाने के विरुद्ध इससे बढ़कर युक्ति और क्या हो सकती है? यह स्पष्टरूप से उस प्रतिक्रिया को सूचित करता है, जो इस युग में भिक्खु-जीवन के विरुद्धबल पकड़ रही थी।

महाभारत के शांति-पर्व में कथा आती है, कि महाभारत-युद्ध के बाद अपने गुरुजनों तथा बन्धु-बांधवों का क्षय देखकर युधिष्ठिर के मन में बड़ी ग्लानि हुई। उसे वैराग्य उत्पन्न हुआ और वह राजपाट छोड़कर संन्यास के लिये तैयार हो गया। इसपर उसके भाई उसे समझाने लगे। इस प्रकरण में महाभारत-कार ने भीम के मुख से भिक्खु-जीवन के विरुद्ध अपने विचारों को मज़ाक के रूप में प्रकट किया है। वह कहता है, जब कोई आफत आ पड़े, मनुष्य बूढ़ा हो जाये, या शत्रुओं से उसकी दुर्गति हो जाय, तभी संन्यास ले लेना चाहिये। मौन धारण करके, केवल अपना पेट भरते हुए, धर्म का ढोंग रचकर मनुष्य नीचे ही गिर सकता है। अकेला आदमी, जिसे पुत्र-पौत्रों का भरण-पोषण न करना हो, देवताओं, ऋषियों, अतिथियों व पितरों का पालन न करना हो, जंगल में सुख से रह सकता है। जंगलों में रहनेवाले न तो ये मृग स्वर्ग को पाते हैं, न सुअर और न पक्षी। यदि संन्यास से कोई सिद्धि पा सके, तो पहाड़ और वृक्ष तुरन्त ही सिद्धि पा लें। भीम की ये युक्तियां उस समय के भिक्खुओं के जीवन का कितनी सुन्दरता से उपहास करती हैं।

फिर अर्जुन ने कुछ तापसों और पक्षी बने हुए इन्द्र का एक पुरातन इतिहास सुनाकर कहा—जंगलों में इस तरह सुख से जीवन बिताया जा सकता है, यह सोचकर कुछ अजातश्मश्रु (बिना दाढ़ी-मूंछ के) द्विज घर-बार छोड़कर संन्यासी हो गये थे।

स्त्रियों के भिक्खुनी बनने के तो ये विचारक और भी खिलाफ थे। अशोक से पहले ही नीतिकारों की भावना इस बात के विरुद्ध हो गई थी। स्त्रियों का प्रधान कार्य संतानोत्पत्ति द्वारा समाज की जनसंख्या बढ़ाना है, नीतिकार इस बात पर बड़ा जोर देते थे। इसलिये उनका भिक्खुनी बनकर विहारों में बैठ जाना उन्हें सह्य नहीं था। भिक्खुनी व प्रव्रजिता स्त्रियों को इस युग में बहुत नीची दृष्टि से देखा जाने लगा था।

वैदिक धर्म के पुनरुत्थान के इस युग में धर्म का नेतृत्व जिन ब्राह्मणों के हाथ में आया था, वे संन्यासी व भिक्षु बने बिना ही, गृहस्थ रहते हुए अपने कर्त्तव्यों का संपादन करते थे। भिक्षु-जीवन सबसे उच्च है, गृहस्थ लोग सांसारिक जीवन व्यतीत करते हुए मोक्षसाधन नहीं कर सकते, यह विचार बौद्धों और जैनों में बहुत जोर पकड़े हुए था। इस समय इसके विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई। गृहस्थाश्रम सबसे उच्च और महत्त्वपूर्ण है, गृहस्थ रहते हुए ही मनुष्य धर्म और समाज के प्रति अपने कर्त्तव्यों को पूर्ण कर सकता है, इस भावना का इस युग में फिर उदय हुआ।

(७) विवाह-संबंधी नियम

मौर्य-युग में तलाक की प्रथा प्रचलित थी। कौटलीय अर्थशास्त्र में तलाक के लिये 'मोक्ष' शब्द का प्रयोग किया गया है। स्त्री और पुरुष, दोनों खास-खास अवस्थाओं में तलाक कर सकते थे। पर इस युग में यह प्रथा कमजोर पड़ गई थी। मनुस्मृति के अनुसार पुरुष स्त्री का त्याग कर सकता है, पर त्यक्त हो जाने के बाद भी वह पति की भार्या बनी रहेगी। पति से त्यागी जाने पर स्त्री को यह अधिकार नहीं है, कि वह दूसरा विवाह कर सके। दूसरी तरफ स्त्री को यह अधिकार नहीं, कि वह पति का त्याग कर सके। स्त्री यदि रोगिणी हो, तो उससे अनुमति लेकर पुरुष दूसरा विवाह कर सकता था।

नियोग की प्रथा इस समय में भी जारी थी। संतान न होने की दशा में देवर या किसी अन्य सपिंड व्यक्ति के साथ नियोग किया जा सकता था। मनु को विधवा-विवाह पसन्द नहीं था। यद्यपि कुछ अवस्थाओं में स्त्रियों के पुनर्विवाह का विधान किया गया है, पर मनु का मंतव्य यही था, कि स्त्री का दूसरा विवाह नहीं होना चाहिये।

यह स्पष्ट है, कि स्त्रियों की स्थिति इस युग में मौर्यकाल की अपेक्षा हीन थी। आगे चलकर स्मृतिकार स्त्रियों की स्थिति को और भी हीन करते गये। बौद्ध लोगों में भिक्खुनियों ने जो अपने पृथक् संघ बनाये थे, उनमें अनाचार की मात्रा बहुत बढ़ गई थी। स्वयं महात्मा बुद्ध को इस बात का भय था। भिक्खुनी-संघ के अनाचार को देखकर ही शायद इन स्मृतिकारों में यह प्रवृत्ति हुई थी, कि स्त्रियों की स्वाधीनता को कम करें और आर्य-स्त्रियों को उनके पतियों का अधिक वशवर्ती बनावें।

(८) अहिंसावाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया

बौद्ध और जैन-धर्मों ने अहिंसा पर बहुत बल दिया था। किसी भी प्राणी की हत्या नहीं करनी चाहिये, मांस भक्षण नहीं करना चाहिये, और प्राणिमात्र की रक्षा के लिये सदा तत्पर रहना चाहिये—ये इन धर्मों के सिद्धान्त थे। यज्ञों में पशुबलि के विरुद्ध इन्होंने प्रबल आवाज उठाई थी। अशोक जैसे राजाओं ने अपने जीवन में अहिंसा के आदर्श का पालन कर अपनी प्रजा को भी इसी का उपदेश दिया था।

पर अश्वमेध-यज्ञ के पुनरुत्थान के इस युग में अहिंसा के विरुद्ध प्रतिक्रिया

हुई। महाभारत में एक संदर्भ आता है, जिसमें 'जीवो जीवस्य भोजनम्' के सिद्धान्त का बड़ी सुन्दर रीति से प्रतिपादन किया गया है। हम प्रकृति में देखते हैं, कि एक जीव को दूसरा जीव खाता है। उसे अन्य जीव खाता है। सैकड़ों इस प्रकार के दृष्टांत देकर महाभारतकार कहता है, कि जीव ही जीव का भोजन है। निर्जीव पदार्थ को खाकर कोई जीव प्राण-धारण नहीं कर सकता, अतः यह प्रकृति का ही नियम है, कि जीव जीव को खाकर जीवित रहे। फिर हिंसा में क्या दोष है?

मनुस्मृति में मांस-भक्षण का भी विधान है। मनु महाराज कहते हैं कि ब्राह्मणों को यज्ञ के लिये प्रशस्त मृगों और पक्षियों को मारना चाहिये। पुराने समय में भी यह प्रथा थी। यज्ञशेष मांस को स्वयं खाना चाहिये। महाभारत की युक्ति को भी मनु ने दोहराया है। प्रजापति ने जो कुछ स्थावर और जंगम रचा है, सब प्राणियों का अन्न (भोजन) है। चरों के अन्न अचर हैं। दाढ़वालों के अन्न बिना दाढ के प्राणी हैं, हाथवालों के अन्न हस्तहीन प्राणी हैं, और शूरों के अन्न भीरु हैं। खाने योग्य प्राणियों को खाने से खानेवाला दूषित नहीं होता। विधाता ने ही खाने-वाले और खाने योग्य प्राणी बनाये हैं।

पर अहिंसा के संबंध में बौद्ध और जैन-धर्मों का इस युग के स्मृतिकारों व विचारकों पर कोई प्रभाव न हो, यह बात नहीं है। मनुस्मृति व इस युग के अन्य ग्रंथों में वृथा हिंसा का विरोध किया गया है। यज्ञ में हिंसा करने से पाप नहीं लगता, 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' यह विचार इस समय में फिर प्रबल हुआ। पर यज्ञ के अतिरिक्त अकारण हिंसा बुरी बात है, यह मत स्मृतियों को भी अभिप्रेत था।

बौद्ध-विचारों का ही यह प्रभाव था, कि मांस-भक्षण संबंधी अपने विचारों को मनु ने इस प्रकार प्रकट किया कि मांस-भक्षण में दोष तो कोई नहीं, आखिर यह जन्तुओं की स्वाभाविक प्रवृत्ति है, पर यदि इसको न खाया जाय, तो बड़ा उत्तम फल होता है। मांस-भक्षण इस युग में बहुत अच्छा समझा जाता हो, सो बात नहीं थी। एक अन्य स्थान पर मनु ने लिखा है—प्राणियों के हिंसा किये बिना मांस प्राप्त नहीं होता, और प्राणियों का वध करना कोई अच्छी बात नहीं, अतः मांस नहीं खाना चाहिये। इसका अभिप्राय यही है, कि प्राचीन सनातन धर्म के पुनरुत्थान के इस युग में यज्ञों में पशुहिंसा करने, श्राद्ध आदि धार्मिक अनुष्ठानों में मांस का भक्षण करने

और यज्ञशेष-रूप से मांस को खाने का तो स्मृतिकार प्रतिपादन कर रहे थे, पर व्यर्थ हिंसा के विरुद्ध जो भावना बौद्ध-काल में उत्पन्न हुई थी, उसका प्रभाव अभी शेष था। यह प्रभाव भारतीय आर्य-धर्म पर सदा के लिये स्थिर-सा हो गया। भागवत वैष्णव धर्म के अनुयायी बौद्धों और जैनों के समान ही अहिंसावादी थे। प्राचीन परिपाटी के अनुसार यज्ञ के अवसर पर एक विशेष अनुष्ठान के रूप में हिंसा कर लेना अपवाद माना जाता था। पर अन्यन्त्र पशुओं को मारना भारत में इस युग में भी अच्छा नहीं समझा गया।

बौद्धों के अहिंसावाद का ही यह प्रभाव था, कि मनु ने समाह्वय को रोकने का आदेश दिया। समाह्वय वे उत्सव थे, जिनमें पशुओं को लड़ाया जाता था। भारतीय लोग बहुत बड़ी संख्या में एक खुले मैदान में इकट्ठे होते थे, और वहां पशुओं की लड़ाई कराई जाती थी। भैंसें, भेड़ें और यहां तक कि मुर्गों और बटेरों की भी लड़ाई प्राचीन समय में प्रचलित थी। लोग ये लड़ाइयां देखकर बड़े प्रसन्न हाते थे। वात्स्यायन के कामसूत्र में इनका उल्लेख आता है। पहले जमाने में इन्हीं को 'समाज' कहा जाता था। राजा अशोक ने इस प्रकार के समाजों के विरुद्ध आवाज उटाई थी। मनु को भी ये पसन्द नहीं थे, क्योंकि उनमें भी व्यर्थ हिसा होती थी।

(९) राज्य-शासन

मौर्योत्तर-युग के राज्यों में शासन का प्रकार प्रायः वही रहा, जो मौर्य-काल में था। मागध-सम्राट् इस समय में भी एकच्छत्र शासक थे। पर बंगाल की खाड़ी से लगाकर मथुरा तक विस्तीर्ण (पुष्यमित्र के बाद के शुंग-काल में) इस साम्राज्य में बहुत-से जनपद अन्तर्गत थे। अनेक जनपदों में अपने पृथक् राजा भी थे, जिनकी स्थिति शुंग-सम्राटों के अधीनस्थ राजाओं की थी। इस प्रकार के दो सामंतों, अहिच्छत्र के इन्द्रमित्र और मथुरा के ब्रह्म-मित्र के सिक्के भी उपलब्ध हुए हैं। साम्राज्य के अन्तर्गत इन जनपदों का शासन प्राचीन परम्परा के अनुसार होता था। जनपद के धर्म, कानून, व्यवहार और आचार को मागध-सम्राट् न केवल अक्षुण्ण रखते थे, अपितु उनका भलीभांति अनुसरण किया जावे, इसका भी पूरा ध्यान रखते थे। पर इन जनपदों से मागध-सम्राट् कर या बलि वसूल किया करते थे। जनपदों का शासन बहुत पुराने समयों से पौर और जानपद-सभाओं द्वारा होता चला

आता था । प्रत्येक जनपद का एक केन्द्रीय नगर होता था, जिसे पुर कहते थे। यह सारे जनपद के जीवन का केन्द्रस्वरूप होता था । इसके अग्रणियों की सभा को पौर कहते थे। जनपद के अन्य निवासियों के अग्रणी जानपद-सभा में एकत्र होते थे । विविध जनपदों में ये सभायें अब तक भी जीवित थीं । यही कारण है, कि शक रुद्रदामा ने अपने शिलालेख में 'पौर जानपद' का उल्लेख किया है। इसी प्रकार कलिग चक्रवर्ती खारवेल ने भी पौर जानपदों के साथ किये गये अनुग्रहों को अपने हाथीगुम्फा के शिलालेख में उत्कीर्ण कराया है। जनपदों के अतिरिक्त 'देशों' के संघों का भी उल्लेख स्मृति-ग्रंथों में आया है । राजा को उनके भी चरित्र, व्यवहार और धर्म को स्वीकार करना चाहिये। अभिप्राय यह है, कि मागध-साम्राज्य शासन की दृष्टि से एक इकाई नहीं था, वह जनपदों और देशों के अनेक विभागों में विभक्त था । प्रत्येक विभाग के अपने धर्म, चरित्र और व्यवहार होते थे, जिन्हें मागध-सम्राट् स्वीकार करते थे ।

इस काल के सम्राट् एकतंत्र अवश्य थे, पर वे परंपरागत राजधर्म के अनुसार ही शासन करने का प्रयत्न करते थे। राजा के संबंध में मनुस्मृति का सिद्धान्त यह था, कि अराजक दशा में सब तरफ से पीड़ा होने के कारण जनता की रक्षा के लिये प्रभु ने राजा की सृष्टि की। उसके निर्माण के लिये इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा और धनेश—सबकी मात्रायें ली गई । क्योंकि राजा देवताओं की मात्रा से बना है, इसलिये उसका तेज सब मनुष्यों से अधिक है।

पर जिस प्रकार राजा ईश्वरीय है, देवताओं की मात्राओं से बना है, वैसे ही 'दंड' भी ईश्वरीय है। मनुस्मृति के अनुसार दंड ही असली राजा है, वही नेता है और वही शासन करनेवाला है। दंड सब प्रजा का शासन करता है, दंड ही उसकी रक्षा करता है, सबके सोते हुए दंड ही जागता है, दंड को ही बुद्धिमान् लोग धर्म मानते हैं। दंड का अभिप्राय राजधर्म से है। जो परम्परागत धर्म और व्यवहार चले आते हैं, वही दंड है। वही वस्तुतः दैवी है। इसीलिये यदि राजा भलीभांति इस दंड का प्रणयन करे, तब तो वह उन्नति करता है, अन्यथा कामात्मा, विषयी और क्षुद्र राजा दंड से ही मारा जाता है। दंड का बड़ा तेज है । धर्म से विचलित राजा को वह बन्धु-बाधवसहित मार डालता है । इस प्रकार मनु के अनुसार वास्तविक शक्ति दंड की है, न कि राजा की । राजा के लिये उचित यही है, कि

वह परम्परागत राजधर्म के अनुसार न्याययुक्त शासन करे। पर यह वही राजा कर सकता है, जो विषयासक्त न हो, जिसकी बुद्धि निश्चित और क्रियाशील हो, जो मूढ़ और लुब्ध न हो, और जिसको अच्छे सहायकों (मंत्रियों व अमात्यों) का साहाय्य प्राप्त हो।

मनु के विचार ठीक वैसे ही हैं, जैसे कि आचार्य चाणक्य ने अपने ऋषि-तुल्य राजा के संबंध में प्रगट किये हैं। मनु ने एक अन्य स्थान पर लिखा है, कि जो राजा मोह या बेपरवाही से अपने राष्ट्र को सताता है, वह शीघ्र ही राज्य से च्युत हो जाता है, और अपने बन्धु-बांधवों सहित जीवन से हाथ धो बैठता है। जैसे शरीर के कर्षण से प्राणियों के प्राण क्षीण हो जाते हैं, इसी प्रकार राष्ट्र के कर्षण से राजाओं के प्राण भी क्षीण हो जाते हैं। जिस राजा के देखते हुए चीखती-पुरकारती प्रजा को दस्यु लोग पकड़ते हैं, वह मरा हुआ है, जीवित नहीं है।

मनु के इन सन्दर्भो में मौर्यों के बाद के निर्बल राजाओं के समय की दशा का कैसा सुन्दर आभास है ! अधार्मिक राजाओं के विरुद्ध क्रांति करके बार-बार उन्हें पदच्युत किया गया। शक और कुशाण सदृश दस्युओं के द्वारा चीखती-पुकारती भारतीय प्रजा विपद्ग्रस्त हो रही थी। उसकी रक्षा करने में असमर्थ पिछले शुंग व कण्व राजा मरे हुए थे, जीवित नहीं थे।

शासन-कार्य में राजा की सहायता करने के लिये 'मंत्रिपरिषद्' इस युग में भी विद्यमान थी। मनु के अनुसार सात या आठ सचिव होने चाहियें, जि से कि राज्य के प्रत्येक कार्य के विषय में परामर्श लेना चाहिये। मालविकाग्निमित्र के अनुसार राजा अग्निमित्र (शुंगवंशी) युद्ध और संधि की प्रत्येक बात में अमात्यपरिषद् से परामर्श करता था।

(१०) आर्थिक जीवन

मौर्य-युग के समान इस काल में भी आर्थिक जीवन का आधार 'श्रेणि' थी। शिल्पी लोग श्रेणियों (Guilds) में संगठित थे, और इसी प्रकार व्यापारी भी। इस युग के अनेक शिलालेखों में इन श्रेणियों का उल्लेख किया गया है, और उनसे श्रेणियों के आर्थिक जीवन पर बड़ा उत्तम प्रकाश पड़ता है। ऐसे लेखों में नासिक के गुहामंदिर में उत्कीर्ण शक उषावदात का यह लेख विशेष महत्व का है--

"सिद्धि ! बयालीसवें वर्ष में, वैशाख मास में राजा क्षहरात क्षत्रप

नहपान के जामाता दीन पुत्र उषावदात ने यह गुहामंदिर चातुर्दिश संघ के अर्पण किया, और उसने अक्षयनीवी तीन हजार पण चातुर्दिश संघ को दिये, जो इस गुहा में रहनेवालों का कपड़े का खर्च और विशेष महीनों में मासिक वृत्ति के लिये होगा। और ये कार्षापण गोवर्धन में रहनेवाली श्रेणियों के पास जमा किये गये। कोलिकों के निकाय में दो हजार, एक फीसदी सूद पर; दूसरे कोलिक निकाय के पास एक हजार, पौन फीसदी सूद पर। और ये कार्षापण लौटाये नहीं जावेंगे, केवल उनका सूद लिया जायगा। इनमें से जो एक फीसदी पर दो हजार कार्षापण रखाये गये हैं, उनसे मेरे गुहामंदिर में रहनेवाले बीस भिक्खुओं में से प्रत्येक को बारह चीवर दिये जावेंगे। और जो पौन फीसदी पर एक हजार कार्षापण है, उनसे कुशनमूल्य का खर्च चलेगा। कापुर प्रदेश में गांव चिखलपद्र के नारियल के ८००० पौद भी दिये गये। यह सब निगमसभा में सुनाया गया, और फलकवार (लेखा रखने के दफ्तर) में चरित्र के अनुसार निबद्ध किया गया।"

इस लेख से यह स्पष्ट है, कि कोलिक (जुलाहे) आदि व्यवसायियों का संगठन श्रेणियों के रूप में था। ये श्रेणियां जहां अपने व्यवसाय का संगठित रूप में संचालन करती थीं, वहां दूसरे लोगों का रुपया भी धरोहर के रूप में रखकर उसपर सूद देती थीं। उनकी स्थिति समाज में इतनी ऊंची और सम्मानास्पद थी, कि उनके पास ऐसा रुपया भी जमा करा दिया जाता था, जिसे फिर लौटाया न जावे, जिसका केवल सूद ही सदा के लिये किसी धर्मकार्य में लगता रहे। यही कार्य आजकल ट्रस्टी रूप में बैंक करते हैं। उसके सूद की दर एक फीसदी और पौन फीसदी (संभवतः मासिक) होती थी, और नगरसभा (निगम) में इस प्रकार की धरोहर को बाकायदा निबद्ध (रजिस्टर्ड) कराया जाता था, यह भी इस लेख से स्पष्ट हो जाता है।

श्रेणियों का इसी प्रकार का उल्लेख अन्य अनेक शिलालेखों में भी उपलब्ध होता है। श्रेणियों के पास केवल रुपया ही नहीं जमा किया जाता था, अपितु उनको भूमि भी धरोहर के रूप में दी जाती थी, जिसकी आय को वे आदिष्ट धर्मकार्य में प्रयुक्त करती थीं। शिल्पियों की श्रेणियों का वर्णन कौटलीय अर्थशास्त्र, मनुस्मृति व अन्य सभी प्राचीन राजशास्त्र-संबंधी साहित्य में विद्यमान है, पर उनके कार्यों का ऐसा सजीव चित्र इन गुहा-लेखों से ही प्राप्त होता है।

शिल्पियों के समान व्यापारी भी पूगों व निकायों में संगठित होते थे। उनके धर्म, व्यवहार और चरित्र को भी राज्य में स्वीकार किया जाता था। स्मृतिग्रंथों में ऋण लेने-देने के नियमों का विस्तार से वर्णन है। किस प्रकार ऋणलेख तैयार किया जाय, कैसे उसके साक्षी हों, कैसे प्रतिभू (जामिन) बने, कैसे कोई वस्तु आधि (रहन) रखी जावे, और कैसे इन सबके करण (कागज) तैयार किये जावें, इन सबके नियमों का विवरण यह सूचित करता है, कि उस युग में वाणिज्य-व्यापार भलीभांति उन्नति कर चुका था। कौटलीय अर्थशास्त्र में जैसे 'संभूय समुत्थान' का उल्लेख है, वैसे ही स्मृतियों में भी है। अधिक लाभ के लिये व्यापारी लोग मिलकर वस्तुओं को बाजार में रोक लिया करते थे, और इस उपाय से अधिक नफा उठाने में सफल होते थे। एक स्मृति के अनुसार केवल व्यापारी ही नहीं, अपितु किसान, मजदूर और ऋत्विक् भी इस उपाय का आश्रय लिया करते थे।

विदेशी व्यापार की भी इस युग में खूब उन्नति हुई। मौर्यवंश के निर्बल होने पर जो यवन-राज्य उत्तर-पश्चिमी भारत में कायम हो गये थे, उनके कारण भारत का पश्चिमी संसार से संबंध और भी अधिक दृढ़ हो गया था। भारत के पश्चिमी समुद्र-तट से व्यापारी लोग अरब और मिस्र तक जाकर व्यापार किया करते थे। उन दिनों मिस्र की राजधानी अलक्-जण्ड्रिया विद्या, व्यापार और संस्कृति की बड़ी भारी केन्द्र थी। भारतीय व्यापारी वहां तक पहुंचते थे। लाल सागर और नील नदी के रास्ते पर एक भारतीय व्यापारी का ग्रीक भाषा में लिखा हुआ एक शिलालेख भी उपलब्ध हुआ है। इस व्यापारी का नाम सोफोन था, जो शायद शोभन का ग्रीक रूपान्तर है।

दूसरी सदी ई० पू० में एक घटना ऐसी हुई, जिसके कारण मिस्र और भारत का व्यापारिक संबंध और भी अधिक बढ़ गया। भारत से एक व्यापारी अपने साथियों के साथ समुद्र-यात्रा को गया था। वह समुद्र का मार्ग भूल गया, और महीनों तक जहाज पर ही इधर-उधर भटकता रहा। उसके सब साथी एक-एक करके भूख से मर गये। वह भी लहरों के साथ बहता हुआ मिस्र के निकटवर्ती समुद्र में जा पहुंचा, जहां मिस्र के राजकर्मचारियों ने उसे आश्रय दिया। इस भारतीय व्यापारी की सहायता और मार्गप्रदर्शन से मिस्र के लोगों ने जहाज पर सीधे-भारत आना-जाना प्रारम्भ किया, और इन दोनों देशों में व्यापारिक संबंध और भी दृढ़ हो गया। इस युग के

भारतीय व्यापारी मिस्र से भी बहुत आगे यूरोप में व्यापार के लिये आया-जाया करते थे। प्राचीन रोमन अनुश्रुति के अनुसार गाल (वर्तमान फ्रांस) के प्रदेश में, एल्ब नदी के मुहाने पर कुछ भारतीय जहाज भटक जाने के कारण पहुंच गये थे। अटलांटिक महासमुद्र तक भारतीय व्यापारियों का पहुंच जाना बड़े महत्त्व की बात है। यह घटना पहली सदी ई० पू० की है। रोमन साम्राज्य के साथ इस व्यापारिक संबंध का ही यह परिणाम है, है कि हजारा, रावलपिंडी, कन्नौज, इलाहाबाद, मिर्जापुर, चुनार आदि के बाजारों में वर्तमान युग तक प्राचीन रोमन सिक्के उपलब्ध हुए हैं। अनेक स्तूपों की खुदाई में भारतीय राजाओं के सिक्कों के साथ-साथ रोमन सिक्के भी मिलते है, जो इस बात का उत्कृष्ट प्रमाण है, कि भारत और रोम का व्यापारिक संबंध इस युग में बड़ा घनिष्ठ था। भारत से समुद्र के रास्ते हाथीदांत का सामान, मोती, वैदूर्य, कालीमिर्च, लौंग, अन्य मसाले, सुगन्धियां, औषधियां, रेशमी और सूती कपड़े बड़ी मात्रा में रोम भेजे जाते थे। रोम में मिर्च-मसालों के लिये एक गोदाम बना हुआ था, जिसमें भारत से यह माल लाकर जमा किया जाता था। रोम में काली मिर्च बहुत महंगी बिकती थी। उसका मूल्य दो दीनारों का एक सेर था। एक रोमन लेखक ने लिखा है, कि भारतीय माल रोम में आकर सौगुनी कीमत पर बिकता है, उसके द्वारा भारत रोम से हर साल छः लाख के लगभग सुवर्ण-मुद्रायें खींच ले जाता है। एक अन्य रोमन-लेखक ने लिखा है, कि रोमन-स्त्रियां हवा की जाली की तरह बारीक बुनी हुई भारतीय मलमल को पहनकर अपना सौन्दर्य प्रदर्शित करती हैं। रोम और भारत के इस सामुद्रिक व्यापार का सबसे बड़ा केन्द्र केरल प्रदेश में था। इसीलिये वहां कई स्थानों पर खुदाई में रोमन सिक्के बहुत बड़ी संख्या में उपलब्ध हुए हैं।

मिस्र और रोम की अपेक्षा बरमा, जावा, सुमात्रा, चंपा और चीन आदि के साथ भारत का विदेशी व्यापार और भी अधिक था। इन सुदूरवर्ती देशों को बड़े-बड़े जहाज माल भरकर जाया करते थे। उस युग के संसार में तीन साम्राज्य सबसे अधिक शक्तिशाली थे—रोमन, भारतीय और चीनी। भारत इन तीनों के बीच में पड़ता था। यही कारण है, कि इसका रोम और चीन दोनों के साथ व्यापारिक संबंध था। चीन और रोम का पारस्परिक व्यापार भी उस समय भारत के व्यापारियों द्वारा ही किया जाता था।

(११) वास्तु और मूर्ति-कला

इस मौर्योत्तर-युग की बहुत-सी मूर्तियां, गुहामंदिर और स्तूप इस समय उपलब्ध होते हैं, जिनसे उस समय की वास्तुकला और मूर्तिकला पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। बरहुत का वह प्रसिद्ध स्तूप, जिसके तोरणों और जंगलों के अवशेष कलकत्ता म्यूजियम में सुरक्षित है, शुंग-काल में ही बना था। उसके एक तोरण पर यह उत्कीर्ण है, कि यह स्तूप शुंगों के राज्य में बना था। बोधगया के मंदिर के चारों ओर भी एक जंगला इस युग में बना। उसपर अहिच्छत्र के राजा इन्द्रमित्र और मथुरा के राजा ब्रह्ममित्र की रानियों के नाम उत्कीर्ण है । ये दोनों राजा शुंगों के सामन्त थे । इससे यह सूचित होता है कि बोधगया के प्रसिद्ध मंदिर के अनेक प्राचीन अंश भी शुंग-काल की कृति थे। सांची के प्राचीन स्तूप के अनेक अंश भी इसी काल में बने । वहां के बड़े स्तूप के दक्षिणी तोरण पर राजा सात-कर्णि का नाम उत्कीर्ण है। बरहुत, सांची, बोधगया आदि के ये प्राचीन विशाल स्तूप सुदीर्घ समय तक धीरे-धीरे बनते रहे। उनके निर्माण का प्रारम्भ मौर्य-काल में ही हो गया था, पर शुंग और सातवाहन-राजाओं के समय में उनमें निरन्तर वृद्धि होती चली गई, और जिन विविध दानियों के दान से जो-जो अंश समय-समय पर बनते गये, उनका नाम बहुधा उनपर उत्कीर्ण भी कर दिया गया।

इस युग के बहुत-से गुहामंदिर उड़ीसा और महाराष्ट्र में विद्यमान हैं। पहाड़ को काटकर उसके अन्दर से विशाल मंदिर, विहार या चैत्य खोदे गये हैं। ऊपर से देखने पर ये पहाड़ ही प्रतीत होते हैं । पर द्वार से अन्दर जाने पर विशाल भवन दिखाई पड़ते हैं, जिन्हें पहाड़ को काट-काटकर बाकायदा सुन्दर भवनों के रूप में बनाया गया है। उड़ीसा के ये गुहामंदिर जैनों के हैं। इनमें हाथीगुम्फा का गुहामंदिर सबसे प्रसिद्ध है, वहीं कलिंग चक्रवर्ती खारवेल का सुप्रसिद्ध शिलालेख पाया गया है । हाथीगुम्फा के अतिरिक्त मंचापुरी-गुम्फा, रानीगुम्फा, गणेशगुम्फा, जयविजय-गुम्फा, अलकापुरी-गुम्फा आदि और भी कितने ही गुहामंदिर उड़ीसा में पाये गये हैं। मंचापुरी-गुम्फा में खारवेल की रानी का तथा राजा वक्रदेवश्री का लेख पाया गया है। यह संभवतः खारवेल का कोई वंशज था। रामगढ़ में सीताबेंगा नाम से एक गुहामंदिर उपलब्ध हुआ है, जिसका किसी धर्म-

विशेष से संबंध नहीं था। वह एक प्रेक्षागार था, और यही कारण है, कि उसकी दीवार पर किसी रसिक कवि का एक छंद खुदा हुआ है। सीताबेंगा के पड़ोस में ही जोगीमारा का गुहामंदिर है, जो प्राचीन काल में वरुणदेवता का मंदिर था।

महाराष्ट्र के गुहामंदिरों में अजन्ता की गुफायें सबसे प्रसिद्ध और प्राचीन हैं। इनमें भी गुहा नं० १० सबसे पुरानी समझी जाती है। अजन्ता के ये गुहामंदिर भारतीय वास्तुकला और चित्रकला के अनुपम उदाहरण हैं। पहाड़ो को काटकर बनाये गये विशाल गुहामंदिरों की दीवारों पर इतने सुन्दर रंगीन चित्र बनाये गये है, कि हजारों साल बीत जाने पर भी वे अपने आकर्षण में जरा भी कम नहीं हुए। अजन्ता की इन प्रसिद्ध गुफाओं का निर्माण इसी काल में प्रारम्भ हुआ था। अजन्ता के अतिरिक्त, महाराष्ट्र में वेडसा, नासिक, काले, जुन्नर, कोंडानें आदि अनेक स्थानो पर इस काल के गुहामदिर विद्यमान हैं। नासिक के एक गुहामंदिर में एक लेख है, जिसके अनुसार उसे सातवाहन-कुल मे राजा कण्ह के समय उसके महामात्र ने बनवाया था। राजा कण्ह सातवाहन-वंश के संस्थापक सिमुक का भाई था, और उसके बाद प्रतिष्ठान का राजा बना था। इसका समय तीसरी सदी ई० पू० में था, और यह स्पष्ट है, कि नासिक का यह गुहामंदिर तीसरी सदी ई० पू० में ही बना था। वेडसा और कार्ले के प्रसिद्ध गुहामंदिर ईसवी सन् के शुरू होने से पूर्व ही बन चुके थे। सातवाहन राजाओं को गुहानिर्माण का बड़ा शौक था। उन्ही के शासनकाल में महाराष्ट्र की ये विशाल गुहायें निर्मित हुई। मौर्य-युग में भी गुहामंदिर बनने प्रारंभ हो गये थे। पर वे अधिक विशाल नहीं होते थे। विहार की बराबर और नागार्जुनी पहाड़ियों में, मौर्य-सम्राट् अशोक और राजा दशरथ के समय के जो गुहामंदिर है, वे बहुत छोटे-छोटे हैं। पर सातवाहन-राजाओं की प्रेरणा और संरक्षण से मौर्योत्तर-युग में जो गुहामंदिर बने, वे बहुत ही विशाल है। वे तो पूरे बौद्ध-विहार हैं, जिन्हें भूमि के ऊपर लकड़ी, पत्थर वा ईंट से बनाने के बजाय पहाड़ काटकर गुहा को अन्दर से खोद कर बनाया गया है।

इस काल की मूर्तियां भी पर्याप्त संख्या में उपलब्ध होती हैं। बर-हुत और सांची के स्तूपों के जंगलों और तोरणों में पत्थर काट-काट कर बहुत-सी मूर्तियां बनाई गई हैं। गुहामंदिरों की दीवारों पर भी खोदकर

बनाई गई मूर्तियां पाई जाती हैं। महात्मा बुद्ध के जीवन के साथ संबंध रखनेवाली घटनाओं को मूर्ति बनाकर अनेक स्थानों पर प्रदर्शित किया गया है।

मूर्तिकला की दृष्टि से इस युग की प्रधान घटना गांधारी शैली का प्रारम्भ है। यवनों ने गांधार में जो अपने राज्य कायम किये थे, उनके कारण यूनानी लोगों और भारतीयों का परस्पर संबंध बहुत घनिष्ठ हो गया था। यह स्वाभाविक था, कि यूनानी (ग्रीक) कला का भारतीय कला पर असर पड़े। गांधार के ये यवन, शक और युइशि राजा बाद में बौद्ध व अन्य भारतीय धर्मों के अनुयायी हो गये थे। भारतीय भाषा और संस्कृति को उन्होंने बहुत अंशों में अपना लिया था। इसलिये यूनानी और भारतीय मूर्तिकलाओं के सम्मिश्रण से जिस अपूर्व सुन्दर मूर्तिकला का प्रारम्भ हुआ, उसे गांधारी शैली कहते हैं। इस शैली की मूर्तियां बहुत सुन्दर व परिमार्जित हैं। धीरे-धीरे यह शैली गांधार से मथुरा आदि होती हुई सुदूर आन्ध्र में अमरावती तक पहुंच गई। भारत में दूर-दूर तक इस शैली की मूर्तियां उपलब्ध होती हैं।

गांधार-शैली का प्रारम्भ पेशावर से हुआ था। इस प्रदेश पर यवनों का प्रभाव बहुत अधिक था। मौर्यों के पतन के समय अफगानिस्तान और गांधार के प्रदेश यवनों के शासन में आ गये थे, और यवनों की शक्ति के क्षीण होने पर भी यहां शक और कुशाण सदृश विदेशियों का राज्य रहा था। ये विदेशी म्लेच्छ उन पश्चिमीय देशों से भारत में प्रविष्ट हुए थे, जहां यवनों (ग्रीकों) की भाषा, सभ्यता और कला का बहुत प्राधान्य था। ग्रीक लोग मूर्ति-निर्माण कला में बहुत प्रवीण थे। इसकी उनको अपनी पृथक् शैली थी। गांधार देश में होनेवाले भूरे रंग के पत्थरों का गांधार-शैली की मूर्तियों में प्रयोग होता था। कनिष्क के समय में बौद्ध-धर्म का मुख्य तत्त्व निवृत्ति थी। पर महायान के अनुयायी भक्ति और उपासना पर बल देते थे। इसके लिये बुद्ध और बोधिसत्वों की मूर्तियों का निर्माण प्रारम्भ हुआ। पेशावर के कारीगरों ने हजारों की संख्या में मूर्तियां बनाईं, और धीरे-धीरे ये सारे भारत में फैल गईं। यवन-प्रभाव के होते हुए भी इन मूर्तियों पर भारतीय आध्यात्मिकता की गहरी छाप है। बुद्ध के मुखमंडल पर एक अनुपम तेज प्रदर्शित किया जाता है, जिसकी अनुभूति निर्वाण की भावना से ही हो सकती है। गांधार-शैली की बहुत-सी मूर्तियां काले सलेटी पत्थर की भी हैं।

पेशावर से यह कला मथुरा में गई। इस युग में मथुरा मूर्तिकला का सबसे बड़ा केन्द्र था। कनिष्क का साम्राज्य वंक्षु नदी से पाटलिपुत्र तक विस्तृत था। मथुरा इस विशाल साम्राज्य के मध्य में था, कुशाणों के क्षत्रप यहां शासन करते थे। यहां की मूर्तियां लाल पत्थर से बनाई गई हैं, जो आगरा के समीप प्रभूत परिमाण में उपलब्ध होता था। मथुरा की कला पर गांधार-शैली का प्रभाव अवश्य है, पर उसे पूर्णतया गांधार-शैली की नकल नहीं कहा जा सकता। इसमें सन्देह नहीं, कि मथुरा के आर्य-शिल्पियों ने पेशावर की रचनाओं को दृष्टि में रखकर एक मौलिक शैली का विकास किया था, जो बाह्य और आभ्यंतर दोनों दृष्टियों से शुद्ध आर्य-प्रतिभा की प्रतीक थी। भारतीय कल्पना में एक परम-योगी के मुख पर जो दैवी भावना होनी चाहिये, उसकी वृत्ति किस प्रकार अन्तर्मुखी होनी चाहिये और उपासक के हृदय में अपने उपास्य देव का कैसा लोकोत्तर रूप होना चाहिये—इस सबको पत्थर की मूर्ति में उतार-कर मथुरा के ये शिल्पी चिर यश के भागी हुए हैं।

इस काल में मथुरा में जो मूर्तियां बनीं, वे अनेक प्रकार की थी। प्राचीन भारत में यह परिपाटी थी, कि प्रत्येक राजवंश अपना एक 'देवकुल' स्थापित करता था। इसमें मृत राजाओं की मूर्तियां रखी रहती थीं। शैशुनाग-वंश के राजाओं की मूर्तियां ऐसे ही देवकुल के लिये मथुरा में बनी थीं, क्योंकि यह नगर बहुत पुराने समय से मूर्तिकला का प्रसिद्ध केन्द्र चला आ रहा था। इस युग में कुशाण-राजाओं की मूर्तियां भी मथुरा में बनीं। ऐसी अनेक मूर्तियां अब भी उपलब्ध होती हैं। खेद की बात है, कि वे सभी प्रायः खंडित दशा में हैं। इनमें सम्राट् कनिष्क की मूर्ति विशेष महत्त्व की है, उसकी पोशाक में लम्बा कोट और पायजामा है और इसका आकार बड़ा विशाल है।

मथुरा में बनी इस युग की एक मूर्ति इस समय काशी के कलाभवन में सुरक्षित है। यह मूर्ति एक स्त्री की है, जो प्रसाधिका का काम करती थी। इसका मुख गंभीर, प्रसन्न व सुन्दर है, नेत्रों में विमल चंचलता है, सब अंग-प्रत्यंग अत्यंत सुडौल हैं, और खड़े होने का ढंग बहुत सरल और अकृत्रिम है। उसके दायें हाथ में शृंगारदान है, जिसमें सुगंधित जल रखा जाता था। बायें हाथ में एक पिटारी है, जिसका ढकना कुछ खुला हुआ है, और एक पुष्पमाला थोड़ी-सी बाहर निकली हुई है। यह स्त्री

शृंगार की सामग्री लेकर किसी रानी व अन्य सम्पन्न महिला का शृंगार करने के लिये प्रस्थान करने को उद्यत है। मथुरा में इस प्रकार की मूर्तियां उपासना के लिये नहीं, अपितु सजावट के लिये बनती थीं।

बौद्ध-धर्म के साथ संबंध रखनेवाली मूर्तियां तो मथुरा में हजारों की संख्या में बनती थीं। मथुरा की यह कला कुशाणों के बाद भी निरन्तर उन्नति करती रही। गुप्त-वंश के समय में इसका पूर्ण विकास हुआ, और उसने वे उज्ज्वल रत्न उत्पन्न किये, जिनके लिये कोई भी जाति या देश सदा अभिमान कर सकता है। गुप्तों के समय में मथुरा की मूर्तिकला से गांधार की शैली का प्रभाव बिलकुल हट गया था।

(१२) बृहत्तर भारत का विकास

मौर्य-युग में भारत से बाहर भारतीय उपनिवेशों का विस्तार प्रारम्भ हुआ था। इन उपनिवेशों के दो क्षेत्र थे, पूर्व में सुवर्णभूमि और उत्तर-पश्चिम में हिन्दूकुश और पामीर की पर्वतमालाओं के पार तुर्किस्तान में। अशोक की धर्मविजय की नीति के कारण भारतीय भिक्खु जिस प्रकार इन सुदूर देशों में गये, और उन्होंने वहां जाकर न केवल वहां के निवासियों को आर्य-मार्ग का अनुयायी बनाया, पर वहां अनेक भारतीय बस्तियां भी बसाईं, यह हम पहले प्रदर्शित कर चुके हैं। मौर्योत्तर-युग में भारतीय उपनिवेशों के विस्तार की यह प्रक्रिया जारी रही। विशेषतया, भारत के पूर्व में बरमा से सुदूर चीन तक हिन्द-महासागर में जो बहुत-से छोटे-बड़े द्वीप व प्रायद्वीप हैं, वे सब इस युग में भारतीय बस्तियों से ढक गये। इस युग के इतिहास की यह बहुत ही महत्वपूर्ण घटना है। यह प्रक्रिया गुप्त-साम्राज्य के समय में और उसके कुछ बाद तक भी जारी रही। हम भारतीय उपनिवेशों के विस्तार का विशेष विवरण गुप्त-काल के इतिहास में देंगे, पर यहां यह निर्देश कर देना उचित है, कि इन उपनिवेशों का श्रीगणेश इसी युग में हुआ था। भारत के जिन जनपदों से जाकर लोग इन द्वीपों में बसते थे, वे अपने नये नगरों के नाम मातृभूमि के अपने पुराने नगरों व देशों के नाम पर ही रखते थे। बंग देश से गये लोगों ने सुमात्रा के दक्षिण-पूर्वी सिरे पर नये बंग द्वीप की स्थापना की, वही अब बंका कहलाता है। इसी तरह आधुनिक क्रा की स्थलग्रीवा में नये तक्षशिक्षा का निर्माण किया गया। यवद्वीप (जावा) में बसकर भारतीयों ने वहां की सबसे बड़ी नदी को सरयू नाम दिया। और

अधिक पूर्व में चम्पा की स्थापना की गई। अंग-जनपद की राजधानी का नाम चम्पा था। उसी के नाम से भारतीयों के इस नये उपनिवेश का नाम चम्पा रखा गया। धीरे-धीरे चम्पा की शक्ति बहुत बढ़ी। बहुत-से समीपवर्ती प्रदेशों को जीतकर चम्पा ने साम्राज्य का विकास किया। उसके विविध प्रान्तों के नाम कौठार, पांडुरंग, अमरावती, विजय आदि थे। चम्पा-साम्राज्य की राजधानी इन्द्रपुर थी। चम्पा के पश्चिम में एक और उपनिवेश था, जिसमें आजकल के कंबोडिया (कंबोज) और स्याम प्रदेश सम्मिलित थे। यह एक शक्तिशाली भारतीय उपनिवेश था, चीनी लोग इसे फूनान कहते थे। इस राज्य की स्थापना कौंडिन्य नाम के एक ब्राह्मण ने की थी, जिसने उस देश में जाकर एक नागी (उस देश की मूल निवासिनी) स्त्री से विवाह किया था। इस स्त्री का नाम सोमा था। उसी के नाम से फूनान का राजवंश सोमवंश कहलाता था। इन सब प्रदेशों में आजकल आर्य-मंदिरों, मठों, विहारों और स्तूपों के अवशेष बड़ी संख्या में पाये जाते हैं। संस्कृत, पाली, प्राकृत आदि के शिलालेख भी इनमें बड़ी मात्रा में मिले हैं।

वर्तमान आसाम की मणिपुर रियासत के पूर्व से शुरू करके तानकिन खाड़ी तक के विशाल भूखंड में, जहां अब बरमा, स्याम, मलाया और इंडो-चायना के राज्य हैं, धीरे-धीरे भारतीय लोग अपने उपनिवेश बसा रहे थे। बरमा को पुराने जमाने में सुवर्णभूमि कहा जाता था। सबसे पहले वहां भारतीय बस्तियां बसाई गईं। मगध, अंग और बंग के लोग ताम्रलिप्ति बन्दरगाह से सुवर्णभूमि के लिये जाया करते थे। अराकान में यह अनुश्रुति है, कि वहां का पहला राजा बनारस से आया था। संभवतः उसने अपने नाम से उसके एक प्रदेश का नाम रामवती रखा था। वही अब राम्ब्यी कहलाता है। अराकान में ही पुराने समय में एक नगरी थी, जिसका नाम वैशाली था। इसी तरह दक्षिणी बरमा में भी विविध भारतीय बस्तियां बसाई गई थीं। आजकल का लम्रो प्रदेश पुराने जमाने में मालवा कहाता था, और उसके पूर्वी भाग को दशार्ण कहते थे।

यह ध्यान में रखना चाहिये, कि पूर्वी एशिया के इन प्रदेशों में भारतीय उपनिवेशों की स्थापना करनेवाले लोग शैव थे। आगे चलकर इन प्रदेशों में बौद्ध-धर्म का प्रचार हुआ। उस युग के भारत में अपूर्व जीवनी-शक्ति थी, भारतीय लोग बड़ी संख्या में विदेश जाते थे, व्यापार के लिये भी, और अपनी बस्तियां बसाने के लिये भी।

सहायक ग्रंथ

Dubreuil : Ancient History of the Deccan.
Jayaswal : Manu and Yagnyavalkya.
Seal B. N. : Positive Science of the Ancient Hindus.
Rawlinson : Intercourse between India and the Western world.
Mazumdar : Corporate life in Ancient India.
जयचन्द्र विद्यालंकार—भारतीय इतिहास की रूपरेखा भाग २

इकतीसवां अध्याय

गुप्त-साम्राज्य

(१) गुप्त-वंश का प्रारंभ

प्राचीन गुप्त-कुल—गुप्त-कुल भारत के प्राचीन राजकुलों में से एक था। मौर्य चन्द्रगुप्त ने गिरनार के प्रदेश में शासन के रूप में जिस 'राष्ट्रीय' (प्रान्त का शासक) की नियुक्ति की थी, उसका नाम वैश्य पुष्पगुप्त था। शुंग-काल के प्रसिद्ध बरहुत-स्तम्भलेख में एक राजा विसदेव का उल्लेख है, जो गोप्तिपुत्र (गुप्त-कुल की स्त्री का पुत्र) था। अन्य बहुत-से शिलालेखों में भी इसी प्रकार के 'गोप्तिपुत्र' व्यक्तियों का उल्लेख है, जो राज्य में विविध उच्च पदों पर नियुक्त थे। इसी गुप्त-कुल के एक वीर पुरुष श्री गुप्त ने उस वंश का प्रारम्भ किया, जिसने आगे चलकर भारत के बहुत बड़े हिस्से में मागध-साम्राज्य का फिर से विस्तार किया।

राजा श्रीगुप्त—कुशाण-साम्राज्य के पतन के समय उत्तरी भारत में जो अव्यवस्था उत्पन्न हो गई थी, उससे लाभ उठाकर बहुत-से प्रान्तीय शासक व सामन्त राजा स्वतंत्र हो गये थे। संभवतः इसी प्रकार का एक व्यक्ति यह श्रीगुप्त भी था। उसने मगध के कुछ पूर्व में, चीनी यात्री इत्सिंग के अनुसार नालन्दा से प्रायः चालीस योजन पूर्व की तरफ, अपने राज्य का विस्तार किया था। अपनी शक्ति को स्थापित कर लेने के कारण उसने 'महाराज' की पदवी धारण की। संभवतः, वह अच्छा शक्तिशाली और समृद्ध राजा था। चीनी बौद्ध-यात्रियों के निवास के लिये इसने मृगशिखावन के समीप एक विहार का निर्माण कराया था और उसका खर्च चलाने के लिये चौबीस गांव प्रदान किये थे। गुप्त लोग स्वयं बौद्ध नहीं थे, पर क्योंकि बौद्ध-तीर्थस्थानों का दर्शन करने के लिये बहुत-से चीनी यात्री इस समय भारत में आने लगे थे, अतः यदि महाराजा श्रीगुप्त ने उनके आराम के लिये यह महत्त्वपूर्ण दान किया हो, तो यह सर्वथा संभव है। दो मुद्रायें ऐसी मिली हैं, जिनमें

से एक पर 'गुतस्य' और दूसरी पर 'श्रीगुप्तस्य' लिखा है। संभवतः ये इसी महाराज श्रीगुप्त की थीं।

महाराज घटोत्कच—श्रीगुप्त का उत्तराधिकारी महाराज घटोत्कच था। कुछ मुद्रायें ऐसी मिली हैं, जिनपर 'श्रीघटोत्कचगुप्तस्य' या केवल 'घट' लिखा है। अनेक ऐतिहासिक इन्हें इसी महाराजा श्रीघटोत्कच की मानते हैं।

महाराजाधिराज चन्द्रगुप्त—घटोत्कच के बाद महाराजाधिराज चन्द्रगुप्त प्रथम हुए। गुप्त-वंश के पहले दो राजा केवल 'महाराजा' कहे गये हैं। पर चन्द्रगुप्त को 'महाराजाधिराज' कहा गया है। इससे प्रतीत होता है, कि उसके समय में गुप्त-वंश की शक्ति बहुत बढ़ गई थी। प्राचीन समय में महाराजा विशेषण तो अधीनस्थ सामन्त राजाओं के लिये भी प्रयुक्त होता था। पर महाराजाधिराज केवल ऐसे ही राजाओं के लिये प्रयोग किया जाता था, जो पूर्णतया स्वाधीन व शक्तिशाली शासक हों। प्रतीत होता है, कि अपने पूर्वजों के पूर्वी भारत में स्थित छोटे-से राज्य को चन्द्रगुप्त ने बहुत बढ़ा लिया था, और अनेक प्रदेशों को जीतकर महाराजाधिराज की पदवी ग्रहण की थी।

पाटलिपुत्र निश्चय ही चन्द्रगुप्त के अधिकार में आ गया था। मगध तथा पश्चिम में उत्तर-प्रदेश के बहुत-से प्रदेशों को जीतकर चन्द्रगुप्त के समय में गुप्त-साम्राज्य बहुत विस्तृत हो गया था। इन्हीं विजयों और राज्यविस्तार की स्मृति में चन्द्रगुप्त ने एक नया संवत् चलाया था, जो गुप्त संवत् के नाम से इतिहास में प्रसिद्ध है।

मगध के उत्तर में लिच्छवियों का जो शक्तिशाली गणराज्य था, चन्द्रगुप्त ने उसके साथ मैत्री और सहयोग का संबंध स्थापित किया। कुशाण-काल से इस प्रदेश में सबसे प्रबल भारतीय शक्ति लिच्छवियों की ही थी। उन्होंने स्वयं भी कुछ समय तक पाटलिपुत्र को अपने अधिकार में रखा था, और उन्हीं की सहायता से चण्डसेन कारस्फर ने सुन्दरवर्मा को परास्त किया था। लिच्छवियों का सहयोग प्राप्त किये बिना चन्द्रगुप्त के लिये अपने राज्य का विस्तार कर सकना संभव नहीं था। इस सहयोग और मैत्रीभाव को स्थिर करने के लिये चन्द्रगुप्त ने लिच्छविकुमारी कुमारदेवी के साथ विवाह किया, और अन्य रानियों के अनेक पुत्र होते हुए भी लिच्छवि-दौहित्र (कुमारदेवी के पुत्र) समुद्रगुप्त को अपना उत्तराधिकारी नियत किया। ऐसा प्रतीत होता है, कि लिच्छवि गण में इस काल में राजा वंशक्रमानुगत हो गये थे।

गणराज्यों के इतिहास में यह कोई अनहोनी बात नहीं है। कुमारदेवी लिच्छवि-राजा की पुत्री और उत्तराधिकारिणी थी। इसीलिये चन्द्रगुप्त के साथ विवाह हो जाने के बाद गुप्त-राज्य और लिच्छवि गण मिलकर एक हो गये थे। चन्द्रगुप्त के कुछ सिक्कों पर उसका और कुमारदेवी का चित्र एक साथ दिया गया है। इन सिक्कों पर 'चन्द्रगुप्त तथा श्रीकुमारदेवी' दोनों का नाम भी एक साथ अंकित है। सिक्के की दूसरी तरफ 'लिच्छवयः' शब्द भी उत्कीर्ण है। इससे यह भली-भांति सूचित होता है, कि लिच्छवि-गण और गुप्त-वंश का पारस्परिक विवाह-संबंध बड़े महत्त्व का था। इसके कारण ये दोनों राज्य मिलकर एक हो गये थे, और चन्द्रगुप्त तथा श्रीकुमारदेवी का सम्मिलित शासन इन प्रदेशों पर माना जाता था।

श्रीगुप्त के वंशजों का शासन किस प्रदेश पर स्थापित हो गया था, इस संबंध में पुराणों में लिखा है, कि गंगा के साथ-साथ प्रयाग तक व मगध तथा अयोध्या में इन्होंने राज्य किया। चन्द्रगुप्त के उत्तराधिकारी समुद्रगुप्त ने अपने साम्राज्य को बहुत बढ़ा लिया था। अतः पुराणों का यह निर्देश उसके पूर्वजों के विषय में ही है। संभवतः, महाराजाधिराज चन्द्रगुप्त प्रथम बंगाल से प्रारम्भ कर पश्चिम में अयोध्या और प्रयाग तक के विशाल प्रदेश का स्वामी था, और लिच्छवियों के सहयोग से ही इसपर अबाधित रूप से शासन करता था। इस प्रतापी गुप्त-सम्राट् का शासन-काल ३१५ से ३२८ ईस्वी तक था।

(२) सम्राट् समुद्रगुप्त (३२८-३७८ ई० प०)

चन्द्रगुप्त के अनेक पुत्र थे। पर गुण और वीरता में समुद्रगुप्त सबसे बढ़ा-चढ़ा था। लिच्छविकुमारी श्रीकुमारदेवी का पुत्र होने के कारण भी उसका विशेष महत्त्व था। चन्द्रगुप्त ने उसे ही अपना उत्तराधिकारी चुना, और अपने इस निर्णय को राजसभा बुलाकर सब सभ्यों के सम्मुख उद्घोषित किया। यह करते हुए प्रसन्नता के कारण उसके सारे शरीर में रोमांच हो आया था, और आंखों में आंसू आ गये थे। उसने सबके सामने समुद्रगुप्त को गले लगाया, और कहा—तुम सचमुच आर्य हो और अब राज्य का पालन करो। इस निर्णय से राजसभा में एकत्र हुए सब सभ्यों को परम प्रसन्नता हुई।

गृहकलह—संभवतः चन्द्रगुप्त ने अपने जीवन-काल में ही समुद्रगुप्त को राज्यभार संभलवा दिया था। प्राचीन आर्य राजाओं की यही

परम्परा थी। कालिदास ने इसी काल के राजाओं को दृष्टि में रखकर लिखा था, कि बुढ़ापे में वे मुनिवृत्ति ग्रहण करते हैं। चन्द्रगुप्त के इस निर्णय से और लोगों को चाहे कितनी ही खुशी हुई हो, पर उसके अन्य पुत्र इससे प्रसन्न नहीं हुए। उन्होंने समुद्रगुप्त के विरुद्ध विद्रोह किया। इनका नेता काच था। प्रतीत होता है, कि उन्हें अपने विद्रोह में सफलता भी हुई। काच के नाम के कुछ सोने के सिक्के भी उपलब्ध हुए हैं। इनमें गुप्त-काल के अन्य सोने के सिक्कों की अपेक्षा सोने की मात्रा बहुत कम है। इससे अनुमान होता है, कि भाइयों की इस कलह में राज्यकोष के ऊपर बुरा असर पड़ा था, सब जगह अव्यवस्था मच गई थी और इसीलिये काच ने अपने सिक्कों में सोने की मात्रा को कम कर दिया था।

पर काच देर तक समुद्रगुप्त का मुकाबला नहीं कर सका। समुद्रगुप्त अनुपम वीर था। उसने शीघ्र ही भाइयों के इस विद्रोह को शांत कर दिया, और पाटलिपुत्र के सिंहासन पर दृढ़ता के साथ अपना अधिकार जमा लिया। काच ने एक साल के लगभग राज्य किया।

काच नामक गुप्त-राजा की सत्ता को मानने का आधार केवल वे सिक्के हैं, जिनपर यह नाम 'सर्वराजोच्छेत्ता' विशेषण के साथ दिया गया है। अनेक विद्वानों का मत है, कि काच समुद्रगुप्त का ही नाम था। ये सिक्के उसी के हैं, बाद में दिग्विजय करके जब वह 'आसमुद्रक्षितीश' बन गया था, तब उसने काच के स्थान पर समुद्रगुप्त नाम धारण कर लिया था।

दिग्विजय—गृहकलह को शान्त कर समुद्रगुप्त ने अपने साम्राज्य के विस्तार के लिये संघर्ष प्रारम्भ किया। इस विजययात्रा का वर्णन प्रयाग में अशोक मौर्य के प्राचीन स्तम्भ पर बड़े सुन्दर ढंग से उत्कीर्ण है। सबसे पहले आर्यावर्त के तीन राजाओं को जीतकर अपने अधीन किया गया। इनके नाम ये हैं—अहिच्छत्र का राजा अच्युत, पद्मावती का भारशिववंशी राजा नागसेन और राजा कोटकुलज। संभवतः अच्युत और नागसेन भारशिव-वंश के साथ संबंध रखनेवाले राजा थे। यद्यपि भारशिव नागों की शक्ति का पहले ही पतन हो चुका था, पर कुछ प्रदेशों में इनके छोटे-छोटे राजा अब भी राज्य कर रहे थे। गुप्तों के उत्कर्ष के समय इन्होंने चन्द्र-गुप्त प्रथम जैसे शक्तिशाली राजा की अधीनता में सामन्त की स्थिति स्वीकार कर ली थी। पर समुद्रगुप्त और उसके भाइयों की गृहकलह से लाभ उठाकर ये अब फिर स्वतंत्र हो गये थे। यही दशा कोटकुल में उत्पन्न

राजा की थी, जिसका नाम प्रयाग के स्तम्भ की प्रशस्ति में मिट गया है। 'कोट' नाम से अंकित सिक्के पूर्वी पंजाब व दिल्ली से उपलब्ध हुए हैं। इस कुल का राज्य संभवतः इसी प्रदेश में था। सबसे पूर्व समुद्रगुप्त ने इन तीनों राजाओं को जीतकर अपने अधीन किया, और इन विजयों के बाद बड़ी धूमधाम के साथ पुष्पपुर (पाटलिपुत्र) में पुनः प्रवेश किया।

आर्यावर्त में अपनी शक्ति को भलीभांति स्थापित कर समुद्रगुप्त ने दक्षिण दिशा की तरफ प्रस्थान किया। इस विजययात्रा में उसने कुल बारह राजाओं को जीतकर अपने अधीन किया। जिस क्रम से इनको जीता गया था, उसी के अनुसार इनका उल्लेख भी प्रशस्ति में किया गया है। ये राजा निम्नलिखित थे—

(१) कोशल का महेन्द्र—यहां कोशल का अभिप्राय दक्षिण कोशल से है, जिसमें वर्तमान समय के मध्यप्रान्त के बिलासपुर, रायपुर और संबलपुर प्रदेश सम्मिलित थे। इसकी राजधानी श्रीपुर (वर्तमान सिरपुर) थी। दक्षिण कोशल से उत्तर की ओर का सब प्रदेश गुप्त-साम्राज्य के अन्तर्गत था, और अच्युत तथा नागसेन की पराजय के बाद वह पूर्णतया उसके अधीन हो गया था। आर्यावर्त में पराजित हुए नागसेन की राजधानी ग्वालियर रियासत में पद्मावती थी। अब दक्षिण की तरफ विजययात्रा करते हुए सबसे पहले दक्षिण कोशल का ही स्वतंत्र राज्य पड़ता था। इसके राजा महेन्द्र को जीतकर समुद्रगुप्त ने अपने अधीन किया।

(२) महाकान्तार का व्याघ्रराज—महाकोशल के दक्षिण-पूर्व में महाकान्तार (जंगली प्रदेश) था। इसी स्थान में आजकल गोंडवाना के सघन जंगल हैं।

(३) कौराल का मंत्रराज—महाकांतार के बाद कौराल राज्य की बारी आई। यह राज्य दक्षिणी मध्यप्रान्त के सोनपुर प्रदेश के आसपास था।

(४) पिष्टपुर का महेंद्रगिरि—मद्रास प्रान्त के गोदावरी जिले में स्थित वर्तमान पीठापुरम् ही प्राचीन समय में पिष्टपुर कहलाता था। वहां के राजा महेन्द्रगिरि को भी परास्त कर के अपने अधीन किया गया।

(५) कोट्टूर का राजा स्वामिदत्त—कोट्टूर का राज्य गंजाम जिले में था, उसी को आजकल कोठूर कहते हैं।

(६) ऐरण्डपल्ल का दमन—ऐरण्डपल्ल का राज्य कलिंग के दक्षिण में था। इसकी स्थिति पिष्टपुर और कोट्टूर के पड़ोस में संभवतः विजगापटटम जिले में थी।

(७) काञ्ची का विष्णुगोप—काञ्ची का अभिप्राय दक्षिणी भारत के काञ्जीवरम् से है। मद्रास प्रान्त के उत्तरी जिलों और कलिंग को जीतकर समुद्रगुप्त ने सुदूर दक्षिण में काञ्जीवरम् पर आक्रमण किया और उसे जीतकर अपने अधीन किया।

(८) अवमुक्त का नीलराज—यह राज्य काञ्ची के ही समीप में था। एक ऐतिहासिक ने इसे आव प्रदेश के साथ में मिलाया है।

(९) वेङ्गी का हस्तिवर्मन्—यह राज्य कृष्णा और गोदावरी नदियों के बीच में स्थित था। वेङ्गी नाम की नगरी इस प्रदेश में अब भी विद्यमान है।

(१०) पाल्लक का उग्रसेन—यह राज्य भी कृष्णा नदी के समीप नेल्लोर जिले में था।

(११) देवराष्ट्र का कुबेर—इस राजा के प्रदेश के संबंध में ऐतिहासिकों में मतभेद है। कुछ विद्वान् इसे सतारा जिले में मानते हैं, और अन्य विजगापट्टम जिले में। कांची, वेङ्गी और अवमुक्त राज्यों के शासक पल्लववंश के थे। संभवतः उन सबकी सम्मिलित शक्ति को समुद्रगुप्त ने एक साथ ही परास्त किया था। देवराष्ट्र का प्रदेश दक्षिण से उत्तर की ओर लौटते हुए मार्ग में आया था।

(१२) कौस्थलपुर का धनंजय—यह राज्य उत्तरी आर्कोट जिले में था। इसकी स्मृति कुट्टलूर के रूप में अब भी सुरक्षित है।

दक्षिणी भारत के इन विविध राज्यों को जीतकर समुद्रगुप्त वापस लौट आया। दक्षिण में वह कांची से नीचे नहीं गया था। इन राजाओं को केवल परास्त ही किया गया था, उनका मूल से उच्छेद नहीं हुआ था। समुद्रगुप्त ने इस विजयत्राया में प्राचीन आर्य-मर्यादा का पूर्णतया पालन किया था। प्रयाग की समुद्रगुप्त प्रशस्ति के अनुसार इन राजाओं को हराकर पहले कैद कर लिया गया था, और बाद में अनुग्रह करके उन्हें मुक्त कर दिया गया था। इससे समुद्रगुप्त का प्रताप और महानुभावता, दोनों में बहुत वृद्धि हो गई थी।

ऐसा प्रतीत होता है, कि जब समुद्रगुप्त विजययात्रा के लिये दक्षिण गया हुआ था, उत्तरी भारत (आर्यावर्त) के अधीनस्थ राजाओं ने फिर विद्रोह का झंडा खड़ा कर दिया। उन्हें फिर दुबारा जीता गया। इस बार समुद्रगुप्त उनसे अधीनता स्वीकार कराके ही संतुष्ट नहीं हुआ, अपितु उनका मूल से उच्छेद

कर दिया गया। इस प्रकार जड़ से उखाड़े हुए राजाओं के नाम ये हैं—रुद्रदेव, मतिल, नागदत्त, चन्द्रवर्मा, गणपतिनाग, नागसेन, अच्युतनन्दी और बलवर्मा। इनमें से नागसेन और अच्युत के साथ पहले भी समुद्रगुप्त के युद्ध हो चुके थे। उन्हीं को परास्त करने के बाद समुद्रगुप्त ने धूमधाम के साथ पाटलिपुत्र (पुष्पपुर) में प्रवेश किया था। अब ये राजा फिर स्वतंत्र हो गये थे, और इस बार समुद्रगुप्त ने इनका समूलोन्मूलन करके इनके राज्यों को अपने साम्राज्य में मिला लिया था। रुद्रदेव वाकाटकवंशी प्रसिद्ध राजा रुद्रसेन प्रथम था। मतिल की एक मुद्रा बुलन्दशहर के समीप मिली है। इसका राज्य संभवतः इसी प्रदेश में था। नागदत्त और गणपतिनाग के नामों से यह सूचित होता है, कि वे भारशिव नागों के वंश के थे, और उनके छोटे-छोटे राज्य आर्यावर्त में ही विद्यमान थे। गणपतिनाग के कुछ सिक्के बेसनगर में उपलब्ध भी हुए हैं। चन्द्रवर्मा पुष्करण का राजा था। दक्षिणी राजपूताना में सिसुनिया की एक चट्टान पर उसका शिलालेख भी मिला है। संभवतः, बलवर्मा कोट-कुलज नृपति था, जिसे पहली बार भी समुद्रगुप्त ने परास्त किया था। ये सब आर्यावर्ती राजा इस बार पूर्ण रूप से गुप्त-सम्राट् द्वारा परास्त हुए, और इनके प्रदेश पूरी तरह गुप्त-साम्राज्य में शामिल कर लिये गये।

आटविक राजाओं के प्रति समुद्रगुप्त ने प्राचीन मौर्य-नीति का प्रयोग किया। कौटलीय अर्थशास्त्र के अनुसार आटविक राजाओं को अपना सहयोगी और सहायक बनाने का उद्योग करना चाहिये। आटविक सेनायें युद्ध के लिये बहुत उपयोगी होती थीं। समुद्रगुप्त ने इन राजाओं को अपना 'परिचारक' बना लिया था।

इसके बाद समुद्रगुप्त को युद्धों की आवश्यकता नहीं हुई। इन विजयों से उसकी धाक ऐसी बैठ गई थी, कि अन्य प्रत्यन्त (सीमा-प्रान्तों में वर्तमान) नृपतियों तथा यौधेय, मालव आदि गणराज्यों ने स्वयमेव उसकी अधीनता स्वीकृत कर ली थी। ये सब कर देकर, आज्ञाओं का पालन कर, प्रणाम कर, तथा राजदरबार में उपस्थित होकर सम्राट् समुद्रगुप्त की अधीनता को स्वीकृत करते थे। इस प्रकार करद बनकर रहनेवाले प्रत्यन्त राज्यों के नाम ये हैं—(१) समतत या दक्षिण-पूर्वी बंगाल, (२) कामरूप या आसाम, (३) नेपाल, (४) देवाक या आसाम का नोगांग प्रदेश, (५) कर्तृपुर या कुमायूं और गढ़वाल के पार्वत्य प्रदेश। निःसंदेह, ये सब गुप्त-साम्राज्य के प्रत्यन्त या सीमाप्रदेश में स्थित राज्य थे, और इन्होंने युद्ध के बिना ही सम्राट् समुद्रगुप्त की अधीनता को स्वीकार कर लिया था।

इसी प्रकार जिन गणराज्यों ने गुप्त-सम्राट् की अधीनता को स्वीकार किया, वे निम्नलिखित हैं:—मालव, आर्जुनायन, यौधेय, माद्रक, आभीर, प्रार्जुन, सनकानीक, काक और खरपरिक। इनमें से मालव, आर्जुनायन, यौधेय, माद्रक और आभीर प्रसिद्ध गणराज्य हैं। कुशाण साम्राज्य के विरुद्ध विद्रोह कर इन्होंने अपनी स्वतंत्रता को पुनः स्थापित किया था, और धीरे-धीरे अपनी शक्ति बहुत बढ़ा ली थी। अब समुद्रगुप्त ने इन्हें अपने अधीन कर लिया, पर उसने इनको जड़ से उखाड़ने का प्रयत्न नहीं किया। वह केवल कर, प्रणाम, राजदरबार में उपस्थिति तथा आज्ञावर्तिता से ही संतुष्ट हो गया। इन गणराज्यों ने भी इतने शक्तिशाली सम्राट् की अधीनता स्वीकार कर अपनी पृथक् सत्ता को बनाये रखा। प्रार्जुन, काक, सनकानीक और खरपरिक छोटे-छोटे गणराज्य थे, वे विदिशा के समीपवर्ती प्रदेश में स्थित थे। इनका अधिक परिचय इस समय उपलब्ध नहीं होता है।

दक्षिण और पश्चिम के अन्य बहुत-से राजा भी सम्राट् समुद्रगुप्त के प्रभाव में थे, और उसे आदरसूचक उपहार आदि भेजकर संतुष्ट रखते थे। इस प्रकार के तीन राजाओं का तो समुद्रगुप्त-प्रशस्ति में उल्लेख भी किया गया है। ये दैवपुत्र शाहिशाहानुशाहि, शक मुरुण्ड और सैंहलक हैं। दैवपुत्र शाहानुशाहि से कुशाण-राजा का अभिप्राय है। शक मुरुण्ड से उन शक-क्षत्रपों का ग्रहण किया जाता है, जिनके अनेक छोटे-छोटे राज्य इस युग में भी उत्तर-पश्चिमी भारत में विद्यमान थे। उत्तरी भारत से भारशिव वाकाटक और गुप्त-वंशों ने शकों और कुशाणों के शासन का अन्त कर दिया था। पर उनके अनेक राज्य उत्तर-पश्चिमी भारत में अब भी विद्यमान थे। सिंहल के राजा को सैंहलक लिखा गया है। इन शक्तिशाली राजाओं के समुद्रगुप्त का आदर करने का प्रकार भी प्रयाग की प्रशस्ति में स्पष्ट लिखा है। ये राजा आत्मनिवेदन, कन्योपायन, दान, गरुड़ध्वज से अंकित आज्ञा-पत्रों के ग्रहण आदि उपायों से सम्राट् समुद्रगुप्त को संतुष्ट करने का प्रयत्न करते थे। आत्मनिवेदन का अभिप्राय है, अपनी सेवाओं को सम्राट् के लिये अर्पित करना। कन्योपायन का अर्थ है, कन्या विवाह में देना। राजा लोग किसी शक्तिशाली सम्राट् से मैत्री संबंध बनाये रखने के लिये इस उपाय का प्रायः प्रयोग किया करते थे। संभवतः सिंहल, शक और कुशाण-राजाओं ने भी समुद्रगुप्त को अपनी कन्यायें विवाह में प्रदान की थीं। दान का मतलब भेंट-उपहार से है। सम्राट् चन्द्रगुप्त से ये राजा शासन (आज्ञापत्र)

भी ग्रहण करते थे। इन सब उपायों से वे महाप्रतापी गुप्त-सम्राट् को संतुष्ट रखते थे, और उसके कोप से बचे रहते थे। इस प्रकार पश्चिम में गांधार से लगाकर पूर्व में आसाम तक और दक्षिण में सिंहल (लंका) द्वीप से शुरू कर उत्तर में हिमालय के कीर्तिपुर जनपद तक, सर्वत्र समुद्रगुप्त का डंका बज रहा था। आर्यावर्त के प्रदेश सीधे उसके शासन में थे, दक्षिण के राजा उसके अनुग्रह से अपनी सत्ता कायम किये हुए थे। सीमाप्रदेशों के जनपद और गणराज्य उसको बाकायदा कर देते थे और सुदूरस्थ राजा भेंट-उपहार से तथा अपनी सेवायें समर्पण कर उसके साथ मैत्री संबंध स्थापित किये हुए थे। प्रयाग की प्रशस्ति में गुप्त-सम्राट् की इस अनुपम शक्ति को कितने सुन्दर शब्दों में यह कहकर प्रकट किया है, कि पृथ्वी भर में कोई उसका 'प्रतिरथ' (खिलाफ खड़ा हो सकनेवाला) नहीं था, सारी धरणी को उसने एक प्रकार से अपने बाहुबल से बांध-सा रखा था।

समुद्रगुप्त ने अनेक विनष्टप्राय जनपदों के नष्ट हो गये राजवंशों का पुनरुद्धार भी किया था। इस कार्य से सारे भुवन में उसका यश फैल गया था। वह साम्राज्यवाद के प्राचीन आर्य आदर्श का अनुयायी था। मगध के आर्य-भिन्न शूद्रप्राय राजाओं ने विविध राजकुलों को नष्ट कर एकराट् होने की जो प्रवृत्ति शुरू की थी, वह उसे अनुकरणीय नहीं प्रतीत होती थी। इस-लिये उसने न केवल जीते हुए राजाओं को अपने-अपने जनपदों में कायम रखा, अपितु अनेक विनष्ट राजवंशों को भी फिर से स्थापित किया था। केवल आर्यावर्त के उन्हीं राजाओं का उसने जड़ से उच्छेद किया था, जो बार-बार उसकी शक्ति के विरुद्ध विद्रोह करने में तत्पर थे। संभवतः उनके भी राजवंशों को उसने नष्ट नहीं किया था। यही कारण है, कि वाकाटक-राजा रुद्रसेन या रुद्रदेव के विनष्ट हो जाने के बाद भी उसका वंश कायम रहा था, और उसके पश्चात् भी अनेक वाकाटक-राजाओं ने अपने प्रदेश में शासन किया था।

अश्वमेध—सारे भारत में एकच्छत्र अबाधित शासन स्थापित कर अपनी दिग्विजय की समाप्ति के बाद, समुद्रगुप्त ने अश्वमेध-यज्ञ किया। शिलालेखों में 'उसे चिरोत्सन्न अश्वमेधाहर्ता' (देर से न हुए अश्वमेध को फिर से प्रारम्भ करनेवाला) और 'अनेकाश्वमेधयाजी' (अनेक अश्वमेध-यज्ञ करने वाला) कहा गया है। इन अश्वमेधों में केवल एक पुरानी परिपाटी का ही अनुसरण नहीं किया गया था, अपितु इस अवसर से लाभ उठाकर कृपण,

दीन, अनाथ और आतुर लोगों को भरपूर सहायता देकर उनके उद्धार का भी प्रयत्न किया गया था। प्रयाग की प्रशस्ति में इसका बहुत स्पष्ट संकेत है। समुद्रगुप्त के कुछ सिक्कों में यज्ञीय अश्व का भी चित्र दिया गया है। ये सिक्के अश्वमेध-यज्ञ के उपलक्ष में ही जारी किये गये थे। इन सिक्कों में एक तरफ जहां यज्ञीय अश्व का चित्र है, वहां दूसरी तरफ अश्वमेध की भावना को इन सुन्दर शब्दों में प्रकट किया गया है—'राजाधिराजा पृथिवी-मवजित्य दिवं जयति अप्रतिवार्यवीर्यः' राजाधिराज पृथ्वी को जीतकर अब स्वर्ग की जय कर रहा है, उसकी शक्ति और तेज अप्रतिम हैं। समुद्रगुप्त पृथिवी को तो जीत चुका था, अब वह दीन, अनाथ, आतुर लोगों की अश्वमेध-यज्ञ के निमित्त से सहायता कर स्वर्ग प्राप्ति के लिये मार्ग साफ कर रहा था। समुद्रगुप्त यज्ञ की भावना की तह तक पहुंच गया था।

गुण और चरित्र—सम्राट् समुद्रगुप्त के वैयक्तिक गुणों और चरित्र के संबंध में प्रयाग की प्रशस्ति में बड़े सुन्दर संदर्भ पाये जाते हैं। इस प्रशस्ति को महादण्ड नायक ध्रुवभूति के पुत्र, संधिविग्रहिक महादण्डनायक हरिषेण ने तैयार किया था। हरिषेण समुद्रगुप्त का एक उच्च राजकर्मचारी था। उसने अपने को भट्टारकपाद समुद्रगुप्त का दास और 'समीप' रहने के अनुग्रह से जिसकी बुद्धि का विकास हो गया हो, ऐसा कहा है। यह स्पष्ट है, कि अपने स्वामी की प्रशंसा में कुमारामात्य हरिषेण ने बहुत उदारता से काम लिया है। पर सम्राट् समुद्रगुप्त की दृष्टि में जो गुण बहुत उत्कृष्ट थे जिन्हें वह आदर्श समझता था और जिन्हें अपने जीवन में वह अभीष्ट समझता था, उन्हीं का हरिषेण ने प्रशस्ति लिखते हुए वर्णन किया होगा। हम यहां हरिषेण के शब्दों में ही समुद्रगुप्त के वैयक्तिक चरित्र को उल्लिखित करते हैं—

"उसका मन विद्वानों के सत्संग-सुख का व्यसनी था। उसके जीवन में सरस्वती (सत्काव्य) और लक्ष्मी (श्री) का अविरोध था। वह वैदिक मार्ग का अनुयायी था। उसका काव्य ऐसा था, कि कवियों की बुद्धि के विभव का भी उससे विकास होता था। कौन-सा ऐसा गुण है, जो उसमें नहीं था ? सैकड़ों देशों में विजय प्राप्त करने की उसमें अपूर्व क्षमता थी। अपनी भुजाओं का पराक्रम ही उसका सबसे उत्तम साथी था। परशु, बाण, शंकु, शक्ति आदि अस्त्रों के सैकड़ों घावों से उसका सारा शरीर सुशोभित था। उसकी नीति यह थी, कि साधु का उदय और असाधु का प्रलय हो। उसका हृदय इतना कोमल था, कि भक्ति और झुक जाने मात्र

से वश में आ जाता था। उसने लाखों गौवें दान में दी थीं। अपनी तीक्ष्ण बुद्धि और संगीत-कला के ज्ञान और प्रयोग से उसने ऐसे काव्य की सृष्टि की थी, कि सब लोग कविराज कहकर उसकी प्रतिष्ठा करते थे।"

कुमारामात्य हरिषेण के इस वर्णन से सम्राट् समुद्रगुप्त के वैयक्तिक गुणों का कितना उत्तम परिचय हमें प्राप्त हो जाता है! इसमें संदेह नहीं, कि समुद्रगुप्त जहां अनुपम वीर था, वहां कविता, संगीत तथा अन्य ललित कलाओं में भी वह बड़ा प्रवीण था। यह बात उसके सिक्कों के अनुशीलन से भी भली-भांति ज्ञात हो जाती है। समुद्रगुप्त के सात प्रकार के सिक्के, इस समय में मिलते हैं। उनके में से पांच प्रकार के सिक्के ऐसे हैं जो उसके जीवन के विविध पहलुओं पर प्रकाश डालते हैं। पहले प्रकार के सिक्कों में उसका जो चित्र है, उसमें वह युद्ध की पोशाक पहने हुए है, उसके बायें हाथ में धनुष है, और दायें हाथ में बाण। सिक्के के दूसरी तरफ लिखा है—'समरशत-विततविजयी जितारि अपराजितो दिवं जयति' सैकड़ों युद्धों द्वारा विजय का प्रसार कर, सब शत्रुओं को परास्त कर, अब स्वर्ग को विजय करता है। दूसरे प्रकार के सिक्कों में उसका जो चित्र है, उसमें वह एक परशु लिये खड़ा है। इन सिक्कों पर लिखा है—कृतान्त (यम) का परशु लिये हुए अपराजित विजयी की जय हो। तीसरे प्रकार के सिक्कों पर उसका जो चित्र है, उसमें उसके सिर पर उष्णीष है, और वह एक सिह के साथ युद्ध कर उसे बाण से मारता हुआ दिखाया गया है। ये तीन प्रकार के सिक्के समुद्रगुप्त के वीर रूप को चित्रित करते हैं। पर इनके अतिरिक्त उसके बहुत-से सिक्के ऐसे भी हैं, जिनमें वह आसन पर आराम से बैठकर वीणा बजाता हुआ प्रदर्शित किया गया है। इन सिक्कों पर समुद्रगुप्त का केवल नाम ही दिया है, उसके संबंध में कोई उक्ति नहीं लिखी गई है। अश्वमेध के उपलक्ष में जो सिक्के उसने प्रचारित किये थे, उनका उल्लेख पहले किया जा चुका है। इसमें सन्देह नहीं, कि जहां समुद्रगुप्त वीर योद्धा था, वहां वह संगीत और कविता का भी प्रेमी था।

सिंहल से संबंध—समुद्रगुप्त के इतिहास की कुछ अन्य बातें भी उल्लेख योग्य हैं। इस काल में सीलोन (सिंहल) का राजा मेघवर्ण था। उसके शासन-काल में दो बौद्ध-भिक्खु बोधगया में तीर्थयात्रा के लिये आये थे। वहां उनके रहने के लिये समुचित प्रबन्ध नहीं था। जब वे अपने देश को वापस गये, तो उन्होंने इस विषय में राजा मेघवर्ण से शिकायत की। मेघवर्ण ने निश्चय

किया, कि बोधगया में एक बौद्ध-विहार सीलोनी यात्रियों के लिये बनवा दिया जाय, इसकी अनुमति प्राप्त करने के लिये उसने एक दूतमंडल समुद्रगुप्त की सेवा में भेजा। समुद्रगुप्त ने बड़ी प्रसन्नता से इस कार्य के लिये अपनी अनुमति दे दी, और राजा मेघवर्ण ने बोधिवृक्ष के उत्तर में एक विशाल विहार निर्माण करा दिया। जिस समय प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्यू न्त्सांग बोधगया की यात्रा के लिये आया था, यहां एक हजार से ऊपर भिक्षु निवास करते थे।

सम्राट् समुद्रगुप्त की अनेक रानियां थीं, पर पटरानी (अग्रमहिषी पट्ट महादेवी) का पद दत्तदेवी को प्राप्त था। इसी से प्रसिद्ध गुप्त-सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य का जन्म हुआ था। पचास वर्ष के लगभग शासन करके ३७८ ई० में समुद्रगुप्त स्वर्ग को सिधारे।

(३) सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य
(३७८–४१४ ई० प०)

रामगुप्त—प्राचीन काव्यग्रंथों से ऐसा प्रतीत होता है, कि समुद्रगुप्त के सबसे बड़े लड़के का नाम रामगुप्त था, और पिता की मृत्यु के बाद शुरू में वही राज्यसिंहासन पर आरूढ़ हुआ। रामगुप्त बड़ा निर्बल, कामी तथा नपुंसक व्यक्ति था। उसका विवाह ध्रुवदेवी के साथ हुआ। पर पति के नपुंसक तथा निर्बल होने के कारण यह उससे जरा भी संतुष्ट न थी। रामगुप्त की निर्बलता से लाभ उठाकर साम्राज्य के अनेक सामंतों ने विद्रोह का झंडा खड़ा कर दिया। विशेषतया शाहानुशाहि कुशाण या शक राजा, जो समुद्रगुप्त की शक्ति के कारण आत्मनिवेदन, भेंट-उपहार, कन्योपायन आदि उपायों से उसे संतुष्ट रखने का प्रयत्न करते थे, अब रामगुप्त की कमजोरी से लाभ उठाकर उद्दंड हो गये और उन्होंने गुप्त-साम्राज्य पर आक्रमण कर दिया। हिमालय की उपत्यका में युद्ध हुआ, जिसमें रामगुप्त हार गया। एक पहाड़ी दुर्ग में गुप्तसेनायें घिर गई, और नपुंसक रामगुप्त ने शक-राज की सेवा में संधि के लिये याचना की। जो संधि की शर्तें शकराज की तरफ से पेश की गईं, उनमें से एक यह थी कि पट्ट महादेवी ध्रुवदेवी को शकराज के सुपुर्द कर दिया जाय। नपुंसक रामगुप्त इसके लिये भी तैयार हो गया। पर उसका छोटा भाई वीर चन्द्रगुप्त इसको न सह सका। उसने स्वयं ध्रुवदेवी का स्त्री-रूप धारण किया। अन्य बहुत से सैनिकों को भी परिचारिका-रूप में स्त्री-वेश पहिनाया गया। शकराज के अन्तःपुर में पहुंचकर स्त्री वेशधारी चन्द्र-

गुप्त ने शकराज का घात कर दिया। इसके बाद निर्बल रामगुप्त को भी मार-कर चन्द्रगुप्त ने राजगद्दी पर अधिकार कर लिया, और अपनी भाभी ध्रुवदेवी के साथ विवाह किया। ध्रुवदेवी चन्द्रगुप्त द्वितीय की पट्ट महा-देवी बनी।

इस कथा के निर्देश न केवल प्राचीन काव्य-साहित्य में, अपितु शिलालेखों में भी उपलब्ध होते हैं। प्राचीन समय में यह कथा इतनी लोकप्रिय थी, कि प्रसिद्ध कवि विशाखदत्त ने भी इस कथा को लेकर 'देवी चन्द्रगुप्तम्' नाम का एक नाटक लिखा। यह नाटक इस समय उपलब्ध नहीं होता, पर इसके उद्धरण नाट्य-दर्पण में दिये गये हैं, जिनसे इस कथा की रूपरेखा का परिचय मिल जाता है। बाण के 'हर्षचरितम्' में भी इस कथा का निर्देश यह लिखकर किया है, कि "दूसरे की पत्नी का कामुक शकपति कामिनी-वेशधारी चन्द्र-गुप्त द्वारा मारा गया।" राजा अमोघवर्ण के ताम्रपत्र में भी इस कथा का निर्देश किया गया है। अरब-लेखकों ने भी इस कथा को लेकर पुस्तकें लिखीं। बाद में अरबी के आधार पर फारसी में भी इस कथानक को लिखा गया। बारहवीं सदी में अब्दुलहसन अली नाम के एक लेखक ने इस कथा को 'मजमलुतवारीख' नामक पुस्तक में लिखा। यह पुस्तक इस समय भी उपलब्ध है। संस्कृत-काव्य, उत्कीर्ण लेख और विदेशी साहित्य--सर्वत्र इस कथानक की उपलब्धि के कारण यह मानना होगा, कि यह सच्ची ऐतिहासिक अनुश्रुति पर आश्रित है, और समुद्रगुप्त की मृत्यु के बाद एक-दो वर्ष तक वस्तुतः उसके बलहीन पुत्र राम-गुप्त ने राज्य किया था।

चन्द्रगुप्त द्वितीय—राजगद्दी पर आरूढ़ होने के बाद चन्द्रगुप्त के सम्मुख दो कार्य मुख्य थे, रामगुप्त के समय में उत्पन्न हुई अव्यवस्था को दूर करना और उन म्लेच्छ शकों का उन्मूलन करना, जिन्होंने न केवल गुप्तश्री के अपहरण का प्रयत्न किया था, बल्कि जिन्होंने गुप्त-कुलवधू की तरफ भी दृष्टि उठाई थी। चन्द्रगुप्त के सम्राट् बनने पर शीघ्र ही साम्राज्य में व्यवस्था कायम हो गई। वह अपने पिता का योग्य और अनुरूप पुत्र था। अपनी राज्यशक्ति को दृढ़ कर उसने शकों के विनाश के लिये युद्धों का प्रारम्भ किया।

शक-विजय—विदेशी जातियों की शक्ति के इस समय दो बड़े केन्द्र थे—काठियावाड़ और गुजरात के शक-महाक्षत्रप और गांधार-कंबोज के कुशाण। शक-महाक्षत्रप संभवतः शाहानुशाहि कुशाण-राजा के ही प्रान्तीय शासक थे। यद्यपि उनकी स्थिति स्वतंत्र राजाओं के समान थी। भार-

तीय साहित्य में कुशाण-राजाओं को भी शक मुरुण्ड (शकस्वामी या शकों के स्वामी) शब्द से कहा गया है। पहले चन्द्रगुप्त द्वितीय ने काठियावाड़ गुजरात के शक-महाक्षत्रपों के साथ युद्ध किया। उस समय महाक्षत्रप रुद्रसिंह तृतीय इस शक-राज्य का स्वामी था। चन्द्रगुप्त द्वारा वह परास्त हुआ, और गुजरात काठियावाड़ के प्रदेश भी गुप्त साम्राज्य में सम्मिलिति हो गये।

शकों की पराजय में वाकाटकों से बड़ी सहायता मिली। दक्षिणापथ में वाकाटकों का शक्तिशाली राज्य था, यह हम पहले.एक अध्याय में प्रदर्शित कर चुके है। समुद्रगुप्त ने वहां के राजा रुद्रदेव या रुद्रसेन को परास्त किया था, पर अधीनस्थ रूप में वाकाकट-वंश की सत्ता अब भी विद्यमान थी। वाकाटक-राजा बड़े प्रतापी थे, और उनकी अधीनता में अनेक सामन्त राजा राज्य करते थे। वाकाटक-राजा रुद्रसेन द्वितीय के साथ चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की कन्या प्रभावती गुप्ता का विवाह हुआ था। प्रभावती गुप्ता की माता का नाम कुबेरनागा था, जो स्वयं नाग-वंश की कन्या थी। संभवतः कुबेरनागा चन्द्रगुप्त द्वितीय की बड़ी रानी थी। ध्रुवदेवी के साथ उसका विवाह बाद में हुआ था।

वाकाटक-राजा रुद्रसेन द्वितीय के साथ गुप्त राजकुमारी का विवाह हो जाने से गुप्तों और वाकाटकों में मैत्री और घनिष्ठता स्थापित हो गई थी। इस विवाह के कुछ समय बाद, तीस वर्ष की आयु में रुद्रसेन द्वितीय की मृत्यु हो गई। उसके बच्चे अभी छोटी आयु के थे, अतः राज्यशासन प्रभावती गुप्ता ने अपने हाथों में लिया और वह वाकाटक-राज्य की स्वामिनी बन गई। इस स्थिति में उसने ३९० ईस्वी से ४१० ई० के लगभग तक राज्य किया। अपने प्रतापी पिता चन्द्रगुप्त द्वितीय का पूरा साहाय्य और सहयोग प्रभावती गुप्ता को प्राप्त था। चन्द्रगुप्त के निरीक्षण में ही इस समय वाकाटक-राज्य का संचालन हो रहा था। अतः जब चन्द्रगुप्त ने महाक्षत्रप शकस्वामी सिंहसेन पर आक्रमण किया, तो वाकाटक राज्य की संपूर्ण शक्ति उसकी वशवर्तिनी थी। वाकाटक-राज्य की भौगोलिक स्थिति ऐसी थी कि शकों को परास्त करने के लिये उसका सहयोग आवश्यक था।

गुजराज काठियावाड़ के शकों का उच्छेद कर उनके राज्य को गुप्त-साम्राज्य के अन्तर्गत कर लेना चन्द्रगुप्त द्वितीय के शासनकाल की सबसे महत्त्व-पूर्ण घटना है। इसी कारण वह भी 'शकारि' और 'विक्रमादित्य' कहलाया। कई सदी पहले शकों का इसी प्रकार उच्छेद कर सातवाहन-सम्राट् गौतमी-पुत्र सातकर्णि ने 'शकारि' और 'विक्रमादित्य' की उपाधि ग्रहण की थी। अब चन्द्रगुप्त द्वितीय ने भी एक बार फिर उसी गौरव को प्राप्त किया। गुजरात

और काठियावाड़ की विजय के कारण अब गुप्त-साम्राज्य की सीमा पश्चिम में अरबसागर तक विस्तृत हो गई थी। अरबसागर तक विस्तृत गुप्त-साम्राज्य के और विशेषतया नये जीते हुए प्रदेशों पर भलीभांति शासन करने के लिये पाटलिपुत्र बहुत दूर पड़ता था। इसलिये चन्द्रगुप्त द्वितीय ने उज्जैनी को अपनी दूसरी राजधानी बनाया, और एक बार फिर इस नगरी का उत्कर्ष हुआ।

गुजरात काठियावाड़ के शक-महाक्षत्रपों के अतिरिक्त गांधार-कंबोज के शक मुरुण्डों (कुशाणों) का भी चन्द्रगुप्त ने संहार किया था। दिल्ली के समीप महरौली में लोहे का एक विष्णुध्वज (स्तम्भ) है, जिसपर चन्द्र नाम के एक प्रतापी सम्राट् का लेख उत्कीर्ण है। ऐतिहासिकों का मत है, कि यह लेख गुप्तवंशी चन्द्रगुप्त द्वितीय का ही है। इस लेख में चन्द्र की विजयों का वर्णन करते हुए कहा है, कि उसने सिन्धु के सप्तमुखों (प्राचीन सप्तसैंधव देश की सात नदियों) को पार करके बाल्हिक (बल्ख) देश तक युद्ध में विजय प्राप्त की थी। पंजाब की सात नदियों (यमुना, सतलुज, व्यास, रावी, चनाब, जेहलम और सिन्धु) का प्रदेश प्राचीन समय में सप्तसैंधव कहलाता था। इसके परे के प्रदेश में उस समय शक मुरुण्डों या कुशाणों का राज्य विद्यमान था। संभवतः इन्हीं शक मुरुण्डों ने ध्रुवदेवी पर हाथ उठाने का दुस्साहस किया था। अब ध्रुवदेवी और उसके पति चन्द्रगुप्त द्वितीय के प्रताप ने बल्ख तक इन शक मुरुण्डों का उच्छेद किया, और गुप्त-साम्राज्य की पश्चिमोत्तर-सीमा को सुदूर वंक्षु नदी तक पहुंचा दिया।

बंगाल में युद्ध—महरौली के इसी स्तम्भलेख में यह भी लिखा है, कि बंगाल में मुकाबला करने के लिये इकट्ठे हुए अनेक राजाओं को भी चन्द्र ने परास्त किया था। संभव है, कि जब चन्द्रगुप्त द्वितीय काठियावाड़ गुजरात के शकों को परास्त करने में व्यापृत था, बंगाल के कुछ पुराने राजकुलों ने उसके विरुद्ध विद्रोह कर दिया हो, और उसे बंगाल जाकर भी अपनी तलवार का प्रताप दिखाने की आवश्यकता हुई हो।

साम्राज्य का क्षेत्र—चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय में गुप्त-साम्राज्य अपनी शक्ति की चरम सीमा को पहुंच गया था। दक्षिणी भारत के जिन राजाओं को समुद्रगुप्त ने अपने अधीन किया था, वे अब भी अविकल रूप से चन्द्रगुप्त की अधीनता स्वीकार करते थे। शक-महाक्षत्रपों और गांधार-कंबोज के शक मुरुण्डों के परास्त हो जाने से गुप्त-साम्राज्य का विस्तार पश्चिम में अरब सागर तक और हिन्दुकुश के पार वंक्षु नदी तक हो गया था।

चन्द्रगुप्त की उपाधि केवल विक्रमादित्य ही नहीं थी। शिलालेखों में उसे सिंहविक्रम, सिंहचन्द्र, साहसांक, विक्रमांक, देवराज आदि अनेक उपाधि-धियों से विभूषित किया है। उसके भी अनेक प्रकार के सिक्के मिलते हैं। शक-महाक्षत्रपों को जीतने के बाद उसने उनके प्रदेश में जो सिक्के चलाये थे, वे पुराने शक-सिक्कों के नमूने के थे। इसी प्रकार उत्तर-पश्चिमी भारत में उसके जो बहुत-से सिक्के मिले हैं, वे कुशाण नमूने के हैं। चन्द्रगुप्त की वीरता उसके सिक्कों द्वारा भी प्रकट होती है। उसे भी सिक्कों पर सिंह के साथ लड़ता हुआ प्रदर्शित किया गया है, और यह वाक्य दिया गया है—'क्षितिमवजित्य सुचरितैः दिवं जयति विक्रमादित्यः' पृथिवी का विजय करके अब विक्रमादित्य अपने सुकार्यों से स्वर्ग को जीत रहा है।

अपने पिता के समान चन्द्रगुप्त ने भी अश्वमेध-यज्ञ किया। शकों की विजय के बाद सारे भारत में अपना अक्षुण्ण साम्राज्य स्थापित कर वह वस्तुतः इसका अधिकारी हो गया था। उसका शासनकाल ३७८ से ४१४ ईस्वी के लगभग तक था।

(४) सम्राट् कुमारगुप्त प्रथम महेन्द्रादित्य
(४१४-४५५ ई० प०)

चन्द्रगुप्त प्रथम की मृत्यु के बाद उसका पुत्र कुमारगुप्त राजगद्दी पर बैठा। यह पट्टमहादेवी ध्रुवदेवी का पुत्र था। इसके शासनकाल में विशाल गुप्त-साम्राज्य अक्षुण्ण रूप में कायम रहा। बल्ख से बंगाल की खाड़ी तक इसका अबाधित शासन था। सब राजा, सामंत, गणराज्य और प्रत्यंतवर्ती जनपद कुमारगुप्त के वशवर्ती थे। गुप्त-वंश की शक्ति इस समय अपनी चरम सीमा को पहुंची हुई थी। कुमारगुप्त को विद्रोही राजाओं को वश में लाने के लिये कोई युद्ध नहीं करने पड़े। उसके शासनकाल में विस्तृत गुप्त-साम्राज्य में सर्वत्र शांति विराजती थी। इसीलिये विद्या, धन, कला आदि की समृद्धि की दृष्टि से यह काल वस्तुतः भारतीय इतिहास का सुवर्ण युग था।

अपने पिता और पितामह का अनुसरण करते हुए कुमारगुप्त ने भी अश्वमेध-यज्ञ किया। इसके उपलक्ष में उसने जो सिक्के जारी किये थे, उनमें एक तरफ 'अश्वमेध महेन्द्र' लिखा है, और दूसरी तरफ यज्ञीय अश्व का चित्र है। कुमार-गुप्त ने यह अश्वमेध किसी नई विजययात्रा के उपलक्ष में नहीं किया। गुप्त-

साम्राज्य इस समय में अपने गौरव के शिखर पर था। कोई सामन्त या राजा उसके विरुद्ध शक्ति दिखाने का साहस तो नहीं करता, यही देखने के लिये पुरानी परिपाटी के अनुसार यज्ञीय अश्व छोड़ा गया था, जिसे रोकने या पकड़ने का साहस किसी राजशक्ति ने नहीं किया था। सारे साम्राज्य में अपनी शक्ति के इस प्रत्यक्ष प्रमाण को प्राप्त करने के बाद अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान किया गया था।

कुमारगुप्त ने कुल ४० वर्ष राज्य किया। उसके राज्यकाल के अंतिम भाग में मध्य भारत की नर्मदा नदी के समीप पुष्यमित्र नाम की एक जाति ने गुप्त-साम्राज्य की शक्ति के विरुद्ध एक भयंकर विद्रोह खड़ा किया। ये पुष्यमित्र लोग कौन थे, इस विषय में बहुत विवाद है, पर यह एक प्राचीन जाति थी, जिसका उल्लेख पुराणों में भी आता है। पुष्यमित्रों को कुमार स्कन्दगुप्त ने परास्त किया और इस प्रयत्न में उसे कुछ रातें जमीन पर सोकर भी बितानी पड़ी थीं।

साम्राट् कुमारगुप्त के भी बहुत-से सिक्के प्राप्त होते हैं। उसका शासन काल ४१४ से ४५५ ईस्वी के लगभग था।

(५) सम्राट् स्कंदगुप्त (४५५–४६७ ई० प०)

कुमारगुप्त की पटरानी का नाम महादेवी अनन्तदेवी था। उसका पुत्र पुरुगुप्त था। स्कन्दगुप्त की माता संभवतः पटरानी या महादेवी नहीं थी। ऐसा प्रतीत होता है, कि कुमारगुप्त की मृत्यु के बाद राजगद्दी के संबंध में कुछ झगड़ा हुआ, और अपनी वीरता तथा अन्य गुणों के कारण स्कन्दगुप्त ही गुप्त-साम्राज्य का स्वामी बना। अपने पिता के शासनकाल में ही पुष्यमित्रों को परास्त कर इसने अपनी अपूर्व प्रतिभा और वीरता का परिचय दिया था। पुष्यमित्रों का विद्रोह इतना भयंकर रूप धारण कर चुका था, कि गुप्तकुल की लक्ष्मी विचलित हो गई थी और उसे पुनः स्थापित करने के लिये स्कन्दगुप्त ने अपने बाहुबल से शत्रुओं का नाश करते हुए कई रातें जमीन पर सोकर बिताईं। जिस प्रकार शत्रुओं को परास्त कर कृष्ण अपनी माता देवकी के पास गया था, वैसे ही स्कन्दगुप्त भी शत्रुवर्ग को नष्ट कर अपनी माता के पास गया। इस अवसर पर उसकी माता की आंखों में आंसू झलक आये थे। राज्यश्री ने स्वयं ही स्कन्दगुप्त को स्वामी के रूप में वरण किया था। संभवतः बड़ा लड़का होने से राजगद्दी पर अधिकार तो पुरुगुप्त का था

सुदर्शन-झील—स्कन्दगुप्त के समय में सुराष्ट्र (काठियावाड़) का प्रान्तीय शासक पर्णदत्त था। इसने गिरिनार की प्राचीन सुदर्शन झील की फिर से मरम्मत कराई थी। जैसा कि हम पहले लिख चुके हैं, इस झील का निर्माण सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में हुआ था। तब सुराष्ट्र का शासक वैश्य पुष्यगुप्त था। पुष्यगुप्त ही इस झील का निर्माता था। बाद में अशोक के समय में प्रान्तीय शासक यवन तुषास्प ने और फिर महाक्षत्रप रुद्रदामा ने इस झील का पुनरुद्धार कराया था। गुप्त-काल में यह झील फिर खराब हो गई थी। गरमी में इसमें जल कम हो जाता था, और इससे निकाली गई नहरें सूख जाती थीं। अब स्कन्दगुप्त के आदेश से पर्णदत्त ने इस झील का फिर जीर्णोद्धार किया। उसके राज्य के पहले ही साल में इस झील का बांध टूट गया था, और प्रजा को बड़ा कष्ट हो गया था। स्कन्दगुप्त ने उदारता के साथ इस बांध पर खर्च किया। पर्णदत्त का पुत्र चक्रपालित भी इस प्रदेश में राज्य-सेवा में नियुक्त था। उसने झील के तट पर विष्णु भगवान् के मंदिर का निर्माण कराया।

स्कन्दगुप्त ने किसी नये प्रदेश को जीतकर गुप्त-साम्राज्य का विस्तार नहीं किया। संभवतः, इसकी आवश्यकता भी नहीं थी, क्योंकि गुप्त-सम्राट् 'आसमुद्रक्षितीश' थे। उसका सबसे बड़ा कर्तृत्व यही है, कि गुप्त-साम्राज्य में शांति बनी रही और पुष्यमित्रों के सदृश प्रबल आभ्यंतर शत्रु परास्त किये गये और हूणों जैसे प्रबल बाह्य आक्रांताओं के आक्रमण से साम्राज्य की रक्षा की गई।

स्कन्दगुप्त की मृत्यु ४६७ ईस्वी में हुई।

(६) गुप्त-साम्राज्य का ह्रास

पुरुगुप्त—स्कन्दगुप्त के बाद गुप्त-साम्राज्य का ह्रास प्रारम्भ हो गया। उसके कोई संतान नहीं थी, अतः उसकी मृत्यु के बाद पुरुगुप्त सम्राट् बना। यह स्कन्दगुप्त का भाई था, और कुमारगुप्त की पट्टमहारानी का पुत्र था। इस समय तक वह वृद्ध हो चुका था। उसका व्यक्तित्व भी निर्बल था, और यही कारण था कि कुमारगुप्त की मृत्यु के बाद राज्यलक्ष्मी ने उसके बजाय स्कन्दगुप्त को अपने स्वामी के रूप में वरण किया था। पुरुगुप्त के राजगद्दी पर बैठते ही गुप्त-साम्राज्य में अव्यवस्था प्रारम्भ हो गई। हूणों के आक्रमणों से पहले ही गुप्त साम्राज्य को जबर्दस्त चोटें

लग रही थीं, अब वाकाटक-वंश ने भी सिर उठाया। यह वंश किसी समय में बड़ा शक्तिशाली रह चुका था। समुद्रगुप्त ने इसे परास्त कर गुप्त-साम्राज्य के अधीन किया था। पर अपने प्रदेश में वाकाटक-राजा शक्तिशाली सामंतों के रूप में विद्यमान थे। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अपनी कन्या प्रभावती गुप्ता का वाकाटक-राजा से विवाह कर इनके साथ मैत्री तथा घनिष्ठ संबंध स्थापित किया था। हूणों के आक्रमणों के समय इन्होंने फिर अपनी शक्ति को बढ़ाना शुरू किया और प्रतापी स्कन्दगुप्त के मरते ही वाकाटक-राजा नरेन्द्रसेन ने अपने को स्वतंत्र उद्घोषित कर दिया। एक शिलालेख से सूचित होता है, कि नरेंद्रसेन ने अपने वंश की डूबी हुई शक्ति का पुनरुद्धार किया था। समुद्रगुप्त के समय में वाकाटक लोगों की राज्यश्री वस्तुतः क्षीण हो गई थी। अब नरेंद्रसेन ने उसे फिर शक्ति प्रदान की, और धीरे-धीरे न केवल संपूर्ण मालवा पर, अपितु दक्षिण कोशल पर भी वाकाटकों ने अपना अधिकार जमा लिया। इस प्रकार स्कन्दगुप्त के निर्बल भाई पुरुगुप्त के शासन में वाकाटक-राज्य फिर से स्वतंत्र हो गया। पुरुगुप्त बौद्ध-धर्म का अनुयायी था। यही कारण है, कि प्राचीन लेखों में उसके नाम के साथ 'परम भागवत' विशेषण नहीं दिया जाता।

नरसिंहगुप्त—पुरुगुप्त के बाद उसका लड़का नरसिंहगुप्त राजा बना। उसकी माता का नाम वत्सदेवी था। उसके बौद्ध पिता ने एक बौद्ध आचार्य को उसकी शिक्षा के लिये नियत किया था। नरसिंहगुप्त ने अपने नाम के साथ बालादित्य उपाधि प्रयुक्त की थी। उसके सिक्कों पर एक तरफ उसका चित्र है, और 'नर' लिखा है, दूसरी तरफ 'बालादित्य' लिखा गया है। आचार्य वसुबन्धु की शिक्षाओं के कारण नरसिंहगुप्त ने भी बौद्ध-धर्म को स्वीकार कर लिया था। उसके शासनकाल में भी गुप्त-साम्राज्य का ह्रास जारी रहा। पुरुगुप्त और नरसिंहगुप्त दोनों का राज्यकाल ४६७ से ४७३ ईस्वी तक है।

कुमारगुप्त द्वितीय—इसके बाद कुमारगुप्त द्वितीय पाटलिपुत्र के राज-सिंहासन पर आरूढ़ हुआ। इसने विक्रमादित्य की उपाधि ग्रहण की। यह अन्य गुप्त-सम्राटों के समान वैष्णवधर्म का अनुयायी था, और इसे भी 'परम भागवत' करके लिखा गया है। इसने कुल चार वर्ष राज्य किया। ४७७ ईस्वी में इसकी मृत्यु हो गई। सम्राट् स्कन्दगुप्त के बाद दस वर्षों में गुप्त-वंश के तीन राजा हुए। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है, कि यह काल अव्यवस्था

और अशांति का था। पर अपने चार वर्ष के शासनकाल में कुमारगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य ने अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य किये। उसने वाकाटक-राजा से युद्ध किये, और मालवा के प्रदेश को जीतकर फिर अपने साम्राज्य में मिला लिया। वाकाटकों की शक्ति अब फिर क्षीण होने लगी।

बुधगुप्त—कुमारगुप्त द्वितीय के बाद बुधगुप्त सम्राट् बना। इसके समय के जो अनेक शिलालेख उपलब्ध हुए हैं, उनसे प्रतीत होता है, कि यह एक शक्तिशाली राजा था, और इसके द्वारा नियुक्त प्रान्तीय शासक बंगाल से लगाकर मालवा तक शासन करते थे। धर्म से यह बौद्ध था, और नालन्दा बौद्ध-विहार की वृद्धि के लिये इसने बहुत प्रयत्न किया था। बुधगुप्त कुमारगुप्त द्वितीय का पुत्र नहीं था। अनेक ऐतिहासिकों का मत है, कि वह स्कंदगुप्त और पुरुगुप्त का छोटा भाई था। ४९५ ईस्वी में इसके शासन-काल का अन्त हुआ।

वैण्यगुप्त—बुधगुप्त के बाद वैण्यगुप्त पाटलिपुत्र के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ। उसने ४९५ से ५०७ ईस्वी तक राज्य किया। उसके सिक्के तोल आदि में चन्द्रगुप्त द्वितीय और समुद्रगुप्त के सिक्कों के सदृश हैं। सिक्कों पर एक ओर वैण्यगुप्त का चित्र है, जिसमें वह बायें हाथ में धनुष और दायें हाथ में बाण लिये हुए है। राजा के चित्र के एक ओर गरुड़स्तम्भ है, और दूसरी ओर वैण्य लिखा है। सिक्के के दूसरी ओर कमलासन पर विराज-मान लक्ष्मी की मूर्ति है। साथ ही वैण्य की उपाधि द्वादशादित्य उत्कीर्ण है। वैण्य के सिक्कों में सोने की मात्रा का फिर बढ़ जाना यह सूचित करता है कि उसका काल समृद्धि का था, और संभवतः, उसे युद्धों में अधिक रुपया खर्च करने की आवश्यकता नहीं हुई थी।

ऐसा प्रतीत होता है, कि बुधगुप्त के बाद गुप्त-साम्राज्य अपनी एकता को कायम नहीं रख सका था। साम्राज्य के पूर्वी भाग में इस समय वैण्य-गुप्त का शासन था, और पश्चिमी भाग में भानुगुप्त बालादित्य का। संभवतः ये दोनों समकालीन गुप्तवंशी राजा थे।

(७) हूणों के आक्रमण

बुधगुप्त के बाद गुप्त-साम्राज्य के पश्चिमी भाग की बागडोर भानुगुप्त बालादित्य के हाथ में आई। इसके समय में हूणों के आक्रमण भारत में फिर प्रारम्भ हो गये। स्कन्दगुप्त से परास्त होकर हूण लोग गांधार में रुक

गये थे। उससे आगे बढ़ने का प्रयत्न लगभग तीस वर्ष तक उन्होंने नहीं किया। पर इस बीच में उन्होंने गांधार में अपनी शक्ति को भलीभांति दृढ़ कर लिया था। इस समय उनका राजा तोरमाण था, जो बड़ा शक्तिशाली योद्धा था। इसकी राजधानी सिंध नदी के समीप में थी। इसने फिर हूण-सेनाओं को साथ ले भारत पर आक्रमण शुरू किये। कुछ ही समय में यह पूर्व की तरफ बढ़ता हुआ मालवा तक पहुंच गया। इस समय गुप्त-साम्राज्य का अधिपति भानुगुप्त बालादित्य था। अपने पूर्वज स्कन्दगुप्त के समान उसने फिर एक बार हूणों को परास्त किया। तोरमाण बहुत थोड़े समय तक भारत के इस प्रदेश पर अधिकार रख सका। इस बीच में उसने जो सिक्के जारी किये थे, उनमें से कुछ मध्यभारत में अनेक स्थानों पर उपलब्ध हुए हैं।

तोरमाण के बाद हूणों का नेता मिहिरगुल बना। इसने फिर पूर्व की तरफ आगे बढ़कर मध्य भारत पर आक्रमण किया। पर इस समय उसका मुकाबला करने के लिये एक और प्रबल शक्ति उठ खड़ी हुई, जिसका नाम यशोधर्मा था। मालवा में बहुत पहले समय से एक वंश का राज्य था, जिसके राजा पहले वाकाटकों के सामन्त थे, और बाद में गुप्तों के सामन्त होकर राज्य करते थे। इस वंश का राजा इस समय यशोधर्मा था। हूण लोगों के आक्रमण मालवा पर हो रहे थे, अतः वहां के पुराने राजाओं को उनका सामना करने की आवश्यकता हुई। यशोधर्मा ने बड़ी वीरता के साथ अपने कर्त्तव्य का पालन किया, और हूणों के विरुद्ध जो लड़ाई शुरू हुई, उसका नेतृत्व कर अपनी शक्ति को बढ़ा लिया। मध्य भारत के राजनीतिक आकाश में उसका अभ्युदय धूमकेतु के समान अकस्मात् ही हुआ। इस समय हूणों के आक्रमणों के कारण मध्य भारत में जो उथल-पुथल मची हुई थी, उसका लाभ उठाकर कोई भी महत्त्वाकांक्षी वीर व्यक्ति अपनी शक्ति को बढ़ा सकता था। यशोधर्मा ने इस अवसर का पूरी तरह उपयोग किया, और मध्य भारत की सैनिक शक्ति का संगठन कर मिहिरगुल को युद्ध में परास्त किया। उसने बड़े अभिमान के साथ अपने एक शिलालेख में लिखा है, कि मिहिरगुल ने उसके पैरों में सिर रखकर और विविध उपहार देकर उसकी पूजा की थी। इसमें सन्देह नहीं, कि मिहिरगुल को परास्त करने में यशोधर्मा को पूरी सफलता प्राप्त हुई थी। हूणों को परास्त करने के लिये जो भारी सैनिक शक्ति यशोधर्मा ने संगठित की थी, उसका

उपयोग उसने अन्य प्रदेशों को जीतने के लिये भी किया। कुछ समय के लिये वह भारत का सबसे बड़ा प्रतापी राजा हो गया। सब जगह उसका प्रभाव स्थापित हो गया और गुप्त-राजा उसके सम्मुख फीके पड़ गये। संभवतः, इसीलिये उसकी प्रशस्ति में लिखा गया है, कि ब्रह्मपुत्र से महेन्द्रपर्वत तक और हिमालय से पश्चिम पयोधि तक, सब जगह के राजा सामन्त के रूप में उसके आगे सिर झुकाते हैं। इसमें संदेह नहीं, कि हूणों को परास्त करने के कारण भारत के बहुत बड़े हिस्से में उसका ऐसा ही प्रभाव कुछ समय के लिये कायम हो गया था।

यशोधर्मा ने मिहिरगुल को ५३० ईस्वी के लगभग परास्त किया था। जिस प्रकार अकस्मात् उसका अभ्युदय हुआ, वैसे ही अकस्मात् उसका अन्त भी हो गया। संभवतः, अपनी वैयक्तिक वीरता के कारण जो गौरवपूर्ण स्थान उसने प्राप्त किया था, उसकी मृत्यु के साथ ही उसका भी अन्त हो गया। यशोधर्मा कोई स्थिर साम्राज्य नहीं बना सका। थोड़े समय के लिये चमक कर यह सितारा अपना कोई स्थिर प्रभाव उत्पन्न किये बिना ही अस्त हो गया। गुप्त-सम्राट् फिर पहले के समान अपने विस्तृत पर शिथिल साम्राज्य का शासन करने लगे।

यशोधर्मा की मृत्यु के बाद मिहिरगुल ने फिर सिर उठाया। अपनी राजधानी साकल (सियालकोट) से आगे बढ़ उसने फिर आर्यावर्त्त पर आक्रमण प्रारंभ कर दिये। गुप्त-साम्राज्य का स्वामी संभवतः अब भी सम्राट् बालादित्य था, जिसने राजगद्दी पर बैठते ही ५१० ईस्वी के लगभग हूण-राजा तोरमाण को परास्त किया था। वह बौद्ध-धर्म का कट्टर अनुयायी था। उधर मिहिरगुल बौद्धों का शत्रु था, और उनपर भयंकर अत्याचार करता था। जब बालादित्य ने देखा, कि मिहिरगुल साकल से आगे बढ़ रहा है, तो उसने एक भारी सेना लेकर हूणों का मुकाबला किया। पंजाब की किसी नदी (संभवतः चनाब) के किसी टापू में घनघोर युद्ध हुआ, और एक बार फिर मिहिरगुल की पराजय हुई।

गुप्त-साम्राज्य की सेनाओं से परास्त होकर मिहिरगुल ने आर्यावर्त में आगे बढ़ सकने की आशा छोड़ दी, और उत्तर में काश्मीर पर आक्रमण किया। वहां के राजा को मारकर वह स्वयं काश्मीर का राजा बन गया। काश्मीर में उसने बहुत-से स्तूपों व संघारामों को नष्ट किया, और जनता पर घोर अत्याचार किये। इस प्रकार काश्मीर और गांधार के प्रदेशों पर हूणों का

अधिकार स्थापित हो गया । पर वे भारत में आगे नहीं बढ़ सके । हूणों को अंतिम रूप से भारत से खदेड़ने का श्रेय सम्राट् बालादित्य को ही है ।

पर हूणों के निरन्तर आक्रमणों और यशोधर्मा की विजयों के कारण गुप्त-साम्राज्य में शिथिलता आने लगी थी । यशोधर्मा ने हूणों को परास्त करने के लिये तो बड़ा गौरवपूर्ण कार्य किया, पर जिस संगठन ने सारे उत्तरी भारत को एक शासन-सूत्र में बांधा हुआ था, उसे उसने बिलकुल निर्बल बना दिया । यदि वह गुप्तों के ध्वंसावशेष पर एक नये शक्तिशाली राजवंश और साम्राज्य को स्थापित कर सकता, तो कोई हानि न होती । साम्राज्य का आधिपत्य गुप्त-वंश के स्थान पर यशोधर्मा के कुल के हाथ में आ जाता । पर यशोधर्मा की विजयों का स्थिर परिणाम केवल यह हुआ, कि गुप्त-साम्राज्य की शक्ति क्षीण हो गई, और विविध सामन्त राजा व जनपद स्वतंत्र हो गये । यही कारण है, कि भानुगुप्त बालादित्य के बाद गुप्त-साम्राज्य छिन्नभिन्न हो गया ।

सहायक ग्रन्थ

Mazumdar : A New History of the Indian People Vol. VI.

Banerjee : The Age of the Imperial Guptas.

Pargiter : Dynasties of the Kali Age.

आर्य मंजुश्री मूलकल्प

Basak : History of North-Eastern India.

Smith : Early History of India.

Fleet : Inscriptions of the Early Gupta Kings.

उपाध्याय : गुप्त-साम्राज्य का इतिहास

बत्तीसवां अध्याय

गुप्त-युग का भारत

(१) साहित्य और विज्ञान

महाकवि कालिदास—मौर्योत्तर-काल में संस्कृत-साहित्य के विकास की जो प्रक्रिया प्रारम्भ हुई थी, गुप्तकाल में वह उन्नति की चरम सीमा तक पहुंच गई। भास, शूद्रक सदृश कवियों ने संस्कृत में नाटक और काव्य की जिस परम्परा को प्रारम्भ किया था, अब कालिदास और विशाखदत्त जैसे कवियों ने उसे पूर्णता तक पहुंचा दिया। संस्कृत का सबसे महान् कवि कालिदास गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के नवरत्नों में से एक था। एक शिलालेख से सूचित होता है, कि विक्रमादित्य ने उसे कुंतलनरेश ककुत्स्यवर्मन् के पास राजदूत के रूप में भी भेजा था। एक साहित्यिक अनुश्रुति के अनुसार कालिदास ने वाकाटक-राजा प्रवरसेन द्वारा लिखित सेतुबन्ध काव्य का परिष्कार किया था।

महाकवि कालिदास के लिखे हुए ऋतुसंहार, मालविकाग्निमित्र, कुमारसंभव, मेघदूत, शकुंतला और रघुवंश काव्य इस समय उपलब्ध होते हैं। निःसंदेह, ये ग्रंथ संस्कृत-साहित्य के सबसे उज्ज्वल रत्न हैं। ओज, प्रसाद आदि गुणों और उपमा आदि अलंकारों की दृष्टि से संस्कृत का अन्य कोई भी काव्य इनका मुकाबला नहीं कर सकता। जब तक संस्कृत-भाषा का अध्ययन जारी रहेगा, कालिदास का नाम भी संसार में अमर रहेगा। यह कहना जरा भी अतिशयोक्ति नहीं है, कि कालिदास संसार का सर्वश्रेष्ठ कवि है। उसकी कृतियां इतिहास और साहित्य में सदा अमर रहेंगी। रघुवंश में रघु की दिग्विजय का जो वर्णन किया गया है, उसे लिखते हुए समुद्रगुप्त की विजययात्रा संभवतः कालिदास के सम्मुख थी। उसके ग्रंथों पर गुप्त-काल की समृद्धि और गौरव का स्पष्ट आभास है।

विशाखदत्त—मुद्राराक्षस का लेखक कवि विशाखदत्त भी गुप्त-काल में चौथी सदी में हुआ था। नन्द को परास्त कर चन्द्रगुप्त मौर्य ने किस प्रकार पाटलिपुत्र की राजगद्दी पर अपना अधिकार जमाया, इस कथानक को विशाखदत्त ने बड़े सुन्दर रूप में इस नाटक में वर्णित किया है। मुद्राराक्षस की संस्कृत-नाटकों में अद्वितीय स्थिति है। मागध-परम्परा के अनुसार राजनीति के दांवपेचों का जो वर्णन इस नाटक में है, वह संस्कृत-साहित्य में अन्यत्र कहीं नहीं मिलता। मुद्राराक्षस के भरतवाक्य में विशाखदत्त ने म्लेच्छों से आक्रांत हुई पृथिवी की रक्षा करने के लिये 'बन्धुभृत्य' चन्द्रगुप्त का आवाहन किया है। इस भरतवाक्य में शक और कुशाणों के उस प्रचण्ड आक्रमण की ओर इशारा है, जो समुद्रगुप्त की मृत्यु के बाद रामगुप्त के समय में हुआ था। इन म्लेच्छ आक्रांताओं ने मागध-सेनाओं को परास्त कर पट्टमहादेवी ध्रुवदेवी तक पर आंख उठाई थी। पर अपने बड़े भाई के सेवक के रूप में चन्द्रगुप्त ने शक-कुशाणों को परास्त कर भारत भूमि की रक्षा की थी। इस प्रकार म्लेच्छों का भारत को सताना बन्द हुआ। इसी विशाखदत्त ने 'देवी चन्द्रगुप्तम्' की रचना की थी, जिसमें चन्द्रगुप्त द्वितीय और ध्रुवदेवी के कथानक का बड़े विशद रूप से वर्णन किया गया है।

अन्य कवि—किरातार्जुनीय का लेखक महाकवि भारवि और भट्टिकाव्य का रचयिता भट्टी भी गुप्त-वंश के अंतिम काल में छठी सदी में हुए। इन दोनों महाकवियों के काव्य संस्कृत-साहित्य में बहुत ऊंचा स्थान रखते हैं। द्रौपदी के मुख से राजनीति का जो ओजस्वी वर्णन किरातार्जुनीय में मिलता है, उसका उदाहरण संस्कृत-साहित्य में अन्यत्र दुर्लभ है। भट्टिकाव्य में व्याकरण के कठिन नियमों को श्लोकों के उदाहरणों से जिस प्रकार सरल रीति से समझाया गया है, वह भी वस्तुतः अनुपम है।

अन्य अनेक कवि भी इस युग में हुए, जिनमें मातृगुप्त, सौमिल्ल और कुलपुत्र के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनके उत्कृष्ट काव्यों के निर्देश तो हमें मिलते हैं पर दुर्भाग्यवश इनका रचा हुआ कोई काव्य अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ।

प्रशस्तियां—गुप्त-काल के शिलालेख भी काव्य के उत्तम उदाहरण हैं। प्रयाग के अशोककालीन स्तम्भ पर समुद्रगुप्त की जो प्रशस्ति कुमारामात्य महादण्डनायक हरिषेण ने उत्कीर्ण कराई थी, वह कविता की दृष्टि से बहुत उच्च कोटि की है। यदि हरिषेणरचित कोई काव्य भी हमें उपलब्ध हो सकता,

तो वह संस्कृत के बहुत उत्तम काव्यों में गिना जाता। यशोधर्मा की प्रशस्ति भी कविता की दृष्टि से बहुत उत्कृष्ट है। उसे वसुल नाम के कवि ने लिखा था। इसी तरह रविशांति, वत्सभट्टि और कुब्ज आदि कवियों द्वारा लिखी गई अन्य अनेक प्रशस्तियां भी उपलब्ध हुई हैं, जो सब गुप्त-काल की हैं। इनके अनुशीलन से ज्ञात होता है, कि काव्य की शैली गुप्तकाल में बहुत उन्नत और परिष्कृत हो गई थी।

पञ्चतन्त्र—ऐतिहासिकों के अनुसार संस्कृत के प्रसिद्ध नीतिकथा-ग्रंथ पञ्चतंत्र का निर्माण भी गुप्त-काल में ही हुआ था। पंचतंत्र की कथायें बहुत पुरानी हैं, उनमें से बहुतों का संबंध तो महाजनपद-काल की राजनीतिक घटनाओं से है। इस ग्रंथ में कोशल, मगध और वज्जि आदि जनपदों के राजाओं का स्थान पशुओं ने ले लिया है, और मनोरंजक रीति अनेक पुरानी ऐतिहासिक कथाओं को लिखा गया है। ये कथायें चिरकाल से परम्परागत रूप से भारत में प्रचलित थीं। गुप्त-काल में उन्होंने बाकायदा एक ग्रंथ का रूप धारण किया। ५७० ईस्वी से पहले ही पंचतंत्र का पहलवी भाषा में अनुवाद हो चुका था। ग्रीक, लेटिन, स्पेनिश, इटालियन, जर्मन, इंगलिश और संसार की सभी पुरानी भाषाओं में इसके अनुवाद सोलहवीं सदी से पूर्व ही हो चुके थे। इस समय संसार की पचास से भी अधिक विभिन्न भाषाओं में इसके अनुवाद पाये जाते हैं। थोड़े-बहुत रूपान्तर से २०० से अधिक ग्रंथ इसके आधार पर लिखे जा चुके हैं।

व्याकरण और कोष—व्याकरण और कोष-संबंधी भी अनेक ग्रंथ इस काल में बने। चन्द्रगोमिन नाम के एक बौद्ध पंडित ने चान्द्रव्याकरण की रचना की। पाणिनि के व्याकरण में वैदिक प्रयोगों की भी सिद्धियां थीं। इसमें उन्हें निकाल दिया गया। इस व्याकरण की पद्धति पाणिनि से भिन्न है। बौद्धों में इसका बहुत प्रचार हुआ। महायान-सम्प्रदाय के सभी ग्रंथ संस्कृत में लिखे गये थे। गांधार और उत्तर-पश्चिमी प्रदेशों में बौद्धों की भाषा संस्कृत ही थी। वे इस चान्द्रव्याकरण का अध्ययन करते थे। संस्कृत का मूल चान्द्र-व्याकरण अब नहीं मिलता। पर तिब्बती भाषा में उसका जो अनुवाद हुआ था, वह पिछले दिनों में विद्वानों के सम्मुख उपस्थित हुआ है। प्रसिद्ध कोषकार अमरसिंह भी इसी काल में हुआ। वह बौद्ध-धर्म का अनुयायी था। उसका लिखा अमरकोष संस्कृत के विद्यार्थियों में बहुत लोकप्रिय है। अमरसिंह की गणना भी चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य की राजसभा के नवरत्नों में की जाती है।

स्मृतियां—स्मृति-ग्रंथों में मनुस्मृति, विष्णुस्मृति और याज्ञवल्क्यस्मृति का निर्माण गुप्त-काल से पहले हो चुका था। अब नारदस्मृति, कात्यायनस्मृति और बृहस्पतिस्मृति का निर्माण हुआ। नीतिग्रंथों में कामन्दक नीतिसार इसी काल की रचना है।

ज्योतिष और गणित—गणित, ज्योतिष आदि विज्ञानों की भी इस काल में बहुत उन्नति हुई। आर्यभट्ट और वराहमिहिर जैसे प्रसिद्ध गणितज्ञ और ज्योतिषी इसी युग में हुए। वराहमिहिर की गणना भी चन्द्रगुप्त द्वितीय के नवरत्नों में की गई है। गणित-शास्त्र में दशमलव का सिद्धान्त बड़े महत्व का है। गुप्त-काल तक यह सिद्धान्त भारत में विकसित हो चुका था। रोमन लोग इससे सर्वथा अपरिचित थे। यूरोप के लोगों को ग्यारहवीं सदी तक इसका ज्ञान नहीं था। यही कारण है, कि गणित की वहां अधिक उन्नति नहीं हो सकी। अरब लोग पहले-पहल इस सिद्धान्त को यूरोप में ले गये। पर अरबों ने इसे भारत से सीखा था। इब्न वाशिया (नवीं सदी), अलमसूदी (दसवीं सदी) और अलबरूनी (ग्यारहवीं सदी) जैसे अरब लेखकों ने यह स्पष्ट स्वीकार किया है, कि दशमलव का सिद्धान्त हिन्दुओं ने आविष्कृत किया था, और अरबों ने इसे उन्हीं से सीखा था। आर्यभट्ट के ग्रंथ आर्यभट्टीयम् में इसका स्पष्टतया उल्लेख है। यह ग्रंथ गुप्त-काल में पांचवी सदी में लिखा गया था। पर भारतीय लोग पांचवीं सदी से पहले भी इस सिद्धान्त से परिचित थे। पेशावर के समीप बक्शली नाम के गांव में एक बहुत पुराना हस्तलिखित ग्रंथ मिला है। यह ग्रंथ गणित विषय पर है। इसकी भाषा के आधार पर यह निश्चित किया गया है, कि यह ग्रंथ चौथी सदी का है। इसमें न केवल दशमलव के सिद्धान्त का स्पष्टरूप से प्रतिपादन है, अपितु गणित के अच्छे ऊंचे सूत्रों का भी इसमें उल्लेख है। इसके अनुशीलन से प्रतीत होता है, कि गुप्तकालीन भारत में गणित-विज्ञान अच्छी उन्नति कर चुका था। आर्यभट्ट का ग्रंथ आर्यभट्टीयम् भी गणित के संबंध में उस युग के ज्ञान को भली-भांति प्रकट करता है। यह ग्रंथ खास पाटलिपुत्र में लिखा गया था, और इसमें अंकगणित, अलजबरा और ज्योमेट्री, सबके अनेक सिद्धान्तों व सूत्रों का प्रतिपादन किया गया है।

ज्योतिष विषय पर पहला ग्रंथ इस युग में वैशिष्ठ सिद्धान्त लिखा गया। इसका काल ३०० ईस्वी माना जाता है। इससे पहले भारत में एक साल

में ३६६ दिन माने जाते थे। पर वैशिष्ठ सिद्धान्त में यह प्रतिपादन किया गया, कि एक साल में ३६६ दिन न होकर ३६५·२५६१ दिन होते हैं। गुप्त-काल में दिनगणना के विषय में भारतीय लोग सत्य के बहुत समीप तक पहुंच गये थे। ३८० ईस्वी में पौलिस सिद्धान्त लिखा गया। इसमें सूर्यग्रहण और चन्द्रग्रहण के नियमों का भलीभांति प्रतिपादन किया गया है। पौलिस सिद्धान्त के कुछ वर्षों बाद ४०० ई० में रोमक सिद्धान्त लिखा गया। संभवतः, यह रोमन लोगों के ज्योतिष-ज्ञान के आधार पर लिखा गया था। भारत और रोम का उस समय घनिष्ठ संबंध था। इस ग्रंथ में २८५० वर्ष का एक युग माना गया है। यह ग्रीक और रोमन ज्योतिष के अनुसार ही है। आचार्य वराहमिहिर ने ज्योतिष के संबंध में जो ग्रंथ लिखे, उनके नाम ये है—पंच-सिद्धांतिका, बृहज्जातक, बृहत्संहिता और लघुजातक। इनमें से पिछले दो का अनुवाद अलबरूनी ने अरबी भाषा में किया था। वराहमिहिर की पुस्तकों में फलित ज्योतिष का बड़े विस्तार से प्रतिपादन किया गया है।

पर गुप्त-काल के वैज्ञानिकों में सबसे बड़ा आर्यभट्ट था। इस विख्यात ज्योतिषी का जन्म पांचवीं सदी में पाटलिपुत्र में हुआ था। जब उसकी आयु केवल २३ वर्ष की थी, तभी उसने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ आर्यभट्टीयम् की रचना की थी। उस युग में अलेग्जेंड्रिया ज्योतिष के अध्ययन का बड़ा केन्द्र था। मिस्र के राजाओं की संरक्षता में वहां ग्रीक ज्योतिषी नई खोज में निरन्तर लगे रहते थे। पाश्चात्य संसार ने ज्योतिष के क्षेत्र में जो उन्नति की थी, आर्यभट्ट को उससे पूरा-पूरा परिचय था। उसने भारतीय और पाश्चात्य, सब विज्ञानों का भलीभांति अनुशीलन किया था, और उन सबका भलीभांति मंथन करके, सत्य को असत्य से अलग करने और सत्य सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने के लिये अपना ग्रंथ लिखा था। सूर्य और चन्द्र का ग्रहण राहु और केतु नाम के राक्षसों से ग्रसने की वजह से नहीं होता, अपितु जब चन्द्रमा सूर्य और पृथिवी के बीच में या पृथिवी की छाया में आ जाता है, तब चन्द्रग्रहण होता है, इस सिद्धान्त का आर्यभट्ट ने स्पष्ट रूप से वर्णन किया है। पृथिवी अपने व्यास के चारों तरफ घूमती है, दिन और रात क्यों छोटे-बड़े होते रहते हैं, भिन्न-भिन्न नक्षत्रों और ग्रहों की गति किस प्रकार से रहती है—इस प्रकार के बहुत-से विषयों पर ठीक-ठीक सिद्धान्त आर्यभट्ट ने प्रतिपादित किये हैं। वर्ष में कितने दिन होते हैं, इस विषय में आधुनिक ज्योतिषियों का मत यह है, कि ३६५·२५६३६०४ दिन का वर्ष होता है। आर्यभट्ट की गणना के

अनुसार साल में ३६५·२५८६८०५ दिन होते थे। आर्यभट्ट की गणना वर्तमान ज्योतिषियों की गणना के बहुत समीप है। प्राचीन ग्रीक ज्योतिषी भी इस संबंध में सत्य के इतने समीप नहीं पहुंचे थे।

ज्योतिष में आर्यभट्ट के अनेक शिष्य थे। इनमें निःशंक, पांडुरंग स्वामी और लाटदेव के नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। इनमें भी लाटदेव आगे चलकर बहुत प्रसिद्ध हुआ। उसे 'सर्वसिद्धांतगुरु' माना जाता था। उसने पौलिस और रोमक सिद्धांतों की व्याख्या बड़े सुन्दर रूप से की थी।

इसी काल का ज्योतिषसंबंधी एक और ग्रंथ बहुत प्रसिद्ध है जिसका नाम है सूर्यसिद्धान्त। इसके लेखक का नाम ज्ञात नहीं है। भारतीय ज्योतिषी इसे बड़े आदर की दृष्टि से देखते हैं, और इसमें संदेह नहीं, कि इसकी रचना भी गुप्त-काल में ही हुई थी।

भारत के प्राचीन विद्वान् विदेशियों से विद्याग्रहण में कोई संकोच नहीं करते थे। अलेग्जेंड्रिया में ग्रीक पंडितों द्वारा ज्योतिष की जो उन्नति हो रही थी, गुप्त-काल के भारतीय ज्योतिषी उससे भली-भांति परिचित थे। वे उनकी विद्या का आदर भी भली-भांति करते थे। यही कारण है, कि वराहमिहिर ने लिखा है, कि यद्यपि यवन (ग्रीक) लोग म्लेच्छ हैं, पर वे ज्योतिष विद्या में बड़े प्रवीण हैं, अतः उन्हें ऋषियों के समान ही आदर देना चाहिये। भारतीय पंडितों की इसी वृत्ति का परिणाम था, कि जहां उन्होंने स्वयं खोज और चिंतन द्वारा ज्योतिष के अनेक सिद्धान्तों का आविष्कार किया, वहां उन्होंने ग्रीक लोगों से भी बहुत-कुछ सीखा। अनेक आधुनिक विद्वानों की दृष्टि में भारतीय ज्योतिष के केन्द्र, हारिज, लिप्त आदि अनेक शब्द ग्रीक भाषा से लिये गये हैं। रोमक सिद्धान्त-ग्रंथ से भारतीय ज्योतिष पर पाश्चात्य प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। अतः यदि कुछ पारिभाषिक शब्द प्राचीन भारतीय ज्योतिषियों ने ग्रीक से लिये हों, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। पर यह ध्यान रखना चाहिये, कि गुप्त-काल की भारतीय ज्योतिष अलेग्जेंड्रिया की ग्रीक ज्योतिष की अपेक्षा बहुत काफी उन्नत थी।

आयुर्वेद—आयुर्वेद के क्षेत्र में गुप्त-काल में अच्छी उन्नति हुई। चरक और सुश्रुत की रचना गुप्त-काल से पहले ही हो चुकी थी। पर छठी सदी के शुरू में प्रसिद्ध आयुर्वेदाचार्य वाग्भट्ट ने अष्टांगहृदय की रचना की। यह आयुर्वेद का प्रसिद्ध ग्रंथ है, और इससे सूचित होता है, कि चरक और सुश्रुत ने जिस चिकित्सा-प्रणाली का प्रारम्भ किया था, वह इस काल में निरन्तर

उन्नति करती रही। प्राचीन साहित्यिक अनुश्रुति के अनुसार चन्द्रगुप्त द्वितीय की राजसभा में विद्यमान नवरत्नों में धन्वन्तरि भी एक था। धन्वन्तरि आयुर्वेद का मुख्य आचार्य माना जाता है, और वैद्य लोग उसे अपने विज्ञान का देवता-सा मानते हैं। यह कहना बहुत कठिन है, कि आयुर्वेद का यह प्रथम प्रधान आचार्य गुप्त-काल में हुआ था। संभवतः, इस नाम का कोई अन्य वैद्य चन्द्रगुप्त द्वितीय के नवरत्नों में होगा, पर उसका लिखा कोई ग्रंथ इस समय उपलब्ध नहीं होता। गुप्त-काल की एक अन्य चिकित्सा-संबंधी पुस्तिका पूर्वी तुर्किस्तान में मिली है। इसका नाम 'नावनीतकम्' है। इसे श्रीयुत् बावर ने सन् १८९० में तुर्किस्तान के पुराने खंडहरों से प्राप्त किया था। यह छोटा-सा ग्रंथ चरक, सुश्रुत, हारीत, जातुकर्ण, क्षारपाणि और पाराशरसंहिता आदि के आधार पर लिखा गया है। इनमें से अनेक ग्रंथ इस समय उपलब्ध नहीं होते, पर नावनीतकम् में उनके आधार पर जो नुसखे (प्रयोग) लिखे हैं, वे भारत से बाहर तुर्किस्तान में मिल गये हैं।

हस्त्युपवेद नाम से भी एक ग्रंथ गुप्त-काल में लिखा गया था। इसका रचयिता पालकाप्य नाम का एक पशुचिकित्सक था। यह एक विशाल ग्रंथ है, जिसमें १६० अध्याय हैं। हाथियों के रोग, उनके निदान और चिकित्सा का इसमें विस्तृत वर्णन है। प्राचीन भारत की सैन्यशक्ति में हाथियों का बड़ा महत्त्व था। अतः उनकी चिकित्सा के संबंध में इतने ज्ञान का विकास हो जाना बिलकुल स्वाभाविक बात थी।

रसायन—रसायन-विज्ञान में भी गुप्त-काल में बहुत उन्नति हुई। दुर्भाग्यवश, रसायन-विद्या के इस काल के कोई भी ग्रंथ उपलब्ध नहीं होते। पर इस विद्या ने गुप्त-काल में किस हद तक उन्नति कर ली थी, इसका जीता-जागता प्रत्यक्ष उदाहरण दिल्ली के समीप महरौली में प्राप्त लौहस्तम्भ है। यह स्तम्भ २४ फीट ऊंचा और १८० मन के लगभग भारी है। इतना भारी और बड़ा लौहस्तम्भ किस प्रकार तैयार किया गया, यह एक भारी समस्या है। लोहे को गरम करके चोट देकर इतना विशाल स्तम्भ कभी भी तैयार नहीं किया जा सकता, क्योंकि गरम करने से जो आंच पैदा होगी, उसके कारण इतनी दूर तक कोई आदमी खड़ा नहीं हो सकेगा, कि चोट देकर उसे एक निश्चित आकृति का बनाया जा सके। दूसरा तरीका यह हो सकता है, कि इस लाट को ढालकर बनाया जावे। यदि गुप्त-काल के भारतीय शिल्पी इतनी बड़ी लोहे की लाट को ढाल सकते थे, तो निस्संदेह

वे धातु-विज्ञान और शिल्प में बहुत अधिक उन्नति कर चुके थे। इस लौह-स्तम्भ में एक आश्चर्य की बात यह हैं, कि १६०० वर्ष के लगभग बीत जाने पर भी इसपर जंग का नाम-निशान तक नहीं है। यह स्तम्भ इतने दीर्घ काल से वर्षा, आंधी, गरमी, सरदी सब सहता रहा है, पर पानी या ऋतु का इसपर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। लोहे को किस प्रकार ऐसा बनाया गया, कि इसपर जंग भी न लगे, यह एक ऐसा रहस्य है, जिसे वर्तमान वैज्ञानिक भी नहीं समझ सके हैं। विज्ञान ने गुप्त-काल में कैसी उन्नति की थी, इसका यह ज्वलन्त उदाहरण है।

वराहमिहिरकृत बृहत्संहिता में गणित और ज्योतिष के अतिरिक्त अन्य बहुत से विषयों का भी प्रतिपादन किया गया है। तलवारों को किस प्रकार तीक्ष्ण बनाया जावे, सोने व रत्नों के आभूषण कैसे तैयार किये जावें, मुक्ता, वैदूर्य रत्न आदि की क्या पहचान है; वृक्ष किस प्रकार मौसम से भिन्न दूसरे समय में भी फल दे सकते हैं; घोड़े, हाथी, कुत्ते आदि में अच्छे या बुरे की पहचान कैसे की जाय; मंदिर, राजप्रासाद आदि कैसे बनाये जावें; भूमि में नीचे कहां जल की धारा है यह कैसे जाना जाय; बादलों के कितने प्रकार होते हैं और वर्षा या मौसम के भविष्य का पता कैसे लगाया जाय; आदि सब विषयों पर वराहमिहिर ने अपने ग्रंथ में विचार किया है। इससे प्रकट होता है, कि गुप्त-काल के विचारक इन सब बातों के बारे में जानकारी प्राप्त करने में व्यापृत रहते थे।

(२) दार्शनिक साहित्य

षड्दर्शनों का निर्माण मौर्योत्तर-काल में हो चुका था, यह हम पहले प्रदर्शित कर चुके हैं। पर दार्शनिक विचारों का विकास गुप्त-काल में जारी रहा। मीमांसा पर शबरभाष्य ३०० ई० के लगभग लिखा गया था। इसकी स्थिति वही है जो कि पतंजलि के महाभाष्य की पाणिनीय व्याकरण के साथ है। शबरभाष्य में केवल याज्ञिक अनुष्ठानों का ही प्रतिपादन नहीं किया गया, अपितु आत्मा, परमात्मा, मुक्ति आदि दार्शनिक विषयों की भी विस्तार से मीमांसा की गई है। मीमांसा-सूत्रों में जिन विचारों को सूक्ष्म रूप से प्रकट किया गया था, शबरभाष्य में उन्हीं का बहुत विकास किया गया है। उपवर्ष नाम का एक और दार्शनिक तीसरी सदी के प्रारम्भ में हुआ, जिसके कई उद्धरण शबर ने दिये हैं। सांख्यदर्शन का प्रसिद्ध ग्रंथ सांख्यकारिका चौथी सदी के

शुरू में लिखा गया था, जिसका लेखक ईश्वरकृष्ण है । सांख्यदर्शन तो मौर्योत्तर-युग में बन चुका था, पर इस गुप्त-काल में वह और विकसित हुआ, और ईश्वरकृष्ण ने सांख्यकारिका में उसे एक अत्यन्त सुन्दर रूप दे दिया । योग-सूत्रों पर भी इस युग में व्यासभाष्य लिखा गया । यह माना जाता है, कि योग-सूत्रों का रचयिता महर्षि पतंजलि था, पर उनकी विशद रूप से व्याख्या आचार्य व्यास ने की । योग के इस व्यासभाष्य का रचनाकाल तीसरी सदी के अन्त में माना गया है ।

न्यायसूत्रों पर भी इस युग में वात्स्यायन-भाष्य लिखा गया । इस भाष्य में बौद्धों के माध्यमिक और योगाचार सम्प्रदायों के मंतव्यों का खंडन किया गया है । बौद्धों के इन संप्रदायों का विकास गुप्त-काल से पहले हो चुका था, अतः यह स्पष्ट है, कि उनके मन्तव्यों का खंडन करनेवाला यह वात्स्यायन भाष्य गुप्त-काल की ही कृति है । वैशेषिक दर्शन के प्राचीन सूत्रों की विशद व्याख्या करने के लिये आचार्य प्रशस्तपाद ने एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण ग्रंथ इस युग में लिखा । यह 'पदार्थ धर्म संग्रह' वैशेषिक दर्शन का एक अत्यन्त उपयोगी ग्रंथ है ।

बौद्धों के भी दार्शनिक साहित्य का इस युग में बहुत विकास हुआ । कनिष्क के समय में बौद्ध-धर्म दो प्रमुख सम्प्रदायों में विभक्त हो गया था—महायान और हीनयान । महायान का प्रचार मुख्यतया गांधार, कम्बोज और उत्तर के अन्य प्रदेशों में हुआ । हीनयान का केन्द्र लंका था । बरमा, स्याम, कम्बोडिया और पूर्वी एशिया के अन्य प्रदेशों में भी इसी का प्रचार हुआ । इस काल में महायान और हीनयान—दोनों में बहुत-से दार्शनिक विचारों का विकास हुआ । प्राचीन वैदिक और पौराणिक धर्म के पुनरुत्थान के कारण विविध धार्मिक विचारों में जो संघर्ष प्रारम्भ हुआ था, उसने दार्शनिक विचारों के विकास में बहुत सहायता दी । इस युग में बौद्धों और अन्य धर्मावलम्बियों में प्रायः शास्त्रार्थ हुआ करते थे । दोनों तरफ के विद्वान् पंडित अपने-अपने मंतव्यों का तर्क और युक्ति से प्रतिपादन करने में तत्पर रहते थे । इसीलिये इस काल में दार्शनिक साहित्य खूब उन्नत हुआ ।

पांचवीं सदी के प्रारम्भ में बुद्धघोष नाम का एक बड़ा विद्वान् हुआ । यह मगध का रहनेवाला था । वैदिक धर्म का परित्याग कर इस पंडित ने बौद्ध-धर्म स्वीकार किया और लंका में अनुराधपुर के विहार को अपना कार्यक्षेत्र निश्चित किया । इसकी कृतियों में सबसे प्रसिद्ध विसुद्धिमग्ग (विशुद्धि मार्ग) है, जिसमें

यह प्रतिपादित किया गया है, कि शील, समाधि और प्रज्ञा से मनुष्य किस प्रकार निर्वाणपद को प्राप्त कर सकता है। त्रिपिटकों पर भी बुद्धघोष ने भाष्य लिखे। हीनयान-सम्प्रदाय की उन्नति में बुद्धघोष का बड़ा हाथ है। उसके कुछ समय बाद बुद्धदत्त नाम के मागध पंडित ने लंका जाकर अभिधम्मावतार, रूपारूपविभाग और विनयविनिच्चय नाम के ग्रंथ लिखे। हीनयान के धार्मिक व दार्शनिक साहित्य में इन दो मागध पंडितों के ग्रंथों का बहुत ऊंचा स्थान है।

गुप्त-काल में काश्मीर, गांधार और कम्बोज में भी हीनयान-धर्म का प्रचार हुआ। लंका के अनेक बौद्ध-भिक्खु इस युग में भारत आये, और उन्होंने अपने सिद्धान्तों का यहां प्रचार किया। उत्तर-पश्चिमी भारत में वसुबन्धु नाम का प्रकांड बौद्ध पंडित इसी युग में हुआ, जिसके लिखे ग्रंथ अभिधर्मकोश में बौद्ध-धर्म के मौलिक सिद्धान्तों को इतने सुन्दर रूप में प्रतिपादित किया गया, है कि बौद्धों के सभी संप्रदाय उसे प्रामाणिक रूप में स्वीकार करते हैं। पर उत्तर-पश्चिमी भारत में मुख्यतया महायान का ही प्रचार रहा। इसके भी दो मुख्य सम्प्रदाय थे—माध्यमिक और योगाचार। माध्यमिक सम्प्रदाय का प्रवर्त्तक नागार्जुन था। उसका प्रमुख शिष्य आर्यदेव था, जिसने तीसरी सदी में चतुःशतक नामक प्रसिद्ध दार्शनिक ग्रंथ लिखा। महायान-सम्प्रदाय के दो अन्य प्रसिद्ध ग्रंथ वज्रच्छेदिकाप्रज्ञापारमिता और प्रज्ञापारमिता-हृदयसूत्र भी इसी सदी में लिखे गये। योगाचार-संम्प्रदाय का प्रवर्त्तक मैत्रेयनाथ दूसरी सदी के अन्त में हुआ था। पर इस सम्प्रदाय के दार्शनिक विचारों का विकास गुप्त-काल में ही हुआ। योगाचार-सम्प्रदाय के विकास में आचार्य असंग का बड़ा हाथ है। बुद्धघोष के समान यह भी पहले वैदिक धर्म का अनुयायी था, पर बाद में बौद्ध हो गया था। इसने तीसरी सदी के अन्त में महायान संपरिग्रह, योगाचार-भूमिशास्त्र और महायानसूत्रालंकार नाम के प्रसिद्ध ग्रंथ लिखे। असंग प्रकाण्ड पंडित था। भारतीय दर्शनशास्त्र का उसे बहुत उत्तम ज्ञान था। बौद्धों में दार्शनिक विचारों के विकास का बहुत-कुछ श्रेय असंग और उसके भाई वसुबन्धु को है। वसुबन्धु ने जहां अभिधर्मकोश लिखा, जो सब बौद्धों को समानरूप से मान्य था, वहां अनेक दार्शनिक ग्रंथों की भी रचना की। विज्ञान-वाद का वही बड़ा प्रवक्ता हुआ। इस बौद्ध-दर्शन के अनुसार संसार मिथ्या है। सत्य सत्ता केवल 'विज्ञान' है। अन्य सब पदार्थ शशशृंग व वन्ध्यापुत्र के समान मिथ्या हैं। जलती हुई लकड़ी को घुमाने से जैसे आग का चक्कर-सा नजर आता है, पर वस्तुतः उसकी कोई सत्ता नहीं होती, ऐसे ही संसार में जो

कुछ दृष्टिगोचर हो रहा है, उसकी वस्तुतः कोई सत्ता नहीं है। यह विचारधारा वेदान्त के अद्वैतवाद से बहुत-कुछ मिलती-जुलती है। वसुबन्धु ने विंशतिका और त्रिंशतिका ग्रंथों में इसी विज्ञानवाद का सुचारु रूप से प्रतिपादन किया है। उसने अपने अन्य ग्रंथों में सांख्य, योग, वैशेषिक और मीमांसा दर्शनों के सिद्धान्तों का भी खंडन किया है। असंग और वसुबन्धु बड़े भारी पंडित थे, और बौद्ध-दर्शन के विकास में उनका बहुत बड़ा भाग है। बौद्धों के पृथक् तर्कशास्त्र का प्रारम्भ भी वसुबन्धु द्वारा ही हुआ, पर बौद्ध-तर्कशास्त्र के विकास का प्रधान श्रेय आचार्य दिङ्नाग को है। दिङ्नाग गुप्त-काल में चौथी सदी के अन्त में हुआ था। उसने न्याय और तर्कशास्त्र पर बहुत-सी पुस्तकें लिखीं। दुर्भाग्यवश ये इस समय उपलब्ध नहीं होतीं, यद्यपि उनके अनेक उद्धरण उद्योतकर और कुमारिलभट्ट सदृश सनातनधर्मी पंडितों ने अपने ग्रंथों में दिये हैं। दिङ्नाग की एक पुस्तक न्यायमुख चीनी और तिब्बती भाषाओं में मिली है। पर संस्कृत में अभी तक उसका कोई ग्रंथ नहीं मिला। दिङ्नाग का शिष्य शंकराचार्य था, जिसने न्यायप्रवेश नामक पुस्तक पांचवीं सदी के शुरू में लिखी। यह इस समय संस्कृत में उपलब्ध है।

जैन-धर्म के भी अनेक उत्कृष्ट दार्शनिक ग्रंथ इस युग में लिखे गये। पुराने जैन-धर्म ग्रंथों पर अनेक भाष्य इस समय लिखे गये, जिन्हें निर्युक्ति और चूर्णि कहते हैं। इस युग के जैन-भाष्यकारों में भद्रबाहु द्वितीय का नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय है। उसने बहुत-से प्राचीन ग्रंथों पर निर्युक्ति लिख कर न केवल उनके आशय को अधिक स्पष्ट किया, अपितु नवीन शैली में दार्शनिक विचारों को भी प्रकट किया। जैनों के सब प्राचीन ग्रंथ प्राकृत-भाषा में थे। पर गुप्त-काल में संस्कृत का पुनरुत्थान हुआ था। पौराणिक धर्म के लेखकों ने तो इस युग में संस्कृत में अपने सब ग्रंथ लिखे ही थे, पर बौद्ध-धर्म में भी महायान-सम्प्रदाय के ग्रंथ संस्कृत में ही लिखे गये। इस युग में जैनों ने भी संस्कृत में अपनी पुस्तकों को लिखना शुरू किया। आचार्य उमास्वाति ने अपना प्रसिद्ध ग्रंथ तत्त्वार्थाधिगमसूत्र और सिद्धसेन ने अपना न्यायावतार संस्कृत में ही लिखा।

(३) धार्मिक दशा

यज्ञों का प्रचार—मौर्योत्तर-युग में प्राचीन वैदिक धर्म के पुनरुद्धार की जो प्रक्रिया प्रारम्भ हुई थी, गुप्त-काल में उसने और भी जोर पकड़ा। प्रायः सभी

गुप्त सम्राट् भागवत वैष्णव धर्म के अनुयायी थे । पर अहिंसावाद-प्रधान वैष्णव धर्म को मानते हुए भी उन्होंने प्राचीन वैदिक परम्परा के अनुसार अश्वमेध यज्ञ किये । महाभारत, मनुस्मृति और मीमांसासूत्रों में यज्ञों की उपयोगिता पर बहुत बल दिया गया है । इस काल के आर्य पंडित वैदिक धर्म का पुनः प्रचार करने में व्यापृत थे । यही कारण है, कि यज्ञों की परिपाटी इस युग में फिर से शुरू हो गई थी । न केवल गुप्त-सम्राटों ने, अपितु इस युग के अन्य अनेक राजाओं ने भी अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान किया था । दक्षिणी भारत में शालंकायन-वंश के राजा विजयदेव वर्मन और त्रैकूटक-वंश के राजा दह्लसेन ने इसी काल में अश्वमेध यज्ञ किये । केवल अश्वमेध ही नहीं, अग्निष्टोम, वाजपेय, वाजसनेय, बृहस्पतिसव आदि प्राचीन वैदिक यज्ञों के अनुष्ठान का भी इस युग में उल्लेख आता है । इन यज्ञों के अवसर पर जो यूप बनाये गये थे, उनमें से भी कतिपय के अवशेष वर्तमान समय में उपलब्ध हुए हैं । न केवल बड़े-बड़े सम्राट्, अपितु विविध सामन्त राजा भी इस युग में विविध यज्ञों के अनुष्ठान में तत्पर थे । बौद्ध-धर्म के प्रबल होने के समय में इन यज्ञों की परिपाटी बहुत कुछ नष्ट हो गई थी । यही कारण है, कि शैशुनाग, नन्द और मौर्य राजाओं ने इन प्राचीन यज्ञों का अनुष्ठान नहीं किया था । यज्ञों से कोई लाभ नहीं है, यह विचार उस समय प्रबल हो गया था । पर वैदिक धर्म के पुनरुत्थान के इस युग में अब यह परिपाटी फिर प्रारम्भ हुई । यज्ञों को निमित्ति बनाकर मनुष्य दीन, अनाथ, आतुर और दुखी लोगों की बहुत सहायता कर सकता है, यह विचार इस समय बहुत जोर पकड़ गया था । संभवतः, इसीलिये समुद्रगुप्त ने लिखा था, कि पृथिवी का जय करने के बाद अब वह अपने सुकर्मों से स्वर्ग की विजय करने में तत्पर है ।

वैष्णव और शैव धर्म—पुराने वैदिक धर्म में परिवर्तन होकर जिन नये पौराणिक संप्रदायों का प्रादुर्भाव हुआ था, उनपर हम पहले प्रकाश डाल चुके हैं । भागवत और शैव धर्म इस युग में बहुत जोर पकड़ रहे थे । गुप्त-सम्राट् वैष्णव भागवत धर्म के अनुयायी थे । उनके संरक्षण के कारण इस धर्म की बहुत उन्नति हुई । इस युग में बहुत-से वैष्णव मंदिरों का निर्माण हुआ । अनेक शिलालेखों में भक्त धर्मप्राण लोगों द्वारा बनवाये गये विष्णु-मंदिरों और विष्णुध्वजों का उल्लेख है । विष्णु के दस अवतारों में से वराह और कृष्ण की पूजा इस समय अधिक प्रचलित थी । अनुश्रुति के अनुसार वराह ने प्रलय के समय मग्न होती पृथिवी का उद्धार किया था। दस्युओं और म्लेच्छों के

आक्रमणों से भारतभूमि में जो एक प्रकार का प्रलय-सा उपस्थित हो गया था, उसका निराकरण करनेवाले सम्राटों के इस शासनकाल में यदि भगवान् के वराहावतार की विशेष रूप से पूजा हो, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है। राम को भगवान् विष्णु का अवतार मानकर पूजा करने की प्रवृत्ति इस समय तक प्रचलित नहीं हुई थी। कृष्ण की पूजा का उल्लेख इस युग में बहुत से शिलालेखों में पाया जाता है। पर राम की पूजा के संबंध में कोई ऐसा निर्देश इस युग के अवशेषों में उपलब्ध नहीं होता, पर राम के परम पावन चरित्र क कारण उनमें भगवान् के अंश का विचार इस समय में विकसित होना प्रारम्भ हो गया था। कालिदास ने इसका निर्देश किया है। पर राम की पूजा भारत में छठी सदी के बाद ही शुरू हुई।

गुप्त-काल में बहुत-से शिव-मंदिरों का भी निर्माण हुआ। गुप्त-सम्राटों के शिलालेखों में दो अमात्यों का उल्लेख आता है, जो शैव धर्म के अनुयायी थे। इनके नाम शाब और पृथवीषेण हैं। इन्होंने अपने नाम को अमर करने के लिये शिव के मंदिरों का निर्माण कराया। गुप्तों के पहले के भारशिव और वाकाटक राजा शैव धर्म के अनुयायी थे। गुप्त-काल में भी वाकाटक, मैत्रक, कदम्ब और परिव्राजक वंशों के राजा मुख्यतया शैव धर्म का अनुसरण करते थे। हूणराजा मिहिरगुल ने भी शैव धर्म ग्रहण किया था। इस प्रकार यह स्पष्ट है, कि वैष्णव धर्म के साथ-साथ शैव धर्म भी गुप्त-काल में प्रचलित था। शैव मंदिरों में जहां शिवलिंग की स्थापना की जाती थी, वहां जटाजूटधारी, सर्प, गंगा और चन्द्रमा से युक्त शिव की मानवी मूर्ति को भी प्रतिष्ठापित किया जाता था। शैव राजाओं के सिक्कों पर प्रायः त्रिशूल और नन्दी के चित्र अंकित रहते हैं।

मौर्योत्तर-काल में सूर्य के भी मंदिरों की स्थापना शुरू हुई थी। ऐसा पहला मंदिर संभवतः मुलतान में बना था। पर गुप्त-काल में मालवा, ग्वालियर, इंदौर और बघेलखंड में भी सूर्य-मंदिरों का निर्माण हुआ। इससे सूचित होता है, कि सूर्य की पूजा भी इस युग में अधिकाधिक लोकप्रिय होती जा रही थी।

बौद्ध-धर्म—सनातन वैदिक धर्म के पुनरुद्धार से बौद्ध और जैन धर्मों का जोर कुछ कम अवश्य हो गया था, पर अभी भारत में उनका काफी प्रचार था। काश्मीर, पंजाब और अफगानिस्तान के प्रदेशों में प्रायः सभी लोग बौद्ध धर्म के अनुयायी थे। जब चीनी यात्री फाइयान भारत में यात्रा के लिये आया, तो उसने देखा कि इन प्रदेशों में हजारों बौद्ध-विहार विद्यमान थे, जिनमें लाखों की संख्या में भिक्खु लोग निवास करते थे। वर्तमान उत्तर-प्रदेश, बिहार,

बंगाल और मध्यभारत में भी बौद्ध-धर्म बहुत समृद्ध दशा में था। फाइयान के अनुसार कपिलवस्तु, श्रावस्ती, वैशाली सदृश पुरानी नगरियां अब बहुत कुछ क्षीण दशा में थीं। पर इसका कारण बौद्ध-धर्म का क्षय नहीं था। भारत के राजनीतिक जीवन में पुराने गणराज्यों और जनपदों का स्थान अब शक्तिशाली मागध-साम्राज्य ने ले लिया था। अब भारत की वैभवशाली नगरियां पाटलिपुत्र और उज्जैनी थीं। पर मथुरा, कौशाम्बी, कसिया (कुसीनगर) और सारनाथ में अब भी बौद्ध-विहार बड़ी समृद्ध दशा में विद्यमान थे। अजन्ता, एल्लोरा, कन्हेरी, जुन्नार आदि के गुहामंदिरों में अब भी बौद्ध-भिक्खु हजारों की संख्या में रहते थे। खास मगध में ही, नालन्दा के प्रसिद्ध बौद्ध-विहार के अनुपम गौरव का प्रारम्भ गुप्त-काल में ही हुआ था। इस युग में आन्ध्र देश बौद्ध-धर्म का बहुत महत्त्वपूर्ण केन्द्र था। उसे आचार्य नागार्जुन ने अपना प्रधान कार्यक्षेत्र चुना था, और शिष्य-परम्परा के प्रयत्नों के कारण वह प्रदेश बौद्ध-धर्म का गढ़-सा बन गया था। नागार्जुनीकोण्ड नाम का बड़ा समृद्ध विहार वहां विद्यमान था, जिसमें हजारों की संख्या में भिक्खु लोग निवास करते थे। इस वैभवपूर्ण विहार के भग्नावशेष अब तक भी विद्यमान हैं। कांची और वल्लभी में भी बड़े-बड़े विहार इस काल में विद्यमान थे, जो बौद्ध दर्शन धर्म और शिक्षा के बड़े केन्द्र माने जाते थे। इनमें भिक्खुओं को भोजन, वस्त्र आदि सब जनता की तरफ से दिये जाते थे। राजा और प्रजा—सब इनकी सहायता के लिये उदारता के साथ दान देते थे। वैष्णव और शैव धर्मों के प्रचार के बावजूद भी गुप्त-काल में बौद्ध-धर्म पर्याप्त उन्नत और विस्तीर्ण था।

जैन-धर्म—जैन-धर्म के इतिहास में भी गुप्त-काल का बहुत महत्त्व है। इस समय तक जैनों में दो मुख्य संप्रदाय थे—दिगम्बर और श्वेतांबर। श्वेतांबर सम्प्रदाय की दो प्रसिद्ध महासभायें गुप्त-काल में ही हुईं। पहली महासभा वल्लभी में ३१३ ईस्वी में हुई थी। इसके अध्यक्ष आचार्य नागार्जुन (जैन नागार्जुन, बौद्ध नागार्जुन नहीं) थे। दूसरी महासभा भी वल्लभी में ही ४५३ ईस्वी में आचार्य क्षमाश्रमण के सभापतित्व में की गई। इन महासभाओं में यह निश्चय किया गया, कि जैन-धर्म के मान्य ग्रंथों के शुद्ध पाठ कौन-से हैं, और जैनों के कौन-से सिद्धान्त प्रामाणिक हैं। श्वेतांबर सम्प्रदाय मुख्यतया पश्चिमी भारत में प्रचलित था। वल्लभी और मथुरा इसके सर्वप्रधान केन्द्र थे। दिगम्बर सम्प्रदाय का प्रचार प्रधानतया पूर्वी भारत में था, और

बंगाल की पुण्ड्रवर्धन नगरी इस काल में उसका केन्द्र थी। दक्षिणी भारत में भी दिगम्बर सम्प्रदाय का ही प्रचार था। मैसूर और कर्नाटक के निवासी प्रायः जैन-धर्म के ही अनुयायी थे। सुदूर दक्षिण में तामिल लोगों में भी इस समय तक जैन-धर्म फैल चुका था। पल्व और पांड्य-वंशों के अनेक राजाओं ने भी जैन-धर्म को स्वीकार किया था। तामिल भाषा में जैन-धर्म की बहुत-सी पुस्तकें इस काल में लिखी गईं। तामिल-संस्कृति का सर्वप्रधान केन्द्र मदुरा था। वहां के 'संगमों' में तामिल काव्य और साहित्य का बहुत उत्तम विकास हुआ था। ४७० ईस्वी में जैन लोगों ने मदुरा में एक विशेष 'संगम' का आयोजन किया। इसका अध्यक्ष आचार्य वज्रनन्दी था। जैन-धर्म के तामिल ग्रंथों के निर्माण में इस संगम ने महत्त्व का कार्य किया। दक्षिणी आरकोट जिले की पाटलिकापुरी में जैनों का एक प्रसिद्ध मंदिर था, जहां मुनि सर्वनन्दी ने ४५८ ईस्वी में लोकविभंग नाम के प्रसिद्ध ग्रंथ की रचना की थी। जैन-दर्शन का भी विकास गुप्त-काल में हुआ। आचार्य सिद्धसेन ने न्यायवार्ता की रचना कर उस तर्कप्रणाली का प्रारम्भ किया, जिसके कारण आगे चलकर जैन-पंडित दर्शन और न्याय में अन्य सम्प्रदायों के समकक्ष हो गये।

धार्मिक सहिष्णुता—इस प्रकार यह स्पष्ट है, कि गुप्त-काल में पौराणिक आर्य-धर्म, बौद्ध-धर्म और जैन-धर्म भारत में साथ-साथ फल-फूल रहे थे। तीन मुख्य धर्मों और उनके बहुत-से सम्प्रदायों व मतमतांतरों के एक साथ रहते हुए भी इस काल में साम्प्रदायिक विद्वेष का अभाव था। सब मतों के आचार्य व पंडित आपस में शास्त्रार्थों में व्यापृत रहते थे। अपने ग्रंथों में वे जहां एक दूसरे का युक्ति व तर्क से खंडन करते थे, वहां पंडित-मंडलियों और जनसाधारण के समक्ष भी उनमें शस्त्रार्थ व वाद-विवाद होते रहते थे। पर इनके कारण जनता में धार्मिक विद्वेष उत्पन्न नहीं होता था। इस काल के राजा धर्म के मामले में सहिष्णु थे। सम्राट् समुद्रगुप्त परम भागवत थे, वे वैष्णव धर्म के अनुयायी थे। पर उन्होंने अपने राजकुमारों की शिक्षा के लिये आचार्य वसुबन्धु को नियत किया था, जो अपने समय का प्रख्यात बौद्ध-विद्वान् था। एक ही परिवार में भिन्न-भिन्न व्यक्ति भिन्न-भिन्न धर्म के अनुयायी हो सकते थे। राजा शान्तमूल स्वयं वैदिक धर्म का माननेवाला था, पर उसकी बहन, लड़कियां और पुत्रवधुएं बौद्ध-धर्म को मानती थीं। गुप्त-वंश में भी कई सम्राट् बौद्ध हुए। पुरुगुप्त, नरसिंहगुप्त और बुधगुप्त धर्म की दृष्टि से बौद्ध थे। सम्राट् कुमारगुप्त प्रथम का बड़ा लड़का पुरुगुप्त बौद्ध था, और छोटा लड़का स्कंदगुप्त परम भागवत था। यह इस युग

की धार्मिक सहिष्णुता का ज्वलन्त उदाहरण है। दान के अवसर पर राजा लोग सब सम्प्रदायों को दृष्टि में रखते थे। सम्राट् वैण्यगुप्त स्वयं शैव था, पर उसने महायान सम्प्रदाय के वैवर्तक संघ को उदारतापूर्वक दान दिया था। नालंदा के प्रसिद्ध बौद्ध-विहार के वैभव का सूत्रपात वैष्णवधर्मावलम्बी गुप्त-सम्राटों के दान से ही हुआ था। उच्च राजकीय कर्मचारियों को नियुक्त करते समय भी धर्म-भेद को कोई महत्त्व नहीं दिया जाता था। वैष्णव गुप्त-सम्राटों के कितने ही उच्च राजकर्मचारी बौद्ध थे। ये बौद्ध कर्मचारी अपने धर्म का स्वतंत्रता के साथ अनुसरण करते थे, और अपनी श्रद्धानुसार बौद्ध-विहारों और चैत्यों को सहायता देते थे।

सनातन पौराणिक धर्म के विविध सम्प्रदायों में भी इसी प्रकार सौमनस्य की भावना विद्यमान थी। प्राचीन आर्य-धर्म के इतिहास में यह युग समन्वय का था। शिव, विष्णु, सूर्य, दुर्गा आदि देवी-देवता एक ही भगवान् के विविध रूप हैं, यह स्मार्त भावना इस काल में प्रारम्भ हो गई थी। साधारण आर्य गृहस्थ सब मंदिरों को, सब देवी-देवताओं को और सब धर्माचार्यों को सम्मान की दृष्टि से देखता था।

पर बौद्ध और जैन-धर्म सनातन पौराणिक धर्म से इस युग में पृथक् होते जा रहे थे। मौर्योत्तर-काल में बौद्ध-भिक्खुओं और जैन-मुनियों के प्रति श्रद्धा की जो भावना सर्वसाधारण भारतीय जनता में थी, वह अब क्षीण हो रही थी। इसका कारण यह है, कि पौराणिक धर्म के पुनरुत्थान के युग में जो प्रबल धार्मिक आन्दोलन शुरू हुए थे, उन्होंने जनता में बौद्धों और जैनों के प्रति विरोध की भावना को बहुत कुछ प्रज्वलित कर दिया था। पुष्यमित्र शुंग ने बौद्धों पर जो अत्याचार किये, वे इसी भावना के परिणाम थे। अब समय के साथ-साथ विधर्मियों का वह विरोध मन्द पड़ गया था, पर वे लोग पौराणिक हिन्दुओं से पृथक् हैं, यह विचार जनता में भलीभांति उद्बुद्ध हो गया था।

(४) गुप्त-साम्राज्य की शासन-व्यवस्था

साम्राज्य का सुशासन—मौर्य-वंश के शासनकाल के संबंध में जैसा परिचय कौटलीय अर्थशास्त्र से मिलता है, वैसा परिचय गुप्तों के शासन के संबंध में किसी ग्रंथ से नहीं मिलता। मैगस्थनीज जैसा कोई विदेशी यात्री भी इस काल में नहीं आया। चीनी यात्री फाइयान पांचवीं सदी के शुरू में भारत-यात्रा के लिये आया था। वह पाटलिपुत्र में रहा भी था। उसके भ्रमणकाल में चन्द्रगुप्त द्वितीय

विक्रमादित्य का शासन था। भारत के बहुत बड़े प्रदेश में उसका साम्राज्य विस्तृत था। फाइयान पेशावर से बंगाल की खाड़ी तक सर्वत्र गया, पर उसे राज्य, शासन, आर्थिक दशा आदि बातों से कोई दिलचस्पी नहीं थी। वह बौद्ध-भिक्षु था, बौद्धधर्म के तीर्थस्थानों के दर्शन तथा धार्मिक ग्रंथों के अनुशीलन के लिये वह इस देश में आया था। उसने भारत के प्रतापी सम्राट् तक का नाम अपने यात्रा-विवरण में नहीं लिखा। इसीलिये उसके विवरण से हमें गुप्त-साम्राज्य के शासन का कुछ भी परिचय नहीं मिलता। पर फाइयान के निम्नलिखित वाक्य गुप्त-काल के शासन की उत्कृष्टता को प्रदर्शित करने के लिये पर्याप्त हैं—

"प्रजा प्रभूत और सुखी है। व्यवहार की लिखा-पढ़ी और पंचायत कुछ नहीं है। वे राजा की भूमि जोतते हैं, और उसका अंश देते हैं। जहां चाहे रहें। राजा न प्राणदण्ड देता है, न शारीरिक दण्ड देता है। अपराधी को अवस्था के अनुसार उत्तम साहस या मध्यम साहस का अर्थदंड (जुर्माना) दिया जाता है। बार-बार दस्युकर्म करने पर दक्षिण करच्छेद किया जाता है। राजा के प्रतीहार और सहचर वेतनभोगी होते हैं। सारे देश में सिवाय चाण्डाल के कोई अधिवासी न जीवहिंसा करता है, न मद्य पीता है, और न लहसुन खाता है। दस्यु को चाण्डाल कहते हैं। वे नगर के बाहर रहते हैं और नगर में जब आते हैं, तो सूचना के लिये लकड़ी बजाते चलते हैं, कि लोग जान जायं और बचकर चलें, कहीं उनसे छू न जायं। जनपद में सूअर और मुर्गी नहीं पालते, न जीवित पशु बेचते हैं, न कहीं सूनागार (बूचड़खाने) और मद्य की दूकानें हैं। क्रय-विक्रय में कौड़ियों का व्यवहार है। केवल चाण्डाल मछली मारते, मृगया करते और मांस बेचते हैं।"

फाइयान जिन लोगों के साथ रहा था, उनका जीवन सचमुच ऐसा ही था। पर मांस, मद्य आदि का सेवन सर्वसाधारण जनता में था या नहीं, इस विषय में बारीकी से परिचय प्राप्त करने का अवसर फाइयान को नहीं मिला। बौद्ध, जैन और वैष्णव धर्मों के प्रचार के कारण भारत का सामाजिक और वैयक्तिक जीवन उस युग में निःसंदेह बहुत ऊंचा था। राज्यशासन की उत्कृष्टता के विषय में फाइयान के निर्देश वस्तुतः बड़े महत्त्व के हैं। फाइयान भारत में हजारों मीलों तक भ्रमण करता रहा। पर उसे कहीं भी चोर, डाकू व दस्युओं का सामना नहीं करना पड़ा। लगभग दो सदी बाद जब ह्यु्नत्सांग भारत-यात्रा को आया, तो कई जगह उसपर डाकुओं ने हमले किये। उस

समय भारत में किसी एक प्रतापी राजवंश का शासन नहीं था। राजनीतिक अव्यवस्था के कारण देश में शांति नहीं रह गई थी। पर फाइयान के समय में प्रतापी गुप्त-सम्राटों का शासन था, और सब जगह शांति विराज रही थी। यही कारण है, कि फाइयान ने देश को सुखी और समृद्ध पाया।

साम्राज्य का स्वरूप—कौटलीय अर्थशास्त्र जैसे ग्रंथ और मैगस्थनीज जैसे विदेशी यात्री के अभाव में भी हमारे पास अनेक ऐसे साधन हैं, जिनसे हम गुप्त-साम्राज्य के शासन के संबंध में बहुत ही उपयोगी बातें जान सकते हैं। गुप्त-सम्राटों के जो बहुत-से शिलालेख व सिक्के मिले हैं, वे इस युग के शासन के विषय में बहुत उत्तम प्रकाश डालते हैं। गुप्त-साम्राज्य के अन्तर्गत सब प्रदेशों पर गुप्त-सम्राटों का सीधा शासन नहीं था। उनके अधीन अनेक महाराजा, राजा व गणराज्य थे, जो अपने आन्तरिक शासन में स्वतंत्र थे। सामन्तों को उनके राज्य व शक्ति के अनुसार महाराजा व राजा कहते थे। सब सामन्तों की स्थिति भी एक समान नहीं थी। आर्यावर्त या मध्यप्रदेश के के सामन्त गुप्तसम्राटों के अधिक प्रभाव में थे। सुदूरवर्ती सामन्त प्रायः स्वतंत्र स्थिति रखते थे, यद्यपि वे गुप्त-सम्राटों की अधीनता को स्वीकार करते थे। यही दशा गणराज्यों की थी। शासन की दृष्टि से हम गुप्त-साम्राज्य को निम्नलिखित भागों में बांट सकते हैं—

(१) गुप्तवंश के सम्राटों के शासन में विद्यमान प्रदेश—ये शासन की सुगमता के लिये भुक्तियों (प्रान्तों व सूबों) में विभक्त थे। प्रत्येक भुक्ति में अनेक 'विषय' व उसके भी विविध विभाग होते थे।

(२) आर्यावर्त व मध्यदेश के सामन्त—इनकी यद्यपि पृथक् सत्ता थी, पर ये सम्राट् की अधीनता में ही सब कार्य करते थे। इनकी स्थिति ब्रिटिश-युग के रियासती राजाओं से किसी भी प्रकार अच्छी नहीं थी।

(३) गणराज्य—प्राचीन यौधेय, मद्र आदि अनेक गणराज्य गुप्तों के शासन-काल में भी विद्यमान थे। वे गुप्त-सम्राट् के शासन को स्वीकार करते थे।

(४) अधीनस्थ राजा—दक्षिण कोशल, महाकांतार, पिष्टपुर,कोट्टूर, ऐरंड-पल्ल, देवराष्ट्र, अवमुक्त आदि बहुत-से राज्य इस काल में पृथक्रूप से विद्यमान थे। पर उनके राजाओं ने गुप्त-सम्राटों की शक्ति के सम्मुख सिर झुका दिया था।

(५) सीमावर्ती राज्य—आसाम, नैपाल, समतत, कर्तृपुर आदि के सीमावर्ती राज्य प्रायः स्वतंत्र सत्ता रखते थे। पर ये सब गुप्त-सम्राटों को

भेंट-उपहार भेजकर व उनकी आज्ञाओं का पालन कर उन्हें संतुष्ट रखते थे। ये सब गुप्त-सम्राटों के दरबार में भी उपस्थित होते थे।

(६) अनुकूल मित्र-राज्य—सिंहलद्वीप और भारत की उत्तर-पश्चिमी सीमा के कुशाण-राजा गुप्त-सम्राटों को भेंट-उपहार व कन्यादान आदि उपायों से मित्र बनाये रखने के लिये उत्सुक रहते थे। यद्यपि उनके राज्य गुप्त-साम्राज्य के अन्तर्गत नहीं थे, तथापि वे गुप्त-सम्राटों को एक प्रकार से अपना अधिपति मानते थे। इन्हें हम अनुकूल मित्र-राज्य कह सकते हैं।

केन्द्रीय शासन—गुप्त-साम्राज्य का शासन सम्राट् में केन्द्रित था। मौर्यों के समान गुप्तों ने भी अपनी वैयक्तिक शक्ति, साहस और प्रताप से एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की थी। उसका शासन भी वे स्वयं ही 'एकराट्' रूप में करते थे। ये गुप्त-राजा अपने को 'महाराजाधिराज', 'परमेश्वर', 'परम भागवत', 'परम दैवत', 'सम्राट्', 'चक्रवर्ती' आदि विरुदों से विभूषित करते थे। विविध देवताओं और लोकपालों के अंशों से राजा शक्ति प्राप्त करता है, यह भाव उस समय बल पकड़ गया था। समुद्रगुप्त को एक शिलालेख में 'लोकधाम्नो देवस्य' भी कहा गया है। इस लेख के अनुसार समुद्रगुप्त 'लोक-नियमों के अनुष्ठान और पालन करने भर के लिये ही मनुष्य रूप था, वह संसार में रहनेवाला देवता' ही था। राजाओं के प्रति यह दैवी भावना इस युग की स्मृतियों से भी प्रगट होती है। राजा देवताओं के अंश से बना होने के कारण दैवी होता है, यह भाव याज्ञवल्क्य और नारद-स्मृतियों में विद्यमान है। कौटलीय अर्थशास्त्र के समय में यह विचार था अवश्य, पर उसका प्रयोग गुप्तचर लोग सर्व-साधारण लोगों में राजा का प्रभाव उत्पन्न करने के लिये ही करते थे। पर गुप्त-काल तक वह एक सर्वसम्मत सिद्धान्त हो गया था, और शिलालेखों तक में उसका उपयोग होने लगा था।

सम्राट् को शासनकार्य में सहायता देने के लिये मंत्री या सचिव होते थे, जिनकी कोई संख्या निश्चित नहीं थी। नारदस्मृति ने राज्य की एक सभा का उल्लेख किया है, जिसके सभासद् धर्म-शास्त्र में कुशल, अर्थज्ञान में प्रवीण, कुलीन, सत्यवादी और शत्रु व मित्र को एक दृष्टि से देखनेवाले होने चाहिये। राजा अपनी राजसभा के इन सभासदों के साथ राज्यकार्य की चिन्ता करता था, और उनके परामर्श के अनुसार कार्य करता था। देश का कानून इस काल में भी परम्परागत धर्म, चरित्र और व्यवहार पर आश्रित था। जनता के कल्याण और लोकरंजन को ही राजा लोग अपना उद्देश्य मानते थे। इसका परिणाम

यह था, कि परमप्रतापी गुप्त-सम्राट् भी स्वेछाचारी व निरंकुश नहीं हो सकते थे।

साम्राज्य के मुख्य-मुख्य पदों पर काम करनेवाले कर्मचारियों को 'कुमारा-मात्य' कहते थे। कुमारामात्य राजघराने के भी होते थे और दूसरे लोग भी। साम्राज्य के विविध अंगों भुक्ति, विषय आदि का शासन करने के लिये जहां इनकी नियुक्ति होती थी, वहां सेना, न्याय आदि के उच्च पदों पर भी ये कार्य करते थे। कुमारामात्य साम्राज्य की स्थिर सेवा में होते थे, और शासन-सूत्र का संचालन इन्हीं के हाथों में रहता था।

केन्द्रीय शासन के विविध विभागों को 'अधिकरण' कहते थे। प्रत्येक अधिकरण की अपनी-अपनी मुद्रा (सील) होती थी। गुप्त-काल के विविध शिलालेखों व मुद्रा आदि से निम्नलिखित अधिकरणों और प्रधान राजकर्म-चारियों के विषय में परिचय मिलता है—

(१) महासेनापति—गुप्त-सम्राट् स्वयं कुशल सेनानायक और योद्धा थे। वे दिग्विजयों व विजययात्राओं के अवसर पर स्वयं सेना का संचालन करते थे। पर उनके अधीन महासेनापति भी होते थे, जो साम्राज्य के विविध भागों में, विशेषतया सीमान्त प्रदेशों में, सैन्यसंचालन के लिये नियत रहते थे। सेना के ये सबसे बड़े पदाधिकारी 'महासेनापति' कहाते थे।

(२) महादंडनायक—महासेनापित के अधीन अनेक महादंडनायक होते थे, जो युद्ध के अवसर पर सेना का नेतृत्व करते थे। गुप्त-काल की सेना के तीन प्रधान विभाग होते थे पदाति, घुड़सवार और हाथी। महादंडनायकों के अधीन महाश्वपति, अश्वपति, महापीलुपति, पीलुपति आदि अनेक सेना-नायक रहते थे। साधारण सैनिक को 'चाट' और सेना की छोटी टुकड़ी को 'चमू' कहते थे। चमू का नायक 'चमूप' कहलाता था। युद्ध के लिये परशु, शर, अंकुश, शक्ति, तोमर, भिदिपाल, नाराच आदि अनेकविध अस्त्रों को प्रयुक्त किया जाता था।

(३) रणभांडागारिक—सेना से लिये सब प्रकार की सामग्री (अस्त्र-शस्त्र, भोजन आदि) को जुटाने का विभाग रणभांडागारिक के अधीन होता था।

(४) महाबलाधिकृत—सेना, छावनी और व्यूहरचना का विभाग महाबलाध्यक्ष या महाबलाधिकृत के हाथ में होता था। उसके अधीन अनेक बलाधिकृत रहते थे।

(५) दंडपाशिक—पुलिस विभाग का सर्वोच्च अधिकारी दंडपाशिक कहलाता था। इसके नीचे खुफिया विभाग का अधिकारी 'चौरोद्धारणिक', 'दूत' आदि अनेक कर्मचारी रहते थे। पुलिस के साधारण सिपाही को भट कहते थे।

(६) महासांधिविग्रहिक—इस उच्च अधिकारी का कार्य पड़ोसी राज्यों, सामन्तों और गणराज्यों के साथ संधि या विग्रह की नीति का अनुसरण करना होता था। यह सम्राट् का अत्यन्त विश्वस्त कर्मचारी होता था, जो साम्राज्य की नीति का निर्धारण करता था। किन देशों पर आक्रमण किया जाय, अधीनस्थ राजाओं व सामन्तों से क्या व्यवहार किया जाय, ये सब बातें इसी के द्वारा तय होती थीं।

(७) विनय-स्थिति-स्थापक—मौर्यकाल में जो कार्य धर्म-महामात्र करते थे, वही गुप्त-काल में विनय-स्थिति-स्थापक करते थे। देश में धर्मनीति की स्थापना, जनता के चरित्र को उन्नत रखना, और विविध सम्प्रदायों में मेल-जोल रखना इन्हीं अमात्यों का कार्य था।

(८) भांडागाराधिकृत—यह कोषविभाग का अध्यक्ष होता था।

(९) महाक्षपटलिक—राज्य के सब आदेशों का रिकार्ड रखना इसके 'अधिकरण' का कार्य था। राजकीय आय-व्यय आदि के सब लेखे भी इसी अमात्य द्वारा रखे जाते थे।

(१०) सर्वाध्यक्ष—यह संभवतः साम्राज्य के केन्द्रीय कार्यालय का प्रधान अधिकारी होता था।

इन मुख्य पदाधिकारियों के अतिरिक्त, राज्य-कर को वसूल करने का विभाग 'ध्रुवाधिकरण' कहलाता था। इस अधिकरण के अधीन शाल्किक (भूमिकर वसूल करनेवाला), गौल्मिक (जंगलों से विविध आमदनी प्राप्त करनेवाला), तलवाटक व गोप (ग्रामों के विविध कर्मचारी) आदि अनेक राजपुरुष होते थे।

राजप्रासाद का विभाग बहुत विशाल होता था। महाप्रतीहार और प्रतीहार नाम के अनेक कर्मचारी उसके विविध कार्यों को संभालते थे। सम्राट् के प्राइवेट सेक्रेटरी को 'रहसि नियुक्त' कहते थे। अन्य अमात्यों व अध्यक्षों के भी अलग 'रहसि नियुक्त' रहते थे।

युवराज भट्टारक और युवराज के पदों पर राजकुल के व्यक्ति ही नियत किये जाते थे। सम्राट् का बड़ा लड़का 'युवराज भट्टारक' और अन्य लड़के 'युवराज'

कहाते थे। शासन में इन्हें अनेक महत्त्वपूर्ण पद दिये जाते थे । यदि कोई युवराज (राजपुत्र) कुमारामात्य के रूप में कार्य करे, तो वह 'युवराज कुमारामात्य' कहाता था। सम्राट् के निजी स्टाफ में नियुक्त कुमारामात्य 'परमभट्टारक-पादीय कुमारामात्य' कहाते थे। इसी प्रकार युवराज भट्टारक के स्टाफ के बड़े पदाधिकारी 'युवराजभट्टारक पादीयकुमारामात्य' कहे जाते थे। राजा के विविध पुत्र प्रान्तीय शासक व इसी प्रकार के अन्य ऊंचे राजपदों पर नियुक्त होकर शासन-कार्य में सम्राट् की सहायता करते थे।

विविध राजकर्मचारियों के नाम गुप्तकाल में बिलकुल नये हो गये थे। मौर्यकाल में सम्राट् को केवल 'राजा' कहते थे। बौद्ध-धर्म के अनुयायी अशोक सदृश राजा अपने साथ 'देवानां प्रिय प्रियदर्शी' विशेषण लगाते थे। पर गुप्त सम्राट् 'महाराजाधिराज' कहलाते थे, और अपने धर्म के अनुसार 'परम भागवत' या 'परम माहेश्वर' या 'परम सौगत' विशेषण लगाते थे।

पुराने मौर्यकालीन 'तीर्थों' का स्थान अब 'अधिकरणों' ने ले लिया था। उनके प्रधान कर्मचारी अब 'अधिकृत' कहाते थे।

प्रान्तीय शासन—विशाल गुप्त साम्राज्य अनेक राष्ट्रों व देशों में विभक्त था। साम्राज्य में कुल कितने देश व राष्ट्र थे, इसकी ठीक संख्या ज्ञात नहीं है। प्रत्येक राष्ट्र में अनेक 'भुक्तियां' और प्रत्येक 'भुक्ति' में अनेक 'विषय' होते थे। भुक्ति को हम वर्तमान समय की कमिश्नरी के समान समझ सकते हैं। गुप्तकालीन शिलालेखों में तीर भुक्ति (तिरहुत), पुण्ड्रवर्धन भुक्ति (दीनाजपुर, राजशाही आदि), मगध भुक्ति आदि विविध भुक्तियों का उल्लेख आता है। 'विषय' वर्तमान समय के जिलों के समान थे। प्राचीन काल के महा-जनपद और जनपद अब नष्ट हो गये थे। सैकड़ों वर्षों तक मागध-साम्राज्य के अधीन रहने से अपनी पृथक् सत्ता की स्मृति अब उनमें बहुत कुछ मन्द पड़ गई थी। अब उनका स्थान भुक्तियों ने ले लिया था, जिनका निर्माण शासन की सहूलियत को दृष्टि में रखकर किया जाता था।

देश या राष्ट्र के शासक के रूप में प्रायः राजकुल के मनुष्य नियत होते थे। इन्हें 'युवराज कुमारामात्य' कहते थे। इनके अपने-अपने महासेनापति, महादंडनायक आदि प्रधान कर्मचारी होते थे। युवराज कुमारात्यों के अधीन भुक्तियों का शासन करने के लिये 'उपरिक' नियत किये जाते थे। उपरिकों की नियुक्ति सीधी सम्राट् द्वारा होती थी। इस पद पर राजकुल के कुमार भी नियत होते थे। प्रत्येक भुक्ति अनेक विषयों में विभक्त होती थी ।

विषय के शासक 'विषयपति' कहाते थे । इनकी नियुक्ति भी सम्राट् द्वारा की जाती थी ।

गुप्तकाल के जो लेख मिले हैं, उनसे सुराष्ट्र , मालवा, मन्दसोर और कौशांबी, चार राष्ट्रों का परिचय मिलता है। सुराष्ट्र का राष्ट्रिक (राष्ट्र का शासक) समुद्रगुप्त के समय में पर्णदत्त था । मन्दसोर का शासन बन्धुवर्मा के हाथ में था । इसमें संदेह नहीं कि विशाल गुप्त-साम्राज्य में अन्य बहुत-से राष्ट्र भी रहे होंगे, पर उनका उल्लेख इस काल के शिलालेखों में नहीं हुआ है ।

भुक्ति के शासक को उपरिक के अतिरिक्त भोगिक, भोगपति और गोप्ता भी कहते थे। दामोदर गुप्त के समय में पुण्ड्रवर्धन भुक्ति का शासक 'उपरिकर महाराज राजपुत्र देवभट्टारक' था । वह राजकुल का था । उससे पूर्व इस पद पर चिरतिदत्त रह चुका था, जो कि राजकुल का नहीं था । इसी तरह चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के शासनकाल में तीर भुक्ति का शासक सम्राट् का पुत्र गोविन्दगुप्त था । इन उपरिक महाराजाओं की बहुत-सी मोहरें इस समय उपलब्ध होती हैं।

विषय (ज़िले) के शासक विषयपति को अपने कार्य में परामर्श देने के लिये एक सभा होती थी, जिसके सभासद 'विषय महत्तर' (जिले के बड़े लोग) कहाते थे । इनकी संख्या तीस के लगभग होती थी । नगरश्रेष्ठी, सार्थवाह (व्यापारियों का मुखिया), प्रथम कुलिक (शिल्पियों का मुखिया) और प्रथम कायस्थ (लेखक-श्रेणी का मुखिया), इस विषय-सभा में अवश्य रहते थे, इनके अतिरिक्त जिले में रहनेवाली जनता के अन्य मुख्य लोग भी इस सभा में 'महत्तर' के रूप में रहते थे । संभवतः, इन महत्तरों की नियुक्ति चुनाव द्वारा नहीं होती थी। विषयपति अपने प्रदेश के मुख्य-मुख्य व्यक्तियों को इस कार्य के लिये नियुक्त कर लेता था । इन महत्तरों के कारण जिले के शासन में सर्वसाधारण जनता का काफी हाथ रहता था । विषयपति को यह भलीभांति मालूम होता रहता था, कि उसके इलाके की जनता क्या सोचती और क्या चाहती है।

विषय के शासक कुमारात्यों (विषयपतियों) का गुप्त-साम्राज्य के शासन में बड़ा महत्त्व था । अपने प्रदेश की सुरक्षा, शांति और व्यवस्था के लिये वे ही उत्तरदायी थे । उनके अधीन राजकीय करों को एकत्र करने के लिये अनेक कर्मचारी रहते थे, जिन्हें युक्त, आयुक्त, नियुक्त आदि अनेक नामों से कहा जाता था । मौर्यकाल में भी ज़िले के इन कर्मचारियों को 'युक्त'

ही कहते थे। गुप्तकाल में बड़े पदाधिकारियों के नाम बदल गये थे, पर छोटे राजपुरुषों का अब भी वही नाम था, जो कम से कम सात सदियों से भारत में प्रत्युक्त होता आ रहा था। विषयपति के अधीन दंडपाशिक (पुलिस के कर्मचारी), चोरोद्धरणिक (खुफिया पुलिस), आरक्षाधिकृत (जनता के रक्षार्थ नियुक्त कर्मचारी) और दंडनायक (जिले की सेना के अधिकारी) रहते थे।

'विषय' में अनेक शहर और ग्राम होते थे। शहरों के शासन के लिये 'पुरपाल' नाम का कर्मचारी होता था, जिसकी स्थिति कुमारामात्य की मानी जाती थी। पुरपाल केवल बड़े-बड़े नगरों में ही नियुक्त होते थे। विषय के महत्तर इसे भी शासनकार्य में परामर्श देते थे। पुरों की निगम-सभायें अभी तक भी विद्यमान थीं, और उनके कारण जनता अपने बहुत-से मामलों की व्यवस्था स्वयं ही करती थी। व्यापारियों और शिल्पियों के संघ इस काल में भी विद्यमान थे।

ग्रामों के शासन में पंचायत का बड़ा हाथ रहता था। इस युग में पंचायत को 'पंच-मंडली' कहते थे। चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के अन्यतम सेनापति अम्रकार्दव ने एक ग्राम की पंच-मंडली को २५ दीनारें एक विशेष प्रयोजन के लिये दी थीं। इसका उल्लेख सांची के एक शिलालेख में किया गया है। गुप्तों से पूर्व ग्राम की सभा को पंच-मंडली नहीं कहा जाता था। पर इस युग में भारत की उस पंचायत-प्रणाली का पूरी तरह प्रारम्भ हो चुका था, जो हजारों साल बीत जाने पर भी आंशिक रूप में अब तक भी सुरक्षित है।

राजकीय कर—गुप्तकाल के लेखों के अनुशीलन से ज्ञात होता है, कि इस युग में राजकीय आय के निम्नलिखित साधन थे—

(१) भागकर—खेती में प्रयुक्त होनेवाली जमीन से पैदावार का निश्चित भाग राज्यकर के रूप में लिया जाता था। इस भाग की मात्रा १८ फी सदी से २५ फी सदी तक होती थी। यह भागकर (मालगुजारी) प्रायः पैदावार की शकल में ही लिया जाता था। यदि वर्षा न होने या किसी अन्य कारण से फसल अच्छी न हो, तो भागकर की मात्रा स्वयं कम हो जाती थी, क्योंकि किसानों को पैदा हुए अन्न का निश्चित हिस्सा ही मालगुजारी के रूप में देना होता था। भागकर का दूसरा नाम 'उद्रग' भी था।

(२) भोगकर—मौर्यकाल में जिस चुंगी को शुल्क शब्द से कहा जाता था, उसी को गुप्तकाल में भोगकर कहते थे।

(३) भूतोवात प्रत्याय—बाहर से अपने देश में आनेवाले और अपने देश में उत्पन्न होनेवाले विविध पदार्थों पर जो कर लगता था, उसे भूतोवात प्रत्याय कहते थे। गुप्तकालीन लेखों में स्थूलरूप से १८ प्रकार के करों का निर्देश किया गया है। पर इनका विवरण नहीं दिया गया। पृथक् रूप से केवल तीन करों का ही उल्लेख किया गया है। इस काल की स्मृतियों के अध्ययन से ज्ञात होता है, कि परम्परागत रूप से जो विविध कर मौर्य-युग से चले आते थे, वे गुप्तकाल में भी वसूल किये जाते थे, यद्यपि उनके नाम और दर आदि में कुछ न कुछ अन्तर इस समय में अवश्य आ गया था।

अधीनस्थ राज्यों का शासन—गुप्त-साम्राज्य के अन्तर्गत जो अनेक अधीनस्थ राज्य थे, उनपर सम्राट् के शासन का ढंग यह था, कि छोटे सामन्त 'विषयपति कुमारामात्यों' के और बड़े सामन्त भुक्ति के शासक 'उपरिक महाराज कुमारामात्यों' के अधीन होते थे। अपने इन कुमारामात्यों द्वारा गुप्त सम्राट् विविध सामन्तों व अधीन राजाओं पर अपना नियंत्रण व निरीक्षण रखते थे।

इस काल में भारत में एक प्रकार की जागीरदारी प्रथा व सामन्तपद्धति (फ्यूडलिज़म) का भी विकास हो गया था। बड़े सामन्तों के अधीन छोटे सामन्त और उनके भी अधीन और छोटे सामन्त होते थे। सम्राट् बुधगुप्त के अधीन महाराजा सुरश्मिचन्द्र एक बड़ा सामन्त था, जिसके अधीनस्थ एक अन्य सामन्त मातृविष्णु था। गुप्त सम्राटों के अधीन परिव्राजक, उच्छकल्प और वर्मन आदि विविध वंशों के शक्तिशाली सामन्त महाराज अपने-अपने राज्यों में शासन करते थे। इनकी अपनी सेनायें भी होती थीं। ये अपना राजकीय कर स्वयं वसूल करते थे और अपने आन्तरिक मामलों में प्रायः स्वतंत्र थे। साम्राज्य के सांधिविग्रहिक के निरीक्षण में ये महाराज अपने शासन का स्वयं संचालन करते थे। अनेक सामन्त महाराज ऐसे भी थे, जिन पर सम्राट् का नियंत्रण अधिक कठोर था, और जिन्हें राजकीय कर को वसूल करने का भी पूरा अधिकार नहीं था।

यूरोप के मध्यकालीन इतिहास में जिस प्रकार 'फ्यूडल सिस्टम' का विकास हो गया था, वैसा ही इस युग में भारत में भी हुआ। मौर्यकाल में यह सामंत-पद्धति विकसित नहीं हुई थी। उस काल में पुराने जनपदों की पृथक् सत्ता की स्मृति और सत्ता विद्यमान थी, पर इन जनपदों में अपने धर्म, चरित्र और व्यवहार के अक्षुण्ण रहते हुए भी उनके पृथक् राजा और पृथक् सेनायें नहीं

थीं। गुप्तकाल में बड़े और छोटे सब प्रकार के सामन्त थे, जो अपनी पृथक् सेनायें रखते थे। प्रतापी गुप्त-सम्राटों ने इन्हें जीतकर अपने अधीन कर लिया था, पर इनकी स्वतंत्र सत्ता को नष्ट नहीं किया था।

शक, यवन, कुशाण आदि म्लेच्छों के आक्रमणों से भारत में जो अव्यवस्था और अशांति उत्पन्न हो गई थी, उसी ने इस पद्धति को जन्म दिया था। पुराने मागध-साम्राज्य के उच्च महामात्रों ने इस परिस्थिति से लाभ उठाकर अपनी शक्ति को बढ़ा लिया और वे वंशक्रमानुगत रूप से अपने-अपने प्रदेश में स्वतंत्र तौर पर राज्य करने लगे। अव्यवस्था के युग में अनेक महत्त्वाकांक्षी शक्तिशाली व्यक्तियों ने भी अपने पृथक् राज्य बना लिये थे। गुप्त-सम्राटों ने इन सब राजा-महाराजाओं का अन्त नहीं किया। यही कारण है, कि उनकी शक्ति के शिथिल होते ही ये न केवल पुनः स्वतंत्र हो गये, पर परस्पर युद्धों और विजययात्राओं द्वारा अपने शक्ति के विस्तार में भी तत्पर हो गये। इसी का परिणाम हुआ, कि सारे उत्तरी भारत में अव्यवस्था छा गई, और एक प्रकार के 'मात्स्यन्याय' का प्रारम्भ हो गया।

मौर्यो की शक्ति शिथिल होने पर पुराने जनपद पुनः स्वतंत्र हो गये थे। पर गुप्तों के निर्बल पड़ने पर जनपद स्वतंत्र नहीं हुए, अपितु सामन्त महाराजा स्वतंत्र हुए, जो अपनी-अपनी सेनाओं के साथ विजययात्राओं के लिये प्रयत्नशील रहते थे। इसीलिये तिब्बती लामा तारानाथ को यह लिखने का अवकाश मिला, कि इस काल में 'हर एक ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य अपनी-अपनी जगह राजा बन बैठा।' सामन्त महाराजाओं के आपस के युद्धों ने सचमुच ही मात्स्यन्याय की अवस्था उत्पन्न कर दी थी। गुप्त-काल की सामन्त-पद्धति का ही यह परिणाम था, कि भारत में यशोधर्मा और हर्षवर्धन जैसे 'आसमुद्रक्षितीश' तो बाद में भी हुए, पर वे स्थिर रूप से किसी विशाल साम्राज्य की स्थापना नहीं कर सके। गुप्तों के साथ ही भारत भर में एक शक्तिशाली विशाल साम्राज्य की कल्पना भी समाप्त हो गई। सामन्त-पद्धति का यह स्वाभाविक परिणाम हुआ।

गुप्त-साम्राज्य के अधीन जो यौधेय, कुनिन्द, मालव, आर्जुनायन आदि अनेक गणराज्य थे, उनमें भी इस युग में स्वतंत्र शासन की परम्परा का ह्रास हो रहा था। कुछ विशेष शक्तिशाली कुलों में इन गणराज्यों की राजशक्ति केन्द्रित होती जा रही थी। ये कुलीन लोग अपने को 'महाराज' और 'महासेनापति' कहते थे। अपने युग की प्रवृत्ति के प्रभाव से

गणराज्य भी नहीं बच सके, और धीरे-धीरे वे भी एक प्रकार ऐसे महा-राजाओं के अधीन हो गये, जो सामन्तों की सी स्थिति रखते थे।

(५) गुप्त-काल के सिक्के

गुप्त-सम्राटों के बहुत-से सिक्के इस समय में उपलब्ध हुए हैं। इस वंश का इतिहास ही मुख्यतया इन सिक्कों के आधार पर तैयार किया गया है। अतः उनका संक्षेप से उल्लेख करना आवश्यक है। गुप्त-वंश के सिक्के पहले-पहल चन्द्रगुप्त प्रथम द्वारा प्रचारित किये गये थे। चन्द्रगुप्त प्रथम का केवल एक ही प्रकार का सिक्का मिला है। इसके एक ओर चन्द्रगुप्त मुकुट, कोट, पायजामा और आभूषण पहने खड़ा है, उसके बायें हाथ में ध्वजा और दाहिने हाथ में अंगूठी है। सामने वस्त्र और आभूषणों से सज्जित रानी कुमारदेवी है। राजा अपनी पत्नी को अंगूठी दे रहा है। इस सिक्के के बांई ओर 'चन्द्र-गुप्त' और दाई ओर 'श्री कुमारदेवी' लिखा है। सिक्के की दूसरी तरफ लक्ष्मी का चित्र है, जो सिंह पर सवार है। लक्ष्मी के पैर के नीचे कमल है। साथ ही, नीचे 'लिच्छवयः' लिखा गया है। लिच्छवि गण की सहायता से चन्द्रगुप्त ने पाटलिपुत्र पर अधिकार किया था, और अपने साम्राज्य की नींव डाली थी। लिच्छविकुमारी श्री कुमारदेवी से विवाह के कारण ही उसके उत्कर्ष का प्रारंभ हुआ था। इसीलिये चन्द्रगुप्त प्रथम के इन सिक्कों पर लिच्छवियों और और कुमारदेवी को इतनी प्रधानता दी गई है। चन्द्रगुप्त के ये सिक्के सोने के हैं, और तोल में १११ ग्रेन हैं।

समुद्रगुप्त के सिक्के अनेक प्रकार के मिले हैं। वे सोने और तांबे दोनों के बने हुए हैं। समुद्रगुप्त ने छः प्रकार के सोने के सिक्के प्रचारित किये थे। (१) गरुडध्वजांकित—इनमें एक तरफ मुकुट, कोट और पायजामा पहने सम्राट् की खड़ी मूर्ति है। उसके बायें हाथ में ध्वजा और दांयें हाथ में अग्निकुंड में डालने के लिये आहुति दिखाई पड़ती है। कुंड के पीछे गरुड़ध्वज है। सम्राट् के बायें हाथ के नीचे उसका नाम 'समुद्र' या 'समुद्रगुप्तः' लिखा है। सिक्के के दूसरी ओर 'समरशत विततविजयी जितारिपुरजितो दिवं जयति' लिखा है। सिक्के के दूसरी ओर सिंहासन पर बैठी लक्ष्मी की मूर्ति है। यह वस्त्र और आभू-षणों से सुसज्जित है, तथा साथ ही 'पराक्रमः' लिखा है। (२) इन सिक्कों में धनुष-बाण लिये हुए सम्राट् की मूर्ति गरुड़ध्वज के साथ है। बायें हाथ के नीचे सम्राट् का नाम 'समुद्र' लिखा है, और चारों ओर 'अप्रतिरथो विजित्य क्षिति-

सुचरितैः दिवं जयति' लिखा है। सिक्के के दूसरी ओर सिंहासन पर विराजमान लक्ष्मी की मूर्ति है, और 'अप्रतिरथः' लिखा है। (३) इन सिक्कों में एक ओर परशु लिये सम्राट् की मूर्ति है। साथ ही दाहनी तरफ एक छोटे बालक का चित्र है। बांई तरफ 'समुद्र' या 'समुद्रगुप्तः' लिखा है, और चारों ओर 'कृतांत-परशुर्जयत्यजितराजजेताजितः' लिखा है। सिक्के के दूसरी ओर सिंहासन पर विराजमान लक्ष्मी की मूर्ति है, और नीचे 'कृतांत परशुः' लिखा है। (४) इन सिक्कों में एक ओर धनुष-बाण से सज्जित सम्राट् का चित्र है, जिसे एक व्याघ्र का संहार करते हुए दिखाया गया है। सम्राट् के बायें हाथ के नीचे 'व्याघ्रपराक्रमः' लिखा है। सिक्के के दूसरी ओर मकर पर खड़ी, हाथ में कमल लिये गंगा देवी का चित्र है, और नीचे 'राजा समुद्रगुप्त' लिखा है। (५) इन सिक्कों में एक ओर संगीतप्रेमी सम्राट् का चित्र है, जो एक पृष्ठयुक्त पर्यक पर बैठा हुआ जांघ मोड़े हुए वीणा बजा रहा है। चारों ओर 'महाराजाधिराज श्री समुद्र-गुप्त' लिखा है। सिक्के के दूसरी ओर आसन पर बैठी हुई एक देवी की मूर्ति है, और साथ में 'समुद्रगुप्तः' लिखा है। (६) ये सिक्के अश्वमेध यज्ञ के उपलक्ष में प्रचारित किये गये थे। इनमें एक ओर यूप से बंधे हुए यज्ञीय अश्व की मूर्ति है, और चारों ओर 'राजाधिराजः पृथिवीं विजित्वा दिवं जय-त्याहृतवाजिमेधः' लिखा है। सिक्के के दूसरी ओर चंवर लिये हुए राजमहिषी का चित्र है, और 'अश्वमेधपराक्रमः' लिखा है।

समुद्रगुप्त के सोने के सिक्के भार में ११८.१२२ ग्रेन हैं। उसके दो तांबे के भी सिक्के मिले हैं, जिनपर गरुड़ का चित्र और 'समुद्र' लिखा है।

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के सोने के सिक्के भार की दृष्टि से तीन प्रकार के हैं, १२१ ग्रेन, १२५ ग्रेन और १.३२ ग्रेन के। चित्रों की दृष्टि से ये पांच प्रकार के हैं––(१) इनकें एक तरफ धनुष-बाण लिये हुए चन्द्रगुप्त द्वितीय की खड़ी हुई मूर्ति है, और साथ में गरुड़ध्वज है। दूसरी ओर कमलासन पर बैठी हुई लक्ष्मी की मूर्ति है। (२) इन सिक्कों के एक ओर खड़े हुए रूप में राजा की मूर्ति है, जिसका एक हाथ तलवार की मूठ पर है, और पीछे एक वामन छत्र पकड़े हुए खड़ा है। दूसरी तरफ कमल पर खड़ी लक्ष्मी की मूर्ति है। (३) इन सिक्कों में एक तरफ सम्राट् पर्यक पर बैठा है, उसकें दायें हाथ में कमल है, और बायां हाथ पर्यक पर टेका हुआ है। सिक्के के दूसरी तरफ सिंहासन पर आसीन लक्ष्मी का चित्र है। (४) इनमें एक तरफ सम्राट को धनुष-बाण द्वारा सिंह को मारते हुए दिखाया गया है, और दूसरी

तरफ सिंह पर विराजमान लक्ष्मी का चित्र है । (५) इन सिक्कों में एक तरफ घोड़े पर चढ़े हुए सम्राट् का चित्र है, और दूसरी ओर आसन पर विराजमान देवी की मूर्ति है, जिसके हाथ में कमल है । इन सब सिक्कों पर 'महाराजाधिराज चन्द्रगुप्त', 'क्षितिमवजित्य सुचरितैः दिवं जयति विक्रमादित्यः', 'नरेन्द्रचन्द्राः प्रथितदिवं जयत्यजेयो भुवि सिंहविक्रमः', 'नरेन्द्रसिंह चन्द्रगुप्तः पृथिवीं जित्वा दिवं जयति' आदि अनेक प्रकार की उक्तियां उल्लिखित हैं।

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के अनेक सिक्के चांदी के भी मिले हैं । इनमें सम्राट् के अर्धशरीर (बस्ट) की मूर्ति है, और दूसरी तरफ गरुड़ का चित्र है । इनपर 'परम भागवत महाराजाधिराज श्रीचन्द्रगुप्तस्य विक्रमादित्यः' अथवा 'श्रीगुप्तकुलस्य महाराजाधिराज श्रीचन्द्रगुप्त विक्रमांकस्य' लिखा है । इस सम्राट् के तांबे के बने हुए भी कुछ सिक्के मिले है, जिनपर गरुड़ का चित्र है ।

गुप्त-सम्राटों में सबसे अधिक सिक्के कुमारगुप्त प्रथम के मिले हैं। ये सिक्के भार में १२४ और १२६ ग्रेन है। चित्रों की दृष्टि से ये नौ प्रकार के है––(१) इनके एक तरफ धनुष-बाण लिये सम्राट् का चित्र है, और दूसरी ओर कमलासन पर बैठी देवी की मूर्ति है । (२) इनके एक तरफ तलवार की मूठ पर हाथ टेके हुए सम्राट् की मूर्ति है और साथ में गरुड़ध्वज भी है। दूसरी ओर कमल पर विराजमान लक्ष्मी का चित्र है। (३) इनमें एक तरफ यज्ञीय अश्व है, दूसरी ओर वस्त्रों और आभूषणों से सुसज्जित राजमहिषी की मूर्ति है। (४) इनमें एक तरफ घोड़े पर सवार सम्राट् का चित्र है, और दूसरी ओर हाथ में कमल का फूल लिये एक देवी बैठी है । (५) इनमें एक तरफ सिंह को मारते हुए सम्राट् का चित्र है, और दूसरी ओर सिंह पर विराजमान अंबिका की मूर्ति है। (६) इनमें एक तरफ धनुष-बाण से व्याघ्र को मारते हुए सम्राट् का चित्र है, और दूसरी तरफ मोर को फल खिलाती हुई देवी की खड़ी मूर्ति है। (७) इनमें एक ओर मोर को फल खिलाते हुए सम्राट् खड़ा है, और दूसरी ओर मयूर पर विराजमान कार्तिकेय की मूर्ति है। (८) इनमें एक ओर बीच में एक पुरुष खड़ा है, जिसके दोनों तरफ दो स्त्रियां हैं। सिक्के के दूसरी तरफ एक देवी बैठी हुई है । (९) इनमें एक ओर हाथी पर सवार सम्राट् का चित्र है, और दूसरी तरफ हाथ में कमल लिये हुए लक्ष्मी की खड़ी मूर्ति है।

इन सिक्कों पर 'क्षितिपतिरजितमहेंद्रः कुमारगुप्तो दिवं जयति', 'गुप्त-कुलव्योमशशि जयत्यजेयो जितमहेन्द्रः', 'कुमारगुप्तो विजयी सिंह महेंद्रो दिवं

जयति' आदि अनेक लेख उत्कीर्ण हैं। कुमारगुप्त के चांदी और तांबे के भी बहुत से सिक्के उपलब्ध हुए हैं।

स्कन्दगुप्त के सोने के सिक्के भार में १३२ और १४४ ग्रेन के मिले हैं। ये दो प्रकार के हैं--(१) इनमें एक ओर धनुष-बाण धारण किये सम्राट् का चित्र है, और दूसरी ओर पद्मासन पर विराजमान लक्ष्मी की मूर्ति है। (२) इनमें एक ओर सम्राट् और राजमहिषी के चित्र हैं, बीच में गरुड़ध्वज है, और दूसरी ओर कमल हाथ में लिये हुए देवी की मूर्ति है। इन सिक्कों पर भी अनेक लेख उत्कीर्ण हैं। स्कन्दगुप्त के भी चांदी और तांबे के अनेक सिक्के उपलब्ध हुए हैं।

स्कन्दगुप्त के उत्तराधिकारियों में पुरुगुप्त, नरसिंहगुप्त, कुमारगुप्त द्वितीय, बुधगुप्त, वैण्यगुप्त आदि प्रायः सभी गुप्त-सम्राटों के सिक्के मिलते हैं। इन सबमें प्रायः 'विजतावनिरवनिपतिः कुमारगुप्तो दिवं जयति' के सदृश लेख उत्कीर्ण मिलते हैं। सम्राट् का नाम बदलता जाता है, पर लेख प्रायः इसी के सदृश रहता है।

(६) गुप्त-साम्राज्य के प्रधान नगर

पाटलिपुत्र—गुप्त-साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र थी। इसके विषय में चीनी यात्री फाइयान ने लिखा है—"मध्यदेश में यह नगर सबसे बड़ा है। इसके निवासी सम्पन्न और समृद्धिशाली हैं। दान और सत्य में स्पर्धालु हैं। प्रतिवर्ष रथयात्रा होती है। दूसरे मास की आठवीं तिथि को यात्रा निकलती है। चार पहिये के रथ बनते हैं। यह यूप पर ठाटी जाती हैं, जिसमें धुरी और हर्से लगे रहते हैं। यह २० हाथ ऊंचा और सूप के आकार का बनता है। ऊपर से सफेद चमकीला ऊनी कपड़ा मढ़ा जाता है। भांति-भांति की रंगाई होती है। देवताओं की मूर्तियां सोने-चांदी और स्फटिक की भव्य बनती हैं। रेशम की ध्वजा और चांदनी लगती है। चारों कोने कलगियां लगती हैं। बीच में बुद्धदेव की मूर्ति होती है, और पास में बोधिसत्व खड़ा किया जाता है। बीस रथ होते हैं, एक से एक सुंदर और भड़कीले, सबके रंग न्यारे। नियत दिन आसपास के यती और गृही इकट्ठे होते हैं। गाने-बजानेवाले साथ लेते हैं। फूल और गंध से पूजा करते हैं। फिर ब्राह्मण आते हैं, और बुद्धदेव को नगर में पधारने के लिये निमंत्रण करते हैं। पारी-पारी नगर में प्रवेश करते हैं। इसमें दो रात बीत जाती है। सारी रात दिया

जलता है। गाना-बजाना होता है। पूजा होती है। जनपद-जनपद में ऐसा ही होता है। जनपद के वैश्यों के मुखिया लोग नगर में सदावर्त और औषधालय स्थापित करते हैं। देश के निर्धन, अपंग, अनाथ, विधवा, निःसंतान, लूले, लंगड़े और रोगी लोग इस स्थान पर आते हैं, उन्हें सब प्रकार की सहायता मिलती है; वैद्य रोगों की चिकित्सा करते हैं। वे अनुकूल औषध और पथ्य पाते हैं। अच्छे होते हैं, तब जाते हैं।"

फाइयान को बौद्ध-धर्म के अनुष्ठानों व तीर्थस्थानों को देखने के अतिरिक्त अन्य किसी काम के लिये अवकाश नहीं था। पाटलिपुत्र आकर उसने अशोक के पुराने राजप्रासाद, स्तूपों और विहारों को ही देखा। पर उसके विवरण से इसमें कोई संदेह नहीं रह जाता, कि गुप्त-सम्राटों के शासनकाल में पाटलिपुत्र बहुत समृद्ध नगर था और उसके निवासी भी सम्पन्न और समृद्धिशाली थे। वे रथयात्राओं में बड़े शौक से शामिल होते थे और खूब दिल खोलकर दान-पुण्य करते थे।

वैशाली—पाटलिपुत्र के समीप ही वैशाली गुप्तकाल का एक अत्यन्त समृद्धिशाली नगर था। गुप्त-वंश के उत्कर्ष का प्रधान हेतु लिच्छवि लोगों की सहायता ही थी। लिच्छवियों का प्रधान केन्द्र वैशाली में था। इस नगर में बहुत-सी मोहरों के सांचे मिले हैं, जिन्हें वैशाली के 'श्रेष्ठीसार्थवाहकुलिकनिगम' की ओर से काम में लाया जाता था। ऐसा प्रतीत होता है, कि इस विशाल नगरी के श्रेष्ठी (साहूकार), सार्थवाह (व्यापारी) और कुलिक (शिल्पी) लोगों का एक बड़ा (निगम) संघ था, जो अपनी मोहर से मुद्रित कर विविध व्यापारिक आदेश जारी करता था। इसी तरह की मोहरें इस काल के अन्य बहुत से नगरों में भी मिली हैं जिनसे सूचित होता है, कि वैशाली के इस 'श्रेष्ठीसार्थवाहकुलिकनिगम' की शाखायें भारत के अन्य विविध नगरों में भी व्याप्त थीं। गुप्तकाल में वैशाली बहुत वैभवपूर्ण नगरी थी, और वहां शासन करने के लिये प्रायः राजकुल के कुमारामात्य नियत होते थे।

उज्जैनी—गुप्त-काल में उज्जैनी भी बहुत समृद्ध दशा में थी। गुप्त-सम्राट् प्रायः वहां ही निवास करते थे। विशेषतया शकों को परास्त करने के बाद जब साम्राज्य पश्चिम में गुजरात काठियावाड़ तक विस्तृत हो गया था, तब उज्जैनी ने साम्राज्य की द्वितीय राजधानी का पद प्राप्त कर लिया था। ज्योतिष के अनुशीलन का यह बड़ा महत्त्वपूर्ण केन्द्र था। प्रसिद्ध ज्योतिषी वराहमिहिर ने यहीं अपनी वेधशाला बनाई थी, और देश तथा काल की

गणना इसी को आधार बनाकर की थी। गुप्तों के बाद भी भारतीय ज्योतिषी उज्जैनी को ही आधार बनाकर देश और काल की गणना करते रहे, और यहां की वेधशाला भारत भर में प्रसिद्ध रही ।

दशपुर—गुप्त-काल में मालवा का दशपुर भी एक अत्यन्त समृद्ध नगर था। सम्राट् कुमारगुप्त के समय के मन्दसौर में प्राप्त एक शिलालेख में इस नगर के सौंदर्य और वैभव का बड़ा उत्तम वर्णन किया गया है । इसके गगन-चुम्बी सुन्दर प्रासादों की माला, रमणीक वाटिकाओं की छटा, मदमत्त हाथियों की क्रीड़ा, पिंजरबद्ध हंसों के विलास और रमणियों के संगीत के वर्णन को पढ़कर ऐसा प्रतीत होता है, कि दशपुर एक बहुत ही समृद्ध नगर था। कुमारगुप्त के इस शिलालेख के रचयिता कवि वत्सभट्टि ने दशपुर का वर्णन करते हुए लिखा है—इस नगरी में कैलाश के शिखर के समान ऊंचे मकानों की पंक्तियां ऐसे शोभित होती थीं, मानो गगन को छूते हुए विमानों की मालायें हों। नगर में बहुत से उद्यान, पार्क और तालाब थे, जिनमें विविध प्रकार के पक्षी हर समय कलरव करते रहते थे ।

इनके अतिरिक्त, कौशाम्बी, मथुरा, वाराणसी, चम्पा, ताम्रलिप्ति, कान्य-कुब्ज आदि अन्य बहुत सी नगरियां भी इस काल में सम्पन्न अवस्था में विद्यमान थीं। फाइयान ने इन सबकी यात्रा की थी। इनके विहारों, स्तूपों, भिक्षुओं आदि के संबंध में तो फाइयान ने बहुत कुछ लिखा है, पर खेद यही है, कि इनके वैभव, समृद्धि, आर्थिक दशा व सामाजिक जीवन के विषय में इस चीनी यात्री ने कुछ भी विवरण नहीं दिया।

(७) चीनी यात्री फाइयान

फाइयान का उल्लेख पहले भी हो चुका है। वह चीन के अन्यतम प्रदेश शेन-से की राजधानी चांग-गान का रहनेवाला था। उसके समय तक चीन में बौद्ध-धर्म का प्रचार हो चुका था, और बहुत से लोग भिक्खु-जीवन को भी स्वीकार कर चुके थे। फाइयान बचपन में प्रव्रज्या ग्रहण करके बौद्ध-धर्म के अध्ययन में ही अपना संपूर्ण समय व्यतीत कर रहा था। उसने विचार किया, कि चीन में जो विनय पिटक हैं, वे अपूर्ण हैं। प्रामाणिक धर्म-ग्रंथों की खोज में उसने भारत यात्रा का संकल्प किया। चीन से चलकर भारत पहुंचने और यहां से अपने देश को वापस लौटने तक उसे कुल १५ वर्ष लगे। चौथी सदी के अन्त में वह चीन से चला था, और सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के शासनकाल में पांचवीं

सदी के शुरू में उसने भारत के विविध प्रदेशों का भ्रमण किया था। उसके यात्रा-विवरण में से हम यहां कुछ ऐसे प्रसंग उद्धृत करते हैं, जो इस युग के भारत के जीवन पर प्रकाश डालते हैं।

"इस देश (शेन-शेन, पूर्वी तुर्किस्तान में) के राजा का धर्म हमारा ही है। यहां लगभग चार हजार से अधिक श्रमण रहते हैं। सबके सब हीनयान सम्प्रदाय के अनुयायी हैं। इधर के देश के सब लोग क्या गृहस्थ और क्या भिक्खु, सब भारतीय आचार और नियम का पालन करते हैं। यहां से पश्चिम में जिन-जिन देशों में गये, सभी में ऐसा ही पाया। सब गृहत्यागी विरक्त भारतीय ग्रंथों और भारतीय भाषा का अध्ययन करते हैं।

"खोतान जनपद सुखप्रद और ,संपन्न है। अधिवासी धार्मिक हैं।

"कुफेन (काबुल) में एक सहस्र से अधिक भिक्षु हैं। सब महायान के अनुयायी हैं।

"किचा के श्रमणों का आचार आश्चर्यजनक है, इतना विधिनिषेधात्मक कि वर्णनातीत है।

"गांधार देश के निवासी सब हीनयान के अनुयायी हैं। तक्षशिक्षा में राजा मंत्री और जनसाधारण सब उनकी (स्तूपों की) पूजा करते हैं। इन दोनों स्तूपों पर पुष्प और दीप चढ़ानेवालों का तांता कभी नहीं टूटता।

"यहां (पुष्पपुर या पेशावर में) सात सौ से अधिक श्रमण होंगे। जब मध्याह्न होता है, श्रमण भिक्षापात्र लेकर निकलते हैं।

"(पेशावर से) दक्षिण दिशा में १६ योजन चलकर जनपद की सीमा पर हेलो (हिड्डा) नगर में पहुंचे, यहां विहार पर सोने के पत्र चढ़े हैं, और सप्तरत्न जड़े हैं।

"(मथुरा को जाते हुए) मार्ग में लगातार बहुत विहार मिले, जिनमें लाखों श्रमण मिले। सब स्थानों में होते हुए एक जनपद में पहुंचे, जिसका नाम मथुरा था। नदी के दायें-बायें किनारे बीस विहार थे, जिनमें तीस हजार से अधिक भिक्षु थे। अब तक बौद्ध-धर्म का अच्छा प्रचार है। मरुभूमि से पश्चिम भारत के सभी जनपदों के अधिपति बौद्ध-धर्म के अनुयायी मिले। भिक्षुसंघ को भिक्षा कराते समय वे अपने मुकुट उतार डालते हैं। अपने बन्धुओं और अमात्यों सहित अपने हाथों से भोजन परोसते हैं। परोस कर प्रधान महासंघ (स्थविर) के आगे आसन बिछवाकर बैठ जाते हैं। संघ के सामने खाट

पर बैठने का साहस नहीं करते। तथागत के समय में जो प्रथा राजाओं में भिक्षा कराने की थी, वही अब तक चली आती है।

"यहां से दक्षिण मध्यदेश कहलाता है। यहां शीत और उष्ण सम है। प्रजा प्रभूत और सुखी है। व्यवहार की लिखा-पढ़ी और पंचायत कुछ नहीं है। लोग राजा की भूमि जोतते हैं, और उपज का अंश देते हैं। जहां चाहें जायं, जहां चाहें रहें। राजा न प्राणदंड देता है, और न शारीरिक दंड देता है। अपराधी को अवस्थानुसार उत्तम साहस व मध्यम साहस का अर्थदण्ड दिया जाता है। बार-बार दस्युकर्म करने पर दक्षिण करच्छेद किया जाता है। राजा के प्रतीहार और सहचर वेतनभोगी हैं। सारे देश में कोई अधिवासी न जीवहिंसा करता है, न मद्य पीता है, और न लहसुन-प्याज खाता है, सिवाय चाण्डाल के। दस्यु को चाण्डाल कहते हैं। वे नगर के बाहर रहते हैं, और नगर में जब पैठते हैं, तो सूचना के लिये लकड़ी बजाते चलते हैं, कि लोग जान जायं और बचाकर चलें, कहीं उनसे छू न जायं। जनपद में सूअर और मुर्गी नहीं पालते, न जीवित पशु बेचते हैं, न कहीं सूनागार और मद्य की दूकानें हैं। क्रय-विक्रय में कौड़ियों का व्यवहार है। केवल चाण्डाल मछली मारते, मृगया करते और मांस बेचते हैं।

"श्रमणों का कृत्य शुभ कर्मों से धनोपार्जन करना, सूत्र का पाठ करना और ध्यान लगाना है। आगंतुक (अतिथि) भिक्षु आते हैं, तो रहनेवाले (स्थायी) भिक्षु उन्हें आगे बढ़कर लेते हैं। उनके भिक्षापात्र और वस्त्र स्वयं ले आते हैं। उन्हें पैर धोने को जल और सिर में लगाने को तेल देते हैं। विश्राम ले लेने पर उनसे पूछते हैं, कि कितने दिनों से प्रव्रज्या ग्रहण की है। फिर उन्हें उनकी योग्यता के अनुसार आवास देते हैं और यथानियम उनसे व्यवहार करते हैं।

"जब भिक्षु वार्षिकी अग्रहार पा जाते हैं, तब सेठ और ब्राह्मण लोग वस्त्र और अन्य उपहार बांटते हैं। भिक्षु उन्हें लेकर यथाभाग विभक्त करते हैं। बुद्ध-देव के बोधिप्राप्ति-काल से ही यह रीति, आचार-व्यवहार और नियम अविच्छिन्न लगातार चले आते हैं। हियंतु (सिन्धु नदी) उतरने के स्थान से दक्षिण भारत तक और दक्षिण समुद्र तक चालीस-पचास हजार तक चौरस (भूमि) है। इसमें कहीं पर्वत झरने नहीं हैं, नदी का ही जल है।

"(कान्यकुब्ज=कन्नौज) नगर गंगा के किनारे है। दो संघाराम हैं, सब हीन-यान के अनुयायियों के हैं। नगर से पश्चिम सात ली पर गंगा के किनारे बुद्ध ने अपने शिष्यों को उपदेश दिया था।

"दक्षिण दिशा में चले। आठ योजन चलकर कोशल जनपद के नगर श्रावस्ती में पहुंचे। नगर में बहुत कम अधिवासी हैं, और जो हैं, तितर-बितर हैं। सब मिलाकर दो सौ से कुछ ही अधिक घर होंगे।

"मध्यदेश में ९६ पाषंडों (संप्रदायों) का प्रचार है। सब लोकपरलोक को मानते हैं। उनके साधुसंघ हैं। वे भिक्षा करते हैं, केवल भिक्षापात्र नहीं रखते। सब नाना रूप से धर्मानुष्ठान करते हैं। मार्गों पर धर्मशालायें स्थापित की हैं। वहां आये-गये को आवास, खाट, बिस्तर, खाना-पीना मिलता है। यती भी वहां आते-जाते और निवास करते हैं।

"कपिलवस्तुनगर में न राजा है, न प्रजा। केवल खंडहर और उजाड़ है। कुछ श्रमण रहते हैं, और दस घर अधिवासी हैं। कपिलवस्तु जनपद जनशून्य है। अधिवासी बहुत कम हैं। मार्ग में श्वेत हस्ती और सिंह से बचने की आवश्यकता है, बिना सावधानी के जाने योग्य नही है।

"राजगृह नगर के भीतर सुनसान है, कोई मनुष्य नहीं।

"दक्षिण जनपद बड़े निराले हैं। मार्ग भयावह और दुस्तर हैं। कठिनाइयों को झेलकर जाने के इच्छुक सदा धन और उपहार वस्तु साथ ले जाते हैं, और जनपद के राजा को देते हैं। राजा प्रसन्न होकर रक्षक मनुष्य साथ भेजता है, जो एक बस्ती से दूसरी बस्ती तक पहुंचाते और सुगम मार्ग बताते हैं।

"ताम्रलिप्ति नगर एक बन्दरगाह है, इस जनपद में २४ संघाराम हैं। श्रमण संघ में रहते हैं। बौद्ध-धर्म का भी अच्छा प्रचार है।"

फाइयान के इन उद्धरणों में भी यद्यपि बौद्ध-धर्म की दशा का ही चित्रण अधिक है, पर उस समय के भारत का कुछ न कुछ निदर्शन इनसे अवश्य मिल जाता है। पाटलिपुत्र उस समय भारत का सबसे बड़ा नगर था, वहां के निवासी संपन्न और समृद्ध थे। फाइयान वहां तीन साल तक रहा। बौद्ध-धर्म के जिन ग्रंथों का वह अध्ययन करना चाहता था, वे सब उसे यहीं मिले। पर श्रावस्ती, कपिलवस्तु, राजगृह आदि अनेक पुराने नगर इस समय खंडहर हो चुके थे।

(८) रहन-सहन और आमोद-प्रमोद

गुप्तकालीन भारत में ऋतु के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार के वस्त्र पहने जाते थे। गुप्तवंश के सिक्कों पर सम्राटों के जो चित्र हैं, उनमें दो प्रकार की पोशाकें हैं। कुछ सिक्कों पर सम्राट् लम्बा कोट, पायजामा और सिर पर मुकुट के ढंग की टोपी पहने हुए हैं। संभवतः यह पोशाक शीत ऋतु की थी। दूसरे

सिक्कों में धोती और उत्तरीय धारण किये हुए सम्राटों के चित्र हैं। संभवतः गरमी के मौसम में कोट और पायजामे की जगह धोती और उत्तरीय धारण किया जाता था। कुछ विद्वानों का खयाल है, कि कोट और पायजामे की पोशाक पश्चिम से भारत में आई थी। शक, यवन और कुशाण लोग जो पश्चिम की ओर से भारत में आये थे, वे यह पोशाक पहनते थे। उन्हीं के अनुकरण में भारत के बड़े लोग ये वस्त्र पहनने लगे, और गुप्तों के सिक्कों पर इस पोशाक की सत्ता पश्चिमी प्रभाव की सूचक है। पर यह बात ठीक प्रतीत नहीं होती। गुप्तों के सिक्कों पर सम्राटों की जो दो प्रकार की पोशाक हैं, उसका कारण शीत और ग्रीष्म ऋतु ही हैं। भारत के बड़े और सर्वसाधारण लोग बहुत पुराने समय से ऋतुभेद के अनुसार विविध प्रकार के वस्त्र पहनते आये हैं।

राजा लोग सिर पर मुकुट धारण करते थे, और सर्वसाधारण लोग उष्णीष (पगड़ी) पहनते थे। स्त्रियों की पोशाक साड़ी थी। पर लहंगे का भी रिवाज बहुत था। नृत्य के अवसरों पर तो मुख्यतया लहंगा ही पहना जाता था। गुप्त-काल की स्त्रियों के अनेक चित्र गुफाओं में उत्कीर्ण व चित्रित किये हुए मिले हैं। इनमें उनकी पोशाक साड़ी और चोली ही है। गुप्तकाल के स्त्री-पुरुष अपने शृंगार पर बड़ा ध्यान देते थे। केशों को तरह-तरह से सजाने, मुख पर पराग और लाली लगाने तथा विविध प्रकार के आभूषण पहनकर अपनी सुन्दरता को बढ़ाने की तरफ उस समय के लोगों का बहुत ध्यान रहता था। गुप्तकाल के जो भी चित्र या मूर्तियां उपलब्ध हुई हैं, सबमें स्त्री और पुरुष दोनों के विविध अंगों में आभूषणों की प्रचुरता है। इस युग के साहित्य में भी आभूषणों से शरीर को अलंकृत करने का बहुत वर्णन आता है। सूती कपड़े तो उस समय पहने ही जाते थे, पर रेशमी और ऊनी वस्त्रों का भी रिवाज बहुत अधिक था। फाइयान ने कई जगह रेशमी और ऊनी कपड़ों का उल्लेख किया है। इस युग के साहित्य में भी तरह-तरह के रेशम का वर्णन आता है। भारत में यह युग समृद्धि और वैभव का था। अतः यदि इस काल के भारतीय भांति-भांति के सुन्दर वस्त्र पहनते, अपने शरीर का शृंगार करते और अपने को विविध आभूषणों से अलंकृत करने पर विशेष ध्यान देते थे, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है। महाकवि कालिदास ने अपने काव्य इसी युग में लिखे थे। उनमें शृंगारप्रिय स्त्रियों के विलास का जो वर्णन स्थान-स्थान पर उपलब्ध होता है, उससे इस काल के रहन-सहन पर बड़ा अच्छा प्रकाश पड़ता है। कालिदास ने लिखा है, कि स्त्रियां सुगंधित द्रव्य जलाकर उनकी उष्णता से अपने गीले केशों को सुखाती

तथा सुगंधित करती थीं। बाल सूख जाने पर उनकी विविध प्रकार से वेणी बनाई जाती थी, और फिर उन्हें मंदार आदि के फूलों से गूथा जाता था। अजंता की गुफाओं में स्त्रियों के जो विविध चित्र चित्रित है, उनमें केशों के शृंगार को देखकर आश्चर्य होता है। यह कला गुप्तकाल में उन्नति की चरम सीमा तक पहुंच गई थी।

गुप्तकाल के भारतीय आमोद-प्रमोद को भी बड़ा महत्व देते थे। वात्स्यायन का कामसूत्र गुप्तवंश के प्रारंभ से कुछ ही समय पूर्व बना था। उसके अनुशीलन से ज्ञात होता है, कि प्राचीन भारत में पांच प्रकार से आमोद-प्रमोद मनाया जाता था। लोग धार्मिक उत्सवों में बड़ा आनन्द लेते थे। समय-समय पर रथयात्रायें हुआ करती थीं। फाइयान ने बहुत से नगरों में इस प्रकार की रथयात्रायें अपनी आंखों से देखी थीं, जिनमें हजारों नर-नारी सम्मिलित होते थे। इन अवसरों पर दीपक जलाये जाते थे, घंटियां बजती थीं और लोग खुशी मनाते थे। गोष्ठियों का भी उस समय बहुत रिवाज था। एक स्थिति के लोग अपनी-अपनी गोष्ठियों में एकत्र होकर नाचने-गाने आदि का आनन्द उठाते थे, और तरह-तरह से आमोद-प्रमोद करते थे। इकट्ठे होकर पान (शराब सेवन) का भी इस समय रिवाज था। फाइयान जिन लोगों में रहा, वे चाहे शराब न पीते हों, पर सर्वसाधारण लोगों में 'पान' का काफी प्रचार था। बगीचों में सैर करना और तरह-तरह के खेल खेलना आमोद-प्रमोद के अन्य साधन थे। शिकार का भी उस समय काफी प्रचार था। गुप्त-सम्राटों के सिक्कों में उन्हें शेर और बाघ का शिकार करते हुए दिखाया गया है। मौर्यकाल के समान गुप्तयुग में भी गणिकाओं को समाज में स्थान प्राप्त था। वे वादन, गायन तथा नृत्य में निपुणता प्राप्त कर जनता का मनोरंजन करती थीं।

(९) निर्वाह-व्यय

गुप्तकाल में वस्तुओं का मूल्य बहुत कम था। चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के समय के एक शिलालेख में यह उल्लेख है कि "चातुर्दिश आर्य (भिक्षु) संघ को बारह दीनारें (सुवर्णमुद्रा) अक्षयनीवि (स्थिर धरोहर) के रूप में इसलिये दी जाती हैं, कि उसके सूद से संघ में प्रविष्ट होने वाले एक भिक्षु को सदा के लिये प्रतिदिन भोजन मिलता रहे।" उस काल में सूद की दर १२ से २४ फी सदी वार्षिक तक होती थी। अक्षयनीवि की दशा में सूद की दर १२ फी सदी वार्षिक समझी जा सकती है। इस हिसाब से १२ दीनारों का

वार्षिक सूद १½ दीनार के लगभग होगा। अभिप्राय यह हुआ, कि गुप्तकाल में १½ दीनार एक भिक्षु के साल भर के भोजन-व्यय के लिये पर्याप्त थी। १½ दीनार में १ तोले के लगभग सोना होता था। सोने का मूल्य आजकल ११०) रुपया प्रति तोला है। पर साधारण दशा में ३० रुपया प्रति तोला रहता है। इस प्रकार एक व्यक्ति के भोजन का निर्वाह ढाई रुपये मासिक में उस समय बहुत अच्छी तरह हो जाता था।

गुप्तकाल के एक अन्य लेख के अनुसार अम्रकार्दव नाम के अमात्य ने एक ग्राम-पंचायत के पास २५ दीनार इस उद्देश्य से जमा कराये थे, कि उनके सूद से "यावच्चन्द्रदिवाकरौ" सदा के लिये पांच भिक्षुओं का भोजन-व्यय दिया जाय। संभवतः ग्राम-पंचायत (पंचमंडली) अधिक ऊंची दर से सूद देती थी। यदि २४ फी सदी की दर से अमात्य अम्रकार्दव का यह धन ग्राम-पंचायत ने लिया हो, तो २५ दीनारों का सूद ६ दीनार के लगभग प्रतिवर्ष होगा। इस रकम से पांच भिक्षुओं के भोजन का खर्च भलीभांति चल सकता था। अकबर के समय में भी भारत में अन्न के मूल्य बहुत कम थे। उसके शासन-काल में भी दो-तीन रुपये मासिक में एक व्यक्ति अपना भोजन व्यय भलीभांति चला सकता था। गुप्तकाल में भी भोज्य पादार्थों के भाव इतने सस्ते थे, कि सवा या डेढ़ दीनार वार्षिक में निर्वाह अच्छी तरह चल जाता था। भावों के इतने सस्ते होने के कारण ही इस काल के विनिमय में कौड़ियों का भी व्यवहार होता था। सोने के सिक्के तो बहुत ही मूल्यवान् थे। पर चांदी और तांबे के छोटे सिक्कों का भी बहुत चलन था, और छोटी-छोटी चीजों के विनिमय के लिये कौड़ियां प्रयुक्त की जाती थीं।

(१०) आर्थिक जीवन

व्यवसायी और व्यापारी गुप्तकाल में भी श्रेणि और निगमों में संगठित थे। गुप्तकाल के शिलालेखों और मोहरों से सूचित होता है, कि उस समय में न केवल श्रेष्ठियों और सार्थवाहों के निगम थे, अपितु जुलाहे, तेली आदि विविध व्यवसायी भी अपनी-अपनी श्रेणियों में संगठित थे। जनता का इनपर पूर्ण विश्वास था। यही कारण है, कि इनके पास रुपया विविध प्रयोजनों से धरोहर (अक्षयनीवि रूप में या सामयिक रूप में) रखा दिया जाता था, और ये उसपर सूद दिया करते थे। इन निगमों व श्रेणियों का एक मुखिया व उसको परामर्श देने के लिये चार या पांच व्यक्तियों की एक समिति रहती थी। व्यवसायियों और

व्यापारियों के इन संगठनों पर हम पहले प्रकाश डाल चुके हैं। यहां इतना लिखना ही पर्याप्त है, कि ये श्रेणियां और निगम गुप्तकाल में भी विद्यमान थे, और देश का आर्थिक जीवन इन्हीं में केन्द्रित था। कुमारगुप्त प्रथम के समय के एक शिलालेख में पटकारों (जुलाहों) की एक श्रेणि का उल्लेख है, जो लाट (गुजरात) देश से आकर दशपुर में बस गई थी। इसी तरह स्कन्दगुप्त के एक शिलालेख में 'इन्द्रपुरनिवासिनी तैलिक श्रेणि' का उल्लेख है। इसी प्रकार मृत्तिकार (कुम्हार), शिल्पकार, वणिक् आदि की भी श्रेणियों का उल्लेख इस युग के लेखों में है। अकेले वैशाली से २७४ मिट्टी की मोहरें मिलीं हैं, जो विविध लेखों को मुद्रित करने के काम में आती थीं। ये मोहरें 'श्रेष्ठीसार्थ-वाहकुलिकनिगम' की हैं। उस काल मे वैशाली में साहुकार, व्यापारी और शिल्पियों की श्रेणियों का यह सम्मिलित शक्तिशाली निगम था। इसका कार्य भारत के बहुत से नगरों में फैला हुआ था। जो पत्र इस निगम के पास आते थे, उन्हें बन्द करके ऊपर से ये मोहरें लगाई जाती थीं, ताकि पत्र सुरक्षित रहे। इसका अभिप्राय यह है, कि अन्य नगरों में विद्यमान इस वैभ-वशाली निगम की शाखाओं के पास भी ऐसी मोहरों के सांचे थे, जिन्हें वे वैशाली के प्रधान निगम को पत्र भेजते हुए मुद्रित करने के काम में लाते थे। निगम की मोहर (कामन सील) के अतिरिक्त इन पत्रों पर एक और मोहर भी लगाई जाती थी, जो संभवतः विविध नगरों में विद्यमान निगम शाखाओं के अध्यक्ष की निजी मोहर होती थी। वैशाली में प्राप्त 'श्रेष्ठी-सार्थवाह-कुलिक-निगम' की २७४ मोहरों में से ७५ के साथ ईशानदास की, ३८ के साथ मातृदास की और ३७ के साथ गोमिस्वामी की मोहरें है। संभवतः ये व्यक्ति पाटलिपुत्र, कौशाम्बी आदि समृद्ध नगरों की निगमशाखा के अध्यक्ष थे, और उन्हें वैशाली के निगम के पास बहुधा पत्र भेजने की आवश्यकता रहती थी। इनके अतिरिक्त घोष, हरिगुप्त, भवसेन आदि की भी पांच-पांच या छः-छः मोहरें निगम की मोहरों के साथ में मुद्रित हैं। ये अन्य निगम शाखाओं के अध्यक्ष थे। कुछ पत्रों पर निगम की मोहर के साथ 'जयत्यनंतो भगवान्', 'जितं भगवता', 'नमः पशुपतये' सदृश मोहरें भी हैं। संभवतः, ये उन पत्रों पर लगाई गई थीं, जो किसी मंदिर व धर्मस्थान से वैशाली के 'श्रेष्ठी-सार्थवाह-कुलिक-निगम' को भेजे गये थे। इन वैभवपूर्ण निगमों के पास धर्म-मंदिरों का रुपया अक्षयनीवि के रूप में जमा रहता था, और इसीलिये उन्हें इनके साथ पत्रव्यवहार की आवश्यकता रहती थी।

वैशाली के इस निगम के अतिरिक्त अन्यत्र भी इसी प्रकार के विविध निगम गुप्तकाल में विद्यमान थे। वर्तमान समय के बैंकों का कार्य इस काल में ये श्रेणियां और निगम ही करते थे। अपने झगड़ों का निर्णय भी वे स्वयं करते थे। उनका अपना न्यायालय होता था, जिसमें धर्म चरित्र और व्यवहार के अनुसार निर्णय किया जाता था। इनके मुखिया या प्रतिनिधि विषयपति की राजसभा के भी सभासद रहते थे। इस प्रकार स्पष्ट है, कि गुप्तकाल के आर्थिक जीवन में इन श्रेणियों व निगमों का बड़ा महत्त्व था।

श्रेणियां छोटी या बड़ी सब प्रकार की होती थीं। छोटी श्रेणियों में एक आचार्य (उस्ताद) अपने अंतेवासियों (शागिर्दों) के साथ व्यवसाय का संचालन करता था। कुम्हारों की श्रेणि को लीजिये। बहुत से ग्रामों व नगरों में यह श्रेणि होती थी। श्रेणि का मुखिया आचार्य कहलाता था। उसके साथ बहुत से शागिर्द (अंतेवासी) रहते थे, जो आचार्य के घर में पुत्रों की तरह निवास करते थे। नारदस्मृति ने इस विषय को बहुत अच्छी तरह स्पष्ट किया है। वहां लिखा है—जिस किसी को कोई शिल्प सीखना हो, वह अपने बांधवों की अनुमति लेकर आचार्य के पास जाय और उससे समय आदि का निश्चय कर उसी के पास रहे। यदि शिल्प को जल्दी भी सीख जाय, तो भी जितने काल का फैसला कर लिया हो, उतने काल तक अवश्य ही गुरु के घर में निवास करे। आचार्य अपने अन्तेवासी के साथ पुत्र की तरह व्यवहार करे, कोई दूसरा काम उससे न ले, उसे अपने पास से भोजन देवे और उसे भलीभांति शिल्प की शिक्षा दे। जब अन्तेंवासी शिल्प को सीख ले, और निश्चित किया हुआ समय समाप्त हो जाय, तब आचार्य को दक्षिणा देकर और अपनी शक्ति भर उसको दक्षिणा द्वारा मान देकर फिर अपने घर लौट आये।

नारदस्मृति के इस संदर्भ से एक छोटी श्रेणि (यथा कुंभकार श्रेणि) का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। आचार्य के घर में जो अंतेवासी रहते थे, वे एक निश्चित समय तक शागिर्दी करने के लिये प्रतिज्ञा करते थे। उस बीच में आचार्य उनसे शिल्प-संबंधी सब काम लेता था, बदले में केवल भोजन या निर्वाह-खर्च देता था। एक आचार्य के अधीन बहुत से अंतेवासी रहा करते थे। आचार्य को मजदूर रखने की आवश्यकता नहीं होती थी। बाद में समय समाप्त हो जाने पर ये अंतेवासी अपना स्वतंत्र व्यवसाय कर सकते थे। भारत

में ऐसी श्रेणियां मौर्यकाल व उससे भी पहले से चली आ रही थीं। पर गुप्त-युग में अनेक व्यवसायों में छोटी-छोटी श्रेणियों का स्थान बड़े पैमाने की सुसंगठित श्रेणियों ने ले लिया था। मंदसौर की प्रशस्ति में जिस पटकार श्रेणि के लाट देश से दशपुर आकर बस जाने का उल्लेख है, उसके संबंध में यह लिखा है कि उसके बहुत से सदस्य थे, जो भिन्न-भिन्न विद्याओं में निपुण थे। वस्त्र बुनने में तो सभी दक्ष थे, पर साथ ही उनमें से अनेक व्यक्ति गान, कथा, धर्मप्रसंग, ज्योतिष, शील, विनय और युद्धविद्या में भी प्रवीण थे। मन्दसौर के लेख में दशपुर की श्रेणि के सदस्यों के गुणों का जितने विस्तार से वर्णन किया गया है, उससे सूचित होता है कि यह श्रेणि बहुत शक्तिशाली, वैभवपूर्ण और सम्पन्न थी। उसमें अनेक कुलों और वंशों के व्यक्ति सम्मिलित थे। ये अपनी रक्षा के लिये शस्त्रधारण भी करते थे। इस प्रकार की बड़ी-बड़ी श्रेणियों और निगमों का विकास गुप्तकाल की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है। विविध श्रेणियों व निगमों के संघ भी इस समय तक बन गये थे, जो केवल एक नगर में ही नहीं, अपितु बहुत विस्तृत क्षेत्र में अपना कार्य करते थे। ये बड़ी-बड़ी श्रेणियां इतनी समृद्ध थीं, कि दशपुर की तंतुवाय श्रेणि ने स्वयं अपने कमाये हुए धन से एक विशाल सूर्य-मंदिर का निर्माण कराया था, और उसी की प्रतिष्ठा के उपलक्ष में मंदसौर की प्रशस्ति उत्कीर्ण कराई थी।

गुप्तकाल में व्यापार भी बहुत विकसित था। न केवल भारत के विविध प्रदेशों में अपितु पूर्व और पश्चिम दोनों ओर के समुद्र-पार के देशों के साथ इस युग में भारत का व्यापारिक संबंध विद्यमान था। पाटलिपुत्र से कौशांबी और उज्जैनी होते हुए एक सड़क भड़ौच को गई थी, जो इस युग में पश्चिमी भारत का बहुत समृद्ध नगर और बन्दरगाह था। यहां से मिस्र, रोम, ग्रीस, फारस और अरब के साथ व्यापार होता था। पूर्व में बंगाल की खाड़ी के तट पर ताम्रलिप्ति बहुत बड़ा बन्दरगाह था। यहां से भारतीय व्यापारी बरमा, जावा, सुमात्रा, चीन आदि सुदूर पूर्व के देशों में व्यापार के लिये आया-जाया करते थे। फाइयान ने यहीं से अपने देश के लिये प्रस्थान किया था। इस युग में हिन्दमहासागर के विविध द्वीपों और सुदूर पूर्व के अनेक प्रदेशों में बृहत्तर भारत का विकास हो चुका था। भारतीयों का अपने इन उपनिवेशों के साथ घनिष्ठ संबंध था। इन उपनिवेशों में आने-जाने के लिये ताम्रलिप्ति (वर्तमान तामलूक) का बन्दरगाह बहुत काम में आता था। इसके अतिरिक्त भारत

के पूर्वी-समुद्र तट पर कदूर, घंटशाली, कावेरी पट्टनम, तोंदई, कोरकई आदि अन्य भी अनेक बन्दरगाह थे।

मिस्र और रोमन साम्राज्य के साथ जो व्यापार गुप्तवंश के शासन से पहले प्रारम्भ हो चुका था, वह अब तक भी जारी था। रोम की शक्ति के क्षीण हो जाने के बाद पूर्व में कोंस्टैंटिनोपल (पुराना बाइजेंटियम) पूर्वी रोमन साम्राज्य का प्रधान केन्द्र हो गया था। कोंस्टैंटिनोपल के सम्राटों के शासनकाल में भी भारत के साथ पश्चिमी दुनिया का व्यापार-संबंध कायम रहा, और यवन जहाज भड़ौंच तथा पश्चिमी तट के अन्य बन्दरगाहों पर आते रहे। रोम की शक्ति के क्षीण होने के बाद भारत के पश्चिमी विदेशी व्यापार में अरब लोगों ने अधिक दिलचस्पी लेनी शुरू की, और भारत का माल अरब व्यापारियों द्वारा ही पश्चिमी दुनिया में जाने लगा। भारत से बाहर जानेवाले माल में मोती, मणि, सुगंधि, सूती वस्त्र, मसाले, नील, औषधि, हाथीदांत आदि प्रमुख थे। इनके बदले में चांदी, तांबा, टिन, रेशम, काफूर, घोड़े और खजूर आदि भारत में आते थे।

गुप्तकाल के आर्थिक जीवन पर प्रकाश डालते हुए यह भी लिखना आवश्यक है, कि दास-प्रथा इस समय भी भारत में विद्यमान थी। याज्ञवल्क्य और नारदस्मृतियों में दासों का उल्लेख है, और उनके संबंध में अनेक प्रकार के नियम दिये गये हैं। दास कई प्रकार के होते थे—युद्ध में जीते हुए, जिन्होंने अपने को स्वयं बेच दिया हो, दासों की सन्तान, खरीदे हुए और सजा के रूप में जिसे दास बनने का दंड मिला हो। दास लोग पृथक् कमाई करके रुपया बचा सकते थे, और उससे स्वयं अपने को खरीदकर स्वतंत्रता प्राप्त कर सकते थे। नारदस्मृति के अनुसार जब कोई दास स्वतंत्रता प्राप्त करता था, तो वह अपने कंधे पर घड़ा लेकर खड़ा होता था। उसका स्वामी इस घड़े को दास के कंधे से लेकर फोड़ देता था और फिर जल उसके सिर पर छिड़कता था। इस जल में फूल और चने पड़े रहते थे। इस प्रकार स्वतंत्र हुए दास का अभिषेचन करके उसका भूतपूर्व स्वामी तीन बार घोषणा करता था, कि अब वह स्वतंत्र व्यक्ति है।

गुप्तकालीन भारत की आर्थिक समृद्धि के सबसे उत्तम प्रमाण उस युग की मूर्तियां लौहस्तम्भ और इसी प्रकार के अन्य अवशेष हैं। इनपर हम अगले अध्याय में प्रकाश डालेंगे।

सहायक ग्रंथ

Beal : Travels of Fa-hien.

Banerjee : Age of the Imperial Guptas.

Brown : Indian Architecture.

Tripathi : History of Ancient India.

Mazumdar : New History of the Indian People Vol. VI·

उपाध्याय : गुप्त साम्राज्य का इतिहास ।

तेतीसवां अध्याय

गुप्तकाल की कृतियां और अवशेष

(१) मूर्तियां

शिलालेखों और सिक्कों के अतिरिक्त गुप्तकाल की बहुत सी मूर्तियां, मंदिर, स्तंभ व अन्य अवशेष इस समय उपलब्ध होते हैं। जहां इनसे गुप्त-साम्राज्य के वैभव का परिचय मिलता है, वहां उस युग की कला और शिल्प का भी अच्छा ज्ञान होता है। इनपर हम संक्षेप से प्रकाश डालेंगे। इस काल की मूर्तियां बौद्ध, शैव, वैष्णव व जैन--सब संप्रदायों की मिलती हैं। बौद्ध-धर्म की मुख्य मूर्तियां निम्नलिखित हैं--

(१) **सारनाथ की बुद्ध-मूर्ति**--इस मूर्ति में पद्मासन बांधकर बैठे हुए भगवान् बुद्ध सारनाथ में धर्मचक्र का प्रवर्तन करते हुए दिखाये गये हैं। बुद्ध के मुखमंडल पर अपूर्व शांति, प्रभा, कोमलता और गंभीरता है। अंग-प्रत्यंग में सौकुमार्य और सौंदर्य होते हुए भी ऐहलौकिकता का सर्वथा अभाव है। ऐसा प्रतीत होता है कि बुद्ध लोकोत्तर भावना को लिये हुए, अपने ज्ञान (बोध) को संसार को प्रदान करने के लिये ही ऐहलौकिक व्यवहार में तत्पर हैं। मूर्ति में दोनों कंधे महीन वस्त्र से ढके हुए प्रदर्शित किये गये हैं। ये वस्त्र पैरों तक हैं, और आसन के समीप पैरों से इनका भेद स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। सर के चारों ओर सुंदर अलंकृत प्रभामंडल है, जिसके दोनों ओर दो देवों की मूर्तियां बनी हैं। देव हाथ में पत्र-पुष्प लिये हुए हैं। आसन के मध्य भाग में एक चक्र बनाया गया है, जिसके दोनों ओर दो मृग हैं। गुप्तकालीन मूर्तिकला का यह मूर्ति अत्यंत सुंदर उदाहरण है।

ऐसी ही अनेक मूर्तियां कलकत्ता म्यूजियम में सुरक्षित हैं। इनमें सारनाथ की मूर्ति से बहुत समता है। ऐसा प्रतीत होता है, कि विविध भक्तों ने बुद्ध के प्रति अपनी श्रद्धा को प्रदर्शित करने के लिये इन विविध मूर्तियों की प्रतिष्ठा कराई थी।

(२) **मथुरा की खड़ी हुई बुद्ध-मूर्ति**—इसके मुखमंडल पर भी शांति करुणा और आध्यात्मिक भावना का अपूर्व सम्मिश्रण है। बुद्ध निष्कंप प्रदीप के समान खड़े हैं, और उनके मुख पर एक दैवीय स्मिति भी है। इस मूर्ति में बुद्ध ने जो वस्त्र पहने हैं, वे बहुत ही महीन हैं, उनमें से उनके शरीर का प्रत्येक अंग स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। सिर के चारों ओर अलंकृत प्रभामंडल है। यह मूर्ति इस समय मथुरा के म्यूजियम में सुरक्षित है। इसी के नमूने की खड़ी हुई अन्य बहुत सी बुद्धमूर्तियां भी उपलब्ध हुई है, जो विविध संग्रहालयों में सुरक्षित हैं। ये सब मथुरा की मूर्तिकला के अनुपम उदाहरण हैं।

(३) **ताम्र की बुद्ध-मूर्ति**—यह विहार प्रान्त के भागलपुर जिले में सुलतानगंज से प्राप्त हुई थी, और अब इंगलैंड में बरमिंघम के म्यूजियम में रखी है। तांबे की बनी हुई खड़े प्रकार की यह मूर्ति साढ़े सात फीट ऊंची है। इसमें बुद्ध का स्वरूप समुद्र की तरह गंभीर, महान्, पूर्ण और लोकोत्तर है। बुद्ध का दाहिना हाथ अभयमुद्रा में कुछ आगे बढ़ा हुआ है। मुखमंडल पर अपूर्व शान्ति करुणा और दिव्य तेज है। गुप्तकाल की मूर्तियों में ताम्र की यह प्रतिमा वस्तुतः बड़ी अद्भुत और अनुपम है। धातु को ढालकर इतनी सुंदर मूर्ति जो शिल्पी बना सकते थे, उनकी दक्षता, कला और प्रतिभा की सचमुच प्रशंसा करनी पड़ती है।

गुप्तकाल में मूर्तिनिर्माण कला के तीन बड़े केन्द्र थे—मथुरा, सारनाथ और पाटलिपुत्र। तीनों केंन्द्रों की कुछ अपनी अपनी विशेषतायें थीं। ऊपर लिखी तीनों मूर्तियां इन केन्द्रों की कला की प्रतिनिधि समझी जा सकती हैं। इन्हीं के नमूने की बहुत सी मूर्तियां भारत के विविध स्थानों पर पाई जाती हैं। खेद यह है, कि इनमें से अधिकांश भग्न दशा में हैं। किसी का दांयां हाथ टूटा है, तो किसी का बांयां। किसी का सिर टूट गया है, और किसी के कान, नाक आदि तोड़ दिये गये हैं। समय की गति और कुछ मूर्तिपूजा विरोधी संप्रदायों के कोप का ही यह परिणाम हुआ है। फिर भी गुप्तकाल की उपलब्ध मूर्तियां उस युग के शिल्पकारों की योग्यता और प्रतिभा को भलीभांति प्रदर्शित करती हैं।

प्रस्तर-फलक—भगवान् बुद्ध की संपूर्ण मूर्तियों के अतिरिक्त इस काल के बहुत से ऐसे प्रस्तर फलक भी मिलते हैं, जिनपर बुद्ध के जीवन की विविध घटनाओं को उत्कीर्ण करके प्रदर्शित किया गया है। ऐसे बहुत से प्रस्तरखंड सारनाथ में उपलब्ध हुए हैं, जिनपर लुम्बिनीवन में महात्मा बुद्ध का जन्म, बोधिवृक्ष के नीचे बुद्ध की ज्ञानप्राप्ति, सारनाथ में धर्मचक्र प्रवर्तन और कुशीनगर में बुद्ध का महापरिनिर्वाण आदि प्रस्तरखंड को तरास कर सुंदर रीति से चित्रित

किये गये हैं। इसी तरह बुद्ध की माता का स्वप्न, कुमार सिद्धार्थ का अभिनिष्क्रमण, बुद्ध का विश्वरूप-प्रदर्शन आदि बहुत-सी अन्य घटनाएं भी मूर्तियों द्वारा प्रदर्शित की गई हैं। पत्थर तरास कर उसे जीवित-जागृत रूप दे देने की कला में गुप्तकाल के शिल्पी बहुत ही प्रवीण थे ।

बुद्ध की मूर्तियों के अतिरिक्त अनेक बोधिसत्वों और बौद्ध देवी-देवताओं की मूर्तियां भी इस युग में बनाई गई। बौद्ध-धर्म में इस समय तक अनेक देवताओं व बोधिसत्वों की पूजा का प्रारंभ हो चुका था। उनके संबंध में बहुत-सी गाथायें बन गई थीं, और प्राचीन पौराणिक गाथाओं के समान लोग उनपर विश्वास करने लगे थे। यही कारण है, कि इन गाथाओं की अनेक घटनाओं को भी मूर्तियों द्वारा अंकित किया गया और बोधिसत्वों की बहुत-सी छोटी-बड़ी मूर्तियां बनाई गई। अवलोकितेश्वर, मैत्रेय, मञ्जुश्री आदि की अनेक और विविध प्रकार की मूर्तियां इस समय में बनीं। उनमें से अनेक आजकल उपलब्ध भी हैं।

पौराणिक मूर्तियां—सनातन पौराणिक धर्म के साथ संबंध रखनेवाली जो बहुत-सी मूर्तियां गुप्तकाल की बनी हुई अब उपलब्ध होती हैं, उनमें विशेष उल्लेखनीय निम्नलिखित हैं :—

(१) मध्यभारत में भेलसा के पास उदयगिरि में चंद्रगुप्त विक्रमादित्य द्वारा बनवाये हुए मंदिरों के बाहर पृथिवी का उद्धार करते हुए वराह अवतार की एक विशाल मूर्ति मिली है। पौराणिक कथा के अनुसार प्रलय के जल में मग्न होती हुई पृथ्वी का उद्धार करने के लिये भगवान् विष्णु ने वराह का रूप धारण किया था, और पृथ्वी को ऐसे उठा लिया था, मानों वह हल्का-सा फूल हो। इस मूर्ति में भगवान् के इसी वराह रूप को अंकित किया गया है। इस मूर्ति में वराह के बायें पैर के नीचे शेष की आकृति बनी हुई है, और पृथ्वी को वराह अपने दंष्ट्राओं पर उठाये हुए हैं। मूर्ति का शरीर मनुष्य का है, पर मुख वराह का है।

(२) गोवर्धनधारी कृष्ण—यह मूर्ति काशी के समीप एक टीले में मिली थी और अब सारनाथ के संग्रहालय में सुरक्षित है। इसमें कृष्ण ने गोवर्धन पर्वत को गेंद की तरह उठाया हुआ है।

(३) शेषशायी विष्णु—झांसी जिले में देवगढ़ नामक स्थान पर गुप्तकाल के एक विष्णु-मंदिर में विष्णु भगवान् की एक मूर्ति है, जो शेषनाग पर शयन करती हुई दिखाई गई है। इसमें एक ओर शेषशायी विष्णु हैं, जिनके नाभिकमल पर ब्रह्मा स्थित हैं, चरणों के पास लक्ष्मी बैठी हैं, ऊपर आकाश में कार्तिकेय, इन्द्र शिव, पार्वती आदि दर्शन कर रहे हैं। विष्णु के सिर पर मुकुट, कानों में कुण्डल, गले

में हार तथा हाथों में कंकण हैं। साथ ही अन्य अनेक देवी-देवताओं की मूर्तियां भी हैं, जिनका निर्माण पौराणिक गाथाओं के अनुसार किया गया है।

(४) कौशांबी की सूर्य-मूर्ति—प्राचीन भारत में सूर्य की भी मूर्ति बनाई जाती थी और उसके अनेक मंदिर विविध स्थानों पर विद्यमान थे। दशपुर में सूर्य का एक मंदिर तंतुवायों की श्रेणि ने गुप्तकाल में ही बनवाया था। कौशांबी में प्राप्त सूर्य की यह मूर्ति भी बड़ी भव्य और सुन्दर है।

(५) कार्तिकेय—यह मूर्ति काशी के कलाभवन में सुरक्षित है। यह मोर पर बैठी हुई बनाई गई है, और कार्तिकेय के दोनों पैर मोर के गले में पड़े हुए हैं, इसके भी सिर पर मुकुट, कानों में कुण्डल, गले में हार तथा अन्य बहुत-से आभूषण हैं। कार्तिकेय देवताओं की सेना का सेनापति था। अतः उसके हाव-भाव में गांभीर्य और पौरुष होना ही चाहिये। ये सब गुण इस मूर्ति में सुन्दरता के साथ प्रगट किये गये हैं। मोर की पूंछ पीछे की ओर उठी हुई है। कुमारगुप्त प्रथम के अनेक सिक्कों पर कार्तिकेय का जो चित्र है, यह मूर्ति उससे बहुत कुछ मिलती-जुलती है।

(६) भरतपुर राज्य में रूपवास नामक स्थान में चार विशालकाय मूर्तियां विद्यमान हैं, जिनमें से एक बलदेव की है। इसकी ऊंचाई सत्ताईस फीट से भी अधिक है। दूसरी मूर्ति लक्ष्मीनारायण की है। इसकी ऊंचाई नौ फीट से कुछ ऊपर है।

(७)गुप्तकाल में निर्मित शिव की भी अनेक मूर्तियां मिली हैं। सारनाथ के संग्रहालय में लोकेश्वर शिव का एक सिर है, जिसका जटाजूट भारतीय प्रभाव से प्रभावित चीन की मूर्तियों के सदृश है। इसके अतिरिक्त गुप्तकाल के अनेक शिवलिंग व एकमुखलिंग भी इस समय प्राप्त हुए हैं। एकमुखलिंग वे हैं, जिनमें लिंग के एक तरफ मनुष्य के सिर की आकृति बनी होती है। ऐसी एक एकमुख-लिंग प्रतिमा नागोद राज्य में मिली है, जिसके सिर पर रत्न-जटित मुकुट है, और जटाजूट के ऊपर अर्धचन्द्र विद्यमान है। ललाट पर शिव का तृतीय नेत्र भी प्रदर्शित किया गया है।

(८) बंगाल के राजशाही जिले से कृष्णलीला संबंधी भी अनेक मूर्तियां मिली हैं, जो गुप्तकाल की मानी जाती हैं।

जैन-मूर्तियां—बौद्ध तथा पौराणिक मूर्तियों के अतिरिक्त गुप्त-काल की जैन-मूर्तियां भी पाई गई हैं। मथुरा से वर्धमान महावीर की एक मूर्ति मिली है, जो

कुमारगुप्त के समय की है। इसमें महावीर पद्मासन लगाये ध्यानमग्न बैठे हैं। इसी तरह की मूर्तियां गोरखपुर जिले व अन्य स्थानों से भी प्राप्त हुई हैं।

मूर्तिनिर्माण कला की मौलिकता— भारत में मूर्तिनिर्माण की कला बहुत प्राचीन है। शैशुनाग और मौर्यवंशों के शासन-समय में इस कला ने विशेष रूप से उन्नति प्रारंभ की थी। यवन और शक लोगों के संपर्क से इस कला ने और अधिक उन्नति की। भारतीय अध्यात्मवाद और पाश्चात्य भौतिकवाद ने मिलकर एक नई शैली को जन्म दिया, जिसने इस देश की मूर्तियों में एक अपूर्व सौंदर्य ला दिया। गुप्तकाल की मूर्तियों में विदेशी प्रभाव का सर्वथा अभाव है। वे विशुद्ध भारतीय हैं। उनकी आकृति, मुद्रा और भावभंगी पूर्णतया भारतीय होते हुए भी उनमें अनुपम सौन्दर्य है। भौतिक सौन्दर्य की अपेक्षा भी उनमें आंतरिक शान्ति, ओज और आध्यात्मिक आनंद की जो झलक है, वह वर्णनानीत है। मूर्तिनिर्माण कला की दृष्टि से गुप्तकाल वस्तुतः अद्वितीय है। इस युग की बनी हुई मूर्तियों का भारतीय इतिहास में जो स्थान है, वह अन्य युग की मूर्तियों को प्राप्त नहीं है।

प्रस्तर मूर्तियों के अतिरिक्त गुप्त-काल में मिट्टी व मसाले की मूर्तियों का भी रिवाज था। इस युग की अनेक नक्काशीदार ईंटें पहले सांचे से ढाली जाती थीं, फिर उनपर औजार से तरह-तरह की चित्रकारी की जाती थी। फिर सुखाकर उन्हें पका लिया जाता था। गुप्तकाल की ये नक्काशीदार ईंटें बहुत ही सुन्दर हैं और उनपर अनेक प्रकार के चित्र अंकित हैं। ईंटों की तरह ही नक्काशीदार खंभे तथा अन्य इमारती साज भी तैयार किये जाते थे।

गुप्तकाल की मिट्टी की जो मूर्तियां मिली हैं, वे भी बौद्ध और पौराणिक देवी-देवताओं की हैं। इनका सौन्दर्य पत्थर की मूर्तियों से किसी भी प्रकार कम नहीं है। पकी हुई ईंटों का चूरा तथा चूना भी मूर्तियों को बनाने के लिये प्रयुक्त होता था। इस प्रकार की बहुत सी मूर्तियां सारनाथ, कौशांबी, मथुरा, राजघाट, अहिच्छत्र, श्रावस्ती आदि प्राचीन स्थानों से उपलब्ध हुई हैं। मूर्तियों के अतिरिक्त इन स्थानों से मिट्टी पकाकर बनाये हुए खिलौने व मिट्टी के बैल, हाथी, घोड़े व अन्य छोटे-छोटे प्राणी भी बड़ी संख्या में प्राप्त हुए हैं। गुप्तकाल में यह कला बहुत उन्नत दशा में थी। यही कारण है, कि इस काल के खंडहरों में इस प्रकार की प्रतिमायें बहुतायत से मिलती हैं। मिट्टी की बनी इन छोटी-बड़ी मूर्तियों द्वारा सर्वसाधारण जन-समाज कला और सौन्दर्य का रसास्वादन कर सकता था। देवी-देवताओं के अतिरिक्त सब प्रकार के स्त्री-पुरुषों की छोटो-छोटी मूर्तियां

इस काल में बहुत बनती थीं। शक, यवन, हूण आदि जो विदेशी इस काल के भारतीय समाज में प्रचुर संख्या में दिखाई देते थे, कलाकारों का ध्यान उनकी तरफ आकृष्ट होता था। यही कारण है, कि इस युग की मिट्टी की छोटी-छोटी मूर्तियों में इन विदेशियों की संख्या बहुत है।

(२) प्रस्तर-स्तंभ

अशोक के समान गुप्त-सम्राटों ने भी बहुत से प्रस्तर-स्तंभ बनवाये थे। ये किसी महत्त्वपूर्ण विजय की स्मृति में या किसी सम्राट् की कीर्ति को स्थिर करने के लिये या विविध प्रदेशों की सीमा निश्चित करने के लिये और धार्मिक प्रयोजन से बनाये गये थे। गुप्तकाल के अनेक स्तंभ इस समय उपलब्ध हुए हैं। प्रयाग में स्थित अशोक के पुराने स्तंभ पर सम्राट् समुद्रगुप्त की प्रशस्ति उत्कीर्ण की गई है। गोरखपुर जिले में कहौम नामक स्थान पर स्कंदगुप्त का एक प्रस्तर-स्तंभ है, जिसपर इस प्रतापी सम्राट् की कीर्ति अमर रूप से उत्कीर्ण की गई है।

गुप्त-काल में भगवान् विष्णु की प्रतिष्ठा में ध्वजस्तंभ बनाने का बहुत रिवाज था। सम्राट् बुधगुप्त के समय में सामंत राजा मातृविष्णु व धन्यविष्णु द्वारा बनवाया हुआ ऐसा एक स्तंम्भ एरण में विद्यमान है। कुमारगुप्त के समय का ऐसा ही एक स्तंभ भिलसद में स्थित है, जो स्वामी महासेन के मंदिर के स्मारक रूप में बनवाया गया था। गाजीपुर जिले के भिटरी गांव में भगवान् विष्णु की एक प्रतिमा की प्रतिष्ठा के अवसर पर उसके उपलक्ष में स्थापित किया हुआ एक स्तंभ उस गांव में अब तक विद्यमान है। इसी तरह का एक स्मृतिस्तंभ पटना जिले के विहार नगर में है, जो सेनापति गोपराज की यादगार में खड़ा किया गया था।

मौर्यकाल के स्तंभ गोल होते थे और उनपर चिकना चमकदार वज्रलेप होता था। पर गुप्तकाल के स्तंभ गोल व चिकने नहीं हैं। गुप्तों के स्तंभ अनेक कोणों से युक्त हैं। एक ही स्तंभ के विविध भागों में विविध कोण हैं। कोई स्तंभ नीचे आधार में यदि चार कोणों का है, तो बीच में आठ कोणों का हो गया है। कई स्तंभ ऐसे भी हैं, जो नीचे चार चोणों के और बीच में गोल हैं। किसी-किसी स्तंभ में ऊपर सिंह व गरुड़ की मूर्ति भी है। प्रस्तर के अतिरिक्त का २४ फीट ऊंचा जो विशाल स्तंभ दिल्ली के समीप महरौली में है, वह भी गुप्तकाल का ही है। यह लौहस्तंभ संसार के आश्चर्यों में गिना जाना चाहिये। इसका निर्माण भी विष्णुध्वज के रूप में ही हुआ था।

(३) भवन और मंदिर

गुप्त-काल के कोई राजप्रासाद या भवन अब तक उपलब्ध नहीं हुए। पाटलिपुत्र, उज्जैनी आदि किसी भी प्राचीन नगरी में गुप्त-सम्राटों व उनके सामंत राजाओं या धनी पुरुषों के महलों के कोई खंडहर अभी तक नहीं पाये गये। पर अमरावती, नागार्जुनी, कोंड और अजंता की गुफाओं में विद्यमान विविध चित्रों व प्रतिमाओं में प्राचीन राजप्रासादों को भी चित्रित किया गया है। इस काल के साहित्य में भी सुंदर प्रासादों के वर्णन हैं, जिनसे सूचित होता है, कि गुप्तकाल के भवन बहुत विशाल और मनोरम होते थे।

सौभाग्यवश, गुप्तकाल के अनेक स्तूप, विहार, मंदिर और गुफाएं अब तक भी विद्यमान हैं। यद्यपि ये भग्न दशा में हैं, पर इनके अवलोकन से उस युग की वास्तुकला का भलीभांति परिचय मिल जाता है। गुप्तकाल में पौराणिक धर्म प्रधान था। यही कारण है, कि इस युग में बहुत से वैष्णव, शैव और सूर्य देवता के मंदिर बनाये गये। अब तक गुप्त-युग के जो पौराणिक मंदिर मिले हैं, उनमें सर्वप्रधान निम्नलिखित हैं--

(१) मध्य भारत के नागोद रियासत में भूमरा नामक स्थान पर प्राचीन समय का एक शिवमंदिर है। अब यह बहुत भग्न दशा में है। इसका केवल चबूतरा और गर्भगृह ही अब सुरक्षित दशा में है। चबूतरा प्रदक्षिणापथ के काम में आता था। मंदिर के गर्भगृह में एकमुख शिवलिंग की मूर्ति स्थापित है, जो मूर्तिकला का एक अत्यन्त सुंदर उदाहरण है। मंदिर के द्वार-स्तंभ के दाईं ओर गंगा और बांई ओर यमुना की मूर्तियां हैं। अन्य अनेक सुंदर मूर्तियां भी यहां प्रस्तर पर उत्कीर्ण हैं।

(२) मध्यप्रांत के जबलपुर जिले में तिगवा नामक स्थान पर गुप्तकाल का एक मंदिर पाया गया है, जो एक ऊंचे टीले पर स्थित है। यहां दो मंदिर हैं, एक की छत चपटी है और दूसरे की छत पर शिखर है। चपटी छतवाला मदिर अधिक पुराना है। वह पांचवीं सदी के शुरू में बना था। इसकी चौखट आदि की कारीगरी बहुत सुंदर है।

(३) अजयगढ़ राज्य में भूमरा के समीप नचना कूथना नामक स्थान पर पार्वती का एक पुराना मंदिर है। इसकी बनावट भूमरा के मंदिर के ही समान है।

(४) झांसी जिले के देवगढ़ नामक स्थान पर गुप्तकाल का दशावतार का

मंदिर है। गुप्त-युग के मंदिरों में यह सबसे प्रसिद्ध और उत्कृष्ट है। एक ऊँचे चबूतरे पर बीच में मंदिर बना हुआ है। इसके गर्भगृह में चार द्वार हैं, जिनके प्रस्तरस्तंभों पर बहुत सुंदर मूर्तियां अंकित की गई हैं। अनंतशायी विष्णु की प्रसिद्ध मूर्ति यहीं पर विद्यमान है, और इस मंदिर के ऊपर शिखर भी है। भारत के आधुनिक मंदिरों के ऊपर शिखर अवश्य होता है। पर गुप्त-काल में शुरू-शुरू में जो मंदिर बने थे, उनकी छत चपटी होती थी, और ऊपर शिखर नहीं रहता था। गुप्त-काल के समाप्त होने से पूर्व ही मंदिरों पर शिखरों का निर्माण प्रारंभ हो गया था। देवगढ़ के इस दशावतार के मंदिर का शिखर सम्भवतः भारत में सबसे पुराना है, और इसी कारण इस मंदिर का बहुत मह व है।

(५) कानपुर के समीप भिटरगांव में गुप्तकाल का एक विशाल मंदिर अब तक विद्यमान है, जो ईंटों का बना है। ऊपर जिन मंदिरों का उल्लेख किया गया है, वे प्रस्तर-शिलाओं द्वारा निर्मित हैं। पर भिटरगांव का यह मंदिर ईंटों का बना है, और उसकी दीवारों का बाहरी अंश मिट्टी के पकाये हुए फलकों से बनाया गया है। इन फलकों पर तरह-तरह की चित्रकारी व मूर्तियां अंकित की हुई हैं।

(६) बंबई प्रान्त में बीजापुर जिले में अपहोल नामक स्थान पर एक पुराना मंदिर है, जो गुप्तकाल का है। इसके भी प्रमुख द्वार पर गंगा और यमुना की मूर्तियां हैं, और इसकी खिड़कियां नक्काशीदार पत्थर की बनी हैं।

(७) आसाम में ब्रह्मपुत्रा नदी के तट पर दहपरबतिया नामक स्थान पर एक मंदिर भग्न दशा में िला है, जो गुप्तकाल का है।

पौराणिक धर्म के साथ संबंध रखनेवाले इन मदिरों के अतिरिक्त गुप्तकाल के बौद्ध-धर्म के अनेक स्तूप व विहार भी आजकल विद्यमान हैं। सारनाथ का धमेखस्तूप गुप्तकाल में ही बना था। इसके बाहरी भाग में जो प्रस्तर हैं, वे अनेक प्रकार के चित्रों व प्रतिमाओं से अंकित हैं। चित्रों के बेल व बूटे बहुत सुंदर बनाये गये हैं। सारनाथ में ही एक प्राचीन विहार के खंडहर मिलते हैं, जो गुप्तकाल के माने जाते हैं। इसी तरह बिहारशरीफ (पटना जिला) और नालंदा में पुराने विहारों के जो बहुत से खंडहर अब उपलब्ध हैं, वे गुप्तकाल के ही हैं।

गुप्तकाल के गुहाभवनों में भिलसा के समीप की उदयगिरि की गुहा सबसे महत्त्व की है। यहीं पर विष्णु के वाराह-अवतार की विशाल प्रतिमा खड़ी है, जिसका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। उदयगिरि की इस गुहा के द्वारस्तंभों तथा अन्य दीवारों पर भी बहुत सी प्रतिमायें उत्कीर्ण हैं। अजंता की विश्वविख्यात गुफाओं में से भी कम से कम तीन गुप्तकाल में बनी थीं। अजंता में छोटी-बड़ी कुल उनतीस

गुहायें हैं । इनके दो भेद हैं, स्तूपगुहा और विहारगुहा । स्तूपगुहाओं में केवल उपासना की जाती थी । ये लम्बाई में अधिक है, और इनके आखिरी सिरे पर एक स्तूप है, जिसके चारों ओर प्रदक्षिणा करने की जगह होती है । विहारगुहाओं में भिक्षुओं के रहने और पढ़ने-लिखने के लिये भी जगह बनाई गई है । ये सब गुहायें हैदराबाद (निजाम) राज्य में फरदापुर गांव के समीप है। इन सबको पहाड़ काटकर बनाया गया है । बाहर से देखने पर पहाड़ ही दृष्टिगोचर होता है, पर अंदर विशाल भवन बने है, जिनकी रचना पत्थर काटकर की गई है । गुप्तकाल में बनी १६ नं० की गुहा ६५ फीट लंबी और इतनी ही चौड़ी है । इसमें रहने के छ: कमरे है, और कुल मिलाकर सोलह स्तंभ हैं । १७ नं० की गुहा भी आकार मे इतनी ही बड़ी हैं ।

ऊपर जिन स्तंभों, मंदिरों, स्तूपों व गुहाभवनों का उल्लेख किया गया है, उनके अतिरिक्त गुप्तकाल के नगरों के भी कुछ अवशेष इस समय उपलब्ध हुए हैं । भारत के पुरातत्त्व-विभाग ने प्राचीन नगरों के खंहडरों की अभी पूरी तरह खुदाई नहीं की है । बहुत से बड़े-बड़े खेड़े अभी उन स्थानों पर बिना छुये ही पड़े हैं, जहां किसी जमाने में फलते-फूलते समृद्ध नगर विद्यमान थे । ऐसे कुछ स्थानों पर खुदाई का जो कार्य पिछले सालों में हुआ है, उससे गुप्तकाल के नगरों के भी कुछ अवशेष प्राप्त हु ' हैं । पर अभी यह कार्य नहीं के बराबर हुआ है । आशा है, कि पुरातत्त्व विभाग के प्रयत्न से अभी अन्य बहुत से अवशेष प्राप्त हो सकेंगे ।

गुप्तकाल में पाटलिपुत्र, वैशाली, पुंड्रवर्धन, कौशांबी, अहिछत्र, वाराणसी (सारनाथ और राजघाट), उज्जैनी, मथुरा आदि बहुत से समृद्ध नगर थे । इनके गगनचुंबी राजप्रासादों, विहारों और भवनों की जगह अब ऊंचे-ऊंचे खेड़े खड़े हैं । जहां कहीं भी पुरात 'व-विभाग की ओर से खुदाई हुई है, वहां मिट्टी के बर्तनों,प्रतिमाओं, ईंटों (सादी और नक्काशीदार), मूर्तियों और पुरानी दीवारों के खंडहर प्रचुर मात्रा मे मिले हैं । कहीं-कहीं भवनों और मंदिरों की नींव की दीवारें भी अक्षुण्ण रूप में प्राप्त हुई हैं । ये सब सूचित करती हैं, कि गुप्तों के समय में भारत के निवासी बड़े समृद्ध और वैभवपूर्ण थे, और वे एक सभ्य और सुसंस्कृत जीवन व्यतीत करते थे ।

(४) चित्रकला

गुप्तकाल की चित्रकला के सबसे उत्तम अवशेष अजंता की गुहाओं में विद्यमान हैं । ऊपर अजंता की नं० १६ और नं० १७ की जिन गुहाओं का उल्लेख

हुआ है, उनकी दीवारों पर बड़े सुंदर चित्र बने हुए हैं, जो कला की दृष्टि से अनुपम हैं। नं० १६ की गुहा में चित्रित एक चित्र में रात्रि के समय कुमार सिद्धार्थ गृहत्याग कर रहे हैं। यशोधरा और उनके साथ शिशु राहुल सोया हुआ है। समीप में परिचारिकायें भी गहरी नींद में सो रही हैं। सिद्धार्थ इन सब पर अंतिम दृष्टि डाल रहे है। उस दृष्टि में मोह-ममता नहीं है, इन सबके प्रति निर्मोहबुद्धि उस दृष्टि की विशेषता है, जिसे चित्रित करने में चित्रकार को अपूर्व सफलता हुई है। १६वीं गुहा के एक अन्य चित्र में एक मरणासन्न कुमारी का चित्र अंकित है, जिसकी रक्षा के सब प्रयत्न व्यर्थ हो चुके हैं। मरणासन्न राजकुमारी की दशा और समीप के लोगों की विकलता को इस चित्र में बड़ी सुंदरता के साथ प्रगट किया गया है। १७ वीं गुहा में माता-पुत्र का एक प्रसिद्ध चित्र है। संभवतः यह चित्र यशोधरा का है, जो अपने पुत्र राहुल को बुद्ध के अर्पण कर रही है। बुद्ध हो जाने के बाद सिद्धार्थ एक बार फिर कपिलवस्तु गये थे। जब वे भिक्षा मांगते हुए यशोधरा के घर गये, तो उसने राहुल को उनकी भेंट किया। उसी दृश्य को इस चित्र में प्रदर्शित किया गया है। माता योशोधरा के मुख पर जो आग्रह और विवशता का भाव है, वह सचमुच अनुपम है। बालक राहुल के मुख पर भी आत्मसमर्पण का भाव बड़े सुंदर रूप में अंकित है।

इसी गुहा में एक अन्य चित्र एक राजकीय जलूस का है, जिसमें बहुत से आदमी अनुपम रूप से सज-धज कर जा रहे हैं। किसी के हाथ में ऊंचा छत्र है, किसी के हाथ में बजाने की शृंगी। स्त्रियों के शरीर पर सुंदर आभूषण हैं और उनके वस्त्र इतने महीन हैं, कि सारा शरीर दिखाई पड़ता है। इस गुहा के अनेक चित्र जातक ग्रंथों के कथानकों को दृष्टि में रखकर बनाये गये हैं। बेस्संतर जातक के अनुसार बनाये एक चित्र में एक वानप्रस्थ राजकुमार से एक याचक ब्राह्मण उसके एक-मात्र अल्पवयस्क पुत्र को मांग लेता है। वचनबद्ध राजकुमार अपने पुत्र को सहर्ष दे देता है। चित्र का ब्राह्मण बहुत क्षीणकाय है, उसके दांत बाहर निकले हुए हैं। तपस्वी राजकुमार बिना किसी क्षोभ व दुःख के अपने बालक को देने के लिये उद्यत है, और बालक का शरीर अतीव हृष्टपुष्ट और सुंदर है। एक अन्य चित्र में चार दिव्य गायक प्रदर्शित किये गये हैं, जिनकी गान में तल्लीनता देखते ही बनती है। अजन्ता की नं० १७ की गुहा में इसी तरह के बहुत से चित्र हैं। जिन्हें देखते हुए मनुष्य कभी तृप्त नहीं होता, वे दर्शक को एक कल्पनामयी मधुर दुनिया में ले जाते हैं, जहां पहुँचकर मनुष्य अपने को पूर्णतया भूल जाता है।

अजन्ता के समान ही ग्वालियर राज्य के अमझेस जिले में बाघ नामक स्थान

पर अनेक गुहामंदिर मिले हैं, जो विंध्याचल की पहाड़ियों को काटकर बनाये गये हैं। इन्हें गुप्तकाल में अंतिम भाग का माना जाता है। इनमें भी अजन्ता के समान ही बड़ी सुंदर चित्रकारी की गई है। इन गुहाओं की संख्या नौ है। इनमें से चौथी गुहा रंगमहल कहाती है। इस समय इसके बहुत से चित्र नष्ट हो चुके हैं। विशेषतया छत के चित्र तो बिलकुल ही मिट गये हैं। इस रंगमहल तथा पांचवीं गुहा में कुल मिलाकर छः चित्र इस समय सुरक्षित हैं, जो सौंदर्य और कला की दृष्टि से अजन्ता के चित्रों से किसी भी प्रकार कम नहीं हैं।

गुप्तकाल के साहित्यिक ग्रंथों में भी चित्रलेखन का अनेक स्थानों पर उल्लेख आता है। कवि विशाखदत्त रचित मुद्राराक्षस में आचार्य चाणक्य द्वारा नियुक्त जिस गुप्तचर को अमात्य राक्षस की मुद्रा उपलब्ध हुई थी, वह यमराज का पट फैलाकर भिक्षा मांग रहा था। इस पट पर यमराज का चित्र अंकित था। अजंता के गुहाचित्रों में एक ऐसा भी है, जिसमें क्षपणकों का एक दल चित्रपट हाथ में लिये भीख मांगता फिर रहा है। ये क्षपणक नंगे हैं, और हाथ में चित्रपट लिये हुए हैं। गुप्तकाल में क्षपणकों का एक ऐसा संप्रदाय था, जो इस तरह भिक्षा मांगा करता था। पर उस युग में चित्र केवल दीवारों पर ही नहीं बनाये जाते थे, अपितु कपड़े पर भी अनेक प्रकार के चित्र चित्रित किये जाते थे, यह इससे अवश्य सूचित होता है। कालिदास के काव्यों को पढ़ने से ज्ञात होता है, कि उस युग में प्रेमी और प्रेयसी एक दूसरे के चित्रों को बनाते थे, और विवाह-संबंध स्थिर करने से पूर्व चित्रों को भी देखा जाता था। कालिदास ने चित्र की कल्पना तथा उन्मीलन (रंग भरना) का उल्लेख अनेक स्थानों पर किया है।

गुप्तकाल में चित्रकला इतनी अधिक उन्नति कर चुकी थी, कि बृहत्तर भारत के विविध उपनिवेशों में भी अनेक गुहाचित्र व रेशमी कपड़े आदि पर बनाये हुए चित्र मिले हैं। ये सब गुप्तकाल के हैं, और उसी शैली के हैं, जो भारत में प्रचलित थी। भारत से ही चित्रकार इस काल में सुदूर देशों में गये थे, और वहां उन्होंने अपनी कला के चमत्कार दिखाये थे।

(५) संगीत

समृद्धि और वैभव के इस युग में संगीत, अभिनय आदि का भी लोगों को बड़ा शौक था। गुप्त-सम्राट् स्वयं संगीत के बड़े प्रेमी थे। इसीलिये समुद्रगुप्त और चंद्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य जैसे प्रतापी सम्राटों ने अपने कुछ सिक्के ऐसे भी जारी किये, जिनमें वे वीणा या अन्य वाद्य का रसास्वादन कर रहे हैं। बाघ

के गुहामंदिरों के एक चित्र में नृत्य करनेवाली दो मंडलियां दिखाई गई हैं। प्रथम मंडली में एक नर्तक नाच रहा है, और सात स्त्रियों ने उसे घेर रखा है। इनमें से एक स्त्री मृदङ्ग, तीन झाल और बाकी तीन कोई अन्य बाजा बजा रही हैं। दूसरी मंडली के मध्य में भी एक नर्तक नाचता है, और छः स्त्रियां विविध बाजे बजा रही हैं। सारनाथ में प्राप्त एक प्रस्तरखंड पर भी ऐसा ही दृश्य उत्कीर्ण है। इसमें नृत्य करनेवाली भी स्त्री है, और बाजा बजानेवाली भी स्त्रियां हैं। इन चित्रों को देखकर इसमें कोई संदेह नही रहता, कि गुप्तकाल में संगीत और नृत्य का बड़ा प्रचार था। सर्वसाधारण लोग इन कलाओं में बड़ा आनंद अनुभव करते थे।

इसी काल में कालिदास विशाखदत्त आदि अनेक कवियों ने अपने नाटक लिखे। ये जहां काव्य की दृष्टि से अनुपम हैं, वहां अभिनयकला की दृष्टि से भी अन्यन्त सुदर और निर्दोष हैं। ये नाटक जहां स्वयं इस काल के संगीत और अभिनय के उत्कृष्ट प्रमाण है, वहां इनके अदर भी नृत्य, गायन और अभिनय का जगह-जगह उल्लेख किया गया है।

सहायक ग्रंथ

Cunningham : Archeological Survey of India Vol. X.

Banerjee : Age of the Imperial Guptas.

Agrawal : Handbook to the Sculptures in the Mathura Museum.

रायकृष्णदास : भारतीय मूर्तिकला

" " : भारतीय चित्रकला

उपाध्याय : गुप्त-साम्राज्य का इतिहास

चौंतीसवां अध्याय

भारतीय सभ्यता और धर्म का विदेशों में विस्तार

(१) बृहत्तर भारत का विकास

भारत के प्राचीन इतिहास में 'बृहत्तर भारत' का बहुत अधिक महत्त्व है। सम्राट् अशोक के समय में आचार्य मोद्गलिपुत्र तिष्य के नेतृत्व में बौद्ध-धर्म के विदेशों में प्रचार का जो प्रयत्न शुरू हुआ था, आगे चलकर उसे बहुत सफलता मिली। तीसरी सदी ई० पू० में बौद्ध-धर्म की तीसरी संगीति (महासभा) द्वारा जिस बीज का आरोपण किया गया था, सात सदी बाद (पांचवीं सदी ई० प० तक) वह एक विशाल वृक्ष के रूप में विकसित हो गया था, जिसकी शाखायें पश्चिम में ईरान से लेकर पूर्व में इन्डोनीसिया और जापान तक, और उत्तर में साइबीरिया की सीमा से दक्षिण में सिहल द्वीप तक फैली हुई थीं। इसमें सन्देह नहीं, कि भारतीय सभ्यता और धर्म के विदेशों में प्रसार-कार्य में सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य बौद्ध लोगों ने किया था। पर उनका अनुसरण कर वैष्णव और शैव धर्मों के प्रचारक भी अन्य देशों में गये, और वहां उन्होंने अपने धर्म की विजयपताका स्थापित की। भारत के प्राचीन निवासी समुद्रयात्रा को पाप नहीं समझते थे। वे प्रधानतया तीन प्रयोजनों से विदेश यात्रा करते थे--(१) व्यापार के लिये, (२) धर्मप्रचार के लिये, और (३) उपनिवेश बसाने के लिये। ये ही तीन प्रेरक हेतु थे, जिनसे भारतीय लोग विदेशों में गये, और वहां जाकर उन्होंने अपने विस्तीर्ण सांस्कृतिक साम्राज्य की स्थापना की। इन तीनों हेतुओं पर संक्षिप्त रूप से विचार करना उपयोगी होगा।

व्यापार--प्राचीन समय में पृथिवी के जिन प्रदेशों में सभ्य जातियों का निवास था, भारत की स्थिति उनके ठीक मध्य में है। चीन, भारत, ईरान और ग्रीस प्राचीन काल में सभ्यता के मुख्य केन्द्र थे। रोमन साम्राज्य के विकास के बाद पश्चिमी दुनिया में सभ्यता का क्षेत्र भूमध्य सागर के पश्चिमी सिरे तक

पहुंच गया था। भारत के व्यापारी पूर्व में चीन से शुरू कर पश्चिम में सिकन्दरिया (नील नदी के मुहाने पर स्थित अलेग्जण्ड्रिया नगरी) तक व्यापार के लिये आया-जाया करते थे। भारतीयों का खयाल था, कि बरमा, मलाया आदि धनधान्य से परिपूर्ण हैं, वहां सोने की खानें भी हैं, अतः अनेक महत्त्वाकांक्षी व साहसी युवक इन प्रदेशों में धन कमाने के उद्देश्य से जाया करते थे, और इन प्रदेशों का नाम ही 'सुवर्णभूमि' पड़ गया था। जातक ग्रन्थों में अनेक ऐसी कथायें आती हैं, जिनसे ज्ञात होता है, कि भारतीय लोग इन प्रदेशों की यात्रा कर धन कमाने के लिये बहुत उत्सुक रहते थे। एक जातक कथा के अनुसार विदेह का राजा लड़ाई में मारा गया, उसकी रानी चम्पा चली गई। उसका कुमार जब बड़ा हुआ, तो उसने मां से कहा—"अपने कोश का आधा मुझे दे दे, मैं सुवर्णभूमि जाऊंगा, वहां खूब धन कमाऊंगा और फिर बाप-दादा के धन को लौटा दूंगा।" एक अन्य जातक कथा के अनुसार वाराणसी के समीप के एक वर्धकि ग्राम के हजार परिवारों ने जंगल काटकर जहाज बनाये, और गंगा के मार्ग से समुद्र पार कर सुवर्णभूमि चले गये। इसी प्रकार की कथायें बृहत्कथा और जैन-ग्रन्थों में भी पाई जाती हैं, जिन्हें पढ़कर इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता, कि धन कमाने के लिये समुद्र-पार जाने की प्रवृत्ति प्राचीन भारतीयों में प्रबल रूप से विद्यमान थी, और वे अच्छी बड़ी संख्या में विदेश की यात्रा किया करते थे। भारत के ये साहसी व सभ्य व्यापारी विदेश में जहां कहीं जाते, वहां के निवासियों को अपनी संस्कृति में लाने का प्रयत्न करते। दक्षिण-पूर्वी एशिया के विविध प्रदेशों में न केवल भारतीय राजाओं के ही शिलालेख मिलते हैं, अपितु अनेक व्यापारियों द्वारा उत्कीर्ण कराये हुए लेखों की भी वहां से प्राप्ति हुई है। इस प्रकार का एक लेख मलाया के वेल्जली जिले में मिला है, जिसे चौथी सदी में बुधगुप्त नाम के नाविक ने लिखवाया था।

धर्म-प्रचार—भारत के बहुत से बौद्ध भिक्षु व धर्माचार्य केवल धर्म-प्रचार के पुनीत उद्देश्य को सम्मुख रखकर विदेशों में गये। सारनाथ में धर्मचक्र का प्रवर्तन करते समय महात्मा बुद्ध ने अपने शिष्यों को जो यह उपदेश दिया था, कि 'भिक्षुओ! बहुत जनों के हित के लिये, बहुत जनों के सुख के लिये, लोक पर दया करने के लिये..विचरण करो, एक साथ दो मत जाओ', भिक्षुओं ने उसका उत्साहपूर्वक पालन किया। हिमालय और हिन्दूकुश की पर्वतमालाओं को लांघकर और समुद्र को पार कर वे सुदूर देशों में गये और बुद्ध के अष्टांगिक आर्य-मार्ग का उन्होंने सर्वत्र प्रचार किया। बौद्धों के धर्मप्रचार का यह परिणाम हुआ, कि चीन, जापान

इन्डोनीसिया, इन्डोचायना, बरमा, सियाम, अफगानिस्तान, लंका, तुर्किस्तान आदि सब देश भारतीय संस्कृति के प्रभाव में आ गये। शुंग, भारशिव और गुप्त-वंशों के शासनकाल में जब भागवत और शैव धर्मों का पुनरुत्थान हुआ, तो इन धर्मों के आचार्यों ने भी बौद्ध भिक्षुओं का अनुसरण किया, और वे भी समुद्र पार कर पूर्वी व दक्षिण-पूर्वी एशिया में अपने-अपने धर्मों का प्रचार करने के लिये गये। जैन मुनि भी बौद्ध भिक्षुओं के समान विदेशों में जाते थे, और तीर्थंकर महावीर की शिक्षाओं का वहां प्रचार करते थे। भारतीय धर्मों का विदेशों में प्रचार होने के कारण इस देश की भाषा साहित्य और संस्कृति का भी वहां प्रचार हुआ।

उपनिवेश——साहसी भारतीय युवक न केवल व्यापार के लिये विदेशों में जाते थे, अपितु उपनिवेश बसाने के लिये भी वे बड़ी संख्या में प्रवास किया करते थे। अशोक के अन्यतम पुत्र कुस्तन द्वारा खोतन में भारतीय बस्ती के बसने की बात तिब्बत की ऐतिहासिक अनुश्रुति में विद्यमान है। कौण्डिन्य नामक ब्राह्मण के नेतृत्व में बहुत से भारतीय सुवर्णभूमि में गये थे, और वहां उन्होंने उस उपनिवेश की स्थापना की थी, जो चीनी इतिहास में फूनान नाम से प्रसिद्ध था। दक्षिण-पूर्वी एशिया के कम्बुज, चम्पा आदि कितने ही उपनिवेशों की स्थापना भारतीयों द्वारा ही की गई थी।

व्यापार, धर्म-प्रचार और उपनिवेश-स्थापना——इन तीन कारणों से धीरे-धीरे भारत का एक विशाल सांस्कृतिक साम्राज्य स्थापित हुआ। जिसे स्थूल रूप से 'बृहत्तर भारत' कहा जाता है। इस बृहत्तर भारत को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—दक्षिण-पूर्वी एशिया का क्षेत्र और उपरला भारत। दक्षिण-पूर्वी एशिया के क्षेत्र के बृहत्तर भारत में बरमा, मलाया, सियाम, इन्डोचायना, इन्डोनीसिया (जावा, सुमात्रा, बाली आदि) और समीप के द्वीपों को सम्मिलित किया जाता है। उपरले या उत्तर-पश्चिमी भारत में अफगानिस्तान और मध्य एशिया अन्तर्गत थे। इन प्रदेशों का धर्म और संस्कृति प्रायः भारतीय ही थे और ऐतिहासिक दृष्टि से इन्हें भारत का ही अंग समझा जा सकता है। पर सांस्कृतिक प्रभाव की दृष्टि से चीन तिब्बत और मंगोलिया भी भारत के धार्मिक या सांस्कृतिक साम्राज्य में सम्मिलित थे, और क्रिश्चिएनिटी तथा इस्लाम के प्रसार से पूर्व ईरान, ईराक आदि पश्चिमी एशिया के देश भी भारतीय सांस्कृतिक प्रभाव से अछूते नहीं रहे थे।

बौद्ध-धर्म के प्रसार में राजकीय सहायता—यद्यपि बृहत्तर भारत या भारत के सांस्कृतिक साम्राज्य के निर्माण का प्रधान श्रेय इन भिक्षुओं और आचार्यों को

प्राप्त है, जो जन-हित और जन-कल्याण की भावना से प्रेरित होकर विदेशों में धर्म-प्रचार के लिये गये थे, पर इस प्रसंग में यह निर्दिष्ट कर देना भी आवश्यक है, कि बौद्ध-धर्म के विदेशों में प्रचार में राजकीय संरक्षण से भी बहुत सहायता मिली। सम्राट् अशोक ने शस्त्र-विजय के स्थान पर धर्म-विजय की जिस नीति का अनुसरण किया था, उससे बौद्ध भिक्षुओं के लिये अपना कार्य कर सकना बहुत सुगम हो गया था। पाण्ड्य, चोल, सिहल, मिस्र और सीरियन साम्राज्य के यवन प्रदेशों में अशोक ने चिकित्सालय खुलवाये, सड़कें बनवाई, प्याऊ बैठाये, कुंएं खुदवाये और धर्मशालायें बनवाई। इन देशों मे उसने अपने महामात्र इस उद्देश्य से नियत किये, कि वे जनता का ध्यान 'धर्म के तत्त्व' की ओर आकृष्ट करें। अशोक के इन प्रयत्नों का यह परिणाम हुआ, कि विदेशों के लोग भारत की संस्कृति और विचारधारा की ओर आकृष्ट हुए, और जब आचार्य मोद्गलिपुत्र तिष्य द्वारा आयोजित बौद्ध-संगीति द्वारा नियुक्त प्रचारक लोग उन देशों में गये, तो उनके लिये अपने धर्म का संदेश सुना सकना बहुत सुगम हो गया। इसमें सन्देह नहीं, कि अशोक के संरक्षण में बौद्ध-धर्म का बहुत अधिक विस्तार हुआ, और इसलिये बौद्ध-धर्म के इतिहास में इस राजा का स्थान बहुत महत्त्व का है।

मिलिन्द (मिनान्डर) और इन्द्राग्निमित्र सदृश यवन राजाओं ने बौद्ध-धर्म को स्वीकार कर उसके प्रचार में बहुत सहायता दी। कुशाण-राजा कनिष्क का साम्राज्य तो पूर्व में मगध से शुरू कर पश्चिम में मध्य एशिया या उससे भी परे अराल सागर तक विस्तीर्ण था। कनिष्क ने न केवल स्वयं बौद्ध-धर्म की दीक्षा ग्रहण की थी, अपितु उसने प्रचार में भी सहायता दी थी। बौद्ध-धर्म की चतुर्थ संगीति (महासभा) उसी के समय में हुई, जिसमें आचार्य पार्श्व, वसुमित्र और अश्वघोष ने विशेष रूप से भाग लिया। पश्चिम और उत्तर के भारतीय सीमान्तों में बौद्ध-धर्म का जो प्रचार हुआ उसमें कनिष्क का बड़ा हाथ था।

बृहत्तर भारत का प्राचीन भारतीय इतिहास में जो महत्त्व है, उसे दृष्टि में रखते हुए यह आवश्यक है, कि हम इसके निर्माण व विकास पर संक्षेप के साथ प्रकाश डालें।

(२) दक्षिण-पूर्वी एशिया का बृहत्तर भारत

बरमा—प्राचीन भारतीय लोग दक्षिण-पूर्वी एशिया के जिस भाग को 'सुवर्ण-भूमि' कहते थे, दक्षिणी बरमा भी उसका अंग था। अशोक के समय स्थविर उत्तर और सोण इस प्रदेश में बौद्ध-धर्म का प्रचार करने के लिये गये थे।

ये भिक्षु अपने उद्देश्य में सफल हुए, यह बात न केवल महावंश से सिद्ध होती है, अपितु पुरातत्त्व सम्बन्धी सामग्री भी इसे पुष्ट करती है। पांचवीं सदी ईस्वी तक दक्षिणी बरमा में बौद्ध-धर्म का भली भांति प्रचार हो चुका था। वर्तमान प्रोम से पांच मील दक्षिण प्यू जाति की राजधानी श्रीक्षेत्र थी, जिसके अवशेष ह्मावजा नामक स्थान में विद्यमान है। ह्मावजा के समीप मौङ-गन नामक गांव में सुवर्ण पत्र पर उत्कीर्ण दो लेख मिले हैं, जिनमें कदम्ब लिपि और पाली भाषा में बुद्ध के वचन लिखे गये हैं। ह्मावजा के अवशेषों में न केवल भग्न दशा में शिलालेख ही मिले हैं, अपितु एक पोथी भी प्राप्त हुई है, जो पाली भाषा में है। पुरातत्त्व सम्बन्धी ये अवशेष इस बात के ठोस प्रमाण हैं, कि पांचवी सदी ईस्वी तक दक्षिणी बरमा भारत के धर्म, भाषा और लिपि को अपना चुका था। बाद में वहां बौद्ध-धर्म का और अधिक प्रचार हुआ, और धीरे-धीरे बरमा पूर्णतया बौद्ध-धर्म का अनुयायी हो गया।

फनान—वर्तमान समय के इन्डोचायना राज्य के कम्बोडिया प्रान्त में प्राचीन समय में एक भारतीय राज्य की सत्ता थी, जिसका नाम फूनान था। यहां के मूल निवासी असभ्य और जंगली थे। ईसा की पहली सदी में जावा से जाकर कुछ भारतीय वहा बसे, और उन्होंने वहां सभ्यता का प्रारम्भ किया। इसी समय से फूनान के निवासियों ने कपड़े पहनने सीखे, और बस्तियों में रहना शुरू किया। फूनान में पहला राज्य-संस्थापक राजा कौण्डिन्य नाम का एक ब्राह्मण था। उसने वहां के मूल निवासियों की रानी सोमा के साथ विवाह कर एक नये राजवंश की स्थापना की। कौण्डिन्य अकेला फूनान नही गया था, उसके साथ अन्य भी बहुत से भारतीय वहां जाकर बसे थे, जो सदा के लिये अपनी मातृभूमि को प्रणाम कर फूनान में बस गये थे।

कौण्डिन्य के बाद के राजा फान्-चे-मन् (मृत्युकाल २२५ ईस्वी) ने फूनान राज्य का बहुत विस्तार किया, और मलाया तक के प्रदेश को जीत लिया। २४० ई० प० के लगभग फूनान के राजदूत भारत आये थे, और पाटलिपुत्र के मूलुन (मुरुण्ड) राजा के दरबार में गये थे। कनिष्क के समय पाटलिपुत्र पर कुशाणों का अधिकार हो गया था, और वहां जो क्षत्रप शासन करते थे, वे शक मुरुण्ड कहाते थे।

पांचवीं सदी के मध्य भाग में फूनान का राजा जयवर्मा था, जो कौण्डिन्य का वंशज था। ४८४ ईस्वी में जयवर्मा ने नागसेन नाम के भिक्षु को चीन के दरबार में अपना राजदूत बनाकर भेजा। ५१४ ईस्वी में जयवर्मा की मृत्यु हुई। अब

उसका पुत्र रुद्रवर्मा फूनान का राजा बना। ५३९ ईस्वी में उसने अपना राजदूत चीन के सम्राट् की सेवा में भेजा। फूनान के राजाओं का चीन के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध था, इसीलिये चीन की ऐतिहासिक अनुश्रुति में उनके सम्बन्ध में बहुत सी बातें ज्ञात होती हैं।

फूनान के राजा शैव धर्म के अनुयायी थे, और उनकी भाषा संस्कृत थी। जयवर्मा की रानी का नाम कुलप्रभावती था। रानी कुलप्रभावती और उसके पुत्र रुद्रवर्मा द्वारा उत्कीर्ण कराये हुए अनेक शिलालेख इस समय उपलब्ध होते हैं। ये लेख शुद्ध संस्कृत भाषा में है, और इनके अध्ययन से ज्ञात होता है, कि पांचवीं-छठी सदियों के फूनान में शैव धर्म के साथ-साथ वैष्णव और बौद्ध-धर्मों का भी प्रचार था। बौद्ध-धर्म की सत्ता के प्रमाणस्वरूप अनेक उत्कीर्ण लेख भी इस प्रदेश से उपलब्ध हुए हैं, जिनमें विविध स्तूपों के निर्माण का उल्लेख है। राजा जयवर्मा के समय में फूनान में दो बौद्ध भिक्षु हुए, जिनके नाम संघपाल और मन्द्रसेन थे। इन्होंने अनेक बौद्ध ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया।

कौण्डिन्य द्वारा स्थापित राजवंश फूनान में छठी सदी के मध्य तक कायम रहा। राजा रुद्रवर्मा के बाद वहां अशांति फैल गई, और समीप के कम्बुज राज्य के राजा (जो पहले फूनान की अधीनता स्वीकृत करते थे) ने उसे अपने अधीन कर लिया।

कम्बुज राज्य—यह राज्य वर्तमान कम्बोडिया के उत्तरी भाग में स्थित था। यह भी भारतीयों का ही एक उपनिवेश था, और शुरू में फूनान के राज्य के अन्तर्गत था। जिस राजा ने फूनान के राजा रुद्रवर्मा को परास्त कर कम्बुज के उत्कर्ष का प्रारम्भ किया, उसका नाम भववर्मा था। फूनान को परास्त कर उसने अमित सम्पत्ति प्राप्त की, और वही उसके वंश के उत्कर्ष में सहायक हुई। सियाम के सीमान्त पर एक शिवलिङ्ग मिला है, जिसकी पीठिका पर यह लेख उत्कीर्ण है—"धनुष के पराक्रम से जीती निधियों को प्रदान कर उभय लोक कर धारी राजा श्री भववर्मा ने त्र्यम्बक के इस लिङ्ग की प्रतिष्ठा की।" भववर्मा का ही एक अन्य लेख मिला है, जो इस प्रकार है—"वह श्री भववर्मा की भगिनी तथा श्री वीरवर्मा की पुत्री थी, जो अपने पति और धर्म की भक्ति में दूसरी अरुन्धती थी। उसी हिरण्यवर्मा की माता को, जिसने पत्नी के रूप में ग्रहण किया, उस ब्राह्मणों में सोमसमान स्वामी···सामवेदवित् अग्रणी श्री सोमशर्मा ने पूजाविधि और अतुलदान के साथ सूर्य और त्रिभुवनेश्वर की प्रतिष्ठा की। प्रतिदिन अखण्ड पाठ के लिये उसने रामायण और पुराण के साथ सम्पूर्ण (महा)

भारत को प्रदान किया।" ये लेख यह समझने के लिये पर्याप्त हैं, कि छठी सदी में कम्बुज देश की संस्कृति और धर्म का क्या स्वरूप था। उस युग में यह प्रदेश पूर्ण रूप से भारतीय था, और वहां के राजा भारतीय धर्म (शैव धर्म) के अनुयायी थे।

भववर्मा के बाद महेन्द्रवर्मा कम्बुज राज्य का स्वामी बना। उसके एक शिलालेख में 'शिवपद' के दान का वर्णन है। भारत में विष्णुपद की पूजा तो अब तक होती है, गया में विष्णुपद विद्यमान भी है, पर 'शिवपद' की पूजा कहीं नहीं होती। वर्तमान इन्डोचायना के अन्तर्गत कम्बोडिया में सातवीं सदी में शिवपद की पूजा भी प्रचलित थी, और राजा महेन्द्र वर्मा ने उसकी प्रतिष्ठा करके एक शिलालेख उत्कीर्ण कराया था।

महेन्द्रवर्मा के बाद ईशानवर्मा कम्बुज राज्य के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ। उसकी राजधानी का नाम 'ईशानपुर' था, जिसकी स्थापना सम्भवतः उसी ने अपने नाम पर की थी। वह भारत के सम्राट् हर्षवर्धन का समकालीन था, और उसने ६१६ ईस्वी में अपना एक दूतमण्डल चीन भेजा था। चीन की ऐतिहासिक अनुश्रुति में इस राजा का उल्लेख है।

ईशानवर्मा के उत्तराधिकारियों के सम्बन्ध में हमें लिखने की आवश्यकता नहीं है। इन राजाओं के शासन-काल के भी अनेक उत्कीर्ण लेख कम्बोडिया से उपलब्ध हुए हैं। जिनमें शकाब्द का प्रयोग किया गया है। भारत के समान कम्बुज के प्राचीन लेखों में भी शकाब्द का प्रयोग इस बात का स्पष्ट प्रमाण है, कि दक्षिण-पूर्वी एशिया के सुदूरवर्ती इस राज्य का भारत के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध था, और कम्बुज न केवल धर्म भाषा और संस्कृति की दृष्टि से ही भारतीय था, अपितु वहां की ऐतिहासिक परम्परा भी भारतीय थी।

सातवीं सदी में जावा (यवद्वीप) के शैलेन्द्रवंशी राजाओं ने अपने साम्राज्य का विस्तार करते हुए कम्बुज पर भी आक्रमण किया, और उसे जीतकर अपने अधीन कर लिया। पर कम्बुज देर तक शैलेन्द्र-साम्राज्य की अधीनता में रहा। नवीं सदी के प्रारम्भ (८०२ ईस्वी) में वहां एक ऐसे वीर पुरुष का प्रादुर्भाव हुआ, जिसने एक बार फिर कम्बुज को स्वतन्त्र किया। इस वीर पुरुष का नाम जयवर्मा था। इसके शासन-काल से कम्बुज राज्य के सुवर्ण-युग का प्रारम्भ हुआ, और इस देश ने बहुत उन्नति की। जयवर्मा के साथ सम्बन्ध रखनेवाले अनेक शिलालेख कम्बुज में उपलब्ध हुए हैं, और उनसे उसकी कीर्ति, वीरता और समृद्धि का भली भांति परिचय मिलता है।

जयवर्मा के बाद उसके पुत्र जयवर्धन (८६९-८७७) ने और फिर इन्द्रवर्मा

(८७७-८८६) ने कम्बुज का शासन किया। इन्द्रवर्मा के बाद उसका पुत्र यशोवर्मा (८८६-९०६) कम्बुज का राजा बना। इन्द्रवर्मा बड़ा प्रतापी राजा था। उसने पूर्व की ओर आक्रमण कर चम्पा के राज्य को जीत लिया। इस विजय से कम्बुज की शक्ति बहुत बढ़ गई। यद्यपि कम्बुज के राजा देर तक चम्पा को अपनी अधीनता में नहीं रख सके, पर इसमें कोई सन्देह नहीं, कि इस देश के राजा बड़े प्रतापी थे। कम्बोडिया में संस्कृत भाषा के बहुत से शिलालेख उपलब्ध हुए हैं, जो इन राजाओं द्वारा उत्कीर्ण कराये गये थे। इनको पढ़ने से ज्ञात होता है, कि कम्बुज देश में इन सदियों में संस्कृति की वही स्थिति थी, जो भारत में थी। समुद्रगुप्त और रुद्रदामा की प्रशस्तियों के समान कम्बुज देश के ये शिलालेख भी संस्कृत शैली के उत्कृष्ट उदाहरण हैं।

कम्बुज के सब राजाओं का उल्लेख करने की कोई आवश्यकता नहीं है। १२९६ ईस्वी तक इस भारतीय उपनिवेश की स्वतन्त्रता कायम रही। इस समय चीन में शक्तिशाली मंगोल-साम्राज्य की स्थापना हो गई थी। चंगेज खां जैसे प्रतापी मंगोल नेता ने प्रशान्त महासागर से लेकर कैस्पियन सागर तक एक विशाल साम्राज्य का निर्माण किया था। यह असम्भव था, कि दक्षिण-पूर्वी एशिया के राज्य मंगोल आक्रमणों से बचे रह सकते। मंगोल सम्राट् कुबले खां ने १२९६ में कम्बुज को जीतकर अपने अधीन कर लिया।

कम्बुज भारतीय संस्कृति का महत्त्वपूर्ण केन्द्र था। शिव, विष्णु, दुर्गा आदि पौराणिक देवी-देवताओं की वहां पूजा हुआ करती थी। वेद, पुराण, रामायण, महाभारत आदि का वहां उसी प्रकार अध्ययन होता था, जैसा कि भारत में था। राजा ईशानवर्मा ने कम्बुज में अनेक आश्रम बनवाये। जैसे बौद्ध-धर्म के मठ विहार कहाते थे, वैसे ही पौराणिक धर्म के मठों को आश्रम कहते थे। इनमें संन्यासी लोग निवास करते थे, और बौद्ध भिक्षुओं की तरह धर्म प्रचार, विद्याध्ययन तथा शिक्षण कार्य में व्यापृत रहते थे। राजा ईशानवर्मा के समय में ही कम्बुज में शिव (हर) और विष्णु (हरि) की सम्मिलित मूर्ति बनाई गई। इससे सूचित होता है, कि कम्बुज देश के शैव और वैष्णव शिव और विष्णु में अभेद और अविरोध मानते थे। नवीं सदी में कम्बुज का राजा यशोवर्मा था। उसने यशोधरपुर नाम से अपनी नई राजधानी बनाई थी। उसके भग्नावशेष अंगकोरथोम में उपलब्ध हैं। इस नगरी के चारों ओर ३३० फीट चौड़ी खाई है, जिसके भीतर की ओर एक विशाल प्राचीर बनी हुई है। नगर वर्गाकार है, जिसकी प्रत्येक भुजा लम्बाई में दो मील से भी अधिक है। नगर के महाद्वार विशाल व सुन्दर हैं। इनके दोनों

और रक्षकों के लिये मकान बने हैं। तीन सिरवाले विशाल हाथी द्वारों की मीनारों को अपनी पीठ पर थामे हुए हैं। सौ फीट चौड़े और मील भर लम्बे पांच राजमार्ग द्वारों से नगर के मध्य तक गये हैं। पक्की चिनाई के भिन्न-भिन्न आकृतिवाले अनेक सरोवर अब तक भी अंग्कोरथोम के खण्डहरों में विद्यमान हैं। नगर के ठीक बीच में शिव का एक विशाल मन्दिर है। इसके तीन खण्ड हैं। प्रत्येक खण्ड पर एक-एक ऊंची मीनार है। बीच की मीनार की ऊंचाई भग्न दशा में भी १५० फीट के लगभग है। ऊंची मीनार के चारों ओर बहुत सी छोटी-छोटी मीनारें हैं। इनके चारों ओर एक-एक नरमूर्ति बनी हुई है, जो समाधिस्थ शिव की मूर्तियां हैं। इस विशाल शिवमन्दिर में स्थान-स्थान पर सुन्दर चित्रकारी की गई है। पौराणिक धर्म के किसी मन्दिर के इतने पुराने और विशाल अवशेष भारत में भी कहीं उपलब्ध नहीं होते। बारहवीं सदी के पूर्वार्ध में कम्बुज देश का राजा सूर्यवर्मा द्वितीय था। उसने एक विशाल विष्णु-मन्दिर का निर्माण करवाया, जो अङ्कोर वात के रूप में अब तक भी विद्यमान है। यह आजकल एक बौद्ध बिहार है, पर शुरू में इसका निर्माण विष्णुमन्दिर के रूप में ही हुआ था। इसके चारों ओर की खाई की चौड़ाई ७०० फीट है। झील के समान चौड़ी इस खाई को पार करने के लिये पश्चिम की ओर एक पुल बना है। पुल पार करने पर एक विशाल द्वार आता है, जिसकी चौड़ाई १००० फीट से भी अधिक है। खाई और महाद्वार को पार करने पर जो मन्दिर है, वह भी बहुत विशाल है।

अंग्कोरथोम और अङ्कोरवात के अतिरिक्त अन्य भी बहुत से प्राचीन अवशेष कम्बोडिया में विद्यमान हैं, जो प्रायः भग्न मन्दिरों, शीर्ण राजप्रासादों और उजड़ी हुई नगरियों के रूप में है। ये सब अवशेष जिस युग के स्मारक हैं, उसमें कम्बोडिया पूर्ण रूप से भारतीय उपनिवेश था, और उसकी भाषा, धर्म, संस्कृति आदि सब भारतीय थे। इस देश के धर्म में पहले पौराणिक हिन्दू-धर्म की प्रधानता थी, पर बाद में इस धर्म का ह्रास होकर बौद्ध-धर्म का जोर बढ़ गया, और वहां के राजवंश ने भी बौद्ध-धर्म को स्वीकार कर लिया।

चम्पा—इन्डोचायना के क्षेत्र में भारत का सबसे पुराना उपनिवेश चम्पा था। यह ईस्वी सन् के प्रारम्भिक भाग में स्थापित हुआ था। चीनी ऐतिहासिक अनुश्रुति के अनुसार चम्पा की स्थापना १९२ ईस्वी के लगभग हुई थी। इस उपनिवेश की स्थिति कम्बोडिया (कम्बुज) के पूर्व में और आधुनिक अनाम के दक्षिणी भाग में थी। चम्पा का पहला भारतीय राजा श्रीमार था। इसका समय दूसरी सदी ई० प० के अन्तिम भाग में था। श्रीमार और उसके उत्तराधिकारी विशुद्ध

भारतीय राजा थे, उनकी भाषा संस्कृत थी, और उनका धर्म शैव था। इन राजाओं द्वारा उत्कीर्ण कराये हुए संस्कृत भाषा के अनेक शिलालेख दक्षिणी अनाम में उपलब्ध हुए हैं।

चीनी ऐतिहासिक अनुश्रुति से ज्ञात होता है, कि फनवेन नाम के चम्पा के एक भारतीय राजा ने ३४० ई० में चीन के सम्राट् के पास एक राजदूत भेजा। उसने अपने दूत से यह कहलवाया कि चीन और चम्पा के राज्यों के बीच की सीमा होन-सोन पर्वतमाला को निश्चित कर दिया जाय। इस नई सीमा के अनुसार न्हुत-नाम का उपजाऊ प्रदेश चम्पा के राज्य में सम्मिलित हो जाता था। चीनी सम्राट् इसके लिये तैयार नहीं हुआ। इसपर ३४७ ई० में फन वेन ने चीन पर आक्रमण कर दिया, और न्हुत-नाम को जीतकर चम्पा के राज्य को होन-सोन पर्वतमाला तक विस्तृत कर दिया। यद्यपि इस युद्ध में चम्पा के राजा फनवेन की मृत्यु हो गई, पर उसके प्रयत्नों के कारण चम्पा का राज्य बहुत समृद्ध तथा शक्तिशाली हो गया। चीन और चम्पा का संघर्ष फनवेन के बाद भी जारी रहा। चम्पा के राजा फन फो (३४९ से ३८० ई० प० तक) के शासनकाल में चीन अपने खोये हुए प्रदेश (न्हुत-नाम) को पुनः जीत लेने के लिये निरन्तर प्रयत्न करता रहा। यह यत्न फन हुता (३८० से ४१३ ई० प० तक) के समय में भी जारी रहा।

यह ध्यान में रखना चाहिये, कि चम्पा के राजाओं के फनवेन आदि जो नाम हमने दिये हैं, वे चीनी अनुश्रुति के अनुसार हैं। राजा फन हुता का असली नाम धर्म महाराज श्री भद्रवर्मा था। इस राजा के अनेक लेख चम्पा में उपलब्ध हुए हैं। श्री भद्रवर्मा वेदों का परम विद्वान् और महापण्डित था। उसने शिव के एक विशाल मन्दिर का निर्माण करवाया, और उसमें भद्रेश्वर स्वामी शिव की मूर्ति की प्रतिष्ठा की। यह मन्दिर चम्पा में धर्म और संस्कृति का केन्द्र बन गया, और इसकी कीर्ति देर तक स्थिर रही।

भद्रवर्मा का उत्तराधिकारी गंगाराज (४१३ से ४१५ ई० प० तक) था। उसके शासनकाल में चम्पा में अव्यवस्था फैल गई, और गंगाराज राजसिंहासन का परित्याग कर गंगावास के लिये भारत चला गया। हमारे लिये यह सम्भव नहीं है, कि चम्पा के सब राजाओं का यहां उल्लेख कर सकें। इन राजाओं के अनेक शिलालेख इस समय भी इनकी कीर्ति के स्मारक रूप में विद्यमान हैं, और यह सूचित करने के लिये पर्याप्त हैं, कि चम्पा के ये राजा किस प्रकार धर्म के प्रति अनुरक्त और श्रद्धालु थे। इन्द्रवर्मा तृतीय (९११-९७२) के एक शिलालेख में

उसे षड्दर्शन, बौद्ध-दर्शन, काशिकावृत्ति सहित पाणिनीय व्याकरण आख्यान व शैव उत्तरकल्प का प्रकाण्ड पण्डित कहा गया है। (मीमांस षट्तर्क जिनेन्द्र-सूर्मिस्स काशिका व्याकरणोदकौघः। आख्यान शैवोत्तरकल्पमीनः पटिष्ठ एनेष्विति सत्कवीनाम्॥) निःसन्देह, चम्पा के ये राजा भारतीय राजाओं के समान ही संस्कृत के पण्डित और धर्मप्रेमी थे। इनके लेखों में भी शक-संवत् का प्रयोग हुआ है।

मलाया—दक्षिणी-पूर्वी एशिया के अन्य देशों के समान मलाया (मलयद्वीप) में भी भारतीयों ने अपने अनेक उपनिवेश प्राचीन समय में स्थापित किये थे। अनुश्रुति के अनुसार पाटलिपुत्र के राजवंश का कोई राजकुमार तीसरी सदी ई० पू० में समुद्रमार्ग द्वारा मलाया आया था, और वहां उसने अपना शासन स्थापित किया था। मलाया में इस भारतीय राजकुमार का नाम 'मरोङ' प्रसिद्ध है। मरोङ के बाद मलाया में महापोदिसत (महाबोधिसत्व) और श्री महावंश आदि राजा हुए। मरोङ द्वारा स्थापित भारतीय उपनिवेश का नाम लंकाशुक था। इसके अतिरिक्त अन्य भी अनेक भारतीय राज्य मलाया में विद्यमान थे। यही कारण है, कि इस देश में बहुत से ऐसे अवशेष उपलब्ध होते हैं, जिनका सम्बन्ध भारतीय धर्म और संस्कृति के साथ है। गुनोङ जिराई के समीप सुंगइवत की जमींदारी में एक हिन्दू मन्दिर के अविशेष और अनेक प्रस्तर-मूर्तियां मिली हैं। इसके समीप ही चौथी सदी में बने एक बौद्ध मन्दिर के अवशेष प्राप्त हुए हैं, जिनके साथ संस्कृत का एक शिलालेख भी है। मलाया के वेल्जली जिले के उत्तरी भाग में बौद्ध-मन्दिरों के बहुत से स्तम्भ मिले हैं, जो उनपर उत्कीर्ण अक्षरों से चौथी-पांचवीं सदी के माने जाते हैं। पेराक राज्य के शेलिनसिङ स्थान से गरुड़ारूढ़ विष्णु की मूर्ति प्राप्त हुई है, जिसके साथ सोने का एक आभूषण भी है। प्राचीन युग के ये और इसी प्रकार के अन्य अवशेष इस बात के ठोस प्रमाण हैं, कि दक्षिण-पूर्वी एशिया के अन्य प्रदेशों के समान मलाया में भी प्राचीन काल में भारतीय धर्म भाषा और संस्कृति का प्रचार था।

सुमात्रा (सुवर्णद्वीप)—हिन्द महासागर के द्वीपों में भी प्राचीन समय में भारतीयों ने अपने उपनिवेश स्थापित किये थे। इन द्वीपों को आजकल स्थूल रूप से इन्डोनीसिया कहते हैं। इन्डोनीसिया के अन्तर्गत द्वीपों में सुमात्रा का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है। क्षेत्रफल की दृष्टि से यह केवल बोर्नियो से कम है। इस द्वीप को प्राचीन समय में सुवर्णद्वीप कहते थे, और इसका सबसे पुराना राजनीतिक केन्द्र श्रीविजय था, जो कंपर नदी के तट पर स्थित था। श्रीविजय की

स्थापना चौथी सदी ईस्वी से पहले ही हो चुकी थी। पर सातवीं सदी में इसने बहुत अधिक उन्नति की, और इसके प्रतापी राजाओं ने पड़ोस के अनेक प्रदेशों को जीतकर अपने अधीन कर लिया। ६८४ ईस्वी में श्रीविजय के राजसिंहासन पर जयनाग का अधिकार था, जो धर्म से बौद्ध था। ६८६ में उसने जावा (यव-द्वीप) की विजय के लिये सेनायें भेजीं। श्रीविजय के राजनीतिक इतिहास को यहां लिखना उपयोगी नहीं है, पर महत्त्व की बात यह है, कि यह नगर धर्म, संस्कृति और ज्ञान का बड़ा केन्द्र था। चीनी यात्री इत्सिंग सात साल (६८८ से ६९५ ई० प०) तक यहां रहा था, और यहीं रहकर उसने संस्कृत भाषा का अध्ययन किया था। इत्सिंग के अनुसार चीनी यात्री भारत जाते हुए पहले श्रीविजय रहकर संस्कृत का ज्ञान प्राप्त किया करते थे। संस्कृत के बहुत से शिलालेख श्रीविजय और सुमात्रा के अन्य स्थानों से उपलब्ध हुए हैं, जिनसे इस द्वीप के भारतीय राजाओं के वैभव का सुचारु रूप से परिचय मिलता है।

जावा (यवद्वीप)—इन्डोनीसिया के अन्तर्गत द्वीपों में जावा सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसका प्राचीन नाम यवद्वीप था। दूसरी सदी तक वहां भारतीय लोग बस चुके थे। चीनी अनुश्रुति के अनुसार ६५ ई० पू० के लगभग भारतीयों ने इस द्वीप में बसना प्रारम्भ किया था। १३२ ईस्वी में जावा का राजा देववर्मा था, जिसने अपना राजदूत चीन के सम्राट् की राजसभा में भेजा था। पांचवीं सदी के शुरू (४१४-१५ ई० प०) में जब प्रसिद्ध चीनी यात्री फाइयान भारत से चीन लौटा, तो वह मार्ग में यवद्वीप भी ठहरा। फाइयान के यात्रा-विवरणों से सूचित होता है, कि इस द्वीप में भारतीय लोग अच्छी बड़ी संख्या में निवास करते थे, और उनमें से बहुत से शैव धर्म के अनुयायी थे। फाइयान जिस जहाज से यवद्वीप गया था, उसमें २०० भारतीय व्यापारी भी थे।

पांचवीं सदी में यवद्वीप व उसके समीपवर्ती अन्य द्वीपों में बौद्ध-धर्म का प्रचार हुआ। इसका प्रधान श्रेय गुणवर्मा को है। गुणवर्मा का स्थान उन प्रचारकों में बहुत ऊंचा है, जिन्होंने विदेशों में बौद्ध-धर्म का प्रचार किया। वह काश्मीर के राजा संघानन्द का पुत्र और हरिभद्र का पौत्र था। बचपन से ही उसे बौद्ध-धर्म से बहुत अनुराग था। जब उसकी आयु तीस वर्ष की थी, उसके पिता की मृत्यु हो गई। अब उसे राज्य संभालने के लिये कहा गया, पर वह भिक्षुव्रत धारण कर चुका था, और उसने राजसिंहासन का त्याग कर बौद्ध-धर्म के प्रचार में ही अपने जीवन को लगा देने का निश्चय किया। पहले वह लंका गया, और कुछ समय वहां रहकर फिर उसने जावा के लिये प्रस्थान किया। जावा की राजमाता

शीघ्र ही उसके प्रभाव में आ गई, और उसने बौद्ध-धर्म को स्वीकार कर लिया। माता की प्रेरणा से जावा के राजा ने भी बौद्ध-धर्म की दीक्षा ली। इसी समय किसी विदेशी सेना ने जावा पर आक्रमण किया। अहिंसा-प्रधान बौद्ध-धर्म के अनुयायी राजा के सम्मुख यह समस्या उपस्थित हुई कि इस आक्रमण का मुकाबला करने के लिये युद्ध करना चाहिये या नहीं। इस समस्या का समाधान गुणवर्मा ने किया। उसने कहा कि दस्युओं को नष्ट करना हिंसा नहीं है, और उनसे युद्ध करना सबका धर्म है। आक्रमण करनेवाली शत्रु-सेनाएं परास्त हो गई, और जावा की स्वतन्त्रता अक्षुण्ण रही।

गुणवर्मा की कीर्ति जावा के समीप के सब भारतीय उपनिवेशों में फैल गई थी। चीन में भी उसके ज्ञान और गुणों का यश पहुंच गया था। चीनी भिक्षुओं ने अपने राजा से प्रार्थना की, कि गुणवर्मा को चीन निमन्त्रित किया जाय। भिक्षुओं का आवेदन स्वीकार कर चीन के सम्राट् ने अपना दूत जावा के राजा और गुणवर्मा के पास भेजा और यह प्रार्थना की कि आचार्य-चीन पधारें। चीन के सम्राट् की प्रार्थना को गुणवर्मा ने स्वीकार कर लिया, और ४३१ ईस्वी में वह चीन के बन्दरगाह नानकिंग पहुंच गया। जिस जहाज पर गुणवर्मा चीन गया था, वह नन्दी नाम के भारतीय व्यापारी का था, जो भारत का माल बेचने के लिये चीन जा रहा था। जावा और समीप के अन्य द्वीपों में बौद्ध-धर्म के प्रचार में गुणवर्मा का कर्तृत्व बहुत अधिक है।

जावा में संस्कृत भाषा में लिखे हुए अनेक शिलालेख उपलब्ध हुए हैं। इनमें से चार लेख पांचवी सदी के मध्य भाग के हैं, जिन्हें राजा पूर्णवर्मा ने उत्कीर्ण कराया था। पूर्णवर्मा की राजधानी तारूमा थी, जो वर्तमान जाकर्ता के समीप ही स्थित थी। इन लेखों से यह भी सूचित होता है, कि पूर्णवर्मा के पूर्वज राजाधिराज ने चन्द्रभागा नामक नहर खुदवाकर उसे समुद्र तक पहुंचवाया था। पूर्णवर्मा ने स्वयं भी गोमती नाम की एक नहर खुदवाई थी।

शैलेन्द्र वंश—सातवीं सदी में श्रीविजय (सुमात्रा में) के प्रतापी शैलेन्द्रवंशी राजाओं ने जावा को जीतकर अपने साम्राज्य के अन्तर्गत कर लिया। शैलेन्द्र वंश के राजा बड़े महत्त्वाकांक्षी और प्रतापी थे। उन्होंने न केवल जावा को अपने अधीन किया, अपितु मलाया कम्बोडिया और दक्षिणी बरमा को भी जीत लिया। सातवीं सदी से बारहवीं सदी तक शैलेन्द्र वंश के राजा दक्षिण-पूर्वी एशिया के बहुत से प्रदेशों और द्वीपों का शासन करते रहे। इन राजाओं के शिलालेख न केवल सुमात्रा में अपितु जावा आदि अन्य द्वीपों में भी अच्छी बड़ी संख्या

में उपलब्ध हुए हैं। ये सब लेख संस्कृत में हैं, और इनसे शैलेन्द्र राजाओं के वैभव और शक्ति का सुचारु रूप से परिचय प्राप्त होता है। शैलेन्द्र-वंश के राजा बौद्ध-धर्म के अनुयायी थे, और उनके संरक्षण के कारण दक्षिण-पूर्वी एशिया में बौद्ध-धर्म का बहुत अधिक उत्कर्ष हुआ। इन्होंने इस क्षेत्र में बहुत से बौद्ध विहार व चैत्यों का भी निर्माण कराया। शैलेन्द्र वंश की दक्षिण-पूर्वी एशिया के प्राचीन इतिहास में वही स्थिति है, जो भारत के इतिहास में गुप्त-वंश की थी। जिस प्रकार गुप्त-वंश के प्रतापी सम्राटों ने प्रायः सम्पूर्ण भारत को जीतकर अपने अधीन कर लिया, उसी प्रकार श्रीविजय के शैलेन्द्र-वंश के राजाओं ने न केवल इन्डोनीसिया के प्रायः सब द्वीपों को अपितु इन्डोचायना के बड़े भाग, मलाया और दक्षिणी बरमा को भी जीतकर अपने साम्राज्य में सम्मिलित किया। भारत के साथ भी इन शैलेन्द्र राजाओं का घनिष्ठ सम्बन्ध था। यही कारण है, कि जहां इन राजाओं के उत्कीर्ण लेख जावा सुमात्रा मलाया आदि में उपलब्ध होते हैं, वहां भारत में भी इनके साथ सम्बन्ध रखनेवाले कुछ लेख मिले हैं। चीनी और अरब लेखकों ने भी इनके विषय में बहुत कुछ लिखा है। अरब लेखक इब्न रोस्ता (६०३ ई० प०) ने लिखा था, "जावक (जावा) का महान् शासक महाराजा कहलाता है। वह भारत के राजाओं में सबसे बड़ा इसलिये नहीं माना जाता, क्योंकि वह द्वीपों का स्वामी है। उस जैसा धनी एवं शक्तिशाली दूसरा कोई राजा नहीं है, और न किसी की उतनी बड़ी आमदनी ही है।" भारत में नालन्दा की खुदाई में एक ताम्रपत्र मिला है, जिसमें श्रीविजय के शैलेन्द्र राजा का वर्णन है। इस ताम्रपत्र में यह उल्लेख किया गया है, कि 'शैलेन्द्रवंशतिलक यवभूमिपाल' महाराज श्री बालपुत्र देव ने नालन्दा में एक विहार क निर्माण कराया, और उसके लिये राजा देवपाल से कहकर राजगृह विषय (जिले) के नंदिबनक, मणिवाटक, नाटिकाग्राम तथा हस्तिग्राम और गया विषय (जिले) के पामालक गांव का दान किया। पालवंशी भारतीय राजाओं के समान श्रीविजय के शैलेन्द्र राजा भी नालन्दा के महाविहार के संरक्षक थे, यह इस ताम्रपत्र से सूचित होता है।

शैलेन्द्रवंश के राजाओं का राजनीतिक इतिहास यद्यपि बहुत महत्त्व का है, पर दुर्भाग्यवश वह क्रमबद्ध रूप से उपलब्ध नहीं होता। पर उनकी कीर्ति और प्रताप के स्मारकरूप अनेक स्तूप व विहार अब तक भी दक्षिण-पूर्वी एशिया के विविध प्रदेशों में विद्यमान हैं। उनका सबसे पुराना अवशेष कलसन-मंदिर है, जो आठवीं सदी में बना था। इसे शैलेन्द्र राजा पणंकरण ने ७७८ ई० में बन-

वाया था, और कलसगांव नाम के एक ग्राम के साथ उसे भिक्षुसंघ को दान किया था। यह मन्दिर बृहत्तर भारत की वास्तुकला का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। पर शैलेन्द्र-युग की सबसे महत्त्वपूर्ण कृति बरोबदूर का महाचैत्य है, जो सांची के स्तूप के समान एक पहाड़ी पर स्थित है। जावा में विद्यमान यह विशाल स्तूप चारों ओर एक के ऊपर एक सीढ़ीनुमा नौ चक्करों से मिलकर बना है, जिनमें ऊपर की ओर का प्रत्येक चक्कर अपने से नीचेवाले चक्कर से थोड़ा भीतर की ओर सिमटा हुआ है। सबसे ऊपर के चक्कर के ऊपर घंटाकार चैत्य है। सबसे नीचे के चक्कर की लम्बाई १३१ गज है, और सबसे ऊपर की ३० गज है। अङ्कोरथोम के मन्दिर के समान बरोबदूर का यह चैत्य भी वस्तुतः एक अद्भुत और विशाल इमारत है। जो दर्शकों को आश्चर्य में डाल देती है। इस चैत्य के विविध गलियारों में सब मिलाकर १५०० चित्रावलियां चित्रित हैं, जिनका सम्बन्ध बौद्ध कथाओं के साथ है।

बाली द्वीप—जावा के पूर्व में बाली नाम का छोटा-सा द्वीप है, जिसकी जनसंख्या दस लाख के लगभग है। इन्डोनीसिया के अन्य द्वीपों से तो इस समय हिन्दू-धर्म का लोप हो चुका है, पर बाली में वह अब तक भी जीवित रूप से विद्यमान है। इस दृष्टि से बृहत्तर भारत के इतिहास में बाली का महत्त्व बहुत अधिक है। चीनी अनुश्रुति द्वारा ज्ञात होता है, कि छठी सदी ईस्वी में बाली द्वीप में भारतीयों का निवास था, और वहां के राजवंश का नाम कौण्डिन्य था। ५१८ ई० प० बाली के भारतीय राजा ने अपना एक राजदूत चीन के सम्राट् की सेवा में भी भेजा था। इत्सिंग के यात्रा-विवरण से ज्ञात होता है, कि उसके समय (सातवीं सदी का उत्तरार्ध) में बाली में बौद्ध-धर्म के मूल सर्वास्तिवाद सम्प्रदाय का प्रचार था।

इन्डोनीसिया के अन्य द्वीपों के समान बाली से भी संस्कृत भाषा में लिखे हुए अनेक शिलालेख उपलब्ध हुए हैं।

बोर्नियो—इन्डोनीसिया के द्वीपों में बोर्नियो सबसे बड़ा है। इस द्वीप के सबसे पुराने उत्कीर्ण लेख महकम नदी के तट पर उपलब्ध हुए हैं, जिनसे सूचित होता है कि प्राचीन समय में यहां भी भारतीयों का उपनिवेश विद्यमान था। ४०० ईस्वी के लगभग के चार शिलालेख इस द्वीप से मिले हैं, जिनमें राजा अश्ववर्मा के पुत्र मूलवर्मा के दानपुण्य और यज्ञों का वर्णन है। संस्कृत भाषा के के ये लेख जिन स्तम्भों पर उत्कीर्ण हैं, वे राजा मूलवर्मा के यज्ञों में यूप के तौर पर प्रयुक्त होने के लिये बनाये गये थे। इन यज्ञों के अवसर पर वप्रकेश्वर तीर्थ में बीस हजार गौएं और बहुत सा दान दिया गया था।

पूर्वी बोर्नियो में भी बहुत से ऐसे ध्वंसावशेष मिले हैं, जो इस द्वीप में हिन्दू-संस्कृति की सत्ता के अकाट्य प्रमाण हैं। इनमें कोम्बेङ की गुफा सबसे महत्त्व-पूर्ण है। यह गुफा तेलेन नदी की ऊपरी धारा के पूर्व में स्थित है। गुफा में दो कोठरियां हैं। पिछली कोठरी में बलुए पत्थर से बनी हुई बारह मूर्तियां हैं, जो शिव, गणेश, नन्दी, अगस्त्य, नन्दीश्वर, ब्रह्मा, स्कन्द और महाकाल की हैं। अन्यत्र भी बोर्नियो द्वीप में प्राचीन युग के बहुत से ऐसे अवशेष मिले हैं, जो वहां पौरा-णिक और बौद्ध-धर्मों की सत्ता को सिद्ध करते हैं।

फिलिप्पीन और सेलेबीज द्वीपों तक से ऐसी मूर्तियां मिली हैं, जो इन सुदूरवर्ती द्वीपों तक में भारतीय संस्कृति और धर्म के प्रचार का प्रमाण उपस्थित करती हैं।

दक्षिण-पूर्वी एशिया में वृहत्तर भारत के विकास का अनुशीलन करते हुए हमें यह दृष्टि में रखना चाहिये, कि सुदूर पूर्व के इन उपनिवेशों की स्थापना किसी राजा या सम्राट् की कृति नहीं थी। जिस प्रवृत्ति से आर्य लोग भारत में दूर-दूर तक बसे थे, उसी से वे बंगाल की खाड़ी को पार कर इन प्रदेशों में भी आबाद हुए थे। प्राचीन समय में आर्यों में उत्कट जीवनी शक्ति थी, और वे विघ्न-बाधाओं की परवाह न करते हुए दूर-दूर तक जाकर बसने में तत्पर रहते थे। राजकुमारों और योद्धाओं की महत्त्वाकांक्षायें, व्यापारियों की धनलिप्सा और मुनियों व भिक्खुओं की धर्मसाधना—इन सब प्रवृत्तियों ने मिलकर भारत के इन उपनिवेशों को जन्म दिया था। भारत के साथ इनका बहुत निकट संबंध था। धर्म-प्रचारक और व्यापारी इनमें निरंतर आते-जाते रहते थे। समुद्रगुप्त जैसे प्रतापी दिग्विजयी सम्राट् इन उपनिवेशों को भी अपने चातुरंत साम्राज्य में सम्मिलित करने के लिये प्रयत्न करते थे। वस्तुतः, ये उपनिवेश भारत के ही अंग थे। यह बात बड़े महत्त्व की है, कि सुदूर पूर्व का यह सारा एशिया इस युग में भारतीय धर्म और सभ्यता का अनुयायी था। वहां अपना पैर जमाकर भारतीय लोग चीन के विशाल भूखंड में अपने धर्म और व्यापार का प्रसार करने में लगे थे, और इस प्रकार एशिया का बहुत बड़ा भाग इस युग में भारतीय जीवन और संस्कृति से अनुप्राणित हो रहा था।

(३) उत्तर-पश्चिम का बृहत्तर भारत

उत्तर-पश्चिमी भारत के गांधार और कंबोज बौद्ध-काल के सोलह महाजन-पदों में सम्मिलित थे। कंबोज का अभिप्राय हिन्दूकुश पर्वत से परे पामीर के

पार्वत्य प्रदेश और बदख्शां से है। गांधार राज्य में सिन्ध नदी के पूर्वी और पश्चिमी प्रदेश अन्तर्गत थे, जिनकी राजधानी क्रमशः तक्षशिला और पुष्करावती थीं। प्राचीन समय में गान्धार और कम्बोज भारत के ही अंग थे, इसीलिये उनकी गणना बौद्ध-युग के सोलह महाजनपदों में की जाती थी। पर प्राचीन समय में भारतीयों ने गान्धार और कम्बोज से भी परे बाल्हीक (बल्ख) से भी आगे बढ़कर अपनी संस्कृति और धर्म का विस्तार किया, और इस प्रकार बृहत्तर भारत के एक नये क्षेत्र का निर्माण किया। इस प्रक्रिया का प्रारंभ मौर्य काल में हुआ था। सम्राट् अशोक की धर्मविजय की नीति के कारण खोतन तथा उसके समीपवर्ती प्रदेशों में किस प्रकार भारतीय उपनिवेशों का सूत्रपात हुआ, और कैसे वहां बौद्ध-धर्म का प्रचार हुआ, इसपर हम पहले प्रकाश डाल चुके हैं। अशोक के समय में जिस प्रक्रिया का प्रारंभ हुआ था, वह गुप्त-काल में पूर्ण विकास को प्राप्त हुई। इस सारे प्रदेश में अनेक भारतीय उपनिवेशों का विस्तार हुआ, जिनमें भारतीय लोग बड़ी संख्या में जाकर आबाद हुए। मूल निवासियों के साथ विवाह करके उन्होंने एक नई संकर जाति का विकास किया, जो धर्म, सभ्यता, भाषा और संस्कृति में भारतीय ही थी।

इस क्षेत्र के राज्य—इस उत्तर-पश्चिमी बृहत्तर भारत में निम्नलिखित राज्य सम्मिलित थे–(१) शैलदेश (काशगर), (२) चौक्कुक (यारकंद), (३) खोतन्न (खोतन), (४) चल्मद (शान शान), (५) भरुक (पोलुकिया), (६) कुची (कुचर), (७) अग्निदेश (करासहर) और (८) कोचांग (तुर्फान)। इन आठ राज्यों में खोतन और कुची सबसे मुख्य थे, और इनके भी परे के चीन व अन्य राज्यों में भारतीय धर्म व संस्कृति के प्रसार में इन्होंने बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य किया था।

चौक्कुक, खोतन्न, शैलदेश और चल्मद में भारतीयों की आबादी बहुत थी। इनमें बहुत बड़ी संख्या में भारतीय लोग आबाद हुए थे। कंबोज और गांधार से इनका व्यापार-संबंध भी बहुत घनिष्ठ था। व्यापार के कारण ये निरंतर भारत में आते-जाते रहते थे। यहां की भाषा भी प्राकृत थी, जो उत्तर-पश्चिमी भारत की प्राकृत भाषा से बहुत मिलती-जुलती थी। पहले यह भारतीय प्राकृत खरोष्ठी लिपि में लिखी जाती थी। मौर्य काल में यह लिपि सारे उत्तर-पश्चिमी भारत में प्रचलित थी। अब गुप्त-काल में इन उपनिवेशों में भी ब्राह्मी लिपि का प्रयोग होने लगा था। ब्राह्मी लिपि के साथ-साथ संस्कृत भाषा का भी इन उपनिवेशों में प्रसार हुआ। यद्यपि सर्वसाधारण लोग पुरानी प्राकृत का ही प्रयोग

करते थे, पर सुशिक्षित लोग संस्कृत का अध्ययन अवश्य करते थे। चौथी सदी के अंत में जब प्रसिद्ध चीनी यात्री फाइयान इस प्रदेश में आया, तो यहां का वर्णन करते हुए उसने लिखा, कि इन प्रदेशों के निवासी धर्म और संस्कृति की दृष्टि से भारतीयों के बहुत समीप हैं। भिक्षु लोग सब संस्कृत पढ़ते हैं, और बौद्ध-धर्म की भारतीय पुस्तकों का अध्ययन करते हैं। यही कारण है, कि इस समय बहुत से प्राचीन संस्कृत ग्रंथ इस प्रदेश से प्राप्त हुए है। अनेक ग्रंथ संस्कृत के साथ-साथ वहां की पुरानी स्थानीय भाषाओं में भी हैं। इन प्रदेशों की अपनी भाषाओं का परिचय पहले-पहल इन्हीं ग्रंथों से मिलता है।

खोतन—गुप्त-काल में खोतन किस प्रकार भारतीय धर्म और संस्कृति का महत्त्वपूर्ण केन्द्र था, यह बात हमें प्राचीन अनुश्रुति व पुरातत्त्व संबंधी अवशेषों से ज्ञात होती है। खोतन में बौद्ध-धर्म की दशा का वर्णन फाइयान ने इस प्रकार किया है—"यहां के निवासी बौद्ध-धर्म के अनुयायी हैं। भिक्षुओं की संख्या हजारों में है। अधिकांश भिक्षु महायान संप्रदाय के अनुयायी हैं। साधारण लोग अपने-अपने घरों में निवास करते हैं। प्रत्येक घर के सामने बौद्ध स्तूप बनाये गये हैं। इनमें से कोई भी ऊंचाई में बीस फीट से कम नहीं हैं।"

फाइयान खोतन के गोमती विहार में ठहरा था। इस विहार में तीन हजार के लगभग बौद्ध भिक्खु निवास करते थे। जब घंटी बजती थी, तीन हजार भिक्खु भोजन के लिये एक स्थान पर एकत्र हो जाते थे, सबके मुख पर गंभीर मुद्रा दिखाई पड़ती थी। फाइयान के अनुसार "सब भिक्खु बाकायदा बैठकर चुप रहते हुए भोजन करते थे। भोजनपात्रों तक की खड़-खड़ नहीं सुनाई पड़ती, सब ओर शांति विराजती है। अगर भोजन परोसनेवालों को कुछ कहने की जरूरत होती है, तब भी उन्हें आवाज नहीं दी जाती। केवल इशारा कर दिया जाता है।" फाइयान के समय में खोतन में चौदह बड़े बौद्ध विहार थे। उनके अतिरिक्त छोटे-छोटे विहार और भी बहुत से थे। जैसे भारत में रथयात्रा का जलूस निकलता है, वैसे ही खोतन में बौद्धों की एक बहुत बड़ी रथयात्रा निकलती थी। इस अवसर पर सारे शहर की सफाई की जाती थी। मकान सजाये जाते थे। जलूस में सबसे आगे गोमती विहार के तीन हजार भिक्खु रहते थे। शहर से तीन या चार ली की दूरी पर चार पहियोंवाली एक बड़ी रथ तैयार की जाती थी। इसकी ऊंचाई तीस फीट से अधिक रक्खी जाती थी। यह एक चलता-फिरता चैत्य-सा होता था, जिसे तोरण आदि से खूब सजाया जाता था। रथ के ठीक बीच में भगवान् बुद्ध की मूर्ति स्थापित की जाती थी। केंद्र की बुद्ध-मूर्ति के पीछे और अगल-

बगल में बोधिसत्वों और देवों की मूर्तियां रखी जाती थीं। ये सब मूर्तियां सोने और चांदी की होती थीं। जब रथयात्रा का जलूस शहर के मुख्य द्वार से सौ गज की दूरी पर होता था, तो राजा उसका स्वागत करता था। इस अवसर पर वह राजकीय वेश उतारकर उपासकों के वस्त्र धारण करता था और नंगे पैर चलकर अपने पार्श्वचरों के साथ रथयात्रा के स्वागत के लिये आगे बढ़ता था। मूर्ति के सम्मुख आने पर राजा फूलों और सुगंधि से उसकी अर्चना करता था। इसके बाद फाइयान ने नये राजकीय विहार का वर्णन किया है, जिसे बनकर तैयार होने में अस्सी साल लगे थे। यह २५० फीट ऊंचा था, और सोने-चांदी से इसे भली भांति विभूषित किया गया था। भिक्षुओं के निवास के लिये इसमें सुन्दर भवन बनाये गये थे, और दूर-दूर के राजा इसके सम्मान में बहुमूल्य भेंट और उपहार भेजा करते थे। फाइयान के इस विवरण से भली-भांति स्पष्ट हो जाता है, कि चौथी सदी में सारा खोतन बौद्ध-धर्म का अनुयायी था। राजा और प्रजा, सब बुद्ध के भक्त थे। इस देश के विहार और चैत्य सब इस काल में खूब फूल-फल रहे थे। उनमें हजारों भिक्खु निवास करते थे, जो न केवल बौद्ध-धर्म के प्रसार के लिये तत्पर रहते थे, पर विद्या के अध्ययन और शिक्षा में भी समय व्यतीत करते थे। खोतन के ये विहार शिक्षा के बड़े महत्वपूर्ण केन्द्र थे। संस्कृत के बहुत से बौद्ध ग्रंथ इनमें संगृहीत रहते थे। अनेक महत्त्व के ग्रंथ जो अन्यत्र नहीं मिल सकते थे, खोतन में प्राप्त हो जाते थे। यही कारण है, कि धर्मक्षेत्र नाम का बौद्ध विद्वान् जो इस समय चीन में प्रचार का कार्य कर रहा था, ४३३ ईस्वी में महापरिनिर्वाण सूत्र की खोज में खोतन आया था।

खोतन में कई स्थानों पर प्राचीन बौद्ध-काल के अवशेष मिले हैं। इसमें योत्कन, रावक, दण्डन उलिक और नीया मुख्य हैं। इन सब स्थानों पर जो खुदाई पिछले दिनों में हुई है, उससे बौद्ध विहारों और चैत्यों के बहुत-से खण्डहर, मूर्तियों और प्रतिमाओं के अवशेष तथा बहुत-से हस्तलिखित ग्रंथ व चित्र उपलब्ध हुए हैं। खोतन में आठवीं सदी के अंत तक भारतीय संस्कृति और धर्म का खूब प्रचार रहा। बाद में इस्लाम के प्रवेश ने इस भारतीय उपनिवेश के स्वरूप को ही बिलकुल बदल दिया। चीन में जो बौद्ध-धर्म का प्रसार हुआ उसका प्रधान श्रेय खोतन और उसके समीप के मध्य एशिया के अन्य प्रदेशों के बौद्ध-भिक्खुओं को ही है। उसी को आधार बनाकर भिक्खु लोग चीन में दूर-दूर तक गये, और धीरे-धीरे सारे चीन को बौद्ध-धर्म का अनुयायी बनाने में सफल हुए। गुप्त-काल में खोतन का यह भारतीय उपनिवेश बहुत ही समृद्ध दशा में था। गांधार,

कंबोज के कुशाण राजा भी बौद्ध-धर्म के अनुयायी थे। पर जब गुप्त-सम्राटों ने इन कुशाणों को अपना अधीनस्थ राजा बना लिया, तब तो भारत और खोतन का संबंध और भी घनिष्ठ हो गया।

खोतन में न केवल बौद्ध-युग के अवशेष मिले हैं, अपितु बहुत से लेख भी प्राप्त हुए हैं। इनमें मासी मजार (खोतन नगर से १३ मील दूर), नीया और लोन् लन् में प्राप्त हुए लेख महत्त्वपूर्ण हैं। ये लेख खरोष्ठी लिपि में हैं, और काष्ठ-पट्टिकाओं पर लिखे गये हैं। इन पट्टिकाओं की लम्बाई ७½ से १५ इंच तक और चौड़ाई १½ से २½ इंच तक है। कुछ पट्टिकायें चौकोर भी हैं। इनको पत्र की तरह भेजते हुए लिफाफे की तरह दूसरी काष्ठ-पट्टिकाओं से ढककर मुहर लगा दी जाती थी। लिफाफे का काम करनेवाली पट्टिकाओं पर एक तरफ पाने-वाले का नाम और दूसरी तरफ पत्रदूत का नाम रहता था। खरोष्ठी लिपि में लिखे हुए कुछ पत्र ऐसे भी मिले हैं, जो चमड़े पर लिखे गये हैं। नीये से मिले इन चर्मपत्रों की लम्बाई ६ से १२ इंच तक है, और चौड़ाई २ से ६ इंच तक। ये सब पत्र प्रायः राजकीय लिखा-पढ़ी से सम्बन्ध रखते हैं, और इनकी भाषा धम्मपद की प्राकृत भाषा से मिलती-जुलती है। खोतन में प्राप्त हुए इन लेखों का समय दूसरी और तीसरी सदी ई० प० के लगभग का माना जाता है।

खोतन के प्राचीन इतिहास के विषय में भी कुछ बातें उल्लेखनीय हैं। तिब्बती अनुश्रुति के अनुसार तीसरी सदी के प्रारम्भ में खोतन का राजा विजयसम्भव था। उसके वंशजों के नाम भी तिब्बती अनुश्रुति द्वारा ज्ञात होते हैं, और इस वंश के सभी राजाओं के नाम के साथ विजय लगा हुआ है। राजा विजयसम्भव के गुरु आर्य वैरोचन थे, जिन्होंने खोतनी भाषा के लिये एक लिपि तैयार की, जो भारत की ब्राह्मी लिपि के आधार पर बनाई गई थी। विजयसम्भव के वंश में राजा विजयवीर्य बहुत प्रसिद्ध हुआ। उसने अपने गुरु भारतीय भिक्षु बुद्धदूत के तत्त्वावधान में अनेक विहारों और स्तूपों का निर्माण कराया था।

कुची या कूचा—खोतन की तरह कुची का राज्य भी भारतीय संस्कृति का केंद्र था। पुराणों में सम्भवतः इसी को कुशद्वीप कहा गया है। वराहमिहिर ने बृहत्संहिता में शक, पल्हव आदि के साथ कुशिक जाति का भी उल्लेख किया है, जो कुची के निवासियों को ही सूचित करती है। एक संस्कृत चीनी कोश में इसका नाम 'कुचिन्' दिया गया है, और वर्तमान चीनी भाषा में इसे कुची कहते हैं। कुची या कूचा का यह राज्य उत्तरी तरिम-उपत्यका में स्थित था। यहां के निवासियों में भी भारतीयों की संख्या बहुत थी। चौथी सदी के शुरू तक यह सारा

प्रदेश बौद्ध-धर्म का अनुयायी हो चुका था, और प्राचीन चीनी अनुश्रुति के अनुसार इसमें बौद्ध विहारों और चैत्यों की संख्या दस हजार तक पहुंच चुकी थी। चीन के प्राचीन इतिवृत्त के अनुसार कुची के राज्य में बहुत से विहार थे। ये बहुत ही सुंदर और विशाल बने हुए थे। राजप्रासाद में भी बुद्ध की मूर्तियों की उसी तरह प्रचुरता थी, जैसे किसी विहार में होती है। तामू के विहार में १७० भिक्खु रहते थे। पर्वत के ऊपर बने हुए चेली के विहार में ५० भिक्खुओं का निवास था। राजा ने जो नया विहार बनवाया, उसे किएन मू कहते थे, और उसमें ६० भिक्खु रहते थे। वेनसू के राजकीय विहार में भिक्खुओं की संख्या ६० थी। ये चारों विहार बुद्धस्वामी नाम के आचार्य द्वारा संचालित हो रहे थे। कोई भिक्खु एक स्थान पर तीन महीने से अधिक समय तक नहीं रह पाता था। बुद्धस्वामी के निरीक्षण में तीन अन्य विहार थे, जिनमें क्रमशः १८०, ५० और ३० भिक्खु रहते थे। इनमें से एक विहार में केवल भिक्खुनियां ही रहती थीं। ये भिक्खुनियां प्रायः राज-घरानों की थीं। पामीर के प्रदेश में जो विविध भारतीय उपनिवेश थे, उन्हीं के राजकुलों की कुमारियां भिक्षुव्रत लेकर इन विहारों में रहती थीं, और बौद्ध-धर्म का बड़ी तत्परता के साथ पालन करती थीं।

कुची के राजाओं के नाम भी भारतीय थे। वहां के कुछ राजाओं के नाम स्वर्णदेव, हरदेव, सुवर्णपुष्प और हरिपुष्प हैं, जो इस राज्य के भारतीय संस्कृति के गढ़ होने के स्पष्ट प्रमाण हैं। कुची में जो खुदाई पिछले दिनों में हुई है, उसमें विहारों और चैत्यों के बहुत से अवशेष मिले हैं। इसमें संदेह नहीं, कि खोतन के समान कुची भी भारत का एक समृद्ध तथा वैभवशाली उपनिवेश था।

इस प्रसंग में आचार्य कुमारजीव का उल्लेख करना बहुत आवश्यक है। उसके पिता का नाम कुमारायन था। वह भारत के एक राजकुल में उत्पन्न हुआ था, पर अन्य अनेक राजकुमारों की तरह वह भी युवावस्था में ही बौद्ध भिक्षु बन गया था। भिक्षु होकर वह कुची पहुंचा। वहां के राजा ने उसका बड़े समारोह से स्वागत किया और उसकी विद्या तथा ज्ञान से प्रभावित होकर उसे राजगुरु के पद पर नियुक्त किया। पर कुमारायन देर तक भिक्षु नहीं रह सका। कुची के राजा की बहन जीवा उसपर मोहित हो गई, और अंत में दोनों का विवाह हो गया। इनके दो संतानें हुई, कुमारजीव और पुष्यदेव। जब कुमारजीव की आयु केवल सात वर्ष की थी, तो उसकी माता जीवा भिक्खुनी हो गई, और अपने योग्य तथा होन-हार पुत्र को लेकर भारत आई। भारत आने में उसका उद्देश्य यह था, कि कुमार-जीव को बौद्ध-धर्म की ऊंची से ऊंची शिक्षा दी जावे। अनेक प्रदेशों का भ्रमण

करने के बाद जीवा काश्मीर आई। वहां उन दिनों बंधुदत्त नाम का बौद्ध आचार्य बड़ा प्रसिद्ध था। वह काश्मीर के राजा का भाई था, और अपने पांडित्य के लिये उसका नाम दूर-दूर तक फैला हुआ था। बंधुदत्त के चरणों में बैठकर कुमारजीव ने सब बौद्ध आगम को पढ़ा, और धीरे-धीरे वह एक प्रकांड पंडित हो गया। काश्मीर में विद्याग्रहण करने के बाद कुमारजीव शैलदेश (काशगर) आया, और वहां उसने चारों वेदों, वेदांगों, दर्शन और ज्योतिष आदि का अध्ययन किया। उस समय शैलदेश प्राचीन वैदिक धर्म का बहुत बड़ा केंद्र था। इसीलिये कुमारजीव ने वैदिक साहित्य का वहां जाकर अध्ययन किया था। शैलदेश से वह चोक्कुक (यारकंद) गया और वहां उसने नागार्जुन, आर्यदेव आदि प्रसिद्ध आचार्यों के ग्रंथों का अनुशीलन किया। इसके बाद उसने चोक्कुक में महायान संप्रदाय में बाकायदा प्रवेश किया। इस प्रकार बौद्ध और वैदिक साहित्य का पूर्ण पंडित होकर वह कुची वापस लौटा। अपनी मातृभूमि में उसने अध्यापन का कार्य शुरू किया। उसकी विद्वत्ता की कीर्ति सुनकर दूर-दूर के विद्यार्थी उसके पास शिक्षा ग्रहण करने के लिये आने लगे और थोड़े ही समय में कुची विद्या का एक महत्त्वपूर्ण केंद्र बन गया।

पर कुमारजीव देर तक कुची में नहीं रह सका। ३८३ ईस्वी के लगभग कुची पर चीन ने आक्रमण किया। चीन की विशाल शक्ति का मुकाबला कर सकना कुची जैसे छोटे से राज्य के लिये संभव नहीं था। फिर भी वहां के राजा ने वीरता के साथ युद्ध किया, पर अंत में कुची पर चीन का अधिकार हो गया। जो बहुत से कैदी कुची से चीन ले जाये गये, उनमें कुमारजीव भी एक था। पर सूर्य देर तक बादलों में नहीं छिपा रह सकता। कुमारजीव की विद्या की ख्याति चीन में सर्वत्र फैल गई, और वहां के सम्राट् ने उसे अपने राजदरबार में आमंत्रित किया। ४०१ ई० में कुमारजीव चीन की राजधानी में पहुंचा। वहां उसका बड़ा सत्कार हुआ। वह संस्कृत और चीनी का अनुपम विद्वान् था। शास्त्रों में उसकी अप्रतिहत गति थी। अतः उसे यह कार्य सुपुर्द किया गया, कि वह संस्कृत के प्रामाणिक बौद्ध ग्रंथों का चीनी भाषा में अनुवाद करे। इस कार्य में उसकी सहायता के लिये अन्य बहुत से विद्वान् नियत कर दिये गये। दस वर्ष के लगभग समय में उसने १०६ संस्कृत ग्रंथों का चीनी भाषा में अनुवाद किया। महायान संप्रदाय का चीन में प्रसार कुमारजीव द्वारा ही हुआ। उसके पांडित्य की कीर्ति सारे चीन में फैली हुई थी। उससे शिक्षा ग्रहण करने के लिये दूर-दूर से चीनी विद्यार्थी और भिक्षु उसकी सेवा में पहुंचते थे।

अपने कार्य में सहायता के लिये कुमारजीव ने बहुत से विद्वानों को भारत

से चीन बुलाया। वह भारत में शिक्षा ग्रहण कर चुका था। काश्मीर के बौद्ध पंडितों से उसका घनिष्ठ परिचय था। उसके अनुरोध से जो भारतीय विद्वान् चीन गये, उनमें पुण्यत्रात, बुद्धयश, गौतम संघदेव, धर्मयश, गुणवर्मन, गुणभद्र और बुद्धवर्मन के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। चीन में जो बौद्ध-धर्म का प्रसार हुआ, उसमें ये सब कुमारजीव के सहयोगी थे। चीन में इन विद्वानों का बड़ा ऊंचा स्थान है। ये सब वहां धर्मगुरु और धर्माचार्य के रूप में माने जाते हैं। इन्हीं के साहस, पांडित्य और लगन का यह परिणाम हुआ, कि धीरे-धीरे सारा चीन बौद्ध-धर्म का अनुयायी हो गया। आज चीन में जो सैकड़ों बौद्ध ग्रंथ उपलब्ध होते हैं, यह इन्हीं विद्वानों की कृति का परिणाम है। इन ग्रन्थों में बहुत से अब अपने संस्कृत के मूलरूप में नहीं मिलते, पर चीनी अनुवाद के रूप में वे अब भी चीन में विद्यमान हैं। अब उनका फिर से संस्कृत रूपांतर किया जा रहा है।

कुमारजीव के निमंत्रण पर जो विद्वान् चीन गये थे, उनके अतिरिक्त भी अनेक बौद्ध पण्डित इस काल में चीन गये। ये सब चीन में ही बस गये, और वहीं पर इनकी मृत्यु हुई। आचार्य कुमारगुप्त की मृत्यु ४१२ ई० प० में चीन में ही हुई थी।

तुर्फान—कुची या कूचा से पूर्व में तुर्फान नाम का मरु देश है, जिसमें बहुत से प्राचीन नगरों के ध्वंसावशेष पाये जाते हैं। इस मरुभूमि में भी संस्कृत, चीनी ईरानी और तुर्की भाषाओं के बहुत से हस्तलेख उपलब्ध हुए हैं। पांचवीं सदी ईस्वी तक इस देश में बौद्ध-धर्म का भलीभांति प्रचार हो गया था, और वहां के राजा चाउ (मृत्युकाल ४८० ई० प०)ने मैत्रेय का मन्दिर बनवाकर एक लम्बा लेख उसकी स्थापना की स्मृति में उत्कीर्ण कराया था। इस प्रदेश से भी बौद्ध-मूर्तियों और विहारों के भग्नावशेष मिले हैं।

काशगर—राजा कनिष्क के साम्राज्य में खोतन के समान काशगर का प्रदेश भी सम्मिलित था। सम्भवतः उसी समय से वहां बौद्ध-धर्म का प्रचार हुआ। ४०० ईस्वी के लगभग जब चीनी यात्री फाहियान काशगर आया था, तो वहां पंचवार्षिक महोत्सव मनाया जा रहा था, जिसमें भगवान् बुद्ध की अस्थि (धातु या शरीर) के दर्शन किये जाते थे। काशगर में उस समय एक बौद्ध विहार था, जिसमें १००० भिक्षु निवास करते थे। ये भिक्षु महायान सम्प्रदाय के अनुयायी थे। ४६० ईस्वी में काशगर के राजा ने चीन के दरबार में बुद्ध के चीवर को भेजा था। चीनी यात्री ह्युनत्सांग के यात्राविवरण से भी काशगर में बौद्ध-धर्म की सत्ता प्रमाणित होती है।

प्राचीन ऐतिहासिक निधियां—उत्तर-पश्चिमी बृहत्तर भारत के अन्य राज्यों के सम्बन्ध में कोई महत्त्व की ऐसी बात नहीं है, जिसके उल्लेखकी यहां आवश्यकता हो। पर इस प्रसंग में उन ऐतिहासिक निधियों का जिक्र करना उपयोगी है, जो इस क्षेत्र के विविध प्रदेशों में उपलब्ध हुई हैं। बीसवीं सदी में रूस, फ्रांस, जर्मनी, ब्रिटेन आदि पाश्चात्य देशों के पुरातत्त्ववेत्ताओं को इस प्रदेश में अनेक स्थानों पर ऐसे अवशेष प्राप्त हुए हैं, जिनसे इसके प्राचीन इतिहास के विषय में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सामग्री हाथ लग गई है।

कुची से पूर्व की ओर करासहर, तुर्फान आदि को पार कर चीन की सीमा के पास तुन-ह्वाङ नामक स्थान है। इसके दक्षिण-पश्चिम में नंगे पहाड़ों की पंक्तियां है, जो खोदकर बनाई गई गुफाओं के कारण मधुछत्र-सी प्रतीत होते है। इन्हें सहस्र बुद्ध गुहा विहार कहते हैं। तुन-ह्वाङ की प्राचीन गुफायें चौथी सदी ईस्वी में बनाई जानी शुरू हुई, और छठी सदी तक बनती रहीं। सहस्र बुद्ध गुहा विहार की ये गुफायें तुन-ह्वाङ से नौ मील हैं, और एक हजार गज से भी अधिक दूरी तक फैली हुई है। इन गुफाओं की भित्तियों पर बहुत से चित्र हैं, और उनमें बहुत सी सुन्दर मूर्तियां भी विद्यमान हैं। भारत की अजन्ता गुफाओं में जिस ढंग के चित्र है, वैसे ही इनमें भी हैं। भेद यह है, कि सहस्र बुद्धगुहाओं के चित्र अधिक सुरक्षित दशा में हैं। तुन-ह्वांङ के समीप के ये गुहाचित्र भारतीय कला, गान्धार कला और चीनी कला के सम्मिश्रण के परिणाम हैं। अनेक चित्रों में ग्रीक, ईरानी और नैपाली शैली का प्रभाव भी दृष्टिगोचर होता है। चित्र दो प्रकार के हैं, बोधिसत्वों, अर्हतों और देवताओं के, और सांसारिक जीवन के साथ सम्बन्ध रखनेवाले। इन गुहाओं की मूर्तियां प्रधानतया बौद्ध-धर्म के महायान सम्प्रदाय के साथ सम्बन्ध रखती हैं।

तुन-ह्वाङ की गुहाओं में केवल चित्र और मूर्तियां ही उपलब्ध नहीं हुईं, अपितु वहां पुस्तकों का एक बहुत बड़ा भण्डार भी प्राप्त हुआ है। सहस्र बुद्ध-गुहा विहार की एक गुफा को खोदते हुए अकस्मात् एक छोटी गुफा निकल आई, जो हस्तलिखित पुस्तकों से बिलकुल भरी हुई थी। ये पुस्तकें चीनी तिब्बती उइगुर और संस्कृत भाषाओं में लिखी हुई हैं। इनमें से बहुत सी पुस्तकों में ब्राह्मी और खरोष्टी लिपियों का प्रयोग किया गया है। तुन-ह्वांङ के समीप की गुफाओं में जो पुस्तक-भण्डार मिला है, उसकी पुस्तक-संख्या हजारों में है। अभी इसकी सूची पूर्ण रूप से नहीं बन सकी है। पर फ्रांस, ब्रिटेन आदि के विद्वान् इसे अपने देशों में ले गये हैं।

तुन-ह्वाङ् के समान कूचा, कासगर और लोलन आदि मध्य एशिया के अन्य स्थानों से भी प्राचीन पुस्तकें प्राप्त हुई हैं, और इस प्रदेश के ये पुस्तक-भण्डार मध्य एशिया में भारतीय धर्म भाषा और संस्कृति के प्रचार के ठोस प्रमाण हैं।

तुन-ह्वांङ की गुफाओं का बड़ा भाग चौथी सदी से छठी सदी तक बना था। पर बाद में भी इन गुफाओं का निर्माण होता रहा। चौदहवीं सदी तक अनेक श्रद्धालु राजा और सम्पन्न पुरुष यहां विहारों, मूर्तियों और चैत्यों के निमित्त गुहाओं का निर्माण कराते रहे। आठवीं से चौदहवीं सदी तक के भी बहुत से उत्कीर्ण लेख इस स्थान से मिले हैं, जिनमें सहस्रबुद्ध गुहाविहार के लिये दान, नवनिर्माण और पुर्नानिर्माण का उल्लेख है।

इस विवरण द्वारा यह सुगमता से समझा जा सकता है, कि दक्षिण-पूर्वी एशिया के समान मध्य एशिया में भी प्राचीन समय में बृहत्तर भारत का अंग था। इस क्षेत्र में न केवल भारतीय धर्म का ही प्रचार था, अपितु यहां की भाषा और संस्कृति पर भी भारत का प्रभाव था।

(४) हूणों का भारतीय बनना

गुप्त-काल में भारतीय धर्मों में अद्वितीय जीवनी शक्ति थी। न केवल बौद्ध अपितु जैन, शैव, वैष्णव आदि अन्य भारतीय धर्मो में भी उस समय यह शक्ति विद्यमान थी, कि वे विदेशी जातियों को अपने धर्म में दीक्षित कर उन्हें भारतीय समाज का अंग बना सकें। यवन, शक और कुशाण लोग किस प्रकार भारत में आकर भारतीय बन गये, यह हम पहले प्रदर्शित कर चुके हैं।

गुप्तकाल में जो हूण भारत में आक्रांता के रूप में प्रविष्ट हुए, उन्होंने शुरू में बड़ी बर्बरता प्रदर्शित की, पर बाद में वे भी पूर्णतया भारतीय समाज के अंग बन गये। हूण-राजा मिहिरगुल ने शैव-धर्म को स्वीकार कर लिया था। एक शिलालेख में लिखा है, कि स्थाणु शिव के अतिरिक्त किसी के सम्मुख वह सिर नहीं झुकाता था। उसके जो सिक्के मिले है, उनपर त्रिशूल और नंदी के चिन्ह अंकित हैं, और 'जयतु वृषः' यह उत्कीर्ण किया गया है।

उस समय के भारत की इस प्रवृत्ति को पुराणों में बड़े सुंदर रूप में वर्णित किया गया है। शक, यवन, हूण आदि जातियों को गिनाकर पुराणकार ने भक्ति के आवेश में आकर कहा है, कि ये और अन्य जो भी पापयोनि जातियां हैं, वे सब जिस विष्णु के संपर्क में आकर शुद्ध हो जाती हैं, उस प्रभविष्णु विष्णु को नमस्कार हो। भगवान् विष्णु की यह पतितपावनी शक्ति भारत में गुप्त-काल तक कायम

थी। मुसलिम धर्म के भारत-प्रवेश बाद यह शक्ति नष्ट हो गई, और उस समय के भारतीय अरब और तुर्क आक्रांताओं को अपने में नहीं मिला सके।

शैव और बौद्ध-धर्म को स्वीकार करके हूण लोग भारतीय समाज के ही अंग बन गये। इस समय यह बता सकना बहुत कठिन है, कि शक, यवन, युइशि और हूण आक्रांताओं के वर्तमान प्रतिनिधि कौन लोग हैं। ये सब जातियां बहुत बड़ी संख्या में भारत में प्रविष्ट हुई थीं। पर इनके उत्तराधिकारियों की हिन्दू-समाज में कोई पृथक् सत्ता नहीं है। वस्तुतः ये हिंदू समाज में बिलकुल ही घुलमिल गईं, और हिंदुओं की विविध जातियों में गिनी जाने लगीं। जहां भारत की वर्तमान अनेक जातियां पुराने गणराज्यों की प्रतिनिधि हैं, वहां अनेक इन म्लेच्छ आक्रांताओं का भी प्रतिनिधित्व करती हैं। पर इस समय वे क्षत्रियों के अंतर्गत हैं, उनमें पाप या पापयोनिपन कुछ भी शेष नहीं है।

इस अध्याय को समाप्त करने से पूर्व एक बात और लिखनी आवश्यक है। जहां भारतीयों ने सुदूर पूर्व में व पामीर के उत्तर-पश्चिम में अपनी बस्तियां बसाई थीं, वहां प्राचीन सीरिया और मैसोपोटामिया में भी उनके छोटे-छोटे उपनिवेश विद्यमान थे। यूफ्रेटस नदी के तट पर उनके दो बड़े मंदिर थे, जिन्हें सेन्ट ग्रेगरी के नेतृत्व में ईसाइयों ने नष्ट किया था। यह घटना ३०४ ईस्वी की है। जब ईसाइयों ने अपने धर्मप्रसार के जोश में इन मंदिरों पर आक्रमण किया, तो भारतीय लोग बड़ी वीरता के साथ उनसे लड़े। पर ईसाई उनकी अपेक्षा बहुत अधिक संख्या में थे। भारतीयों को उनसे परास्त होना पड़ा। मैसोपोटामिया के ये प्राचीन भारतीय मंदिर नष्ट कर दिये गये, और इस प्रदेश की भारतीय बस्ती भी बहुत कुछ छिन्न-भिन्न हो गई। पर गुप्त-काल में भारतीयों ने इतनी दूर पश्चिम में भी अपनी बस्तियां कायम की थीं, यह ऐतिहासिक तथ्य है।

सहायक ग्रन्थ

Chaterji B. R. : Indian Cultural Influence in Combodia.

Elivt : Hinduism and Buddhism.

A New History of the Indian People Vol. V1.

Mazumdar : Ancient Indian Colonies in the Far East.

Mazumdar : Hindu Colonies in the Far East.

Chakravarti : Indian and Central Asia.

Stein : Serindia.

" : Ancient Khotan.

Law B. C. : Buddhist Studies.

Latousette : The Chinese : their History and Culture.

राहुल सांकृत्यायन : बौद्ध-संस्कृति

पैंतीसवां अध्याय

गुप्त साम्राज्य का क्षय और उत्तरी भारत के विविध राज्य

(१) गुप्त साम्राज्य का क्षय

गुप्तवंशी सम्राट् स्कन्दगुप्त के शासन-काल के अन्तिम भाग में भारत पर किस प्रकार हूणों के आक्रमण शुरू हो गये थे, इसका उल्लेख हम पिछले अध्याय में कर चुके हैं। यद्यपि स्कन्दगुप्त हूणों से भारत की रक्षा करने में समर्थ हुआ, पर उसके निर्बल उत्तराधिकारी इस बर्बर जाति की बाढ़ को रोक सकने में असफल रहे। हूण लोग असभ्य और जंगली थे, और वे टिड्डी दल के समान सभ्य संसार पर आक्रमण करने के लिये तत्पर थे। उन्हीं के आक्रमणों से पश्चिमी संसार में विशाल रोमन साम्राज्य छिन्न-भिन्न हुआ, और भारत में भी शक्तिशाली गुप्त-साम्राज्य उनके मुकाबले में नहीं टिक सका। यही कारण है, कि स्कन्दगुप्त के बाद गुप्त-साम्राज्य का ह्रास प्रारम्भ हो गया।

हूणों के आक्रमणों से भारत में जो अव्यवस्था उत्पन्न हो गई थी, उससे लाभ उठाकर अनेक माण्डलिक व सामन्त राजा स्वतन्त्र हो गये। प्रतापी गुप्त-सम्राटों ने अपने साम्राज्य का विस्तार करते हुए अन्य राजवंशों का मूलोच्छेद नहीं किया था। बहुत-से अन्य राजवंश गुप्त-सम्राटों की अधीनता में अपने-अपने क्षेत्र में शासन करते रहे थे। गुप्तवंश के निर्बल पड़ते ही वे स्वतन्त्र हो गये, और उन्होंने अपने पृथक् राज्य कायम कर लिये। इतना ही नहीं, उन्होंने समीप के प्रदेशों को जीतकर अपनी शक्ति का विस्तार भी शुरू किया। पाटलिपुत्र के निर्बल गुप्त-सम्राटों के लिये यह सम्भव नहीं था, कि वे इन राजवंशों को परास्त कर अपनी अधीनता में ला सकते। हूणों के आक्रमणों को रोकने की शक्ति भी गुप्त-सम्राटों में नहीं थी। पाटलिपुत्र के सम्राटों के लिये यह सम्भव भी नहीं था, कि वे सुदूर के प्रदेशों में हूणों का मुकबला कर सकें। यही कारण है, कि हूणों की शक्ति का सामना करने की मुख्य उत्तरदायिता उन राजवंशों पर आ पड़ी, जिन्होंने इस समय स्थानेश्वर (थानेसर), कन्नौज व मालवा में अपने स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिये थे। इन राजवंशों के अनेक प्रतापी राजाओं ने हूणों के साथ

युद्ध करने में अनुपम वीरता प्रदर्शित की, और उनके मुकाबले में अपनी सत्ता को कायम रख सकने में समर्थ रहे। अनेक गुप्तवशी राजाओं ने भी हूणों के विरुद्ध संघर्ष किया। पर इस कार्य का प्रधान श्रेय कन्नौज मालवा और थानेसर के राजवंशों को ही प्राप्त है, जो इस समय गुप्तों की निर्बलता और हूणों के आक्रमणों द्वारा उत्पन्न अव्यवस्था के कारण स्वतन्त्र हो गये थे।

इस समय (पांचवीं सदी के अन्त और छठी सदी के प्रारम्भिक भाग में) जो अनेक राजवंश उत्तरी भारत में स्वतन्त्र हुए, उनमें मुख्य निम्नलिखित थे—(१) कन्नौज का मौखरि-वंश, (२) स्थानेश्वर का वर्धनवंश और (३) वल्लभी का मैत्रक-वंश। विविध प्रदेशों में इन राजवंशों के स्वतन्त्र हो जाने पर भी मगध व उसके समीपवर्ती प्रदेशों में गुप्त-वंश का शासन कायम रहा, और उसके अनेक राजाओं ने अपनी शक्ति के विकास का भी प्रयत्न किया। इस अध्याय में हम इन्ही राजवंशों के इतिहास पर प्रकाश डालेंगे।

(२) मौखरि-वंश का अभ्युदय

यशोधर्मा की विजयों के बाद गुप्त-साम्राज्य बहुत-कुछ शिथिल हो गया था। इस समय जिन राजवंशों ने भारत के विविध प्रदेशों में अपनी शक्ति को बढ़ाना प्रारंभ किया, उनमें मौखरि-वंश मुख्य है। यह वंश बहुत प्राचीन था। शुंगकाल में भी इसकी सत्ता के प्रमाण मिलते हैं। इस वंश का मूल स्थान मगध में था। कदंब-वंश के संस्थापक मयूर शर्मा के एक शिलालेख के अनुशीलन से ज्ञात होता है, कि मौखरि लोगों का मगध के क्षेत्र में भी राज्य रह चुका था। कदंब-वंश का प्रारम्भ तीसरी सदी में हुआ। उस वंश के पहले राजा तीसरी सदी के अंत में और चौथी सदी के शुरू में राज्य करते थे। यदि उनके समय में मगध में मौखरि-वंश का शासन था, तो यह अनुमान युक्तिसंगत होगा कि गुप्तवंश के शक्तिशाली राजा चंद्रगुप्त प्रथम ने लिच्छवि गण की सहायता से जिस मगध-कुल का उच्छेद कर पाटलिपुत्र पर अधिकार जमाया था, वह मौखरि-वंश का ही था। कौमुदी-महोत्सव नाटक में सुंदरवर्मा और कल्याणवर्मा के नाम के मगध-राजाओं का वर्णन है, जिनके विरुद्ध चंडसेन कारस्कर ने षड्यंत्र किया था। संभवतः ये राजा मौखरि-वंश के ही थे। उन्होंने कुशाण-साम्राज्य के पतनकाल की व्यवस्था से लाभ उठाकर मगध में अपना स्वतंत्र राज्य कायम कर लिया था। गुप्तों के उत्कर्ष के कारण ये साधारण सामंतों की स्थिति में रह गये। गुप्त-साम्राज्य के अंतर्गत गया के समीपवर्ती प्रदेश में मौखरियों का शासन था। वे गुप्त-सम्राटों की अधीनता स्वीकार करते थे, और उनके करद सामंत थे। इस वंश के तीन राजाओं के नाम बराबर और

नागार्जुनी पहाड़ियों के गुहामंदिरों में उत्कीर्ण लेखों से ज्ञात होते हैं। ये राजा यज्ञवर्मा, शार्दूलवर्मा और अनंतवर्मा थे। कोई आश्चर्य नहीं, कि ये कौमुदी महोत्सव में वर्णित सुंदरवर्मा और कल्याण वर्मा के ही वंशज हों।

मौखरि-वंश की एक अन्य शाखा कन्नौज में राज्य करती थी। ये भी गुप्त-सम्राटों के सामंत थे, और संभवतः गुप्तों के वैभवकाल में प्रांतीय शासक के रूप में नियुक्त होकर मगध से कन्नौज आये थे। पर जब हूणों के आक्रमणों और यशोधर्मा की विजयों के कारण गुप्त-साम्राज्य निर्बल होने लगा, तो कन्नौज के ये मौखरि-राजा स्वतंत्र हो गये। इस मौखरि-वंश के प्रथम तीन राजा हरिवर्मा, आदित्यवर्मा और ईश्वरवर्मा थे। इनमें से पहले दो राजा हरिवर्मा और आदित्य-वर्मा गुप्त-सम्राटों के सामंत थे, और उन्हीं के तरफ से कन्नौज का शासन करते थे। इनका गुप्त सम्राटों के साथ वैवाहिक संबंध भी था। आदित्यवर्मा की पत्नी गुप्त-बंश की राजकुमारी थी। इस विवाह के कारण उसकी स्थिति और अधिक बढ़ गई थी। उसके पुत्र ईश्वरवर्मा का शासनकाल ५२४ से ५५० ईस्वी तक है। इसी के समय में यशोधर्मा ने हूणों का पराभव किया था। हूण राजा के विरुद्ध यशोधर्मा ने जिस विशाल सैनिक शक्ति का संगठन किया था, उसमें मौखरि ईश्वर भी सम्मिलित था। एक शिलालेख में मौखरि राजा द्वारा हूणों के पराजय का उल्लेख है। हूणों पर यह विजय ईश्वरवर्मा ने किसी स्वतंत्र युद्ध में नहीं प्राप्त की थी। उसने हूणों का मुकाबला करने के कार्य में यशोधर्मा का साथ दिया था और निःसन्देह इस गौरवपूर्ण विजय मे उसका भी बड़ा हाथ था। इस सैनिक विजय के कारण ईश्वरवर्मा का महत्त्व बहुत बढ़ गया और उसने कन्नौज के अपने राज्य में बहुत-कुछ स्वतंत्रता प्राप्त कर ली थी। यशोधर्मा के बाद गुप्त-साम्राज्य में जो उथल-पुथल मच गई थी, उसका लाभ उठाकर ईश्वर वर्मा सामंत की जगह स्वतंत्र महाराज बन गया था।

ईश्वरवर्मा के बाद ईशानवर्मा कन्नौज की राजगद्दी पर बैठा। उसका शासन-काल ५५० से ५७६ ईस्वी तक था। उसने अपनी शक्ति को बढ़ाना प्रारम्भ किया, और महाराजाधिराज की पदवी धारण की। परिणाम यह हुआ, कि गुप्त-सम्राट् कुमारगुप्त तृतीय के साथ उसके अनेक युद्ध हुए। ईशानवर्मा की एक प्रशस्ति के अनुसार उसने आन्ध्र और गौड़ देशों का भी विजय किया था, और उत्तरी भारत में उसकी शक्ति बहुत विस्तृत हो गई थी। पर इसमें सन्देह नहीं, कि उसके साम्राज्य विस्तार के कारण गुप्तवंशी राजा कुमारगुप्त तृतीय की सत्ता मगध में नष्ट नहीं हो सकी थी।

ईशानवर्मा के बाद सर्ववर्मा कन्नौज का मौखरि राजा बना। यह अपने पिता के समान ही वीर और महत्त्वाकांक्षी था। गुप्तों के साथ उसने निरंतर युद्ध किये। इस समय गुप्त-साम्राज्य का स्वामी दामोदरगुप्त था। उसे सर्ववर्मा ने परास्त किया। सर्ववर्मा ने अपने साम्राज्य की सीमा को पूर्व में सोन नदी तक विस्तृत कर लिया। मगध और उसकी राजधानी पाटलिपुत्र अब भी गुप्तों के हाथ में रही, पर उनका साम्राज्य अब बहुत क्षीण हो चुका था। उत्तरी भारत की प्रधान राजनीतिक शक्ति अब गुप्तों के हाथ से निकलकर मौखरि-वंश के पास आ गई थी। सर्ववर्मा के समय में ही मौखरि-वंश सच्चे अर्थों में अपनी स्वतंत्र शक्ति को कायम करने में समर्थ हुआ था।

सर्ववर्मा के बाद अवंतिवर्मा और फिर ग्रहवर्मा कन्नौज के राजा हुए। ग्रहवर्मा का विवाह स्थानेश्वर (थानेसर) के बैस राजा प्रभाकरवर्धन की पुत्री राज्यश्री के साथ हुआ। विवाह के कुछ ही वर्षों के बाद ग्रहवर्मा की मृत्यु हो गई, और राज्यश्री कन्नौज की शक्तिशाली साम्राज्य की स्वामिनी हो गई। उसके नाम पर शासन का वास्तविक संचालन उसके भाई हर्षवर्धन ने करना शुरू किया। हर्षवर्धन स्थानेश्वर का राजा था, और अपनी बहन की तरफ से कन्नौज के शासनसूत्र का भी संचालन करता था। इस प्रकार ये दोनों राज्य मिलकर एक हो गये और इनकी सम्मिलित शक्ति उत्तरी-भारत में सर्वप्रधान हो गई।

(३) गुप्तवंश के पिछले राजा

सम्राट् बालादित्य द्वितीय ने हूणों को परास्त कर अपनी शक्ति को किस प्रकार कायम रखा, इसपर हम पहले प्रकाश डाल चुके हैं। बालादित्य ने ५३५ ईस्वी के लगभग तक राज्य किया। उसके समय तक गुप्त-साम्राज्य की शक्ति प्रायः अक्षुण्ण थी। उत्तरी भारत में, बंगाल से मथुरा तक उसका शासन था। मौखरि राजा उसके सामंत थे, और यशोधर्मा की विजयों का कोई स्थिर प्रभाव न होने के कारण वह अपने राज्य को पुराने गुप्त-सम्राटों के समान ही शान के साथ संचालित करने में समर्थ था। उसके बाद कुमारगुप्त तृतीय और दामोदर-गुप्त पाटलिपुत्र के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुए। इन्होंने ५३५ ईस्वी के बाद लगभग पच्चीस वर्ष तक शासन किया। कुमारगुप्त तृतीय के शासनकाल में कन्नौज का मौखरि महाराजा ईशानवर्मा स्वतंत्र हो गया, और उसने सारे मध्य-देश से गुप्तों के शासन का अन्त कर अपनी शक्ति का उत्कर्ष किया।

ईशानवर्मा की विजयों के कारण गुप्त-वंश की शक्ति बहुत क्षीण हो गई थी।

यद्यपि मौखरि-वंश के इस राजा की एक प्रशस्ति में गौड़ देश की विजय का भी उल्लेख है, पर बंगाल पर मौखरियों का शासन देर तक कायम नहीं रह सका था। उत्तरी बंगाल में दामोदरपुर नामक स्थान से पांच ताम्रपत्र प्राप्त हुए हैं, जो इस काल के इतिहास पर बहुत प्रकाश डालते हैं। इनमें से पांचवा ताम्रपत्र ५४३ ई० में उत्कीर्ण कराया गया था। इसमें गुप्त-सम्राट् कुमारगुप्त का उल्लेख है, जिसका शासन उस समय बंगाल में विद्यमान था। यह कुमारगुप्त तृतीय ही है, जो बालादित्य के बाद-गुप्त सम्राट् बना था। इस ताम्रपत्र से सूचित होता है, कि बंगाल में गुप्तों का शासन ५४३ ईस्वी तक विद्यमान था, और वहां का प्रांतीय शासक इस समय राजपुत्र देव भट्टारक था। इससे पूर्व बंगाल के शासक चित्रदत्त, ब्रह्मदत्त और जयदत्त रहे थे। इनका गुप्तवंश से कोई संबंध नहीं था। संभवतः ये तीनों प्रांतीय शासक एक ही कुल के थे, पर अब बंगाल का शासन करने के लिये गुप्तवंश के ही एक कुमार राजपुत्र देव को नियत किया गया था। पहले सुराष्ट्र, अवंति आदि दूरवर्ती विशाल प्रदेशों के शासन का कार्य राजपुत्रों को दिया जाता था। पर अब गुप्त-साम्राज्य केवल मगध और बंगाल तक ही सीमित रह गया था, अतः वहां के शासन के लिये एक राजपुत्र की नियुक्ति बिलकुल स्वाभाविक थी। पर चित्रदत्त के कुल से बंगाल के शासन को लेकर एक राजपुत्र के हाथ में देने से यह भी भली-भ ति प्रगट होता है, कि इस प्रदेश पर गुप्तों का अधिकार काफी मजबूत था।

कुमारगुप्त तृतीय के समय में उत्तरी भारत में भी गुप्त-साम्राज्य का ह्रास प्रारंभ हो गया। मौखरि राजा कन्नौज में स्वतंत्र हो गये, और आसाम आदि अनेक प्रदेशों में भी स्वतंत्र राज्य कायम हुए। छठी सदी के मध्य तक प्रतापी गुप्त-सम्राटों का शासन मध्य देश से उठ गया।

हूणो के आक्रमणों और यशोधर्मा जैसे साहसी योद्धाओं ने गुप्त-साम्राज्य की नींव को जड़ से हिला दिया था। यद्यपि भानुगुप्त बालादित्य जैसे शक्तिशाली सम्राटों ने कुछ समय तक अपने साम्राज्य को कायम रखा, पर अब सामंतों व प्रांतीय शासकों की अपने स्वतंत्र शासन स्थापित करने की महत्त्वाकांक्षाओं पर काबू पा सकना उनके लिये असम्भव होता जा रहा था। इसी का परिणाम हुआ, कि भारत में फिर विविध राज्य कायम हो गये, और कोई एक ऐसी शक्ति नहीं रह गई, जो 'आसमुद्र' भारत को एक शासन में रख सके।

(४) वल्लभी, मालवा और स्थानेश्वर

कन्नौज के मौखरि-वंश ने किस प्रकार अपना स्वतंत्र राज्य स्थापित किया,

इसका वर्णन हम ऊपर कर चुके हैं। उसके अतिरिक्त जिन अन्य राजवंशों ने गुप्त-साम्राज्य के भग्नावशेष पर अपने-अपने स्वतंत्र राज्य कायम किये, उनका संक्षेप से दिग्दर्शन करना इस काल के इतिहास को भलीभांति समझने के लिये बहुत आवश्यक है।

वल्लभी का मैत्रक-वंश--गुप्त-साम्राज्य का सबसे पश्चिमी प्रान्त सुराष्ट्र था। सम्राट् स्कन्दगुप्त के समय में वहां का शासक पर्णदत्त था। इसी ने गिरनार की सुदर्शन झील का जीर्णोद्धार कराया था। इसी समय में सुराष्ट्र में स्थित गुप्त सेनाओं का सेनानी भटार्क था, जो मैत्रक कुल का था। हूणों के आक्रमण के कारण सेना की महत्ता बहुत बढ़ गई थी, और दूरवर्ती प्रांत में सेनापति भटार्क के अधिकारों में भी बहुत कुछ वृद्धि हो गई थी। संभवतः पर्णदत्त के बाद सुराष्ट्र का शासन भी उसी के हाथ में आ गया था। गुप्तकाल में बहुत से ऊंचे पद वंश-क्रमानुगत होते थे। भटार्क के बाद सुराष्ट्र का शासक धरसेन हुआ। भटार्क और धरसेन दोनों शक्तिशाली सेनाओं के सेनापति थे। एक शिलालेख में भटार्क को 'मौलभृतमित्रश्रेणीबलावाप्तराज्यश्रीः' कहा गया है। इसका अभिप्राय यह है, कि उसने मौल, भृत, मित्रबल और श्रेणिबल की सहायता से राज्यश्री प्राप्त की थी। प्राचीन काल की मागध-सेनाओं के ये ही चार विभाग होते थे, यह हम पहले प्रदर्शित कर चुके हैं। भटार्क की अधीनता में सुराष्ट्र में जो सेनायें थीं, उनमें चार प्रकार के ही सैनिक थे। गुप्त-साम्राज्य पर हूणों के जो आक्रमण हो रहे थे, उनसे भटार्क ने लाभ उठाया, और अपनी शक्ति को बढ़ा लिया। शिलालेखों में भटार्क और धरसेन को केवल 'सेनापति' कहा गया है। पर धरसेन का उत्तराधिकारी द्रोणसिंह जहां 'सेनापति' था, वहां 'महाराजा' भी था। अभिप्राय यह है, कि वह सुराष्ट्र में एक पृथक् राज्य स्थापित करने में सफल हुआ था, जो केवल नाम को ही गुप्तों के अधीन था। पर अभी तक वह गुप्तों के स्वामित्व को स्वीकार करता था, और इसीलिये उसने अपने शिलालेख में स्पष्टरूप से लिखा है, कि वह परम 'भट्टारकपाद' के परमस्वामित्व को मानता था और उसी परम भट्टारकपाद ने स्वयं अपने हाथ से उसका अभिषेक किया था। पर इधर सुराष्ट्र के मैत्रक राजा तो निरंतर शक्ति प्राप्त करते जाते थे, और उधर गुप्त-सम्राटों का बल क्षीण हो रहा था। परिणाम यह हुआ, कि धीरे-धीरे सुराष्ट्र के ये मैत्रक राजा बिलकुल स्वतंत्र हो गये। पहले सुराष्ट्र की राजधानी गिरिनगर (गिरनार) थी, बाद में मैत्रक राजाओं ने वल्लभी को अपनी राजधानी बनाया। संभवतः छठी सदी के प्रारंभ तक सुराष्ट्र के मैत्रक

राजा गुप्त-सम्राटों के सामंतरूप में राज्य करते थे । यशोधर्मा की विजयों के समय गुप्तों की शक्ति को जो आघात लगा, उससे वे स्वतंत्र हो गये । द्रोण-सिंह के बाद तीसरी पीढ़ी में धरसेन द्वितीय हुआ। वह स्थानेश्वर और कन्नौज के राजा हर्षवर्धन का समकालीन था । हर्ष के साथ उसके अनेक युद्ध हुए थे । बाद में मैत्रक महाराज धरसेन ने हर्ष की अधीनता स्वीकृत कर ली थी, और इनके मैत्री-संबंध को स्थिर रखने के लिये हर्ष ने अपनी पुत्री का विवाह धरसेन के साथ कर दिया था।

मालवा—सुराष्ट्र की तरह मालवा में भी गुप्त-साम्राज्य के ह्रास के समय एक पृथक् राज्य की स्थापना हुई। मालवा की राजधानी मंदसौर थी। वहां गुप्त-सम्राट् की ओर से प्रांतीय शासक शासन करते थे। सम्राट् कुमारगुप्त प्रथम के समय में वहां बंधुवर्मा इस पद पर नियत था। बाद में यहीं पर यशोधर्मा ने अपनी शक्ति का विस्तार शुरू किया, और अपने अतुल पराक्रम से उसने सारे गुप्त साम्राज्य को जड़ से हिला दिया। संभवतः, यशोधर्मा मालवा के किसी पुराने राजकुल में उत्पन्न हुआ था, और उसके पूर्व पुरुषों की स्थिति सामंतों के सदृश थी। यशोधर्मा के बाद मालवा फिर गुप्तों के अधीन नही हुआ।

स्थानेश्वर—कन्नौज के मौखरि-राज्य के पश्चिम में स्थानेश्वर में भी इस युग में एक स्वतंत्र राजवंश का प्रादुर्भाव हुआ। इसका संस्थापक पुष्यभूति था। उसी के कुल में आगे चलकर नरवर्धन हुआ। वह गुप्त-साम्राज्य का एक सामंत था, और इसी स्थिति में स्थानेश्वर तथा उसके समीपवर्ती प्रदेशों का शासन करता था। नरवर्धन के बाद दूसरी पीढ़ी में आदित्यवर्धन हुआ। इसे 'महाराजा' लिखा गया है। इसका अभिप्राय यह है, कि सामंत के रूप में इसकी स्थिति अब अधिक ऊँची हो गई थी। आदित्यवर्धन का विवाह गुप्त-वंश की राजकुमारी महा-सेनगुप्ता के साथ हुआ था। इस कारण उसका प्रभाव तथा वैभव और भी अधिक बढ़ गया था। आदित्यवर्धन का काल छठी सदी के शुरू में था। हूणों के आक्रमणों और यशोधर्मा की विजययात्रा के कारण जो अव्यवस्था इस समय उत्पन्न हो गई थी, उसमें गुप्त-सम्राटों के लिये यह संभव नहीं रहा था, कि वे सुदूरवर्ती स्थानेश्वर के सामंत महाराजाओं को अपने अधीन रख सकें। परिणाम यह हुआ, कि आदित्यवर्धन स्वतंत्र राजा के रूप में राज्य करने लगा, और उसके बाद प्रभाकरवर्धन, राज्यवर्धन और हर्षवर्धन बिलकुल ही स्वतंत्र हो गये। हर्ष के समय में कन्नौज और स्थानेश्वर के राज्य किस प्रकार एक हो गये, इसका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं।

बंगाल—सम्राट् कुमारगुप्त तृतीय के समय (छठी सदी के मध्य) तक बंगाल गुप्त-साम्राज्य के अंतर्गत रहा। पर बाद में वहां गुप्त-वंश के ही एक पराक्रमी कुमार नरेन्द्रगुप्त शशांक ने अपने स्वतंत्र राज्य की स्थापना की। शिलालेखों में पहले शशांक को 'श्री महासामंत' शशांकदेव और बाद में 'महाराजाधिराज' लिखा है। सातवीं सदी के शुरू तक शशांक बंगाल में अपने स्वतंत्र राज्य की स्थापना कर चुका था। इसकी राजधानी कर्णसुवर्ण थी। शशांक बड़ा शक्तिशाली राजा था। कन्नौज के मौखरि राजा ग्रहवर्मा को परास्त कर उसने युद्ध में मार दिया था। स्थानेश्वर के राजा राज्यवर्धन की मृत्यु भी उसी के हाथों हुई थी।

(५) मागध गुप्तवंश और हर्षवर्धन

महासेनगुप्त—कुमारगुप्त तृतीय के उत्तराधिकारी दामोदरगुप्त के समय में सोन नदी से पश्चिम का सब प्रदेश मौखरियों के हाथ में चला गया था। दामोदरगुप्त के बाद महासेनगुप्त राजा हुआ। गुप्तों की निर्बलता से लाभ उठाकर प्राग्ज्योतिष (आसाम) के राजा सुस्थितवर्मा ने भी स्वतंत्रता उद्घोषित कर दी। समुद्रगुप्त के समय से आसाम के राजा गुप्त-सम्राटों की अधीनता स्वीकृत करते चले आ रहे थे, और उनकी स्थिति सामंतों के सदृश थी। सुस्थितवर्मा ने अपने को 'महाराजाधिराज' उद्घोषित किया, और गुप्तों के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। पर महासेनगुप्त ने चढ़ाई कर लौहित्य नदी के तट पर उसे परास्त किया, और इस प्रकार पूर्वी भारत में गुप्तों की शक्ति को स्थिर रखा। मौखरियों की शक्ति का मुकाबला करने के लिये उसने स्थानेश्वर के राजा आदित्यवर्धन से मैत्री स्थापित की, और अपनी बहन महासेनगुप्ता का विवाह उसके साथ कर दिया।

इस प्रकार स्थानेश्वर के राजा से संधि कर महासेनगुप्त ने कन्नौज के मौखरि-राजा अवंतिवर्मा पर चढ़ाई की। पूर्वी मालवा के अनेक प्रदेश इस समय मौखरियों के हाथ से निकलकर गुप्तों के हाथ में चले गये। इन नये जीते हुए प्रदेशों पर शासन करने के लिये महासेनगुप्त ने अपने पुत्र देवगुप्त को कुमारामात्य के रूप में नियत किया। महासेनगुप्त के समय में गुप्त-वंश की शक्ति फिर बढ़ गई। आसाम से मालवा तक अपने राज्य को स्थिर करके वह उत्तरी भारत की एक महत्त्वपूर्ण राजनीतिक शक्ति बन गया।

मौखरि-वंश का अन्त—महासेनगुप्त के दो पुत्र थे—देवगुप्त और माधवगुप्त। पिता के जीवनकाल में देवगुप्त मालवा का शासक था। माधवगुप्त अपने

पिता की बहिन महासेनगुप्ता के पास स्थानेश्वर में रहता था। महासेनगुप्ता के पोते राज्यवर्धन और हर्षवर्धन माधवगुप्त की आयु के थे। उनके साथ उसकी बहुत घनिष्ठ मैत्री थी। माधवगुप्त का बचपन उन्हीं के साथ व्यतीत हुआ था। राज्यवर्धन और हर्षवर्धन की एक बहिन भी थी, जिसका नाम राज्यश्री था। इसका विवाह मौखरिवंश के राजा ग्रहवर्मा (अवन्तिवर्मा के उत्तराधिकारी) के साथ में हुआ था। इस विवाह के कारण कन्नौज और स्थानेश्वर के राज्यों में घनिष्ठ मैत्री स्थापित हो गई थी। पश्चिमी भारत के इन दोनों शक्तिशाली राज्यों की संधि गुप्त-राजाओं को बिलकुल पसंद नहीं आई। गुप्तों और मौखरियों में देर से शत्रुता चली आती थी। मौखरियों की शक्ति को कमजोर करने के लिये ही गुप्त-राजा महासेन ने स्थानेश्वर के राजा से मैत्री की थी। अब स्थानेश्वर के राजा का सहयोग पाकर कन्नौज के मौखिरियों की शक्ति बहुत बढ़ गई थी। गुप्त-राजा इसे सहन नहीं कर सके। मालबा के शासक देवगुप्त और गौड़देश के शासक नरेन्द्रगुप्त शशांक (जो स्वयं गुप्तवंश का था और अभी तक पाटलिपुत्र के गुप्त-सम्राटों के महासामंत रूप में राज्य करता था) ने मिलकर कन्नौज पर आक्रमण किया। युद्ध में मौखरि राजा ग्रहवर्मा मारा गया और राज्यश्री को कारागार में डाल दिया गया। यह समाचार जब स्थानेश्वर पहुँचा, तो वहां का राजा राज्यवर्धन क्रोध से आगबबूला हो गया। वह अभी हूणों के विरुद्ध काश्मीर पर चढ़ाई करके वापस लौटा था। उसने तुरन्त युद्ध की तैयारी की, और एक बड़ी सेना साथ में लेकर मालवराज देवगुप्त पर हमला बोल दिया। देवगुप्त स्थानेश्वर की सेना का सामना नहीं कर सका। वह परास्त हो गया, और राज्यश्री कारागार से मुक्त हुई। मालवा के गुप्त-शासक को परास्त कर राज्यवर्धन शशांक की ओर मुड़ा। शशांक बड़ा महत्त्वाकांक्षी और कूटनीतिज्ञ था। उसने सम्मुख युद्ध में राज्यवर्धन का मुकाबला करना उचित न जान चाल से काम लिया। उसने राज्यवर्धन के पास संदेश भेजा कि मैं संधि करना चाहता हूँ, और मैत्री को स्थिर रखने के लिये अपनी कन्या का विवाह राज्यवर्धन के साथ करने के लिये तैयार हूँ। संधि की सब बातें तय करने के लिये राज्यवर्धन अपने साथियों के साथ शशांक के डेरे पर गया। वहां सब षड्यंत्र तैयार था। शशांक के सैनिको ने अकस्मात् राज्यवर्धन और उसके साथियों पर हमला करके उनका घात कर दिया। ये घटनाएं इतनी शीघ्र और अचानक हुईं, कि सारे कन्नौज में उथल-पुथल मच गई। घबराहट और निराशा के कारण राज्यश्री को आत्मघात

के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय समझ में नहीं आता था। वह भागकर विंध्याचल के जंगलों में चली गई।

कन्नौज के मौखरियों की सहायता के लिये जब राज्यवर्धन ने अपनी सेना के साथ स्थानेश्वर से प्रस्थान किया था, तो वहां का शासनकार्य उसके छोटे भाई हर्षवर्धन के हाथ में था। अपने बड़े भाई की हत्या के समाचार को सुनकर उसके क्रोध का ठिकाना नहीं रहा। एक बड़ी सेना को साथ लेकर उसने शशांक से बदला लेने के लिये प्रस्थान किया। अपने ममेरे भाई भंडी को शशांक पर आक्रमण करने का आदेश देकर हर्षवर्धन स्वयं अपनी बहिन की खोज में निकल पड़ा। जंगल के निवासियों की सहायता से राज्यश्री को ढूंढता हुआ वह ठीक उस समय उसके पास पहुँचा, जब वह निराश हो चिताप्रवेश की तैयारी में थी। हर्ष ने अपनी बहिन को बहुत समझाया। उसने कहा, शत्रु के भय से अपने राज्य की जिम्मेदारी को छोड़कर इस प्रकार आत्महत्या करना घोर कायरता है। शत्रुओं से बदला चुकाना पहला और मुख्य कर्तव्य है, जिसकी उपेक्षा करना किसी भी दशा में उचित नहीं है। हर्ष के समझाने से राज्यश्री ने आत्महत्या का विचार छोड़ दिया और कन्नौज की राजगद्दी को संभालने के लिये वह वापस लौट आई।

हर्षवर्धन—अपनी बहिन के प्रतिनिधि रूप में हर्ष ने अब कन्नौज के राज्य भार को संभाल लिया। स्थानेश्वर का राजा वह अपने अधिकार से था, और कन्नौज के मौखरि-राज्य का शासन वह अपनी बहिन की तरफ से करता था। दोनों राज्यों की सम्मिलित शक्ति अब बहुत बढ़ गई। अब हर्षवर्धन ने शशांक से बदला लेने का निश्चय किया। सेनापति भंडी पहले शशांक के साथ युद्ध में व्यापृत था। अब हर्ष भी उसके विरुद्ध युद्ध में लग गया। प्राचीन शिलालेखों से सूचित होता है, कि पूरे छः वर्ष तक हर्ष शशांक के साथ युद्ध में व्यापृत रहा। इसी उदेश्य से आसाम के राजा के साथ उसने मैत्री स्थापित की। वहां के राजा गुप्तों के शासन से स्वतंत्र होने के प्रयत्न में थे ही। सुस्थितवर्मा के बाद भास्करवर्मा वहां का राजा बना था। वह भी बड़ा प्रतापी और महत्त्वाकांक्षी था। गुप्तवंशी शशांक के प्रभाव से मुक्त होने के लिये उसने गुप्तों के परमशत्रु हर्षवर्धन के साथ मैत्री स्थापित की। पर शशांक को परास्त करना सुगम बात न थी। गुप्तों की सब शक्ति उसके साथ थी। अंत में हर्षवर्धन ने उसके साथ संधि करने में ही लाभ समझा और उसे बंगाल के स्वतंत्र राजा के रूप में स्वीकार कर लिया।

माधवगुप्त—इन सब युद्धों में माधवगुप्त हर्ष के साथ रहा। वह हर्ष का परम मित्र था, और जब अपने पिता महासेनगुप्त की मृत्यु के बाद वह पाटलिपुत्र

के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ, तो भी हर्ष के साथ उसकी मित्रता कायम रही। मालवा का कुमारा मात्य देवगुप्त और बंगाल का महासामंत शशांक दोनों गुप्त-वंश के थे, और दोनों से हर्ष की घोर शत्रुता थी। पर पाटलिपुत्र के गुप्त-सम्राट् का इन युद्धों में कोई भाग नहीं था। इसलिये जब माधवगुप्त स्वयं उस पद पर अधिष्ठित हुआ, तो भी हर्ष के साथ उसका पुराना मित्रभाव यथापूर्व बना रहा। पर यह ध्यान में रखना चाहिये, कि पाटलिपुत्र के गुप्त-सम्राटों की अपेक्षा इस समय कन्नौज और स्थानेश्वर के अधिपति हर्ष का साम्राज्य बहुत अधिक विस्तृत था। माधवगुप्त ने ६०६ से ६४७ ईस्वी तक राज्य किया।

आदित्यसेन--उसके बाद उसका पुत्र आदित्यसेन पाटलिपुत्र का सम्राट् बना। उसके सिहासनारूढ़ होने से एक साल पहले ६४६ ईस्वी में हर्षवर्धन की भी मृत्यु हो चुकी थी। हर्ष के बाद उसका शक्तिशाली विशाल साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया। काश्मीर और सिन्ध से बंगाल की सीमा तक अपने बाहुबल के जोर पर जो शक्ति हर्षवर्धन ने स्थापित की थी, वह उसकी मृत्यु के बाद स्थिर नहीं रह सकी। परिणाम यह हुआ, कि फिर पुराने राजवंशों और सामंतों ने सिर उठाया और अनेक महत्त्वाकांक्षी राजा अपनी शक्ति के विस्तार के लिये कटिबद्ध हो गये। मागध-राजा आदित्यसेन ने भी इस परिस्थति से लाभ उठाया। एक शिलालेख में आदित्य सेन को परम भट्टारक महाराजाधिराज की उपाधि से विभूषित किया गया है। यह उपाधि पुराने प्रतापी गुप्त-सम्राटों की थी, जिसे आदित्यसेन ने फिर धारण किया था। एक अन्य शिलालेख में उसे 'पृथिवीपति' और 'आसमुद्रांत वसुन्धरा' का शासक भी कहा गया है। प्रतीत होता है, कि आदित्यसेन ने गुप्त-साम्राज्य का अच्छा विस्तार किया और इसी उपलक्ष में उसने अश्वमेध यज्ञ भी किया। स्कंदगुप्त के बाद गुप्त-सम्राटों में आदित्यसेन ने ही पहले-पहल अश्वमेध का अनुष्ठान किया था। लगभग दो सदी के बाद गुप्त-सम्राटों के इस अश्वमेध से यह भलीभांति सूचित हो जाता है कि आदित्यसेन एक शक्तिशाली राजा था और उसने गुप्त-साम्राज्य की शक्ति का बहुत कुछ पुनरुद्वार कर लिया था।

देवगुप्त--आदित्यसेन के बाद उसका लड़का देवगुप्त पाटलिपुत्र की राजगद्दी पर बैठा। उसे शिलालेखों में जहां 'परमभट्टारक महाराजाधिराज' कहा गया है, वहां 'सकलोत्तरापथनाथ' भी कहा है। इससे प्रतीत होता है, कि आदित्यसेन द्वारा स्थापित साम्राज्य उसके समय में अक्षुण्ण रहा, और वह उत्तरी भारत के अच्छे बड़े प्रदेश में शासन करता रहा। देवगुप्त शैव धर्म का अनुयायी था।

अपने शासनकाल के अंतिम सालों में देवगुप्त के चालुक्य राजा विनयादित्य के साथ अनेक युद्ध हुए। इस समय में दक्षिणापथ में चालुक्य वंश बहुत जोर पकड़ रहा था। उसके महत्त्वाकांक्षी राजा अपने साम्राज्य के विस्तार के लिये भगीरथ प्रयत्न में लगे थे। क्योंकि उत्तरापथ इस समय गुप्तों के हाथ में था, अतः स्वाभाविक रूप से उनमें परस्पर संघर्ष हुआ, और देवगुप्त को एक बार विनयादित्य से बुरी तरह हार भी खानी पड़ी। इस समय के एक शिलालेख से आभास मिलता है कि देवगुप्त की मृत्यु भी इन्हीं युद्धों में हुई।

विष्णुगुप्त—देवगुप्त के बाद उसका लड़का विष्णुगुप्त गुप्त-साम्राज्य का स्वामी हुआ। उसका समकालीन चालुक्य-राजा विजयादित्य था। यह अपने पिता के समान ही प्रतापी और महत्त्वाकांक्षी था। उसने एक बार फिर उत्तरापथ पर आक्रमण किया, और मार्ग के सब प्रदेशों को जीतता हुआ वह मगध तक आ पहुँचा। उसने मागध-राजा को हराकर उसके परमेश्वरत्व के निशान, गंगा-यमुना के चिह्नों से अंकित ध्वज को युद्ध में छीन लिया था। चालुक्य राजा से पराजित होनेवाला यह गुप्त-सम्राट् संभवतः विष्णुगुप्त ही था। चालुक्य के आक्रमण से गुप्तों की शक्ति बहुत क्षीण हो गई, और इसी कारण अनेक सामंत राजा फिर स्वतंत्र हो गये। गुप्तों की शक्ति के इस ह्रासकाल में कन्नौज के सामंत राजाओं ने फिर सिर उठाया। वहां का राजा इस समय यशोधर्मा था, जो अपने को गुप्तों का 'भृत्य' समझता था। पर अब वह स्वतंत्र हो गया, और उसने मगध पर चढ़ाई भी की। सोन नदी के तट पर उसने गुप्त-राजा को परास्त किया और अपनी शक्ति को बहुत बढ़ा लिया।

जीवितगुप्त—गुप्त-वंश का अंतिम राजा जीवितगुप्त था। इसका एक शिलालेख बिहार में आरा के समीप देववरनार्क नामक स्थान पर प्राप्त हुआ है। यह एक प्राचीन विष्णुमंदिर के द्वार पर उत्कीर्ण है। इसके अध्ययन से ज्ञात होता है, कि जीवितगुप्त की छावनी (विजयस्कंधावार) गोमती नदी के तट पर स्थित थी। गोमती नदी वर्तमान उत्तर प्रदेश में है। वहां छावनी का होना इस बात को सूचित करता है, कि उसके पूर्व का प्रदेश अब संभवतः गुप्तों के अधिकार में नहीं रहा था। कन्नौज के राजाओं ने वहां तक के प्रदेश को अपने अधिकार में कर लिया था।

जीवितगुप्त के साथ गुप्त-वंश की समाप्ति हो गई। इस समय उत्तरी भारत में अनेक महत्त्वाकांक्षी राजा अपनी शक्ति बढ़ा रहे थे। काश्मीर का राजा ललितादित्य मुक्तापीड बड़ा शक्तिशाली था। उसने पूर्व में दूर-दूर तक हमले किये थे।

एक अनुश्रुति के अनुसार उसने गौड़ देश के राजा को कैद कर लिया था। ललितादित्य का समय ७३३ से ७६९ ईस्वी तक है। इसी समय के लगभग मगध में गुप्तवंशी राजा जीवितगुप्त का शासन था, जिसकी अधीनता में गौड़ देश भी था। ललितादित्य द्वारा कैद किया जानेवाला गौड़नरेश यदि जीवतगुप्त ही हो, तो कोई आश्चर्य नहीं। उधर कामरूप और कन्नौज के राजा भी इस काल में विजय-यात्राओं में संलग्न थे। यदि इनमें से कोई राजा मौर्यों और गुप्तों के समान भारत में साम्राज्य की स्थापना कर सकता, तो बहुत उत्तम होता। पर इनकी विजय-यात्राएं यशोधर्मा और हर्षवर्धन की दिग्विजय के समान क्षणिक और अचिरस्थायी थीं। उनसे भारत में किसी स्थिर-शासन की स्थापना नहीं हो सकी।

गुप्त-वंश का अंत आठवीं सदी के मध्य भाग में हुआ।

(६) सम्राट् हर्षवर्धन (६०६ से ६४६ ई० प०)

कन्नौज के मौखरिवंश के राजा ग्रहवर्मा की मृत्यु के बाद उसकी विधवा (स्थानेश्वर के राजा हर्षवर्धन की बहन) राज्यश्री ने राज्य करना शुरू किया, और हर्षवर्धन ही उसके नाम पर उसकी तरफ से कन्नौज के राज्य का शासन करने लगा, यह हम पिछले प्रकरण में लिख चुके हैं। क्योंकि ग्रहवर्मन और राज्यश्री की कोई सन्तान नही थी, अतः इस समय से स्थानेश्वर और कन्नौज के राज्य मिलकर एक हो गये, और दोनों का शासक हर्षवर्धन ही हो गया। इस बात का उल्लेख भी हम ऊपर कर चुके हैं। भारत के प्राचीन इतिहास में हर्षवर्धन का बहुत अधिक महत्त्व है। गुप्तवंश की निर्बलता से लाभ उठाकर उसने अपनी शक्ति को बहुत बढ़ा लिया था, और उत्तरी भारत के बहुत से प्रदेशों पर उसका आधिपत्य स्थापित हो गया था। पर हर्षवर्धन के महत्त्व का कारण केवल यही नहीं है। प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्यु‌न-त्सांग उसी के शासनकाल में भारत की यात्रा के लिये आया था, और हर्ष के साथ उसका घनिष्ठ सम्पर्क रहा था। ह्यु‌एन-त्सांग के यात्रा-विवरण से हर्षवर्धन और उसके राज्यशासन के सम्बन्ध में बहुत-सी महत्त्वपूर्ण बातें ज्ञात होती हैं। इसके अतिरिक्त संस्कृत के प्रसिद्ध महाकवि बाणभट्ट ने 'हर्षचरितम्' पुस्तक लिखकर हर्षवर्धन के नाम को अमर कर दिया है। 'हर्षचरितम्' संस्कृत का अद्वितीय गद्यकाव्य है और उसके अनुशीलन से इस राजा के इतिहास का विशदरूप से परिचय मिलता है। इन दो साहित्यिक साधनों के अतिरिक्त अनेक उत्कीर्ण लेखों द्वारा भी हर्षवर्धन के इतिहास का परिज्ञान प्राप्त करने में सहायता मिलती है। यशोधर्मा सदृश अनेक अन्य राजा हर्षवर्धन की अपेक्षा

कम वीर व प्रतापी नहीं थे । गुप्त-साम्राज्य के क्षय के समय अन्य भी अनेक ऐसे राजा हुए, जिन्होंने हूणों का मुकाबला कर दूर-दूर तक देशों का विजय कर अपनी शक्ति की स्थापना की। राजनीतिक इतिहास की दृष्टि से हर्षवर्धन का महत्त्व उनसे किसी भी प्रकार अधिक नही है, पर भारत के प्राचीन इतिहास मे जो गौरवपूर्ण स्थान हर्ष को प्राप्त है, उसका मुख्य कारण उसके साथ सम्बन्ध रखनेवाली ऐतिहासिक सामग्री की प्रचुरता ही हैं ।

स्थानेश्वर और कन्नौज के राज्यों को अधिगत कर हर्षवर्धन ने अपनी शक्ति का विस्तार शुरू किया । इस उद्देश्य से उसने जो युद्ध किये, उनमें मुख्य निम्नलिखित थे—(१) गौड़ देश के राजा शशांक के विरुद्ध, (२) वल्लभी के राजा ध्रुवसेन द्वितीय या ध्रुवभट के विरुद्ध, (३) चालुक्यराज पुलकेशी के विरुद्ध और (४) सिन्ध के राजा के विरुद्ध ।

गौड़ देश के राजा शशांक गुप्त के साथ कन्नौज के मौखरिवंश का जो संघर्ष हुआ, उसका उल्लेख पिछले प्रकरण में किया जा चुका है । शशांक ने ही अन्तिम मौखरिराजा ग्रहवर्मा की हत्या की थी । हर्षवर्धन ने अपने बहनोई के वध का बदला लेने के लिये शशांक के साथ अनेक युद्ध किये, और उसी को परास्त करने के लिये उसने कामरूप (आसाम) के राजा भास्करवर्मा के साथ सन्धि की । पर हर्षवर्धन को गौड़ देश की पराजय में सफलता नहीं हुई, और अन्त में उसने शशांक के राज्य की स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार कर लिया ।

वल्लभी के राजा ध्रुवसेन द्वितीय को पराजित करने में हर्षवर्धन सफल हुआ । पर उसने वल्लभी के राज्य की स्वतन्त्र सत्ता का अन्तकर उसे अपने साम्राज्य में सम्मिलित करने की प्रयत्न नहीं किया। ध्रुवसेन हर्ष की अधीनता को स्वीकार करता था, और जब हर्ष ने प्रयाग में एक महासभा का आयोजन किया, तो वह भी एक मित्र राजा के रूप में उसमें सम्मिलित हुआ। ध्रुवसेन के साथ अपनी मैत्री को स्थिर रखने के लिये हर्षवर्धन ने अपनी पुत्री का विवाह भी उसके साथ कर दिया था।

जिस प्रकार उत्तरी भारत में हर्षवर्धन का आधिपत्य था, उसी प्रकार दक्षिणापथ में इस समय चालुक्यराज पुलकेशी की प्रधानता थी। चालुक्यवंश के राजाओं के सम्बन्ध में हम अगले एक अध्याय में विशदरूप से प्रकाश डालेंगे । पुलकेशी की प्रशस्ति द्वारा ज्ञात होता है, कि हर्ष ने दक्षिणापथ को भी अपने आधिपत्य में लाने का प्रयत्न किया, पर इसमें उसे सफलता नहीं हुई । हर्ष और पुलकेशी में जो युद्ध हुआ, उसमें चालुक्यराज विजयी हुआ, और हर्ष के

साम्राज्य की सीमा नर्मदा नदी के दक्षिण में नहीं पहुँच सकी। ह्यु एन-त्सांग के यात्रा-विवरण द्वारा भी इस युद्ध में हर्ष की पराजय विदित होती है।

सिन्ध के राजा के विरुद्ध हर्ष के युद्ध का उल्लेख 'हर्षचरितम्' में किया गया है। बाणभट्ट के अनुसार इस युद्ध में हर्ष विजयी हुआ था, और सिन्धुराज की लक्ष्मी को उसने स्वायत्त कर लिया था। संभवतः सिन्ध का राजा भी हर्ष को अपना अधिपति स्वीकार करता था।

इसमें संदेह नहीं, कि इन विजयों के कारण हर्ष के साम्राज्य का क्षेत्र बहुत अधिक विस्तृत हो गया था। स्थानेश्वर का राज्य उसने अपने पिता से प्राप्त किया था। पूर्वी पंजाब और उत्तरी राजपूताना के प्रदेश अवश्य ही इस राज्य के अन्तर्गत थे। कन्नौज के मौखरिवंश के शासन पर अधिकार हो जाने के कारण वर्तमान उत्तर-प्रदेश भी उसकी अधीनता में आ गया था। बांसखेरा और मधुबन में प्राप्त उत्कीर्ण लेखों से अहिच्छत्र (बरेली में) और श्रावस्ती का उसके शासन में होना प्रमाणित है। चीनी अनुश्रुति में हर्ष को 'मगधराज' कहा गया है। इससे विदित होता है, कि मगध भी उसके प्रभाव में था। गुप्तवंशी मागधराजा माधवगुप्त हर्ष का बालसखा और परम मित्र था। राजसिंहासन पर आरूढ़ हो जाने के बाद भी माधवगुप्त और हर्ष की मित्रता में कोई अन्तर नहीं आया। यह सम्भव है, कि बौद्ध-माधवगुप्त बौद्ध-हर्षवर्धन को अपना सहायक और अधिपति मानता हो, क्योंकि गुप्त-कुल का ही गौड़राज शशांकगुप्त बौद्धों का द्वेषी था। सम्भवतः, इसीलिये चीनी अनुश्रुति में हर्ष को 'मगधराज' भी कहा गया है। उड़ीसा (कलिङ्ग) के कुछ प्रदेश भी हर्ष की अधीनता में थे, क्योंकि चीनी अनुश्रुति के अनुसार जयसेन नामक एक बौद्ध विद्वान को हर्ष ने उड़ीसा के अस्सी नगरों की आमदनी दान-रूप में प्रदान की थी। सुराष्ट्र (वल्लभी) का राजा ध्रुवसेन और सिन्धुदेश का राजा भी उसकी अधीनता को स्वीकार करते थे। इस दशा में यदि बाणभट्ट ने 'हर्षचरितम्' में हर्ष को 'सकलोत्तरापथनाथ' कहा तो यह सर्वथा ठीक ही था।

हर्षवर्धन ने अपने इस विशाल साम्राज्य का निर्माण शक्तिशाली सेना की सहायता से ही किया था। ह्यु एन-त्सांग के अनुसार उसकी सेना में साठ हजार हाथी और एक लाख अश्वारोही सैनिक थे।

हर्षवर्धन के साम्राज्य का शासन गुप्त-साम्राज्य के ही सदृश था। सामन्त-पद्धति हर्ष की शासन-पद्धति की भी महत्त्वपूर्ण विशेषता थी। गुप्त-सम्राटों के समान हर्षवर्धन ने भी अपने अधीनस्थ राजाओं के उच्छेद का प्रयत्न नहीं

किया। वल्लभी सिन्ध आदि के जिन राजवंशों को उसने युद्ध में परास्त किया, उन्हें उसने अपना सामन्त बनाकर अधीनता स्वीकृत करने के लिये विवश किया। यही कारण है, कि उसके मरते ही उसका साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया, और अनेक अधीनस्थ राजाओं ने फिर से स्वन्त्रता प्राप्त कर ली। स्थानेश्वर और कन्नौज के राज्यों के जो प्रदेश सीधे हर्षवर्धन के शासन में थे, उन्हें अनेक भुक्तियों (प्रान्तों) में विभक्त किया गया था। भुक्तियों के शासकों को 'उपरिक महाराज' कहा जाता था। भुक्ति के उपविभागों को विषय (जिला) कहते थे।

हर्ष के साम्राज्य की राजधानी कन्नौज थी। ह्यु एन-त्सांग ने इसका वर्णन करते हुए लिखा है, कि इस नगर में हीनयान और महायान दोनों बौद्ध सम्प्रदायों के एक सौ विहार थे, जिनमें दस हजार भिक्षु निवास करते थे। बौद्ध-धर्म के साथ-साथ पौराणिक हिंदू-धर्म का भी कन्नौज में प्रचार था। ह्युएन-त्सांग के अनुसार इस धर्म के मंदिरों की संख्या दो सौ थी। इससे ज्ञात होता है, कि बौद्ध और पौराणिक दोनों धर्मों के अनुयायी कन्नौज में एक साथ निवास करते थे, और उनमें विरोध-भावना नही थी। हर्षवर्धन दोनों धर्मों का आदर करता था, और दोनों के भिक्षुओं व पण्डितों को और विहारों व मंदिरों को दान द्वारा संतुष्ट रखता था। पर इससे यह नहीं समझना चाहिये, कि सातवीं सदी के भारत में साम्प्रदायिक विद्वेष का सर्वथा अभाव था। जिस समय हर्ष ने कन्नौज में एक बौद्ध महासभा का आयोजन किया, तो कतिपय बौद्ध विद्वेषी लोगों ने उसके विरुद्ध षड्यन्त्र किया और विवश होकर राजा को पांच सौ ब्राह्मणों को बन्दी कर निर्वासित करना पड़ा। ह्यु एन-त्सांग के अनुसार कन्नौज नगर पांच मील लम्बे और सवा मील चौड़े क्षेत्र में बसा हुआ था और उसके भवन स्वच्छ और सुंदर थे। नागरिक लोग चिकने और रेशमी वस्त्र धारण करते थे, और उनकी भाषा परिमार्जित व मधुर थी।

ह्यु एन-त्सांग के विवरण के अनुसार हर्षवर्धन बौद्ध-धर्म का अनुयायी था। बुद्ध के एक दांत को काश्मीर से लाकर उसने कन्नौज के एक संघाराम में प्रतिष्ठित किया। उसने बहुत से स्तूपों और विहारों का भी निर्माण कराया। पशु-हत्या और मांस-भक्षण का निषेध कर उसने यह व्यवस्था की, कि इन अपराधों के लिये दण्ड दिया जाय। बौद्ध सिद्धान्तों के मनन के लिये उसने अनेक महासभाओं का भी आयोजन किया। ह्यु एन-त्सांग के इन विवरणों को दृष्टि में रखकर यही माना जाता है, कि हर्ष बौद्ध-धर्म का अनुयायी था। पर 'हर्षचरितम्' के अनुशीलन से यह प्रतीत नहीं होता, कि हर्ष बौद्ध था। बांसखेरा और मधुवन के उत्कीर्ण लेखों में उसके नाम के साथ 'परम माहेश्वर' विशेषण का प्रयोग किया

गया है। जो इस युग में शैवधर्म के अनुयायियों के लिये ही प्रयुक्त होता था। प्रयाग में जब उसने बहुत बड़े परिमाण में धार्मिक आयोजन किया, तो बौद्ध देवी-देवताओं के साथ-साथ उसने सूर्य और शिव की मूर्तियों की भी पूजा की, और ब्राह्मण पण्डितों को भी दान-दक्षिणा दी। इससे सूचित होता है, कि हर्षवर्धन उन अर्थों में बौद्ध नहीं था, जिनमें कि अशोक व कनिष्क थे। वह सब धर्मों का आदर करता था, और सबके धार्मिक नेताओं का दान दक्षिणा द्वारा सत्कार करता था। सम्भवतः शुरू में उसका झुकाव पौराणिक हिन्दूधर्म के प्रति अधिक था, पर बाद में ह्य ुएन-त्सांग के सत्संग से वह बौद्ध-धर्म के प्रति अधिक अनुरक्त हो गया था।

हर्षवर्धन न केवल विद्वानों का आदर करता था, अपितु स्वयं भी सुकवि था। उसने प्रियदर्शिका, रत्नावली और नागानन्द नाम के तीन नाटकों की रचना की, जो अब भी उपलब्ध होते हैं। संस्कृत का प्रसिद्ध गद्यलेखक महाकवि बाणभट्ट उसी के दरबार मे रहता था। हर्षचरितम्, कादम्बरी और चण्डीशतक इस महा-कवि की उत्कृट कृतियां हैं। सूर्यशतक का लेखक मयूर कवि भी राजा हर्षवर्धन के ही आश्रय में रहता था।

ज्ञान और विद्या के प्रोत्साहन के लिये हर्ष ने अनेक उपायों का आश्रय लिया। ह्य ुएन-त्सांग के अनुसार वह राजकीय भूमि की आय का चतुर्थांश विद्वानों को पुरस्कृत करने में व्यय करता था। जयसेन नामक बौद्ध विद्वान् को उसने उड़ीसा के अस्सी नगरों की आमदनी प्रदान करने की व्यवस्था की थी, यह हम ऊपर लिख चुके हैं। चीनी अनुश्रुति के अनुसार हर्ष के राजकोष में जो भी धन संचित होता, उसे वह प्रति पांचवें वर्ष प्रयाग के धर्ममहोत्सव में श्रमणों ब्राह्मणों और विद्वानों को दान देकर समाप्त कर देता था। नालन्दा के विद्यापीठ ने भी हर्ष के संरक्षण में बहुत उन्नति की थी।

इसमें संदेह नहीं, कि हर्ष एक ऐसे साम्राज्य को स्थापित करने में समर्थ हुआ था, जो बहुत उन्नत और समृद्ध था। पर खेद यही है, कि उसकी मृत्यु के बाद यह साम्राज्य स्थिर नहीं रहा। उसके अपनी कोई सन्तान नहीं था, अतः उसके मरने पर उसके मन्त्री अर्जुन ने कन्नौज पर अधिकार कर लिया।

(७) चीनी यात्री ह्य ुएन-त्सांग

गुप्तवंश के ह्रासकाल में जब स्थानेश्वर और कन्नौज का राजा हर्षवर्धन भारत का सबसे शक्तिशाली सम्राट् था, एक प्रसिद्ध चीनी यात्री भारत में आया, जिसका नाम ह्युएन-त्सांग है। यह ६३० ईस्वी के लगभग भारत पहुँचा और

१५ वर्ष तक इस देश में रहा। यहां उसने केवल बौद्ध-धर्म का ही अनुशीलन नहीं किया, अपितु इस देश के समाज, रीति-रिवाज, ऐतिहासिक अनुश्रुति आदि का भी खूब गंभीरता से अध्ययन किया। उसने अपना जो यात्राविवरण लिखा है, वह ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत महत्त्व का है। फाइयान की तरह उसने बौद्ध धर्म के अतिरिक्त अन्य सब बातों की उपेक्षा नहीं की, अपितु इस देश के जीवन के सब पहलुओं का भलीभांति वर्णन किया है। यही कारण है, कि सातवीं सदी के भारत को भलीभांति समझने के लिये ह्युएन-त्सांग का भारतवर्णन विश्वकोष का काम देता है। इस चीनी यात्री का कुछ परिचय देना इस काल के इतिहास को समझने के लिये बहुत उपयोगी है।

६०० ईस्वी के लगभग कन्फ्यूसियस के धर्म को माननेवाले एक परिवार में ह्युएन-त्सांग का जन्म हुआ था। उसके तीन भाई और थे। उमर में वह सबसे छोटा था। छोटी आयु में ही उसका ध्यान बौद्ध-धर्म की ओर आकृष्ट हुआ, और उसने भिक्षु बनकर इस धर्म का भलीभांति अध्ययन करने का संकल्प किया। बीस वर्ष की आयु में वह भिक्षु हो गया और चीन के विविध विहारों में जाकर बौद्ध-धर्म का अध्ययन करने लगा। चीन के स्थविरों से जो कुछ भी सीखा जा सकता था, वह सब उसने सीख लिया। पर उसे इससे संतोष नहीं हुआ। चीनी भाषा में अनूदित बौद्ध-ग्रंथों से उसकी जिज्ञासा पूर्ण नहीं हुई। उसने विचार किया कि भारत जाकर बौद्ध-धर्म के मूल ग्रंथों का अनुशीलन करे, और उन पवित्र तीर्थस्थानों का भी दर्शन करे, जिनसे भगवान् बुद्ध और उनके प्रमुख शिष्यों का सम्बन्ध है। सब प्रकार की तैयारी करके २९ वर्ष की आयु में ह्युएन-त्सांग ने चीन से भारत के लिये प्रस्थान किया। इस समय चीन से भारत आने के लिए अनेक मार्ग थे, जिनमें से एक उत्तरी मध्य एशिया से होकर आता था। ह्युएन-त्सांग ने इसी मार्ग का अवलंबन किया, और वह तुर्फान, ताशकंद, समरकन्द और काबुल होता हुआ भारत आया। चीन से भारत पहुँचने में उसे एक साल लगा।

हिंदूकुश पर्वतमाला को पार कर वह कपिशा की राजधानी में शलोका नामक विहार में रहा। अपना चातुर्मास्य उसने वहीं व्यतीत किया। वहां से अन्य अनेक नगरों और विहारों की यात्रा करता हुआ वह काश्मीर गया। ह्युएन-त्सांग काश्मीर में दो वर्ष तक रहा। इस युग में भी काश्मीर बौद्ध-धर्म का महत्त्वपूर्ण केन्द्र था। ह्युएन-त्सांग ने अपने दो साल काश्मीर में बौद्ध-ग्रंथों के अध्ययन में व्यतीत किये। काश्मीर से वह पंजाब के अनेक स्थानों का भ्रमण

करता हुआ स्थानेश्वर पहुँचा। यहां जयगुप्त नाम का एक प्रसिद्ध विद्वान् रहता था। ह्युएन-त्सांग ने उसके पास कई मास तक अध्ययन किया। वहां से वह कन्नौज गया, जो उस समय उत्तरी भारत की प्रधान राजनीतिक शक्ति था। यहीं उसका सम्राट् हर्षवर्धन से परिचय हुआ। कन्नौज से ह्युएन-त्सांग अयोध्या, प्रयाग, कौशांबी, श्रावस्ती, कपिलवस्तु, कुशीनगर, वाराणसी और वैशाली आदि होता हुआ मगध पहुँचा। पाटलिपुत्र उस समय बिलकुल क्षीण हो गया था। अब से लगभग दो सदी पहले जब फाइयान भारत आया था, तो पाटलिपुत्र में महाप्रतापी गुप्त-सम्राटों का शासन था। यह नगरी न केवल एक विशाल साम्राज्य की राजधानी थी, अपितु ज्ञान, शिक्षा और संस्कृति की भी महत्त्वपूर्ण केन्द्र थी। यही कारण है, कि फाइयान ने पाटलिपुत्र में रहकर ही धर्म और ज्ञान की पिपासा को शांत किया था। पर गुप्तों की शक्ति के क्षीण होने और कन्नौज के मौखरि राजाओं के उत्कर्ष के कारण पाटलिपुत्र का स्थान अब कन्नौज ने ले लिया था। मगध के गुप्त राजा इस समय निर्बल थे, और हर्षवर्धन के सम्मुख उनकी शक्ति बिलकुल फीकी थी। पिछले दिनों की अव्यवस्था और अशांति से पाटलिपुत्र का वैभव भी क्षीणप्राय हो गया था। यही कारण है, कि ह्युएन-त्सांग पाटलिपुत्र में देर तक नहीं ठहरा। वहां के प्रसिद्ध स्तूपों और विहारों का दर्शन कर वह बोधिवृक्षके दर्शनों के लिये गया। ह्युएन-त्सांग ने लिखा है, कि राजा शशांक बौद्ध-धर्म से बड़ा द्वेष रखता था, और शैव-धर्म का कट्टर अनुयायी था। उसने बोधिवृक्ष को कटवा दिया और पटना में बुद्ध के पदचिह्नों से अंकित पत्थर को, जिसकी बौद्ध लोग पूजा करते थे, गंगा में फेंकवा दिया। ह्युएन-त्सांग ने बोधिवृक्ष के नीचे उस स्थान के दर्शन कर अपार संतोष प्राप्त किया, जहां भगवान् बुद्ध को बोध हुआ था। भक्त लोगों ने बोधिवृक्ष का फिर से आरोपण कर दिया था। यहां से ह्युएन-त्सांग नालंदा गया। इस युग में नालन्दा का विहार शिक्षा और ज्ञान के लिये सबसे बड़ा केन्द्र था। चीनी यात्री ने कुछ समय तक वहां रहकर बौद्ध धर्म के विविध ग्रंथों का भलीभांति अनुशीलन किया। नालंदा से हिरण्यदेश (मुंगेर), चंपा, राजमहल, पुण्ड्रवर्धन, कर्णसुवर्ण आदि होता हुआ वह दक्षिण भारत की ओर मुड़ा। उड़ीसा तथा दक्षिण कोशल होता हुआ ह्युएन-त्सांग धनकटक पहुंचा। यहां अमरावती के विहार में वह कई महीने तक रहा। अमरावती से वह कांची गया। इसके बाद वह उत्तर-पश्चिम की ओर मुड़ा और वनवासी देश होता हुआ महाराष्ट्र पहुँच गया। दक्षिण के अनेक नगरों और देहातों का भ्रमण करता हुआ ह्युएन-त्सांग सिंध और मुलतान गया। अनेक नवीन स्थानों

का अवलोकन करता हुआ वह वहां से फिर नालंदा गया। बौद्ध-धर्म के जो ग्रंथ उसने अभी तक नहीं पढ़े थे, उन सबका इस बार उसने अनुशीलन किया।

इन दिनों कामरूप (आसाम) में भास्करवर्मा का शासन था। वह कन्नौज के सम्राट् की अधीनता स्वीकार करता था। उसने ह्युएन-त्सांग को आसाम पधारने के लिये निमंत्रण दिया। आसाम में उस समय बौद्ध-धर्म का यथेष्ट प्रचार नहीं था। अतः अपने गुरु और नालंदा के प्रधान आचार्य शीलभद्र की आज्ञा से ह्युएन-त्सांग ने आसाम के लिये प्रस्थान किया। भास्करवर्मा ने बड़ आदर के साथ इस प्रसिद्ध विदेशी बौद्ध विद्वान् का स्वागत किया।

इस समय सम्राट् हर्षवर्धन बंगाल में राजमहल में पड़ाव डाले पड़ा था। जब उसे ज्ञात हुआ, कि ह्युएन-त्सांग आसाम में है, तो उसने भास्करवर्मा को यह आदेश दिया कि वह चीनी विद्वान् को साथ लेकर गंगा के मार्ग से कन्नौज आवे। हर्षवर्धन ने कन्नौज में एक बौद्ध-महासभा का आयोजन किया था, जिसमें बौद्ध-धर्म के सिद्धान्तों पर विचार करने के लिये दूर-दूर से भिक्षुओं और विद्वानों को आमन्त्रित किया गया था। हर्ष की इच्छा थी, कि ह्युएन-त्सांग भी इस महासभा में सम्मिलित हो। हर्ष के आदेश से भास्करवर्मा ह्युएन-त्सांग को साथ लेकर कन्नौज आया। वहां इस चीनी विद्वान् के पाण्डित्य का बहु त आदर हुआ। बाद में वह हर्ष के साथ प्रयाग गया। जहां सम्राट् ने बहुत दान-पुण्य किया। इस प्रकार पन्द्रह वर्ष के लगभग भारत में रहकर और इस देश से बहुत से धर्मग्रंथों को साथ लेकर ह्युएन-त्सांग उत्तर-पश्चिम के स्थल मार्ग से चीन को लौट गया। ह्युएन-त्सांग के भारत-भ्रमण का यही संक्षिप्त वृत्तान्त है।

कन्नौज की जिस महासभा के लिये हर्षवर्धन ने ह्युएन-त्सांग को विशेषरूप से निमंत्रित किया था, उसमें बीस सामन्त राजा, चार हजार बौद्ध भिक्षु और लगभग तीन हजार जैन व हिन्दू पण्डित सम्मिलित हुए थे। इस महासभा के लिये हर्षवर्धन ने गंगा नदी के पश्चिमी तट पर एक विशाल मण्डप और एक चैत्य का निर्माण कराया था, जिसकी ऊंचाई सौ फीट थी। चैत्य के भीतर बुद्ध की एक सुवर्ण-मूर्ति स्थापित कराई गई थी, जो ऊंचाई में हर्षवर्धन के बराबर थी। इस मण्डप के पश्चिम की ओर कुछ दूरी पर राजा ने अपने और अपने प्रतिष्ठित अतिथियों के निवास के लिये भवनों का निर्माण कराया था। प्रतिदिन प्रातःकाल के समय बुद्ध की सुवर्णमूर्ति का जुलूस निकाला जाता था। मूर्ति को एक उत्तुङ्ग हाथी पर रखकर हर्ष और भास्करवर्मा उसके साथ रहते थे। इस अवसर पर हर्ष इन्द्र (शक्र) का वेश धारण करता था, और भास्करवर्मा ब्रह्मा का। सामन्त

राजा, उच्च राजकर्मचारी, प्रतिष्ठित अतिथि और प्रमुख भिक्खु व पण्डित हाथियों पर आरूढ़ होकर पीछे-पीछे चलते थे। सौ हाथियों पर तो केवल वे बाजे वाले ही बैठते थे, जो विविध प्रकार के बाजे बजाते हुए जुलूस के साथ-साथ रहते थे। जब यह विशाल जुलूस चैत्य के समीप पहुँच जाता था, तो राजा हर्षवर्धन विविध मणिमाणिक्य से सुशोभित हजारों-लाखों रेशमी वस्त्रों को बुद्ध की मूर्ति पर चढ़ाता था। अन्य बहुमूल्य उपहार भी इस समय बुद्ध की मूर्ति के भेंट किये जाते थे। बुद्ध की प्रतिमा के पूजा के बाद सहभोज होता था, और फिर सब लोग महासभा के अधिवेशन में सम्मिलित होते थे। ह्युएन-त्सांग को इस सभा में प्रधान पद प्राप्त था, क्योंकि हर्ष उसे अत्यन्त सम्मान की दृष्टि से देखता था। एक मास तक निरन्तर इसी प्रकार इस सभा के अधिवेशन होते रहे। एक महीना बीत जाने पर किसी व्यक्ति ने चैत्य को आग लगा दी, और जब हर्ष आग को बुझाने के लिये व्यवस्था कर रहा था, एक आततायी ने उसपर आक्रमण किया। पर उसे अपने प्रयत्न में सफलता नहीं हुई, और हर्ष के अंगरक्षकों ने उसे बन्दी बना लिया। पूछने पर उसने बताया कि ब्राह्मण पंडितों ने उसे हर्ष की हत्या के लिये नियुक्त किया था, और उन्होंने ही चैत्य में आग लगवाई थी। हर्ष जिस प्रकार बौद्ध-धर्म के प्रति पक्षपात प्रदर्शित कर रहा था, पण्डित लोग उससे बहुत असंतुष्ट थे, और इसी कारण उन्होंने यह षड्यंत्र किया था। पांच सौ ब्राह्मणों को षड्यंत्र में शामिल होने के अपराध में दण्ड दिया गया, और जो निरपराध पाये गये उन्हें छोड़ दिया गया।

कन्नौज की महासभा की समाप्ति पर हर्ष ने प्रयाग के लिये प्रस्थान किया। गंगा-यमुना के संगम पर हर पाचवें साल हर्ष एक महोत्सव किया करता था। सब सामंत राजा व उच्च राजकर्मचारी इस उत्सव में भी सम्मिलित होते थे। ह्युएन-त्सांग इस उत्सव में भी हर्ष के साथ था। उसने अपने यात्रा-विवरण में इसका भी विशदरूप से वर्णन किया है। पांच वर्षों में जो धन हर्ष के राज्यकोष में एकत्र हो जाता था, उसे वह इस उत्सव में दान-पुण्य में व्यय कर देता था। ह्युएन-त्सांग के वर्णन के अनुसार उत्सव के प्रथन दिन बुद्ध की मूर्ति स्थापित की जाती थी, और अत्यन्त बहुमूल्य रत्न आदि से उसकी पूजा कर इन रत्नों को दान कर दिया जाता था। इसी प्रकार दूसरे दिन आदित्यदेव की और तीसरे दिन ईश्वरदेव की अर्चना की जाती थी। चौथे दिन दस हजार बौद्ध भिक्खुओं को दान-पुण्य किया जाता था। प्रत्येक भिक्खु को सौ सुवर्ण-मुद्रायें, एक रत्न, वस्त्र और भोजन व सुगन्ध आदि प्रदान किये जाते थे। अगले बीस दिन ब्राह्मणों को दानपुण्य दिया

जाता था। इसके बाद अगले दस दिन जैन, लोकायत आदि अन्य सम्प्रदायों के,लोग दान ग्रहण करते थे। फिर एक मास तक दरिद्र, अनाथ आदि दान प्राप्त करते थे। इस प्रकार दान-पुण्य करते-करते जब राज्यकोष का सब धन समाप्त हो जाता था, तो हर्ष अपनी वैयक्तिक सम्पत्ति का दान प्रारम्भ करता था। जब वह भी समाप्त हो जाती, तो इस सर्वमेध यज्ञ की इतिश्री होती। इस अवसर पर हर्ष के पास एक वस्त्र तक भी शेष न बचता, और वह अपनी बहन राज्यश्री से एक पुराना वस्त्र मांगकर उसे धारण करता, और बुद्ध भगवान् की पूजा कर आनन्द-निमग्न हो जाता। धर्म के लिये सर्वस्व स्वाहा कर उसे हार्दिक आनन्द अनुभव होता था, और इसी को वह गौरव की बात समझता था।

प्रयाग के जिस सर्वमेध यज्ञ में ह्युएन-त्सांग सम्मिलित हुआ था, वह हर्ष के जीवनकाल का छठा यज्ञ था। इससे पूर्व वह इसी ढंग के पांच यज्ञ और कर चुका था। इस प्रकार बार-बार अपने राज्यकोष को खाली कर के हर्ष अपनी शक्ति को कैसे स्थिर रख सका था, यह समझ सकना सुगम बात नहीं है। सम्भवतः इसीलिये उसके मरते ही उसका राज्य छिन्न-भिन्न हो गया, और अपने बाहुबल से जो विशाल साम्राज्य उसने स्थापित किया था, वह उसकी मृत्यु के बाद कायम नहीं रह सका।

सहायक ग्रन्थ

Mazumdar R. C. : Early History of Bengal.
,, : Outline of Ancient Indian History and Civilization.
A New History of the Indian People Vol. VI.
Beal : Life of Hiuen Tsang.
Ray Chaudhury : Political History of Ancient India.
Tripathi : History of Ancient India.
,, : History of Kannauj.
Smith V. A. : Early History of India.

छत्तीसवां अध्याय

उत्तरी भारत के विविध राज्य और उनका संघर्ष

(१) अराजकता का काल

अराजकता—हर्षवर्धन की मृत्यु के बाद उत्तरी भारत में कोई ऐसी राज-शक्ति नहीं रह गई, जो कि विविध राज्यों को जीतकर उन्हें अपनी अधीनता में रख सके। यशोधर्मा के समान हर्षवर्धन द्वारा की गई विजयें भी कोई स्थिर परिणाम उत्पन्न नहीं कर सकीं। गुप्तसम्राटों के समय भारत में जिस सामन्त-पद्धति का विकास हुआ था, वह अब अपना फल दिखा रही थी। यूरोप के इतिहास में भी रोमन साम्राज्य के पतन के बाद सामन्त-पद्धति का प्रारम्भ हुआ था, और उसके कारण मध्यकालीन यूरोप में कोई ऐसे प्रतापी सम्राट् नहीं हुए, जो अपने सामन्तों को पूर्णतया अपना वशवर्ती बना स्थिररूप से अपने साम्राज्य को कायम रख सकने में समर्थ हुए हों। यही बात भारत के इतिहास के विषय में भी कही जा सकती है। गुप्तवंश की शक्ति के क्षीण होने पर मध्यकालीन इतिहास में यहां भी कोई ऐसा राजा नहीं हुआ, जो विविध सामन्तों को स्थिर रूप से काबू में लाकर अव्यवस्था और अराजकता की प्रवृत्तियों का दमन कर सकने में सफल हुआ हो। गुप्त-सम्राटों के उत्कर्ष काल में जो अनेक राजा विविध प्रदेशों पर सामन्त रूप में शासन करते थे, वे सब अब स्वतंत्र होने के लिये प्रयत्नशील हो गये, और उनमें से अनेक महत्त्वाकांक्षी राजाओं ने दिग्विजय के उद्देश्य से जो विजययात्रायें प्रारम्भ कीं, उन्होंने देश में और भी अधिक अशान्ति और अव्यवस्था उत्पन्न कर दी। हूणों के आक्रमण इस प्रवृत्ति में बहुत सहायक हुए, और उनके साथ जिन अनेक विदेशी जातियों ने भारत में प्रवेश किया, उनके भी अनेक प्रतापी नेता इस अव्यवस्था को उत्पन्न करने में तत्पर हो गये। छठी और सातवीं सदियों में यशोधर्मा और हर्षवर्धन ऐसे राजा हुए, जिन्होंने दिग्विजय कर विशाल साम्राज्यों के निर्माण में सफलता प्राप्त की। पर ये दोनों

प्रतापी राजा भारत में किसी स्थायी साम्राज्य की नींव नहीं डाल सके । सातवीं सदी के बाद भी अनेक ऐसे वीर हुए, जिन्होंने उत्तरी भारत के बड़े भाग को जीतकर अपने अधीन किया, जिन्होंने काश्मीर से बंगाल की खाड़ी तक विजय-यात्रायें कीं, और जो विविध राजाओं को जीतकर उन्हें अपना सामन्त बनाने में समर्थ हुए। पर इनमें से किसी को भी मौर्यों व गुप्तों के समान एक स्थायी साम्राज्य बनाने में सफलता नहीं हुई। सम्भवतः सामन्तपद्धति की सत्ता ही इसकी प्रधान कारण थी।

हर्षवर्धन के बाद की अव्यवस्था—अपनी मृत्यु से पांच साल पूर्व ६४१ ईस्वी में सम्राट् हर्षवर्धन ने अपना एक राजदूत चीन के सम्राट् की सेवा में भेजा था। इस समय चीन के राजसिंहासन पर सम्राट् ताम्रो-त्सुंग विराजमान था, जो तानवंश का था। हषवर्धन के समान ताम्रो-त्सुंग भी वीर और महत्वाकांक्षी था, और उसने चीन के बड़े भाग को जीतकर एक बड़े विशाल साम्राज्य का निर्माण किया था। यह स्वाभाविक था, कि भारत के उत्तरापथ का सम्राट् चीन के तानवंशी सम्राटों के साथ मैत्रीसंबंध स्थापित करने का प्रयत्न करता। हर्षवर्धन के राजदूत के उत्तर में चीन के सम्राट् ने अपना जो दूतमण्डल भारत भेजा, उसका नेता चीनी अनुश्रुति के अनुसार वांग-ह्युएन-त्से था। जिस समय यह भारत आया, तो हषवर्धन की मृत्यु हो चुकी थी, और उसके अमात्य अर्जुन या अरुणाश्व ने कन्नौज की राजगद्दी पर अपना अधिकार कर लिया था । चाहिये तो यह था, कि अर्जुन इस दूतमण्डल का यथोचित स्वागत करता, पर उसने इसकी सम्पत्ति को लूट लिया। इस पर वांग-ह्युएन-त्से तिब्बत भाग गया, और वहां के राजा से सहायता की याचना की। तिब्बत के राजा का विवाह चीन की एक राजकुमारी के साथ हुआ था, अतः उसने चीनी राजदूत की सहायता करना स्वीकार कर लिया, और तिब्बती सेना की सहायता से वांग-ह्युएन-त्से ने अर्जुन के राज्य पर आक्रमण किया। युद्ध में अर्जुन परास्त हो गया, और इस प्रकार चीन के राजदूत ने अपने अपमान का प्रतिशोध किया।

चीनी अनुश्रुति के इस विवरण में सत्यता का अंश कहां तक है, यह निश्चित कर सकना सुगम नहीं है। पर इससे यह परिणाम निकाल सकना उचित है, कि हर्षवर्धन का उत्तराधिकारी न केवल अयोग्य था, पर साथ ही निर्बल भी था। कामरूप (आसाम) से सिन्ध तक के विशाल क्षेत्र पर शासन करनेवाले प्रतापी सम्राट् हर्षवर्धन के उत्तराधिकारी में इतनी भी शक्ति नहीं थी, कि वह तिब्बत की सेना को परास्त कर सकता । यही कारण है, कि हर्षवर्धन के बाद उसका साम्राज्य

छिन्न-भिन्न हो गया, और उसके भग्नावशेषों पर विविध राजवंश स्वतंत्रता के साथ शासन करने लगे।

मगध का गुप्तवंश—हर्षवर्धन का समकालीन मगध का गुप्तवंशी राजा माधवगुप्त था, जो न केवल कन्नौज-सम्राट् का मित्र था, अपितु उसकी अधीनता भी स्वीकृत करता था। उसकी स्थिति हर्षवर्धन के सामन्त के सदृश थी। पर कन्नौज के प्रतापी सम्राट् की मृत्यु के बाद मगध का गुप्तवंश स्वतंत्र हो गया, और माधव-गुप्त का पुत्र आदित्यसेन (६७५ ईस्वी के लगभग) अपने वंश के गौरव का पुन-रुद्धार करने में तत्पर हो गया। आदित्यसेन और उसके उत्तराधिकारियों के विषय में हम पिछले अध्याय में लिख चुके हैं। एक शिलालेख में आदित्यसेन को 'आसमुद्र वसुन्धरा' का स्वामी कहा गया है, जो इस बात का प्रमाण है, कि हर्षवर्धन के बाद मगध के गुप्तवंशी राजाओं ने अपनी शक्ति को बहुत बढ़ा लिया था। आठवीं सदी के मध्यतक ये राजा मगध तथा समीपवर्ती प्रदेशों पर शासन करते रहे। इनके वृत्तांत को यहां फिर से दोहराने की आवश्यकता नहीं है। केवल इतना निर्देश करना ही प्रर्याप्त होगा, कि उत्तरी भारत के विविध राज्यों में मगध का गुप्तवंश भी एक था, जो हर्षवर्धन के साम्राज्य के छिन्न-भिन्न होने पर फिर से स्वतन्त्रतापूर्वक शासन करने लगे थे।

(२) कन्नौज और काश्मीर

यशोवर्मा की दिग्विजय—हर्षवर्धन के उत्तराधिकारी अर्जुन को चीनी राजदूत वांग-हियुएन-त्से ने किस प्रकार परास्त किया, इसका उल्लेख हमने अभी किया था, अर्जुन की पराजय के बाद कन्नौज का राजसिंहासन किन व्यक्तियों के हाथों में रहा, यह ज्ञात नहीं है। पर आठवीं सदी के प्रारम्भिक भाग में कन्नौज के राजसिंहासन पर एक ऐसा व्यक्ति विराजमान था, जो यशोधर्मा और हर्षवर्धन के समान ही प्रतापी और महत्त्वाकांक्षी था। इसका नाम यशोवर्मा था। हर्ष या अर्जुन के वंश के साथ यशोवर्मा का कोई सम्बन्ध था या नहीं, यह अनिश्चित है। पर इसमें सन्देह नहीं, कि वह एक बार कन्नौज के लुप्त गौरव की स्थापना में सफल हुआ था। ७३१ ईस्वी में उसने भी चीनी सम्राट् के पास अपना दूतमण्डल भेजा, और चीन व भारत की मैत्री स्थापित की। प्रसिद्ध कवि वाक्पतिराज ने प्राकृत भाषा के महाकव्य 'गौड़वहो' में यशोवर्मा की दिग्विजय का विशद रूप से वर्णन किया है। यशोवर्मा के समय में गौड़ देश (बंगाल) का राजा जीवितगुप्त द्वितीय था, जो गुप्त-वंश का था। माधवगुप्त

के बाद राजा आदित्यसेन ने गुप्त-वंश की शक्ति का किस प्रकार पुनरुद्धार किया, इसका उल्लेख हम पिछले अध्याय में कर चुके हैं। मगध और बंगाल जीवितगुप्त के शासन में थे। यशोवर्मा के आक्रमण का मुकाबला कर सकने में जीवितगुप्त असमर्थ रहा। मगध पर यशोवर्मा का अधिकार हो गया, और जीवितगुप्त ने बंगाल जाकर शरण ली। पर यशोवर्मा ने यहां भी उसका पीछा किया। यद्यपि गौड़ सैनिकों ने बड़ी वीरता के साथ कन्नौज की सेनाओं का मुकाबला किया, पर वे परास्त हो गये। जीवितगुप्त आक्रान्ता द्वारा मारा गया, और मगध के समान बंगाल पर भी यशोवर्मा का आधिपत्य स्थापित हो गया।

यशोवर्मा केवल मगध और बंगाल की विजय करके ही संतुष्ट नही हुआ। दक्षिण में नर्मदा नदी के साथ-साथ विजय-यात्रा करते हुए उसने मरुदेश (राजस्थान) और श्रीकान्त (स्थानेश्वर) को आक्रान्त किया, और फिर हिमालय के प्रदेशों का विजय कर अपनी दिग्विजय समाप्त की। इसमें सन्देह नहीं, कि यशोवर्मा एक महान् विजेता था, और उसी की विजयों के कारण गुप्तवंश का अन्त हुआ था। जीवितगुप्त प्रतापी गुप्त-वंश का अन्तिम सम्राट् था।

पर यशोवर्मा का साम्राज्य देर तक कायम नही रह सका। ७४० ई० प० के लगभग काश्मीर के राजा ललितादित्य ने विजय-यात्रा प्रारम्भ की, और यशोवर्मा को परास्त कर कन्नौज पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। इस विजय के बाद कन्नौज काश्मीर के साम्राज्य में शामिल हो गया, और वहां के राजाओं की स्थिति सामन्तों के सदृश रह गई।

संस्कृत का प्रसिद्ध महाकवि भवभूति यशोवर्मा का समकालीन था। भवभूति का स्थान संस्कृत के कवियों में बहुत ऊंचा है। उत्तर रामचरित, महावीरचरित और मालतीमाधव के रूप में भवभूति संस्कृत साहित्य को ऐसे अमर रत्न प्रदान कर गया है, कि जब तक संस्कृत भाषा का अध्ययन जारी रहेगा, भवभूति और यशोवर्मा का नाम भी अमर रहेगा। प्राकृत भाषा का प्रसिद्ध कवि वाक्पतिराज भी यशोवर्मा का समकालीन था।

यशोवर्मा के समय को हम स्थूलरूप से ७२५ से ७५२ ई० प० तक रख सकते हैं।

काश्मीर का उत्कर्ष—अशोक के समय में काश्मीर मौर्य-साम्राज्य के अन्तर्गत था। जैसा कि हम पहले लिख चुके हैं, अशोक की मृत्यु के बाद जालौक वहां का राजा बना। राजतरङ्गिणी के अनुसार जालौक अशोक का पुत्र था, और उसके बाद काश्मीर का स्वतन्त्र राजा बन गया था। काश्मीर का इस युग का

इतिहास बहुत स्पष्ट नहीं है । इतना निश्चित है, कि विदेशी आक्रमणों के प्रभाव से काश्मीर भी मुक्त नहीं रहा था, और कनिष्क का शासन वहां अवश्य ही रहा था । गुप्त-साम्राज्य के उत्कर्ष-काल में काश्मीर देवपुत्र शाहानुशाहि कुशाण राजाओं के शासन में था, जो गुप्त-सम्राट् समुद्रगुप्त के आधिपत्य को स्वीकृत करते थे । यशोधर्मा और भानुगुप्त बालादित्य जैसे प्रतापी सम्राटों ने जब हूणों को परास्त किया; तो हूणराज मिहिरगुल ने काश्मीर में ही आश्रय ग्रहण किया था । हर्ष के समय में काश्मीर का राजा दुर्लभवर्धन था, जिसे राजतरंगिणी में नाग-कर्कोटक-वंश का लिखा गया है । राजा हर्षवर्धन ने काश्मीर से भगवान् बुद्ध का जो दांत प्राप्त किया था, वह दुर्लभवर्धन ने ही उसे प्रदान किया था । भारत का भ्रमण करते हुए ह्युएन-त्सांग काश्मीर भी गया था, और उसके काश्मीर-निवास के समय में यह राज्य अच्छी उन्नत दशा में था । सिंहपुर (कटास), उरशा (हजारा), पुंछ और राजपुर (राजौरी) के प्रदेश उसके अन्तर्गत थे । दुर्लभवर्धन के बाद प्रतापादित्य काश्मीर का राजा बना। उसने अपने नाम से प्रतापपुर नाम के नगर की स्थापना की ।

प्रतापादित्य के बाद उसका पुत्र चन्द्रापीड काश्मीर के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ। ७२० ईस्वी में चीन के सम्राट् ने उसकी स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकृत किया था, जिससे सूचित होता है, कि वह एक महत्त्वपूर्ण राजा था। राजतरंगिणी में चन्द्रापीड के सम्बन्ध में बहुत-सी गाथाएं लिखी गई हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि वह बड़ा धार्मिक और दयालु राजा था। कल्हण के अनुसार चन्द्रापीड ने एक नये मंदिर के निर्माण का निश्चय किया । उसके लिये जिस जमीन की आवश्यकता थी, उसमें एक चर्मकार का झोपड़ा भी बना हुआ था । चर्मकार अपनी जमीन को मंदिर के लिये देने को तैयार नहीं था। उसका कहना था, कि यदि राजा को मेरी भूमि की आवश्यकता है, तो उसे स्वयं मेरे पास आना चाहिये और इस बात का फैसला करना चाहिये । जब यह बात चन्द्रापीड को ज्ञात हुई, तो वह स्वयं चर्मकार की कुटी पर आया, और मूल्य तय करके उसे उससे खरीद लिया ।

चन्द्रापीड की मृत्यु के बाद उसका छोटा भाई ललितादित्य मुक्तापीड ७२५ ई० प० के लगभग काश्मीर का राजा बना । ललितादित्य बड़ा वीर और महत्त्वाकांक्षी था । भारत के इतिहास में उसकी वही स्थिति है, जो यशोधर्मा, हर्षवर्धन व यशोवर्मा की है । राजतरंगिणी में उसकी दिग्विजय का बड़े विशद

रूप में वर्णन किया गया है। उसकी विजयों में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कन्नौज की विजय है। ललितादित्य के समय में कन्नौज के राजसिंहासन पर यशोवर्मा विराजमान था, जो स्वयं एक महान् विजेता था, और जिसने मगध और गौड़ देश की विजय कर गुप्त-वंश का अन्त किया था। यशोवर्मा ललितादित्य के सम्मुख नहीं टिक सका, और उससे परास्त हो गया। कन्नौज पर अधिकार कर ललितादित्य ने मगध, कलिंग, बंग और कामरूप (आसाम) की विजय की, और इस प्रकार वह प्राच्य समुद्रतट तक विस्तीर्ण सम्पूर्ण उत्तरापथ का स्वामी हो गया। ललितादित्य केवल उत्तरापथ को जीतकर ही संतुष्ट नहीं हुआ। उसने दक्षिणापथ पर आक्रमण कर चालुक्यों को परास्त किया, और मालवा व गुजरात को भी अपने अधीन कर लिया। इस समय सिन्ध पर अरबों के आक्रमण शुरू हो चुके थे। ललितादित्य ने अरबों के साथ भी युद्ध किया, और वे इस महान् विजेता के सम्मुख नहीं टिक सके। ललितादित्य की विजयों का क्षेत्र केवल भारत तक ही सीमित नही था। कन्नौज और उत्तरापथ के विविध राज्यों की विजय से पूर्व उसने काश्मीर के उत्तर व पश्चिम में स्थित विविध प्रदेशों पर आक्रमण किया, और वंक्षु नदी को पार कर पामीर पर्वतमाला की उपत्यका तक के प्रदेश को अपने अधीन किया। इसी समय उसने पूर्व की ओर बढ़कर तिब्वत पर आक्रमण किया, और उसे भी जीत लिया। सम्भव है, कि कल्हण ने ललितादित्य की विजयमाला के वर्णन में अतिशयोक्ति से काम लिया हो। पर यह निःसन्दिग्ध है, कि वह एक महान् विजेता था, और कुछ समय के लिये वह एक ऐसे विशाल साम्राज्य का निर्माण करने में समर्थ हुआ था, जो चन्द्रगुप्त मौर्य और समुद्रगुप्त के साम्राज्यों का स्मरण दिलाता था।

अपने विशाल साम्राज्य से जो अपार धन उसने प्राप्त किया था, उसका उपयोग उसने काश्मीर में विहारों, मंदिरों व अन्य भवनों के निर्माण के लिये किया। धर्म के सम्बन्ध में उसकी नीति बहुत उदार थी। जहां एक ओर उसने हुष्कपुर व अन्य नगरों में बौद्ध विहार बनवाये, वहां साथ ही अनेक हिन्दू मन्दिरों के निर्माण पर भी उसने ध्यान दिया। काश्मीर की घाटी में मटन नामक स्थान पर उसने भगवान् सूर्य के एक विशाल-मन्दिर का निर्माण कराया था, जिसके अवशेष अब तक भी विद्यमान हैं, और जो मार्तण्ड-मन्दिर के नाम से विख्यात है। इसके अतिरिक्त भूतेश के शिव-मन्दिर और परिहासकेशव के विष्णुमन्दिर का भी उसने निर्माण कराया था।

ऐसा प्रतीत होता है, कि विजययात्राओं में अभूतपूर्व सफलता के कारण ललितादित्य अमर्यादित हो गया था। राजतरङ्गिणी के अनुसार सुरापान द्वारा मदमस्त दशा में एक बार उसने यह आज्ञा दी, कि प्रवरपुर नामक नगर को आग लगा दी जाय। यह अच्छा हुआ, जो इस आज्ञा के कार्य में परिणत होने से पूर्व ही उसे सुध आ गई, और उसे अपने कार्य पर पश्चात्ताप हुआ। कल्हण ने ललितादत्यि के संबंध में एक अन्य कथा लिखी है, जिसे उल्लिखित करना उपयोगी है। उसने बंगाल के राजा को यह आश्वासन देकर काश्मीर बुलाया, कि किसी प्रकार की हानि नहीं पहुँच पायेगी। इस आश्वासन को देते हुए उसने भगवान् परिहासकेशव विष्णु की शपथ खाई। जब बंगाल का राजा काश्मीर आ गया, तो ललितादित्य ने उसकी हत्या करादी। जब यह समाचार बंगाल पहुँचा, तो वहां से कुछ सैनिक काश्मीर आये और उन्होंने परिहासकेशव विष्णु के मन्दिर पर धावा बोल दिया। ललितादित्य ने इसी देवता की शपथ खाकर बंगाल के राजा की रक्षा का आश्वासन दिया था, अतः बंग सैनिकों ने निश्चय किया, कि वे मन्दिर पर आक्रमण कर विष्णु की मूर्ति को खण्ड-खण्ड कर दें। काश्मीर के सैनिकों ने उनका मुकाबला किया। एक-एक करके बंगाल के सब सैनिक काट डाले गये। पर इस बीच में उन्होंने विष्णु की मूर्ति को खण्ड-खण्ड करके अपने राजा की हत्या का प्रतिशोध कर दिया था।

७६० ईस्वी के लगभग ललितादित्य की मृत्यु हुई। उसके उत्तराधिकारी निर्बल थे, और वे ललितादित्य मुक्तापीड द्वारा स्थापित साम्राज्य को अक्षुण्ण रख सकने में असमर्थ रहे। परिणाम यह हुआ, कि काश्मीर का विशाल साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया, और ललितादित्य द्वारा विजित राजवंश फिर से स्वतंत्र हो गये।

ललितादित्य के उत्तराधिकारियों में विनयादित्य जयापीड का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उसका शासनकाल ७७९ से ८१० ईस्वी तक था। उसने एक बार फिर काश्मीर के साम्राज्य का विस्तार करने का प्रयत्न किया। कन्नौज जीतकर उसने पूर्व की ओर बंगाल तक आक्रमण किये, और लौटते हुए नेपाल की विजय की। पर जयापीड द्वारा स्थापित साम्राज्य भी देर तक कायम नहीं रह सका। उसके उत्तराधिकारियों के समय साम्राज्य के अन्तर्गत सब प्रदेश फिर से स्वन्त्रत हो गये, और नाग-कर्कोटक-वंश का शासन केवल काश्मीर तक ही सीमित रह गया।

८५५ ईस्वी में काश्मीर के इस प्रतापी नाग-कर्कोटक-वंश की समाप्ति हुई।

कन्नौज के आयुध राजा—कन्नौज के प्रतापी राजा यशोवर्मा ने जिस विशाल साम्राज्य की स्थापना की थी, वह देर तक कायम नहीं रह सका था। काश्मीर के दिग्विजयी सम्राट् ललितादित्य ने यशोवर्मा को परास्त कर कन्नौज को अपने अधीन कर लिया था। पर जब ललितादित्य के उत्तराधिकारियों के समय में (७६० ईस्वी के बाद) काश्मीर की शक्ति क्षीण हुई, तो कन्नौज फिर से स्वतन्त्र हो गया। जब विनयादित्य जयापीड ने एक बार फिर काश्मीर की शक्ति का उद्धार किया, तो कन्नौज में वज्रायुध नाम के राजा का शासन था। दिग्विजय करते हुए जयापीड ने कन्नौज को भी परास्त किया। उसके समय में सम्भवतः वज्रायुध ही कन्नौज की राजगद्दी पर आरूढ़ था।

कन्नौज के ऐसे तीन राजाओं का नाम हमें ज्ञात हैं, जिनके अन्त में 'आयुध' आता है। ये नाम हैं—वज्रायुध, इन्द्रायुध और चक्रायुध। प्राचीन साहित्य और उत्कीर्ण लेखों द्वारा इनकी सत्ता सूचित होती है। काश्मीर के राजा विनयादित्य जयापीड के समान दक्षिणापथ के राष्ट्रकूट राजाओं ने भी कन्नौज पर आक्रमण किये, और इन आयुध-राजाओं को जीतकर अपने अधीन किया। इसी प्रकार जब बंगाल के पालवंशी राजा प्रबल हुए, और उन्होंने पूर्व की ओर आक्रमण शुरू किये, तो भी कन्नौज के आयुध-राजा उनसे परास्त हुए। पाल और राष्ट्रकूट-वंशों का इतिहास लिखते हुए हम कन्नौज के इन राजाओं का पुनः उल्लेख करेंगे। यहां इतना निर्देश करना ही पर्याप्त है, कि यशोवर्मा के बाद आठवीं सदी में कन्नौज में ऐसे राजाओं का शासन था, जिनके नामों के अन्त में 'आयुध' आता था। हर्षवर्धन या यशोवर्मा के वंश के साथ इन राजाओं का कोई सम्बन्ध था या नहीं, यह सर्वथा अज्ञात है।

(३) बंगाल में पालवंश का उत्कर्ष

बंगाल गुप्त-साम्राज्य के अन्तर्गत था। चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य ने बंगाल में विद्रोहियों के एक संघ को परास्त कर उसके सुशासन की व्यवस्था की थी। जब गुप्त-साम्राज्य की शक्ति क्षीण हुई, और कन्नौज को राजधानी बनाकर मौखरि-वंश ने स्वतन्त्ररूप से शासन प्रारम्भ किया, तो बंगाल भी गुप्त-साम्राज्य से पृथक् हो गया। वहां के प्रतापी राजा शशांक का उल्लेख हम पहले कर चुके हैं, जो गुप्त-वंश का ही था। सम्भवतः मगध के गुप्त-सम्राटों की निर्बलता से लाभ उठाकर शशांक गुप्त ने बंगाल में अपना स्वतंत्र शासन स्थापित कर लिया था। हर्षवर्धन ने अपनी विजययात्रा में बंगाल की भी विजय

की, और उसके राजा को अपना वशवर्ती बनाया। यशोवर्मा और ललितादित्य ने भी उसे अपने साम्राज्यों के अन्तर्गत किया, यद्यपि इस सुदूरवर्ती प्राच्य प्रदेश में उनका शासन स्थिर नहीं हुआ। ललितादित्य के बाद बंगाल में अव्यवस्था मच गई, और इससे लाभ उठाकर कामरूप (आसाम) के राजा श्रीहर्ष ने आठवीं सदी के मध्य भाग में बंगाल पर अधिकार कर लिया। काश्मीर के राजा विनयादित्य जयापीड ने एक बार फिर बंगाल का मर्दन किया, और आसाम के राजा श्रीहर्ष के सामन्त (जो उत्तरी बंगाल में पुण्ड्रवर्धन का शासक था) जयन्त को परास्त किया। जयन्त ने जयापीड की अधीनता स्वीकृत कर ली, और काश्मीर के राजा ने उसे ही अपनी ओर से बंगाल का शासक नियत किया।.

पर जयन्त को जयापीड की ओर से बंगाल का शासन करने में सफलता नहीं हुई। यह युग शक्तिशाली सामन्तों का था, जो अव्यवस्था के इस काल में स्वतन्त्र हो जाने के लिये सदा तत्पर रहते थे। विजययात्रा के बाद ज्यों ही जयापीड अपने देश को वापस गया, बंगाल में पुनः सर्वत्र अराजकता छा गई। जयन्त के लिये सम्भव नहीं था, कि वह इस अव्यवस्था को दूर कर सके। तिब्बती लामा तारानाथ ने इस दशा का वर्णन इस प्रकार किया है——"उस समय वहां कोई भी एक शक्तिशाली राजा नहीं था। ओडिविष (शायद उड़ीसा का ओड्रप्रदेश), बंगाल और पूर्व के पांच राज्यों में प्रत्येक ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्य अपने पास-पड़ोस के प्रदेश में राजा बन बैठा था। देश में किसी राजा का शासन नहीं था।" निःसन्देह, कन्नौज, काश्मीर और आसाम के महत्त्वाकांक्षी राजाओं की निरन्तर विजययात्राओं के कारण बंगाल में ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई थी, कि वहां बहुत से छोटे-छोटे सामन्त (जो सब वर्णों के थे) स्वतन्त्र रूप से शासन करने लग गये थे।

पालवंश का प्रारम्भ——अराजकता की इस दशा को इस काल के एक शिला-लेख में 'मात्स्यन्याय' के नाम से कहा गया है। जैसे बड़ी मछली छोटी मछली को खा जाती है, इसी तरह जब शक्तिशाली निर्बल के भक्षण के लिये तत्पर होता है, तो मात्स्यन्याय हो जाता है। मगध और बंगाल में अब 'मात्स्य-न्याय' ही छाया हुआ था। शक्तिशाली लोग सब जगह राजा बन बैठे थे, और निर्बल सर्वसाधारण लोग उनसे परेशान थे। व्यवस्थित राजसत्ता का सर्वथा लोप हो गया था। इस दशा को दूर करने के लिये जनता ने गोपाल नामक एक वीर पुरुष को स्वयं राजा निर्वाचित किया। वह किसी प्राचीन राजकुल का कुमार नहीं था। उसका पितामह दयितविष्णु था, जो सब विद्याओं में निष्णात

विद्वान् था। गोपाल के पिता का नाम वप्यट था। वह भी एक प्रसिद्ध विद्वान् था। पर इस समय देश में जो अराजकता फैली हुई थी, उससे विवश हो वप्यट ने शास्त्र छोड़कर शस्त्र का ग्रहण किया, और अनेक शत्रुओं को परास्त कर प्रसिद्धि प्राप्त की। उसका पुत्र गोपाल बड़ा वीर था। अराजकता की इस दशा में उसने अपने बाहुबल से और भी अधिक ख्याति प्राप्त की, और लोगो ने अनुभव किया कि यही वीर पुरुष देश की अशांति और अव्यवस्था को दूर कर जनता के जान और माल की रक्षा कर सकता है। इसीलिये उसे राजा बनाया गया और इस प्रकार पाल-वंश का प्रारम्भ हुआ। गोपाल ने पहले बंगाल में अशान्ति को दूर किया, और फिर मगध को जीतकर वहां भी एक व्यवस्थित शासन की स्थापना की।

इस काल के एक शिलालेख में लिखा है, कि "मात्स्य-न्याय को दूर हटाने के लिये प्रकृतियों ने गोपाल को लक्ष्मी का हाथ पकड़ायां, और उसे सब राजाओं का शिरोमणि बना दिया।" सर्वसाधारण जनता ने अपने मत (वोट) देकर गोपाल को राजा चुना हो, ऐसा नहीं हुआ। अपितु अपने समय की अव्यवस्था को दृष्टि में रखते हुए उस समय के विविध छोटे-छोटे राजाओं ने यह अनुभव किया, कि किसी वीर और योग्य व्यक्ति को अपना शिरोमणि बनाना चाहिये। इसीलिये वीरवर वप्यट के पुत्र श्रीगोपाल को उन्होंने अपना अधिपति स्वीकार किया और उसके नेतृत्व में गौड़ (बंगाल) और मगध (विहार) में फिर एक बार व्यवस्थित शासन की स्थापना हुई।

राजा धर्मपाल—इस प्रकार गोपाल ने ७६५ ईस्वी के लगभग शासनसूत्र को अपने हाथ में लिया। उसके बाद उसका लड़का धर्मपाल राजगद्दी पर बैठा। धर्मपाल का शासन-काल ७६६ से ८०६ ईस्वी तक है। पाल-वंश का यह राजा बड़ा प्रतापी था। उसके समय में पाल-राजाओं का शासन सारे उत्तरी भारत में विस्तृत हो गया। धर्मपाल की विजययात्राओं का वर्णन इस काल के अनेक शिलालेखों में किया गया है। धर्मपाल ने सबसे पहले कन्नौज पर आक्रमण किया। गुप्तों की शक्ति के क्षीण होने पर कन्नौज उत्तरी भारत का सबसे प्रमुख नगर था। राजशक्ति की दृष्टि से पाटलिपुत्र का स्थान अब कन्नौज ने ले लिया था। मौखरि-राजाओं और विशेषतया हर्षवर्धन के समय में कन्नौज का महत्त्व बहुत बढ़ गया था। कन्नौज के राजा यशोवर्मा का उल्लेख हम पहले कर चुके हैं, जिसने मगध पर आक्रमण कर वहां के गुप्तवंशी राजा को परास्त किया था। धर्मपाल के समय में कन्नौज का राजा इंद्रराज या

इंद्रायुध था। ७८३ ईस्वी के लगभग धर्मपाल ने कन्नौज पर आक्रमण किया, और इंद्रराज को परास्त कर उसके प्रतिद्वन्द्वी चक्रायुध को कन्नौज के राजसिंहासन पर अभिषिक्त किया। वह धर्मपाल को अपना अधिपति स्वीकार करके उसकी आज्ञा में रहते हुए शासन करने को तैयार था। इसीलिये धर्मपाल ने इंद्रराज को परास्त कर चक्रायुध को अपने सामंत रूप में कन्नोज की राजगद्दी पर बिठाया।

पर भारत के अन्य राजाओं न चक्रायुध को इतनी सुगमता से कन्नौज का राजा स्वीकार नहीं किया। इसीलिये धर्मपाल को बहुत-से राजाओं के साथ युद्ध करने पड़े। इस काल के लेखों के अनुसार कुरु, यदु, यवन, अवंति, गांधार, कीर, भोज, मत्स्य और मद्र आदि अनेक देशों के राजाओं को परास्त कर धर्मपाल ने उन्हें इस बात के लिये विवश किया, कि वे चक्रायुध को कन्नौज का राजा स्वीकार करें। कुरु राज्य पूर्वी पंजाब में कुरुक्षेत्र व स्थानेश्वर के समीपवर्ती प्रदेशों में था। यदु लोग मथुरा के समीप के प्रदेश में रहते थे। अवंति की राजधानी उज्जैनी थी। यवन और गांधार उत्तर-पश्चिमी पंजाब और उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रांत के प्रदेश थे। भोज और मत्स्यदेश पूर्वी राजपूताना में थे। इस प्रकार स्पष्ट है, कि धर्मपाल ने सुदूर हिंदूकुश तक के राजाओं को परास्त कर चक्रायुध की अधीनता स्वीकार करने के लिये विवश किया। इस युग में कन्नौज उत्तरी भारत का प्रधान केन्द्र था, वहां के राजा को अन्य राज्यों के अधिपति अपना स्वामी स्वीकार करते थे। इंद्रराज को राज्यच्युत कर जब धर्मपाल ने चक्रायुध को कन्नौज का राजा बनाया, तो उत्तरी भारत के अन्य राजाओं के साथ उसे घोर युद्ध करने पड़े, पर अंत में इन सब देशों के "सामंत राजाओं को कांपते हुए राजमुकुटों समेत आदर से झुककर उसे (चक्रायुध) स्वीकार करना पड़ा। पंचाल के वृद्धों ने उसके लिये सोने के अभिषेकघट खुशी से पकड़े।" अभिप्राय यह है, कि पंजाब, मध्यभारत, पूर्वी राजपूताना, उत्तरप्रदेश आदि संपूर्ण उत्तरीभारत के विविध राजा कन्नौज के जिस राजा को अपना स्वामी स्वीकार करते थे, वह अब मगध तथा गौड़ के अधिपति धर्मपाल का 'महासामंत' बन गया। इस युग में सामंतपद्धति का इतना जोर था, कि धर्मपाल ने इंद्रराज को परास्त कर न कन्नौज को सीधे अपने अधीन किया, और न चक्रायुध को ही एक साधारण सामंत की स्थिति प्रदान की। चक्रायुध धर्मपाल का सामंत था, और कुरु, यवन, मत्स्य आदि विविध देशों के राजा कन्नौज के महासामंत चक्रायुध के सांमत थे।

(४) राजपूत वंशों का प्रादुर्भाव

गुप्तों की शक्ति क्षीण होने पर भारत में जो बहुत-से नये राजवंश शासन करने लगे, उन्हें सामूहिक रूप से राजपूत कहा जाता है। भारतीय इतिहास में यह 'राजपूत' शब्द नया है। पुराने राजवंश या तो क्षत्रियों (शुद्ध आर्य या व्रात्य क्षत्रिय) के होते थे, या ब्राह्मण, वैश्य आदि अन्य कुलों के। पर सातवीं सदी के अंतिम भाग से ऐसे अनेक नये राजकुलों का प्रारम्भ हुआ, जो भारत के प्राचीन इतिहास में सर्वथा अज्ञात थे। गुर्जरप्रतीहार, पंवार, चालुक्य, राष्ट्रकूट, चौहान आदि अनेक नये राजवंशों के राज्य इस काल में स्थापित हुए। अनेक ऐतिहासिकों का मत है, कि ये सब उन शक, कुशाण, हूण आदि विदेशी आक्रांताओं की संतान थे, जिन्होंने भारत में प्रवेश कर यहां की भाषा, धर्म, सभ्यता और संस्कृति को पूरी तरह से अपना लिया था। भारत में आकर ये पूरी तरह भारतीय हो गये थे, और शैव, वैष्णव आदि विविध पौराणिक धर्मों को मानने लगे थे। इन्हें भारतीय समाज का ही अंग मान लिया गया था, और इनकी वीरता और युद्ध की प्रतिभा को दृष्टि में रखकर इन्हें क्षत्रिय वर्ग में शामिल कर लिया गया था। पुराने क्षत्रिय-कुलों से भिन्नता प्रदर्शित करने के लिये इन्हें राजपुत्र या राजपूत कहा गया।

ऐतिहासिकों के इस मत की पुष्टि एक प्राचीन अनुश्रुति से भी होती है, जिसके अनुसार राजपूतों की एक शाखा की उत्पत्ति अग्निकुण्ड से हुई थी। इसीलिये इन्हें 'अग्निकुल' के राजपूत कहा जाता है। ऐसा प्रतीत होता है, कि हूण व अन्य विदेशी जातियों को हिंदू-समाज में शामिल करने के लिये अग्नि द्वारा उनकी शुद्धि की गई, और इसीलिये वे अग्निकुल के राजपूत कहलाये। कुछ विद्वानों ने इस मत को अस्वीकार करते हुए यह प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया है, कि अग्निकुल के राजपूत शुद्ध क्षत्रिय थे, और उनका संबंध पुराने समय के सूर्य, चंद्र या अन्य राजवंशों से था। पर हमारी सम्मति में यही मानना युक्तिसंगत है, कि जो विदेशी आक्रांता भारतीय भाषा, धर्म आदि को स्वीकार कर पूर्णतया इस देश के समाज के अंग बन गये थे, उन्होंने ही गुर्जरप्रतीहार, चालुक्य आदि विविध नये राजवंशों का प्रारंभ किया। इन राजपूत-कुलों के राज्य नवीं, दसवीं और ग्यारहवीं सदियों में विशेष रूप से विकसित हुए।

आठवीं सदी में इन राजपूतों के निम्नलिखित राज्य बहुत शक्तिशाली थे--

(१) भिन्नमाल (राजपूताना में जोधपुर के दक्षिण में स्थित भिनमाल) का गुर्जरप्रतीहार राज्य। पालवंशी राजा धर्मपाल के समय में वहां का राजा वत्सराज था। वह भी बड़ा प्रतापी और महत्त्वाकांक्षी था।

(२) वातापी (बादामी, बंबई प्रांत के बीजापुर जिले में स्थित) का चालुक्य राज्य। इसका प्रारंभ छठी सदी में हुआ था। गुप्तवंश के क्षीण होने पर जब हर्षवर्धन उत्तरी भारत का सार्वभौम अधिपति था, तब चालुक्यवंशी पुलकेशी द्वितीय दक्षिण का सम्राट् था। पुलकेशी द्वितीय के बाद चालुक्यों का साम्राज्य दो भागों मे विभक्त हो गया। वातापी मे पुलकेशी के वंशज शासन करते रहे, और पूर्व में कृष्णा और गोदावरी नदियों के बीच में कुब्ज विष्णुवर्धन ने एक स्वतंत्र चालुक्य राज्य की स्थापना की। वह पुलकेशी द्वितीय का भाई था। आगे चलकर वातापी के चालुक्यो को राष्ट्रकूटों ने अपने अधीन कर लिया, पर पूर्वी चालुक्य-वंश ग्यारहवीं सदी तक स्वतंत्र रूप से राज्य करता रहा।

(३) महाराष्ट्र का राष्ट्रकूट राज्य। इसका संस्थापक दंतिदुर्ग था। उसने चालुक्य-राजा कीर्तिवर्मन द्वितीय को परास्त कर अपने स्वतंत्र राज्य की स्थापना की। पहले दंतिदुर्ग वातापी के चालुक्य-वंश का सामंत था, पर ७५४ ईस्वी में उसने न केवल अपने को स्वतंत्र कर लिया, अपितु वातापी के चालुक्य-वंश का अंत कर अपनी शक्ति का विस्तार करना प्रारंभ किया। पालवंशी धर्मपाल का समकालीन राष्ट्रकूट-राजा धारावर्ष ध्रुव था। वह बड़ा शक्तिशाली और महत्त्वाकांक्षी राजा था। इसने दूर-दूर के प्रदेशों पर आक्रमण कर अपनी शक्ति का बहुत विस्तार किया।

इस प्रकार आठवी सदी के अंत और नवी सदी के प्रारंभ में भारत में तीन प्रमुख राजशक्तियां थीं। मगध में पालवंशी धर्मपाल का राज्य था। कन्नौज का राजा चक्रायुध उसके हाथ में कठपुतली के समान था। पंजाब, अवंति, गांधार, मध्यभारत और संयुक्त प्रात के विविध देशों के राजा चक्रायुध के सामंत थे, और चक्रायुध धर्मपाल का महासामंत था। राजपूताना में गुर्जर-प्रतीहार-राजा वत्सराज का शासन था, और दक्षिणापथ में राष्ट्रकूट राजा ध्रुव का राज्य था। इन तीनों राजशक्तियों का यह प्रयत्न था, कि वें भारत में अपनी सार्वभौम सत्ता स्थापित करें। इसीलिये उनमें निरन्तर संघर्ष होता रहता था। इन सदियो के राजनीतिक इतिहास की मुख्य बात पाल गुर्जरप्रतीहार और राष्ट्रकूट राजाओं का पारस्पारिक संघर्ष ही है।

(५) पालवंशी राजा धर्मपाल और देवपाल

धर्मपाल (७६६-८०६)—उत्तरी भारत में जिस प्रकार धर्मपाल ने अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था, वह भिनमाल के गुर्जरप्रतीहार-राजा वत्सराज को सहन नहीं हुआ। उसने कन्नौज पर आक्रमण किया, और धर्मपाल तथा चक्रायुध को परास्त किया। वत्सराज के आक्रमण से विवश होकर धर्मपाल और चक्रायुध ने राष्ट्रकूट-राजा ध्रुव से सहायता के लिये प्रार्थना की। धर्मपाल का राष्ट्रकूट-राजा से घनिष्ठ संबंध था। उसकी पत्नी रण्णदेवी राष्ट्रकूटवंश की कुमारी थी, और विदिशा के राष्ट्रकूट सामंत परबल की कन्या थी। परबल राजा ध्रुव के ही कुल का था। वत्सराज के आक्रमणों से उत्तरी भारत की रक्षा करने के लिये ध्रुव ने भिनमाल पर हमला कर दिया। वत्सराज युद्ध में परास्त हुआ, और कन्नौज पर अपना शासन स्थिर करने की सब आशा छोड़ अपने राज्य को वापस लौट गया।

७९४ ईस्वी में राष्ट्रकूट-राजा धारावर्ष ध्रुव की मृत्यु हो गई। उसके बाद राजगद्दी पर कौन बैठे, इसके लिये झगड़े शुरू हुए। परिणाम यह हुआ, कि कुछ समय के लिये राष्ट्रकूट-राजशक्ति निर्बल हो गई। इसी बीच में भिनमाल के राजा वत्सराज की भी मृत्यु हो गई थी, और उसका लड़का नागभट्ट द्वितीय गुर्जरप्रतीहारों का राजा बना था। नागभट्ट अपने पिता के समान ही वीर और महत्त्वाकांक्षी था। राष्ट्रकूटों के गृहकलह से लाभ उठाकर उसने तुरंत कन्नौज पर आक्रमण कर दिया। धर्मपाल और चक्रायुध फिर परास्त हुए। पर इस समय तक राष्ट्रकूटों के आपस के झगड़े समाप्त हो चुके थे, और गोविंद तृतीय वहां की राजगद्दी पर आरूढ़ हो गया था। गोविंद तृतीय ने ध्रुव के समान फिर भिनमाल पर हमला किया। नागभट्ट उसका मुकाबला नहीं कर सका। एक शिलालेख के अनुसार जिस प्रकार शरद् ऋतु के आगमन से वर्षा ऋतु के बादल भाग जाते हैं, वैसे ही गोविंद तृतीय के आने के समाचार से नागभट्ट भाग गया था। गुर्जरप्रतीहारों की शक्ति को नष्ट करने के लिये ही गोविंद तृतीय ने अपने भतीजे कर्कराज को गुजरात का 'महासामंताधिपति' नियत किया। राजपूताने के पड़ोस में ही एक शक्तिशाली राष्ट्रकूट सामंत के स्थापित हो जाने का परिणाम यह हुआ, कि गुर्जरप्रतीहार-राजा देर तक सिर नहीं उठा सके, और कन्नौज पर अधिकार करने का उनका स्वप्न चिरकाल के लिये नष्ट हो गया।

गोविंद तृतीय केवल नागभट्ट को परास्त करके ही संतुष्ट नहीं हुआ। उसने उत्तर में हिमालय तक आक्रमण किये। ऐसा प्रतीत होता है, कि धर्मपाल और चक्रायुध गोविंद तृतीय की अधीनता स्वीकार करने लगे थे, और कुछ समय के लिये गोविंद की शक्ति भारत में सर्वप्रधान हो गई थी।

पाल-वंश के राजा गोपाल और धर्मपाल बौद्ध-धर्म के अनुयायी थे। एक लेख में धर्मपाल को 'परमसौगत' लिखा गया है। धर्मपाल ने ही विक्रमशिला के महाविहार की स्थापना की, जो आगे चलकर नालंदा के समान ही शिक्षा और बौद्ध-धर्म का प्रसिद्ध केन्द्र बन गया।

राष्ट्रकूट-राजा गोविंद के आक्रमणों से उत्तरी भारत में धर्मपाल की स्थिति डांवाडोल हो गई थी, पर मगध और बंगाल में उसकी शक्ति अक्षुण्ण बनी रही। चालीस वर्ष के लगभग शासन करके ८०९ ईस्वी में धर्मपाल की मृत्यु हुई। उसके दो पुत्र थे—त्रिभुवनपाल और देवपाल। संभवतः, बड़े युवराज त्रिभुवनपाल की मृत्यु धर्मपाल के जीवनकाल में ही हो गई थी। अतः धर्मपाल के बाद देवपाल मगध का राजा बना।

इन पालवंशी राजाओं की राजधानी कौन-सी थी, इस विषय में ऐतिहासिकों के अनेक मत हैं। अनेक पाल-राजाओं के शिलालेख पाटलिपुत्र व श्रीनगर से प्रकाशित किये गये थे, जिसे 'श्रीमज्जयस्कंधावार' कहा गया है। श्रीनगर पाटलिपुत्र का ही अन्य नाम था। यद्यपि गुप्तों के साथ पाटलिपुत्र की स्थिति भी क्षीण हो गई थी, पर इस नगर का सदियों पुराना गौरव अभी सर्वथा नष्ट नहीं हुआ था। इसीलिये पाल-राजाओं ने वहां अपनी एक प्रमुख छावनी कायम की थी। संम्भवतः, यही नगरी उनकी राजधानी का भी काम देती थी।

देवपाल (८०९-८५५)—धर्मपाल का उत्तराधिकारी देवपाल अपने पिता के समान ही प्रतापी और महत्त्वाकांक्षी था। उसके समय में पालवंश उन्नति की चरम सीमा को पहुँच गया। उसके प्रयत्न से मगध एक बार फिर उत्तरी भारत की प्रधान राजशक्ति बन गया। उसके चचा (धर्मपाल के भाई) वाक्पाल के पुत्र जयपाल ने उत्कल (उड़ीसा) और प्राग्ज्योतिष (आसाम) पर विजय स्थापित की। जयपाल देवपाल का प्रधान सेनापति था। पूर्व में समुद्रपर्यंत अपनी शक्ति को स्थापित कर देवपाल ने पश्चिम और दक्षिण में आक्रमण शुरू किये। धीरे-धीरे हिमालय और विंध्याचल के बीच का सब प्रदेश पाल-साम्राज्य के अधीन हो गया। चक्रायुध के बाद कन्नौज में किसका शासन था, यह निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है। पर देवपाल

ने कन्नौजपति और उसके अधीनस्थ सब सामंत राजाओं को जीतकर अपने अधीन कर लिया था, इसमें कोई संदेह नहीं। नागभट्ट द्वितीय का उत्तराधिकारी गुर्जरप्रतीहार राजा रामभद्र बहुत निर्बल था। उधर राष्ट्रकूटराजा गोविंद तृतीय की भी ८१४ ईस्वी में मृत्यु हो गई थी। उसका उत्तराधिकारी कौन हो, इस संबंध में झगड़े चल रहे थे। ऐसी परिस्थिति में देवपाल का मुकाबला कर सकने-वाली कोई शक्ति उत्तरी भारत में न थी। परिणाम यह हुआ, कि उसने अपनी शक्ति को बहुत बढ़ा लिया और काश्मीर से प्रग्ज्योतिष तक उसका अबाधित शासन स्थापित हो गया। अपने विरोधियों को परास्त कर जब अमोघवर्ष राष्ट्रकूट-राजा बना, तो उसने देवपाल पर आक्रमण किया। पर विंध्याचल के समीप देवपाल ने उसे बुरी तरह परास्त किया। उड़ीसा के दक्षिण के कुछ अन्य राज्यों को भी उसने अपने अधीन किया।

(६) गुर्जरप्रतीहार राजा मिहिरभोज

पर देवपाल की यह शक्ति देर तक कायम नहीं रह सकी। ८३६ ईस्वी में भिनमाल के गुर्जरप्रतीहार राजा रामभद्र की मृत्यु हुई। उसके बाद उसका लड़का भोज, मिहिरभोज या आदिवराह भिनमाल के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ। यह बड़ा शक्तिशाली राजा हुआ है। इसके राजा बनते ही स्थिति ने एक बार फिर पलटा खाया। मिहिरभोज ने अपने पितामह नागभट्ट द्वितीय का अनुकरण करते हुए एक बार फिर कन्नौज पर आक्रमण किया। इस बार देवपाल उसका मुकाबला नहीं कर सका। वह परास्त हो गया, और कन्नौज स्थिर रूप से गुर्जरप्रतीहारों के हाथ में चला गया। मिहिरभोज ने भिनमाल की जगह कन्नौज को अपनी राजधानी बनाया। इस युग में कन्नौज की स्थिति मुगल युग की दिल्ली के समान थी। कन्नौज के हाथ आते ही उत्तरी भारत के विविध राज्यों के सामंत राजा भी भोज के अधीन हो गये।

मिहिरभोज का साम्राज्य बड़ा विस्तृत था। पश्चिम में मुलतान, उत्तर में काश्मीर, दक्षिण में विंध्याचल और पूर्व में सोन नदी तक मिहिरभोज का साम्राज्य विस्तृत था। काठियावाड़ का प्रदेश भी उसके अधीन था। पाल राजा उसके सम्मुख बिलकुल निष्प्रभ हो गये थे। मिहिरभोज ने ८३६ ईस्वी से ८९० ईस्वी तक कुल ५५वर्ष राज्य किया। उसके समय में एक बार फिर उत्तरी भारत में एक शक्तिशाली स्थिर साम्राज्य की स्थापना हुई, सामंत राजा निर्बल हुए और देश में लगभग एक सदी तक व्यवस्थित और शांतिमय शासन क़ायम हुआ।

मिहिरभोज की विजयों के कारण पालवंशी देवपाल का राज्य केवल मगध और बंगाल में ही सीमित रह गया।

८५१ ईस्वी में देवपाल की मृत्यु हुई। उसके बाद उसके भतीजे विग्रहपाल ने तीन वर्ष तक राज्य किया। विग्रहपाल देवपाल के चचेरे भाई जयपाल का पुत्र था। राजा बनने के समय तक उसकी आयु काफी हो चुकी थी, और उसकी प्रवृत्ति भी वैराग्य की ओर थी। अतः केवल तीन वर्ष तक शासन करके विग्रहपाल ने राज्य का भार अपने पुत्र नारायणपाल को सौंप दिया। उसने ५४ वर्ष (८५४ से ९०८ तक) राज्य किया। ८७१ ईस्वी में मिहिरभोज ने मगध पर आक्रमण किया। तिरहुत और राजशाही के इलाके इस आक्रमण मे नारायणपाल से जीत लिये गये। मिहिरभोज को इतने से ही संतोष नहीं हुआ। उसने बाद में भी पाल-राज्य पर हमले किये। इस बार मगध भी गुर्जरप्रतीहार-साम्राज्य में सम्मिलित हो गया। पालवंशी राजा नारायणपाल का अधिकार केवल अंग और दक्षिणी बंगाल पर ही रह गया। पाटलिपुत्र अब पालो के हाथ में नही रहा था। अतः पालों का 'श्रीमज्जयस्कंधावार' अब पाटलिपुत्र की जगह मुंगेर (मुद्गगिरि) में चला गया।

इन विजयों के परिणामस्वरूप गुर्जरप्रतीहार-साम्राज्य की सीमा पूर्व में बंगाल की खाड़ी तक विस्तृत हो गई। कलिंग (उड़ीसा) देश भी इन शक्तिशाली सम्राटों के अधीन था, और कन्नौज का साम्राज्य अब एक बार फिर बंगाल की खाड़ी से काठियावाड़ (अरब सागर के तट पर) तक और काश्मीर से विंध्याचल तक विस्तृत हो गया था।

८९० ईस्वी में मिहिरभोज की मृत्यु होने पर उसका लड़का निर्भयराज महेंद्र कन्नौज के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ। उसने ९०७ ईस्वी तक कुल १७ वर्ष राज्य किया। महेंद्र के बाद महीपाल गुर्जरप्रतीहार-साम्राज्य का स्वामी बना। इसके शासनकाल के प्रारंभ में ही नारायणपाल ने मगध का उत्तरी भाग फिर अपने अधीन कर लिया। नारायणपाल का एक लेख पटना जिले में बिहार-शरीफ से मिला है, जिससे सूचित होता है कि अपने शासनकाल के अंतिम दिनों में उसने पाल-वंश की शक्ति का आंशिक रूप से पुनरुद्धार करने में सफलता प्राप्त की थी।

महेंद्र के बाद महीपाल के शासनकाल में गुजरप्रतीहारों की घटती कला का प्रारंभ हुआ। 'इस समय विंध्याचल के दक्षिण के राष्ट्रकूट-राजा फिर जोर पकड़ रहे थे। उनका राजा कृष्ण (८७८ से ९१४ ईस्वी तक) बड़ा महत्त्वाकांक्षी था।

उसकी कन्नौज के साम्राज्य से पुरानी शत्रुता थी। कृष्ण के एक लेख से सूचित होता है, कि उसने विंध्याचल के उत्तर में मगध अंग और गौड़ देशों को अपने अधीन किया। इन देशों का राजा इस समय पालवंशी नारायणपाल ही था। वह गुर्जर प्रतीहारों के मुकाबले मे राष्ट्रकूटों से मैत्री करने और उनकी सहायता प्राप्त करने के लिये सदा उत्सुक रहता था। इसीलिये उसने अपने लड़के राज्यपाल का विवाह एक राष्ट्रकूट-कुमारी के साथ किया था। संम्भवतः, कृष्ण ने नारायण-पाल की सहायता करने के लिये उत्तर-भारत मे प्रवेश किया था, और गुर्जर-प्रतीहारों के विरुद्ध अंग, मगध और गौड़ देशो को अपने संरक्षण में ले लिया था। राष्ट्रकूटों का एक लेख बिहार प्रदेश में गया से मिला है। इससे सूचित होता है, कि वस्तुतः ही कृष्ण के समय में दक्षिणापथ के इस शक्तिशाली राजवंश का प्रभाव मगध में विद्यमान था।

राष्ट्रकूट तो गुर्जरप्रतीहारों के विरुद्ध खड्गहस्त थे ही, अब महीपाल के शासन-काल में उनके अपने साम्राज्य में से भी अनेक अधीनस्थ राजा स्वतंत्र होने लगे। इनमें मालवा और बुदेलखण्ड के सामंत राजा मुख्य है। इमी समय कृष्ण के उत्तरा-धिकारी राष्ट्रकूट-राजा इंद्र नित्यवंर्ष ने बहुत बड़ी सेना के साथ उत्तरी भारत पर आक्रमण किया। उसने सीधा कन्नौज पर हमला कर इस समृद्ध नगरी का बुरी तरह सत्यानाश किया। गुर्जरप्रतीहार-राजा महीपाल उसके सम्मुख न ठहर सका। प्रयाग तक उसका पीछा किया गया, और राष्ट्रकूट सेनाओं के घोड़ों ने गंगा का जल पान कर अपनी प्यास को बुझाया। राष्ट्रकूटो के इस हमले से कन्नौज की राजशक्ति को जबर्दस्त धक्का लगा। इसके बाद गुर्जरप्रतीहार-साम्राज्य निरंतर निर्बल होता गया, और उसके भग्नावशेष पर अनेक स्वतन्त्र राजपूत-राज्यों की स्थापना हुई। महीपाल के शासन का अन्त ९४४ ईस्वी के लगभग हुआ।

(७) पालवंश के अन्य राजा

नारायणपाल के बाद राज्यपाल (९०८ से ९३२ ईस्वी तक) और गोपाल द्वितीय (९३२ से ९४९ ईस्वी तक) पाल-राज्य के सिंहासन पर आरूढ़ हुए। ९१६ ईस्वी के इंद्र नित्यवर्ष के आक्रमण से कन्नौज की शक्ति अत्यन्त निर्बल हो गई थी। इस परिस्थिति से इन पाल-राजाओं ने लाभ उठाया, और अपने वंश की शक्ति को बढ़ाने के लिये प्रयत्न किया। पर पाल-वंश के ये राजा देर तक शांतिपूर्वक मगध में शासन नहीं कर सके। गुर्जरप्रतीहारों के विरुद्ध विद्रोह करके

जो अनेक राजा इस समय उत्तरी भारत में स्वतंत्र हो गये थे, उनमें बुंदेलखण्ड के चंदेलवंशी राजा भी थे। चंदेल-वंश का राजा यशोवर्मन (९२५ से ९५० ईस्वी तक) बड़ा शक्तिशाली था। उसने चारों ओर के प्रदेशों पर आक्रमण कर अपनी शक्ति को बहुत बढ़ाया। कालंजर को जीतकर उसने कलचूरि राजाओं को परास्त किया। कन्नौज पर हमला करके वह विष्णु भगवान् की एक पवित्र मूर्ति को अपने साथ ले गया, और खजूरहो के एक विशाल मंदिर में उसकी प्रतिष्ठा की। पूर्व की तरफ उसने मगध, मिथिला और गौड़ देश तक आक्रमण किये। यशोवर्मन के हमलो के कारण गोपाल द्वितीय को मगध छोड़कर मुंगेर की पहाड़ियों में भाग जाना पड़ा। पाल-वंश की राजलक्ष्मी एक बार फिर विचलित हो गई।

गोपाल द्वितीय का उत्तराधिकारी विग्रहपाल द्वितीय (९४९ से ९७५ ईस्वी तक) था। उधर जेजाकभुक्ति (जझौती या बुंदेलखंड) के चंदेलवंश में यशोवर्मन का उत्तराधिकारी राजा धंग (९५० से ९९९ ईस्वी तक) था। वह भी अपने पिता के समान ही प्रतापी और महत्त्वाकांक्षी था। उसके सम्मुख पाल-वंशी राजा विग्रहपाल द्वितीय अपना सिर नहीं उठा सका, और उसे पहाड़ों में ही आश्रय लिये रहने के लये विवश होना पड़ा। धंग के बाद चंदेलों की शक्ति निर्बल पड़ने लगी। इस परिस्थिति से लाभ उठाकर विग्रहपाल द्वितीय के उत्तराधिकारी महीपाल (९७५ से १०२६ ईस्वी तक) ने फिर अपने वंश की कीर्ति की स्थापना की।

महीपाल को अपनी शक्ति के पुनरुद्धार में सफलता का एक बड़ा कारण यह भी था, कि इस समय गजनी के तुर्क सुलतानों ने भारत पर आक्रमण करना प्रारंभ कर दिया था। पहले सुबुक्तगीन और बाद में महमूद गजनवी ने भारत पर अनेक हमले किये। उत्तर-पश्चिमी भारत के सब राजा इन हमलों का मुकाबला करने में व्यापृत थे। बुंदेलखण्ड के चंदेल, कन्नौज के गुर्जरप्रतीहार और कालंजर के कलचूरि--सब राजा इस समय अपने शक्तिशाली विदेशी शत्रु का सामना करने में संलग्न थे। उन्हें यह अवकाश नहीं था, कि वे पूर्वी भारत की तरफ ध्यान दे सकें। परिणाम यह हुआ, कि महीपाल को अपनी शक्ति के विस्तार का अवसर मिल गया, और उसने धीरे-धीरे बिहार व बंगाल में फिर अपना स्वतंत्र राज्य स्थापित कर लिया।

पर महीपाल भी देर तक शांति के साथ अपने नये प्राप्त किये हुए राज्य पर शासन नहीं कर सका। इस समय सुदूर दक्षिण में तामिल चोल राजा

बड़े शक्तिशाली थे। उनकी राजधानी तांजोर थी। चोल-सम्राट् राजराज (६८५ से १०१२ ईस्वी तक) बड़ा प्रतापी था। पांड्य, केरल, सिंहल और हिंद महासागर के अनेक द्वीप उसके साम्राज्य में शामिल थे। पर वह इतने से ही संतुष्ट नहीं था। । पूर्वी चालुक्य-राजाओं को भी उसने परास्त किया, और धीरे-धीरे वह सारे दक्षिणी भारत का सम्राट् हो गया। इस समय तक राष्ट्रकूटों की शक्ति क्षीण हो चुकी थी, और दक्षिण में उनका स्थान चालुक्यों ने ले लिया था। राजराज ने उनको भी परास्त कर अपने अधीन किया।

चोल-सम्राट् राजराज का उत्तराधिकारी राजेन्द्र हुआ। उसका समय १०१२ से १०४२ ईस्वी तक है। उसने चोल-साम्राज्य को और भी विस्तृत किया। १०२३ ईस्वी में राजेन्द्र ने भारत के पूर्वी तट के साथ-साथ उत्तर की ओर बढ़ कर कलिंग को विजय किया और फिर बंगाल पर आक्रमण किया। पालवंशी राजा महीपाल उसके सम्मुख असहाय था। वह परास्त हो गया, और गंगा तक के प्रदेशों को जीत कर, गंगा के प्रशस्त घाटों में अपने हाथियों व सैनिकों को स्नान करा के तथा समृद्ध मगध अंग और बंग को अपने अधीन कर राजेंन्द्र चोल अपने देश को वापस लौट गया। इसी विजय के उपलक्ष में उसने 'गंगैकोण्ड' (गंगा का विजेता) उपाधि धारण की। राजेंद्र की सामुद्रिक शक्ति भी बड़ी विशाल थी। उसने अपने जंगी बेड़े को साथ ले समुद्रपार श्रीविजय के साम्राज्य पर चढ़ाई की। इस साम्राज्य में उस समय बरमा मलाया सुमात्रा और जावा आदि समुद्रपार के भीरतीय उपनिवेश शामिल थे। श्रीविजय के शैलेन्द्र राजा उसका मुकाबला नहीं कर सके। उन्होंने सम्राट् राजेंद्रदेव गंगैकोण्ड की अधीनता स्वीकार कर ली।

सम्राट् राजेंद्र चोल ने स्थिर रूप से उत्तरी भारत पर शासन करने का प्रयत्न नहीं किया। उसका आक्रमण दिग्विजय के रूप में था। उसके वापस लौटते ही महीपाल फिर मगध और बंगाल पर शासन करने लगा। पर इस चोल सम्राट् के आक्रमण के कारण उसकी शक्ति और स्थिति को जबर्दस्त धक्का लगा था। उसकी स्थिति अब एक निर्बल स्थानीय राजा से अधिक नहीं रह गई थी। १०२६ ईस्वी में महीपाल की मृत्यु हुई और उसका लड़का नयपाल (१०२६ से १०४१ ईस्वी तक) राजा बना।

इस समय में कलचूरि-वंश की शक्ति बहुत बढ़ रही थी। तुर्कों के हमलों से कन्नौज के गुर्जरप्रतीहार-वंश और बुंदेलखंड के चंदेल-वंश की शक्ति बिलकुल क्षीण हो गई थी। पर कलचूरि-वंश पर तुर्कों के हमलों का विशेष प्रभाव नहीं हुआ था। यही कारण है, कि अब कलचूरि-राजा, जो पहले चंदेलों के सामंत थे,

स्वतंत्र हो गये और अवसर पाकर अपने राज्य को बढ़ाने के लिये उद्योग करने लगे। दक्षिण के चोल आक्रमण से महीपाल की शक्ति को जबर्दस्त धक्का लगा था पर कलचूरि-राजा इस आक्रमण से भी बच रहे थे।

इस समय कलचूरि-वंश का राजा कर्ण था। उसका शासन-काल १०४१ से १०७३ ईस्वी तक है। उसने राजगद्दी पर बैठते ही मगध पर हमला किया। विक्रमशिला के आचार्य दीपंकर श्रीज्ञान ने कर्ण और नयपाल दोनों को समझाया, कि जब भारत पर तुर्कों के हमले हो रहे हैं, तो आपस में लड़ना उचित नहीं है। परिणाम यह हुआ, कि दोनों ने परस्पर संधि कर ली, और मगध पर पाल-वंश का शासन कायम रहा।

नयपाल के बाद विग्रहपाल तृतीय पालवंश का राजा बना। उसका काल १०४१ से १०५४ ईस्वी तक है। कलचूरि-राजा कर्ण के साथ नयपाल की जो संधि हुई थी, वह देर तक कायम नहीं रह सकी। कुछ समय बाद ही कर्ण ने फिर पाल-राज्य पर आक्रमण किया। प्राचीन अनुश्रुति के अनुसार इस बार विग्रहपाल तृतीय से कर्ण को मुंह की खानी पड़ी। आखिर, उनमें परस्पर संधि हो गई। और दोनो राजवंशो में मैत्री-भाव को स्थिर रखने के लिये कर्ण ने अपनी कन्या यौवनश्री का विवाह विग्रहपाल के साथ कर दिया।

इसी समय विध्याचल के दक्षिण में चालुक्यवशी सोमेश्वर प्रथम (१०४४ से १०६८ ई० तक) का राज्य था। इसकी राजधानी कल्याणी थी। सोमेश्वर के शासन-काल में ही उसके पुत्र विक्रमादित्य ने महाकोशल और कलिंग के रास्ते उत्तरी भारत पर आक्रमण किया। कामरूप (आसाम) और गौड़ के प्रदेश विक्रमादित्य (विक्रमांक) ने जीत लिये, और विग्रहपाल तृतीय को बुरी तरह परास्त होना पड़ा। नेपाल की सीमा तक इस समय चालुक्यों का अधिकार हो गया। पर चालुक्य विक्रमादित्य का यह आक्रमण भी एक विजययात्रा से अधिक नहीं था। उसके वापस लौटते ही पाल-राज्य फिर से कायम हो गया। चालुक्यों ने स्थिर रूप से उत्तरी भारत पर शासन करने का प्रयत्न नहीं किया। पर इस आक्रमण का एक स्थिर प्रभाव भी हुआ। चालुक्य-सेना में बहुत से दक्षिण व कर्णाटकी सरदार थे, जो अब अपने, सैनिकों व अनुयायियों के साथ बंगाल और उसके समीपवर्ती प्रदेशों में बस गये। शुरू में इनकी स्थिति सामंतों और जागीरदारों की रही। पर अवसर आने पर इनमें से अनेक शक्तिशाली सरदारों ने अपने स्वतंत्र राज्य स्थापित करने का प्रयत्न किया। बंगाल का सेनवंश इन्हीं कर्णाट सरदारों द्वारा शुरू हुआ।

विग्रहपाल तृतीय के तीन पुत्र थे ——महीपाल द्वितीय, शूरपाल और रामपाल विग्रहपाल की मृत्यु के बाद १०५४ ईस्वी में महीपाल द्वितीय राजा बना। वह बड़ा अत्याचारी क्रूर और अदूरदर्शी था। एक भविष्यवाणी से भयभीत होकर उसने अपने दोनों भाइयों को कैद में डाल दिया। प्रजा और सामंत राजाओं पर भी उसने अत्याचार करने शुरू किये। उसकी अनीति से तंग आकर वारेंद्र के कैवर्त्तों ने विद्रोह कर दिया। इनका नेता दिव्योक था। मंत्रियों की यह सम्मति थी, कि कैवर्त्तों से लड़ाई न टानी जाय। पर महीपाल ने यह स्वीकार नहीं किया। आखिर इसी युद्ध में लड़ते हुए महीपाल द्वितीय की मृत्यु हुई। दिव्योक ने गौड़ देश में अपना स्वतंत्र राज्य कायम किया। महीपाल की मृत्यु के बाद मंत्रियों ने शूरपाल और रामपाल को कैदखाने से मुक्त किया और बड़े भाई शूरपाल को राजगद्दी पर बिठाया।

अव्यवस्था के इस काल मे पाल-राजाओं के अधीन अनेक सामंत राजा स्वतंत्र हो गये। शूरपाल उन्हें अपने अधीन नहीं कर सका। उसने बहुत थोड़े समय तक शासन किया और फिर रामपाल पालवंश की राजगद्दी पर आसीन हुआ। इसके दरबार में सध्याकर नन्दी नाम का एक कवि था, जिसने रामचरित नामक संस्कृत का काव्य लिखा है। यह द्वयर्थक काव्य है। रामायण की सारी कथा के साथ-साथ इसमे राजा रामपाल का भी चरित्र दिया गया है, और टीका में दोनों अर्थो को भलीभांति स्पष्ट कर दिया गया है। इस काव्य के आधार पर हमें रामपाल का वृत्तांत बडे विशद रूप में ज्ञात होता है।

सामंत राजाओ को फिर से काबू में लाने में रामपाल को अच्छी सफलता मिली। राजगद्दी पर बैठते ही पहले उसने मगध के विद्रोही सामंत देवरक्षित पर आक्रमण किया। वह गया के समीप का एक शक्तिशाली जागीरदार था। अपने मामा, अंग के सामंत राष्ट्रकूटवंशी मथनदेव की सहायता से रामपाल ने देवरक्षित को परास्त किया। इसके बाद अन्य विविध सामंत राजाओं को फिर से अपना वशवर्ती वनाने के लिये रामपाल ने अपने राज्य का दौरा किया। देवरक्षित के परास्त हो जाने से अन्य सामंतों पर रामपाल की धाक भलीभांति जम गई थी। उन्होंने रामपाल की अधीनता स्वीकार कर ली। रामपाल ने भी उन्हें नई-नई जागीरें देकर संतुष्ट किया, और बदले में सहायता प्राप्त करने का वचन लिंया। इस प्रकार अपने राज्य में व्यवस्था और शांति स्थापित करके रामपाल ने कैवर्त्तों पर आक्रमण किया। अब कैवर्त पाल-राजा का सामना नहीं कर सके। वे परास्त हो गये, और सारे बंगाल विहार पर रामपाल का व्यवस्थित

शासन स्थापित हो गया। इसके बाद कामरूप की विजय की गई, और वहां पर शासन करने के लिये वैद्यदेव को सामंत-रूप में नियत किया गया। रामपाल पाल-वंश की शक्ति को फिर से स्थापित करने में सफल हुआ। उसका शासन-काल १०५७ से ११०२ ईस्वी तक है।

रामपाल के बाद उसका लड़का कुमारपाल राजा बना। उसने केवल चार साल तक राज्य किया। फिर गोपाल तृतीय राजा बना। उसके विरुद्ध षड्यंत्र करके उसके चाचा (कुमारपाल के भाई) मदनपाल ने राज्य प्राप्त किया। मदनपाल ने कुल १६ वर्ष तक (११०६ से ११२५ ई० तक) शासन किया। प्रतापी रामपाल ने जिस व्यवस्थित राज्य की स्थापना की थी, उसके निर्बल उत्तराधिकारी उसे संभाल नहीं सके। सामंतों के विद्रोह फिर शुरू हो गये। चालुक्य-राजा विक्रमादित्य के आक्रमण के समय में जो अनेक दक्षिणी कर्णाट सरदार बिहार बंगाल में बस गये थे, उनका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। इन्हीं में से एक शक्तिशाली कर्णाट सरदार लाढदेश (पश्चिमी बंगाल) में बस गया था। वह रामपाल के समय में सामंत-रूप में अपनी जागीर का शासन करता था और कैवर्त्तों के विरुद्ध लड़ाई में उसने रामपाल की सहायता भी की थी। लाढ के इसी कर्णाट सामंत के कुल में विजयसेन हुआ, जो मदनपाल का समकालीन था। पाल-वंश की निर्बलता से लाभ उठाकर विजयसेन लाढ में स्वतंत्र हो गया, और एक नये वंश का प्रारंभ किया, जो इतिहास में सेनवंश के नाम से प्रसिद्ध है। धीरे-धीरे विजयसेन ने बंगाल के अन्य प्रदेशों पर भी हमले किये, और सारे बंगाल से पाल-वंश के शासन का अंत कर अपना राज्य क़ायम कर लिया।

उत्तरी बिहार (तिरहुत) में भी एक अन्य दक्षिणी कर्णाट सरदार ने अपना स्वतंत्र राज्य कायम किया। इसका नाम नान्यदेव था। यह भी विजयसेन के समान ही प्रतापी और महत्त्वाकांक्षी था। विजयसेन और नान्यदेव के विद्रोहों के कारण मदनपाल का पाल-राज्य केवल मगध में ही सीमित रह गया था। खास मगध में भी अनेक छोटे-छोटे सामंतों ने विद्रोह किये, पर ये मदनपाल के विरुद्ध स्वतन्त्रता प्राप्त करने में सफल नहीं हो सके।

(८) मुसलिम आक्रमणों का प्रारंभ

सातवीं सदी में अरब में एक महापुरुष का जन्म हुआ, जिसका नाम मुहम्मद था। उसके समय में अरब की हालत बहुत खराब थी। वहां बहुत से छोटे-छोटे राज्य थे, जो सदा आपस में लड़ते रहते थे। राजनीतिक एकता का अरब में

सर्वथा अभाव था। धर्म की दृष्टि से भी अरब लोग बहुत हीन दशा में थे। वे विविध देवी-देवताओं को मानते थे और अनेक विधि-विधानों व अनुष्ठानों से उनकी पूजा करते थे। स्त्रियों की स्थिति अरबों में बहुत हीन थी। अरब पुरुष जितनी स्त्रियों से चाहें, विवाह कर सकते थे। मुहम्मद ने इस दशा से अरब का उद्धार किया। उसने अरब के धर्म में बहुत से सुधार किये। उसने कहा, ईश्वर एक है, ईश्वर की मूर्ति नहीं होती और उनकी उपासना के लिये मंदिर की आवश्यकता नहीं। ईश्वर पर विश्वास रखना और उसे सारे संसार का स्वामी मानना प्रत्येक मनुष्य के लिये आवश्यक है। सब मनुष्य एक दूसरे के बराबर हैं। कोई ऊंच या नीच नहीं है। मुहम्मद के धर्मविषयक विचारों का पहले-पहल बहुत विरोध हुआ। पर धीरे-धीरे अरब लोग उसके अनुयायी होने लगे। कुछ ही समय बाद सारा अरब मुहम्मद की शिक्षाओं को मानने लग गया। मुहम्मद ने जिस नये धर्म का प्रारंभ किया, उसका नाम इस्लाम है। ईश्वर ने मुहम्मद द्वारा जिस सत्यज्ञान को मनुष्यमात्र के कल्याण के लिये अभिव्यक्त किया था, उसका नाम कुरान है। मुसलमान लोग मुहम्मद को ईश्वर का पैगम्बर और कुरान को ईश्वरीय ज्ञान मानते हैं।

मुहम्मद केवल धर्मसुधारक ही नहीं था। उसने अरब की विविध जातियों को संगठित कर एक सूत्र में बाधने के लिये भी अनुपमं कार्य किया। अरब के अनेक छोटे-छोटे राज्यों का अन्त कर उसने एक शक्तिशाली राष्ट्र का निर्माण किया। मुहम्मद ने अरब लोगों में इस ढंग से नवजीवन और स्फूर्ति का संचार किया, कि वे पिछड़े हुए न रहकर एक शक्तिशाली तथा महत्त्वाकांक्षी राष्ट्र के रूप में परिवर्तित हो गये। मुहम्मद के उत्तराधिकारियों ने अरब की इस नई शक्ति का उपयोग साम्राज्य के विस्तार के लिये किया। खलीफ़ाओं के नेतृत्व में अरबों ने चारों ओर हमले शुरू किये। देखते-देखते सीरिया, मिश्र, उत्तरी अफ्रीका, स्पेन और ईरान अरबों के हाथ में चले गये। फ्रांस में लायर नदी से लेकर एशिया में आक्सस और काबुल नदियों तक अरबों का साम्राज्य विस्तृत हो गया।

अब अरब-साम्राज्य की सीमा भारत से आ लगी थी। आठवीं सदी के शुरू में भारत में कोई एक शक्तिशाली सम्राट् नहीं था। गुप्त-साम्राज्य क्षीण हो चुका था। हर्षवर्धन की मृत्यु के बाद कन्नौज के राजाओं की शक्ति भी शिथिल हो गई थी। पश्चिमी भारत में विविध राजा राज्य कर रहे थे, जो अब किसी शक्तिशाली सम्राट् के सामंत न होकर स्वतन्त्र शासक थे। सिंधु में इस समय दाहिर नाम के राजा का राज्य था। अरब-साम्राज्य के खलीफा के आदेश पर मुहम्मद

कासिम ने ७१२ ईस्वी में एक बड़ी सेना के साथ सिंध पर आक्रमण किया। दाहिर ने अरब आक्रांताओं के खिलाफ़ बड़ी वीरता प्रदर्शित की। उसने एक-एक कदम पर मुहम्मद कासिम का मुक़ाबला किया। दाहिर युद्ध में मारा गया। उसकी मृत्यु से भी सिंध के लोग निराश नहीं हुए। अब दाहिर की विधवा रानी ने उनका नेतृत्व किया। पर आखिरकार अरबों ने सिंध की राजधानी आलोर को घेर लिया। सिंध की सेनाओं ने वीरता के साथ अपनी राजधानी की रक्षा के लिये युद्ध किया, पर अन्त में परास्त हो गये और सिंध पर अरबों का अधिकार स्थापित हो गया। अरब लोग भारत में और आगे बढ़कर अपने साम्राज्य का विस्तार करना चाहते थे। पर वे सफल नहीं हो सके। कारण यह कि उनकी बाढ़ को रोकने के लिये गुर्जरप्रतीहारों की मजबूत दीवार कायम थी। भिनमाल में इन वीर राजपूतों का स्वतन्त्र राज्य कायम था। इनको परास्त कर अरब लोग भारत में आगे नहीं बढ़ सके। बाद में गुर्जरप्रतीहारों ने कन्नोज को भी जीत लिया, और वे उत्तरी भारत की प्रधान राजनीतिक शक्ति बन गये। अरबों ने गुर्जरप्रतीहारों के विरुद्ध दक्षिण के राष्ट्रकूट राजाओं से भी संधि की। पर उन्हें सिंध से आगे बढ़ने में सफलता नहीं मिली।

अरब लोगों ने ईरान को जीत करके अपने अधीन कर लिया था। वे उत्तर-पूर्व में उससे आगे बढ़े। मध्य एशिया उस समय भारत का ही एक अंग था। खोतन आदि विविध प्रदेशों में भारतीय धर्म, भाषा और सभ्यता का प्रचार था। मध्य एशिया के भारतीय राज्य लगभग आधी सदी तक अरबों का सफलता के साथ मुक़ाबला करते रहे। पर ७५१ ईस्वी में समरकंद के पास अरबों ने उन्हें परास्त किया, और ये सब प्रदेश अरब साम्राज्य में सम्मिलित हो गये। तब से वहां के बौद्ध लोग इस्लाम के अनुयायी होने लगे और धीरे-धीरे मध्य एशिया के बहुसंख्यक लोग मुसलमान धर्म में दीक्षित हो गये।

मध्य एशिया की अन्यतम जाति का नाम तुर्क था। मध्य एशिया के भारतीय उपनिवेशों के संपर्क में आने के कारण इन तुर्कों ने बौद्ध-धर्म को स्वीकार कर लिया था। ये बौद्ध तुर्क विशाल अरब साम्राज्य की उत्तर-पश्चिमी सीमा पर रहते थे। आठवीं और नवीं सदियों में अरबों का साम्राज्य अक्षुण्ण रूप से कायम रहा। सिंध से स्पेन तक विस्तृत यह अरब साम्राज्य बड़ा शक्तिशाली और वैभवसंपन्न था। पर जिस प्रकार गुप्त-साम्राज्य पर हूणों के आक्रमण शुरू हुए थे, और उनके कारण विशाल गुप्त-साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया था, वैसे ही अब हूणों की बौद्ध-धर्मावलंबी तुर्क शाखा ने उत्तर की तरफ से अरब-साम्राज्य पर हमले शुरू किये।

वैभवपूर्ण अरब-शासक इनका मुकाबला नहीं कर सके, और अरब-साम्राज्य के भग्नावशेष पर अनेक तुर्क-राज्य कायम हुए।

यद्यपि अरब-साम्राज्य इन आक्रमणों से नष्ट-भ्रष्ट हो गया, पर इस्लाम में इस समय में अनुपम शक्ति थी। धार्मिक दृष्टि से मुसलमानों में अपूर्व जोश और जीवन था। परिणाम यह हुआ, कि तुर्क लोग राजनीतिक दृष्टि से विजेता होते हुए भी धार्मिक दृष्टि से अरबों द्वारा परास्त हो गये। जैसे भारत के संपर्क में आकर यवन, शक, कुशाण और हूण आक्रांता भारत के धर्म और सभ्यता में दीक्षित हो गये थे, वैसे ही अब ये तुर्क आक्रांता इस्लाम के संपर्क में आकर मुसलिम धर्म और सभ्यता के अनुयायी हो गये, और उन्होंने बौद्ध-धर्म का परित्याग कर इस्लाम को स्वीकार किया।

अरब-साम्राज्य के भग्नावशेष पर जिन विविध तुर्क-राज्यों की स्थापना हुई थी, उनमें से गजनी का तुर्क-राज्य एक था। इसका संस्थापक अलप्तगीन था। उसने गजनी में अपनी शक्ति को कायम कर अफगानिस्तान पर हमला किया। उन दिनों अफगानिस्तान के सब निवासी बौद्ध और पौराणिक धर्मों के अनुयायी थे। अलप्तगीन ने उन्हें परास्त किया, और इस प्रकार वहां इस्लाम का प्रवेश हुआ। ९७५ ईस्वी में अलप्तगीन की मृत्यु हुई। उसके बाद सुबुक्तगीन गजनी का राजा बना। उसने हिंदूकुश पर्वत को पार कर भारत पर आक्रमण किया। उत्तर-पश्चिमी भारत का राजा उस समय जयपाल था, जो ब्राह्मणसाही वंश का था और जिसकी राजधानी भटिण्डा थी। जयपाल ने सुबुक्तगीन का मुकाबला करने के लिये जोर-शोर से तैयारी की। अन्य भारतीय राजाओं के पास सहायता के लिये संदेश भेजे गये। कन्नौज का गुर्जरप्रतीहार राजा राज्यपाल बड़े उत्साह के साथ जयपाल की सहायता के लिये अग्रसर हुआ इन्हीं गुर्जरप्रतीहार राजाओं की अदम्य शक्ति के कारण सिध के अरब शासक अब तक भारत में आगे नहीं बढ़ पाये थे। राज्यपाल के अतिरिक्त चौहान और चंदेल राजाओं ने भी जयपाल की सहायता की। अफगानिस्तान में खुर्रम नदी की घाटी में सुबुक्तगीन का भारतीय राजाओं ने मिलकर मुकाबला किया। दोनों ओर से खूब वीरता दिखाई गई। पर विजय अंत में सुबुक्तगीन की हुई। इस विजय से सिंध नदी तक तुर्कों का अधिकार स्थापित हो गया।

सुबुक्तगीन के बाद ९९७ ईस्वी में महमूद गजनी की राजगद्दी पर बैठा। यह संसार के सबसे बड़े विजेताओं में से एक है। उसी की तुलना सीजर और समुद्रगुप्त से की जा सकती है। उसने गजनी के छोटे से राज्य को एक विशाल

साम्राज्य के रूप में परिवर्तित कर दिया। भारतवर्ष पर उसने बहुत से हमले किये। पेशावर के पास एक लड़ाई में उसने एक बार फिर जयपाल को परास्त किया। जयपाल के बाद उसका पुत्र आनंदपाल उत्तर-पश्चिमी भारत का राजा बना उसने महमूद का मुकाबला करने के लिये बड़ी भारी तैयारी की। उत्तरी भारत के बहुत-से राजा आनन्दपाल की सहायता के लिये एकत्र हुए। पर इस बार भी महमूद की विजय हुई। १०१६ में महमूद ने कन्नौज पर आक्रमण किया और वहां से गुर्जरप्रतीहार राजा राज्यपाल को परास्त किया। महमूद के हमलों का यहां अधिक उल्लेख करने की आवश्यकता नही है। उसने भारत पर दूर-दूर तक आक्रमण किये थे, और उनका परिणाम यह हुआ, कि भारत के पुराने राजवंशों की शक्ति बहुत क्षीण हो गई।

सन् १०३० में महमूद की मृत्यु हुई। उसके बाद उसका विशाल साम्राज्य कायम नहीं रह सका। उसके उत्तराधिकारी निर्बल और भोग-विलास में लिप्त थे। उनके समय में गजनी का साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया, और भारत में फिर अनेक स्वतंत्र राज्य कायम हो गये।

(९) सिन्ध और उत्तारपश्चिमी भारत के राज्य

अरबों और तुर्कों के आक्रमणों का विवरण देते हुए हमने अभी सिन्ध के राजा दाहिर और भटिण्डा के राजा जयपाल का उल्लेख किया है। इस युग के इतिहास को भलीभांति समझने के लिये यह उपयोगी होगा, कि इन राज्यों के विषय में भी संक्षेप के साथ लिखा जाय।

सिन्ध--इस इतिहास में सिन्ध का अनेक बार जिक्र आ चुका है। शक आक्रान्ताओं ने सिन्ध में मीननगर को राजधानी बनाकर ही भारत में अपनी शक्ति का विस्तार किया था। गोतमीपुत्र सातकर्णि और चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य जैसे 'शकारि' राजा सिन्ध के इस शक-वंश का समूलोन्मूलन कर सके थे या नहीं, यह स्पष्ट रूप से ज्ञात नहीं है। 'हर्षचरितम्' के अनुसार कन्नौज के शक्तिशाली सम्राट् हर्षवर्धन ने सिन्धुराज की लक्ष्मी को आंक्रात किया था। हर्ष द्वारा परास्त हुआ यह सिन्धुराज कौन था, और किस वंश का था, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। ह्युएन-त्सांग के अनुसार सिन्ध का राजा शूद्र वर्ण का था। अरब ऐतिहासिकों ने लिखा है, कि सिन्धु पर 'रायों' का शासन था, जिन्होंने कुल मिलाकर १३७ वर्ष तक राज्य किया। सिन्ध के जिस राजा को हर्षवर्धन ने अपने अधीन किया था, वह सम्भवतः रायवंश

का ही था। राय राजाओं की राजधानी अलोर थी। इस वंश के अन्तिम राजा का मन्त्री छछ नामका ब्राह्मण था। रायवंश के राजा की मृत्यु के बाद छछ ने उसकी विधवा रानी के साथ विवाह कर लिया, और स्वयं सिन्ध का राजा बन गया। छछ ने कुल मिलाकर ४० वर्ष तक राज्य किया। उसके बाद उसका भाई चन्द्र और फिर छछ का पुत्र दाहिर सिन्ध के राजा हुए। दाहिर के शासनकाल में ही ७१२ इस्वी में अरबों ने सिन्ध पर आक्रमण किया था, जिसका उल्लेख हम पिछले प्रकरण में कर चुके हैं।

७१२ ईस्वी के बाद सिन्ध विशाल अरब-साम्राज्य के अन्तर्गत हो गया। सिन्ध में अरब शासकों ने धार्मिक सहिष्णुता की नीति का अनुसरण किया। वे अपने राज्य की विधर्मी प्रजा से जजिया कर अवश्य वसूल करते थे, पर उसके मंदिरों व धर्मस्थानों को नष्ट करने का प्रयत्न उन्होंने नहीं किया। भारतीयों के सम्पर्क से अरब लोगों ने इस देश के ज्ञान को भी सीखा, और अनेक संस्कृत ग्रंथों का अरबी भाषा में अनुवाद किया।

उत्तर-पश्चिमी भारत का हिंदू साही राज्य——मौर्य सम्राटों की शक्ति के क्षीण होने पर उत्तरपश्चिमी भारत में किस प्रकार यवन, शक और कुशाण लोगों के विविध राज्य कायम हुए, यह पहले लिखा जा चुका है। कुशाण-राजा विम और कनिष्क ने एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की थी, जिसकी राजधानी पुष्यपुर (पेशावर) थी। नागभारशिव और गुप्त-वंशों के उत्कर्ष के कारण भारत के उत्तरापथ से कुशाण-शासन का अन्त हो गया। पर उत्तर-पश्चिमी भारत में देवपुत्र साहानुसाहि राज्य कायम रहा था। समुद्रगुप्त जैसे प्रतापी सम्राट् ने इसे भी अपने अधीन किया था और साहानुसाहि राजा गुप्त-सम्राटों को अपना अधिपति मानते थे। गुप्त-वंश की शक्ति के शिथिल होने पर ये 'साहि' राजा स्वाधीन हो गये। यद्यपि काश्मीर के ललितादित्य सदृश दिग्विजयी राजाओं ने इन्हें भी जीत कर अपने अधीन किया, पर इनकी पृथक् सत्ता कायम रही। धर्म और संस्कृति की दृष्टि से ये राजा भारतीय थे, और अलबेरूनी का इन्हें 'हिंदू-तुर्क' कहना सर्वथा संगत है।

अल्बेरूनी के अनुसार हिन्दू-तुर्क-वंश का अन्तिम राजा लगतूमनि था, जिसका मन्त्री कल्लर नाम का ब्राह्मण था। कल्लर ने लगतूर्मान को पदच्युत कर राजसिंहासन पर अपना अधिकार कर लिया, और एक नये राजवंश की नींव डाली, जिसे इतिहास में 'हिन्दू-साही' या 'ब्राह्मण-साही' वंश कहा जाता है। कल्लर के बाद इस वंश में सामन्द, कमलू, भीम, जयपाल, आनन्दपाल, तरोजनपाल

और भीमपाल राजा हुए। जिस समय तुर्कों ने भारत पर आक्रमण प्रारम्भ किया, तो उन्हें ब्राह्मण-साही वंश के राजाओं के साथ ही संघर्ष करना पड़ा। दसवीं सदी के अन्तिम भाग में जब गजनी के तुर्क-राजा सुबुक्तगीन (९७७-९९७ ईस्वी) ने भारत पर आक्रमण किया, तो उत्तरपश्चिमी भारत पर ब्राह्मणसाहीवंश के राजा जयपाल का शासन था। काबुल, उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रदेश और पंजाब के बड़े भाग पर उसका आधिपत्य था। सुबुक्तगीन के पहले आक्रमण के समय हिन्दूकुश पर्वत के पूर्वी प्रदेश के अनेक दुर्गों पर तुर्कों का अधिकार हो गया। इसपर जयपाल ने सुबुक्तगीन के विरुद्ध युद्ध शुरू किया। इन युद्धों में उसे विशेष सफलता नहीं हुई। निग्रहार के उत्तर-पश्चिम के पहाड़ों की उस तराई को, जिसमें अलीशांग नदी काबुल नदी से मिलती है, आजकल लमगान कहते हैं। प्राचीन समय में इसे लम्पाक कहते थे। सुबुक्तगीन ने इसे जीतने का प्रयत्न किया। खुर्रम नदी की घाटी में तुर्कों और भारतीय सेनाओं में घनघोर युद्ध हुआ। कन्नौज के राजा राज्यपाल और जझौती के राजा धंग की सेनायें इस युद्ध में जयपाल की सहायता कर रही थीं। युद्ध में सुबुक्तगीन सफल हुआ, और लमगान पर तुर्कों का अधिकार हो गया।

सुबुक्तगीन के बाद उसका पुत्र महमूद गजनी के तुर्क-राज्य का स्वामी बना। उसकी विजयों का उल्लेख पिछले प्रकरण में किया जा चुका है। १००१ ईस्वी में महमूद गजनवी ने लमगान से आगे बढ़कर पेशावर पर आक्रमण किया। जयपाल के पुत्र आनन्दपाल ने एक बड़ी सेना के साथ महमूद का डटकर मुकाबला किया, पर उसे सफलता नहीं हुई। अपने राजवंश की शक्ति की हीन दशा देख, कर जयपाल को इतनी अधिक ग्लानि हुई, कि उसने अग्नि-प्रवेश कर अपने जीवन का अन्त कर दिया।

ब्राह्मणसाही वंश की पुरानी राजधानी ओहिन्द थी, पर जयपाल के उत्तराधिकारी आनन्दपाल ने भेरा (नमक की पहाड़ियों के समीप) को राजधानी बनाकर तुर्कों का मुकाबला करने की तैयारी की। ओहिन्द सिन्ध नदी के तट पर थी, और अब महमूद गजनवी के अधिकार में आई थी। तुर्कों से अपने राज्य की रक्षा करने के लिये आनन्दपाल ने उत्तरापथ के अन्य राजाओं से सहायता प्राप्त करने का उद्योग किया। कन्नौज, जझौती आदि के राजा एक बार फिर ब्राह्मणसाही वंश की सहायता के लिये युद्ध के मैदान में एकत्र हुए। सिन्ध नदी के तट पर तुर्कों और भारतीयों की सेनाओं में घनघोर युद्ध हुआ। पर इस बार भी विजयश्री ने तुर्कों का साथ दिया, और १००९ ईस्वी में महमूद गजनवी सिन्ध

नदी के इस पार पश्चिमी पंजाब को अपनी अधीनता में लाने में समर्थ हुआ। ब्राह्मणसाही राज्य के पूर्व में कीरदेश (कांगड़ा) था। महमूद ने उसपर भी आक्रमण किया, और नगरकोट के मंदिर को लूटा। इस लूट में अपार सम्पति उसके हाथ लगी।

यद्यपि सिन्ध नदी के युद्ध में आनन्दपाल परास्त हो गया था, पर अभी ब्राह्मणसाही वंश की शक्ति का अन्त नहीं हुआ था। भेरा के तुर्कों के हाथ में चले जाने पर अब भटिण्डा को राजधानी बनाकर साही राजाओं ने महमूद के विरुद्ध अपने संघर्ष को जारी रखा। १०१४ में महमूद ने एक बार फिर पंजाब पर आक्रमण किया। इस युद्ध में लड़ते-लड़ते आनन्दपाल ने प्राण त्याग किये। उसके बाद तरोजनपाल (त्रिलोचनपाल) ब्राह्मणसाही वंश के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ। उसका जीवन भी तुर्कों के साथ संघर्ष करते हुए व्यतीत हुआ। जब महमूद ने त्रिलोचनपाल को परास्त करने के लिये फिर आक्रमण किया, तो सिन्ध और जेहलम नदियों के बीच के पहाड़ी प्रदेश में तीसी नदी के तट पर घन-घोर युद्ध हुआ। जिसमें काश्मीर के राजा संग्रामराज की सेनाओं ने विशेषरूप से भाग लिया। तुर्कों के साथ निरन्तर युद्ध करते रहने के कारण साही राज्य की सेनायें इन विदेशियों की युद्ध-नीति को भलीभांति समझ गई थीं। पर काश्मीर के सेनापति तुंग को तुर्क सैन्य नीति का जरा भी अनुभव नहीं था। उसने त्रिलोचनपाल के परामर्श की उपेक्षा की, और महमूद फिर विजयी हुआ। तुर्कों के निरन्तर आक्रमणों के कारण साही राज्य की शक्ति एकदम क्षीण हो गई थी, और अब उसके लिये अपनी सत्ता को कायम रख सकना सम्भव नहीं रह गया था। तुर्कों के साथ युद्ध करते हुए ही त्रिलोचनपाल की मृत्यु हुई।

साही राजवंश का अन्तिम राजा भीमपाल था। उसने भी वीरतापूर्वक महमूद का मुकाबला करने का प्रयत्न किया। पर महमूद को परास्त कर सकना उसके लिये सम्भव नहीं था। सिकन्दर और समुद्रगुप्त के समान महमूह गजनवी भी एक महान् विजेता था, और उसने गजनी के साम्राज्य की पश्चिमी सीमा को कास्पियन सागर से भी परे गर्जिस्तान (ज्योर्जिया) तक पहुँचा दिया था। यदि इस समय भारत के उत्तरापथ में चन्द्रगुप्त मौर्य या चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के समान कोई प्रबल राजशक्ति होती, तो वह सफलता-पूर्वक उसका मुकाबला कर सकती थी। पर साही वंश के राजाओं के लिये यह सम्भव नहीं था, कि वे अकेले या पड़ोस के कतिपय राजाओं की सहायता से इस विश्वविजयी सम्राट् को परास्त कर सकते। परिणाम यह हुआ, कि

भीमपाल के रणक्षेत्र में काम आ जाने पर १०२६ ईस्वी में साही वंश का अन्त हो गया, और पश्चिमी व उत्तरपश्चिमी भारत गजनी के साम्राज्य के अधीन हो गया।

(१०) काश्मीर के राजा

कर्कोटक-वंश का अन्त—महमूद गजनवी के विरुद्ध युद्ध में साही राजा त्रिलोचनपाल की सहायता करने के लिये काश्मीर के राजा संग्रामराज ने भी रणक्षेत्र में प्रवेश किया था। यह हम ऊपर लिख चुके हैं। नागकर्कोटक-वंश के जिन राजाओं ने आठवी सदी में दिग्विजय द्वारा उत्तरापथ में अपनी शक्ति का विस्तार किया था, उनका विवरण भी पहले दिया जा चुका है। ८५५ ईस्वी में कर्कोटक-वंश का अन्त हुआ था। विनयादित्य जयापीड (७७९-८१०) के उत्तराधिकारी काश्मीरी राजा निर्बल और अशक्त थे। जयापीड के बाद ललितापीड काश्मीर का राजा बना। वह इन्द्रियों का दास था, और राज्यकार्य पर जरा भी ध्यान नही देता था। एक कलवार की कन्या जयादेवी के प्रेम में फंसकर वह अपने कर्तव्यों से विमुख हो गया था, और रात-दिन भोग-विलास में मस्त रहता था। परिणाम यह हुआ, कि राज्य में सर्वत्र अव्यवस्था फैल गई, और छोटे-छोटे सामंत व जागीरदार अपने-अपने क्षेत्र में स्वच्छन्दता पूर्वक शासन करने लगे। ललितापीड के उत्तराधिकारियों के शासन-काल में सब राजशक्ति जयादेवी के भाइयों ने अपने हाथों में ले ली, और वे राज्य में मनमानी करने लगे। ये भाई न केवल प्रजा पर अत्याचार करते थे, अपितु आपस में भी लड़ते रहते थे। इस युग में काश्मीर की जो दुर्दशा हो गई थी, राजतरङ्गिणी में उसका विशद रूप से वर्णन किया गया है। । जयादेवी के पांच भाइयों में सबसे बड़ा उत्पल था। अन्त में उसके लड़के अवन्ति वर्मा ने नागकर्कोटक-वंश के राजा को राज्यच्युत कर काश्मीर के राजसिंहासन पर (८५५ ई० प०) अधिकार कर लिया। इस प्रकार ललितादित्य मुक्तापीड के प्रतापी कर्कोटक-वंश का अन्त होकर एक नये राजवंश का काश्मीर में प्रारम्भ हुआ, जो उत्पल-वंश के नाम से प्रसिद्ध है।

अवन्तिवर्मा—राजा अवन्तिवर्मा (८५५-८८३) बहुत योग्य और प्रतापी था। कर्कोटक-वंश के अन्तिम राजाओं के शासनकाल में जो अव्यवस्था और अराजकता काश्मीर में छा गई थी, अवन्तिवर्मा ने उसे दूर कर फिर से शान्ति स्थापित की। इसमें कोई संदेह नहीं, कि काश्मीर के इतिहास में अवन्तिवर्मा का

स्थान बहुत महत्त्व का है। वह बड़ा योग्य और न्यायप्रिय था। अपने नाम से उसने अवन्तिपुर नाम के नगर की स्थापना की, और वितस्ता (जेहलम) नदी के तट पर बांध बांधकर अनेक नहरें निकालीं, ताकि काश्मीर की उपजाऊ घाटी में सिंचाई की समुचित व्यवस्था हो सके। सामन्तों और जागीरदारों के उत्पात के अन्त होने और सिंचाई की व्यवस्था के कारण काश्मीर में अन्न की पैदावार में बहुत वृद्धि हुई, और चावल के मूल्य में बहुत कमी हो गई। जितना चावल पहले २०० दीनार में खरीदा जाता था, अब उसका मूल्य घटकर केवल ३६ दीनार रह गया। सामन्तों को अपना वशवर्ती बनाकर देश में सुव्यवस्था कायम करना अवन्तिवर्मा का मुख्य कार्य था, पर उसने साहित्यिकों और विद्वानों का भी सम्मान किया। अनेक विद्वान् उसके आश्रय में रहते थे, जिनमें 'ध्वन्यालोक' के लेखक आनन्दवर्धन का नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय है। अवन्तिवर्मा ने मन्दिरों और तीर्थस्थानों का संरक्षण करने और दान-उपहार द्वारा उनकी सहायता करने में भी उदारता प्रदर्शित की। काश्मीर को व्यवस्थित और समृद्ध बनाने के कार्य में अवन्तिवर्मा का प्रधान सहायक उसका मंत्री सुय्य (सूर्य) था। इसी सुय्य ने कर्कोटक-वंश का अन्त कर अवन्तिवर्मा जैसे सुयोग्य व्यक्ति को काश्मीर का राजा बनाया था। अवन्तिवर्मा के शासनकाल में राज्य का सूत्र सूर्य के हाथों में ही रहा, और उसने बड़ी योग्यता से अपने कर्तव्यों का पालन किया। सूर्य की न्यायप्रियता के सम्बन्ध में अनेक कथायें राजतरङ्गिणी में उल्लिखित हैं। काश्मीर का एक सामन्त राजा सूर्य का अन्तरंग मित्र था। उसने समझा, कि महामन्त्री से मित्रता के कारण वह मनमानी कर सकता है। शिव के एक प्रसिद्ध मन्दिर के खर्च के लिये जो जागीर राजा की ओर से मन्दिर को दी हुई थी, इस सामंत ने उसे हस्तगत कर लिया, और मन्दिर का खर्च चल सकना कठिन हो गया। जब यह बात सूर्य को ज्ञात हुई, तो उसने तुरन्त अपने मित्र सामंत राजा को बुलवाया, और उसे प्राणदण्ड दिया। अवन्तिवर्मा वैष्णव धर्म का अनुयायी था, और कल्हण के अनुसार श्रीमद्भगवद्गीता का श्रवण करते हुए ही उसने प्राणत्याग किया था।

शंकरवर्मा—अवन्तिवर्मा के बाद उसका पुत्र शंकरवर्मा (८८३-९०२) काश्मीर का राजा बना। इस समय काश्मीर का शासन सुव्यवस्थित हो चुका था, अतः शंकरवर्मा ने पड़ौस के राज्यों पर आक्रमण कर अपनी शक्ति का विस्तार प्रारम्भ किया। काश्मीर की घाटी के दक्षिण में विद्यमान दर्वाभिसार या अभिसार राज्य को जीतकर उसने त्रिगर्त (कांगड़ा) पर आक्रमण किया,

और उसे भी अपने राज्य में सम्मिलित कर लिया । पर शंकरवर्मा के सबसे महत्त्वपूर्ण युद्ध उत्तर-पश्चिमी भारत में हुए। उसके समय में हिन्दू-साही वंश की स्थापना हो चुकी थी, और उत्तरपश्चिमी भारत उसी के शासन में था। साही वंश के जिस राजा के साथ शंकरवर्मा के युद्ध हुए, राजतरङ्गिणी ने उसका नाम 'लल्लिय' लिखा है, सम्भवतः इसी को अलबेरूनी ने कल्लर कहा है। जेहलम और चनाव नदियों के मध्यवर्ती प्रदेश में उस समय गुर्जरों का राज्य था, जिसके राजा का नाम अलरवान था। अलरवान और लल्लिय मित्र थे। इसीलिये जब शंकरवर्मा ने अभिसार और त्रिगर्त को जीतकर गुर्जर राज्य पर आक्रमण किया, तो साही राजा लल्लिय या कल्लर ने उसकी सहायता की। यद्यपि शंकरवर्मा गुर्जरों को परास्त करने में समर्थ हुआ, पर साहीवंश की शक्ति का क्षय करने में वह असमर्थ रहा। पश्चिमी पंजाब में गुर्जरों की प्रभुता के स्मारक गुजरांवाला और गुजरात के नगर हैं, जो इसी जाति के उत्कर्ष का स्मरण दिलाते हैं। गुर्जर लोग हूणों के साथ ही भारत में प्रविष्ट हुए थे, और पंजाब होते हुए सुदूरदक्षिण-पश्चिम तक पहुँच गये थे। वर्तमान समय का गुजरात प्रान्त उन्हीं के विलुप्त गौरव को अपने नाम में धारण किये हुए है। पंजाब के युद्धों से लौटते हुए एक आततायी ने उरशा (हजारा) में शंकरवर्मा की हत्या कर दी। राजतरङ्गिणी के अनुशीलन से ज्ञात होता है, कि शंकरवर्मा प्रजापीड़क था। युद्धों का खर्च चलाने के लिये उसने प्रजा से बलपूर्वक धन प्राप्त किया, और विद्वानों व धर्मस्थानों को सहायता देना बन्द कर दिया। उसके अत्याचारों से प्रजा बहुत दुःखी थी। इसीलिये उसकी मृत्यु एक षड्यंत्रकारी के तीर द्वारा हुई, जो सम्भवतः स्वयं उसके अत्याचारों का शिकार था।

उत्पल-वंश के विकृतराजा—शंकरवर्मा की मृत्यु के बाद उसके पुत्र गोपाल-वर्मा ने दो साल तक (६०२-६०४) काश्मीर का शासन किया। उसकी माता सुगन्धा चरित्रभ्रष्ट स्त्री थी। प्रभाकरदेव के साथ उसका अनुचित सम्बन्ध था। राजमाता का प्रेम ।प्त कर प्रभाकरदेव राज्यकोष को भोग-विलास में उड़ाने में तत्पर हुआ। जब गोपालवर्मा ने उसे रोकना चाहा, तो प्रभाकरदेव ने उसकी हत्या करा दी, और गोपालवर्मा के छोटे भाई को राजगद्दी पर बैठाया। पर यह राजा केवल दस दिन तक राजशक्ति का उपभोग कर सका। उसकी भी हत्या कर दी गई, और सुगन्धा ने स्वयं शासन-सूत्र को संभाल लिया। पर इस समय काश्मीर में सर्वत्र अव्यवस्था छा गई थी। राजाओं की

अयोग्यता और निर्बलता से लाभ उठाकर सैनिक नेता प्रबल हो गये थे, और राजमुकुट को गेंद की तरह से उछालते रहने में तत्पर थे। इन सैनिक नेताओं के दो दल थे, तन्त्री और एकाङ्ग। इनके पारस्परिक संघर्ष से इस समय काश्मीर की बहुत दुर्दशा हुई। सुगन्धा की हत्या कर तन्त्री सैनिकों ने पार्थ नाम के बालक को राजसिंहासन पर बिठाया, और उसके नाम पर स्वयं शासन करना शुरू किया। वस्तुतः इस समय काश्मीर में कोई भी व्यवस्था नहीं रह गई थी। तन्त्री सैनिक सरदार जिसे चाहते कैद करते, जिसकी चाहते हत्या करते। पार्थ के शासनकाल (९०६-९२१) में काश्मीर में एक भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा, और उसके कारण हजारों नर-नारी भूख से तड़प-तड़पकर मर गये। पर इस समय प्रजा के हित का ध्यान किसी को नहीं था। तन्त्री सैनिक नेता चावल को मंहगी कीमत पर बेचकर धन एकत्र करने में तत्पर थे, और गरीब लोग भूख से मर रहे थे। स्वयं राजा पार्थ की स्थिति भी सुरक्षित नहीं थी। उसके पिता पंगु की अनेक स्त्रियां थीं, और उनके बहुत से पुत्र थे। प्रत्येक राजमाता की यह कोशिश थी, कि वह तन्त्री सरदारों की कृपा प्राप्त कर अपने पुत्र को काश्मीर का राजा बनावे। इस उद्देश्य से वे सब प्रकार के उचित-अनुचित उपायों का प्रयोग करतीं, और न केवल बहुमूल्य उपहारों द्वारा, अपितु प्रेम-प्रदर्शन से भी तन्त्री सैनिक नेताओं को संतुष्ट करती रहती थीं। अंतःपुर के इन षड्यन्त्रों से सैनिक नेता बहुत प्रसन्न थे। ९२१ ईस्वी में उन्होंने पार्थ को राज्यच्युत कर चक्रवर्मा को राजा बनाया। पर वह देर तक राजसिंहासन पर नहीं रह सका। शीघ्र ही उसके स्थान पर सूर्यवर्मा को और फिर दुबारा पार्थ को राजगद्दी पर बिठाया गया। इस समय काश्मीर की यह दशा थी, कि जो कोई राजकुमार तन्त्री सरदारों को अधिकतम धन देता, उसे ही वे राजगद्दी पर बिठा देते। चक्रवर्मा ने ऊंची बोली बोलकर एक बार फिर राजसिंहासन प्राप्त किया, पर जब वह प्रतिज्ञात धन को न दे सका, तो तन्त्रियों ने उसे राज्यच्युत कर शम्भुवर्धन को राजा बनाया। पर इस बार चक्रवर्मा ने साहस प्रदर्शित किया। काश्मीर के अनेक सामंत राजा और जागीरदार तन्त्रियों को मनमानी से असंतुष्ट थे। उन्हें साथ मिलाकर चक्रवर्मा ने एक बड़ी सेना एकत्र की, और तन्त्री सरदारों को परास्त कर तीसरी बार राजपद को प्राप्त किया। यदि चक्रवर्मा इस समय बुद्धिमत्ता से काम लेता, तो वह काश्मीर में सुव्यवस्थित शासन स्थापित कर सकता था। पर राजसिहासन प्राप्त कर वह भोग-विलास में डूब गया, और एक डोम (डोम्ब) सुन्दरी के रूप से आकृष्ट हो उसके प्रेम में अपनी सुधबुध खो बैठा।

अन्त में उसकी अपनी रानियों ने उसके विरुद्ध षड्यंत्र किया, और आततायियों द्वारा उसकी हत्या करा दी। चक्रवर्मा की हत्या ९३७ ईस्वी में हुई।

चक्रवर्मा का उत्तराधिकारी उन्मत्तावन्ती था। इस राजा का 'उन्मत्त' विशेषण उसके चरित्र का परिचायक है । उसने प्रजा पर जो अत्याचार किये, उनके स्मरणमात्र से ग्लानि उत्पन्न होती है । वह राजा पार्थ का पुत्र था। पार्थ अभी जीवित था, और एक विहार में रहकर अपने दिन काट रहा था। अवन्ती ने अपनी माता की आंखों के सामने उसे केश पकड़कर विहार से बाहर निकलवाया, और राजमार्ग के मध्य में उसकी हत्या कराई । जब राजकर्मचारी वृद्ध पार्थ पर आघात कर रहे थे, तो अवन्ती इस दृश्य को देखकर अट्टहास कर रहा था । अवन्ती केवल अपने पिता की हत्या से ही संतुष्ट नहीं हुआ, उसने अपने सब भाइयों की भी हत्या कराई । निःसन्देह इस प्रकार का क्रूर और नृशंस राजा शायद इतिहास में और कोई नहीं हुआ। गर्भवती स्त्रियों के पेट को चीरकर बच्चे निकालने और कर्मकरों के अंग कटवाने में उसे बहुत मजा आता था। नृशंस और अमानुषिक अत्याचारों से प्रजा को पीड़ित कर अन्त में ९३९ ईस्वी में इस नरराक्षस की मृत्यु हुई ।

उन्मत्तावन्ती के बाद सूर्यवर्मा द्वितीय काश्मीर के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ। अभी उसे शासन करते हुए एक सप्ताह भी नहीं हुआ था, कि सेनापति कमलवर्धन ने उसके विरुद्ध विद्रोह कर दिया। सम्भवतः उत्पल-वंश के राजाओं की अयोग्यता और अत्याचारों से सैनिक नेता भी तंग आ गये थे, और कमलवर्धन इस बात के लिये उत्सुक था, कि काश्मीर में सुव्यवस्थित शासन की स्थापना हो । सूर्यवर्मा को परास्त कर उसने स्वयं राजा बनने का प्रयत्न नहीं किया, अपितु ब्राह्मणों की सभा बुलाकर उसके सम्मुख यह प्रस्ताव रखा कि वे किसी सुयोग्य व्यक्ति को राजा नियुक्त करें। ब्राह्मणों की सभा ने यशस्कर को काश्मीर का राजा नियत किया । यशस्कर का उत्पल-राजकुल से कोई सम्बन्ध नहीं था। योग्यता की दृष्टि से ही उसे राजा बनाया गया था। इसमें संदेह नहीं, कि यशस्कर बहुत योग्य शासक था, और उसने काश्मीर में सुव्यवस्थित शासन स्थापित करने में असाधारण सफलता प्राप्त की। सामंतराजाओं, जागीरदारों और राजकर्मचारियों को पूर्णरूप से अपना वशवर्ती बनाकर यशस्कर ने काश्मीर में ऐसी सुव्यवस्था कायम कर दी, कि रात के समय दूकानों को ताला लगाने की आवश्यकता नहीं रही और यात्री लोग निश्चिंत होकर यात्रा करने में समर्थ हो गये। यशस्कर के न्याय और योग्यता की अनेक कहानियां राजतरङ्गिणी में दी गई हैं,

जिनसे सूचित होता है, कि वह अत्यन्त योग्य शासक था, और उसके शासन में काश्मीर में पूर्ण शांति विराजती थी।

रानी दिद्दा—यशस्कर ने ९३९ से ९४८ तक राज्य किया। उसका पुत्र अभी बालक था। उसे मारकर ९४९ में मन्त्री पर्वगुप्त ने राजसिंहासन पर कब्जा कर लिया। यशस्कर के प्रयत्न से काश्मीर में जिस सुव्यवथित शासन की स्थापना हुई थी, वह देर तक कायम नहीं रह सका, और एक बार फिर अराजकता का युग प्रारम्भ हुआ। अगले वर्ष पर्वगुप्त की मृत्यु हो जाने पर उसका पुत्र क्षेमगुप्त काश्मीर का राजा बना। वह बड़ा विलासी और नृशंस राजा था। सुरा, सुन्दरी और द्यूत में मग्न रहने के कारण वह राज्यकार्य पर कोई ध्यान नहीं देता था, और अपनी प्रेयसियों और कृपापात्रों को खुश करने के लिये प्रजा पर मनमाना अत्याचार करता था। ९५८ ईस्वी में उसकी मृत्यु हो गई, और उसका पुत्र अभिमन्यु काश्मीर का स्वामी बना। अभिमन्यु अभी बालक ही था, अतः राज्यकार्य का संचालन स्वयं नहीं कर सकता था। उसके नाम पर राजमाता दिद्दा ने शासन-सूत्र को अपने हाथों में लिया और शीघ्र ही एक बार फिर काश्मीर में व्यवस्था और शांति की स्थापना की। दिद्दा काश्मीर की एक सामंत राजा की कन्या और साही वंश के राजा भीम की दोहती (दुहिता की पुत्री) थी। उसमें जहां अनेक अनुपम गुण थे, वहां साथ ही दोषों की भी कमी नहीं थी। उसमें साहस, क्षमता और ओजस्विता की कमी नहीं थी, पर साथ हीवह क्रूर और चरित्रहीन भी थी। ९५८ से ९७२ ईस्वी तक अपने पुत्र अभिमन्यु की अभिभाविका के रूप में वह काश्मीर के शासनसूत्र का संचालन करती रही। ९७२ में जब अभिमन्यु की मृत्यु हो गई, तो उसने अपने पौत्रों के नाम पर शासन किया। अपरिमित राज्याधिकार को प्राप्त कर दिद्दा इतनी पतित हो गई थी, कि उसने अपने पौत्रों की हत्या कराके स्वयं राजगद्दी प्राप्त करने में संकोच नहीं किया, और ९८० ईस्वी में वह स्वयं राजसिंहासन पर आरूढ़ हो गई। राजमाता और राजदादी बन जाने के बाद भी दिद्दा की कामवासना शांत नहीं हुई थी। उसका मुख्य प्रेमपात्र तुंग नाम का एक व्यक्ति था, जिसे उसने प्रधान मंत्री के पद पर नियुक्त किया था। तुंग से अपनी कामवासना की तृप्ति करते हुए वह राज्यकार्य की ओर से विमुख नहीं हो गई, और दृढ़तापूर्वक राज्य का शासन करती रही। इसमें सन्देह नहीं, कि दिद्दा अत्यन्त तेजस्विनी थी। गोपालवर्मा से अभिमन्यु के समय तक (९०१–९९०) काश्मीर में जिन सामंतों, जागीरदारों, सैनिक नेताओं और राजकर्मचारियों ने अव्यवस्था मचा रखी थी,

दिद्दा ने उन सबका विनाश किया। उसके प्रताप के कारण किसी को यह साहस नहीं होता था, कि कोई उसके सम्मुख उंगली भी उठा सके। काश्मीर के प्रमुख लोग उसके विरुद्ध थे, पर उसकी शक्ति के सम्मुख वे अपने को असहाय अनुभव करते थे, और कोई उसके खिलाफ विद्रोह की हिम्मत नहीं करता था।

लोहरवंशी राजा--रानी दिद्दा के पुत्र की मृत्यु उसके जीवन-काल में ही हो गई थी, और अपने पौत्रों को उसने स्वयं मरवा दिया था। अतः उसने अपने भतीजे संग्रामराज को अपना उत्तराधिकारी नियत किया। सन् १००३ में दिद्दा की मृत्यु के बाद संग्रामराज काश्मीर का स्वामी बना। वह लोहर के सामंतराजा का पुत्र था, इसी कारण उसका वंश 'लोहरवंश' के नाम से प्रसिद्ध है। इसी संग्रामराज ने महमूद गजनवी के विरुद्ध साहीराजा त्रिलोचनपाल की सहायता के लिये महामन्त्री तुंग के सेनापतित्व में सेना भेजी थी, जिसका उल्लेख हम पिछले प्रकरण में कर चुके हैं। महमूद गजनवी की इच्छा थी, कि वह काश्मीर पर भी आक्रमण करे, और इस राज्य को भी अपने विशाल साम्राज्य में सम्मिलित कर ले। पर इसमें उसे सफलता नहीं हुई, और लोहरवंश के राजा काश्मीर में स्वतंत्ररूप से शासन करते रहे। संग्रामराज की मृत्यु (१०२८ ईस्वी) के बाद लोहरवंश के जो राजा हुए उनका वृत्तान्त राजतरङ्गिणी में विशदरूप से दिया गया है। पर हम इसे यहां नहीं लिखेंगे। इस राजवंश के शासन-काल में भी अन्तःपुर के षड्यन्त्र जारी रहे, और विविध रानियां व राजकुमार एक दूसरे को पदच्युत कर स्वयं शासन-सूत्र को हस्तगत करने के लिये प्रयत्नशील रहे। इन राजाओं में हर्ष (१०८९-११०१) का वृत्तान्त उल्लेखनीय है। अपने पिता कलश के शासन-काल में उसने विद्रोह किया, और कलश ने उसे बन्दीगृह में डाल दिया। कलश की मृत्यु के बाद जब हर्ष के छोटे भाई उत्कर्ष ने राजगद्दी पर अधिकार कर लिया, तो अवसर पाकर हर्ष बन्दीगृह से मुक्त हो गया, और उत्कर्ष को परास्त कर स्वयं राजा बन गया। शुरू में उसने योग्यतापूर्वक शासन किया, पर शीघ्र ही काश्मीर के अन्य राजाओं के समान वह भी अनाचार में लिप्त हो गया। अपनी कामवासना की तृप्ति के लिये वह धन को पानी की तरह बहाता था, और धन की प्राप्ति के लिये प्रजा पर क्रूर अत्याचार करता था। लोभ के वशीभूत होकर उसने मंदिरों को लूटने और देव-प्रतिमाओं का अपमान करने में भी संकोच नहीं किया। प्रजा उसके अत्याचारों से इतना तंग आ गई कि उसने अन्त में उसके विरुद्ध विद्रोह कर दिया। विद्रोहियों ने न केवल युद्ध में उसे परास्त किया, अपितु उसकी हत्या भी कर दी।

हर्ष के बाद उच्छल (११०१–११११) काश्मीर का राजा बना। उसने योग्यतापूर्वक शासन करने का प्रयत्न किया, पर एक षड्यन्त्र द्वारा ११११ ईस्वी में उसकी भी हत्या कर दी गई। उसके उत्तराधिकारी सुस्सल के समय में भी ये षड्यन्त्र जारी रहे, और ११२० में हर्ष के पौत्र भिक्षाचर ने उसके विरुद्ध विद्रोह कर राजसिंहासन पर अपना अधिकार जमा लिया। पर अनेक सामंत और राजकर्मचारी सुस्सल के पक्षपाती थे। वे भिक्षाचर के विरुद्ध संघर्ष करते रहे, और एक साल बाद सुस्सल ने भिक्षाचर को परास्त कर पुनः राजपद प्राप्त कर लिया। पर इससे भिक्षाचर निराश नहीं हुआ। उसने अपने पक्षपातियों की सहायता से सुस्सल के विरुद्ध युद्ध को जारी रखा और ११२८ ईस्वी में सुस्सल को मारकर वह पुनः राजा बन गया। भिक्षाचर को राज्य करते हुए अभी चार मास भी नहीं हुए थे, कि सुस्सल के पुत्र जयसिंह ने भिक्षाचर को परास्त किया, और उसे काश्मीर छोड़ जाने के लिये विवश किया। पर शीघ्र ही भिक्षाचर ने फिर सिर उठाया, और उसने एक बार पुनः अपने भाग्य की परीक्षा की, पर वह सफल नहीं हो सका। युद्ध में लड़ते हुए उसकी मृत्यु हो गई, और जयसिंह का मार्ग निष्कण्टक हो गया। पर जयसिंह को अभी अनेक अन्य कठिनाइयों का सामना करना था। बहुत से सामंत राजा और जागीरदार उसके विरोधी थे। वे उसके विरुद्ध उठ खड़े हुए, और उन्हें वश में लाने में जयसिंह ने न केवल सैन्यशक्ति का उपयोग किया, अपितु कूट-नीति और घृणित उपायों का भी आश्रय लिया। पर इसमें सन्देह नहीं, कि अपनी योग्यता के कारण जयसिंह काश्मीर में शान्ति स्थापित करने में समर्थ हुआ, और २७ वर्ष (११२८–११५५) तक राज्य का कर्णधार बना रहा।

कल्हण द्वारा विरचित राजतरङ्गिणी में काश्मीर के राजाओं का वृत्तान्त राजा जयसिंह के साथ समाप्त हो जाता है। पर १३३९ ईस्वी तक काश्मीर की स्वतन्त्रता कायम रही, और वहां के विविध राजा इसी प्रकार शासन-सूत्र का संचालन करते रहे। पर १३३९ में काश्मीर में हिन्द-शासन का अंत हुआ और मुसलिम शासन की स्थापना हो गई। इसके लिये किसी बाह्य आक्रमण की आवश्यकता नहीं हुई। काश्मीर की राजगद्दी के विविध उम्मीदवार अपनी शक्ति के लिये न केवल अपने देश के सैनिकों पर निर्भर करते थे, अपितु तुर्कों को भी अपनी सेना में भरती करते थे। प्रजा का पीड़न करके जो धनराशि वे प्राप्त करते थे, उसे वे सैनिकों की भृति में व्यय करते थे। लोहरवंश के राजा

तत्पर रहती थीं। इसमें सन्देह नहीं, कि मध्यकाल भारत के इतिहास में एक ऐसा युग था, जब कि शासन-शक्ति का बहुत अध:पात हो गया था।

(११) उत्तरापथ के सात राज्य

गुर्जरप्रतीहारवंश का अन्त—गजनी के तुर्क सुलतानों के आक्रमणों के कारण न केवल उत्तर-पश्चिमी भारत के साहीराज्य का अन्त हुआ था, अपितु कन्नौज के प्रतापी गुर्जरप्रतीहार-राजाओं की शक्ति भी क्षीण हो गई थी, इसमें संदेह नही, कि गुर्जरप्रतीहारों ने उत्तरापथ के बड़े भाग पर शासन किया था। मिहिरभोज (८३६ से ८९० ईस्वी तक) जैसे प्रतापी सम्राट् पश्चिम में मुलतान से लेकर पूर्व में सोन नदी तक अपना साम्राज्य स्थापित करने में समर्थ हुए थे। पालवंशी राजा नारायणपाल (८५४—९०८) को परास्त कर मिहिरभोज ने मगध पर भी अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था। मिहिरभोज के उत्तराधिकारी निर्भयराज महेन्द्र (८९०—९०७) के समय में गुर्जरप्रतीहार-साम्राज्य की शक्ति अक्षुण्णरूप से कायम रही। पर उसकी मृत्यु के बाद महीपाल (९०७—९४४) के समय में गुर्जरप्रतीहारों की घटती कला शुरू हुई, और अनेक सामन्त-राजा कन्नौज की अधीनता से मुक्त होकर स्वतन्त्र होने लगे। महमूद गजनवी के आक्रमणों के समय कन्नौज का गुर्जरप्रतीहार-राजा राज्यपाल था, जिसने तुर्कों के विरुद्ध साहीवंश के राजाओं की दिल खोलकर सहायता की थी। महमूद ने अपने इस प्रबल शत्रु को माफ नहीं किया, और १०१८ ईस्वी के लगभग एक लाख सैनिकों के साथ पंजाब से आगे बढ़कर कन्नौज पर हमला किया था। गुर्जरप्रतीहार-राजा राज्यपाल उसके सम्मुख नहीं टिक सका, युद्ध में उसकी बुरी तरह से पराजय हुई, और महमूद गजनवी ने कन्नौज को बुरी तरह से लूटा। विवश होकर राज्यपाल ने गजनी के सुलतान को कर देना स्वीकार कर लिया, और इस प्रकार अपनी सत्ता की रक्षा की। पर इस युग में जो अन्य अनेक राजपूतराजा गुर्जर-प्रतीहारों को अपना अग्रणी व अधिपति मानते थे, वे राज्यपाल की इस कायरता से बहुत असंतुष्ट हुए, और कालिंजर के युवराज विद्याधर ने अन्य सामंतराजाओं के साथ मिलकर उसकी हत्या कर दी। इसके बाद गुर्जरप्रतीहार-वंश की शक्ति बहुत निर्बल हो गई, और उनका राज्य केवल कन्नौज व उसके समीपवर्ती प्रदेशों तक ही सीमित रह गया। राज्यपाल के बाद त्रिलोचनपाल और यशपाल नाम के राजाओं ने कन्नौज का शासन किया। ये राजा बहुत अशक्त थे, और कन्नौज के वैभव का अब अन्त हो गया था। पड़ोस के राजा इस नगरी पर

आक्रमण करते रहते थे, और कन्नौज के राजाओं की अब यह शक्ति नहीं थी, कि वे इनका मुकाबला कर सकते। ग्यारहवीं सदी के अन्तिम चरण में गहडवालवंश के राजा चन्द्रदेव ने कन्नौज को जीत लिया, और उसे अपनी राजधानी बनाकर, शासन करना प्रारम्भ किया। पर यह ध्यान में रखना चाहिये, कि उत्तरापथ में अब कन्नौज का कोई विशेष महत्त्व नहीं रहा था और उसके राजाओं की प्रायः वही स्थिति थी, जो गुर्जरप्रतीहार-साम्राज्य के भग्नावशेषों पर कायम हुए अन्य राज्यों की थी।

उत्तरापथ के सात राज्य—गुर्जरप्रतीहार-साम्राज्य के भग्नावशेषों पर जो विविध राज्य कायम हुए, उनमें आठ मुख्य थे–(१) कन्नौज का गहडवाल-राज्य, (२) जेजाकभुक्ति का चन्देल-राज्य, (३) ग्वालियर का कच्छपघात-राज्य, (४) डाहल का चेदिराज्य, (५) मालवा का परमारराज्य, (६) शाकम्भरी का चौहान राज्य, (७) दक्षिण राजपूताना का गुहिल-राज्य, और (८) अन्हिलवाड़ा का चालुक्य-राज्य। इस प्रसंग में यह निर्देश कर देना भी आवश्यक है, कि उत्तर-पश्चिमी सीमा-प्रान्त और पश्चिमी पंजाब इस समय गजनी के तुर्क साम्राज्य के अन्तर्गत थे, और पूर्वी भारत में पाल व सेनवंशों का शासन था।

कन्नौज का गहडवाल राज्य—गहडवाल-वंश का संस्थापक चन्द्रदेव वीर और महत्त्वाकांक्षी राजा था। १०८५ ईस्वी के लगभग उसने कन्नौज पर अधिकार कर लिया, और समीप के प्रदेशों को जीतकर अपने राज्य का विस्तार प्रारम्भ किया। एक उत्कीर्ण लेख में उसे काशी, अयोध्या, कान्यकुब्ज (कन्नौज) और इंद्रस्थान (इन्द्रप्रस्थ या दिल्ली) का 'त्राता' कहा गया है, जिससे सूचित होता है कि ये सब प्रदेश उसके शासन में थे, और तुर्क आक्रान्ताओं से इनका त्राण कर सकने में समर्थ होने के कारण ही वह इनका 'त्राता' कहाता था। चन्द्रदेव के समय में ही दक्षिणी कर्णाटराजा विजयसेन बिहार बंगाल में अपनी शक्ति को बढ़ा रहा था। जब उसने मगध पर आक्रमण कर पालवंशी राजा मदनपाल को परास्त करने के लिये आक्रमण किया, तो चन्द्रदेव ने मदनपाल की सहायता की। चंद्रदेव की सहायता के कारण ही पाल लोग मगध में अपना शासन स्थापित रख सके।

११०० ई० में चंद्रदेव गहडवाल की मृत्यु हुई। उसके बाद मदनपाल गहडवाल ने १११४ ई० तक और फिर गोविन्दचंद्र ने कन्नौज के शक्तिशाली साम्राज्य का शासन किया। इस समय उत्तरी भारत में गहडवालों के अतिरिक्त कलचुरि और सेन-वंश के राजा भी काफी प्रबल थे। यद्यपि बनारस और प्रयाग

के प्रदेश कलचूरियों से चंद्रदेव गहडवाल ने छीन लिये थे, तो भी इस वंश का राजा यशःकर्ण बहुत प्रतापी था। उसने बंगाल के सेनवंशी राजा लक्ष्मणसेन के साथ मैत्री की। लक्ष्मणसेन विजयसेन का पौत्र और बल्लालसेन का पुत्र था, और १११८ ईस्वी में बंगाल की राजगद्दी पर आरूढ़ हुआ था। लक्ष्मणसेन की सहायता प्राप्त कर यशःकर्ण ने काशी पर आक्रमण किया, और मगध पर भी हमले किये। लक्ष्मणसेन ने मगध पर अपना अधिकार कर लिया, और पाल-वंश के हाथ से मगध तथा गोविन्दचन्द्र की अधीनता से बनारस के प्रदेश निकल गये। ११२४ ई० में गोविदचन्द्र ने एक शक्तिशाली सेना के साथ एक बार फिर सेन और कलचूरि राजाओं पर हमले किये। इस बार यशःकर्ण और लक्ष्मणसेन परास्त हुए, और मगध में फिर एक बार पालवंशी राजा मदनपाल राज्य करने लगा। पर उसकी स्थिति गहडवालराजा गोविंदचन्द्र के अधीन सामंत के सदृश थी, और उसी की कृपा तथा सहायता से वह अपने राजसिंहासन पर आसीन रह सका था। तिरहुत का राजा नान्यदेव भी उसकी अधीनता स्वीकार करता था, और उसी की कृपा के कारण अपने राज्य में कायम था।

गोविंदचंद्र के समय में एक बार फिर कन्नौज के साम्राज्य ने अपना पुराना गौरवपूर्ण पद प्राप्त किया। उसका राज्य दिल्ली से मगध तथा अंग तक विस्तृत था। जिस समय गोविदचंद्र कलचूरियों के साथ युद्ध में व्यापृत था, तभी अजमेर के चौहानराजा विग्रहराज ने उत्तर की तरफ आक्रमण कर दिल्ली के पश्चिम का प्रदेश जीतकर अपने राज्य की सीमा को हिमालय की उपत्यका तक विस्तीर्ण कर लिया था। पर गोविंदचंद्र के राज्य पर विग्रहराज ने हमले नहीं किये। वह शांति के साथ अपने विस्तृत साम्राज्य का शासन करता रहा। गोविंदचंद्र स्वयं शैव-धर्म का अनुयायी था, पर उसकी रानी कुमारदेवी बौद्ध थी। वह मगध के एक सामंतराजा की कन्या थी। उसी के प्रभाव से गोविंदचंद्र ने अनेक बौद्ध-विहारों की मरम्मत कराई और बौद्ध पंडितों को दान आदि से संतुष्ट किया।

यद्यपि गोविंदचंद्र की राजधानी कन्नौज थी, पर वह प्रायः काशी में निवास करता था। उसने बहुत-से पंडितों को आश्रय दिया, और उसी के प्रयत्नों का यह परिणाम हुआ, कि काशी नगरी भारतीय पाण्डित्य और विद्या का केन्द्र बन गई। उससे पहले मगध के नालन्दा और विक्रमशिला-विहार भारतीय ज्ञान और शिक्षा के सर्वप्रधान केन्द्र थे, पर उनमें मुख्यतया बौद्ध पंडित रहते थे। पौराणिक धर्म

और विद्या का मुख्य केन्द्र पहले भी काशी था, पर अब गोविंदचंद्र की संरक्षकता में इसने विद्या और ज्ञान के केन्द्ररूप में जो ख्याति प्राप्त की, वह अब तक भी कायम है ।

गोविंदचद्र के बाद उसका पुत्र विजयचंद्र (११५५ से ११७० ई० तक) कन्नौज का सम्राट् बना । उसके समय में गहडवालों की शक्ति अक्षुण्ण रही । तिरहुत के राजा नान्यदेव की मृत्यु के बाद उसका लड़का रामदेव (११५० ई० में) वहां का राजा बना । वह विजयचंद्र की अधीनता स्वीकृत करता था, और उसका छोटा भाई मल्लदेव गहडवाल-सम्राट के लड़के जयच्चंद्र (जयचंद) की सेवा में नियुक्त था । मगध का पालवंशी राजा भी विजयचंद्र को अपना अधिपति मानता था ।

११७० ईस्वी में विजयचंद्र के बाद जयचंद्र कन्नौज की राजगद्दी पर आरूढ़ हुआ । इसके शासन-काल में शहाबुद्दीन मुहम्मद गोरी ने भारत पर आक्रमण करने शुरू किये । महमूद ने गजनी को राजधानी बनाकर जिस शक्तिशाली तुर्क-साम्राज्य की स्थापना की थी, उसका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं । महमूद की मृत्यु के बाद उसका साम्राज्य निर्बल हो गया, और गोरी अफगान सरदारों ने अपना स्वतंत्र राज्य कायम किया । गजनी से हीरात के रास्ते पर गोर नाम का एक प्रदेश है । वहां के निवासी अफगान लोग पहले बौद्ध थे, पर मुसलमान तुर्कों के प्रभाव से वे अब मुसलिम हो गये थे । उनके सरदार अलाउद्दीन ने ११६० ई० में तुर्कों से गजनी को छीन लिया और फिर पंजाब पर आक्रमण किया । अलाउद्दीन का भतीजा और उत्तराधिकारी शहाबुद्दीन बड़ा प्रतापी था । उसने ११८६ ई० के लगभग पंजाब को जीतकर अपने अधीन कर लिया । अजमेर और दिल्ली के चौहनराजा पृथिवीराज ने ११९१ में तलावड़ी के रणक्षेत्र में उसका मुकाबला किया । शहाबुद्दीन गोरी इस युद्ध में परास्त हुआ । पर अपनी इस पराजय से वह निराश नहीं हुआ । उसने बार-बार भारत पर आक्रमण किये । कहते हैं, कि पृथिवीराज से उसके १७ बार युद्ध हुए । अंत में वह अपने प्रयत्न में सफल हुआ, और पृथिवीराज को कैद कर दिल्ली पर अपना अधिकार कायम करने में उसे सफलता प्राप्त हुई ।

चौहानों के पराजय से अब शहाबुद्दीन गोरी के साम्राज्य की सीमा कन्नौज के गहडवाल-राज्य से आ मिली । ११९४ ई० में गोरी ने एक शक्तिशाली सेना के साथ कन्नौज पर आक्रमण किया । राजा जयच्चंद्र ने बड़ी वीरता के साथ उसका मुकाबला किया । इटावा के पास चंदावर नामक स्थान पर दोनों सेनाओं में घन-

घोर युद्ध हुआ, जिसमें जयच्चंद्र रणक्षेत्र में ही लड़ते हुए मारा गया । उसकी मृत्यु के बाद उसके लड़के हरिश्चंद्र ने युद्ध को जारी रखा। पर वह देर तक शक्तिशाली अफगान सेनाओं का मुकाबला नहीं कर सका। शीघ्र ही कन्नौज और काशी पर गोरी का अधिकार हो गया, और प्रतापी गहड़वाल-राजाओं के साम्राज्य का अंत हो गया।

शाकम्भरी के चौहान--चाहमान या चौहान लोग जाति से राजपूत हैं, और उनकी गणना अग्निकुल के राजपूतों में की जाती है। वे शाकम्भरी देवी को अपनी कुलदेवी मानते हैं, जिसका प्रसिद्ध मंदिर अजमेर के समीप साम्भर में है । पर शाकम्भरी देवी का एक मन्दिर शिवालक की उपत्यका (सहारनपुर जिला) में भी है, जो सम्भवतः बहुत प्राचीन है । पुराणों में भगवती शाकम्भरी की महिमा वर्णित है। यह सम्भव है, कि चौहानों का मूलस्थान शिवालक की उपत्यका में हो और वहीं से वे राजपूताना गये हों। दसवीं सदी के अंतिम भाग में जब तुर्कों के भारत पर आक्रमण शुरू हुए, तो अजमेर के क्षेत्र में चौहानों का स्वतन्त्र राज्य विद्यमान था, और महमूद गजनवी का मुकाबला करने के लिये जो भारतीय राजा साहीवंश के राजाओं की सहायता के लिये अग्रसर होते थे, उनमें चोहान-राजा भी थे । कन्नौज के गुर्जर-प्रतीहार-वंश की शक्ति के क्षीण होने पर जब अन्य राजपूत राजाओं को अपनी शक्ति के विकास का अवसर मिला, तो सांभर (शाकम्भरी) के चौहान भी प्रबल हो गये, और उन्होंने अजमेर के क्षेत्र में अपने शक्तिशाली राज्य का विस्तार किया । बारहवीं सदी के प्रारम्भिक भाग में चौहान-वंश का राजा अजयराज था, जिसने अजयमेरु (अजमेर) नगर की स्थापना की थी ।

११५३ ईस्वी में चौहान-वंश में विग्रहराज नाम का प्रतापी राजा हुआ। मेवाड़ के विजोला नामक स्थान से उपलब्ध हुए एक उत्कीर्ण लेख से सूचित होता है, कि उसने दिल्ली को जीतकर अपने अधीन किया, और इस प्रकार अपने राज्य को बहुत विस्तृत व शक्तिशाली बनाया । इस युग में दिल्ली पर तोमर राजपूतों का शासन था, जो कन्नौज के गहडवाल-सम्राटों के सामंत थे। दिल्ली के हाथ में आ जाने से उसके समीप के भी प्रदेश अब चौहानों के हाथ में आ गये थे। इसी कारण विग्रहराज के सम्बन्ध में कहा जाता है, कि उसका राज्य हिमालय तक विस्तृत था। विग्रहराज न केवल प्रतापी और विजेता था, अपितु विद्वानों का आश्रयदाता भी था । वह स्वयं भी कवि था । उसने 'हरिकेलनाटक' की रचना की, जिसके कुछ भाग इस समय भी उपलब्ध होते हैं । उसके आश्रय में रहनेवाले एक

कवि ने 'ललितविग्रहराज' नामक नाटक लिखा था, जिसमें इसी राजा का वृत्तांत लिखा गया है। विग्रहराज ने ११५३ से ११६४ ईस्वी तक शासन किया। उसकी मृत्यु के बाद उसका भाई सोमेश्वर चौहानों का राजा हुआ, जिसका पुत्र प्रसिद्ध राजा पृथिवीराज चौहान था, जिसके इतिवृत्त को लेकर 'पृथिवीराज विजय', 'पृथिवीराजरासौ' आदि कितने ही ग्रंथ लिखे गये हैं, और जिसकी दन्त-कथायें उत्तरी भारत में सर्वत्र प्रचलित हैं।

राजा पृथिवीराज के सम्बन्ध में पृथ्वीराजरासौ नामक हिन्दी महा-काव्य से बहुत-सी महत्त्वपूर्ण बातें ज्ञात होती हैं। इस काव्य की रचना चन्द वरदाई ने की थी, जो पृथिवीराज का घनिष्ठ मित्र था। पर यह महाकाव्य जिस रूप में आजकल उपलब्ध होता है, वह सब चन्दवरदाई की कृति नहीं है, उसके कुछ अंश बाद में कवि चन्द्र की मूल कृति में जोड़े हुए माने जाते ह। पृथ्वीराजरासौ और पृथिवीराजविजय के अनुशीलन से ज्ञात होता है, कि यह चौहान-राजा वड़ा वीर और प्रतापी था। उसने चंदेलराजा परमल या परमार्दि पर आक्रमण कर बुन्देलखण्ड के महोबा आदि अनेक दुर्गों पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया, और गुजरात के चालुक्य-राजा भीम को भी परास्त किया। इन विजयों के कारण चौहानों की शक्ति बहुत बढ़ गई थी, पृथिवीराज की राजधानी दिल्ली थी, और यहीं से वह अपने शक्तिशाली राज्य का संचालन करता था।

शहाबुद्दीन गोरी के आक्रमणों के समय पृथिवीराज ने किस प्रकार भारत को अफगानों की अधीतता से बचाने का प्रयत्न किया, इसका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। अनेक युद्धों में शहाबुद्दीन को परास्त करने के बाद अन्त में पृथिवीराज अफगान आक्रांता द्वारा परास्त हुआ, और दिल्ली व अजमेर के चौहानराज्य पर अफगानों का आधिपत्य स्थापित हो गया। पृथिवीराज के बाद भी कुछ समय तक चौहानराजा अफगानों के अधीनस्थ राजाओं के रूप में राज्य करते रहे। अन्त में १३०१ ईस्वी में कुतुबुद्दीन ऐबक ने अन्तिम चौहानराजा हरिराज को परास्त कर उसके राज्य को अफगान-साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया।

जेजाकभुक्ति का चन्देलराज्य——नवीं सदी में चंदेलों की शक्ति का उत्कर्ष प्रारम्भ हुआ था। स्मिथ आदि अनेक ऐतिहासिकों के अनुसार चन्देल लोग उन गोंड व भर लोगों के वंश के थे, जो भारत के मूल निवासी थे। उनका अभिजन छतरपुर रियासत में केन नदी के तट पर था। शुरू में चन्देलराजा कन्नौज के गुर्जरप्रतीहार-

सम्राटों के सामन्तरूप में शासन करते थे, पर जब प्रतीहारों की शक्ति क्षीण हुई, तो अन्य अनेक राजवंशों के समान चन्देलों ने भी अपनी शक्ति का विकास प्रारम्भ किया, और धीरे-धीरे अपना एक स्वतन्त्र राज्य कायम कर लिया, जिसे 'जेजाक-भुक्ति' कहा जाता था। यह राज्य बुन्देलखण्ड के प्रदेश में था।

चन्देल-वंश के राजाओं में हर्षदेव का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। गुर्जरप्रतीहार-सम्राट् महेन्द्रपाल की मृत्यु (९१० ई०) के बाद उसके दो पुत्रों—भोज द्वितीय और महीपाल—में जब उत्तराधिकार के लिये संघर्ष हुआ, तो चन्देल-राज हर्षदेव ने महीपाल की सहायता की, और उसी की सहायता से महीपाल कन्नौज का स्वामी बन सका। यह स्वाभाविक था, कि महीपाल के शासन में जेजाक-भुक्ति के चन्देलों की शक्ति को बढ़ने का अवसर मिले। हर्षदेव के पुत्र यशो-वर्मा ने गुर्जरप्रतीहारों की निर्बलता से लाभ उठाकर स्वतन्त्रता प्राप्त कर ली, और समीप के अनेक राजवंशों को जीतकर अपनी शक्ति का विस्तार किया। एक शिलालेख से ज्ञात होता है, कि उसने गौड़, कौशल, काश्मीर, मिथिला, चेदि, कुरु और गुर्जर-राज्यों को परास्त कर अपने अधीन किया। ऐसा प्रतीत होता है, कि यशोवर्मा चन्देल भी यशोकर्मा और हर्षवर्धन के समान दिग्विजयी राजा था, और उसने दूर-दूर तक आक्रमण कर अपनी वीरता का परिचय दिया था। गुर्जरप्रतीहारों के प्रसिद्ध दुर्ग कालिंजर को जीतकर उसने अपनी राजधानी बनाया, और देवपाल प्रतीहार (९४८ ईस्वी के लगभग) से विष्णु की एक मूर्ति छीनकर उसे खजुराहो के मन्दिर में प्रतिष्ठित किया। इसमें सन्देह नहीं, कि यशोवर्मा एक महत्त्वाकांक्षी राजा था, और उसने गुर्जरप्रतीहारों की निर्बलता से पूरा-पूरा लाभ उठाया था।

यशोवर्मा के बाद उसका पुत्र धंग (९५०से १००२ ईस्वी तक) चन्देल-राज्य का स्वामी बना। वह इस वंश का सबसे शक्तिशाली राजा था। ९५४ ईस्वी में उसने गुर्जरप्रतीहार-राजा देवपाल को परास्त किया, और अपने राज्य में पूर्णतया स्वतन्त्र हो गया। सम्भवतः, इससे पूर्व चन्देलराजा कन्नौज के सम्राट् को अपना अधिपति मानते थे, पर इस समय से वे पूर्णरूप से स्वतन्त्र हो गये। इसमें सन्देह नहीं, कि यशोवर्मा और धंग की वीरता के कारण इस समय चन्देलराज्य की शक्ति कन्नौज के गुर्जरप्रतीहार-राज्य की अपेक्षा कहीं अधिक थी। खजुराहो के उत्कीर्ण लेख से सूचित होता है, कि धंग का राज्य उत्तर में यमुना नदी तक और पश्चिम में ग्वालियर तक विस्तृत था। उत्तर-पूर्व में काशी पर भी उसका अधिकार था। जब तुर्क आक्रान्ता सुबुक्तगीन ने भारत पर आक्रमण

किया, तो धंग ने भी उसके विरुद्ध साहीराजा जयपाल की सहायता की थी।

धंग के बाद उसका पुत्र गंड चन्देल-राज्य का स्वामी बना। उसके शासन-काल में महमूद गजनवी ने भारत पर आक्रमण किये। साहीवंश के राजा आनन्द-पाल की सहायता के लिये भारत के जो अन्य राजा रणक्षेत्र में उतरते थे, उनमे चन्देलराज गंड भी होता था। उसका अधिक समय महमूद गजनवी के साथ संघर्ष मे ही व्यतीत हुआ। जब गुर्जरप्रतीहार-राजा राज्यपाल ने महमूद से परास्त होकर उसे कर देना स्वीकार किया, तो गंड ने इसे राजपूतों के लिये अपमान-जनक समझा। इसीलिये उसके पुत्र विद्याधर ने राज्यपाल पर आक्रमण कर उसका अन्त किया। जब यह बात महमूद गजनवी को ज्ञात हुई, तो उसने एक बड़ी सेना लेकर १०१६ ईस्वी में गंड पर आक्रमण किया, और ग्वालियर तथा कालिञ्जर के किले उससे छीन लिये। (१०२१)। इस समय जेजाक-भुक्ति पर भी गजनी के तुर्क-सुलतान का आधिपत्य स्थापित हो गया।

महमूद गजनवी की मृत्यु के बाद (१०२३ ई०) उसके उत्तराधिकारी तुर्क-साम्राज्य की शक्ति को कायम रख सकने मे असमर्थ हुए। परिणाम यह हुआ, कि भारत के अनेक राजवंश फिर से स्वतंत्र हो गये। जेजाकभुक्ति का चन्देलवंश भी इनमे था। ग्यारहवीं सदी के उत्तरार्ध में चन्देलराजा कीर्तिवर्मा ने अपने वंश के उत्कर्ष के लिये बहुत प्रयत्न किया, और उसे एक अच्छा शक्तिशाली राज्य स्थापित करने में सफलता हुई। कीर्तिवर्मा का उत्तराधिकारी मदनवर्मा (लगभग १ २६-११६५) था। मऊ में प्राप्त एक लेख से सूचित होता है, कि मदनवर्मा ने चेदिनृपति और मालवराज को परास्त किया—और काशी नरेश को मित्रता पूर्वक बरताव करने के लिये विवश किया। चेदि और मालवा की विजय के कारण मदनवर्मा का राज्य बहुत विस्तृत हो गया था, और काशी के जिस राजा को उसने मित्र रूप से बरताव करने के लिये विवश किया था, वह गहडवाल-नृपति विजयचन्द्र था, जिसके राज्य में काशी भी अन्तर्गत था।

मदनवर्मा के बाद परमार्दि (परमल) जेजाकभुक्ति का राजा बना। उसका शासनकाल ११६५ से १२०३ ईस्वी तक था। चौहानराजा पृथिवीराज से उसके अनेक युद्ध हुए थे, और कुछ समय तक पृथिवीराज के सम्मुख उसकी श्री मन्द पड़ गई थी। अफगान,सुलतान-शहाबुद्दीन ने उसी के शासन-काल में भारत पर आक्रमण किया, और दिल्ली के अफगानों की अधीनता मे आ जाने के बाद कुतुबुद्दीन ऐबक ने परमार्दी के राज्य को भी जीत लेने के लिये संघर्ष शुरू किया। १२०३ में कुतुबुद्दीन ने कालिञ्जर का दुर्ग जीत लिया और परमार्दि

को अफगान-सुलतान के सम्मुख आत्मसमर्पण कर देने के लिये विवश होना पड़ा। इस प्रकार तेरहवीं सदी के प्रारम्भ में चन्देलों की शक्ति का अन्त हुआ। यद्यपि इसके बाद भी अनेक चन्देलराजा जेजाकभुक्ति में शासन करते रहे, पर उनकी स्थिति सामन्तराजाओं के समान थी, जो दिल्ली के अफगानों की अधीनता स्वीकार करते थे।

भारत के इतिहास में चन्देल-वंश का बहुत महत्त्व है। उनके बनावाये हुए अनेक मंदिर, प्रासाद और जलांशय अब तक भी बुन्देलखण्ड में विद्यमान हैं, और वे उनके वैभव तथा कलाप्रेम के जीते-जागते प्रमाण हैं।

मालवा के परमार—चौहानों और गुर्जरप्रतीहारों के समान परमार भी अग्निकुल के राजपूत थे। इस युग के अन्य राजपूत-वंशों के समान प्रतीहार-वंश के उत्कर्ष का प्रारम्भ भी नवीं सदी में हुआ था। उनका केंद्र मालवा में धारा नगरी थी। इस वंश का प्रारम्भ राजा कृष्णराज द्वारा हुआ, जो सम्भवतः कनौज के गुर्जरप्रतीहार-सम्राटों का सामंत था। दसवीं सदी के उत्तरार्ध में इस वंश का राजा सीयक-हर्ष था, जिसने गुर्जरप्रतीहारों की शक्ति के क्षीण होने पर अपने उत्कर्ष का अवसर प्राप्त किया। अपनी शक्ति के विस्तार के लिये उसने अनेक राजाओं के साथ युद्ध किये, जिनमें दक्षिणीपथ के राष्ट्रकूट राजा प्रधान थे। सीयक-हर्ष ने राष्ट्रकूटों के साथ संघर्ष करते हुए उनकी राजधानी मान्यखेट पर भी आक्रमण किया था।

हर्ष के बाद उसका पुत्र वाक्पतिराज मुञ्ज परमारराज्य का स्वामी बना। उसने ९७४ ईस्वी के लगभग राज्याधिकार प्राप्त किया था। मुञ्ज परमार-वंश का अत्यन्त प्रतापी राजा हुआ है, और प्राचीन लेखों में उसे उत्पलराज, श्रीवल्लभ, पृथ्वीवल्लभ आदि अनेक विरुदों से विभूषित किया गया है। उसने परमार-वंश के उत्कर्ष के लिये अनेक युद्ध किये। एक उत्कीर्ण लेख के अनुसार उसने लाटों, कर्णाटों, चोडों और केरलों को परास्त कर अपने साम्राज्य का निर्माण किया था। ऐसा प्रतीत होता है, कि मुज्ज भी मध्यकालीन भारत के अनेक राजाओं के समान एक दिग्वजयी राजा था, और उसने अपनी विजययात्रा में सुदूरदक्षिण तक के अनेक राज्यों को परास्त किया था। पर मुञ्ज के मुख्य युद्ध दक्षिणापथ के चालुक्यराजा तैलप द्वितीय के साथ हुए। छः बार उसने तैलप को रणक्षेत्र में परास्त किया, पर सातवीं बार जब विजय-यात्रा करते हुए वह चालुक्य-राज्य में दूर तक आगे बढ़ गया, तो तैलप ने उसे बन्दी बना लिया और मरवा डाला। चालुक्यों और परमारों का यह युद्ध दसवीं सदी के अन्तिम वर्षों में हुआ था।

मुञ्ज की ख्याति केवल उसकी विजय-यात्राओं के कारण नहीं है। अनेक कवि उसके आश्रय में रहते थे, और उसने धारा नगरी में अनेक मन्दिरों का निर्माण कराया था। अपनी राजधानी में उसने एक विशाल सरोवर का भी निर्माण कराया था, जो वर्तमान समय में भी मुञ्जसागर के नाम से विख्यात है।

मुञ्ज के बाद उसका छोटा भाई सिन्धुल नवसाहसांक परमार-राज्य का स्वामी हुआ। अपने भाई के समान वह भी बड़ा प्रतापी राजा था, और उसने भी विजय-यात्राओं द्वारा अपने राज्य का विस्तार किया था। पद्मगुप्त द्वारा विरचित नवसाहसांकचरित नामक ग्रंथ में इसी परमार राजा का चरित्र वर्णित है।

नवसाहसांक की मृत्यु के बाद उसके पुत्र भोज धारा नगरी के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ। राजा भोज भारत के मध्यकालीन इतिहास में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। उसका नाम उत्तरी भारत की दन्तकथाओं में अब तक जीवित है, और उसके विद्याप्रेम, पाण्डित्य और योग्यता के सम्बन्ध में कितनी ही बातें सर्वसाधारण जनता में प्रचलित हैं। कवियों के प्रोत्साहन व संरक्षण में वह धन को पानी की तरह बहाता था। 'प्रत्यक्षं लक्षं ददौ' कविता के एक-एक अक्षर के लिये लाख-लाख रुपया प्रदान कर देनेवाला यह नृपति सचमुच अत्यन्त विद्याप्रेमी था। संस्कृत के कितने ही ऐसे ग्रंथ हैं, जिनके निर्माण का श्रेय राजा भोज को दिया गया है। इनमें से समरांगण सूत्रधार, सरस्वतीकण्ठाभरण, युक्तिकल्पतरु, व्यवहारसमुच्चय, राजमृगांक, शब्दानुशासन और आयुर्वेदसर्वस्व विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। धारा में उसने एक विद्यापीठ की स्थापना की थी, जिसकी दीवारों के पाषाण अब तक विद्यमान हैं, और उनपर संस्कृत के लेख उत्कीर्ण हैं। उसके इतिहास का ज्ञान केवल दन्तकथाओं द्वारा ही नहीं होता। उसकी प्रशस्ति, ताम्रपत्र व शिलालेख भी उपलब्ध हुए हैं, जिनसे इन प्रतापी राजाके विषय में विशदरूप से परिचय प्राप्त किया जा सकता है। उदैपुर से प्राप्त उसकी प्रशस्ति में कहा गया है, कि कैलाश और मलयपर्वत के बीच के सब प्रदेशों पर उसका शासन विद्यमान था। सम्भवतः इस विशाल प्रदेश को उसने अपनी विजय-यात्राओं का क्षेत्र बनाया था, और कुछ समय के लिये इसके विविध राजवंश उसे अपना अधिपति स्वीकार करते थे। चालुक्यों के साथ इसके बहुत से युद्ध हुए। कभी भोज ने चालुक्यों को परास्त किया, और कभी चालुक्यों ने भोज को। कलचूरी-वंश और कन्नौज के गुर्जरप्रतीहार-वंश के राजाओं को भी उसने युद्ध में परास्त किया। गुजरात के राजा भीम प्रथम और लाट के राजा कीर्तिराज को परास्त कर उसने तुरुष्कों

के साथ भी युद्ध किये। इतने युद्धों में सफलता प्राप्त कर यदि वह कैलाश से मलयपर्वत तक के प्रदेशों को अपने आधिपत्य में लाने में समर्थ हुआ हो, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। यद्यपि मध्यकाल के अन्य अनेक विजेताओं के समान वह किसी स्थिर साम्राज्य की स्थापना करने में असमर्थ रहा, पर इसमें सन्देह नहीं, कि कुछ समय के लिये वह उत्तरापथ का सार्वभौम राजा बन गया। भोज के समान इस युग के अन्य अनेक राजा भी विजय-यात्राओं में तत्पर थे। विशेषतया दक्षिणापथ के चालुक्यराजा परमारों के समान ही शक्तिशाली थे। इसीलिये चालुक्यराज सोमेश्वर आहवमल्ल से उसे हार खानी पड़ी, और एक बार इस प्रतापी चालुक्यविजेता ने मालवा को आक्रान्त करते हुए धारा नगरी पर भी अपना अधिकार कर लिया। पर सोमेश्वर भी स्थिररूप से धारा पर अपना अधिकार नहीं रख सका। शीघ्र ही उसे मालवा छोड़कर अपने राज्य को वापस लौट जाना पड़ा। इस प्रतापी परमार-राजा का शासनकाल लगभग १००९ से १०५४ तक था।

भोज के उत्तराधिकारी परमारराजा निर्बल थे। पर वे धारा नगरी में १३०५ ईस्वी तक शासन करते रहे। अलाउद्दीन खिलजी ने भारत के अन्य अनेक राज्यों के समान परमारों के स्वतन्त्र राज्य का भी अन्त किया, और उसे अफगान सम्राज्य के अन्तर्गत कर दिया।

डाहल का चेदि राज्य—कन्नौज के गुर्जरप्रतीहार-वंश की शक्ति के क्षीण होने पर उसके भग्नावशेषों पर जो अनेक राज्य स्वतंत्र हुए, उनमें डाहल के चेदि-राज्य का स्थान भी महत्त्वपूर्ण है। जबलपुर के समीपवर्ती प्रदेश का पुराना नाम डाहल था, और इसी में त्रिपुरी को अपनी राजधानी बनाकर चेदिराज्य का उत्कर्ष हुआ था। इस राज्य के राजा कलचूरी-वंश के थे, जो भारत के प्राचीन राजवंशों में से एक है। गुर्जरप्रतीहार-वंश के उत्कर्ष-काल में चेदि के कलचूरीराजा कन्नौज के सम्राट् के सामंत होते थे। इन कलचूरीराजाओं में कोकल्लदेव का नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय है। वह नवीं सदी के उत्तरार्ध में हुआ था, और गुर्जरप्रतीहारराजा मिहिरभोज (८५४-९०८) की विजययात्राओं में उसका प्रधान सहायक था।

दसवीं सदी के मध्य भाग तक चेदि के कलचूरीराजा गुर्जरप्रतीहारों के सामंत रहे। पर जब कन्नौज की राजशक्ति क्षीण हुई, तो चन्देलों के समान वे भी स्वतन्त्र हो गये। कलचूरी-वंश का प्रथम स्वतन्त्र राजा लक्ष्मणराज था, जो कोकल्लदेव का प्रपौत्र था। एक उत्कीर्ण लेख से सूचित होता

है, कि उसने बंग देश, लाट, पाण्ड्य, गुर्जरराज्य और काश्मीर के विरुद्ध विजययात्रायें कीं। ग्यारहवीं सदी के प्रारम्भिक भाग में (लगभग १०१५–१०४१) कलचूरी-वंश का राजा गांगेयदेव था, जिसने अपने वंश की शक्ति का बहुत अधिक विकास किया। महोबा में प्राप्त उसके उत्कीर्ण लेख से ज्ञात होता है, कि उसने उत्तरापथ में कीर (नगरकोट कांगड़ा) तक विजययात्रा की, और प्रयाग तथा काशी पर अपना आधिपत्य स्थापित किया। गांगेयदेव केवल काशी तक विजय करके ही संतुष्ट नहीं हुआ, अपितु उसने तिरहुत और उत्कल की भी विजय की। कुन्तल (कन्नड) का राज्य भी उसकी महत्त्वाकाक्षा का शिकार बना, और इतने विस्तृत क्षेत्र को विजय कर उसने विक्रमादित्य की उपाधि धारण की। इसी समय धारा नगरी का परमारराजा भोज भी दिग्विजय के लिये प्रयत्नशील था। अपने राज्यकाल के अन्तिम भाग में गांगेयदेव भोज द्वारा परास्त हुआ, और कुछ समय के लिये कलचूरी-वंश का गौरव मन्द पड़ गया।

गांगेयदेव के बाद उसका पुत्र कर्णदेव (१०४१–१०७३) कलचूरी-राज्य का स्वामी बना। वह इस वंश का सबसे प्रतापी राजा था। अपने पिता गांगेयदेव के समान कर्णदेव ने भी उत्तरापथ में दूर-दूर तक विजययात्रायें कीं। चन्देल, पाल और परमार-वंशों के राजाओं के साथ वह निरन्तर युद्ध में व्यापृत रहा, और अनेक बार इन वंशों के प्रतापी राजाओं को परास्त करने में समर्थ हुआ। उत्तरापथ में कांगड़ा से बंग और कलिंग तक के सब राजा उसकी शक्ति से कांपते थे। और सुदूर दक्षिण में चोल और पाण्ड्य देश के राजा भी उसका लोहा मानते थे। पर अपने शासन के अन्तिम भाग में उसे चन्देल, परमार और चालुक्य-राजाओं द्वारा परास्त होना पड़ा, क्योंकि कलचूरीराजाओं के समान इन वंशों के राजा भी विजययात्राओं में तत्पर रहते थे।

कर्णदेव के पुत्र यशःकर्ण ने कलचूरी-वंश की विचलित कुललक्ष्मी को स्तम्भित करने का प्रयत्न किया। शुरू में उसे सफलता भी हुई, और वह पाल तथा चालुक्य-राजाओं को परास्त करने में समर्थ हुआ। पर उसकी यह सफलता देर तक कायम नहीं रह सकी। इस समय उत्तरापथ में गहडवालराजा अपनी शक्ति की स्थापना के लिये प्रयत्नशील थे। कन्नौज को राजधानी बनाकर गहडवाल-वंश ने किस प्रकार अपनी शक्ति का विकास किया, इसका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। गहडवालों के उत्कर्ष के कारण कलचूरियों की शक्ति मन्द पड़ गई थी, और उनकी अधीनता में उत्तरापथ के जो प्रदेश थे, वे प्रतापी गहडवालराजाविजय-चन्द्र ने स्थिररूप से अपने अधिपत्य में कर लिये। कलचूरियों और गहडवालों

के संघर्ष का उल्लेख पहले किया जा चुका है। यशःकर्ण ने १०७३ से ११२० ईस्वी तक राज्य किया। उसके उत्तराधिकारी कलचूरीराजा निर्बल थे, और वे गहडवालों और चन्देलों का मुकाबला करने में असमर्थ रहे थे। उनकी स्थिति अब सामंतराजाओं के सदृश रह गई थी।

ग्वालियर का कच्छपघात-राज्य—दसवीं सदी के उत्तरार्ध में गुर्जरप्रतीहार-वंश की शक्ति के क्षीण होने पर ग्वालियर के समीपवर्ती प्रदेशों में एक अन्य राजवंश ने स्वतन्त्र रूप से शासन करना प्रारम्भ किया, जिसका नाम कच्छपघात था। इस वंश के राजाओं में वज्रदामन सबसे अधिक शक्तिशाली था। ९७७ ईस्वी के लगभग उसने भी विजययात्रा प्रारम्भ की, और कुछ समय के लिये कन्नौज पर भी अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया।

अन्हिलवाड़ा का चालुक्य-राज्य—भारत के मध्यकालीन इतिहास में चालुक्यों का महत्त्व बहुत अधिक है। दक्षिणापथ का उल्लेख करते हुए हम चालुक्यों के सम्बन्ध में विशद रूप से लिखेंगे। पर गुर्जरप्रतीहारराजाओं की शक्ति क्षीण होने पर चालुक्यों की एक शाखा ने अन्हिलवाड़ा (गुजरात) में भी अपना पृथक् राज्य स्थापित किया था, जिसके अन्तर्गत दक्षिणी राजपूताना भी था। इस चालुक्य-वंश का उत्तरापथ के राज्यों के प्रसंग में उल्लेख करना अधिक उपयुक्त होगा। यह बात भी संदिग्ध है, कि अन्हिलवाड़ा के चालुक्यों का दक्षिणापथ के चालुक्यों के साथ कोई सम्बन्ध था या नहीं। गुजरात और दक्षिणी राजपूताने के चालुक्य-वंश का संस्थापक मूलराज था। दसवीं सदी में जिस समय चन्देल, कलचूरी आदि वंश अपने स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने में प्रयत्नशील थे, तभी ९४१ ईस्वी के लगभग मूलराज ने अपने राज्य की स्थापना की। मूलराज के वंश में भीम प्रथम बहुत प्रसिद्ध हुआ है। उसने १०२१ से १०६३ ईस्वी तक शासन किया। उसी के समय में तुर्क-आक्रांता महमूद गजनवी ने भारत का विजय करते हुए गुजरात और काठियावाड़ पर आक्रमण किया, और अन्हिलवाड़ा को जीतकर सोमनाथ के मंदिर की लूट की। पर महमूद का विशाल साम्राज्य उसकी मृत्यु के बाद छिन्न-भिन्न हो गया, और भीम ने अपने राज्य पर फिर से अधिकार कर लिया। पर तुर्क-शासन से स्वाधीन होने के बाद भी भीम को शान्ति की सांस लेने का अवसर नहीं मिला। इस समय धारा नगरी का परमारराजा भोज (१००९-१०५४) बहुत प्रबल था। उसके सेनापति कुलचन्द्र ने एक बड़ी सेना को साथ लेकर गुजरात पर आक्रमण किया, और अन्हिलवाड़ा पर कब्जा कर लिया। पर भीम इससे निराश नहीं हुआ, उसने चेदि के कलचूरीराजा कर्णदेव (१०४१-

१०७३) की सहायता से परमार-राज्य पर आक्रमण किया । यह आक्रमण १०५४ ईस्वी के बाद किया गया था, जब कि राजा भोज की मृत्यु हो चुकी थी । कलचूरीराजा भी परमारों के शत्रु थे, और उनके साथ संघर्ष में व्यापृत रहते थे। कलचूरी और चालुक्यों की सम्मिलित शक्ति के सम्मुख भोज के उत्तराधिकारी निर्बल परमारराजा असहाय थे । परमार-राज्य परास्त हो गया, और आक्रान्ताओं ने उसमें खूब लूट-मार की। पर कलचूरी और चालुक्य-राज्यों की मैत्री देर तक स्थिर नही रह सकी। शीघ्र ही उनमें परस्पर युद्ध प्रारम्भ हो गया, और चालुक्यराजा भीम ने चेदि को भी आक्रान्त किया। कलचूरी और चालुक्य-वंशों के इस संघर्ष-काल में परमार-राज्य को अपनी शक्ति के पुनरुद्धार का अवसर मिल गया, और धारा में परमार-वंश का शासन पुनः स्थापित हुआ ।

भीम प्रथम का उत्तराधिकारी उसका पुत्र कर्ण (१०६३–१०९३) था। उसके शासन-काल में अन्हिलवाड़ा के चालुक्यों और धारा के परमारों में निरन्तर संघर्ष होता रहा । कर्ण के बाद जयसिंह सिद्धराज (१०९३-११४३) अन्हिल-वाड़ा के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ। यह इस वंश का सबसे शक्तिशाली राजा था । उसने एक बार फिर परमार-राज्य को परास्त किया, और मालवा (अवन्ती) को अपने आधिपत्य में लाकर अवन्तिनाथ की उपधि धारण की । मालवा से आगे बढ़कर उसने चन्देलराजा मदनवर्मा को भी जीतने का प्रयत्न किया, पर इसमें उसे सफलता नहीं हुई। पर इसमें सन्देह नहीं, कि सिद्धराज बहुत प्रतापी राजा था । मालवा की विजय के कारण उसका साम्राज्य बहुत विस्तृत हो गया था । अन्हिलवाड़ा के राजा बड़े वैभवसम्पन्न थे। इन्होंने सोमनाथ के मंदिर की प्रतिष्ठा को फिर से कायम किया, और अनेक नये मन्दिरों का निर्माण कराया। प्रसिद्ध जैन आचार्य हेमचन्द्र जयसिंह सिद्धराज के आश्रय में ही रहता था।

सिहराज के बाद कुमारपाल अहिलवाड़ा के राज्य का स्वामी बना । उसका शासन-काल ११४३ से ११७१ ईस्वी तक था। उसने न केवल अपने पूर्वजों के राज्य के व्यवस्थित रखा, अपितु अनेक विजययात्रायें भी की । शाकम्भरी के चौहान-राज्य पर आक्रमण कर उसने उसे परास्त किया, और फिर कोंकण के राजा मल्लिकार्जुन के साथ युद्ध किये। सोमनाथ के मदिर को नये सिरे से बनवाकर इस राजा ने बहुत कीर्ति प्राप्त की । जयसिंह नामक कवि ने 'कुमारपाल चरितम्, लिखकर इस राजा के यश को चिरस्थायी कर दिया है, और उससे इस के सम्बन्ध में विशदरूप से परिचय मिलता है ।

अन्हिलवाड़ा का यह चालुक्य-राज्य इतना शक्तिशाली था, कि जब कुमारपाल के उत्तराधिकारी भीम द्वितीय के शासन-काल में ११७८ ईस्वी में शहाबुद्दीन गोरी ने इस राज्य पर आक्रमण किया, तो उसे सफलता नहीं हुई। राजा भीम द्वारा वह परास्त हुआ। ११९७ ईस्वी में कुतुबुद्दीन ऐबक ने इस राज्य पर आक्रमण किया, और इसे जीतकर अपने अधीन कर लिया। पर गुजरात में अफगानों का शासन देर तक कायम नहीं रहा। शीघ्र ही गुजरात अफगानों की अधीनता से स्वतन्त्र हो गया। अलाउद्दीन खिलजी ने अपने साम्राज्य का विस्तार करते हुए गुजरात पर भी आक्रमण किया, और १२९७ में उसे विजय कर लिया।

(१२) पालवंश का अन्त

पालवंश के राजा मदनपाल (११०६–११२५) का उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। वह अपने शासनकाल के अन्तिम भाग में कन्नौज के गहड़वालवंशी राजा गोविन्दचन्द्र के अधीन हो गया था, और उसकी स्थिति एक सामंतराजा के सदृश रह गई थी। मदनपाल के बाद के पाल राजाओं के नाम अविकल रूप से ज्ञात नहीं हैं। केवल राजा गोविंदपाल और पालपाल के नाम मिलते हैं, जो गहड़वालों के सामंत रूप से मगध में राज्य करते थे।

बनारस तक विजय करके गोरी ने मलिक इसामुद्दीन नाम के एक सरदार को पूर्वी उत्तरप्रदेश के क्षेत्र पर शासन करने के लिये नियत किया। उसका एक सेनापति मुहम्मद बिन बख्तियार खिलजी था। उसने पूर्व में आगे बढ़कर मगध पर हमले करने शुरू कये। उन दिनों मगध में कोई भी शक्तिशाली राजा न था। पालवंशी राजाओं की स्थिति एक साधारण जागीरदार व सामंत से अधिक न थी, यद्यपि अभी तक वे पुरानी परम्परा के अनुसार अपने को 'परमेश्वर परमभट्टारक महाराजाधिराज परमसौगत' विशेषण से विभूषित करते थे। गहड़वाल-सम्राटों के परास्त हो जाने के बाद इन पालराजाओं व कर्णाटवंशी नान्यदेव के उत्तराधिकारियों में कुछ भी बल शेष न रहा था। ये मुहम्मद बिन बख्तियार की अफगान-सेनाओं के सम्मुख सर्वथा असहाय थे। इन्होंने उनका कोई भी मुकाबला नहीं किया।

मुहम्मद बिन बख्तियार को रोकने का प्रयत्न यदि किसी ने मगध में किया तो वे उद्दण्डपुर के विहार में रहनेवाले भिक्खु लोग थे। उद्दण्डपुर (बिहारशरीफ) का यह विहार उस समय बौद्ध-धर्म और शिक्षा का बड़ा केंद्र था। वहां सैकड़ों स्थविर और भिक्षु लोग निवास करते थे। वे अंत तक अफगान-सेनापति से लड़ते

रहे। जब सब भिक्षु कतल हो गये, तो मुहम्मद बिन बख्तियार ने उद्दण्डपुर के विहार पर कब्जा कर लिया। वहां उसे पुस्तकों के अनंत भंडार के सिवा और कोई मूल्यवान् वस्तु नही मिली। मुहम्मद को समझ नहीं आया, कि इन पुस्तकों का वह क्या करे। उसने आज्ञा दी, कि पुस्तकालय को आग लगा दी जाय। सदियों के ज्ञान और विद्या का यह अपूर्व भण्डार अब अग्नि के अर्पण कर दिया गया, और मगध पर अफगानों का अधिकार हो गया। पालवंशी सामंतराजाओं में इतनी भी शक्ति नहीं थी, कि वे बौद्ध-भिक्षुओं के साथ कंधे से कंधा मिलाकर इस विदेशी सेनापति का मुकाबला कर सकें।

सेनवंश के राज्य का अन्त——ग्यारहवीं सदी के अन्तिम भाग में जब कि पाल-वंश की शक्ति क्षीण होनी शुरू हो गई थी, बंगाल में एक नये राजवंश का शासन प्रारम्भ हुआ, जो इतिहास में सेनवंश के नाम से प्रसिद्ध है। सेनवंश को 'कर्णाट-क्षत्रिय' कहा गया है। सम्भवतः वे दक्षिण से आये थे। जिस समय दक्षिणापथ के चालुक्यराजा विक्रमादित्य छठे ने उत्तरापथ पर आक्रमण करते हुए बंगाल और आसाम पर चढ़ाई की, तो उसकी सेना में कर्णाटकुल के सैनिक भी थे। विक्रमादित्य ने ग्यारहवी सदी के अन्तिम वर्षों में ही बंगाल पर आक्रमण किया था। ऐसा प्रतीत होता है, कि कतिपय कर्णाट सैनिक नेता चालुक्य-आक्रमण के बाद बंगाल में बस गये थे, और उन्ही में से एक से सेनवंश का प्रारम्भ हुआ।

सेनवंश का प्रथम महत्त्वपूर्ण राजा विजयसेन हुआ। वह पालवंश के राजा मदनपाल (११०६——११२५) का समकालीन था। सम्भवतः, प्रारम्भ में वह मदनपाल के सामन्त रूप से अपने राज्यका शासन करता था। पर बाद में वह स्वतंत्र हो गया, और उसने बंगाल से पालवंश के शासन का अन्त कर दिया। विजयसेन केवल बंगाल का राजा बनकर ही संतुष्ट नहीं हुआ, उसने पूर्व में आसाम और पश्चिम में तिरहुत पर भी आक्र-मण किये। विजयसेन की विजयों के कारण पालवंश का बहुत अपकर्ष हुआ, और उसका राज्य पाटलिपुत्र व उसके समीतवर्ती प्रदेशों तक ही सीमित रह गया। प्राच्य भारत में इस समय सेनवंश का प्रभुत्व था, और उसके गौरव को स्थापित करनेवाले इस राजा के अनेक शिलालेख उपलब्ध हुए हैं। जिनमें उसकी विजयों का उल्लेख है। विजयसेन शैव धर्म का अनुयायी था, और देवपाड़ा में उसने प्रद्युम्नेश्वर शिव के एक विशाल मंदिर का निर्माण कराया था। उसने १०९५ से ११५८ ईस्वी तक शासन किया।

विजयसेन के बाद उसका पुत्र बल्लालसेन सेन-राज्य का स्वामी बना।

उसने भी विजयों की प्रक्रिया को जारी रखा। पर इतिहास में बल्लालसेन का महत्त्व विजयों के कारण इतना नहीं है, जितना कि उसके विद्याप्रेम के कारण है। 'दानसागर' और 'अद्भुतसागर' नाम के दो ग्रंथों की उसने स्वयं रचना की, और अनेक विद्वानों को आश्रय प्रदान किया। यद्यपि सेनवंश के राजा बंगाल के लिये विदेशी थे, पर इस देश में निवास करते हुए वे पूर्णरूप से बंगाली हो गये थे। वर्ण-व्यवस्था की स्थापना के लिये बल्लालसेन ने उस विचार-पद्धति का प्रचार किया, जो बंगाल में कुलीन-प्रथा के नाम से प्रसिद्ध है।

बल्लालसेन के बाद उसका पुत्र लक्ष्मणसेन सुविस्तृत सेन-राज्य का स्वामी बना। वह दिल्ली के चौहान राजा पृथिवीराज और कन्नौज के गहडवालराजा जयचंद का समकालीन था। अपने पिता बल्लालसेन के समान वह भी बड़ा प्रतापी और विजेता था। कामरूप (आसाम) और कलिङ्ग के राजवंशों को परास्त कर इन देशों पर उसने अपना आधिपत्य स्थापित किया, और पूर्व में प्रयाग तथा काशी तक की विजय की। काशी और प्रयाग गहडवालराजा जयचन्द के साम्राज्य में थे, और इनकी विजय लक्ष्मणसेन ने सम्भवतः उस समय की थी, जब वह शहाबुद्दीन गोरी के साथ-युद्ध में व्यापृत था। लक्ष्मणसेन यद्यपि भारत के अनेक राजाओं को युद्ध में परास्त करने में समर्थ हुआ था, पर अफगान-आक्रान्ताओं द्वारा वह बुरी तरह परास्त हुआ। कुतुबुद्दीन ऐबक के जिस सेनापति मुहम्मद बिन बख्तियार खिलजी ने मगध पर आक्रमण कर पालवंश के शासन का अन्त किया था, उसी ने पूर्व की ओर आगे बढ़कर लक्ष्मणसेन के राज्य पर चढाई की। सेनवंश की राजधानी नवद्वीप (नदिया) थी। सम्भवतः, लक्ष्मणसेन इस समय तक बहुत वृद्ध हो चुका था, और राज्य को संभाल सकने की क्षमता उसमें नहीं रह गई थी। मुहम्मद बिन बख्तियार खिलजी ने बिना किसी बाधा के नदिया पर कब्जा कर लिया, और लक्ष्मणसेन ने गंगा को पार कर विक्रमपुर (सोनारगांव के समीप) में आश्रय लिया। अफगान-सेनाओं ने नदिया को बुरी तरह से लूटा, और बंगाल के शासन के लिये लखनौटी को अपनी राजधानी बनाया।

सेनवंश के राजा गंगा के पार पूर्वी बंगाल में इसके (११९९ ई०) बाद भी आधी सदी के लगभग तक शासन करते रहे।

विवेचना—गुप्त-साम्राज्य की शक्ति के क्षीण होने पर भारत में कोई ऐसी राजशक्ति नहीं रह गई थी, जो इस देश में एक सुव्यवस्थित शासन की स्थापना में समर्थ होती। इसमें सन्देह नहीं, कि गुप्तों के बाद भी भारत में अनेक ऐसे

प्रतापी राजा हुए, जिन्होंने उत्तरापथ के बड़े भाग को जीतकर अपने अधीन किया, और दक्षिण में भी विजययात्रायें कीं। यशोधर्मा और हर्षवर्धन जैसे राजाओं ने हूण-आक्रांताओं की बाढ़ को रोकने में अनुपम कर्तृत्व प्रदर्शित किया, और कन्नौज गुर्जर के प्रतीहार-राजाओं ने अरबों की चढ़ाई का सफलतापूर्वक मुकाबला कर कर अपने 'प्रतीहार' विरुद को सार्थक किया। पर इन प्रतापी राजाओं में कोई भी ऐसा नहीं था, जो मौर्यों और गुप्तों के समान भारत को चिरकाल के लिये एक सूत्र में संगठित कर सकता। यही कारण है, जो इस युग में भारत में अनेक राजवंशों ने अपने विविध राज्य स्थापित किये, और उनके महत्त्वाकाक्षी सदा परस्पर संघर्ष में तत्पर रहे। राजनीतिक एकता का अभाव इस काल की सबसे बड़ी निर्बलता थी। इसीलये जब तुर्कों और अफगानों ने भारत पर आक्रमण किया, तो वे सफल हो गये।

सहायक ग्रन्थ

Mazumdar R. C.: Ancient Indian History and Civilization.
Smith V. A.: Early History of India.
Tripathi: History of Ancient India.
Tripathi: History of Kannauj.
Elliott: History of India Vol. I.
Ganguli: History of the Paramara Dynasty
Vaidya C. V.: History of Mediaeval Hindu India Vols. I-III.
Mazumdar R. C.: Early History of Bengal.
Banerji R. D.: Palas of Bengal.
विश्वेश्वरनाथ रेऊ: भारत के प्राचीन राजवंश
टाड: राजस्थान
कल्हण: राजतरङ्गिणी

सैंतीसवां अध्याय

बौद्ध-धर्म की प्रगति और ह्रास

(१) महायान और वज्रयान

महायान धर्म का प्रादुर्भाव—महात्मा बुद्ध के निर्वाण के सौ वर्ष बाद ही बौद्ध धर्म दो निकायों (सम्प्रदायों) में विभक्त हो गया था, जिन्हें स्थविरवाद (थेरवाद) और महासांघिक कहते थे। वैशाली की द्वितीय बौद्ध-महासभा के अवसर पर इन दोनों सम्प्रदायों के भेद ने बहुत स्पष्ट रूप धारण कर लिया था। वैशाली की महासभा के सवा सौ वर्ष बाद जब सम्राट् अशोक मौर्य के समय में (तीसरी सदी ई० पू०) बौद्धों की तीसरी महासभा हुई, तब तक बौद्ध-धर्म में अठारह निकायों का विकास हो गया था। इनमें से छः का सम्बन्ध महासांघिक सम्प्रदाय के साथ था, और बारह का स्थविरवाद के साथ। महासांघिक व उससे सम्बद्ध निकायबुद्ध को अलौकिक व अमानव रूप देने का प्रयत्न कर रहे थे, और स्थविरवादी लोग इस बात के लिये प्रयत्नशील थे, कि बुद्ध के मानव रूप की रक्षा हो।

महासांघिक सम्प्रदाय के साथ सम्बन्ध रखनेवाले छः निकायों में एक निकाय 'वैपुल्यवाद' था। इसी से आगे चलकर महायान की उत्पत्ति हुई। वैपुल्यवादी लोग अन्य बौद्धों से जिन विषयों पर मतभेद रखते थे, वे निम्नलिखित थे—(१) बौद्ध-संघ न दान ग्रहण करता है, न उसे परिशुद्ध करता है, न उसका उपभोग करता है, और न संघ को देने में महाफल है। (२) बुद्ध को दान देने में न महाफल है, न बुद्ध लोक में आकर ठहरे और न उन्होंने धर्मोपदेश किया। (३) किसी विशेष अभिप्राय से मैथुन का सेवन किया जा सकता है। वैपुल्यवादियों की ये तीनों ही बातें ऐसी थीं, जो बौद्ध-धर्म में विप्लव मचाने वाली थीं। विशेषतया, बुद्ध के सम्बन्ध में यह प्रतिपादित करना, कि उन्होंने न कभी मानव-तन धारण कर संसार में प्रवेश किया, और न उन्होंने कभी धर्म का उपदेश किया, एक ऐसा विचार उपस्थित करता था, जिससे बुद्ध पूर्णतया अमानव व अलौकिक बन

जाते थे। वैपुल्यवाद का केंद्र श्रीधान्यकटक के प्रदेश में था, और वहीं से उसका प्रचार (पहली सदी ई० पू० में) सिंहलद्वीप में हुआ था। आचार्य नागार्जुन इसके सबसे महत्त्वपूर्ण प्रचारक थे, और उन्हीं के प्रयत्नों से वैपुल्यवाद का महत्त्व अन्य बौद्ध सम्प्रदायों की अपेक्षा बहुत अधिक बढ़ गया। आगे चल कर वैपुल्यवाद ही महायान के रूप में परिवर्तित हो गया, और महासांघिकों के कतिपय अन्य निकाय भी उसके अन्तर्गत हो गये।

महायान ने जीवन का एक ऊंचा आदर्श जनता के सम्मुख रखा, जिसके अनुसार कोई भी चीज ऐसी नहीं हो सकती, जिसे प्राणिमात्र के हित के लिये अदेय समझा जा सके। इस चरम साधना के लिये महायान ने बोधिसत्व-जीवन का उपदेश दिया। बोधिसत्व वह होता है, जो दूसरों के कल्याण के लिये अपने देश और घर का परित्याग कर देता है, स्त्री और बच्चों का उत्सर्ग कर देता है, अन्धे को दृष्टिदान करने के लिये अपनी आंख निकालकर दे सकता है, भूखे बाघ को अपना शरीर देकर उसकी क्षुधा को शान्त करता है, और परोपकार के लिये किसी कष्ट को कष्ट नही मानता। बुद्धपद प्राप्त करने से पूर्व सिद्धार्थ ने बोधिसत्व के रूप में अनेक जन्म लिये थे, और इसी ढंग से दूसरों का हित-सम्पादन किया था। मनुष्य का आदर्श यही है, कि दुःखतप्त प्राणियों के आर्तिनाशन के लिये अपना सर्वस्व न्योछावर कर बोधिसत्व के रूप में जीवन व्यतीत करे, और अन्त में बुद्ध-पद प्राप्त कर अपना निर्वाण कर ले।

महायान ने दार्शनिक विचारों का विकास कर एक नये सिद्धान्त को उपस्थित किया। इस नये दर्शनशास्त्र के विकास का प्रधान श्रेय आचार्य नागार्जुन और असङ्ग को है। बुद्ध विश्व को क्षण-क्षण परिवर्तनशील मानते थे। उनके अनुसार कोई सत्ता नित्य नही है। नागार्जुन ने 'अनित्यता' के इसी विचार को लेकर शून्यवाद या सापेक्षतावाद का विकास किया। उन्होंने पदार्थ-जगत् हो या आचार-जगत्—सर्वत्र क्षणिकता और अनात्मता के सिद्धान्त का प्रयोग करके सभी वस्तुओं को शून्य या सारशून्य घोषित किया।

प्रायः इतिहास-ग्रन्थों में यह लिखा जाता है, कि कुशाण-राजा कनिष्क ने बौद्ध-धर्म के जिस सम्प्रदाय को स्वीकार किया था, वह महायान था। कनिष्क के संरक्षण व प्रोत्साहन से महायान का बहुत प्रचार हुआ। पर बहुत से बौद्ध विद्वान् इस बात को स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार कनिष्क और अश्वघोष महायान के अनुयायी न होकर 'सर्वास्तिवादी' थे। सर्वास्तिवाद स्थविरवादी निकाय के अन्तर्गत था, और उसका महायान के साथ कोई सम्बन्ध नहीं था। शुरू में महायान

का प्रादुर्भाव श्रीधान्यकटक में हुआ था, जो वैपुल्यवाद-निकाय का केंद्र था। इसके प्रादुर्भाव का समय स्थूल रूप से पहली सदी ई० पू० या उसके कुछ बाद समझा जा सकता है। चौथी सदी ई० प० तक महायान का प्रचार बहुत बढ़ गया था, और वह प्रायः सारे भारत में फैल गया था। भारत से वह उपरले हिन्द (भारत के उत्तर-पश्चिम में स्थित मध्य एशिया का क्षेत्र) में फैला, और चीन, जापान तथा कोरिया को भी उसने आत्मसात् कर लिया। उत्तरी एशिया के इन देशों में अब तक भी महायान बौद्ध-धर्म का प्रचार है।

महायान के अनुयायी अपने से भिन्न सम्प्रदायों को हीनयान कहते थे। इस सम्प्रदाय का प्रचार प्रधानतया सिंहलद्वीप, बरमा और दक्षिण-पूर्वी एशिया के अन्य देशों में हुआ। हीनयान के धार्मिक ग्रन्थ पाली भाषा में हैं, और महायान के संस्कृत में। बौद्धों के धार्मिक साहित्य का परिचय हम पहले एक अध्याय में दे चुके हैं।

वज्रयान-सम्प्रदाय का विकास--भारत में बौद्ध-धर्म का विकास जिस ढंग से हुआ, उसपर प्रकाश डालना आवश्यक है। शुरू में इस धर्म का प्रारम्भिक रूप स्थविरवाद था। फिर महासांघिक निकाय उससे पृथक् हुआ, और धीरे-धीरे ये दो सम्प्रदाय अठारह निकायों के रूप में विकसित हुए। इन अठारह निकायों के अनेक भेद होते गये, और यही कारण है, कि 'कथावत्थु' ग्रन्थ में बौद्ध-धर्म के २१४ सिद्धान्तों पर बहस की गई है। यद्यपि कथावत्थु का रचयिता आचार्य मौद्गलिपुत्र तिष्य को माना जाता है, जो कि अशोक के समय में तीसरी सदी ई० पू० में हुआ था, पर इस ग्रन्थ के अनेक अंश इस काल के बाद भी बने। वैपुल्यवादी सम्प्रदाय और उसके सदृश विचार रखनेवाले अन्य सम्प्रदायों से महायान का विकास हुआ, यह हम अभी लिख चुके हैं। तीसरी सदी के लगभग भारत में महायान का महत्त्व बहुत अधिक बढ़ गया, और कालान्तर में भारत में सर्वत्र उसका प्रचार हो गया। वज्रयान-सम्प्रदाय का विकास महायान से ही हुआ, या यूं कहना अधिक उपयुक्त होगा, कि धीरे-धीरे भारत का महायान ही वज्रयान के रूप में परिवर्तित हो गया। सातवीं सदी से शुरू कर भारत के मध्यकालीन इतिहास में बौद्ध-धर्म का जो रूप प्रचलित था, वह वज्रयान ही था।

जो स्थान पौराणिक हिन्दू-धर्म में वाममार्ग का है, वही बौद्ध-धर्म में वज्रयान का है। तान्त्रिक क्रियाओं का प्रवेश भारत के इन धर्मों में किस प्रकार हुआ, यह विषय बड़े महत्त्व का है। मारण, मोहन, उच्चाटन आदि की अद्भुत शक्ति जिन शब्दों में हो, उन्हें मन्त्र कहा जाता है। न केवल भारत में अपितु संसार के

अन्य प्राचीन देशों में भी यह विश्वास प्रचलित था, कि मन्त्रशक्ति का प्रयोग कर मनुष्य अभिलषित फल प्राप्त कर सकता है। साथ ही लोग यह भी समझते थे, कि जादू-टोना आदि अभिचार-क्रियायें वस्तुतः फलवती होती हैं। आधुनिक युग में भी मनुष्य-समाज का मन्त्रशक्ति और जादू-टोनों में विश्वास पूर्णतया नष्ट नहीं हुआ है। बौद्ध-धर्म के प्रादुर्भाव से पूर्व भी भारत में मन्त्र-शक्ति और अभिचार-क्रियाओं में विश्वास की सत्ता थी। यद्यपि वैदिक युग में लोग प्राकृतिक शक्तियों में दैवी भावना करके, उनके अधिष्ठातृ देवताओं की कल्पना करके याज्ञिक अनुष्ठानों द्वारा उन्हें संतुष्ट करने का प्रयत्न करते थे, पर साथ ही मन्त्र-तन्त्र में भी उनको विश्वास था। इसके लिये वे कई प्रकार की अभिचार-क्रियायें किया करते थे, और उनमें औषधियों का भी प्रयोग होता था। कौटलीय अर्थशास्त्र में इस प्रकार की बहुत सी क्रियाओं का उल्लेख किया गया है, जिनके लिये आचार्य चाणक्य ने 'औपनिषिदिक' शब्द का प्रयोग किया है। ये क्रियायें गुप्त रखी जाती थीं। इन्हें केवल वही व्यक्ति जान सकता था, जो गुरु का अत्यधिक विश्वासपात्र हो। इस दशा में इनके लिये 'औपनिषिदिक' शब्द सर्वथा उपयुक्त था। चाणक्य ने नन्द का विनाश करने के लिये जहां सेना और कूटनीति का प्रयोग किया, वहां साथ ही 'अभिचार-वज्र' से भी काम लिया। कौटलीय अर्थशास्त्र में स्पष्ट रूप से इस बात का उल्लेख है। बौद्ध-धर्म के प्रादुर्भाव के बाद जिस युग में महात्मा बुद्ध के अनुयायियों में तन्त्र-मन्त्र का प्रचलन नहीं था, चाणक्य सदृश आचार्य औपनिषिदिक क्रियाओं का प्रतिपादन करते थे, और अभिचार-वज्र का प्रयोग करते थे।

जब भारत की जनता में तन्त्र-मन्त्र की शक्ति के प्रति विश्वास विद्यमान था, तो यह कैसे सम्भव था, कि बौद्ध-धर्म उससे अछूता रह जाता। यद्यपि बुद्ध अन्धविश्वासों और रहस्यमयी क्रियाओं के विरोधी थे, और जीवन की साधना का ही उपदेश उन्होंने दिया था, पर जब सर्वसाधारण जनता ने उनके धर्म को अपनाया, तो वह अपने मज्जातन्तुगत विश्वासों को कैसे दूर कर सकती थी। परिणाम यह हुआ, कि बौद्ध-धर्म में भी तन्त्र-मन्त्र का प्रवेश हुआ।

बौद्धों के वैपुल्यवादी सम्प्रदाय का यह भी मन्तव्य था, कि विशेष अभिप्राय से भिक्षु और भिक्षुणी मैथुन का भी सेवन कर सकते हैं। बौद्ध-संघ में जो व्यक्ति भिक्षु या भिक्षुणी बनने के लिये प्रव्रज्या ग्रहण करते थे, वे सब बृद्ध या 'लुप्तव्यवाय' ही नहीं होते थे। बहुत से युवक व युवतियां भी प्रव्रज्या ग्रहण कर संघ में शामिल हो जाते थे। भिक्षुओं और भिक्षुणियों को एक साथ रहने का

अवसर नहीं मिलता था, क्योंकि उनके संघ और विहार पृथक्-पृथक् होते थे। पर जो हजारों लाखों युवक-युवतियां प्रव्रज्या ग्रहण कर पीत वस्त्र धारण कर लेते थे, वे सब काम-वासना को वशीभूत करने में समर्थ हों, यह सम्भव नहीं था। भिक्षु बन जाने के बाद भी उनमें मैथुन की इच्छा बनी रहती थी। सम्भवतः, इसीलिये वैपुल्यवादियों ने 'विशेष अभिप्राय' से (एकाभिप्रायेण) मैथुन की अनुमति प्रदान की थी। मानव-शरीर की प्राकृतिक आवश्यकता को गृहस्थाश्रम के सीधे और सरल मार्ग द्वारा पूर्ण न कर सकने के कारण बौद्धों ने 'विशेष अभिप्राय' की आड़ ली, और रहस्यपूर्ण शब्द-जाल द्वारा मैथुन-क्रिया को 'सम्यक् संबुद्ध' बनने के लिये सहायक प्रतिपादित करना प्रारम्भ किया। वज्रगुरु काम-वासना की पूर्ति के लिये मैथुन का सेवन नहीं करता, अपितु सम्यक्संबुद्ध व सिद्ध बनने के विशेष अभिप्राय से ही इसका प्रयोग करता है। वैपुल्यवादियों ने जो विचार-सरणी प्रतिपादित की थी, उसी ने महायान को जन्म दिया। मैथुन-विषयक उनके विचार महायान में भी विद्यमान थे। पर बाद में उन्होंने बड़ा जोर पकड़ा, और वज्रगुरु व सिद्ध बनने के लिये लोग ऐसे उपायों का प्रयोग करने लगे, जो गुह्य और रहस्यमय थे, और जिनमें मैथुन-क्रियाओं को भी स्थान था। आठवीं सदी के बाद जब वज्रयान का भलीभांति विकास हो गया था, वैपुल्यवादियों द्वारा बोया गया बीज एक महान् वृक्ष के रूप में परिणत हो गया, और सिद्धि को प्राप्त करने के इच्छुक साधक लोग भैरवी चक्र की आड़ में ऐसी बातें करने लगे, जो धार्मिक संघ के लिये तो क्या सभ्य समाज के लिये भी घृणास्पद थीं।

वज्रयान के रुप में केवल मैथुन ही बौद्ध-धर्म में प्रविष्ट नहीं हुआ, अपितु तन्त्र-मन्त्र और हठयोग ने भी उसमें महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया। शुरू में बौद्ध लोग अपने धार्मिक सूत्रों (सुत्तों) का पाठ किया करते थे। पर ये सूत्र बहुत बड़े-बड़े थे। इनके पाठ में बहुत समय लगता था। वैपुल्यवादियों ने विचार किया, कि लम्बे-लम्बे सूत्रों के पाठ से जो फल प्राप्त होता है, वह संक्षिप्त शब्द-समूह से भी प्राप्त हो सकना चाहिये, क्योंकि शब्द में विशेष शक्ति होती है, और उस शक्ति के लिये सुदीर्घ सूत्रों की आवश्यकता नहीं होनी चाहिये। इसलिये वैपुल्यवादियों ने कुछ पंक्तियों की छोटी-छोटी 'धारणियां' बनाईं, और उनके पाठ द्वारा भी वही फल माना, जो सूत्रों के पाठ से प्राप्त होता था। पर धारणियोंका पाठभी लोगों को कष्टकर प्रतीत होता था। अतः बाद में मन्त्रों की सृष्टि की गई। जिनमें केवल कुछ शब्द ही होते थे। 'ओं मुने मुने महामुने स्वाहा' 'ओं आ हुं' आदि इसी प्रकार के मन्त्र थे, जिनके जप से बौद्ध लोग अभिलषित फल की आशा रखते थे। मन्त्र-शक्ति के

विश्वास के साथ-साथ यौगिक क्रियाओं ने भी बौद्ध-धर्म में प्रवेश किया। बौद्ध-धर्म के प्रादुर्भाव से पूर्व ही भारत में योगक्रियाएं प्रचलित हो चुकी थीं। इसमें सन्देह नहीं, कि इन क्रियाओं द्वारा शरीर की उन्नति और मानसिक शक्तियों के विकास में सहायता मिलती थी। जनता योगियों के प्रति श्रद्धा रखती थी, और उनके अनेक प्रकार के चमत्कारों को देखकर चमत्कृत भी हो जाती थी। जब जनता को योग में श्रद्धा थी, तो यह कैसे सम्भव था, कि बौद्ध-धर्म के आचार्य इसकी उपेक्षा करते। बौद्ध-धर्म के जो प्रचारक शाक्यकुलोत्पन्न सिद्धार्थ को अलौकिक व अमानव बताकर या मानव-शरीर में बुद्ध की सत्ता से ही इन्कार कर जनता को अपने धर्म में अनुरक्त करने के लिये प्रयत्नशील थे, वे योग-सिद्धियों की उपेक्षा करते, यह सम्भव नहीं था। इस प्रवृत्ति का परिणाम यह हुआ, कि धीरे-धीरे भारत में बौद्ध-धर्म ने एक ऐसा रूप धारण किया, जिसके अनुसार बुद्ध अलौकिक पुरुष थे। जिसके छोटे-छोटे मन्त्र अभिलषित फल प्रदान करनेवाले थे, और जिसके गुरु लोग योगाभिचार-क्रियाओं, गुह्य सिद्धियों और रहस्यमय साधनाओं द्वारा वज्रगुरु या सिद्धपद प्राप्त कर लेते थे। इन सिद्ध गुरुओं को न सदाचारमय जीवन की आवश्यकता थी, और न इन्द्रियजय की। उचित-अनुचित, खाद्य-अखाद्य आदि का कोई विचार इनके सम्मुख नहीं था, क्योंकि ये इन तुच्छ बातों से ऊंचे उठकर सिद्ध दशा को प्राप्त कर चुके थे। जब मनुष्य साधारण जीवन से ऊंचा उठकर सिद्ध बन जाता है, तो उसके लिये कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य व उचित-अनुचित का भेद ही नहीं रह जाता। इन भेदों से ऊंचा उठने के लिये ही वह सब पदार्थों को खाद्य मानता है। स्त्रीमात्र से मैथुन करना अपनी साधना में सहायक समझता है, और मदिरा सेवन को योग-क्रियाओं के लिये आवयश्यक मानता है। आठवीं सदी तक यह वज्रयान भारत में भलीभांति विकसित हो गया था, और जनता इसके सिद्धों के प्रति अत्यधिक आदर भावना रखने लग गई थी।

बौद्ध-धर्म के अन्त के साथ भारत से वज्रयान का भी अब अन्त हो चुका है। पर तिब्बत में यह सम्प्रदाय अब तक भी विद्यमान है। तिब्बत में जब बौद्ध-धर्म का प्रवेश हुआ, तो भारत में वज्रयान का उदय हो चुका था। यही कारण है, कि तिब्बत में वज्रयान का ही प्रचार हुआ। न केवल तिब्बत में अपितु अन्य भी अनेक प्रदेशों में पहले इस सम्प्रदाय का प्रचार रह चुका है, यद्यपि उनसे बौद्ध-धर्म का अन्त हो जाने के साथ ही इसका भी लोप हो गया है।

(२) बौद्ध-धर्म का अन्य देशों में प्रसार

मौर्य और गुप्त-वंशों के शासनकाल में जिस प्रकार विदेशों में बौद्ध-धर्म का

प्रचार हुआ, उसका वर्णन हम इस इतिहास में पहले कर चुके हैं। पर गुप्त-युग के साथ इस प्रक्रिया का अन्त नहीं हो गया। पांचवीं सदी के बाद भी बहुत से भारतीय विद्वान् अन्य देशों में बौद्ध-धर्म का प्रचार करने या धर्म-ग्रन्थों का विदेशी भाषाओं में अनुवाद करने के लिये जाते रहे। पांचवीं सदी से चीन आदि देशों से भी लोगों ने भारत आना शुरू किया, तकि वे जहां बौद्ध-धर्म के पवित्र स्थानों का दर्शन करें, वहां साथ ही धर्म के प्रामाणिक ग्रन्थों को भी प्राप्त करें। इस प्रकरण में हम इसी विषय पर प्रकाश डालेंगे।

कुमारजीव और गुणवर्मन ने गुप्त-सम्राटों के शासनकाल में चीन में बौद्ध-धर्म के प्रसार के लिये जो यत्न किये, उनका निर्देश पहले किया जा चुका है। गुणवर्मन के कुछ समय पीछे ४३५ ई० में आचार्य गुणभद्र मध्यदेश से चीन गये। संस्कृत की पुस्तकों को चीनी भाषा में अनूदित करने के लिये उन्होंने बड़ा प्रयास किया। कुल मिलाकर ७८ बौद्ध-ग्रंथों का चीनी भाषा में अनुवाद किया गया, जिनमें से अब केवल २८ ही प्राप्त होते हैं। ७५ वर्ष की आयु में ४६८ ई० में चीन में ही उनकी मृत्यु हुई। गुणभद्र के बाद ४८१ ई० में धर्मजात यश और छठी सदी में धर्मरुचि, रत्नमति, बोधिरुचि और गौतम प्रज्ञारुचि नाम के विद्वान् भारत के मध्य देश से चीन गये, और बौद्ध-ग्रन्थ का चीनी भाषा में अनुवाद करने तथा धर्म-प्रचार में व्यापृत रहे। चीन के लोग मगध तथा उसके समीप के प्रदेशों को ही मध्यदेश कहते थे, और वहां नालन्दा और काशी उस समय विद्वानों के सबसे बड़े केंद्र थे। ये सब पंडित इन्हीं नगरों के महाविहारों से संबंध रखते थे। भारतीय पंडितों के निरन्तर चीन में जाने का यह परिणाम हुआ, कि उस देश के विहारों में हजारों की संख्या में भारतीय भिक्षु निवास करने लगे। एक अनुश्रुति के अनुसार छठी सदी के शुरू में चीन में भारतीय भिक्षुओं की संख्या तीन हजार के लगभग थी। इन्हीं भारतीय पंडितों के प्रयत्नों का यह परिणाम हुआ, कि बौद्ध-धर्म की दृष्टि से छठी सदी चीन के इतिहास में सुवर्णयुग मानी जाती है। वहां का सम्राट् वू-ती बौद्ध-धर्म का कट्टर अनुयायी था। अपने जीवन के अंतिम भाग में भारतीय आदर्श के अनुसार उसने राज्य का परित्याग कर भिक्षुओं के काषाय वस्त्र धारण कर लिये थे। ५३९ ई० में वू-ती को प्रेरणा से एक चीनी मंडल भारत इस उद्देश्य से आया, कि यहां से बौद्ध-ग्रन्थों को अपने देश में ले जाय। यह मंडल चीन को वापस लौटते हुए परमार्थ नाम के एक प्रसिद्ध विद्वान् को भी अपने साथ ले गया, और इसी के प्रयत्न से चीन में बौद्ध-धर्म के योगाचार-संप्रदाय का प्रवेश हुआ। भिक्षु परमार्थ ने असंग और वसुबंधु के ग्रन्थों का भी चीनी भाषा में

अनुवाद किया। छठी सदी के अन्य भारतीय पंडितों में, जो चीन गये, जिनगुप्त, ज्ञानभद्र, जिनयश और गौतमधर्मज्ञान के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनमें से जिनगुप्त पेशावर का रहनेवाला था, उसने भारतीय धर्मग्रन्थों को चीनी में अनूदित करने के लिये एक संघ की स्थापना की। इस संघ में बहुत-से भारतीय और चीनी पंडित शामिल हुए। इस संघ ने अपने उद्देश्य में अपूर्व सफलता प्राप्त की, और सैकड़ों संस्कृत पुस्तकों का अनुवाद चीनी भाषा में किया।

सातवीं सदी के मध्यभाग में प्रसिद्ध चीनी भिक्षु ह्यूएनत्सांग भारत आया। वह चीन लौटते समय ६५७ बौद्ध-ग्रन्थों को अपने साथ ले गया। चीन में रहने-वाले भारतीय पंडित जो कार्य कर रहे थे, उसमें इन ग्रन्थों से बहुत सहायता मिली। भारत के बौद्ध-धर्म में उस समय बहुत जीवनीशक्ति थी, इसीलिये नये-नये आचार्य दर्शन, धर्म आदि पर नये-नये ग्रन्थों की रचनायें करते रहते थे। चीन के बौद्ध पंडित किसी नये बौद्ध-दर्शन के विकास में प्रयत्नशील नहीं थे, वे अपने धर्मगुरु भारत के विविध आचार्यों द्वारा लिखे ग्रन्थों को अपनी भाषा में पढ़कर ही धर्म व तत्त्वज्ञान की पिपासा को शान्त कर लेते थे। आठवीं सदी के प्रारम्भ में आचार्य अमोघवज्र चीन गया। वह तंत्रशास्त्र का बड़ा पंडित था। मगध के बौद्ध महाविहारों में इस समय तांत्रिक धर्म (वज्रयान) का जोर था। अमोघवज्र ने ४१ तंत्रग्रंथों का चीनी भाषा में अनुवाद किया। चीन के राजा की उसमें अपार श्रद्धा थी। उसने उसे 'राज्यकर्णधार' और 'त्रिपिटक भदन्त' की उपाधियों से विभूषित किया था। अमोघवज्र और उसके अन्य साथियों से ही चीन में तांत्रिक धर्म का प्रवेश हुआ। ९७१ ई० में मञ्जुश्री और फिर ९७३ ई० में धर्मदेव नाम के आचार्य चीन गये। ये नालन्दा के निवासी थे। धर्मदेव ने ४६ ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया। १००४ ईस्वी में धर्मरक्ष अनेक पंडितों के साथ चीन गया। वह भी मगध का निवासी था। ९६ वर्ष की आयु में १०५३ ई० में चीन में ही उसकी मृत्यु हुई। इसके बाद सन् १०५३ में ज्ञानश्री नाम के आचार्य ने मगध से चीन के लिये प्रस्थान किया। संभवतः, यह अंतिम आचार्य था, जो भारत से चीन में धर्म-प्रचार के लिये गया था। ग्यारहवीं सदी के बाद चीनी अनुश्रुति में किसी ऐसे भारतीय पंडित का उल्लेख नहीं मिलता, जो चीन जाकर बौद्ध-धर्म के प्रचार में व्यापृत रहा हो। तुर्कों के जो आक्रमण ग्यारहवीं सदी के शुरू में भारत पर प्रारंभ हो गये थे, उन्होंने इस देश की व्यवस्था और शांति पर कठोर कुठाराघात किया था। इन नये प्रकार के म्लेच्छों व 'यवनों' के आक्रमणों से भारत की जीवनी-शक्ति निर्बल पड़ने लग गई थी, और मगध के महाविहार भी देर तक अपनी सत्ता

को कायम रखने में असमर्थ रहे थे। इसमें सन्देह नहीं, कि मगध और भारत के अन्य प्रदेशों में पंडितों ने चीन जाकर वहां भारतीय धर्म, भाषा, सभ्यता, कला और संस्कृति के प्रचार के लिये जो अनुपम कार्य किया, वह भारत के इतिहास के लिये अत्यन्त गौरव की वस्तु है।

तिब्बत में बौद्ध-धर्म का प्रवेश चौथी सदी में शुरू हुआ था। मौर्यराजा अशोक के समय में जो बौद्ध-प्रचारक हिमवन्त प्रदेश में धर्म-प्रचार के लिये गये थे, सम्भवतः उन्हीं की शिष्य-परम्परा ने बाद में तिब्बत में भी कार्य किया। पर इन आचार्यों के नाम इस समय तक ज्ञात नहीं हुए हैं। तिब्बत में बौद्ध-धर्म का प्रचार विशेष रूप से सातवीं सदी में हुआ। उस समय तिब्बत में स्रोङ-ग्वन्-गम्-पो नाम का प्रतापी राजा राज्य करता था। इसके दो विवाह हुए, एक चीन के किसी राजा की कुमारी से और दूसरा नैपाल के राजा अंशुवर्मन की कन्या भृकुटीदेवी से। ये दोनों कुमारियां बौद्ध-धर्म को माननेवाली थीं। इनके प्रभाव से राजा ने भी बौद्ध-धर्म को अपनाया। इसी वंश में आगे चलकर खि्र-स्रोङ-ल्दे-व्चन तिब्बत का राजा हुआ। इसका एक अमात्य चीन देश का रहनेवाला और कट्टर बौद्ध था। उसके प्रभाव से राजा ने शांतरक्षित नाम के भारतीय आचार्य को तिब्बत आने का निमंत्रण दिया। आचार्य पद्मसम्भव के सहयोग से शांतरक्षित ने तिब्बत में बौद्ध-धर्म का प्रचार किया। आठवीं सदी में इन भारतीय पंडितों ने तिब्बत में अपना काम शुरू किया। ये मगध के निवासी थे। मगध के महाविहारों के अनुरकण में तिब्बत की राजधानी ल्हासा से तीस मील दक्षिण-पूर्व में सम्-ये नामक स्थान पर इन्होंने एक महाविहार का निर्माण कराया। यह वहुत समय तक तिब्बत में ज्ञान और विद्या का केन्द्र रहा। यह अब तक भी विद्यमान है, और तिब्बत के प्रसिद्ध विहारों में गिना जाता है। यह बौद्धों के सर्वास्तिवादी संप्रदाय का महत्त्व-पूर्ण केन्द्र था। शांतरक्षित इसी संप्रदाय के अनुयायी थे। उन्होंने अपने सहयोग के लिये बारह अन्य पंडितों को भारतसे बुलाया,और इनके प्रयत्न से तिब्बती लोग बौद्ध भिक्षु बनने लगे। पद्मसम्भव तांत्रिक अनुष्ठानों में विश्वास करता था, उसके प्रयत्नों से तिब्बत में वज्रयान का प्रवेश हुआ। इनके बाद आर्यदेव, बुद्धकीर्ति, कुमारश्री, कर्णपति, कर्णश्री, सूर्यध्वज, सुमतिसेन और कमलशील आदि अनेक भारतीय आचार्य तिब्बत में गये, और उन्होंने इस दुर्गम देश में भारतीय धर्म के प्रचार का श्लाघनीय प्रयत्न किया। इन आचार्यों में कमलशील का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उसे खास तौर पर भारत से बुलाया गया था। कारण यह, कि एक चीनी बौद्ध भिक्षु, जिसका नाम ह्वा-शंग था, इस समय चीन में बौद्ध

धर्म के शून्यवाद सम्प्रदाय का प्रचार करने में व्यापृत था। भारतीय आचार्य सर्वास्तिवाद और माध्यमिक सम्प्रदायों के अनुयायी थे। ह्वा-शंग का मुकाबला करने के लिये यह आवश्यकता अनुभव हुई, कि भारत से एक प्रकांड पंडित को तिब्बत बुलाया जाय। इसी उद्देश्य से कमलशील तिब्बत गये, और राजा के सभापतित्व में हुई भारी सभा में चीनी भिक्षु के साथ उनका शास्त्रार्थ हुआ। शास्त्रार्थ में कमलशील की विजय हुई, और ह्वां-शंग ने अपने हाथों से ही कमलशील को जयमाला पहनाई। कमलशील का तिब्बत में बड़ा आदर हुआ। उसे लोग दूसरा भगवान् बुद्ध मानने लगे। इस भारतीय आचार्य का विविध मसालों से सुरक्षित किया हुआ शव अब तक तिब्बत के एक विहार में सुरक्षित है, और तिब्बती लोग उसे बड़े सम्मान की दृष्टि से देखते हैं। इन भारतीय विद्वानों ने बौद्ध-धर्म के संस्कृत-ग्रन्थों का तिब्बती भाषा में अनुवाद भी शुरू किया। संस्कृत की पुस्तकों का तिब्बती में अनुवाद करने के लिये जिनमित्र, शीलेन्द्रबोधि, दानशील, प्रज्ञावर्मन, सुरेन्द्रबोधि आदि अनेक भारतीय पंडित तिब्बत बुलाये गये, और इनके प्रयत्नों से न केवल सम्पूर्ण बौद्ध त्रिपिटक,अपितु अन्य भी बहुत से ग्रन्थों का तिब्बती भाषा में अनुवाद किया गया। नवीं सदी में यह प्रक्रिया निरन्तर जारी रही, और अन्य भी अनेक भारतीय पंडित तिब्बत गये। तिब्बत में अनेक लोग ऐसे भी थे, जो बौद्ध-धर्म के द्वेषी थे, और भारतीय आचार्यों के प्रभुत्व को पसंद नहीं करते थे। इनके विरोध के कारण दसवीं सदी में भारतीय पंडितों का तिब्बत जाना कुछ समय के लिये रुक गया। पर ग्यारहवीं सदी में फिर स्मृति, धर्मपाल, सिद्धपाल, गुणपाल, प्रज्ञापाल, सुभूति, श्रीशांति और दीपंकर श्रीज्ञान अतिशा आदि अनेक आचार्य तिब्बत गये। इनमें अतिशा के संबंध में अधिक विस्तार से लिखने की आवश्यकता है। ये विक्रमशिला महाविहार के प्रधान कुलपति थे। इनकी कीर्ति को सुनकर तिब्बत के राजा ने एक दूतमंडल इस उद्देश्य से भेजा था, कि अतिशा को तिब्बत में निमंत्रित करे। सत्तर वर्ष के वृद्ध होने पर भी आचार्य अतिशा तिब्बत गये और वहां जाकर उन्होंने बौद्ध-धर्म को पुनः संगठित किया। अतिशा बहुत बड़े विद्वान् थे, उन्होंने २०० के लगभग ग्रन्थ लिखे, जिनमें पुराने संस्कृत ग्रन्थों के तिब्बती अनुवाद भी सम्मिलित थे। उनकी मृत्यु तिब्बत में ही हुई। ल्हासा से बीस मील की दूरी पर क्यु-ची नदी के तट पर उनकी समाधि अब तक विद्यमान है, और तिब्बती लोग उसे बड़ी श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं। तिब्बत में बौद्धधर्म का जो संगठन आचार्य अतिशा ने किया था, वही कुछ परिवर्तित रूप में अब तक विद्यमान है।

मगध के महाविहारों के विविध बौद्ध-आचार्यों ने चीन और तिब्बत में धर्म और संस्कृति के प्रचार के लिये जो उद्योग किया, वह वस्तुतः अनुपम था।

(३) बौद्ध-धर्म का ह्रास

अनेक गुप्त-सम्राट् और मगध के पालवंशी राजा जिस बौद्ध-धर्म के अनुयायी थे, और जिसके महाविहारों के विद्वान् आचार्य बारहवीं सदी तक ज्ञान और धर्म के सन्देशवाहक होकर सुदूर देशों में जाया करते थे, वह मुसलमानों के आक्रमण के बाद भारत में सर्वथा लुप्त-सा हो गया, यह बात बड़े आश्चर्य की है। मौर्यों के बाद भारत में पौराणिक वैदिक धर्म के पुनरुत्थान का जो आंदोलन शुरू हुआ था, उसका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। भारत के सर्वसाधारण गृहस्थ ब्राह्मणों और श्रमणों का समान रूप से आदर करते थे। वे अपनी स्थानीय परम्पराओं के अनुसार विविध प्रकार के अनुष्ठानों का प्रयोग करते थे, और सब संन्यासियों व भिक्षुओं की एक सदृश सेवा करते थे। विदेशों में जो बौद्ध-प्रचारक गये, वे जनता में एक नई सभ्यता और संस्कृति के सन्देशवाहक थे। वहां के लोग भारत की अपेक्षा बहुत पिछड़े हुए थे। पर भारत में वे केवल धर्म-का नेतृत्व करते थे। यहां उन्हें किसी नई सभ्यता व संस्कृति में जनता को दीक्षित नहीं करना था। बौद्ध-संघ की आन्तरिक शिथिलता के साथ-साथ ज्यों-ज्यों अन्य धर्मों के ब्राह्मणों व संन्यासियों में जीवन और स्फूर्ति बढ़ती गई, त्यों-त्यों बौद्ध-भिक्षुओं का जनता पर प्रभाव कम होता चला गया।

इसके अतिरिक्त, पौराणिक धर्म के पुनरुत्थान के साथ जिन देवी-देवताओं की उपासना का प्रारम्भ हुआ था, वे भारत की प्राचीन परम्परा के अनुसार लोगों के हृदय में गहरा स्थान रखते थे। बौद्ध लोग उनकी उपेक्षा नहीं कर सके। उन्होंने भी उन विविध देवी-देवताओं को नये नामों से अपने धर्म में स्थान देना शुरू किया। मंजुश्री, तारा, अवलोकितेश्वर आदि के रूप में अनेक देवी-देवताओं ने बौद्ध-धर्म भी प्रवेश कर लिया था। बौद्धों के जो बहुत-से सम्प्रदाय व उपसम्प्रदाय धीरे-धीरे विकसित हो गये थे, उन्होंने पौराणिक धर्म से उनके भेद को बहुत कम कर दिया था। तंत्रवाद के प्रवेश से तो शक्ति के उपासक पौराणिक और वज्रयानी बौद्ध एक दूसरे के बहुत समीप आ गये थे। भगवान् के दस अवतारों में पौराणिक लोगों ने बुद्ध को भी शामिल कर लिया था। जिस महाप्रतापी सिद्धार्थ के अनुयायी न केवल भारत में अपितु सुदूर विदेशों में संस्कृत- भाषा, भारतीय धर्म और भारतीय संस्कृति के प्रचार में लगे थे, जिसके स्तूपों, चैत्यों और विहारों

से सारा सभ्य संसार आच्छादित था, वह भगवान् का साक्षात् अवतार नहीं था तो क्या था ? पौराणिक लोग बुद्ध को अवतार मानते थे और बौद्ध लोग भारत के पुराने देवी-देवताओं और दार्शनिक विचारसरणी का अनुसरण करते थे। इस दशा में यदि उनका आपस का भेद बहुत कम रह गया हो, तो यह सर्वथा स्वाभाविक था।

गुप्त-सम्राटों में कुछ वैष्णव, कुछ शैव और कुछ बौद्ध थे। एक ही परिवार में भिन्न-भिन्न व्यक्ति भिन्न-भिन्न धर्मों के अनुयायी हो सकते थे। सम्राट् हर्षवर्धन सूर्य की उपासना करता था, शिव को मानता था और साथ ही बौद्ध स्थविरों में भी श्रद्धा रखता था। पालवंशी राजा बौद्ध थे, पर ब्राह्मण पंडितों को दान देने में और पौराणिक मन्दिरों की सहायता करने में संकोच नहीं करते थे। भारत के विविध धर्मों का भेद इस समय केवल उनके नेताओं में ही शेष रह गया था। बौद्ध भिक्षु अपने महाविहारों में रहते थे, पौराणिक संन्यासी आश्रमों और मठों में निवास करते थे। विविध धर्मों के इन विविध पंडितों में प्रायः शास्त्रार्थ चलते रहते थे। जिस धर्म के पंडित, ब्राह्मण व संन्यासी अधिक विद्वान् व त्यागी होते, वही जनता पर अपना अधिक प्रभाव कायम कर लेता। सातवीं सदी में अनेक ऐसे पौराणिक विद्वान् भारत में हुए, जिन्होंने अपनी विद्वत्ता, तर्क और प्रभाव से सबको चकाचौंध-सा कर दिया। प्रभाकर और कुमारिल भट्ट के नाम इनमें विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। कुमारिल ने बौद्ध-सिद्धान्तों पर आक्रमण किये और वैदिक अनुष्ठानों तथा प्राचीन दर्शनपद्धति के गौरव को पुनरुज्जीवित किया। बाद में शंकराचार्य ने सारे भारत में भ्रमण कर बौद्धों के साथ जगह-जगह पर शास्त्रार्थ किये और बौद्ध-भिक्षुसंघों के मुकाबले में अपने मठों का संगठन किया, जिनमें हजारों संन्यासी विद्याध्ययन में व्यापृत रहने लगे। इन संन्यासियों के सम्मुख बौद्ध-भिक्षुओं का प्रभाव मन्द पड़ गया। बौद्ध-संघ को कायम हुए हजार से ऊपर साल हो चुके थे, वैभवपूर्ण सम्राटों के दान और साहाय्य से उसके पास अपार सम्पत्ति एकत्र हो गई थी। मगध के महाविहारों में हजारों भिक्षु निश्चिन्त होकर आनन्द के साथ जीवन व्यतीत करते थे। उन्हें लोगों के पास भिक्षापात्र लेकर जाने की आवश्यकता अब नहीं रही थी। वे नाम को ही भिक्षु थे। इसके विपरीत आश्रमों और मठों में रहनेवाले संन्यासियों में इस समय नई स्फूर्ति विद्यमान थी। परिणाम यह हुआ, कि भारतीयों की श्रद्धा बौद्ध भिक्षुओं में कम हो गई और वे सन्यासियों के उपदेशों को अधिक आदर के साथ श्रवण करने लगे।

बारहवीं सदी के अन्त में मुसलमानों के आक्रमणो से जब मगध के महाविहार तथा अन्य स्थानों के संघाराम और विहार नष्ट हुए, तो बौद्ध-भिक्षुओं का रहा-सहा प्रभाव भी नष्ट हो गया। उनके स्थान पर सुदूर दक्षिण के संन्यासियों के मठ मुसलमानों के आक्रमणों से बचे रहे। रामानुज, शंकराचार्य आदि ने जिन नये धार्मिक आंदोलनों का सूत्रपात किया था, उनके केन्द्र दक्षिणी भारत में ही थे। वहां के संन्यासी बाद में भी भारत भ्रमण करते हुए जनता को धर्म का मार्ग प्रदर्शित करते रहे। मगध के मुसलिम आक्रान्ताओं द्वारा पराभूत होने और बौद्ध-विहारों के ध्वंस के बाद बहुत से भिक्षु नेपाल और तिब्बत की ओर चले गये थे। मुसलमानों को बौद्ध-भिक्षुओं से बहुत द्वेष था। जब तुर्क लोगों ने मध्य एशिया पर हमले किये थे, तो उस क्षेत्र में भी बौद्ध-धर्म का प्रचार था। वहां भी मुसलमानों ने बौद्ध विहारों और भिक्षुओंका विनाश किया था। भारत में भी उन्हें जब वही विहार और वही भिक्षु दिखाई दिये, तो उन्होंने यहां भी उनके साथ बड़ी क्रूरता का बरताव किया। भारत से बौद्ध धर्म के लोप का यह एक बड़ा कारण था।

वज्रयान के विकास ने ही भारत में बौद्ध-धर्म के ह्रास में बहुत सहायता दी। सातवीं सदी के बाद भारत में जिस बौद्ध-धर्म का प्रचार था, वह मुख्यतया वज्रयान ही था। इस सम्प्रदाय के सिद्ध वज्रगुरु जिस प्रकार का जीवन व्यतीत करते थे, वह अन्धविश्वासी और अन्धभक्त लोगों को चाहे अपने प्रति अनुरक्त रख सके, पर विचारशील लोग उससे कदापि संतोष अनुभव नहीं कर सकते थे। बौद्ध-संघ के पास धन की कमी नहीं थी। इस धन का उपयोग वे अब एक ऐसे विलासपूर्ण व उच्छृंखल जीवन को बिताने में करने लगे थे, जिसे उन्होंने रहस्यमय साधनाओं और जटिल वाग्जाल की आड़ लेकर योगसिद्धि का उपाय मान रखा था। दूसरी तरफ कुमारिल और शंकर जैसे पंडित जहां अगाध विद्वान् थे, वहां साथ ही त्यागी और तपस्वी भी थे। उन्होंने अपने सिद्धान्तों का प्रचार करने के लिये पण्डितों और संन्यासियों की जिन मण्डलियों को संगठित किया, वे पवित्र और तेजस्वी जीवन में विश्वास रखती थीं। परिणाम यह हुआ, कि जनता की श्रद्धा-बौद्ध-धर्म में कम होने लगी, और प्रधानतया उन महाविहारों में ही केन्द्रित रह गया, जिन्हें राजाओं से प्रचुर सहायता प्राप्त होती थी, और जिनके पास अतुल धनराशि संचित थी। इसमें संदेह नहीं, कि कुमारिल और शंकर के बाद भी भारत में बौद्ध धर्म का प्रचार रहा। बंगाल और मगध के पालराजा धर्म से बौद्ध थे। प्रतापी गहडवाल वंश के अनेक राजपुरुषों ने भी बौद्ध-धर्म के प्रति भक्ति प्रदर्शित की थी। कतिपय अन्य राजवंश भी बौद्धधर्म के अनुयायी रहे।

पर इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता, कि मध्य युग में न भारत की बहुसंख्यक जनता ही बौद्ध-धर्म की अनुयायी रही थी, और न उसके बहुसंख्यक राजवंश ही। मौर्यों के बाद वैदिक धर्म का जो पुनरुत्थान हुआ था, वह धीरे-धीरे जोर पकड़ता जा रहा था। कुमारिल और शंकर जैसे पण्डितों के प्रयास के कारण जनता की श्रद्धा वैदिक व पौराणिक सम्प्रदायों के प्रति बढ़ रही थी। इस युग यें वैष्णवों और शैवों में भी यह शक्ति थी, कि वे विदेशी जातियों को अपने में दीक्षित कर सके, और विदेशों में जाकर अपने धर्म का प्रचार करें। मध्ययुग में बौद्ध-धर्म का प्रधान केंद्र मगध था, जहां बौद्ध-धर्म के अनुयायी पालराजाओं का शासन था। अन्यत्र इस धर्म का तेजी के साथ ह्रास हो रहा था। जब मुहम्मद बिन बख्तियार खिलजी जैसे धर्मान्ध आक्रान्ताओं ने बिहार के बौद्ध-केन्द्रों को भूमिसात् कर दिया, तब यह धर्म इस देश से लुप्त हो गया।

(४) भारतीय संस्कृति को बौद्ध-धर्म की देन

यद्यपि बौद्ध-धर्म भारत से लुप्त हो चुका है, पर वह इस देश की संस्कृति, विचारसरणी और जीवन पर अपना गहरा प्रभाव छोड़ गया है। एक हजार साल से भी अधिक समय तक बौद्ध-धर्म का इस देश में प्रचार रहा। इस सुदीर्घ काल में इस धर्म ने यहां के सामाजिक जीवन को इतना अधिक प्रभावित किया कि बौद्ध-धर्म को लुप्त हुए आठ सदी के लगभग समय बीत जाने पर भी उसका प्रभाव अभी तक विद्यमान है। भारत की संस्कृति और जीवन को बौद्धों ने जिस प्रकार प्रभावित किया है, उसका संक्षिप्त रूप से निम्नखित प्रकार से निदर्शन किया जा सकता है—

(१) भारतीय दर्शन पर बौद्ध-धर्म का बहुत अधिक प्रभाव है। प्राचीन समय में वैदिक या आस्तिक दर्शनों का किस प्रकार विकास हुआ, इसपर हम पहले प्रकाश डाल चुके हैं। पर भारतीय दर्शनशास्त्र का विकास प्राचीन काल में ही समाप्त नहीं हो गया था। बौद्ध-युग और बाद के काल में भी उसका विकास जारी रहा। नव्य न्याय प्राचीन न्यायशास्त्र से बहुत अधिक विकसित है। वेदान्त का प्रतिपादन जिस रूप में शंकराचार्य ने किया, वह उपनिषदों व ब्रह्मसूत्रों के वेदान्त से अनेक अंशों में भिन्न है। दर्शनशास्त्र का जिस ढंग से विकास बाद में हुआ उसमें बौद्ध-पण्डितों का बड़ा कर्तृत्व था। भारतीय न्याय शास्त्र का सूत्रपात और विकास करने में अक्षपाद, वात्स्यायन, वाचस्पति, उदयनाचार्य और गंगेशोपाध्याय ने जो कार्य किया, उससे कम महत्त्वपूर्ण

कार्य नागार्जुन, वसुबन्धु, दिङनाग, धर्मकीर्ति, प्रज्ञाकरगुप्त और ज्ञानश्री आदि बौद्ध पंडितों ने नहीं किया। इन बौद्ध-पण्डितों की छाप न्यायशास्त्र पर बहुत अधिक स्पष्ट है। शंकराचार्य के वेदान्तदर्शन पर बौद्ध-विचारसरणी का प्रभाव बहुत अधिक है। शंकर का मायावाद नागार्जुन के शून्यवाद का रूपान्तर है। शंकर सृष्टिकर्त्ता के रूप में ईश्वर की आवश्यकता को नहीं मानता। उसका 'ब्रह्म' सृष्टि का कारण अवश्य है, पर ब्रह्म सृष्टि को बनाता नहीं है, अपितु माया से अवच्छिन्न होकर सृष्टि के रूप में उसका आभासमात्र होता है। शंकर के अनुयायी श्रीहर्ष का 'खण्डनखण्डखाद्य' बौद्धों के माध्यमिक दर्शन से अधिक भिन्न नहीं है। यही कारण है, कि अनेक विचारकों ने शंकर को प्रच्छन्न बौद्ध कहा है। सांख्य जैसा दर्शन जो सृष्टिकर्त्ता ईश्वर को न मानकर कपिल के रूप में एक सर्वाधिक ज्ञानवान् व्यक्ति को गुरु-रूप से प्रतिपादित करता है, वह भी बौद्धदर्शन के प्रभाव का ही परिणाम है। इसमें सन्देह नहीं, कि भारत के दर्शन-शास्त्रों का जिस रूप में आगे चलकर विकास हुआ, उसपर बौद्ध-दर्शनों का प्रभाव बहुत स्पष्ट है।

(२) बौद्ध-धर्म ने याज्ञिक अनुष्ठान और पशुहिंसा के विरुद्ध आवाज उठाई थी। इसीलिये जब शुङ्ग-युग में पुराने वैदिक धर्म का पुनरुत्थान हुआ, तो उसमें यज्ञों और याज्ञिक अनुष्ठानों में पशुबलि का वह स्थान नहीं रहा, जो बौद्धों से पहले था। बौद्ध-धर्म के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में भागवत, शैव आदि जो पौराणिक सम्प्रदाय प्रचलित हुए, वे भक्ति और पूजा-धर्म को यज्ञों की अपेक्षा अधिक महत्त्व देते थे। यदि बौद्ध लोग जीवन की उन्नति के लिये महात्मा बुद्ध को जनता के सम्मुख आदर्श के रूप में पेश करते थे, तो भागवत धर्म के आचार्यों ने कृष्ण और राम को पूर्ण पुरुषों के रूप में उपस्थित किया। यदि बुद्ध की भक्तिद्वारा मनुष्य परमलाभ प्राप्त कर सकता था, तो राम और कृष्ण सदृश लोकोत्तर व्यक्तियों (ईश्वर के अवतारों) की भक्ति भी उसे अभि-लषित फल प्राप्त करा सकती थी। बौद्ध-धर्म में जो स्थान बुद्ध का था, भागवत-धर्म में वही वासुदेव कृष्ण का था। बौद्ध लोग बुद्ध की पूजा के लिये चैत्यों का निर्माण करते थे, उनमें बुद्ध की मूर्ति स्थापित करते थे, तो पौराणिकों ने कृष्ण, राम, शिव, स्कन्द और विशाख की प्रतिमायें बनाकर मन्दिरों में उनकी प्रतिष्ठा करना प्रारम्भ कर दिया था। ज्यों-ज्यों बौद्धों के पूजा-पाठ में आडम्बर की वृद्धि हुई, पौराणिकों ने भी उसका अनुसरण कर अपनी पूजा को जटिल बना लिया। मन्दिरों में कृष्ण व राम की जो मूर्तियां स्थापित होती थीं,

उनका साज-शृंगार किया जाने लगा । उनको संतुष्ट करने के लिये नाचने और गाने की प्रथा शुरू हुई, और उनके आगे भोग लगाया जाने लगा । बौद्धों के वज्रयान के समान पौराणिक धर्म में भी अब ऐसे सम्प्रदाय उत्पन्न हुए, जो अलौकिक सिद्धि प्राप्त करना ही अपना ध्येय मानते थे । शैवों के पाशुपत और कापालक सम्प्रदायों ने बहुत जोर पकड़ा । ये दोनों सम्प्रदाय वज्रयानी बौद्धों के समान सिद्धियों में विश्वास रखते थे, और उसके लिये अनेक रहस्यमय अनुष्ठानों का प्रतिपादन करते थे । बाद में शक्ति सम्प्रदाय बहुत प्रबल हुआ, जो आनन्द भैरवी आदि देवियों की पूजा करता था । इसी सम्प्रदाय को वाममार्ग भी कहते थे ।

(३) बौद्ध-विहारों के अनुसरण में पौराणिक सम्प्रदायों ने मठों का संगठन किया । इन मठों में हजारों संन्यासी या साधु एक साथ रहने लगे, और उनका जीवन बौद्धभिक्षुओं से अधिक भिन्न नहीं रहा । बौद्धों से पूर्व भारत में मठों या विहारों की प्रथा नहीं थी । उस युग में अरण्यों में आश्रमों की सत्ता अवश्य थी, जिनमें तत्त्वचिन्तक ऋषि-मुनि अपने पुत्र-कलत्र के साथ निवास करते थे, और ज्ञानपिपासुओं को उपदेश करते थे । पर प्रव्रज्या द्वारा भिक्षुव्रत लेकर हजारों भिक्षुओं का विहार में निवास करना बौद्ध-धर्म द्वारा ही प्रारम्भ हुआ, और उसी के अनुकरण में पौराणिक सम्प्रदायों के मठ संगठित हुए, जिनमें संन्यास लेकर बहुत से साधु एक साथ निवास करने लगे ।

(४) भारत में विद्या और ज्ञान के विकास में भी बौद्धों ने बहुत भाग लिया । संस्कृत व्याकरण में चन्द्रगोमि का व्याकरण अपना विशेष स्थान रखता है, यद्यपि उसने वैदिक संस्कृत का स्पर्श नही किया, क्योंकि वह बौद्ध था । काशिका-कार जयादित्य और न्यासकार जिनेन्द्रबुद्धि-बौद्ध धर्म के अनुयायी थे । पाणिनि मुनि की अष्टाध्यायी की इन दोनों टीकाओं का व्याकरण-साहित्य में बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है । संस्कृत के अत्यन्त प्रसिद्ध कोश 'अमरकोश' का रचयिता अमरसिह बौद्ध था । आयुर्वेद की रसायन शाखा के विकास में आचार्य नागार्जुन ने बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य किया । कालिदास से पूर्व महाकवि अश्वघोष ने 'बुद्धचरित' और 'सौन्दरानन्द' जैसे महाकाव्य, और 'राष्ट्रपाल' व 'सारिपुत्र' जैसे नाटक लिखकर संस्कृत-काव्य की उस धारा को प्रारम्भ किया, जिसे आगे चलकर कालिदास और भवभूति ने बहुत उन्नत किया । हर्ष ने नागानन्द लिखकर बोधिसत्व के आदर्श का चित्रण किया । हिन्दी-साहित्य के प्रारम्भ का श्रेय भी बौद्ध विद्वानों को ही प्राप्त है । बौद्ध विद्वानों की सदा यह नीति रही,

कि उन्होंने अपने मन्तव्यों का प्रचार करने के लिये ऐसी भाषा का प्रयोग किया, जिसे सर्वसाधारण जनता भलीभांति समझ सकती थी। बुद्ध ने अपने उपदेश पाली भाषा में दिये थे, इसीलिये स्थविरवाद के त्रिपिटक की भाषा पाली ही थी। वज्रयान के विकास होने पर उसके सिद्ध गुरुओं ने एक ऐसी अपभ्रंश भाषा को अपने उपदेशों के लिये प्रयुक्त किया, जो उस समय जनता की भाषा थी, और जो आगे चल कर विकसित होती-होती हिन्दी के रूप में परिवर्तित हो गई। यही कारण है, कि सरहपा सिद्ध को हिन्दी का आदिकवि माना जाता है। यह वज्रयानी सिद्ध सातवीं सदी में हुआ था, और उदाहरण के लिये इसका एक दोहा इस विषय को बहुत स्पष्ट कर देगा—

जह मन पवन न सञ्चरइ, रवि शशि नाह प्रवेश।
तहि वट चित्त विसाम करु, सरहे कहिअ उवेश॥

(५) भारत की मूर्तिकला और वास्तुकला के विकास में बौद्धों ने बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य किया। साञ्ची, बरहुत, गान्धार, मथुरा की कला बौद्धों की ही कृति थी। अजन्ता, बाघ आदि के गुहामन्दिर और उनकी दीवारों पर बनाये गये सुन्दर चित्र बौद्धों द्वारा इस क्षेत्र में किये गये कार्य के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। एलोरा, अजन्ता, कार्ला आदि में पहाड़ काटकर बनाये गये भव्य प्रासाद बौद्ध शिल्पियों की ही कृति हैं। बड़े-बड़े चैत्यों स्तूपों और विहारों के निर्माण में जो कर्तृत्व बौद्धों ने प्रदर्शित किया, वह वस्तुतः अद्भुत था। बौद्धों के प्रयत्न से ही वास्तुकला के ये विविध नमूने भारत में सर्वत्र व्याप्त हो गये, और भारत के जो प्राचीनतम भवन, मूर्ति आदि अविकल व खण्डहर रूप में आजकल उपलब्ध होते है, वे सब प्रायः बौद्धों-द्वारा ही बनवाये गये थे।

(६) अहिंसा, प्राणिमात्र का हित व कल्याण और सदाचारमय जीवन के जो आदर्श बौद्ध-धर्म ने उपस्थित किये थे, वह आज तक भी भारतीयों के जीवन को अनुप्राणित करते हैं। बौद्धों ने अपने धर्म के प्रचार के लिये कभी पाशविक बल का उपयोग नहीं किया। सब प्राणियों के प्रति मैत्रीभावना ही उनकी लोकप्रियता में प्रधान कारण हुई। बौद्धों की इसी भावना का यह परिणाम हुआ, कि इस देश में धार्मिक विद्वेष कभी उस रूप में प्रगट नहीं हुआ, जैसा कि वह अन्यत्र नजर आता है।

(७) महात्मा बुद्ध के सन्देश को विदेशों में दूर-दूर तक फैलाकर बौद्ध-प्रचारकों ने भारतीय भाषा, सभ्यता, संस्कृति और साहित्य को सार्वभौम रूप प्रदान किया। भारत के प्राचीन इतिहास का यह सबसे अधिक उज्ज्वल और

गौरवपूर्ण पहलू है। उत्तर-पश्चिम और दक्षिण-पूर्व के सुविस्तृत क्षेत्रों में किस प्रकार बृहत्तर भारत का विकास हुआ था, इस विषय पर हम विशदरूप से प्रकाश डाल चुके हैं। भारतीय संस्कृति का इस ढंग से इतने विशाल क्षेत्र में प्रसार करने का प्रधान श्रेय बौद्धों को ही प्राप्त है, और यही उनकी भारतीय इतिहास ने सबसे महत्त्वपूर्ण देन है।

सहायक ग्रन्थ

राहुल सांकृत्यायन--बौद्ध संस्कृति
,, --पुरातत्त्व निबन्धावली
,, —दर्शन दिग्दर्शन

अड़तीसवां अध्याय

दक्षिणापथ के विविध राज्य और उनके संघर्ष

(१) वातापी का चालुक्य-वंश

दक्षिणापथ मौर्य-साम्राज्य के अन्तर्गत था। जब मौर्य-सम्राटों की शक्ति शिथिल हुई, और भारत के अनेक प्रदेश उनकी अधीनता से मुक्त होकर स्वतन्त्र होने लगे, तो दक्षिणापथ में सातवाहन-वंश ने अपने एक पृथक् राज्य की स्थापना की, जिसका वृत्तान्त हम पिछले एक अध्याय में लिख चुके हैं। कालान्तर में इस सातवाहन-वंश का बहुत उत्कर्ष हुआ, और इसने मगध पर भी अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। शकों के साथ निरन्तर संघर्ष के कारण जब इस राजवंश की शक्ति क्षीण हुई, तो दक्षिणापथ में अनेक नये राजवंशों का प्रादुर्भाव हुआ, जिनमें वाकाटक, कदम्ब और पल्लव वंशों के नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। वाकाटक-वंश के राजा बड़े प्रतापी थे, और उन्होंने विदेशी कुशाणों की शक्ति का क्षय करने में बहुत अधिक कर्तृत्व प्रदर्शित किया था। इन राजाओं ने अपनी विजयों के उपलक्ष्य में अनेक अश्वमेध-यज्ञों का भी अनुष्ठान किया। पांचवीं सदी के प्रारम्भ में गुप्तों के उत्कर्ष के कारण इस वंश के राज्य की स्वतन्त्र सत्ता का अन्त हुआ। कदम्ब-वंश का राज्य उत्तरी कनारा, बेलगांव और धारवाड़ के प्रदेशों में था। प्रतापी गुप्त-सम्राटों ने इसे भी गुप्त-साम्राज्य की अधीनता में लाने में सफलता प्राप्त की थी। पल्लव-वंश की राजधानी काञ्ची (काञ्जीवरम्) थी, और सम्राट् समुद्रगुप्त ने उसकी भी विजय की थी। गुप्त-साम्राज्य के क्षीण होने पर उत्तरी भारत के समान दक्षिणापथ में भी अनेक राजवंशों ने स्वतन्त्रतापूर्वक शासन करना प्रारम्भ किया, और इस अध्याय में हम इन्हीं के इतिहास पर संक्षिप्त रूप से प्रकाश डालेंगे।

दक्षिणापथ के राज्यों में चालुक्य-वंश और राष्ट्रकूटवंश द्वारा स्थापित राज्य प्रधान थे। उनके अतिरिक्त देवगिरि के यादववंश, वारङ्गल के काकतीयवंश,

कोंकण के शिलाहारवंश, बनवासी के कदम्बवंश, तलकाड के गंगवंश और द्वारसमुद्र के होयसलवंश ने भी इस युग में दक्षिणापथ के विविध प्रदेशों पर शासन किया। जिस प्रकार उत्तरी भारत में विविध राजवंशों के प्रतापी व महत्त्वाकांक्षी राजा विजययात्रायें करने और अन्य राजाओं को जीतकर अपना उत्कर्ष करने के लिये तत्पर रहते थे, वही दशा दक्षिणापथ की भी थी। इस परिस्थिति में भारत के बड़े भाग में राजनीतिक एकता का प्रश्न तो उत्पन्न ही नहीं होता था, दक्षिणापथ भी किसी एक शक्तिशाली राजसूत्र में संगठित नहीं था।

पुलकेशी प्रथम—दक्षिणापथ में चालुक्यवंश के राज्य की स्थापना छठी सदी के मध्य भाग में हुई, जब कि गुप्त-साम्राज्य का क्षय प्रारम्भ हो चुका था। पुरानी अनुश्रुति के अनुसार चालुक्य लोग उत्तरी भारत के निवासी थे, और किसी समय उन्होंने अयोध्या में शासन भी किया था। उनका प्राचीन इतिहास अन्धकार में है, पर यह निश्चित है, कि ५४३ ईस्वी तक पुलकेशी नामक चालुक्यराजा वातापी (बीजापुर जिले में, बादामी) को राजधानी बना कर अपने पृथक् व स्वतन्त्र राज्य की स्थापना कर चुका था। ऐसा प्रतीत होता है, कि उसने वातापी के समीपवर्ती प्रदेशों को जीत कर अपनी शक्ति का विस्तार किया था, और इसी उपलक्ष्य में अश्वमेध-यज्ञ भी किया था। अश्वमेध-यज्ञ के अनुष्ठान से सूचित होता है, कि वह अच्छा प्रबल और दिग्विजयी राजा था।

कीर्तिवर्मा—पुलकेशी प्रथम के बाद उसका पुत्र कीर्तिवर्मा ५६७ ई० के लगभग वातापी के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ। अपने पिता के समान वह भी प्रतापी और विजेता था। एक उत्कीर्ण लेख के अनुसार उसने मौर्यों, कदम्बों और नलों को परास्त किया, और मगध, बंग, चोल तथा पांड्य देशों में विजययात्रायें कीं। कदम्बवंश का शासन वातापी के दक्षिण-पूर्व में था, और सम्भवत: मौर्य और नलवंशों के छोटे-छोटे राज्य भी दक्षिणापथ में विद्यमान थे। मगध, बंग, चोल और पाण्ड्य देशों में विजययात्रा से यह परिणाम निकलता है, कि इस युग के अन्य अनेक महत्त्वाकांक्षी राजाओं के समान चालुक्यवंशी कीर्तिवर्मा ने भी अनेक देशों को अपना अधिपति मानने के लिये विवश किया था।

पुलकेशी द्वितीय—कीर्तिवर्मा के बाद उसके पुत्र पुलकेशी को राजा बनना चाहिये था। पर उसके चाचा (कीर्तिवर्मा के भाई) मंगलेश ने बल का प्रयोग करके वातापी की राजगद्दी पर अधिकार कर लिया, और कुछ समय तक

अपने अग्रज द्वारा स्थापित राज्य का उपभोग किया। पर इस बीच में पुलकेशी भी शान्त नहीं बैठा था। उसने राज्य प्राप्त करने का प्रयत्न जारी रखा, और गृह-युद्ध द्वारा मंगलेश को मारकर राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ।

वातापी के चालुक्यवंश में पुलकेशी द्वितीय सबसे अधिक शक्तिशाली और प्रसिद्ध हुआ है। मंगलेश और पुलकेशी के गृह-कलह के अवसर पर चालुक्य-वंश की शक्ति बहुत क्षीण हो गई थी, और कीर्तिवर्मा द्वारा विजित अनेक प्रदेश फिर से स्वतन्त्र हो गये थे। इतना ही नहीं अनेक अन्य राजाओं ने भी चालुक्य-राज्य पर आक्रमण प्रारंभ कर दिये थे। इस दशा में पुलकेशी द्वितीय ने बहुत धीरता और शक्ति का परिचय दिया। उसने न केवल विद्रोही प्रदेशों को फिर से विजय किया, अपितु अनेक नये प्रदेशों की भी विजय की। राजसिंहासन पर आरूढ़ होने के बाद पुलकेशी द्वितीय ने मैसूर के गंगवंश, उत्तर कोंकण के मौर्यवंश और मलाबार के अनूपवंश को परास्त किया। लाटदेश (दक्षिणी गुजरात), मालवा और गुर्जरों ने भी पुलकेशी द्वितीय के सम्मुख सिर झुकाया, और इस प्रकार उत्तर दिशा में भी उसने अपनी शक्ति का विस्तार किया। इतना ही नहीं, उत्तर-पूर्व की ओर आगे बढ़कर उसने दक्षिण कोशल और कलिङ्ग को परास्त किया। दक्षिण दिशा में विजययात्रा करते हुए पुलकेशी द्वितीय ने वेङ्गि (कृष्णा और गोदावरी नदियों के बीच में स्थित) के राज्य को जीता और फिर पल्लववंश के राजा को बुरी तरह परास्त कर काञ्ची (काञ्जीवरम्) के समीप तक पहुंच गया। कावेरी नदी को पार कर इस प्रतापी चालुक्य राजा ने चोल, पाण्ड्य और केरल राज्यों को अपनी अधीनता स्वीकृत करने के लिये विवश किया। इन विजयों के कारण पुलकेशी द्वितीय विन्ध्याचल के दक्षिण के सम्पूर्ण दक्षिणी भारत का अधिपति बन गया, और विन्ध्याचल के उत्तर के भी कतिपय प्रदेश उसके शासन में आ गये। इसमें संदेह नहीं, कि पुलकेशी द्वितीय अपने समय का सबसे अधिक शक्तिशाली राजा बन गया।

कन्नौज का सम्राट् हर्षवर्धन पुलकेशी का समकालीन था। वह भी उत्तरी भारत में अपने साम्राज्य की स्थापना में तत्पर था। नर्मदा नदी के उत्तर के सब प्रदेश उसकी अधीनता को स्वीकृत करते थे। वस्तुतः इस समय भारत में दो ही प्रधान राजशक्तियां थीं, उत्तर में हर्षवर्धन और दक्षिण में पुलकेशी द्वितीय। यह स्वाभाविक था, कि उनमें संघर्ष होता। नर्मदा नदी के तट पर दक्षिणी और उत्तरी राजशक्तियों में घोर युद्ध हुआ, जिसमें पुलकेशी द्वितीय हर्षवर्धन को परास्त करने में सफल हुआ। अपनी हस्तिसेना के विनाश के

कारण हर्षवर्धन 'भयविगलित' हो गया, और नर्मदा के दक्षिण में अपने राज्य के विस्तार के विचार का उसने सदा के लिये त्याग कर दिया। हर्षवर्धन के मुकाबले में सफल होकर ही पुलकेशी द्वितीय सुदूर दक्षिण की विजय के लिये प्रवृत्त हुआ था, और उसने वेङ्गि और काञ्ची को परास्त करते हुए चोल, पाण्ड्य और केरल राज्यों को भी अपने अधीन किया था।

पर इस युग के अन्य भारतीय राजाओं के समान पुलकेशी द्वितीय भी किसी स्थिर साम्राज्य की नींव डाल सकने में असमर्थ रहा। पल्लव आदि शक्तिशाली राजवंशों के राजाओं को युद्ध में परास्त कर उन्हें वह अपना वशवर्ती बनाने में अवश्य सफल हुआ था, पर उसने उनका मूलोच्छेद नहीं किया था। इसीलिये जब पल्लवराज नरसिंहवर्मा ने अपने राज्य की शक्ति को पुनः संगठित किया, तो वह न केवल चालुक्यराज की अधीनता से मुक्त ही हो गया, अपितु एक शक्तिशाली सेना को साथ लेकर उसने चालुक्यों के राज्य पर भी आक्रमण किया, और युद्ध में पुलकेशी को मारकर वातापी पर अधिकार कर लिया। इस युग की राजनीतिक दशा के स्पष्टीकरण के लिये इस घटना का महत्त्व बहुत अधिक है। जो पल्लववंश शुरू में चालुक्यों द्वारा बुरी तरह परास्त हुआ था, एक नये महत्त्वाकांक्षी राजा के नेतृत्व में वह इतना अधिक शक्तिशाली हो गया था, कि उसने चालुक्य-साम्राज्य को जड़ से हिला दिया था। इस काल में साम्राज्यों के निर्माण और विनाश सम्राट् के वैयक्तिक शौर्य और योग्यता पर ही आश्रित थे, और उनमें कोई निजी शक्ति ऐसी नहीं थी, जो उनकी सत्ता को स्थायी बना सके।

अपने उत्कर्ष-काल में चालुक्य-साम्राज्य इतना विस्तृत और शक्तिशाली था, कि पुलकेशी द्वितीय ने ईरान के शाह खुसरू द्वितीय के पास अपने राजदूत भेजे थे। ये दूत ६५२ ईस्वी में ईरान गये थे। बदले में खुसरू द्वितीय ने भी अपने दूत पुलकेशी की सेवा में भेजे। अजन्ता के एक चित्र में ईरान-राजदूत के आगमन को अंकित भी किया गया है।

चीनी यात्री ह्यु एनत्सांग—भारत भ्रमण करते हुए चीनी यात्री ह्यु एनत्सांग ने दक्षिणापथ का भी पर्यटन किया था। उसने पुलकेशी द्वितीय के शौर्य और गुणों की बहुत प्रशंसा की है। दक्षिणापथ के सम्बन्ध में उसके ये वाक्य उल्लेखनीय हैं—"यहां के लोग ईमानदार और सरल प्रकृति के हैं। वे कद में ऊंचे होते हैं, और बड़े मजबूत व प्रतिशोध की प्रवृत्तिवाले हैं। अपने हितकर्त्ताओं के प्रति वे कृतज्ञ रहते हैं, और शत्रुओं के प्रति अत्यन्त कठोर। यदि कोई उनका अपमान

करे, तो उसका बदला चुकाने के लिये वे जान पर खेल जाने में भी संकोच नहीं करते। यदि कोई व्यक्ति मुसीबत में हो, तो वे उसकी सहायता के लिये अपन आपको भी भूल जाते हैं।........यदि कोई सेनापति युद्ध में परास्त हो जाय, तो उसे वे कोई दण्ड नहीं देते, अपितु उसे स्त्रियों के कपड़े पहना देते हैं....जब वे रणक्षेत्र में जाने लगते हैं, तो शराब पीकर सुध-बुध भूल जाते हैं। इस प्रकार मद-मस्त होकर इस देश के सैनिक अकेले दस हजार शत्रुओं का मुकाबला करते हैं....। लोगों को विद्या से प्रेम है।"

विक्रमादित्य प्रथम—यद्यपि पल्लवराज नरसिंहवर्मा से युद्ध करते हुए पुलकेशी द्वितीय की मृत्यु हो गई थी, और वातापी पर भी पल्लवों का अधिकार हो गया था, पर इससे चालुक्यों की शक्ति का अन्त नहीं हो गया। पुलकेशी द्वितीय के बाद उसका पुत्र विक्रमादित्य प्रथम चालुक्यों का अधिपति बना। वह अपने पिता के समान ही वीर और महत्त्वाकांक्षी था। उसने न केवल वातापी को पल्लवों की अधीनता से मुक्त किया, अपितु तेरह वर्षों तक निरन्तर युद्ध करने के बाद पल्लवराज की शक्ति को बुरी तरह से कुचलकर ६५४ ईस्वी में काञ्ची की भी विजय कर ली। काञ्ची को जीतकर उसने चोल, पाण्ड्य और केरल राज्यों पर आक्रमण किया, और उन्हें अपनी अधीनता स्वीकृत करने के लिये विवश किया। ये राज्य पुलकेशी द्वितीय के अधीन थे, पर उसकी पराजय के बाद स्वतन्त्र हो गये थे। इस प्रकार विक्रमादित्य प्रथम चालुक्य साम्राज्य के पुनरुद्धार में सफल हुआ।

विक्रमादित्य द्वितीय—विक्रमादित्य प्रथम की मृत्यु के बाद उसका पुत्र विनयादित्य (६८० ई० प० के लगभग) वातापी के सुविशाल साम्राज्य का स्वामी बना। उसके समय में चालुक्य-साम्राज्य की शक्ति अक्षुण्ण बनी रही। विनयादित्य के बाद उसका पुत्र विजयादित्य और फिर विक्रमादित्य द्वितीय वातापी के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुए। पल्लवों को अपनी अधीनता में रखने के लिये उसने अनेक युद्ध किये, और एक बार फिर काञ्ची पर कब्जा किया। पर इस प्रतापी राजा के शासन-काल की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना अरबों का भारत-आक्रमण है। ७१२ ईस्वी में अरबों ने सिन्ध को जीतकर अपने अधीन कर लिया था, और स्वाभाविक रूप से उनकी यह इच्छा थी, कि भारत में और आगे अपनी शक्ति का विस्तार करें। उन्होंने लाटदेश पर आक्रमण किया, जो इस समय चालुक्य-साम्राज्य के अन्तर्गत था। पर विक्रमादित्य द्वितीय के शौर्य के कारण उन्हें अपने प्रयत्न में सफलता नहीं हुई,

और यह प्रतापी चालुक्यराजा अरब-आक्रमण से अपने साम्राज्य की रक्षा करने में समर्थ रहा।

चालुक्य-शक्ति का अन्त—विक्रमादित्य द्वितीय के बाद ७४७ ईस्वी के लगभग कीर्तिवर्मा द्वितीय विशाल चालुक्य-साम्राज्य का स्वामी बना। पर वह अपने पूर्वजों द्वारा स्थापित साम्राज्य को कायम रखने में असमर्थ हुआ। दन्तिदुर्ग नामक राष्ट्रकूट-नेता ने उसे परास्त कर महाराष्ट्र में एक नये राजवंश की नींव डाली, और धीरे-धीरे राष्ट्रकूटों का यह वंश इतना अधिक शक्तिशाली हो गया कि, उसने चालुक्यों का अन्त कर दक्षिणापथ पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। चालुक्यों के राज्य का अन्त ७५३ ईस्वी के लगभग हुआ। वातापी के चालुक्यराजा न केवल वीर और विजेता था, अपितु उन्होंने साहित्य वास्तुकला आदि के संरक्षण व संवर्धन की ओर भी ध्यान दिया इस क्षेत्र में इनके कर्तृत्व पर हम एक अगले अध्याय में मध्यकाल की संस्कृति पर विचार करते हुए प्रकाश डालेंगे।

(२) मान्यखेट के राष्ट्रकूट

जिन राष्ट्रकूटों ने अपनी शक्ति का विकास कर वातापी के चालुक्य-साम्राज्य की इतिश्री कर दी थी, उनके उद्‌भव के सम्बन्ध में ऐतिहासिकों में बहुत मतभेद है। उनके मूल निवास के विषय में डा० अल्तेकर ने यह मत प्रतिपादित किया है, कि वे शुरू में कर्णाटक के रहनेवाले थे, और वहीं से मान्यखेट आये थे। प्राचीन भारत में बहुत से छोटे-छोटे राज्यों की सत्ता थी, और उनमें विविध राजवंशों का शासन होता था। शक्तिशाली राजा व सम्राट् इनको जीतकर अपना वशवर्ती बना लेते थे, पर इनका मूलोच्छेद नहीं करते थे। इसीलिये अवसर पाकर कोई भी राजवंश अपनी शक्ति का उत्कर्ष करने में समर्थ हो जाता था।

दन्तिदुर्ग—राष्ट्रकूट-वंश के उत्कर्ष का प्रारम्भ दन्तिदुर्ग द्वारा हुआ। पर उससे पहले भी इस वंश के राज्य की सत्ता थी, यद्यपि उस समय इनका राज्य स्वतन्त्र नहीं था। सम्भवतः, वह चालुक्य-साम्राज्य के अन्तर्गत था। दन्तिदुर्ग ने न केवल अपने राज्य को चालुक्यों की अधीनता से मुक्त किया, अपितु अपनी राजधानी मान्यखेट (मालखेट) से बाहर जाकर दूर-दूर तक के प्रदेशों की विजय भी की। उत्कीर्ण लेखों में दन्तिदुर्ग द्वारा विजित प्रदेशों में काञ्ची, कोशल, मालवा और लाट को अन्तर्गत किया गया है। कोशल का अभिप्राय सम्भवतः महाकोशल से है। महाकोशल, मालवा और लाट (गुजरात) को

जीतकर वह निःसन्देह दक्षिणापथपति बन गया था, क्योंकि महाराष्ट्र में तो उसका अपना शासन था ही। काञ्ची की विजय के कारण दक्षिणी भारत का पल्लवराज्य भी उसकी अधीनता में आ गया था। जो प्रदेश वातापी के चालुक्य-सम्राटों की अधीनता में थे, प्रायः वे सब अब दन्तिदुर्ग के आधिपत्य में आ गये थे। दक्षिणापथ के क्षेत्र में राष्ट्रकूट-वंश चालुक्यों का उत्तराधिकारी बन गया था।

कृष्णराज—दन्तिदुर्ग के कोई पुत्र नहीं था। अतः उसकी मृत्यु के बाद उसका चाचा कृष्णराज मान्यखेट के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ। राष्ट्रकूटों द्वारा परास्त होने के बाद चालुक्यों की शक्ति का अभी पूर्णरूप से अन्त नहीं हुआ था। उन्होंने एक बार फिर अपने उत्कर्ष का प्रयत्न किया। पर उन्हें सफलता नहीं हुई। चालुक्यों की शक्ति को अविकल रूप से नष्ट करके राष्ट्रकूटराजा कृष्णराज ने कोंकण और वेङ्गि की भी विजय की। पर कृष्णराज की ख्याति उसकी विजययात्राओं के कारण उतनी नहीं है, जितनी कि उस कैलाशमन्दिर के कारण है, जिसका निर्माण उसने एलोरा में पहाड़ को काटकर कराया था। एलोरा के गुहामन्दिरों में कृष्णराज द्वारा निर्मित कैलाशमन्दिर बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है, और उसकी कीर्ति को चिरस्थायी रखने के लिये पर्याप्त है।

ध्रुव—७७२ ईस्वी में कृष्णराज की मृत्यु होने पर उसका पुत्र गोविन्द राजा बना। वह भोग-विलास में मस्त रहता था, और राज्यकार्य की उपेक्षा करता था। आठवीं सदी में कोई ऐसा व्यक्ति सफलतापूर्वक राजपद नहीं संभाल सकता था, जो 'उद्यत दण्ड' न हो। उसके शासन-काल में ही राज्य का वास्तविक सञ्चालन उसके भाई ध्रुव के हाथों में था। अवसर पाकर वह स्वयं राजसिंहासन पर आरूढ़ हो गया। ध्रुव का शासनकाल ७७९ ईस्वी में शुरू हुआ। इस युग में उत्तरी भारत में दो राजशक्तियां प्रधान थीं, गुर्जरप्रतीहार राजा और मगध के पालवंशी राजा। गुर्जरप्रतीहारराजा वत्सराज और पालराजा धर्मपाल राष्ट्रकूटराजा ध्रुव के समकालीन थे। उत्तर-भारत के ये दोनों राजा प्रतापी और महत्त्वाकांक्षी थे, और इनके राज्यों की दक्षिणी सीमा राष्ट्रकूटराज्य के साथ लगती थी। अतः यह स्वाभाविक था, कि इनका राष्ट्रकूटों के साथ संघर्ष हो। यह संघर्ष ध्रुव के समय में ही शुरू हो गया था, पर उसके उत्तराधिकारियों के शासनकाल में इसने बहुत उग्र रूप धारण किया।

शुरू में ध्रुव की शक्ति अपने भाई गोविन्द के साथ संघर्ष में व्यतीत हुई।

अनेक सामन्तराजा और जागीरदार ध्रुव के विरोधी थे, और गोविन्द का पक्ष लेकर युद्ध के लिये तत्पर थे। ध्रुव ने उन सबको परास्त किया, और अपने राज्य में सुव्यवस्था स्थापित कर दक्षिण की ओर आक्रमण किये। माइसूर के गंगवंश को परास्त कर उसने काञ्ची पर हमला किया, और पल्लवराज्य को एक बार फिर राष्ट्रकूटों की अधीनता स्वीकृत करने के लिये विवश किया। दक्षिण की विजय के बाद वह उत्तर की ओर बढ़ा। सबसे पूर्व भिनमाल के गुर्जरप्रतीहारराजा वत्सराज के साथ उसकी मुठभेड़ हुई। वत्सराज परास्त हो गया, और अब ध्रुव ने कन्नौज पर आक्रमण किया। इस समय कन्नौज का राजा इन्द्रायुध था। वह ध्रुव का सामना नहीं कर सका, और राष्ट्रकूटविजेता की अधीनता को स्वीकृत करने के लिये विवश हुआ। कन्नौज के राज्य को अपना वशवर्ती बनाने के उपलक्ष्य में ध्रुव ने गंगा और यमुना को भी अपने लाञ्छनों (राजचिह्नों) में शामिल किया। इस प्रकार अनेक राज्यों की विजय कर ७९४ ई० में ध्रुव की मृत्यु हुई।

गोविन्द तृतीय—अब ध्रुव का पुत्र गोविन्द तृतीय जगत्तुङ्ग राष्ट्रकूटराज्य का स्वामी बना। वह ध्रुव का ज्येष्ठ पुत्र नहीं था, पर उसकी योग्यता को दृष्टि में रखकर उसके पिता ने उसे ही अपना उत्तराधिकारी नियत किया था। ध्रुव का ज्येष्ठ पुत्र स्तम्भ था, जो गंगवाडी (जो प्रदेश पहले गंगवंश के शासन में था, पर अब जो राष्ट्रकूटों के अधीन हो गया था) में अपने पिता के प्रतिनिधि रूप में शासन कर रहा था। उसने अपने छोटे भाई के विरुद्ध विद्रोह कर दिया, पर वह सफल नहीं हो सका। शीघ्र ही गोविन्द तृतीय उसे परास्त करने में समर्थ हुआ। अपने भाई के विरुद्ध आक्रमण करने के अवसर पर ही गोविन्द तृतीय ने वेङ्गि और काञ्ची पर पुनः हमले किये, और इनके राजाओं को अपना वशवर्ती होने के लिये विवश किया। सम्भवतः ये राजा गोविन्द और स्तम्भ के गृहयुद्ध से उत्पन्न परिस्थिति से लाभ उठाकर स्वतन्त्र हो गये थे।

दक्षिणी भारत में अपने शासन को भलीभांति स्थापित कर गोविन्द तृतीय ने उत्तरी भारत की ओर रुख किया। गोविन्द तृतीय के पिता ध्रुव ने भिनमाल के राजा वत्सराज को परास्त कर अपने अधीन कर लिया था। पर ध्रुव की मृत्यु के बाद राष्ट्रकूटराज्य में जो अव्यवस्था उत्पन्न हो गई थी, उससे लाभ उठाकर भिनमाल के गुर्जरप्रतिहारराजा अपनी शक्ति की पुनः स्थापना के लिये तत्पर हो गये थे। वत्सराज के बाद गुर्जरप्रतिहारवंश का राजा इस समय नागभट था। गोविन्द तृतीय ने उसके साथ युद्ध किया, और

८०७ ईस्वी में उसे परास्त किया। गुर्जरप्रतिहारों को अपना वशवर्ती बनाकर राष्ट्रकूटराजा ने कन्नौज पर आक्रमण किया। इस समय कन्नौज के राजसिंहासन पर राजा चक्रायुध आरूढ़ था, जो पालवंशी राजा धर्मपाल की सहायता से इन्द्रायुध के स्थान पर कन्नौज का अधिपति बना था। उसकी स्थिति पालसम्राट् के महासामन्त के सदृश थी, और उसकी अधीनता में अन्य बहुत से राजा सामन्त के रूप में शासन करते थे। चक्रायुध गोविन्द तृतीय द्वारा परास्त हुआ, और इस विजययात्रा में राष्ट्रकूटराजा ने हिमालय तक के प्रदेश पर अपना आधिपत्य स्थापित किया। पालवंशी राजा धर्मपाल भी गोविन्द तृतीय के सम्मुख असहाय था। कन्नौज के राजा चक्रायुध द्वारा शासित प्रदेश पाल-साम्राज्य के अन्तर्गत थे, पर धर्मपाल में यह शक्ति नहीं थी, कि वह राष्ट्रकूट-आक्रमणों से इनकी रक्षा कर सकता। राष्ट्रकूटों के उत्कर्ष के कारण पालवंश का शासन केवल मगध और बंगाल तक ही सीमित रह गया था। गोविन्द तृतीय के आक्रमणों और विजयों का वर्णन करते हुए पेशवाओं का खयाल आये बिना नहीं रहता, जो राष्ट्रकूटों के समान ही दक्षिणापथ के राजा थे, पर जिनके कतिपय वीर पुरुषों ने उत्तरी भारत में हिमालय और सिन्ध नदी तक विजययात्रायें की थीं।

जिस समय गोविन्द तृतीय उत्तरी भारत की विजय में तत्पर था, सुदूर दक्षिण के पल्लव, गंग, चोल, पाण्ड्य, केरल आदि वंशों ने उसके विरुद्ध एक शक्तिशाली संघ को संगठित किया, जिसका उद्देश्य दक्षिणी भारत से राष्ट्रकूट-आधिपत्य का अन्त करना था। पर यह संघ अपने उद्देश्य में सफल नहीं हुआ। ज्यों ही गोविन्द तृतीय को यह समाचार मिला, उसने तुरन्त दक्षिण की ओर प्रस्थान किया, और इस संघ को नष्ट कर दिया।

अमोघवर्ष—८१४ ईस्वी में गोविन्द तृतीय की मृत्यु होने पर उसका पुत्र अमोघवर्ष मान्यखेट के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ। पर राष्ट्रकूट-साम्राज्य में उसके विरोधियों की कमी नहीं थी। राजा बनने के समय अमोघवर्ष की आयु कम थी। इस स्थिति से लाभ उठाकर न केवल अनेक अधीनस्थ राजाओं ने स्वतन्त्र होने का प्रयत्न शुरू किया, अपितु विविध राष्ट्रकूट सामन्तों और राजपुरुषों ने भी उसके विरुद्ध षड्यन्त्र प्रारम्भ कर दिये। अमोघवर्ष का मन्त्री करकराज था। अन्य सामन्तों के षड्यन्त्र के कारण कुछ समय के लिये अमोघवर्ष को राजसिंहासन से भी हाथ धोना पड़ा, पर करकराज की सहायता से उसने फिर राजपद प्राप्त किया। आन्तरिक अव्य-

वस्था के कारण अमोघवर्ष राष्ट्रकूट-साम्राज्य को अक्षुण्ण रख सकने में असमर्थ रहा, और चालुक्यों ने राष्ट्रकूटों की निर्बलता से लाभ उठाकर एक बार फिर अपने उत्कर्ष के लिये प्रयत्न किया। इसमें उन्हें सफलता भी हुई। चालुक्यों के इस द्वितीय राजवंश के सम्बन्ध में हम इसी अध्याय के अगले प्रकरण में प्रकाश डालेंगे। अमोघवर्ष के शासनकाल में ही कन्नौज के गुर्जर-प्रतीहारराजा मिहिरभोज ने अपने विशाल साम्राज्य का निर्माण किया, और उत्तरी भारत से राष्ट्रकूटों के शासन का अन्त कर दिया। गुर्जरप्रतीहार लोग किस प्रकार कन्नौज के स्वामी बने, और उन्होंने किस प्रकार एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की, इसपर हम पहले एक अध्याय में प्रकाश डाल चुके हैं। यह सर्वथा स्पष्ट है, कि अमोघवर्ष के समय में राष्ट्रकूट साम्राज्य का अपकर्ष प्रारम्भ हो गया था।

अमोघवर्ष ने ८१४ से ८७८ ईस्वी तक शासन किया।

कृष्ण द्वितीय—अमोघवर्ष की मृत्यु के बाद उसका पुत्र कृष्ण द्वितीय ८७८ ईस्वी में सिंहासनारूढ़ हुआ। उसका शासनकाल मुख्यतया चालुक्यों के साथ संघर्ष में व्यतीत हुआ। वेङ्गि और अन्हिलवाड़ा में चालुक्यों के जो दो राजवंश इस समय स्थापित हो गये थे, उन दोनों के साथ ही उसके युद्ध हुए। पर अब राष्ट्रकूटों में इतनी शक्ति नहीं रह गई थी, कि वे अपने प्रति-स्पर्धी चालुक्यों की शक्ति का अन्त कर सकते। कन्नौज के गुर्जरप्रतीहारों के साथ भी कृष्ण द्वितीय के अनेक युद्ध हुए, पर न गुर्जरप्रतीहार दक्षिणापथ को अपनी अधीनता में ला सके, और न गोविन्द तृतीय के समान कृष्ण द्वितीय ही हिमालय तक विजययात्रा कर सका।

इन्द्र तृतीय—कृष्ण द्वितीय के बाद उसका पौत्र इन्द्र तृतीय राष्ट्रकूटराज्य का स्वामी बना। यद्यपि उसने केवल चार साल (९१४-९१८) तक राज्य किया, पर इस थोड़े से समय में ही उसने अद्भुत पराक्रम का परिचय दिया। उसका मुख्य कार्य गुर्जरप्रतीहारराजा महीपाल को परास्त करना था। कन्नौज के प्रतापी सम्राट् मिहिरभोज की मृत्यु ८९० ईस्वी में हो चुकी थी, और उसके बाद निर्भयराज महेन्द्र (८९०-९०७) ने गुर्जरप्रतीहार-साम्राज्य को बहुत कुछ संभाले रखा था। पर महेन्द्र के उत्तराधिकारी महीपाल के समय में कन्नौज की घटती कला प्रारम्भ हो गई थी। इसीलिये राष्ट्रकूट-राजा कृष्ण ने भी उसपर अनेक आक्रमण किये थे। पर इन्द्र तृतीय ने तो कन्नौज की शक्ति को जड़ से हिला दिया। उसने एक बहुत बड़ी सेना लेकर

उत्तरी भारत पर आक्रमण किया, और कन्नौज पर चढ़ाई कर इस प्राचीन नगरी का बुरी तरह से सत्यानाश किया । राजा महीपाल उसके सम्मुख असहाय था । इन्द्र ने प्रयाग तक उसका पीछा किया, और राष्ट्रकूट-सेनाओं के घोड़ों ने गंगाजल द्वारा अपनी प्यास को शान्त किया ।

गोविन्द चतुर्थ—९१८ ईस्वी में गोविन्द चतुर्थ मान्यखेट के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ । इन्द्र तृतीय ने राष्ट्रकूटों की शक्ति का पुनरुद्धार करने में जो सफलता प्राप्त की थी, वह गोविन्द चतुर्थ के निर्बल शासन में नष्ट हो गई । वेङ्गि के चालुक्यों ने इस समय बहुत जोर पकड़ा, और उनके आक्रमणों के कारण राष्ट्रकूट-राज्य की शक्ति बहुत क्षीण हो गई ।

कृष्ण तृतीय—गोविन्द चतुर्थ के बाद अमोघवर्ष तृतीय (९३६-९४०) राष्ट्रकूट-राज्य का स्वामी बना । उसके शासनकाल की कोई घटना उल्लेखनीय नहीं है । पर उसका उत्तराधिकारी कृष्ण तृतीय (९४०-९६८) बड़ा प्रतापी था । उसने एक बार फिर राष्ट्रकूटों के गौरव को स्थापित किया, और दक्षिण व उत्तर दोनों दिशाओं में अपनी शक्ति का विस्तार किया । उत्तरी भारत पर आक्रमण कर उसने गुर्जर प्रतीहारों से कालिञ्जर और चित्रकूट जीत लिये । पर उसकी विजययात्राओं का क्षेत्र प्रधानतया दक्षिणी भारत था । काञ्ची पर फिर से अपना आधिपत्य स्थापित कर उसने ताञ्जोर की विजय की । ताञ्जोर की विजय को इतना महत्त्वपूर्ण माना गया, कि कृष्ण तृतीय ने 'तंजजैयु कोण्ड' (ताञ्जोरविजेता) का विरुद प्राप्त किया । चोल, पाण्ड्य और केरल की विजय के कारण कन्याकुमारी तक उसका साम्राज्य विस्तृत हो गया, और सिंहलद्वीप (लंका) के राजा ने भी उसे प्रसन्न रखने का प्रयत्न किया । इसमें सन्देह नहीं, कि कृष्ण तृतीय एक महान् विजेता था, और उसने एक बार फिर राष्ट्रकूट-शक्ति को उत्कर्ष की चरम सीमा तक पहुंचा दिया था ।

राष्ट्रकूट-राज्य का अन्त—पर राष्ट्रकूटों का यह उत्कर्ष देर तक कायम नहीं रहा । कृष्ण तृतीय की विजयों का स्वरूप प्रायः वही था, जो यशोधर्मा व हर्षवर्धन की विजयों का था । वह किसी स्थायी साम्राज्य की स्थापना नहीं कर सका । जब तक कृष्ण तृतीय जैसा सुयोग्य और प्रतापी राजा मान्य-खेट के राजसिंहासन पर रहा, राष्ट्रकूटों की शक्ति अक्षुण्ण रही । पर उसके मरते ही राष्ट्रकूट-साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया । कृष्ण तृतीय का उत्तराधिकारी खोट्टिग नित्यवर्ष था । उसके शासनकाल में मालवा के

परमार राजा सीयक हर्ष (शासनकाल ९७४ ई० प० तक) ने राष्ट्रकूट-राज्य पर आक्रमण किया, और मान्यखेट को बुरी तरह से लूटा। खोट्टिग नित्यवर्ष का उत्तराधिकारी राजा कर्क था। कल्याणी के चालुक्यराजा तैलप द्वितीय ने राष्ट्रकूटों की निर्बलता से लाभ उठाकर कर्क को परास्त किया, और उसने राज्य को अपने अधिकार में कर लिया। कर्क राष्ट्रकूट-वंश का अन्तिम राजा था, और उसके साथ ही राष्ट्रकूट वंश का अन्त हो गया। इसके बाद दक्षिणापथ पर एक बार फिर चालुक्यवंश का आधिपत्य स्थापित हुआ।

इसमें सन्देह नहीं, कि राष्ट्रकूटराजा बड़े प्रतापी थे। उनकी कीर्ति भारत से बाहर भी दूर-दूर तक फैली हुई थी। इसीलिये अनेक अरब-यात्रियों ने भी उनका वृत्तान्त लिखा है। ८५१ में सुलेमान नामक लेखक ने अमोघ-वर्ष को बगदाद के खलीफा, कोन्स्टेन्टिनोपल के रोमन सम्राट् और चीन के सम्राट् के समकक्ष बताया है। यह ठीक है, कि गोविन्द तृतीय जैसे राष्ट्रकूट-राजाओं की गणना उस युग के सबसे शक्तिशाली सम्राटों में की जा सकती है। राष्ट्रकूट राजा सिन्ध के अरब शासकों के साथ मैत्री रखते थे, क्योंकि भिनमाल और कन्नौज के शक्तिशाली गुर्जरप्रतिहारराजाओं को दोनों का समानरूप से भय था।

(३) कल्याणी का चालुक्यवंश

राष्ट्रकूटों से पहले दक्षिणापथ में चालुक्यों का आधिपत्य था। उन्हीं को परास्त कर राष्ट्रकूटों ने अपनी शक्ति को स्थापित किया। पर अन्तिम राष्ट्रकूट राजा कर्क का उच्छेद कर चालुक्यों ने एक बार फिर अपनी शक्ति का पुनरुद्धार किया। राष्ट्रकूटों के शासनकाल में चालुक्यों का मूलोन्मूलन नहीं हो गया था। अपने अपकर्ष के काल में चालुक्यवंश के राजा राष्ट्रकूटों के सामन्त रूप में अपने क्षेत्र में शासन करते रहे थे। जिस राजा तैलप ने कर्क को परास्त कर अपने वंश का उत्कर्ष किया, शुरू में उसकी स्थिति भी सामन्त की ही थी। राष्ट्रकूटों की निर्बलता से लाभ उठाकर तैलप ने न केवल अपने को स्वतन्त्र कर लिया, अपितु शीघ्र ही सारे दक्षिणापथ पर अपना शासन स्थापित कर लिया। पहले चालुक्यवंश की राजधानी वातापी थी, पर इस नये चालुक्यवंश ने कल्याणी को राजधानी बनाकर अपनी शक्ति का विस्तार किया। इसीलिये ये कल्याणी के चालुक्य कहाते हैं। यह नगरी वर्तमान हैदराबाद राज्य में है।

तैलप—कल्याणी के अपने सामन्तराज्य को राष्ट्रकूटों की अधीनता से मुक्त कर तैलप ने मान्यखेट पर आक्रमण किया। परमारराजा सीयक हर्ष राष्ट्रकूटों की इस राजधानी को तहस-नहस कर चुका था, पर उसने दक्षिणापथ में स्थायी रूप से शासन करने का प्रयत्न नहीं किया था। वह आंधी की तरह आया था, और मान्यखेट को उजाड़कर आंधी की ही तरह वापस लौट गया था। अब जब तैलप ने उसपर आक्रमण किया, तो राष्ट्रकूटराजा कर्क उसका मुकाबला नहीं कर सका। राष्ट्रकूटराज्य का अन्त हो गया, और तैलप के लिये दिग्विजय का मार्ग निष्कण्टक हो गया। विजययात्रा करते हुए तैलप ने सबसे पूर्व लाटदेश (दक्षिणी गुजरात) की विजय की, और फिर कन्नड देश को परास्त किया। कन्नड के बाद सुदूर दक्षिण में चोलराज्य पर चढ़ाई की। पर तैलप के सबसे महत्त्वपूर्ण युद्ध परमारराजा वाक्पतिराज मुञ्ज के साथ हुए। परमारवंश के महत्त्वाकांक्षी राजा दक्षिणापथ को अपनी विजयों का उपयुक्त क्षेत्र मानते थे। सीयक हर्ष ने भी पहले मान्यखेट को ही अपनी महत्त्वाकांक्षाओं का शिकार बनाया था। वाक्पतिराज मुञ्ज ने छः बार चालुक्यराज्य पर चढ़ाई की, और छहों बार उसे बुरी तरह परास्त किया। पर सातवीं बार जब उसने दक्षिणापथ में विजययात्रा की, तो गोदावारी के तट पर घनघोर युद्ध हुआ, जिसमें मुञ्ज तैलप के हाथ पड़ गया, और चालुक्यराज ने उसका घात कर अपनी पुरानी पराजयों का प्रतिशोध किया। इस प्रकार अपने कुल के गौरव का पुनरुद्धार कर २४ वर्ष के शासन के बाद ९९७ ईस्वी में तैलप की मृत्यु हुई।

सत्याश्रय—तैलप की मृत्यु के बाद सत्याश्रय चालुक्य राज्य का स्वामी बना। उसके शासन काल की मुख्य घटना चोल-राज्य के अधिपति राजराज प्रथम की दिग्विजय है। राष्ट्रकूटों के शासन में चोलराज्य अनेक बार प्रतापी विजेताओं द्वारा आक्रान्त हुआ था। पर दक्षिणापथ में जब राष्ट्रकूटों की शक्ति क्षीण हुई, तो चोल को अपने उत्कर्ष का अवसर मिल गया। राजराज प्रथम के रूप में वहां एक ऐसे वीर का प्रादुर्भाव हुआ, जिसने चोलशक्ति को बहुत बढ़ाया। चालुक्यराज सत्याश्रय चोलविजेता द्वारा बुरी तरह परास्त हुआ, पर राजराज प्रथम ने दक्षिण पथ में स्थिर रूप से शासन करने का प्रयत्न नहीं किया। अवसर पाकर सत्याश्रय फिर स्वतन्त्र हो गया। वह ९९७ से १००८ तक चालुक्यराज्य का स्वामी रहा।

विक्रमादित्य—सत्याश्रय के बाद कल्याणी के राजसिंहासन पर विक्र-

मादित्य आरूढ़ हुआ। उसके समय में मालवा के परमारों के साथ चालुक्यों का पुनः संघर्ष हुआ, और वाक्पतिराज मुञ्ज की पराजय व हत्या का प्रतिशोध करने के लिये नये परमारराजा भोज ने चालुक्यराज्य पर आक्रमण कर उसे परास्त किया। पर बाद में उसने भी विक्रमादित्य से हार खाई। इस राजा का शासनकाल १००८ से १०१६ तक था।

जयसिंह जगदेकमल्ल—विक्रमादित्य की मृत्यु के बाद जयसिंह चालुक्यराज्य का स्वामी बना। इसका विरुद 'जगदेकमल्ल' था, जो इसकी वीरता का परिचायक है। उसके समय में भी गुर्जरप्रतीहारराजा भोज के साथ चालुक्यों का संघर्ष जारी रहा। कभी भोज ने जयसिंह को परास्त किया, और कभी जयसिंह ने भोज को। चोलराजा राजेन्द्र से भी जयसिंह के अनेक युद्ध हुए। इनमें भी विजयश्री ने स्थिर रूप से किसी एक का साथ नहीं दिया। २६ वर्ष के शासन के बाद १०४७ ई० में जयसिंह की मृत्य हुई।

सोमेश्वर प्रथम आहवमल्ल—यह कल्याणी के चालुक्यवंश का सबसे प्रताप-शाली राजा था। अपने विरुद 'आहवमल्ल' को सार्थक कर उसने दूर-दूर तक विजययात्रायें कीं, और चालुक्यों के राज्य को एक विशाल साम्राज्य के रूप में परिवर्तित कर दिया। इस समय चालुक्यों के मुख्य प्रतिस्पर्धी मालवा के परमार और सुदूर दक्षिण के चोलराजा थे। सोमेश्वर ने इन दोनों शत्रुओं के साथ घनघोर युद्ध किये। परमारराजा भोज को परास्त कर उसने परमार-राज्य की राजधानी धारानगरी पर कब्जा कर लिया, और भोज को उज्जैनी में आश्रय लेने के लिये विवश किया। पर चालुक्यों का मालवा पर यह आधि-पत्य देर तक स्थिर नहीं रह सका। कुछ समय बाद भोज ने एक बड़ी सेना को साथ लेकर धारा पर चढ़ाई की, और वहां से चालुक्य-शासन का अन्त कर अपनी राजधानी में पुनः प्रवेश किया। सुदूर दक्षिण के चोलराजा से भी सोमेश्वर के अनेक युद्ध हुए। और कुछ समय के लिये काञ्ची पर भी चालुक्यों का आधिपत्य हो गया। पल्लववंश की यह पुरानी राजधानी इस समय चोल-शक्ति की महत्त्वपूर्ण केन्द्र थी।

पर केवल परमारों और चोलों के साथ हुए युद्धों में ही सोमेश्वर ने अपनी आहवमल्लता का परिचय नहीं दिया। चोलों को परास्त कर उसने उत्तरी भारत में दिग्विजय के लिये प्रस्थान किया। एक शक्तिशाली सेना को साथ लेकर उसने पहले जेजाकभुक्ति के चन्देलराजा को परास्त किया। महमूद गजनवी इस राज्य को भी जीतने में समर्थ हुआ था, पर उसके निर्बल उत्तरा-

धिकारियों के शासनकाल में ग्यारहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में कीर्तिवर्मा नामक वीर चन्देल ने अपने पूर्वजों के स्वतन्त्र राज्य का पुनरुद्धार कर लिया था सोमेश्वर के आक्रमण के समय सम्भवतः कीर्तिवर्मा ही चन्देलराज्य का स्वामी था। चन्देलराज्य को जीतकर सोमेश्वर ने कच्छपघातों को विजय किया, और फिर गंगा-यमुना के उन प्रदेशों पर आक्रमण किया, जो कन्नौज के राज्य के अन्तर्गत थे। अभी कन्नौज पर गहडवालवंश के प्रतापी राजाओं का आधिपत्य नहीं हुआ था, और वहां गुर्जरप्रतीहारवंश का ही शासन कायम था, जो कि इस समय तक बहुत निर्बल हो चुके थे। कन्नौज का अधिपति चालुक्यराज सोमेश्वर के सम्मुख नहीं टिक सका, और उसने भागकर उत्तरी पर्वतों की शरण ली। चेदि के कलचूरीराजा कर्णदेव (१०६३–१०६३) ने चालुक्य-आक्रमण का मुकाबला करने में अधिक साहस प्रदर्शित किया, पर उसे भी सोमे-श्वर के सम्मुख परास्त होना पड़ा। जिस समय सोमेश्वर स्वयं उत्तरी भारत की विजययात्रा में तत्पर था, उसका पुत्र विक्रमादित्य पूर्वी भारत में अंग, बंग, मगध और मिथिला के प्रदेशों की विजय कर रहा था। विक्रमादित्य ने पूर्व में और आगे बढ़कर कामरूप (आसाम) पर भी आक्रमण किया, पर उसे जीतने में उसे सफलता नहीं हुई। पर यह ध्यान में रखना चाहिये, कि सोमेश्वर और विक्रमादित्य की विजययात्राओं ने किसी स्थिर साम्राज्य की नींव नहीं डाली। वे आंधी की तरह सम्पूर्ण उत्तरी भारत पर छा गये, और वहां तहस-नहस मचाकर आंधी के समान ही दक्षिणापथ को लौट गये। इन दिग्विजयों ने केवल देश में उथल-पुथल, अव्यवस्था और अराजकता ही उत्पन्न की, कोई स्थायी परिणाम उनका नहीं हुआ। इसमें सन्देह नहीं, कि सोमेश्वर एक महान् विजेता था, और अनेक युद्धों में उसने अपने अनुपम शौर्य का प्रदर्शन किया था। १०६८ में उसकी मृत्यु हुई। जीवन के समान उसकी मृत्यु भी असाधारण थी। एक रोग से पीड़ित होकर जब उसने अनुभव किया, कि उसके लिये रोग से छुटकारा पा सकना सम्भव नहीं रहा है,तो तुंगभद्रा नदी में छलांग मार-कर उसने अपने शरीर का अन्त कर दिया। इस प्रकार की मृत्यु के लिये जिस साहस की आवश्यकता थी, वही सोमेश्वर के सम्पूर्ण जीवन में, उसके युद्धों और संघर्षों में प्रगट हुआ था।

सोमेश्वर द्वितीय भुवनैकमल्ल—अपने पिता की मृत्यु (१०६८ ई०) के बाद सोमेश्वर द्वितीय विशाल चालुक्य राज्य का स्वामी बना। उत्तर भारत की विजययात्राओं में जिस विक्रमादित्य ने अंग, बंग, मगध आदि की विजय कर

अद्भुत पराक्रम प्रदर्शित किया था, वह सोमेश्वर प्रथम का कनिष्ठ पुत्र था। पिता की मृत्यु के समय वह सुदूर दक्षिण में चोलराज्य के साथ संघर्ष में व्यापृत था। सोमेश्वर प्रथम की इच्छा थी, कि उसके बाद उसका सुयोग्य पुत्र विक्रमादित्य ही चालुक्यराज्य का स्वामी बने। पर उसकी अनुपस्थिति से लाभ उठाकर सोमेश्वर द्वितीय ने कल्याणी की राजगद्दी पर कब्जा कर लिया, और विक्रमादित्य ने भी उसे चालुक्यराज्य के न्याय्य राजा के रूप में स्वीकृत किया। पर सोमेश्वर द्वितीय सर्वथा अयोग्य शासक था। उसके असद्व्यवहार से जनता दुःखी हो गई, और चालुक्यों की राजशक्ति क्षीण होने लगी। इस स्थिति में १०७६ ईस्वी में विक्रमादित्य ने उसे राजगद्दी से उतारकर स्वयं कल्याणी के राजसिहासन पर अधिकार कर लिया।

विक्रमादित्य द्वितीय—इसमें सन्देह नहीं, कि विक्रमादित्य द्वितीय (यदि वातापी के चालुक्यवंश के राजाओं को भी दृष्टि में रखें, तो इसे विक्रमादित्य षष्ठ कहना चाहिये) बहुत योग्य व्यक्ति था। अपने पिता सोमेश्वर प्रथम के शासनकाल में वह उसका सहयोगी रहा था, और उसकी विजययात्राओं में उसने अद्भुत शौर्य प्रदर्शित किया था। अब राजा बनकर उसने पूरी आधी सदी (१०७६ से ११२६) तक योग्यतापूर्वक चालुक्य-साम्राज्य का शासन किया। अपने पिता सोमेश्वर प्रथम के समान उसने भी दूर-दूर तक विजययात्रायें कीं, और कलिङ्ग, बंग, मरु (राजस्थान), मालवा, चेर (केरल) और चोलराज्यों को परास्त किया। उसके शासनकाल में चालुक्य-साम्राज्य दक्षिण में कन्याकुमारी अन्तरीप से लेकर उत्तर में बंगाल तक विस्तृत था। काश्मीरी कवि विल्हण ने 'विक्रमांकदेवचरितम्' लिखकर इस प्रतापी राजा के नाम को अमर कर दिया है। विल्हण विक्रमादित्य द्वितीय की राजसभा का ही रत्न था। 'मिताक्षरा' का रचयिता विज्ञानेश्वर भी इसी सम्राट् की राजसभा में निवास करता था। मिताक्षरा वर्तमान समय में प्रचलित हिन्दू-कानून का मुख्य आधार है।

सोमेश्वर तृतीय—११२६ ईस्वी में विक्रमादित्य द्वितीय का पुत्र सोमेश्वर तृतीय कल्याणी के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ। वह भी प्रतापी और महत्त्वाकांक्षी राजा था। उसने उत्तरी भारत में विजययात्रायें कर मगध और नैपाल को अपना वशवर्ती बनाया। अंग, बंग, कलिङ्ग पहले ही चालुक्य-साम्राज्य की अधीनता को स्वीकृत करते थे। मगध भी पूर्ववर्ती चालुक्य-विजेताओं से आक्रान्त हो चुका था। सोमेश्वर तृतीय ने अपने कुल की शक्ति को बढ़ाकर नेपाल तक भी आक्रमण किये। सोमेश्वर प्रथम के समय से उत्तरी भारत पर

और विशेषतया अंग, बंग और कलिङ्ग पर दक्षिणापथ की सेनाओं के जो निरन्तर आक्रमण होते रहे, उन्हीं के कारण बहुत से सैनिक व उनके सरदार इन प्रदेशों में स्थिर रूप से बस गये, और उन्हीं से बंगाल के सेनवंश व मिथिला के नान्यदेव के वंशों के राज्य स्थापित हुए। इसीलिये इन्हें 'कर्णाट' कहा गया है।

चालुक्य-वंश का अन्त—सोमेश्वर तृतीय के बाद कल्याणी के चालुक्यवंश का क्षय शुरू हो गया। ११३८ ई० में सोमेश्वर की मृत्यु हो जाने पर उसका पुत्र जगदेकमल्ल द्वितीय राजा बना। इस राजा के शासनकाल में चालुक्यों की निर्बलता के चिह्न प्रगट होने लग गये थे। अन्हिलवाड़ा के चालुक्यराजा कुमारपाल (११४३–११७१) के जगदेकमल्ल के साथ अनेक युद्ध हुए, जिनमें कुमारपाल सफल हुआ।

११५१ ईस्वी में जगदेकमल्ल की मृत्यु के बाद तैल ने कल्याणी का राजसिंहासन प्राप्त किया। उसका मन्त्री व सेनापति विज्जल था, जो कलचूरि-वंश का था। विज्जल इतना शक्तिशाली व्यक्ति था, कि उसने राजा तैल को अपने हाथों में कठपुतली के समान बना रखा था। बहुत से सामन्तराजा उसके प्रभाव में थे। उनकी सहायता से ११५७ ई० के लगभग विज्जल ने तैल को राजच्युत कर स्वयं कल्याणी की राजगद्दी पर अधिकार कर लिया, और वासव को अपना मन्त्री नियत किया। भारत के धार्मिक इतिहास में वासव का बहुत अधिक महत्त्व है। वह लिङ्गायत सम्प्रदाय का प्रवर्तक था, जिसका दक्षिणी भारत में बहुत प्रचार हुआ। इस सम्प्रदाय के सम्बन्ध में हम अगले एक अध्याय में विस्तार से लिखेंगे। विज्जल स्वयं जैन था, अतः राजा और मन्त्री में विरोध हो गया, और वासव ने विज्जल की हत्या करा दी। विज्जल के बाद उसके पुत्र सोविदेव ने राज्य प्राप्त किया, और वासव की शक्ति को काबू करने में सफलता प्राप्त की। धार्मिक विरोध के कारण विज्जल और सोविदेव के समय में जो अव्यवस्था उत्पन्न हो गई थी, चालुक्य-राजा तैल के पुत्र सोमेश्वर चतुर्थ ने उससे लाभ उठाया, और ११८३ ईस्वी में सोविदेव को परास्त कर चालुक्यकुल के गौरव को फिर से स्थापित किया। पर चालुक्यों की यह शक्ति देर तक स्थिर नहीं रह सकी। विज्जल और सोविदेव के समय में कल्याणी के राज्य में जो अव्यवस्था उत्पन्न हो गई थी, उसके कारण बहुत से सामन्त व अधीनस्थ राजा स्वतन्त्र हो गये थे, और अन्य अनेक राजवंशों के प्रतापी व महत्त्वाकांक्षी राजाओं ने विजययात्रायें कर अपनी शक्ति का उत्कर्ष शुरू कर दिया था। इन प्रतापी राजाओं में देवगिरि के यादवराजा

भिल्लम का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। ११८७ ईस्वी में भिल्लम ने चालुक्यराजा सोमेश्वर चतुर्थ को परास्त कर कल्याणी पर अधिकार कर लिया, और इस प्रकार प्रतापी चालुक्यवंश का अन्त हुआ।

(४) वेङ्गि का चालुक्यवंश

प्राचीन समय में चालुक्यों के अनेक राजवंशों ने दक्षिापथ व गुजरात में शासन किया था। इनमें से अन्हिलवाड़ा (गुजरात), वातापी और कल्याणी को राजधानी बनाकर शासन करनेवाले चालुक्यवंशों का इतिहास हम लिख चुके हैं। पर इन तीन के अतिरिक्त चालुक्यों का एक अन्य वंश भी था, जिसकी राजधानी वेङ्गि थी। ये इतिहास में 'पूर्वी चालुक्य' के नाम से विख्यात है, क्योंकि इनका राज्य चालुक्यों के मुख्य राजवंश (जिसने कल्याणी को राजधानी बनाकर शासन किया) के राज्य से पूर्व में स्थित था। इनसे पृथक्त्व प्रदर्शित करने लिये के कल्याणी के राजवंश को 'पश्चिमी चालुक्यवंश' भी कहा जाता है। इतिहास में वेङ्गि के पूर्वी चालुक्यवंश का बहुत अधिक महत्त्व नहीं है, क्योंकि उसके राजाओं ने न किसी बड़े साम्राज्य के निर्माण में सफलता प्राप्त की, और न दूर-दूर तक विजययात्रायें ही कीं। पर क्योंकि कुछ समय तक उसके राजाओं ने भी स्वतन्त्र रूप से राज्य किया, अतः उनके सम्बन्ध में भी संक्षिप्त रूप से लिखना आवश्यक है।

जिस समय वातापी के प्रसिद्ध चालुक्य-सम्राट् पुलकेशी द्वितीय ने (सातवीं सदी के पूर्वार्ध में) दक्षिणापथ में अपने विशाल साम्राज्य की स्थापना की थी, उसने अपने छोटे भाई कुब्ज विष्णुवर्धन को वेङ्गि का शासन करने के लिये नियुक्त किया था। विष्णुवर्धन की स्थिति एक प्रान्तीय शासक के सदृश थी, और वह पुलकेशी द्वितीय की ओर से ही कृष्णा और गोदावरी नदियों के मध्यवर्ती प्रदेश का शासन करता था। पर उसका पुत्र जयसिह प्रथम वेङ्गि में स्वतन्त्र हो गया, और इस प्रकार पूर्वी चालुक्यवंश का प्रादुर्भाव हुआ। इस वंश के स्वतन्त्र राज्य का प्रारम्भकाल सातवीं सदी के मध्य भाग में था।

जब तक वातापी में मुख्य चालुक्यवंश की शक्ति कायम रही, वेङ्गि के पूर्वी चालुक्यों को अपने उत्कर्ष का अवसर नहीं मिल सका। पर जब ७५३ ईस्वी के लगभग राष्ट्रकूट दन्तिदुर्ग द्वारा वातापी के चालुक्य-राज्य का अन्त कर दिया गया, तो वेङ्गि के राजवंश में अनेक ऐसे प्रतापी राजा हुए, जिन्होंने राष्ट्रकूटों और अन्य पड़ोसी राजाओं पर आक्रमण करके उनके साथ युद्ध किये। इनमें विजया-

दित्य द्वितीय (लगभग ७९९-८४३) और विजयादित्य तृतीय (८४३-८८८) के नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। इन दोनों राजाओं ने राष्ट्रकूटों के मुकाबले में अपने राज्य की स्वतंत्र सत्ता को कायम रखने में सफलता प्राप्त की। उनके उत्तराधिकारी चालुक्यराजा भी अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा में समर्थ रहे। पर दसवीं सदी के अन्तिम भाग में वेङ्गि को एक नई विपत्ति का सामना करना पड़ा, जो चोलराज राजराज प्रथम (९८५-१०१४) के रूप में थी। इस समय तक दक्षिणापथ में राष्ट्रकूटों की शक्ति का अन्त हो चुका था, और कल्याणी को अपनी राजधानी बनाकर चालुक्य एक बार फिर दक्षिणापथपति बन गये थे। राजराज प्रथम ने न केवल कल्याणी के चालुक्यराजा सत्याश्रय को परास्त किया, अपितु वेङ्गि के चालुक्यराजा पर भी आक्रमण किया। इस समय वेङ्गि के राजसिंहासन पर शक्तिवर्मा विद्यमान था। उसने चोल-आक्रान्ता का मुकाबला करने के लिये बहुत प्रयत्न किया, और अनेक युद्धों में उसे सफलता भी हुई। पर उसके उत्तराधिकारी विमलादित्य (१०११-१०१८ ई०) ने यही उचित समझा, कि शक्तिशाली चोल सम्राट् की अधीनता स्वीकृत कर ली जाय। राजराज प्रथम ने विमलादित्य के साथ अपनी पुत्री का विवाह कर उसे अपना सम्बन्धी व परम सहायक बना लिया। विमलादित्य के बाद उसका पुत्र विष्णुवर्धन पूर्वी चालुक्यराज्य का स्वामी बना। उसका विवाह भी चोलवंश की ही एक कुमारी के साथ हुआ था। उसका पुत्र राजेन्द्र था, जो कुलोत्तुङ्ग के नाम से वेङ्गि का राजा बना। उसका विवाह भी चोलराजकुमारी के साथ ही हुआ, और इन विवाहों के कारण वेङ्गि के चालुक्यकुल और चोलराज्य का सम्बन्ध बहुत अधिक घनिष्ठ हो गया। चोलराजा अधिराजेन्द्र के कोई सन्तान नहीं थी। वह १०७० ईस्वी में चोलराज्य का स्वामी बना था, और उसी साल उसकी मृत्यु हो गई थी। इस दशा में वेङ्गि के चालुक्यराजा राजेन्द्र कुलोत्तुङ्ग ने चोलवंश का राज्य भी प्राप्त कर लिया, क्योंकि वह चोलराजकुमारी का ही पुत्र था। इस प्रकार चोलराज्य और वेङ्गि का पूर्वी चालुक्यराज्य परस्पर मिलकर एक हो गये, और राजेन्द्र कुलोत्तुङ्ग के वंशज इन दोनों राज्यों पर दो सदी के लगभग तक शासन करते रहे। राजेन्द्र कुलोत्तुङ्ग के उत्तराधिकारियों के विषय में हम सुदूर दक्षिण के चोलराज्य का विवरण देते हुए लिखेंगे। १०७० के बाद वेङ्गि के राजवंश की अपनी कोई पृथक् सत्ता नहीं रह गई थी।

(५) देवगिरि के यादव

कल्याणी के चालुक्यवंश का वृत्तान्त इसी अध्याय में पहले लिखा जा

चुका है। दक्षिणापथ के बड़े भाग पर उनका आधिपत्य था, और अनेक प्रतापी चालुक्यराजाओं ने दक्षिण में चोल, पाण्ड्य और केरल तक व उत्तर में बंग, मगध और नेपाल तक विजययात्रायें की थीं। पर जब बारहवीं सदी के अन्तिम भाग में चालुक्यों की शक्ति क्षीण हुई, तो उनके अनेक सामन्तराजा स्वतन्त्र हो गये, और अपने-अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र रूप से शासन करने लगे। जिस प्रकार उत्तरी भारत में गुर्जरप्रतीहार-साम्राज्य के ह्रास-काल में अनेक छोटे-बड़े राजपूत-राज्य कायम हुए, वैसे ही दक्षिणी भारत में कल्याणी के चालुक्यों की शक्ति के क्षीण होने पर अनेक सामन्तराजाओं ने स्वतन्त्र होकर अपने पृथक् राज्यों की स्थापना की।

देवगिरि का यादववंश इनमें से एक था। यादववंश भारतीय इतिहास में बहुत प्राचीन है, और वह अपना सम्बन्ध प्राचीन यदुवंशी क्षत्रियों से मानता है। राष्ट्रकूटों और चालुक्यों के उत्कर्ष-काल में यादव वंश के राजा अधीनस्थ सामन्त राजाओं की स्थिति रखते थे। पर जब चालुक्यों की शक्ति क्षीण हुई, तो वे स्वतन्त्र हो गये, और वर्त्तमान हैदराबाद रियासत में स्थित देवगिरि (दौलताबाद) को केन्द्र बनाकर उन्होंने अपने उत्कर्ष का प्रारम्भ किया। ११८७ ईस्वी में देवगिरि के यादवराजा भिल्लम ने अन्तिम चालुक्यराजा सोमेश्वर चतुर्थ को परास्त कर किस प्रकार कल्याणी पर भी अधिकार कर लिया, इसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। इसमें सन्देह नहीं, कि भिल्लम एक अत्यन्त प्रतापी राजा था, और उसी के कर्तृत्व के कारण यादवों के उत्कर्ष का प्रारम्भ हुआ था।

पर शीघ्र ही भिल्लम को एक नये शत्रु का सामना करना पड़ा। द्वारसमुद्र (माइसूर में) यादव क्षत्रियों के एक अन्य वंश का शासन था, जो होयसाल कहाते थे। चालुक्यों की शक्ति के क्षीण होने पर दक्षिणापथ में जो स्थिति उत्पन्न हो गई थी, होयसालों ने भी उससे लाभ उठाया, और उनके राजा वीर बल्लाल द्वितीय ने उत्तर की ओर अपनी शक्ति का विस्तार करते हुए भिल्लम के राज्य पर आक्रमण किया। वीर बल्लाल के साथ युद्ध करते हुए भिल्लम ने वीरगति प्राप्त की। और उसके राज्य पर (जिसमें कल्याणी का प्रदेश भी शामिल था) होयसालों का अधिकार हो गया। इस प्रकार ११९१ ईस्वी में भिल्लम द्वारा स्थापित यादव-राज्य का अन्त हुआ।

पर इस पराजय से यादववंश की शक्ति का मूलोच्छेद नहीं हो गया। भिल्लम का उत्तराधिकारी जैत्रपाल प्रथम था, जिसने अनेक युद्धों द्वारा अपने वंश के गौरव का पुनरुद्धार किया। होयसालों ने कल्याणी और देवगिरि पर

स्थिर रूप से शासन का प्रयत्न नहीं किया था, इसीलिये जैत्रपाल को फिर से अपने राज्य के उत्कर्ष का अवसर मिल गया। उसका शासनकाल ११६१ से १२१० तक था। अपने पड़ोसी राज्यो से निरन्तर युद्ध करते हुए जैत्रपाल प्रथम ने यादव-राज्य की शक्ति को भलीभांति स्थापित कर लिया।

जैत्रपाल प्रथम का पुत्र सिंघण (१२१०-१२४७) था। वह इस वंश का सबसे प्रतापी राजा हुआ है। ३७ वर्ष के अपने शासनकाल में उसने चारों दिशाओं में बहुत से युद्ध किये, और देवगिरि के यादवराज्य को उन्नति की चरम सीमा पर पहुंचा दिया। होयसालराजा वीर बल्लाल ने उसके पितामह भिल्लम को युद्ध में मारा था, और यादवराज्य को बुरी तरह से आक्रान्त किया था। अपने कुल के इस अपमान का प्रतिशोध करने के लिये उसने द्वारसमुद्र के होयसाल-राज्य पर आक्रमण किया, और वहां के राजा वीर बल्लाल द्वितीय को परास्त कर उसके अनेक प्रदेशों पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। होयसाल-राज्य की विजय के बाद सिंघण ने उत्तर दिशा में विजययात्रा के लिये प्रस्थान किया। गुजरात पर उसने कई बार आक्रमण किये, और मालवा को अपने अधिकार में लाकर काशी और मथुरा तक भी विजययात्रा की। इतना ही नहीं, उसने कलचूरी-राज्य को परास्त कर अफगान शासकों के साथ भी युद्ध किये, जो इस समय उत्तरी भारत के बड़े भाग को अपने स्वत्व में ला चुके थे। कोल्हापुर के शिलाद्वार, बनवासी के कदम्बराजा और पाण्ड्य देश के राजा को भी सिंघण ने आक्रान्त किया, और अपनी इस दिग्विजय के उपलक्ष्य में कावेरी नदी के तट पर एक विजयस्तम्भ की स्थापना की। इसमें सन्देह नहीं, कि यादवराज सिंघण एक विशाल साम्राज्य का निर्माण करने में सफल हुआ था, और न केवल सम्पूर्ण दक्षिणापथ अपितु कावेरी तक का दक्षिणी भारत और विध्याचल के उत्तर के भी कतिपय प्रदेश उसकी अधीनता में थे। सिंघण न केवल अनुपम विजेता था, अपितु साथ ही विद्वानों का आश्रयदाता और विद्या-प्रेमी भी था। संगीतरत्नाकर का रचयिता सारङ्गधर उसी के आश्रय में रहता था। प्रसिद्ध ज्योतिषी चांगदेव भी उसकी राजसभा का एक उज्ज्वल रत्न था। भास्कराचार्य द्वारा विरचित सिद्धांतशिरोमणि तथा ज्योतिषसम्बन्धी अन्य ग्रन्थों के अध्ययन के लिये उसने एक शिक्षाकेन्द्र की स्थापना की थी।

सिंघण के बाद उसके पोते कृष्ण (१२४७-१२६०) ने और फिर कृष्ण के भाई महादेव (१२६०-१२७१) ने देवगिरि के राजसिंहासन को सुशोभित किया। इन राजाओं के समय में भी गुजरात और शिलाद्वारराज्य के साथ यादवों के

युद्ध जारी रहे। इन युद्धों का वृत्तान्त यहां लिख सकना सम्भव नहीं है। महादेव के बाद रामचन्द्र (१२७१-१३०९) यादवों का राजा बना। उसके समय में १२९४ ईस्वी में दिल्ली के प्रसिद्ध अफगान विजेता अलाउद्दीन खिलजी ने दक्षिणी भारत में विजययात्रा की। इस समय देवगिरि का यादवराज्य दक्षिणापथ की प्रधान राजशक्ति था। अतः स्वाभाविक रूप से अलाउद्दीन का मुख्य संघर्ष यादवराज रामचन्द्र के साथ ही हुआ। अलाउद्दीन जानता था, कि सम्मुख युद्ध में रामचन्द्र को परास्त कर सकना सुगम नहीं है। अतः उसने छल का प्रयोग किया, और यादवराज के प्रति मैत्रीभाव प्रदर्शित कर उसका आतिथ्य ग्रहण किया। इस प्रकार जब रामचन्द्र असावधान हो गया, तो अलाउद्दीन ने उसपर अकस्मात् हमला कर दिया। इस स्थिति में यादवों के लिये अपनी स्वतन्त्रता को कायम रख सकना असम्भव हो गया, और रामचन्द्र ने विवश होकर अलाउद्दीन खिलजी के साथ सन्धि कर ली। इस सन्धि के परिणामस्वरूप जो अपार सम्पत्ति अफगान विजेता ने प्राप्त की, उसमें ६०० मन मोती, दो मन रत्न, १००० मन चांदी, ४००० रेशमी वस्त्र और इसी प्रकार के अन्य बहुमूल्य उपहार सम्मिलित थे। इसके अतिरिक्त रामचन्द्र ने अलाउद्दीन खिलजी को वार्षिक कर भी देना स्वीकृत किया। यद्यपि रामचन्द्र परास्त हो गया था, पर उसमें अभी स्वतन्त्रता की भावना अवशिष्ट थी। जब उसने खिलजी-आधिपत्य का जूआ उतार फेंकने के विचार से वार्षिक कर देना बन्द कर दिया, तो अलाउद्दीन ने अपने सेनापति मलिक काफूर को उसपर आक्रमण करने के लिये भेजा। काफूर का सामना करने में रामचन्द्र असमर्थ रहा, और उसे गिरफ्तार करके दिल्ली भेज दिया गया। वहां खिलजी सुलतान ने उसका स्वागत किया, और उसे 'रायराया' की उपाधि से विभूषित किया। अलाउद्दीन रामचन्द्र की शक्ति से भलीभांति परिचित था, और इसीलिये उसे अपना अधीनस्थ राजा बनाकर ही संतुष्ट हो गया। पर यादवों में अपनी स्वतन्त्रता की भावना अभी तक भी विद्यमान थी। इसलिये रामचन्द्र के बाद उसके पुत्र शंकर ने खिलजी के विरुद्ध विद्रोह किया। एक बार फिर मलिक काफूर देवगिरि पर आक्रमण करने के लिये गया, और उससे लड़ते-लड़ते १३१२ ईस्वी में शंकर ने वीरगति प्राप्त की। १३१६ में जब अलाउद्दीन की मृत्यु हुई, तो रामचन्द्र के जामाता हरपाल के नेतृत्व में यादवों ने एक बार फिर स्वतन्त्र होने का प्रयत्न किया, पर उसे सफलता नहीं मिल सकी। उसे गिरफ्तार कर लिया गया, और अपना रोष प्रगट करने के लिये सुलतान मुबारक खां ने जीते-जी उसकी खाल खिंचवा दी।

इस प्रकार देवगिरि के यादववंश की सत्ता का अन्त हुआ, और यह प्रदेश दिल्ली के अफगान-साम्राज्य के अन्तर्गत हो गया।

(६) दक्षिणापथ के अन्य राजवंश

दक्षिणापथ में चालुक्यों की शक्ति के क्षीण होने पर जिन अन्य अनेक राजवंशों ने अपने स्वतन्त्र राज्य स्थापित किये, उनमें द्वारसमुद्र के होयसाल, वारंगल के काकतीय, कोंकण के शिलाद्वार, बनवासी के कदम्ब और तलकाड के गंगवंश उल्लेखनीय हैं। पर इनके विषय में अधिक विस्तार के साथ लिख सकना सम्भव नहीं है। हम इन राजवंशों के सम्बन्ध में अत्यन्त संक्षिप्त रूप से परिचय देने का प्रयत्न करेंगे।

द्वारसमुद्र का होयसालवंश—देवगिरि के राजवंश के समान द्वारसमुद्र का होयसालवंश भी यादवकुल का था। इसीलिये इस वंश के राजाओं ने उत्कीर्ण लेखों में अपने को 'यादवकुलतिलक' कहा है। होयसालों के राज्य का क्षेत्र वर्तमान समय के माइसूर प्रदेश में था, और उनकी राजधानी द्वारसमुद्र थी। शुरू में उनकी स्थिति सामन्तराजाओं की थी, जो कभी दक्षिण के चोलों या कल्याणी के चालुक्य-राजाओं के आधिपत्य को स्वीकृत करते थे। जब कोई चोलराजा बहुत प्रतापी-होता, तो वह होयसालों को अपना वशवर्ती बना लेता, और जब कोई चालुक्य-राजा दक्षिण की ओर अपनी शक्ति का प्रसार करने में समर्थ होता, तो वह उन्हें अपने अधीन कर लेता। ग्यारहवीं सदी के पूर्वार्ध में होयसालों ने अपना उत्कर्ष शुरू किया, और धीरे-धीरे इस राजवंश की शक्ति बहुत अधिक बढ़ गई। १११० ईस्वी में विट्टिग विष्णुवर्धन द्वारसमुद्र की राजगद्दी पर आरूढ़ हुआ। वह एक प्रतापी और महत्त्वाकांक्षी राजा था। उसने अपने राज्य को चालुक्यों की अधीनता से मुक्त कर अन्य राज्यों पर आक्रमण भी शुरू किये। सुदूर दक्षिण में चोल, पाण्ड्य और मलाबार के क्षेत्र में उसने विजययात्रा की, और अपनी शक्ति को प्रदर्शित किया। इसमें सन्देह नहीं, कि उसके शासनकाल में होयसाल-राज्य बहुत शक्ति-शाली हो गया था। ११४० में विष्णुवर्धन की मृत्यु हुई।

विष्णुवर्धन का पौत्र वीर बल्लाल होयसालवंश का सबसे प्रसिद्ध राजा हुआ है। वह बारहवीं सदी के अन्तिम भाग में द्वारसमुद्र के राज्य का स्वामी था। इसके समय में कल्याणी के चालुक्यों की शक्ति बहुत क्षीण हो गई थी, और दक्षिणापथ में उनका स्थान देवगिरि के यादवों ने ले लिया था। ११८७ ईस्वी में यादवराजा भिल्लम ने अन्तिम चालुक्यराजा सोमेश्वर चतुर्थ को परास्त कर किस प्रकार कल्याणी पर अधिकार कर लिया था, इसका उल्लेख हम इसी अध्याय में

पहले कर चुके हैं। अतः जब वीर बल्लाल ने उत्तर की ओर अपनी शक्ति का विस्तार शुरू किया, तो उसका संघर्ष प्रधानतया यादवराजा भिल्लम के साथ ही हुआ। वीर बल्लाल भिल्लम को परास्त करने में समर्थ हुआ, और यादवराजा ने रणक्षेत्र में ही वीरगति प्राप्त की।

पर होयसालों का यह उत्कर्ष देर तक कायम नहीं रह सका। प्रतापी यादव-राजा सिंघण (१२१०-१२४७) ने अपने पितामह के अपमान और पराजय का प्रतिशोध करने के लिये होयसालों पर आक्रमण किया, और उनके अनेक प्रदेशों का विजय कर लिया। इस समय होयसालराज्य के राजसिंहासन पर राजा नरसिंह विराजमान था, जो वीर बल्लाल का पुत्र था। नरसिंह के उत्तराधिकारी होयसाल राजाओं का इतिहास अन्धकार में है। देवगिरि के यादवों के समान होयसालों की स्वतन्त्र सत्ता का अन्त भी अलाउद्दीन खिलजी द्वारा हुआ, जब कि उसके सेनापति मलिक काफ़ूर ने दक्षिणी भारत की विजय करते हुए द्वारसमुद्र पर भी आक्रमण किया और उसे जीत लिया। अफगान सुलतान के इस आक्रमण के समय होयसालराज्य का राजा वीर बल्लाल तृतीय था। उसे कैद करके दिल्ली ले जाया गया, और उसने अलाउद्दीन का वशवर्ती और करद होना स्वीकार कर लिया। पर जब वह अपने देश को वापस लौटा, तो उसने भी अफगान सुलतान का जूआ उतार फेंकने का प्रयत्न किया, पर इस कार्य में वह सफल नहीं हो सका।

वारंगल के काकतीय—आधुनिक समय के हैदराबाद राज्य के पूर्वी भाग तेलिङ्गाना में काकतीयवंश का शासन था, और उसकी राजधानी वारंगल थी। कल्याणी के चालुक्यवंश के उत्कर्ष-काल में काकतीय-वंश के राजा चालुक्यों के सामंत-रूप में अपने राज्य का शासन करते थे। पर जब बारहवीं सदी में चालुक्यों की शक्ति क्षीण हो गई, तो प्रोलराज नामक काकतीय राजा ने १११७ ईस्वी के लगभग चालुक्य-आधिपत्य का अन्त कर अपने को स्वतन्त्र कर लिया। प्रोलराज काकतीयों का प्रथम स्वतन्त्र राजा था। उसके वंशजों में सबसे पराक्रमी गणपति था, जिसने ११९९ से १२६१ तक शासन किया। वह एक महान् विजेता था, और चोल, देवगिरि, कलिङ्ग, कर्णाट, गुजरात आदि की विजययात्रायें कर उसने अपने पराक्रम का परिचय दिया था। चौदहवीं सदी के प्रारम्भ में जब अफगान सुलतान अलाउद्दीन खिलजी का प्रसिद्ध सेनापति मलिक काफ़ूर दक्षिण-विजय के लिये निकला, तो देवगिरि के यादवों और द्वारसमुद्र के होयसालों के समान वारंगल के काकतीयों की भी उसने विजय की।

कोंकण के शिलाद्वार--इस राजवंश के राजाओं की स्थिति भी पहले सामन्तों के सदृश थी। जिस समय दक्षिणापथ में राष्ट्रकूटों की प्रभुता थी, तब (आठवीं-नवीं सदियों में) शिलाद्वारों के तीन राज्य उत्तरी कोंकण, दक्षिणी कोंकण और कोल्हापुर में विद्यमान थे। इनमें उत्तरी कोंकण का शिलाद्वार-राज्य मुख्य था। वर्तमान समय के थाना और कोलावा के जिले उसके अन्तर्गत थे। कोंकण के ये शिलाद्वारराजा राष्ट्रकूटों के सामन्त थे। पर जब दसवीं सदी के अन्तिम भाग में चालुक्यो के उत्कर्ष के कारण राष्ट्रकूटों की शक्ति क्षीण हुई, तो शिलाद्वारों ने भी अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी। पर उनकी स्वतन्त्रता देर तक कायम नहीं रह सकी। अन्हिलवाड़ा के चालुक्यों ने उन्हें अपनी अधीनता मानने के लिये विवश किया, और बाद मे देवगिरि के यादवराजा सिघण ने उन्हें विजय किया। सिंघण ने न केवल उत्तरी कोंकण को जीता, अपितु कोल्हापुर के शिलाद्वारवंश को भी उसने अपने अधीन किया। वस्तुतः शिलाद्वारों ने बहुत कम समय तक स्वतन्त्रतापूर्वक शासन किया। विविध समय में वे राष्ट्रकूट, चालुक्य और यादववंश के राजाओं की महत्त्वाकांक्षाओं के शिकार बनते रहे।

बनवासी के कदम्ब--कदम्बवंश के राज्य की स्थापना चौथी सदी ई० प० में हुई थी, जब कि मयूर शर्मा नामक व्यक्ति ने पल्लवराज्य के विरुद्ध विद्रोह करके कर्णाटक के प्रदेश में अपनी स्वतन्त्र सत्ता स्थापित कर ली थी। इस राज्य की राजधानी बनवासी थी। वातापी के चालुक्यवंश का उत्कर्ष होने पर कदम्बों की शक्ति क्षीण होनी शुरू हुई, और पुलकेशी द्वितीय ने उनकी स्वतन्त्र सत्ता का अन्त कर दिया। पर सामन्तरूप में कदम्ववंश के राजा चालुक्यों और राष्ट्रकूटो के शासनकाल में भी कायम रहे। जब दसवी सदी के अन्तिम भाग में राष्ट्रकूट-साम्राज्य क्षीण हुआ, तो शिलाद्वारों के समान कदम्ब भी स्वतन्त्र हो गये, और उनके अनेक छोटे-छोटे राज्य कर्णाटक में स्वतन्त्र रूप से विद्यमान रहे।

तलकाड के गंग--वर्तमान माइसूर राज्य के क्षेत्र में चौथी सदी ई० प० में दिदिग कोंगरिवर्मा ने गंगराज्य की नींव डाली थी। पांचवीं सदी में हरिवर्मा नामक एक प्रतापी राजा गंगवंश में हुआ, जिसने कावेरी नदी के तट पर तलवनपुर (तलकाड) को अपनी राजधानी बनाया। इस वंश के राजा भी पड़ोस के शक्तिशाली राजवंशों (पल्लव, राष्ट्रकूट, चालुक्य और चोल) द्वारा निरन्तर आक्रान्त होते रहे। अनेक बार गंगराज्य की स्थिति सामन्त व अधीनस्थ राज्य की सी हो गई, पर अवसर पाकर स्वतन्त्रता स्थापित कर लेने में इस वंश के राजाओं ने कभी प्रमाद नहीं किया।

सहायक ग्रन्थ

Smith : Early History of India.
Bhandarkar R. G.: Early History of Deccan.
Tripathi : History of Ancient India.
Dubreuil G. J. : Ancient History of the Deccan.
Mazumdar R. C.: Ancient Indian History and Civilization.
Bombay Gazatteer Vol. I.

उनतालीसवां अध्याय

सुदूर दक्षिण के विविध राज्य

(१) पल्लव-वंश

सुदूर दक्षिण के पल्लव, चोल, पाण्ड्य और केरल राज्य भारतीय इतिहास की मुख्य धारा से प्रायः पृथक् रहे हैं। प्राचीन काल में उत्तरी भारत में जो अनेक सुविस्तृत साम्राज्य स्थापित हुए, दक्षिण के राज्य उनके अन्तर्गत नहीं हुए। मौर्य-साम्राज्य के उत्कर्ष-काल में सुदूर दक्षिण में भी मौर्यों का शासन था, पर अशोक ने चोल, पाण्ड्य और केरल की गणना अपने 'विजित' में न करके 'प्रत्यन्त' राज्यों में की थी। गुप्त-वंश के प्रतापी राजा समुद्रगुप्त ने पल्लव-राज्य को परास्त कर अपने अधीन किया था, पर कुमारी अन्तरीप तक उसका आधिपत्य नहीं हो सका था। राजनीतिक इतिहास की दृष्टि से सुदूर दक्षिण के ये राज्य उत्तरी भारत से प्रायः पृथक् रहे, यद्यपि दक्षिणापथ के राष्ट्रकूट और चालुक्यराजाओं ने अनेक बार इस क्षेत्र में दूर-दूर तक विजययात्रायें कीं। अनेक प्रतापी चोल-सम्राट् भी दक्षिणापथ को आक्रान्त कर उत्तरी भारत की सीमा का उल्लंघन करने में समर्थ हुए, पर इन अपवादों के कारण यह बात खण्डित नहीं होती, कि सूदूर दक्षिण के ये राज्य प्रायः शेष भारत से पृथक् ही रहे। इन राज्यों के निवासी भाषा, नसल आदि की दृष्टि से भी उत्तरी भारत के आर्यों से पृथक् थे। इनमें द्रविड़ जाति का निवास है, जिसकी भाषा आर्यों की संस्कृत व प्राकृत भाषा से कोई सम्बन्ध नहीं रखती। ये द्रविड़ लोग दक्षिणी भारत के मूल निवासी थे, या आर्यों के समान उत्तर-पश्चिम की ओर से इस देश में प्रविष्ट हुए थे, यह बात विवादग्रस्त है। इतना स्पष्ट है, कि बहुत प्राचीन समय से उत्तरी भारत के आर्यों ने भी सुदूर दक्षिण में अपना प्रसार प्रारम्भ कर दिया था, और वहां बसे हुए द्रविड़ लोग उनकी सभ्यता, धर्म और संस्कृति से प्रभावित होने लग गये थे। यही कारण है, कि दक्षिणी भारत के इन राज्यों की जनता धर्म और संस्कृति की दृष्टि से उत्तरी भारत के आर्य-निवासियों से बहुत भिन्न नहीं थी।

पल्लव-वंश––पल्लव-वंश के राजाओं का मूल कहां से हुआ, इस प्रश्न को लेकर ऐतिहासिकों ने बहुत तर्क-वितर्क किया है। किसी समय इनके विषय में यह मत प्रतिपादित किया गया था, कि पल्लव लोग पल्हव या पार्थियन थे, जिन्होंने शकों के कुछ समय बाद भारत में प्रवेश कर उत्तर-पश्चिमी क्षेत्र में अपने स्वतन्त्र राज्य स्थापित किये थे। प्रसिद्ध शक-राजा रुद्रदामा का एक अमात्य सौराष्ट्र पर शासन करने के लिये नियुक्त था, जिसका नाम सुविशाख था। यह जाति से पल्हव या पार्थियन था। सम्भवतः इसी प्रकार के पल्हव अमात्य सातवाहन-सम्राटों की ओर से भी नियत किये जाते थे, और उन्हीं में से किसी ने दक्षिण के पल्लव-राज्य की स्थापना की थी। जब सातवाहन-साम्राज्य की शक्ति क्षीण हो गई, तो सुदूर दक्षिण का शासन करने के लिये नियुक्त पल्लव अमात्य स्वतंत्र हो गया, और इस प्रकार पृथक् पल्लव-वंश का प्रारम्भ हुआ। पर यह मत केवल कल्पना पर आश्रित है, और इसके पक्ष में केवल यही युक्ति दी जा सकती है, कि पल्लव और पल्हव शब्दों में समता है। पर अब ऐतिहासिक लोग इस मत का समर्थन नहीं करते, और वे पल्लवों का पल्हवों या पार्थियनों से कोई सम्बन्ध नहीं मानते। काशीप्रसाद जायसवाल के अनुसार पल्लव लोग ब्राह्मण थे, क्योंकि वे अपने को द्रोणाचार्य और अश्वत्थामा का वंशज मानते थे। पर एक उत्कीर्ण लेख में पल्लवों को क्षत्रिय भी कहा गया है। ऐसा प्रतीत होता है, कि पल्लव लोगों ने गुण-कर्म द्वारा क्षत्रिय पद को प्राप्त किया था, और प्राचीन भारत में वर्ण का इस प्रकार परिवर्तित हो जाना कोई असाधारण बात नहीं थी।

इतना निश्चित है, कि पल्लव-राज्य की स्थापना उस समय हुई, जब सातवाहन-साम्राज्य खण्ड-खण्ड हो गया था, इस वंश द्वारा शासित प्रदेश पहले सातवाहनों की अधीनता में थे। यह माना जा सकता है, कि पल्लव-राज्य का संस्थापक पहले सातवाहनों द्वारा नियुक्त प्रान्तीय शासक मात्र था, जिसने अपने अधिपति की निर्बलता से लाभ उठाकर अपने को स्वतन्त्र कर लिया था। पल्लव-वंश की सत्ता का संस्थापक यह पुरुष सम्भवतः बप्पदेव था। कांचीपुरम् में उपलब्ध हुए दो ताम्रपत्रों से इस वंश के प्रारम्भिक इतिहास के विषय में अनेक महत्वपूर्ण बातें ज्ञात होती हैं। इन ताम्रपत्रों पर 'स्कन्दवर्मा' नाम के एक राजा के दानपत्रों को उत्कीर्ण किया गया है, जिसे एक लेख में 'युवमहाराज' और दूसरे में 'धम्ममहाराजाधिराज' कहा गया है। इससे सूचित होता है, कि एक दानपत्र उसने तब उत्कीर्ण करवाया था, जब कि वह युवराज था, और दूसरा उस समय जब कि वह महाराजाधिराज बन गया था। उसने अग्निष्टोम, वाजपेय और

अश्वमेध-यज्ञों का अनुष्ठान कर अपनी शक्ति का उत्कर्ष किया, और तुंगभद्रा व कृष्णा नदियों द्वारा सिंचित प्रदेश में शासन करते हुए कांची को अपनी राजधानी बनाया।

गुप्त-सम्राट् समुद्रगुप्त ने दक्षिणी भारत में विजययात्रा करते हुए पल्लव-राज विष्णुगोप को भी आत्मसमर्पण के लिये विवश किया था। समुद्रगुप्त की यह विजय-यात्रा चौथी सदी के मध्य भाग में हुई थी। कठिनाई यह है, कि पल्लवों के प्रारम्भिक इतिहास को जानने के लिये उत्कीर्ण लेखों के अतिरिक्त अन्य कोई साधन हमारे पास नहीं है। इन लेखों में पल्लव-वंश के राजाओं के अपने शासन-काल की तिथियां तो दी हुई हैं, पर इन राजाओं में कौन पहले हुआ और कौन पीछे, यह निर्धारित करना सम्भव नहीं है। पल्लवों के प्राचीन राजाओं के नाम तो हमें उनके दानपत्रों द्वारा ज्ञात हैं, पर पौर्वापर्य को भली भांति निश्चित कर उनके क्रमिक इतिहास का पुनरुद्धार करने में अभी तक ऐतिहासिकों को विशेष सफलता नहीं मिली है।

महेंद्रवर्मा-छठी सदी से पल्लवों का इतिहास अधिक स्पष्ट हो जाता है। इस सदी के अन्तिम भाग में सिंहविष्णु नाम के राजा ने दूर-दूर तक विजययात्रायें कर अपनी शक्ति का उत्कर्ष किया। दक्षिण दिशा में आक्रमण कर उसने चोल और पाण्ड्य राज्यों को जीत लिया। प्रसिद्ध चालुक्य-सम्राट् पुलकेशी द्वितीय के समय में पल्लववंश का राजा महेन्द्रवर्मा प्रथम था, जो सातवीं सदी के शुरू में हुआ था। पुलकेशी द्वितीय महान् विजेता था, और उसने नर्मदा नदी के दक्षिण में अपने विशाल साम्राज्य का विस्तार किया था, पल्लवराज महेन्द्रवर्मा के साथ उसके अनेक युद्ध हुए, जिनमें पुलकेशी द्वितीय विजयी हुआ। कसक्कुडी-ताम्रपत्रों से ज्ञात होता है, कि किसी युद्ध में महेन्द्रवर्मा ने भी पुलकेशी को परास्त किया था। पर इसमें सन्देह नहीं, कि चालुक्य-सम्राट् पल्लवों को परास्त कर उनके अनेक प्रदेशों को स्थिर रूप से अपनी अधीनता में लाने में समर्थ हुआ था। वेङ्गि को पल्लवों से जीतकर पुलकेशी द्वितीय ने अपने छोटे भाई कुब्ज विष्णुवर्धन को वहां का शासक नियत किया था, और इस प्रदेश के चालुक्य शासक ही आगे चलकर 'वेङ्गि के पूर्वी चालुक्य' नाम से विख्यात हुए। पुलकेशी द्वितीय द्वारा परास्त होने पर भी महेन्द्रवर्मा काञ्ची में अपनी स्वतन्त्र सत्ता को कायम रखने में समर्थ रहा। पल्लव-वंश के इतिहास में इस राजा का बहुत अधिक महत्त्व है। उसने ब्रह्मा, विष्णु और शिव के बहुत से मन्दिर अपने राज्य में बनवाये, और 'चैत्यकारि' का विरुद धारण किया। वह कविता और साहित्य का

भी प्रेमी था। 'मत्तविलासप्रहसन' नामक उसकी रचना उसकी काव्यप्रियता की परिचायक है।

नरसिंहवर्मा प्रथम—महेन्द्रवर्मा के बाद उसका पुत्र नरसिंहवर्मा प्रथम काञ्ची के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ। वह इस वंश का सबसे अधिक शक्तिशाली राजा था। उसने पल्लवों की सैन्यशक्ति को पुनः संगठित कर उत्तर दिशा में विजययात्रा प्रारम्भ की, और चालुक्यराज पुलकेशी द्वितीय को परास्त कर वातापी पर कब्जा कर लिया। नरसिहवर्मा की सेना के साथ युद्ध करते हुए ही पुलकेशी ने वीरगति प्राप्त की। प्रतापी चालुक्यों को परास्त कर उनकी राजधानी वातापी को जीत लेना नरसिंहवर्मा के जीवन की सबसे गौरवमय घटना है। इसीलिये उसने 'वातापीकोण्ड' का विरुद भी अपने नाम के साथ जोड़ लिया। सिहलद्वीप पर आक्रमण करके नरसिहवर्मा ने अपनी नौसेना की शक्ति का भी परिचय दिया। सिंहल के राजसिंहासन पर किसका अधिकार हो, इस प्रश्न को लेकर वहां गृहकलह चल रहा था। राजपद के अन्यतम उम्मीदवार मानवम्म ने नरसिंहवर्मा की शरण ली, और उसकी सहायता के लिये पल्लवराज ने दो बार नौसेना द्वारा सिहल पर आक्रमण किया। नरसिंहवर्मा का एक विरुद 'महामल्ल' भी था, इसी को लेकर उसने 'महामल्लपुरम्' नामक एक नये नगर की स्थापना की, इस नगर में उसने अनेक विशाल मन्दिरों का निर्माण कराया, जिनमें से धर्मराजरथ-मन्दिर अब तक भी विद्यमान है, और उसके गौरव व महत्ता का साक्षी है।

भारत का पर्यटन करते हुए चीनी यात्री ह्यु एनत्सांग पल्लव-राज्य में भी गया था, और इस प्रदेश को उसने 'रत्नों का आकर' लिखा है। इस प्रसिद्ध चीनी यात्री के अनुसार काञ्ची में १०० संघाराम थे, जिनमें १००० भिक्षु निवास करते थे। बौद्ध-विहारों के अतिरिक्त अन्य धर्मों के भी ८० मन्दिर व बहुत से चैत्य वहां थे।

परमेश्वरवर्मा—नरसिंहवर्मा के बाद उसका पुत्र महेन्द्रवर्मा द्वितीय और फिर उसका पौत्र परमेश्वरवर्मा पल्लवराज्य के स्वामी बने। परमेश्वरवर्मा का समकालीन चालुक्यराजा विक्रमादित्य प्रथम था, जो पुलकेशी द्वितीय के समान ही वीर और विजेता था। विक्रमादित्य ने न केवल वातापी को पल्लवों की अधीनता से मुक्त किया, अपितु परमेश्वरवर्मा को युद्ध में बुरी तरह से परास्त कर काञ्ची पर भी अपना अधिकार कर लिया। पर जिस प्रकार पल्लव लोग वातापी पर स्थायीरूप से शासन नहीं कर सके थे, वैसे ही चालुक्य भी काञ्ची को देर तक अपनी अधीनता में नहीं रख सके। शीघ्र ही परमेश्वरवर्मा ने अपनी

सैन्यशक्ति को पुनः संगठित कर लिया, और पेरुवडनंल्लुर के युद्ध में चालुक्यराज विक्रमादित्य से अपनी पहली पराजय का बदला लिया ।

नरसिंहवर्मा द्वितीय—परमेश्वरवर्मा के प्रताप और पराक्रम से पल्लवों की शक्ति इतनी बढ़ गई थी, कि जब सातवीं सदी के अन्त में उसकी मृत्यु के बाद नरसिंहवर्मा द्वितीय काञ्ची के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ, तो उसे किसी बड़े युद्ध में जूझने की आवश्यकता नहीं हुई। नरसिंहवर्मा द्वितीय का शासन-काल शांति और व्यवस्था का काल था, और इसीलिये वह अपनी शक्ति को निश्चिन्तता पूर्वक मन्दिरों के निर्माण में लगा सका। काञ्ची (काञ्जीवरम्) कैलाशनाथ और ऐरावतेश्वर के विशाल मन्दिर और महाबलिपुर के अनेक प्रसिद्ध मन्दिर राजा नरसिंहवर्मा द्वितीय के ही बनवाये हुए हैं ।

नन्दिवर्मा—नरसिंहवर्मा का उत्तराधिकारी परमेश्वरवर्मा द्वितीय था। उसके शासनकाल में भी पल्लव-राज्य में शांति और व्यवस्थाकायम रही । पर आठवीं सदी के प्रथम चरण में जब उसकी मृत्यु हो गई, तो काञ्ची के राजसिंहासन के लिये अनेक राजकुमारों में गृहकलह प्रारम्भ हुआ, जिसमें नन्दिवर्मा सफल हुआ। गृहकलह के काल में वातापी के चालुक्यराजाओं ने फिर पल्लवराज्य पर आक्रमण किया, और उसे जीतकर अपने अधीन कर लिया। पल्लवों को परास्त कर काञ्ची पर अपना आधिपत्य स्थापित करनेवाले इस वीर चालुक्य-राजा का नाम विक्रमादित्य द्वितीय था। नन्दिवर्मा ने पल्लवों की सैन्यशक्ति को पुनः संगठित किया, और काञ्ची को चालुक्योंकी अधीनता से मुक्त किया। निःसन्देह, नन्दिवर्मा बहुत वीर और महत्त्वाकांक्षी राजा था। वह केवल पल्लवों की स्वतन्त्र सत्ता स्थापित करके ही संतुष्ट नहीं हो गया, अपितु दक्षिण दिशा में विजय-यात्रायें करके चोल और पाण्ड्य देशों में उसने अपनी शक्ति का भी परिचय दिया ।

पल्लव-शक्ति का अन्त—इसमें सन्देह नहीं, कि नन्दिवर्मा पल्लवराज्य की शक्ति को पुनः स्थापित करने में समर्थ हुआ था, पर उसका कार्य देर तक स्थिर नहीं रह सका। उधर दक्षिणापथ में इस समय चालुक्यों का अन्त होकर राष्ट्रकूटों की सत्ता स्थापित हो गई थी। ये राष्ट्रकूट-राजा बड़े प्रतापी और महत्त्वाकांक्षी थे, और उत्तर व दक्षिण दोनों दिशाओं में अपने साम्राज्य का विस्तार करने में प्रयत्नशील थे। इनके सुप्रसिद्ध राजा गोविन्द तृतीय ने दक्षिण की विजय करते हुए काञ्ची पर भी आक्रमण किया, और नवीं सदी के प्रथम चरण में पल्लवों को बुरी तरह से परास्त किया ।

पल्लवों को न केवल उत्तर की ओर से किये जानेवाले राष्ट्रकूट आक्रमणों का ही सामना करना था, अपितु चोल-राज्य के राजा भी अपनी शक्ति का विस्तार करने के प्रयत्न में इस समय उत्तर की ओर आक्रमण करने में तत्पर थे। चक्की के इन दो पाटों के बीच में आकर पल्लव राज्य के लिये अपनी स्वतन्त्र सत्ता को कायम रख सकना सम्भव नहीं रहा। नवी सदी के अन्त में (८९५ ई० प० के लगभग) चोलराजा आदित्य प्रथम ने अन्तिम पल्लवराजा अपराजित वर्मा को पराजित कर काञ्ची पर कब्जा कर लिया, और इस प्रकार पल्लव-राजवंश की स्वतन्त्र सत्ता का सदा के लिये अन्त कर दिया।

(२) चोल-साम्राज्य

वर्तमान समय के तंजोर, त्रिचनापली और पुदुकोट्टा के प्रदेशों में प्राचीन समय में 'चोलमण्डल' का राज्य था, जिसका क्षेत्र उसके राजा की शक्ति के अनुसार घटता-बढ़ता रहता था। इस राज्य की कोई एक राजधानी नहीं थी। भिन्न-भिन्न समयों में उरगपुर (वर्तमान उरैयूर, त्रिचनापली के पास), तंजोर और गंगैकोण्ड-चोलपुरम् (पुहार) को राजधानी बनाकर इसके विविध राजाओं ने शासन किया। चोलमण्डल के प्राचीन इतिहास के विषय में स्पष्टरूप से ज्ञात नहीं है। पल्लव-वंश के राजा उसपर बहुधा आक्रमण करते रहते थे, और उसे अपने राज्यविस्तार का उपयुक्त क्षेत्र मानते थे। वातापी के चालुक्यराजा भी दक्षिण दिशा में विजययात्रा करते हुए उसे आक्रान्त करते रहे। यही कारण है, कि नवीं सदी के मध्य भाग तक चोलमण्डल के इतिहास का विशेष महत्त्व नहीं है, और वहां कोई ऐसा प्रतापी राजा नहीं हुआ, जो कि अपने राज्य के उत्कर्ष में विशेषरूप से समर्थ हुआ हो।

विजयालय——चोलमण्डल की शक्ति का उत्कर्ष राजा विजयालय द्वारा हुआ, जो कि ८६४ ईस्वी के लगभग राजसिहासन पर आरूढ़ हुआ था। उससे पूर्व चोलों की स्थिति पल्लव-वंश के सामन्तों के सदृश थी। पर विजयालय ने पल्लवों की अधीनता से चोलमण्डल को मुक्त किया, और स्वतन्त्रतापूर्वक शासन करना शुरू किया। उसकी राजधानी तंजोर थी।

आदित्य——८८० ईस्वी के लगभग विजयालय का पुत्र आदित्य चोलमण्डल का स्वामी बना। उसने पल्लव-राजा अपराजितवर्मा को परास्त कर ८९५ ई० के लगभग काञ्ची पर कब्जा कर लिया, और सम्पूर्ण पल्लव-राज्य को अपनी अधीनता में ले लिया। पल्लवों की पराजय के कारण आदित्य के चोल-राज्य की

उत्तरी सीमा दक्षिणापथपति राष्ट्रकूटों के राज्य की सीमा के साथ आ लगी। तलकाड के गंग-राज्य पर आक्रमण कर आदित्य ने उसे भी जीत लिया, और गंग-वंश के राजा को अपना सामन्त बनाया।

परान्तक प्रथम (९०७–९४९)--आदित्य की मृत्यु के बाद उसका पुत्र परान्तक चोल-राज्य का स्वामी बना। उसने दक्षिण की ओर आक्रमण कर पाण्ड्य राज्य को जीत लिया, और कुमारी अन्तरीप तक अपनी शक्ति का विस्तार किया। वह समुद्र पार कर सिंहलद्वीप (लंका) को भी आक्रान्त करना चाहता था, पर इसमें उसे सफलता नहीं हुई। जिस समय परान्तक सुदूर दक्षिण में युद्ध कर रहा था, काञ्ची के पल्लवकुल ने अपने लुप्त गौरव की पुनः प्रतिष्ठा का प्रयत्न किया, पर चोलराज ने उसे बुरी तरह से कुचल डाला, और भविष्य में पल्लवों ने फिर कभी अपने उत्कर्ष का प्रयत्न नहीं किया।

यद्यपि परान्तक पल्लवों का विनाश करने में सफल हुआ, पर शीघ्र ही उसे एक नये शत्रु का सामना करना पड़ा। मान्यखेट का राष्ट्रकूट-राज्य चोलराज्य के उत्तर में स्थित था, और वहां के राजा चोलों की बढ़ती हुई शक्ति से बहुत चिन्तित थे। राष्ट्रकूटराजा कृष्ण तृतीय (६४०-६६८) ने दक्षिण से इस नये शत्रु का मुकाबला करने के लिये विजय-यात्रा प्रारम्भ की, और काञ्ची को एक बार फिर राष्ट्रकूट-साम्राज्य के अन्तर्गत किया। पर कृष्ण तृतीय केवल काञ्ची की विजय से ही संतुष्ट नहीं हुआ। उसने दक्षिण दिशा में और आगे बढ़कर तंजोर पर भी आक्रमण किया, जो इस समय चोलराज्य की राजधानी था। तंजोर को जीतकर उसने 'तंजजैयुकोण्ड' की उपाधि धारण की, और कुछ समय के लिये चोलराज्य की स्वतन्त्र सत्ता का अन्त कर किया। चोलराज परान्तक के पुत्र राजादित्य ने राष्ट्रकूटों से युद्ध करते हुए ही वीरगति प्राप्त की। राष्ट्रकूटों के उत्कर्ष के कारण दसवीं सदी के मध्य भाग में चोलों की शक्ति बहुत मन्द पड़ गई थी। यही कारण है, कि परान्तक प्रथम के पश्चात् जिन अनेक राजाओं ने दसवीं सदी के अन्त तक तंजोर का शासन किया, उनकी स्थिति स्थानीय राजाओं के सदृश थी।

राजराज प्रथम—पर चोलराज्य की यह दुर्दशा देर तक कायम नहीं रही। ६८५ ईस्वी में इस राज्य का स्वामी राजराज प्रथम बना, जो बहुत ही प्रतापी और महत्त्वाकांक्षी था। इस समय तक दक्षिणापथ में राष्ट्रकूटों की शक्ति क्षीण हो चुकी थी, और उनका अन्त कर चालुक्य-वंश ने कल्याणी को राजधानी बनाकर अपनी शक्ति स्थापित कर ली थी। दक्षिणापथ में राज-परिवर्तन के कारण

जो स्थिति उत्पन्न हो गई थी, राजराज प्रथम ने उससे पूरा लाभ उठाया, और अपने राज्य का विस्तार शुरू किया। सबसे पूर्व उसने चोलमण्डल के दक्षिण में स्थित पाण्ड्य और केरल-राज्यों पर आक्रमण किये, और उन्हें जीतकर कन्या-कुमारी तक अपने राज्य को विस्तृत कर लिया। समुद्र पार कर उसने सिंहल-द्वीप में भी विजय-यात्रा की, और उसके उत्तरी प्रदेश को भी अपने राज्य में शामिल किया। पश्चिम दिशा में उसने द्वारसमुद्र के होयसाल-राज्य की विजय की, और उसके राजा को अपना सामन्त बनाया। पाण्ड्य, केरल और द्वारसमुद्र को जीत लेने के बाद राजराज प्रथम ने उत्तर दिशा में आक्रमण किया, जहां अब चालुक्यराजा सत्याश्रय (९९७-१००८) का शासन था। सत्याश्रय को परास्त कर कुछ समय के लिये राजराज ने कल्याणी पर भी कब्जा किया, पर दक्षिणापथ को स्थायी रूप से अपने आधिपत्य में रखने का यत्न उसने नहीं किया। दक्षिणा-पथ पर चोलराज का यह आक्रमण एक विजय-यात्रा के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं था। इसीलिये राजराज के वापस लौट जाने पर सत्याश्रय ने दक्षिणापथ पर फिर अधिकार कर लिया। कल्याणी की विजय के बाद राजराज प्रथम ने वेङ्गि के पूर्वी चालुक्यराज्य पर चढ़ाई की, और चालुक्यराज शक्तिवर्मा के साथ उसके अनेक युद्ध हुए। शक्तिवर्मा के उत्तराधिकारी विमलादित्य (१०११-१०१८) ने राजराज के आक्रमणों से परेशान होकर उसकी अधीनता स्वीकृत कर ली, और चोलराज ने भी अपनी पुत्री का विवाह विमलादित्य के साथ करके उसे अपना सम्बन्धी व परम सहायक बना लिया।

नौसेना की दृष्टि से भी राजराज प्रथम बहुत शक्तिशाली था। समुद्र पार कर जिस प्रकार उसने सिंहलद्वीप पर आक्रमण किया था, वैसे ही उसने लक्कदीव और मालदीव नामक द्वीपों की भी विजय की। इसमें सन्देह नहीं, कि राजराज प्रथम एक अत्यन्त प्रतापी राजा था, और उसके नेतृत्व में चोलराज्य ने बहुत अधिक उन्नति की। तंजोर में विद्यमान राजराजेश्वर शिवमन्दिर उसके वैभव का सर्वोत्कृष्ट स्मारक है, और उसकी दीवार पर उत्कीर्ण प्रशस्ति ही उसके इतिहास का परिचय प्राप्त करने का मुख्य साधन है। ९८५ से १०१२ ईस्वी तक राजराज प्रथम ने शासन किया, और इस काल में चोलराज्य की बहुत उन्नति की।

राजेन्द्र प्रथम (१०१२-१०४४)—चोलमण्डल का सबसे प्रतापी राजा राजेन्द्र प्रथम था, और उसके शासनकाल में चोलराज्य उन्नति की चरम सीमा को पहुंच गया था। सिंहलद्वीप पर आक्रमण कर उसे अविकल रूप से अपने अधीन किया, और सम्पूर्ण सिंहल को चोल-साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया।

पाण्ड्य और केरल राज्यों पर उसने चोलों के आधिपत्य को और अधिक दृढ़ किया, और उनका शासन करने के लिये अपने पुत्र जटावर्मा को नियत किया। इस प्रकार सुदूर दक्षिण के सब प्रदेशों को पूर्ण रूप से अपने शासन में लाकर राजेन्द्र ने दक्षिणापथ की ओर दृष्टि फेरी, और कल्याणी के चालुक्यों के साथ युद्ध शुरू किये। कल्याणी के राजसिंहासन पर इस समय जयसिंह जगदेकमल्ल आरूढ़ था। उसे अनेक बार चोलसेनाओं द्वारा परास्त होना पड़ा। वेङ्गि के चालुक्य-राजा इस समय चोलों के निकट सम्बन्धी,व परम सहायक थे, अतः उनके साथ युद्ध करने की राजेन्द्र को कोई आवश्यकता नहीं हुई। वे चोल-सम्राट् को अपना अधिपति स्वीकृत करते थे। दक्षिणापथ के चालुक्यराजा जयसिंह को परास्त करने के बाद अब राजेन्द्र ने उत्तरी भारत पर हमला किया, और विजय-यात्रा करते-करते गंगा नदी के तट तक पहुंच गया। उत्तरी भारत की विजय-यात्रा में जिन देशों को राजेन्द्र ने आक्रान्त किया, उनमें कलिङ्ग, दक्षिण कोशल, दण्डभुक्ति (बालासोर और मिदनापुर), राढ, पूर्वी बंगाल और गौड़ के नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। उत्तर-पूर्वी भारत में इस समय पालवंशी राजा महीपाल का शासन था। राजेन्द्र ने उसे परास्त किया, और गंगा के तट पर पहुंचकर 'गंगैकोण्ड' की उपाधि धारण की। पर उत्तरी भारत में स्थिर रूप से शासन करने का प्रयत्न राजेन्द्र ने नहीं किया। स्थल में अपने साम्राज्य का विस्तार कर चोलराज राजेन्द्र ने समुद्र-पार भी अनेक आक्रमण किये, और पेगू (बरमा में) के राज्य को जीत लिया। निःसन्देह राजेन्द्र प्रथम अनुपम वीर और विजेता था। उसकी शक्ति केवल स्थल में ही प्रगट नही हुई, नौसेना द्वारा उसने समुद्र-पार भी विजय-यात्रा की।

'गंगैकोण्ड चोलपुरम्' नामक नगरी की स्थापना कर राजेन्द्र ने उसे अपनी राजधानी बनाया, और उसे अनेक मन्दिरों व एक विशाल सरोवर द्वारा विभूषित किया।

राजाधिराज (१०४४-१०५२)——राजेन्द्र प्रथम की मृत्यु के अनन्तर उसका पुत्र राजाधिराज चोल-साम्राज्य का स्वामी बना। उसकी शक्ति का उपयोग प्रधानतया उन विद्रोहों को शांत करने में हुआ, जो उसके विशाल साम्राज्य में समय-समय पर होते रहते थे। विशेषतया पाण्ड्य, केरल और सिंहल के राज्यों ने राजाधिराज के शासनकाल में स्वतन्त्र होने का प्रयत्न किया, पर चोलराज ने उन्हें बुरी तरह से कुचल डाला। सुदूर दक्षिण के प्रदेशों में अपने शासन को सुव्यवस्थित रूप से स्थापित कर राजाधिराज ने कल्याणी के चालुक्य-राज्य के

साथ संघर्ष शुरू किया। पर इन युद्धों में उसे सफलता नहीं हुई, और चालुक्यों के साथ युद्ध करते हुए रणक्षेत्र में ही उसकी मृत्यु हुई।

राजेन्द्र द्वितीय (१०५२-१०६३)—राजाधिराज की मृत्यु के बाद उसके छोटे भाई राजेन्द्र द्वितीय ने रणक्षेत्र में ही चोलों के राजमुकुट को अपने सिर पर धारण कर लिया, और चालुक्यराज सोमेश्वर प्रथम आहवमल्ल के साथ संघर्ष को जारी रखा। इन युद्धों में किसकी विजय हुई, यह निश्चित कर सकना सम्भव नहीं है, क्योंकि सोमेश्वर और राजेन्द्र द्वितीय दोनों ने ही अपनी प्रशस्तियों में अपनी विजयों का उल्लेख किया है। सम्भवतः इन युद्धों में न चालुक्यराजा चोलों को परास्त कर सका, और न राजेन्द्र द्वितीय चालुक्यों को।

वीर राजेन्द्र (१०६३-१०७०)—राजेन्द्र द्वितीय के बाद उसका छोटा भाई वीर राजेन्द्र चोल-साम्राज्य का स्वामी बना। उसके शासनकाल में भी चालुक्यों के साथ निरन्तर युद्ध होते रहे। वीर राजेन्द्र के शासन-काल में चालुक्यों और चोलों के संघर्ष में चोलों को सफलता मिली, और उसने तुंगभद्रा और कृष्णा नदियों के संगम पर चालुक्यराज सोमेश्वर प्रथम को परास्त किया।

अधिराजेन्द्र (१०७०)—वीर राजन्द्र के बाद उसका पुत्र अधिराजेन्द्र राजा बना। पर वह चोल-साम्राज्य की शक्ति को अक्षुण्ण रखने में असमर्थ रहा। उसके शासन-काल में सर्वत्र विद्रोह शुरू हो गये, और इन्हीं के विरुद्ध संघर्ष करते हुए अपने राज्य के पहले साल में ही उसकी मृत्यु हो गई।

कुलोत्तुंग (१०७०-११२२)—अधिराजेन्द्र के कोई सन्तान नहीं थी। इस दशा में चोल-राज्य के राजसिंहासन पर वेङ्गि का चालुक्यराजा राजेन्द्र कुलोत्तुङ्ग आरूढ़ हुआ, जो चोल-राजकुमारी का पुत्र था। कुलोत्तुंग ने चोल-साम्राज्य में व्यवस्था स्थापित रखने के कार्य में अद्भुत पराक्रम प्रदर्शित किया। पर इस समय अनेक राजवंश प्रबल होने शुरू हो गये थे, और उनके साथ निरन्तर संघर्ष करते रहने के कारण चोलराजा की शक्ति क्षीण होनी प्रारम्भ हो गई थी। पर कुलोत्तुङ्ग के शासनकाल में चोल-राज्य की शक्ति बहुत कुछ कायम रही, यद्यपि इसके लिये उसे निरन्तर युद्धों में व्यापृत रहना पड़ा।

चोल-राज्य का अन्त—कुलोत्तुङ्ग के उत्तराधिकारी निर्बल थे। वे अपने राज्य को अक्षुण्ण बना रखने में असमर्थ रहे। सुदूर दक्षिण में पाण्ड्य, केरल और सिंहल-राज्यों में विद्रोह की प्रवृत्ति बहुत बढ़ गई, और वे चोलों की अधीनता से मुक्त हो गये। समुद्र-पार के जिन द्वीपों व प्रदेशों पर राजेन्द्र प्रथम द्वारा आधिपत्य स्थापित किया गया था, उन्होंने भी अब स्वतन्त्रता प्राप्त कर ली।

द्वारसमुद्र के होयसाल और इसी प्रकार के अन्य राजवंशों के उत्कर्ष के कारण चोल-राज्य अब बिलकुल क्षीण हो गया। चोलों के अनेक सामन्त इस समय निरन्तर विद्रोह के लिये तत्पर रहते थे, और चोल-राजवंश के अन्तःपुर व राज-दरबार भी षड्यन्त्रों के अड्डे बने रहते थे। इस स्थिति में चोल-राजाओं की स्थिति सर्वथा नगण्य हो गई थी।

(३) पाण्ड्य और केरल

तामिलनाड में जहां आजकल मदुरा और तिनेवली के जिले हैं, वहीं प्राचीन समय में पाण्ड्य-राज्य की स्थिति थी। चोलमण्डल के समान पाण्ड्यराज्य की सीमा भी उसके राजा की शक्ति के अनुसार घटती-बढ़ती रही। इस राज्य की राजधानी मदुरा थी, जो तामिल संस्कृति और साहित्य का सुप्रसिद्ध केन्द्र था। पाण्ड्यराज्य का प्राचीन राजनीतिक इतिहास अन्धकार में है, यद्यपि साहित्य द्वारा इस राज्य के कतिपय राजाओं के नाम हमें ज्ञात हैं। छठी सदी के अन्तिम भाग में कंडुगोन नामक राजा ने पाण्ड्य-राज्य के उत्कर्ष का सूत्रपात्र किया। उसके वंश में अरिकेशरी मारवर्मा, कोच्चडयन् रणधीर, मारवर्मा राजसिंह प्रथम और नेडुन्जेडयन् वरगुण नामक राजा हुए, जिनके शासनकाल में पाण्ड्य-राज्य ने अच्छी उन्नति की, और समीप के प्रदेशों को जीतकर अपने राज्य के क्षेत्र को विस्तृत भी किया। ये राजा आठवीं सदी में हुए थे। पाण्ड्य देश के अगले राजाओं में श्रीमार श्रीवल्लभ बहुत प्रसिद्ध हुआ। उसका शासनकाल लगभग ८१५ से ८६२ ईस्वी तक था। श्रीमार श्रीवल्लभ ने सिंहलद्वीप पर आक्रमण कर उसे अपने अधीन किया, और फिर चोल, पल्लव व गंग राजाओं को परास्त किया। निःसन्देह, श्रीवल्लभ इस राज्य का बहुत प्रतापी राजा था, और उसके समय में पाण्ड्य देश एक अच्छा महत्त्वपूर्ण व प्रबल राज्य बन गया था।

पर पाण्ड्य-राज्य की यह समृद्धि देर तक कायम नहीं रही। दसवीं सदी में चोल-राज्य का किस प्रकार उत्कर्ष हुआ, इसपर हम पिछले प्रकरण में प्रकाश डाल चुके हैं। चोलराज परान्तक प्रथम (९०७-९४९) ने अपने राज्य का विस्तार करते हुए पाण्ड्य देश पर आक्रमण किया, और उसे विजय कर लिया। इस समय मदुरा के राजसिंहासन पर मारवर्मा राजसिंह द्वितीय आरूढ़ था, जो परान्तक द्वारा परास्त हो गया, और मदुरा पर चोलराज का अधिकार हो गया। इसी उपलक्ष्य में परान्तक ने 'मदुरैकोण्ड' की उपाधि भी धारण की थी। चोलों की इस विजय के कारण पाण्ड्य देश की स्थिति एक सामन्त राज्य के सदृश रह गई, क्योंकि

बाद के पाण्ड्यराजा प्रतापी चोल-सम्राटों के विरुद्ध विद्रोह कर स्वतन्त्र होने की शक्ति नहीं रखते थे। पर इससे यह नहीं समझना चाहिये, कि पाण्ड्यराजाओं ने चोलों का जूआ उतार फेंकने का कभी प्रयत्न ही नहीं किया। दसवीं सदी के मध्य में जब राष्ट्रकूटराजा कृष्ण तृतीय ने चोलों को बुरी तरह से परास्त किया, तो पाण्ड्यराजा ने इस स्थिति से लाभ उठाकर स्वतन्त्र होने का प्रयत्न किया। पर जो प्रतापी राष्ट्रकूट-सम्राट् चोलों को जीतने में समर्थ हुआ था, उसने पाण्ड्य-राज्य को भी अपना वशवर्ती बनाया, और उसने अपने पुत्र जटावर्मा को वहां का शासन करने के लिये नियत किया। इसके बाद भी अनेक बार पाण्ड्य-राज्य ने स्वतन्त्र होने का प्रयत्न किया, पर बारहवीं सदी के अन्त तक उसे सफलता प्राप्त नहीं हुई, और उसकी स्थिति अधीनस्थ राज्य के सदृश ही बनी रही।

बारहवीं सदी के अन्त में जब चोल-राज्य बहुत निर्बल हो गया, तो पाण्ड्य को अपने उत्कर्ष का अवसर प्राप्त हुआ, और उसके राजा जटावर्मा कुलशेखर (११९०–१२१६) ने अपने राज्य को स्वतन्त्र कर लिया। एक बार फिर पाण्ड्य-राज्य का उत्कर्ष-काल प्रारम्भ हुआ, और वह सुदूर दक्षिण की प्रधान राजशक्ति बन गया। जटावर्मा कुलशेखर का उत्तराधिकारी मारवर्मा सुन्दर पाण्ड्य (१२१६–१२३८) था। उसने चोल-राज्य पर आक्रमण कर उसे जीत लिया, और तंजोर का ध्वंस किया। इस समय पासा पलट गया था, और चोल-राज्य की स्थिति अधीनस्थ सामन्तराज्य की रह गई थी। मारवर्मा के बाद के पाण्ड्य-राजाओं में जटावर्मा सुन्दर पाण्ड्य (१२५१–१२७२) बहुत प्रसिद्ध हुआ। वह चोल-राज्य से भी आगे बढ़ा, और काञ्ची पर उसका अधिकार हो गया। दक्षिणी भारत के होयसाल, काकतीय आदि राजवंशों के अन्य अनेक राज्यों को भी इस प्रतापी राजा ने जीतकर अपने अधीन किया।

पाण्ड्य-राज्य के राजनीतिक इतिहास में अन्य कोई ऐसी महत्त्वपूर्ण बात नहीं है, जिसका यहां उल्लेख किया जा सके। तेरहवीं सदी इस राज्य के उत्कर्ष की सदी थी, और इसके राजा जहां वीर और प्रतापी थे, वहां साथ ही मन्दिरों का निर्माण कर अपने राज्य के नगरों को विभूषित करने पर भी वे बहुत ध्यान देते थे। चौदहवीं सदी के प्रारम्भ भाग में जब दिल्ली के सुलतान अलाउद्दीन खिलजी के प्रतापी सेनापति मलिक काफूर ने दक्षिणी भारत की विजय-यात्रा की, तो उसने मदुरा का भी ध्वंस किया। इसी समय पाण्ड्यराज्य की स्वतन्त्रता और उत्कर्ष का अन्त हुआ।

वर्तमान समय के मलाबार, कोचीन और ट्रावन्कोर के प्रदेश प्राचीन केरल-

चालीसवां अध्याय

मध्यकाल की सभ्यता और संस्कृति

(१) ह्रास का काल

छठी शताब्दी में गुप्त-साम्राज्य का क्षय हुआ, और बारहवीं सदी के अन्त तक उत्तरी भारत के बड़े भाग पर मुसलिम आक्रान्ताओं का शासन स्थापित हो गया। सातवीं सदी से बारहवीं सदी तक——छः शताब्दियों को भारत के इतिहास का मध्य युग कहा जा सकता है। इस युग की मुख्य विशेषतायें निम्नलिखित थीं——

(१) इन सदियों में भारत में कोई ऐसी राजनीतिक शक्ति नहीं थी, जो देश के बड़े भाग पर अपना आधिपत्य स्थापित कर एक ऐसे साम्राज्य की नींव डालने में समर्थ होती, जिससे यह देश एक राजनीतिक सूत्र में संगठित रहता। राजनीतिक इतिहास की दृष्टि से यह काल अराजकता और अव्यवस्था का था। आचार्य चाणक्य से प्रेरणा पाकर मौर्य चन्द्रगुप्त ने हिमालय से समुद्रपर्यन्त सहस्र योजन विस्तीर्ण इस आर्य भूमि में जिस एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की थी, और जो गुप्त-सम्राटों के प्रताप के कारण हिन्दूकुश पर्वतमाला के पार बाल्हीक देश तक भी विस्तृत हो गया था, उसका अब अन्त हो गया था। उसका स्थान अब बहुत से ऐसे राजवंशों ने ले लिया था, जिनके राजा निरन्तर आपस में लड़ते रहते थे, और जो अनेक बार दूर-दूर तक विजययात्रायें करके भी किसी स्थिर साम्राज्य की नींव डालने में असमर्थ रहते थे। सातवीं सदी के पूर्वार्ध में स्थानेश्वर और कन्नौज के राजा हर्षवर्धन ने उत्तरी भारत में, और चालुक्य पुलकेशी द्वितीय ने दक्षिणापथ में विशाल साम्राज्यों का निर्माण किया। पर उनकी कृति देर तक स्थिर नहीं रही। आठवीं सदी में उत्तरी भारत में पाल, गुर्जरप्रतीहार, कर्कोटक आदि राजवंशों ने और दक्षिणी भारत में राष्ट्रकूट, पल्लव, गंग, चोल, चालुक्य आदि राजवंशों ने शासन किया। यही दशा नवीं,

दसवीं, ग्यारहवीं और बारहवीं सदियों में रही। यद्यपि इस काल में शासन करने-वाले राजवंशों में परिवर्तन होता रहा, पर राजनीतिक दशा में कोई अन्तर नहीं आया। कन्नौज में गुर्जरप्रतीहारों का स्थान गहडवालों ने ले लिया, और दक्षिणापथ में राष्ट्रकूटों का स्थान कल्याणी के चालुक्य ने। पर गुप्त-साम्राज्य के क्षय के बाद भारत में जो राजनीतिक अव्यवस्था उत्पन्न हो गई थी, उसमें किसी प्रकार का अन्तर नहीं आया। यह स्पष्ट है, कि राजशक्ति की दृष्टि से यह ह्रास का काल था।

(२) प्राचीन बौद्ध-धर्म का स्वरूप इस युग में बहुत परिवर्तित हुआ। मन्त्र-शक्ति और तान्त्रिक क्रियाओं के प्रवेश के कारण बौद्ध-धर्म के रूप में बहुत परिवर्तन आ गया, और वज्रयानी बौद्ध-गुरु मन्त्र-सिद्धियों द्वारा अपने अनुयायियों का कल्याण करने के लिये प्रयत्नशील हुए। पौराणिक हिन्दू-धर्म में भी शाक्त (वाम-मार्गी) सम्प्रदाय के रूप में एक ऐसे मत का प्रादुर्भाव हुआ, जो वज्रयान से बहुत मिलता-जुलता था। बौद्ध और हिन्दू—दोनों धर्मों में वाममार्ग का प्रवेश इस युग की महत्त्वपूर्ण विशेषता है। इसके कारण भारत के प्राचीन धर्मों की शक्ति और महत्ता में बहुत अन्तर आया, और जीवन को नवस्फूर्ति, सदाचार भावना व उच्च आदर्श से अनुप्राणित करने का जो कार्य भारत के प्राचीन धर्म किया करते थे, उसका स्थान अब उन रहस्यमयी क्रियाओं ने ले लिया, जिनकी तह तक पहुंच सकना सर्वसाधारण जनता के लिये सर्वथा असम्भव था। इतना ही नहीं, भारत के धर्म में इस समय वह शक्ति भी नहीं रह गई, जो किसी समय यवन, शक, पार्थियन कुशाण, हूण आदि विदेशी जातियों को आत्मसात् करने में समर्थ हुई थी। दसवीं सदी के अन्त में जब महमूद गजनवी ने भारत पर आक्रमण किया, और तुर्क लोग भारत में बसने लगे, तो इस देश के शैव, वैष्णव आदि धर्म उन्हें अपना अनुयायी बनाने में या उन्हें अपने दायरे में ले सकने में असमर्थ रहे। बैक्ट्रिया के जिन यवनों ने दूसरी सदी ई० पू० में भारत में प्रवेश किया था, सभ्यता व संस्कृति की दृष्टि से वे अच्छे उन्नत थे। पर फिर भी उन्होंने भारत के धर्म की दीक्षा ली। मुसलिम तुर्कों व अफगानों को आत्मसात् करने के विषय में जो असामर्थ्य भारतीयों ने प्रदर्शित किया, उसमें इस्लाम की शक्ति जहां कारण थी, वहां भारतीय धर्मों का आन्तरिक ह्रास भी उसके लिये उत्तरदायी था।

(३) सामाजिक दृष्टि से इस युग में संकीर्णता उत्पन्न हुई। प्राचीन समय में भारत का सामाजिक संगठन वर्ण-धर्म के सिद्धान्त पर अवश्य आश्रित था, पर उस समय जातिभेद ने उग्र रूप धारण नहीं किया था। मनुष्य अपनी इच्छा के

अनुसार शिल्प, व्यवसाय व पेशे का अनुसरण कर सकता था, और कर्म के अनुसार ऊंचे या नीचे वर्ण को भी प्राप्त कर सकता था। विविध वर्णों के लोगों में विवाह-सम्बन्ध भी निषिद्ध नहीं था, और खान-पान के मामले में भी लोग संकीर्ण विचार नहीं रखते थे। पर मध्यकाल में यह स्थिति बदल गई, और जातिभेद उस रूप में आ गया, जिसमें कि वह आजकल पाया जाता है। भारतीय समाज के पुराने वर्णों, वर्गों, जनों (कबीलों) और श्रेणियों (व्यवसायी व व्यापारी वर्ग के संगठनों) का जात-पांत के रूप में परिवर्तित हो जाना इस युग की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विशेषता है।

(४) यह सच है, कि इस युग में भी भारत में अनेक कवि, दार्शनिक, स्मृतिकार और विज्ञानवेत्ता हुए। पर साहित्य और ज्ञान के क्षेत्र में इस काल के भारतीयों ने उस असाधारण प्रतिभा का परिचय नहीं दिया, जो प्राचीन काल के विद्वानों ने प्रदर्शित की थी। इस युग के कवि और साहित्यिक वाल्मीकि और कालिदास का मुकाबला नहीं कर सकते। उनके काव्य में सौन्दर्य अवश्य है, पर उसका प्रधान कारण अलंकार है, स्वाभाविकता नहीं। इस युग के दार्शनिक सृष्टि के तत्त्वों की गहराई में पहुंचने का उतना प्रयत्न नहीं करते, जितना कि शब्दजाल द्वारा बाल की खाल उतारने के लिये करते हैं। यही कारण है, कि मौर्यों और गुप्तों के युग में भारत में जो असाधारण उन्नति हुई थी, उसकी प्रगति इस समय अवरुद्ध हो गई। गणित, ज्योतिष आदि विज्ञानों के क्षेत्र में भी इस युग में कोई विशेष उन्नति नहीं हुई। ऐसा प्रतीत होता है, कि गुप्त-युग तक भारत में जो असाधारण जीवन और प्रतिभा थी, वह मध्यकाल में बहुत कुछ मन्द पड़ गई थी, और भारत का विकास रुक गया था।

इस युग में इस देश के विचारक ऐसा मानने लगे थे, कि संसार में सर्वत्र ह्रास ही ह्रास दृष्टिगोचर होता है। यह सर्वथा स्वाभाविक है, कि मनुष्य की शक्ति और ज्ञान में भी ह्रास हो। एक दर्शन-ग्रन्थ में इस सिद्धान्त को बहुत युक्ति-पूर्वक प्रतिपादित किया गया है, और यह इस बात का स्पष्ट प्रमाण है, कि वस्तुतः इस युग के भारतीयों में ह्रास की प्रक्रिया जारी थी।

पर इस प्रसंग में यह निर्दिष्ट कर देना भी आवश्यक है, कि संसार के अन्य देशों में भी यह काल अवनति और ह्रास का था। रोमन साम्राज्य के पतन के बाद इसी काल में यूरोप में भी सर्वत्र अव्यवस्था और अराजकता छाई हुई थी। प्राचीन ग्रीस और रोम में जिस प्रकार अनेक तत्त्ववेत्ताओं ने प्रकृति के विभिन्न तथ्यों की खोज के लिये चिन्तन किया, इस युग के यूरोप में उसका सर्वथा अभाव

था। यूरोप के इतिहास में इस युग को 'अन्धकार युग' कहा जाता है, जब कि पाश्चात्य संसार की उन्नति एकदम अवरुद्ध-सी हो गई थी। चीन के इतिहास में अपकर्ष का काल दसवीं सदी में शुरू हुआ। शुंग-वंश के बाद वहां भी उसी प्रकार की अव्यवस्था और अराजकता उत्पन्न हुई, जैसी कि भारत और पाश्चात्य संसार में थी।

गुप्त-युग के बाद भारत में जो ह्रास की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई, उसका प्रधान कारण राजनीतिक एकता और व्यवस्था का अभाव ही था। कोई देश तभी उन्नति के मार्ग पर आरूढ़ हो सकता है, जब कि वहां शांति और व्यवस्था स्थापित रहे। भारत के मध्यकालीन इतिहास में विविध राजवंश एक दूसरे के साथ निरन्तर युद्ध में व्यापृत रहे। इनके पारस्परिक संघर्ष के कारण वे परिस्थितियां नष्ट हो गई, जिनमें किसी देश को उन्नति का अवसर मिलता है। धर्म भी मनुष्य को उन्नति की प्रेरणा देता है। पर इस युग में भारत के धर्म में भी वह शक्ति नहीं रह गई थी, जो मानव-समाज को उच्च आदर्श की ओर ले जाती है। बौद्ध-धर्म और पौराणिक हिन्दू-धर्म--दोनों के लिये यह अवनति का काल था।

(२) शासन-व्यवस्था

मध्य युग में भारत बहुत से छोटे-बड़े राज्यों में विभक्त था, जिनकी सीमायें राजा के वैयक्तिक शौर्य और शक्ति के अनुसार घटती-बढ़ती रहती थीं। इन राज्यों की शासन-व्यवस्था का क्या स्वरूप था, इस विषय पर विचार करते हुए निम्नलिखित बातों को ध्यान में रखना आवश्यक है—

(१) इस समय भारत के विविध राज्यों में सामन्तपद्धति का विकास हो गया था। महाराजाधिराज की अधीनता में बहुत से छोटे बड़े सामन्तराजा होते थे, जो अपने-अपने क्षेत्र में पृथक् रूप से शासन करते थे। इन सामन्तराजाओं की अपनी सेना होती थी, इनका अपना राजकोष होता था, और अपने प्रदेश में इनकी स्थिति स्वतन्त्र शासक के सदृश रहती थी। यदि महाराजाधिराज निर्बल हो, तो ऐसे सुवर्णीय अवसर का लाभ उठाकर पूर्ण रूप से स्वतन्त्र हो जाने में ये जरा भी संकोच नहीं करते थे, और स्वयं विजययात्रा के लिये निकल पड़ते थे। इस युग की सामन्तपद्धति के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिये एक उदाहरण पर्याप्त होगा। पालवंशी सम्राट् धर्मपाल (७६९—८०९) ने जब कन्नौज के राजा इन्द्रायुध या इन्द्रराज को परास्त किया, तो उसने इस राज्य को सीधा अपने शासन में नहीं लिया, अपितु आयुध वंश के ही एक कुमार चक्रायुध को कन्नौज के राजसिंहासन

पर प्रतिष्ठापित किया। चक्रायुध की स्थिति पाल-सम्राट् धर्मपाल के 'महासामन्त' की थी, और उसकी अधीनता में कुरु, यदु, यवन, अवन्ति, गांधार, कीर, भोज, मत्स्य और मद्र आदि के राजा सामन्त की स्थिति में अपने-अपने प्रदेश का शासन करते थे। स्वयं धर्मपाल इस बात के लिये उत्सुक था, कि कन्नौज के अधीनस्थ सामन्त-राजा वहां के महासामन्त चक्रायुध के आधिपत्य को स्वीकार करें। इस युग के एक उत्कीर्ण लेख के अनुसार "सामन्तराजाओं को कांपते हुए राजमुकुटोंसहित आदर से झुककर उसे (चक्रायुध को) स्वीकार करना पड़ा। पंचाल के वृद्धों ने उसके लिये सुवर्ण के अभिषेक-घट खुशी से पकड़े।" यह महाप्रतापी चक्रायुध जिसकी अधीनता में इतने प्रदेश थे, स्वतन्त्र राजा न होकर धर्मपाल का महा सामन्तमात्र था। सामन्तपद्धति (फ्यूडल सिस्टम) का सबसे बड़ा दोष यही होता है, कि उसके कारण राज्यलक्ष्मी किसी एक राजवंश में स्थिर नहीं रहने पाती, और अकेन्द्रीभाव की प्रवृत्तियों को बल मिलता रहता है। इसके कारण केन्द्रीय राजशक्ति कभी इतनी सबल नहीं होने पाती, कि देश में स्थायी शांति रह सके।

जब कौटलीय अर्थशास्त्र, कामन्दक नीतिसार, राजधर्मपर्व (शांति पर्व, महाभारत) आदि राजनीतिसम्बन्धी ग्रन्थ लिखे गये, तब भारत में सामन्त-पद्धति नहीं थी। इस पद्धति के विकसित हो जाने पर किसी आचार्य ने राजनीति-विषयक कोई ऐसा ग्रन्थ नहीं लिखा, जिसमें इस पद्धति पर विशदरूप से प्रकाश डाला गया हो। पर मध्यकाल में विरचित युक्तिकल्पतरु ग्रन्थ के लेखक ने राजा का लक्षण करते हुए यह प्रश्न किया, कि यह क्या बात है जो चक्रवर्ती सम्राट् भी राजा कहाता है, और किसी ग्राम या जागीर के स्वामी की भी यही संज्ञा होती है। यह प्रश्न निःसन्देह महत्त्व का था, क्योंकि सार्वभौम सम्राट् और ग्रामाधिपति की स्थिति में बहुत अन्तर होता है। नीतिकार ने इस प्रश्न का यही उत्तर दिया, कि जो कोई भी अपने क्षेत्र में अपने राजशासन को स्वीकार कराने में समर्थ हो, उसी को राजा कहा जाना चाहिये। राजा का यह लक्षण सामन्तपद्धति के राजा पर पूरी तरह से चरितार्थ होता है।

(२) प्राचीन युग के जनपदों का इस काल में अन्त हो चुका था। यद्यपि मौर्य-साम्राज्य अत्यन्त विशाल था, पर जनपदों की स्थानीय स्वतन्त्रता उसमें कायम थी। इसीलिये तक्षशिला और पाटलिपुत्र जैसे नगरों के शासन में वहां की पौरसभा का महत्त्वपूर्ण स्थान था, और विविध जनपदों में उनकी जानपद-सभायें पर्याप्त महत्त्व रखती थीं। सामन्तपद्धति के विकास के अनन्तर यह स्थिति

सम्भव नहीं रह गई। इस पद्धति में राज्य-शासन का आधार पुर या जनपद के स्थान पर वह राजवंश हो गया, जिसका नृपति एक विशेष प्रदेश का शासक होता था। जिस प्रदेश पर चन्देलों या कलचूरियों का आधिपत्य था, उसका शासन वहां के निवासियों की जानपद-सभा (जिसमें उस प्रदेश के ग्रामों के ग्रामणी सम्मिलित होते हों) के हाथ में न रहकर चन्देल या कलचूरी-कुल के लोगों के हाथों में आ गया था। इस युग में एक ऐसी विशिष्ट श्रेणि राजशक्ति का उपभोग करती थी, जिसका सम्बन्ध राज्य के राजवंश के साथ होता था। चन्देल, कल-चूरी , गुर्जरप्रतीहार, राष्ट्रकूट, चालुक्य, गंग, परमार आदि जहां राजवंशों के नाम हैं, वहां साथ ही वे एक विशिष्ट जाति या कुल का भी बोध कराते हैं। गुर्जर-प्रतीहार-राज्य की राजशक्ति उन गुर्जरप्रतीहार लोगों में निहित थी, जिन्होंने अपने नेता के नेतृत्व में कन्नौज को राजधानी बनाकर अपना राज्य स्थापित किया था। यही बात चन्देल, चौहान आदि अन्य वर्गों के विषय में भी कही जा सकती है। भारतीय इतिहास में यह एक नई बात थी, जो सामन्तपद्धति की परिस्थितियों के कारण ही उत्पन्न हुई थी। मौर्य, नन्द, शुङ्ग आदि केवल राजवंशों के नाम थे। वे किसी जाति-विशेष को सूचित नहीं करते थे। पर मध्यकाल में जो बहुत से छोटे-बड़े राज्य भारत में विद्यमान थे, उनमें राजशक्ति उस जाति में निहित रहती थी, जिसने बाहुबल द्वारा अपने राज्य की स्थापना की थी। इस प्रकार के राज्यों में यह सम्भव नहीं था, कि शासनकार्य में राजा की सहायता करने के लिये किसी राजसभा की सत्ता होती। राजा अपने कुल के प्रमुख पुरुषों की सहायता से राज्य का शासन करता था, और राजदरबार में बैठकर राजकार्य का चिन्तन करता था। वस्तुतः यह युग ऐसे राजाओं का था, जो निरंकुश और स्वेच्छाचारी थे। इसी कारण यदि राजा योग्य होता, तो वह प्रजा के हित और कल्याण का सम्पादन करता था। यदि वह अयोग्य और नृशंस होता, तो प्रजा को पीड़ित करता था। कल्हण की राजतरङ्गिणी में काश्मीर के राजाओं का जो वृत्तान्त दिया गया है, वह इस युग की राज्यसंस्था पर बड़ा उत्तम प्रकाश डालता है। काश्मीर का उन्मत्तावन्ती राजा गर्भवती स्त्रियों के पेट को चीरकर बच्चे निकालने और कर्मकरों के अंग कटवाने में अपूर्व आनन्द अनुभव करता था। जब राजकर्मचारी उसके पिता पर शस्त्रप्रहार कर रहे थे, तो इस दृश्य को देखकर वह अट्टहास कर रहा था। क्योंकि वह राजा पागल (उन्मत) था, अतः वह प्रजा पर मनमाने अत्याचार कर सकता था। काश्मीर के एक राजा ने दुर्भिक्ष पड़ने पर सारा चावल अपने कब्जे में कर लिया, और उसे मनमानी कीमत पर

बेचना शुरू किया। स्वेच्छाचारी व निरंकुश शासन में ये बातें अस्वाभाविक नहीं होतीं। यदि राजा दयालु हो, तो प्रजा का सौभाग्य है। यदि वह नृशंस और अत्याचारी हो, तो प्रजा उसका क्या बिगाड़ सकती है। ऐसे समय में केवल यही बात सम्भव होती है, कि राजा की अयोग्यता से लाभ उठाकर सामन्त लोग उसके विरुद्ध विद्रोह कर दें। मध्य युग में काश्मीर में यही सब होता रहा। कोई आश्चर्य नहीं, कि इस युग के अन्य राजवंशों के राजाओं की भी यही दशा हो। खेद यही है, कि कल्हण के समान किसी अन्य ऐतिहासिक ने इस युग के भारतीय राजवंशों का इतिहास नहीं लिखा।

(३) सामन्तपद्धति के कारण यह सम्भव नहीं रहता, कि राजशक्ति के धारण करनेवाले लोग प्रजा के हित और कल्याण पर ध्यान दे सकें। उनकी सब शक्ति इसी काम में लग जाती है, कि परस्पर युद्ध करके अपने उत्कर्ष के लिये प्रयत्न करते रहें। सर्वसाधारण जनता की दृष्टि से यह पद्धति अराजकता को उत्पन्न करती है। इस स्थिति में शक्ति और व्यवस्था को स्थापित रखने, जनता का हित और कल्याण सम्पादित करने और परस्पर सहयोग द्वारा सामूहिक उन्नति करने की उत्तरदायिता उन ग्राम-सभाओं पर आ गई, जो भारत में अत्यन्त प्राचीन काल से विद्यमान थीं। हम इस इतिहास में पहले लिख चुके हैं, कि मौर्य-काल में ग्रामसंस्थायें अच्छी उन्नत दशा में थीं। पर मध्यकाल में उनका महत्त्व बहुत अधिक बढ़ गया, और राजवंशों की अराजकता और जनसाधारण के हितों के प्रति उपेक्षावृत्ति को दृष्टि में रखकर इन ग्रामसंस्थाओं ने ऐसे बहुत से कार्य अपने हाथ में ले लिये, जो साधारणतया राजाओं की उत्तरदायिता होते हैं। इस युग में ग्राम-संस्थाओं का जिस रूप में विकास हुआ, उसका भारतीय इतिहास में बहुत अधिक महत्त्व है। हम अगले प्रकरण में इस विषय पर विशद रूप से प्रकाश डालेंगे। मध्यकाल में विकसित हुई ग्रामसंस्थायें अफगान और मुगलकाल में भी कायम रहीं, और ब्रिटिश शासन भी उनका अन्त करने में समर्थ नहीं हुआ। यद्यपि मध्यकालीन भारत के विविध राज्यों में लोकतन्त्र शासन का सर्वथा अभाव था, पर ग्रामसंस्थाओं के रूप में इस युग में भी ऐसी संस्थायें विद्यमान थीं, जिनके द्वारा जनता अपने साथ सम्बन्ध रखनेवाले मामलों की व्यवस्था स्वयं किया करती थी। इस विषय में सर चार्ल्स मेटकाफ का निम्नलिखित उद्धरण बड़े महत्त्व का है—"ग्रामसंस्थायें छोटे-छोटे लोकतन्त्र राज्यों का नाम था, जो अपने आप में पूर्ण थीं। उन्हें जो कुछ भी चाहिये था, वह उनके अपने अन्दर मौजूद था। अपने से बाहर के साथ उनका सम्बन्ध बहुत कम था। ऐसा प्रतीत होता है,

कि जहां अन्य कोई नहीं बचा, वहां वे बची रहीं। एक राजवंश के बाद दूसरा राजवंश आया। एक क्रान्ति के बाद दूसरी क्रान्ति हुई—पर ग्रामसंस्थायें पूर्ववत् वहीं की वहीं कायम रहीं। मेरी सम्मति में ये ग्रामसंस्थायें ही, जिनमें से प्रत्येक एक पृथक् राज्य की तरह हैं, भारतीय जनता की रक्षा में सबसे अधिक समर्थ रहीं। इन्हीं के कारण सब परिवर्तनों और क्रान्तियों में जनता की रक्षा होती रही। भारतीयों को जो कुछ प्रसन्नता व स्वतन्त्रता आदि प्राप्त हैं, उसमें ये ही सबसे अधिक सहायक हैं।"

(३) ग्राम-संस्थायें

मध्यकालीन अव्यवस्था और अराजकता से सर्वसाधारण जनता की रक्षा करने के लिये जिन ग्रामसंस्थाओं ने इतना महत्त्वपूर्ण कार्य किया था, उनके सम्बन्ध में अधिक विस्तार के साथ प्रकाश डालने की आवश्यकता है। इस युग के बहुत से ऐसे शिलालेख व ताम्रपत्र मिले हैं, जिनसे इन ग्रामसंस्थाओं के विषय में अनेक उपयोगी बातें ज्ञात होती हैं। विशेषतया, दक्षिणी भारत से उपलब्ध हुए उत्कीर्ण लेख इस दृष्टि से बहुत उपयोगी हैं।

ग्रामसभा—प्रत्येक ग्राम की एक सभा या महासभा होती थी, जो अपने क्षेत्र में शासन का सब कार्य संभालती थी। स्थान और काल के भेद से ग्रामसभाओं के संगठन भी भिन्न-भिन्न प्रकार के थे। कुछ ग्रामों की ग्रामसभाओं में वहां के सब बालिग (वयस्क) पुरुष सदस्य-रूप से सम्मिलित होते थे। कुछ ग्राम ऐसे भी थे, जिनमें सब वयस्क पुरुषों को ग्रामसभा की सदस्यता का अधिकार नहीं होता था। दक्षिणी भारत के एक उत्कीर्ण लेख के अनुसार एक ग्राम के वयस्क पुरुषों की संख्या ४०० थी, पर उसकी सभा के सदस्य केवल ३०० पुरुष थे। एक अन्य ग्रामसभा के सदस्यों की संख्या ५१२ लिखी गई है। एक अन्य लेख में एक ऐसे ग्राम का उल्लेख है, जिसकी सभा की सदस्य-संख्या १००० थी। ग्राम-सभा का अधिवेशन या तो मन्दिर में होता था, या किसी वृक्ष की छाया में। कतिपय ग्राम ऐसे भी थे, जिनमें सभा के लिये पृथक् भवन भी विद्यमान थे।

समितियां—ग्राम के शासन का सब अधिकार ग्रामसभा के हाथों में होता था, जिसके अधिवेशनों की अध्यक्षता ग्रामणी नामक कर्मचारी करता था। पर शासन-कार्य की सुविधा के लिये अनेक समितियों का भी निर्माण किया जाता था, जिन्हें विविध प्रकार के कार्य सुपुर्द रहते थे। ये समितियां निम्नलिखित थीं—(१)

वर्ष भर के लिये नियुक्त समिति, या वर्ष भर तक शासन-कार्य का नियन्त्रण व निरीक्षण करनेवाली समिति, (२) दान की व्यवस्था करनेवाली समिति, (३) जलाशय की व्यवस्था करनेवाली समिति, (४) उद्यानों का प्रबन्ध करनेवाली समिति, (४) न्याय की व्यवस्था करनेवाली समिति, (६) सुवर्ण व कोश की व्यवस्थापिका समिति, (७) ग्राम के विविध विभागों का निरीक्षण करनेवाली समिति, (८) खेतों व मैदानों की व्यवस्था व निरीक्षण करनेवाली समिति, (६) मन्दिरों का प्रबन्ध करनेवाली समिति, (१०) साधु व विरक्त लोगों की व्यवस्था करनेवाली समिति। इन दस समितियों के क्या कार्य होते थे, यह बात इनके नामों से ही स्पष्ट है।

इन विविध समितियों की नियुक्ति किस प्रकार होती थी, इस विषय में दक्षिणी भारत के एक लेख से बहुत उपयोगी सूचना प्राप्त हुई है। इस लेख में एक ग्राम के सम्बन्ध में यह लिखा गया है, कि ग्राम तीस भागों में विभक्त था। प्रत्येक भाग के सब वयस्क पुरुष एकत्र होकर उन व्यक्तियों की सूची तैयार करते थे, जो समितियों के सदस्य बनने के लिये उपयुक्त हों। समिति की सदस्यता के लिये यह आवश्यक था, कि सदस्यों की न्यूनतम आयु ३५ वर्ष और अधिकतक आयु ७० वर्ष की हो। जो पुरुष शिक्षित हों, ईमानदार हों और कुछ सम्पत्ति भी रखते हों, वे ही समितियों की सदस्यता के अधिकारी माने जाते थे। कोई ऐसा व्यक्ति, जिसने किसी समिति के सदस्य-रूप में खर्च किये धन का सही हिसाब न दिया हो, या जिसपर कोई अपराध साबित हो चुका हो, भविष्य के लिये समितियों की सदस्यता का अधिकारी नहीं समझा जाता था, और उसका नाम उस सूची में शामिल नहीं किया जाता था, जो ग्राम के विविध भागों में तैयार की जाती थी। जब यह सूची तैयार हो जाती थी, तो लाटरी डाल कर एक पुरुष का नाम निकाला जाता था। इस प्रकार ग्राम के तीस भागों से तीस नाम निकलते थे, और विविध समितियों के सदस्य रूप से इन्हीं की नियुक्ति की जाती थी। तीस पुरुषों में से किसे किस समिति का सदस्य बनाया जाय, इस बात का निर्णय उनकी योग्यता और अनुभव के आधार पर किया जाता था। विविध समितियां किस ढंग से अपने-अपने कार्य करें, इसके नियम भी विशद रूप से बनाये गये थे। ग्राम के सब योग्य वयस्क पुरुषों को समितियों की सदस्यता का अवसर मिल सके, इसके लिये यह नियम बनाया गया था, कि केवल उन्हीं पुरुषों को सदस्यता के लिये उपयुक्त व्यक्तियों की सूची में शामिल किया जाय, जो पिछले तीन वर्षों में कभी किसी समिति के सदस्य न रहे हों। इसमें सन्देह नहीं, कि ग्राम, संबंधी

संस्था की विविध समितियों के सदस्यों की नियुक्ति का यह ढंग बहुत ही उत्तम और निराला था ।

ग्रामसस्थाओं के कार्य—ग्रामसंस्थाओं का स्वरूप छोटे-छोटे राज्यों के समान था । इसीलिये वे प्रायः उन सब कार्यों को करती थीं, जो राज्य किया करते हैं । ग्राम संस्था की जो अपनी सम्पत्ति हो, उसे बेचना व अमानत रखकर रुपया प्राप्त करना, ग्राम के क्षेत्र में उत्पन्न हुए विविध प्रकार के झगड़ों व अभियोगों का फैसला करना, मण्डी व बाजार का प्रबन्ध करना, टैक्स वसूल करना, ग्राम के लाभ के लिये नये कर लगाना, ग्रामवासियों से ग्राम के हित के लिये काम लेना, जलाशयों, उद्यानों, खेतों, चरागाहों व मैदानों की देख-रेख करना और मार्गों को ठीक हालत में रखना—इस प्रकार के कार्य थे, जो ग्रामसंस्थाओं के सुपुर्द थे । यदि कोई व्यवित किसी विशेष उद्देश्य से कुछ धन जमा कराना चाहे, तो वह ग्रामसभा के पास जमा करा सकता था, और ग्रामसभा का यह कर्तव्य होता था, कि वह उसकी समुचित रूप से व्यवस्था करे, और धन जमा करानेवाले मनुष्य की इच्छा के अनुसार उसके सूद को व उस धन को खर्च करे । दान-पुण्य की रकमें प्रायः इस ढंग से ग्रामसभाओं के पास जमा की जाती थीं । दुर्भिक्ष आदि प्राकृतिक विपत्तियों के समय ग्रामसभाओं की उत्तरदायिता बहुत बढ़ जाती थी, और वे इस बात की व्यवस्था करती थीं, कि गरीब लोग भूखे न मरने पावें । इसके लिये यदि वे आवश्यक समझें, तो रुपया उधार भी लेती थीं, या अपनी सम्पत्ति को बेच कर व उसकी जमानत पर कर्ज लेकर खर्च चलाती थीं । शिक्षा आदि के लिये धन खर्च करना भी उनका महत्त्वपूर्ण कार्य समझा जाता था । शत्रुओं व डाकुओं से ग्राम की रक्षा करना भी ग्रामसंस्थाओं का काम था, और जो लोग इसमें विशेष पराक्रम प्रदर्शित करते थे, उनका वे अनेक प्रकार से सम्मान भी करती थीं । विशालयदेव नाम के एक वीर पुरुष ने अपने ग्राम के मन्दिर से मुसलिम आक्रान्ताओं को निकालकर बाहर किया था । इस वीर कृत्य के उपलक्ष्य में ग्रामसभा ने यह व्यवस्था की थी, कि प्रत्येक किसान अपनी उपज का एक निश्चित भाग नियमित रूप से विशालयदेव को प्रदान किया करे । जो ग्रामवासी देश की रक्षा या इसी प्रकार के किसी अन्य उत्कृष्ट कार्य के लिये अपने जीवन की आहुति दे देते थे, उनके परिवार को ग्रामसभा की ओर से ऐसी भूमि प्रदान कर दी जाती थी, जिसपर कोई लगान नहीं लगता था । यदि कोई आदमी ग्राम के विरुद्ध आचरण करे, कोई ऐसा कार्य करे जिससे ग्राम को हानि पहुंचती हो, तो उसे 'ग्रामद्रोही' करार करके दण्ड दिया जाता था । यह दण्ड प्रायः इस प्रकार का होता था, कि वह

अन्य ग्रामवासियों की दृष्टि में गिर जाय और पश्चात्ताप का अनुभव करे। इस प्रकार का एक दण्ड यह था, कि ग्रामद्रोही को भगवान् शिव की मूर्ति को स्पर्श करने का अधिकार नहीं रहता था। ग्राम के क्षेत्र से राज्य के लिये वसूल किये जानेवाले करों को एकत्र करना ग्रामसंस्था का ही कार्य था। ग्रामसभा के अधिकारियों का यह कर्तव्य होता था, कि वे राजकीय करों को वसूल करें, उनका सही-सही हिसाब रखें, और एकत्र धन को राजकोश में पहुंचा दें। यदि कोई अपने इस कर्तव्य में शिथिलता प्रदर्शित करता था, तो वह दण्डनीय होता था।

(४) शासन-व्यवस्था का स्वरूप

दक्षिणी भारत—मध्यकालीन भारत के विविध राज्यों के शासन का क्या स्वरूप था, इस विषय में ज्ञान प्राप्त करने के लिये हमारे पास कौटलीय अर्थशास्त्र सदृश कोई उत्कृष्ट साधन विद्यमान नहीं है। फिर भी दक्षिणी भारत में, विशेषतया चोलमण्डल में बहुत से ऐसे शिलालेख व ताम्रपत्र उपलब्ध हुए हैं, जिनसे इस युग की शासन-व्यवस्था की कुछ झांकी ली जा सकती है। ग्राम-संस्थाओं का जो परिचय हमने ऊपर के प्रकरण में दिया है, वह इन उत्कीर्ण लेखों के ही आधार पर है। अब हम उत्कीर्ण लेखों के आधार पर ही चोल-राज्य के शासन के सम्बन्ध में कतिपय महत्त्वपूर्ण बातों का उल्लेख करेंगे। पर यह ध्यान में रखना चाहिये, कि चोल-राज्य की शासन-व्यवस्था के सदृश ही इस युग के परमार, गुर्जरप्रतीहार, राष्ट्रकूट आदि राज्यों का भी शासन हो, यह आवश्यक नहीं है। चोल-राज्य भारतीय इतिहास की प्रधान धारा से प्रायः पृथक् रहा, यह हम पहले लिख चुके हैं।

चोल-राज्य में शासन की इकाई ग्राम होते थे, जो छोटे-छोटे राज्यों के सदृश थे, और जो अपना शासन स्वयं करते थे। कतिपय ग्राम मिलकर एक समूह का निर्माण करते थे, जिन्हें 'कुर्रम्' कहा जाता था। कुर्रमों का समूह 'नाडु' और नाडुओं के समूह को 'कोट्टम्' या 'वलनाडु' कहते थे। कोट्टम् को हम आजकल का जिला समझ सकते हैं। इसी प्रकार नाडु तहसील और कुर्रम् को परगना कहा जा सकता है। कतिपय कोट्टम् या वलनाडु मिलकर 'मण्डलम्' का निर्माण करते थे। 'चोलमण्डलम्' इसी प्रकार का एक मण्डल था। पर चोलवंश के राजाओं के उत्कर्ष-काल में चोल-साम्राज्य में 'चोल-मण्डलम्' के अतिरिक्त अन्य प्रदेश भी सम्मिलित थे, जो दो प्रकार के थे, विजित और सामन्तवर्गीय। राजराज प्रथम और राजेन्द्र सदृश प्रतापी सम्राटों ने चोल-साम्राज्य को बहुत अधिक विस्तृत कर लिया था। इन द्वारा विजय किये हुए अनेक प्रदेशों में अपने पृथक् राजवंशों

का शासन था, जिनकी स्थिति अब सामन्तराजाओं के सदृश हो गई थी। पाण्ड्य, केरल आदि के ये सामन्त-राज्य चोलमण्डलम् के समान कोट्टम्, नाडु आदि में विभक्त थे, और इनके शासन का प्रकार भी प्रायः चोलमण्डलम् के ही सदृश था। पर राजराज प्रथम (दसवीं सदी) के साम्राज्यविस्तार से पूर्व भी अनेक चोलराजाओं ने चोलमण्डलम् के समीपवर्ती प्रदेशों को जीतकर अपने राज्य का विस्तार किया था, और अनेक ऐसे प्रदेश (जिनमें तामिल भाषा का ही प्रचार था) उनके राज्य के अन्तर्गत हो गये थे, जो चोलमण्डलम् के दायरे से बाहर के थे। ये प्रदेश चोलों के 'विजित' थे, और इन्हें भी पृथक् मण्डलों में विभक्त कर दिया गया था। इनका शासन करने के लिये जो शासक चोलराजा की ओर से नियुक्त किये जाते थे, वे प्रायः राजकुल के ही होते थे। 'विजित' द्वारा निर्मित मण्डल भी कोट्टम्, नाडु, कुर्रम् आदि उपविभागों में विभक्त थे, और उनके शासन में भी स्थानीय सभाओं और संस्थाओं का पर्याप्त स्थान था। जिन सामन्त-राजाओं ने चोलसम्राटों को अपना अधिपति स्वीकार किया था, वे उसे नियमित रूप से वार्षिक कर, भेंट-उपहार आदि प्रदान कर संतुष्ट रखते थे। पर चोल-सम्राट् के प्रति उनकी भक्ति का आधार केवल उसकी अपनी शक्ति ही होती थी। यही कारण है, कि सम्राट् की शक्ति के निर्बल होते ही ये सामन्त राजा विद्रोह कर पुनः स्वतन्त्र हो जाने के लिये तत्पर हो जाते थे।

ग्राम के शासन के लिये जिस प्रकार की ग्रामसभायें थीं, वैसी ही कुछ सभाओं की सत्ता कुर्रम्, नाडु आदि में भी थी। नाडु की सभा को नाट्टर कहते थे। दक्षिण भारत में उपलब्ध हुए अनेक उत्कीर्ण लेखों में नाडु की सभाओं का उल्लेख है। एक लेख के अनुसार एक नाडु की नाट्टरसभा ने दो आदमियों की नियुक्ति इस प्रयोजन से की, कि वे नाडु में विक्रयार्थ आनेवाले पान के पत्तों पर दलाली वसूल किया करें, और इस प्रकार उन्हें जो आमदनी हो, उससे नाडु के मन्दिर के लिये काम में आनेवाले पान प्रदान किया करें। इस काम में कोई प्रमाद न हो, इसकी उत्तरदायिता नाडु के 'पांच सौ निर्दोष पुरुषों' के ऊपर रखी गई। ये पांच सौ निर्दोष पुरुष सम्भवतः नाडु के अन्तर्गत विविध कुर्रमों और ग्रामों के प्रतिनिधि थे, और इनकी सभा को अपने क्षेत्र के शासन में अनेक प्रकार के उत्तरदायित्व और अधिकार प्राप्त थे। कुछ उत्कीर्ण लेखों के अध्ययन से यह भी सूचित होता है, कि नाडु व अन्य विभागों की सभाओं को न्याय सम्बन्धी अधिकार भी प्राप्त थे, और वे अपने क्षेत्र के सार्वजनिक हित के कार्यों में भी अपना कर्तृत्व प्रदर्शित करती थीं। यदि किसी नदी पर बांध बांधने की आवश्यकता हो, सड़क का निर्माण

करना हो या इसी ढंग का कोई अन्य काम हो, तो नाडु की सभा अपने क्षेत्र के अन्तर्गत प्रत्येक गांव से ऐसे कार्य के लिये कर वसूल करने का अधिकार रखती थी ।

ग्राम, नाडु आदि की स्थानीय सभाओं के कारण सर्वसाधारण जनता को यह अवसर मिलता था, कि वह अपने साथ सम्बन्ध रखनेवाले विषयों की व्यवस्था स्वयं कर सके । इन सभाओं की सत्ता के कारण जनता की स्वतन्त्रता बहुत अंश तक सुरक्षित बनी हुई थी । पर जहां तक राज्य के केन्द्रीय शासन का सम्बन्ध है, राजा स्वेच्छाचारी और निरंकुश होते थे । पर राज्यचक्र एक आदमी द्वारा संचालित नहीं हो सकता, इसलिये राजा को अपनी सहायता के लिये मन्त्रियों की नियुक्ति करनी होती थी, और वह उन्हीं के परामर्श के अनुसार कार्य की व्यवस्था करता था । चोल-राज्य में उस समय तक कोई राजाज्ञा जारी नहीं की जा सकती थी, जब तक कि उसपर ओलैनायकम् (मुख्य सचिव) के हस्ताक्षर न हो जावें । इससे यह अभिप्राय निकलता है, कि प्रत्येक राजाज्ञा की अन्तिम उत्तरदायिता राजा के अतिरिक्त उसके मुख्य सचिव पर भी होती थी ।

उत्तरी भारत—गुप्त-साम्राज्य के समान उत्तरी भारत के पाल आदि वंशों के राज्य भी भुक्ति, विषय, मण्डल, भोग और ग्रामों में विभक्त थे । भुक्ति के शासक की नियुक्ति राजा द्वारा होती थी, और विषय आदि के शासकों को भुक्ति का शासक नियुक्त करता था । विषयपति (विषय का शासक) को शासन-कार्य में सहायता देने के लिये एक राजसभा की सत्ता होती थी, जिसके सम्बन्ध में एक उत्कीर्ण लेख से अनेक महत्त्वपूर्ण बातें ज्ञात होती हैं । इस विषयसभा में निम्न-लिखित सदस्य होते थे—(१) नगरश्रेष्ठी—विषय के प्रधान नगर का मुख्य सेठ या जगत्सेठ, (२) सार्थवाह—जो विषय के अन्तर्गत विविध व्यापारी संगठनों का प्रतिनिधित्व करता था, (३) प्रथम कुलिक—जो विविध शिल्पिश्रेणियों का प्रतिनिधि होता था, (४) प्रथम कायस्थ—जो सरकारी कर्मचारियों का प्रति-निधित्व करता था । पालवंश के राजाओं के अनेक ऐसे उत्कीर्ण लेख मिले हैं, जिनमें इस युग के विविध राजकर्मचारियों के नाम दिये गये हैं । पालवंशी राजा धर्मपाल के खालिमपुर के ताम्रपत्र में राजा द्वारा दान की गई एक जागीर का उल्लेख है, जिसकी सूचना निम्नलिखित कर्मचारियों को दी गई है—(१) राजा—अधीनस्थ सामन्तराजा, (२) राजपुत्र—सामन्तराजाओं के युवराज, (३) राजामात्य, (४) राजनक—विविध जागीरदार, (५) सेनापति, (६) विषयपति—विषय नामक विभाग या जिले का शासक, (७) भोगपति—विषय के उपविभाग 'भोग' का

शासक, (८) षष्ठाधिकृत—किसानों द्वारा वसूल किये जानेवाले षड्भाग का प्रधान अधिकारी, (९) दण्डशक्ति—सम्भवतः पुलिस विभाग का अधिकारी, (१०) दण्ड पाशक—पुलिस विभाग का ही अन्य अधिकारी, (११) चौरोद्धारणिक—चोरों को पकड़ने के लिये नियुक्त पुलिस अधिकारी, (१२) दौसाध साधनिक—संभवतः ग्रामों का व्यवस्थापक, (१३) दूत, (१४) खोल, (१५) गमागमिक, (१६) अभित्वरमान, (१७) हस्तिअश्वगोमहिष आजविक अध्यक्ष, (१८) नौकाध्यक्ष, (१९) बलाध्यक्ष, (२०) तटिक—नदी पार उतरने के स्थानों का अधिकारी, (२१) शौल्किक—शुल्क वसूल करनेवाला अधिकारी, (२२) गौल्मिक, (२३) तदायुक्त, (२४) विनियुक्त, (२५) ज्येष्ठ कायस्थ, (२६) महामहत्तर, (२७) महत्तर, (२८) दशग्रामिक, (२९) करण—हिसाब रखनेवाला।

खालिमपुर के ताम्रपत्र में जिन कर्मचारियों का नाम आया है, उनमें से सब का ठीक-ठीक अभिप्राय स्पष्ट नहीं है। पर इसमें कोई सन्देह नहीं, कि ये सब राजकर्मचारी थे, और जागीर के दान की सूचना के लिये ही इनका उल्लेख ताम्रपत्र में किया गया है। सेन आदि अन्य राजवंशों के उत्कीर्ण लेखों में भी इसी प्रकार से अनेक राजकर्मचारियों के नाम दिये गये हैं, जिनसे मध्ययुग के उत्तरी भारत के राजकर्मचारीतन्त्र का कुछ धुंधला-सा आभास मिल जाता है।

इस प्रसंग में यह ध्यान रखना आवश्यक है, कि दक्षिणी भारत के समान उत्तरी भारत में भी ग्रामसभाओं की सत्ता थी, और ग्रामों की जनता अपने साथ सम्बन्ध रखनेवाले मामलों की व्यवस्था अपनी ग्रामसभा द्वारा किया करती थी। इसी कारण राजवंशों में निरन्तर युद्ध जारी रहते हुए भी सर्वसाधारण लोगों पर उनका विशेष प्रभाव नहीं होता था।

(५) साहित्य

मध्ययुग में संस्कृत और प्राकृत भाषाओं में अनेक नये ग्रन्थों का निर्माण हुआ, और बहुत से कवियों ने अपनी साहित्यिक प्रतिभा का परिचय दिया।

इस युग के साहित्यिकों और कवियों में कतिपय बहुत प्रसिद्ध हैं। उनका परिचय देना आवश्यक है:—

(१) भवभूति—ये प्रसिद्ध नाटककार हुए हैं। इनकी टक्कर का नाटककार कालिदास के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं हुआ। ये आठवीं सदी में कान्यकुब्ज-नरेश यशोवर्मा की राजसभा में रहते थे। जब काश्मीर के राजा ललितादित्य ने

यशोवर्मा को परास्त किया, तो वह भवभूति को भी अपने साथ काश्मीर ले गया। इन्होंने तीन नाटक लिखे—महावीरचरित, मालतीमाधव और उत्तर-रामचरित। भवभूति की नाटक-कला उत्तर रामचरित में सौष्ठव की पराकाष्ठा को पहुंच गई है। अनेक पण्डितों की सम्मति तो यह है, कि इस नाटक में भवभूति कालिदास से भी बढ़ गये हैं।

(२) बाणभट्ट—ये सम्राट् हर्षवर्धन (सातवीं सदी) के राजपण्डित थे। इनके दो ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध हैं—हर्षचरित और कादम्बरी। हर्षचरित में बाणभट्ट ने अपने आश्रयदाता हर्षवर्धन का जीवनचरित्र बड़ी सुन्दर शैली में प्रस्तुत किया है। यह पुस्तक गद्य में है। कादम्बरी संस्कृत-साहित्य का सबसे उत्कृष्ट गद्य काव्य है। इसकी शैली बड़ी सरस, रोचक और चामत्कारिक है। कादम्बरी की प्रत्येक पंक्ति में अलंकार हैं। इसमें सन्देह नहीं, कि यह गद्य-ग्रन्थ संस्कृत-साहित्य के लिये अत्यन्त गौरव की वस्तु है।

(३) कुमारदास—ये सिंहल देश के वासी थे। सातवीं सदी में इन्होंने 'जानकीहरण' नाम का महाकाव्य लिखा, जो संस्कृत के काव्य-साहित्य में बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

(४) भारवि—ये सातवीं सदी में हुए। ये दक्षिण के चालुक्यवंशी राजा विष्णुवर्धन की सभा में थे। इनका काव्य 'किरातार्जुनीय' बहुत ही प्रसिद्ध है। किरातार्जुनीय जहां कविता की दृष्टि से अनुपम है, वहां राजनीति का भी उसमें बड़ा सुन्दर वर्णन है।

(५) भट्टि—ये भी सातवीं सदी में हुए। इनके भट्टि-काव्य में जहां राम के चरित्र का वर्णन है, वहां साथ ही व्याकरण और काव्य के सिद्धान्तों को भी प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया गया है। इस काव्य की शैली कुछ कृत्रिम है।

(६) माघ—ये गुजरात के निवासी थे। ये भी सातवीं सदी के अन्त में हुए। इनके महाकाव्य 'शिशुपालवध' में जहां उत्तम कविता है, वहां साथ ही प्रगाढ़ पाण्डित्य भी है। श्लेष और चित्रकाव्य लिखने में ये सिद्धहस्त थे।

(७) त्रिविक्रम भट्ट—ये नवीं सदी में हुए। इनका ग्रन्थ 'नलचम्पू' बहुत प्रसिद्ध है। चम्पू उस काव्य को कहते हैं, जिसमें गद्य और पद्य दोनों हों। नल-चम्पू इस प्रकार के संस्कृत काव्यों में सर्वोत्तम गिना जाता है।

(८) भट्टनारायण—ये सातवीं सदी में हुए। इनका लिखा 'वेणीसंहार' नाटक महाभारत के कथानक को लेकर लिखा गया है। दुःशासन द्वारा राजसभा में जब द्रौपदी के केश खींचे गये थे, तो उसने यह प्रतिज्ञा की थी, कि वह तभी अपनी

वेणी (केशमण्डल) का शृंगार करेगी, जब कि कौरवों का अन्त हो जायगा। दुर्योधन का संहार करके अपने रक्तरंजित हाथों से भीम ने द्रौपदी के केशों को बांधा। यही सब कथा इस नाटक में बड़े सुन्दर रूप में वर्णित है।

(९) दण्डी---इनका समय भी सातवीं सदी में है। इन्होंने 'दशकुमारचरित' नाम के एक सुन्दर गद्य-ग्रन्थ की रचना की।

(१०) सुबन्धु---इनका लिखा ग्रन्थ 'वासवदत्ता' बड़ा ही सुन्दर गद्य-काव्य है। इनका समय भी सातवीं सदी में माना जाता है।

(११) हर्षवर्धन---बाणभट्ट के आश्रयदाता सम्राट् हषवर्धन जहां विद्या और काव्य के अत्यन्त प्रेमी थे, वहां स्वयं भी उत्कृष्ट कवि थे। उनके लिखे तीन नाटक इस समय मिलते हैं--रत्नावली, प्रियदर्शिका और नागानन्द।

(१२) राजशेखर---ये कन्नौज के गुर्जरप्रतीहारवंशी राजा महेन्द्रपाल की राजसभा में थे। इनका समय दसवीं सदी में है। इनके लिखे कर्पूरमंजरी, प्रचण्ड पाण्डव, बालरामायण आदि अनेक नाटक अत्यन्त प्रसिद्ध हैं।

इनके अतिरिक्त अन्य भी बहुत से कवि इस युग में हुए, जिन्होंने अपने काव्य, नाटक, चम्पू आदि द्वारा संस्कृत-साहित्य के भण्डार को पूर्ण किया। पर गुप्त-युग के संस्कृत-साहित्य में जो गौरव और उत्कृष्टता है, वह बाद के साहित्य में नहीं पाई जाती। भवभूति के पीछे संस्कृत के कवियों की शैली निरन्तर अधिक-अधिक कृत्रिम होती गई है। ऐसा प्रतीत होता है, कि इस युग में संस्कृत की अपेक्षा प्राकृत भाषाओं की अधिक उन्नति हुई। गुप्त-युग के बाद संस्कृत का प्रचार कम होता गया। वह प्रधानतया पण्डितों की ही भाषा रह गई। इसीलिये उसके लेखकों में वह प्रसादगुण नहीं है, जो गुप्त-युग के कवियों में पाया जाता है। इस काल की कविता में सहज-सौन्दर्य का स्थान अलंकार, श्लेष आदि की भूषा ने ले लिया। यही कारण है, कि उसका पहले जैसा सौन्दर्य इस काल में नहीं पाया जाता।

इतिहास-सम्बन्धी कुछ ग्रन्थ भी इस युग में लिखे गये। बाणभट्ट द्वारा विरचित हर्षचरित का उल्लेख ऊपर दिया जा चुका है। कन्नौज के राजा यशोवर्मा (आठवीं सदी) के समय में वाक्पतिराज नामक कवि हुए, जिन्होंने 'गउड वहो' नामक एक ग्रन्थ लिखा। यह प्राकृत भाषा में है। राजा यशोवर्मा ने गौड़ (बंगाल) देश पर आक्रमण कर उसकी विजय की थी। उसी का वृत्तान्त इस पुस्तक में दिया गया है। चालुक्यवंशी राजा विक्रमादित्य षष्ठ का वृत्तान्त कवि बिल्हण (बारहवीं सदी) ने बड़े विस्तार के साथ 'विक्रमांक-देवचरित' नामक ग्रन्थ में लिखा है। इसी प्रकार पद्मगुप्त (ग्यारहवीं सदी) ने मालव देश के राजा सिन्धुराज का

चरित 'नवसाहसांकचरित' में और बल्लाल ने राजा भोज का चरित 'भोज-प्रबन्ध' में लिखा है। पर इन सबकी अपेक्षा ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यधिक महत्त्व का ग्रन्थ राजतरंगिणी है, जिसे कल्हण ने लिखा था। कल्हण का काल बारहवीं सदी में है, और उसने राजतरंगिणी में काश्मीर का क्रमबद्ध इतिहास दिया है।

इसी प्रकार कवि जयानक ने 'पृथिवीराजविजय' लिखकर चौहानवंशी राजा पृथिवीराज का और हेमचन्द्र ने 'कुमारपालचरितम्' लिखकर चालुक्य-राजा कुमारपाल (बारहवीं सदी) के नाम को अमर किया। इनके अतिरिक्त जो अनेक अन्य ऐतिहासिक काव्य इस युग में लिखे गये, उनमें सोमेश्वर की 'कीर्तिकौमुदी', अरिसिंह का 'सुकृतसंकीर्तन', जयसिंह सूरि का 'हम्मीर-मद-मर्दन', मेरुतुंग का 'प्रबन्धचिन्तामणि', राजशेखर का 'चतुर्विंशति प्रबन्ध', नयचन्द्र सूरि का 'हम्मीर महाकाव्य', आनन्द भट्ट का 'बल्लालचरित' और चन्द्रप्रभ सूरि का 'प्रभावकचरित' उल्लेखनीय हैं। ये सब काव्य कतिपय वीर पुरुषों के चरित्र को दृष्टि में रखकर लिखे गये हैं, और इनसे जहां इन वीरों के सम्बन्ध में ऐतिहासिक ज्ञान प्राप्त करने में सहायता मिलती है, वहां साथ ही उनसे काव्य-रस का भी अच्छा स्वाद मिलता है।

काव्य, नाटक, चम्पू और गद्य के अतिरिक्त इस युग में कथा-साहित्य भी लिखा गया। ग्यारहवीं सदी में क्षेमेन्द्र ने बृहत्कथामंजरी और सोमदेव ने कथासरित्सागर की रचना की। इसी प्रकार बेतालपंचविंशति, सिंहासन-द्वात्रिंशिका और शुकसप्तति नामक कथा-ग्रन्थों का निर्माण भी इसी युग में हुआ।

साहित्य के विकास के साथ-साथ अलंकारशास्त्र विषयक अनेक ग्रन्थ भी इस काल में लिखे गये, जिनमें काव्य के विभिन्न रसों का सूक्ष्मता पूर्वक विवेचन किया गया। छठी सदी में आचार्य भामह ने काव्यालंकार ग्रन्थ की रचना की। बाद में दण्डीवामन (आठवीं सदी), आनन्दवर्धन (नवीं सदी), अभिनवगुप्त और मम्मट आदि साहित्य-विवेचकों ने साहित्य-शास्त्र का और अधिक विकास किया।

बड़े साहित्य-ग्रन्थों के साथ ही मुक्तक और गेय काव्य की भी अनेक महत्त्व-पूर्ण रचनायें इस युग में हुई। भर्तृहरि के शृंगारशतक, वैराग्यशतक और नीति-शतक, कवि अमरु का अमरुकशतक और जयदेव का गीतगोविन्द इसी युग की कृतियां हैं। ये सब अपने ढंग के अनुपम काव्य हैं।

अनेक महत्त्वपूर्ण व्याकरण-ग्रन्थ भी इस युग में लिखे गये। सातवीं सदी में पाणिनि की अष्टाध्यायी पर काशिकावृत्ति लिखी गई, जो महाभाष्य के बाद पाणिनि-सूत्रों का सबसे महत्त्वपूर्ण व्याख्या-ग्रन्थ है। इसका लेखक जयादित्य था। भर्तृहरि के वाक्यप्रदीप, महाभाष्यदीपिका और महाभाष्यत्रिपदी नामक व्याकरण-ग्रन्थ भी इसी युग की कृति हैं। पाणिनीय व्याकरण की परम्परा से भिन्न एक अन्य संस्कृत व्याकरण इस समय लिखा गया, जो 'कातन्त्र' कहाता है। इसका रचयिता शर्ववर्मा था। भारत से बाहर अन्य देशों में इसका बहुत प्रचार हुआ। मध्य एशिया और बालि द्वीप में इसकी पुरानी प्रतियां उपलब्ध हुई हैं।

व्याकरण के अतिरिक्त कोश-विषयक अनेक ग्रन्थ भी इस युग में लिखे गये। अमरकोश की रचना गुप्तकाल में हो चुकी थी। वह इतना लोकप्रिय हुआ, कि उस पर पचास के लगभग टीकायें इस युग में लिखी गईं। इनमें ग्यारहवीं सदी में लिखित क्षीरस्वामी की टीका सबसे अधिक प्रसिद्ध है। अभिधानचिन्तामणि, अनेकार्थसंग्रह-वैजयन्ती, अभिधानरत्नमाला आदि अन्य अनेक कोश ग्रन्थ भी इस काल में बने। कामशास्त्र, संगीत, राजनीति आदि विषयों पर भी अनेक पुस्तकें इस युग में लिखी गई, और संस्कृत का साहित्य-भण्डार निरन्तर अधिक समृद्ध होता गया।

(६) दर्शन-शास्त्र

दर्शनशास्त्र के विकास की दृष्टि से मध्ययुग का महत्त्व बहुत अधिक है। बौद्ध, जैन और हिन्दू—तीनों प्रकार के दर्शनशास्त्रों का इस युग में चरम विकास हुआ। चौथी सदी में असंग नामक बौद्ध विद्वान् ने महायानोत्तरतंत्र, सूत्रालंकार आदि ग्रन्थ लिखकर 'क्षणिक विज्ञानवाद' मत का बड़ी योग्यता के साथ प्रतिपादन किया था। पांचवीं सदी में दिङ्नाग ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ प्रमाणसमुच्चय की रचना की। ये दोनों बौद्ध दार्शनिक मध्ययुग से पहले हो चुके थे। पर इस काल में धर्मकीर्ति और शान्तरक्षित नामक दार्शनिकों ने बौद्ध-दर्शन को विकास की चरम सीमा पर पहुंचा दिया। धर्मकीर्ति (सातवीं सदी) के ग्रन्थों में प्रमाण-वार्तिक और प्रमाणविनिश्चिय सर्वप्रधान है। बौद्ध-संसार में ये ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध हुए, और तिब्बती आदि अनेक भाषाओं में इनका अनुवाद किया गया। धर्म-कीर्ति असङ्ग द्वारा प्रतिपादित 'विज्ञानवाद' के अनुयायी थे, और उन्होंने इसी मत को कुछ अंशों में परिवर्तित व विकसित कर तर्क द्वारा उसका प्रतिपादन

किया। धर्मकीर्ति के बाद शान्तरक्षित, कमलशील और ज्ञानश्री जैसे बौद्ध-दार्शनिकों ने दर्शनशास्त्र का और अधिक विकास किया। यहां हमारे लिये यह सम्भव नहीं है, कि इन महान् दार्शनिकों के विचारों का संक्षिप्त रूप से भी निर्देश कर सकें। यद्यपि वज्रयान के विकास के कारण इस युग में बौद्ध-धर्म का ह्रास हो रहा था, पर दार्शनिक क्षेत्र में अनेक बौद्ध-विद्वान् अत्यन्त योग्यतापूर्वक अपने दार्शनिक सिद्धान्तों के प्रतिपादन और विरोधी सिद्धान्तों के खण्डन में तत्पर थे।

दार्शनिक दृष्टि से बौद्धदर्शन को चार प्रधान सम्प्रदायों में विभक्त किया जा सकता है—वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार और माध्यमिक। इन चारों सम्प्रदायों का पक्षपोषण करते हुए जो विशाल साहित्य इस युग में लिखा गया, वह संसार के दार्शनिक साहित्य में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

बौद्धों के समान अनेक जैन विद्वानों ने भी इस युग में अपने दार्शनिक विचारों का प्रतिपादन किया। जैन-दर्शन का प्रारम्भ उमास्वाति और कुन्दकुन्दाचार्य नामक विद्वानों ने किया था, जो पहली सदी ई० प० में हुए थे। पर इसका विशेष रूप से विकास मध्य युग में ही हुआ। जैन-दार्शनिकों में सिंहसेन दिवाकर (पांचवी सदी), समन्तभद्र (सातवीं सदी), हरिभद्र (आठवीं सदी), भट्ट अकलंक (आठवीं सदी), विद्यानन्द (नवीं सदी), हेमचन्द्र (ग्यारहवीं सदी) और मल्लिसेण सूरी (तेरहवी सदी) के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

हिन्दू या आस्तिक दर्शन के सिद्धान्तों का हम पिछले एक अध्याय में उल्लेख कर चुके हैं। इन आस्तिक दर्शनों पर भी अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ इस युग में लिखे गये, जिनमें अपने मत के प्रतिपादन के साथ-साथ बौद्धों और जैनों का विशेषरूप से खण्डन भी किया गया। इसमें सन्देह नहीं, कि आस्तिक दर्शनों का विकास इस युग से पूर्ववर्ती काल में ही हो गया था, पर उनपर नये-नये और सुविस्तृत ग्रन्थ इसी काल में लिखे गये। बौद्ध-धर्म के विरुद्ध प्रतिक्रिया होकर जब सनातन वैदिक धर्म का पुनरुत्थान हुआ, तो उसके विद्वानों के लिये यह भी आवश्यक हो गया, कि वे बौद्ध-विचारधारा का खण्डन कर आस्तिक दर्शन का मण्डन करें। इसीलिये मध्य यग में दर्शनशास्त्रों पर अनेक अत्यन्त उत्कष्ट ग्रन्थों की रचना हुई।

मीमांसा-दर्शन के कर्ता जैमिनि मुनि थे। उन्होंने मीमांसा-सूत्रों की रचना की थी। दूसरी सदी ई० प० के लगभग उपवर्ष भवदास और शवरस्वामी ने इन सूत्रों पर वृत्तियां लिखीं, जिनमें मीमांसा के सिद्धान्तों को बहुत विशदरूप दिया

गया। शवरस्वामी द्वारा लिखा हुआ शावरभाष्य (मीमांसासूत्रों पर) मीमांसा-दर्शन का अत्यन्त प्रामाणिक ग्रन्थ है। आठवीं सदी के पूर्वार्ध में कुमारिल भट्ट ने इस दर्शन को और अधिक विकसित किया, और बौद्ध-दर्शन का खण्डन कर मीमांसा के सिद्धान्तों की सत्यता सिद्ध की। कुमारिल भट्ट के शिष्य मण्डनमिश्र थे, जिन्होंने विधिविवेक और भावनाविवेक नामक ग्रन्थों को लिखकर अपने गुरु की विचारसरणी को और अधिक विकसित किया।

वेदान्तसूत्रों का निर्माण महर्षि वादरायण ने किया था। जिस सिद्धान्त को महर्षि वादरायण ने सूत्र-रूप से लिखा था, मध्ययुग के दार्शनिकों ने उसे बहुत अधिक विकसित किया। इसके लिये उन्होंने वेदान्तसूत्रों (ब्रह्मसूत्रों) पर विस्तृत भाष्य लिखे। वेदान्तदर्शन को विशद रूप से प्रतिपादित करनेवाले दार्शनिकों में सर्वोच्च स्थान शंकराचार्य का है, जो आठवीं सदी के उत्तरार्ध में उत्पन्न हुए थे। उनका जन्म केरल (मलाबार) के एक ब्राह्मण-कुल में हुआ था। आचार्य गौड़पाद से शिक्षा प्राप्त कर उन्होंने वेदान्तदर्शन के प्रतिपादन और बौद्ध-मत के खण्डन में अपनी सब शक्ति को लगा दिया। इस उद्देश्य से उन्होंने कन्याकुमारी से बदरीनाथ तक पर्यटन किया, और स्थान-स्थान पर बौद्धों से शास्त्रार्थ किये। यह संसार मिथ्या है, एकमात्र ब्रह्म ही सत्य सत्ता है, इस विचार को उन्होंने युक्तिपूर्वक प्रतिपादित किया।

शंकराचार्य ने जिस ढंग से वेदान्तसूत्रों की व्याख्या की थी, अन्य अनेक दार्शनिकों ने उसे पसन्द नहीं किया। ब्रह्म के अतिरिक्त जीव की सत्ता को न मानने से ईश्वर-भक्ति का कुछ अर्थ ही नहीं रह जाता। इसलिये वैष्णव आचार्यों ने वेदान्तसूत्रों की इस प्रकार व्याख्या की, जिससे ब्रह्म और जीव की पृथक् सत्ता सिद्ध की गई।

इन दार्शनिकों में रामानुज (११४० ई०), मध्व (१२३८ ई०), निम्बार्क (१२५० ई०) और वल्लभाचार्य (१५०० ई०) के नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। रामानुज के अनुसार जीव और जगत् ईश्वर के ही दो प्रकार हैं। इसीलिये उनका मत विशिष्टाद्वैत कहाता है। मध्वाचार्य के मत में ईश्वर और जीव दो पृथक् सत्तायें हैं। उनके मत को 'द्वैत' कहा जाता है। निम्बार्क जीव और ईश्वर को पारमार्थिक दृष्टि से अभिन्न मानते हैं, पर व्यावहारिक रूप से उनकी भिन्न सत्ता को स्वीकार करते हैं। इसीलिये उनके मत को द्वैताद्वैत कहते हैं।

शंकराचार्य ने ब्राह्मसूत्र शांकरभाष्य लिखकर वेदान्तदर्शन का प्रतिपादन किया था। नवीं सदी में वाचस्पति ने इस भाष्य पर भामती टीका लिखी। वेदान्त

के अन्य उत्कृष्ट ग्रन्थों में श्रीहर्ष (बारहवीं सदी) का खण्डनखाद्य, चित्सुखाचार्य (तेरहवीं सदी) की तत्त्वदीपिका, विद्यारण्यस्वामी (चौदहवीं सदी) की पञ्चदशी और मधुसूदन सरस्वती (सोलहवीं सदी) की अद्वैतसिद्धि अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। ये सब ग्रन्थ मध्य युग में ही लिखे गये थे।

महर्षि गौतम ने जिस न्यायशास्त्र का सूत्र-रूप से प्रतिपादन किया था, उसपर प्राचीन समय में वात्स्यायन ने भाष्य लिखा। वात्स्यायन को दूसरी सदी ई० प० के लगभग में हुआ माना जाता है। पर मध्यकाल में इस दर्शन का असाधारण रूप से विकास हुआ और अनेक दार्शनिकों ने इसपर उत्कृष्ट ग्रन्थों की रचना की। इन दार्शनिकों में उद्योतकर (छठी सदी), वाचस्पति मिश्र (नवीं सदी), जयन्तभट्ट (नवीं सदी) और उदयनाचार्य (दसवीं सदी) के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। तेरहवीं सदी में गंगेश उपाध्याय नामक दार्शनिक ने न्यायदर्शन के एक नये सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया, जिसे 'नव्यन्याय' कहते हैं। मुसलिम युग में इस सम्प्रदाय का बहुत विकास हुआ, और इसको प्रतिपादित करने के लिये अनेक ग्रन्थों की रचना की गई।

इसी प्रकार से सांख्ययोग और वैशेषिक दर्शनों पर भी अनेक ग्रन्थ मध्यकाल में लिखे गये, जिनमें वैशेषिक दर्शन के प्रसिद्ध आचार्य प्रशस्तपाद के पदार्थधर्म-संग्रह पर लिखी हुई व्योम शिवाचार्य (आठवीं सदी), उदयनाचार्य (दसवीं सदी) और श्रीधराचार्य (दसवीं सदी) की टीकायें, सांख्यदर्शन पर वाचस्पति मिश्र (नवीं सदी) द्वारा लिखी हुई तत्त्वकौमुदी और योगदर्शन पर भोज द्वारा लिखित भोजवृत्ति विशेषतया महत्त्वपूर्ण हैं।

इसमें सन्देह नहीं, कि दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में मध्ययुग में बहुत उन्नति हुई। इस युग के भारतीय विचारकों ने प्राचीन काल में प्रादुर्भूत हुए दार्शनिक सिद्धान्तों को विकसित कर एक ऐसा रूप प्रदान किया, जो संसार के दार्शनिक साहित्य में अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है।

(७) वैज्ञानिक उन्नति

गुप्त-युग में भारत के विभिन्न विद्वानों ने गणित, ज्योतिष आदि विज्ञानों की किस प्रकार उन्नति की थी, इसपर पिछले एक अध्याय में प्रकाश डाला जा चुका है। गुप्त-युग में वैज्ञानिक उन्नति की जो प्रक्रिया शुरू हुई थी, यदि वह मध्यकाल में भी जारी रहती, तो भारत विज्ञान के क्षेत्र में बहुत उन्नत हो जाता। पर संसार के अन्य देशों के समान भारत में भी यह युग ह्रास और अन्धकार का

था। फिर भी इस काल में अनेक ऐसे विद्वान् उत्पन्न हुए, जिन्होंने गणित ज्योतिष और आयुर्वेद पर नये ग्रन्थों की रचना की। इस प्रकरण में हम इन्हीं का संक्षिप्त-रूप से उल्लेख करेंगे।

सातवीं सदी के पूर्वार्ध में ब्रह्मगुप्त ने 'ब्रह्मस्फुट सिद्धान्त' लिखा, जो ज्योतिष का एक प्रामाणिक ग्रन्थ है। बारहवीं सदी में भास्कराचार्य ने 'सिद्धान्तशिरोमणि' की रचना की, जिसके एक भाग में गणित और दूसरे भाग में ज्योतिष का प्रतिपादन है। मध्यकाल में यूरोप के ज्योतिषी पृथिवी को चपटी मानते थे, पर भास्कराचार्य ने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया, कि पृथिवी चपटी न होकर गोल है। उसने आकर्षणशक्ति के सिद्धान्त का भी सुन्दर रीति से निरूपण किया। मध्ययुग में पाश्चात्य जाति के लोग इस सिद्धान्त से सर्वथा अपरिचित थे। ज्योतिष का ज्ञान भारत से अरब में गया, और अरब लोगों से यूरोपियन लोगों ने उसे सीखा। बगदाद के अरब खलीफा हारूं रशीद ने भारत के अनेक ज्योतिषियों को अपनी राजधानी में निमन्त्रित किया था, और उनको सहायता से अनेक भारतीय ज्योतिष-ग्रन्थों का अनुवाद अरबी भाषा में करवाया था। गणित-विज्ञान में भारतीय लोगों ने न केवल अंकगणित और दशमलव के सिद्धान्त का विकास किया, अपितु त्रिकोणमिति का भी विकास किया। गणित की सहायता से भारतीय ज्योतिषी ग्रहों और राशियों की गणना से भली भांति परिचित हो गये थे।

धन्वन्तरि और चरक जैसे प्राचीन आचार्यों ने आयुर्वेद-शास्त्र के जो ग्रन्थ प्राचीन युग में लिखे थे, उनका जिक्र पहले किया जा चुका है। मध्य युग में आयुर्वेद पर अनेक नये ग्रन्थ लिखे गये। ८०० ईस्वी के लगभग 'अष्टाङ्गहृदय' की और माधवकण ने 'माधवनिदान' की रचना की। ये दोनों ग्रन्थ आयुर्वेद में बहुत ऊंचा स्थान रखते हैं। माधवनिदान में विविध रोगों के निदान (उत्पत्ति का कारण) पर बहुत विशदरूप से विचार किया गया है। ग्यारहवीं सदी में चक्रपाणिदत्त नाम के बंगाली वैद्य ने चरक और सुश्रुत के प्राचीन ग्रन्थों पर टीकायें लिखीं, और साथ ही 'चिकित्सासारसंग्रह' नामक नये ग्रन्थ की रचना की। बारहवीं सदी के अन्त में 'शार्ङ्गधरसंहिता' लिखी गई, जिसमें विभिन्न विषों और रसों का वैज्ञानिक पद्धति से विवेचन किया गया है। ये सब ग्रन्थ आयुर्वेद में बहुत ऊंचा स्थान रखते हैं, और इनके अध्ययन से ज्ञात होता है, कि मध्यकाल में चिकित्सा-शास्त्र ने बहुत उन्नति कर ली थी। इसी उन्नति का यह परिणाम था, कि बगदाद के खलीफा हारूं रशीद ने जब ज्योतिषियों को भारत से बुलाया था,

तब साथ ही अनेक वैद्यों को भी उसने अपने देश में निमन्त्रित किया था। इनकी सहायता से उसने अनेक वैद्यक ग्रन्थों का अरबी में अनुवाद कराया, और उनसे भारत के चिकित्सा-शास्त्र का ज्ञान अरब लोगों ने प्राप्त किया।

पशुओं की चिकित्सा के विषय पर भी अनेक ग्रन्थ इस युग में लिखे गये। इनमें पालकाप्य द्वारा विरचित गजचिकित्सा, गजायुर्वेद, गजदर्पण, गजपरीक्षा और गजलक्षण; जयदत्तकृत अश्वचिकित्सा, नकुल का शालिहोत्र-शास्त्र और अश्व-तन्त्र विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। ये ग्रन्थ इस समय उपलब्ध नहीं होते, यद्यपि अन्य पुस्तकों में इनके उद्धरण दिये गये हैं। सम्राट् अशोक ने विविध देशों में अपनी धर्मविजय की स्थापना के लिये जो चिकित्सालय स्थापित करवाये थे, उनमें न केवल मनुष्यों अपितु पशुओं की चिकित्सा की भी व्यवस्था थी। मध्ययुग के भारतीय चिकित्सक मनुष्यों और पशुओं की चिकित्सा की प्राचीन विधियों का अध्ययन करने के साथ-साथ इन विषयों पर नई पुस्तकों की रचना में भी तत्पर रहे।

गणित, ज्योतिष और आयुर्वेद के अतिरिक्त वास्तुकला आदि पर भी अनेक ग्रन्थ इस युग में लिखे गये। इनमें राजा भोज द्वारा विरचित 'समराङ्गणसूत्र-धार' और 'युक्तिकल्पतरु' विशेष महत्त्व रखते हैं।

(८) शिक्षा के केन्द्र

बौद्ध-युग के भारत में शिक्षा का सर्वप्रधान केन्द्र तक्षशिला था, जिसके विषय में हम पिछले एक अध्याय में विशद रूप से लिख चुके हैं। जब भारत की राजशक्ति का प्रधान केन्द्र मगध बन गया, तो काशी या वाराणसी शिक्षा का एक मुख्य केन्द्र बन गया। बौद्ध-धर्म के विस्तार के साथ-साथ भारत के बहुत-से नगरों में विहारों की स्थापना हुई, जिनमें बौद्ध-भिक्षु विद्या के अध्ययन और अध्यापन में तत्पर रहते थे। मध्यकाल में नालन्दा, विक्रमशिला और उड्यन्तपुर के महाविहारों ने विश्वविद्यालयों का रूप धारण कर लिया, जिनमें न केवल बौद्धों के धार्मिक और दार्शनिक साहित्य का ही अध्यापन होता था, पर साथ ही गणित, ज्योतिष, आयुर्वेद आदि विज्ञानों का भी शिक्षण होता था। भारत के सब प्रदेशों से विद्यार्थी अपनी ज्ञानपिपासा को शान्त करने के लिये इन शिक्षा-केन्द्रों में आया करते थे। केवल भारत के ही नहीं, अपितु चीन, तिब्बत आदि विदेशों के छात्र व विद्वान् भी इन शिक्षा-केन्द्रों से आकृष्ट होकर इनमें आया करते थे।

मदुरा का संगम—प्राचीन काल में सुदूर दक्षिण में मदुरा नगरी में भी एक विद्यापीठ था, जिसका नाम संगम था। तक्षशिला के समान इसमें भी बहुत से संसार-प्रसिद्ध आचार्य रहते थे। यहां प्राचीन तामिल साहित्य का विकास हुआ। संगम के आचार्य केवल शिक्षा का कार्य ही नहीं करते थे, उत्कृष्ट साहित्य की रचना पर भी वे बहुत जोर देते थे। इसी कारण यहां उत्कृष्ट तामिल साहित्य की रचना हुई। इनमें तिरुवल्लुवर का 'कुरल' सबसे प्रसिद्ध है। यह विश्व-साहित्य में एक अनुपम रत्न गिना जाता है, और इसमें धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चार विभागों द्वारा मानव-जीवन के लिये उपयोगी सूक्तियों व उपदेशों का प्रतिपादन किया गया है। तामिल साहित्य में इस ग्रंथ का बहुत ऊंचा व सर्वश्रेष्ठ स्थान है। कुरल के अतिरिक्त 'मणिमेखला' और 'शीलप्पतिकारम्' ग्रंथों का उल्लेख भी यहां आवश्यक है। ये दोनों तामिल भाषा के महाकाव्य हैं, और इनकी रचना भी मदुरा के संगम में ही हुई।

नालन्दा महाविहार—मगध में नालन्दा का महाविहार शिक्षा का बड़ा केन्द्र था। इसकी स्थापना गुप्तवंशी सम्राट् कुमारगुप्त (राज्य-काल ४१५-५५ ई० पू०) ने की थी। कुमारगुप्त से पहले भी नालन्दा शिक्षा का केन्द्र था। वहां के बौद्ध-विहारों में विद्याभ्यास जारी रहता था। पर जब कुमारगुप्त ने वहां विद्या और शिक्षा को प्रोत्साहन देने के लिये एक महाविद्यालय का निर्माण किया, तब से नालन्दा की ख्याति बढ़ने लगी। कुमारगुप्त के बाद के अन्य गुप्तवंशी सम्राटों ने भी यहां बहुत सी इमारतें बनवाईं, और नालन्दा के शिक्षकों और विद्यार्थियों के खर्चे के लिये बहुत-सी जायदाद लगा दी। शीघ्र ही शिक्षा और ज्ञान के केन्द्र के रूप में नालन्दा की ख्याति दूर-दूर तक पहुंच गई, और देश-विदेश के हजारों विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त करने के लिये वहां आने लगे। अनेक चीनी विद्वान् उसकी कीर्ति सुनकर उसके प्रति आकृष्ट हुए। उन्होंने अपने देश लौटकर जो यात्रा-विवरण लिखे, आज उन्हीं से हमें नालन्दा के आचार्यों और शिक्षापद्धति आदि के विषय में परिचय मिलता है। प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्युएनत्सांग ने नालन्दा का विवरण लिखा है। उससे ज्ञात होता है, कि यहां के आचार्यों और विद्यार्थियों की संख्या मिलाकर दस हजार से भी अधिक थी। नालन्दा के शिक्षक अपने ज्ञान और विद्वत्ता के लिये सर्वत्र प्रसिद्ध थे। कई शिक्षक तो ऐसे थे, कि उनकी ख्याति दूर-दूर तक फैली हुई थी। इन सबका चरित्र सर्वथा उज्ज्वल और निर्दोष था। सदाचार के सब नियमों का वे पूर्ण तत्परता और सचाई से पालन करते थे। भारत के सब प्रदेशों में उनका आदर था, और सर्वत्र उनका अनुसरण किया जाता था।

इस महाविद्यालय के नियम बड़े कठोर थे और यहां के निवासियों के लिये यह अनिवार्य था, कि वे उनका पालन करें।

नालन्दा महाविहार में प्रवेश पाने के लिये यह आवश्यक था, कि पहले एक परीक्षा को उत्तीर्ण किया जाय। यह परीक्षा 'द्वार पण्डित' लेता था। महाविहार के प्रवेशद्वार को लांघने के लिये इस द्वारपण्डित की परीक्षा में उत्तीर्ण होना अनिवार्य था। यह परीक्षा बहुत कठिन होती थी। ह्युएनत्सांग के अनुसार २० व ३० फीसदी से अधिक परीक्षार्थी इस परीक्षा को उत्तीर्ण नहीं कर सकते थे। ह्यएनत्सांग स्वयं बहुत समय तक नालन्दा रहा था। उसे इस शिक्षा-केन्द्र का भली भांति परिचय था। वह यहां के ज्ञानमय वातावरण और चरित्र की उच्चता द्वारा बहुत प्रभावित हुआ था। द्वारपण्डित को पराजित कर जो विद्यार्थी नालन्दा के महाविहार में प्रविष्ट होते थे, उन्हें वहां बहुत मेहनत करनी पड़ती थी। चीनी यात्री ह्युएनत्सांग के अनुसार महाविहार में प्रविष्ट होकर भी बहुत-से विद्यार्थी वहां परास्त हो जाते थे। जो वहां भी विजय करके (परीक्षाओं में उत्तीर्ण होकर) फिर बाहर जाते थे, उनके ज्ञान और पाण्डित्य का सर्वत्र आदर होता था।

इत्सिग नाम का एक अन्य चीनी यात्री सातवीं सदी में भारत आया। उसने ६७१ ई० में चीन से प्रस्थान किया और ६७३ ई० में वह ताम्रलिप्ति के बन्दरगाह पर पहुंचा। इत्सिग का मुख्य उद्देश्य भारत आकर बौद्ध-धर्म का उच्च ज्ञान प्राप्त करना और यहां से धर्म की प्रामाणिक पुस्तकों को एकत्र कर चीन ले जाना था। अतः उसका अधिकांश समय नालन्दा में ही व्यतीत हुआ। वहां उसने चार सौ के लगभग ग्रन्थों का संग्रह किया, जिनके श्लोकों की संख्या पांच लाख थी। इन पुस्तकों को वह अपने साथ चीन ले गया। इत्सिग के विवरण से भी यह प्रमाणित होता है, कि नालन्दा महाविहार में विद्यार्थियों की संख्या हजारों में थी। वहां प्रवेश पाने के लिये व्याकरण, हेतु-विद्या (न्याय) और अभिधर्मकोश का ज्ञान आवश्यक था। महाविहार में शिक्षा के लिये प्रवेश पा चुकने पर विद्यार्थी जहां बौद्ध-धर्म के विशाल साहित्य का अध्ययन करते थे, वहां साथ ही शब्द-विद्या, चिकित्सा-विद्या, सांख्यशास्त्र, तन्त्र, वेद आदि की पढ़ाई की भी वहां व्यवस्था थी।

महाविहार का खर्च चलाने के लिये राज्य की ओर से बहुत सी भू-सम्पत्ति प्रदान की गई थी। इत्सिग के अनुसार दो सौ से भी अधिक गांव ऐसे थे, जिनको नालन्दा महाविहार के खर्च के लिये दिया गया था। इनकी सब आमदनी इस शिक्षा-केन्द्र के खर्च के लिये काम आती थी। विद्यार्थियों को भोजन के लिये प्रधा-

नतया चावल मिलता था, ह्य ुएनत्सांग ने लिखा है, कि जब तक वह नालन्दा में रहा, उसे प्रतिदिन महासाली चावलों का एक निश्चित परिमाण २० पूग और १२० जम्बीर मिलते रहे। साथ ही प्रतिमास तेल, घी और अन्य खाद्य-पदार्थ भी निश्चित मात्रा में उसे दिये जाते रहे।

नालन्दा का पुस्तकालय बड़ा विशाल था। इसकी तीन विशाल इमारतें थी, जिनके नाम थे—रत्नसागर, रत्नोदधि और रत्नारंजक। रत्नोदधि-भवन नौ मंजिल ऊंचा था। इसमें धर्म-ग्रन्थों का संग्रह किया गया था। अन्य दोनों इमारतें भी इसी प्रकार विशाल व विस्तीर्ण थीं।

ह्यु एनत्सांग और इत्सिंग के अतिरिक्त अन्य भी अनेक विदेशी विद्वान् नालन्दा में उच्च शिक्षा के लिये आये। इनमें कुछ के नाम उल्लेखनीय हैं। श्रमण हिएनचिन सातवीं सदी में नालन्दा आया और तीन साल वहां रहा। उसका भारतीय नाम प्रकाशमणी था। कोरिया का एक भिक्षु आर्यवर्मन बहुत दिनों तक नालन्दा रहा, और उसकी मृत्यु वहीं पर हुई। चेहांग नाम का एक अन्य चीनी भिक्षु सातवीं सदी में नालन्दा आया और आठ वर्ष तक वहां अध्ययन करता रहा। विदेशी विद्यार्थियों की यह परम्परा बहुत समय तक जारी रही। नालन्दा की कीर्ति सम्पूर्ण बौद्ध-संसार में विस्तृत थी और दूर-दूर से विद्वान् लोग अपनी शिक्षा की पूर्ति के लिये वहां आते रहते थे।

आठवीं सदी के शुरू में तिब्बत के राजा ने नालन्दा के एक प्रसिद्ध आचार्य शान्तरक्षित को इस उद्देश्य से अपने देश में निमन्त्रित किया, कि वह वहां बौद्ध-धर्म की अच्छी तरह स्थापना करे। तिब्बत पहुंचने पर शान्तरक्षित का बड़ी धूम-धाम के साथ स्वागत किया गया, और उसे आचार्य बोधिसत्व की उपाधि से विभू-षित किया गया। शान्तरक्षित के कुछ समय बाद कमलशील नामक एक अन्य आचार्य को नालन्दा से बुलाया गया और इन दो भारतीय आचार्यों ने तिब्बत में धर्म की स्थापना की। बाद में अतिशा नाम के अन्य आचार्य को तिब्बत में धर्म-स्थापना के लिये आमन्त्रित किया गया। यह मगध में ही विद्यमान विक्रमशिला महाविहार का प्रधान आचार्य था।

नालन्दा महाविहार की स्थापना पांचवीं सदी ई० प० में हुई थी। ग्यारहवीं सदी तक वह भारत का प्रधान शिक्षा-केन्द्र रहा। इस समय विक्रमशिला नाम के एक अन्य महाविहार की स्थापना हो गई थी, जिसे पालवंशी राजाओं का संरक्षण प्राप्त था। विक्रमशिला के विकास के कारण नालन्दा की कीर्ति कुछ मन्द पड़ने लगी, और उसमें ह्रास के चिह्न प्रगट होने लगे, बाद में जब मुहम्मद बिन बख्त्यार

खिलजी ने बिहार पर आक्रमण किया, तो नालन्दा के इस प्राचीन महाविहार का अन्तिम रूप से विनाश हुआ ।

विक्रमशिला—नालन्दा के समान विक्रमशिला का महाविहार भी मगध में ही था। इसकी स्थापना पालवंशी राजा धर्मपाल ने नवीं सदी में की थी। धर्मपाल बौद्ध-धर्म का अनुयायी था, और अपने को 'परम परमेश्वर-परम भट्टारक महाराजाधिराज' की उपाधि से विभूषित करता था। धर्मपाल ने विक्रमशिला में एक महाविहार बनवाकर वहां अध्यापन के लिये १०८ आचार्यों की नियुक्ति की। इस नये शिक्षणालय को राजवंश की संरक्षा प्राप्त थी। इसके खर्च के लिये अतुल धनराशि राजा धर्मपाल व उसके उत्तराधिकारियों द्वारा दी गई। परिणाम यह हुआ, कि बहुत से विद्यार्थी इसमें शिक्षाग्रहण करने के लिये आने लगे। चार सदियों तक यह महाविहार कायम रहा, और इस बीच में इसने बड़े-बड़े विद्वान् उत्पन्न किये। विक्रमशिला से जो विद्यार्थी शिक्षा पूर्ण करते थे, उन्हें 'पण्डित' की उपाधि प्रदान की जाती थी। यह उपाधि पालवंशी राजाओं द्वारा उन्हें दी जाती थी।

नालन्दा के समान विक्रमशिला में भी द्वारपण्डित होते थे। यहां द्वारपण्डितों की संख्या छः थी। ऐसा प्रतीत होता है, कि विक्रमशिला के महाविहार में छः कालेज या विद्यालय थे, और इनमें से प्रत्येक का द्वारपण्डित पृथक्-पृथक् होता था। तिब्बती लेखक तारानाथ ने लिखा है, कि विक्रमशिला के दक्षिणी द्वार का द्वारपण्डित प्रज्ञाकरमति था। इसी प्रकार, पूर्वी द्वार का रत्नाकर शान्ति, पश्चिमी द्वार का वागीश्वर कीर्ति, उत्तरी द्वार का नारोपन्त, प्रथम केन्द्रीय द्वार का रत्न वज्र और द्वितीय केन्द्रीय द्वार का द्वारपण्डित ज्ञानश्रीमित्र था। द्वार पंडित के पद पर बहुत ही उच्च कोटि के विद्वानों को नियत किया जाता था। प्रत्येक कालेज में शिक्षकों की संख्या १०८ रखी जाती थी। इस प्रकार विक्रमशिला में शिक्षकों की कुल संख्या ६४८ थी। वहां कितने विद्यार्थी शिक्षा पाते थे, इसका उल्लेख किसी विदेशी यात्री ने नहीं किया। पर विक्रमशिला का जो सभाभवन था, उसमें ८००० व्यक्ति एक साथ बैठ सकते थे। इससे सूचित होता है, कि इसके विद्यार्थियों की संख्या भी हजारों में थी। महाविहार के बाहर एक धर्मशाला भी बनाई गई थी, ताकि विद्यार्थी प्रविष्ट होने से पहले उसमें निवास कर सकें। महाविहार के चारों ओर एक प्राचीर थी, जैसी दुर्गों के चारों ओर होती थी।

विक्रमशिला में बौद्ध-साहित्य, वैदिक साहित्य व अन्य ज्ञान-विज्ञान की

पढाई होती थी। पर यह महाविहार बौद्धों के वज्रयान सम्प्रदाय के अध्ययन का सबसे प्रामाणिक केन्द्र था। इस युग के भारत में तन्त्र-विद्या का बहुत प्रचार हो गया था। बौद्ध और पौराणिक--दोनों धर्मों में तान्त्रिक साधना को बहुत महत्त्व दिया जाने लगा था। तन्त्रवाद जो इस युग के धर्म का बहुत महत्त्वपूर्ण भाग बन गया, उसका श्रेय प्रधानतया इसी महाविहार को है।

विक्रमशिला में शिक्षा पाये हुए विद्यार्थियों मे से अनेक ने विद्वत्ता के क्षेत्र में बड़ी ख्याति प्राप्त की। इनमें रत्नवज्र, आचार्य रत्न कीर्ति, ज्ञानश्रीमित्र, रत्नाकर शान्ति और दीपंकर अतिशा के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। अतिशा को तिब्बत में बौद्ध-धर्म की पुनःस्थापना के लिये बुलाया गया था, और उसने वहां उस व्यवस्था को कायम किया था, जो लामाओं की अधीनता में अब तक विद्यमान है। रत्नकीर्ति अतिशा का गुरु था, और ज्ञानश्रीमित्र अतिशा का उत्तराधिकारी था। अतिशा के तिब्बत चले जाने के बाद ज्ञानश्रीमित्र ही विक्रम-शिला महाविहार का प्रधान आचार्य बना था।

उड्यन्तपुर--नालन्दा और विक्रमशिला के समान ही प्राचीन मगध में एक अन्य महाविहार था, जिसे उड्यन्तपुर कहते थे। इसकी स्थापना पालवंश के प्रवर्तक व प्रथम राजा गोपाल द्वारा हुई थी। यह महाविहार उस स्थान पर विद्य-मान था, जहां आजकल बिहार नामक नगरी है। सम्भवतः उड्यन्तपुर के महा-विहार के कारण ही इस नगर का नाम बिहार पड़ा, और बाद में सारे प्रान्त का नाम ही बिहार हो गया। गोपाल द्वारा स्थापित होने के बाद उड्यन्तपुर का महाविहार निरन्तर उन्नति करता गया। शुरू में नालन्दा की ख्याति के कारण इसकी बहुत प्रतिष्ठा नही हुई, और बाद में राजा धर्मपाल द्वारा विक्रमशिला में अन्य महाविहार की स्थापना हो जाने के कारण उड्यन्तपुर का विहार विशेष प्रसिद्ध नहीं रहा। पर बारहवीं सदी में यह शिक्षा का अच्छा बड़ा केन्द्र हो गया था, और इसमें भी हजारों आचार्य व विद्यार्थी निवास करते थे। उड्यन्तपुर के बिहार का उल्लेख इस काल के अनेक शिलालेखों में भी उपलब्ध होता है।

११९९ ई० प० में जब मुहम्मद बिन बख्तियार खिलजी ने वर्तमान समय के बिहार प्रान्त पर आक्रमण किया, तो वहां का राजा पालवंशी गोविन्दपाल था। उसकी शक्ति बहुत कमजोर थी। मुहम्मद ने इस हमले में देखा, कि उड्यन्त-पुर का बिहार एक दुर्ग के समान है। उसने उसे घेर लिया और उसपर हमला किया। इस अवसर पर इस महाविहार के आचार्यों और विद्यार्थियों ने भी शस्त्र उठाये और डटकर मुहम्मद की सेनाओं का मुकाबला किया। जब तक एक भी

आचार्य व विद्यार्थी जीवित रहा, उन्होंने उड्यन्तपुर पर अफगानों का अधिकार नहीं होने दिया। जब महाविहार के सब निवासी लड़ते-लड़ते मर गये, तब मुहम्मद का उसपर अधिकार हुआ। वहां के विशाल पुस्तकालय को मुहम्मद ने अग्नि के भेंट कर दिया, और भारत के प्राचीन ज्ञान और विज्ञान का यह विशाल भण्डार बात की बात में नष्ट हो गया। विक्रमशिला के महाविहार का अन्त भी इस अफगान आक्रान्ता द्वारा हुआ था।

मगध के इन महाविहारों के अतिरिक्त काशी, नवद्वीप, वल्लभी और धारा-नगरी भी मध्ययुग में शिक्षा के महत्त्वपूर्ण केन्द्र थे। इस युग के अनेक राजाओं ने विद्या और ज्ञान के प्रोत्साहन और संवर्धन में असाधारण तत्परता प्रदर्शित की। इनमें परमारराजा भोज का नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय है। उसने अपनी राजधानी धारा नगरी में एक महाविद्यालय की स्थापना की थी, जिसके कारण विद्वानों और साहित्यिकों को बहुत प्रोत्साहन मिला था। पर भारत के इन अन्य शिक्षाकेन्द्रों ने वह ख्याति प्राप्त नहीं की, जो नालन्दा, विक्रमशिला और उड्-यन्तपुर ने प्राप्त की थी।

(९) सामाजिक दशा

भारत में जाति-भेद का विकास किन परिस्थितियों में और किस प्रकार हुआ, इस विषय पर हम पहले प्रकाश डाल चुके हैं। मध्य युग में जाति-भेद ने ऐसा रूप धारण कर लिया, कि विभिन्न जाति के लोगों में खान-पान और विवाह का सम्बन्ध होने में अनेक प्रकार की रुकावटें आने लगीं। पर यह स्थिति एक-दम व अकस्मात् उत्पन्न नहीं हो गई, इसका विकास धीरे-धीरे हुआ। वर्तमान समय में सवर्ण लोग शूद्रों के हाथ का बना भोजन खाना उचित नहीं समझते। पर प्राचीन समय में यह सिद्धान्त माना जाता था, कि 'शूद्र लोग भोजन बनावें, और आर्य लोग उसका सेवन करें।' मध्यकाल में भी शूद्रों के हाथ का भोजन करने में दोष नहीं समझा जाता था। व्यासस्मृति के अनुसार दास, ग्वाले, नाई आदि के साथ भोजन करने में कोई हानि नहीं है। पर यह विचार इस युग में उत्पन्न हो गया था, कि शूद्र के साथ तभी भोजन-सम्बन्ध रखा जा सकता है, जब कि परम्परागत रूप से उससे मैत्री-सम्बन्ध हो। खान-पान के सदृश विवाह-सम्बन्ध के मामले में भी जातियों ने धीरे-धीरे संकीर्ण रूप धारण किया। प्राचीन समय में सवर्ण विवाह को श्रेष्ठ समझते हुए भी अनुलोम (उच्च वर्ण का अपने से निम्नवर्ण की स्त्री के साथ विवाह) विवाह को धर्मानुमोदित स्वीकार किया

जाता था। कतिपय परिस्थितियों में प्रतिलोम विवाह भी विहित था। सातवीं सदी में महाकवि बाण ने पारशव नामक एक ब्राह्मण का उल्लेख किया है, जिसकी माता शूद्रा थी। पारशव के ब्राह्मण पिता ने शूद्र स्त्री से विवाह किया था, और उससे उत्पन्न पुत्र को ब्राह्मण ही माना गया था। बारहवीं सदी तक अनुलोम-विवाह असाधारण नहीं समझे जाते थे। उत्कीर्ण लेखों तक में उनका जिक्र आता है। ब्राह्मण कवि राजशेखर ने क्षत्रिय (चौहान) कन्या अवन्ति सुन्दरी से विवाह किया था। तेरहवीं सदी में 'स्मृतिचन्द्रिका' में इस प्रकार के विवाहों को कलि-काल के लिये निषिद्ध ठहराया, और बाद में हेमाद्रि, कमलाकर आदि ने यही बात प्रतिपादित की। परिणाम यह हुआ, कि धीरे-धीरे भारत में अन्य जाति में विवाह कर सकना सम्भव नहीं रह गया, और जाति-बन्धन बहुत अधिक दृढ़ हो गया।

जाति-भेद के अत्यधिक कठोर हो जाने का ही यह परिणाम हुआ, कि जब मध्यकाल में तुर्क व अफगान आक्रान्ताओं ने प्राचीन युग के यवनों, शकों व हूणों के समान भारत में प्रवेश किया, तो भारत का समाज उन्हें आत्मसात् नहीं कर सका। जाति-भेद के कारण भारत में जो संकीर्ण मनोवृत्ति इस समय उत्पन्न हो गई थी, उसे अलबरूनी (दसवीं सदी का अन्त) ने इस प्रकार प्रगट किया है "हिन्दुओं की कट्टरता का शिकार विदेशी जातियां होती हैं। वे उन्हें म्लेच्छ और अपवित्र समझते हैं। वे उनके साथ खान-पान व विवाह का कोई सम्बन्ध नहीं रखते। उनका विचार है, कि ऐसा करने से हम भ्रष्ट हो जावेगें।" प्राचीन समय में यवनों, शकों, कुशाणों व हूणों के लिये भारतीयों की यह मनोवृत्ति नहीं थी। पर जाति-भेद के विकास के कारण अब दसवीं सदी में तुर्कों के प्रति भारतीयों की मनो-वृत्ति बहुत बदल गई थी, और उनके लिये यह सम्भव नहीं रह गया था, कि वे उन्हें अपने समाज का अंग बना सकें। पर यह दशा भी सर्वत्र एक समय में ही नहीं आ गई थी। बारहवीं सदी के अन्तिम चरण में जब शहाबुद्दीन गोरी ने गुजरात में हार खाई, तो उसकी मुसलिम सेना का बड़ा भाग कैद हो गया। गुजरात के हिन्दुओं ने इन्हें आत्मसात् कर लिया। इसी प्रकार तेरहवीं सदी में जब अहोम जाति ने आसाम में प्रवेश किया, तो वह भी हिन्दू-समाज का अंग बन गई। पर इसमें सन्देह नहीं, कि मध्यकाल में हिन्दू-समाज में विदेशियों को आत्मसात् करने की शक्ति निरन्तर क्षीण होती जाती थी, और धीरे-धीरे यह स्थिति आ गई थी, कि उनके लिये अपने समाज के भी पतित हुए अंग को अपने में मिला सकना सम्भव नहीं रहा था।

मध्य युग में स्त्रियों की क्या स्थिति थी, इस सम्बन्ध में भी कतिपय बातों

का उल्लेख आवश्यक है। हर्षवर्धन की बहन राज्यश्री सुशिक्षित महिला थी, और उसने दिवाकरमित्र नामक बौद्ध-पण्डित से धर्म की शिक्षा ली थी। प्रसिद्ध ज्योतिषी भास्कराचार्य (बारहवीं सदी) ने अपनी पुत्री लीलावती को गणित का ज्ञान देने के लिये 'लीलावती' नामक पुस्तक लिखी, जो संस्कृत में गणित-विषयक अनुपम पुस्तिका है। कवि राजशेखर की पत्नी अवन्तिसुन्दरी अच्छी विदुषी थी। उसने प्राकृत भाषा के एक कोश का भी निर्माण किया था। मध्य युग में अनेक स्त्रियों ने संस्कृत-काव्य की भी रचना की। इन्दुलेखा, विज्जिका, शीला, सुभद्रा, मदालसा आदि कितनी ही कवयित्रियों की रचनाओं का आभास हमें इस युग के अलंकार ग्रन्थों द्वारा मिल जाता है, यद्यपि इनकी रचनायें इस समय उपलब्ध नहीं हैं। स्त्रियों में शिक्षा का प्रचार होने पर भी समाज में उनकी स्थिति अब निरन्तर हीन होती जाती थी। विधवा-विवाह अब बुरा माना जाने लगा था, और सती-प्रथा का भी प्रारम्भ हो गया था। हर्ष की माता विधवा होने पर सती हो गई थी, और उसकी बहन राज्यश्री भी चितारोहण की तैयारी में थी, जब उसके भाई ने कर्तव्य-ज्ञान कराके उसे सती होने से रोक लिया। भारत के समाज में स्त्रियों की जो हीन स्थिति बाद में हो गई, उसका प्रारम्भ इसी युग में हो गया था।

जातिभेद के गुण और दोष—भारत में जाति-भेद का विकास विशेष ऐतिहासिक परिस्थितियों का परिणाम है। इसमें सन्देह नहीं, कि किसी समय में इससे बहुत लाभ हुआ। एकतन्त्र सम्राटों के शासनकाल में भी भारत में जाति, जनपद, श्रेणी और निगम आदि संगठनों के कारण जनता की आन्तरिक स्वतन्त्रता और 'स्वशासन' की परम्परा कायम रही। देश के राजसिंहासन पर किस वंश या किस धर्म का राजा विद्यमान है, वह धर्मात्मा या दुरात्मा है, इस बात का असर प्राचीन काल में सर्वसाधारण जनता पर विशेष नहीं पड़ता था। जनता का प्रत्यक्ष सम्बन्ध उन कानूनों व व्यवहारों से होता था, जिन्हें वे स्वयं अपनी श्रेणियों व निगमों में बनाते थे, या जो उनमें परम्परागत रूप में चले आते थे। प्राचीन भारत में शिल्पियों व व्यापारियों के संगठनों के समान ब्राह्मणों तक के संगठन (निगम) विद्यमान थे। इन संगठनों द्वारा उनकी स्वतन्त्रता पूर्णतया सुरक्षित थी। भारत में अब तक जातियों व बिरादरियों की अपनी पंचायतें हैं, उनका अपना चरित्र व व्यवहार है। सामाजिक कानून भी उनके अपने-अपने हैं। क्रियात्मक दृष्टि से वे ऐसे संगठन थे, जो राजनीतिक क्षेत्र को छोड़कर अन्य सब दृष्टियों से अपनी स्वतन्त्रता व पृथक् सत्ता रखते थे।

जाति-भेद द्वारा भारत में यह भी प्रवृत्ति थी, कि प्रत्येक शिल्प कुछ विशेष कुलों में ही सुरक्षित रहे। पुत्र अपने पिता से शिल्प का ज्ञान प्राप्त करता था। कुमारावस्था के लोग अपनी ही जाति के किसी आचार्य से अन्तेवासी रूप में शिल्प की विशेष शिक्षा प्राप्त करते थे। इसका परिणाम यह था, कि उन कुलों में शिल्प का विशेष ज्ञान विकसित होता रहता था। प्राचीन भारत में विद्या, विज्ञान, व्यापार, शिल्प आदि सभी क्षेत्रों में जो इतनी अधिक उन्नति हुई, उसका कुछ श्रेय इस जाति-भेद को भी दिया जा सकता है, क्योंकि इसके कारण विभिन्न जातियां विभिन्न क्षेत्र में ही विकास व उन्नति के लिये प्रयत्नशील रहती थीं। किसी एक क्षेत्र में विशिष्टता प्राप्त कर सकना इस पद्धति द्वारा सम्भव हो जाता था।

पर जाति-भेद के अनेक कुपरिणाम भी हुए। इससे भारतवासियों में संकीर्णता की भावना विकसित हो गई। ब्राह्मण लोग अन्य जातियों के लोगों के सम्पर्क में आना अपनी प्रतिष्ठा के विरुद्ध समझने लगे। विद्या और ज्ञान ब्राह्मणों तक ही सीमित रह गये। इसका सबसे बुरा परिणाम यह हुआ, कि सर्वसाधारण शिल्पी व व्यवसायी लोग अशिक्षित रह गये। प्राचीन और मध्य कालों का भारतीय शिल्पी पाश्चात्य जगत् के शिल्पी से किसी भी तरह कम नहीं था। पर आधुनिक युग में जब यूरोप का शिल्पी नये ज्ञान और विज्ञान की सहायता से अपने शिल्प की उन्नति करने लगा, तो भारत का शिल्पी अशिक्षित होने के कारण अपनी पुरानी दशा से आगे नहीं बढ सका। ब्राह्मण के पास ज्ञान था, और शिल्पी के पास कला (हुनर) थी। पर इन दोनों में किसी प्रकार का सम्पर्क नहीं था। ब्राह्मण का ज्ञान अधिक-अधिक अक्रियात्मक होता गया, वह केवल सिद्धान्त की बातों में ही लगा रहा। क्रियात्मक जीवन से सम्बन्ध न होने के कारण भारत का ब्राह्मण अपने ज्ञान का कोई सांसारिक लाभ नहीं प्राप्त कर सका। विद्या के प्रकाश के अभाव में यहां का शिल्पी भी उन्नति की दौड़ में पीछे रह गया।

जाति-भेद का अन्य कुपरिणाम इस देश में यह हुआ, कि यहां की जनता में एकता की भावना उत्पन्न नहीं हुई। सब देशवासी एक हैं, एक राष्ट्र व एक समाज के अंग हैं, यह विचार यहां पनपने नहीं पाया। अब तक भी भारत में राष्ट्रीय एकता की जो कमी है, उसका प्रधान उत्तरदायित्व इस जाति-भेद पर ही है।

इसी जाति-भेद के कारण भारतीय जनता का बहुत बड़ा भाग पददलित दशा में रहा। ब्राह्मण और क्षत्रिय जैसे उच्च वर्णों के लोग संख्या में कम थे। बहुसंख्यक जनता उन जातियों द्वारा निर्मित थी, जिन्हें ब्राह्मण लोग नीची दृष्टि से देखते

थे। इन लोगों में अपनी हीनता की भावना विकसित हो गई, और यह बात राष्ट्रीय दृष्टि से बहुत हानिकारक सिद्ध हुई।

(१०) धर्म

मौर्य-युग के बाद शुङ्ग-काल में प्राचीन सनातन वैदिक धर्म के पुनरुत्थान की जो प्रक्रिया प्रारम्भ हुई थी, गुप्त-सम्राटों के शासन-काल में उसे बहुत बल मिला था। समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य जैसे प्रतापी सम्राट् 'परम भागवत' और 'परम वैष्णव' थे, और उनके समय में बौद्ध-धर्म का ह्रास होकर वैष्णव और शैवधर्मों की बहुत उन्नति हुई। गुप्त-युग के बाद मध्यकाल में यह प्रक्रिया निरन्तर जारी रही, और तेरहवीं सदी तक यह अवस्था आ गई, कि बौद्ध-धर्म का भारत से लोप हो गया। किन परिस्थितियों में और किन कारणों से भारत में बौद्ध-धर्म का लोप हुआ, इस विषय पर पिछले एक अध्याय में विचार किया जा चुका है।

भारत से बौद्ध-धर्म का अन्त मध्य युग के अन्तिम भाग (तेरहवीं सदी का प्रारम्भ) में हुआ। यद्यपि गुप्त-युग में ही उसका ह्रास शुरू हो गया था, पर मध्यकाल में वह भारत के प्रमुख धर्मों में एक था। कन्नौज का प्रतापी राज हर्षवर्धन (सातवी सदी) बौद्ध-धर्म का अनुयायी था, और उसके संरक्षण बौद्ध-संघ ने बहुत उन्नति की थी। पर सातवीं सदी में भारत के विभिन्न धर्मों में समन्वय की प्रवृत्ति शुरू हो चुकी थी। यही कारण है, कि हर्ष जैसा बौद्ध राजा अन्य धर्मों के आचार्यों को भी दान व पुण्य का उपयुक्त पात्र मानता था। ह्यूएन-त्सांग के यात्राविवरण के अनुसार सातवीं सदी में पश्चिमी भारत के बौद्ध भिक्षु आलसी कर्तव्यविमुख और पतित थे। यही कारण है, जो सातवीं सदी में भी भारतीय जनता के हृदय में बौद्ध भिक्षुओं के प्रति वह श्रद्धा नहीं रह गई थी, जो फाइयान की यात्रा के समय में थी। वज्रयान के विकास के कारण बौद्ध भिक्षुओं में लोकहित-सम्पादन की वह भावना नहीं रही थी, जिसके कारण बौद्ध-धर्म देश-विदेश में सर्वत्र प्रसारित हुआ था। वज्रयान के अनुसार बुद्ध 'वज्र-गुरु' थे, जिन्हें अलौकिक सिद्धियां प्राप्त थीं। उनके अनुयायियों का भी यह कर्तव्य है, कि वे अपने गुरु के समान अलौकिक सिद्धियों को प्राप्त करें, और उनकी प्रा. न के लिये गुह्य साधनाओं का प्रयोग करें। प्राणिमात्र के हित और मनुष्यों के कल्याण का जो उच्च आदर्श बुद्ध ने उपस्थित किया था, वह वज्रयान के विकास के बाद बौद्धों की आंखों से ओझल हो गया था। पालवंशी राजाओं के

शासनकाल में उत्तरपूर्वी भारत में बौद्ध-धर्म ने अच्छी उन्नति की, पर इस युग में महात्मा बुद्ध के अनुयायियों में यह शक्ति नहीं रह गई थी, कि वे शंकर, रामानुज आदि के मुकाबले में अपने धर्म का प्रभाव जनता पर स्थिर रख सकें। इसी कारण अब बौद्ध-धर्म कतिपय ऐसे महाविहारों में ही केन्द्रित रह गया था, जिन्हें राजाओं की उदारता के कारण अपार धन-सम्पत्ति प्राप्त थी, और जिनमें हजारों भिक्षु निवास करते थे। जब ये महाविहार मुसलिम आक्रान्ताओं के कोप के भाजन बने, तो बौद्ध पण्डितों और भिक्षुओं के सम्मुख केवल यह मार्ग रह गया, कि वे नेपाल, तिब्बत आदि जाकर आश्रय प्राप्त करें।

वैष्णव धर्म——भारत में भागवत व वैष्णव धर्म का उद्गम किस प्रकार हुआ, इस विषय पर पहले प्रकाश डाला जा चुका है। गुप्त-सम्राटों के शासन-काल में इस धर्म की बहुत उन्नति हुई। जिस प्रकार बौद्ध लोग गौतम बुद्ध को परम आदर्श पुरुष मानकर उसकी शरण ग्रहण करने का उपदेश करते थे, वैसे ही भागवत वैष्णव धर्म के अनुयायी वासुदेव कृष्ण को भगवान् का अवतार मानकर उसकी पूजा करते थे। वासुदेव की पूजा तीसरी सदी ई० पू० तक प्रचलित हो चुकी थी। मैगस्थनीज ने इसका उल्लेख किया है। जब बैक्ट्रियन यवन भारत के सम्पर्क में आये, तो अनेक यवन राजाओं व राजपुरुषों ने वैष्णव धर्म को अपनाकर देवों के देव वासुदेव' की प्रतिष्ठा में गरुड़ध्वजों की स्थापना कराई। गुप्तों के युग में वैष्णव धर्म भारत का प्रमुख धर्म बन गया।

मध्य युग में जहां वैष्णव धर्म का और अधिक प्रसार हुआ, वहां साथ ही उसके मन्तव्यों में भी अनेक परिवर्तन आये। यह धर्म भक्तिमार्ग का पोषक था। देश के कर्मकाण्ड और अनुष्ठानों की अपेक्षा इसमें भक्ति व उपासना को अधिक महत्त्व दिया जाता था। शुङ्ग-काल में ही इस प्रकार के मन्दिरों का निर्माण प्रारम्भ हो गया था, जिनमें वासुदेव कृष्ण की मूर्ति स्थापित की जाती थी। पर मध्य युग में भागवत धर्म की सीधी और सरल भक्ति आडम्बरयुक्त होने लगी। मन्दिरों में स्थापित मूर्तियों के साज-शृंगार को बहुत महत्त्व दिया जाने लगा, और उपास्यदेव को संतुष्ट करने के लिये नाचने और गाने की प्रथा भी शुरू हुई। अब मन्दिरों में स्थापित मूर्तियां केवल उपलक्षण व प्रतीक मात्र ही नहीं रह गईं, अपितु उन्हें जीवित-जागृत देवता मानकर उनको स्नान, भोग, साज- शृंगार, वस्त्र आदि द्वारा संतुष्ट करने की प्रथा भी प्रारम्भ हुआ।

वैष्णव धर्म के विकास में दक्षिणी भारत के आचार्यों और सन्तों ने विशेष

रूप से कार्य किया। दक्षिणी भारत के इन सन्तों को ग्रालवार कहते थे। इन्होंने भक्तिरस को प्रवाहित करने के लिये बहुत से गीतों का निर्माण किया, जो जनता में बहुत लोकप्रिय हुए। दक्षिण के वैष्णवों की दृष्टि में इन गीतों का माहात्म्य वैदिक सूक्तों से किसी भी प्रकार कम नहीं है। सर्वसाधारण जनसमाज के लिये कठोर तपस्या ग्रौर याज्ञिक ग्रनुष्ठान की ग्रपेक्षा भक्तिमार्ग का ग्रनुसरण करना ग्रधिक सुगम है। सर्वगुणसम्पन्न उपास्य देव को भक्ति द्वारा संतुष्ट कर ग्रभिलषित फल को प्राप्त कर लेने का विचार जनता को बहुत ग्रपील करता है। इसी कारण ग्रालवार सन्तों द्वारा प्रवाहित भक्तिधारा जनता में बहुत लोकप्रिय हो गई।

पर वैष्णव सन्तों के भक्ति-ग्रान्दोलन को दो प्रबल विरोधियों का सामना करना पड़ा। कुमारिल भट्ट ने याज्ञिक कर्मकाण्ड के पक्ष में बहुत प्रबलता के साथ ग्रावाज उठाई, ग्रौर यह प्रतिपादित करना शुरू किया, कि वैदिक ग्रनुष्ठान ही स्वर्ग ग्रौर मोक्ष की प्राप्ति के एकमात्र साधन हैं। शंकराचार्य ने ग्रद्वैतवाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन कर यह सिद्ध किया, कि सत्य सत्ता केवल ब्रह्म है, जीव ग्रौर प्रकृति की कोई पृथक् व स्वतन्त्र सत्ता है ही नहीं। जगत् मिथ्या है, ग्रौर ब्रह्म सत्य है। यह ज्ञान ही मोक्ष की प्राप्ति का एकमात्र साधन है। जिस प्रकार हजारों साल पुराना घोर ग्रंधकार दीपक के प्रकाश से क्षण भर में दूर हो जाता है, वैसे ही सत्य ज्ञान द्वारा देर से चला ग्राया ग्रज्ञान क्षण भर में नष्ट हो जाता है। जब ब्रह्म ग्रौर जीव में ग्रभेद है, तो भक्ति का कोई लाभ नहीं। शंकराचार्य के ग्रगाध पाण्डित्य ग्रौर विलक्षण कर्तृत्व के कारण वैष्णवों के भक्ति-ग्रान्दोलन को बहुत ग्राघात लगा। इसीलिये दक्षिण-भारत में ग्रनेक ऐसे ग्राचार्यों का प्रादुर्भाव हुग्रा, जिन्होंने दार्शनिक रूप से जीव ग्रौर ब्रह्म की पृथक् सत्ता को सिद्ध कर वैष्णव धर्म का पक्षपोषण किया। इन ग्राचार्यों का प्रयत्न था, कि भक्तिमार्ग ग्रौर भागवत-धर्म को सुदृढ़ दार्शनिक ग्राधार पर स्थापित कर उसे पुष्ट करें।

नाथमुनि नाम के वैष्णव ग्राचार्य (ग्यारहवीं सदी के प्रारम्भ में) ने जहां वैष्णव सिद्धान्तों की दार्शनिक व्याख्या की, वहां साथ ही ग्रालवार सन्तों के गीतों को एकत्र कर उन्हें रागबद्ध किया, ग्रौर वैष्णव मन्दिरों में उनके गायन की व्यवस्था की। रामानुजाचार्य (बारहवीं सदी के प्रारम्भ में) ने विशिष्टाद्वैत नाम के नये दार्शनिक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया, जिसके ग्रनुसार जीव ब्रह्म का एक विशिष्ट रूप है, जो ब्रह्म से भिन्न है। ग्रपने विशिष्ट रूप में

ब्रह्म से पृथक् होने के कारण जीवात्मा के लिये यह सम्भव है, कि वह भक्ति-मार्ग का अनुसरण कर सके। तेरहवीं सदी में मध्वाचार्य ने जीव को ब्रह्म से सर्वथा भिन्न मानते हुए द्वैतवाद का प्रतिपादन किया। नाथमुनि, रामानुजाचार्य और मध्वाचार्य के प्रयत्नों के कारण वैष्णवों को वह दार्शनिक आधार प्राप्त हो गया, जिसकी उन्हें आवश्यकता थी। जब जीव ब्रह्म से 'विशिष्ट' व भिन्न है, तो उसके लिये भक्ति के अतिरिक्त अन्य मार्ग ही क्या है। बारहवीं सदी के अन्त में निम्बार्काचार्य ने कृष्ण के उस रूप का प्रतिपादन किया, जो गोपियों से घिरा रहता है, और जो अनेक प्रकार से लीला कर अपने भक्तों को संतुष्ट करता है। यद्यपि निम्बार्क स्वयं सुदूर दक्षिण के निवासी थे, पर उन्होंने वृन्दावन को अपना केन्द्र बनाया, और धीरे-धीरे उत्तरी भारत में बहुत-से नर-नारी उनके अनुयायी हो गये। बाद में चैतन्य के प्रयत्न से बंगाल में इस मत ने बहुत जोर पकड़ा, और लोग रास-लीला करनेवाले गोपीवल्लभ कृष्ण की भक्ति को ही परमपद प्राप्त करने का सर्वोत्तम साधन मानने लगे।

शैव-धर्म—लकुलीश द्वारा शैव-धर्म का प्रारम्भ किस प्रकार हुआ था, इस विषय पर पिछले एक अध्याय में प्रकाश डाला जा चुका है। तीसरी सदी ई० पू० में यह धर्म भी उन्नति के मार्ग पर आरूढ़ हो चुका था, और दूसरी व पहली सदी ई० पू० में विदेशी आक्रान्ता भी इस धर्म के प्रभाव में आने शुरू हो गये थे। छठी सदी ई० प० तक शैव-धर्म का भारत में काफी प्रचार हो गया था, और कालिदास, भवभूति, सुबन्धु व बाणभट्ट जैसे कवि व साहित्यिक शिव के उपासकों में गिने जा सकते थे। भारत से बाहर कम्बुज आदि देशों में भी इस धर्म का बहुत प्रचार हुआ, और दक्षिण-पूर्वी एशिया के क्षेत्र के बृहत्तर भारत के अनेक देशों के लोग इसके अनुयायी हुए।

जिस प्रकार बौद्धों में वज्रयान सम्प्रदाय प्रबल हुआ, वैसे ही शैवों में पाशुपत और कापालिक सम्प्रदायों ने जोर पकड़ा। वज्रयान के समान शैव-धर्म के ये दोनों सम्प्रदाय सिद्धियों में विश्वास रखते थे, और सिद्ध होने के लिये अनेक रहस्यमय व गुह्य अनुष्ठानों का प्रतिपादन करते थे। सातवीं सदी में जब चीनी यात्री ह्युएन-त्सांग भारत-यात्रा के लिये आया, तो बिलोचिस्तान तक में पाशुपत सम्प्रदाय की सत्ता थी। काशी में माहेश्वर शिव की एक ताम्रमूर्ति प्रतिष्ठित थी, जो ऊंचाई में सौ फीट के लगभग थी। उस समय काशी पाशुपत-धर्म का मुख्य केन्द्र था, और वहां के बहुत-से मन्दिरों में पशुपति शिव की पूजा होती थी। वज्रयानी बौद्धों के समान पाशुपत लोग भी यह मानते थे, कि साधक को जान-

बूझकर वे सब कार्य करने चाहिये, जिन्हें लोग निन्दनीय समझते हैं, ताकि साधक कर्तव्य और अकर्तव्य के विवेक से ऊंचा उठ सके।

कापालिक लोग सिद्धि प्राप्त करने के लिये और भी अधिक उग्र व अद्भुत उपायों का अवलम्बन करते थे। वे नरमुण्ड से बने कपालपात्र में भोजन करना, शव की भस्म को शरीर पर रमाना, मदिरा का निरन्तर पान करना और उसी में प्रतिष्ठित महेश्वर की पूजा करना गुह्य सिद्धियों को प्राप्त करने का साधन मानते थे।

पर शैवों के सब सम्प्रदाय वज्रयानी बौद्धों के समान गुह्य साधनाओं के पक्षपाती नहीं थे। मध्ययुग में काश्मीर में शैव-धर्म का जो रूप प्रचलित था, वह बहुत उदात्त था। वहां के शैव तन्त्र-मन्त्र और गुह्य सिद्धियों को महत्त्व न देकर जप, प्राणायाम, धारणा, ध्यान और समाधि पर बल देते थे। पल्लव और चोल-राज्यों में भी शैव-धर्म के इसी उदात्त रूप का प्रचार था। बारहवीं सदी में शैवों के एक अन्य सम्प्रदाय का प्रादुर्भाव हुआ, जिसे वीर शैव या लिङ्गायत कहते हैं। इसका प्रवर्तक बासव था, जो कलचूरीराजा विज्जल का प्रधान मंत्री था। इस सम्प्रदाय के अनुयायी शिवलिङ्ग और नन्दी की पूजा करते हैं, बालविवाह के विरोधी हैं, और विधवा-विवाह के समर्थक हैं। वेद की प्रामाणिकता को न मानते हुए ये वर्ण-भेद का भी विरोध करते हैं। दक्षिणी भारत में इस सम्प्रदाय का बहुत प्रचार हुआ, और इसी के कारण वहां जैन-धर्म का ह्रास हुआ।

शाक्त-धर्म—वैष्णव और शैव-धर्मों के समान शाक्त-धर्म का भी मध्ययुग में प्रचार हुआ। सृष्टि की सबसे अभ्दुत और रहस्यमयी शक्ति वह है, जो उत्पादन या प्रजनन करती है। उसी आदिशक्ति की उपासना के लिये शाक्त लोगों ने अनेक प्रकार की गुह्य साधनाओं का प्रतिपादन किया, जिनमें बलि का विशेष स्थान है। शाक्त-सम्प्रदाय बौद्धों के वज्रयान के समान ही तन्त्र-मन्त्र और गुह्य क्रियाओं में विश्वास करता था, और शब्दजाल के आडम्बर से ऐसी क्रियाओं को प्रतिपादित करता था, जो नैतिकता के विरुद्ध समझे जाते हैं।

(११) मध्ययुग की कला

गुप्त-वंश के शासन-काल तक के वास्तुकला-सम्बन्धी जो अवशेष इस समय उपलब्ध हैं, उनका परिचय इस इतिहास में यथास्थान दिया जा चुका है। प्राचीन भारतीय कला के मूलतत्त्वों का निदर्शन करा चुकने के बाद अब यह आवश्यक है, कि हम मध्ययुग की कला का भी संक्षिप्तरूप से उल्लेख करें।

राजस्थान में भी मध्ययुग के अनेक मन्दिर सुरक्षित दशा में विद्यमान हैं। इनमें सर्वोत्कृष्ट आबू पर्वत पर देलवाड़ा में स्थित दो जैन-मन्दिर हैं, जिनमें से एक का निर्माण ग्यारहवीं सदी में विमलशाह नामक वैश्य ने कराया था। दूसरा मन्दिर तेरहवीं सदी में बना था। दोनों मन्दिर संगमरमर के हैं, और उनमें अलंकरणों का बाहुल्य है। संगमरमर की बनी विलक्षण जालियां, प्रतिमायें, बेल-बूटे और नक्काशियां दर्शक को आश्चर्य में डाल देती हैं। जिस कला ने मुगलकाल में आगरा के ताजमहल का निर्माण किया था, उसका अत्यन्त उन्नत और परिष्कृत रूप इन मन्दिरों में दृष्टिगोचर होता है।

बुन्देलखण्ड के खजुराहो नामक स्थान पर विद्यमान मन्दिरसमूहों का निर्माण दसवीं सदी में चन्देलराजाओं द्वारा हुआ था। इन मन्दिरों में सबसे सुन्दर व विशाल केडरियानाथ महादेव का मन्दिर है, जो ११६ फीट ऊंचा है। काश्मीर का मार्तण्ड-मन्दिर भी इसी युग की कृति है। यद्यपि अब वह भग्न दशा में है, पर उसके खण्डहर उसके प्राचीन वैभव व गौरव का आभास देने के लिये पर्याप्त हैं।

दक्षिणी भारत के मन्दिर—दक्षिणापथ और सुदूर दक्षिण के मध्ययुग के मन्दिर अधिक सुरक्षित दशा में है। वहां बुतशिकन (मूर्तिभंजक) मुसलिम आक्रान्ताओं का अधिक प्रकोप नहीं हुआ। पल्लववंश के राजाओं ने सुदूर दक्षिण में अनेक विशाल मन्दिरों का निर्माण कराया था। राजा महेन्द्रवर्मा और उसके पुत्र नरसिंहवर्मा (सातवीं सदी) ने काञ्ची नगरी के सामने समुद्र-तट पर विशाल चट्टानों को कटवाकर जो विशाल मन्दिर बनवाये, वे 'रथ' कहाते हैं। इन्हें संसार की अद्भुत वस्तुओं में गिना जा सकता है, और इस प्रकार के रथ-मन्दिरों में सप्तरथ मन्दिरसमूह 'सात पगोडा' के नाम से विश्व-विख्यात है। इन सप्तरथों के नाम धर्मराज रथ, भीमरथ आदि हैं। ये मन्दिर एक चट्टान को काटकर बनाये गये हैं, और इनमें कहीं भी जोड़ नहीं है। इनमें जो मूर्तियां हैं, वे भी बहुत विशाल हैं, व एक ही चट्टान को काटकर बनाई गई हैं। रथ-मन्दिरों के समान ये मूर्तियां भी बड़ी आश्चर्यजनक हैं। गंगा को पृथिवी पर अवतरित करनेवाले भगीरथ की मूर्ति ६८ फीट लम्बी व ४३ फीट चौड़ी चट्टान से काटकर बनाई गई है। परिश्रम व साधना के कारण कंकालमात्र अवशिष्ट भगीरथ गंगा को स्वर्ग से भूतल पर लाने के लिये तप कर रहे हैं, संसार उनकी इस तपस्या से चमत्कृत है। मामल्लपुरम् में विद्यमान रथ-मन्दिर और मूर्तियां पल्लवराजाओं की अमर कीर्ति हैं।

सातवीं सदी में पल्लवराजाओं ने काञ्ची के सम्मुख मामल्लपुरम् में जिस वास्तुकला का अत्यन्त उत्कृष्टरूप प्रारम्भ किया था, दक्षिणी भारत के अन्य शिल्पियों ने उसका अनुसरण किया। आठवीं सदी में एल्लोरा के गुहामन्दिरों ने अत्यन्त उज्ज्वल व उन्नत रूप ग्रहण किया। यद्यपि एल्लोरा के गुहामन्दिरों का निर्माण गुप्तकाल में शुरू हो चुका था, पर उनका सबसे उत्कृष्ट रूप मध्ययुग में आठवी सदी में प्रगट हुआ। राष्ट्रकूटराजा कृष्ण ने इस युग में कैलाश के विशाल गुहामन्दिर का निर्माण कराया, जो उंचाई में १६० फीट है। यह एक ही चट्टान को काटकर बनाया गया है, और इसमें कहीं भी कोई जोड़ नहीं है। मन्दिर में कई मंजिलें है, जो सब एक ही पहाड़ी चट्टान को काटकर बनाई गई है। इस मन्दिर की दीवारों पर बहुत-सी पौराणिक गाथायें भी उत्कीर्ण हैं, जो वस्तुतः अद्भुत है।

एलिफेन्टा टापू (बम्बई से छः मील दूर समुद्र में) के गुहामन्दिर भी इसी युग की कृति है। यहां भी विशाल चट्टानों को तराश-तराशकर मन्दिरों और मूर्तियों का निर्माण किया गया है। न केवल भारत में अपितु दक्षिण-पूर्वी एशिया के बृहत्तर भारत में भी इस युग में विशाल मन्दिरों और मूर्तियों का निर्माण हुआ, जिनका उल्लेख हम इस इतिहास में यथास्थान कर चुके है।

सुदूर दक्षिण में चोलराजाओं ने भी दसवीं सदी में अनेक विशाल मन्दिरों का निर्माण कराया था। इनमें सर्वश्रेष्ठ राजराज द्वारा बनवाया हुआ शिव-मन्दिर है, जो तंजोर में अब भी विद्यमान है। इसका विमान या शिखर १४ मंजिल का है, और ऊंचाई में १६० फीट है। दसवीं सदी में ही गंग राजा के मंत्री चामुण्ड-राय ने श्रवणबेलगोला की पहाड़ी पर (मैसूर-राज्य में) गोम्मटेश्वर की प्रसिद्ध जैन-मूर्ति का निर्माण कराया, जो अपनी विशालता के कारण अद्वितीय है। मैसूर के होयसालवंशी राजाओं ने भी वास्तुकला के अनेक चमत्कार प्रदर्शित किये, जिनमें द्वारसमुद्र का होयसालेश्वर मन्दिर सबसे प्रसिद्ध है।

सहायक ग्रन्थ

Mazumdar : Ancient Indian History and Civilization.

Mazumdar etc. : An Advanced History of India.

Bhandarker : Vaishnavism, Shaivism and Minor Religious Systems.

Aiyangor : Ancient India.

Senart : Caste in India.

Keith : History of Sanskrit Literature.

Farquhar : Outline of the Religious Literature of India.